त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३४ : किरण १

जनवरी-मार्च १९८१

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस किरण का मूल्य
१ रुपये ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

जैन लक्षणावली

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

जैनधर्म एक वैज्ञानिक और विश्वकल्याणकारी धर्म है। तीर्थंकरों ने महान् साधना करके केवलज्ञान प्राप्त किया और उनके द्वारा विश्वतत्त्वों का स्वरूप तथा शान्ति व कल्याण का मार्ग जो कुछ भी उनके ज्ञान मे झलका, प्राणी मात्र के कल्याण के लिए ही, जगह-जगह घूमकर वर्षों तक लोक भाषा मे प्रचारित किया। अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाने के लिए शब्दों का सहारा लेना ही पड़ता है। बहुत से नये-नये शब्द गढने भी पड़ते हैं। फिर भी सर्वज्ञ का ज्ञान बहुत थोड़े रूप में ही प्रचारित हो पाता है, क्योंकि वह शब्दातीत व अनन्त होता है। शब्द सीमित है। ज्ञान असीम है। जैनधर्म की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं। वह उनके पारिभाषिक शब्दों से प्रकट होता है। बहुत से शब्द जैन ग्रन्थो में ऐसे प्रयुक्त हुए हैं जो अन्य किसी ग्रन्थ व कोष ग्रन्थों मे नही पाये जाते। कई शब्द मिलते भी है तो उनका अर्थ वहा जैन ग्रन्थो मे प्रयुक्त अर्थों से भिन्न पाया जाता है। अतः जैन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ सहित कोश प्रकाशित होना बहुत ही आवश्यक और अपेक्षित था, और अब भी है। अंग्रेजी भाषा आज विश्व में विशिष्ट स्थान रखती है पर जैन ग्रन्थों के बहुत से शब्दों के सही अर्थ व्यक्त करने वाले बहुत से शब्द उस भाषा में मिले हुए हैं। यह जैन ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवादकों को अनुभव होता है। अतः जैन पारिभाषिक शब्दो के पर्यायवाची अंग्रेजी शब्दो के एक बड़े कोष की आवश्यकता आज भी अनुभव की जा रही है।

ढाई हजार वर्षोंमें शब्दोंके अनेक रूप और अर्थ हुए है। उनमें परिवर्तन हो जाना स्वभाविक है। अनेकों आचार्यों, मुनियो और विद्वानो ने एक-एक पारिभाषिक शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढग से की है। अतः एक ही शब्द के अर्थ और अर्थान्तर बहुत प्रकार के पाये जाते है। किस-किस ने किस पारिभाषिक शब्द का किस तरह व्याख्यान किया है उसका पता लगाने का कोई साधन नही था। इस कमी की पूर्ति और ऐसे ही एक कोष की आवश्यकता का अनुभव स्व० श्री जुगलकिशोर जी मुख्तियार को हुआ और उन्होंने इस काम को अपने ढंग से प्रारम्भ किया। पर वह काम बहुत बड़ा था और वे अन्य कामों में लगे रहते थे। इसलिए इसे पूरा करना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाया। कुछ व्यक्तियों के सहयोग से इस प्रयत्न को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। पर वर्षों तक एकनिष्ठ होकर उसे पूरा कर पाना संभव नहीं हो पाया। वह पूरा करने का श्रेय प० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री को मिला। वर्षों से वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली में मैं जब भी दिल्ली जाता हूं तो वीर सेवा मन्दिर में भी पहुंचता हूं। अत. पं० बालचन्द्र जी के काम का मुझे अनुभव भी है। अब यह काम पूरा हो गया। इससे मुझे व उन्हें दोनो को सतोष है।

जैन लक्षणावली ग्रन्थ के निर्माण मे सबसे बड़ी उल्लेखनीय विशेषता तो यह रही है कि दि० और श्वे० दोनों सम्प्रदायों के करीब ४०० ग्रन्थो के आधार से यह महान् ग्रन्थ तैयार किया गया है। एक-एक जैन पारिभाषिक शब्द की व्याख्या किस आचार्य ने किस ग्रंथ में किस रूप मे की है इसकी खोज करके उन ग्रन्थो का आवश्यक उद्धरण देते हुए हिन्दी में उन व्याख्याओं का सार दिया गया है। इससे उन-उन ग्रन्थो के उद्धरणों के ढूंढने का सारा श्रम बच गया है, और हिन्दी मे उन व्याख्याओं का सार लिख देने से हिन्दी वालो के लिए यह ग्रंथ बहुत उपयोगी हो गया है। ४०० ग्रन्थों के करीब का संक्षेप या मंथ दोहन इसी एक ग्रन्थ मे कर देना वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है। पं० बालचन्द्र जी ने तो वर्षों तक परिश्रम करके जिज्ञासु के लिए बहुत बड़ी सुविधा उपस्थित कर दी है इसके लिए वे बहुत ही धन्यवाद के पात्र हैं। वीर सेवा मन्दिर ने काफी खर्चा उठा कर बड़े अच्छे रूप में इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया। इसके लिए संस्था व उसके कार्यकर्ता भी धन्यवाद के पात्र हैं।

जैन लक्षणावली इसका दूसरा नाम जैन पारिभाषिक शब्द कोष रखा गया है। इसके तीन भाग हैं जिनमे १२२० पृष्ठों में पारिभाषिक शब्दों के लक्षण और अर्थ अकारादि क्रम से दिये गये हैं। पहले के दो भागो मे जिन-जिन ग्रन्थकारों के जिन-जिन ग्रन्थो का उपयोग इस ग्रन्थ मे हुआ है उनका विवरण भी दिया गया था तीसरे भागके ४४ पृष्ठों की प्रस्तावना मे बहुत सी शब्दों सबंधी विशेष बातें देकर ग्रन्थ की आंशिक पूर्ति कर दी गयी है। पं० की अस्वस्थता के कारण तीसरा भाग काफी देरी से प्रकाशित हुआ। पर यह सन्तोष का विषय है कि इसके प्रकाशन से यह काम पूरा हो गया। अब कोई भी व्यक्ति जैन लक्षणावली के तीनों भागों से किसी भी जैन पारिभाषिक शब्द के संबंध में आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकता है। पहले दो भागो का मूल्य तो २५-२५ रुपये रखा गया था और अब मंहगाई बढ़ जाने से तीसरे भाग का मूल्य ४० रुपये रखा गया है और तीनों भागों का मूल्य १२० रुपये कर दिया गया है। यह ग्रन्थ संग्रहणीय एवं बहुत काम का है इसलिए सभी जैन ग्रन्थालयों को खरीदना ही चाहिये।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३४ किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५०७, वि० स० २०३७ | जनवरी-मार्च १९८१

णमोकार-महिमा

घणघाइकम्ममहणा, तिहुवणवरभव्व-कमलमत्तण्डा ।
अरिहा अणंतणाणी, अणुवमसोक्खा जयंतु जए ॥१॥
अट्ठविहकम्मवियला, णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा ।
दिट्ठसयलत्थसारा, सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु ॥२॥
पंचमहव्वयतुंगा, तक्कालिय-सपरसमय-सुदधारा ।
णाणागुणगणभरिया, आइरिया मम पसीदंतु ॥३॥
अण्णाणघोरतिमिरे, दुरंततीरम्हि हिंडमाणाणं ।
भवियाणुज्जोययरा, उवज्झाया वरमदिं देंतु ॥४॥
थिरधरियसीलमाला, ववगयराया जसोहपडिहत्था ।
बहुविणयभूसियंगा, सुहाइं साहू पयच्छंतु ॥५॥

भावार्थ - सघन-घाति कर्मों का आलोडन करने वाले, तीनों लोकों में विद्यमान भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य अनंतज्ञानी और अनुपम सुखमय अरहंतों की जगत् में जय हो।

अष्टकर्मों से रहित, कृतकृत्य, जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्त तथा सकल तत्त्वार्थ के द्रष्टा सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें।

पंचमहाव्रतों से समुन्नत, तत्कालीन स्व-समय और पर-समयरूप श्रुत के ज्ञाता तथा नाना-गुणसमूह से परिपूर्ण आचार्य मुझ पर प्रसन्न हों।

जिसका ओर-छोर पाना कठिन है, उस अज्ञानरूपी घोर अंधकार में भटकने वाले भव्य-जीवों के लिए ज्ञान का प्रकाश देने वाले उपाध्याय मुझे उत्तम मति प्रदान करें।

शीलरूपी माला को स्थिरतापूर्वक धारण करने वाले, संगरहित, यशःसमूह से परिपूर्ण तथा प्रवर विनय से अलंकृत शरीर वाले साधु मुझे सुख प्रदान करें।

□□□

श्वेताम्बर जैन पंडित-परम्परा

□ श्री अगरचंद नाहटा, बीकानेर

पडित किसे कहा जाय, यह एक समस्या है। साधारणतया किसी भाषा या विषय के विशिष्ट अध्येता या विद्वान को पंडित कहा जाता है, जब कि गीता के अनुसार पंडित बहुत बडी साधना का परिणाम है। अतः पडित में ज्ञान के साथ साथ साधना भी उसमें अच्छे रूप मे होना चाहिये। जैन परम्परा में ज्ञान-क्रियाभ्याम् मोक्षः कहा है, अर्थात ज्ञान और क्रिया यानि आचरण, सदाचार और साधना इन दोनो के सम्मेलन से मोक्ष मिलता है। जैनाचार्य और मुनिगण ज्ञानी और सदाचारी होते थे। इसलिये वास्तविक रूप मे 'पडित' कहलाने के वे ही अधिकारी हैं। श्वेताम्बर समाज मे मुनिगण, जब अमुक सीमा तक का अभ्यास कर लेते है, तो उन्हें 'पन्यास' पद से विभूषित किया जाता है। पन्यास का संक्षिप्त रूप 'पं०' उनके नाम के आगे लिखा हुआ मिलता है। इस दृष्टि से श्वेताम्बर पडित परम्परा आचार्यो और मुनियों से प्रारम्भ हुई, कहा जा सकता है।

दिगबर-संप्रदाय मे मुनि के लिये शायद ऐसा कोई योग्यता या पद का प्रचार नही रहा, मध्य काल मे तो भट्टारक-सप्रदाय मे विद्वान काफी हुए, पर आचार मे वे जरा शिथिल थे। गृहस्थी मे जो विद्याध्ययन करने के बाद स्वाध्याय मंडली मे ग्रथो का वांचन करते व दूसरो को सुनाते और धार्मिक क्रियाओ को सम्पन्न कराते है, वे पंडित के रूप मे पहिचाने जाते हैं। श्वेताम्बर समाज मे ऐसी परम्परा तो नही रही, क्योकि दिगम्बर समाज मे तो मुनियो की सख्या बहुत ही कम रही। जबकि श्वेताम्बर आचार्यों व मुनियों की संख्या सदा से काफी रही अतः श्रावकों की पंडित-परम्परा, दिगंबर-सम्प्रदाय की तरह नहीं चल पाई। मध्यकाल में भट्टारको की तरह श्वेताम्बर समाज मे श्री पूज्यो व यतियों की परम्परा अवश्य चली। लम्बे समय तक वे धर्म-प्रचार, व्याख्यान देने व धार्मिक क्रियाओं को कराते और वैद्यक ज्योतिष के अन्य उपयोगी कार्यों को सम्पन्न कराते रहे इसलिए वैसे पडितों की परम्परा अवश्य चलती रही। ऐसे यतियो की संख्या भी काफी अधिक थी। इसलिये श्रावक लोगो को संस्कृत प्राकृत भाषायें सीखने व शास्त्रीय ग्रंथो में विद्वता प्राप्त करने की आवश्यकता नही रही। अतः ११वी शताब्दी से ही श्वेताम्बर श्रावको में विद्वान, ग्रन्थकार, तो बराबर होते रहे। पर दिगंबर विद्वानो की तरह वे स्वाध्याय-गद्दी पर बैठ कर शास्त्रो के वाचन आदि का काम नही करते थे। क्योकि वह कार्य तो मुनियों और यतियों के द्वारा अच्छी तरह चल ही रहा था। और उनकी सख्या भी काफी थी। अतः यहा श्वेताम्बर पंडित-परम्परा पर प्रकाश डालते हुये मैं श्वेताम्बर श्रावक-ग्रथकारो पर ही कुछ प्रकाश डालूंगा।

श्वेताम्बर ग्रन्थकारो मे सबसे उल्लेखनीय पहला विद्वान है -कवि धनपाल। जो कि धारा के विद्या-विलासी महाराजा भोज के सभा-पडित थे। वे मूलतः ब्राह्मण पडित थे। पर जैनाचार्यों के सम्पर्क मे आये और उनका भाई सोमन तो जैन दीक्षित साधु भी बन गया। इसलिए कवि धनपाल ने भी जैनधर्म स्वीकार कर लिया। कादम्बरी के समान उन्होंने 'तिलक मजरी' सस्कृत गद्य-कथा की रचना करके बड़ी ख्याति प्राप्त की। अपने भाई सोमन मुनि के रचित ग्रन्थ चतुर्विंशतिका को सस्कृत टीका बनाई। प्राकृत मे रिषभपंचाशिका और संस्कृत मे भी तीर्थंकरो की स्तुतिमय रचनायें की। अपभ्रश व तत्कालीन लोक-भाषा मे उन्होने सत्यपुरीय महावीर उत्साह नामक स्तुति-काव्य बनाया है। जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्व की रचना है। इसकी एक मात्र प्रति मिलती है जिसके आधार से मुनि जिनविजयजी ने जैन साहित्य संशोधक मे इसे प्रकाशित कर दी है।

१२वीं शताब्दी मे नागौर के श्रेष्टी धनदेव के पुत्र पद्मानन्द ने वैराग्य शतक नामक मुक्तक काव्य की रचना की है। जो 'काव्य माला' में बहुत वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका है। यह खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनवल्लभ-सूरि जी के भक्त थे। वैराग्य शतक की प्रशस्ति-श्लोक मे इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है। नागौर में उनके पिता धनदेव ने नेमिनाथ का मंदिर बनाया था। जिसकी प्रतिष्ठा जिनवल्लभसूरि ने की थी। पद्मानंद के वैराग्य शतक की एक नई आवृति भी छप गई है।

१२-१३वी शताब्दी मे श्वेताम्बर श्रावको मे कई

ग्रंथकार हुये है। जिनमे वाग्भट्ट ने वागभट्टालंकार की रचना की। कपूरचंद ने एक प्रकरण बनाया। जो हमारे मणिधारी जिनचंद्रसूरि ग्रंथ में प्रकाशित हो चुके हैं। १३वीं शताब्दी के उल्लेखनीय श्वेताम्बर श्रावक-ग्रंथकारो में भिल्लमल कुल के कवि 'आसड' हो गये है। जिनको कवि सभा श्रृंगार का उपमान मिला। उन्होने मेघदूत की सबसे पहली टीका बनाई। पर वह अभी उपलब्ध नहीं है। उनकी प्राकृत की दो रचनायें उपदेश-कंदली और 'विवेक-मंजरी प्राप्त हैं विवेकमंजरी पर बालचंद्रसूरि ने विस्तृत टीका बनाई है। विवेकमंजरी का रचनाकाल सं० १२४८ है। आसड कवि ने जिन स्तोत्र, स्तुति आदि और भी कई रचनायें बनाई थी पर वे अब प्राप्त नही हैं। संवत् १२५५-६० के आस-पास मरुकोट के नेमिचंद भंडारी भी प्रसिद्धग्रंथकार है, जिनके रचित 'षष्टीशतक' ग्रंथ की श्वेताम्बर समाज मे तो इतनी अधिक प्रसिद्धि हुई कि उसकी संस्कृत व भाषा टीकायें तथा पद्यानुवाद मेरी जानकारी मे १२ हैं। दिगंबर संप्रदाय मे भी यह 'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला' के नाम से प्रसिद्ध है। और इस पर दि० भागचंद ने संवत् १९१२ मे वचनिका बनाई, सो प्रकाशित भी हो चुका है।

१३वी शताब्दी में ही 'कवि-चक्रवर्ती' श्रीपाल ने कई प्रशस्ति काव्य और शतार्थों की रचना की और यशपाल ने 'मोह-पराजय नाटक बनाया। १३वी शताब्दी के अन्त मे महामंत्री वस्तुपाल ने बसंतविलास महाकाव्य की रचना की। तथा और भी कई विद्वान हुये है।

१४वी शताब्दी के उल्लेखनीय श्वेताम्बर श्रावक ग्रंथकार 'ठक्कुर फेरु' है। वे अपने ढंग के एक ही ग्रंथकार थे। जिन्होंने वास्तुशास्त्र, मुद्राशास्त्र, गणित और ज्योतिष शास्त्र, आदि विषयो की ७ रचनायें बनाई, जो हमे प्राप्त १ मात्र प्रति के आधार से मुनि जिनविजय जी ने 'रत्नपरीक्षादि ग्रन्थ सप्तक' मे प्रकाशित कर दी हैं। रत्न-परीक्षा, द्रव्य-परीक्षा, धातु उत्पत्ती आदि के हिन्दी अनुवाद भी हमने प्रकाशित कर दिये हैं।

१५वी शताब्दी के विशिष्ट ग्रंथकार मांडवगढ़ के कवि मंडन है। ये भी ठक्कुर फेरु की तरह खरतरगच्छ के थे, उन्होंने भी व्याकरण अलंकार काव्य संगीत आदि कई विषयों के महत्वपूर्ण ग्रन्थ बनाये। जिनमें से कई ग्रन्थ तो मंडन ग्रंथावली भाग १-२ मे प्रकाशित हो चुके है। संगीत मंडन आदि ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। ये श्रीमाल जाति के और बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। इन्ही के परिवार मे धनद नामक कवि हुये हैं। जिनके रचित शतकत्रय प्रकाशित हो चुके है। मांडव गढ के ही तपागच्छीय श्रावक संग्रामसिंह ने 'बुद्धिसागर' ग्रंथ बनाया। संवत १५२० में रचित यह ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है।

ऊपर प्राकृत और संस्कृत के श्वेताम्बर श्रावक ग्रंथकारों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। लोक-भाषा के भी कई अच्छे कवि हो गये हैं उन कवियों की परम्परा भी १३वी शताब्दी से निरंतर चालू रही। संवत् १२५० के आस-पास 'आसिगु' कवि ने चंदनबाला रास और जीवदया रास की रचना की। ये दोनों प्रकाशित हो चुके हैं। इसी शताब्दी में खरतरगच्छ के २ श्रावक कवियों ने 'जिनपतिसूरि गीत' बनाये जो हमारे संपादित ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में छप चुके हैं। १४वीं-१५वी शताब्दी मे कान्ह कवि ने अंचलगच्छ की गुरुपरम्परा संबंधी काव्य बनाया। महाकवि ने तीर्थमाला व राणकपुर स्तवन आदि की रचना की। १७वीं शताब्दी के कवि रिषभदास तो बहुत ही उल्लेखनीय कवि हैं। जिन्होंने हीरविजय सूरि रास आदि अनेकों काव्यों की रचना की। इसी शताब्दी के सुप्रसिद्ध कवि बनारसीदास भी श्वेताम्बर खरतरगच्छ के अनुयायी थे। उनकी प्राथमिक रचनायें श्वेताम्बर ग्रंथो और मान्यताओं पर आधारित हैं पर आगे चल कर वे समयसार गोमट्टसार आदि दिगबर ग्रंथों से प्रभावित हुये। उनका एक 'आध्यात्मिक मत' स्वतंत्ररूप से प्रचारित हुआ, जो वर्तमानमे दिगबर तेरापथी संप्रदायके रूप मे प्रसिद्ध है।

१८वी शताब्दी मे दलपतराय, १९वी शताब्दी में हरखसराय, और सबलदास, तथा विनयचंद कवि हुये। २०वी शताब्दी मे भी यह परम्परा चालू रही। श्वेताम्बर विद्वानों और ग्रंथकारो की २०वी की उत्तरार्द्ध मे काफी अभिवृद्धि हुई। इस तरह श्वेताम्बर विद्वानो और कवियों तथा उनकी रचनाओं पर संक्षिप्त मे ही यहां प्रकाश डाला गया है। कई श्वेताम्बर विद्वानों को भी अपने श्रावक-कवियों एव विद्वानो की परम्परा की जानकारी नही है। इसलिए यह प्रयास काफी उपयोगी सिद्ध होगा।

नाहटों की गवाड़, बीकानेर

□□□

आचार्य नेमिचन्द्र और उनका द्रव्यसंग्रह

☐ डा० कमलेशकुमार जैन

उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर ज्ञात होता है कि नेमिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान् हुए है जिन्होने अपनी उदात्त मनीषा का परिचय देते हुए भव्य जीवो के कल्याणार्थ विभिन्न मौलिक एव टीका ग्रन्थो का सृजन किया है। पर्याप्त शोध खोज के अभाव मे अब तक नेमिचन्द्र नाम के एकाधिक विद्वानो मे ऐक्य माना जाता रहा है, किन्तु ऐतिहासिक आलोकन-विलोकन से अब यह मान्यता प्राय: पुष्ट हो गई है कि गोम्मटसारादि के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और द्रव्य संग्रह के कर्त्ता मुनि नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव दो पृथक पृथक्-पृथक् विद्वान है, एक नहीं।

प्रारम्भ मे श्री शरच्चन्द्र घोषाल ने अपने द्रव्यसग्रह के अंग्रेजी संस्करण की विस्तृत भूमिका मे गोम्मटसारादि के कर्त्ता और द्रव्यसग्रह के कर्त्ता नेमिचन्द्र को एक मानते हुए टीकाकार ब्रह्मदेव के इस कथन को अस्वीकार किया था कि नेमिचन्द्र का अस्तित्व मालवा के राजा भोज के राज्यकाल ई० सन् १०१८ से १०६०[1] मे था, क्योंकि उपर्युक्त समय मे उसका अस्तित्व मानने के अन्य विभिन्न स्रोतों से सिद्ध नेमिचन्द्र का समय ईसा की दशवी शती के स्थान पर ईसा की ग्यारहवी शती हो जाता है। श्री घोषाल के इस कथन पर आपत्ति प्रकट करते हुए आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने 'जैन हितैषी' में "द्रव्य-संग्रह का अग्रेजी संस्करण"[2] नामक एक लेख मे लिखा था कि यह आपत्ति तभी उपस्थित होती है जबकि पहले यह सिद्ध हो जाय कि यह द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ उन्ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का बनाया हुआ है जो गोम्मटसार आदि ग्रन्थों के कर्त्ता हैं। आचार्य मुख्तार की उक्त आशका तत्कालीन शोध-खोज प्रेमियों को एक चुनौती साबित हुई, जिससे परवर्ती विद्वानों ने न केवल उक्त दोनों ग्रन्थकर्त्ताओ में भिन्नता स्वीकार की, अपितु विभिन्न प्रमाणो को उद्धृत कर उक्त कथन की पुष्टि भी की।

नेमिचन्द्र नाम के विद्वान् :

डा० दरबारीलाल कोठिया ने नेमिचन्द्र नाम के अनेक विद्वानों पर विचार करते हुए नेमिचन्द्र नाम के भिन्न-भिन्न निम्न चार विद्वानो का उल्लेख किया है[3]—

१. सिद्धांतचक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित एव गोम्मटसार आदि के प्रणेता तथा गंगवंशीय राजा राचमल्ल के प्रधान सेनापति चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र। इनका समय विक्रम सवत् १०३५ ईसा की दशवीं शती है।[4]

२. नयनन्दि के शिष्य और वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव के गुरु नेमिचन्द्र।

३. गोम्मटसार की जीवतत्त्व प्रदीपिका के टीकाकार नेमिचन्द। इनका समय ईसा की सोलहवी शताब्दी है।

४. द्रव्य संग्रह के कर्त्ता नेमिचन्द्र।

उपर्युक्त चार विद्वानों में से दूसरे एवं चौथे नेमिचन्द्र को डा० कोठिया[5] ने विभिन्न प्रमाणो के आधार पर एक सिद्ध करते हुए द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धातदेव का समय विक्रम सवत् ११२५ ईसा की ग्यारहवी शती के आस-पास निर्धारित किया है तथा डा० नेमिचन्द्र शास्त्री[6] ने विक्रम की बारहवी शती का पूर्वार्ध। ये दोनो मत एक ही समय की ओर इगित करते है।

नेमिचन्द्र नाम के उपर्युक्त विद्वानो के अतिरिक्त

१. पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना, पृष्ठ ९४।
२. द्रष्टव्य-युग निबन्धावली, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ५३९-५५६।
३. द्रव्य संग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ २९-३२।
४. वही प्रस्तावना, पृष्ठ २९।
५. द्रव्यसग्रह प्रस्तावना, पृष्ठ ३२-३६।
६. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, खण्ड २, पृष्ठ ४४१।

प्रवचनसारोद्धार के कर्त्ता भी नेमिचन्द्रसूरि हैं, जो ईसा की तेरहवी शताब्दी के विद्वान् है, किन्तु ये विद्वान् श्वेताम्बर आम्नाय के हैं।[1] अतः इनका द्रव्यसग्रह से कोई सम्बन्ध नही है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती और मुनि नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव :

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि गोम्मटसार आदि ग्रन्थो के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ईसा की दसवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध गगवशीय राजा राचमल्ल के प्रधान सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे। उन्होंने गोम्मटसार कर्मकाण्ड की अन्तिम प्रशस्ति[2] मे गोम्मटराय का अपरनाम चामुण्डराय ससम्मान उल्लेख किया है तथा जीवकाण्ड की अतिम गाथा[3] मे तो उन्होने श्री गोम्मटराय के अतिरिक्त अपने गुरु अजितसेन एवं दादा-गुरु आचार्य आर्यसेन का भी स्मरण किया है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती अपने समय के जैन सिद्धांतों के सुप्रसिद्ध अद्वितीय वेत्ता थे। उनके नाम के आगे पाई जाने वाली "सिद्धांतचक्रवर्ती" यह उपाधि उक्त कथन की पुष्टि करती है। साथ ही जैसे महाकवि कालिदास को "दीपशिखा कालिदास", महाकवि माघ को "घण्टामाघ" और अमरचन्द्रसूरि को "वेणीकृपाणअमर" कह कर उनके तत्-तत् उल्लेखों वाले अति प्रसिद्ध श्लोकों के आधार पर सम्मानित किया जाता है ठीक उसी प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र को गोम्मटसार कर्मकाण्ड की—

> जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
> तह मइचक्केण मया छक्कखंडं साहियं सम्मं॥[4]

इस गाथा के आधार पर सम्मानित किया गया प्रतीत होता है।

द्रव्यसग्रह की ढूंढारी भाषा मे निबद्ध देश-भाषा-वचनिका के लेखक पंडितप्रवर जयचंद छाबड़ा ने द्रव्य-संग्रह को आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती की कृति स्वीकार किया है।[5] श्री छाबड़ा ने संवत् १८६३ मे श्रावण वदि चौदस के दिन द्रव्यसंग्रह की देश-भाषा-वचनिका पूर्ण की थी।[6] इस भाषा-वचनिका मे श्री ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका की छाया कई स्थलों पर दिखाई देती है। दोनों टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। साथ ही द्रव्यसग्रह के विशेष व्याख्यान को जानने के लिए श्री छाबड़ा ने ब्रह्मदेव कृत टीका को देखने का निर्देश किया है।[7] किन्तु सस्कृत टीकाकार द्वारा विभिन्न स्थलों पर नेमिचन्द्र को सिद्धांति-देव इस उपाधि से अलंकृत करने पर भी श्री छाबड़ा का इस ओर ध्यान नही गया। संभव है गोम्मटसार के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की अति प्रसिद्धि के कारण एवं सिद्धातचक्रवर्ती और सिद्धातिदेव इन दोनों विशेषणों मे एक देश समानता होने से गोम्मटसार आदि और द्रव्य-सग्रह इन दोनो ग्रन्थो के भिन्न-भिन्न कर्त्ताओं की ओर श्री छाबड़ा ने ध्यान न दिया हो। साथ ही दोनों ग्रन्थों के एक ही लेखक की प्राचीन धारणा उनके उक्त लेखन मे प्रमुख कारण प्रतीत होती है। यहां एक विशेष बात यह भी ज्ञातव्य है कि मूलाचार की संस्कृत टीका के लेखक वसुनन्दि को भी एक स्थान पर वसुनन्दि सिद्धानचक्रवर्ती के नाम से अभिहित किया गया है।[8] लगता है यह भी ऊपर लिखित कारणो का ही प्रतिफल है।

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ १४६।

२. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ९६५-९७२।

३. गोमम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ७३४।

४. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ३९७।

५. (क) तहां श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ति आचार्य इस ग्रन्थ का कर्त्ता कहु शिष्य को समझावने के मिसकरि···।

—द्रव्यसंग्रह, देश-भाषा-वचनिका, पृष्ठ २

(ख) इहां श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ति मंगलकै अर्थि इष्टकूं नमस्कार कीया है।

द्रव्यसग्रह, देश-भाषा-वचनिका, पृष्ठ ८

(ग) आगे श्री नेमिचन्द्र आचार्य सिद्धांतचक्रवर्ति इस ग्रन्थि का कर्त्ता अपना लघुतारूप वचन कहे हैं।

—द्रव्यसग्रह, देश-भाषा-वचनिका, पृष्ठ ७३

६. संवत्सर विक्रम तणूं अठदश-शतत्रय साठ।
श्रावण वदि चौदस दिवस, पूरण भयोसुपाठ॥

—द्रव्यसंग्रह, देशभाषा-वचनिका, पृष्ठ ७४

७. मूलाचार, वसुनन्दि वृत्ति, पृष्ठ १।

८. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ३९७।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थकारों के भेद का ज्ञान कराने वाले उपर्युक्त साक्ष्यों के अतिरिक्त निम्न तथ्य भी इसकी पुष्टि में हेतु कहे जा सकते है—

१. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने सगर्व लिखा है कि—जिस प्रकार चक्रवर्ती छः खण्डों को अपने चक्ररत्न से निर्विघ्नतापूर्वक वश में करता है ठीक उसी प्रकार मैंने मति रूपी चक्र के द्वारा षट्खण्ड रूप सिद्धांतशास्त्र को अच्छी तरह जाना है।[१] किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव द्वारा उपर्युक्त प्रकार की गर्वोक्ति के कही दर्शन नही होते है। अपितु इससे भिन्न उन्होंने अपनी लघुता प्रकट करते हुए अपने आपको 'तणुसुत्तधरेण" और 'मुणि" इस विशेषण से उल्लिखित किया है तथा अन्यों को "दोससचयचुदा सुदपुण्णा" एवं "मुणिणाहा" विशेषणों से।[२]

२. नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती द्वारा रचित ग्रन्थ विस्तार रूप से पाये जाते है। किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव द्वारा रचित द्रव्यसंग्रह सूत्र रूप में लिखित लघुकृति है।

३. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती अपने ग्रन्थो मे अपना और अपने गुरुजनो का नामोल्लेख करते है,[३] किन्तु नेमिचन्द्र मुनि लिखा है।[४]

४. नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने अपने प्रमुख श्रावक गोम्मटराय (चामुण्डराय का उल्लेख किया है।

५. आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने दोनो ग्रन्थकारो के भिन्न-भिन्न होने मे यह भी कारण प्रस्तुत किया है कि —द्रव्यसंग्रह के कर्ता ने भावास्रव के भेदों मे प्रमाद को भी गिनाया है और अविरत के पांच तथा कषाय के चार भेद ग्रहण किये है, परन्तु गोम्मटसार के कर्ता ने प्रमाद को भावास्रव के भेदों मे नहीं माना और अविरत के (दूसरे ही प्रकार के) बारह तथा कषाय के पांच भेद स्वीकार किये है।[५]

६. द्रव्यसग्रह के संस्कृत टीकाकार श्री ब्रह्मदेव, जिनका समय अनुमानतः ईसा की बारहवी-तेरहवी शताब्दी है।[६] गोम्मटसार और द्रव्यसंग्रह के कर्ता मे भेद मानते हैं। इसीलिए उन्होंने विभिन्न स्थानो पर द्रव्यसंग्रहकार को "सिद्धांतिदेव" विशेषण से अभिहित किया है।[७] इसके अतिरिक्त ब्रह्मदेव ने अनेक स्थलो पर प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थो की गाथाओ की तरह प्राकृत पंचसंग्रह की चौदह गुणस्थानो का नामोल्लेख करने वाली उन दो गाथाओ को आगम-प्रसिद्ध-गाथा[८] कह कर उद्धृत किया है, जो कि किंचित् परिवर्तन के साथ गोम्मटसार जीवकाण्ड मे भी पाई जाती है।

द्रव्यसंग्रह :

द्रव्यसग्रह की श्री ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका के उत्थानिका वाक्य से ज्ञात होता है कि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव ने मालव देश के धारा नामक नगर के अधिपति राजा भोजदेव के समय श्रीपाल के आश्रम नामक नगर में स्थित श्री मुनिसुव्रत तीर्थंकर के चैत्यालय मे भाण्डागार आदि अनेक नियोगों के अधिकारी सोम नामक नगरश्रेष्ठी के निमित्त पहले २६ गाथाओं वाले लघुद्रव्यसंग्रह की रचना की थी, पुनः तत्त्वों की विशेष जानकारी हेतु बृहद्द्रव्यसंग्रह की रचना की गई।[९]

द्रव्यसंग्रह आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव की एक अमर कृति है। इतनी लघु कृति में इतने अच्छे ढंग से

१. बृहद्द्रव्य सग्रह, गाथा ५८।
२. दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्द मुणिणा भणियं जं॥
३. द्रष्टव्य-पुरातन जैन वाक्य सूची प्रस्तावना पृष्ठ ९३।
४. बृहद्द्रव्य सग्रह, गाथा ५८।
५. पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना, पृष्ठ ९३।
६. पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना पृष्ठ ९४।
७. द्रव्यसग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ ३४, टिप्पणी १।
८. अथागमप्रसिद्धगाथाद्वयेन गुणस्थाननामानि कथयति।
—बृहद्द्रव्यसग्रह, ब्रह्मदेव टीका, पृष्ठ २८।
९. अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसंबंधिनः श्रीपालमहामण्डलेश्वरस्य संबन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालये भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन व्याख्या वृत्तिः प्रारभ्यते।
—बृहद्द्रव्यसग्रह, ब्रह्मदेव टीका, पृष्ठ १-२

जीवादि षड्द्रव्यों का विवेचन उनके वैदुष्य का जीवन्त प्रतीक है। इसके टीकाकार ब्रह्मदेव ने अपनी टीका में विभिन्न स्थानों पर गाथाओं को सूत्र कह कर उल्लिखित किया है। साथ ही उनके प्रति अपनी घनीभूत श्रद्धा को प्रकट करते हुए अनेकों स्थलों पर उन्हें भगवान् कह कर सबोधित किया है।[1]

लघुद्रव्य संग्रह एवं बृहद्द्रव्य संग्रह नामकरण :

ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका से ज्ञात होता है कि आचार्य नेमिचन्द्र ने सर्वप्रथम २६ गाथाओं वाले लघुद्रव्य संग्रह की रचना की थी। इसकी अन्तिम गाथा इस प्रकार है—

सोमच्छलेन रइया पयत्थलक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥[2]

इस गाथा से तीन विशेष बातों पर प्रकाश पड़ता है—

१. इस ग्रन्थ की रचना सोम नामक श्रेष्ठी के निमित्त की गई थी।

२. इस ग्रन्थ का नाम "पयत्थलक्खण" है।

३. इस ग्रन्थ के रचयिता श्री नेमिचन्द्र गणि हैं।

उपर्युक्त गाथा ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका की उत्थानिका का एक प्रमुख आधार है जिसे ब्रह्मदेव ने अन्य जानकारी के साथ विस्तारपूर्वक लिखा है। नामकरण के संबंध में मात्र इतना कहना ही पर्याप्त है कि "दव्व-संगहमिणं" इत्यादि गाथा ही "द्रव्य संग्रह" इस नाम के मूल में हेतु है। डा० दरबारीलाल कोठिया ने लिखा है कि द्रव्य संग्रह नाम की कल्पना ग्रन्थकार को अपनी पूर्व रचना के बाद इस द्रव्यसंग्रह को रचने समय उत्पन्न हुई है और इसके रचे जाने तथा उसे द्रव्यसंग्रह नाम दे देने के उपरान्त पदार्थलक्षण (पयत्थलक्खण) कारिणी गाथाओं को भी ग्रन्थकार अथवा दूसरों के द्वारा लघुद्रव्यसंग्रह नाम दिया गया है।"[3] डा० कोठिया के उक्त कथन के संदर्भ में मात्र इतना ही कहना अपेक्षित प्रतीत होता है कि इतनी क्लिष्ट कल्पना की अपेक्षा यह मानना अधिक स्वाभाविक एवं समीचीन प्रतीत होता है कि लघु और बृहद् ये विशेषण भी ब्रह्मदेव द्वारा लगाये गये हैं। उनके पूर्व इन विशेषणों का समायोजन अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता है, अतः मूल में तो २६ गाथाओं वाले ग्रन्थ का नाम "पयत्थलक्खण" है और ५८ गाथाओं वाले ग्रन्थ का नाम "द्रव्यसंग्रह"। यह बात अलग है कि श्री ब्रह्मदेव द्वारा लघु और बृहद् विशेषण लगाने के पश्चात् उक्त दोनों ग्रन्थों को लघुद्रव्यसंग्रह नाम से प्रसिद्धि मिली है।

लघुद्रव्य संग्रह :

उपलब्ध लघुसंग्रह में कुल २५ गाथाएं पाई जाती हैं। जबकि ब्रह्मदेव की टीका के अनुसार २६ गाथायें होनी चाहिए। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने इसकी एक गाथा छूट जाने की संभावना प्रकट की है।[4]

इस लघुद्रव्यसंग्रह में सर्वप्रथम विषय निर्देश के पश्चात् षड्द्रव्यों का उल्लेख करके काल को छोड़ कर शेष पांच द्रव्यों को बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय कहा है। पुनः जीवादि सप्त तत्त्वों में पुण्य-पाप का समावेश कर नौ पदार्थों का उल्लेख है। इसी क्रम में जीव का लक्षण, मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के छः भेद, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का स्वरूप बतलाते हुए जीवादि द्रव्यों के प्रदेशों का उल्लेख किया है। पुनः जीवादि सप्त पदार्थों का स्वरूप बतलाते हुए शुभाशुभ प्रकृतियों, सर्व द्रव्यों का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपना, कर्मों के नाश करने हेतु काय को निश्चल और मन को स्थिर करके रागद्वेष को त्यागने का निर्देश तथा आत्मध्यानपूर्वक सुख प्राप्ति के उपाय का विवेचन किया है। अन्त में मोह रूपी हाथी के लिये केशरी के समान साधुओं को नमस्कार करके अपने नामोल्लेख-पूर्वक कहा गया है कि सोमश्रेष्ठी के बहाने से भव्य-जीवों के उपकारार्थ इस "पयत्थ-लक्खण" नामक ग्रन्थ की रचना की है।

---

१. (क) "भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति ॥
बृहद्द्रव्य संग्रह, ब्रह्मदेव टीका, पृष्ठ ३

(ख) "भगवता श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवानामिति।"
—बृहद्द्रव्य संग्रह, ब्रह्मदेव टीका ४६
इसके लिए उपर्युक्त टीका के पृष्ठ ८५, १३७, १८१ एवं १९२ भी द्रष्टव्य हैं।

२. लघुद्रव्य संग्रह, गाथा २५।

३. द्रव्य संग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ २०-२१।

४. द्रव्य संग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ २१।

बृहद्द्रव्यसंग्रह :

बृहद्द्रव्यसंग्रह में कुल ५८ गाथायें हैं, जो तीन अधिकारों में विभक्त हैं। प्रथम अधिकार में कुल २७ गाथायें हैं, इसे षड्द्रव्यपंचास्तिकाय प्रतिपादकनामा प्रथम अधिकार कहा है। द्वितीय अधिकार मे ११ गाथायें है, इसे सप्ततत्त्व नवपदार्थ प्रतिपादक द्वितीय महाधिकार कहा है। तृतीय अधिकार में २० गाथायें है, इसे मोक्ष मार्ग प्रतिपादक नामा तृतीय अधिकार कहा है। इन तीनों अधिकारो को श्री ब्रह्मदेव ने अनेक अन्तराधिकारो मे विभक्त किया है। यद्यपि इन अन्तराधिकारों का विभाजन विषय-विभाजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, किन्तु यह विभाजन टीकाकार कृत ही है, आचार्य नेमिचन्द्र कृत नही।

इस बृहद्द्रव्य सग्रह मे आचार्य नेमिचन्द्र ने सर्वप्रथम जीव-अजीव द्रव्यो का निर्देश करने वाले भगवान् जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया है।

पुनः जीव का लक्षण करते हुए लिखा है कि १. जो जीता है, २. उपयोगमय है, ३. अमूर्तिक है, ४. कर्त्ता है, ५. शरीर परिमाण है, ६. भोक्ता है, ७. ससार मे विद्यमान है, ८. सिद्ध है, ९. स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है अर्थात् जिसमे उपर्युक्त नौ विशेषतायें पाई जायें वह जीव है। जीव के प्रथम विशेषण—"जो जीता है" को ध्यान मे रख कर व्यवहार और निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के दो पृथक्-पृथक् लक्षण करते हुए कहा है कि —जो भूत, भविष्य एवं वर्तमानकाल मे इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणो को धारण करता है वह व्यवहारनय से जीव है तथा निश्चयनय से जिसके चेतना है वह जीव है।

जीव के लक्षण मे जिस उपयोग की चर्चा की गई है वह उपयोग दो प्रकार का है—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल। इनमे से कुअवधि, अवधि, मनः पर्यय और केवल ये चार प्रत्यक्ष है तथा शेष चार अप्रत्यक्ष। उपर्युक्त आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग और चार प्रकार के दर्शनोपयोग को धारण करने वाला सामान्य रूप से जीव का लक्षण व्यवहारनय से कहा है और शुद्धनय की अपेक्षा शुद्ध दर्शन और ज्ञान ही जीव का लक्षण है।

जीव के तृतीय विशेषण "अमूर्तिक" की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि निश्चयनय से जीव मे पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श नही हैं, अतः जीव अमूर्तिक है और व्यवहार नय की अपेक्षा कर्मों के बन्धन के कारण मूर्तिक है।

जीव के चतुर्थ विशेषण 'कर्त्ता" पर विचार करते हुए कहा है कि—व्यवहारनय से आत्मा, (जीव) पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय नय से चेतन-कर्म का कर्त्ता और शुद्ध नय की अपेक्षा शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

जीव का पंचम विशेषण है—स्वदेह परिमाण। तदनुसार व्यवहारनय की अपेक्षा से यह जीव समुद्घात रहित अवस्था मे सकोच तथा विस्तार रूप अपने छोटे-बड़े शरीर के परिमाण मे रहता है और निश्चय नय से असंख्य प्रदेशो को धारण करने वाला है।

जीव का षष्ठ विशेषण है—भोक्ता। तदनुसार व्यवहारनय से आत्मा (जीव) सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्म फलो का भोक्ता है और निश्चय नय की अपेक्षा अपने चेतन भाव का भोक्ता है।

जीव का सप्तम विशेषण है—संसार में विद्यमानता। तदनुसार ग्रन्थकार ने संसारी जीवो का विवेचन करते हुए लिखा है कि —पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के भेद से एकेन्द्रिय के धारक स्थावर जीवो के अनेक भेद है तथा शख आदि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय त्रस जीव है। पचेन्द्रिय के दो भेद हैं तथा शख आदि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय त्रस जीव है। पचेन्द्रिय के दो भेद है—सज्ञी और असंज्ञी। शेष द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय मन रहित असज्ञी हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं—इस प्रकार उपर्युक्त कुल सात प्रकार के जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार है। अतः ये जीव समास (सक्षेप मे) चौदह प्रकार के हैं। इनमें संसारी जीव अशुद्धनय की दृष्टि से चौदह मार्गणा तथा चौदह गुणस्थानो के भेद से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं। और अशुद्धनय से सभी ससारी जीव शुद्ध है।

जीव का अष्टम विशेषण है--सिद्ध, तदनुसार सिद्ध-परमेष्ठी ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त तथा अंतिम शरीर के परिमाण से किंचित् न्यून आकार वाले होते हैं।

जीव का नवम विशेषण है—उर्ध्वगमन स्वभाव: तदनुसार सिद्ध (जीव) उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्र भाग में स्थित हैं नित्य हे और उत्पाद व्यय से युक्त हैं।

इस प्रकार जीव द्रव्य का विवेचन करने के पश्चात् प्रारम्भिक प्रतिज्ञानुसार जीव के प्रतिपक्षी अजीव द्रव्य का विवेचन करते हुए कहा है कि अजीव द्रव्य —पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से पाँच प्रकार का है। इनमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का धारक पुद्गल द्रव्य मूर्तिमान् है और शेष चारो द्रव्य अमूर्तिक। पुद्गल द्रव्य-शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप इन पर्यायो वाला है। धर्मद्रव्य गमन मे परिणत पुद्गल और जीवो को गमन मे सहकारी है। जैसे मछलियो के गमन मे जल सहकारी है। गमन न करते हुए पुद्गलो अथवा जीवो को धर्मद्रव्य गमन नही कराता है। अधर्मद्रव्य ठहरते हुए पुद्गल अथवा जीवो को ठहराने में सहकारी है। ठीक इसी प्रकार जैसे छाया यात्रियो को ठहरने में सहकारी है। गमन करते हुए पुद्गल अथवा जीवो को अधर्मद्रव्य नही ठहराता है। आकाशद्रव्य—जीव आदि शेष द्रव्यो को अवकाश देने वाला है। यह दो प्रकार का है। जितने आकाश मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये शेष पाँच द्रव्य पाये जाते है वह लोकाकाश है और लोकाकाश के बाहर अलोकाकाश है। कालद्रव्य दो प्रकार का है—व्यवहार काल और निश्चयकाल। जो द्रव्यो के परिवर्तन मे सहायक, परिणामादि लक्षण वाला है वह व्यवहार काल है और जो वर्तना लक्षण वाला है वह निश्चय काल है। निश्चयकाल लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नराशि की तरह परस्पर भिन्न होकर स्थित है। वे कालाणु असंख्यात द्रव्य है।

उपर्युक्त जिन जीवादि द्रव्यों की चर्चा की गई है, उनमें काल द्रव्य को छोड़ कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। क्योंकि ये विद्यमान (अस्ति) है और शरीर के समान बहुप्रदेशी है। अतः इनका अस्तिकाय नाम सार्थक है। जीव, धर्म और अधर्म इन तीन द्रव्यों मे असंख्यात प्रदेश है। आकाश मे अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गल तीनो (संख्यात, असख्यात और अनन्त) प्रकार के प्रदेशों वाले है। काल का एक ही प्रदेश है, अतः काल को काय नही कहा गया है। एक प्रदेशी परमाणु भी अनेक व स्कन्ध रूप बहुप्रदेशी हो सकता है, अतः पुद्गल परमाणु को भी उपचार से काय कहा है। जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु से रोका जाता है वह सब परमाणु को स्थान देने में समर्थ प्रदेश है।

इस प्रकार छहद्रव्यों के प्रदेशों की चर्चा करने के पश्चात् बतलाया है कि पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्य कथंचित् परिणामी है, अतः जीव और पुद्गल की सयोग परिणति से बने पर्याय रूप आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये सब नव पदार्थ हैं। आस्रव के दो भेद हैं--भावास्रव और द्रव्यास्रव। आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है वह भावास्रव है और जो ज्ञानावरणादि रूप कर्मों का आस्रव है वह द्रव्यास्रव है। भावास्रव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय रूप पाच भेद हैं, जिनके क्रमशः पाँच, पाँच पन्द्रह, तीन और चार भेद है। द्रव्यास्रव अनेक भेदों वाला है। बन्ध दो प्रकार का है—भावबन्ध और द्रव्य बन्ध। जिस चेतनाभाव से कर्म बन्धता है वह भावबन्ध है और कर्म तथा आत्म-प्रदेशो का परस्पर मिलना द्रव्य बन्ध है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेदो से बन्ध चार प्रकार का है। योगों से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं तथा कषायो से स्थिति और अनुभाग बन्ध। संवर दो प्रकार का है—द्रव्य सवर और भाव-सवर। आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव का रोकने में कारण है वह भाव संवर है और द्रव्य-आस्रव का रुकना द्रव्य संवर है। पाँच व्रत पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषह और अनेक भेदों वाला चारित्र ये सब भाव संवर के भेद हैं। निर्जरा के दो भेद हैं—भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा। आत्मा के जिस परिणाम से उदयकाल मे अथवा तप द्वारा फल देकर कर्मों

का नाश होता है वह भाव निर्जरा है और कर्म-पुद्गलों का झड़ना द्रव्य निर्जरा है। मोक्ष दो प्रकार का है—भाव मोक्ष और द्रव्य मोक्ष। सम्पूर्ण कर्मों के नाश का कारण तो आत्मा है वह भाव मोक्ष है और कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् होना द्रव्य मोक्ष है। शुभ और अशुभ भावो से युक्त जीव क्रमशः पुण्य और पाप रूप होता है। साता वेदनीय, शुभ-आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र (शुभ गोत्र) ये पुण्य प्रकृतियाँ है, शेष पाप प्रकृतियाँ है।

इस प्रकार नौ पदार्थों के विवेचन प्रसंग मे मोक्ष की चर्चा करने के पश्चात् उस मोक्ष प्राप्ति का कारण अथवा मार्ग क्या है? इस बात को ध्यान मे रख कर आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है कि—सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो का समुदाय व्यवहार नय से मोक्ष का कारण है तथा निश्चय नय से उपर्युक्त सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रमयी अपनी आत्मा ही मोक्ष का कारण है। क्योंकि आत्मद्रव्य को छोड़ कर अन्य किसी द्रव्य में रत्नत्रय विद्यमान नही रहता है, इसलिए रत्नत्रयधारी आत्मा ही निश्चय नय से मोक्ष का कारण है। जीवादि सप्त तत्त्वों अथवा नौ पदार्थों पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है और उसके होने पर दुरभिनिवेशों (सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय) से रहित सम्यग्ज्ञान होता है। आत्मा और उससे भिन्न पर पदार्थों का संशय, विमोह तथा विभ्रम रहित ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, वह साकार और अनेक भेदो वाला होता है। पदार्थों (भावों) में भेद न करके, विकल्प न करके पदार्थों का जो सामान्य ग्रहण है वह दर्शन है। छद्मस्थ संसारी जीवों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। किन्तु केवली भगवान् के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग युगपद् होते हैं। अशुभ कार्य से निवृत्ति और शुभ कार्य में प्रवृत्ति व्यवहार चरित्र है, जो व्रत समिति और गुप्ति रूप है। संसार के कारणो का नाश करने के लिए ज्ञानी जीव की जो बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओ का निरोध है वह उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र है।

मोक्ष-मार्ग का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य नेमिचन्द्र ने उस निश्चय और व्यवहार रूप मोक्ष-मार्ग के साधक रूप ध्यान अभ्यास की प्रेरणा देते हुए लिखा है कि ध्यान करने से मुनि नियम से निश्चय और व्यवहार रूप मोक्ष-मार्ग को पाता है, इसलिए चित्त को एकाग्र कर ध्यान का अभ्यास करें। वह ध्यान अनेक प्रकार का है, इसकी सिद्धि के लिए एकाग्र चित्त आवश्यक है और एकाग्रचित्त के लिए इष्ट और अनिष्ट रूप जो राग द्वेष एवं मोह रूप इन्द्रियो के विषय है उनका त्याग आवश्यक है।

अनेक प्रकार के ध्यानो के प्रसग मे पदस्थ ध्यान की चर्चा करते हुए मुनि नेमिचन्द्र ने पच परमेष्ठियों के वाचक पैंतीस सोलह, छः, पाँच, चार, दो और एक अक्षर रूप मंत्रो के जाप का निर्देश दिया है। उन पच परमेष्ठियो मे चार घातिया कर्मों के नष्ट करने वाले तथा अनन्त दर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्य के धारक, शुभ देह मे स्थित, शुद्ध आत्म-स्वरूप अरहन्त भगवान् हैं। अष्ट कर्म रूप शरीर को नष्ट करने वाली, लोकाकाश और अलोकाकाश की ज्ञाता-दृष्टा, पुरुषाकार, लोक के अग्रभाग मे अवस्थित आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है। दर्शनाचार और ज्ञानाचार की मुख्यता को लेकर वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार इन पाचों आचारो मे जो स्वयं तत्पर है तथा अन्य को भी लगाते है वे मुनि आचार्य है। जो रत्नत्रय से युक्त प्रतिदिन धर्मोपदेश मे रत है तथा मुनियो मे प्रधान है वह आत्मा उपाध्याय है। दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण, मोक्ष-मार्ग स्वरूप सदा शुद्ध चारित्र का जो पालन करते हैं वे साधु परमेष्ठी है।

इसी प्रसंग मे साधु के निश्चय और परम ध्यान प्राप्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि—एकाग्रता को प्राप्त कर जिस किसी वस्तु का चिन्तन करते हुए जब साधु निरीह वृत्ति (इच्छा रहित) होता है तब उसके निश्चय ध्यान होता है और जब मन, वचन काय की क्रिया से रहित होकर अपनी आत्मा में ही तल्लीन होता है तब उसके परम ध्यान है। क्योंकि तप, श्रुत और व्रत का धारक आत्मा ध्यान रूपी रथ की धुरी को धारण करने मे समर्थ होता है, अतः ध्यान की प्राप्ति के लिए उपर्युक्त तीनों की आराधनाकरें।

सबसे अन्त मे मुनि नेमिचन्द्र ने अपनी लघुता प्रकट करते हुए दोष विहीन एवं ज्ञान संपन्न मुनीश्वरों से द्रव्य-संग्रह ग्रंथ के संशोधन का निवेदन किया है।

बृहद्द्रव्य संग्रह के निरूपण की विशेषता :

१. आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ की द्वितीय गाथा में जीव का लक्षण उपस्थित करते हुए उसके नौ विशेषण दिये हैं। ये नौ विशेषण अपने आप मे महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि इन नौ विशेषणो के माध्यम से आचार्य नेमिचन्द्र ने तत्कालीन विभिन्न दार्शनिको द्वारा मान्य सिद्धांतों का खण्डन किया है। सामान्यतया चार्वाक सिद्धांत में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है। अतः प्रथम विशेषण—जीता है, यह चार्वाक सिद्धांत का खण्डन करता है। नैयायिक गुण और गुणी (ज्ञान और आत्मा) इन दोनो मे एकान्त रूप से भेद मानते हैं, अत: जीव का द्वितीय विशेषण—"उपयोगमय" नैयायिकों के सिद्धांत का खण्डन करता है। इसी प्रकार भट्ट और चार्वाक के सिद्धांत का खण्डन करने के लिए "जीव के अमूर्तपने की स्थापना", सांख्यो के खण्डन हेतु "आत्मा के कर्मों के कर्त्ता रूप की स्थापना", नैयायिक, मीमांसक और सांख्यों के खण्डन हेतु "आत्मा का भोक्तृत्व रूप", सदाशिव के खण्डन हेतु "आत्मा का ससारस्थ" कथन, भट्ट और चार्वाक के खण्डन हेतु "आत्मा का सिद्धत्व स्वरूप" और माण्डलीक मत का अनुसरण करने वालो के खण्डन हेतु आत्मा (जीव) के स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन का विवेचन किया गया है।

२. जिस नयवाद सिद्धात की नीव पर जैन-दार्शनिको का परमत खण्डन और स्वमत मण्डन रूप प्रासाद खड़ा हुआ है, वही नयवाद सिद्धात आज जैन-विद्वानों मे परस्पर विवाद उपस्थित कर रहा है। इसका मूल कारण है—नय सिद्धांत का सम्यग् अर्थ न समझना। विभिन्न आचार्यो ने नय के अनेक भेद किये हैं, जिनमे निश्चय और व्यवहार ये दो प्रमुख है। आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य-संग्रह मे नय-विवक्षा को प्रायः स्पष्ट रूप मे ही प्रस्तुत किया है। अर्थात् उन्हें कौन सा कथन किस नय-विवक्षा से अभीष्ट है इसका उल्लेख किया है। उन्होंने निश्चय, व्यवहार शुद्ध और अशुद्ध इन चार नयों के माध्यम से जीव और अजीव इन द्रव्यों का विवेचन किया है। गाथा २६ में पुद्गल परमाणु के अस्तिकायत्व के प्रसंग में "उवयारा"[1] शब्द का प्रयोग है। अत: जिस प्रकार प्रत्येक नय-विवक्षा से ज्ञेय पदार्थ मे भेद पैदा हो जाता है, उसी प्रकार उक्त गाथा मे नय का स्थानापन्न शब्द "उवयारा" अन्य किसी ज्ञेयान्तर की ओर इंगित करता है। वह ज्ञेयान्तर क्या है? यह एक विचारणीय विषय है साथ ही पूर्व में व्यवहार-नय का प्रयोग किया गया है, अतः "उवयारा" शब्द व्यवहार-नय का अपरनाम प्रतीत होता है। अन्यथा व्यवहार के अतिरिक्त "उपचार" की कल्पना का अन्य उद्देश्य क्या हो सकता है?

३. आचार्य नेमिचन्द्र ने जीव और अजीव इन दो द्रव्यों के विवेचन प्रसंग में निश्चय और व्यवहार-आदि नयों की शैली को अपनाकर विवेचन किया है, किन्तु शेष आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन पांच तत्त्वों के विवेचन प्रसंग में उपर्युक्त अभिप्रेत निश्चय-व्यवहारपरक नय-शैली का समन्तात् परित्याग कर द्रव्य-भाव शैली का अनुसरण किया है। अर्थात् शेष पांच द्रव्यों को द्रव्यास्रव-भावास्रव आदि के माध्यम से निर्दिष्ट किया है। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्य नेमिचन्द्र ने पूर्व अभिप्रेत निश्चय-व्यवहार परक नय-शैली का अन्त तक निर्वाह क्यों नहीं किया? क्या ऐसा करना संभव नहीं था? अथवा इसके मूल मे आचार्य नेमिचन्द्र का कोई अन्य अभिप्राय है? विद्वज्जन स्पष्ट करें!

४. नयों एवं द्रव्य-भाव पक्षों के प्रयोग से पूर्व लेखक ने उन्हें परिभाषित नहीं किया, जिससे पाठकों को इन शब्दों के अर्थों को समझने हेतु अन्य ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता है। कहीं-कहीं नयादिकों की स्पष्ट घोषणा किये बिना भी विवेचन दृष्टिगत होता है।[2] ऐसी स्थिति में नय-विवक्षा भी पाठकों के हस्तगत हो जाती है। अतः उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नो को दृष्टि से ओझल किये बिना एक तर्कसंगत समाधान की खोज सतत बनी रहती है।

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा २६
एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो "उवयारा" तेण य काओ भणंति सव्वण्हु॥

२. द्रष्टव्य—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा १७, १८, १६, २५।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

गोम्मटसार, कर्मकाण्ड
अनुवादक—पण्डित मनोहरलाल।
प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास ईस्वी सन् १९७१।

गोम्मटसार, जीवकाण्ड
अनुवादक—पण्डित खूबचन्द्र जैन।
प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास ईस्वी सन् १९७२।

जैनेन्द्र सिद्धांतकोश, भाग ३
लेखक—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी।
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-१ सन् १९७२।

तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा
लेखक—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य।
प्रकाशक—श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, (म० प्र०) नवम्बर, १९७४।

द्रव्यसग्रह (देश भाषा वचनिका सहित)
सम्पादक—डा० दरबारी लाल कोठिया।
प्रकाशक—श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी-५ अगस्त, १९६६।

पुरातन जैनवाक्य सूची
सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार "युगवीर"।
प्रकाशक—वीर सेवा मंदिर, सरसावा, जि० सहारनपुर ईस्वी सन् १९५०।

बृहद्द्रव्य सग्रह (ब्रह्मदेवकृत सस्कृत टीका सहित)
अनुवादक—अनुल्लिखित।
प्रकाशक—श्री शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान श्री शांतिवीरनगर, श्री महावीर जी प्रकाशन वष अनुल्लिखित।

मूलाचार (वसुनन्दि टीका सहित), प्रथम भाग
सम्पादक—पण्डित पन्नालाल सोनी।
प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, हीराबाग, गिरगाव बम्बई वीर निर्वाण संवत् २४४७

युगवीर निबन्धावली, द्वितीय खण्ड
लेखक—जुगलकिशोर मुख्तार "युगवीर"।
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट २१, दरियागज, दिल्ली दिसम्बर, १९६७।

लघुद्रव्य सग्रह
द्रष्टव्य-बृहद्द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ २१९ व २२३।

—जैन विश्वभारती, लाडनू

□□

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री ओमप्रकाश जैन, पता—२३, दरियागज दिल्ली-२
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक
राष्ट्रिकता—भारतीय
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय
पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

आत्मा सर्वथा असंख्यात प्रदेशी है

□ पं० पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

द्रव्यों की पहिचान के लिए आगम मे पृथक्-पृथक् रूप से द्रव्यों के गुणधर्मों को गिनाया गया है, सभी द्रव्यो के अपने-अपने गुण-धर्म नियत है। कुछ साधारण है और कुछ विशेष। जहां साधारण गुण वस्तु के अस्तित्वादि को इंगित करते है वहां विशेष गुण एक द्रव्य की अन्य द्रव्यो से पृथकता बतलाते है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व ये जीव द्रव्य के साधारण गुण है और ज्ञान' दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये विशेष गुण है। कहा भी है—

"लक्षणानि कानि" अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्वं अमूर्तत्व द्रव्याणां दश सामान्य गुणाः। प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषाम्" ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगंधवर्णाः गतिहेतुत्वं, स्थितिहेतुत्व अवगाहनहेतुत्व वर्तनाहेतुत्वं चेतनमचेतनत्वं मूर्तममूर्तत्वं द्रव्याणां षोडशविशेषगुणाः।
प्रत्येक जीवपुद्गलयोर्षट्।"— (आलापपद्धति गुणाधिकार)

जीव में निर्धारित गुणो को जीव कभी भी किसी भी अवस्था मे नहीं छोड़ता इतना अवश्य है कि कभी कोई गुण मुख्य कर लिया जाता है और दूसरे गौण कर लिये जाते है। यह अनेकान्त दृष्टि की अपनी विशेष शैली है द्रव्य मे गौण किए गए गुण-धर्मों का द्रव्य मे सर्वथा अभाव नही हो जाता—द्रव्य का स्वरूप अपने मे पूर्ण रहता है। यदि गौण रूप का सर्वथा अभाव माना जाय तो वस्तु-स्वरूप एकांत-मिथ्या हो जाय और ऐसे मे अनेकान्त दृष्टि का भी व्याघात हो जाय। अनेकान्त तभी कार्यकारी है जब वस्तु अनेक धर्मा हो-- "अनन्तधर्मणस्तत्त्व", "सकलद्रव्य के गुण अनन्त पर्याय अनन्ता।"

अनेकान्त दृष्टि प्रमाण नयो पर आधारित है और एक देश भाग की ज्ञाता होने से नय दृष्टि वस्तु के पूर्ण रूप की ज्ञाता नही हो सकती--इसलिए नयाश्रित ज्ञान छद्मस्थ के अधीन होने से वस्तु के एक देश को जान सकता है। वह अंश को जाने-कहे, यहां तक तो ठीक है। पर, यदि वह वस्तु को पूर्ण वैसी और उतनी ही मान बैठे तो मिथ्या है। यतः वस्तु, ज्ञान के अनुसार नही होती अपितु वस्तु के अनुसार ज्ञान होता है। अत: जिसने अपनी शक्ति अनुसार जितना जाना वह उसकी शक्ति से (सम्यग्नयानुसार) उतने रूप मे ठीक है। पूर्ण रूप तो केवलज्ञानगम्य है, जैसा है वैसा है। नय ज्ञान उसे नही जान सकता है। फलत:—

आत्मा के स्वभाव रूप असंख्यात प्रदेशित्व को किसी भी अवस्था मे नकारा नही जा सकता। स्वभावत: आत्मा निश्चय-नय से तो असंख्यात प्रदेशी है ही, व्यवहार नय से भी जिसे शरीर प्रमाण कहा गया है वह भी असंख्यात प्रदेशी ही है। यतः दोनो नयो को द्रव्य के मूल स्वभाव का नाश इष्ट नही। असंख्य प्रदेशित्व आत्मा का सर्वकाल रहनेवाला गुण-धर्म है, जो नयोंसे कभी गौण और कभी मुख्य कहा या जाना जाता है। ऐसे मे आत्मा को अनेकान्त दृष्टि म अप्रदेशी मान लेने की बात ही नही ठहरती। क्योंकि "अनेकान्तवाद" (छद्मस्थो को) पदार्थ के सत्स्वरूप में उसके अंश को जानने की कुंजी है, गौण किए गए अंशों को नष्ट करने या द्रव्य के स्वाभाविक पूर्ण रूप को जानने की कुंजी नही। यदि हम दृष्टि में वस्तु का सर्वथा एक अंश-रूप ही मान्य होगा तो "अनेकान्त सिद्धान्त" का व्याघात होगा।

यदि आत्मा में असंख्य प्रदेशित्व या अप्रदेशित्व की सिद्धि करनी हो तो हमे जीव की उक्त शक्ति को लक्ष्य कर 'प्रदेश' के मूल लक्षण को देखना पड़ेगा। उसके आधार पर ही यह संभव होगा। अत: यहा सिद्धांत ग्रन्थो से "प्रदेश" के लक्षण उद्धृत किए जा रहे हैं:

१. "सः (परमाणु) यावतिक्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेशः।"

—परमाणु (पुद्गल का सर्वसूक्ष्म भाग—जिसका पुनः खंड न हो सके) जितने क्षेत्र (आकाश) मे रहता है, उस क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

२. "प्रदेशोनामापेक्षिकः सर्वसूक्ष्मस्तु परमाणोरवगाहः।"

—त० भा० ५-७

—प्रदेश नाम आपेक्षिक है वह सर्वसूक्ष्म परमाणु का अवगाह (क्षेत्र) है।

३. "तैर्हि आकाशादीनां क्षेत्रादिविभागः प्रदिश्यते।"

—त० वा० २, ३८,

—प्रदेशों के द्वारा आकाशादि (द्रव्यों के) क्षेत्र आदि का विभाग इंगित किया जाता है।

४. "जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥"

—जितना आकाश (भाग) अविभागी पुद्गल अणु घेरता है, उस आकाश भाग को प्रदेश कहा जाता है।

५. "जेत्तियमेत्तं खेत्तं अणुणारुद्धं।"

—द्रव्यस्व० नयच० १४०

—अणु जितने (आकाश) क्षेत्र को व्याप्त करता है उतना क्षेत्र प्रदेश कहलाता है।

६. "परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशः।"

—प्र० सा० जयचंद वृ०

—परमाणु जितने क्षेत्र को व्याप्त करता है, उतना क्षेत्र प्रदेश कहा जाता है।

७. "शुद्धपुद्गलपरमाणुगृहीतनभस्थलमेव प्रदेशः।"

—शुद्ध पुद्गल परमाणु से व्याप्त नभस्थल ही प्रदेश कहलाता है।

८. "निर्विभाग आकाशावयवः प्रदेशः।"

—निर्विभाग आकाशावयव प्रदेश होता है।

९. "प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः॥३॥ प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति प्रदेशाः। कथं प्रदिश्यन्ते? परमाण्ववस्थान परिच्छेदात्॥४॥ वक्ष्यमाणलक्षणो द्रव्यपरमाणुः सः यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते। ते धर्माधर्मैकजीवा स्तुल्यासंख्येयप्रदेशा।"—

—तत्वा० राव० ५/८/३

१०. "प्रदेशस्य भावः प्रदेशत्वं अविभागिपुद्गल-परमाणुनावष्टब्धम्।"

—आलाप पद्धति

आगमों के उक्त प्रकाश में स्पष्ट है कि "प्रदेश" और अप्रदेश शब्द आगमिक और पारिभाषिक हैं और आकाशभाग (क्षेत्र) परिमाण में प्रयुक्त होते है। आगम के अनुसार आकाश के जितने भाग को जो द्रव्य जितना जितना व्याप्त करता है वह द्रव्य आकाश के परिमाण के अनुसार उतने ही प्रदेशो वाला कहा जाता है।

शंका—यदि "शब्दानामनेकार्थः" के अनुसार "प्रदेश" का "खंड" और "अप्रदेश" का 'अखण्ड' अर्थ मानें तो क्या हानि है?

समाधान—शब्दों के अनेक अर्थ होते हुए भी उनका प्रासंगिक अर्थ ही ग्रहण करने का विधान है। जैसे सैन्धव का अर्थ घोड़ा है और नमक भी। पर, भोजन प्रसंग मे इस शब्द से "नमक" और यात्रा प्रसंग में 'घोड़ा' ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार द्रव्य के गुण-स्वभाव में "प्रदेश" "अप्रदेश" को आगमिक परिभाषा के भाव मे लिया जायगा। अन्यथा शुद्धोपयोगी आत्मा के संबंध मे—"अप्रदेश" का अर्थ "एक प्रदेश" करने पर शुद्धात्मासिद्ध भगवान मे एक प्रदेशी होने की आपत्ति होगी जब कि उन्हें "अप्रदेश" न मान कर सप्रदेश—असंख्यात प्रदेशों वाला स्वाभाविक रूप से माना गया है। उनकी स्थिति "किंचिदूणाचरमदेहदोसिद्धाः के रूप मे है। प्रदेश का परिमाण आकाशक्षेत्रावगाह से माना गया है। आत्मा को अखण्ड मानने में कोई बाधा नहीं—आत्मा असंख्यात प्रदेशी और अखण्ड है ही।

आगम मे एक से अधिक प्रदेश वाले द्रव्य को "अस्तिकाय और मात्र एक प्रदेशी द्रव्य को "अस्तिकाय' से बाहर रखा गया है। कालाणु और अविभाज्य पुद्गल परमाणु के सिवाय सभी द्रव्यों (आत्मा को भी) को अस्तिकाय कहा है। कही आत्मा को अस्तिकाय से बाहर (एक प्रदेशी) द्रव्यों में गिनाया हो ऐसा पढ़ने और देखने में नहीं आया।

आत्मा को अप्रदेशी कहने की इसलिए भी आवश्यकता नहीं कि "प्रदेशित्व" "अप्रदेशित्व" का आधार आकाश की

अवगाहना का क्षेत्र माना गया है—परमपारिणामिक भाव नहीं। यदि इनका मापदण्ड मात्रों से किया गया होता तो आचार्य अर्हंतों और सिद्धों को भी "अप्रदेशी" घोषित करते, जबकि उन्होंने ऐसा घोषित नहीं किया।

उक्त विषय में अन्य आचार्यों के वचन ऊपर प्रस्तुत किए गए। आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्बंधित विषय को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसे भी देखना आवश्यक है। क्योंकि "समयसार" उन्हीं की रचना है। "समयसार" के सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में कहा गया है :—

"अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
णवि सो सक्कई तत्तो हीणो अहिओ य काउं जं ॥"

— समयसार ३४२

"जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्यो, असंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च।"

—टीका, अमृतचन्द्राचार्य (आत्मख्याति)

"आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चाऽसंख्यातप्रदेशो देशित: समये परमागमे तस्यात्मनः शुद्ध चैतन्यान्वयलक्षण द्रव्यत्वं तथैवाऽसंख्यातप्रदेशत्वं च पूर्वमेव तिष्ठति।"

—टीका जयसेनाचार्य, (तात्पर्यवृत्ति)

उक्त सन्दर्भ को स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वय स्पष्ट है। गाथा में "नित्य", आत्मख्याति में "द्रव्यरूपेण", और तात्पर्यवृत्ति में "द्रव्यार्थिकनयेन", ये तीनों विशेष-निर्देश द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय के कथन को इंगित करते हैं। एतावतः इस प्रसग में आत्मा के असंख्यात प्रदेशित्व का कथन निश्चय नय की दृष्टि से ही किया गया है, व्यवहार नय की दृष्टि से नहीं।

आगम में व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों के यथेच्छ रीति से प्रयोग करने की हमे छूट नहीं दी गई। इनके प्रयोग की अपनी मर्यादा है। निश्चय नय के कथन में वस्तु की स्वभाव शक्ति एवं गुण धर्म की मुख्यता रहती है और व्यवहार नय में उपचार की। इसके अनुसार आत्मा का बहुप्रदेशित्व निश्चय नय का कथन है, व्यवहार नय का नहीं।

इसका फलितार्थ यह भी निकलता है कि जो कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा के स्वभावरूप-परम पारिणामिक भाव-रूप-सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में आत्मा को नित्य एव असंख्यप्रदेशी घोषित करते हैं, वे ही आचार्य आत्मा को कथमपि किसी भी प्रसग में अप्रदेशी नहीं कह सकते।

"जीवापोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेसत्ति कालस्स ॥

—कुन्दकुन्द, प्रवचनसार ४३

"अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाश-तुल्याऽसंख्येय—प्रदेशापरित्यागात् जीवस्य।"

—वही, अमृतचन्द्राचार्य-तत्वदीपिका

"तस्य तावत संसारावस्थायां विस्तारोपसंहारयोरपि प्रदीपवत् प्रदेशानां हानिवृद्धयोरभावात् व्यवहारे देह-मात्रोऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमिताऽसंख्येय प्रदेशत्वम्।"

—वही, जयसेनाचार्य, तात्पर्यवृत्ति

जीव के असंख्यात प्रदेशित्व को किसी भी अपेक्षा से उपचार या व्यवहार का कथन नहीं माना जा सकता। प्रदेश व्यवस्था द्रव्यों के स्वाधीन है और वह उनका स्वभाव ही है और स्वभाव में उपचार नहीं होता। तत्त्वार्थ राजवार्तिक (५/८/१३) का कथन है कि—

हेत्वपेक्षाभावात् ॥३॥ पुद्गलेषु प्रसिद्ध हेतु-मवेक्ष्य धर्मादिषु प्रदेशोपचार. न क्रियते तेषामपि स्वाधीन प्रदेशत्वात्। तस्मादुपचार कल्पना न युक्ता।"

स्वर्गीय, न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमार जी का यह कथन विशेष दृष्टव्य है :—

"शुद्ध नय दृष्टि से अखण्ड उपयोग स्वभाव की विवक्षा से आत्मा में प्रदेश भेद न होने पर भी ससारी जीव अनादि कर्म-बन्धनबद्ध होने से सावयव ही है।"

—त० वा० (ज्ञानपीठ) पृ० ६६६

एक बात और। अपेक्षाश्रित होने से नय-दृष्टि में वस्तु का पूर्ण त्रैकालिकशुद्धस्वभाव गम्य नहीं होता। पूर्ण ग्रहण तो सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान द्वारा ही होता है। इसीलिए आचार्य पदार्थज्ञान को नय-दृष्टि से अतीत घोषित करते हैं। वे कहते है :—

"णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो।"
"सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।"

—समयसार, १४२, १४४

मूर्त द्रव्य में तो परमाणु की प्रदेश संज्ञा मानी जा सकती है, पर प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा की वहाँ भी

उपेक्षा नहीं की जा सकती। पुद्गल द्रव्य के सिवाय सभी अमूर्त द्रव्यों ने प्रदेश का भाव आकाश क्षेत्र से ही होगा उपयोग के अनुसार नहीं।

मूर्ते पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानंताणूनां पिण्डा स्कंधास्त एव त्रिविधा प्रदेशा भण्यंते न च क्षेत्रप्रदेशाः।— (शेषाणां क्षेत्राऽपेक्षेति फलितम्)

—बृ० द्रव्य स० टीका गाथा २५

सिद्धत्वपर्याय मे उस पर्याय के उपादान कारणभूत शुद्धात्मद्रव्य के क्षेत्र का परिमाण— चरमदेह से किंचित् न्यून है जो कि तत्पर्याय (अंतिम शरीर) परिमाण ही है, एक प्रदेश परिमाण नही।

'किंचिदूनचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारणभूतशुद्धात्मद्रव्य तत्पर्यायप्रमाणमेव।'

— वही

द्रव्यसंग्रह मे शका उठाई गई है कि सिद्ध-आत्मा को स्वदेहपरिमाण क्यो कहा ? वहाँ स्पष्ट किया है कि—

'स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकसांख्यत्रयं प्रति।' —वही गाथा २ टीका

स्मरण रहे कि कोई आत्मा को अणुमात्र (अप्रदेशी) कहते है और कोई व्यापक : उनकी मान्यता समीचीन नही, यहाँ यह स्पष्ट किया है।

पंचास्तिकाय में आत्मा के प्रदेशो के संबध मे लिखा है—

'निश्चयेन लोकमात्रोऽपि। विशिष्टावगाहपरिणामशक्तियुक्तत्वात् नामकर्म निर्वृत्तमणुमहत्तशरीरमधितिष्ठन् व्यवहारेण देहमात्रः।' —(त० दी०)

'निश्चयेन लोकाकाशप्रतिमाऽसंख्येयप्रदेशप्रमितोऽपि व्यवहारेण शरीरनामकर्मोदय जनिताणुमहच्छरीर प्रमाणत्वात् स्वदेहमात्रो भवति।' —(तात्पर्य वृ०) २७,

यदि उपयोगावस्था मे आत्मा अप्रदेशी माना जाता है तो आत्मा के अखंड होने से यह भी मानना पड़ेगा कि आत्म प्रदेश बृहत् शरीर मे सिकुड़ कर प्रदेशमात्र-अवगाह मे हो जाते हैं और शेष पूरा शरीर भाग आत्महीन (शून्य) रहता है- जैसा कि पढ़ने सुनने मे नही आया।

छद्मस्थ का ज्ञान प्रमाण और नयगर्भित है और केवली भगवान का ज्ञान प्रमाणरूप है। नय का भाव अंशग्राही और प्रमाण का भाव सर्वग्राही है। दोनों मे ही अनेकान्त की प्रवृत्ति है, अनेकान्त की अवहेलना नहीं की गई —'अनेकान्तऽप्यनेकान्त'। प्रसंग मे भी इसी आधार पर आत्मा के असंख्यातप्रदेशत्व का विधान किया गया है। तथाहि--

अनेकान्त की दो कोटियां है। एक ऐसी कोटि जिसमें अपेक्षादृष्टि से अंशों को क्रमशः जाना जाय और दूसरी कोटि वह जिसमे सकल को युगपत् प्रत्यक्ष जाना जाय। प्रथम कोटि में रूपी पदार्थों को जानने वाले चार ज्ञानधारी तक के सभी छद्मस्थ आते है। इन सभी के ज्ञान परसहायापेक्षी आंशिक और क्रमिक होते है। प्रत्यक्ष होने पर भी वे 'देश-प्रत्यक्ष' ही कहलाते हैं। दूसरे शब्दों मे इन सभी को एक समय मे एक प्रदेशग्राही भी माना जा सकता है यानी ये एक प्रदेश (ऊर्ध्वप्रचय) के ज्ञाता होत है। दूसरी कोटि मे केवली भगवान को लिया जायगा यत: ये एक और एकाधिक अनंत प्रदेश (तिर्यक्प्रचय—बहुप्रदेशी द्रव्य) के युगपत् ज्ञाता है। आचार्यों ने इसी को ध्यान मे लेकर ऊर्ध्व प्रचय को 'क्रमाऽनेकान्त' और तिर्यक् प्रचय को 'अक्रमाऽनेकान्त' नाम दिए है—

'तिर्यक्प्रचयः तिर्यक् सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति 'अक्रमाऽनेकान्त' इति च भण्यते।···ऊर्ध्व प्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति 'क्रमाऽनेकान्त' इति च भण्यते।'

—प्रव० सार (त० वृ०) १४१।२००।६

'वस्तु का गुण समूह अक्रमाऽनेकान्त है क्योंकि गुणो की वस्तु म युगपदवृत्ति है और पर्यायो का समूह क्रमाऽनेकान्त है, क्योंकि पर्यायों की वस्तु मे क्रम से वृत्ति है'—

—जैनेन्द्र सि० कोष पृ० १०८

स्पष्ट है कि क्रमाऽनेकान्त मे वस्तु का स्वाभाविक पूर्णरूप प्रकट नही होता, स्वाभाविक पूर्णरूप तो अक्रमाऽनेकान्त मे ही प्रकट होता है और बहुप्रदेशित्व का युगपद्ग्राही ज्ञान केवलज्ञान ही है। अतः केवलज्ञानगम्य—प्रदेशसम्बन्धी वही रूप प्रमाण है, जो सिद्ध भगवान का रूप है—

'किंचिदूना चरम देहतो सिद्धाः।' अर्थात्—

—असंख्यात प्रदेशी।

आगम में द्रव्य का मूल स्वाभाविक लक्षण उसके गुणों और पर्यायो को बतलाया गया है और ये दोनो ही सदा कालद्रव्य मे विद्यमान है। द्रव्य के गुण द्रव्यार्थिक नय और पर्यायें पर्यायार्थिक नय के विषय है। जब हम कहते हैं कि 'आत्मा अखंड है' तो यह कथन द्रव्यार्थिकनय का विषय होता है और जब कहते हैं कि 'आत्मा असंख्यात-प्रदेशी है' तो यह कथन पर्यायार्थिकनय का विषय होता है दोनो ही नय निश्चय मे आते है। जिसे हम व्यवहार नय कहते है वह द्रव्य को पर-सयोग अवस्थारूप मे ग्रहण करता है। चूंकि आत्मा का असख्यप्रदेशत्व स्वाभाविक है अतः वह इस दृष्टि से व्यवहार का विषय नही—निश्चय का ही विषय है। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनो मे एक की मुख्यता मे दूसरा गौण हो जाता है—द्रव्यस्वभाव मे न्यूनाधिकता नही होती। अतः स्वभावतः किसी भी अवस्था मे आत्मा अप्रदेशी नही है। वह त्रिकाल असख्यातप्रदेशी तथा अखण्ड है।

आत्मा को सर्वथा असख्यातप्रदेशी मानने पर अर्थ-क्रियाकारित्व का अभाव भी नही होगा। यतः अर्थक्रिया-कारित्व का अभाव वहा होता है जहा द्रव्य के अन्य धर्मों की सर्वथा उपेक्षा कर उसे एक धर्मरूप मे ही स्वीकार किया जाता है। यहा तो हम आत्मा के अन्य सभी धर्म स्वीकृत है केवल प्रदेशत्वधर्म के सम्बन्ध मे ही उसके निर्धारण का प्रश्न है—यहा अन्य धर्मों के रहने से स्व-भावशून्यता भी नही होगी और ना ही द्रव्यरूपता का अभाव। यदि एक धर्म के ही आसरे से (अन्य धर्मों के रहते हुए) अर्थक्रियाकारित्व की हानि होती हो तब तो एकप्रदेशी होने से कालाणु, पुद्गलाणु मे और असख्यात-प्रदेशी होने से सिद्धों मे भी अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा—पर ऐसा होता नही।

राजवार्तिक में आत्मा के अप्रदेशपने का भी कथन है पर वह आत्मा के असंख्यातप्रदेशत्व के निषेध मे न होकर शुद्धदृष्टि को लक्ष्य मे रखकर ही किया गया है अर्थात् आत्मा यद्यपि परमार्थ से असंख्यातप्रदेशी अवश्य है तथापि शुद्धदृष्टि की विवक्षा मे बहुप्रदेशीपने को गौण कर अखण्डरूप से ग्रहण करने के लिए अभिप्रायवश उसे अप्रदेशरूप कहा गया है। प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा को लक्ष्य कर नही।

प्रकृत मे उपसंहाररूप इतना विशेष जानना चाहिए कि जहा तक मोक्षमार्ग का प्रसंग है, उसमें निश्चय का अर्थ करते समय, उसमे यथार्थता होने पर भी अभेद और अनुपचार की मुख्यता रखी गई है। इस दृष्टि को साध-कर जब अप्रदेशी का अर्थ किया जाता है, तब प्रदेश का अर्थ भेद या भाग करने पर अप्रदेश का अर्थ अखण्ड हो जाता है। इसलिए परमार्थ से जीव के—स्व-स्वरूपशक्ति से असख्यातप्रदेशी होने पर भी दृष्टि की अपेक्षा उसे अखण्डरूप से अनुभव करना आगम सम्मत है। प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से आत्मा असंख्यातप्रदेशी और अखण्ड है ही और एक प्रदेशावगाही होकर भी उसके असख्यप्रदेशी हो सकने मे कोई बाधा नही। इसका निष्कर्ष है कि आत्मा अप्रदेशी तथा अखण्ड नहीं, अपितु असख्यातप्रदेशी तथा अखण्ड है।

वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज,
नई दिल्ली-२

□□□

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादन मडल लेखक के सभी विचारों मे सहमत हो। —सम्पादक

आनन्द कहां है ?

□ श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली

आत्मा की तीन अवस्थाएं होती हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। यह अभी बहिरात्मा है यानी इसकी दृष्टि, इसका सर्वस्व बाहर में है, पर मे है, धन-दौलत में है, परिवार मे है, शरीर मे है, अपने आप मे यानी चैतन्य में नहीं है। इसलिए यह मानता है कि मैं मनुष्य हूं, मैं धनिक हूं, मैं गरीब हूं, मैं रोगी हू, सुखी हूं, दुखी हू परन्तु कभी यह नही देखता कि मैं सच्चिदानन्द हू। शरीरादि धन-वैभव तो साथ मे लाया नही, साथ में जायगा नही, जो जन्म से पहले था मरने के बाद रहेगा नहीं, यह तो संयोग वस्तु है। कुछ समय मात्र के लिए संयोग हुआ है। किसी होटल मे ठहरते हैं उस कमरे को अपना कमरा भी कहते हैं, उस कमरे मे अनेक प्रकार का सामान भी होता है, उसको काम मे भी लेते हैं परन्तु यह जानते है कि इसमे हमारा कुछ नही है, कुछ समय के लिए इसमे ठहरे हैं। उन सब मे स्वामित्वपना, अपनापन नही इसलिए उनमें अहबुद्धि भी नही होती और आसक्ति भी नही होती और उसके बिगड़ने-सुधरने से दुःख-सुख भी नहीं होता। उसी प्रकार यह चैतन्य आत्मा १००-५० वर्षों के लिए इस शरीर रूपी होटल मे आकर ठहरा है। इसमे इसका अपना अपने चैतन्य के अलावा कुछ नही है यहां तक कि शरीर भी यही रह जाता है, इसका अपना होता तो इसके साथ जाना चाहिए था। बात तो ऐसी ही है परन्तु यह भ्रम से इसे अपना मानता है, इसे अपना रूप मानता है और जब इसे अपना मानता है तो इससे सम्बन्धित परिवारादि हैं वे भी उसके अपने हो जाते है और जो अन्य संयोग है उसे भी अपना मान लेता है, तब उसमें अहम् बुद्धि पैदा होन से यह भाव बनता है—

'मैं सुखी-दुखी, मैं रंक-राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव, मेरे सुत तिय, मैं सबलदीन, बे रूप सुभग मूरख-प्रवीन'। इन संयोगो के अनुकूल होने पर अहकार करता है और विपरीत होने पर रोता है, यही इनका बहिरात्म-पना है। इसी से यह दुखी है वह कैसे दूर हो यह प्रश्न है ?

अगर यह अपने को पहचान ले कि मैं एक अकेला चैतन्य हू बाकी सब कर्म के सम्बन्ध से होने वाले सयोग है, मैं इन रूप नहीं, मैं अपने निज चैतन्य रूप हू अथवा मैं तो 'अह्योस्मि' हूं यह जाने। अपने को इनसे अलग देखे तो दुखी-सुखी होने का कोई प्रयोजन ही नही रहे। जैसे किसी नाटक मे कोई आदमी पार्ट कर रहा है, उसको धनिक का पार्ट दिया तो वह कर देता है, भिखारी का दिया है, तो वह कर देता है, भिखारी का पार्ट करते हुए अपने को भिखारी मानकर दुखी नही होता है और राजा का पार्ट कर राजा मानकर अहकार नही करता। क्योकि वह जानता है कि यह तो मात्र कुछ देर का पार्ट मात्र है। मैं इस रूप नही, मैं तो अपने रूप ही हूं। इसी प्रकार यह आत्मा कर्मजनित अनेक प्रकार के पार्ट कर रहा है। कभी धनिक का, कभी भिखारी का, कभी स्त्री का, कभी पुरुष का पुरुष का, कभी पशु का। अगर यह अपने आपको यानी पार्ट करने वाल को जाने पहचाने, जो सद्चिदानन्द चैतन्य है तो उसे कर्म-जनित अवस्था मे दुख-सुख नही हो, यही अन्तरात्मपना है याने अपने को जान लिया, अब उसके लिए वह पार्ट हो गया, अब तक उसे असली मान रखा था, जहा अपने को पहचाना उसका असलीपना खत्म हो गया। अब वह पार्ट उसे सुखी-दुखी नही बना सकता। नाटक का पार्ट दो-चार घण्ट का होता है। यह १००-५० वर्ष का नही है परन्तु पार्ट तो पार्ट ही है चाहे वह कितने समय का ही क्यो न हो।

धन वैभव का आना-जाना तो पुण्य-पाप के अधीन है परन्तु यह तत्व-ज्ञान प्राप्त करना अपने अधीन है। इसलिए हे चैतन्य तुझे आनन्द को प्राप्त करना है तो अपने को जानने का पुरुषार्थ करना चाहिए। जैसे तूने अपने को मान रखा है। वैसा तू नही, तू तो उन अवस्थाओ को जानने वाला चैतन्य है। यह जानकर जो अपना नही उससे हटे और जो अपना है उसमे लीन हो जाए तो कर्म का सम्बन्ध दूर हो जाए। क्योंकि जब कर्म-जनित अवस्थाओं को अपना जानकर दुखी-सुखी होता था तब नया कर्म का बन्ध होना था। जब अपने को कर्मकृत अवस्था से अलग जान लिया तो कर्म के कार्य के हर्ष-

[शेष पृ० २३ पर]

जैन संस्कृति में दसवीं-बारहवीं सदी की नारी

□ डा० श्रीमती रमा जैन

जैन संस्कृति में भारतीय नारी का गौरवपूर्ण स्थान सदा से सुरक्षित रहा है आदि पुराण मे आचार्य जिनसेन ने नारी के जिस रूप का चित्रण किया है, उससे प्रतीत होता है कि आज से लगभग ११९० वर्ष पूर्व नारी की स्थिति आज से कही अच्छी और सम्मानपूर्ण थी। उस समय पुत्री, माता-पिता के लिये अभिशाप नही मानी जाती थी। वह कुटुम्ब के लिए मंगल रूप और आनन्द प्रदान करने वाली समझी जाती थी।[१]

कन्याओं का लालन-पालन और उनकी शिक्षा-दीक्षा पुत्री के समान होती थी। भगवान ऋषभदेव ने अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रेरित करते हुए कहा था कि गुणवती, विदुषी नारी संसार में विद्वानों के बीच सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करती है।[२] अपने अनवरत अध्ययन के द्वारा ब्राह्मी और सुन्दरी ने पूर्णतः पाण्डित्य भी प्राप्त किया था।

उस समय समाज मे कन्या का विवाहित हो जाना आवश्यक नही था। ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध है कि कन्याएं आजीवन अविवाहित रह कर समाज की सेवा करती हुई अपना आत्मकल्याण करती थी। पिता पुत्री से उसके विवाह के अवसर पर तो सम्मति लेता ही था, आजीविका अर्जन के साधनो पर भी पुत्री से सम्मति लेता ही था। बज्रदन्त चक्रवर्ती ने अपनी कन्या श्री सर्वमती को बुलाकर उसे नाना प्रकार से समझाते हुए कलाओं के सम्बन्ध में चर्चा की है।[३] आजीविका उपार्जन के लिये उन्हें मूर्तिकला, चित्रकला के साथ ऐसी कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे अपने भरण-पोषण कर सकती थीं। पैतृक सम्पत्ति मे तो उनका अधिकार रहता ही था। वे अपनी इच्छा अनुसार दान धर्म में पिता की सम्पत्ति का उपयोग कर सकती थीं। कुमारी सुलोचना ने पिता की अनुमति से बहुत-सी रत्नमयी प्रतिमाओं का निर्माण कराया था, और उन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा पूजन मे भी पर्याप्त धनराशि खर्च की थी।

जैन संस्कृति में स्वावलम्बी नारी जीवन की कल्पना पुराणों और शिलालेखों मे सर्वत्र मिलती है। जैन परम्परा में भगवान महावीर से पूर्व, अन्य २३ तीर्थंकरों ने भी अपने-अपने संघ में नारी को दीक्षित कर आत्म-साधना का पूर्ण अधिकार दिया था। यही कारण है कि जैन नारी धर्म, कर्म एव व्रतानुष्ठानादि मे कभी पीछे नहीं रहीं।

जैन शासन के चतुर्विध संघ के साधु के समान साध्वी को एव श्रावक के समान श्राविका को भी सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। वह अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास एव आत्मकल्याण हेतु पुरुष के समान ही कठिन तपस्या, व्रत, उपवास केशलुंच आदि धार्मिक आचरण कर सकती है। स्वाध्याय से अपना बौद्धिक विकास कर आत्मानुष्ठान द्वारा मन और इन्द्रियों को वश मे कर, आगत उपसर्गों परीषहों को सहन कर धर्म साधिका बन सकती है। चन्दना सती ने अपनी योग्यता और प्रखर बुद्धिमत्ता से ही आर्यिका के कठोर व्रतों का आचरण कर महावीर स्वामी के तीर्थ में छत्तीस हजार आर्यिकाओ में गणिनी का पद प्राप्त किया था।[४]

ईसा की दसवीं शताब्दी में कवि चक्रवर्ती रत्न ने मल्लपय की पुत्री एवं सेनापति नागदेव की पत्नी अतिमब्बे की जिन भक्ति तथा उनके अलौकिक धर्मानुराग की भूरि२

१. पितरौतां प्रपश्यन्त नितरां प्रीतिमापतुः,
कलामिव सुधासूते. जनतानन्द कारिणीम्।
(आदिपुराण, पर्व ६, श्लोक ८३)

२. विद्यावान पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः।

३. आदि पुराण, पर्व ७, श्लोक।

४. आदि पुराण पर्व ४३, श्लोक।

प्रशंसा की है।[५] महाकवि पोन्नकृत शान्तिपुराण की दुर्दशा देख अत्तिमब्बे ने 'शान्तिपुराण' की एक हजार प्रतियाँ तैयार करा कर कर्णाटक में सर्वत्र वितरित की थी।[६]

अत्तिमब्बे केवल जैन धर्म की श्रद्धालु श्राविका ही नहीं थीं, वे उच्चकोटि की दान शीला भी थी। उन्होंने कोपल में (हैदराबाद) चांदी सोने की हजारो जिन प्रतिमाएं प्रतिष्ठित कराई थीं और लाखों रुपयों का दान किया था।[७] फलस्वरूप इन्हें दानचिन्तामणि की उपाधि प्राप्त हुई थी। दान चिन्तामणि की महिमा शिलालेखों मे विशेष रूप से अंकित है।[८]

ईसा की दसवी, ग्यारहवीं और बारहवी शताब्दी मे न केवल राजघराने की वीर बालिकाओ ने त्याग, दान और धर्म निष्ठा का आदर्श उपस्थित किया था, अपितु साधारण महिलाओ ने भी अपने त्याग और सेवाओ के अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किये है।

जाक्किमब्बे शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या थीं। इन्होंने कुशलता से राज्य शासन का परिचालन करते हुए विशाल जिन प्रतिमा की स्थापना कराई थी। ये राज्य कार्य में निपुण, जिनेन्द्र शासन के प्रति आज्ञाकारिणी और लावण्यवती थी।[९]

इसी प्रकार मौनी गुरु की शिष्या नागमती, पेरुमाल गुरु की शिष्या प्रभावती, अध्यापिका दामिमती, आर्यिका मान्दर्या, शशिमति आदि नारियो के उल्लेख मिलते है, जिन्होने व्रत शीलादि का सम्यक् आचरण कर जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार मे आमरण तत्पर रह कर जीवन को सफल बनाया और जैन नारी के समक्ष महत्वपूर्ण आदर्श उपस्थित किया।[१०]

विष्णुवर्द्धन की महारानी शान्तल देवी ने सन् ११२३ में श्रवणबेलगोल मे जिनेन्द्र भगवान की विशालकाय प्रतिमा की स्थापना कराई थी।[११] यह प्रतिमा 'शान्ति जिनेन्द्र' के नाम से प्रसिद्ध है शान्तला देवी संगीतज्ञा, पतिव्रता, धर्मपरायणा और दान शीला महिला थी। जैन महिलाओं के इतिहास मे इनका नाम चिरकाल तक अविस्मरणीय रहेगा। अन्तिम समय मे शान्तला देवी भोगो से विरक्त होकर महीनो तक अनशन, ऊनोदर का पालन करतीं सल्लेखनापूर्वक परलोक सिधारी थी।

पुराणों मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमे स्त्री ने पति की सेवा करते हुए उसके कार्यों मे, और राज्य के संरक्षण में तथा अवसर आने पर युद्ध मे सहायता कर दुश्मन के दांत खट्टे किये है।[१२]

गंग नरेश रक्कसमणि की पत्नी सावियब्बे अपने पति के साथ युद्ध करने 'बागेयूर' गई थी और वहां पराक्रमपूर्वक शत्रु से लड़ते हुए वीर गति को प्राप्त हुई थी। शिलालेख में इस सुन्दरी को धर्मनिष्ठ, जिनेन्द्र भक्ति मे तत्पर, रेवती, सीता और अरुन्धती के सदृश बतलाया है।

बारहवीं शताब्दी तक मथुरा भी जैन धर्म का एक महान केन्द्र रहा है एक लम्बे समय तक जैन कला यहा अनेक रूपो मे विकसित होती रही यहा पर जैन धर्म से संबंधित कई हजार वर्ष के प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए है। इन अवशेषो मे से बहुत से ऐसे है जिनमे संस्कृत प्राकृत भाषा के अभिलेख मिले है। अभिलेखो मे दो प्रकार की स्त्रियो के उल्लेख है एक तो भिक्षुणियो के जिनके लिये आर्या शब्द का प्रयोग है। दूसरी गृहस्थ स्त्रियां है जिन्हे श्राविका नाम से जाना गया है। आर्यिकायें श्राविकाओ को धर्म, दान, ज्ञान का प्रभावपूर्ण उपदेश देती थी। उनके उपदेश से गृहस्थ नारियां विभिन्न धार्मिक कार्यों मे प्रवृत होती थी। लवण शोभिका नामक गणिका की पुत्री 'वसु' ने अर्हत् पूजा के लिये एक देवकुल, आयोगसभा, कुण्ड तथा शिलापट्ट का निर्माण कराया जिसकी स्मृति उसने एक सुन्दर आयोगपट्ट पर छोडी है।[१३]

[शेष पृ० २३ पर]

५. अजितनाथ पुराण, आश्वास १२।
६. शान्तिपुराण की प्रस्तावना।
७ अजितपुराण आश्वास १२।
८. बम्बई कर्णाटक शासन संग्रह, भाग १, ५२ नम्बर वाला लेख।
९. श्रवण बेलगोल शिला लेख नं० ४८६ (४००)।
१०. श्रवण बेलगोल के शक सं० ६२२ के शिलालेख।
११. श्रवण बेलगोल के शिला लेख नं० ५६।
१२. चन्द्रगिरी पर्वत के शिला लेख नं० ६१।
१३ प्राचीन मथुरा की जैन कला में स्त्रियो का भाग—लेखक—कृष्णदत्त बाजपेयी।

दक्षिण की जैन पंडित परंपरा

❑ पं० मल्लिनाथ जैन शास्त्री, मद्रास

तमिल, कर्नाटक, आंध्र और मलयालम नामक चार प्रान्तों से जो समाविष्ट है, उसे दक्षिण भारत कहते हैं। मगर इसमें विचार करने की बात यह है कि तमिल और कर्नाटक प्रान्तो मे ही आज भी जैन धर्म अवशिष्ट है और जैन विद्वद्रत्नो से रचे गये अमूल्य जैन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। लेकिन आंध्र और मलयालम मे, न तो स्थानीय जैनी लोग रहते है और न जैन ग्रन्थो की उपलब्धियाँ पायी जाती है। इसका मतलब यह नही है कि पुराने जमाने मे भी वहाँ जैनी लोग न थे। परन्तु भरमार जैनी लोग रहते थे और जैन धर्म भी उन्नत दशा पर था। लेकिन काल के प्रभाव से कहिये या मत-मतान्तरो के विद्वेष से कहिये, वहाँ जैन धर्म जैन समाज एव जैन साहित्य इन सबो का लोप-सा हो गया। फलत: अब इन दोनो प्रान्तो मे केवल जैन मन्दिरो के खण्डहर तथा जैनाचार्यों के निवास स्थान के रूप गुफाये, शिलालेख आदि काफी मिलते है। उनकी सुरक्षा सरकार मे किसी तरह नही की जाती।

तमिल और कर्नाटक प्रान्तो मे तो जैनी लोग काफी सख्या मे रहते है और जैन साहित्य एव जैन कला आदि की भी उपलब्धियाँ पायी जाती है। तमिल प्रान्त की अपेक्षा कर्नाटक मे प्रभाव कुछ ज्यादा है। उसका बहुत बड़ा कारण वहा के कि जगत्प्रसिद्ध विंध्यगिरी के अधिनायक भगवान गोमटेश्वर है।

तमिल प्रान्त के निवासी होने के नाते मैं इस प्रान्त के जैन विद्वद्रत्नो की रचना एव सेवा आदि को बता कर आप सज्जनो को चकित कराने का प्रयत्न करूंगा वास्तव मे, तमिल भाषा के अन्दर जैन पण्डितो की जो रचनायें मिलती है, उन सबको तमिल भाषा से अलग कर दिया जाये, तो तमिल भाषा एकदम फीकी रहेगी। इसका मतलब यह है कि जैन पंडित कहिये या जैनाचार्य कहिये अथवा विद्वन्मण्डली कहिये कुछ भी हो, उनकी परंपरागत रचनायें ही साहित्य क्षेत्र मे या भाषा के क्षेत्र मे मेरु शिखर के समान महनीय गरिमा से ओत-प्रोत हैं। उनका विवरण आगे दिया जा रहा है।

तमिल मे उपलब्ध ग्रन्थ राजो से पता लगता है कि उनके निर्मातागण ज्ञान सिन्धु के अमूल्य रत्न थे। ऐसे ज्ञान पारावार के कुछ अद्भुत रत्नो का परिचय कराना अत्यन्त आवश्यक समझता हू। विद्वद्रत्न पडितो ने आश्चर्यमय रचनायें तो की है, मगर नाम और यश को नगण्य समझने वाले वे महापुरुष कई ग्रन्थराजों के अन्दर अपने नाम तक नही दिये हैं। ऐसे उदारमना सत्पुरुषो के बारे मे क्या कहा जाय? जिन-जिन के नाम मिलते हैं, उन्हे नाम से जानें जिनके नाम नही मिलते उन्हे उनके ग्रन्थो मे परिचय कर लें। अत: काल और ग्रन्थो के नाम देने के साथ जिन महान आचार्यों पडितो के नाम मिलते है यहाँ सिर्फ उन्हे सूचित करूंगा।

उन महान आचार्य पण्डितो का काल, नाम और ग्रन्थ सारणी मे दिये गये है। इनसे पता चलता है कि इन्होने सभी प्रकार के विषयों पर ग्रन्थ लिखे है। ये ग्रन्थ ईसापूर्व सदियो से आज तक लिखे पाये जाते है।

सारणी/तामिल में जैन पंडित परंपरा का विवरण

काल	पंडितो के नाम	साहित्य ग्रन्थ
(अ) प्रमुख ग्रन्थ		
ई० पूर्व ३०० वर्ष	अगत्तियर	पेरगत्तिय
" " "	तोलकाप्पियर	तोलकाप्पियं
" " २०० वर्ष	—	तामील सघ के ग्रन्थ
" " १०० वर्ष	देवर	तिरुक्कुरल
ई० दूसरी शताब्दी	इलंगोवडिगल	शिलप्पधिकार
, चौथी "	तिरुत्तक्करेवर	जीवक चिन्तामणि
" " "	तिरुत्तक्करेवर	नरिविरुत्तम
" पाँचवो "	तोलामोलिदेवर	चूलामणि

ई० ५वीं शताब्दी	कोंगुवेलिर (राजा)	पेरुंगदै
,, ,, ,,	वलैयापति	वलैयापति
,, दसवीं ,,	ममय दिवाकर वामन मुनिवर	मेरु मन्दिर पुराण
,, ,, ,,	—	नारदरचरित
,, ,, ,,	जेयं कोण्डार	कलिंगत्तुपरणि
,, ग्यारहवी ,,	—	शान्तिपुराणं
,, बारहवी ,,	—	उदयणकुमार काविय
,, ,, ,,	—	इन्दिर कावियं
,, ,, ,,	—	नक्कोर पडिनूल
,, ,, ,,	—	नदत्तं
,, ,, ,,	—	तक्काणियं
,, ,, ,,	—	यशोधर कावियं
,, ,, ,,	—	नागकुमार कावियं
,, चौदहवी ,,	—	किलिविरुत्तं
,, ,, ,,	—	एलिविरुत्त
,, ,, ,,	—	मल्लिनाथ पुराण

(ब) कोश रचनायें

काल	पंडितों के नाम	कोश ग्रन्थ
ई० चौथी ,,	दिवाकर	दिवाकरं
,, ,, ,,	पिंगलंदै (दिवाकर के पुत्र)	पिंगलन्दै
,, नौवीं ,,	मण्डलपुरूडर	चूडामणि निगण्डु

(स) व्याकरण रचनायें

ई० दसवीं सदी	आमिर्द सागरर	याप्पेरुङ्कलं
,, ,, ,,	,,	याप्पेरुङ्कलक्कारिकै
,, बारहवी ,,	भवणंदि मुनि	नन्नूल
,, ,, ,,	—	नेमिनाथ
,, ,, ,,	अविनायनार	अविनय
,, ,, ,,	—	इन्दिरकाणियं
,, ,, ,,	—	अणिइयल
,, ,, ,,	—	वाप्पिय
,, ,, ,,	—	मोलिवारि
,, ,, ,,	—	कडियनन्नियं
,, ,, ,,	—	काक्कैपाडियं
,, ,, ,,	—	सच याप्पु
,, तेरहवीं ,,	—	वेण्पा पट्टियल

(द) नीति ग्रन्थ रचनायें

चौथी सदी	जैन साधुगण	नालडियार
,, ,,	मून्दुरैयनार	पलमालिनानूर
,, ,,	—	आचारक्कोवै
,, ,,	—	सिरुपंच मूलं
,, ,,	कणमेदैयार	एलादि
,, ,,	मुनैप्पाडियार	अरनेरिच्चार
,, ,,	—	तिणैमालैनूरैंबदु
,, ,,	—	तिरिकडुकं
,, ,,	—	इन्नानापंदु
,, ,,	—	इनियवैनापंदु
,, ,,	—	नान्मणिकाडिकै
तेरहवीं ,,	—	जीव संबोधनै
,, ,,	—	कोंगुमण्डल शतकं
,, ,,	—	नेमिनाथ शतकं

(य) तर्कग्रन्थ रचनायें

११वीं सदी	—	नीलकेशि
,, ,,	—	पिंगलकेशि
,, ,,	—	अंजनकेशि
,, ,,	—	तत्व दर्शनं

(र) संगीत ग्रंथ रचनायें

दसवी सदी	—	पेरु कुरुगु
,, ,,	—	पेरु नारै
,, ,,	—	सेयिट्रियं
,, ,,	—	भरत सेनापतियं
,, ,,	—	सयन्त
,, ,,	—	इसैनुणुक्कं
,, ,,	—	सिट्रिसै
,, ,,	—	पेरिसै

(ल) नाटक ग्रंथ रचनायें

दसवी सदी	—	गुणनूल
,, ,,	—	अगत्तियं
,, ,,	—	कूत्तनूलसन्द

(व) ज्योतिष ग्रंथ रचनायें

बारहवी सदी	जिनेन्द्र कवि	जिनेन्द्र मालै
,, ,,	,,	उल्लमुडैयान

(श) गणित ग्रन्थ रचनायें

दसवीं सदी	—	केट्टिएणकुवडि
" "	—	कणक्कधिकार
" "	—	नल्लिलक्कवाटपाडु
" "	—	सिरुकुलि
" "	—	कीलवाय इलक्क
" "	—	पेरुक्कलवाय्पाडडु

(स) प्रबन्ध ग्रन्थ रचनायें (स्तोत्र)

दसवी सदी	—	तिरुक्कलं बकं
" "	—	तिरुनूट्टंदादि
" "	—	निरुवेंबावै
" "	—	निरुप्पामालै
" "	—	अप्पाण्डैनादर उला
" "	—	तिरुप्पुकल
१४वीं "	—	आदिनाथर पिल्लै-तमिल
" "	—	तिरुमेट्रिसैयन्दादि
१५वीं "	- -	धर्मदेवि अन्दादि
" "	—	तिरुनादरकुंडंपदिकं
" "	—	तोत्तिरत्तिरट्टु

इनके अलावा और भी कई ग्रन्थों और विषयों के नाम मिलते है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि तमिल भाषा के प्रवीण आचार्य पंडितो के प्रबल ग्रन्थराज कितने हैं और कितने रहे होंगे ? ये सब के सब जैन आचार्य पडितो की कृतियां है। इनमे कुछ तो प्राप्य हैं, कुछ अप्राप्य भी है इन महान पंडितो की विद्वत्ता एवं विचारशीलता पर कोटिशः प्रणाम। □□□

[पृष्ठ १८ का शेषांश]

विषाद करने को कुछ नही। इसलिए नए कर्म का बन्ध हुआ नहीं और अपने आपमे स्थिर हो गया। इसलिए जिन कर्मों का सम्बन्ध था वे नष्ट हो गए। इस प्रकार राग-द्वेष का अभाव होने से परमात्मा हो गया अथवा ब्रह्ममय हो गया। राग-द्वेष रूप विकारों का अभाव हो गया। आत्मा के ज्ञान दर्शनादि गुणो का पूर्ण विकास हो गया, यही परमात्म अवस्था है।

अगर आप और हम चाहें तो इस उपाय से आज भी अपने को सुखी बना सकते हैं। यह पुरुषार्थ तो हम करते नही, परन्तु यह मान रखा है कि धन वैभव से सुखी हो जायेंगे, इसलिए उनकी चेष्टा करते हैं, उनका प्राप्त होना भी पुण्यादि के अधीन है और प्राप्त होने पर भी आकुलता ही आकुलता रहती है, आनन्द प्राप्त होता नहीं, फिर भी आत्म-कल्याण का उपाय करते नहीं, यही अज्ञानता है। इस अज्ञानता को जाने और आप पुरुषार्थ करके मेटना चाहें तो यह मिट सकती है और यह अपने असली आनन्द को प्राप्त कर सकता है। □□□

[पृष्ठ २० का शेषांश]

इस प्रकार महिलाओ द्वारा बनवाये हुए आयागपट्ट, तोरण विविध स्तंभ, प्रतिमाओं की चरण चौकियां, मूर्तियां यह सिद्ध करती है कि शताब्दियो पूर्व जैन नारी इन सब कलाकृतियों के निर्माण कार्य मे, पुरुष की अपेक्षा अधिक रुचि लेती थीं। ये कलाकृतियां हमारी बहुमूल्य धरोहर हैं। इन उदार चेता प्राचीन नारी के आध्यात्मिक कला प्रेम एवं धार्मिक अभिरुचि की झांकी देखने को मिलती है। ये सब अवशेष इस समय मथुरा और लखन के सग्रहालयों में सुरक्षित हैं। अनेक विदुषी नारियों ने केवल अपना ही उत्थान नहीं किया अपने पति को भी जैन धर्म की शरण मे लाने का उत्कट प्रयत्न किया। राजा श्रेणिक भारतीय इतिहास की अविच्छिन्न कड़ी है। श्रेणिक मगध मे जैन धर्म का पहला राजा था, जिसके ऐतिहासिक उल्लेख जैन ग्रन्थों मे पर्याप्त मात्रा मे मिलते है।[१४] इतिहास साक्षी है कि राजा श्रेणिक भगवान महावीर के उपदेशों का प्रथम श्रोता था। इन्होने भगवान से साठ हजार प्रश्न पूछे थे जिनका भगवान के व्यापक उत्तर देकर उन्हे सन्तुष्ट किया था। किन्तु हमे यह न भूलना चाहिये कि राजा श्रेणिक को जैन धर्मानुयायी बनाने का श्रेय उनकी पत्नी रानी चेलना को है। व रानी चेलना जैसी धर्मपिपासु मां के दोनों पुत्र अभयकुमार, व वारिषेण, भी विद्वान संयमी और आत्मसाधना के पथ के पथिक बने। इन दोनों ने सांसारिक सुख एवं वैभव का परित्याग कर आत्मकल्याण हेतु कठोर तपश्चर्या को स्वीकार किया।

प्राध्यापिका, महाराजा कालेज, छतरपुर

१४. भारतीय इतिहास की रूप रेखा—लेखक–जयचन्द्र विद्यालंकार।

यूनानी* दर्शन और जैन दर्शन

☐ डा० रमेशचन्द्र जैन

यूनान पश्चिममें दर्शन का जन्म स्थान समझा जाता है। यहाँ थेल्स (६२४-५५५ ई० पू०) का नाम दार्शनिकों की श्रेणी मे प्रथम गिना जाता है वह सर्वसम्मति से यूनानी दर्शन का पिता माना जाता है। थेल्स ने जल को सारे प्राकृत जगत् का आदि और अन्त कहा, जो कुछ विद्यमान है वह जल का विकास है और अन्त मे फिर जल मे ही विलीन हो जायगा एनेक्जिमिनीज (६११-५४७ ई० पू०) ने जल के स्थान मे वायु को जगत का आदि और अन्त कहा। उसके अनुसार सारा दृष्ट जगत् वायु के सूक्ष्म और सघन होने का परिणाम है पाइथोगोरस (छठी शती ई० पू०) ने संख्या को विश्व का मूल तत्व कहा। उसके अनुसार हम ऐसे जगत् का चिन्तन कर सकते हैं, जिसमे रंग, रूप न हो, परन्तु हम किसी ऐसे जगत् का चिन्तन नही कर सकते, जिसमे संख्या का अभाव हो। जैन दर्शन के अनुसार जगत् अनादि, अनन्त है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों का समुदाय जगत् है। जल तथा वायु पौद्गलिक परमाणु है जो अनेक रूपों मे परिवर्तित होते रहते है। इनमे यद्यपि निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, किन्तु ये अपने पौद्गलिक स्वभाव को नही छोडते है। छहों द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव से युक्त है और अपने स्वभाव को नही छोड़ते है।

इलिया के सम्प्रदाय (जिसमे पार्मेनाइडिस और जीनोफेनीज के नाम प्रमुख है) वालों का कहना था कि दृष्ट जगत् असत् है, आभास मात्र है। भाव और अभाव सत् और असत् मे कोई मेल का बिन्दु नही। सत् असत् से उत्पन्न नही हो सकता न सत् असत् बन सकता है। जगत् का प्रवाह जो हमे दिखाई देता है, माया है, इसमे सत् या भाव का कोई अंश नही। जैन दर्शन के अनुसार दृष्ट जगत् सर्वथा असत् अथवा आभास मात्र नहीं है। यदि कार्य को सर्वथा असत् कहा जाय तो वह आकाश के पुष्प समान न होने रूप ही है। यदि असत् का भी उत्पाद माना जाय तो फिर उपादान कारण का कोई नियम नही रहता और न कार्य की उत्पत्ति का कोई विश्वास ही बना रहता है।[1] गेहूं बोकर उपादान कारण के नियमानुसार हम यह आशा नहीं रख सकते कि उससे गेहूं ही पैदा होंगे। असदुत्पाद के कारण उससे चने जौ या मटरादिक भी पैदा हो सकते है और इसलिए हम किसी भी उत्पादन कार्य के विषय मे निश्चित नही रह सकते, सारा ही लोक व्यवहार बिगड़ जाता है और यह सब प्रत्यक्षादिक के विरुद्ध है।[2] भाव और अभाव, सत् और असत् मे कोई मेल का बिन्दु न हो ऐसा नहीं है। भाव और अभाव, सत् और असत एक ही वस्तु मे अविरोध रूप मे विद्यमान है। द्रव्य स्वरूप, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा कथन किया जाने पर अस्ति है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से कथन किया जाने पर नास्ति है।[3] जैसे--भारत स्वदेश भी है और विदेश भी है। देवदत्त अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है।

पार्मेनाइडिस (५वीं शती ई० पूर्व) का कहना था कि सत् नित्य और अविभाज्य है। इसमे कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि परिवर्तन तो असत् का लक्षण है। जैनाचार्यों ने द्रव्य का लक्षण सत् मानते हुए भी उसे

---

* आधार ग्रन्थ।

१. यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत्।
मोपादाननियामोऽभून्माऽऽश्वासः कार्यजन्मनि ॥
समन्तभद्रः आप्तमीमांसा-४२

२ देवागमस्तोत्र-भाष्य (पं जुगलकिशोर मुख्तार)-४२

३. तत्र द्रव्यं स्वक्षेत्र, स्वकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यं,
परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यं।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त माना है।[४] एक जाति का अविरोध जो क्रमभावों भावों का प्रवाह उसमे पूर्वभाव का विनाश सो व्यय है, उत्तरभाव का प्रादुर्भाव उत्पाद है। और पूर्व उत्तर भावों के व्यय उत्पाद होने पर भी स्वजाति का अत्याग ध्रौव्य है। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सामान्य कथन से द्रव्य से अभिन्न हैं और विशेष आदेश से भिन्न हैं, युगपद् वर्तते है और स्वभावभूत हैं।[५] इस प्रकार वस्तु को उत्पाद, व्यय ध्रौव्ययुक्त मान लेने पर परिवर्तन रहित नित्यवस्तु का अस्तित्व सिद्ध नही होता है। आचार्य समन्तभद्र ने कार्य कारणादि के एकत्व (अविभाज्यता) का भी विरोध किया है। उनका कहना है कि कार्य-कारणादि का सर्वथा एकत्व माना जाय तो कारण तथा कार्य मे से किसी एक का अभाव हो जायगा और एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव होगा; क्योंकि उनका परस्पर में अविनाभाव है।[६] तात्पर्य यह कि कारण कार्य की अपेक्षा रखता है। सर्वथा कार्य का अभाव होने पर कारणत्व बन नही सकता और इस तरह सर्व के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

जीनोफेनीज (४६५ ई० पू०) ने यह बताने का प्रयत्न किया कि गति का कोई अस्तित्व नही। जैनदर्शन में जीव और पुद्गलों की गति मे नियामक द्रव्य धर्म को स्वीकार किया गया है। इसके लिए यहाँ आगम और अनुमान प्रमाण उपस्थित किए गए है। अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हुए कहा गया है कि जैसे अकेले मिट्टी के पिण्ड से घड़ा उत्पन्न नही होता, उसके लिए कुम्हार, चक्र, चीवर आदि अनेक बाह्य उपकरण अपेक्षित होते है, उसी तरह पक्षी आदिकी गति और स्थितिभी अनेक बाह्य कारणों की अपेक्षा कराती है। इनमे सबकी गति और स्थिति के लिए साधारण कारण क्रमशः धर्म और अधर्म होते हैं। यदि यह नियम बनाया जाय कि 'जो जो पदार्थ प्रत्यक्ष से उपलब्ध न हों, उनका अभाव है तो सभी वादियों को स्वसिद्धान्त विरोध दोष होता है, क्योंकि प्रायः सभी वादी प्रत्यक्ष पदार्थों को स्वीकार करते ही हैं।[७]

हिरेक्लिटस (५३५-४७५ ई० पू०) का कहना था कि अग्नि विश्व का मूलतत्व है। मूल अग्नि अपने आप को वायु में परिवर्तित करती है, वायु जल बनती है और जल पृथ्वी का रूप ग्रहण करता है। यह नीचे की ओर का मार्ग है, इसके विपरीत ऊपर की ओर का मार्ग है। इसमें पृथिवी जल मे, वायु जल में, वायु अग्नि में बदलते हैं। जैन दर्शन अग्नि आदि के परमाणु को वायु आदि के परमाणुओं के रूप में बदलना तो मानता है। किन्तु उनका मूल पौद्गलिक परमाणु ही हैं। पुद्गल विश्व के निर्माणकर्ता छः द्रव्यों में एक है। हिरेक्लिटस के अनुसार संसार में स्थिरता का पता नही चलता, अस्थिरता ही विद्यमान है। जो कुछ है, क्षणिक है। हिरेक्लिटस के इस क्षणभंगवाद की तुलना बौद्धों के क्षणभङ्गवाद से की जाती है। क्षणभङ्गवाद का जैन आचार्यों ने अनेक स्थानों पर खण्डन किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—"यदि वस्तु का स्वभाव क्षणभङ्गुर ही माना जाय तो पूर्वकृत कर्मों का फल बिना भोगे ही कृश हो जायगा। स्वयं नही किए हुए कर्मों का फल भी भोगना पड़ेगा तथा ससार का, मोक्ष का और स्मरणशक्ति का नाश हो जायगा।[८] तात्पर्य यह कि प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी मानने पर आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नही बन सकता तथा आत्मा के न मानने पर संसार नही बनता; क्योंकि क्षणिकवादियो के मत में पूर्व और अपर क्षणों मे कोई सम्बन्ध न होने से पूर्वजन्म के कर्मों का जन्मान्तर मे फल नहीं मिल सकता। यदि कहो कि सन्तान का एक क्षण दूसरे क्षण से सम्बद्ध होता है। मरण के समय रहने वाला ज्ञानक्षण भी दूसरे विचार से सम्बद्ध होता है। इसलिए संसार की परम्परा सिद्ध होती है। यह ठीक नही; क्योंकि सन्तान क्षणों का परस्पर सम्बन्ध करने वाला कोई पदार्थ नही है; जिससे दोनों क्षणों का परस्पर

४. दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
पंचास्तिकाय—१०

५. वही अमृतचन्द्रचन्द्राचार्य कृत टीका पृ० २७।

६. एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाऽभावोऽविनाभुवः ॥
देवागमस्तोत्र—६९

७. तत्त्वार्थवार्तिक ५।१७।३२।३५।

८. कृत प्रणाशाऽकृतकर्मभोगभव,
प्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो,
महासाहसिकः परस्ते ॥१८॥ स्याद्वाद मंजरी

सम्बन्ध हो सके। आत्मा के न मानने पर मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि संसारी आत्मा का अभाव होने से मोक्ष किसको मिलेगा; क्षणभङ्गवाद में स्मृति ज्ञान भी नहीं बन सकता; क्योंकि एक बुद्धि से अनुभव किए हुए पदार्थों का दूसरी बुद्धि मे स्मरण नहीं हो सकता। स्मृति के स्थान में सतान को एक अलग पदार्थ मान कर एक सन्तान का दूसरी सन्तान के साथ कार्य कारण भाव मानने पर भी सन्तानक्षणों की परस्पर भिन्नता नही मिट सकती; क्योंकि क्षणभङ्गवाद मे सम्पूर्ण क्षण परस्पर भिन्न हैं।

ल्युसिप्पस (३८० ई० पू०) ने मूलतत्त्व परमाणु माना। हम इसे देख नहीं सकते; इसका विभाजन नहीं हो सकता; यह ठोस है। यह नित्य है। परमाणुओं के योग से सारे पदार्थ बनते हैं। इन परमाणुओं में मात्रा और आकृति का भेद है। इस भेद के कारण उनकी गति भी एक समान नही होती। सारी क्रिया इस गति का फल है। गति के लिए अवकाश की आवश्यकता है। ल्यूसिप्पस ने परमाणुओं के साथ शून्य अवकाश को भी मूलतत्त्व स्वीकार किया। पदार्थों में और अवकाश मे भेद यह है कि पदार्थ अवकाश का भरा हुआ भाग है। इस भेद को दृष्टि मे रखते हुए विश्व अशून्य और शून्य में विभक्त किया गया। ल्युसिप्पस ने प्राकृत जगत के समाधान के लिए किसी अप्राकृत तत्त्व या शक्ति का सहारा नहीं लिया। उसके मत मे जो कुछ होता है, प्राकृत नियम के अनुसार होता है, यहाँ किसी प्रयोजन का पता नहीं चलता।

जैनदर्शन मे पुद्गल के दो भेद कहे गए हैं — १. अणु २. स्कन्ध। जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है और जिसे इन्द्रियां ग्रहण नही कर सकती ऐसा जो विभागरहित द्रव्य है, वह परमाणु है।[९] विश्व का मूलतत्त्व केवल परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य न होकर छह द्रव्य है। परमाणु में भी उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यपना पाया जाता है अत: वह नित्यानित्य अथवा कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, सर्वथा नित्य नहीं है। पुद्गल का सबसे सूक्ष्म अविभागी अंश होने के कारण परमाणुओं में मात्रा और आकृति का भेद नही होता। यह भेद उसके स्कन्ध बनने पर होता है। जीव और पुद्गलों की गति में सहायक धर्मद्रव्य है।[१०] क्रिया काल द्रव्य का उपकार है।[११] अवगाह देना आकाश का उपकार है।[१२] यह आकाश दो प्रकार का है—१. लोकाकाश और २. अलोकाकाश। जितने आकाश में लोक है, वह लोकाकाश है शेष अलोकाकाश है। लोकाकाश में छहों द्रव्य पाए जाते हैं और अलोकाकाश में केवल आकाशद्रव्य पाया जाता है।

एनैक्सेगोरस (५००-४३८ ई० पू०) का कथन है कि जगत् का मूल कारण असंख्य प्रकार के परमाणुओं की असीम मात्रा है। यह सामग्री आरम्भ में पूर्णतया व्यवस्था विहीन थी। अब सोने, चांदी, मिट्टी, जल आदि के परमाणु एक प्रकार के हैं, आरम्भ में ये सारे एक-दूसरे से मिले थे। उस समय न सोना था न मिट्टी थी। अव्यवस्थित दशा से व्यवस्था कैसे पैदा हुई? स्वयं परमाणुओं में तो ऐसी समझ की क्रिया की योग्यता न थी, यह क्रिया चेतन सत्ता की अध्यक्षता में हुई। इस चेतन सत्ता को एनेक्सेगोरस ने बुद्धि का नाम दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि जैनदर्शन में लोक छहों द्रव्यों से बना हुआ निरूपित है, केवल परमाणुओं से निर्मित नहीं है। परमाणुओं का मिलना, बिछुड़ना अनादि काल से अपने आप होता आया है। ऐसा नहीं है कि प्रारम्भ में परमाणु अव्यवस्थित थे तथा अब चेतन के द्वारा व्यवस्थित हो गए हैं। अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है।[१३] न संघात से होती है और न भेद और संघात इन दोनों से ही होती है। भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनता है।[१४]

---

९. अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेवइंदिये गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणु विआणाहि॥
सर्वार्थसिद्धि पृ० २२१

१०. गतिस्थिति त्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकार:॥ तत्त्वार्थ सूत्र ५।१७

११. वर्तमानपरिणामक्रिया: परत्वापरत्वे च कालस्य॥ वही ५।२२

१२. आकाशस्यावगाह:॥ वही ५।१८

१३. भेदादणु:॥ वही ५।२६

१४. भेदसंघाताभ्यां चाक्षुष:॥ वही ५।२८

प्रोटे गोरस (४२०-४११ ई० पू०) ने इन्द्रियजन्य ज्ञान के अतिरिक्त अन्य प्रकार के ज्ञान को नहीं माना। प्रोटेगोरस का यह कथन चार्वाक दर्शन से मिलता-जुलता है; क्योंकि चार्वाक ने भी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का प्रमाण नहीं माना। इसके खण्डन स्वरूप जैनदार्शनिकों ने धर्मकीर्ति के उस कथन को प्रायः उद्धृत किया है। जो उन्होंने अनुमान प्रमाण की सिद्धि के प्रसङ्ग में कहा है तदनुसार 'किसी ज्ञान मे प्रमाणता और किसी ज्ञान से अप्रमाणता की व्यवस्था होने से, दूसरे (शिष्यादि) में बुद्धि का अवगम करने से और किसी पदार्थ का निषेध करने से प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण का सद्भाव सिद्ध होता है। प्रमाणता-अप्रमाणता का निर्णय स्वभाव-हेतु जनित अनुमान से, कार्य से कारण का ज्ञान कार्य हेतु जनित अनुमान से और अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि हेतु जनित अनुमान से किया जाता है। इस प्रकार प्रोटेगोरस का केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही स्वीकार करना सिद्ध नहीं होता है।

जार्जियस (४२७ ई० पू०) ने निम्न तीन धाराओं को सिद्ध करने का यत्न किया—

१. किसी वस्तु की भी सत्ता नहीं।

२. यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो उसका ज्ञान हमारी पहुंच के बाहर है।

३. यदि ऐसे ज्ञान की सम्भावना है तो कोई मनुष्य अपने ज्ञान को किसी दूसरे तक पहुंचा नहीं सकता।

जैनदर्शन के अनुसार सत्ता सब पदार्थों मे है। वस्तु कीसत्ता को प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के द्वारा जाना जाता है कोई भी मनुष्य अपने ज्ञान को किसी दूसरे तक पहुचाने मे निमित्त हो सकता है।

पश्चिम मे सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) लक्षण और आगमन दोनो का जन्मदाता है, इसलिए उसका स्थान चोटी के दार्शनिको मे है। उसके अनुसार ज्ञान के कई स्तर हैं। मैं घोड़े को देखता हूँ—उसका कद विशेष कद है। उसका रंग विशेष रंग है। उसकी विशेषताओं के कारण मैं उसे अन्य घोड़ों से अलग करता हूं। मेरा ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान है और यह ज्ञान किसी विशेष पदार्थ का बोध है। जिस घोड़े को मैंने देखा है, उसके न विद्यमान होने पर भी उसका चित्र मेरी मानसिक दृष्टि में आ जाता है। किसी विशेष घोड़े को देखने या उसका मानसिक चित्र बनाने के अतिरिक्त मेरे लिए यह भी सम्भव है कि मैं घोड़े का चिन्तन करूं। ऐसे चिन्तन में मैं किसी विशेष रंग का ध्यान नही करता, क्योंकि यह रंग सभी घोड़ों का रंग नहीं। मैं ऐसे विशेषणो का ध्यान करता हूं जो सभी घोड़ों मे पाए जाते है और सबके सब किसी अन्य पशु जाति मे नही मिलते। ऐसे चिन्तन का उद्देश्य घोड़े का प्रत्यय निश्चित करना है। ऐसे प्रत्यय को शब्द में व्यक्त करना घोड़े का लक्षण करना है।

जैनदर्शन मे पदार्थ स्वभाव से ही सामान्य विशेष रूप माने गए हैं, उनमें सामान्य और विशेष की प्रतीति कराने के लिए पदार्थान्तर मानने की आवश्यकता नही।[१५] आत्मा पुद्गलादि पदार्थ अपने स्वरूप से ही अर्थात् सामान्य और विशेष नामक पृथक् पदार्थों की बिना सहायता के ही सामान्य विशेष रूप होते हैं। एकाएक और एक नाम से कही जाने वाली प्रतीति को अनुवृति अथवा सामान्य कहते हैं। सजातीय और विजातीय पदार्थों से सर्वथा अलग रहने वाली प्रतीति को व्यावृत्ति अथवा विशेष कहते हैं। इसी सामान्य तथा विशेष की व्याख्या सुकरात ने उदाहरण देकर की है।

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) के मतानुसार प्रत्ययों का जगत अमानवीय जगत है; इसकी अपनी वस्तुगत सत्ता है। दृष्ट पदार्थ इसकी नकल है। कोई\त्रिकोण जिसकी हम रचना करते है, त्रिकोण के प्रत्यय की पूर्ण नकल नहीं। हर एक विशेष पदार्थ मे कोई न कोई अपूर्णता होती ही है। इसी अपूर्णता का भेद विशेष पदार्थों को एक दूसरे से भिन्न करता है। सारे घोड़े घोड़े के प्रत्यय की अपूर्ण नकलें है। सारे मनुष्य मनुष्य के प्रत्यय की अधूरी नकलें हैं कोई प्रत्यय पदार्थों पर आधारित नही, प्रत्यय तो उनकी रचना का आधार है। प्रत्यय और उसकी नकलों का भेद सामान्य और विशेष के रूप में

१५. स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद् द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥ आचार्य हेमचन्द्रः अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका।-४

पीछे प्रसिद्ध हुआ। प्रत्यय और आदर्श एक ही हैं।

जैनदर्शन उपर्युक्त प्रत्ययो एवं उसकी नकलों की मान्यता को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार दृष्ट पदार्थ किसी प्रत्यय की नकल नही, वास्तविक है। ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि वह पदार्थों को जानता है। ज्ञान मे झलकने के कारण ही पदार्थ ज्ञेय नाम को पाते हैं। सामान्य से रहित विशेष और विशेष से रहित सामान्य की उपलब्धि किसी को नही होती। यदि दोनों की निरपेक्ष स्थिति मान ली जाय तो दोनों का ही अभाव हो जायगा। कहा भी है—

"विशेष रहित सामान्य खरविषाण की तरह है और सामान्यरहित होने से विशेष भी वैसा ही है।"[१६]

वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है और यह लक्षण अनेकान्तवाद में ही ठीक-ठीक घटित हो सकता है। गौ के कहने पर जिस प्रकार खुर, ककुत्, सास्ना, पूंछ, सीग आदि अवयवो वाले गो पदार्थ का स्वरूप सभी गो व्यक्तियों में पाया जाता है, उसी प्रकार भैंस आदि की व्यावृत्ति भी प्रतीत होती है।[१७] अतएव एकान्त सामान्य को न मान कर पदार्थों को सामान्य विशेष रूप ही मानना चाहिए। प्लेटो ने ज्ञान के तीन स्तर स्वीकार किए। सबसे निचले स्तर पर विशेष पदार्थों का इन्द्रियजन्य ज्ञान है। ऐसे ज्ञान मे सामान्यता का अंश नही होता जो पदार्थ मुझे हरा दिखाई देता है और तीसरे को रंगविहीन दिखाई देता है। पदार्थों के रूप, उनके परिमाण आदि के विषय मे ऐसा ही भेद होता है। प्लेटो के अनुसार ऐसा बोध ज्ञान कहलाने का पात्र ही नहीं; इसका पद व्यक्ति की सम्मति का है। इससे ऊपर के स्तर का ज्ञान रेखागणित मे दिखाई देता है। हम एक त्रिकोण की हालत में सिद्ध करते हैं कि उसकी कोई दो भुजायें तीसरी से बड़ी हैं और कहते हैं कि यह सभी त्रिकोणो के विषय में सत्य है। गणित के प्रमाणित सत्यो से भी ऊंचा स्तर तत्त्वज्ञान का है जिसमे सत् को साक्षात् देखते है, तत्त्वज्ञान ही वास्तव में ज्ञान कहलाने के योग्य हैं।

जैनदर्शन मे प्रत्यक्ष के दो भेद माने गए हैं—१. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष २. पारमार्थिक प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान हो, वह सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है। यह यथार्थ रूप में परोक्ष ज्ञान ही है; क्योंकि इसमें इन्द्रिय और मन के अवलम्बन की आवश्यकता होती है। इन्द्रिय और मन के द्वारा जो जानकारी होती है, वह पूरी तरह से यथार्थ हो, ऐसा नही है। काच, कामला आदि रोग के कारण किसी को रंग के विषय मे भ्रान्ति हो जाय तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सारे ऐन्द्रियक ज्ञान भ्रान्त हैं। यदि सारे ऐन्द्रियिक ज्ञान को भ्रान्त माना जाय तो लोक व्यवहार का ही लोप हो जायगा। प्लेटो के ज्ञान के प्रथम दो स्तरों का समावेश सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मे हो जाता है। जैनदर्शन मे इसे ज्ञान की श्रेणी में रखा गया है। तत्त्वज्ञान इस ज्ञान से ऊंचा अवश्य है, क्योंकि इसमें युगपत् अथवा अयुगपत् सारे पदार्थों का ज्ञान होता है। केवल केवली भगवान ही युगपत् सारे पदार्थों को जानते है, अन्य ससारी प्राणियो मे से जिन्हे तत्त्वज्ञान होता है वे अयुगपत् ही पदार्थों को जानते हैं। तत्त्वज्ञानी जैसा सत् को देखता है, उसी प्रकार असत् को भी देखता है; क्योंकि वस्तु केवल भावरूप नही, अभावरूप भी है।

प्लेटो के विचार में सृष्टि रचना एक स्रष्टा को क्रिया है। स्रष्टा प्रकृति को प्रत्ययों का रूप देता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि स्वयंसिद्ध है। कोई सर्वदृष्टा सदा मे कर्मों से अछूता नही हो सकता; क्योंकि बिना उपाय के उसका सिद्ध होना किसी तरह नही बनता।[१८]

प्लेटो का प्रत्यय विशेष पदार्थों के बाहर था। अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) का तत्त्व प्रत्येक पदार्थ के अन्दर है। सभी घोड़े घोड़ा श्रेणी में हैं; क्योंकि उन सबमें अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ सामान्य अंश भी विद्यमान है। यह सामान्य अंश भी उस सामान्य अंश से भिन्न है, जो सारे गदहों में पाया जाता है और उन्हें

---

१६ निर्विशेष हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्।
सामान्य रहित त्वेन विशेषास्तद्वदेव हि॥
मीमांसा श्लोकवार्तिक

१७. मल्लिषेण : स्याद्वादमंजरी पृ० १२४।

१८. नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद् विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः॥८॥
आप्तपरीक्षा

गवहा बनाता है। अरस्तू ने भी प्लेटो के द्वैत को कायम रखा। परन्तु दोनों अंशो के अन्तर को दूर कर दिया, पदार्थों का तत्त्व न बदलने वाला अंश, उनसे पृथक्, उनके बाहर नहीं; उनके अन्दर है। अरस्तू के सामान्य विशेष की यह अवधारणा जैनसिद्धान्त से मिलती-जुलती है। अरस्तू मूल प्रकृति को आकार विहीन मानता था। जैनदर्शन किसी एक द्रव्य को मूल प्रकृति नहीं मानता। उसके अनुसार पुद्गल द्रव्य ही केवल मूर्ति है, शेष द्रव्य अमूर्तिक है। अरस्तू के विवरण मे चार प्रकार के कारणों का वर्णन है—

१. उपादान कारण।
२. निमित्त कारण।
३. आकारात्मक कारण।
४. लक्ष्यात्मक कारण।

जैनदर्शन में केवल दो कारण माने गए हैं १. उपादान कारण २. लक्ष्यात्मक कारण।

एपिक्युरस (३४२-२७० ई० पू०) ने लोगों को मृत्यु और परलोक के भय से मुक्त करने का निश्चय किया, इसके लिए उसने डिमाक्राइटस के सिद्धान्त का आश्रय लिया। उसने कहा कि दृष्ट जगत् परमाणुओ से बना है; इसके बनाने में किसी चेतन शक्ति का हाथ नहीं। देवी-देवता तो आप परमाणुओ से बने है; यद्यपि उसकी बनावट के परमाणु अग्नि के सूक्ष्म परमाणु है। जीवात्मा भी ऐसे परमाणुओ का संघात है। मृत्यु होने पर स्थूल परमाणु वातावरण मे जा मिलते है। इस जीवन के बाद कुछ रहता नहीं; नरक के दण्डो की बाबत कहना और सोचना व्यर्थ है।

जैनदर्शन भी लोगों को मृत्यु और परलोक के भय से मुक्त होने का मार्ग बतलाता है, किन्तु उसके अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है।[19] जगत् छः द्रव्यो की निर्मित है। इसके बनाने मे किसी (अकेली) चेतनशक्ति का हाथ नही है। देवी देवता का शरीर पौद्गलिक है, उनके पौद्गलिक शरीर में एक क्षेत्रावगाही आत्मा है। ये आत्मायें भिन्न-भिन्न शरीर मे भिन्न-भिन्न हैं। जीवात्मा परमाणुओं का संघात न होकर उपयोग लक्षण वाला अमूर्त द्रव्य है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर का ही त्याग हो जाता है। तैजस तथा कार्मण शरीर मृत्यु के बाद भी जीव का साथ नहीं छोड़ते हैं। जीव का अस्तित्व अनादि काल से है और अनन्तकाल तक रहेगा; वह केवल इसी जीवन के लिए नहीं है। नरकों का अस्तित्व है, उनके दण्डों के विषय में कहना और सोचना व्यर्थ नही है।

एपिक्युरस का यह मत जैनदर्शन से मिलता है कि ससार मे जो कुछ हो रहा है। प्राकृत नियम के अधीन हो रहा है। इसमे किसी चेतन सत्ता का प्रयोजन दिखाई नही देता। मनुष्य स्वाधीनता के उचित प्रयोग से अपने आपको सुखी बना सकता है। एपिक्युरस ने आरम्भ मे क्षणिक तृप्ति को भले ही महत्त्व दिया हो, तो भी पीछे उसने दुःख की निवृत्ति को ही आदर्श समझा। किसी प्रकार की स्थिति मे विचलित न होना, हर हालत में सन्तुलन बनाए रखना भले पुरुष का चिह्न है। दार्शनिक का काम ऐसा स्वभाव बनाना और दूसरो को ऐसा स्वभाव बनाने मे सहायता देना है। जैनदर्शन में भी धर्म उसे ही कहा गया है, जो प्राणियो को ससार के दुःख से छुड़ा कर उत्तम सुख मे पहुचा दे।[20] आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह और क्षोभ से रहित आत्मा के साम्यपरिणाम अथवा चारित्र को धर्म कहा है।[21] एपिक्युरस का विचार था कि अपनी आवश्यकताओ को कम करो, इससे मन को शान्ति प्राप्त होगी। जैनदर्शन का अपरिग्रहवाद भी यही है। एपिक्युरस सुखी जीवन के लिए सादगी, बुद्धिमत्ता और न्याय के साथ मित्रता को आवश्यक समझता था। प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव रखना जैनों का भी मूल मन्त्र है।

एपिक्युरस ने कहा था कि कोई घटना अपने आपमें अच्छी या बुरी नही। हमारी सम्मति उन्हें अच्छा, बुरा

(शेष पृष्ठ आवरण ३ पर)

१९. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः। तत्त्वार्थसूत्र १।१

२०. देशयामि समीचीन धर्मम् कर्म निबर्हणम्।
ससारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥
रत्नकरण्ड श्रावकाचार

२१. चारित्तं खलु धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥
प्रवचनसार

हिन्दी साहित्य में नेमी-राजुल

☐ डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

हिन्दी के जैन कवियों के अपने काव्यों की विषय-वस्तु प्रमुख रूप से महापुराण, पद्मपुराण एवं हरिवंशपुराण के प्रमुख पात्रों का जीवन रही है। इनमें ६३ शलाका महापुरुषों के अतिरिक्त १६९ पुण्य पुरुषों के जीवन चरित भी जैन काव्यों की विषय-वस्तु के प्रमुख स्रोत रहे हैं। राजुल, मैना सुन्दरी, सीता, अंजना, पवनंजय, श्रीपाल, भविष्यदत्त, प्रद्युम्न, जिनदत्त, सुदर्शन सेठ आदि सभी पुण्य पुरुष हैं जिनके जीवन चरित के श्रवण एवं पठन मात्र से ही अपार पुण्य की प्राप्ति होती है और वही पुरुष भविष्य में निर्वाण पथ के पथिक बनने में सहायक होता है। हिन्दी के ये काव्य केवल प्रबन्ध काव्य अथवा खण्ड काव्य रूप में ही नही मिलते हैं लेकिन रास, बेलि, पुराण, छन्द, चौपाई, चरित, ब्याहलो, गीत, धमाल, हिण्डोलना, सतसई, बारहमासा, संवाद, जखड़ी, पच्चीसी, बत्तीसी, सवैय्या आदि पचासों रूपों मे ये काव्य लिखे गये है जो आज अनुसंधान के महत्त्वपूर्ण विषय बने हुए हैं।

लेकिन शलाका पुरुषों एवं पुण्य पुरुषो के जीवन सम्बन्धी कृतियो में राजुलनेमि के जीवन से सम्बन्धित कृतियों की सबसे अधिक संख्या है। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन के तोरणद्वार से लौट कर वैराग्य धारण करने की एक मात्र घटना से सारा हिन्दी जैन साहित्य प्रभावित है। उसी घटना को जैन कवियो ने विविध रूपों में निबद्ध किया है। नेमिनाथ के साथ राजुल भी चलती है क्योंकि राजुल के परित्याग की घटना को जैन कवियों ने बहुत उछाला है और अपने पाठकों के लिये शृंगार, विरह एवं वैराग्य प्रधान सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया है। एक ओर जहाँ बारहमासा काव्यो की सर्जना करके पाठकों को विरह वेदना में डुबोया है वहाँ दूसरी ओर तोरणद्वार तक जाने के पूर्व का वृत्तान्त शृंगार रस से ओत-प्रोत होता है और वह पाठक के हृदय को खिला देता है और जब वैराग्य धारण करने का प्रकरण चलता है तो सारा काव्य शान्त रस प्रधान होकर हृदय को द्रवीभूत कर देता है। प्रस्तुत शोधपत्र मे हम ऐसे ही काव्यों का उल्लेख कर रहे है जो काव्य के विविध रूपो मे लिखे हुए हैं तथा जिनकी कथावस्तु नेमिराजुल का जीवन है।

सुमतिगणिनेमिनाथ रास सभवत: हिन्दी मे नेमि राजुल संबंधित प्रथम रचना है जिसका रचना काल संवत् १२७० है और जिसकी एक मात्र पाण्डुलिपि जैसलमेर के बृहद ज्ञान भण्डार मे उपलब्ध होती है। इस रास मे तोरणद्वार की घटना का प्रमुखता म वर्णन किया गया है।

१६वी शताब्दी के कवि बूचराज द्वारा नेमि-राजुल के जीवन पर दो रचनायें निबद्ध करना उस समय जन-सामान्य मे राजुलनेमि के जीवन की लोकप्रियता को प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त है। बूचराज की एक कृति का नाम बारहमासा है जिसमे सावन मास से अषाढ़ मास तक के बारह महीनो के एक एक पद्य मे राजुल की विरह वेदना एव नेमिनाथ के तपस्वी जीवन पर राजुल का आक्रोश व्यक्त किया गया है। बारहमासा में राजुल के मनोगत भावो को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि वह पाठको को प्रभावित किये बिना नही रहते। कवि के प्रत्येक रास में व्यथा छिपी हुई है और जब वह परिणय की आशा लगाये नव यौवन राजुल के विरह पर सजीव चित्र उपस्थित करता है तो हृदय फूट-फूट कर रोने लगता है। राजुल को प्रत्येक महीने मे भिन्न-भिन्न रूप में विरह वेदना सताती है और वह उस वेदना को सहन करने मे अपने आपको असमर्थ पाती है। जैन कवियों ने बारहमासा के माध्यम से इस विरह का बहुत सुन्दर एव

सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। समूचे हिन्दी साहित्य मे इस तरह का बेजोड़ वर्णन अत्यन्त कम मिलता है। बारहमासा के प्रमुख कवियों में निम्न कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं :—

१. विनोदी लाल	२. गंग कवि	३. चिमन
४. जीवंधर	५. रवि	६. आनंद
७. पांडे जीवन	८. गोपाल दास	९ लब्धि वर्धन

उक्त सभी कवियों ने राजुलनेमि को लेकर बारहमासा लिखे हैं जो अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सभी कवियों ने अपने बारहमासा को सावन मास से प्रारम्भ किया है। कवि लब्धि वर्धन का सावन मास का एक पद्य देखिए जिसमे राजुल सावन मास मे उत्पन्न बिरह पीड़ा को व्यक्त कर रही है—

प्रकटा विकटा निकटा निरजे गरजे,
घनघोर घटा घन की।
झुजुरि पजुरी बिजुरी चमके,
अंधियारि निसा अति सावन की॥
पीउ पीउ कहे पिपीया जु बहइ,
कोउ पीर लहे परके मन की।
ऐसे नेमी पियाही मिलाइ दियइ,
बलि जाऊ सखि जगिया जन की॥१॥

कविवर गोपालदास ने तो सावन महीने के विरह का इतना विस्तृत वर्णन किया है कि पाठक के मन में राजुल के प्रति सहज स्नेह उत्पन्न हो जाता है। एक उदाहरण देखिये—

फेर ल्यावो नेमि कुमार कौ, कहै राजुल राणी।
हाथ का बेऊ मूंदड़ा अर कुंडल कानी॥१॥
क्यों आये क्यों फिर गये क्यों ब्याह न कीना।
क्यों छोड़ी मृग लोचनी राजा की धीया॥२॥
कांकण बांध्या कर रह्या, रही चवरी छाइ।
मेरा जिनवर रीझा मुगति सो मैं अब सुध पाइ॥
मेरी अरंगडीया जल लाईया, भावों की नाई।
तो म न संभारं मुझको जियड़ा बुझ मांइ।
बाबल मेरे क्या कीया, वर देख न बीया।
वह वैरागी जनम का, क्या परणी त्रिया॥५॥

काको पठउ द्वारिका, कोई आइ सुनावै।
काकण मुकते टारि देक, इतनो कहि आवै॥६॥

किसी किसी कवि ने तो राजुल और नेमिनाथ के बीच उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में बारहमासा लिखा है। बारह महीने तक बहुत कुछ समझाने पर भी जब नेमि को नही पिघला सकी तो राजुल ने आर्यिका के व्रत धारण कर लिये। पाण्डे जीवन का बारहमासा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। राजुल नेमि से कहती है—

असाढ़ मास सुहावनों, कुछ बरसे कुछ नाहि।
नेम पिया घर आइये, क्यूं तुम लोग हसाहि॥
आयो ज मास असाढ़ प्रीतम पहलो व्रत तुम नहिं लियो।
छपन कोडि ज भये अनेती, दुष्ट जन कंपो हियो।
बलभद्र और मुरारि संग ले, बहुत सब सरभर करें।
गिरनार गढ़से चलो नेम जी, राजमति बिनवन करें॥५॥

नेमि द्वारा उत्तर—
आयो मास असाढ़ ही, मन नहीं उलसेहि।
मुकति रमण हित कारणे, छाड़े सब घर तोहि॥६॥

जीवन तो निस सुपन जानों, कहा बड़ाई कीजिये।
ए बंधु भगनी मात पिता ही, सरब स्वारथ लीजिये॥
यहि बात हम सब त्याग दीनो, मोक्ष मारग पगधरो।
कह नेमनाथ सुनो राजुल, चित्त अब तुम बस करो॥

नेमि राजुल पर बारहमासा साहित्य के अतिरिक्त सबसे अधिक संख्या मे रास काव्य मिलते हैं जिनके रचयिता भट्टारक रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, ब्र० रायमल्ल, विद्याभूषण, अभयचन्द्र, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन रास काव्यो मे नेमिनाथ का पूरा जीवन चित्रित किया गया है। इनमे भी तोरणद्वार से लौटकर वैराग्य धारण करने की घटना का और राजुल के मूर्छित होने की घटनाओं का वर्णन होता है लेकिन उनमे राजुल का एक पक्षीय वर्णन नहीं होता। रासों की समाप्ति नेमिनाथ के निर्वाण एवं राजुल के स्वर्ग गमन के साथ होती है। रास काव्यों में नेमिनाथ के साथ दूसरे महापुरुषों का भी वर्णन आता है।

रास काव्यों के समान ही नेमि राजमति बेलि-परक रचनायें भी जैन कवियो ने खूब लिखी हैं। ऐसी रचनाओं

में कविवर ठाकुरसी एवं सिंघदास की नेमि राजमति बेलि, के नाम उल्लेखनीय है। कविवर ठाकुरसी ने अपनी बेलि में नेमिनाथ और राजुल के विवाह प्रसंग से लेकर वैराग्य धारण करने और अन्त में निर्वाण प्राप्त करने तक की घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसमें नेमिकुमार का पौरुष, विवाह के लिये प्रस्थान, पशुओं की पुकार, राजुल का सौन्दर्य वर्णन, राजुल का विलाप आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसी प्रसंग मे राजुल द्वारा दूसरे राजकुमार से विवाह करने के प्रस्ताव का दृढ़ता के साथ विरोध किया गया। कवि के शब्दो मे उसे देखिए—

अपइ रजमतीय अणेरा, जिण जिणुवर बंधन मेरा।
कै बरउ नेमिबरु भारी, सखि कै तपु लेउ कुमारी।
चढ़ि गंवरि को खरि बैसे, तजि सरगि नरगि को पैसे।
तजि तीभि भवन को राई, किम अवरनु वरौ बस भाई।।

हिन्दी जैन कवियों में पद साहित्य मे भी नेमि राजुल के सम्बन्ध मे अनेक पद लिखे है। ये पद शृंगार, विरह एवं भक्ति सभी तरह के हैं। सबसे अधिक विरहात्मक पद भ० रत्नकीर्ति एवं कुमुदचन्द्र ने लिखे हैं। इन दोनों कवियों के पदो से ऐसा मालूम देता है मानो इन्होंने राजुल के हृदय को अच्छी तरह पढ़ लिया हो और उनके पदो से उसकी अन्तरात्मा की आवाज ही सुनाई देती है। रत्नकीर्ति राजुल की तड़पन से बहुत परिचित थे। राजुल किसी भी बहाने नेमि के दर्शन करना तो चाहती है। लेकिन वह यह भी चाहती थी कि उसकी आखें नेमि के आगमन की प्रतीक्षा न करें, लेकिन वे लाख मना करने पर भी नेमि के आगमन की बाट जोहना नही छोड़त। रत्नकीर्ति कहते हैं—

बरज्यो न माने नैन निठोर।
सुमिरि सुमिरि गुन भये सजल घन।
उमंगी चले मति फोर।।१।।
चंचल चपल रहत नहीं रोके।
न मानत जु निहोर।।
नित उठि चाहत गिरि को मारग।
जे ही विधि चन्द्र चकोर।।बरज्यो०।।
तन मन धन योवन नहीं भावत।
रजनी न भावत भोर।।
रत्नकीर्ति प्रभु वेगो मिलो।
तुम मेरे मन के चोर।।बरज्यो०।।

एक अन्य पद मे राजुल कहती है कि नेमि ने पशुओं की पुकार तो सुन ली लेकिन उसकी पुकार क्यों नही सुनी। इसलिये यह कहा जा सकता है कि वे दूसरो के दर्द को जानते ही नही हैं—

सखी री नेमि न जानी पीर।।
बहोत दिवाजे आये मेरे घरि, संग लेई हलधर वीर।।१।।
नेमि मुख निरखी हरखी मनसूं, अबतो होइ मनधीर।
तामे पसूय पुकार सुनी करी, गयो गिरिवर के तीर।।२।।
चंदवदनी पोकारती डारती, मंडनहार उर चीर।
रतनकीरति प्रभू भये विरागी, राजुल चित कियो धीर।।३।।

इसी तरह एक अन्य पद में राजुल अपनी सखियों से नेमि के लिवाने की प्रार्थना करती है। वह कहती है कि नेमि के बिना यौवन, चंदन, चन्द्रमा ये सभी फीके लगते हैं। माता, पिता, सखियाँ एवं रात्रि सभी दुख उत्पन्न करने वाली है। इन्ही भावो को रत्नकीर्ति के एक पद मे देखिये—

सखि को मिलावे नेम नरिंदा।
ता बिन तन मन यौवन रजत है, चारु चंदन अरु चंदा।।१।।
कानन भुवन मेरे जीया लागत, दुसह मदन को फंदा।
तात मात अरु सजनी रजनी, दे अति दुख को कंदा।।२।।
तुम तो शंकर सुख के दाता, करम अति काए मंदा।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु, सेवत अमर नरिंदा।।३।।

लेकिन कवि जब राजुल की सुन्दरता का वर्णन करने लगता है तो वह उसमे भी किसी से पीछे नही रहना चाहता।

चन्द्रवदनी मृग लोचनी, मोचनी खंजन मीन।
वासग जीत्यो वेणिइ, श्रेणिय मधुकर दीन।
युगल गल दाये शशि, उपमा नाशा कीर।
अधर विद्रुम सम उपना, दतन निर्मल नीर।
चिबुक कमल पर षटपद, आनन्द करे सुधापान।
ग्रीवा सुन्दर सोभती, कंबु कपोतने वान।।१२।।

भट्टारक कुमुदचन्द्र ने भी राजलनेमि पर पद लिखे है। एक पद में उन्होंने नेमिनाथ के प्रति राजुल की सच्ची पुकार लिखी है। नेमि के बिना राजुल को न प्यास लगती है और न भूख सताती है। नींद नही आती और बार-बार उठ कर वह घर का आंगन देखती और नेमि के विरह मे विलाप करने लगती है। इसी पद की दोपंक्तियां देखिये —

सखी री अब तो रह्यो नहि जात।
प्राणनाथ की प्रीत न बिसरत, क्षण क्षण छीजत गात।।१।।
नहि न भूख नहि तिसु लागत, घरहि घरहि मुरझात।
मन तो उरझी रह्यो मोहन सुं, सेवन ही सुरझात।।२।।

नेमिराजुल से सम्बन्धित नेमिनाथ के दशभव, नेमिनाथ के बारहभव, नेमिजी को मंगल (जगत भूषण), नेमिनाथ छन्द (शुभचन्द्र), नेमिनाथ फाग (पुण्य रतन), नेमिनाथ मंगल (लालचन्द), नेमि ब्याहलो, नेमि राजमति, चोमासिया, नेमिराजमति की घोड़ी, नेमि राजुल सज्झाय, नेमिराजमति शतक, आदि कवियों की काव्य रचनायें राजस्थान के विभिन्न जैन ग्रंथागारों मे सुरक्षित है।

इस प्रकार, नेमि राजुल का जीवन जैन कवियों के लिये आकर्षण का विषय रहा है। यद्यपि अधिकांश जैन साहित्य निवृत्ति प्रधान साहित्य है जिसमे शांत रस की प्रमुखता है लेकिन नेमि राजुल के माध्यम से वे अपनी रचनाओ को श्रृंगार प्रधान, विरह परक एव भक्ति परक भी बना सके हैं। एक बात और भी है कि हमारे हिन्दी कवि भ० रतनकीर्ति एवं भ० कुमुदचन्द्र ऐसे समय मे हुए थे जब चारों ओर भक्ति एव श्रृंगार का वातावरण था। इसलिये इन्होने भी राजुल को अपना आधार बना कर छोटी छोटी रचनायें निबद्ध करके हिन्दी जैन साहित्य के क्षेत्र को और भी विस्तृत बनाया।

नेमि राजुल से सम्बन्धित हिन्दी काव्यों पर शोध होना आवश्यक है। आशा है कि शोधार्थी इस ओर ध्यान देंगे।

□□□

(पृ० २६ का शेषांश)

बनाती है। क्या किसी पुरुष ने मेरा अपमान किया है? यह तो मेरे समझने की बात है। यदि मैं समझूं कि अपमान हुआ है तो हुआ है, यदि समझूं कि नही हुआ तो नही हुआ। मेरी घड़ी किसी ने उठा ली है। क्या इससे मेरी हानि हुई है? यह भी समझने का प्रश्न है। यदि मैं समझ लूं कि मुझे घड़ी की आवश्यकता ही नही तो जो कुछ मैंने खोया है, उसकी कोई कीमत ही नही। हानि कहाँ हुई है? तुम स्वाधीन हो, अपनी स्वाधीनता का उचित प्रयोग करके विश्वास करो कि तुम्हारे लिए कोई घटना अभद्र नही हो सकती। एपिक्युरस जैसी ही भावना जैनधर्म मे प्राप्त होती है। कविवर बनारसीदास जी ने कहा है—

स्वारथ के सांचे परमारथ के सांचे चित।
सांचे सांचे बैन कहैं सांचे जैनमती हैं।।
काहू के विरुद्ध नाहि परजायबुद्धि नाहि।
आतम गवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं।।
ऋद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घट में प्रकट सदा।
अन्तर की लच्छी सों अजाची लच्छपती हैं।।
दास भगवन्त के उदास रहें जगत सों।
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।।

नाटक समयसार

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यूनान के दार्शनिकों की जो समस्यायें और अपूर्णतायें थी, उनका समुचित समाधान जैनदर्शन मे प्राप्त होता है; क्योंकि जैनदर्शन का आधार सर्वज्ञ की वाणी है। उसका अनेकान्तवाद प्रत्येक ऐकान्तिक पहलू के सामने आने वाली कठिनाई को दूर करने मे समर्थ है। इस प्रकार प्रत्येक दार्शनिक के परिप्रेक्ष्य में जैनदर्शन का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है—

□□□

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थो में उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सपादक : मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानो के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। २२-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० स भी अधिक पृष्ठो मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक---वीर सेवा मन्दिर के लिए कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३४ : कि० २-३ अप्रैल-सितम्बर १९८१

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

अनेकान्त प्रेमियों से :

अनेकान्त पत्र का जन्म वी० नि० सं० २४५६ के मार्गशीर्ष मास में हुआ और इसने पाठकों को शोध-सम्बन्धी विविध सामग्री दी और आचार एव व्यवहार सम्बन्धी अनेको आयामो को प्रस्तुत किया। स्वामी समन्तभद्र जैसे उद्भट अनेको आचार्यो के साहित्य के मर्म को उजागर किया। फलत. यह सभी का स्नेहपात्र वना रहा। यद्यपि बीच के काल में इसे अनेको कठिनाइयों का सामना करना पड़ा—कभी आर्थिक सकट और कभी लेखको की उदासीनता। तथापि इसने समाज को जैन साहित्य और तत्त्व-ज्ञान से परिचित कराने एवं जनता के आचार को ऊँचा उठाने के उद्देश्य के ख्याल से, अपने कार्य क्षेत्र को नही छोड़ा। इस सहयोग मे जिन सम्पादको, लेखको और पाठको आदि ने जो रुचि दिखाई उसके लिए हम उनके चिर-ऋणी रहेंगे।

'अनेकान्त' पत्र के उद्देश्यो में मुख्य है—'जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन व जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का सुदृढ प्रयत्न करना।' 'अनेकान्त' की नीति मे सर्वथा एकान्तवाद को—निरपेक्षनयवाद को अथवा किसी सम्प्रदाय विशेष के अनुचित पक्षपात को स्थान नही होगा। इसकी नीति सदा उदार और भाषा-शिष्ट, सौम्य तथा गम्भीर रहेगी।' हमारा निवेदन है कि उदार लेखक अपने लेखों, पाठक अपनी अनेकान्त-पठन रुचि और उदारमना-दाता द्रव्य द्वारा पत्र की सभाल करते रहें—पत्र सभी का स्वागत करेगा।

वर्तमान में ग्राहक संख्या नगण्य है। यदि ग्राहक सख्या में वृद्धि हो जाय, और १०१) देकर पर्याप्त संख्या मे आजीवन सदस्य बन जायें तो इसकी चिन्ता सहज ही दूर हो जाय। इस महर्घता के समय में भी पत्र शुल्क केवल ६) वार्षिक ही है।

आशा है लेखकगण अपने लेख और ग्राहक व दाता अपने द्रव्य द्वारा सहायता करने मे उद्यमी होंगे। धन्यवाद !

सुभाष जैन
महासचिव
वीर सेवा मन्दिर

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३४ किरण २-३ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५०७, वि० स० २०३७ | अप्रैल-सितम्बर १९८१

अनेकान्त-महिमा

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ ।
तस्स भुवनेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥'

परमागमस्य बीज निषिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुरभिधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥'

भद्दंमिच्छादंसण समूह महियस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स ॥'

परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण ।
'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत् कल्याण ॥

'अनेकान्त' रवि किरण से, तम अज्ञान विनाश ।
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश ॥

अनन्त-धर्मा-तत्त्वों अथवा चैतन्य-परम-आत्मा को पृथक्-भिन्न-रूप दर्शाने वाली, अनेकान्तमयी मूर्ति—जिनवाणी, नित्य-त्रिकाल ही प्रकाश करती रहे—हमारी अन्तर्ज्योति को जागृत करती रहे ।

जिसके विना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नही बन सकता, उस भुवन के गुरु—असाधारणगुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार हो ।

जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान रूप एकात को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तु-स्वभावो के विरोधों का मन्थन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवनभूत, एकपक्ष रहित अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार करता हूँ ।

मिथ्यादर्शन समूह का विनाश करने वाले, अमृतसार रूप; सुखपूर्वक समझ में आने वाले; भगवान जिन के (अनेकान्त गर्भित) बचन के भद्र (कल्याण) हों ।

□□□

सम्यक्त्व कौमुदी नामक रचनाएं

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन,

जैन परम्परा के मध्यकालीन धर्म कथा साहित्य मे 'सम्यक्त्व कौमुदी' एक पर्याप्त लोकप्रिय रचना रही है। हमारे अपने सग्रह मे इस नाम की एक पुस्तक है जो हिन्दी जैनसाहित्य प्रसारक कार्यालय बबई द्वारा वी० नि० स० २४४१ अर्थात् २० अगस्त १९१५ ई० में प्रकाशित हुई थी, पुस्तक के सम्पादक थे प० उदयलाल काशलीवाल और हिन्दी अनुवाद के कर्ता थे प० तुलसीराम काव्यतीर्थ, जो संभवतया वही वाणीभूषण प० तुलसीराम थे जो बाद मे दि० जैन हाईस्कूल बड़ौत मे धर्माध्यापक रहे थे। पुस्तक मे सम्पादक का कोई वक्तव्य नही है और अनुवादक की जो डेढ पृष्ठीय प्रस्तावना है उसमे भी ग्रथ प्रतियों, कर्ता के नाम-स्थान-समयादि का कही कोई सकेत नही है। पुस्तक के प्रारम्भ के १४८ पृष्ठो मे सरल चालू भाषा मे प्रवाह पूर्ण अनुवाद है। तदनन्तर ११० पृष्ठो मे मूल संस्कृत रचना प्रकाशित है। इसी पुस्तक का पुनः प्रकाशन पं० नाथूराम प्रेमी ने अपने जैन ग्रथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई से सन १९२८ मे किया था।[1] इस मूल संस्कृत 'सम्यक्त्व कौमुदी' मे प्रारम्भ के तीन मगल श्लोको को छोड़कर प्राय शेष सम्पूर्ण भाग अति सरल सुबोध गद्य में रचित है। किन्तु पग-पग पर उक्तं च, तदाच तथाचोक्तं, यथा आदि कहकर पूर्ववर्ती जैनाजैन विविध साहित्य से प्रसंगोपयुक्त सुभाषित नीतिवाक्य, सूक्तियां आदि उद्धृत की गई है, जिनकी सख्या लगभग २७० है और जो रचना का कुछ कम प्रायः आधा भाग घेरे हुए है। इस प्रकार यह रचना पंचतंत्र, हितोपदेश आदि की शैली की एक उत्तम रोचक एव शिक्षाप्रद नीतिकथा बन गई है।

प्रथम मगल श्लोक के द्वितीयचरण 'वक्ष्येह कौमुदी नृणा सम्यक्त्वगुणहेतवे' और ग्रन्थात म प्रयुक्त वाक्य 'इमा सम्यक्त्वकौमुदीकथा पुण्या भो भव्या. दृढतर सम्यक्त्व धार्यताम्' से स्पष्ट है कि विद्वान लेखक ने मनुष्यों को सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति हो अथवा इसे सुनकर भव्यजनों का सम्यक्त्व दृढतर हो, इस उद्देश्य से इस सम्यक्त्व कौमुदी अथवा सम्यक्त्व कौमुदी कथा का प्रणयन किया था। यतः यह सम्यक्त्वपोषक कथा शारदीय कौमुदी महोत्सव वाली रात्रि मे घटित घटनाओ का वर्णन करती है, इसलिए भी इसका सम्यक्त्वकौमुदी कथा नाम सार्थक है। रचना में कही कोई आद्य या अन्त्य प्रशस्ति, पुष्पिका अथवा सन्धि-वाक्य भी नही है और लेखक अपने नाम, स्थान, समय, परम्परा आदि की कही भी कोई सकेत सूचना नही करता है। वह यह भी कोई सकेत नही करता कि यह रचना किसी पूर्ववर्ती रचना पर आधारित या उससे प्रेरित है। पूरी रचना को पढ़ जाने से यही प्रतीत होता है कि यह इस नाम की प्रथम रचना है, और लेखक की मौलिक कृति है। लेखक अध्ययनशील, विचाररसिक, वचनपटु, धर्म मर्मज्ञ एव उदाराशय कवि व साहित्यकार है। किसी प्रकार के साम्प्रदायिक व्यामोह, पक्ष, आक्षेप आदि से भी वह दूर है, तथापि पूरी रचना से और विशेषकर मंगलाचरण एवं ग्रन्थ की उत्थानिका की पारम्परिक शैली से यह सर्वथा स्पष्ट है कि वह दिगम्बर आम्नाय का अनुयायी था।

सर्वप्रथम लेखक जिनदेव जगत्प्रभु श्री वर्द्धमान को, गौतम गणेश को, सर्वज्ञ के मुख से निकली मा भारती (सरस्वती या जिनवाणी) को और गुरुओ को, अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु को नमस्कार करके मनुष्यो को सम्यक्त्व गुण लाभ हो इस हेतु से प्रस्तुत कौमुदी का प्रणयन करने की प्रतिज्ञा करता है। तदनन्तर राजगृह नगर के विपुलाचल पर्वत पर अन्तिम तीर्थंकर भगवान श्री वर्द्धमान स्वामी के समवसरण के आगमन की सूचना बनमाली से प्राप्त कर महामण्डलेश्वर श्रेणिक परिजन-पुरजन सहित वहां जाता है, पूजा-स्तुति आदि करता है और अवसर पाकर गौतम०

स्वामी से सम्यक्त्वकौमुदी कथा सुनाने की प्रार्थना करता है। भगवान गौतम कहते हैं—मथुरा नगर मे उदितोदय नाम का राजा राज्य करता था : उसके मंत्री का नाम सुबुद्धि था। राज्यश्रेष्ठी अर्हद्दत्त बड़ा धार्मिक था और अपनी आठ पत्नियों के साथ सुख से रहता था। इसी नगर मे अंजनगुटिकासिद्ध चोर सुवर्णखुर भी रहता था। प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमा के दिन राजा कौमुदी महोत्सव का आयोजन करता था, जिसमें नगर की समस्त स्त्रियां वनक्रीड़ा के लिए जाया करती थी और पूरा दिन व रात्रि वहीं व्यतीत करती थी, किन्तु पुरुषो को वहां जाने की आज्ञा नही थी—उन्हें नगर के भीतर ही रहना होता था। सयोग से यही दिन कार्तिकी अष्टान्हिका पर्व का अन्तिम दिन था और उस वर्ष सेठ ने सपत्नीक अठाई व्रत किया था। उसने राजा से विशेषाज्ञा लेकर अपनी पत्नियों को वनयात्रा से रोक लिया। दिन भर सबने नगर के जिनालयों मे दर्शन पूजन किया और अन्त मे अपने गृह-चैत्यालय मे रात्रि जागरण किया। आरात्रिक पूजन-भजन कीर्तन आदि मे आधी रात बीत गई तो सेठ-पत्नियो ने प्रस्ताव किया कि क्यों न हममें से प्रत्येक उसे जिस घटना या अनुभव के कारण धर्म मे श्रद्धा दृढ हुई है, वह सुनाए। प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ। और सर्वप्रथम सेठ से ही अपना अनुभव बताने के लिए अनुरोध किया गया।

इसी बीच स्वयं राजा का चित्त अकेले मे उचाट हो रहा था और स्वयं अपनी निषेधाज्ञा का उलघन करके भी वह अपनी रानी के पास उद्यान मे जाने के लिए आतुर हो उठा। इस पर मंत्री ने उसे समझाया और उस अनुचित विकल्प से विरत रखने का प्रयत्न किया। उसने राजा को यमदड कोतवाल की कहानी सुनाई जिसमें सात रोचक एवं शिक्षाप्रद अन्तर्कथाएं कहीं। अन्ततः राजा ने अपना विचार छोड़ दिया और यह प्रस्ताव रखा कि नगर का ही भ्रमण किया जाय और देखा जाय कि अन्य लोग क्या कर रहे हैं। अतः राजा और मत्री चल दिए। प्रायः उसी समय सुवर्णखुर चोर भी अपने चोरकर्म के लिए निकला था। संयोग से तीनो ही सेठ के चैत्यालय के पास पहुंच गए जहां से भक्तिपूर्ण मधुर गीत-वाद्य नृत्यादि की स्वर-लहरी गूंज रही थी। चोर एक खिड़की के बाहर छुपकर बैठ गया और राजा एवं मंत्री ने एक अन्य खिड़की के बाहर आसन जमाया। उसी समय भीतर अपने संस्मरण सुनाने का निश्चय हुआ। सर्वप्रथम सेठ ने ही आप बीती सुनाई। उस कहानी के मुखपात्र वर्तमान सेठ का पिता जिनदास, राजा का पिता पदमोदय, मत्री का पिता सभिन्न और चोर का पिता रूपखुर थे। वह सब घटना उन चारो की भी देखी-जानी थी। सेठ के पश्चात उसकी सात पत्नियों ने भी अपने-अपने अनुभवों की कहानियां क्रमशः सुनाईं। प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी कहानी के अन्त मे कहा, 'यह घटना मेरे प्रत्यक्ष अनुभव की है, इसने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया है और फलस्वरूप मेरी धर्म मे रुचि-प्रतीति एवं श्रद्धा हुई है, मेरा सम्यक्त्व दृढ हुआ है। सब ही भीतरी और बाहरी श्रोताओं ने उसकी प्रशंसा व अनुमोदना की किन्तु सबसे छोटी सेठ-पत्नी कुन्दलता ने प्रत्येक बार यही कहा 'यह सब झूठ है, मैं इस पर विश्वास नहीं करती, अतः इसी के कारण मेरी धर्म में रुचि या प्रतीति भी नही होती है। उसके ऐसे उत्तरों की उसके पति तथा सपत्नियो पर तो विशेष प्रतिक्रिया नहीं होती थी, किन्तु तीनों बाहरी श्रोता, राजा मंत्री व चोर उसे उद्दण्ड एवं दुष्टा समझते और उस पर कुपित होते।

इतने मे सबेरा हो जाता है। सेठ का परिवार निर्विघ्न-सानन्द पर्वोत्सव के समापन से हर्षित है कि राजा व मंत्री पधारते हैं। अन्य अनेक व्यक्ति सेठ को बधाई देने आते हैं। भीड़ हो जाती है और उसमें वह चोर भी है। राजा ने रात्रि मे कही गई कहानियों की चर्चा की और कुन्दलता की अजीब प्रतिक्रिया पर आश्चर्य व्यक्त किया तथा उसे दण्डित किए जाने का प्रस्ताव किया। सेठ ने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि स्वयं अभियुक्ता से ही उसकी वैसी प्रतिक्रिया का कारण पूछा जाय। कुन्दलता बुलाई गई और उससे उसके उक्त अनोखे व्यवहार का कारण पूछा गया। उस तेजस्वी नारी ने ससंभ्रम कहा 'राजन्, वह दुष्टा मैं ही हूं। इन सबने जो कुछ कहा है और जिनधर्म एवं उसके व्रतादि पर जो इनका निश्चय है उस पर मैं वास्तव मे न तो श्रद्धान ही करती हूं, न उसे चाहती हूं और न उसमे मेरी कोई रुचि है।' राजा ने साश्चर्य पूछा कि इसका क्या कारण है तो कुन्दलता ने

कहा, 'राजन्, ये सब तो जैनकुल में उत्पन्न हुए हैं, जिन-मार्ग को छोड़कर अन्य कोई मार्ग इन्होंने जाना ही नहीं है। मैं तो न स्वयं जैन हूं और न जैनकुल में उत्पन्न हुई हूं। तो भी जिनधर्म के व्रतों का प्रभाव सुनकर हृदय मे भारी वैराग्य उत्पन्न हो गया है और मैंने दृढ निश्चय कर लिया है कि मैं आज सवेरे ही जिनदीक्षा अवश्य ग्रहण कर लूंगी। मुझे तो यही आश्चर्य है कि इन सबने जिनधर्म के व्रतों का माहात्म्य स्वयं देखा है और सुना है, फिर भी ये सब मूर्ख ही रहे। उपवासादि द्वारा शरीर को कृष तो करते हैं किन्तु ससार के विषय-भोगों के प्रति अपनी लम्पटता तनिक भी नही छोड़ते। मेरा तो सिद्धान्त है कि मनुष्य को गुणों को सम्पादन करने मे सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। मिथ्या आडम्बर और दिखावे से क्या होना-जाना है! जो गाय दूध नही देती वह क्या गले मे घंटा बांध देने से बिक जाएगी?'

कुन्दलता के इस ओजस्वी उद्बोधन को सुनकर सबकी आंखें खुल गयीं, सभी ने उसकी स्तुति-प्रशंसा-वन्दना की, इतना ही नही, सेठ, राजा, मंत्री और चोर ने तथा अन्य अनेक उपस्थित व्यक्तियो ने अपने-अपने पुत्रादि को गृहस्थ का भार सौंपकर कुन्दलता के साथ जिनदिक्षा ले ली। उसकी सपत्नियां, रानी, मत्री की पत्नी आदि अनेक नारियां आर्यिका बन गई। अनेक स्त्री-पुरुषो ने श्रावकों के व्रत ग्रहण किए, अन्य कितने ही कम से कम भद्रपरिणामी ही बने। अस्तु, इस सम्यक्त्वकौमुदी कथा का सार तत्व यहीं है कि धर्म व्रतानुष्ठानादि क्रियाकांडों में निहित नही है, वरन् स्वयं अपने जीवन मे उतारने की वस्तु है, धर्म करना नही, होना है।

ग्रन्थकर्ता—इस सम्यक्त्वकौमुदी या सम्यक्त्वकौमुदी-कथा की अनेक प्रतियां उत्तर भारत के जैन शास्त्र भंडारों में सुरक्षित हैं। केवल राजस्थान के आमेर भडार में १३ प्रतियां हैं, जिनमे से ५ सम्यक्त्वकौमुदी नाम से और ८ सम्यक्त्वकौमुदीकथा नाम से दर्ज है, और वि० स० १५७६ से १८३८ के मध्य की लिखी हुई है।[१] इसी भंडार के प्रशस्ति सग्रह मे तीन अन्य प्रतियों का उल्लेख प्रतीत होता है जिनमें से एक वि० स० १५६० की, दूसरी १५८२ की और तीसरी १६२५ की है जिसे कुंभलमेरु में खरतर-गच्छी गुणलाभ महोपाध्याय ने अपने पढ़ने के लिए लिखाया था।[२] स्वयं जयपुर के शास्त्र भंडारों में १४ प्रतियाँ हैं जिनमें से एक तो (न० १३२०) गोपाचलदुर्ग अर्थात् ग्वालियर में राजा वीरमदेव तोमर के शासनकाल में मुनि धर्मचन्द्र के पठनार्थ वि० स० १४६०(सन् १४०३ ई०) की लिखित है।[३] अन्यत्र भंडारों में भी इस ग्रंथ की प्रतियां पाए जाने की पूरी सम्भावना है। उपरोक्त समस्त प्रतियों के सम्बन्ध में ग्रथ की भाषा सस्कृत सूचित की है, आकार-प्रकार प्राय: सबका समान है, और रचयिता अज्ञात सूचित किया गया है। इन्ही सूचियो मे सम्यक्त्व-कौमुदी नाम की अन्य रचनाओं की प्रतियो का भी उल्लेख है जिनमे उनके रचयिताओं का नाम भी सूचित है, तथा जो संस्कृत हिन्दी या हिन्दी पद्य आदि मे रचित है। अत-एव इसमें संदेह नही है कि जिस अज्ञात कर्तृक संस्कृत सम्यक्त्वकौमुदी की प्रतियों का उल्लेख किया गया है वे सब उसी ग्रथ की हैं जिसका वर्णन लेख के प्रारम्भ मे किया गया है और जो १९१५ ई० में बबई से प्रकाशित हुआ था। डा० राजकुमार साहित्याचार्य ने जिस सम्यक्त्व-कौमुदी की मदन पराजय नामक सस्कृत रूपक से तुलना की है, वह भी वही अज्ञात कर्तृक रचना है, इसमे कोई संदेह नहीं है।[४] उनके कथनानुसार प्रो० एल्ब्रेस्ट बेबर ने इसी सम्यक्त्वकौमुदी की सन् १४३३ ई० की एक प्रति का उल्लेख किया है।[५] इतना ही नही, उन्होने तो मदन-पराजय का रचनाकाल भी सम्यक्त्वकौमुदी की बेबर वाली प्रति के आधार से ही निश्चित किया है।[६]

'जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नाम से हमारे द्वारा संकलित पुरानी हस्तलिखित सूची के अनुसार प्रस्तुत सम्यक्त्वकौमुदी के कर्ता जिनदेव नामक दिगम्बर विद्वान हैं जो १४वी शती ई० मे हुए है। और जिनकी मयण-पराजय (मदन पराजय) तथा उपासकाध्ययन नामक दो अन्य संस्कृत कृतियाँ ज्ञात हैं। डा० राजकुमार जी द्वारा सपादित मदन पराजय की पूर्वोक्त प्रस्तावना से, जो पुस्तक के प्रथम सस्करण के समय १९४८ ई० में लिखी गई थीं, अब इस विषय मे कोई सदेह नही है कि उक्त मदन परा-जय के कर्ता जिनदेव अपरनाम नागदेव ही, जो वैद्यराज मल्लुगी के पुत्र थे तथा किन्ही ठक्कुर माइन्द द्वारा स्तुत

एवं प्रशंसित थे, प्रस्तुत सम्यक्त्वकौमुदी के कर्ता हैं।[8] सम्यक्त्व कौमुदी मे लेखक ने अपना कोई परिचय नही दिया सिवाय इसके लिए प्रथम मगल श्लोक की प्रथम पंक्ति 'श्री वर्द्धमानमानम्य जिनदेव जगत्प्रभुम्' में प्रयुक्त 'जिनदेव' शब्द से उनके नाम का भी सूचन हो। किन्तु मदनपराजय मे उन्होंने अपना जो वश परिचय दिया है, उससे विदित होता है कि वह सोमवश मे उत्पन्न हुए थे। उनके पूर्वज चङ्गदेव एक यशस्वी दानी थे, जिनके पांच पुत्र थे—इनमे से तीसरे पुत्र कविवर हरिदेव थे जो अपभ्रंश मयणपराजयचरिउ के रचयिता थे। हरिदेव के पुत्र वैद्यराज नागदेव थे, जिनके दोनों पुत्र हेम और राम भी प्रसिद्ध वैद्य थे। राम के पुत्र दानी प्रियंकर थे, जिनके वैद्यराज मल्लुगि थे। इन मल्लुगि के पुत्र संस्कृत मदनपराजय के कर्ता नागदेव थे।[9] बहुत संभव है कि अपनेएक निकट पूर्वज का नाम भी नागदेव रहा होने से ग्रन्थकार ने अपना अपर नाम या उपनाम 'जिनदेव' अपना लिया हो—मदनपराजय की आद्य प्रशस्ति मे तो नागदेव नाम है किन्तु पांचो परिच्छेदो के पुष्पिका वाक्यो मे जिनदेव नाम दिया है। प्राप्त सूचनाओ से विदित है कि कवि एक सदगृहस्थ था और एक सम्पन्न धार्मिक वैद्य व्यवसायी एवं विद्या रसिक वश में उत्पन्न हुआ था, जो मूलत: सोम (चन्द्र) वंशी राजपूतो का था। लेखक के स्थान की कोई सूचना नही है किन्तु लगता है कि वह उत्तर भारतीय था और मध्य भारत विशेषकर ग्वालियर के आसपास के किसी स्थान का निवासी था। सम्यक्त्वकौमदी की प्राचीनतम उपलब्ध प्रति (१४०३ ई० की) ग्वालियर मे ही लिखी गई थी और कुछ ही दशक पश्चात ग्वालियर के ही अपभ्रंश भाषा के महाकवि रईधू ने उसका अपभ्रंश भाषा मे रूपान्तर किया था। यत: सम्यक्त्वकौमुदी मे उद्धृत सूक्तियां आदि जिन लेखको की है, उनमे प० आशाधर (ल० १२००-५० ई०) प्राय: सबसे पीछे के हैं और यदि जिस सूक्तिमुक्तावली के भी उद्धरण है वह श्रुतमुनि (ल० १३०० ई०) कृत ही हों तो सम्यक्त्वकौमुदी के रचनाकाल की पूर्वावधि १३०० ई० और उत्तरावधि १४०० ई० निश्चित होती है। अतएव जिनदेव अपर नाम नागदेव ने इस संस्कृत सम्यक्त्वकौमुदी की रचना १३५० ई० के लगभग की प्रतीत होती है। लगता है कि मदनपराजय शायद प्रारम्भ की रचना है और सम्यक्त्वकौमुदी लेखक के अन्तिम वर्षों की है। उपासकाध्ययन नाम की श्रावकाचार विषयक कृति यदि है तो शायद किसी भंडार मे दबी पड़ी हो, उसमें भी नीति-सूक्तों के उद्धरणों का बाहुल्य होगा। जिनदेव की सम्यक्त्वकौमुदी दिगम्बर परम्परा मे तो स्वभावत: प्रचलित रही है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में भी लोकप्रिय रही प्रतीत होती है, जैसा कि उसकी सं० १५६० व स० १६२५ की पूर्वोक्त प्रतियों से प्रगट है। उसकी लोकप्रियता का एक साक्ष्य यह भी है कि इस नाम की अनेक रचनाये परवर्तीकाल मे विभिन्न भाषाओ मे लिखी गई जिनमे से कई श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा भी रचित है।

अन्यकर्तृक सम्यक्त्वकौमुदी कथाएं

दिगम्बर :—संस्कृत, मुनिधर्मकीर्तिकृत, प्राप्त लिपि १५४६ ई० की है। सभवतया यह वही मुनि धर्मकीर्ति (१४४२-६६ ई०) हैं जो सागवाड़ा बड़साजनपट्ट के सकलकीर्ति के शिष्य तथा विमलेन्द्रकीर्ति के गुरु थे और तत्त्वरत्नप्रदीप नामक ग्रंथ के रचयिता थे।

२. संस्कृत, मंगरस या मंगिरस, प्रसिद्ध कन्नड़ साहित्यकार, सं० कौ० की० रचना तिथि एक १४३०-१५०८ई०

३. संस्कृत, खेता पंडित, लगभग १७०० ई०

४. कन्नड़, पायण्ण वर्णी, १६०० ई०

५. अपभ्रंश, महाकवि रइधू (१४२३-५८ ई०)

६. हिन्दी-गुज० रत्नमति आर्यिका (ल० १५५० ई०) जो सूरत के भट्टारक ज्ञानभूषण की शिष्या थीं। रचना का नाम 'समकितरास' (८ कथायें) दिया है।

७. हिन्दीपद्य, कवि कासिदास एव जगतराय, १६६५ ई० अलग अलग थी उल्लेख है, किन्तु संभवतया संयुक्त रचना है।

८. हिन्दी पद्य, जोधराज गोदीका, १६६७

९. हिन्दी पद्य, कवि विनोदीलाल, १६९२ ई०

१०. हिन्दी पद्य, लालचन्द्र सांगानेरी, १७६१-८५ ई०

११. हिन्दी, लालचन्द्र विनोदीलाल, १८२२ ई०

श्वेताम्बर—१. संस्कृत, अचलगच्छी जयशेखर सूरि, रचनाकाल 'हयेषुलोक संख्येब्दे' शब्दों मे सूचित है जिसका अर्थ स० १४५७ किया गया है, लिपि स० १५६५ की है।[१०] यदि रचनाकाल का उपरोक्त अर्थ ठीक है तो यह रचना १४०० ई० की है।

२. सस्कृत, जयचन्द्र सूरि के शिष्य, रचनाकाल सं० १४६२-१४०५ ई०, प्रतिलिपि सवत नही है, किन्तु अन्त में लिखा है—इति धर्मकीर्ति मुनि विरचिता सम्यक्त्व-कौमुदी कथा सम्पूर्ण।[११] उल्लेख से सदेह होता है कि मुद्रण आदि मे नामो की गड़बड़ तो नही हुई है? यदि उल्लिखित जयचन्द्र सूरि वही है जो सोमसुन्दर के शिष्य थे और जिन्होने १४४६ ई० मे अपना प्रत्यख्यान विरमण रचा था तो उनके शिष्य द्वारा उपरोक्त ग्रथ का रचनाकाल १४०५ ई० नही हो सकता।

३ संस्कृत, गुणाकर सूरि, रचनाकाल १४०७ ई०।[१२] प्रतिलिपि १४६० ई० की है। आमेर भंडार मे भी इस ग्रंथ की प्रतियां है।

४. संस्कृत, सोमदेव सूरि, १५१६ ई०।

इस प्रकार कुल १८ रचनायें हमें ज्ञात हो सकी हैं, जिनमें से ८ सस्कृत, १ कन्नड़, १ अपभ्रंश और ६ हिन्दी में रचित हैं। इनमें से १२ दिगम्बर विद्वानों द्वारा तथा ४ श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा रचित है। चारों ज्ञात श्वे० रचनायें सस्कृत मे हैं। संभव है अन्य भी कई रचनायें हों जो हमारी जानकारी मे अभी नही आई है। इन सबसे जिनदेव (नागदेव) की सम्यक्त्वकौमुदीकथा की लोकप्रियता एवं महत्व स्पष्ट हैं। उनके विशद समीक्षात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है जिससे उस पर पूर्ववर्ती साहित्यकारो का प्रभाव तथा स्वयं उसका अपने परवर्ती साहित्यकारों पर प्रभाव प्रकाश मे आ सके। उपरोक्त श्वे० रचनाओं को हमने देखा नही है अतएव यह भी नही कहा जा सकता कि उन्होंने जिनदेव की रचना से ही प्रेरणा ली है अथवा उसे ही अपना आधार बनाया या कि उनका आधार एव प्रेरणास्रोत उससे सर्वथा स्वतन्त्र या भिन्न है।

सन्दर्भ—

१. देखिए ज्योतिप्रसाद जैन, प्रकाशित जैन साहित्य (जैन मित्र मण्डल दिल्ली १९५८), पृ० २३९।
२. आमेर शास्त्र भडार जयपुर की ग्रन्थ सूची (जयपुर १९४८ ई०), पृ० १३२-१३३।
३. डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, प्रशस्ति सग्रह (जयपुर १९५०), पृ० ६३-६४।
—स० १५८० की प्रति भी एक श्वेताम्बर मुनि के लिए लिखी गई है।
४. राजस्थान के जैन शास्त्र भडारों की ग्रन्थ सूची, द्वितीय भाग, पृ० २४१-२४२।
५. मदनपराजय, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली द्वि० स० १९६४, प्रस्तावना पृ० १७-१८, ४२, ५७-५८।
६. वही, पृ० १८, तथा वेबर-ए हिस्टरी आफ इण्डियन कल्चर, भा० २, पृ० ५४१ फुटनोट।
७. वही, पृ० ५८, किन्तु ऐसा लगता है कि भूल से वि० स० की १५वी शती के बजाय १४वी शती लिख गए हैं।
८. वही, पृ० ५७।
९. वही, आद्य प्रशस्ति, पृ० १-२; तथा डा० हीरालाल जैन, मयणपराजयचरिउ, भारतीय ज्ञानपीठ १९६२, प्रस्तावना पृ० ६०-६२, जबकि राजकुमार जी ने 'रामकुल' पाठ दिया है, डा० हीरालालजी ने 'सोमकुल' पाठ दिया है, उसका औचित्य भी सिद्ध किया है—वही ठीक प्रतीत होता है।
१०. देखिए, मुनि पुण्यविजय जी के संग्रह की ग्रन्थ सूची (अहमदाबाद १९६३), भाग १, पृ० १३१, न० २५५७
११. वही, पृ० १३१-१३२, न० २५५९।
१२. वही, पृ० १३१, न० २५५४; तथा भाग २, पृ० २२३-२२४, न० ३८३३।

—ज्योति निकुंज
चारबाग, लखनऊ-१

पर्युषण और दशलक्षण धर्म

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

जैनो के सभी सम्प्रदायों में पर्युषण पर्व की विशेष महत्ता है। इस पर्व को सभी अपने-अपने ढंग से सोत्साह मनाते हैं। व्यवहारतः दिगम्बर श्रावको में यह दश दिन और श्वेताम्बरों मे आठ दिन मनाया जाता है। क्षमा आदि दश अगों में धर्म का वर्णन करने से दिगम्बर इसे 'दशलक्षण धर्म' और श्वेताम्बर आठ दिन का मनाने से अष्टान्हिका (अठाई) कहते है।

पर्युषण के अर्थ का विशेष खुलासा करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष मे कहा है—

"परीति सर्वत क्रोधादिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपशमना" अथवा "परिः सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यतः सप्तदिनानि उत्कृष्टतः षण्मासान् (?) वसनं निरुक्तादेव पर्युषणा।" अथवा परिसामस्त्येन उषणा।"—अभि० रा० भा० ५ पृ० २३५-२३६।

जिसमें क्रोधादि भावों को सर्वतः उपशमन किया जाता है अथवा जिसमें जघन्य रूप से ७० दिन और उत्कृष्ट रूप से छह मास (?) एक क्षेत्र मे किया जाता है, उसे पर्युषण कहा जाता है। अथवा पूर्ण रूप से वास करने का नाम पयूषण है।

पज्जोसवण, परिवसणा, पजुसणा, वासावासो य (नि० चू० १०) ये सवशब्द एकार्थवाची हैं।

पर्युषण (पर्युपशमन) के व्युत्पत्तिपरक दो अर्थ निकलते हैं—(१) जिसमे क्रोधादि भावो का सर्वतः उपशमन किया जाय अथवा (२) जिसमे जघन्य रूप मे ७० दिन और उत्कृष्ट रूप मे चार मास पर्यन्त एक स्थान मे वास किया जाय। (ऊपर के उद्धरण में जो छह मास का उल्लेख है वह विचारणीय है।)

प्रथम अर्थ का सबघ अभेदरूप से मुनि, श्रावक सभी पर लागू होता है। कोई भी कभी भी क्रोधादि के उपशमन (पर्यूषण) को कर सकता है। पर, द्वितीय अर्थ मे साधु की अपेक्षा ही मुख्य है, उसे चतुर्मास करना ही चाहिए। यदि कोई श्रावक चार मास की लम्बी अवधि तक एकत्र वास कर धर्म साधन करना चाहे तो उसके लिए भी रोक नहीं। पर, उसे चतुर्मास अनिवार्य नही है। अनिवार्यतः का अभाव होने के कारण ही श्रावकों में दिगम्बर दस और श्वेताम्बर आठ दिन की मर्यादित अवधि तक इसे मानते हैं और ऐसी ही परम्परा है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्परायें ऐसा मानती है कि उत्कृष्ट पर्यूषण चार मास का होता है। इसी हेतु इसे चतुर्मास नाम से कहा जाता है। दोनों ही सम्प्रदाय के साधु चार मास एक स्थान पर ही वास करते हुए तपस्याओ को करते हैं। यतः उन दिनो (वर्षा ऋतु) में जीवोत्पत्ति विशेष होती है। और हिंसादि दोष होने की अधिक सम्भावना रहती है और साधु को हिंसादि पाप सर्वथा वर्ज्य है।—उसे महाव्रती कहा गया है।

"पज्जुसवणा कल्पका वर्णन दोनों सम्प्रदायो में है। दिगम्बरो के भगवती आराधना (मूलाराधना) में लिखा है:—

"पज्जोसमणकप्पो नाम दशमः। वर्षाकालस्य चतुर्षुमासेषु एकत्रावस्थानं भ्रमण त्यागः। विंशत्यधिक दिवसशत एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः कारण पेक्षया तु हीनाधिकं वाऽवस्थानम्।

पज्जोसवण नामक दसवा कल्प है। वर्षाकाल के चार मासो मे एकत्र ठहरना—अन्यत्र भ्रमण का त्याग करना, एक सौ बीस दिन एक स्थान पर ठहरना उत्सर्ग मार्ग है। कारण विशेष होने पर हीन वा अधिक दिन भी हो सकते हैं। भगवती आरा० (मूला रा०) आश्वास ४ पृ० ६१६।

श्वेताम्बरो मे 'पर्यूषणाकल्प' के प्रसंग मे जीतकल्प सूत्र मे लिखा है—

'चाउम्मासुक्कोसे, सत्तरि राइंदिया जहण्णेण।
ठितमट्ठितगेमतरे, कारणे वच्चासितऽणयरे।।—

—जीत क० २०९५ पृ० १७९

विवरण—'उत्कर्षतः पर्युषणाकल्पश्चतुर्मासं यावद्भवति, आषाढ़ पूर्णिमायाः कार्तिकपूर्णिमां यावदित्यर्थः। जघन्यतः पुनः सप्ततिरात्रिदिनानि, भाद्रपदशुक्लपञ्चम्याः कार्तिकपूर्णिमां यावदित्यर्थः—अशिवादौ कारणे समुत्पन्ने एकतरस्मिन् मासकल्पे पर्युषणाकल्पे वा व्यत्यासित विपर्यस्तमपि कुर्युः।'

—अभि० रा० भाग०-५ पृ० २५४

पर्यूषण कल्प के समय की उत्कृष्ट मर्यादा चतुर्मास १२० दिन रात्रि) है। जघन्य मर्यादा भाद्रपदशुक्ला पंचमी से प्रारम्भ कर कार्तिक पूर्णिमा तक (सत्तर दिन) की है।—कारण विशेष होने पर विपर्यास भी हो सकता है—ऐसा उक्त कथन का भाव है।

इस प्रकार जैनों के सभी सम्प्रदायों मे पर्व के विषय में अर्थ भेद नहीं है और ना ही समय की उत्कृष्ट मर्यादा में ही भेद है। यदि भेद है तो इतना ही है कि '(१) दिगम्बर श्रावक इस पर्व को धर्मपरक १० भेदों (उत्तम-क्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य संयम-तपस्त्याग, त्याग अकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः) की अपेक्षा मनाते है और प्रत्येक दिन एक धर्म का व्याख्यान करते है। जब कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रावक इसे आठ दिन मनाते है। वहां इन दिनों मे कही कल्पसूत्र की वाचना होती है और कही अन्तः कृत सूत्रकृतांग की वाचना होती है। और पर्व को दिन की गणना आठ होने से 'अष्ट'—आन्हिक(अष्टान्हिक-अठाई) कहते हैं। साधुओं का पयूषण तो चार माम ही है।

दिगम्बरों में उक्त पर्व भाद्रपद शुक्ला पचमी से प्रारम्भ होता है और श्वेताम्बरो मे पचमी को पूर्ण होता है। दोनो सम्प्रदायों मे दिनो का इतना अन्तर क्यो ? ये शोध का विषय है। और यह प्रश्न कई बार उठा भी है। समझ वाले लोगो ने पारस्परिक सौहार्द वृद्धि हेतु ऐसे प्रयत्न भी किए हैं कि पयूषण मनाने की तिथियां दोनो मे एक ही हों। पर, वे असफल रहे है।

पर्युषण के प्रसग मे और सामान्यतः भी, जब हम तप प्रोषध आदि के लिए विशिष्ट रूप से निश्चित तिथियो पर विचार करते है तब हमे विशेष निर्देश मिलता है कि—

"एव पर्वसु सर्वेसु चतुर्मास्या च हायने।
जन्मन्यपि यथाशक्ति स्व-स्व सत्कर्मणा कृति ॥"

—धर्म स० ६६ पृ० २३८

—वर्ष के चतुर्मास के सर्व पर्वों मे और जीवन में भी यथा शक्ति स्व-स्व धार्मिक कृत्य करने चाहिए। (यह विशेषतः गृहस्थ धर्म है)। इसी श्लोक की व्याख्या में पर्वों के संबंध मे कहा गया है कि—

"तत्र पर्वाणि चैवमूचः—
'अट्ठम्मि चउद्दसि पुण्णिमा य तहा मावसा हवइ पव्वं
मासंमि पव्व छक्कं, तिन्नि अ पव्वाई पक्खंमि ॥'

'चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णमासी त्ति सूत्रप्रामाण्यात्, महानिशीथेतु ज्ञान पचम्यपि पर्वत्वेन विश्रुता। 'अट्ठमी चउद्दसीसुं नाण पंचमीसु उववास न करेइ पच्छित्तमित्यादिवचनात्। —एपु पर्वसु कृत्यानि यथा—पौषधकरण प्रति पर्व तत्करणाशक्तौ तु अष्टम्यादिषु नियमेन। यदागमः,

'सव्वेसु कालपव्वेसु, पसत्थो जिणमए हवइ जोगो।
अट्ठमि चउद्दसीसु अ नियमेण हवइ पोसहिओ ॥'

—धर्म स० (व्याख्या) ६६

—पर्व इस प्रकार कहे गये है—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या, ये मास के ६ पर्व हैं और पक्ष के ३ पर्व है। इसमे 'चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासु' यह सूत्र प्रमाण है। महानिशीथ मे ज्ञान पचमी को भी पर्व प्रसिद्ध किया है। अष्टमी, चतुर्दशी और ज्ञान पंचमी को उपवास न करने पर प्रायश्चित का विधान है।…इन पर्वों के कृत्यों में प्रोषध करना चाहिए। यदि प्रति पर्व मे उपवास की शक्ति न हो तो अष्टमी, चतुर्दशी को नियम से करना चाहिए। आगम मे भी कहा है—'जिनमत मे सर्व निश्चित पर्वों मे योग को प्रशस्त कहा है और अष्टमी, चतुर्दशी के प्रोषध को नियमतः करना बतलाया है।

उक्त प्रसंग के अनुसार जब हम दिगम्बरो मे देखते है तब ज्ञान होता है कि उनके पर्व पचमी से प्रारम्भ होकर (रत्नत्रय सहित) मासान्त तक चलते है, और उनमें आगमविहित उक्त सर्व (पचमी, अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा) पर्व आ जाते है।, जब कि श्वेताम्बरों मे प्रचलित पर्व दिनों में अष्टमी का दिन छूट जाता है—उसकी पूर्ति होनी चाहिए। बिना पूर्ति हुए आगम की आज्ञा 'नियमेण हवइ पोसहिओ' का उल्लंघन ही होता है। वैसे भी इसमे किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए कि पर्युषण काल मे अधिक से अधिक प्रोषध की तिथियों का समावेश

रहे। यह समावेश और जैनियों के विभिन्न पर्वों की पूर्व तिथियों मे एक रूपता भी, तभी सभव हो सकती है जब पर्व भाद्रपद शुक्ला पचमी से ही प्रारम्भ माने जाय।

कल्पसूत्र के पर्यूषण समाचारी में लिखा है —'समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वइक्कते वासावासं पज्जोसेवइ।' इस 'पज्जोसेवइ' पद का अर्थ अभिधान राजेन्द्र पृ० २३६ भा० ५ मे 'पर्यूषणामकार्षीत्' किया है। अर्थात् 'पर्यूषण' करते थे। और दूसरी ओर कल्पसूत्र नवम क्षण मे श्री विजयगणि ने इस पद की टीका करते हुए इसकी पुष्टि की है (देखें पृष्ठ २६८)—

'तेनार्थेन तेन कारणेन हे शिष्याः ? एवमुच्यते, वर्षाणा विशति रात्रियुक्ते मासे अतिक्रान्ते पर्युषणमकार्षीत् ।' दूसरी ओर पर्यूपणाकल्प चूर्णि म 'अन्नया पज्जोसवणादिवसे आगए अज्जकालगेण सालिवाहणं भणिओ भद्दवजुण्हपचमीए पज्जोसवणा'—(पज्जोसविज्जइ) उल्लेख भी है। —अभि० पृ० २३८

उक्त उद्धरणो मे स्पष्ट है कि म० महावीर पर्यूषण करते थे और वह दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी था। इस प्रकार पचमी का दिन निश्चित होने पर भी 'पंचमीए' पद की विभक्ति ने सन्देह की गुजाइश रह जाती है कि पर्यूषणा पंचमी मे होती थी अथवा पंचमी मे होती थी। क्योंकि व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'पचमीए' रूप तीसरी पंचमी और सातवी तीनों ही विभक्ति का हो सकता है।

यदि ऐसा माना जाय कि केवल पचमी मे ही पर्यूषण है तो पर्यूषण को ७–८ या कम-अधिक दिन मनाने का कोई अर्थ ही नही रह जाता, और ना ही अष्टमी के प्रोषध की अनिवार्यता सिद्ध होती है जबकि अष्टमी को नियम से प्रोषध होना चाहिए। हाँ, पंचमी से पर्यूषण हो तो आगे के दिनो में आठ या दस दिनो की गणना को पूरा किया जा सकता है और अष्टमी को प्रोषध भी किया जा सकता है। सभवतः इसालिए कोषकार ने 'भाद्रपद शुक्ल पचम्या अनन्तर' पृ० २५३ और 'भाद्रपद शुक्ल पंचम्या कार्तिक पूर्णिमां यावदित्यर्थ.'—पृ० २५४ में लिख दिया है। यहाँ पचमी विभक्ति की स्वीकृति से स्पष्ट होता है कि 'पंचमीए' का अर्थ 'पंचमी से' होना चाहिए। इस अर्थ की स्वीकृति से अष्टमी के प्रोषध के नियम की पूर्ति भी हो जाती है। क्योंकि पर्व में अष्टमी के दिन का समावेश इसी रीति में शक्य है। 'अनन्तर' से तो सन्देह को स्थान ही नही रह जाता कि पचमी से पर्यूषण शुरू होता है और पर्यूषण के जघन्यकाल ७० दिन की पूर्ति भी इसी भाँति होती है।

दिगम्बर जैनो मे कार्तिक फाल्गुन और आषाढ़ में अन्त के आठ दिनों मे (अष्टमी से पूर्णिमा) अष्टाह्निका पर्व माने है ऐसी मान्यता है कि देवगण नन्दीश्वर द्वीप मे इन दिनों अकृत्रिम जिन मन्दिरो बिम्बों के दर्शन पूजन को जाते है। देवों के नन्दीश्वर द्वीप जाने की मान्यता श्वेताम्बरो मे भी है। श्वेताम्बरो की अष्टाह्निका की पर्व तिथियां चैत्र सुदी ८ से १५ तक तथा आसोज सुदी ८ १५ तक है। तीसरी तिथि जो (संभवतः) भाद्र वदी १३ से सुदी ५ तक प्रचलित है, होगी। यह तीसरी तिथि सुदी ८ से प्रारम्भ क्यों नही ? यह विचारणीय ही है—जब कि दो बार की तिथिया अष्टमी से शुरू हैं।

हो सकता है—तीर्थंकर महावीर के द्वारा वर्षा ऋतु के ५० दिन बाद पर्यूषण मनाने से ही यह तिथि परिवर्तन हुआ हो। पर यदि ५० दिन के भीतर किसी भी दिन शुरू करने की बात है[1] तब इस अष्टाह्निका को पंचमी के पूर्व मे शुरू न कर पंचमी से ही शुरू करना युक्ति सगत है। ऐसा करने से 'सवीसराए मासे वइक्कते (बीतने पर)' की बात भी रह जाती है और 'सत्तरिराइदिया जहण्णेणं' की बात भी रह जाती है। साथ ही पर्व की तिथियां (पचमी, अष्टमी, चतुर्दशी) भी अष्टाह्निका में समाविष्ट रह जाती है जो कि प्रोषध के लिए अनिवार्य हैं।

एक बात और स्मरण रखनी चाहिए कि जैनों में पर्व सम्बन्धी तिथि काल का निश्चय सूर्योदय काल से ही करना आगम सम्मत है। जो लोग इसके विपरीत अन्य कोई प्रक्रिया अपनाते हों उन्हे भी आगम के वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए—

(शेष पृष्ठ १० पर)

१. मुनियो का वर्षावास चतुर्मास लगन से लेकर ५० दिन बीतने तक कभी भी प्रारम्भ हो सकता है अर्थात् आषाढ़ शुक्ला १४ से लेकर भाद्रपद शुक्ल ५ तक किसी भी दिन शुरू हो सकता है।'—जैन-आचार (मेहता) पृ० १८७

जैन साहित्य में विन्ध्य अंचल

□ डा० विद्याधर जोहरापुरकर

जैन साहित्य मे विन्ध्य क्षेत्र के वर्णनो को तीन प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है—१ तीर्थभूमि के रूप मे २. कथाभूमि के रूप मे ३. उपमान के रूप मे। इनका विवरण इस प्रकार है :—

तीर्थभूमि के रूप में

पांचवीं या छठी शताब्दी मे आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित निर्वाणभक्ति मे पुण्यपुरुषों के निवास या निर्वाण के कारण पवित्र हुए स्थानो की नामावली है जिसमे विन्ध्य का भी समावेश है।[१] यद्यपि विन्ध्य क्षेत्र का कौन-विशिष्ट स्थान उनकी दृष्टि मे था यह स्पष्ट नहीं है।

बारहवी या तेरहवी शताब्दी में आचार्य मदनकीर्ति द्वारा रचित शासनचतुस्त्रिंशिका मे भी तीर्थभूमि के रूप में विन्ध्य की प्रशंसा मे एक श्लोक मिलता है।[२] इसमे भी किसी विशिष्ट स्थान का संकेत नहीं है।

विन्ध्य क्षेत्र मे विशिष्ट स्थान का सर्वप्रथम वर्णन आचार्य रविषेण द्वारा सन् ६७७ मे रचित पद्मचरित मे मिलता है। इसमे कथन मे[३] कि इन्द्रजीत् के साथ मेघनाथ तपस्या करते हुए विन्ध्य अरण्य मे जहां रहे वह स्थान मेघरव तीर्थ कहलाया।

निर्वाणकाण्ड मे कुम्भकर्ण और इन्द्रजीत का निर्वाण-स्थान बडवानी के समीप चूलगिरि बताया है[४] जो विन्ध्य-क्षेत्र मे ही है। निर्वाणकाण्ड की कुछ प्रतियो मे रविषेण के वर्णन का अनुवाद करने वाली एक गाथा मिलती है।[५] सत्रहवी शताब्दी मे रचित निर्वाणकाण्ड के हिन्दी अनुवाद मे इस गाथा का समावेश नहीं है परन्तु उसी समय के मराठी अनुवाद मे उसका समावेश है।[६] बडवानी के विषय मेंहम एक लेख अनेकान्त मे लिख चुके है अत: यहा उससे सम्बन्धित अन्य उल्लेखो की चर्चा नहीं की गई है।

विन्ध्य क्षेत्र के दूसरे विशिष्ट स्थान का उल्लेख कृष्ण-कथा से सम्बन्ध रखता है। आचार्य हरिषेण द्वारा सन्-९६२ में रचित बृहत् कथाकोष की कथा १०६ में बताया गया है कि नन्दगोप की जो कन्या कृष्ण के स्थान पर कंस को बतायी गई थी वह आगे चलकर तपस्या करती हुई विन्ध्य क्षेत्र मे रही और वहां के दस्यु उसकी पूजा करने लगे।[७] आचार्य श्रीचन्द्र द्वारा सन् १०६६ के लगभग रचित कथाकोष में भी उपर्युक्त कथा है और उपर्युक्त देवी की उपासना विन्ध्यवासिनी दुर्गा के नाम मे होने का कथन है।[८] विन्ध्यवासिनी देवी का मन्दिर वर्तमान समय मे भी प्रसिद्ध तीर्थ है। कथाकोषो से पूर्व हरिवंशपुराण और उत्तरपुराण मे भी यही कथा मिलती है।

जिनप्रभसूरि द्वारा सन् १३३२ मे रचित विविध तीर्थकल्प मे श्रेयांस और मुनिसुव्रत तीर्थंकरो के मन्दिर विन्ध्यक्षेत्र मे होने का कथन मिलता है परन्तु स्थान नाम नहीं बताये है।[९]

कथाभूमि के रूप में

आचार्य जिनसेन द्वारा नौवी शताब्दी के मध्य मे रचित महापुराण मे भरत चक्रवर्ती के दिग्विजय वर्णन मे

(पृ० ९ का शेषांश)

'चाउम्मास अवरिम, पक्खि अ पचमीट्ठमीसु नायव्वा।
ताओ तिहीओ जासि, उदेइ सूरो न अण्णाउ ॥१॥
पूआ पच्चक्खाण पडिकमण तइय निअम गहणं च।
जीए उदेइ सूरो तीइ तिहीए उ कायव्व ॥२॥'

धर्म स० पृ० २३६

वर्ष के चतुर्मास मे चतुर्दशी पचमी और अष्टमी को उन्ही दिनो मे जानना चाहिए जिनमे सूर्योदय हो, अन्य प्रकार नही। पूजा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और नियम निर्धारण उसी तिथि मे करना चाहिए जिस तिथि मे सूर्योदय हो। कृपया विद्वान विचार दें।

—वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज,
नई दिल्ली-२

□ □

तीस श्लोकों में विन्ध्य क्षेत्र का वर्णन मिलता है।[10] आचार्य कहते हैं कि यह पर्वतराज ऊंचा है, इसके वंश (—बांस) विस्तीर्ण हैं और इसे लांघना कठिन है। इसके शिखरों से बहते हुए झरने विमानों की पताकाओं जैसे दिखते है। यह पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैला है। अनेक नदियां इसकी वधुयें हैं। बांस और हाथियों के मस्तकों से निकले मोती इसमें बिखरते है। अनेक रंगों की धातुयें यहां मिलती हैं। जब दावानल भडकता है तो इसके शिखर मानो सुवर्णवेष्टित दिखते हैं। इसमें बड़े-बड़े हाथी और भुजंग रहते है। किरात लोग उपहार के रूप मे गजदन्त राजा को अर्पित करते है। इसके बीचोंबीच नर्मदा नदी भूमिरूपी महिला की वेणी के समान दिखती है।

नौवी शताब्दी मे ही आचार्य शीलांक द्वारा रचित चउपन्नमहापुरिसचरिय मे मेघकुमार के पूर्वभव वर्णन मे बताया गया है कि विकट शिखरों से भरे, ऊंचे वृक्षों से व्याप्त, हजारों श्वापदो मे परिपूर्ण विन्ध्य अरण्य मे वह पांच सौ हाथियों के झुंड का स्वामी था।[11]

कुछ सन्दर्भों में विन्ध्य का नाममात्र उल्लिखित है—वर्णन नहीं है। सन् ७८३ मे पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन द्वारा रचित हरिवंशपुराण मे कथन है कि विन्ध्यक्षेत्र मे राजा अभिचन्द्र ने चेदिराष्ट्र मे शुक्तिमती नगर की स्थापना की।[12] बृहत्कथाकोष (जिसका एक सन्दर्भ ऊपर आ चुका है) की कथा ११८ मे कथन है कि श्री कृष्ण की मृत्यु का कारण मैं बनूंगा यह सुनकर जरत्कुमार ने द्वारावती छोड़कर विन्ध्यपर्वत क्षेत्र मे विन्ध्यपुर मे रहना शुरू किया।[13] आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण मे राजा श्रेणिक के पूर्वभव वर्णन मे बताया है कि वह विन्ध्यक्षेत्र मे एक वनचर था।[14]

उपमान के रूप में

सन् १०१३ मे आचार्य अमितगति द्वारा रचित धर्मपरीक्षा मे कथन है कि तिलोत्तमा के विलासविभ्रम देखकर ब्रह्माजी का हृदय उसी प्रकार विदीर्ण हुआ जैसे नर्मदा से विन्ध्याचल विदीर्ण हुआ है।[15]

सन् १०२५ मे आचार्य वादिराज द्वारा रचित पार्श्वचरित मे कथन है कि सूर्य के समान अन्धकार के विस्तार को दूर करने वाला प्रभु का उपदेश जिस चित्त मे स्थान नहीं पाता वह दम्भ और मोह से युक्त चित्त विन्ध्य पर्वत की गुहा के समान ही कालेपन को नहीं छोड़ता।[13]

सन् १०७७ मे आचार्य पद्मकीर्ति द्वारा रचित पासणाहचारिउ मे पार्श्वनाथ और यवनराज के युद्ध के वर्णन मे दो योद्धाओं के द्वन्द्व का वर्णन इन शब्दों में है—वे अभिमानी महारथ ऐसे भिडे जैसे असुरेन्द्र और सुरेन्द्र हो या उत्तर और दक्षिण दिशाओं के गजेन्द्र हों या सह्य और विन्ध्य पर्वतराज भिडे हों।[17]

सन् १३४८ में राजशेखर सूरि द्वारा रचित प्रबन्धकोष में बप्पभट्टि सूरि प्रबन्ध में कथन है कि जब बप्पभट्टि राजा आम के राज्य को छोड़कर धर्मपाल के राज्य में चले गये तो दुखी होकर आम राजा ने उनके पास यह सन्देश भेजा— विन्ध्य पर्वत के बिना भी राजाओं के महलों मे बड़े हाथी होते है और बहुत से हाथी चले गये तो भी विन्ध्यपर्वत वन्ध्य नहीं होता। तात्पर्य यह है कि राजा और विद्वान् एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते ऐसा नहीं है। परन्तु जैसे सरोवर राजहंस की और राजहंस सरोवर की शोभा बढाने में सहयोगी है उसी प्रकार राजा विद्वान् की और विद्वान राजा की प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहयोगी होते हैं।[18]

सन्दर्भ—

१. निर्वाण भक्ति श्लोक २९ द्रोणीमति प्रबलकुण्डलमेढ़के च वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे। ऋष्यद्रिके च विपुलाद्रिबलाहके च विन्ध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च॥

२. शासन चतुस्त्रिंशिका श्लोक ३२ यस्मिन् भूरिविधातुरेकमनसो भक्ति नरस्याधुना तत्काल जगतां त्रयेऽपि विदिता जैनेन्द्रबिम्बालयाः। प्रत्यक्षा इव भान्ति निर्मलदृशो देवेश्वराभ्यर्चिताः विन्ध्ये भूरुहि भासुरेऽतिमहिते दिग्वाससां शासनम्॥

३. पद्मचरित सर्ग ८० श्लोक १३६ विन्ध्यारण्यमहास्थल्यां सार्धमिन्द्रजिता यतः। मेघनादः स्थितस्तेन तीर्थं मेघरव स्मृतम्॥

४. निर्वाणकाण्ड गाथा १२ बडवाणीवरणयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे। इंदजियकुंभयण्णा णिव्वाणगया णमो तेसिं॥ (शेष पृष्ठ १४ पर)

आज के संदर्भ में एक समीक्षा

जैनधर्म के पांच अणुव्रत

□ श्री विनोदकुमार तिवारी

जैन धर्म की शिक्षाओं एवं नियमों के लिए स्वयं महावीर स्वामी के जीवन चरित्र से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। उनका जीवन स्वयं ही आज के जैन बन्धुओं के लिए एक शिक्षा है, जिस पर विवेक और विचार की आवश्यकता है। जैन धर्म में मुख्य पांच व्रत है—अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अपरिग्रह और अमैथुन, अर्थात हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, परिग्रह मत रखो और व्यभिचार मत करो। इन सबो पर अलग-अलग विचार की आवश्यकता है, पर उपरोक्त व्रतों से यह तो स्पष्ट होता ही है कि इनके द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियो का नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया गया है जो समाज मे मुख्य रूप से वैर-विरोध की जनक हुआ करती है। व्यक्ति मूलतः अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर ही सारी क्रियाएं करता है और जब तक उसे अच्छी और बुरी क्रियाओ का मापदण्ड नही मिलता, वह अपने आप पर अकुश नही लगा सकता। हिंसा, चोरी, दुराचार, झूठ और परिग्रह ये पाचो बुरे कार्य है, सामाजिक पाप है और जितने ही अंश मे व्यक्ति इनका परित्याग करेगा, उतना ही वह सौम्य और समाज हितैषी माना जायेगा और अगर इन पाचो पापों को न करने का व्रत ले लिया जाए, तो समाज और देश विवेकशील, नैतिक, शुद्ध और प्रगतिशील बन सकता है। और आत्मा की शुद्धि भी हो सकती है इसलिए प्रत्येक व्रत का स्वरूप अलग-अलग जान लेना आवश्यक है।

प्रमाद के योग से प्राणियो के प्राणों का घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है। अहिंसा पाच व्रतों का केन्द्र बिन्दु है और शेष व्रत इसके सहायक हैं, आधार हैं, ठीक वैसे ही जैसे अन्न के खेत की रक्षा और रखवाली के लिए उसके चारों तरफ चारदीवारी बना दी जाती है। इन नैतिकताओ को पूरी तरह मानने वाले को 'महाव्रती' और अंशतः मानने वाले को 'अणुव्रती' कहा जाता है।

जैनधर्म के सिद्धान्तो के अनुसार हिंसा तीन तरह की हो सकती है—मानसिक, शारीरिक और मौखिक। लोग प्रायः कहते है कि ऐसा कोई भी कार्य नही है जिसमे हिंसा न हो, अर्थात् खाने-पीने, चलने-फिरने और श्वास लेने मे भी जीवहिंसा होती है। यह कथन सत्य भी है, पर इसका यह तात्पर्य नही कि अहिंसा अव्यवहार्य है। जैन मत के अनुसार यदि सावधानी रखते हुए किसी से कोई मर जाता है अथवा दुखी हो जाता है, तो यह हिंसा नही होती संसार मे हर जगह विशाल और सूक्ष्म जीव है और वे अपने निमित्त मरते भी है, पर इस जीव घात को हिंसा नही कहा जा सकता। वास्तव मे हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। अगर एक शिकारी बन्दूक लेकर बैठा हो और सारे दिन वह एक भी शिकार न कर पाये, तो भी वह पापी ही कहा जायेगा, क्योकि उसका मन जीवहत्या मे रम रहा है। पर वही दूसरी तरफ एक किसान अपने खेत मे हल चला रहा हो और उसके परिणामस्वरूप असख्य जीवो का घात हो रहा हो, तो भी वह किसान सकल्पी हिंसक नही कहा जा सकता, क्योकि उसकी इच्छा और अभिलाषा खेत जोतकर अनाज पैदा करने मे है, जीवो को मारने मे नहीं। अतः यद्यपि प्रत्येक क्रिया मन, वचन, और शरीर से होती है, पर वचन और शरीर से होने वाली क्रिया का मूल भी मन ही है, अतः मन को सावधान रखने का प्रयत्न करना चाहिए। मन की चचलता व्यक्ति को कहाँ से कहां ले जाती है और इस दौरान व्यक्ति अपना लक्ष्य भूल जाता है। फलस्वरूप वह द्यूत, आखेट, मद्यपान और मांसाहार का शिकार हो जाता है। एक अहिंसाव्रती को इन चीजो से सावधान रहना चाहिए और तभी वह सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दुख के कारणों पर विचार कर सकता है तथा इनका समाधान कर सकता है।

सत्याणुव्रत पालक को सदा हित और मित बोलना चाहिए, किसी बात को घटा-बढ़ाकर नहीं रखना चाहिए

उसे दूसरों की बुराई नहीं करनी चाहिए और असभ्य वचन नहीं बोलना चाहिए।

वचन के चार प्रकार होते हैं—कुछ वचन तो असत्य होते हुए भी सत्य माने जाते हैं—जैसे 'वस्त्र बुनता है।' यहां पर वस्त्र बुनना यद्यपि असत्य है, किन्तु लोक व्यवहार में प्रचलित होने से उसे सत्य माना जाता है। कुछ वचन सत्य होते हुए भी असत्य होते है—जैसे कोई व्यक्ति दस दिनो पर किसी वस्तु को देने का वादा करके भी समय पर नही देता, वरन पन्द्रह दिनो बाद देता है। कुछ वचन सत्य-सत्य कहे जाते है—जैसे जिस वस्तु को जैसा देखा गया है, वैसा ही कहना सत्य-सत्य है। चौथा वचन असत्यासत्य है, जिसे सफेद झूठ की संज्ञा दी जा सकती है।

उपरोक्त अनुदेशो का शत् प्रतिशत पालन तो कोई मुनि ही कर सकता है, अतः इसे मानने वाले को सत्य महाव्रती कहा जाता है। पर गृहस्थ और सामान्य जीवन के क्रम मे कोई व्यक्ति इन निर्देशो का अक्षरशः पालन नही कर सकता, अतः वैसे सत्य को सत्य अणुव्रत कहा जा सकता है। अगर किसी वचन से किसी भी तरह की सत्य हिंसा होती है, तो वैसा नही बोलना चाहिए। अन्ततः सत्य तथा असत्य की अहिंसा और हिंसा की तुलना की जा सकती है और सत्य वचन से ही अहिंसा सभव भी है।

अस्तेय जैनधर्म का तीसरा व्रत है और इसका साधारणतः अर्थ होता है 'पराई वस्तु को ग्रहण न करना।' जो मनुष्य निर्मल अचौर्यव्रत का पालन करते है, वे किसी भी वस्तु को लेने के अधिकारी नही होते, जब तक कि वह वस्तु उन्हें सौंप न दी जाए। दूसरी तरफ अस्तयाणुव्रत पालन करने वाले व्यक्ति आम तौर से प्राकृतिक वस्तुओ का उपयोग—उपभोग कर सकते है, जैसे पानी, घास, मिट्टी वगैरह। किसी के द्वारा छूट गई या भूली हुई वस्तु को स्वय लेना या दूसरे को सौप देना इस नियम के प्रतिकूल है। जिस धन का कोई मालिक नहीं होता, वह राज्य का होता है तथा उसे स्वयं रख लेना उचित नही कहा जा सकता। चुराने के विचार से किसी वस्तु को उठाना चोरी के उपाय बतलाना, चोरी का सामान खरीदना, कम या अधिक तौलना और गलत तरीके से धन कमाना ये सभी जैन सिद्धान्त के विरुद्ध हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार बाह्य और अभ्यन्तर वस्तुओं के प्रति लालसा रखना ही परिग्रह है। बाह्य परिग्रहों में खेत, धान्य, धन, बरतन, आसन, शय्या, दास-दासी, पशु और वस्त्र आते हैं, जबकि अन्तरंग परिग्रह चौदह हैं—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ। अगर आन्तरिक परिग्रह से छुटकारा पाना हो, तो बाह्य सपति को अपने से अलग हटाना ही होगा। परिग्रह से ही हिंसा बढ़ती है, अतः बुद्धिमान गृहस्थ को इससे अपना मन हटाना चाहिए, तभी वह परिग्रह परिमाणव्रत का पालन कर सकता है। जब अपने साथ जन्म लेने वाला शरीर ही बिछुड़ जाता है, तब धन सम्पत्ति और स्त्री-पुत्र की चिन्ता करने से क्या लाभ होगा!

वर्तमान परिस्थितियो मे अपरिग्रह का सिद्धान्त हमारे लिये इसलिये भी आवश्यक हो जाता है, क्योंकि इसी के द्वारा समाज और देश से आर्थिक असमानता को दूर किया जा सकता है और हर व्यक्ति अपनी जरूरत की आवश्यक वस्तु पा सकता है। आज धन-सम्पत्ति, भूमि और प्रतिष्ठा के पीछे व्यक्ति पागल हो रहा है, जिससे व्यक्ति-व्यक्ति के तथा राष्ट्र, राष्ट्र के बीच तनाव बढ़ रहा है। अपरिग्रह पूंजीवाद और कम्युनिज्मवाद के बीच की चीज है, जिस पर चलकर वास्तविक समाजवाद की प्राप्ति की जा सकती है।

जैनधर्म का अन्तिम और महत्वपूर्ण व्रत है ब्रह्मचर्य। जो व्यक्ति अपने आपको काम विकार से पूर्णतः मुक्त कर लेता है, वह ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करता है। आदर्श गृहस्थ को ऐसी वार्ता नही करनी चाहिए, जो कामोद्दीपक हो, ऐसे रसो का सेवन नही करना चाहिए, जिससे काम-विकार की वृद्धि हो और न ऐसी पुस्तकें ही पढ़नी चाहिए। परायी स्त्री के साथ रमण करना, अप्राकृतिक व्यभिचार करना, दूसरों के विवाह कराने में आनन्द लेना—ये सारी बाते ब्रह्मचर्यव्रत की घातक हैं और इनसे अपने आपको अलग रखना सच्चे अर्थों मे इस नियम का पालन करना है।

भगवान महावीर द्वारा इस अणुव्रत को विशेष महत्व देने के पीछे भी एक कारण था। छठी शताब्दी ई० पू०

का महावीर कालीन धर्म और समाज पूरी तरह व्यभिचार जातिवाद, हिंसा और भ्रष्टाचार के शिकजे मे जकड़ा पड़ा था। तत्कालीन हिन्दू धर्म के ठेकेदारो ने मन्दिरों और मठों में देशवासियों के रहने की प्रथा का प्रचलन कर दिया था, जिससे धार्मिक अनुष्ठानो पर चोट तो पहुंचती ही थी, धर्म के नाम पर विलासिता भी बढ़ती जा रही थी। दूसरी तरफ समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही थी और वे मात्र भोग-विलास की वस्तु बनकर रह गयी थी। आगे चलकर कई स्त्रियों का वर्णन आता है, जो न सिर्फ अपने समाज और वर्ण, वरन् राष्ट्रीय समस्याओं पर भी अपना विचार देने की क्षमता रखने लगीं और समाज में उनका स्थान प्रतिष्ठा एवं गौरव का हो गया। ऐसे समय में भ० महावीर ने पुन: इन व्रतों की व्याख्या कर धर्म को स्थिर रखा।

जैनधर्म के उपरोक्त पाँचो व्रतों और नैतिक नियमों पर ध्यान देने से पता चलता है कि उनका सम्बन्ध मात्र जैनधर्म से न होकर परिवार, समाज और राष्ट्रीय नीतियों एव सिद्धान्तों से है। इनके पीछे जहाँ आध्यात्मिक भावना है, वही यह विश्व की प्रगति, शान्ति और सहृदयता में सहायक हो सकती है। आज विश्व मे हिंसा, व्यभिचार और कटुता बढ़ती जा रही है। क्या हम जैनधर्म के पंच-अणुव्रत के माध्यम से इन्हे समाप्त करने मे समर्थ नहीं हो सकते? अवश्य ही!

—व्याख्याता इतिहास विभाग.
यू० आर० कालेज, रोसड़ा
(समस्तीपुर)

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

५. विंझाचलम्मि रण्णे मेघणादो इंदजियमहिय। मेघवरणाम तित्थं णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

६. महाशैल विन्ध्याचल दृष्टि पाहा तया मस्तकी तीर्थ आहेति माहा। तेथे मेघनाद मुनि इद्रजया। मेघवर्ष तीर्थ झाली मुक्ति श्रिया॥
(तीर्थनन्दनसंग्रह में चिमणा पडित की तीर्थ वन्दना में)

७. बृहत्कथाकोष कथा १०६ श्लोक २५७ स्थापयित्वा यतो दुर्गे विन्ध्ये भक्तिपरायणैः। दस्युभिः पूजिता सा च नता पुष्पकदम्बकैः॥

८. कथाकोष संधि ४२ कडवक २१ सहु सघेण खवती कलिमलु गय विहरति सा विंझाचलु। दुग्ग विंझभिल्लेहि पवत्तिय दुग्ग विंझवासिणि ते वुत्तिय॥

९. विविधतीर्थकल्प प्रकरण ४५ विन्ध्याद्रौ मलयगिरौ च श्री श्रेयांसः। प्रतिष्ठानपुरे अयोध्यायां विन्ध्याचले माणिक्यदण्डके मुनिसुव्रतः।

१०. महापुराण पर्व ३० श्लोक ६५ से ६४ भूभृतां पतिमुत्तुंगं पृथुवश धृतायतिम्। परैरलघ्यमद्राक्षीद् विन्ध्याद्रिं स्वमिव प्रभुः॥इत्यादि।

११. चउपन्नमहापुरिसचरिय पृ० ३०६ वियडगिरिकडयकूडनिविडम्मि उद्धुद्धाइयतुंगतरुसकडिल्लम्मि बहुसावयसहस्ससकुलम्मि विंझाडइरण्णगहणम्मि पंचसयजूहाहिवई आसि करिराया।

१२. हरिवंशपुराण सर्ग १७ श्लो० ३६ विन्ध्यपृष्ठेऽभिचन्द्रेण चेदिराष्ट्रमधिष्ठितम्।

१३. बृहत्कथाकोष कथा ११८ ततो जरत्कुमारोऽपि हित्वा द्वारावतिं पुरीम्। कृत्वा विन्ध्यपुरं तस्थौ विन्ध्यपर्वतमस्तके॥

१४. उत्तरपुराण पर्व ७४ श्लो० ३८९।

१५. धर्मपरीक्षा परिच्छेद ११ श्लो० ४०।

१६. पार्श्वचरित सर्ग १२ श्लो० ५५ यत्रास्पदं न लभते जिन शासन ते तेजो रवेरिव तमःप्रसरापहारि। सा बन्धमोहनमयी जिन चित्तवृत्तिः न श्यामिकां त्यजति विध्यगिरेर्गुहेव॥

१७. पासणाहचरिउ संधि ११ कडवक १० ते भिडिय महारहसावलेव अवरुप्परु असुरसुरिन्द जेव। णं उत्तर दाहिण गयवरिंद णं सझ विंझ इह महिहरिंद॥

१८. प्रबन्धकोष प्रकरण ६ विंझेण विणा वि गया नरिंदभवणेसु होंति गारविया: विंझो न होई बंझो गएहिं बहुएहि वि गएहिं॥ माणसरहिएहिं सुहाइं जइ न लब्भंति रायहंसेहिं। तह तस्स वि तेहिं विणा तीरुत्तंगा न सोहंति।

—महाकोशल महाविद्यालय
जबलपुर

बुन्देलखण्ड का जैन इतिहास[1]

(माध्यमिक काल)

□ अख्तर हुसैन निजामी

बुन्देलखण्ड के माध्यमिक इतिहास के तीन युग हैं। पहला राजपूत काल, जिसमें कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्यान्तर्गत चन्देलों के राज्य मे यमुना नदी के दक्षिण महोबा, कालजर तथा खजुराहो के केन्द्र थे और खजुराहो के दसवी-ग्यारहवी शताब्दी ईसवी के जैन मंदिर आज जगत विख्यात हैं। दिल्ली की तुर्की सत्ता ने जब ग्वालियर पर अधिकार करके चन्देलो पर सेनाएँ भेजी तो चन्देल, महोबा-कालंजर से हट कर आजमगढ चले गये। जैनियो के केन्द्र एरछ, देवगढ, बानपुर, अहार, पपौरा बराबर पनपते रहे, क्योंकि वैश्य-व्यापारी का हित इसमे होता है कि नई सत्ता को सहयोग देकर उसका सरक्षण प्राप्त किया जाय।

पश्चिमी बुन्देलखण्ड में चन्देरी राज्यान्तर्गत भेलसा (विदिशा) व्यापार का केन्द्र था जिसे तेरहवीं शताब्दी के अन्त मे कडा के उपराज्यपाल ने लूटा था। इस समय की ग्रंथ-प्रशस्तियों तथा शिलालेखों पर अनुसधान की आवश्यकता है। दूसरा युग, इस समय के बुन्देलखण्ड इतिहास का, तब आया जब अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चाचा, जलालुद्दीन खिलजी को कडा तथा मानिकपुर के बीच, बहने वाली गगा नदी की मंझधार पर मारकर दिल्ली सल्तनत का भार संभाला और ऐनुल मुल्क मुलतानी को भेज कर मालवा के साथ चन्देरी को भी हस्तगत कर वहां एक राज्यपाल की नियुक्ति कर दी। जैनियों के सांस्कृतिक केन्द्र, चन्देरी के राज्यपाल ही के अधिकार में थे और यह समय चौदहवीं शताब्दी ईस्वी का प्रारम्भ है जब कि 'चन्देरी देश' मे बटिहाडिम के स्थान पर एक उपराजधानी स्थापित की गई।

माध्यमिक बुन्देलखण्ड का तीसरा युग वह है जब कि माण्डवगढ के गोरी—खिलजी नरेशों के राज्य में परमार राजपूतों की प्रशासनिक परम्परा पर पुन: वृहद मालवा अस्तित्व मे आया और चन्देरी अब मालवा की उपराजधानी बन गई और चन्देरी से बुन्देलखण्ड के उस भूभाग का शासन होता रहा जो मालवा साम्राज्य मे सम्मिलित था। शेष बुन्देलखण्ड पर यमुना नदी के नीचे पश्चिम से पूर्व केन नदी तक कालपी के मालिकजादा तुर्क शासन करते थे। दिल्ली-माण्डव काल अर्थात् चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी मे अनेको शिलालेख संस्कृत तथा देशी बोली अथवा मिश्रित भाषा में और इसी प्रकार ग्रन्थ-प्रशस्तियां एवं लिपि-प्रशस्तियाँ भी पाई गई है जो दिगम्बर जैन ग्रन्थो मे से निकाल कर आधुनिक विद्वानो ने उनका संग्रह कर दिया है। यही शिलालेख और प्रशस्तियाँ ही हमारी जानकारी के आधार हैं। बटिहाडिम मे गढ़ का निर्माण होने से उसका नामकरण बटिहागढ़ हो गया। यह बटिहागढ़ दमोह जिले की उत्तरी तहसील हटा मे स्थित है और सन १३०५ ईस्वी की खिलजी विजय के पश्चात् तुगलुक राज्यवंश के सुलतान गयासुद्दीन तथा मुहम्मद बिन तुगलुक के समय चन्देरी के मालिक जुलची तथा बटिहा के जलालउद्दीन खोजा का शासन ऐसा रहा है कि उसमें जैन प्रभाव की झलक स्पष्ट है। जुलचीपुर का गाँव, जिसे आज कल 'दुलचीपुर' कहते है, मालिक जुलची का बसाया हुआ माना जाता है और सागर जिले मे स्थित है। जुलची ने सन १३२४-२५ ई० मे एक बावली का निर्माण किया था। तथा बटिहागढ का श्रेय भी उसी को है। इसी बटिहागढ़ में उपराज्यपाल जलाल ने एक 'गोमठ' स्थापित किया जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साथ ही उसने भी एक बावली खुदवाई और एक बाग लगवाया जो

1. अवधेश प्रतापसिंह विश्वविद्यालय, रीवा की जैन विद्या गोष्ठी, १९८० में पठित।

जल्लाल बाग के नाम से अब भी जाना जाता है। किन्तु पशुओं के लिए विश्राम गृह बनवाना, यह तो जैन परम्परा का सूचक है।

भट्टारकीय पृष्ठभूमि

ईसा की पन्द्रहवी शताब्दी में गोरी-खिलजी सुलतानों के तत्त्वावधान मे बुन्देलखण्ड क्षेत्र में दिगम्बर जैनियो की गति-विधियाँ बढ़ गई थी। एक तो होशंगशाह गोरी तथा महमूद शाह खिलची जैसे महान एव महत्वाकांक्षी सुलतानों ने प्रथम स्वतंत्र शासक दिलावर की उदार एव जैन-पक्षीय नीति को आगे बढाया। दूसरे यह कि परिहारों के चन्देरी राज्य का महत्व, जो दिल्ली के खिलजी-तुगलुक सुलतानों ने चन्देरी में राज्यपाल और बटिहागढ़ मे उप-राज्यपाल रख कर, पिछनी एक शताब्दी में कायम रखा था—उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया और अब चन्देरी, मालवा की उपराजधानी हो जाने के कारण उसकी वही मान्यता रही जो पहले थी। हाँ सुलतान महमूद खिलजी के समय, उपराज्यपाल का कार्यालय बटिहा से उठ कर 'दमोव' (दमोह) आ गया और दमोह से समूचे दक्षिणी बुन्देलखण्ड पर—वर्तमान सागर जिले से जबलपुर जिले के बिलहरी (मुडवारा तहसील, कटनी) तक का शासन सुचारु रूप से होने लगा। इस समूचे चन्देरी क्षेत्र में, जिसको शिलालेखो में 'चन्देरी देश' कहा गया है—दमोह को जो महत्व प्राप्त हुआ उसके कारण उसका उल्लेख 'दमोवा देश' के नाम से होने लगा और अब बटिहा छोड़ कर जैनी महाजन और सेठ भी दमोह तथा बिलहरी तक फैल गये और उनकी बस्तियो में आचार्य भट्टारक मुनि तथा सन्तो का आवागमन हुआ। मन्दिरों-मूर्तियों का निर्माण तथा ग्रन्थो की रचना साथ-साथ चली। इस नवीन प्रगति को समझने के लिए भट्टारकीय आन्दोलन का उल्लेख करना आवश्यक है। ग्रंथ प्रशस्तियो में प्राय: इस युग में ग्रन्थ तथा ग्रन्थकर्ता के साथ 'महाखान भोजखान' का उल्लेख किया जाता था। यह विरुद फारसी के 'आजम मुअज्जम' का अनुवाद (आजम=महा) भी है और अपभ्रंश (मुअज्जम=भोज) भी। दिलावर का ज्येष्ठ पुत्र होशंग तो मान्डव की गद्दी पर बैठा और लहुरा बेटा कद्र खान, जो चन्देरी का प्रथम राज्यपाल था—उसकी उपाधियों में भी आजम-मुअज्जम विद्यमान है जो बाद के उत्तराधिकारी बराबर प्रयोग में लाते रहे। माण्डव के सुलतान और चन्देरी के राज्यपाल, गैर-मुस्लिम जनता का हृदय मोहने के लिए, मन्दिर बनवाने और मूर्तियाँ गढ़वाने पर कोई रोक-टोक न करते थे और जैन व्यापारियों को उच्च पद तथा सम्मान प्रदान करते थे। सुदृढ शासन ही व्यवसाय वर्धक होता है और राज-भक्ति एवं स्वामी भक्ति की नींव डालता है। तभी तो सुलतान गयासुद्दीन खिलजी के समय में (१४६९–१५००) फारसी के साथ संस्कृत शिलालेखो का बाहुल्य पाया जाता है और जैन ग्रन्थ-प्रशस्तियों में बड़ी संख्या में उसका उल्लेख मिलता है और ये शिलालेख ग्रन्थ-प्रशस्तियो में दूरवर्ती क्षेत्रो में पाई गई है। देवगढ़ क्षेत्र के शिलालेख में होशंगशाह को 'आलम शाह' कहा गया है (१४२४ ई०)। यह देवगढ, खजुराहो पतन के पश्चात् चन्देरी देश का तत्कालीन सबसे बड़ा जैन सांस्कृतिक केन्द्र बन गया था जहाँ जैनियो ने मन्दिरो-मूर्तियो की स्थापना की योजना चालू की थी। मूर्ति-लेख में सुलतान का नामोल्लेख, तुर्की शासकों की धार्मिक सहनशीलता का द्योतक है। इन सुलतानों की राजधानी माण्डवगढ़ तो ओसवाल-श्रीमाल जाति के श्वेताम्बरों का गढ़ बनी हुई थी और सौ वर्षों तक वे लोग न केवल दरबार में छाये रहे अपितु संस्कृत भाषा में धार्मिक ग्रन्थो की रचना करते रहे और कल्पसूत्र कालकाचार्य कथा के ग्रन्थो में उच्च शैली के चित्र बनवाते रहे और अनेकों ग्रंथो की लिपियां कराते रहे।

आधुनिक विद्वानों ने मूर्तिलेखो, पट्टावलियो और ग्रंथ-प्रशस्तियो के आधार पर भट्टारकीय दिगम्बर संघों के पट्टों का उल्लेख किया है और पट्टाधीशों की नामावली बनाई है जिससे यह स्पष्ट हुआ है कि पन्द्रहवी शताब्दी ईस्वी में भट्टारक गुरुओं से प्रेरणा लेकर जैन गृहस्थों ने बड़ी स्फूर्ति से मूर्तियो, मन्दिरों, चैत्यालयों एव उपासराओं का निर्माण कराया। नरवर तथा सोनागिर के अतिरिक्त उस समय उदयगिरि, एरछ, आहार एव पपौरा के लघु-केन्द्रों में सांस्कृतिक गतिविधियाँ चलती थी।

इसी समय मूल सघ—सरस्वती—गच्छ—नन्दी आम्नाय के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति द्वारा चन्देरी में एक पट्ट

अथवा यहीं स्थापित हुई। उसकी पट्टावली के तीन शुभनाम तत्कालीन बुन्देलखण्ड के जैन इतिहास की 'त्रिमूर्ति' हैं—प्रथम देवेन्द्र कीर्ति गुजरात के निवासी और भट्टारक पद्मनन्दि, के शिष्य थे और सर्वप्रथम वे ही चन्देरी के मंडलाचार्य बनाए गए थे। ये ही देवेन्द्र कीर्ति सन् १४३६ ई० के पूर्व किसी समय चन्देरी पट्ट के स्थापक हुए, जैसा कि पंडित फूलचन्द शास्त्री प्रमाणों के आधार पर अनुमान करते हैं। इसी समय खिलजी कुल के मुहमूद खां ने गोरी कुल के मुहम्मद शाह से राज-सत्ता छीन कर चन्देरी विद्रोह का दमन किया था और कई जैन परिवारों के लोग मुहम्मद शाह गोरी का पक्ष लेने के कारण बन्दी बनाए गए थे। उपरोक्त देवगढ़ वाले मूर्ति लेख में सुलतान होशंग शाह के समय, देवेन्द्रकीर्ति का नाम आया है। देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य चन्देरी देश के निवासी परवार जातीय विद्यानन्दी हुए जो सन् १४६८ ई० के पूर्व किसी समय त्रिभुवनकीर्ति के नाम से चन्देरी के मण्डलाचार्य हुए और जब गुरु का देहान्त हुआ तो पट्टाधीश हो गए। इन त्रिभुवनकीर्ति के शिष्य सुप्रसिद्ध श्रुतकीर्ति थे जो अपनी विद्वता के लिए जाने जाते है। अपभ्रंश की परम्परा इस समय चल रही थी और श्रुतकीर्ति अपभ्रंश के अच्छे लेखक थे। इन्होंने गयास शाह खिलजी (१४६९-१५००) तथा नसीर शाह (१५००-११) के समय प्राय: चन्देरी देश के 'जेरहाट' नगर के नेमिनाथ चैत्यालय मे बैठकर ग्रन्थ रचना की है। यह जेरहाट नामी स्थान कौन-सा है इसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। रायबहादुर हीरालाल सागर जिले में जेरहाट (जेरठ) ग्राम का पता देते है किन्तु वहाँ किसी जैन मन्दिर का अवशेष भी नहीं है।

पण्डित परमानन्द जैन शास्त्री ने श्रुतकीर्ति के चार ग्रन्थों का उल्लेख किया है :—

(१) हरिवंशपुराण (२) धर्म परीक्षा (३) परमेष्ठी प्रकाश सार और (४) योगसार। इन ग्रथो की जो पाण्डुलिपियां प्राप्त हुई हैं। उन सब मे सम्वत् समान रूप से एक ही अंकित हुआ है : अर्थात १५५२ विक्रमी—१४९५ ईस्वी और प्रशस्तियो मे परम्परागत, चन्देरी के शासक राज्यपालों का प्रचलित विरुद 'महाखान भोजखान' मात्र ही उल्लिखित है। सुलतान ग्यास शाह का तत्कालीन राज्यपाल, सुप्रसिद्ध मल्लूखान का पुत्र मल्लूखान ही हो सकता है। चन्देरी पट्ट के भट्टारकों की विशेषता यह थी कि वे बुन्देलखण्ड के सुविख्यात दिगम्बर जैन परवार जाति के प्रतिनिधि थे और परवार जाति आज भी बुन्देलखण्ड के जैनियों में बहुसंख्यक और प्रभावशाली है।

श्रुतकीर्ति के सिवाय, आधुनिक दतिया जिले में स्थित सोनागिर के भट्टारक थे जिनका संघ काष्ठा, गच्छ माथुर और गण पुष्कर था और समकालीन गुरु कमलकीर्ति थे, जो इस गद्दी का पहला नाम है, और इनके उत्तराधिकारी पट्टाधीश शुभचन्द्र थे। प्रथम गुरु कमलकीर्तिदेव के शिलालेख सन ईस्वी १४४९, १४५३ और १४७३ के पाए गए हैं। सोनागिर, ग्वालियर की शाखा पीठ था और तोमर राजपूतों की राजधानी ग्वालियर का यह जैन केन्द्र सबसे बड़ा एवं सम्पन्न था। ऐसी धारणा है कि सोनागिर का नाम, श्रमणागिरि का विकृत रूप है और इसका नामकरण श्रमणसेन मुनि (विक्रमी सम्वत १३३९) से हुआ माना जाता है।

जिन तारण तरण स्वामी

ईस्वी सम्वत् की पन्द्रहवीं शताब्दी अनेकों विशेषतायें रखती हैं। हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की पर्याप्त प्रगति चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी मुस्लिम संतों द्वारा हुई थी जिसकी ध्वनि अमुस्लिम वैष्णव एवं जैन-समाज के तत्कालीन साहित्य मे विद्यमान है। जैन श्रावकों की जो सूची ग्रन्थ प्रशस्तियो मे मिलती है उसमें उनके नाम उस समय के मुस्लिम संतों के अथवा उनकी समाधियों के नाम पर आधारित हैं। प्रान्तीय राज्यों में खुशहाली का दौर-दौरा था और व्यापार उन्नति पर था। एक ओर सूफियों ने ग्रामीण बोलियों में रचना शुरू की तो दूसरी तरफ कायस्थों, खत्रियों और कश्मीरी पण्डितों ने फारसी राजकीय भाषा सीख कर बड़ी संख्या में सुलतानों के कार्यालय को संभाला। विशेष रूप से माण्डव के दरबार में जैनियों का पल्ला भारी था।

जौनपुर की शर्की सल्तनत के अन्तर्गत संत कबीर, जुलाहा जाति के प्रतिनिधि, गोरखपंथी विचारों को लेकर चले और गोरखनाथी विचारधारा स्वयं जैन धर्म से प्रभावित थी। कबीर के निर्गुण प्रेम मार्ग मे इस्लाम का शुद्ध एकेश्वरवाद एवं जैन धर्म के उच्च सिद्धान्तों का पुट मौजूद है। कबीर ही के समकालीन गुजरात (अहमदाबाद) के श्वेताम्बर जैन समाज में संत लोंकाशाह की उत्पत्ति हुई जिन्होंने कबीर के समान ही मूर्ति पूजा का खण्डन किया और यतियो को ललकार कर कहा कि प्रतिमा-पूजा का औचित्य क्या है ?—आगम साहित्य मे कोई इसका प्रमाण हो तो लाओ।" विदित रहे कि लोंकाशाह के प्रमुख दो शिष्यों मे लखमसी पारिख, मालवा की राजधानी माण्डव के निवासी थे अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि वाराणसी तथा माण्डवगढ के मध्य स्थित चन्देरी देश (बुन्देलखण्ड) मे इन नवीन विचारो ने दोनो दिशाओं से प्रवेश किया होगा। लोंकाशाह का जन्म सम्वत् १४७५ विक्रमी १४१८ ईस्वी है जबकि उनसे एक पीढ़ी पश्चात तारण-तरण स्वामी ने बुन्देलखण्ड के बिलहरी नगर (कटनी तहसील—जबलपुर जिला) मे सम्वत १५०५=१४४८ ई० में जन्म लिया। लोंकाशाह का ढूंढिया पंथ सं० १५०८—१४५१ ई० से स्थापित हुआ तो छद्मस्त बाणी के लेखानुसार तारण स्वामी ने अट्ठावन वर्ष की अवस्था में अपने मत का प्रचार किया जिसका सम्वत् १५६३ ईस्वी १५०६ बैठता है।

तारण-तरण स्वयं विद्वान् न थे। एक भक्त के लिए विद्वान होना अनिवार्य भी नही है। भट्टारकों के रूढ़िवादी आचार-विचार और उनके शिथिलाचार का यह युग था। तारण परवार जातीय गढा साहु के यहाँ उत्पन्न हुए और सिरोंज नगर (जिला विदिशा) के पास सेमल खेड़ी मे अपने मामा के घर जाकर रहे। जब होश सभाला तो मूलसंघीय चन्देरी पट्टाधीश, विद्वान लेखक श्रुतकीर्ति का जमाना था। स्वयं तारण-तरण सत्य की खोज मे यथाकथित भट्टारकों से दूर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विभिन्न स्थानों में तप करते रहे। भट्टारक तो प्राचीन मुनियों के आदर्श से नीचे गिर चुके थे और उनके कठोर अनुशासन को त्याग कर आलस्य तथा भोग-विलास की जीवन व्यतीत करने लगे थे। यद्यपि जैन संस्कृति के प्रति उनकी सेवाएं ऐसी हैं जिनकी बदौलत न केवल मूर्ति गढन, मन्दिर निर्माण एव ग्रथ लिपि-करण को बड़ा प्रोत्साहन मिला किन्तु द्रव्य-सकलन और उनके ठाठ-आडंबर के कारण वे मठाधीश बन कर रह गए थे। परस्पर विचरते रहने के विपरीत, भट्टारकों ने चैत्यालयों और उपासरामों में तंत्र-मंत्र तथा आयुर्वेद ज्योतिष का अभ्यास चलाया। भट्टारकों में जो विद्वान थे, उनके विचार संकीर्ण और प्रतिक्रियावादी थे और शूद्रों तथा स्त्रियों की मोक्ष प्राप्ति को स्वीकार नही करते थे। तारण-तरण के विचार भट्टारकों से अलग थे और सर्वजातीय अपनी मडली सहित तारण सेमल खेडी, सूखा (दमोह जिला) तथा राख (अब मल्हारगढ़) के निकटवर्ती जगलों मे तपस्या करते रहे। मुसलमान शिष्यों मे लुकमान साह की कुटिया निसई क्षेत्र के हाते के बाहर विद्यमान है। दूसरे शिष्य रूइयारमन भी मुसलमान पिंजारे कहे जाते हैं।

तारण-तरण की एक दर्जन रचनाओं का संग्रह आज उपलब्ध है जिसमे जैन धर्म के विशेष सिद्धांतों—अनेकान्त तथा स्याद्वाद—का पग-पग पर दिग्दर्शन होता है। यद्यपि तारण स्वामी के क्रियाकाड मे मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान न था तथापि दिगम्बर श्रावको और उनके गुरुओ की मूर्ति पूजा पर सीधा आघात उन्होने नही किया जैसा कि लोकाशाह ने श्वेताम्बरों और कबीर ने वैष्णवो के बीच किया था। तारण की रचनाओ की भाषा विचित्र और अटपटी है जिसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी शब्दावली का सम्मिश्रण है।

तारण स्वामी ने सड़सठ वर्ष की अवस्था मे शरीर त्याग दिया। उनकी समाधि निसई जी के नाम से तारणपंथी समाज का मुख्य केन्द्र है जहां से दिगम्बर परवार जाति के इस सर्वोच्च महान आत्मा की विचारधारा का प्रकाश चारों दिशाओ मे फैलता रहा है। किन्तु कबीर तथा लोका जैसे ऊँचे भक्तो की टक्कर का यह

महापुरुष ऐसा है जिसके जीवन का वृत्तान्त बहुत ही कम ज्ञात है। तारण पंथ के संगठन कार्य को हाथ में लेने वाला कोई योग्य विद्वान भी तारण समाज ने पैदा नहीं किया। आज भी तारण वाणी पर जो कुछ कार्य हुआ है अथवा हो रहा है उसके लिए समाज ऐसे विद्वानों का ऋणी है जो या तो अजैन हैं या तारणपंथी भी नहीं हैं।

उपरोक्त वर्णन का यह अर्थ नहीं है कि बुन्देलखण्ड में जैन समाज के भीतर प्रतिमा पूजा का, तारणपंथी आन्दोलन द्वारा अंत कर दिया गया। कदापि नहीं। तारणपंथी अल्प संख्या में रहे और आज भी हैं। जैन गृहस्थ, अपने भट्टारक गुरुओं के अनुसरण में, मूर्ति निर्माण तथा स्थापना में एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते रहे। ऐसे श्रावकों में, जिवराज पापड़ीवाल ने मूर्ति निर्माण में विशेष ख्याति प्राप्त की है। अकेले ही उसने एक लाख जैन प्रतिमाएं गढ़वा कर समस्त उत्तरी भारत के जैन मन्दिरों में भेज दीं और शायद ही कोई जैन मन्दिर ऐसा हो जहां जिवराज पापड़ीवाल लेखांकित विक्रम सम्वत १५४८=१४९१ ईस्वी की कोई न कोई मूर्ति न पाई जाती हो।

संदर्भ ग्रंथ सूची

हीरालाल—दमोह दीपक

खान बहादुर इम्दाद अली : गजेटियर आव दमोह डि०

— : दमोह डि० गजे० (१९०५)

— : दमोह डि० गजे० (१९७४)

हरिहरनिवास द्विवेदी : ग्वालियर रा० के अभिलेख

हरिहरनिवास द्विवेदी : ग्वालियर के तोमर

— : ग्वालियर स्टेट गजेटियर

— : गाइड टू चन्देरी

— : एपिग्राफिया इण्डिका

— : ई० आय० (पर्शियन ऐण्ड अरेबिक सप०)

— : इन्डियन एपिग्राफी (वार्षिक रिपोर्टस)

— : ग्वालियर राज्य के पुरातत्व पर वार्षिक रिपोर्टस

राय ब० हीरालाल : सी० पी तथा बरार के शिला-लेखों की विवरणात्मक सूची

परमानन्द जैन शास्त्री : जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह

— : अनेकान्त त्रैमासिक, दिल्ली

शिहाब हकीम : मआसिर-ए महमूद शाही

सीतामऊ फोटोस्टाट)

दलसुख मालवणिया : श्री लोंकाशाह (गुजराती) (रत्न मुनि स्मृति ग्रंथ)

— : लुंका के बोल (स्वाध्याय, बड़ोदरा II, १)

— : हिन्दी अनुवाद के लिए देखिये सम्यग्दर्शन, सैलाना (म०प्र०)

उपेन्द्रनाथ दे : मेडीवल मालवा

— : उर्दू (पत्रिका) पाकिस्तान

— : इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली (त्रैमासिक)

— : जैन ऐन्टीक्वेरी, आरा

— : जनरल मध्यप्रदेश इतिहास परिषद \

फूलचन्द्र जैन शास्त्री : ज्ञान समुच्चय सार की भूमिका एवं क्षुल्लक चिदानन्द स्मृति ग्रंथ और अन्य लेख

नाथूराम प्रेमी : जैन हितैषी (पत्रिका) रीवां (म० प्र०)

□□

क्षमावणी

(आध्यात्मिक)

मैं हूं चेतन निज-स्वभाव में, मुझमें लघु-गुरु-भाव नहीं।
क्षमा दान-आदान पराश्रित, लेन-देन का चाव नहीं ।।

कितने जीवों ने एकाकी, मिश्रित मम अपमान किए।
मैंने उनको जाना-पर, अनजाने जैसे मान लिए ।।

क्षमा धरम मेरा है अपना मुझसे छूट नहीं सकता।
कैसे लूं-दूं इसे आतमवर ! सूझ नहीं मुझको पड़ता ।।

क्षमा-दान व्यापार बना अब इसमें है कुछ सार नहीं।
क्यों करे, क्षमा-का दान कोई, जब, क्षमा किसी को भार नहीं ।।

पर्यूषण में अनुभव पाया, स्वाश्रित-समरस पीने का।
भाव जगा है मन में मेरे, सिद्ध-शिला पर जीने का ।।

मैं अपने में जीता हूं, जगती जन अपने में जीवें।
अध्यात्म-पर्व का लाभ उठा, सब प्राणी समरस को पीवें ।।

जैसे होवें भाव आपके मुझको भी लखते रहना।
क्षमा-रत्न अनमोल निधि ये, कभी किसी को क्या देना ।।

आत्म-भाव में आप सदा रस स्वातम का चखते रहना।
दे ले क्षमा यदि कोई तो, मौन-रूप लखते रहना ।।

जब क्षमा किसी को दान न की तब क्षमा हमारे साथ रही।
क्षमा-शील होने से जगती, 'पद्म' बनेगी सौख्य मही ।।

(व्यावहारिक)

'खंमामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूवेसु वेरं मज्झ ण केण वि ।।"

☐ श्री पद्मचन्द शास्त्री

☐☐

जैन और बौद्ध प्रथमानुयोग

☐ डा० विद्याधर जोहरापुरकर

व्यक्ति के जीवन में स्वप्नों का जो स्थान है वही समाजजीवन में पुराण कथाओं का है। स्वप्न में जिस प्रकार कुछ यथार्थ, कुछ कल्पना और कुछ आशा-आशंका का मिश्रण होता है उसी प्रकार पुराण कथाओं मे भी पाया जाता है। स्वप्नों से व्यक्ति की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों का संकेत मिलता है उसी प्रकार पुराण कथाओ से समाज की अन्तर्निहित प्रवृत्तियो का सकेत मिलता है। बौद्ध व जैन परंपरा मे प्रारभिक युग मे आगम एव त्रिपिटक मे महावीर और बुद्ध के जीवन और पूर्वभवों की कथायें प्रकीर्ण रूप में हैं। बाद मे एक साहित्य प्रकार के रूप मे जैन परंपरा मे पुराण कथाओ को प्रथमानुयोग यह नाम मिला। विमल का पउमचरिय, सघदास-धर्मसेन की वसुदेवहिण्डी और शीलांक का चउपन्नमहापुरिसचरिउ ये प्राकृत में प्रथमानुयोग के मुख्य ग्रथ हैं। सस्कृत में रविषेण का पद्मचरित, जिनसेन का हरिवंशपुराण और जिनसेन (द्वितीय) तथा गुणभद्र का महापुराण ये प्रथमानुयोग के मुख्य ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त हरिषेण, श्रीचन्द्र आदि के कथाकोश भी महत्त्वपूर्ण हैं। बौद्ध परपरा में प्रथमानुयोग जैसा शब्द तो नही है परन्तु विस्तृत कथासाहित्य अवश्य है। पालि में जातक और सस्कृत में अवदानशतक, दिव्यावदान, ललितविस्तर आदि बौद्ध कथा साहित्य के मुख्य ग्रन्थ हैं। इस लेख में हम इन दो धाराओ में प्राप्त कुछ सामान्य धारणाओं के साम्य-वैषम्य पर विचार करेंगे।

२. दीर्घ आयु

मानवों की आयु प्राचीन समय मे बहुत अधिक हुआ करती थी यह दोनो परपराओं की धारणा है। दिव्यावदान के सघरक्षितावदान के अनुसार काश्यप बुद्ध के समय लोगों की आयु बीस हजार वर्ष थी,[1] चन्द्रप्रभबोधिसत्त्वावदान के अनुसार उस बोधिसत्त्व के समय की मनुष्यायु चवालीस हजार वर्ष थी।[2] भविष्यकाल में दीर्घ आयु होगी ऐसी भी धारणा थी। दिव्यावदान के मैत्रेयावदान के अनुसार जब मैत्रेय बुद्ध होंगे तो मनुष्यायु अस्सी हजार वर्ष होगी।[3] जैन धारणा में ये संख्यायें काफी अधिक हैं। प्रथम तीर्थङ्कर वृषभदेव का आयु चौरासी लक्ष पूर्व[4] और अठारहवें तीर्थङ्कर अरनाथ की आयु चौरासी हजार वर्ष कही गई है,[5] इसी प्रकार भविष्यकाल के तीर्थङ्करों की आयु क्रम से बढ़ती हुई बताई गई है।[6]

३. तीर्थङ्करत्व या बुद्धत्व

दोनों परंपराओं की धारणा है कि वर्तमान के समान भूतकाल और भविष्यकाल में बहुत से तीर्थङ्कर या बुद्ध हुए और होंगे। जैन परपरा में तीनो कालों में चोबीस तीर्थङ्करों का कथन है। अवदानों में बुद्धों की सख्या बहुत अधिक है। बुद्ध या स्तूप की पूजा या उनको दिये गये दान से विशुद्धचित्त होकर कोई प्राणी मैं बुद्ध बनूं इस प्रकार चित्तोत्पाद करता है यह अवदानों में बुद्धत्व प्राप्ति की प्रक्रिया के प्रारभ का प्रकार है।[7] जैन पुराणों में तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध के लिए ऐसी कोई विशिष्ट घटना को निमित्त नही बताया गया है—सामान्य रूप से तपस्या से या दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं से तीर्थङ्करत्व की प्रक्रिया का प्रारंभ बताया गया है।[8]

४. बुद्धकृपा

तीर्थङ्कर और बुद्ध महान् लोकोपकारक हैं, इस विषय में दोनों परपराओं की धारणा समान है। परन्तु अवदानों में दुःखित भक्तो को पुकार सुन कर बुद्ध स्वयं या इन्द्र को आदेश देकर भक्तों को दुःखमुक्त करते बताये गये हैं।[9] जैन पुराणों मे इस प्रकार तीर्थङ्करों की प्रत्यक्ष सहायता का वर्णन नहीं है—उनके उपदेश या भक्ति से प्राप्त पुण्य से दुःखमुक्ति बताई गई है। अपवाद रूप में जिनप्रभ के विविध तीर्थकल्प में अश्वावबोध तीर्थकल्प में बताया गया

है कि भरुकच्छ के राजा के घोड़े को जब अश्वमेघ में बलि दिया जा रहा था तब उसके उद्धार के लिए मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर प्रतिष्ठान नगर से एक रात्रि में साठ योजन चलकर भरुकच्छ पहुंचे और उस अश्व को पूर्व जन्म कथा सुनाकर प्रतिबोधित किया।[१०]

तिर्यंच प्रतिबोध

अश्वावबोध के समान अन्य अनेक जैन कथाओं मे पशु-पक्षी नमस्कार मंत्र या उपदेश श्रवण से प्रतिबोधित होते बताये हैं। पार्श्वनाथ कथा में नाग-नागिनी मरणासन्न स्थिति में राजकुमार पार्श्व का उपदेश सुनकर देवपद प्राप्त करते हैं।[११] जीवन्धर कथा मे एक कुत्ता जीवधर से नमस्कार मंत्र सुनकर यक्षपद प्राप्त करता है।[१२] इसी प्रकार बौद्ध कथाओ में भी पशु-पक्षियों के उद्धार के प्रसग वर्णित हैं। दिव्यावदान के शुकपोतकावदान में दो तोतों का वर्णन है जो बिल्ली द्वारा पकड़े जाने पर नमो बुद्धाय कहते हुए प्राण त्याग कर देवपद पाते हैं।[१३] इसी ग्रन्थ के अशोकवर्णावदान के अनुसार वैशाली मे मारा जा रहा एक बैल बुद्ध की कृपा से मुक्त होता है और अगले जन्म में प्रत्येक बुद्ध होता है।[१४]

६. निदान

जैन कथाओं में तपस्वी अपने तप का अमुक फल प्राप्त हो ऐसी इच्छा करे उसे निदान कहा गया है। सुभौम चक्रवर्ती की कथा,[१५] त्रिपृष्ठ नारायण की कथा,[१६] कंस की कथा[१७] आदि में इसके उदाहरण बताये गये हैं। बौद्ध कथाओं मे ऐसे संकल्प को मिथ्या प्रणिधान कहा गया है। दिव्यावदान के कोटिकर्णावदान के अनुसार एक उपासिका का पुण्य इतना अधिक था कि वह त्रायस्त्रिंश देवों में उत्पन्न होती परन्तु मिथ्या प्रणिधान के कारण वह प्रेतमहर्धिका बनी।[१८] बौद्ध कथाओं में प्रणिधान शुभ रूप में भी वर्णित है। जैसाकि ऊपर बताया है—मैं बुद्ध बनूं ऐसे चित्त के उत्पाद से बुद्धत्व की प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है। दिव्यावदान के मैत्रेयावदान में शख चक्रवर्ती का प्रसंग है जिसने पूर्व जन्म में मैं चक्रवर्ती बनूं ऐसा संकल्प किया था।[१९]—इसमें अशुभत्व का कथन नहीं है।

७. स्त्रियों की हीनतर स्थिति

यद्यपि दोनों परम्पराओं में समता का बड़ा सम्मान है तथापि स्त्रियों के विषय में दोनों की धारणा अनुदार है। बौद्ध ग्रंथ सद्धर्मपुण्डरीक में कहा गया है कि ब्रह्मपद, शक्रपद, महाराजपद, चक्रवर्तिपद और बुद्धपद स्त्री पर्याय में प्राप्त नहीं होते।[२०] जैन परंपरा का भी इस विषय में प्राय: यही मत है। अपवाद रूप में श्वेतांबर परंपरा में मल्लि तीर्थंकर को अवश्य स्त्री बताया गया है।[२१] जैसाकि सुविदित है—स्त्रियों की मुक्ति प्राप्ति श्वेतांबर और दिगबर संप्रदायों में विवाद का विषय रहा है।

८. देवस्थिति

जैन कथाओं में तीर्थंकरों के और बौद्ध कथाओं में बुद्धों के दर्शन-पूजन के लिए देवों के आगमन का वर्णन प्राय: मिलता है।[२२] अन्तर यह है कि अवदानों में बुद्ध के आदेश से देवराज वर्षा कर भक्तों को दु:खमुक्त करते है या धन देकर किसी बैल को बचाते हैं।[२३] तीर्थंकरों की कथाओं में देवों को ऐसे कोई कार्य करने को नहीं कहा गया है। दिव्यावदान के मांधातावदान में त्रायस्त्रिंश देवों की आयु मनुष्यों की गणना से ३६०००० वर्ष बताई है।[२४] स्पष्ट है कि जैन कल्पना इस विषय में काफी बढ़ी-चढ़ी है जिसमें देवों की न्यूनतम आयु दस हजार वर्ष और अधिकतम तैंतीस सागर बताई गई है।[२५] मांधातावदन में देवलोक सुमेरु पर्वत के ऊपर बताया गया है।[२६] जैन कल्पना भी वही है।[२७] परन्तु इस अवदान में राजा मांधाता देवलोक में जाकर इन्द्र के अर्धासन पर बैठने का सम्मान प्राप्त करता है।[२८] ऐसी बात जैन कथाओं में संभव नहीं है। दिव्यावदान के नगरावलम्बिकावदान आदि में वर्णन मिलता है कि देवों का ज्ञानदर्शन अपने स्थान से नीचे प्रवृत्त हो सकता है—ऊपर नही।[२९] जैन कथाओं में भी इसी आशय का वर्णन मिलता है।[३०] जैन कथाओं में देव अपनी नियत आयु पूर्ण होने के बाद नियत गति में जन्म लेते बताये गये हैं। देवगति में वे उत्तरकालीन गति में परिवर्तन नहीं कर सकते।[३१] इसके विपरीत दिव्यावदान के सूकरिकावदान में कथन है कि एक देव जो सूकर योनि में उत्पन्न होने वाला

(शेष पृष्ठ २७ पर)

अवग्रहेहावायधारणाः*

□ डा० नंदलाल जैन

सामान्य जनता में धार्मिक वृत्ति को जगाये रखने के लिये अनेक पुरातन आचार्यों ने समय-समय पर उपयोगी धर्म ग्रन्थों की रचना की है। इनका मुख्य विषय 'सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' ही होता है। वस्तुतः मोक्ष और उसका मार्ग साधु-जन सुलभ होता है, सामान्य जन के लिये तो गृहस्थ मार्ग ही प्रमुख है। जिन गृहस्थो के ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्य कर्मों का जितना अल्प बंध या उदय होता है, वे उतना ही मोक्षमाग की ओर प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि 'निर्वाणकांड' मे मुक्तों की अपरमेय संख्यायें निरूपित की गई हैं, फिर भी पिछले पच्चीस-सौ वर्षों में कितने मोक्षगामी हुए हैं, इसका कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। फिर भी, मुक्ति मे एक मनोवैज्ञानिक आकर्षण है, शुभत्व की ओर बढने की प्रेरणा है। यह मार्ग निसर्गज भी बताया गया है और अधिगमज भी।[1] निसर्गज मार्ग विरल ही दृष्टिगोचर हुआ है। इसलिये इसके अधिगम के विषय मे शास्त्रो मे पर्याप्त वर्णन आया है। इसके एक लघु अंश पर ही यहा विचार किया जा रहा है।

अधिगम के लिये विषय वस्तु के रूप में सात तत्व और नव पदार्थों का निरूपण किया गया है। इनका अधिगम प्रमाण और नयों से किया जाता है।[2] इनका विवरण अनुयोग द्वार मे विशेष रूप से दिया जाता है। पदार्थों का अध्ययन सामान्य या विशेष अपेक्षाओ से छह या आठ अनुयोग द्वारो[3] के रूप में किया जाता है। यह अध्ययन ही ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान सामान्य जन को इन्द्रिय, मन और श्रुत की सहायता से होता है। योगिजन अथवा महात्माओं को यह ज्ञान आत्मानुभूति के माध्यम से भी प्राप्त हो सकता है जहाँ उन्हें बाह्य साधनो की आवश्यकता नही पड़ती। संसारी जीव ही क्रमिक विकास करते हुए योगी होता है, फलतः उसका ज्ञान-विकास भी बाह्य-साधन-प्रमुख विधि से आगे चल कर अन्तर्मुखी हो जाता है, ऐसा मानना चाहिये। सामान्य जन की ज्ञान-प्राप्ति के लौकिक साधनों के रूप मे इन्द्रियां और मन सुज्ञात हैं। इनकी सहायता से प्राप्त ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। इस प्रकार, सामान्य जन मति और श्रुत—दो ज्ञानों से ही आगे बढता है। श्रुतज्ञान स्वयं या दूसरों के मतिज्ञान का रिकार्ड है। मतिज्ञान स्वयं का अपना प्रयोग और दर्शन-जन्य ज्ञान है। एक वैज्ञानिक भी इन्हीं दो ज्ञानो से वैज्ञानिक प्रक्रिया का प्रारंभ, विकास और पुनर्निर्माण करता है। श्रुतसागर सूरि ने बताया है कि यह ज्ञानमार्ग ही हमारे लिये सरल, परिचित और अनुभवगम्य है।[4]

मतिज्ञान के नाम—

मैं सर्वप्रथम अपने द्वारा प्राप्त ज्ञान-मतिज्ञान की बात करूं। उमास्वामी ने इसके अनेक नाम बताये हैं—स्मृति, सज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध आदि आगम ग्रन्थों में मति के बदले अभिनिबोध का ही नाम आता है, कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम मतिज्ञान के नाम से इसका निरूपण किया। उमास्वामी ने इसके अनेक रूपो को वर्णित किया।[5] इसके अंतर्गत अनेक मनोप्रधान या बुद्धिप्रधान प्रवृत्तियां भी मति मे ही समाहित होती हैं।[5] यह वर्तमान को ग्रहण करता है, इस आधार पर स्मृति आदि को मतिज्ञान नही माना जाना चाहिये था। क्योंकि इनमें अतीत का भी संबंध रहता है। फिर भी अकलंक[6] ने इन्हें मनोमति मान कर सामान्य मतिज्ञान के रूप मे ही बताया है। वस्तुतः इस आधार पर स्मृति, सज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क,

* जैन विद्या संगोष्ठी, उज्जैन, १९८० मे पठित निबंध का परिवर्धित रूप।

कार्यकारण भाव), और अभिनिबोध (अनुमान व्याप्ति-ज्ञान) को जिन दार्शनिकों ने पृथक् प्रमाण माना है, उनका निरसन कर जैनों ने इन सभी को मतिज्ञान में समाहित कर लिया। भट्टाचार्य[8] ने चिन्ता और अभिनिबोध को वर्तमान आगमन और निगमन तर्क शास्त्र के समरूप बताकर पाश्चात्य तर्कशास्त्र की मौलिकता पर प्रश्नचिह्न लगाया है।

उमास्वामी के मतिज्ञान के अनर्थान्तिरों के दिग्दर्शक सूत्र की टीकाओं में अनर्थान्तरत्व (पर्यायवाची) पद पर अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर किये गये हैं। इनमे इसी सूत्र में वर्णित 'इति' शब्द को इत्यादि वाचक, प्रकार वाचक या (अभिधेयार्थवाचक) के रूप में माना है। जब 'इति' को इत्यादि वाचक मानते हैं, तब मतिज्ञान के कुछ अन्य पर्यायवाची भी बताये जाते हैं इनमे प्रतिभा, बुद्धि मेधा, प्रज्ञा समाहित होते हैं।[8] इन सभी पर्यायवाचियो के विशेष लक्षण पूज्यपाद ने तो नही दिये है पर अकलंक और श्रुतसागर ने दिये है। इनके अनुसार, मतिज्ञान के इन विभिन्न नामरूपों से उसकी व्यापकता तथा क्षेत्रीय विविधता का स्पष्ट आभास होता है क्योंकि प्रत्येक नाम एक विशिष्ट अर्थ और वृत्ति को प्रकट करता है।

मतिज्ञान की प्राप्ति के चरण—

सामान्य जन को मतिज्ञान कैसे उपलब्ध होता है? इस विषय पर ध्यान जाते ही उमास्वामी के दूसरी सदी के 'तत्वार्थसूत्र' का 'अवग्रहेहावायधारणाः' (१,१५) स्मरण हो आता है। यद्यपि आगम ग्रन्थो में भी इनका उल्लेख पाया जाता है,[9] (इससे इनकी पर्याप्त प्राचीनता सिद्ध होती है), पर साधारण जन के लिये तो 'तत्वार्थसूत्र' ही आगम रहा है। सचमुच मे, सैद्धान्तिक आधार पर यह सूत्र एवं इसकी मान्यता सर्वाधिक वैज्ञानिक है। इस मान्यता में ज्ञान प्राप्ति के लिये वे ही चरण बताये गये हैं जो आज के वैज्ञानिक चौदहवी सदी में अपने पर-अनुभव से बता सके। काश, इन्हें हमारे आगम और तत्वार्थ सूत्र मिले होते?

इस सूत्र के अनुसार, मतिज्ञान प्राप्ति के पांच चरण होते हैं— प्रथम, इन्द्रिय और पदार्थों के प्रत्यक्ष या परोक्ष संपर्क से निराकार दर्शन, फिर साकार सामान्य ज्ञानात्मक अवग्रह, फिर किंचित् मन का उपयोग कर विचार-परीक्षण करने से वस्तु विशेष का अनुमान—ईहा, इन्द्रिय-सबद्ध वस्तु विशेष का उपलब्ध तथ्यों और विचारों के आधार पर निर्णय—अवाय या अपाय, और तब उसे भावी उपयोग के लिये ध्यान, स्मरण में रखना—धारणा। ये क्रमिक चरण हैं, पूर्वोत्तरवर्ती हैं। इन्ही चरणों को वैज्ञानिक जगत अपनी स्वय की पारिभाषिक शब्दावली[10] मे निम्न प्रकार व्यक्त करता है :

१. प्रयोग और निरीक्षण	दर्शन और अवग्रह
२. वर्गीकरण	ईहा
३. परिणाम निष्कर्ष, उपपत्ति	अवाय
४. नियम सिद्धान्त	धारणा

इनमें से प्रथम चरण को छोड़ अन्य चरणों में मन और बुद्धि की प्रमुखता बढती जाती है। तुलनात्मक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे यहाँ धारणा शब्द का अर्थ कुछ सीमित अर्थों मे किया गया है। वस्तुतः यह शब्द अनेकार्थक है और इसे केवल स्मरण मात्र नही मानना चाहिये। इसे उपरोक्त चार चरणों से प्राप्त इन्द्रिय और मन के उपयोग से निष्कर्षित ज्ञान के व्यापकीकरण या सैद्धान्तिक निरूपण के समकक्ष एव श्रुत के आधार के रूप में मानना चाहिए। यही परिभाषा इसे नियम या सिद्धान्त के समकक्ष ला देती है। इस प्रकार ज्ञानप्राप्ति की वर्तमान चतुश्चरणी वैज्ञानिक पद्धति 'अवग्रहेहावायधारणाः' का नवीन संस्करण ही है। इस पर आधारित धर्म या दर्शन को वैज्ञानिकता प्राप्त हो, इसमें आश्चर्य नही करना चाहिये।

मतिज्ञान के भेद और सीमायें—

शास्त्रों में अवग्रह आदि को मतिज्ञान के भेद के रूप में माना गया है। इसमें अवग्रह का विशेष वर्णन है क्योंकि यह हमारे ज्ञान का प्रथम और मूलभूत चरण है। यह श्रुत निःसृत और अश्रुत अनिःसृत के रूप में दो प्रकार से उत्पन्न हो सकता है।[11] यह व्यक्त रूप से और अव्यक्त रूप से भी उत्पन्न हो सकता है। अव्यक्त अवग्रह चक्षु और मन को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियों के कारण ही होता है अव्यक्त अवग्रह दर्शन की समतुल्यता प्राप्त कर सकता है, ऐसा भी कहा गया है। अवग्रह के विपर्यास में,

ईहादिक चरण व्यक्त रूप में ही होते हैं। मतिज्ञान से पदार्थों की जिन विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है, उनकी संख्या १२ बताई गई है :[13]

१-२ बहु और अल्प	संख्या तथा परिणाम (भार) द्योतक
३-४ बहुविध और एकविध	पदार्थों के विविध जातीय रूपों की संख्या तथा परिमाण
५-६ क्षिप्र और अक्षिप्र	वेग शील और मन्द पदार्थ का बोधक
७-८ अनिःसृत और निःसृत	अप्रकट या ईषत् प्रकट और प्रकट पदार्थ बोधक
९-१० अनुक्त और उक्त	अभिप्रेत या कथित पदार्थ बोधक
११-१२ ध्रुव और अध्रुव	पदार्थ की एकरूपता व परिवर्तनीयता का द्योतक

इन विशेषताओं के देखने से पता चलता है कि मतिज्ञान से पदार्थ के केवल स्थूल गुणो का ही ज्ञान होता है, आतरिक संघटन या अन्य नैमित्तिक गुणो का नही। इससे हमे प्राचीन मतिज्ञान की सीमा का भी भान होता है। यही नहीं, उपरोक्त बारह विशेषताओ मे अनेक मे पुनरुक्ति प्रतीत होती है। जिनका सतोषजनक समाधान शास्त्रीय भाषा से नही मिलता।[11] फिर भी, मतिज्ञान के १२×४×६ (५ इन्द्रिय+१ मन)=२८८ और व्यजनावग्रह के १२×४ (चार इंद्रिय)=४८=३३६ भेद शास्त्रों में किये गये हैं। इससे सीमित मतिज्ञान की पर्याप्त असीमता का पता चलता है। इसकी तुलना मे, यह कहा जा सकता है कि सूक्ष्मतर निरीक्षण क्षमता के इस उपकरण प्रधान युग मे मतिज्ञान की सीमा मे काफी वृद्धि हो चुकी है। अब इससे बहिरग के अवग्रहादिक के साथ अंतरग के अवग्रहादिक भी सम्भव हो गये हैं। मतिज्ञान के क्षेत्र में पिछले दो सौ वर्षों के विकास ने हमारे पदार्थ विषयक शास्त्रीय विवरणों को काफी पीछे कर दिया है।

ज्ञान के क्षितिजों एवं सीमाओं का विकास—

यह बताया जा चुका है कि सामान्य जन की ज्ञान-प्राप्ति दो प्रकार के ज्ञानों से होती है—मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान की परिभाषा शास्त्रों में अनेक प्रकार से की गई है। कुछ लोग श्रवणेन्द्रिय प्रधानता के आधार पर श्रुत को मतिज्ञान मानना चाहते हैं, पर यह सही नहीं है। अकलंक[14] ने साहचर्य, एकत्रावस्थान, एकनिमित्तता, विषय साधारणता तथा कारण-कार्य सदृशता के आधार पर मति-श्रुत की एकता का खंडन करते हुए बताया है कि श्रुतज्ञान मनोप्रधान है, इन्द्रियप्रधान नही। वह त्रिकाल-वर्ती तथा अपूर्व विषयों का भी ज्ञान कराता है। उसमें बुद्धिप्रयोग के कारण पदार्थों की विशेषताओ, समानताओं एव विषमताओं के अपूर्व ज्ञान की भी क्षमता है। यह सही है कि श्रुतज्ञान का आधार मतिज्ञान ही है, लेकिन यह देखा गया है कि श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान की सीमायें बढाने में सहायक होता है। शास्त्री[15] ने श्रुतज्ञान से० श्रुतज्ञान की भी औपचारिक उत्पत्ति मानी है। इसीलिये जो सुना जाय, जिस साधन से सुना जाय या श्रवण क्रिया मात्र को पूज्यपाद और श्रुतसागर ने श्रुत कहा है। अकलंक ने इस परिभाषा में एक पद और रखा – श्रूयते स्मेति, जो सुना गया हो, वह भी श्रुत है।[16]

यह श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। साधारणतः श्रुत को अक्षरात्मक एवं भाषा रूप माना जाता है। प्रारंभ में यह कण्ठगत ही विकसित हुआ पर यह समय-समय पर लिखित और मुद्रित रूप में प्रकट होता रहा है। वस्तुतः आज की भाषा में अक्षरात्मक श्रुत विभिन्न प्रकार के मतिज्ञानों से उत्पन्न धारणाओं का रिकार्ड है जिससे मानव के ज्ञान के क्षितिजो के विकास में सहायता मिले। वर्तमान विज्ञान में ज्ञानार्जन के साथ उसके संप्रसारण का भी लक्ष्य रहता है। विज्ञान की मान्यता है कि ज्ञान का विकास पूर्वज्ञात ज्ञान के आधार पर ही हो सकता है। इसलिये मति से प्राप्त ज्ञान को श्रुत के रूप में निबद्ध किया जाता है। विज्ञान का यह सप्रसारण चरण ही अक्षरात्मक श्रुत मानना चाहिये। इसकी प्रामाणिकता इसके कर्ताओं पर निर्भर करती है : उनकी निरीक्षण-परीक्षण पद्धति से प्राप्त निष्कर्षों की यथार्थता पर निर्भर करती है। अकलंक[17] ने श्रुत की प्रामाणिकता के लिये अविसंवादकता तथा अवंचकता के गुण माने हैं। इस आधार पर उन्होंने

'प्राप्त' की बड़ी ही व्यापक परिभाषा दी है और आचार्यों के रचित ग्रन्थों और उसके अर्थबोधों को भी प्रामाणिकता की कोटि में ला दिया है। यही नहीं, यो यत्र अविसंवादकः स तत्र आप्तः। ततः परोऽनाप्तः। तत्त्वप्रतिप दनमविसंवादः, तदर्थज्ञानात् ११' के अनुसार वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा लिखित श्रुतों को भी प्रामाणिकता प्राप्त होती है। फलतः नवीन श्रुत में नये अवाप्त ज्ञानक्षितिजों का समाहरण किया जाना चाहिये। यह आज के युग की एक अनिवार्य आवश्यकता है। वर्तमान प्राचीन श्रुत की प्रामाणिकता पर अकलंक के मत का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। उनके प्रणेताओं ने परंपराप्राप्त ज्ञान को स्मरण, मनन और निदिध्यासन के आधार पर लिखा है। यही नहीं, उन्होंने विभिन्न युगों में उत्पन्न सैद्धान्तिक एवं तार्किक समस्याओं के लिये परिवर्धित एवं योगशील व्याख्यायें दी हैं जो उनके मनन और अनुभूति के परिणाम हैं। इनसे अनेक भ्रान्तियां भी दूर हुई हैं। विशेषावश्यक भाष्य और लघीयस्त्रय में इन्द्रिय ज्ञान को लौकिक प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकृति, वीरसेन द्वारा स्पर्शनादि इन्द्रियों की प्राप्यकारिता—अप्राप्यकारिता की मान्यता, अष्टमूल गुणों के दो प्रकार, प्रमाण के लक्षण का क्रमिक विकास, काल की द्रव्यता आदि तथ्य वस्तुतत्व निर्णय में जैनाचार्यों द्वारा परीक्षण और चिन्तन की प्रवृत्ति की प्रधानता के प्रतीक हैं। इसीलिये आचार्य समंतभद्र को 'परीक्षा प्रधानी' कहा जाता है। इस प्रक्रिया में इन्द्रिय और बुद्धि का क्रमशः अधिकाधिक उपयोग किया जाता है इस प्रकार हमारे विद्यमान श्रुत परीक्षण प्रधान हैं, वैज्ञानिक हैं।

वैज्ञानिक ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया की एक और विशेषता होती है। यद्यपि यह पूर्वज्ञात ज्ञान या श्रुत से विकसित होती है, पर यह पूर्वज्ञात ज्ञान की वैधता का परीक्षण भी करती है। उसकी वैधता का पुनर्मूल्यांकन करती है। सामान्यतः वैज्ञानिक ज्ञान का प्रामाण्य परतः ही अधिक समीचीन माना जाता है। हमारे शास्त्रों में ज्ञान की उत्पत्ति और ज्ञप्ति की दशाओं के प्रामाण्य के स्वतःपरतः के संबंध में पर्याप्त चर्चा पाई जाती है। हिरोशिमा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ए० यूनो इस विषय पर विशेष अनुसंधान कर रहे हैं।[१८] यह स्पष्ट है कि सर्वज्ञ और स्वानुभूति के ज्ञान को छोड़ कर ज्ञान का प्रामाण्य परतः ही माना जाता है। इस प्रकार हमारा श्रुतनिबद्ध ज्ञान वर्तमान सदी की विश्लेषणात्मक धारा के निकष पर कसा जा सकता है। यह प्रसन्नता की बात है कि जैन दर्शन की अनेक पुरातन मान्यतायें, विशेषतः पदार्थ की परिभाषा, परमाणुवाद की मान्यतायें, ऊर्जा और द्रव्य की एकरूपता आदि—इस निकष पर कसे जाने पर पर्याप्त मात्रा में खरी उतरी हैं यही कारण है कि आज अनेक विद्वान् जैन दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन की ओर प्रेरित हो रहे है और जैन विद्या के अनेक अज्ञात पक्षों को उद्घाटित कर रहे है।

श्रुतज्ञान का अनक्षरात्मक रूप भी हमारे ज्ञानार्जन में सहायक है। इसके असंख्यात भेद होते हैं।[१९] संकेत दर्शन, मानसिकचिन्तन तथा ऐसे ही अन्य प्रक्रमों से जो ज्ञान होता है वह अनक्षर श्रुतात्मक होता है आज जो श्रुतविद्यमान है, उसके विविध रूपों का विवरण गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि आदि में दिया गया है। वस्तुतः विभिन्न श्रुत श्रुतज्ञान के साधन हैं। ज्ञान के रूप में श्रुतज्ञान मतिज्ञान की सीमा का विस्तार करता है, उसमें बौद्धिक नवीनता लाता है।

इस प्रकार सामान्य जन का वर्तमान ज्ञान "अवग्रहेहावायधारणाः" की प्रक्रिया पर आधारित है। यह प्रक्रिया जितनी ही सूक्ष्म, तीक्ष्ण और यथार्थ होगी, हमारा ज्ञान उतना ही प्रमाण होगा। आज उपकरणों ने अवग्रह की प्रक्रिया में अपार सूक्ष्मता तथा विस्तार ला दिया है। लेकिन दुर्भाग्य से हमारे यहां आचार्य नहीं हैं जो इस क्षमता का उपयोगकर नये श्रुत का उद्घाटन कर सकें।

सन्दर्भ

१. उमास्वामि आचार्य; (तत्त्वार्थसूत्र, १-३, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, २९५०।
२. उमास्वामि, आचार्य; पूर्वोक्त, १-६।
३. उमास्वामि, आचार्य; पूर्वोक्त, १-७, ८।

४. श्रुतसागर सूरि; (तत्वार्थवृत्ति) १-६, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १६४६ ।
५. फूलचंद्र सिद्धान्तशास्त्री (वि० क०); (तत्वार्थसूत्र) १-१३, वर्णी ग्रन्थमाला, १६५० ।
६. अकलंक देव; (लघीयस्त्रय), श्लोक ६६-६७ ।
७. भट्टाचार्य, हरिसत्य; जैन विज्ञान, (अनेकान्त),
८. शास्त्री, ए० शान्तिराज (सं०); (तत्वार्थसूत्र) (१-१३), (भास्करनंदि टीका), मैसूर विश्ववि० १६३४।
९. — (भगवतीसूत्र (८८,२,३१७)
१०. पीमेन्टेल, जार्ज; (रसायन: एक प्रयोगात्मक विज्ञान) १-१० म० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १६७३ ।
११. दलसुख मालवणिया; (आगमयुग का जैन दर्शन), पृ० १२६-३५, सन्मति ।
१२. उमास्वामि, आचार्य; (तत्वार्थसूत्र) १-१५ १६ ज्ञानपीठ आगरा, १६३६ ।
१३. अकलंकदेव; (तत्वार्थराजवार्तिक, १-१६, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १६५४ ।
१४. अकलंकदेव; पूर्वोक्त, १-६
१५. फूलचंद शास्त्री (वि० क६); सन्दर्भ ४, सूत्र १-२० ।
१६. अकलंक देव; पूर्वोक्त, १-६ ।
१७. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य; (जैन दर्शन), पृष्ठ ३५३, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १६६६ ।
१८. ए० यूनो; (जैन प्रामाण्यवाद पर एक टिप्पणी) (कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनदन ग्रन्थ) पृष्ठ ५४८, १६८० ।
१९. नेमचद सिद्धान्त चक्रवर्ती; गोमटसार जीवकांड, तथा गाथा ३१६, परमश्रुत प्रभावकमडल, अगास, १६७२ ।

गर्ल्स कालेज, रीवाँ

(पृष्ठ २२ का शेषांश)

था—शक्र के उपदेश से बुद्ध की शरण में पहुंचा जिससे उसकी गति में सुधार होकर वह तुषित देवनिकाय में उत्पन्न हुआ।"

सन्दर्भ

१. दिव्यावदान (दरभंगा संस्करण) पृ० २१५ ।
२. वही पृ० १६६ ।
३. वही पृ० ३६ ।
४. हरिवंश पुराण (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण) पृ० २१४।
५. उत्तर पुराण (भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण) पृ०२१६
६. वही पृ० ५६१ ।
७. दिव्यावदान पृ० ४० आदि ।
८. उत्तरपुराण पृ० २, १४ आदि ।
९. दिव्यावदान पृ० ५६, ८५ आदि ।
१०. विविधतीर्थकल्प (सिंघी ग्रथमाला सस्करण) पृ० २०
११. उत्तरपुराण पृ० ४३६ ।
१२ वही पृ० ५०६ ।
१३. दिव्यावदान पृ० १२४ ।
१४. वही पृ० ८६ ।
१५. उत्तरपुराण पृ० २२२ ।
१६. वही पृ० ८५ ।
१७. वही पृ० ३६२ ।
१८. दिव्यावदान पृ० ६ ।
१९. वही पृ० ३६ ।
२०. सद्धर्मपुण्डरीक (दरभंगा संस्करण) पृ० १६१ ।
२१. चउपन्न महापुरिसचरिय (प्राकृत ग्रन्थ परिषद) पृ० १६६ ।
२२. दिव्यावदान पृ० ४८ उत्तरपुराण पृ० ३ आदि ।
२३. दिव्यावदान पृ० ८५, अवदानशतक (दरभगा सस्करण) पृ० ३४ ।
२४. दिव्यावदान पृ० १३६ ।
२५. पासणाहचरिउ (प्राकृत ग्रंथ परिषद) पृ० १४१-२
२६. दिव्यावदान पृ० १३६ ।
२७. हरिवंशपुराण पृ० १२३ ।
२८. दिव्यावदान पृ० १३७ ।
२९. वही पृ० ५२ ।
३०. हरिवंशपुराण पृ० १२६ ।
३१. इसका स्पष्ट कथन तो कथाग्रंथों में नहीं मिला परंतु देव मरण के बाद मनुष्य या तिर्यंच गति में ही जन्म लेते बताये गये हैं ।
३२. दिव्यावदान पृ० १२० ।

□□□

णमोकार मंत्र

□ श्री बाबूलाल जैन

महान मन्त्र है णमोकार। इस मंत्र मे किसी व्यक्ति का, किसी तीर्थंकर का नाम नही लिया। नाम लेने से पक्षपात खड़ा हो जाता है। कोई कहता यह पूजनीय है, कोई कहता यह पूजनीय नही है। इसलिए व्यक्ति का ख्याल छोडकर मात्र वस्तु स्वरूप का ही ख्याल रखा गया। इसीलिये यह मंत्र अनादि अनिधन है।

(१) पहले णमो अरहंताणम् कहा अथवा जो अरहत हो गये हैं उनको नमस्कार है। अरहंत अवस्था को प्राप्त हैं यानी जिनके आत्मिक शत्रु नष्ट हो गये हैं उनको नमस्कार है, वह कोई भी हों, उनका कुछ भी नाम हो, इससे मतलब नहीं, हमे तो मतलब है केवल उन आत्माओ से जिनके आत्मिक शत्रु नष्ट हो गये हैं। यहाँ पर नास्ति रूप से कथन है। नैगेटिव रूप से कथन है कि जिनके आत्मिक शत्रु नष्ट हो गये हैं वह हमारे नमस्कार करने योग्य हैं। आत्मिक शत्रु कौन है ? तो बताया कि क्रोध-मान-माया लोभ अथवा रागद्वेष अथवा मोह, ये आध्यात्मिक शत्रु हैं। यह कोई बाहरी चीज नही जो नष्ट हुआ है, यह तो आत्मा का अपना विकार था, रोग था, जो नष्ट हो गयी है। वह मेरे नमस्कार करने योग्य क्यों है ? क्योंकि मैं भी चाहता हूँ कि मेरे भी आत्मिक शत्रु नष्ट हो जायें। असल मे आत्मा की अशुद्धता ये रागादि ही हैं। इनका अभाव होना ही आत्मा की शुद्धता है, रागादि ही आत्मा का रोग हैं, अस्वस्थता हैं, उनका अभाव ही स्वस्थता है इसलिए यहाँ पर उनको नमस्कार किया है जिन्होने आत्मा की अस्वस्थता और अशुद्धता को नष्ट कर दिया। क्योंकि मैं भी आत्मिक रूप से रोगी हूं अस्वस्थ हूं, और मैं भी अपनी अस्वस्थता को नष्ट करना चाहता हू, इसलिए मेरे लिए वही नमस्कार करने योग्य पूज्य हो सकता है जिसने इनको नष्ट किया है। जिनके अन्तर्द्वन्द नही रहा—लोभ नही रहा—मान नहीं रहा—मोह नहीं रहा—काम नही रहा, उनको नमस्कार किया गया है। साथ में यह भी मिश्रित है कि जब उन्होने नाश किया तो मैं भी नाश कर सकता हूं।

(२) णमो सिद्धाणम् यानी सिद्धों को नमस्कार है। सिद्ध यानी जिन्होने पा लिया है अपनी स्वस्थता को, आत्मिक स्वस्थता को। अरहन्त जिन्होने छोड़ा है, सिद्ध जिन्होने पा लिया है, जिनको उपलब्धि हो गयी है। यहाँ पर भी किसी का नाम नही है, किसी व्यक्ति विशेष की बात नही है। यहां पर बात है कि जिसने आत्मिक गुणो को प्राप्त कर लिया है, जो शुद्धता को प्राप्त हो गये है, जिन्होंने अस्वस्थता का नाश करके शुद्धता को, स्वस्थता को पा लिया है, वे नमस्कार करने योग्य हैं। वे कैसे गुणों को प्राप्त हुए हैं ? जो ज्ञान की पूर्ण शुद्ध विकसित अवस्था—केवल ज्ञान को प्राप्त हो गये है। जो दर्शन यानी दृष्टि के पूर्ण शुद्ध विकास को केवलदर्शन को प्राप्त हुए हैं। जो पूर्ण आत्मिक आनन्द को, स्वाधीन आनन्द को प्राप्त हो गये हैं, आत्मिक शक्ति जिनकी पूर्ण प्रगट हो गया है। जो शरीर से रहित हो गये हैं, जिनमे अब कोई संस्कार नही बचा जिससे फिर जन्म लेने का सवाल पैदा हो नही सकता। जिनके आयु का सम्बन्ध नही रहा, जो शरीर की स्थिति का कारण था। जो पुण्य और पाप दोनों से रहित हो गये, जो शरीर के साथ रहने वाली इन्द्रियो से भी रहित हो गये, मात्र ज्ञान का अखण्ड पिण्ड, अनंत गुणो का पिण्ड, जैसा एक अकेला आत्मा था वैसा सब संयोगो से रहित हो गया है। ऐसा आत्मा:-सिद्ध आत्मा-नमस्कार करने योग्य है। इससे यह भी निश्चित होता है कि जैसा परमात्मा का स्वरूप है वैसा ही मेरा निज स्वरूप है। वस्तु मे तो फरक नहीं। मेरी आत्मा स्त्री-पुत्रादि-मकानादि शरीरादि-कर्मादि और रागादि के संयोग मे पड़ा हुआ है इसलिए मलिनता को प्राप्त है परन्तु ये

सब आत्मा की अपनी चीज नहीं है। अगर आत्मा की अपनी होती तो नष्ट नहीं होती इसलिए वर्तमान में उनका मेरा साथ संयोग है अब अगर मैं उनमें संयोग न मान कर अपनापना मानता हूं तो यह मेरी गलती है, यही चोरी है, यह अपराध है दूसरे की चीज हमारे पास मे रहने से भी हमारी नहीं हो सकती। हमारा अपना तो उतना ही है जो कुछ सिद्ध आत्मा के पास है। उससे जो कुछ ज्यादा मेरे पास है। वह कर्मजनित, पर रूप है; मेरा अपना नही हो सकता, उसमें अपनापना नही माना जा सकता। अगर मैंने अपनापना माना है तो यह अपराध है और उस अपराध का फल बंधन है—क्योंकि वह आत्मा के अपने निज रूप मे नही है। इसलिए इनका अभाव हो सकता है। कोयले की कालिमा उसकी अपनी है। बाहर से आई हुई नही। उसका अपना अस्तित्व है। वह दूर नही हो सकती। परन्तु स्फटिक मे झलकने वाली कालिमा उसकी अपनी नही, बाहर से आई हुई है। वह दूर की जा सकती है। सिद्ध वे हैं जिन्होने इस कालिमा का नाश किया है। इससे मालूम देता है कि यह कालिमा बाहर से आई हुई है और नाश हो सकती है। जिस प्रकार से उन्होने पुरुषार्थ के द्वारा अपनी कालिमा नष्ट की है वैसे ही मैं भी पुरुषार्थ के द्वारा अपनी कालिमा नष्ट कर सकता हू।

(३) तीसरा, (४) चौथा और (५) पाचवा पद है—णमो आइरियाणम्—णमो उवज्झायाणम्—णमो लोए सव्व साहूणम्—

इन तीन मत्रों मे साधुओं को नमस्कार किया गया है। लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार किया गया है। उन साधुओ मे तीन कोटि होती है। एक वे जो आचार्य है उनको नमस्कार है। आचार्य वे हैं जो निज मे आत्म-साधना करते हैं और दूसरो से आत्म साधना करवाते है। जिन्होंने आत्मा को प्राप्त किया है, निज स्वभाव को प्राप्त किया है और उसी मे लगे हुए है। अभी तक निज स्वभाव मे पूर्ण रूप से ठहरने मे, रमण करने मे, वे समर्थ नही हुए है इसलिए जो राग का अश बचा हुआ है उस राग के अश की वजह से दूसरो को आत्म साधना की प्रेरणा करते हैं। गुरु रूप से उनका उपकार करते हैं।

इसके बाद उन साधुओं में दूसरा पद है उपाध्याय का जो निज में पठन-पाठन करते हैं और दूसरों को पठन-पाठन कराते हैं। ये अपना आत्म साधना में लगे हैं। निज स्वरूप में अभी पूर्ण स्थिरता को प्राप्त नही हुए हैं इसलिए बाहर में शास्त्रादि का अध्ययन निज मे करते हैं और औरो को कराते हैं। यह कार्य उस राग की कणी का है जो शेष रह गयी। ऐसे उपाध्याय को मैं नमस्कार करता हूं।

उन लोक के सर्व साधुओ को नमस्कार करता हूं जिन्होने निज आत्म-स्वरूप को प्राप्त किया है, पर से भिन्न निज स्वभाव को अपने रूप से जाना है। अपने ज्ञान स्वभाव मे ज्ञाता दृष्टापने के वे मालिक हैं, उसमे वे जागृत हैं। जागृति दो तरह से हो सकती है—

बहिर्मुखी और अतर्मुखी। बहिर्मुखी जागृति होगी तो अंतर्मुखता अधकार पूर्ण हो जायेगी, वह मूर्छित हो जायेगी। अगर जागृति अतर्मुखी है तो बाहर की तरफ मूर्छा हो जायेगी। अन्तर्मुखता का अगर विकास हुआ तो तीसरी स्थिति जागृति की उपलब्ध होती है, जहां अन्तर मिट जाता है मात्र प्रकाश रह जाता है। वह पूर्ण जागृत स्थिति है। परन्तु बहिर्मुखता मे कोई कभी तीसरी स्थिति मे नही पहुंच सकता। तीसरी स्थिति मे पहुंचने को अन्तर्मुखता जरूरी है। बाहर से भीतर आना है फिर अपने में समा जाना है। मूर्छा का अर्थ है हम बाहर है, बाहर का अर्थ है हमारा ध्यान अन्य पर है। जहां ध्यान है वहीं पर हमारी शक्ति लगी हुई है और जहां ध्यान नही है वहां मूर्छा है। इन अन्तर्मुखता का नाम ही जागरण है। इस लिए जो पूरी तरह जग गया वह साधु है। जो सो रहा है, जो निज स्वभाव मे मूर्छित है, जो दुनिया मे, कर्म के कार्य में जाग रहा है वह असाधु है। वह जागरण भीतर इतना हो जाता है जहा न केवल बाहर की आवाज सुनाई देना बन्द होती है परन्तु अपनी श्वास की धड़कन भी सुनाई पड़े, अपनी आख की पलक का, हिलना भी पता चले, भीतर के विचार का पता चले और उनके जानने वाले का ज्ञान भी बना रहे। ऐसी साधना ये तीनों प्रकार के साधु करते हैं। ऐसे लोक के सर्व साधु नमस्कार करने योग्य हैं। उनको नमस्कार हो।

पं० टोडरमल जी ने भी मुनि का स्वरूप निम्न प्रकार से ही लिखा है।

"जो वीतरागी हैं समस्त पर पदार्थ को त्याग कर शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म अंगीकार करके, अतरग मे तो उस शुद्धोपयोग से अपने आपको आप अनुभव करते हैं, पर द्रव्य में अहं बुद्धि नहीं रखते, अपने ज्ञान स्वभाव को ही अपना मानते हैं, पर भावों में ममत्व नही रखते, पर द्रव्य और उनके स्वभाव को जानते है परन्तु इष्ट अनिष्ट मान कर रागद्वेष नहीं करते। शरीर की अनेक अवस्था होती है, बाहर में अनेक पदार्थों का सयोग होता है परन्तु वहां सुख-दुख नही मानते, अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बने वैसे बनती है, खेंच करके उनको नही करते, जैसे पानी मे कोई चीज बाहर की है, वैसे कर्म के सम्बन्ध के अनुसार मान-सम्मान आदि होते हैं परन्तु किसी चीज की अपेक्षा नही रखते, अपने उपयोग को बहुत नही भ्रमाते। उदासीन रह कर निश्चल वृत्ति को धारण करते हैं, मंदराग के उदय से कदाचित् शुभोपयोग भी होता है जिससे जो शुद्धोपयोग के बाहरी साधन हैं उनमे अनुराग करते है। परन्तु उस राग भाव को हेय समझ कर दूरकरने की चेष्टा करते, तीव्र कषाय का अभाव होने से हिंसादिरूप अशुभोपयोग परिणति का जहा अस्तित्व ही नही है इस प्रकार की अतरग अवस्था होत बाहर समस्त परिग्रह रहित दिगम्बर सौम्य मुद्रा के धारी है, वन मे रहते है, अठाईस मूल गुणों का पालन अखंडित करते हैं, बाईस परिषह को सहन करते हैं, बारह प्रकार तप को धारण करते है, कभी ध्यानमुद्रा को धारते है कभी अध्ययनादि बाहरी धर्म क्रिया मे प्रवर्तते हैं, कदाचित् शरीर की स्थिति के लिए योग्य आहार विहार क्रिया मे सावधान होते हैं। ऐसे साधु ही नमस्कार करने योग्य हैं।

इन पाचों मे पूज्यता का कारण वीतराग विज्ञान भाव है. क्योंकि जीवत्व की अपेक्षा तो जीव समान है परन्तु रागादि विकार से तथा ज्ञान की कमी से तो यह जीव निन्दा योग्य होता है और रागादि की हीनता से और ज्ञान की विशेषता से स्तुति योग्य होता है। अरहत और सिद्ध तो पूर्ण रागादि से रहित हैं और वीतराग विज्ञानमय हैं और आचार्य, उपाध्याय और साधु मे एक देश राग की हीनता और एक देश वीतराग विज्ञान भाव हैं इसलिए वे वंदना करने योग्य हैं।"

अरहता मंगलं—सिद्धामंगलं—साहूमंगलं—केवलिपण्णतो धम्मोमंगलं। ये चार मगल रूप हैं। जिनसे आत्मा का हित हो, आत्म-कल्याण हो उन्हें ही मंगल रूप कहा है। आत्म हित मे साधन अरहत-सिद्ध-साहू और वस्तु का स्वरूप जैसा इनके द्वारा बताया गया है वही मंगल रूप कल्याणकारी हो सकता हैं। अन्य जिनको हम लोक में मंगल रूप मान रहे है वे मगल रूप नही हैं। जहाँ वीतराग विज्ञानता है वहाँ मगलपना है।

चार ही लोकोत्तम है, याने ये चार ही लोक मे उत्तम हैं। धन-वैभव-राज्य-पद आदि कोई उत्तम नही क्योंकि बाहर से आया हुआ हैं। लोक मे उत्तम है तो यह चार ही हैं। इस पद के द्वारा लोक मे अन्य बाहरी पदार्थों को उत्तम मान कर जो पकड कर रखा है उनका निषेध किया है। असल में यहाँ पर भी अरहतादि रूप जो अपना स्वरूप है उसे ही उत्तम और मगलरूप बताया जा रहा है परन्तु जब तक ऐसे स्वरूप की पूर्ण रूप से प्राप्ति नही हो जाती तब तक व्यवहार मे जो ऐसे स्वरूप को प्राप्त हुए हैं उन्हे मंगल रूप और उत्तम बताया है। इस प्रकार से यहाँ बाहर से हटा कर, पर से हटा कर अपने निज स्वरूप मे उत्तमपना धारण करने को कहा है।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—इन चार की शरण लेता हूं ये ही शरण रूप है, ये ही शरण लेने योग्य है, ऐसा स्वरूप ही प्राप्त करने योग्य है। यहाँ पर भी किसी अन्य व्यक्ति विशेष की शरण लेने को नही कहा जा रहा है। परमार्थ से तो आप ही अपने लिये शरणभूत हैं परन्तु जब तक ऐसे स्वभाव में पूर्ण रूप स्थिरता नही हो जाती तब तक बाहर मे अगर किसी का आसरा खोजने की दरकार पड़े तो ये ही चार शरणभूत है, अन्य दुनिया के पदार्थ, वस्तुए, धन-वैभव, पुण्यादि का उदय, मान, सम्मान, राजा, महाराजा कोई भी शरणभूत नही हैं। कोई पद शरणभूत नही है, सभी नाशवान हैं, पर कारण से होने वाले है, पर रूप है।

—सन्मति विहार, नई दिल्ली-२

□□

मध्वदर्शन और जैनदर्शन

☐ डा० रमेशचन्द्र जैन,

मध्वदर्शन विशुद्ध द्वैतवादी दर्शन है। जैनदर्शन द्वैत-वादी होते हुए भी प्रत्येक जीवात्मा के स्वतन्त्र अद्वय तत्त्व को स्वरूपतः मानता है। मध्व' ज्ञान के तीन साधनो को स्वीकार करते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण। जैन दर्शन मे प्रमाण के केवल दो भेद किये गए है—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आगम और अनुमान प्रमाण आते हैं। मध्व दर्शन मे उपमान प्रमाण को अनुमान की ही कोटि का माना गया है। जैन दर्शन मे उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान प्रमाण मे किया गया है। मध्व के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान स्वयं विश्व की समस्या को हल करने मे सहायक नहीं हो सकते। प्रत्यक्ष की पहुच उन्ही तथ्यो तक है जो इन्द्रियगोचर है। अनुमान हमे कोई नवीन तथ्य नही दे सकता। यद्यपि अन्य साधनो द्वारा प्राप्त हुए तथ्यो की परीक्षा करने तथा उन्हे क्रमबद्ध करने में यह सहायता अवश्य करता है। जैन दर्शन के अनुसार जानकारी के दो ही साधन हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है (१) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और (२) परमार्थिक प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो जानकारी होती है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का विषय है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष का विषय है। अनुमान द्वारा हमे परोक्ष रूप से तथ्यो की जानकारी होती है। मध्व के मत मे यथार्थ सत्ता के सत्यज्ञान के लिए वेदो का आश्रय आवश्यक है। जैन दर्शन वेदो को प्रमाण नही मानता है, उसके अनुसार अपने आवरण के क्षयोपशम या क्षय से ही यथार्थ सत्ता की जानकारी होती है। मध्व के अनुसार ज्ञाता तथा ज्ञात के बिना कोई ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता। ज्ञान के कर्ता अथवा ज्ञात प्रमेय पदार्थ के बिना ज्ञान के विषय मे कुछ कहना निरर्थक है। जैन दर्शन ज्ञान और ज्ञेय का पार्थक्य मानते हुए भी निर्विकल्प अवस्था में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के भेद को स्वीकार नहीं करता है।

मध्व के अनुसार यह ससार अयथार्थ वस्तु नही है। यदि हम पदार्थों के मध्य भेद को स्वीकार नहीं करते तो हम विचारों में परस्पर भेद की व्यवस्था भी नही कर सकते। हमारा ज्ञान हमे बतलाता है कि भेद विद्यमान हैं। हम उन्हे केवल मात्र औपचारिक नहीं मान सकते, क्योंकि औपचारिकता भेद उत्पन्न नही करती। जैन दर्शन संसार को सर्वथा अयथार्थ नही मानता है। पदार्थों के मध्य भेदाभेद है जिसके आधार पर एक वस्तु दूसरी से मिलती-जुलती है अथवा पृथक् अस्तित्व रखती है। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक है।

मध्व के मत मे पदार्थ दो प्रकार के होते है—स्वतन्त्र और परतन्त्र। ईश्वर जो सर्वोपरि पुरुष है, वही एकमात्र स्वतन्त्र पदार्थ (यथार्थ सत्ता) है। परतन्त्र प्राणी दो प्रकार के है—(१) भाववाचक (२) अभाववाचक। भाववाचक के दो वर्ग है—एक चेतन आत्माएँ हैं और दूसरे अचेतन पदार्थ, जैसे प्रकृति और काल। अचेतन पदार्थ या तो नित्य है, जैसे कि वेद या नित्य और अनित्य जैसे—प्रकृति, काल और देश अथवा अनित्य जैसे प्रकृतिजन्य पदार्थ। जैन-दर्शन प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता को मानता है, किसी को सर्वोपरि नही मानता है। उसके अनुसार ससार की सारी वस्तुयें भावाभावात्मक और नित्यानित्यात्मक हैं।

मध्व के अनुसार तीन वस्तुयें अनादिकाल से अनन्त-काल तक रहने वाली है जो मौलिक रूप से एक दूसरे से भिन्न हैं अर्थात् ईश्वर, आत्मा और जगत्। यद्यपि ये सब यथार्थ और नित्य है, फिर भी पिछले दो अर्थात् आत्मा तथा जगत् ईश्वर से निम्न श्रेणी के तथा उसके ऊपर आश्रित हैं। जैन दर्शन जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहो द्रव्यों को अनादि अनन्त स्वीकार करता है। नैश्चयिक दृष्टि से ये सभी स्वाश्रित हैं। इनमें से कोई भी निम्न अथवा उच्च श्रेणी का नहीं है, सभी की स्वतन्त्र सत्ता है।

मध्व ब्रह्म मे सब प्रकार की पूर्णता मानते हैं। ब्रह्म तथा विष्णु को एक रूप माना गया है और कहा गया है कि वह अपनी इच्छा से संसार का संचालन करता है।

वह ससार को बार-बार रचता तथा उसका सहार करता है। उसकी देह अति प्राकृतिक है और उसे सब संसार से ऊपर माना गया है तथा वह ससार के अन्तर्निहित भी है, क्योंकि वह सब जीवात्माओ मे अन्तर्यामी है, वह अपने को नानाविध आकृतियों मे प्रकट करता है, समय-समय पर अवतारों के रूप में प्रकट होता है और कहा जाता है कि पवित्र मूर्तियों के अन्दर गुप्त रूप मे उपस्थित रहता है। वह सृष्टि को रचता, उसको धारण करता तथा उसका विनाश करता है। वह ज्ञान का प्रदाता है, अपने को नाना प्रकार से व्यक्त करता है, कुछ को दण्ड देता तथा अन्य को मुक्त करता है। जैन दर्शन मुक्तावस्था को ही ब्रह्मोपलब्धि मानता है। मुक्त होने के बाद कोई अभीप्सा न रह जाने के कारण ससार के संचालन का प्रश्न ही नही उठता। सृष्टि, स्थिति तथा सहार अथवा उत्पाद, ध्रौव्य और व्ययपना प्रत्येक वस्तु मे पाया जाता है। जीव का स्वरूप अरूपी है। मुक्तावस्था मे स्वरूप प्रकट होने पर पवित्र मूर्तियों के अन्दर उपस्थित रहने का प्रश्न ही नही उठता। राग-द्वेष से विहीन होने के कारण मुक्त पुरुष अथवा कैवल्यप्राप्त पुरुष न तो किसी को दण्ड देता है, न किसी पर अनुग्रह करता है। प्रत्येक आत्मा अपने कर्मों का क्षय कर मुक्त हो सकता है।

मध्व ब्रह्म और जीव के मध्यगत भेद को यथार्थ मानते हैं। उनका मत है कि यह समझना भूल है कि मोक्ष की अवस्था मे जीव और ब्रह्म अभिन्न हो जाते है और ससार में भिन्न हैं। जैन दर्शन सभी आत्माओ का चाहे वे मुक्त हो या संसारी स्वतन्त्र, पृथक पृथक अस्तित्व मानता है। मध्व के अनुसार आत्मा स्वतन्त्र कर्ता नही है क्योंकि वह परिमित शक्ति वाला है और प्रभु उसका मार्ग दर्शन करता है। जीव को आकार मे अणु बतलाया है और यह उस ब्रह्म से भिन्न है जो सर्वव्यापी है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा नैश्चयिक दृष्टि से अपने भावों का कर्ता है और व्यवहारिक दृष्टि से कर्मादि का कर्ता है। आत्मा स्वरूपत: अपरिमित शक्ति वाली है। ससारी आत्मा कैवल्य प्राप्त अथवा मुक्त आत्माओं से प्रेरणा ग्रहण करता है। जीव शरीर प्रमाण आकार वाला है। मुक्तात्माओं से भिन्न किसी सर्वव्यापी ब्रह्म की सत्ता नही है।

मध्व तथा जैन दर्शन दोनों में इस बात मे समानता है कि आत्मा स्वभाव से आह्लादमय है, यद्यपि यह अपने पूर्व कर्म के अनुसार भौतिक शरीरों से सम्बद्ध होने के कारण सुख व दुःख के अधीन है। जब तक यह अपनी मर्यादाओं से विरहित नही होती, यह नाना जन्मों मे अपनी आकृतियाँ बदलती हुई भ्रमण करती रहती है। सब वस्तुओ के विषय मे यथार्थ ज्ञान अर्थात् भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान हमे ईश्वर (परमात्मत्व) के ज्ञान की ओर ले जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए सबसे पूर्व एक स्वस्थ तथा निर्दोष नैतिक जीवन का होना आवश्यक है। बिना किसी इच्छा अथवा फल प्राप्ति के दावे के नैतिक नियमों का पालन करना तथा कर्तव्य कर्मों का निभाना आवश्यक है। धार्मिक जीवन हमे सत्य की गहराई में पहुंचाने मे सहायक होता है।

मध्व के अनुसार वेदों के अध्ययन से हम सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकते है और उसकी प्राप्ति के लिए एक उपयुक्त गुरु की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति मे ब्रह्म के एक विशेष रूप का साक्षात्कार करने की क्षमता रहती है। केवल देवताओ तथा तीन उच्च वर्णों के मनुष्यो को ही वेदाध्ययन की आज्ञा दी गई है। ध्यान के द्वारा आत्मा दैवीय कृपा से अपने अन्तःकरण मे ईश्वर का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर सकती है। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण और नयों के द्वारा पदार्थों की जानकारी होती है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से एक देश ज्ञान तथा क्षय से पूर्णज्ञान प्रकट होता है। प्रत्येक आत्मा अपना पूर्ण विकास कर परमात्मा बन सकता है। सम्यग्ज्ञान की आराधना का अधिकार सबको है। प्रशस्त ध्यान के द्वारा आत्मत्व की उपलब्धि होती है, दैवीय कृपा का ध्यान के साथ योग नही है। जीव स्वयं प्रयत्न कर बन्धन से मुक्त होता है, इसके लिए ईश्वर कृपा आवश्यक नही है। कोई दैवीय इच्छा मनुष्य को बन्धन मे नही डालती, अपितु अपनी अनादिकालीन कर्म परम्परा से जीव बन्धन मे पड़ा हुआ है। सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ये तीनों मोक्ष के लिए आवश्यक हैं।

जैन मन्दिर के पास
बिजनौर (उ० प्र०)

श्रावक और रत्नत्रय

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

मोक्ष मार्ग को इंगित करने के भाव में 'श्रावक' शब्द का बहुत बड़ा महत्व है। जैन परम्परा मे श्रावक और मुनि इन दोनों शब्दों का उल्लेख प्राचीनकाल से मिलता है। मुनि अवस्था मे सर्व पाप और आरम्भ का पूर्णतः त्याग होता है और श्रावक मे अशतः। 'श्रावक' अवस्था मोक्षमार्ग की प्रथम प्रारंभिक सीढ़ी है: ससार मे डूबे प्राणी को पार लगाने मे श्रावक पद लकड़ी के तख्ते की भांति सहारे का काम करता है तो मुनिपद नौका की भांति सहारा देता है।

संसार समुद्र में मग्न जिस जीव से नौका का दूर का फासला हो उसे तख्ते का सहारा लेकर नाव के पास तक पहुंचना चाहिए—इसी मे बुद्धिमानी है।

तत्त्वार्थ सूत्र में मोक्षमार्ग के प्रसग में एक सूत्र आता है—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।' इसका भाव है सत्यश्रद्धा, सत्य-ज्ञान और सत्य-चारित्र की पूर्णता (एकत्वपना) मोक्ष का मार्ग है। यही भाव अशतः 'श्रावक' शब्द के वर्णो से सहज ही निकाला जा सकता है—'श्रा' से श्रद्धा, 'व' से विवेक और 'क' से क्रिया। अर्थात् जो श्रद्धा-विवेक और क्रिया (चारित्र) वान् है वह श्रावक है, वही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त है—ऐसा समझना चाहिए।

श्रद्धा-सम्यग्दर्शन का अपर नाम है। आचार्यों ने समझाने की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का दो भांति से वर्णन किया है—निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन। इन दोनों की पहिचान तो बड़ी कठिन है, पर व्यवहार मे जो जीव शंका-आकांक्षा आदि दोषो से रहित हों—और देव-शास्त्र-गुरु में श्रद्धा रखते हों, जिनके अष्टमूल गुण धारण हों और मद्य-मास-मधु इन तीन मकारो का त्याग हो वे जीव भी सम्यग्दृष्टि की श्रेणी में आते हैं। उक्त बातो से हमें व्यवहार सम्यग्दृष्टि का निर्धारण करना चाहिए। सम्यग्दर्शन का जैसा विशद् वर्णन आचार्योंने किया है उसकी किंचित् झलक इस भांति है—अतः इसे समझ कर अपने मे सदा सावधान रहना चाहिए क्योंकि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इसी सम्यग्दर्शन पर आधारित है—

सम्यग्दर्शन

'शिष्यो के प्रति संबोधन करते हुए जिनवरों—तीर्थंकर परमदेवों तथा अन्य केवलियो ने धर्म को दर्शनमूल कहा है अर्थात् धर्म की प्रतिष्ठा प्रासादगर्तापूरवत् और वृक्ष-पातालगत जटावत् सम्यग्दर्शन के आधार पर है। ऐसे धर्म को स्वकर्णों से सुनकर—अन्तरंग से मनन चिन्तवन करना व मानना चाहिए और दर्शन से हीन धर्म (धर्मी) की बन्दना (मान्यता) नही करनी चाहिए'। श्री श्रुतसागर सूरि तो यहां तक कहते हैं कि दर्शनहीन अर्थात् मिथ्यादृष्टि को (दान की दृष्टि से) दान भी नहीं देना चाहिए। क्योंकि—

'मिथ्यादृग्भ्यो ददद्दानं दाताभिथ्यात्ववर्धकः।

विपरीत इसके—शास्त्रों मे सम्यग्दर्शन की महिमा दिखलाई गई है और यहां तक भी कह दिया गया है कि 'सम्यग्दर्शन सपन्नमपि मातंग देहजम्' अर्थात् शरीर से चाण्डाल भी हो पर यदि सम्यग्दर्शन संपन्न है तो वह देव तुल्य (उत्तम) है! भाव यह है कि सम्यग्दर्शन आत्मगुण है उसका इस नश्वर शरीर-पुद्गलपिन्ड से साक्षात्-परमार्थ रूप कोई सबंध नही है। यदि कोई जीव देहादिक जड़ क्रिया अथवा देह के आश्रित रूप मे सम्यग्दर्शन का महत्व मानता है तो वह भ्रम मे है। हमे तो ऐसा उपदेश मिला है कि—आत्मा के अतिरिक्त अन्य पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की मान्यता रखना, बहिरंग की बढ़ोतरी मे गर्व अथवा न्यूनता मे हीनता का भाव करना आत्मतत्त्व की दृष्टि से हेय है। आचार्य ने शरीराश्रित और अनाश्रित दोनों ही प्रकार की विभूतियों की बढ़वारी अथवा हीनता में समता भाव का ही उपदेश दिया है। उक्त विवेचन का सार हम तो यही समझे हैं कि—

'न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ।।

व्यवहार में हम जिन उत्तम क्षमा-मार्दव आर्जव शौच सत्य, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य को धर्म का रूप मानते हैं उन धर्मों की जड़ में भी सम्यग्दर्शन बैठा हुआ है। अतः मिथ्यादृष्टि के उत्तम क्षमादि होना सर्वथा अशक्य हैं। यदि कोई कुलिंगी उक्त धर्मों का आसरा लेता है और उनके आसरे मिथ्यात्व सहित अवस्था में धर्म मानता है तो वह धर्म एव उसके स्वरूप को नही जानता सम्यग्दृष्टि का धर्म ऐसे किसी प्रपच से सम्बन्ध नही रखता जिसमें संसार-वर्धक क्रिया-कलापों का ससर्ग भी होता हो। कहा तो यहाँ तक है कि—

'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागम लिंगिनां ।
प्रणाम विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ।।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव किन्हीं भी और कैसे भी कारणो के उपस्थित होने पर कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओं की मान्यता नही करता। मूलरूप मे धर्म भी वहीं है जहाँ शुद्ध आत्म-द्रव्य के अतिरिक्त पर पदार्थों में निजत्व की कल्पना अथवा उन पर पदार्थों से ख्याति-पूजादि की चाह आदि का पूर्ण अभाव होता है और किसी भी लोभ-आशा अथवा स्नेह के वश से पर-पदार्थों की प्रशसा नही की जाती है। हाँ, पदार्थ स्वरूप अवगम की दृष्टि से उनके याथातथ्य स्वरूप पर विचार और वर्णन करने मे दोष नहीं। सार यह कि धर्म के अस्तित्व मे सम्यग्दर्शन की उपस्थिति परमावश्यक है। आत्म-पुरुषार्थी का प्रयत्न होना चाहिये कि उसका एक भी क्षण सम्यग्दर्शन की आराधना के बिना न जाय।

सम्यग्दर्शन-महिमा के प्रकरण में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

दंसण भट्ठा भट्ठा, दंसण भट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा, दंसण भट्ठा ण सिज्झंति ।।३।।

अर्थात् दर्शन से भ्रष्ट जीव भ्रष्ट हैं। उनके सर्वकर्म-क्षयलक्षण मोक्ष नही है। चारित्रभ्रष्ट (व्यवहार-चारित्र-भ्रष्ट) जीव तो कदाचित् ठिकाने पर आ आत्मोपलब्धि को प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव आत्मोपलब्धि नहीं पाते। आशय है कि—

संसारी जीव अपनी अज्ञानतावश जिस इन्द्रियजन्य सुख को सुख समझ रहे हैं वह सुख नही अपितु दुख ही है। क्योकि उसमें अनाकुलता और स्थायित्व नहीं। सुख परमसुख वह है जिसके आदि मध्य अन्त्य तीनों सुखरूप हों। जिसमें दुख और आकुलता का लेश न हो। ऐसा परमसुख सर्वकर्म क्षय लक्षण मोक्ष में है और वह मोक्ष सम्यग्दर्शन रूपी सीढी के बिना नहीं मिल सकता। अर्थात् सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी है। इसलिए दर्शन से भ्रष्ट नहीं होना चाहिए। क्योंकि—

'नहि सम्यक्त्व समं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभृताम्।'

अर्थात् तीनों कालों और तीनों लोकों मे शरीरधारियों को सम्यक्त्व सदृश कोई कल्याणकारी और मिथ्यात्व के सदृश कोई अकल्याणकारी नही है।

सांसारिक सुख अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि मे तुच्छ सुख तो अन्य साधनों से भी प्राप्त हो सकते है। पर मोक्ष सुख के लिए सम्यग्दर्शन होना अवश्यम्भावी है। आचार्यों ने जहां पुण्य की महिमा का वर्णन किया है वहां सम्यग्दर्शन को ही प्रधानता दी है। यथा—

'सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेऊ जइ वि णियाण ण सो कुणई ।।'

अर्थात् सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नही होता। स्वाध्यायी देखेंगे कि उक्त गाथा मे पुण्य के पूर्व सम्यग्दर्शन का उल्लेख किया गया है। यदि मात्र पुण्य से ही मोक्ष मिलता होता तो आचार्य इस गाथा में सम्यग्दर्शन जैसे महत्वपूर्ण शब्द का प्रयोग पुण्य के पूर्व में न करते। और अन्यत्र मोक्ष विधि में पुण्य प्रकृति के नष्ट करने का विधान भी नहीं करते। यदि कदाचित् सम्यग्दर्शन-हीन पुण्य को ही मोक्ष का कारण मान लिया जाय तो ज्ञान ने कौन सा अपराध किया है जिसे आत्म-गुण होने पर भी सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्ष का कारण न माना जाय। विचित्र सी बात होगी कि एक ओर तो आत्मा से सर्वथा विपरीत और कर्म प्रकृति-रूप-पुण्य को सम्यग्दर्शन की उपेक्षा कर मुक्ति का दाता मान लिया जाय और दूसरी ओर आत्मा के निज तत्व-ज्ञानगुण को सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्पना भी न दिया जाय।

इन बातों पर दृष्टिपात करने से ऐसा ही बोध होता है कि उक्त वर्णन में आचार्य का तात्पर्य उन जीवों को संबोधन का रहा है जो कदाचित् मात्र पुण्य को ही सब कुछ मान उसे मोक्ष का कारण तक मान बैठे हों। आचार्य ने दर्शाया है कि—हे भव्य जीवो, केवल पुण्य को ही मोक्ष का कारण न मान सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रयत्न करो। अन्यथा पुण्य तो मिथ्यात्वी के भी होता है। आचार्य का भाव ऐसा है कि जब सम्यग्दर्शन होगा, तभी पुण्य शुभ रूप में उपस्थित होगा। यद्यपि पुण्य साक्षात् रूप से तब भी मोक्ष न पहुंचायेगा अपितु उस पुण्य को भी नष्ट करना ही होगा। यह तो सम्यग्दर्शन की महिमा होगी कि उससे प्रभावित पुण्य सामग्री उस जीव को निरन्तर उत्कर्ष की ओर ले चलेगी। अन्यथा पुण्य साधारण तो मिथ्या-दृष्टि के भी देखा जाता है। वध कर्म करने वाले बधक को पुण्य योग से प्राप्त सामग्री वध जैसे अशुभ कार्य मे प्रयुक्त होती देखी ही जाती है।

स्पष्ट यह है कि पुण्य शुभ है और पाप अशुभ है। शास्त्रों मे अशुभ से निवृत्ति कर शुभ मे प्रवृत्ति और शुभ से निवृत्ति कर शुद्ध मे प्रवृत्ति का उपदेश है। अशुभ सर्वथा हेय है और शुभ कथचित् उपादेय है। कथचित इसलिए कि शुभ भाव सहित सम्यग्दृष्टि शुद्धि की ओर बढ़ता है। अन्ततोगत्वा मोक्ष विधि में शुभ को सर्वथा छोड़ शुद्ध ही धारण करना पड़ता है।

बहुत से जीव ऐसा विचार कर लेते हैं कि अशुभ की निवृत्ति से शुभ और शुभ की निवृत्ति से शुद्ध स्वाभाविक ही हो जाता है। इस प्रकार शुभ—पुण्य से मोक्ष हो ही जायेगा। सो उनका ऐसा मानना भी भ्रम है। क्योंकि ऐसा नियम नही है। अत: जीव शुभ से निवृत्त हो अशुभ में भी जा सकता है, शुद्ध मे भी जा सकता है। ये सब जीवों के अपने परिणामों पर निर्भर करता है और परिणामों के सम्यक् व मिथ्या होने मे जीव के सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन मुख्य कारण हैं। इसी बात को पंडित प्रवर टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक में विशेष स्पष्ट करते हैं, वे कहते हैं—

'कोई ऐसे माने कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग कौं कारण है। सो जैसे अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। ऐसे ही कार्य कारणपना होय तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरै। अथवा द्रव्यलिंगी कै शुभोपयोग तो उत्कृष्ट ही है—शुद्धोपयोग होता ही नहीं।'

'बहुरि जो शुभोपयोग ही कौं भला जानि ताका साधन किया करै तो शुद्धोपयोग कैसे होय। तातै मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग कौं कारण है नहीं। सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग की प्राप्ति होय, ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभोपयोग कौं शुद्धोपयोग का कारण भी कहिए है।'

इससे स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग प्रकरण में सर्वत्र सम्यग्दर्शन की ही प्रधानता है। किसी कर्म प्रकृति की प्रधानता सर्वथा ही नही। अपितु कर्म प्रकृतियो के नष्ट करने का ही विधान है। इस कथन का तात्पर्य यह नहीं कि पुण्य को सभी दृष्टियों से हेय मान पापरूप प्रवृत्ति की जाय। जब तक जीव की प्रवृत्ति शुद्ध दशा की ओर सर्वथा नहीं, तब तक पुण्यजनक क्रियायें करने का शास्त्रों में समर्थन है। देव-पूजा आदि षट्कर्म-श्रावक और मुनि के व्रत सभी इसी के अंग है। जहाँ तक व्यवहार है ये सब रहेंगे। पर सर्वथा इनसे ही चिपके रहना और आत्मा की शुद्ध परिणति की संभाल न करना आत्म-कल्याण में आचार्य को इष्ट नही। निष्कर्ष ये निकला कि बिना सम्यग्दर्शन के शुभक्रियायें भी आत्म साधन मे कार्यकारी नही। अत: सम्यग्दर्शन की संभाल रखनी चाहिए। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव सदा ही भ्रष्ट हैं - यह पूर्वार्ध का भाव है।

मूल गाथा मे जो ऐसा कहा गया है कि 'सिज्झति चरिय भट्टा' इसका आशय इतना ही है कि जिन जीवों को सम्यग्दर्शन है और चारित्र नही है, उन्हें भविष्य में स्वभाव प्राप्ति की तीव्र लगन होने पर चारित्र सहज भी प्राप्त हो जाता है। शास्त्रों मे वर्णन है कि बाह्य चारित्र के अभाव में भी 'आणं ताणं कछु न जाणं' और 'तुषमाषं घोषन्तो' रटते हुए अंजन चोर आदि अनेकों जीव कदाचित् क्षणमात्र में पार हो गए। अर्थात् उन्हे आत्मबोध और लीनता प्राप्त करते देर न लगी। और दर्शनभ्रष्ट मरीचि जैसे जीव को सीझते सीझते भगवान आदिनाथ के काल

(शेष पृ० ३६ पर)

कर्म सिद्धान्त की जीवन में उपयोगिता

□ सुश्री श्री पुखराज जैन

मुक्ति ! मुक्ति !! मुक्ति !!! सर्वत्र यही चर्चा है। लेकिन मुक्ति मिले कैसे ? जब तक जीव निज-पहचान-श्रद्धान-रमणता रूप त्रिवेणी में डुबकी लगाकर ज्ञान-ध्यान-तप रूपी अग्नि में जीव के अनादिकालीन-कर्म-शत्रुओं का नाश न करे। यदि जीव भवभ्रमण से थकान महसूस करता है और सच्चे अर्थों मे शाश्वत निराकुल सुख के लिए लालायित है, तो उसके लिए कर्म-सिद्धान्त की रहस्यमय सम्यक् जानकारी अनिवार्य है। अन्यथा कर्म का स्वरूप, आस्रव (आगमन) के कारण, बन्ध (आत्मा केसाथ) की प्रक्रिया, कर्मों की स्थिति और मैं इनसे भिन्न एकमात्र ज्ञानस्वभावी आत्मा हूं – यह सब जाने बिना किस प्रकार स्वभाव सन्मुख होकर परम-इष्ट मुक्ति का वरण करेगा। अतः कर्म विज्ञानका यथार्थ ज्ञान अपेक्षित है।

साधक के आत्म-विकास मे जिस-कारण से बाधा उपस्थित होती है। उसे जैनदर्शन मे कर्म कहते है। जैनो के अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त को सांख्य योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक बौद्धादि मत भी मानते है। लेकिन अन्य दर्शनो से भिन्न जैन शासन मे कर्म-सिद्धान्त पर अपेक्षाकृत अधिक गंभीर, विशद, वैज्ञानिक चिंतन की गई है। निष्पक्षता व दृढ़ता-पूर्वक इसे जैनागम की मौलिक विधा कहा जा सकता है। कर्म सिद्धान्त के अभाव में जैनागम का अध्ययन पंगु है।

विश्व की विविधता का समाधान कर्म तत्त्वज्ञान द्वारा (अन्य दर्शनो से भिन्न) तर्कानुकूल पद्धति से जैन शासन में होता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपना भाग्य-विधाता स्वयं है। वह ईश्वर की किंचित भी अपेक्षा नही करता न कर्म करने मे न भोगने मे। स्मरणीय है कि विचित्रताओ से पूर्ण विश्व एक स्वभाव वाले ईश्वर की कृति नही हो सकता।

कर्म केवल संस्कार मात्र नही वस्तुभूत पदार्थ है। जो रागी-द्वेषी जीव की योग-क्रिया मन-वचन काय से आकृष्ट होकर जीव के पास आता है और मिथ्यात्व— विपरीत मान्यता अविरत, प्रमाद व कषाय का निमित्त पाकर जीव से बंध जाता है।

बंध अवस्था मे जीव व पुद्गल अपने-अपने गुणो से कुछ च्युत होकर एक नवीन अवस्था का निर्माण करते है। सामान्यपने से कर्म एक ही है, उसमे भेद नही लेकिन द्रव्य

(पृष्ठ ३५ का शेषांश)

से प्रारम्भ कर भगवान पार्श्वनाथ के होने तक के करोड़ों-करोड़ों वर्षों का लंबा काल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे लग गया। यदि दर्शन शीघ्र भी हो जाय तो भी आश्चर्य नही— पर इसका होना जरूरी है क्योकि इसके बिना ज्ञान और चारित्र दोनों ही सम्यक्ता को प्राप्त नही करते।

इतना ध्यान रखें कि उक्त कथन 'दर्शन' की मुख्यता को लिए हुए है। वैसे जैनधर्म चारित्र प्रधान धर्म है और इसमें सभी रूपो मे चारित्र की महिमा गाई गई है। साधारण जन के लिए मुनिपद तो बड़ी दूर की कल्पना की बात है, इसके श्रावक पद का ही चारित्र इतना ऊँचा और कठिन है कि जिसे देख स्वर्ग मे देव तक भी ईर्ष्या करते हैं। वे चारित्र पालन मे हेतुभूत मनुष्य भव की चाहना करते हैं क्योंकि मनुष्य भव के बिना चारित्र नही होता और चारित्र के बिना मुक्ति नही होती। आखिर, यथाख्यात चारित्र—चारित्र की उच्चतम अवस्था ही का नाम है। मूल बात ये कि यह यथाख्यात चारित्र भी सम्यग्दर्शन के बल पर ही होता है— मूल सम्यग्दर्शन होने पर कभी न कभी चारित्र होता ही है। अतः आचार्य ने दर्शन को मूल कहते हुए उपर्युक्त गाथा मे उसकी प्रशंसा और महानता को दर्शाया है। भाव ऐसा जानना चाहिए कि हमे बाह्य चारित्र में रहकर दर्शन प्राप्त करने में 'उद्यम करना चाहिए, चारित्र से विमुख नही होना चाहिए।

(क्रमशः)

तथा भाव के भेद से इसके दो प्रकार हैं। जिन भावों के द्वारा पुद्गल पिण्ड आकर्षित हो यह भावकर्म है तथा आत्मा में विकृति उत्पन्न करने वाले पुद्गल द्रव्यकर्म है। पुद्गलजनित द्रव्य कर्म की संख्या ८ है। **ज्ञानावरण कर्म**—ज्ञान पर आवरण डालता है। जैसे देवता के मुख पर ढका वस्त्र देवता के विशेष ज्ञान को नही होने देता। **दर्शनावरण**—जो आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण डाले। इसका स्वभाव दरबारी जैसा है जो राजा के दर्शन से रोकता है। **वेदनीय कर्म**—शहद लपेटी छुरी के समान है, जिसको चखने पर क्रमशः साता रूप सुख व असाता रूप दुख होता है। **मोहनीय कर्म**—मदिरा के समान है। मोह रूपी मदिरा नशे के कारण आत्मा को अचेत कर देती है। और निज स्वरूप का भान नही होने देती। **आयु कर्म** साकल के स्वभाव का है जो आत्मा को शरीर मे स्थित रखती है। आयु कर्म जीव को मनुष्यादि पर्यायो मे रोके रखता हैं। **नामकर्म** रूपी चित्रकार जीव को सुन्दर-असुन्दर, दुबले-मोटे शरीर को रचना करता है। **गोत्रकर्म** ऊँच नीचे कुल मे पैदा करता है—जैसे कुम्भकार छोटे-बड़े घड़े बनाता है। **अन्तराय कर्म** का स्वभाव भडारी सरीखा है। भडारी जैसे दानादि मे विघ्न डालता है। वैसे ही अन्तराय कर्म का काम सदैव रंग में भंग डालने का है। उपरोक्त मे चार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय जीव के अनुजीवी गुणों का घात करने के कारण घातिया कर्म कहलाते है। शेष आयु नाम गोत्र वेदनीय अघातिया कर्म है। **तत्वार्थसूत्र** नाम के ग्रन्थ मे कर्मों के आस्रव (आगमन के कारण) बध की प्रक्रिया, उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति आदि का व्यापक विवेचन है। कर्मबन्ध के चार भेद बतलाये। **प्रकृतिबंध**—कर्म परमाणुओ मे स्वभाव का पडना। **प्रदेशबंध**—कर्म परमाणुओ मे सख्या का नियत होना, **स्थितिबंध**—कर्म परमाणुओ मे काल की मर्यादा का पड़ना कि ये अमुक समय तक फल देंगे। इनमे फल देने की शक्ति का पड़ना **अनुभाग बंध** है। प्रकृति और प्रदेश बन्ध का निर्धारक योग है। और स्थिति व अनुभाग बंध कषाय से होते है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि अमूर्तिक आत्मा पुद्गल द्रव्य कर्म से संबद्ध कैसे और क्यों कर होता है? दोनों के समाधान अपेक्षित हैं।

जिस प्रकार तेल तिल का सोना-किट्टिमा का संबद्ध अनादि से देखा जाता है आत्मा और कर्म का सबद्ध भी अनादि से है। सादि सबध मानने पर अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जैसे—पहले आत्मा कर्मबंधन से मुक्त था; उसमे अनन्त ज्ञानादि गुण पूर्ण विकसित अवस्था मे थे। ऐसा परिशुद्ध आत्मा क्यो कर्म बंधन को स्वीकार कर स्वयं अपनी चिता रचने का प्रयास करेगा? सर्वदा परिशुद्ध आत्मा अत्यन्त अपवित्र घृणित शरीर को धारण करने का स्वप्न मे भी विचार न करेगा।

चूकि आत्मा और कर्म सबंध अनादि है अतः बंध पर्याय के प्रति एकत्व होने से आत्मा कथंचित मूर्तिक है। और अपने ज्ञानादि लक्षणो का परित्याग न करने के कारण कथंचित अमूर्तिक है। जैसे रूपादि रहित आत्मा रूपी द्रव्यों और उनके गुणों को जानता है। वैसे ही अरूपी आत्मा रूपी कर्म पुद्गल से बांधा जाता है।

कर्मफल—वैदिक दर्शन की मान्यतानुसार जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र लेकिन फल भोगने मे परतंत्र है। लेकिन जैनदर्शन मे जैसे दूध पीने से पुष्टि व मद्यपान से नशा स्वतः ही आता है। उसके लिए किसी अन्यकर्ता की आवश्यकता नही होती; इसी प्रकार भले बुरे फलदान की शक्ति स्वय कर्म मे होती है। कहा है—

'स्वय किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य, तो स्वय किये निष्फल होते।।'

यह मानना कि ईश्वर विश्व के समस्त चराचर प्राणियो के समस्त कर्मो (कार्यों) का लेखा-जोखा रख उन्हे दण्ड व पुरस्कार देना है; उस सच्चिदानन्द को संकट के सिंधु मे डालने सदृश होगा। फिर भगवान तो वीतराग-वीतद्वेष होते है वे क्यो कर क्रमशः पुरस्कार और दण्ड प्रदाता होंगे।

कहा भी है—

'कर्ता जगत का मानता, जो कर्म या भगवान को।
वह भूलता है लोक मे, अस्तित्व गुण के ज्ञान को।।"

वस्तुतः ससार मे सभी प्राणी अपने कर्मों से बंधे हैं। उनकी बुद्धि कर्मानुसार ही होती है। शुभ कर्मोपार्जित

बुद्धि सन्मार्ग प्रदर्शाती है। इसके विपरीत अशुभ कर्मोदय में प्राणी कुमार्ग मे भटकता है।

विचारणीय है कि किसी कर्म का फल इस जन्म में मिल जाता है और किसी का जन्मान्तर में। इस प्रकार कर्मफल भोग में विषमता देखी जाती है। ईश्वरवादियों की ओर से इसका ईश्वरेच्छा के अतिरिक्त और कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। लेकिन कर्म में ही फलदान की शक्ति मानने वाला जैन सिद्धान्त इसका तर्कानुकूल पद्धति से उत्तर देता है। युक्ति, अनुभव, आगम से भी यही सिद्ध होता है कि कर्मफलदाता ईश्वर नही, कर्म है।

जब जीव को कर्म-फल का रहस्य ख्याल मे आता है। कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वकृत कर्मानुसार ही अनुकूलता-प्रतिकूलता सफलता-असफलता मिलती है; तो वह व्यर्थ ही खेद-खिन्न न हो सतोष प्राप्ति को धारण करता है। उसके लिए अन्य प्रगतिशील साथी से ईर्ष्या करने का भी कोई प्रयोजन नही रह जाता क्योकि उसे उसके अपने कर्मानुसार प्राप्त होता है। कैसा कर्म करें, जिससे श्रेष्ठ फल मिले" भव्य जीव निरन्तर यही चिंतवन और श्रेष्ठ आचरण करने का प्रयास करता है। कर्म-सिद्धान्त का सम्यक् ज्ञान वह औषधि है, जिसका हर रूप में पान करने से फल की आकांक्षा नही रहती। क्योंकि उसका पक्का विश्वास है कि मेरे शुभ कर्मों की शुभप्राप्ति मे इन्द्रनरेन्द्र (संसारी तो क्या जिनेन्द्र (मुक्त) भी फेरफार करने मे समर्थ नही। शुभाशुभ कर्मफल में ज्ञानी समभाव धारण कर विचारता है कि इसमे वर्तमान की अपेक्षा जन्मान्तर से संचित कर्मो का भी हाथ है।

कर्म बलवान/निर्बल—जैन दर्शन की अनेकान्तमय दृष्टि कथचित् कर्म को बलवान स्वीकार करती है।

कर्म महारिपु जोर एक ना कान करे जी।
मन माने दुःख देय काहूं सों नाही डरे जी॥
कबहुं इतर-निगोद कबहु नरक दिखावे।
सुर-नर पशु गति मांहि बहु-विध नाच नचावे॥
मैं तो एक अनाथ ये मिल दुष्ट घनेरे।
कियो बहुत-बेहाल सुनियो साहिब मेरे॥'

भूधरदास जी द्वारा रचित भजन की उपरोक्त चंद पंक्तियों से कर्म माहात्म्य स्पष्ट रूप से झलकता है। तत्त्वार्थ सूत्र में कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का विवेचन सहज ही भयाक्रान्त करने वाला है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस-कोड़ा-कोड़ी सागर (अपरिमित-काल) और अकेले मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की है। घातिया कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति जीव को दीर्घकाल तक भव-भ्रमण कराने मे सबल निमित्त है। और भी उल्लेखनीय है कि कर्म उदय मे आने पर फल अवश्य देते हैं। सती सीता चन्दनबाला, अंजना और मैनासुन्दरी को कर्मों ने क्या खेल नहीं खिलाये।

भगवान पार्श्वनाथ पर कमठ के जीव का उपसर्ग तो सर्वप्रसिद्ध है तीव्र कर्मोदय में प्रायः सुबुद्धि भी चलायमान हो जाती है। 'जैनशतक' मे भूधरदास जी असाताकर्मोदय आने पर धैर्य धारण की शिक्षा देते हैं—

'आयो है अचानक भयानक असाता कर्म।
ताकें दूर करिबे को बलो कौन अह रे॥
जे जे मन भाये, ते कमाये पूर्व पाप आप।
तेई अब आये, निज उदैकाल लहरे॥
एरे मेरे वीर काहे होत है अधीर यामें।
काहु को न सीर, तू अकेलो आप सह रे॥
भये दीलगीर' कछु पीर न विनसि जाय।
ताही तें सयाने तू तमासगीर' रह रे॥

निर्बलता—कर्म कोई क्रूर आततायी नही जो प्रत्यक्ष में सन्मुख होकर जीव को दुःख देते हो वे तो प्राणी के साथ रहने वाले संस्कार अभ्यास व आदतें हैं जो उसने मानसिक वृत्तियो वचनालापों व कायिक विकृतियों द्वारा अपने मे अंकित कर रखे हैं। ये संस्कार व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध नहीं चलते। वरन ये तो स्वय व्यक्ति के पाले-पोषे सहायक साथी हैं। जिन्हें वह सदा अपने सीने से लगाये रहता है। इस जन्म में भी और जन्मान्तर मे भी। यद्यपि कथन मे ऐसा आता है कि ज्ञानावरणादिक कर्म दुःख के कारण है तथापि द्रव्यार्थिक नय से कहा जाय तो जब यह जीव स्वयं विकार भाव रूप परिणमन करता है

१. निराश।

२. ज्ञाता-दृष्टा—(आत्मा का स्वभाव जानना देखना है।)

और तब निमित्त रूप में कर्म उपस्थित रहते हैं। इसीलिए कर्म के मत्थे दुःख का कारण मढ़ दिया जाता है। वस्तुतः जीव अपनी ही भूल (मोहरागद्वेष) से दुःखी है। जीव को अपनी अनन्त वीर्य शक्ति का ख्याल नहीं, अन्यथा रत्नत्रय खड्ग संभाले तो कर्म शत्रुओं का नाश होने में विलम्ब नहीं। विश्व रंगमंच पर यह जीव प्रायः सभी रसों के खेल दिखाता है। यदि भूले-भटके भी यथाजातलिंग हो, जिनेन्द्र मुद्रा को धारण करे और शान्तरस का अभिनय करे तो कर्म अनन्त निधि का अर्पण करते हुए आत्मा के पास से विदा हो जायें।

तर्क की दृष्टि से भी कर्म महा निर्बल सिद्ध होते हैं। जड़ कर्म चेतना-शक्ति सम्पन्न आत्मा को सुख-दुख प्रदान करने में किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं। फिर जैन धर्म तो प्रत्येक द्रव्य का ही नहीं कण-कण की स्वतन्त्रता का उद्घोषक है। वस्तुतः जीव स्वयं पुद्गल पुंज को कर्म-योग्य परिणमन के लिए आमन्त्रित करता है।

कहा भी है—कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहै घनघात लोह की संगति पायी॥

निम्न पंक्तियों में कर्म की निर्बलता स्पष्ट झलकती है—

'जिस समय हो आत्म-दृष्टि कर्म थर-थर कांपते हैं।
भाव की एकाग्रता लखि छोड़ खुद ही भागते हैं॥
आत्मा से है पृथक तन-धन सोच रे मन कर रहा क्या।
लखि अवस्था कर्म-जड़ की बोल उनसे डर रहा क्या॥'

यह सत्य है तभी तो जीव और कर्म का शाश्वत वियोग मोक्ष सुख कहा।

जैन दर्शन का रहस्यमय कर्म सिद्धान्त गूढ़ व अति वैज्ञानिक है। इसका जितना गहन अध्ययन किया जाय इसकी वैज्ञानिकता उजागर होती है। कर्मों का स्वरूप, आस्रव के कारण, बंध की प्रक्रिया कर्म-फल, संवर (कर्म आगमन रुकना) और निर्जरा (कर्मों का एक देश झड़ना) आदि सभी चरण क्रमबद्ध व अति वैज्ञानिकता लिये हैं। आवश्यकता है इसके रहस्य को आत्मसात करने की। इसी क्रम में कर्मों की दस अवस्थाएं उल्लेखनीय हैं। इन्हें जैन शासन में कारण कहते हैं। बंध—कर्म-पुद्गल का जीव के साथ सबद्ध होने को बंध कहते हैं। कर्मों की स्थिति व अनुभाग का 'बढ़ना' व 'घटना' क्रमशः उत्कर्षण व अपकर्षण कहलाता है। कर्मबंध के बाद ये दोनों क्रियाएँ चलती हैं। अशुभ कर्मबंध के बाद ये दोनों क्रियाएँ चलती हैं। अशुभ कर्मबंध के बाद यदि भावों में कलुषता बढ़ती है तो उत्कर्षण होता है और उत्तरोत्तर भावों की शुद्धता होने पर अपकर्षण होता है। महाराजा श्रेणिक की सातवें नरक की उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर की बंधी थी लेकिन क्षायिक सम्यग्दर्शन के प्रभाव से प्रथम नरक की आयु मात्र चौरासी हजार वर्ष की रही। सत्ता—कर्म बंधने के तुरन्त बाद अपना फल नहीं देते उसी प्रकार जैसे बीज डालने के तुरन्त बाद पौधा नहीं उगता। उदय—कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। कर्म के फल देकर नष्ट होने को फलोदय और बिना फल दिये नष्ट होने को प्रदेशोदय कहते हैं। उदीरणा—अपकर्षण द्वारा कर्म की स्थिति को कम किये जाने के कारण कभी-कभी नियत समय से पूर्व कर्म का विपाक हो जाता है जैसे आम को घास में दबा कर नियत समय से पूर्व पका लिया जाता है। संक्रमण—एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्म रूप हो जाना। यह संक्रमण मूल भेदों में नहीं अवान्तर भेदों में होता है। संक्रमण का एक सुन्दर उदाहरण सती मैना सुन्दरी के जीवन का एक प्रसंग है। सिद्धचक्र विधान करनेके दौरान मैना सुन्दरी के विशुद्ध परिणाम और अतिशय पुण्य का बंधना सभव हुआ। परिणाम स्वरूप अशुभ कर्म का शुभ कर्म मे संक्रमण हुआ। उसी समय उसके पति श्रीपाल के अशुभ कर्मों की स्थिति समाप्त हुई, और कोढ़ दूर हुआ। उपशम—कर्म को उदय मे आ सकने के अयोग्य करना निधत्ति—कर्म का उदय और संक्रमण न होना। निकाचना—उसमे उदय संक्रमण अपकर्षण और उत्कर्षण का न होना।

इससे सिद्ध होता है कि जीव के भावों में निर्मलता अथवा मलिनता की तरतमता के अनुसार कर्मों के बंध आदि मे हीनाधिकता हो जाती है। कर्मों को असमय में उदय में लाकर, आत्मबल को जागृत कर, कर्मों की राशि जो सागरों (अपरिमित काल) काल पर्यन्त अपना फल देती, नष्ट किया जा सकता है। ऐसी व्यवस्था न हो तो अनन्तकाल से स्वभाव पर आच्छादित कर्म राशि को कैसे अलग किया जाता। इसे कर्म सिद्धान्त की महती देन ही

कहना चाहिये कि भव्य जीव योग्य पुरुषार्थ द्वारा अशुभ को शुभ में संक्रमण कर सकता है। अनन्त कर्मों के पुंज को तीव्र पुरुषार्थ द्वारा (उपशम) उदय के अयोग्य बनाया जा सकता है।

कर्म सिद्धान्त द्वारा प्राणी मात्र की स्वतन्त्रता की घोषणा—जैन धर्मानुसार प्रत्येक प्राणी स्वय अपना भाग्य-विधाता है। उत्कृष्ट शुभकर्मोपार्जन कर एक जीव नारायण प्रतिनारायण चक्रवर्ती और यहाँ तक कि सोलहकारण भावनाओ के चितवन के फलस्वरूप लोकोत्तर सर्वोत्तम समवशरणादि वैभव का स्वामी बनता है। प्रत्येक प्राणी अकेला कर्मोपार्जन करता है और अकेला ही भोगता है। कविवर पं० दौलतराम जी ने छहढ़ाला मे एकत्व भावना मे कहा है—

'शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एक ही ते ते।
सुत-दारा[1] होय न सीरी[2], सब स्वारथ के हैं भीरी।।'

कर्म सिद्धान्त द्वारा भेद विज्ञान—स्त्री, पुत्र, सपदा, महल व मकानादि तो प्रत्यक्ष ही भिन्न है। औदारिक शरीर को भी मृत्यु के समय भिन्न होते प्रत्यक्ष देखा जाता है। तैजस और कार्माण शरीर जिनका आत्मा के साथ संबद्ध अनादि काल मे है (अनादि सबंधे च') उनकी भिन्नता का ज्ञान कर्म सिद्धान्त द्वारा होता है। कर्म चूंकि पौद्गलिक जड़ है अतः स्वाभाविक रूप से वह अमूर्तिक ज्ञानादि गुणों के धारी जीव से नितान्त भिन्न है। चाहे चक्रवर्ती का राज्य मिले या तीर्थंकर का समवशरणादि अत्यन्त आश्चर्यकारी वैभव यह सब कर्म कृत है। चिदानन्द स्वरूप तो पर से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार का विवेक जागृत होने से भेद-विज्ञान होता है।

पूर्वकृत कर्मानुसार ही नर-नारकादि भव मिलते है इसलिए अज्ञानी जीव कर्म को ही आत्मा मानने को भूल कर बैठता है। इस तथ्य से विस्मृत होकर, कि जीव की भूल के कारण ही पुद्गलपुंज कर्म रूप परिणमन हुआ है। वे कर्मों पर सुख दुख कर्ता होने का मिथ्या आरोप लगाते हैं। स्मरणीय है कि जीव की सत्ता मे कर्म सत्ता का प्रवेश ही नही हो सकता तो वे जीव को सुखी दुःखी कैसे कर सकते हैं? अर्थात नहीं कर सकते। और यदि करने में समर्थ हो तो अनन्त स्वतन्त्रता के धारी आत्म तत्त्व को पराधीन कहा जायेगा जो तीन काल मे भी सभव नहीं।

कर्म को ही आत्मा मानने वाले जीव इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि कर्मों का नाश कर वीतरागता जीव को ही प्रकट करना है। कर्म को ही आत्मा कहने वालों का यह तर्क है कि जैसे लकड़ी के आठ टुकड़ो से भिन्न कोई पलंग नही उसी प्रकार कर्म सयोग से भिन्न कोई आत्मा नहीं। यद्यपि आठ टुकड़ो से बना निःसन्देह पलग ही है तथापि पलग पर सोने वाला पुरुष द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा पलंग से नितान्त भिन्न हैं। इसी प्रकार अष्ट कर्मों के सयोग से भिन्न कर्मावरण मे रहने वाला चैतन्य महाप्रभु पलंग से पुरुषवत् भिन्न है।

इस प्रकार भेद-विज्ञान कर उस चैतन्य प्रभु की क्रमशः पहचान, श्रद्धान, रमणता से अष्टकर्म सयोग भी छूट जाता है। जब तक कर्मों से भिन्न ज्ञायक आत्मा की प्रतीति न होगी, तब तक उसे स्वभाव पर दृष्टि के बल से भिन्न करने का उपक्रम भी कैसे किया जायेगा।

कर्म सिद्धान्त का ज्ञान परंपरा से मोक्ष का कारण—जिस प्रकार क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करे तो दृष्टि पर्याय के क्रम पर न रह कर पर्याय के पुंज को भेदती हुई ज्ञायक—स्वभाव पर केन्द्रित हो जाती है। इसी प्रकार कर्म—सिद्धान्त की सम्यक् जानकारी जब ख्याल मे आती है तो दृष्टि कर्म माहात्म्य को गौण कर अखण्ड ज्ञानपुंज सुखकंद आत्मा में जम जाती है। और स्वभाव-सम्मुख दृष्टि रूपी हस अन्तर्मुहूर्त मात्र मे कर्म और आत्मा को नीरक्षीरवत् भिन्न कर देता है। अब जीव पूर्ण विकसित अन्तरग लक्ष्मी (अनन्त चतुष्टय) का स्वामी और तीन लोक का नाथ बन जाता है।

कर्म—विज्ञान को ख्याल मे लेते हुए भव्य जीव विचार करता है। अहू! हो!! मेरे तपाये हुए सोने के समान शुद्ध स्वरूप मे अनादि से यह किट्टकालिमा रूप ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म और शरीरादि नो-कर्म चिपके पड़े है। अतः वह स्वभाव-सन्मुख हो ज्ञान-ध्यान तप रूपी अग्नि का आश्रय लेकर कर्म कालिमा को दूर करने के लिए कमर कस लेता है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त मूल की भूल से परिचित करा शाश्वत सुख-शांति का मार्ग-निर्देशन करता है।

२ (घ) २७ जवाहरनगर,
जयपुर

१. स्त्री २. भागीदार

वीर सेवा मन्दिर के वर्तमान पदाधिकारी
तथा
कार्यकारिणी समिति के सदस्य

१	साहू श्री अशोककुमार जैन	अध्यक्ष	६, सरदार पटेल मार्ग, नई दिल्ली
२.	श्री ला० श्यामलाल जैन ठेकेदार	उपाध्यक्ष	४-६, टोडरमल रोड, "
३	न्यायमूर्ति श्री मागेलाल जैन	"	३०, तुगलक क्रीसेण्ट, नई दिल्ली
४.	श्री सुभाष जैन	महासचिव	१६ दरियागज "
५.	श्री बाबूलाल जैन	सचिव	२/१० दरियागज "
६.	रत्नत्रयधारी जैन	"	५, अल्का जनपथ लेन "
७.	श्री नन्हेमल जैन	कोषाध्यक्ष	७/३५, दरियागज "
८.	श्री इन्दरसेन जैन	सदस्य	४, असारी रोड दरियागज न. दिल्ली
९.	श्री प्रेमचन्द जैन	"	७/३२, दरियागंज नई दिल्ली
१०.	श्री शीलचन्द्र जौहरी	"	११ दरियागज "
११.	श्री अजितप्रसाद जैन ठेकेदार	"	५-ए/२८ दरियागज "
१२.	श्री गोकुलप्रसाद जैन	"	३ रामनगर पहाड़गज "
१३.	श्री ओमप्रकाश जैन एडवोकेट	"	४७४१/२३ दरियागज "
१४	श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन	"	बी-४५/४७ कनाट प्लेस "
१५	श्री देवकुमार जैन	"	एम-७४ ग्रेटर कैलाश। "
१६.	श्री दिग्दर्शन चरण जैन	"	४६६२/२१, दरियागज "
१७	श्री हरीचन्द जैन	"	२/२६ "
१८.	श्री प्रकाशचन्द जैन	"	४ असारी रोड दरियागज नई दिल्ली
१९.	श्री शैलेन्द्र जैनी	"	११, दरियागज नई दिल्ली
२०	श्री मल्लिनाथ जैन	"	१ " "
२१.	श्रीमती जयवन्ती देवी जैन	"	घटा मस्जिद रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

समयसार-कलश-टीका : कविवर राजमल्ल जी कृत ढूंढारी भाषा-टीका का आधुनिक सरल भाषा रूपान्तर : सम्पादनकर्ता : श्री महेन्द्रसेन जैनी। ग्रन्थ में प्रत्येक कलश के अर्थ का विशद-रूप से खुलासा किया गया है। आध्यात्मिक रसिकों को परमोपयोगी है। (प्रेस में)

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

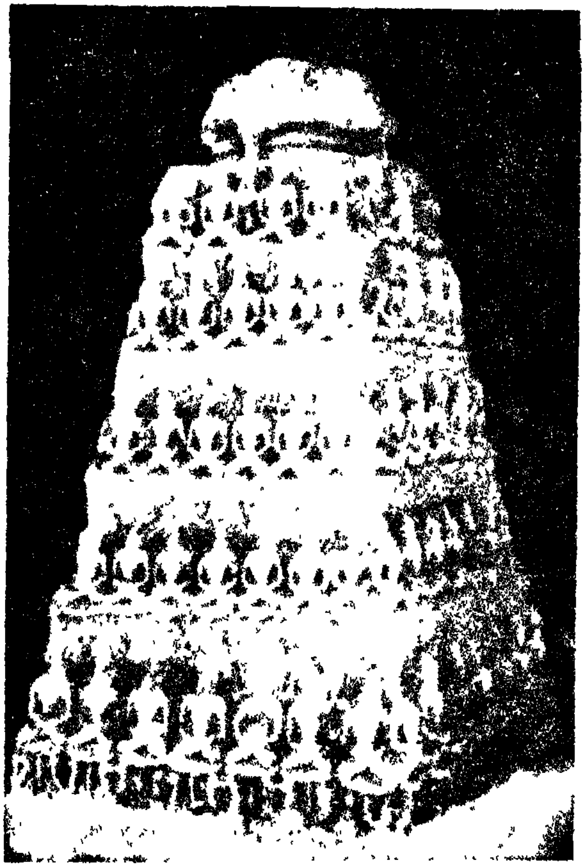
सम्पादन परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३४ : कि० ४

अक्टूबर-दिसम्बर १९८१

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त



सहस्रकूट जिनचैत्यालय (११वीं शती ईस्वी) कारीतलाई

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

इस अंक में—

□□□

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री रत्नत्रयधारी जैन, ८ जनपथ लेन, नई दिल्ली

राष्ट्रीयता—भारतीय

प्रकाशन अवधि - त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मंदिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

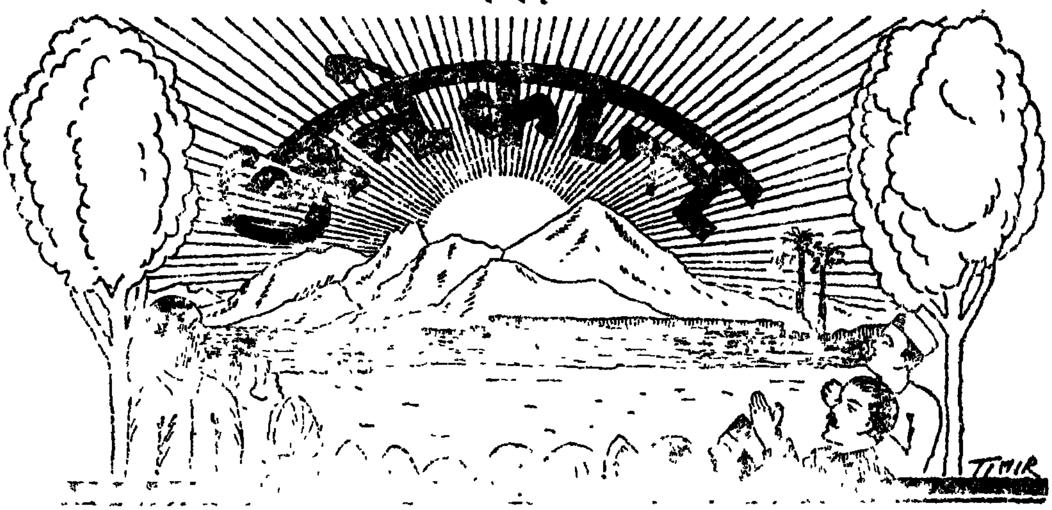
मैं रत्नत्रयधारी जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

रत्नत्रयधारी जैन
प्रकाशक

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१-०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३४ किरण ४ } वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ { अक्टूबर-दिसम्बर १९८१
वीर-निर्वाण संवत् २५०७, वि० सं० २०३८

अध्यात्म-पद

चित चिंतके चिदेश कब, अशेष पर वमूं ।
दुखदा अपार विधि-दुचार-की चमूं दमूं ॥ चित० ॥
तजि पुण्य-पाप थाप आप, आप में रमूं ।
कब राग-आग शर्म-बाग-दाघनी शमूं ॥ चित० ॥
दृग-ज्ञान-भान तैं मिथ्या अज्ञानतम दमूं ।
कब सर्व जीव प्राणिभूत, सत्त्व सौं छमूं ॥ चित० ॥
जल-मल्ल लिप्त-कल सुकल, सुबल्ल परिनमूं ।
दलकें त्रिशल्लमल्ल कब, अटल्लपद पमूं ॥ चित० ॥
कब ध्याय अज-अमर को फिर न भव विपिन भमूं ।
जिन पूर कौल 'दौल' को यह हेतु हौं नमूं ॥ चित० ॥

—कविवर दौलतराम कृत,

भावार्थ—हे जिन वह कौन-सा क्षण होगा जब मैं संपूर्ण विभावों का वमन करूँगा । और दुखदायी अष्टकर्मों की सेना का दमन करूंगा । पुन्य-पाप को छोड़ कर आत्म में लीन होऊँगा और कब सुखरूपी बाग को जलाने वाली राग-रूपी अग्नि का शमन करूंगा । सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूपी सूर्य से मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी अंधेरे का दमन करूँगा और समस्त जीवों से क्षमा-भाव धारण करूँगा । मलीनता से युक्त जड़ शरीर का शुक्ल ध्यान के बल से कब छोडूंगा और कब मिथ्या-माया-निदान शल्यों को छोड़ मोक्ष पद पाऊंगा । मैं मोक्ष को पाकर कब भव-वन में नहीं घूमूंगा ? हे जिन, मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी हो इसलिए मैं नमन करता हूं । □□

जैन परम्परानुमोदित तपः विज्ञान

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन

'तपतीति तपः', 'तप्यतेतितपः', 'तापयतीति तपः', इत्यादि रूपों में पुरातन जैनाचार्यों ने तप का शब्दार्थ किया, अर्थात तापना या तपाना प्रक्रिया जहां होती है, वह तप है। सामान्यतया ताप का कारण अग्नि होती है और उसके दो परिणाम होते है, भस्म हो जाना अथवा भस्म कर डालना, शुद्ध कर देना। लोक में तृण काष्ठ कूड़ा आदि त्याज्य, तिरस्कृत, व्यर्थ या अनुपयोगी वस्तुओं को अग्नि में भस्म कर दिया जाता है अथवा किसी धातु को विशेषकर, स्वर्णपाषाण को अग्नि में तपा कर उसके किट्टिमादि मल को दूर किया जाता है उसका शोधन किया जाता है और फलस्वरूप प्रभूत. शुद्ध सोटची स्वर्ण प्राप्त होता है। इन लौकिक आधारों पर जैनाचार मे तप का विधान हुआ है—

विशुद्धयति हुताशेन सदोषमपि काञ्चनम्।
यद्वत्तथैव जीवोऽयं तप्यमानस्तपोऽग्निना॥

इसीलिए जहां 'तपतीति तपः' कहा, वहां स्पष्ट करने के लिए साथ मे उसका प्रयोजन भी बता दिया— 'विशोधनार्थं' अथवा 'कर्मतापयतीति तपः', 'कर्म निर्दहना-त्तपः यथाग्निसंचित तृणादि दहति', उसी प्रकार 'देहेन्द्रिय तापाद्वाकर्मक्षयार्थं तप्यतेतितपः' या 'कर्मक्षयार्थं तप्यन्ते शरीरेन्द्रियाणि तपः', अथवा 'तबरेणामतावयति अनेक भवोपात्तमष्ट प्रकार कर्मेति', 'भवकोडिए संचित कम्म तवसा णिज्जरिज्जई', इत्यादि!

अतएव परिभाषा की गई 'इन्द्रियमनसोनियमानुष्ठानं तपः' अर्थात् आत्मोद्बोधनार्थ अपने मन और इन्द्रिय के नियमन के लिए किया गया अनुष्ठान ही तप है।

इस नियमन में सबसे बड़ी बाधा इच्छा है— नाना-विध इन्द्रिय-विषयों को भोगने की, अतः उन्हें प्राप्त करने की, जुटाने की संग्रह करने आदि की इच्छा है। मानवी इच्छाएँ अनगिनत हैं, उनकी कोई सीमा नहीं है। और एक इच्छा पूरी नहीं हो पाती कि उसके स्थान में चार नवीन इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उनका कोई अन्त नहीं है। परिणामस्वरूप औसत व्यक्ति इच्छाओं का दास होकर रह गया है। इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्नों मे ही उसका संपूर्ण जीवन बीत जाता है। वह स्वयं बीत जाता है, परन्तु उसकी समस्त इच्छाएँ कभी भी पूर्ण नहीं होती अनगिनत इच्छाएं अतृप्त एवं अपूर्ण ही रह जाती है। इसके अतिरिक्त, उक्त इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्नों के प्रसंग से वह व्यक्ति अनेक प्रकार की आकुलताओं, कष्टों, चिन्ताओं, राग-द्वेष, मद-मत्सर, ईर्ष्या-जलन, वैर-विरोध, दुराचार, कदाचार, भ्रष्टाचार, पापाचार व अपराधी प्रवृत्तियों मे बुरी तरह उलझा रहता है। उसे स्वय को तो सुख-शान्ति का दर्शन होता ही नही, जो भी अन्य व्यक्ति, परिवार के, पड़ोस के, समाज, नगर, राष्ट्र या कहीं के भी, उसकी इच्छापूर्ति के प्रयत्नों मे बाधक होते या होते लगते हैं, उन सबको भी वह अशान्त, दुःखी, क्रुद्ध या क्षुब्ध कर देता है। शोषण, अपराधो, द्वन्द्वों और संहारक युद्धों की जननी इच्छा ही है— विरोधी इच्छाओं के टकराव मे यह सब होता है।

इस शाश्वतिक अनुभूति से प्रभावित होकर श्रमण तीर्थंकरों और उनके अनुयायी निर्ग्रन्थाचार्यों ने 'इच्छा-निरोधस्तपः' सूत्र द्वारा इच्छानिरोध को ही तप बताया। जब इच्छाओं का ही, भले ही शनैः शनैः उन्मूलन हो गया तो उनके कारण होने वाले रागद्वेषादि बिकारों का, अतः समस्त पाप प्रवृत्तियों का उपशमन होता ही चला जायेगा। फलतः साधक आत्मोन्नयन के पथ पर अग्रसर होता हुआ अपने शुद्ध स्वरूप को, अक्षय सुख-शान्ति की स्थिति अपने परम प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेगा। इसी से आध्यात्म-

पूज्य कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समस्त रागादि परभावेच्छा त्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपन विजयनं तपः' कहा है। वस्तुतः समस्त रागद्वेषादि विभावों की इच्छा का त्याग करके निज स्वरूप या शुद्ध आत्मस्वरूप स्वभाव में देदीप्यमान होना ही सच्चा तप या सच्चे तप का प्रतिफल है। दूसरे शब्दों में, विषय-कषायों का निग्रह करके स्वाध्याय व ध्यान मे निरत होते हुए आत्म चिन्तन करने या उसमें लीन होने का नाम ही तप है। ऐसा तप देह एवं इन्द्रियों को तपाता हुआ कर्म को स्वतः नष्ट कर देता है, आत्मा को कर्म-बन्ध से मुक्त करके परमात्मा बना देता है। एक पाश्चात्य विचारक की उक्ति है कि 'इच्छाविहीन मनुष्य ही ईश्वर है—और इच्छावान ईश्वर मनुष्य है।' एक शायर के शब्दों में—

सरापा आरजूओं ने बन्दा कर दिया मुझको।
वगरना हम खुदा थे गर दिले बेमुदा होता॥

वास्तव मे, आत्मशोधनार्थ बुद्धिपूर्वक किया गया सम्यक् तप ही मोक्ष पुरुषार्थ है, और उसकी प्रथम शर्त है निःस्पृहता। इच्छाओं का सर्वथा अभाव ही परमात्मा है। 'कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव' कषाय मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है। विषय लोलुप व्यक्ति के चित्त मे धर्मांकुर कैसे पनपेगा? संयम-नियम-तप से भावित आत्मा के ही सामायिक संभव है। तप: साधना द्वारा विषय-कषायों का दमन ही सच्ची नमस्कृति भी है—

नहगो अजद हो शेरेनर मारा तो क्या मारा।
बड़े मूजी को मारा नपसे अम्मारा को गर मारा॥

इसी से साधक अनुभव करता है कि—

वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य।
माहं परे हिं दम्मंतो बंधणेहि वहेहिं॥

दूसरों के द्वारा मेरा वध-बन्धनादि रूपों मे दमन किया जाये इससे कहीं अच्छा है कि मैं अपनी आत्मा का संयम एव तप द्वारा दमन कर दूं।

उक्त रागद्वेषादि कषाय या विकार भाव ही जैन दर्शन मे भावकर्म कहलाते हैं और वे ही आत्मा के ज्ञानावरण-दर्शनावरण आदि अष्टविध द्रव्य कर्मों के बंधन में जकड़े जाने तथा फलस्वरूप जन्म-मरण रूप संसार में निरन्तर संसरण करने एवं अकल्पनीय दुःखों का पात्र बने रहने के कारण होते हैं। वे द्रव्यकर्म जब उदय में आते हैं तो अपना-अपना फल दिखाते हैं। उनके बहाव में आत्मा दुःखी, क्लेशित, आकुल, व्याकुल और रागी द्वेषी होता है, क्रोध-मान-माया-लोभ-काम आदि नाना कषाय भावों में ग्रस्त होता है, तथा परिणामस्वरूप नवीन कर्मबन्ध करता रहता है—

कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम्।
सञ्चिनोतिमनः कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम्॥

कषाय रूपी अग्नि से प्रज्वलित और विषयों से व्याकुल मन संसार के बन्धनभूत कर्मों का संचय करता रहता है। कर्म से कर्म बंध का यह सिलसिला बराबर चलता रहता है। जब तक वह समाप्त नहीं होता आत्मा की मुक्ति नहीं होती, वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं होती। परन्तु—

निर्वेद पदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा।
यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा॥

संयमी आत्मा संसार-देह-भोगों से विरक्त होकर जैसे-जैसे तपश्चरण में प्रवृत्त होता जाता है वह उक्त दुर्जय कर्मों का क्षय करता जाता है।

अस्तु प्राणी का परम प्राप्तव्य या अभीष्ट लक्ष्य सच्चे शाश्वत निराकुल अक्षय सुख की स्थिति मोक्ष या सिद्धत्व है। उसे प्राप्त करने के लिए नवीन कर्मों के आने और बंधने के सिलसिले को रोकना आवश्यक है, और इस द्विविध फलप्राप्ति का साधन इच्छानिरोध रूप तपानुष्ठान है। जिन शासन मे तप का फल संवर अर्थात् कर्मास्रव का निरोध और निर्जरा अर्थात् पूर्व में बंधे हुए कर्मों का क्षय बताया है। यही संक्षेपतः वह तपविज्ञान है जो भौतिकज्ञान, शरीरशास्त्र, मनोविज्ञान एवं आध्यात्मिक विज्ञान से तथा युक्ति, तर्क और अनुमान से भी साबित एवं सिद्ध है।

यह तपानुष्ठान दो प्रकार का है, बाह्य और अभ्यन्तर, जिनमें से प्रत्येक छः छः भेद हैं—

द्वादशं द्विविधं चैव बाह्याभ्यन्तर भेदतः।
तपं स्वशक्ति प्रमाणेन क्रियते धर्मवेदिभिः॥

अनशन, ऊनोदर (या अवमौदर्य), वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशैयासन और कायक्लेश नामक छः

रूपों में परम्परया या प्रतिपादित बाह्य तप का लक्ष्य मन तथा इन्द्रियों का ऐसा अनुशासन, नियमन एवं नियन्त्रण करना है कि जिससे वे साधक की साधना में बाधक नहीं, वरन् साधक हों।

दूसरे शब्दों में, हम अपनी देह एवं इन्द्रियों के दास न बने रह कर उन्हें ही अपने दास बना लें, उन्हें अपने अधीन एवं वश में ऐसा कर लें कि उनकी ओर से सवथा निश्चित हो जायें। यहाँ भी शक्तितस्तप की शर्त लगा कर आचार्यों ने यह स्पष्ट कर दिया कि तप के लक्ष्य को ध्यान में रख कर उतना और वैसा ही तप किया जाय जितना अपनी शारीरिक स्थिति, शक्ति एवं परिवेश अनुमति दें—हठयोग कृच्छ्रतप या तपातिरेक न करे। बाह्य तपों के विविध अनुष्ठानों द्वारा शरीर और इन्द्रियों को पूर्णतया स्वाधीन बना लेने पर ही अभ्यन्तर या अन्तरंग तपों की साधना की जाती है—

न च बाह्यतपोहीनमभ्यन्तर तपो भवेत्।
तंदुलस्य विकिलत्तिर्नहि बाह्यादिकैर्विना॥

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग एवं ध्यान षड्विध आभ्यन्तर तप है। इनमें से प्रथम पांच क्रमशः साधक के चित्त को अहंकारशून्य, विनयी, निरालस, सेवाभावी, ज्ञानाराधक और स्वशरीर के प्रति निर्मोही बना देते हैं जिससे कि उसकी स्वशक्ति इतना विकसित हो जाती है कि वह आत्मध्यान में स्थिर रह सके। वस्तुतः 'एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्'—कहलाने वाला धर्मध्यान ही शुभ से शुभतर, शुभतम होता हुआ शुद्ध आत्मध्यान रूप में हो जाय, वही वास्तविक तप है। आत्मा में आत्मा द्वारा आत्मतल्लीनता या आत्मरमण ही यह परम समाधिरूप निर्विकल्प ध्यान-तप ही कर्मक्षय तथा आत्मशोधन में समर्थ एवं सक्षम है, मुक्ति एवं सिद्धि का दाता है। शेष समस्त बाह्य एवं आभ्यन्तर तप तो उसकी सिद्धि में सहायक एवं साधक शरीर अथवा मन-वचन-काय के नियमन की प्रक्रियाएं है।

जैन शास्त्रों में तपनुष्ठान, तपाचार, तपाराधना, तपोविधा, तपविनय, इत्यादि अनेक प्रकार से व्याख्या करके तप का महत्व स्थापित किया गया है। वास्तव में निर्ग्रन्थ श्रमण तीर्थंकरों की संस्कृति ही तपःमूल है। तप जैनी साधना का अनिवार्य अंग है। वह जैन संस्कृति का एक व्यवस्थित विधान है। जैनेतर मनीषियों ने भी यह तथ्य मान्य किया है और यह भी कि अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के हाथों ही इस तप मार्ग का पूर्ण एवं चरम विकास हुआ, वह अपनी पूर्णता एवं प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ। दूसरी शती ई० के जैनाचार्य समन्तभद्र स्वामि के शब्दों में—

अपत्यवित्तोत्तर लोकतृष्णया,
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान् पुनर्जन्म-जराजिहासया,
त्रयी प्रवृत्ति समधीरनारुणत्॥

हे महावीर भगवान! कोई सतान के लिए, कोई धन सम्पत्ति के लिए, कोई स्वर्गादि सुखों अथवा अन्य किसी लौकिक तृष्णा की पूर्ति के उद्देश्य से, तप करते हैं किन्तु आप तो जन्म-जरा की बाधा का परित्याग करने के लक्ष्य से इष्टानिष्ट में मध्यस्थ रह कर अथवा समत्व भाव धारण करके अपनी मन-वचन-काय रूप त्रयी की प्रवृत्तियों निरोध करते हैं।

अस्तु आत्मोन्नयन के अभिलाषी प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्यक् तप का अभ्यास एवं साधना आवश्यक है ऐहिलौकिक सुख-शान्ति के लिए भी और पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए भी। जो मोक्षमार्ग के पथिक गृहत्यागी साधु हैं वे तो निरन्तर तपानुष्ठान में ही संलग्न रहते हैं, उसके एकनिष्ट साधक होते हैं। ऐसे तपस्वी ही प्रशंसित है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

तरः प्रधान संयम का साधक श्रमण ही तपस्वी है, साधु है—मात्र वैसा वेष धारण कर लेने से कोई तपस्वी या साधु नहीं हो जाता। ऐसे तपोधन मुनिराज ही स्वपर कल्याण के सम्पादक होते हैं। उन समत्वसाधक तपस्वियों से किसी का भी अहित नहीं होता, वैर-विरोध का तो प्रश्न ही क्या।

किन्तु सामान्य गृहस्थ स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध भी स्वशक्ति अनुसार आंशिक रूप में तप का अल्पाधिक

अभ्यास करने से लाभान्वित होते ही है। अनशन-ऊनोदर आदि बाह्य तपो के अभ्यास से शरीर को स्वस्थ, निरालस कष्टसहिष्णु सहज ही बनाया जा सकता है और प्रायश्चित, विनय, स्वाध्याय आदि आभ्यन्तर तपो के अभ्यास से अपने मन एवं बुद्धि को निर्मल बनाया जा सकता है। अहंकार का अभाव, विनय, परदुःखकातरता, अनुकम्पा, सेवाभाव और निःस्वार्थ दृष्टि की प्राप्ति होती है, अन्त-परीक्षण तथा चित्तवृत्तियो को एकाग्र करने की क्षमता बढ़ती है। गृहस्थों के मार्गदर्शन के लिए रचित अद्वितीय नीतिकाव्य तिरुकुरल की सूक्ति है कि 'अपनी पीड़ा सह लेना और अन्य जीवों को पीड़ा न पहुचाना, यही तपस्या का स्वरूप है।' अन्यत्र भी कहा गया है कि 'दुख को पी जाना एक श्रेष्ठ तपस्या है।' 'दिल मे हजार गम हों पर जबां पे शिकन न हो।' और 'शान्ति तुल्यं तपो नास्ति' —दूसरे के अभ्युदय को सहन करने के बराबर कोई तप नही है। महात्मा गाधी की भी उक्ति है कि तपस्या धर्म का पहला और आखिरी कदम है। वास्तव मे तप की महिमा महान है। तप द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर करके अपने चरित्र को उज्ज्वल तथा पवित्र बनाता है। धीर पुरुष तप द्वारा ही ससार मे उन्नति के शिखर पर विराजमान होता है।

अब जो व्यक्ति तप के इस निचोड़ को जानता-समझता और आचरता है वह अपने व्यक्तित्व का तो भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास करेगा ही, जिन अन्य व्यक्तियो के सम्पर्क मे वह आयेगा उनके उन्नयन मे भी सहायक होगा। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह अकेला नही रहता। अतएव जिस परिवार मे ऐसी तप साधना चलती है उस परिवार के सभी सदस्य सुख-शान्ति अनुभव करेंगे, वे अपना ही नहीं, दूसरों का ध्यान, उनकी सुविधा-असुविधा का ध्यान रखेंगे। जिस समाज में ऐसे तपसाधको की बहुलता होगी वह समाज भी सुख-शान्ति का अनुभव करेगा, सशक्त होगा, उसमें शोषण, अन्याय और अपराध वृत्ति को स्थान नहीं रहेगा। जिस राष्ट्र के नागरिक, प्रशासक तथा राजनेता ऐसे तपानुष्ठान मे आस्था रखेंगे और उसे अपने अपने आचरण मे लाने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे उस राष्ट्र में आन्तरिक सुख-शान्ति एवं उन्नति तो होगी ही, इतर राष्ट्रो के साथ भी उसके संबंध सहयोग एवं सहअस्तित्व साधक तथा मधुर होंगे। इस संबध मे यह भी ज्ञातव्य है कि सम्यक् तप की साधना वहीं संभव है जहां व्यक्ति एवं समाज कुछ विकसित होते हैं। नितान्त असभ्य बर्बर अज्ञ व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समुदाय तो तपश्चरण के महत्व से अनभिज्ञ और उसकी साधना के लिए अयोग्य होते हैं। किन्तु जब व्यक्ति विशेष के जीवन मे तप भाव की प्रतिष्ठा हो जाती है तो उसका आध्यात्मिक विकास द्रुतवेग से होने लगता है। जिस समाज मे ऐसे व्यक्ति पर्याप्त सख्या में होते हैं, उसमें जो यह साधना नही करते वे भी उससे प्रभावित रहते ही है और परिणाम स्वरूप उस समाज का विकास उत्तरोत्तर होता ही चला जाता है। अतः तत्संबंधित राष्ट्र का भी समुचित विकास होता है। मानव संस्कृति की उत्कृष्टता का मूलाधार तप साधना ही है।

इस प्रकार, तपानुष्ठान न केवल एक धार्मिक, साम्प्रदायिक व आध्यात्मिक मूल्य ही है, न केवल वैयक्तिक आत्मोन्नयन के लिए परमावश्यक साधन है, वरन् पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हित-सुख सवर्धन में भी उसका अपरिमित महत्व है। अपने दुःख-कष्टों को समभाव से पी जाना और अन्य किसी को पीड़ा न पहुंचाना, न भरसक पहुंचने देना, यह तप पूत मनोवृत्ति एवं ततः प्रेरित तद्प्रवृत्ति समस्त प्राणियों के हित-सुख की सफल सम्पादिका है।

ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-१

□□

हिन्दी साहित्य का आदिकाल एक मूल्यांकन

☐ डा० देवेन्द्रकुमार जैन

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की अवधि (१०वीं से १४वीं तक) निर्विवाद है, परन्तु उसके नाम भाषा और चेतना को लेकर भारी विसंवाद है। काल के आधार पर इसके दो नाम हैं—प्रारंभिक काल, आदिकाल। प्रवृत्ति के आधार पर चार नाम हैं—वीरगाथा, चारण, रासो, सिद्धसामंतकाल। लेकिन इनमेंसे एक भी नाम—आलोच्यकाल के साहित्य की समग्र चेतना का प्रतिनिधित्व नहीं करता। और जब, प्रारम्भिक युग की प्रवृत्तियों का, जिन पर हिन्दी साहित्य के इतिहास का भवन खड़ा है, निर्धारण न हो, तो बाकी इतिहास कथा विश्वसनीय नहीं रह जाती।

प्रवृत्तियों के निर्धारित न होने के कई कारण हैं। एक,—आलोच्यकाल के साहित्य की भाषा और हिन्दी के सम्बन्ध का निर्णय अभी तक नहीं हो सका। दो—उपलब्ध साहित्य का अभी तक मूल्यांकन नहीं किया जा सका। तीन—आलोच्य साहित्य—हिन्दी प्रदेश के किनारों पर लिखा गया। चार—मध्य देश में जो साहित्य लिखा गया वह प्रक्षिप्त और अप्रमाणिक है। पांच—यह अभी भी विचारणीय है कि साहित्य के इतिहास-लेखन का सही दृष्टिकोण क्या हो?

उक्त प्रश्नों का समाधान खोजे बिना, हिंदी साहित्य का ऐसा इतिहास, लिखा जाना असम्भव है कि जो विवादों से परे हो। स्व० ह० प्र० द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल को इस बात का श्रेय दिया है कि उन्होंने कविवृत्त संग्रह की पिटारी से निकालकर, हिंदी साहित्य के इतिहास को जीवन्त प्रवाह से जोड़ा। फिर भी उनको शुक्ल जी से दो शिकायतें हैं। एक तो यह कि उनकी दृष्टि शिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों तक सीमित है। दूसरे, उन्होंने बहुत से अपभ्रंश साहित्य को साम्प्रदायिक कह कर उसका उपयोग नहीं किया।

परन्तु जिस समय (१९२९) में शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा उस समय कई बातें अस्पष्ट थी। उस समय विवाद का रूप से बड़ा मुद्दा यह था कि अपभ्रंश बोलचाल की भाषा है या कृत्रिम। महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश साहित्यिक कृतियां मूल रूप में प्रकाशित अवश्य हो चुकी थी, परन्तु हिन्दी अनुवाद के अभाव में ठेठ हिन्दी-विद्वानों का उनमें प्रवेश करना निपट असम्भव था। अपभ्रंश और हिन्दी के भाषिक रिश्तों की पहचान अभी होना बाकी थी। इसलिए शुक्ल जी सारी अपेक्षाएँ यदि पूरी नहीं कर सके तो यह उक्त सीमाओं के कारण। लेकिन डा० द्विवेदी के समय (१९५०-६५) सारी स्थितियां स्पष्टतर थीं। कुहासा छट चुका था। उन्हें वह लोकदृष्टि प्राप्त थी जो अशिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब बखूबी झांक सकती थी। उनके समय तक हिंदी अनुवाद सहित, महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश कृतियां प्रकाश में आ चुकी थी, फिर भी उन्होंने आलोच्य युग के मूलभूत साहित्य को नहीं छुआ। उसका अध्ययन—विश्लेषण वे यह कह कर टाल गये कि उक्त साहित्य हिन्दीभाषी प्रदेश के किनारों पर लिखा गया है।

आदिकाल में वह अपभ्रंश के मुक्तक काव्य की चर्चा तो करते हैं जो सिद्ध हेम व्याकरण, प्रबंध-चिंतामणि आदि में बिखरा हुआ है, लेकिन स्वयंभू पुष्पदंत धनपाल जैसे जीवन्त रससिद्ध अपभ्रंश कवियों के एक शब्द को भी उन्होंने नहीं छुआ। पुस्तक में साहित्येतर तथ्यों का विस्तार से उल्लेख है, इस बात की भी विशद चर्चा है कि हिन्दी प्रदेश में अपभ्रंश साहित्य क्यों नहीं लिखा गया,

यदि लिखा भी गया हो, तो सुरक्षित क्यों नहीं रह सका। यह एक अजीब विरोधाभास है कि जो साहित्य उपलब्ध है उसका विचार नहीं करते हुए जो उपलब्ध नहीं है, उसकी और उसके न होने के कारणों की गुहार मचाई जाए ?

आलोच्यकाल के उत्तर काल में मध्यदेश पर चौहान और गाहड़वार वंशों का आधिपत्य था। गाहड़वार उत्तर-पश्चिम से आए थे। वैदिक धर्म के अनुयायी होने के कारण उन्होंने अपभ्रंश तथा देश्य भाषाओं को प्रश्रय नही दिया। दूसरे इस क्षेत्र में उस वर्जनशील ब्राह्मण-व्यवस्था का बोलबाला रहा, जो संस्कृत को सब कुछ मानती थी। यह तो हुई उत्तरकाल की बात लेकिन पूर्वकाल में (१० से १२वीं तक) महीपाल के समय कन्नौज मे सभी भाषाओं के कवियो को स्थान प्राप्त था। मध्यदेश के कवि को सर्वभाषा कवि बनना पड़ता था। राजशेखर के अनुसार टक्क (पंजाब) से लेकर मादानक (वर्तमान ग्वालियर) तक अपभ्रंश ही काव्य की भाषा थी। उस समय जब दक्षिण के राष्ट्रकूटो, बंगाल के पालों, सांभर के चौहानों, मालव के परमारो और गुजरात के सोलंकियो के प्रश्रय में अपभ्रंश कविता लिखी जा रही थी। तब हिन्दी प्रदेश, जो भारत का हृदय देश है, उससे अछूता नहीं रहा होगा। उसकी धड़कनें संस्कृत के अलावा अपभ्रंश में भी मुखरित हुई होंगी, लोक की भाषायें और भावनाएं मानसूनी हवाओं की तरह ऊपर-ऊपर नही उड़ती वे हृदय देश से उठ कर आसपास फैली होंगी, और आस-पास की भाषाओं और भावनाओ ने उसका स्पर्श किया होगा। अतः जो नहीं है, उस पर लम्बा-चौड़ा अफसोस करने के बजाय, उचित यह था या है कि जो है उसकी गहराई से पड़ताल की जाए ? अटकलबाजी इसी से समाप्त होगी। तथ्य यह है कि आलोच्यकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियां, वही हैं जो दूसरे काल की है। यह युग वदतोव्याघात का युग नही है। वदतोव्याघात का अर्थ है—अपने कथन का खंडन स्वय करना। मुझे पूरे युग के साहित्य में ऐसा कुछ नहीं मिला जिससे उक्त कथन का समर्थन होता हो। यही बात अन्तर्विरोध के बारे में कही जा सकती है। डा० द्विवेदी ने दो चीजों मे अन्तर्विरोध दिखाने की चेष्टा की है। एक तो यह कि इस युग में, एक तरफ, अलकृत शैली को चरम सीमा पर पहुंचाने वाले श्री हर्ष जैसे संस्कृत कवि थे, और दूसरी तरफ, अपभ्रंश दोहाकार थे जिनमे मर्म की बात थोड़े में और सरल ढंग से कहने की क्षमता थी। दूसरा अन्तर्विरोध यह था कि एक ओर दर्शन के दिग्गज आचार्य हुए, तो दूसरी ओर, निरक्षर संतों के ज्ञान प्रचार के बीज इसी काल में बोए गए। मेरी समझ मे इन दोनों बातों में कोई अन्तर्विरोध नही है। एक काल मे एक ही भाषा में दोनों प्रवृत्तियां रह सकती हैं, उनमें न तो परस्पर विरोध है और न आधारगत। कहां संस्कृत जैसी परिनिष्ठित काव्यभाषा और कहां अपभ्रंश भाषा ? श्रीहर्ष की तुलना अपभ्रंश दोहाकारों से करने में कोई औचित्य नहीं है ? अधिकतर हिन्दी विद्वानों की अपभ्रंश साहित्य मे पैठ है, अपभ्रंश दोहों तक सीमित है। जहां तक अलकृत शैली का सवाल है अपभ्रंश कवि पुष्पदंत और स्वयंभू श्रीहर्ष की टक्कर के कवि हैं। सरस्वती का स्मरण करते हुए पुष्पदंत ने कहा है—

> सालंकारो छंदेण जंति,
> बहु सत्थ अत्थ गारव वहंति।
> चउमुह-वासिणी सहृजोणी,
> णीसेसहेउ सा सोह-खोणी॥

मेरी वाणी अहंकारों से सजधज कर छंदों में चलती है, अनेक शास्त्रों के अर्थ गौरव को धारण करती है, ब्रह्मा के मुख मे निवास करते हुए भी, स्वयं जन्मा है। वह श्रेयस् और सौंदर्य की खान है।" इस प्रकार पुष्पदंत की कविता उस समुद्र की तरह है जिसमें आत्म सौंदर्य और भौतिक सौंदर्य की अनुभूतियों की जलराशि भरी हुई है, जिसमें एक ओर, वीर रस की उद्दाम गर्जनाएँ हैं, तो दूसरी ओर शृंगार की कलगीतियां भी। जिसमें शांत और भक्ति रस की धाराओं का संगम है। जहाँ तक दिग्गज आचार्यों और निरक्षर संतों के सह अस्तित्व का प्रश्न है, इसमे भी कोई अन्तर्विरोध नहीं। वास्तव में निरक्षर सन्तों ने इस काल में ज्ञान प्रचार के बीज अचानक नहीं बोए। सभी निरक्षर न तो अज्ञानी होते हैं, और न सभी साक्षर, ज्ञानी। आध्यात्मिक अनुभव और लोक की

यह ज्ञान निरक्षरों को भी हो सकता है। इस काल में लोक भाषा में ज्ञान प्रचार करने वाले सभी लोग साक्षर ही नहीं पंडित थे, जैन अध्यात्म के दोहाकार, सिद्ध और हठयोगी पंडित थे। यह अवश्य है कि उन्होंने लोकभाषा में अपनी बात कही। संस्कृत के विरुद्ध लोकप्रचलित वाणी में अपनी बात कहने की परंपरा बुद्ध महावीर के समय से चली आ रही थी। इतिहास एक जीवंत प्रवाह है, हर प्रवाह का पूर्व स्रोत होता है अतः आलोच्यकाल बीज वपन का काल नहीं था, बल्कि बीज के वृक्ष बनने की प्रक्रिया का काल था। इतना ही नहीं, परवर्ती हिन्दी काव्य में जिन शैलियों का विकास हुआ उसके पूर्वरूप स्वयंभू और पुष्पदंत की रचनाओं में पूरी प्रामाणिकता से मौजूद हैं। यदि अपभ्रंश कवियों की पद्धड़िया-शैली, दोहा छंद, रड्डाछन्द शैली प्रकाश में न आती तो लोग यही समझते कि तुलसी की दोहा, चौपाई शैली, कबीर की साखियां और सूर की पद शैली - ईरानी कविता शैली का प्रभाव है—

आलोच्यकाल की साहित्यगत प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में सबसे बड़ा बाधक तत्व है हमारा अधूरा ज्ञान। साहित्य के एक अंग (रासो या वेश्य भाषा लिखित) को छूकर या तो हम उसे पूरा हाथी मान लेते हैं, या फिर यह कहते हैं कि हाथी समय की धारा में बह गया है, उसका एक अंग महत्वपूर्ण था, उसे खोजना जरूरी है। एक विद्वान लिखते हैं—इस अंधकार युग को आलोकित करने वाली देशी भाषा की छोटी-सी रचना यदि मिलती है तो उसे चिनगारी की तरह सहेज कर रखना चाहिए क्योंकि उसमें बहुत बड़े आलोक की सम्भावना है उसमें गुण के पूर्ण मनुष्य को प्रकाशित करने की क्षमता है। अजीब बात है कि जो साहित्य सूर्यबिम्ब की तरह आलोकित है, उसमें न आलोक है और न पूर्ण मनुष्य को प्रकाशित करने की क्षमता, जो नहीं है, उसमें सारी संभावनाएं निहित हैं।

यह सोचना सही नहीं है कि ६ १०वीं सदी से देशी भाषाओं में तत्सम शब्दों के अत्यधिक प्रवेश के कारण उनका स्वरूप बदल गया। भाषा का स्वरूप शब्दों के प्रवेश से नहीं रचनागत परिवर्तनों के कारण बदलता है। जब कोई नई भाषा साहित्यिक और व्यापक अभिव्यक्ति की माध्यम बनती है तो उसमें तत्सम शब्दों का प्रवेश होता ही। हिन्दी प्रदेश के एक छोर पर चन्दबरदायी खड़े हैं, दूसरे पर विद्यापति, तीसरी ओर पर स्वयंभू और पुष्पदंत, इनके समानान्तर (या कुछ बाद की) देशी रचनाएं भी मिलती हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है, कि जिसे हम वीरगाथा या आदिकाल कहते हैं, वह वस्तुतः अपभ्रंश काल है, जिसमें परवर्ती साहित्य की शिल्पगत और चेतनागत प्रवृत्तियों का पूर्व रूप देखा जा सकता है। इस काल की भाषा की तरह साहित्य की सम्यक मूल्यांकन की आवश्यकता ज्यों की-त्यों बनी हुई है।

इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर

□□

जय-स्याद्वाद

□ श्री कल्याणकुमार 'शशि'

तू ऊर्ध्वोन्नत मस्तक विशाल,
जैनत्व तत्त्व का स्फटिक भाल
अपहृत मिथ्या भ्रमतिमिर जाल
तू जैनधर्म का शंखनाद !
तीर्थंकर पद की निधि ललाम ;
सिद्धान्तवाद का सद्-विराम,
प्राकृत संस्कृति का अमर धाम
तू संस्कृति का निरुपम प्रसाद !

नव युक्तायुक्त-विचार-सार !
नित अनेकान्त का सिंह द्वार,
करते आए तेरा प्रसार !
अतुलित तीर्थंकर-पूज्यवाद !
तू पक्षापक्ष-विरूप-तूर
नय विनिमय का सर्वांग रूप
जूझे तुझसे पण्डित अनूप।
गौतम गणधर जैमिनि कणाद !

जय स्याद्वाद जय स्याद्वाद !

जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य में चौपाई छन्द

☐ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

काव्य-काल की दृष्टि से जैन हिन्दी काव्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अलंकार, छन्द, शब्दशक्ति आदि अंगों का इस काव्य में प्रचुर परिमाण से व्यवहार हुआ है। छन्द, काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। काव्य मुख्यतया छन्दबद्ध रचना के लिए आरम्भ से ही प्रसिद्ध है। आचार्य विश्वनाथ ने छन्द को काव्य-सृजन का अन्यतम अंग अंगीकार किया है।[1] छन्द के अभाव में गद्यात्मक छन्द विन्यास इस प्रकार की लयात्मक माधुरी से मंडित नहीं हो पाता। जिसके द्वारा काव्य का श्रोता अथवा पाठक बरबस विभोर हो झूम उठता है। इस प्रकार उसमें जीवन को आनन्दित करने की शाश्वत सम्पदा मुखर हो उठी है। जैन हिन्दी-पूजा-काव्य में चौपाई नामक छंद का क्या स्थान है? प्रस्तुत निबन्ध में इसी सन्दर्भ में संक्षिप्त विवेचन करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

चौपाई मात्रिक सम छंद का एक भेद है।[2] चौपाई में सोलह कलाएँ होती हैं। छंद के अन्त में जगण (ISI) और तगण (SSI) नहीं होते हैं। समकल के अनन्तर विषम कल का प्रयोग वर्जित है।[3] जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने चौपाई के सोलह मात्राओं के चरण में न तो चौकलों का कोई क्रम माना है और न लघु-गुरु का। उन्होंने सम के पीछे सम और विषम के पीछे विषम कल के प्रयोग को अच्छा माना है तथा अन्त में जगण (ISI) का निषेध किया है।[4]

अपभ्रंश में पद्धरिया छंद में चौपाई का आदिम रूप विद्यमान है।[5] अपभ्रंश की कड़वक शैली जब हिन्दी में अवतरित हुई तो पद्धरिया छंद के स्थान पर चौपाई छंद गृहीत हुआ है।[6]

हिन्दी में चौपाई छंद का प्रयोग प्रारम्भ से ही हुआ है।[7] वीर रसात्मक काव्याभिव्यक्ति के लिए यह छंद वीरगाथाकालीन महाकवि चन्दबरदायी द्वारा व्यवहृत है। वीररसात्मक प्रसंगों में रीतिकालीन महाकवि केशवदास, जटमल, गोरेलाल, सूदन तथा गुलाब आदि के काव्यों में चौपाई छंद का प्रयोग उल्लिखित है।

प्रेमाख्यानक काव्यधारा के प्रमुख कवि जायसी, उसमान, नूरमोहम्मद तथा कुतुबन द्वारा प्रणीत काव्य कृतियों में इस छंद का प्रयोग परिलक्षित है।

भक्तिकालीन हिन्दी काव्यधारा के प्रमुख कवि सूरदास, नंददास तथा तुलसीदास द्वारा प्रणीत काव्य ग्रन्थों में 'दोहा चौपाई शैली' में इस छंद का प्रयोग हुआ है।

आधुनिक काल के हिन्दी महाकाव्यों में महाकवि द्वारिका प्रसाद मिश्र ने स्वरचित 'कृष्णायन' नामक महाकाव्य में चौपाई छंद का व्यवहार किया है।

यह छन्द सामान्यतया वर्णनात्मक है अतः इस छंद में सभी रसों का निर्वाह सहज रूप में हो जाता है। कथा-काव्यों में इस छंद की लोकप्रियता का मुख्य कारण यही है।[8]

जैन-हिन्दी-पूजा-काव्यों में इस छंद के दर्शन अठारहवीं शती से होते हैं।[9] अठारहवीं शती के कविवर द्यानतराय ने 'श्री निर्वाणक्षेत्रपूजा' नामक कृति में इस छंद का व्यवहार सफलता पूर्वक किया है।[10]

उन्नीसवीं शती में रामचन्द्र,[11] बख्तावररत्न,[12] कमलनयन[13] और मल्ल जी[14] विरचित काव्यकृतियों में भी यह छंद व्यवहृत है।

बीसवीं शती के रविमल,[15] रघुसुत,[16] नेम,[17] मुन्नालाल,[18] हीराचंद,[19] और दीपचंद[20] ने अपनी पूजा काव्यकृतियों में इस छंद का प्रयोग किया है।

जैन-हिन्दी पूजा काव्यों में चौपाई का सर्वाधिक प्रयोग

अठारहवीं शती के कविवर द्यानतराय ने शान्तरस के परिपाक के लिए किया है।"

उपर्युल्लिखित विवेचन के आधार पर यह संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैन-हिन्दी पूजा काव्य में चौपाई छंद का प्रारम्भ से ही प्रयोग हुआ है। जैन-हिन्दी पूजा के लगभग सभी रचयिताओं ने चौपाई छंद का उपयोग किया है। यह छंद जहाँ एक ओर लघुकायिक है वहाँ इसमें मुख-सुख और लयता की सहज धारा प्रवाहन की अद्भुत क्षमता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

१. 'छन्दोबद्ध पदं पद्यम्'
विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, ६/३१४, चौखम्बा, वाराणसी संस्करण सं० १९७० ।

२. सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, हिन्दी साहित्यकोश, प्रथम भाग, प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड बनारस, संस्क० संवत् २०१५, पृष्ठ २९० ।

३. प्रो० परमानन्द शास्त्री, श्री पिंगल पीयूष, प्रकाशक-ओरियण्टल बुक डिपो, १७०५, नई सड़क दिल्ली, संस्क० १९५३ ई०, पृष्ठ १६२ ।

४. जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', छन्द: प्रभाकर, प्रकाशिका—धर्मपत्नी स्व० बाबू जुगल किशोर, जगन्नाथ प्रिंटिंग प्रेस बिलासपुर, संस्क० १९६० ई०, पृष्ठ ४९ ।

५. (क) डा० हीरालाल अपभ्रंश के महाकाव्य, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, लेख प्रकाशित—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक ३-४, पृष्ठ ११२ ।

(ख) डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५, पृष्ठ ४३६ ।

६. (अ) डा० रामसिंह तोमर, जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन, प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, प्रकाशक—यशपाल जैन, मंत्री—प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ समिति, टीकमगढ़ (सी० आई०) संस्क० अक्टूबर १९४६ पृष्ठ ४६८ ।

(ब) डा० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया, जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत डी०लिट्० का शोध प्रबन्ध, सन् १९७५ ई०, पृष्ठ २४१ ।

७. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन-हिन्दी काव्य में छंदोयोजना, प्रकाशक—जैन शोध अकादमी, आगरा रोड, अलीगढ़, सन् १९७६ पृष्ठ १४ ।

८. वही पृष्ठ १५ ।

९. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन कवियों द्वारा रचित हिन्दी पूजा काव्य की परम्परा और उसका आलोचनात्मक अध्ययन, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पी-एच० डी० का शोध प्रबन्ध, सन् १९७८ पृष्ठ २८३ ।

१०. नमो ऋषभ कैलाश पहारं,
नेमिनाथ गिरनार निहार ।
वासुपूज्य चंपापुर वंदौ,
सन्मति पावापुर अभिनंदौ ।
—द्यानतराय, श्री निर्वाण क्षेत्र पूजा

११. रामचन्द्र श्री सम्मेद शिखर पूजा ।

१२. बख्तावर रत्न, श्री कुंथुनाथ जिन पूजा ।

१३. मल्ल जी श्री क्षमावाणी पूजा ।

१४. कमलनयन, श्री पंचकल्याणक पूजा पाठ ।

१५. रविमल, श्री तीस चौबीसी पूजा ।

१६. रघुसुत, श्री विष्णुकुमार मुनि पूजा ।

१७. नेम, श्री अकृत्रिम चैत्यालय पूजा ।

१८ मुन्नालाल, श्री खण्डगिरि क्षेत्र पूजा ।

१९. हीराचंद, श्री चतुर्विंशति तीर्थंकर समुच्चय पूजा ।

२०. दीपचंद, श्री बाहुबलि पूजा ।

२१. डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन कवियों द्वारा रचित हिन्दी-पूजा काव्यकी परम्परा और उसका आलोचनात्मक अध्ययन, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पी-एच० डी० का शोध प्रबन्ध, सन् १९७८, पृष्ठ २८५ ।

पीली कोठी, आगरा रोड,
अलीगढ़-२०२००१ ।

सम्यक्त्व कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनाएँ

☐ श्री अगरचन्द नाहटा

'अनेकान्त' के अप्रैल-सितम्बर १९८१ के अंक में डा० ज्योतिप्रसाद जैन का 'सम्यक्त्व कौमुदी नामक रचनाएं' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने लिखा है— सम्यक्त्वकौमुदी और सम्यक्त्वकौमुदीकथा नामक अठारह रचनायें ज्ञात हो सकी हैं जिनमें से आठ संस्कृत १ कन्नड़, १ अपभ्रंश और ६ हिन्दी मे रचित हैं। इनमे से १२ दिगम्बर विद्वानों द्वारा तथा ४ श्वेताम्बर विद्वानो द्वारा है। चारों ज्ञात श्वे० रचनायें संस्कृत मे है। सम्भव है अन्य भी रचनायें हों जो हमारी जानकारी मे अभी नहीं आई हैं।"

हमारी जानकारी मे और भी रचनायें हैं यथा— जिनरत्नकोष पृष्ठ ४२३ ४२४ मे सम्यक्त्वकौमुदी की सबसे प्राचीनतम प्रति पत्तन भंडार नं० २८१८ वाली सम्वत १३४३ की लिखी हुई बताई है। यदि यह लेखन सम्वत सही हो तो मूल रचना का रचनाकाल ईस्वी १३वीं शताब्दी के पीछे का तो हो नहीं सकता। (१) गुणाकरसूरि की रचना संवत १४०० ईस्वी की बतलाई है वह 'जिन रत्नकोष' के अनुसार विक्रम सवत १५०४ की रचना है। उसका परिमाण १४८८ श्लोको का और रचयिता चैत्रगच्छ के बतलाये है।' (२) जयशेखर सूरि के ग्रंथ का परिमाण ९९५ श्लोको का है। (३) जयचन्द्र सूरि के शिष्य का नाम डा० ज्योतिप्रसाद जी ने नहीं दिया है लेकिन जिनरत्नकोष में उनका नाम जिन हर्षगणि दिया है। और रचनाकार सवत १४६२ की जगह १४८७ दिया है। (४) जिन हर्ष गणि की यह रचना टीका सहित प्रकाशित होने का उल्लेख किया है। टीका सम्वत १४८७ में जयचंद्र गणि के द्वारा रचित बतलाई है। (५) सोमदेव सूरि के जिनरत्नकोष मे रचना का परिमाण ३३५२ श्लोकों का और वे आगम गच्छ के सिंहदत्त सूरि के शिष्य थे, लिखा है।

इनके अतिरिक्त नं० ४ में 'वत्सराज ऋषि रचना का नाम है पर वह संस्कृत मे नहीं, राजस्थानी में है। अन्य संस्कृत रचनाओं में मल्लिभूषण, यशकीर्ति, यमसेन कवि, वादिभूषण और श्रुतसागर की रचनायें हैं। ये दि० होनी संभव हैं।

इसी तरह 'जैन गुर्जर कवियो' भाग १ और ३ में डा० ज्योतिप्रसाद द्वारा अनुल्लिखित ६ राजस्थानी भाषा की पद्यबद्ध रचनाओ का विवरण प्रकाशित हुआ है जिनमे से तीन सत्रहवी शताब्दी की और तीन उन्नसवी शताब्दी की हैं।

१. सम्यक्त्व कौमुदी रास—१६२४ माघसुदी १५ बुधवार को नागोर के निकट 'डेहु' ग्राम में रचित। प्रमाण १५५०। कर्ता-खरतरगच्छीय।

२. सम्यक्त्व कौमुदी राम—पार्श्वचंद्रसूरि की परम्परा के वच्छराज के संवत १६४६ माघ सुदी ५ गुरुवार जबावती (खंभात) नव खंडो में रचित। विवरण देखें, जैन गुर्जर कवियों भाग १ पृष्ठ २६९।

३. सम्यक्त्व कौमुदी चौपाई—चन्द्रगच्छ के शक्तिपति के शिष्य जयमल्ल रचित सं० १६५२ विक्रमरवदी ९। इस रचना की एक मात्र ३० पत्रो की प्रति हमारे अभय जैन ग्रंथालय मे सं० १६५६ की लिखी हुई है।

४. सम्यक्त्वकौमुदी चौपाई-खरतरगच्छ के महोमहोपाध्याय समयसुन्दर जी की परम्परा मे कवि आलमचन्द रचित। सं० १८२२ मिगसर सुदी ४ मकसूदाबाद शहर मे सामसुखा गोत्रीय जैसलमेरी मुगालचद के पुत्र मूलचंद द्वारा कारित।

५. सम्यक्त्वकौमुदी चौपाई ढाल ६२ मु(कु)शालचन्द ऋषि रचित सं० १८७९ वैशाख सुदी १३ नागोर में।

(शेष पृष्ठ १२ पर)

अनुसन्धान में पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक

□ डा० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

'श्रमण' मासिक पत्र, वर्ष ३२, अंक ५, मार्च १९८१ में मेरे "जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन" ग्रन्थ की समीक्षा प्रकाशित हुई है। यह ग्रन्थ जून १९८० में वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी से प्रकट हुआ है। इसका विमोचन भी आचार्य विद्यासागर महाराज के द्वारा उसी जून १७, १९८० को सागर (मध्यप्रदेश) में समायोजित अनेक समारोहों के अवसर पर हो चुका है। उसकी मासिक, साप्ताहिक आदि पत्रों एवं जर्नलों में समालोचना भी निकल चुकी है। इन सभी पत्रों और अनेक मनीषियों ने ग्रन्थ की मुक्त कण्ठ से सराहना की है। किन्तु 'तुलसी प्रज्ञा' और 'श्रमण' ने उसकी समीक्षा में उसके कुछ लेखों को 'दुराग्रहमात्र' कहा है। पर उसके लिए कोई आधार या प्रमाण नहीं दिया।

'श्रमण' के सम्पादक ने तो कुछ विस्तृत (५ पृष्ठ प्रमाण) समीक्षा करते हुए कुछ ऐसी बातें कही हैं जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यद्यपि समीक्षक को समीक्षा करने की पूरी स्वतन्त्रता होती है, किन्तु उसे यह भी अनिवार्य है कि वह पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर समीक्ष्य के गुण-दोषों का पर्यालोचन करे। यही समीक्षा की मर्यादा है।

ज्ञातव्य है कि समीक्षित ग्रन्थ के शोध-निबन्ध और अनुसन्धानपूर्ण प्रस्तावनाएँ आज से लगभग ३९ वर्ष पूर्व (सन् १९४२ से १९७७ तक) 'अनेकान्त', जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आदि पत्रों तथा न्यायदीपिका, आप्त परीक्षा आदि ग्रन्थों में प्रकाशित है। किन्तु विगत वर्षों में 'श्रमण' के सम्पादक डा० सागरमल जैन या अन्य किसी विद्वान् ने उन पर कोई प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की। अब उन्होंने उक्त समीक्षा में ग्रन्थ के कुछ लेखों के विषयों पर प्रतिक्रिया व्यक्त की है। परन्तु उसमें अनुसन्धान और गहराई का नितान्त अभाव है। हमें प्रसन्नता होती, यदि वे पूर्वाग्रह से मुक्त होकर शोध और गम्भीरता के साथ उसे प्रस्तुत करते। यहां मैं उनके उठाये प्रश्नों अथवा मुद्दों पर विचार करूँगा और उनकी सरणि को नहीं अपनाऊँगा।

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

६. सम्यक्त्व कौमुदी चौपाई-- अनूपचंद (२) विनयचन्द्र रचित पत्र १०७ सं० १८८५ फाल्गुन वदि ७ को रचित।

इस तरह पांच संस्कृत और ६ राजस्थानी श्वे० कवियों के रचित का विवरण जिनरत्नकोष और जैन गुर्जर कवियों में प्रकाशित हो चुका है। इनमें से जयमल्ल की रचना की एक मात्र प्रति हमारे संग्रह में ही प्राप्त हुई है। अन्य भण्डारों में विशेष खोज करने पर कुछ अतिरिक्त रचनायें भी मिल सकती हैं।

एक ही कथा सम्बन्धी ऐसे अनेकों जैनग्रंथ छोटे और बड़े प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश हिन्दी, राजस्थानी, कन्नड़ आदि भाषाओं में लिखे मिलते हैं। उन सबका तुलनात्मक अध्ययन एक शोध प्रबंध में ही किया जा सकता है। रचनाओं के परिमाण के काफी अन्तर है अतः कइयों में संक्षेप से और कइयों में विस्तार से कथा दी गई होगी। प्रत्येक लेखक अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार कथा में परिवर्तन और वर्णन में अन्तर कर देते हैं। इससे सब ग्रंथों को देखने पर ही कथा के मूल स्रोत एवं समय-समय पर उसमें किये गये परिवर्तनों की जानकारी मिल सकती है। इनके सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन काफी रोचक और ज्ञानवर्धक हो सकता है। सम्यक्त्व कौमुदी की कथाओं का मूल स्रोत क्या और किस प्रकार का रहा है, यह अवश्य ही अन्वेषणीय है।

नाहटों की गवाड़ बीकानेर

□

सम्पादक का प्रथम प्रश्न है कि 'समन्तभद्र की आप्त-मीमांसा आदि कृतियों मे कुमारिल, धर्मकीर्ति आदि की मान्यताओं का खण्डन होने से उसके आधार पर समन्तभद्र को ही उनका परवर्ती क्यों न माना जाये ?'

स्मरण रहे कि हमने 'कुमारिल और समन्तभद्र' शीर्षक[1] शोध निबन्ध में सप्रमाण यह प्रकट किया है कि समन्तभद्र की कृतियो (विशेषतया आप्त-मीमांसा) का खण्डन कुमारिल और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों मे पाया जाता है। अतएव समन्तभद्र उक्त दोनों ग्रन्थकारों से पूर्ववर्ती हैं, परवर्ती नही। यहाँ हम पुनः उसी का विचार करेंगे।

हम प्रश्नकर्ता से पूछते है कि वे बतायें, कुमारिल और धर्मकीर्ति की स्वयं की वे कौन-सी मान्यताएँ है, जिनका समन्तभद्र की आप्तमीमासा आदि कृतियो में खण्डन है ? इसके समर्थन मे प्रश्नकार ने एक भी उदाहरण प्रस्तुत नही किया। इसके विपरीत दोनो ग्रन्थ-कारो ने समन्तभद्र की ही आप्तमीमांसागत मान्यताओं का खण्डन किया है यहाँ हम दोनों ग्रन्थकारो से कुछ उदाहरण उपस्थित करते है।

(१) जैनागमो[1] तथा कुन्दकुन्द के प्रवचनसार आदि ग्रन्थो[2] में सर्वज्ञ का स्वरूप तो दिया गया है परन्तु अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि उनमें उपलब्ध नही होती। जैन दार्शनिकों मे ही नही, भारतीय दार्शनिकों मे भी समन्तभद्र ही ऐसे प्रथम दार्शनिक एव तार्किक हैं, जिन्होंने आप्तमीमांसा (का० ३, ४, ५, ६, ७,) मे अनुमान से सामान्य तथा विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की है।

समन्तभद्र ने सर्वप्रथम कहा कि 'सभी तीर्थ प्रवर्तकों (सर्वज्ञों) और उनके समयो (आगमो--उपदेशो मे) परस्पर विरोध होने से सब सर्वज्ञ नहीं हैं, 'कश्चिदेव'—कोई ही (एक) गुरु (सर्वज्ञ) होना चाहिए', 'उस एक की सिद्धि की भूमिका बाधते हुए उन्होने आगे (का० ४ मे) कहा कि 'किसी व्यक्ति मे दोषो और आवरणो का निःशेष अभाव (ध्वस) हो जाता है क्योकि उनकी तरतमता (न्यूनाधिकता) पायी जाती है, जैसे सुवर्ण मे तापमान, कूटन आदि साधनो से उसके बाह्य (कालिमा) और आभ्यन्तर (कीट) दोनो प्रकार के मलो का अभाव हो जाता है।' इसके पश्चात् वे कहते है कि 'सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदि।' इस अनुमान से सामान्य सर्वज्ञ की सिद्धि करके वे विशेष सर्वज्ञ की भी सिद्धि करते हुए (का० ६ व ७ मे) कहते हैं कि 'हे वीर जिन ! अर्हन् ! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं और निर्दोष इस कारण हैं, क्योंकि आपके वचनों (उपदेश) मे युक्ति तथा आगम का[6] विरोध नहीं है, जबकि दूसरों (एकान्तवादी आप्तों) के उपदेशों मे युक्ति एवं आगम दोनों का विरोध है, तब वे सर्वज्ञ कैसे कहे जा सकते हैं। इस प्रकार समन्तभद्र ने अनुमान से सामान्य और विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की है। और इसलिए अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना आप्त-मीमांसागत समन्तभद्र की मान्यता है।

आज से एक हजार वर्ष पूर्व (ई० १०२५) के प्रसिद्ध तर्क ग्रन्थकार वादिराज सूरि[1] ने भी उसे (अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करने को) समन्तभद्र के देवागम (आप्त-मीमांसा) की मान्यता प्रकट की है। पार्श्वनाथ चरित में समन्तभद्र के विस्मयावह व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए उन्होंने उनके देवागम द्वारा सर्वज्ञके प्रदर्शन का स्पष्ट निर्देश किया है। इसी प्रकार आ० शुभचन्द्र[10] ने भी देवागम द्वारा देव (सर्वज्ञ) के आगम (सिद्धि) को बतलाया है।

इन असन्दिग्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि करना समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की निःसन्देह अपनी मान्यता है। और उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकार उसे शताब्दियों से उनकी ही मान्यता मानते चले आ रहे है।

अब कुमारिल की ओर दृष्टिपात करें। कुमारिल[11] ने सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकार के सर्वज्ञ का निषेध किया है। यह निषेध और किसी का नहीं, समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का है। कुमारिल बड़े आवेग के साथ प्रथमतः सामान्यसर्वज्ञ का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सभी सर्वज्ञ (तीर्थ प्रवर्तक) परस्पर विरोधी अर्थ (वस्तुतत्त्व) के जब उपदेश करने वाले हैं और जिनके साधक हेतु समान (एक-से) हैं, तो उन सबों में उस एकता निर्धारण कैसे करोगे कि अमुक सर्वज्ञ है और अमुक सर्वज्ञ नहीं है। कुमारिल उस परस्पर-विरोध को

भी दिखाते हुए कहते हैं कि यदि सुगत सर्वज्ञ है, कपिल नहीं, तो इसमें क्या प्रमाण है और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं, तो उनमें मतभेद कैसा।' इसके अलावा वे और कहते हैं कि 'प्रमेयत्व आदि हेतु जिस (सर्वज्ञ) के निषेधक हैं, उन हेतुओं से कौन उस (सर्वज्ञ) की कल्पना (सिद्धि) करेगा।'

यहाँ ज्ञातव्य है कि समन्तभद्र के 'परस्पर-विरोधतः' पद के स्थान में 'विरुद्धार्थोपदेशिषु', सर्वथा की जगह 'सर्वेषु' और 'कश्चिदेव' के स्थान में 'को नामैकः' पदों का कुमारिल ने प्रयोग किया है और जिस परस्पर विरोध की सामान्य सूचना समन्तभद्र ने की थी, उसे कुमारिल ने सुगत, कपिल आदि विरोधी तत्त्वोपदेष्टाओं के नाम लेकर विशेष उल्लेख किया है। समन्तभद्र ने जो सभी तीर्थ-प्रवर्तकों (सुगत आदि) में परस्पर विरोध होने के कारण 'कश्चिदेव भवेद् गुरुः' शब्दों द्वारा कोई (एक) को ही गुरु—सर्वज्ञ होने का प्रतिपादन किया था, उस पर कुमारिल ने प्रश्न करते हुए कहा कि 'जब सभी सर्वज्ञ हैं और विरुद्धार्थोपदेशी हैं तथा सबके साधक हेतु एक से हैं, तो उन सबमें से 'को नामैकोऽवधार्यताम्'—किस एक का अवधारण (निश्चय) करते हो।' कुमारिल का यह प्रश्न समन्तभद्र के उक्त प्रतिपादन पर ही हुआ है। और उन्होंने उस अनवधारण (सर्वज्ञ के निर्णय के अभाव) को 'सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा' आदि कथन द्वारा प्रकट भी किया है। यह सब आकस्मिक नहीं है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्र ने अपने उक्त प्रतिपादन पर किसी के प्रश्न करने के पूर्व ही अपनी उक्त प्रतिज्ञा (कश्चिदेव भवेद्गुरु) को आप्तमीमांसा (का० ४ और ५) में अनुमान-प्रयोगपूर्वक सिद्ध किया है[11]। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अनुमान प्रयोग में उन्होंने 'अनुमेयत्व' हेतु दिया है जो सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि करता है और जो किसी एक का निर्णायक नहीं है। इसी से कुमारिल ने 'तुल्यहेतुषु सर्वेषु' कह कर उसे अथवा उस जैसे प्रमेयत्व आदि हेतुओं को सर्वज्ञ का अनवधारक (अनिश्चायक) कहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने एक अन्य कारिका के द्वारा समन्तभद्र के इस 'अनुमेयत्व' हेतु की तीव्र आलोचना करते हुए कहा[13] कि जो प्रमेयत्व, आदि हेतु सर्वज्ञ के निषेधक हैं, उनसे सर्वज्ञ की सिद्धि कैसे की जा सकती है।' इसका सबल उत्तर समन्तभद्र की आप्तमीमांसा के विवृत्तिकार अकलंकदेव ने[14] दिया है। अकलंक कहते हैं कि 'प्रमेयत्व आदि तो अनुमेयत्व' हेतु के पोषक है[15]—अनुमेयत्व हेतु की तरह प्रमेयत्व आदि सर्वज्ञ के सद्भाव के साधक हैं, तब कौन समझदार उन हेतुओं से सर्वज्ञ का निषेध या उसके सद्भाव में सन्देह कर सकता है।'

यह सारी स्थिति बतलाती है कि कुमारिल ने समन्तभद्र का खण्डन किया है, समन्तभद्र ने कुमारिल का नहीं। यदि समन्तभद्र कुमारिल के परवर्ती होते तो कुमारिल के खण्डन का उत्तर स्वयं समन्तभद्र देते, अकलंक को उनका जवाब देने का अवसर नहीं आता, तथा समन्तभद्र के 'अनुमेयत्व' हेतु का समर्थन करने का भी मौका उन्हें नहीं मिलता।

(२) अनुमान से सर्वज्ञ-सामान्य की सिद्धि करने के उपरान्त समन्तभद्र ने अनुमान से ही सर्वज्ञ-विशेष की सिद्धि का उपन्यास करके उसे 'अर्हन्त' में पर्यवसित किया है[16]। जैसा कि हम ऊपर आप्तमीमांसा कारिका ६ और ७ के द्वारा देख चुके हैं। कुमारिल ने समन्तभद्र की इस विशेष सर्वज्ञता की सिद्धि का भी खण्डन किया है[17]। अर्हन्त का नाम लिए बिना वे कहते हैं कि 'जो लोग जीव (अर्हन्त) के इन्द्रियादि निरपेक्ष एवं सूक्ष्मादि विषयक केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की कल्पना करते हैं वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह आगम के बिना और आगम केवलज्ञान के बिना सम्भव नहीं है और इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होने के कारण अरहन्तजिन में भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती।'

ज्ञातव्य है कि जैन अथवा जैनेतर परम्परा में समन्तभद्र से पूर्व किसी दार्शनिक ने अनुमान से उक्त प्रकार विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की हो, ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। हाँ, आगमों में केवलज्ञान का स्वरूप अवश्य विस्तारपूर्वक मिलता है, जो आगमिक है, आनुमानिक नहीं है। समन्तभद्र ही ऐसे दार्शनिक हैं, जिन्होंने अरहन्त में अनुमान से सर्वज्ञता (केवलज्ञान) की सिद्धि की है और उसे दोषावरणों से रहित, इन्द्रियादि निरपेक्ष

तथा सूक्ष्मादि विषयक बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि कुमारिल ने समन्तभद्र की ही उक्त मान्यता का खण्डन किया है। इसका सबल प्रमाण यह है कि कुमारिल के उक्त खण्डन का भी जवाब अकलंक देव ने दिया है। उन्होंने बड़े सन्तुलित ढंग से कहा है कि 'अनुमान द्वारा सुसिद्ध केवलज्ञान (सर्वज्ञता) आगम के बिना और आगम केवलज्ञान के बिना सिद्ध नहीं होता, यह सत्य है, तथापि दोनों में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है, क्योंकि पुरुषातिशय (केवलज्ञान) प्रतीतिवश से माना गया है। इन (केवलज्ञान और आगम) दोनों में बीज और अंकुर की तरह अनादि प्रबन्ध (प्रवाह-सन्तान) है'।

अकलंक के इस उत्तर से बिल्कुल स्पष्ट है कि समन्तभद्र ने जो अनुमान से अरहन्त के केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की सिद्धि की थी, उसी का खण्डन कुमारिल ने किया है और जिसका सयुक्तिक उत्तर अकलंक ने उक्त प्रकार से दिया है। केवलज्ञान के साथ 'अनुमानविजृम्भितम्'—'अनुमान से सिद्ध' विशेषण लगा कर तो अकलंक (वि० सं० ७वीं शती) ने रहा-सहा सन्देह भी निरावृत कर दिया है। इस उल्लेख-प्रमाण से भी प्रकट है कि कुमारिल ने समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का खण्डन किया और जिसका उत्तर समन्तभद्र से कई शताब्दी बाद हुए अकलंक ने दिया है। समन्तभद्र को कुमारिल का परवर्ती मानने पर उसका जवाब वे स्वयं देते, अकलंक को उसका अवसर ही नहीं आता।

(३) कुमारिल ने समन्तभद्र का जहां खण्डन किया है वहां उनका अनुगमन भी किया है। विदित है कि जैन दर्शन में वस्तु को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन रूप माना गया है। समन्तभद्र ने लौकिक और आध्यात्मिक दो उदाहरणों द्वारा उसकी समर्थ पुष्टि की है। इन दोनों उदाहरणों के लिए उन्होंने एक-एक कारिका का सृजन किया है। पहली (५९वीं) कारिका के द्वारा उन्होंने प्रकट किया है कि जिस प्रकार घट, मुकुट और स्वर्ण के इच्छुकों को उनके नाश, उत्पाद और स्थिति में क्रमशः शोक, हर्ष और माध्यस्थ्य भाव होता है और इसलिए स्वर्णवस्तु व्यय, उत्पाद और स्थिति इन तीन रूप है, उसी प्रकार विश्व की सभी वस्तुयें त्रयात्मक हैं। दूसरी (६०वीं) कारिका के द्वारा बतलाया है कि जैसे दुग्धव्रती, दूध ही ग्रहण करता है, दही नहीं लेता और दही का व्रत रखने वाला दही ही लेता है, दूध नहीं लेता है तथा दूध और दही दोनों का त्यागी दोनों को ही ग्रहण नहीं करता और इस तरह गोरस उत्पाद, व्यय और ध्रुवता तीनों से युक्त है, उसी तरह अखिल विश्व (तत्व) त्रयात्मक है।

कुमारिल ने भी समन्तभद्र की लौकिक उदाहरण वाली कारिका (५९) के आधार पर अपनी नयी ढाई कारिकायें रची हैं और समन्तभद्र की ही तरह उनके द्वारा वस्तु को त्रयात्मक सिद्ध किया है। उनकी इन कारिकाओं में समन्तभद्र की कारिका ५९ का केवल बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव ही नहीं है, अपितु उनकी शब्दावली, शैली और विचारसरणि भी उनमें समाहित है। समन्तभद्र ने जिस बात को अतिसंक्षेप में एक कारिका (५९) में कहा है, उसी को कुमारिल ने ढाई कारिकाओं में प्रतिपादन किया है। वस्तुतः विकास का भी यही नियम है कि वह उत्तरकाल में विस्तृत होता है। इस उल्लेख से भी स्पष्ट जाना जाता है कि समन्तभद्र पूर्ववर्ती हैं और कुमारिल परवर्ती।

इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि ई० १०२५ के प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और प्रामाणिक तर्क ग्रन्थकार वादिराज सूरि ने अपने न्यायविनिश्चय-विवरण (भाग १, पृ० ४३९) में समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की उल्लिखित कारिका ५९ को और कुमारिल भट्ट की उपरि चर्चित ढाई कारिकाओं में से डेढ़ कारिका को भी 'उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि' शब्दों को देकर कुमारिल भट्ट को समन्तभद्र का उपजीवी-अनुगामी स्पष्टतया प्रकट किया है कि एक हजार वर्ष पहले भी दार्शनिक एवं साहित्यकार समन्तभद्र को पूर्ववर्ती और कुमारिल भट्ट को परवर्ती विद्वान मानते थे।

(४) अब धर्मकीर्ति को लीजिए। धर्मकीर्ति (ई० ६३५) ने भी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का खण्डन किया है। विदित है कि आप्तमीमांसा (का० १०४) में समन्तभद्र ने स्याद्वाद का लक्षण दिया है और लिखा है कि 'सर्वथा एकान्त के त्याग से जो किंचित्' (कथंचित्) का विधान है वह स्याद्वाद है।' धर्मकीर्ति ने

समन्तभद्र के इस स्याद्वाद लक्षण की बड़े आवेग के साथ समीक्षा की है। उनके 'किंचित् के विधान—स्याद्वाद को अयुक्त, अश्लील और आकुल 'प्रलाप' कहा है।'

ज्ञातव्य है कि आगमो[१६] में 'सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता, 'गोयमा। जीवा सिय सासया, सिय असासया' जैसे निरूपणों में दो भंगों तथा कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय[१७] में 'सिय अत्थि णत्थि उहयं—' इस गाथा (१४) के द्वारा गिनाये गये सात भगों के नाम तो पाये जाते हैं। पर स्याद्वाद की उनमें कोई परिभाषा नहीं मिलती। समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में ही प्रथमत: उसकी परिभाषा और विस्तृत विवेचन मिलते हैं। धर्मकीर्ति ने उक्त खण्डन समन्तभद्र का ही किया है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है। धर्मकीर्ति का 'तदप्येकान्तसम्भवात्' पद भी आकस्मिक नहीं है, जिसके द्वारा उन्होंने सर्वथा एकान्त के त्याग से होने वाले किंचित् (कथंचित्) के विधान—स्याद्वाद (अनेकान्त) मे भी एकान्त की सम्भावना करके उसका—अनेकान्त का खण्डन किया है।

इसके सिवाय धर्मकीर्ति ने समन्तभद्र की उस मान्यता का भी खण्डन किया है,[१८] जिसे उन्होंने 'सदैव सर्वं को नेच्छेत्' (का० १५) आदि कथन द्वारा स्थापित किया है।[१९] वह मान्यता है सभी वस्तुओं को सद्-असद्, एक-अनेक, आदि रूप से उभयात्मक (अनेकान्तात्मक) प्रतिपादन करना। धर्मकीर्ति उसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'सबको उभयरूप मानने पर उनमे कोई भेद नहीं रहेगा। फलतः जिसे 'दही खा' कहा, वह ऊँट को खाने के लिए क्यों नहीं दौड़ता? जब सभी पदार्थ सभी रूप हैं तो उनके वाचक शब्द और बोधक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते।'

धर्मकीर्ति के द्वारा किया गया समन्तभद्र का यह खण्डन भी अकलंक को सह्य नही हुआ और उनके उपर्युक्त दोनों आक्षेपों का जवाब बड़ी तेजस्विता के साथ उन्होने दिया है।[२०] प्रथम आक्षेप का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि 'जो विज्ञप्ति मात्र को जानता है और लोकानुरोध से बाह्य—पर को भी स्वीकार करता है और फिर भी सबको शून्य कहता है तथा प्रतिपादन करता है कि न ज्ञाता है, न उसमें फल है और न कुछ अन्य जाना जाता है, ऐसा अश्लील, आकुल और अयुक्त प्रलाप करता है, उसे प्रमत्त (पागल) जड़बुद्धि और विविध आकुलताओं से घिरा हुआ समझना चाहिए।' समन्तभद्र पर किये गये धर्मकीर्ति के प्रथम आक्षेप का यह जवाब 'जैसे को तैसा' नीति का पूर्णतया परिचायक है।

धर्मकीर्ति के दूसरे आक्षेप का भी उत्तर अकलंक उपहासपूर्वक देते हुए कहते हैं कि 'जो दही और ऊँट मे अभेद का प्रसग देकर सभी पदार्थों को एक हो जाने की आपत्ति प्रकट करता है और इस तरह स्याद्वाद—अनेकान्तवाद का खण्डन करता है वह पूर्वपक्ष (अनेकान्तवाद—स्याद्वाद) को न समझ कर दूषक (दूषण देने वाला) होकर भी विदूषक—दूषक नही है, जोकर है। सुगत भी कभी मृग था और मृग भी सुगत हुआ माना जाता है तथापि सुगत को वन्दनीय और मृग को भक्षणीय कहा गया है और इस तरह पर्यायभेद से सुगत और मृग मे वन्दनीय एवं भक्षणीय की भेदव्यवस्था तथा चित्तसन्तान की अपेक्षा से उनमे अभेद व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार प्रतीति बल से—पर्याय और द्रव्य की प्रतीति से सभी पदार्थों मे भेद और अभेद दोनो की व्यवस्था है। अत 'दही खा' कहे जाने पर कोई ऊँट को खाने के लिए क्यो दौड़ेगा, क्योंकि सत्-द्रव्य की अपेक्षा से उनमे अभेद होने पर भी पर्याय की दृष्टि से उनमे उसी प्रकार भेद है, जिस प्रकार सुगत और मृग मे है। अतएव 'दही खा' कहने पर कोई दही खाने के लिए ही दौड़ेगा, क्योंकि वह भक्षणीय है और ऊँट खाने के लिए वह नही दौड़ेगा, क्योंकि वह अभक्षणीय है। इस तरह विश्व की सभी वस्तुओं को उभयात्मक—अनेकान्तात्मक मानने में कौन-सी आपत्ति या विपत्ति है अर्थात् कोई आपत्ति या विपत्ति नही है।

अकलंक के इन सन्तुलित एवं सबल जवाबों से बिल्कुल असन्दिग्ध है कि समन्तभद्र की आप्तमीमांसागत स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की मान्यताओं का ही धर्मकीर्ति ने खण्डन किया है और जिसका मुंहतोड़, किन्तु शालीन एवं करारा उत्तर अकलंक ने दिया है। यदि समन्तभद्र धर्मकीर्ति के परवर्ती होते तो वे स्वयं उनका जवाब देते और उस स्थिति मे अकलंक को धर्मकीर्ति के उपर्युक्त आक्षेपों का उत्तर देने का मौका ही नहीं आता।

चालीस-पचास वर्ष पूर्व स्व० पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, स्व० पं० सुखलाल संघवी आदि कुछ विद्वानों ने समन्तभद्र को धर्मकीर्ति का परवर्ती होने की सम्भावना की थी। किंतु अब ऐसे प्रचुर प्रमाण सामने आ गये हैं, जिनके आधार पर धर्मकीर्ति समन्तभद्र से काफी उत्तरवर्ती (३००-४०० वर्ष पश्चात्) सिद्ध हो चुके हैं। इस विषय मे डाक्टर ए० एन० उपाध्ये एवं डा० हीरालाल जैन का शाकटायन व्याकरण पर लिखा प्रधान सम्पादकीय द्रष्टव्य है।' 'धर्मकीर्ति और समन्तभद्र' शीर्षक हमारा शोधपूर्ण लेख भी अवलोकनीय है,[३१] जिसमें उक्त विद्वानों के हेतुओं पर विमर्श करने के साथ ही पर्याप्त नया अनुसन्धान प्रस्तुत किया गया है। ऐसे विषयों पर हमें उन्मुक्त दिमाग से विचार करना चाहिए और सत्य के ग्रहण मे हिचकिचाना नही चाहिए।

सम्पादक ने दूसरा प्रश्न उठाया है कि 'सिद्धसेन के *न्यायावतार और समन्तभद्र के श्रावकाचार मे किसी पद* (पद्य) को समान रूप से पाये जाने पर समन्तभद्र को ही पूर्ववर्ती क्यों माना जाय? यह भी तो सम्भव है कि समन्तभद्र ने स्वयं उसे सिद्धसेन से लिया हो और वह उससे परवर्ती हो?

सम्पादक की प्रस्तुत सम्भावना इतनी शिथिल और निर्जीव है कि उसे पुष्ट करने वाला एक भी प्रमाण नही दिया जा सकता और न स्वयं सम्पादक ने ही उसे दिया है। अनुसन्धान के क्षेत्र मे यह आवश्यक है कि सम्भावना के पोषक प्रमाण दिये जायें, तभी उसका मूल्यांकन होता है और तभी वह विद्वानों द्वारा आदृत होती है।

यहाँ उसी पर विमर्श किया जाता है। ऊपर जिन समन्तभद्र की बहुत चर्चा की गयी है, उन्ही का रचित एक श्रावकाचार है, जो सबसे प्राचीन, महत्वपूर्ण और व्यवस्थित श्रावकाचार का प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसके आरम्भ मे धर्म की व्याख्या का उद्देश्य बतलाते हुए उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रूप बतलाया गया है। *सम्यग्दर्शन का स्वरूप उन्होंने देव,* शास्त्र और गुरु का दृढ एवं अमूढ श्रद्धान् कहा है। अतएव उन्हें इन तीनों का लक्षण बतलाना भी आवश्यक था। देव का लक्षण प्रतिपादन करने के उपरान्त समन्तभद्र ने ९वें पद्य के द्वारा शास्त्र का लक्षण निरूपित किया है। यह पद्य सिद्धसेन के *न्यायावतार* में भी उसके ९वें पद्य के रूप में पाया जाता है।

अब विचारणीय है कि यह पद्य श्रावकाचार का मूल पद्य है या न्यायावतार का मूल पद्य है। श्रावकाचार में यह जहाँ स्थित है वहाँ उसका होना आवश्यक और अनिवार्य है। किन्तु न्यायावतार में जहाँ वह है वहाँ उसका होना आवश्यक एवं अनिवार्य नही है, क्योंकि वह पूर्वोक्त शब्द-लक्षण (का० ८) के समर्थन मे अभिहित है। उसे वहाँ से हटा देने पर उसका अंग-भंग नहीं होता। किन्तु समन्तभद्र के श्रावकाचार से उसे अलग कर देने पर उसका अंग भंग हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त ९वां पद्य, जिसमे शास्त्र का लक्षण दिया गया है, श्रावकाचार का मूल है और न्यायावतार मे अपने विषय (८वें पद्य मे कथित शब्दलक्षण) के समर्थन के लिए उसे वहां से ग्रन्थकार ने स्वयं लिया है या किसी उत्तरवर्ती ने लिया है और जो बाद को उक्त ग्रन्थ का भी अंग बन गया। यह भी ध्यातव्य है कि श्रावकाचार में आप्त के लक्षण के बाद आवश्यक तौर पर प्रतिपादनीय शास्त्र लक्षण का प्रतिपादक अन्य कोई पद्य नहीं है, जब कि न्यायावतार मे शाब्द लक्षण का प्रतिपादक ८वां पद्य है। इस कारण भी उक्त ९वां पद्य (आप्तोपज्ञमनु) श्रावकाचार का मूल पद्य है, जिसका वहां मूल रूप से होना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है। तथा न्यायावतार में उसका, ८वें पद्य के समक्ष, मूल रूप मे होना अनावश्यक, व्यर्थ और पुनरुक्तवत है। अत: यही मानने योग्य एवं न्यायसंगत है कि न्यायावतार में वह समन्तभद्र के श्रावकाचार से लिया गया है, न कि श्रावकाचार में न्यायावतार से उसे लिया गया है। न्यायावतार से श्रावकाचार में उसे (९वें पद्य को) लेने की सम्भावना बिल्कुल निर्मूल एवं बेदम है।

इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर न्यायावतार में धर्मकीर्ति (ई० ६३५), कुमारिल (ई० ६५०) और पात्रस्वामी (ई० ६ठी, ७वीं शती) इन ग्रन्थकारों का अनुसरण पाया जाता है और ये तीनों ग्रन्थकार समन्तभद्र के उत्तरवर्ती हैं। तब समन्तभद्र को न्यायावतारकार सिद्धसेन का परवर्ती बतलाना केवल

पक्षाग्रह है। उसमें युक्ति या प्रमाण (आधार) कुछ भी नहीं है।

समीक्षा का तीसरा प्रश्न है कि 'न्यायशास्त्र के समग्र विकास की प्रक्रिया में ऐसा नहीं हुआ है कि पहले जैन न्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणों ने उसका अनुकरण किया हो।' हमें लगता है कि समीक्षक ने हमारे लेख को आपाततः देखा है, उसे ध्यान से पढ़ा ही नहीं है। उसे यदि ध्यान से पढ़ा होता, तो वे ऐसा स्खलित और भड़काने वाला प्रश्न न उठाते। हम पुनः उनसे उसे पढ़ने का अनुरोध करेंगे। हमने 'जैन न्याय का विकास'[१८] लेख में यह लिखा है कि 'जैन न्याय का उद्गम उक्त (बौद्ध और ब्राह्मण) न्यायों से नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद श्रुत से हुआ है। यह सम्भव है कि उक्त न्यायो के साथ जैन न्याय भी फला-फूला हो। अर्थात् जैन न्याय के विकास में ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्याय का विकास प्रेरक हुआ हो और उनकी विविध क्रमिक शास्त्र-रचना जैन न्याय की क्रमिक शास्त्र-रचना में सहायक हुई हो। समकालीनों में ऐसा आदान-प्रदान होना या प्रेरणा लेना स्वाभाविक है।' यहां हमने कहाँ लिखा कि पहले जैनन्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणो ने उसका अनुकरण किया। हमे खेद और आश्चर्य है कि समीक्षक एक शोध-संस्थान के निदेशक होकर भी तथ्यहीन और भड़काने वाली शब्दावली का आरोप हम पर लगा रहे हैं। जहाँ तक जैन न्याय के विकास का प्रश्न है उसमे हमने स्पष्टतया बौद्ध और ब्राह्मण न्याय के विकास को प्रेरक बतलाया है और उनकी शास्त्र-रचना को जैन न्याय की शास्त्र-रचना में सहायक स्वीकार किया है। हाँ, जैन न्याय का उद्गम उनसे नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगश्रुत से हुआ। अपने इस कथन को सिद्धसेन (द्वात्रिंशिकाकार)[१९], अकलंक, विद्यानन्द और यशोविजय[२१] के प्रतिपादनों से पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। हम पाठकों, खासकर समीक्षक से अनुरोध करेंगे कि वे उस निबन्ध को गौर से पढ़ने की कृपा करें और सही स्थिति एवं तथ्य को अवगत करें।

डा० सागरमल जी ने चौथे और अन्तिम मुद्दे में मेरे 'तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा' निबन्ध को लेकर लिखा है कि 'अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जिनमें तत्त्वार्थ सूत्रकार और दिगम्बर आचार्यों मे भी मतभेद है। अतः कुछ बातों में तत्त्वार्थ सूत्रकार और अन्य श्वेताम्बर आचार्यों में मतभेद होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार श्वेताम्बर परम्परा के नही हो सकते।' अपने इस कथन के समर्थन में कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थ सूत्रकार के नयों और गृहस्थ के १२ व्रतो सम्बन्धी मतभेद को दिया है। इसी मुद्दे मे हमारे लेख मे आयी कुछ बातों का और उल्लेख करके उनका समाधान करने का प्रयत्न किया है।

इस मुद्दे पर भी हम विचार करते हैं। प्रतीत होता है कि डा० साहब मतभेद और परम्परा भेद दोनों में कोई अन्तर नही मान रहे हैं, जब कि उनमें बहुत अन्तर है। वे यह तो जानते हैं कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद जैन संघ दो परम्पराओ मे विभक्त हो गया—एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर। ये दोनों भी उप-परम्पराओं में विभाजित हैं। किन्तु मूलतः दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो ही परम्पराएं हैं। जो आचार्य दिगम्बरत्व का और जो श्वेताम्बरत्व का समर्थन करते हैं वे क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्य कहे जाते हैं तथा उनके द्वारा निर्मित साहित्य दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य माना जाता है।

अब देखना है कि तत्त्वार्थसूत्र मे दिगम्बरत्व का समर्थन है या श्वेताम्बरत्व का। हमने उक्त निबन्ध में इसी दिशा मे विचार किया है। इस निबन्ध की भूमिका बांधते हुए उसमे प्राक्वृत्त के रूप में हमने लिखा है[२२] कि "जहाँ तक हमारा ख्याल है, सबसे पहले पण्डित सुखलाल जी 'प्रज्ञाचक्षु' ने तत्त्वार्थ सूत्र और उसकी व्याख्याओं तथा कर्तृत्व विषय में दो लेख लिखे थे और उनके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता को तटस्थ परम्परा (न दिगम्बर, न श्वेताम्बर) का सिद्ध किया था। इसके कोई चार वर्ष बाद सन् १९३४ में उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने कतिपय श्वेताम्बर आगमों के सूत्रों के साथ तत्त्वार्थ सूत्र के सूत्रों का तथोक्त समन्वय करके 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय' नाम से एक ग्रन्थ लिखा और उसमे तत्त्वार्थ सूत्र को श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ प्रसिद्ध किया जब यह ग्रन्थ पण्डित सुखलाल जी को प्राप्त

हुआ, तो अपने पूर्व (तटस्थ परम्परा) के विचार को छोड़ कर उन्होंने उसे मात्र श्वेताम्बर परम्परा का प्रकट किया तथा यह कहते हुए कि 'उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा के थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्ष के श्रुत के आधार पर ही बना है।'—'वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा में हुए, दिगम्बर में नहीं। निःसकोच तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता को श्वेताम्बर होने का अपना निर्णय भी दे दिया है।"

इसके बाद पं० परमानन्दजी शास्त्री,[१४] पं फूलचन्द्र जी शास्त्री[१५] प० नाथूराम जी प्रेमी[१६] जैसे कुछ दिगम्बर विद्वानो ने भी तत्त्वार्थसूत्र की जांच की। इनमें प्रथम के दो विद्वानो ने उसे दिगम्बर और प्रेमी जी ने यापनीय ग्रन्थ प्रकट किया। हमने भी उस पर विचार करना उचित एव आवश्यक समझा और उसी के फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की मूल परम्परा खोजने के लिए उक्त निबन्ध लिखा। अनुसन्धान करने और साधक प्रमाण मिलने पर हमने उसकी मूल परम्परा दिगम्बर बतलायी। समीक्षक ने उन्हें निरस्त न कर मात्र व्याख्यान दिया है। किन्तु *व्याख्यान समीक्षा नही कहा जा सकता, अपितु वह अपने* पक्ष का समर्थक कहा जायेगा।

तत्त्वार्थसूत्र और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों मे प्रतिपादित नयों और गृहस्थ के १२ व्रतों में वैचारिक या विवेचन पद्धति का अन्तर है। ऐसा मतभेद परम्परा की भिन्नता को प्रकट नहीं करता। समन्तभद्र, जिनसेन और सोमदेव के अष्टमूल गुण भिन्न होने पर भी वे एक ही (दिगम्बर) परम्परा के हैं। पात्रभेद एव कालभेद से उनमें ऐसा विचार भेद होना सम्भव है। विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थो में प्रत्यभिज्ञान के दो भेद माने हैं और अकलक, माणिक्यनन्दि आदि ने उसके अनेक (दो से ज्यादा) भेद बतलाये हैं। और ये सभी दिगम्बर आचार्य हैं। पर तत्त्वार्थसूत्र और सचेलश्रुत मे ऐसा अन्तर नहीं है। उनमें मौलिक अन्तर है, जो परम्परा भेद का सूचक है। ऐसे मौलिक अन्तर को ही हमने उक्त निबन्ध में दिखाया है। संक्षेप मे उसे यहाँ दिया जाता है—

तत्त्वार्थसूत्र	*सचेल श्रुत*
१. अदर्शनपरीषह, ९-९-१४	दंसणपरीसह, सम्मत्तपरीसह (उत्तरा० सू० पृष्ठ ८)
२. एक साथ १९ परीषह, ९-१७	एक साथ बीस परीषह, उत्तरा० त० जैना० पृ. २०८
३. तीर्थंकर प्रकृति के १६ बंध कारण, ६–२४	तीर्थंकर प्रकृति के २० बंध-कारण (ज्ञातृ० सू० ८-६४)
४. विविक्तशय्यासन तप, ९-१९	संलीनता तप, (व्याख्या प्र० सू० २५।७ ८)
५. नाग्न्यपरीषह, ९-९	अचेलपरीषह (उत्तरा० सू०, पृ० ८२
६. लौकान्तिक देवो के ८ भेद ४-४२	लौकान्तिक देवों के ९ भेद (ज्ञातृ, भगवती)

यह ऐसा मौलिक अन्तर है, जिसे श्वे० आचार्यों का मतभेद नही कहा जा सकता। वह तो स्पष्टतया परम्परा भेद का प्रकाशक है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु या अन्य श्वेता० आचार्यों ने सचेल श्रुत का पूरा अनुगमन किया है, पर तत्त्वार्थसूत्रकार ने उसका अनुगमन नही किया। अन्यथा सचेलश्रुत विरुद्ध उक्त प्रकार का कथन तत्त्वार्थसूत्र मे न मिलता।

तत्त्वार्थसूत्र में 'अचेलपरीषह' के स्थान पर 'नाग्न्य-परीषह' रखने पर विचार करते हुए हमने उक्त निबन्ध मे लिखा था[१७] कि 'अचेल' शब्द जब भ्रष्ट हो गया और उसके अर्थ में भ्रान्ति होने लगी तो आ० उमास्वाति ने उसके स्थान में नग्नता—सर्वथा वस्त्ररहितता अर्थ को स्पष्टत ग्रहण करने के लिए नाग्न्य' शब्द का प्रयोग किया।' इसका तर्कसंगत समाधान न करके डा० सागरमल जी लिखते हैं कि 'डा० साहब ने श्वे० आगमों को देखा ही नही है। श्वे० आगमों मे नग्न के प्राकृत रूप नग्न या णगिण के अनेक प्रयोग देखे जाते हैं।' प्रश्न यह नहीं है कि आगमों में नग्न के प्राकृत रूप नग्न या णगिन के प्रयोग मिलते हैं। प्रश्न यह है कि श्वे० आगमों में क्या 'अचेल परीषह' की स्थानापन्न 'नाग्न्य परीषह' उपलब्ध है ? इस प्रश्न का उत्तर न दे कर केवल उनमें 'नाग्न्य' शब्द के प्राकृत रूपों (नग्न, णगिन) के प्रयोगों की बात करना और हमें श्वे० आगमों से अनभिज्ञ बताना न समाधान है और न शालीनता है। वस्तुतः उन्हें यह

बताना चाहिए कि उसमें नाग्न्य परीषह है। किन्तु यह तथ्य है कि उसमें 'नाग्न्य परीषह नहीं है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने ही उसे 'अचेलपरीषह' के स्थान में सर्वप्रथम अपने तत्त्वार्थसूत्र में दिया है।

उक्त निबन्ध में परम्पराभेद की सूचक तत्त्वार्थसूत्रगत एक बात यह कही है[४८] कि तत्त्वार्थसूत्र में श्वे० श्रुतसम्मत संलीनता तप का ग्रहण नहीं किया, इसके विपरीत उसमे विविक्तशय्यासन तप का ग्रहण है, जो श्वे० श्रुत में नहीं है। हरिभद्रसूरि के[४९] अनुसार संलीनता तप के चार भेदों में परिगणित विविक्त चर्या द्वारा भी तत्त्वार्थ सूत्रकार के विविक्त शय्यासन का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि विविक्त चर्या दूसरी चीज है और विविक्त शय्यासन अलग चीज है।

डा० सागरमल जी ने हमारे इस कथन का भी अन्धाधुन्ध समीक्षण करते हुए लिखा है कि 'डा० साहब ने विविक्तचर्या में और विविक्तशय्यासन में भी अन्तर मान लिया है, किन्तु किस आधार पर वे इनमें अन्तर करते हैं, इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दे पाये हैं, वस्तुतः दोनों मे कोई अर्थभेद है ही नहीं।'

उनके इस समीक्षण पर बहुत आश्चर्य है कि जो अपने को श्वे० आगमों का पारंगत मानता है वह विविक्त चर्या और विविक्त शय्यासन के अर्थ में कोई भेद नहीं बतलाता है तथा दोनों को एक ही कहता है। जैन धर्म का साधारण ज्ञाता भी यह जानता है कि चर्या गमन (चलने) को कहा गया है और शय्यासन सोने एवं बैठने को कहते हैं। दोनों में दो भिन्न दिशाओं की तरह भेद है। साधु जब ईर्यासमिति से चलता है—चर्या करता है तब वह सोता-बैठता नहीं है और जब सोता-बैठता है तब वह चलता नहीं है। वस्तुतः उनमें पूर्व और पश्चिम जैसा अन्तर है। पर डा० सागरमल जी अपने पक्ष के समर्थन की धुन में उस अन्तर को नहीं देख पा रहे हैं। यहां विशेष ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र ने २२ परीषहों में चर्या, निषद्या और शय्या इन तीनों को परीषह के रूप में गिनाया है। किन्तु तपों का विवेचन करते हुए उन्होंने चर्या को तप नहीं कहा, केवल शय्या और आसन दोनों को एक बाह्य तप बतलाया है,[५०] जो उनकी सूक्ष्म सिद्धान्तज्ञता को प्रकट करता है। वास्तव में चर्या विविक्त में नहीं हो सकती। मार्ग में जब साधु गमन करता है तो उसमें उसे मार्गजन्य कष्ट तो हो सकता है और उसे सहन करने से उसे परीषहजय कहा जा सकता है। किन्तु उसमें विविक्तपना नहीं हो सकता और इसलिए उन्होंने विविक्त चर्या तप नहीं बतलाया। शय्या और आसन दोनों एकान्त में हो सकते हैं। अतएव उन्हें विविक्त शय्यासन नाम से एक तप के रूप में बाह्य तपों में भी परिगणित किया गया है। डा० सागरमल जी सूक्ष्म विचार करेंगे, तो उनमे स्पष्टतया अर्थभेद उन्हें ज्ञात हो जायेगा। पं० सुखलाल जी[५१] ने चर्या और शय्यासन मे अर्थ भेद स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'स्वीकार किये धर्म जीवन को पुष्ट रखने के लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानों मे विहार और किसी भी एक स्थान में नियत वास स्वीकार न करना चर्या परीषह है।'—'आसन लगा कर बैठे हुए ऊपर यदि भय का प्रसंग आ पड़े तो उसे अकम्पित भाव से जीतना किंवा आसन से च्युत न होना निषद्या परीषह है'—जगह में समभावपूर्वक शयन करना शय्यापरीषह है।' आशा है डा० साहब चर्या, शय्या, आसन के पण्डित जी द्वारा प्रदर्शित अर्थभेद को नहीं नकारेंगे और उनके भेद को स्वीकारेंगे।

तत्त्वार्थसूत्र में परम्परा भेद की एक और महत्त्वपूर्ण बात को उसी निबन्ध में प्रदर्शित किया है।[५२] हमने लिखा है कि श्वेताम्बर श्रुत में तीर्थंकर प्रकृति के २० बन्ध कारण बतलाये हैं और इसमें ज्ञातृ धर्म कथांगसूत्र (८-६४) तथा निर्युक्तिकार भद्रबाहु की आवश्यक निर्युक्ति की चार गाथाएं प्रमाण रूप में दी हैं। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र मे तीर्थंकर प्रकृति के १६ ही कारण निर्दिष्ट हैं, जो दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध आगम 'षट्खण्डागम (३-१४) के अनुसार हैं और उनका वही क्रम तथा वही नाम है।'

इसकी भी उन्होंने समीक्षा की है। लिखा है कि 'प्रथम तो यह कि तत्त्वार्थ एक सूत्रग्रन्थ है, उसकी शैली संक्षिप्त है, दूसरे तत्त्वार्थ सूत्रकार ने १६ की संख्या का निर्देश नहीं किया है।' यह लिखने के बाद तत्त्वार्थसूत्र में

सचेल श्रुतपना सिद्ध करने के लिए पुनः लिखा है कि 'आवश्यक निर्युक्ति और ज्ञात धर्मकथा में जिन बीस बोलों का उल्लेख है उनमें जो ४ बातें अधिक हैं वे हैं—धर्मकथा, सिद्धभक्ति, स्थविरभक्ति (वात्सल्य), तपस्वी-वात्सल्य और अपूर्वज्ञानग्रहण। इनमें से कोई भी बात ऐसी नहीं है, जो दिगम्बर परम्परा को अस्वीकृत रही हो, इसलिए छोड़ दिया हो, यह तो मात्र उसकी संक्षिप्त शैली का परिणाम है।'

इस सम्बन्ध में हम समीक्षक से पूछते हैं कि ज्ञातृधर्मकथा सूत्र भी सूत्रग्रन्थ है, उसमे बीस कारण क्यों गिनाये, तत्त्वार्थसूत्र की तरह उसमें १६ ही क्यों नही गिनाये, क्योंकि सूत्रग्रन्थ है और सूत्रग्रन्थ होने से उसकी भी शैली संक्षिप्त है। तत्त्वार्थसूत्र मे १६ की संख्या का निर्देश न होने की तरह ज्ञातृधर्मकथासूत्र मे भी २० की संख्या का निर्देश न होने से क्या उसमे २० के सिवाय और भी कारणों का समावेश है? इसका उत्तर समीक्षक के पास नहीं है। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्र मे सचेलश्रुत के आधार पर तीर्थंकर प्रकृति के बन्धकारण नही बतलाये, अन्यथा आवश्यक निर्युक्ति की तरह उसमे ज्ञातधर्मकथासूत्र के अनुसार वे ही नाम और वे ही २० सख्यक कारण प्रतिपादित होते। किन्तु उसमें दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम[53] के अनुसार वे ही नाम और उतनी ही १६ की संख्या को लिए हुए बन्धकारण निरूपित हैं। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर श्रुत के आधार पर रचा गया है और इसलिए वह दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ है और उसके कर्ता दिगम्बराचार्य है। उत्सूत्र और उत्सूत्र लेखक श्वेताम्बर परम्परा का अनुसारी नही हो सकता, यह डाक्टर साहब के लिए अवश्य चिन्त्य है।

अब रही तत्त्वार्थसूत्र में १६ की सख्या का निर्देश न होने की बात। सो प्रथम तो वह कोई महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में जिसके भी भेद प्रतिपादित हैं, उसकी संख्या का कहीं भी निर्देश नहीं है। चाहे तपों के भेद हों, चाहे परीषहों आदि के भेद हों। सूत्रकार की यह पद्धति है, जिसे सर्वत्र अपनाया गया है। अतः तत्त्वार्थसूत्रकार को तीर्थंकर-प्रकृति के बन्ध कारणों को गिनाने के बाद संख्यावाची १६ (सोलह) के पद का निर्देश अनावश्यक है। तत्संख्यक कारणों को गिना देने से ही वह संख्या सुतरां फलित हो जाती है १६ की संख्या न देने का यह अर्थ निकालना सर्वथा गलत है कि उसके न देने से तत्त्वार्थ सूत्रकार को २० कारण अभिप्रेत हैं और उन्होंने सिद्धभक्ति आदि उन चार बन्ध कारणों का संग्रह किया है, जिन्हें आवश्यक निर्युक्ति और ज्ञातधर्मकथा में २० कारणों (बोलों) के अन्तर्गत बतलाया गया है। डा० सागरमल जी का उससे ऐसा अर्थ निकालना नितान्त भ्रम है। उन्हे तत्त्वार्थसूत्र की शैली का सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि तीर्थंकर प्रकृति के १६ बन्ध कारणो का प्ररूपक सूत्र (त० सू० ६-२४) जिस दिगम्बर श्रुत षट्खण्डागम के आधार से रचा गया है उसमें स्पष्टतया 'दंसणविसुज्झदाए—इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति।'—(३-४१, पुस्तक ८) इस सूत्र[54] में तथा उसके पूर्ववर्ती सूत्र[55] (३-४०) मे भी १६ की संख्या का निर्देश है। अतः षट्खण्डागम के इन दो सूत्रों के आधार से रचे तत्त्वार्थसूत्र के उल्लिखित (६-२४) सूत्र मे १६ की संख्या का निर्देश अनावश्यक है। उसकी अनुवृत्ति वहाँ से सुतरां हो जाती है। सिद्धभक्ति आदि अधिक ४ बातें दिगम्बर परम्परा मे स्वीकृत हैं या नहीं, यह अलग प्रश्न है। किन्तु यह सत्य है कि वे तीर्थंकर प्रकृति की अलग बन्धकारण नहीं मानी गयी। सिद्धभक्ति कर्मध्वंस का कारण है तब वह कर्मबन्ध का कारण कैसे हो सकती है। इसी से उसे तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध कारणो मे सम्मिलित नहीं किया। अन्य तीन बातो में स्थविर भक्ति और तपस्वि वात्सल्य का आचार्य भक्ति एवं साधु-समाधि मे तथा अपूर्वज्ञान ग्रहण का अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग में समावेश कर लेने से उन्हे पृथक् ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। समीक्षक को गम्भीरता और सूक्ष्म अनुसन्धान के साथ ही समीक्षा करनी चाहिए, ताकि नीर-क्षीर न्याय का अनुसरण किया जा सके और एक पक्ष मे प्रवाहित होने से बचा जा सके।

हमने अपने उक्त निबन्ध मे दिगम्बरत्व की समर्थक एक बात यह भी कही है कि तत्त्वार्थसूत्र में स्त्रीपरीषह और दंशमशक इन दो परीषहों का प्रतिपादन है, जो अचेलश्रुत के अनुकूल हैं। उसकी सचेल श्रुत के आधार से

रचना मानने पर इन दो परीषहों की तरह पुरुष परीषह का भी उसमें प्रतिपादन होता, क्योंकि सचेल श्रुत में स्त्री और पुरुष दोनों को मोक्ष स्वीकार किया गया है तथा दोनों एक-दूसरे के मोक्ष में उपद्रवकारी हैं। कोई कारण नहीं कि स्त्री परीषह तो अभिहित हो और पुरुषपरीषह अभिहित न हो, क्योंकि सचेल श्रुत के अनुसार उन दोनों में मुक्ति के प्रति कोई वैषम्य नहीं। किन्तु दिगम्बर-श्रुत के अनुसार पुरुष में वज्रवृषभनाराचसंहननत्रय हैं, जो मुक्ति में सहकारी कारण हैं। परन्तु स्त्री के उनका अभाव होने से उसे मुक्ति संभव नहीं है और इसी से तत्त्वार्थसूत्र में मात्र स्त्रीपरीषह का प्रतिपादन है, पुरुषपरीषह का नहीं। इसी प्रकार दंशमशक परीषह सचेलसाधु को नहीं हो सकती—नग्न—दिगम्बर—पूर्णतया अचेल साधु को ही संभव है।

समीक्षक ने इन दोनों बातों की भी समीक्षा करते हुए हमसे प्रश्न किया है कि 'जो ग्रन्थ इन दो परीषहों का उल्लेख करता हो, वह दिगम्बर परम्परा का होगा, यह कहना भी उचित नहीं है। फिर तो उन्हें श्वे० आचार्यों एवं ग्रन्थों को दिगम्बर परंपरा का मान लेना होगा, क्योंकि उक्त दोनों परीषहों का उल्लेख तो सभी श्वे० आचार्यों ने एवं श्वे० आगमों में किया गया और किसी श्वे० ग्रन्थ में पुरुषपरीषह का उल्लेख नहीं है।'

समीक्षक का यह आपादन उस समय बिलकुल निरर्थक सिद्ध होता है जब जैन संघ एक अविभक्त संघ था और तीर्थंकर महावीर की तरह पूर्णतया अचेल (सर्वथा वस्त्र रहित) रहता था। उसमें न एक, दो आदि वस्त्रों का ग्रहण था और न स्त्रीमोक्ष का समर्थन था। गिरि-कन्दराओं, वृक्षकोटरों, गुफाओं, पर्वतों और वनों में ही उसका वास था। सभी साधु अचेलपरीषह को सहते थे। आ० समन्तभद्र (२ री-३ री शती) के अनुसार उनके काल में भी ऋषिगण पर्वतों और उनकी गुफाओं में रहते थे। स्वयम्भूस्तोत्र में २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के तपोगिरि एवं निर्वाणगिरि ऊर्जयन्त पर्वत को 'तीर्थ संज्ञा को वहन करने वाला बतलाते हुए उन्होंने उसे ऋषिगणों से परिव्याप्त कहा है। और उनके काल में भी वह वैसा था।

भद्रबाहु के बाद जब संघ विभक्त हुआ तो उसमें पार्थक्य के बीज प्रारम्भ हो गये और वे उत्तरोत्तर बढ़ते गये। इन बीजों में मुख्य वस्त्रग्रहण था। वस्त्र को स्वीकार कर लेने पर उसकी अचेल परीषह के साथ संगति बिठाने के लिए उसके अर्थ में परिवर्तन कर उसे अल्पचेल का बोधक मान लिया गया। तथा सवस्त्र साधु की मुक्ति मान ली गयी। फलतः सवस्त्र स्त्री की मुक्ति भी स्वीकार कर ली गयी। साधुओं के लिए स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों को सहन करने की आवश्यकता ... देने हेतु संवर के साधनों में स्त्रीपरीषह का प्रतिपादन तो ...-का-त्यों बरकरार रखा गया। किन्तु स्त्रियों के लिए पुरुषों द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों को सहन करने हेतु संवर के साधनों में पुरुषपरीषह का प्रतिपादन सचेल श्रुत में क्यों छोड़ दिया गया, यह वस्तुतः अनुसन्धेय एवं चिन्त्य है। अचेल श्रुत में ऐसा कोई विकल्प नहीं है। अतः तत्त्वार्थसूत्र में मात्र स्त्रीपरीषह का प्रतिपादन होने से वह अचेल श्रुत का अनुसारी है। स्त्रीमुक्ति को स्वीकार न करने से उसमें पुरुषपरीषह के प्रतिपादन का प्रसंग ही नहीं आता। स्त्रीपरीषह और दंशमकपरीषह इन दो परीषहों के उल्लेखमात्र से ही तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर ग्रन्थ नहीं है, जिससे उनका उल्लेख करने वाले सभी श्वे० आचार्य और ग्रन्थ दिगंबर परंपरा के हो जाने या मानने का प्रसंग आता, किन्तु उपरिनिर्दिष्ट वे अनेक बातें हैं, जो सचेल श्रुत से विरुद्ध हैं और अचेल श्रुत के अनुकूल हैं। ये अन्य सब बातें श्वे० आचार्यों और उनके ग्रन्थों में नहीं हैं। इन्हीं सब बातों से दो परंपराओं का जन्म हुआ और महावीर तीर्थंकर से भद्रबाहु श्रुतकेवली तक एक रूप में चला आया जैन संघ टुकड़ों में बंट गया। तीव्र एवं मूल के उच्छेदक विचार-भेद के ऐसे ही परिणाम निकलते हैं।

दंशमशक परीषह वस्तुतः निर्वस्त्र (नग्न) साधु को ही होना सम्भव है, सवस्त्र साधु को नहीं, यह साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। जो साधु एकाधिक कपड़ों सहित हो, उसे डांस-मच्छर कहां से काटेंगे, तब उस परीषह के सहन करने का उसके लिए प्रश्न ही नहीं उठता। सचेल श्रुत में उसका निर्देश मात्र पूर्वपरंपरा का स्मारक भर है। उसकी सार्थकता तो अचेल श्रुत में ही संभव है।

अतः ये (नाग्न्यपरीषह, दंशमशकपरीषह और स्त्रीपरीषह) तीनों परीषह तत्वार्थ सूत्र में पूर्ण निर्ग्रन्थ (नग्न) साधु की दृष्टि से अभिहित हुए हैं। अतः 'तत्वार्थसूत्र की परंपरा' निबन्ध में जो तथ्य दिये गये हैं, वे निर्बाध हैं और उसे वे दिगम्बर परंपरा का ग्रन्थ प्रकट करते हैं। उसमें समीक्षक द्वारा उठायी गयी आपत्तियों में से एक भी आपत्ति बाधक नहीं है, प्रत्युत वे सारहीन सिद्ध होती हैं।

समीक्षा के अन्त में हमें कहा गया है कि 'अपने धर्म और संप्रदाय का गौरव होना अच्छी बात है, किन्तु एक विद्वान् से यह भी अपेक्षित है कि वह नीर-क्षीर विवेक से बौद्धिक ईमानदारी पूर्वक सत्य को सत्य के रूप में प्रकट करे। अच्छा होता, समीक्षक समीक्ष्य ग्रन्थ की समीक्षा के समय स्वयं भी उसका पालन करते और 'उमास्वाति श्वेतांबर परंपरा के थे और उनका सभाष्य तत्वार्थ सचेल पक्ष के श्रुत के आधार पर ही बना है।' 'वाचक उमास्वाति श्वेतांबर परंपरा में हुए, दिगंबर में नहीं।' ऐसा कहने वालों के सम्बन्ध में भी कुछ लिखते और उनके सत्य की जांच कर दिखाते कि उसमें कहां तक सचाई, नीर-क्षीर विवेक एवं बौद्धिक ईमानदारी है। वास्तव में अनुसन्धान में पूर्वाग्रह की मुक्ति आवश्यक है। हमने उक्त निबन्ध में वे तथ्य प्रस्तुत किये हैं जो अनुसन्धान करने पर उपलब्ध हुए हैं। यदि हमारे तथ्य एकपक्षीय हैं तो हमारा अनुरोध है कि अब तक निकले, प्रकाश में आये और जो अभी प्रकाश में आने वाले हैं उन तमाम उभय पक्ष के निष्कर्षों पर पूर्ण तटस्थ विद्वान् के द्वारा विमर्श एवं अनुसन्धान कराया जाये।

हम डा० सागरमल जी को धन्यवाद देंगे कि उक्त ग्रन्थ की समीक्षा के माध्यम से उन्होंने विचार के लिए कई प्रश्न या मुद्दे प्रस्तुत किये, जिन पर हमें कितना ही नया और गहरा विचार करने का अवसर मिला।

दिनांक १५ जुलाई १९८१,
वाराणसी (उ० प्र०)

सन्दर्भ सूची

१. जैन सन्देश, वर्ष ४४, अंक ५३, संघ-भवन चौरासी, मथुरा, नवम्बर १९८० जैनमित्र, वर्ष ८१ अंक ५२, सूरत, १९८०, जैन बोधक, वर्ष ९६ अंक ५१, १९८०, वीरवाणी, वर्ष ३३, अंक ६, जयपुर, दिसम्बर १९८०, तीर्थंकर, वर्ष १०, अंक ६, इन्दौर अक्टूबर १९८० आदि।

२. कोसल, जर्नल आफ दि इंडियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध, वोल्यूम ३, न० १,२,१९२२ दिल्ली दरवाजा फैजाबाद, १९८१।

३. खण्ड ६, अंक १०, जनवरी १९८१, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज०)।

४. वर्ष ३२, अंक ५, मार्च १९८१, पा० विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५।

५. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, ई० १९४५, जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परि० पृ० ५३८, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी-५ जून १९८०।

६. (क) सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मंसमं जाणदि पस्सदि···।—षट् खं० ५.५.६८।

(ख) से भगव अरिहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी ··सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वं भावाइं जाणमाणे पासमाणे ··।

— आचारां० सू०-२ अ० ३

७. प्रवच० सा०, १।४७, ४८, ४९, कुन्दकुन्द भारती, फल्टन, १९७०।

८ तीर्थकृत्समयानां च परस्पर विरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरुः ॥३॥
दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥५॥
स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥
—समन्तभद्र, आप्तमी०, ३, ४, ५, ६, ७।

९. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥
पार्श्वनाथचरि० १।१७

१०. देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवाऽऽगमः कृतः ।
—पाण्डव पु० ।

११. सर्वज्ञेषु च भूयस्सु विरुद्धार्थोपदेशिषु ।
तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम् ॥
सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।
अथावुभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥
प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च ।
सद्भाववारणे शक्त को न तं कल्पयिष्यति ॥

बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित ने इन कारिकाओं में प्रथम की दो कारिकाएं अपने तत्वसग्रह (का० ३१४८-४९) मे कुमारिल के नाम से दी है। दूसरी कारिका विद्यानन्द ने अष्टस० पृ० ५ मे 'तदुक्तम्' के साथ उद्धृत की है। तीसरी कारिका मीमांसाश्लोकवार्तिक (चोदनासू०) १३२ है।

१२. आप्तमी का० ४, ५।

१३. मी० श्लो० चो सू०, का० १३२।

१४. 'तथैवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षण पुष्णाति त कथ चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितु वा ।'
—अष्टश० का० ५।

१५. अकलंक के उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित ने भी कुमारिल के खण्डन का जवाब दिया है। उन्होने लिखा है—
एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः ।
निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न त कल्पयिष्यति ॥
—तत्वसं० का० ८८५।

१६. आप्तमी० का० ६, ७, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, द्वि० स० १९७८।

१७. एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः ।
सूक्ष्मातीतादिविषय जीवस्य परिकल्पितम् ॥
नर्ते तदागमात्सिद्ध्येत् न च तेनागमो विना ।
—मीमांसा श्लो० ८७।

१८. एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।
नर्ते तदागमात्सिद्ध्येत् न च तेन विनाऽऽगमः ॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्यप्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥
—न्या० वि० का० ४१२-१३

१९. मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९।

२०. दव्व सल्लक्खणय उप्पादव्वयधुवत्तसंजुतं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥
— कुन्दकुन्द, पंचास्ति०, गा० १०
अथवा—'सद्द्रव्यलक्षणम्', उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।'
—उमास्वाति (गृद्धपिच्छ), त० सू०, ५-२९, ३०।

२१. घट-मौलि-स्वर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥
— आ० मी० का०, ५९, ६०

२२. वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदि ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्य तेन सामान्यनित्यता ॥
— मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९।

२३. "उक्त स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि — आगे समन्तभद्र की पूर्वोल्लिखित कारिका ५९ और कुमारिल भट्ट की उपर्युक्त कारिकाओ में से आरम्भ की डेढ कारिका उद्धृत है।
—न्या० वि वि० भाग १, पृ० ४३९।

२४. एतेनैव यत्किंचिदयुक्तमश्लीलमाकुलम् ।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसभवात् ॥
—प्रमाणवा० १-१८२

२५. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥
—आप्तमी० का० १०४।

२६. भूतबली-पुष्पदन्त, षट् ख० १।१।७९।

२७. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदय।
दव्वं खु सत्तभंग आदेसवसेण संभवदि ॥
— पंचास्ति०, गा० १४।

२८. सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥
—प्रमाणवि०, १-१८१।

२९. कथंचित्ते सदेवेष्ट कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
—आप्तमी० का० १४, १५ आदि।

३०. (क) ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि,
च बहिर्भासि भावप्रवादम्,।
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि,
सकल नेति तत्त्व प्रपेदे ॥
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च,
फलमपरं ज्ञायते नापि किंचित्।
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति,
जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः ॥
—न्या० वि० १-१६१।

(ख) दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम्।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥
सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ?
—न्या० वि० ३-३७३, ३७४

३१. न्यायकु. द्वि० भा० प्रस्ता० पृ० २७, अकल० ग्रंथत्रय० प्राक्कथ० पृ० ६, न्यायकु० द्वि० प्रा० पृ० १८-२०।

३२. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० १२६ से १३३।

३३. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥
— रत्न० श्लो० ९।

३४. दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥

३५. (क) न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः।
तस्मात्प्रमेयाद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥
— प्र० वा० ३-६३।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधामेयविनिश्चयात्।
—न्यायाव, श्लो० १।

(ख) कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।
—न्या० बि० पृ० ११।
अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्।
—न्यायाव० श्लो० ५।

३६. कुमारिल के प्रसिद्ध प्रमाणलक्षण (तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥) का 'बाधवर्जितम्' विशेषण न्यायावतारके प्रमाण लक्षण में 'बाधवर्जितम्' के रूप में अनुसृत है।

३७. पात्रस्वामि का 'अन्यथानुपपन्नत्वं आदि प्रसिद्धहेतुलक्षण न्यायावतारमें 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्' इस हेतुलक्षणप्रतिपादक कारिकाके द्वारा अपनाया गया है और 'ईरितम्' पद का प्रयोग कर उसकी प्रसिद्धि भी प्रतिपादित की गयी है।

३८. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७

३९. द्वात्रिंशिका, १-३०, ४-१५।

४०. तत्त्वार्थवा० ८ १, पृ २९५।

४१. अष्टस० पृ० २३८।

४२. अष्टसह० वि० टी० पृ० १।

४३. जैन दर्शन और प्रमाणशा०, पृ० ७६।

४४. अनेकान्त, वर्ष, ४ कि० १।

४५. वही, वर्ष ४, कि० ११-१२ तथा वर्ष ५, कि० १ २।

४६. जैन साहित्य का इतिहास, पृ. ५३३, द्वि.सं., १९५६।

४७. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ८३।

४८. वही, पृ० ८१।

४९. व्याख्याप्र० श० २५, उ० ७, सू० ८ की हरिभद्र सूरिकृत वृत्ति। तथा वही पृ० ८१।

५०. त० सू०, ९-१९।

५१. त० सू०, विवेचन सहित, ६-६, पृ० १४८।

५२. जैन दर्शन और प्रमाण शास्त्र परि०, पृ० ७९ ८०।

५३. षट्ख०, ३-४०, ४१ पुस्तक ८, पृ० ७८-७९।

५४. दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधा तवे साहूण पासुअपरिचागदाए साहूण समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्च जोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खण अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ॥४१॥

५५ तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थयरणामगोदकम्मं बधंति ॥४०॥
इन दोनों सूत्रों में १६ की संख्या का स्पष्ट निर्देश है

भ्रम निवारण

□ डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी से वि० सं० २०२२ की विजयादशमी को प्रकाशित ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की सत्यानन्द सरस्वती कृत सत्यानन्दी दीपिका में जैन धर्म के विषय में भ्रान्त सूचनायें दी गई हैं। उक्त सूचनाओं को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि लेखक जैन धर्म के सामान्य सिद्धान्तों से भी अनभिज्ञ है। जैन धर्म की सामान्य जानकारी न रखने वाले पाठक उक्त ग्रन्थ को पढ़ कर जैन धर्म के विषय मे भ्रमित न हो, एतदर्थ उक्त भ्रामक सूचनाओं का निराकरण प्रस्तुत लेख मे दिया जा रहा है—

सत्यानन्दी दीपिका—जीवास्तिकाय तीन प्रकार का है—बद्ध, मुक्त और नित्यसिद्ध। 'अस्ति कायत इति अस्तिकाय:' जो अस्ति शब्द से कहा जाय। वह अस्तिकाय है। यह जैन ग्रन्थो में परिभाषिक शब्द पदार्थवाची है। पुद्गलास्तिकाय छ: हैं—पृथ्वी आदि चार भूत, स्थावर (वृक्ष आदि) और जङ्गम मनुष्य आदि। 'पूर्यन्ते गलन्तीति पुद्गला:' पूर्ण हो और गल जायें वे पुद्गल हैं। यह लक्षण पृथ्वी आदि छ: और परमाणु समुदाय मे घटता है, अतः वे पुद्गल कहे हैं। यह लक्षण पृथ्वी आदि छ: और परमाणु समुदाय मे घटता है, अत: वे पुद्गल कहे जाते है। सम्यक् प्रवृत्ति से अनुमेय धर्म है। ऊर्ध्वगमनशील जीव की देह मे स्थिति का हेतु अधर्म है।'

निराकरण—जैन धर्म में जीवों को संसारी और मुक्त दो ही भागों मे विभाजित किया गया है, नित्यसिद्ध जैसा कोई विभाजन प्राप्त नही होता है। पुद्गल के अन्तर्गत स्थावर (वृक्ष आदि) और जङ्गम मनुष्य आदि की गणना नहीं होती, इनका कलेवर अवश्य पौद्गलिक पर्याय है। जैनधर्म मे धर्म और अधर्म नामक दो स्वतन्त्र द्रव्य माने गए हैं। जो जीव और पुद्गल को गति में उदासीन निमित्त हो उसे धर्म तथा जो इन्हे ठहराने मे उदासीन निमित्त हो, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। ऊर्ध्वगमनशील जीव की देह में स्थिति का हेतु अधर्मद्रव्य न होकर आयुकर्म है।

सत्यानन्दी दीपिका—आवरण का अभाव आकाश है। वह लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से दो प्रकार का है। ऊर्ध्व ऊर्ध्व लोकों के अन्तर विद्यमान आकाश लोकाकाश और उससे भी ऊर्ध्व मोक्षस्थान अलोकाकाश है, वह केवल मुक्त पुरुषों का आश्रयस्थान है। मिथ्या-प्रवृत्ति आस्रव है और सम्यक् प्रवृत्ति संवर और निर्जर है। विषयों के अभिमुख इन्द्रियो की प्रवृत्ति आस्रव है।[2]

निराकरण—अवगाह देने वाले द्रव्य का नाम आकाश है। जितने आकाश में लोक अवस्थित है, उतने आकाश को लोकाकाश तथा शेष सब आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश मुक्त पुरुषों का आश्रय स्थान नही है। अपितु मुक्त पुरुष लोक के अन्त मे रहते है। आस्रव शुभ और अशुभ दोनों प्रवृत्तियों से युक्त होता है। आस्रव का निरोध संवर है तथा कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा है।

सत्यानन्दी दीपिका—तत्त्वज्ञान से मोक्ष नही होता, यह विपरीत भावना ज्ञानावरणीय है। अर्हत दर्शन के अभ्यास से मोक्ष नही होता, यह भावना दर्शनावरणीय है। बहुत तीर्थंकरों से परस्पर विरुद्ध प्रदर्शित मार्गों में निश्चयाभाव मोहनीय है। मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति मे विघ्नकारक अन्तराय है। ये ज्ञानावरणीय आदि चार कल्याण के घातक होने से घाति—असाधु कर्म कहे जाते हैं। मुझे यह तत्त्व ज्ञातव्य है, ऐसा अभिमान वेदनीय है, मैं इस नाम का हूं, ऐसा अभिमान नामिक है। मैं पूज्य देशिक अर्हन्त के शिष्य वंश में प्रविष्ट हूं, यह अभिमान गोत्रिक है और शरीर की स्थिति के लिए कर्म आयुष्क है। तत्त्वज्ञान के अनुकूल होने से ये वेदनीय आदि चारों कर्म तत्त्वावेदक पुण्यवत् शरीर के साथ सम्बन्धी होने से अघाती कर्म—साधु कर्म कहे जाते

है। इस प्रकार ये आठों कर्म जन्म के हेतु होने से आस्रव आदि द्वारा पुरुष को बांधते हैं, अतः बन्धरूप हैं। समस्त क्लेश कर्मपाश का नाशकर ज्ञान द्वारा सबके ऊपर अलोकाकाश में सतत सुखपूर्वक स्थिति का नाम मोक्ष है अथवा ऊर्ध्वगमनशील जीव धर्माधर्म से मुक्त होकर सतत ऊर्ध्वगमन करता है, यही उसका मोक्ष है।[३]

निराकरण—जो ज्ञान को आवृत करे, वह ज्ञानावरण कर्म है। जो आत्मा के दर्शन गुण को प्रकट न होने दे, वह दर्शनावरण है। जो मोहित करता है या जिससे द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है। जो दाता और देय में अन्तर करता है, अर्थात्—दान, लाभ, भोग, और उपभोग और वीर्य मे रुकावट लाता है, वह अन्तराय कर्म है। जो वेदन करता है या जिसके द्वारा वेदा जाता है, वह वेदनीय कर्म है। जो संसारी आत्मा के निमित्त शरीर-आंगोपांगादि की रचना करता है वह नामकर्म है। जिसके द्वारा उच्च नीच कहा जाता है, वह गोत्र कर्म है, जिसके द्वारा यह जीव नरक आदि भवों मे रुका रहता है, वह आयुकर्म है।[४] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये घातिया कर्म कहे जाते हैं। क्योंकि ये जीव के परिणामों को सर्वदेश घात करते हैं, अन्य चार कर्म अघातिया कहे जाते हैं—अंश का घात करते हैं; क्योंकि घाति कर्म के अभाव मे ये जीव के परिणामों का पूर्ण घात करने मे वे समर्थ नही हैं। मोक्षावस्था मे जीव लोक के अन्त में लोकाकाश मे ही विद्यमान रहता है, क्योंकि अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उसमे मुक्तजीव की गति नही होती।[५]

सत्यानन्दी दीपिका—सब वस्तुओ मे निरंकुश अनेकान्तत्व की प्रतिज्ञा करने वाले के मत में निर्धारण को भी वस्तुत्व के समान होने पर स्यादस्ति स्यान्नास्ति (कथंचित् है और कथंचित् नहीं है) इस प्रकार विकल्प के प्राप्त होने से अनिर्धारणात्मकत्व होगा। इस प्रकार निर्धारण करने वाले का और निर्धारण फल का पक्ष मे अस्तित्व होगा और पक्ष में नास्तित्व होगा। ऐसा होने पर प्रमाणभूत होता हुआ भी तीर्थंकर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति के अनिर्धारित होने पर उपदेश करने मे कैसे समर्थ होगा? अथवा उसके अभिप्राय का अनुसरण करने वाले शिष्य उसके उपदिष्ट अनिर्धारित रूप अर्थ में कैसे प्रवृत्त होंगे? परन्तु एकरूपविचरित रूप का निर्धारण होने पर उसके साधनानुष्ठान के लिए सब लोक अनाकुल—निःसन्देह प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए अनिर्धारित अर्थ वाले शास्त्र का प्रणयन करता हुआ मत्त और उन्मत्त के समान अनुपादेय वचन होगा।[६]

निराकरण—उपर्युक्त तर्क संशय के आधार पर किया गया है। जब दोनों धर्मों की अपने दृष्टिकोणों से सर्वथा निश्चित प्रतीति होती है, तब संशय कैसे कहा जा सकता है? संशय का आकार तो होता है—वस्तु है या नहीं? परन्तु स्याद्वाद में तो दृढनिश्चय होता है; वस्तु स्व-स्वरूप से है ही पर रूप से नही ही है। समग्र वस्तु उभयात्मक है ही। चलित प्रतीति को संशय कहते हैं, उसकी दृढ निश्चय मे सम्भावना नहीं की जा सकती।[७]

सत्यानन्दी दीपिका—पदार्थों मे अवक्तव्य भी संभव नहीं है यदि अवक्तव्य है तो नहीं कहे जायेंगे, परन्तु कहे जाते हैं और पुनः अवक्तव्य है, यह विरुद्ध है।[८]

निराकरण—जैनधर्म पदार्थों को सर्वथा अवक्तव्य नही कहता, उसकी दृष्टि मे पदार्थ कथंचित् वक्तव्य भी है। विरोध तो अनुपलम्भ साध्य होता है अर्थात् जो वस्तु जैसी दिखाई न दे, उसे वैसी मानने पर होता है। जब एक वस्तु में वक्तव्य, अवक्तव्यपना पाया जाता है, तब विरोध कैसा?

सत्यानन्दी दीपिका—शरीर परिमाणत्व होने पर आत्मा अकृत्स्न—असर्वगत—परिच्छिन्न होगा, इससे आत्मा को घट आदि के समान अनित्यत्व प्रसक्त होगा। शरीरों का अनिश्चित परिमाण होने से मनुष्य जीव मनुष्य शरीर परिमाण होकर पुनः किसी कर्मविपाक से हस्ति जन्म प्राप्त कर सम्पूर्ण हस्ति शरीर को व्याप्त नहीं करेगा और चींटी का जन्म पाकर पूर्ण रूप से चींटी को शरीर मे नहा समाएगा। एक जन्म मे भी कौमार, यौवन, वार्द्धक्य यह दोष समान है। पूर्वपक्षी—परन्तु जीव अनन्त अवयव वाला है, उसके वे ही अवयव अल्प शरीर में संकुचित होंगे और बड़े शरीर में विकसित होंगे। उत्तरपक्ष—यदि ऐसा हो तो पुनः जीव के उन अनन्त अवयवों के एकदेशत्व का प्रतिघात होता है या नहीं? यह कहना चाहिए।

प्रतिघात होने पर तो अनन्त अवयव परिच्छिन्न देश में नहीं समायेंगे और अप्रतिघात होने पर भी एक अवयव-देशत्व की आपत्ति होने से सब अवयवों की प्रथिमा—स्थूलता अनुपपन्न होने से जीव को अणुमात्रत्व प्रसङ्ग होगा और शरीरमात्र परिच्छिन्न जीव अवयवों के आनन्त्य की कल्पना नहीं की जा सकती।[६]

निराकरण—जैन दर्शन में प्रत्येक द्रव्य उत्पादन, व्यय ध्रौव्यात्मक है। इस दृष्टि से कथंचित् आत्मा अनित्य है। आत्मा अमूर्त स्वभाव है तो भी अनादिकालीन बन्ध के कारण एकपने को प्राप्त होने से मूर्तिक हो रही है और कार्माण शरीर के कारण वह छोटे बड़े शरीर मे रहता है, इसलिए वह प्रदेशों के संकोच और विस्तार स्वभाव वाला है और इसलिए शरीर के अनुसार दीपक के समान उसका लोक के असंख्यातवें भाग आदि मे रहना बन जाता है। जिस प्रकार निरावरण आकाश प्रदेश में यद्यपि दीपक के प्रकाश के परिमाण का निश्चय नहीं होता तथापि वह सकोरा, मानसिक तथा आवरण करने वाले दूसरे पदार्थों के आवरण के वश से तत्परिमाण होता है। उसी प्रकार प्रकृत मे जानना चाहिए।[१०] जैन दर्शन में जीव को अनन्त अवयव वाला न मान कर असंख्यात प्रदेशी माना गया है। जैसे घट आदि पदार्थ के रूप आदि गुण जिस स्थान मे देखे जाते है, उसी स्थान मे उस घटादि पदार्थ की विद्यमानता प्रतीत की जाती है और उस स्थान से भिन्न स्थान मे उन घटादि की विद्यमानता नही जानी जाती है। इसी प्रकार से आत्मा के जो ज्ञान आदि गुण है वे शरीर मे ही देखे जाते हैं। शरीर के बाहर नही देखे जाते है; इस कारण आत्मा शरीर प्रमाण ही है अर्थात् जितना बड़ा उस आत्मा का शरीर है, उतना बड़ा ही वह आत्मा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

१. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य (सत्यानन्दी दीपिका) पृ० ४५५।
२ वही पृ० ४५५।
३. वही पृ० ४५६।
४. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या—८।४।
५. धर्मास्तिकायाभावात्—तत्त्वार्थसूत्र १०/८।
६. ब्रह्मसूत्र—शाङ्करभाष्य (सत्यानन्दी दीपिका) पृ० ४५७।
७. पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य : जैन दर्शन पृ० ५७०।
८. सत्यानन्दी दीपिका पृ० ४५८।
९. ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य) सत्यानन्दी दीपिका पृ० ४५९।
१०. प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्—तत्त्वार्थसूत्र ५।१६ —(सर्वार्थसिद्धि व्याख्या)

आप कौन हैं, कहाँ से आए हैं और कहाँ जाएँगे ? उक्त प्रश्नों के उत्तर में लौकिकजन साधारणतया लौकिक जाति-पद ग्राम और गन्तव्य नगर आदि का परिचय देने के अभ्यासी हो रहे हैं—वास्तविकता की ओर उनका तनिक भी लक्ष्य नही। यदि एक बार भी अपने स्वरूप का बोध हो जाय तो दुख से मुक्ति में क्षण न लगे। जिन जीवो को स्व-बोध हुआ हो वे स्वभावत जल में भिन्न कमलवत् जीवन यापन करते हैं और उनके अन्तर में सदा स्वरूप चिन्तन रहता है—ऐसे जीवों की गणना 'घर ही में वैरागी' के रूप में होती है। स्व० पण्डित प्रवर श्री टोडरमल जी के शब्दों में ऐसे जीवों का चिन्तन निम्न भांति होता है—

'मैं हूँ जीव द्रव्य नित्य, चेतन स्वरूप मेरो, लाग्यो है अनादि तें कलंक कर्ममल को।
ताही को निमित्त पाय, रागादिक भाव भए, भयो है शरीर को मिलाप जैसे खल को ॥
रागादिक भावनि को पायकें निमित्त पुनि, होत कर्म-बंध ऐसो है बनाव कल को।
ऐसे ही भ्रमत भयो मनुष्य शरीर जोग, बनै तो बनै यहाँ उपाय निज थल को ॥

जरा सोचिए !

(१) धर्म प्रभावना कैसे हो ?

वीतराग के आगम मे परिग्रह के त्याग का विधान है—साधु को पूर्ण अपरिग्रही होने का और गृहस्थ को ममत्वभाव से रहित परिग्रह के परिमाण का उपदेश है। इन्ही विचारधाराओं को लेकर जब जीवन यापन किया जाता है तब धार्मिकता और धर्म दोनों सुरक्षित होते हैं। तीर्थंकर की समवसरण विभूति से भी हमें इसको स्पष्ट झलक मिलती है अर्थात् तीर्थंकर भगवान छत्र, चमर, सिंहासन आदि जैसी विभूति के होने पर भी पृथ्वी से चार अंगुल अधर चलते हैं और बाह्य आडम्बर से अछूते रहते हैं—अन्तरंग तो उनका स्वाभाविक निर्मल होता ही है। इसका भाव ऐसा ही है कि वहाँ धर्म के पीछे धन दौड़ता है और धर्म का उस धन से कोई सरोकार नही होता। पर, आज परिस्थिति इससे विपरीत है यानी धर्म दौड़ रहा है धन के पीछे।

ऐसी स्थिति मे हमे सोचना होगा कि आज धर्म की मान्यता धर्म केलिए कम और अर्थ के लिए अधिक तो नही हो गई है ? तीर्थ यात्राओं में तीर्थ (धर्म) की कमी और सांसारिक मनौतियों की बढ़वारी तो नही है ? मात्र छत्र चढा कर त्रैलोक्य का छत्रपति बनने की माग तो नही है ? जिन्हे तीर्थंकरों ने छोड़ा था उन भौतिक सामग्रियो से लोग चिपके तो नही जा रहे ? कहीं ऐसा तो नही हो गया कि पहिले जहाँ धर्म के पीछे धन दौड़ता था वहाँ अब धन के पीछे धर्म दौड़ने लगा हो ? कतिपय जन अपने प्रभाव से जनता को बाह्य आडम्बरों की चकाचौंध मे मोहित कर कुदेवादि की उपासना का उपदेश तो नहीं देने लगे ? जहाँ तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि के प्रचार-प्रसार हेतु वीतरागी पूर्णश्रुतज्ञानी गणधरों की खोज होती थी वहाँ आज उनका स्थान रागी, राजनीति-पटु और जैन-तत्वज्ञान शून्य-नेता तो नहीं लेने लगे ? आदि। उक्त प्रश्न ऐसे हैं जिनका समाधान करने पर हमें स्वयं प्रतीत हो जायगा कि धर्म का ह्रास क्यों हो रहा है।

धर्म प्रभावना का शास्त्रों में उपदेश है और समाज के जितने अंग हैं—मुनि, व्रतीश्रावक, विद्वान् और अव्रती सभी पर धर्म की बढ़वारी का उत्तरदायित्व है। स्वामी समंतभद्र के शब्दों मे—

> 'अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्ययथायथम् ।
> जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥'—१८॥

अर्थात् अज्ञान-तिमिर के प्रसार को दूर करके, जिन शासन को—जैसा वह है उसी रूप में महत्ता प्रकट करना—प्रभावना है। प्रभावना मे हमें यह पूरा ध्यान रखना परमावश्यक है कि उसमे धर्ममार्ग मलिन तो नहीं हो रहा है। यदि ऐसा होता हो और उपास्य-उपासक का स्वरूप ही बिगड़ता हो तथा सांसारिक वासनाओं की पूर्ति के लिए यह सब कुछ किया जा रहा हो तो ऐसी प्रभावना से मुख मोड़ना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी किसी भी अवस्था में सांसारिक सुख वृद्धि के लिए धर्म-सेवन नहीं करता और न वह मान बड़ाई ही चाहता है। कहा भी है—

> 'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम् ।
> प्रणामंविनयचैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥'

सम्यग्दृष्टि जीव भय-आशा-स्नेह अथवा लोभ के वशीभूत होकर भी कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओं को प्रणाम विनय (आदि) नही करते हैं। आगे ऐसा भी कहा है कि राग द्वेष से मलीन—लोकमान्य चार प्रकार के देवों को देव मान कर किसी भी प्रसंग की उपस्थिति में उनकी पूजा आरती वीतराग धर्म की दृष्टि से करना देवमूढ़ता है। इसी प्रकार धर्म मूढ़ता और लोक मूढ़ता के त्याग का भी जिन शासन में उपदेश है। यहाँ तो वीतरागता में सहायक साधनों—सु-देव, सुशास्त्र और सुगुरु की पूजा-उपासना की आज्ञा है आर्षशास्त्रों से धर्मोपदेश श्रवण की आज्ञा है। यदि हम उक्त रीति से अपने आचरण में सावधान रहते हैं तो धर्म-प्रभावना ही धर्म-प्रभावना है। अन्यथा यंत्र-मंत्र-तन्त्र करने और सांसारिकसुखों का

प्रलोभन देने वालों की न पहिले कमी थी और न आज कमी है। हमें सोचना है कि हम कौन सा मार्ग अपनाएं ?

सम्यग्ज्ञान में ये तीनों ही नहीं होते। सम्यग्ज्ञानी जीवादि सात तत्त्वों को यथार्थ जानता है। ज्ञान के विषय में आचार्य कहते हैं—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥

प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्वों को यथातथ्य जानने वाला ज्ञान-सम्यग्ज्ञान होता है। अतः श्रावक व मुनि दोनों को भौतिक ज्ञान की ओर प्रवृत्त न हो—मोक्षमार्ग में सहायक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए और धर्म प्रभावना करनी चाहिए।

(२) रहस्यपूर्ण चिट्ठी क्या है ?

चिट्ठी हम लिखते हैं, और वे भी लिखते हैं। पर वे दूसरे 'वे' होते हैं जो रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखते हैं। आप कहेंगे आज भी ऐसी चिट्ठियों का चलन है जो रहस्यपूर्ण और गोपनीय होती हैं। बहुत-सी रहस्यपूर्ण चिट्ठियाँ अनेकों गुप्तचरों द्वारा पकड़ी जाती हैं, सेन्सर की जाती हैं और अनेकों रहस्य खोलती हैं। पर, यदि आगम दृष्टि से देखा जाय तो वे चिट्ठियाँ रहस्यपूर्ण नहीं होतीं—धोखे को पकड़ने का धोखा भरा साधन मात्र होती हैं। जो लिखता है वह स्वयं धोखे में रहकर दूसरे को धोखा देता है और पकड़ने वाला उस धोखे को धोखे में पकड़ता है—फलतः न वह रहस्य होता है और ना ही रहस्य को पकड़ने (का दम्भ भरने) वाला रहस्य को पकड़ पाता है।

'रहस्य' शब्द बड़ा रहस्यमय है। इसे रहस्य के पारखी ही जानते हैं। वे जब लिखते हैं तब रहस्यमय, समझते हैं तब रहस्यमय और कहते हैं तब भी रहस्यमय। रहस्य वस्तु-स्वरूप में तिल में तेल से भी गहरा—पूर्ण रूप से समाया हुआ है। जैन-दर्शन के अनुसार तो हर वस्तु रहस्यमय है तथा हर वस्तु का रहस्य भी अपना और पृथक् है। अपने रहस्य को बतलाने और समझने वाले ही वास्तविक लेखक और वास्तविक वाचक हैं। यदि आप अपना (आत्मा का) रहस्य अंकित करते हैं तो आप रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखते हैं। पहिले ऐसी चिट्ठियां लिखी जाती रही हैं और लोग उनका पूर्ण लाभ भी उठाते रहे हैं आगम-मार्ग में रहस्यपूर्ण चिट्ठी वे हैं जो प्रयोजनभूत—आत्मा का रहस्य खोलती हैं। ऐसी चिट्ठियों में हमें एक चिट्ठी पं० प्रवर टोडरमल जी की मिलती है, जो उन्होंने मुल्तान के अध्यात्मिक श्रावकों को लिखी थी। वे लिखते हैं—

'वर्तमानकाल में अध्यात्म के रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं जो स्वात्मानुभव की वार्ता भी करे हैं, सो ही कहा है—

'तत्प्रति प्रीतिचित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स: भवेद्भव्यो, भावि निर्वाण भाजनम्॥

भाव यह है कि जिस जीव ने प्रसन्नचित्त होकर इस चेतन स्वरूप आत्मा की बात सुनी है वह निश्चय—भव्य है और निर्वाण का पात्र है।"

पाठक देखें कितना रहस्य है इन चन्द पंक्तियों में ? विचारने पर क्या ये अन्तरंग को झकझोर कर जगाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं ?* जो इन्हें पढ़ेगा-विचारेगा अनुभव में लाएगा वह अवश्य ऐसे रहस्य को पाएगा जिसे कोटि-कोटि तपस्वियों ने कोटि-कोटि तपस्याएं करके भी कठिनता से पाया हो।

अपनी चिट्ठी में पं० प्रवर ने किन-किन रहस्यों को खोला है ये हम आगे लिखेंगे ये प्रसंग तो रहस्यपूर्ण चिट्ठी की परिभाषा मात्र का था। अस्तु।

(३) सम्यग्ज्ञान क्या है ?

मोक्ष में प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। श्रावक और मुनि दोनों में इस ज्ञान का होना आवश्यक है, बिना इस ज्ञान के वह मोक्ष का उपाय नहीं कर सकता और ना ही उसका ज्ञान सार्थक हो सकता है। लोक में भौतिक-सासारिक विषयों की खोज और उनमें प्रवृत्ति के सूचक जो ज्ञान देखे जाते हैं और जिनके आधार से ज्ञानी की पहिचान की जाती है—वे सभी ज्ञान आत्म-मार्ग में सहायी न होने से मिथ्या ज्ञान की श्रेणी में आते हैं—लोकव्यवहार में चाहे वे सही भी क्यों न हों ?

ज्ञान के मिथ्या या सम्यक् होने में मूल कारण मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन हैं और इसीलिए आचार्यों

ने सम्यग्दर्शन को प्रथम रखा है। भाव ऐसा है कि मोक्ष-मार्ग में प्रयोजनभूत जीव-अजीव-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों को संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित याथातथ्य—जैसे का तैसा जानना सम्यक् ज्ञान है। पंडित प्रवर टोडरमल जी ने इस विषय को इस भांति स्पष्ट किया है—'बहुरि यहाँ संसार' मोक्ष के कारणभूत सांचा झूठा जानने का निर्द्धारण करना है, सो जेवरी-सर्पादिक का यथार्थ वा अन्यथा ज्ञान संसार, मोक्ष का कारण नाही तातै तिनकी अपेक्षा इहाँ मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान न कह्या। इहाँ प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वनि ही का जानने की अपेक्षा मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान कह्या है।' धूप में चमकती हुई सीप को देख कर ऐसा विकल्प करना कि यह सीप है या चांदी—संशय कहलाता है। चमकती हुई सीप को चांदी रूप जानने का नाम विपर्यय—उल्टा ज्ञान है: और मार्ग में चलते हुए यदि पैर में कोई तिनका चुभ जाय तो उसमे विकल्प उठा करे कि ये क्या है, उसी क्षण (बिना निर्धारण के) उपेक्षा भाव लाकर आगे बढ़ जाना—कि कुछ होगा, यह अनध्यवसाय है। सम्यग्ज्ञान में ये तीनों भी नहीं होते। और सम्यग्ज्ञान के लक्ष्य, प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्व होते हैं।

(४) आप इतने क्रूर तो न थे?

(भगवान महावीर का अहिंसामयी धर्म पालन करने के लिए हमें अपने दैनिक जीवन में पर्याप्त परिवर्तन लाना होगा—हिंसाजन्य सौन्दर्य प्रसाधन सामग्रियों का सर्वथा परित्याग करना होगा। विविध सौन्दर्य प्रसाधन किस भांति और किन जीवों की बलि देकर निर्मित किए जाते हैं, इसकी संक्षिप्त झलक 'इनकी जिन्दगी आपका फैशन' से चुन कर यहाँ दी जा रही है—आशा है महावीर के अनुयायी इससे लाभान्वित होंगे।) —संपादक

१. बिज्जू का सेंण्ट—

बिज्जू नामक जानवर बिल्ली से बहुत छोटा होता है। बहुत कम लोगों ने इसे जंगल में देखा होगा। चिड़ियाघरों में भले ही देखा हो। इस छोटे से जानवर को बेतों से पीटा जाता है ताकि यह उद्वेलित हो जाय। उद्विग्न अवस्था में इसके शरीर से वह तरल पदार्थ निकलने लगता है जिसमें से सुगन्ध निचोड़ा जाता है और उसकी ग्रन्थी को चाकू से खरोंचा जाता है।

सौन्दर्य प्रसाधन—

"स्लेन्डर लोरिस" नामक छोटा सा बन्दर जो भारत में अब बहुत कम संख्या में रह गया है क्योंकि इसका शिकार अत्यधिक किया जा चुका है। इसकी आंखें बाहर निकाल ली जाती है। इसका दिल बाहर निकाल लिया जाता है। इन दोनों को पीस कर सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री बनाई जाती है।

कोट कपड़े आदि—

चूहे जैसा ही जानवर होता है 'बीवर'। इसके शरीर से निकला तेल सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री बनाने में काम आता है। इसकी खाल के कोट बनते है। छोटा-सा यह जानवर रुमाल बराबर है। करीब ६० ऐसे जानवरों की खाल से एक व्यक्ति का कोट बनता है।

सील—

सील मछली के बच्चों के साथ भी क्रूरता कुछ कम नहीं होती है। कनाडा में बेसबाल खेलने के बल्ले जैसे डण्डे से इस मछली के बच्चों को लगातार तब तक पिटाई की जाती है जब तक वे मर न जाएं। नार्वे में तो लंहे की तीखी सलाख सील के बच्चों के सिर में घुसा दी जाती है और उसकी खाल तुरन्त उतारने के लिए उसे चीर दिया जाता है। बेचारी मां अपने शिशु के क्रन्दन को सुनती रहती है। जब शिकारी चले जाते हैं तो वह अपने शिशु के अस्थिपंजर के समीप आकर अपने मुंह से उस लहूलुहान के पिण्ड को सूंघती है। कहां गया उसका शिशु? वह तो सदा के लिए विलुप्त होगया। खाल किसी रईस का कोट बन गई।

मिन्क—

मिंक नामक जानवर पानी में रहता है और इसके बाहर भी। इसका कसूर सिर्फ इतना है कि मुलायम बालों वाली इसकी खाल अत्यन्त मोहक एवं लुभावनी होती है। अतः मिंक पर कहर ढाया जा रहा है। रईस लोगों के

कोट की खातिर मिंक का व्यापक वध हो रहा है। "चिनचिला" नामक दक्षिणी अमेरिका के जानवर को भी मिंक की भांति अकारण सजा-ए-मौत सहनी पड़ रही है।

कराकुल—

कराकुल भेड़ के बाल बड़े घुंघराले और खाल अत्यन्त नरम होती है। मनचले लोग अपने शौक की पूर्ति के लिए इसी खाल के कपड़े या टोपी पहनना चाहते हैं। लेकिन मेमने के पैदा होते ही इसके बालों का मुलायमपन कम हो जाता है। अतः माता भेड़ को गर्भावस्था में ही बेंतों से पीटा जाता है। इस कदर बेंतों से उस पर प्रहार किया जाता है कि उसके प्राण पखेरू उड़ जाएं। मरते ही उसके पेट से होने वाले मेमने को निकाला जाता है। क्रूरता की पाशविकता इससे अधिक क्या होगी कि उस मेमने की खाल जिन्दा अवस्था में ही उतार ली जाती है।

पर्स या सूटकेस—

लोग कहते है मगरमच्छ सदा मुंह खोल कर हँसता रहता है लेकिन लोगों की हँसी ज्यादा क्रूर है। मगरमच्छ को पानी से बाहर चालाकी से लाया जाता है और उसे जल विहीन परिस्थिति मे छटपटाने को मजबूर किया जाता है ताकि उसकी मौत करीब, और करीब आती जाए। यकायक उसकी नाक मे एक पैना छुरा घोंप दिया जाता है ताकि उसका जीवन समाप्त हो जाये।

मगरमच्छ की खाल पर बहुत लोग आस लगाए हुए हैं क्योंकि उसका उपयोग चमड़े के रूप में महिलाओं के "पर्स" या "सूटकेस" आदि बनाने मे किया जाता है।

कुत्ता—

कुत्ता तो अंगरक्षक होता है। लेकिन आदमी उसकी जान का भी भक्षक बनता जा रहा है। बेशकीमती नस्ल के कुत्तो को एक साथ खड़ा करके उनके शरीर मे विद्युत का करन्ट प्रवाहित किया जाता है। कांपते, सिहरते, कंपकंपाते हुए कुत्तों का झुण्ड-का-झुण्ड दम तोड़ देता है। इनके नरम कान का उपयोग "पर्स" बनाने मे होता है।

शुतुर्मुर्ग—

हर छठे माह शुतुर्मुर्ग के पंख नोचे जाते हैं क्योंकि लोगों को इस विशालतम पक्षी के पंखो से प्यार है। पंख नोंच लिए जाने के बाद इसकी खाल नोंची जाती है। खरोंचने और नोंचने का यह क्रम तब तक चलता है जब तक कि शुतुर्मुर्ग के प्राण पखेरु उड़ न जाएँ। खाल का थैला बन जाता है और पंख आपके टोप मे खोंस लिए जाते हैं।

रेशम—

रेशम तो देखी है। पहनी भी होगी ही। रेशम का कीड़ा देखा है? रेशम का धागा प्राप्त करने मे इसके कीड़े को जो मरणान्तक पीड़ा का सामना करना पड़ता है उसके बारे मे कभी अन्दाज भी लगाया है? रेशम के एक कुर्ते की खातिर कितने हजार कीड़ो की जीव हत्या होती है? किस पीड़ा से उन्हें मारा जाता है?

देखा आपने, मूक-जीवों को कितनी यातना दी जाती है? लोगो के सौन्दर्य-प्रसाधन हेतु? फिर भी पशु-पक्षियों की हत्या और उनके साथ अमानवीय व्यवहार जारी है। औसतन एक जानवर को जिन्दा पकड़ने या एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने मे ५-७ जानवर मर जाते हैं। हाल ही मे २० लाख जिन्दा मगरमच्छ अन्तर्राष्ट्रीय जन्तु मे बेचने के लिए एक देश से दूसरे देश मे लाए गए। परन्तु इनमे से आधे तो रास्ते मे ही मर गए।

अहिंसा प्रेमियों को इस प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनो से सर्वथा बचना चाहिये। —सम्पादक

नीरक्षीरविवेके, हंसालस्यं त्वमेव कुरुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥

—हे हंस, यदि तुम ही दूध और जल का भेद भाव बताने में प्रमाद करोगे तो बतलाओ इस संसार में और कौन व्यक्ति न्याय-पद्धति को अपनाएगा?

तीन

☐ श्री बाबूलाल जैन (कलकत्ता वाले)

हर कार्य में तीन काम साथ-साथ होते हैं एक शरीर की क्रिया एक विकारी भाव या विकल्प और एक जानने की क्रिया। जानने की क्रिया आत्मा से उठती है। शरीर की क्रिया शरीर की ही है। रही विकारी भावों की बात वह भी पर के समझ से होने वाली है। जानने की क्रिया बाकी दो क्रियाओं को जानती है उस रूप नही होती। शरीर को जानते हुए शरीर रूप नही होती— क्रोधादि भावों के होते उस रूप नही होती वह तो अपने रूप ही रहती है।

अगर हम खा रहे हैं तो वहाँ पर भी तीन कार्य हो रहे है शरीर की क्रिया—खाने का भाव और खाने मे रस आना और उसको जानने की क्रिया। जैसे हम दूर बैठ कर किसी दूसरे आदमी की क्रिया देखते है। वह बीमार है तो हम देख रहे हैं परन्तु बीमारी का भोक्ता वही है देखने वाला नही, अगर वह क्रोध कर रहा है तो उसका कर्त्ता भोक्ता वही है देखने वाला नही, अगर वह चलता है तो देखने वाला नही चलता वह तो अलग है अगर दूसरा बोल रहा है तो देखने वाला अबोला है। ठीक यही दशा आत्मा के जानने की है क्रोधादि होते हैं परन्तु देखने वाला तो देखने का ही काम कर रहा है। इस प्रकार उसके तीन क्रिया सब कामों मे होती हैं वह एक का मालिक है एक के साथ उसका अपनापना-एकत्वपना, अहम्‌पना है बाकी दो के साथ उसका अपनापना-एकत्वपना-अहम्‌पना नही है। पर की दो क्रिया होती है कभी क्रोध कर रहा है कभी क्षमा माग रहा है। परन्तु जानने वाला तो मात्र जान ही रहा है वह तो न क्रोध करता है और न क्षमा मांगता है परन्तु इनका जानने वाला है। इसलिये यह कहना चाहिए कि वह खाते हुए खाता नही। चलते हुए चलता नहीं बोलते हुए बोलता नहीं। इस प्रकार कोई कहता है कि आपने खाना खाया वह कह सकता है खाना खाया गया यह मैंने भी देखा है इस प्रकार वह मात्र ज्ञाता है करता नही, भोक्ता नहीं।

जबकि एक दूसरा व्यक्ति है जो इस ज्ञाता को नहीं पहचानता वहाँ पर वह समझता है कि सब कुछ करने वाला मैं ही हू वह शरीर की क्रिया का भी और विकारी भावो का भी दोनों का कर्त्ता। दोनों को अपने रूप जानता है और दोनों मे अहम् बुद्धि रखे हुए है। वहां तीन नही दो ही हैं। जब ज्ञाता पकड़ में नहीं आता तो विकार का करता बन जाता है और उसमे और शरीर में अहम् बुद्धि करता है। जिसमे अहम् बुद्धि होगी उसमे आसक्ति भी होगी। लौकिक मे भी जिसको हम अपना मानते है उसमे आसक्ति होती ही है। वह आसक्ति तब तक नही छूट सकती जब तक अहम् बुद्धि नहीं छूटती। इसलिये जो लोग पर से, शरीर से आसक्ति छोड़ना चाहते हैं उन्हें पहले उसमे से अहम् बुद्धि छोड़नी है तब आसक्ति अपने आप छुट जायेगी और अहम् बुद्धि तब तक नहीं छूटती जब तक ज्ञाता पकड़ में नही आता। ज्ञाता पकड़ मे आने पर अहम्‌पना उसमे आयेगा तब पर में अहम् बुद्धि नही रहेगी और आसक्ति अपने आप छूट जायेगी। छोड़ना पर मे अहम् बुद्धि को है। यह Negative है यह कहना चाहिए कि अपने मे अहम् बुद्धि लानी है यह Positive है। अज्ञानता क्या है, संसार क्या है, पर में अहम् बुद्धि। पर को छोड़ने से, उससे दूर भाग जाने से अहम् बुद्धि नहीं छूटेगी। परन्तु अपने को जानने से अहम् बुद्धि छूटेगी। अपने को नहीं जानना यही अज्ञान है और यही अज्ञान अनंत ससार, अनंत दुख है यही बन्धन है। उसका उपाय अपने को जानना है वह शास्त्र के द्वारा-शब्दों के द्वारा और गुरु के द्वारा भी नहीं होगा। वहाँ से तो आप स्व के बारे मे जानकारी कर सकते हैं। स्व के बारे में शास्त्र से जान सकते हैं परन्तु स्व को देख नहीं सकते उसे तो अपने

में ही देखना होगा। शास्त्रों मे देख कर पण्डित हो सकते हैं स्व के बारे में कथन कर सकते हैं परन्तु सबके मालिक नहीं हो सकते।

हमने पर को दुख का कारण आसक्ति का कारण समझ कर उसको तो करोड़ों दफे छोड़ा परन्तु पर मे अहम् बुद्धि नहीं छोड़ी। पहले पर के ग्रहण मे अहम् बुद्धि थी अब पर के त्याग में अहम् बुद्धि हो गयी पहले वाली से दूसरी ज्यादा खतरनाक होती है परन्तु अपने ज्ञाता में अहम् बुद्धि नहीं आई पर के ग्रहण से पर के त्याग मे तो बदल गयी परन्तु अपने में नहीं आई तो बाहर में तो बदला हुआ दिखाई देता है भेष बदला हुआ मालूम देता है परन्तु अन्तर में स्व में कुछ बदला नही है वह तो वैसा-का-वैसा ही है। इसलिये घर बदल गया परन्तु रहने वाला नहीं बदला—जिसको बदलना था।

जब पर में अहम् बुद्धि हट कर स्व में अहम् बुद्धि आ जाय तो आसक्ति तो अपने आप छूट गयी। जो रोकता है वह तो अहम् का ही है मकान के लिये कोई नहीं रोता मेरा चला गया उसके लिये रोता है। मकान वही नहीं जाता मात्र मेरा नही रहता। जहाँ मेरा है वहीं रस है अब मेरा नहीं रहा तो रस भी सूख गया। स्त्री नही जाती मात्र मेरी नहीं रहती और मेरा निकलने पर कुछ नही रहता। बच्चों के खेलने में रस नही आता परन्तु मेरे बच्चे का रस आता है। इसलिये मेरापन ही रस पैदा करता है।

इस प्रकार हम अपने ज्ञाता को पकड़ें। ज्ञाता अपने आपको पर रूप देखता था वह अपने आपको अपने रूप देखे और अपने को अपने रूप जाने और अपने में ही लीन हो जाये यही मार्ग है। पर तो पर था ही वह कभी स्व हो नहीं सकता था उसको अज्ञानता से स्व मान लिया था अब अपना ज्ञान हुआ तो पर को पर रूप जाना पर को पर रूप देखा। अब जितना अपने मे ठहरे उतना पर का रस सूखने लगा पर की महिमा गयी। जितना स्व में ठहराव, लीनता बढ़े उतना विकार दूर हो और जितना विकार दूर हो उतनी बाहर में पर की पकड़ छूटती जाये। बाहर से देखने वाला कहता है त्याग दिया भीतर से देखने वाला कहता है पकड़ने को कुछ रहा ही नहीं। बाहर से देखने वाला कहता है त्याग कर चला गया। भीतर से देखने वाला कहता है जान कर चला गया। जान लिया यहाँ मेरा अपना कुछ नहीं तो फिर ठहरने को रहा ही नहीं।

इस प्रकार ठहराव बढ़ता जाता है कार्य भीतर में हो रहा है बाहर मे तो उसका Reaction आ रहा है। बाहर से देखने वाला Reaction को धर्म समझता है उसको पुरुषार्थ समझता है और उस बाहरी Reaction की नकल करता है भीतर से देखने वाला जानता है पुरुषार्थ तो भीतर में है। स्व को जानने का पहला पुरुषार्थ और उसमें ठहरते जाना, ठहरते जाना और ठहरते-ठहरते उसमें पूर्ण रूप से लीन हो जाना यह दूसरा पुरुषार्थ है। ऐसा लीन हुआ कि बाहर में आने की जरूरत ही न रहा बस विकार का भी अभाव हो गया शरीर का भी अभाव हो गया मात्र ज्ञाता रह गया इसी का नाम मोक्ष है इसी का नाम परमात्मा होना है।

जैसे-जैसे निज को निज रूप देखता है विकार कम होने लगते हैं। पहले तीव्र क्रोधादि जाते हैं तब बाहर मे अन्याय रूप आचरण मिट जाता है। बाहर से छूटने लगता है फिर मंद क्रोधादि जाने लगते हैं तो बाहर में पंच महाव्रत रूप आचरण होने लगता है घर से प्रयोजन नही रहता। जब मंद से मंदतर होते है तो बाहर की जरूरत नही रहती अपने में ही ध्यान में लीन हो जाता है। इस प्रकार "भीतर से बाहर का मिलन" है परन्तु "बाहर से भीतर का मिलन नही है।" हमने बाहर को पकड़ लिया भीतर को भूल गये। मूल को छोड़ दिया पत्तों को पकड़ बैठे हैं।

तत्व यह नही है कि उसने क्या छोड़ा। "तत्व यह है कि क्या उपलब्ध हुआ। त्यागा नही है पाया है।" जब हीरे मिल गये तो पत्थर कंकड़ छूट गये क्योंकि बेमाने हो गये। कंकड़-पत्थर को कुछ कीमत समझ कर पकड़ रखा था अब कंकड़ पत्थर दिखाई दे गये तो बेमाने हो गये। अपने आप छूट गये। महत्व छूट गया इसका नहीं है महत्व मिल गया इसका है। कोई ऐसी चीज मिल गयी कि उसके सामने चक्रवर्ती की विभूति भी कंकड़-पत्थर

(शेष आवरण पृष्ठ ३ पर)

श्रावक के दैनिक आचार

□ श्रीमती सुधा जैन एम० ए०

निर्माण और निर्वाण ये दोनों शब्द मौलिक हैं। निर्माण बनने बनाने को कहते हैं और निर्वाण मुक्ति या छुटकारा पाने को कहते हैं। दोनों ही में सुखनिहित है। यदि मानव अपना निर्माण उचित रीति से करले—अपने आचार और विचारों को सही रूप मे करले तो उसे संसारी जीवन में भी सुख है। और यदि उद्यम द्वारा अपनी कर्म-कालिमा—रागादि कषायों को निर्मूल कर दे तब उसे मोक्ष मे भी सुख है। अब यह निर्णय मानव को स्वयं करना हैं कि वह इन दोनों मे से किसे पसन्द करता है? हाँ, इतना अवश्य है कि जो स्थिति आज है उसे देखते हुए यह अवश्य कहा जायगा कि आज का मानव-समाज मार्ग से बहुत कुछ भटक गया है।

जैन दृष्टि से यह पंचमकाल है। इसने इस क्षेत्र से निर्वाण नही है। यदि निर्वाण पाना हो तो पहिले हमे अपना निर्माण करना पड़ेगा, अपने को बनाना होगा और उसी के आधार से हम विदेह क्षेत्र मे जन्म ले सकेंगे और वहाँ से निर्वाण पा सकेंगे। अतः आइए, पहिले निर्माण को ही चर्चा करलें।

प्रश्न ये होते हैं कि—हमे निर्माण की आवश्यकता क्यों है? और यदि निर्माण करें भी तो क्या और कैसा? क्या वास्तव मे हमारा निर्माण नहीं हुआ है? हम पैदा नही हुए हैं क्या? या हम मनुष्य नही, क्या? आदि।

इसमे सन्देह नही, कि हम मनुष्य हैं और आकृति की अपेक्षा हमारा मनुष्य रूप में निर्माण भी हो चुका है। हमारे समान अन्य भी करोड़ों मनुष्य—आकृति से मनुष्य हैं। पर, मनुष्य का अर्थ इतना मात्र ही नही है कि आकृति ही मनुष्य रूप हो। इसके साथ कर्तव्य भी जुड़ा हुआ है। यदि हम मनुष्योचित कर्तव्यों को पूरा नही करते तो हम अपने आपको मनुष्य कहलाने के अधिकारी नहीं। यदि कर्तव्य को मानवता से पृथक् कर दिया जाय तो मनुष्य-मनुष्य और पशु-मनुष्य में भेद ही मिट जायगा। क्योंकि मनुष्य भी आहार करता है और पशु भी आहार करता है। निद्रा, भय, मैथुन आदि की अपेक्षा भी पशुओं और मनुष्यों में कोई भेद नहीं है। अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि कर्तव्य प्रमुख है। और वह इसलिए कि—मनुष्य को पशु-पक्षी और अन्य प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि-विशेष मिली हुई है। अन्य प्राणियों का ज्ञान खाने-पीने और विषय भोगों तक ही सीमित है। बाह्य-जगत में हम देखते है कि मनुष्य नव-निर्माण करता है। आज तो वह चन्द्रलोक तक पर राज्य करने की योजना बना रहा है। यह सब बुद्धि और ज्ञान विशेष का ही प्रभाव है—पशु-पक्षियो मे ये बातें कहाँ?

आस्तिक-जगत—जो आत्मा तथा इस लोक और परलोक मे भी विश्वास रखता है, की ऐसी मान्यता है कि आत्मा जैसे भले बुरे कार्य करता है उसे अगले जन्म में भोगना पड़ता है। इस जन्म में हम जिन्हें सुखी-दुखी देखते हैं वे उनके किए कर्म फल ही हैं। यज्ञ-आदि क्रियाकाण्डों में विश्वास रखने वाले क्रियाकाण्डी, यज्ञादि क्रियाओं को 'कर्म' कहते हैं। पौराणिक लोग व्रत-त्याग-नियम आदि को कर्म मानते हैं और जैन-दर्शनकार फल-शक्ति सहित पुद्गल (कार्माण) वर्गणाओं को 'कर्म' मानते हैं। आत्मा जब कषायगुक्त होता है, तब उसने मन-वचन-काय संबंधी क्रिया होती है और उस क्रिया के अनुसार उसे उसका फल आगामी काल मे भोगना पड़ता है। इस प्रकार फल भोगने की बात सभी को स्वीकार है। और क्रिया के अनुसार ही फल होगा ऐसा भी सभी को स्वीकार है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि यदि हम शुभ-फल—सांसारिक सुख चाहते हैं, तो हमें अच्छी क्रियाओं का आचरण करना चाहिए। बस, इसी शुभ-क्रिया की ओर लगना हमारा निर्माण है। और जब हम अपना निर्माण कर लेते हैं, तब निर्वाण का मार्ग भी हमें सरल दीख पड़ेगा।

अब सोचना यह है कि जिन क्रियाओं को शुभ नाम से कहा जाता है, वे क्रियाएं कौन-सी हैं ?

यद्यपि लोक में विविध प्रकार की असख्यातों क्रियाएँ हैं। सबका लेखा-जोखा करना संभव नही। तथापि उनके मूल पर प्रकाश डालने के लिए यहां कुछ आवश्यक मुख्य क्रियाओं का वर्णन किया जाता है।

तीर्थंकर-महावीर और उनसे पहिले के तेईस तीर्थंकरों ने धर्म' का उपदेश दिया। उन्होंने धर्म-पालकों को चार श्रेणियों में विभाजित किया। वे चार श्रेणियां हैं—(१) साधु (२) साध्वी (३) श्रावक (४) श्राविका। धर्म-पालक होने से ये 'तीर्थ'—पवित्रता के स्थान भी कहलाए। इनको स्थापना करने के कारण चौबीसों महापुरुष तीर्थंकर कहलाए। इन चारों मे साधु और साध्वी अन्तिम पदवी हैं और ये पद सांसारिक समरम्भ-समारंभ-आरंभ से ऊँचे उठे स्थान है। श्रावक और श्राविका प्रारंभिक श्रेणियां है। इस प्रकरण मे हमारा लक्ष्य इन्हीं प्रारंभिक दो श्रेणियो पर है। यदि हम इनमें खरे उतरते हैं तो ऐसा समझना चाहिए कि हमारा प्रारंभिक निर्माण हो रहा है। प्रसंग के अनुसार यहाँ 'श्रावक' का अर्थ भी जान लेना आवश्यक है। फलतः—

श्रावक शब्द का भाव अति महत्व के ऐसे पद से है जो मोक्ष में सहायक हो। जो तीर्थंकरों की वाणी को श्रवण करता है, तदनुरूप आचरण करता है, उसे श्रावक कहते हैं। यदि हम श्रावक शब्द का ग्रामीण रीति से विश्लेषण करना चाहें, तो इस प्रकार कह सकते हैं कि—श्रावक शब्द में तीन वर्ण हैं—श्रा+व+क। श्रा से श्रद्धा, व से विवेक और क से क्रिया का भाव है, और ये तीनों मोक्ष के साधन हैं। कहा भी है—'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।'—तत्त्वार्थसूत्र १।१ अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र पूर्ण और समुदित रूप से मोक्ष के मार्ग हैं। व्यवहार मे भी इन तीनो के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। यथा—

मान लीजिए, एक रोगी पुरुष है। उसे औषधि पर विश्वास है और ज्ञान नहीं है कि औषधि कहाँ किस प्रकार प्राप्त होगी, तो वह निरोग नहीं हो सकता और यदि उसे श्रद्धान ज्ञान दोनों हैं और दवाई का प्रयोग नहीं करता—दवाई एक ओर रखी रहती है, तब भी उसके रोग का उपचार नहीं होता। रोग का उपचार तब ही होगा जब रोगी में श्रद्धा-ज्ञान और आचरण तीनों की पूर्णता हो! इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र को जानना चाहिए। जो इन तीनों की ओर प्रवृत्त हो उसे श्रावक कहा जायगा।

जहां तक श्रद्धा की बात है, वह बहुत गहरी और भावात्मक क्रिया है। यह जानना बड़ा कठिन है कि किसकी श्रद्धा किस रूप मे, कैसी है? अतः हमे इस प्रसंग मे इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि यदि कोई जीव अपने भावों मे सरलता रख कर मोह को कम कर रहा है, उसके आचार-विचार या क्रिया काण्ड से स्वय या अन्य को बाधा नही पहुंच रही है, वह निवृत्ति मार्ग की ओर जा रहा है तो वह श्रद्धानु-ज्ञानी और सदाचारी होने के नाते श्रावक है। यह श्रावक का व्यवहार एव स्थूल रूप है। मोक्ष के प्रसंग मे श्रद्धा ज्ञान चारित्र का विशदरूप है और वह मुनिवृत्ति से बँधा हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में तो बाह्य लोक-व्यवहार को भी साथ लेकर चलने की बात है। अस्तु,

जैनाचार मे श्रावक के लिए कुछ मर्यादाएँ रखी गई है जिनसे श्रावक को अपने पद मे स्थिर रहने मे सहायता मिलती है। और वह सन्मार्ग से गिरने या कुमार्ग मे जाने से बच जाता है। इन मर्यादाओं को व्रत-नियम-यम आदि के नामों से संबोधित किया जाता है। वैसे तो समयानुसार हम श्रावकों को दो श्रेणियो मे विभक्त कर सकते हैं—एक अव्रती श्रावक और दूसरे व्रती श्रावक। जिन्होंने प्रत्यक्षतः कोई व्रत तो न लिए हो, पर श्रद्धा के साथ कुछ स्थूल नियमो का पालन करते हों, जैसे शराब न पीना, मांस न खाना, मधु आदि हिंसा से उत्पन्न होने वाले पदार्थ और नशीली चीजें सेवन न करना, तुच्छ जीवों से पूरित फल-फूल वनस्पति आदि न खाना, पीना छान कर पानी, रात्रि भोजन न करना आदि। जिनके परिणाम सरल और यथाशक्ति श्रद्धा-ज्ञान-चरित्र के अनुकूल हो, पर शक्ति न मानकर व्रतों को ग्रहण न कर सके हों—नियमों मे न बँध सके हों।

व्रती श्रावक वे हैं जो बारह व्रतों मे न्यूनाधिक बँधे रहते हैं और पापो का स्थूलरीति से त्याग किए रहते हैं।

बारह व्रत इस प्रकार हैं—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षा-व्रत। इन व्रतों का वर्णन करने से पूर्व इतना संकेत और कर दें कि इन व्रतों के पालन के साथ-साथ श्रावकों के ६ आवश्यक कर्म (कार्य) प्रतिदिन के और भी बतलाए गए हैं। सभी श्रावकों को धर्म में स्थिर रहने के लिए इनका यथाशक्ति—सुविधानुसार पालन करना अत्युपयोगी है। वे छह आवश्यक कार्य इस प्रकार हैं—(१) देव पूजा, (२) गुरु-उपासना, (३) स्वाध्याय, (४) संयम (५) तप और (६) दान।

(१) देव-पूजा—परम-शुद्ध आत्माओं को देव शब्द से संबोधित किया जाता है। और जैन-दर्शन में इन्हें परमात्मा कहा गया है। ये देव दो प्रकार के हैं—सकल-परमात्मा और निकल परमात्मा जो संसारी आत्मा अपने आत्मोद्यम से कर्मों को पूर्ण रूप से क्षय करके संसार से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाते है वे निकल अर्थात् शरीर-रहित—सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। और जो क्षुधा, पिपासा, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह आदि से रहित होकर भी शरीर में वास करते हैं, वे सकल अर्थात् शरीर सहित—अरहत परमात्मा कहलाते हैं। दोनों ही प्रकार के परमात्मा आत्मा के परमोत्कर्ष को प्राप्त होते है और वीतराग तथा सर्वज्ञ होते हैं। अरहंत परमात्मा हित पूर्ण उपदेश भी देते हैं। इनको सांसारिक सभी प्रकार की झंझटो से कोई प्रयोजन नही होता।

चूंकि जैन-दर्शन के अनुसार संसार का प्रत्येक जीव अनन्त शक्तियां अनन्त रूप मे रखता है और वह प्रतिबंधक कर्मों का अन्त करके उन्हें सदा के लिए प्रकट भी कर सकता है। अतः इस ओर लक्ष्य देने और बार-बार शुद्ध आत्माओं का ध्यान-मनन-आराधन करने मे उसका मार्ग प्रशस्त होता है। इसलिए देव-पूजा का शास्त्रो मे विधान किया गया है और श्रावक को इसका नियमित आचरण बतलाया है।

(२) गुरु उपासना—जो इन्द्रियो सबधी सांसारिक विषयों के सेवन और उनकी आशा मात्र का भी परित्याग कर देते हैं, किसी प्रकार के भी संसार बढ़ाने वाले कार्यों को नहीं करते, किसी प्रकार का परिग्रह (बहिरंग व अंतरंग) नहीं रखते—पर निकारो से अन्यथा यानी अंतरंग-बहिरंग दोनों परिग्रहों से सर्वथा रहित—नग्न-परमनग्न होते हैं और ज्ञान, ध्यान तप में लीन रहते हैं—वे गुरु कहलाते हैं। ऐसे गुरुओं की उपासना करने से वीतराग मुद्रा के प्रति श्रद्धा होती है—वीतरागता का पाठ भी मिलता है। ये मुद्रा मोक्षमार्ग की प्रतीक है। अतः श्रावक को गुरु उपासना परमोपयोगी है।

(३) स्वाध्याय—अर्हन्त सर्वज्ञ देव द्वारा उपदिष्ट और गुरु परंपरा से उपलब्ध-वाणी—जिन वाणी, जिसका किसी के द्वारा खण्डन नहीं किया जा सकता और जो स्याद्वादमयी होने से पूर्वापर विरोध रहित है, का पठन-पाठन, मनन चिंतवन करना स्वाध्याय कहा गया है। आत्मा आदिक पदार्थों का इससे विस्तार पूर्वक प्रशस्त ज्ञान होता है और वह ज्ञान ही आत्म-साधना में उपयोगी है। श्रावक को इससे लाभ होता है और वह मोक्षमार्ग में लगता है।

(४) संयम—अपनी इन्द्रियों और मन को वश में रखना, जीवों की रक्षा करना संयम कहलाता है। इन्द्रियों को वश मे किए बिना किसी प्रकार भी उद्धार नहीं हो सकता। अतः इन्द्रियों को वश में करना और सब जीवों को अपने समान समझकर उनकी रक्षा करना परमोपयोगी है।

(५) तप—मनुष्य की इच्छाएँ संसार परिभ्रमण में प्रमुख कारण हैं जब तक इच्छाओं को कम नहीं किया जायगा—रोका नहीं जायगा तब तक अशान्ति ही रहेगी! इच्छाएं कभी शान्त नहीं होतीं। जैसे अग्नि, घी डालने से बढ़ती ही है. वैसे ही एक इच्छा के पूर्ण होने के बाद दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है, अतः इच्छाओं को रोकना चाहिए। इन्हे रोकना ही परम तप है—'इच्छा-निरोधस्तपः।'—

(६) दान—उपकार के लिए अपनी वस्तु—जिसके द्वारा जीवों की प्रवृत्ति धर्म में होती हो, आत्म-हित की दृष्टि से उन्हें शान्ति मिलती हो—या उनका भौतिक दुःखों से निस्तार होता हो—पर-हेतु देना 'दान' कहलाता है। दान मे दाता और पात्र दोनों का हित-निहित है। दान लोकोपयोगी और धर्म को बढ़ाने वाला हो, ऐसा ध्यान रहना आवश्यक है।

—स्टेट बैंक आफ इंडिया, श्रीगंगानगर

शंका शल्य

□ श्री रत्नत्रयधारी जैन

ज्ञान के भेद अनन्त हैं। सामान्य दृष्टि से समझा जा सके अत: श्रमण महावीर ने ज्ञान के मुख्य पांच भेद कहे हैं। प्रथम मति, द्वितीय श्रुत, तृतीय अवधि, चतुर्थ मन: पर्यय और पंचम केवल ज्ञान (सम्पूर्ण स्वरूप) है।

वस्तु के स्वरूप को जानने का नाम ज्ञान है। वस्तुएं अनन्त हैं। अनन्त वस्तुएं अनंत अंगों की अपेक्षा से है। मुख्य वस्तुत्व स्वरूप से जानने योग्य पदार्थ जीव और अजीव है।

काल भेद से इस समय मात्र मति और श्रुत ये दो ज्ञान विद्यमान है। शेष तीन ज्ञानों का अभाव है। फिर भी जब श्रद्धा भाव से नव-तत्व ज्ञान के विचारों का मन्थन किया जाता है तो हमें आत्म-प्रकाश, आनन्द, समर्थज्ञान की स्फुरण का नवनीत प्राप्त होता है। पुनः पुन: मनन करने से चंचलमन सद्धर्म में स्थिर हो जाता है।

ज्ञान क्या है। जो आत्मा है वह जानता है जो जानता है वह आत्मा है। ज्ञान आत्मा का गुण है। ज्ञान आत्मा में अवस्थित है। आत्मा और अनात्मा में अत्यन्ताभाव है। आत्मा (जीव) कभी भी अनात्मा (अजीव) नहीं बनता है। और अनात्मा कभी आत्मा नहीं बनता है। स्वाध्याय तप है। इसमे सत्यासत्य का विवेक प्राप्त होता है दोषमुक्ति व कर्ममुक्ति के लिये एकाग्रता होती है जो व्यक्ति को आत्मनिष्ठ बनाती है। मन का केन्द्रीकरण स्वभावोन्मुख है।

ज्ञान की क्या आवश्यकता है। आत्मा की सकर्म-स्थिति से अनादिकाल से इस लोक में चतुर्गति मे भ्रमण है। इस पर्यटन का कारण अनंत दुखद ज्ञानावरणीयादि कर्म हैं। आत्मा स्वरूप को पा नहीं रही है। विषयादिक मोह बंधन को स्वरूप मान रही है। इस संसार में निमेष मात्र भी सुख नहीं है। क्या हम निरन्तर इसका अनुभव नहीं करते हैं। असह्य दुखों को अनंत बार सहन किया है। स्वयं अनुभव करते है तथा असहाय रूप होकर दूसरी आत्माओ को इस दुखद स्थिति मे, दुखद तथा रौद्र रूप से अनंत बार सहन करते हुये, अवलोकन करते हैं। दुख अज्ञान से बंधा होता है और अज्ञानादिक कर्म के सहन करने से उसका अन्त नही दिखाई देता है। इसको दूर करने के लिये ज्ञान की परिपूर्ण आवश्यकता है।

अगर ज्ञान की आवश्यकता है तो उसे प्राप्त करने के साधनो के विषय पर विचार करना पड़ेगा। सभी मनुष्य या अधिकतर लोग आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। आत्मज्ञान पूर्ण ज्ञानी (केवली) के वचनामृत की श्रुति तथा श्रद्धा से ही हो सकता है। श्रुति के बिना संस्कार नहीं। यदि संस्कार नही होवे तो श्रद्धा कहां से हो? जिज्ञासु भव्य होना परम आवश्यक है।

धर्म ध्यान से परिणामों की विशुद्धि होगी। शुद्ध परिणामो से भवांत हो जायेगा। धर्मध्यान के चार लक्षण हैं। आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और उपदेशरुचि है। धर्मध्यान के चार आलंबन है। वाचना, प्रच्छना, परावर्त्तना और धर्मकथा।

इस लेख का विषय पृच्छना है। शंका शल्य के निवारण के लिए-गुरु अथवा अपने से अधिक ज्ञानी से प्रश्न पूछने को पृच्छनालम्बन कहते हैं।

संत-समागम में भी यह मार्ग शंका समाधान का निहित है।

इन्द्रभूति ब्राह्मण (गौतम गणधर) की शंका का निवारण सन्मति भगवान के दर्शन मात्र से हो गया था। दिव्य-ध्वनि का खिरना तथा गणधर का प्रश्नकर्ता को उपदेश देना और उससे जिज्ञासु की शंका का समाधान हो जाता था। आचार्यों की सभा में प्रश्न उत्तर की परम्परा थी।

(शेष पृष्ठ ४० पर)

जीवन्धर चम्पू में आकिञ्चन्य

☐ कु० राका जैन

ग्रन्थ परिचय—गद्य-पद्य से भिन्न किन्तु दोनों से समन्वित काव्य चम्पू काव्य कहलाता है। जीवन्धर-चम्पू काव्य-प्रणेता महाकवि हरिचन्द्र ने स्वयं चम्पूकाव्य-वरीयता को उद्घाटित किया—

गद्यावली पद्यपरम्परा च,
प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्ष प्रकर्षं तनुते मिलित्वा,
द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ॥१।६

अर्थात् गद्यावली और पद्य परम्परा ये दोनों पृथक्-पृथक् भी आनन्द उत्पन्न करती है फिर जहाँ दोनों मिल जाती हैं वहाँ की तो बात ही निराली है, वहाँ वे दोनों शैशव और तारुण्य के बीच विचरने वाली कान्ता के समान अत्यानन्द देती है।

महाकवि हरिचन्द्र के समान ही विविध चम्पू काव्य सृजेताओं ने चम्पू के गद्य-पद्य-मिश्रण को वाद्य समन्वित संगीत माध्वीक और मृद्वीका अथवा सुधा और माध्वीक के सम्यक् योग से प्राप्त आनन्द एवं इसके सौन्दर्य को पद्म-रागमणि संयुक्त मुक्तामाला अथवा कोमल-किसलय कलित तुलसीस्रक् सदृश मनोरम माना है।

इस प्रकार चमत्कार प्रधान, गद्य-पद्य-गुम्फित एवं मानव-मानस-मञ्जुलचम्पूकाव्य महावीरस्वामी के समकालीन क्षत्रचूडामणि जीवन्धरस्वामी का जिसमें जीवन-चरित निरूपित है—'जीवन्धर चम्पू' नाम से विश्वविख्यात हुआ। सम्पूर्णकथा अलौकिक घटनाओं से भरी है रञ्जकता को देखते हुए आलोचकों की मन्त्रणा रही है कि काश! इसका चित्रपट बन जाता तो अनायास ही यह आदर्श लोगों के मध्य उपस्थित हो जाता। विषय-वस्तु ११ लम्भों में व्यवहृत है जिसकी रोचकता अकथनीय है।

जीवन्धरचम्पू में आकिञ्चन्य—यद्यपि जीवन्धर चम्पू शृंगार-प्रधान काव्य है तथापि उसमे यत्र-तत्र अकिञ्चन का भाव परिलक्षित होता है। अकिञ्चन का अर्थ है—किञ्चित् मात्र भी न रहना अथवा मोह जनित विचारों को त्यागना अर्थात्-अपरिग्रहवाद। अपरिग्रह (आकिञ्चन्य) रूपी साधन का सहारा लेकर जैन साधक साध्य (मुक्ति-पद) को पा सके। अतः जैन धर्म के उत्कृष्ट लक्ष्य की उपलब्धि हेतु अकिञ्चन का आश्रय लेना परमावश्यक है। जीवन्धर स्वामी जिनका सम्पूर्ण जीवन राजवैभव एवं कामिनी वैभव के मध्य व्यतीत हुआ उन्होंने भी अन्ततोगत्वा आकिञ्चन्य धर्म का सहारा लेकर निर्वाण पद को पाया। जीवन्धर स्वामी के सदृश ही जीवन्धर चम्पू में चित्रित चरित्रों के मध्य भी अकिञ्चन-तत्त्व दर्शित होता है। ग्रन्थ के प्रथम लम्भ में ही राजा सत्यन्धर अकिञ्चन-धारक के रूप में उपस्थित होते हैं। जीवन्धर चम्पू में व्यवहृत आकिञ्चन्य-निरूपण निम्न पात्रों के माध्यम से पाठकों के मध्य उपस्थित हो सकता है—

नृपराज सत्यन्धर का आकिञ्चन्य—जीवन्धर-जनक सत्यंधर नृपराज सुखपूर्वक जीवन-यापन करने के लिए राज्यभार को मन्त्री काष्ठाङ्गार पर सौंप देते हैं और राज्य की तरफ से चिन्तारहित होकर विजयारानी के साथ जीवन घड़ी को चलाते हैं कि यकायक वही काष्ठाङ्गार अधिपति बनने की इच्छा से राजा के साथ युद्ध करना प्रारम्भ कर देता है। प्रतिकार रूप में नृप रानी विजया के मना करने पर भी एकाकी ही रणभूमि में पहुंच जाते हैं। स्व-बाहुबल से अनेक प्रतिद्वन्द्वियों को मौत के घाट उतार देते हैं। दोनों ओर से घोर युद्ध होता है कि यकायक नृपराज के मनोभाव होते हैं कि—"जिस राज्य के लिए हम युद्ध कर रहे हैं, न जाने कितने ही जीवों की मेरे द्वारा हिंसा हो रही है, न जाने कितने दूषित कार्य मेरे द्वारा हो रहे हैं, क्या वह मेरे साथ

आयेगा ? राज्य ही क्या, कोई भी मेरा नहीं, मुझे इससे रंचमात्र भी ममत्व नहीं।"

इस प्रकार मानव में अकिंचनपूर्ण भावों के आगमन के साथ ही उन्होंने युद्धस्थल में ही मुनि दीक्षा ले ली। एवंविध राजा सत्यंधर हमारे सम्मुख अकिंचन-पुरुष के रूप में उपस्थित होते हैं। वस्तुतः प्रधानता है उन मनोभावों की, जो राजसी भोग में लिप्त था वही कुछ क्षण बाद आकिञ्चन्य-धर्म के रूप में प्रस्थित हुआ।

नायक जीवन्धर स्वामी का आकिञ्चन्य—जीवन्धर चम्पू के अन्तर्गत जीवन्धर स्वामी की आकिंचन्य-प्ररूपणा उल्लेखनीय है क्योंकि राजैश्वर्य के साथ साथ गन्धर्वदत्ता प्रभृत् अष्ट रानियों के सुख के मध्य आकिंचन्य धर्म का अवलम्बन लेकर मुक्ति पदवी को पाना यथार्थतः आश्चर्य का विषय है। उन्होंने जीवन मे पद-पद पर अणुव्रत रूप में अकिंचन-धर्म का आश्रय लिया और अन्त मे उसी अणु रूप को महाव्रत के रूप में परिवर्तित किया और इस संसार-पाश से मुक्ति पाई।

क्षेमश्री के परिणयोपरान्त क्षेमपुरी से निकल कर, अपने मणिमयी आभूषणों को देने की इच्छा होने पर जीवन्धर स्वामी को एक कृषक दिखलाई दिया उन्होंने उसे पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का सम्यक् उपदेश दिया। जिनमे पंचाणुव्रत के अन्तर्गत परिग्रहपरिमाणाणुव्रत आकिञ्चन-भाव से ओत-प्रोत है। उन्होंने उस किसान से कहा कि जिस प्रकार बैल द्वारा धारण करने योग्य भार उसका बछड़ा धारण नहीं कर सकता उसी प्रकार मुनि द्वारा धारण करने योग्य व्रत को गृहस्थ धारण नहीं कर सकते। गृहस्थ के लिए अणुव्रत ही परमोपयोगी है। —(क्रमशः)

(पृष्ठ ३८ का शेषांश)

वैदिक साहित्य में भी धर्म चर्चा और संत समागम की प्रणाली रही है। पुराणों और उपनिषदो मे प्रश्न और उत्तर के रूप में धर्म चर्चा की गई है। गीता मे नर (अर्जुन) को नारायण (श्रीकृष्ण) द्वारा आत्मोपदेश इसी प्रकार से दिया गया है।

यूनान में सुकरात, प्लूटो, अरस्तू दार्शनिको ने इसी मार्ग को अपनाया था। चर्चा करने तथा उत्तर देने वाले के अपने ज्ञान का संवर्धन होता है तथा सुनने वाले को एकाग्रता प्राप्त होती है।

जैन समाज में संध्या व रात्रि की शास्त्र सभाओं का यही प्रयोजन था। निश्छल मन से चर्चा से सुनाने वाला तथा सुनने वाला दोनों आत्मविभोर हो जाते है। वीतराग के एक सैद्धान्तिक शब्द से ज्ञानावरणीय का बहु क्षयोपशम होता है।

शंका समाधान की चर्चा से कितना बड़ा उपकार हो सकता है उसका ज्वलन्त उदाहरण पं० प्रवर प० टोडरमल जी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी है। पं० जी ने अपने पत्र में कहा कि "तुम्हारे चिदानन्द घन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिए। सो भाई जी ऐसे प्रश्न तुम सारिखे ही लिखें। यहार वर्तमान काल में अध्यात्म के रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं जो स्वात्मानुभव की वार्ता भी करै हैं, सो ही कहा है—

तत्प्रति प्रीति चित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो, भावि निर्वाण भाजनम्॥
पद्मनन्दि पंच विंशतिका (एकत्वशीतिः २३)

अर्थ—जिहि जीव प्रसन्नचित करि इस चेतन स्वरूप आत्मा की बात ही सुनी है, सो निश्चय कर भव्य है। अल्पकाल विषै 'मोक्ष का पात्र है।'

सो भाई जी तुम प्रश्न लिखे तिनके उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार कुछ लिखिए है सो जानना और अध्यात्म आगम की चर्चा गर्भित पत्र तो शीघ्र शीघ्र दिबो करो, मिलाप कभी होगा तब होगा। अर निरन्तर स्वरूपानुभव में रहना श्रीरस्तु।" (पूरी चिट्ठी आगामी अंक मे)

इस पत्र तथा अन्य पत्रों और समाधानो का इतना प्रभाव हुआ कि जो विस्मयमयी है। मुलतान समाज के जैन बन्धु ओसवाल थे तथा श्वेताम्बर (स्थानकवासी) आम्नाय के मानने वाले थे। परन्तु बाद मे दिगम्बर आम्नाय में आकर निर्ग्रंथ धर्म को पालना प्रारम्भ कर दिया। ओसवाल बन्धु सारे भारतवर्ष में श्वेताम्बर (स्थानक के वासी व मन्दिर मार्गी) हैं, परन्तु मुलतान के ओसवाल बन्धु इसके अपवाद हैं।

८, अल्का, जनपथ, नई दिल्ली

साहित्य-समीक्षा

१. श्री समयसार कलश (टीका)—अनुवादक : श्री महेन्द्रसेन जैनी। प्रकाशक : वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२। प्रथमावृत्ति, १९८१, छपाई आदि उत्तम : पृ० सं० २७६ मूल्य ७ रु०। प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य अमृतचन्द्र जी की आध्यात्मिक कृति समयसार कलश पर पं० श्री राजमल जी की ढूंढारी भाषा का हिन्दी रूपान्तर है। इसमे विषय को सरल रूप में ग्राह्य बनाया गया है, साधारण से साधारण रसिक भी अल्प प्रयास से वस्तु-तत्व के अन्तस्तल का स्पर्श कर सकता है। प्रारभ मे श्री बाबूलाल जैन (कलकत्ते वाले) द्वारा लिखी २८ पृष्ठो की मौलिक प्रस्तावना है। ग्रन्थ आध्यात्मिक-रसिकों के लिए परम उपयोगी सिद्ध होगा और यदि उपयोग लगावें तो इसके सहारे वे समयसार—आत्मा के शुद्ध रूप तक पहुच सकेंगे ऐसा हमे विश्वास है। ग्रन्थ सग्रहणीय है।

२. अन्तर्बोध—लेखक : डा० नरेन्द्रकुमार सेठी : प्रकाशक : हीरा भैया प्रकाशन इन्दौर, पृ० सं० ७६। मूल्य ३ रुपया।

पुस्तक मे लेखक ने सोलह निबन्धो के माध्यम से मन:-स्थितियो पर प्रकाश डालने का उत्तम प्रयास किया है। पुस्तक पढ़ने से मन की स्थितियो के साथ लेखक की आध्यात्मिक रुचि का भी सहज बोध होता है—पुस्तक के प्रारम्भ में मुनि श्री विद्यानन्द जी के आशीर्वचन में सभी निहित हैं—कुछ लिखना शेष नही रहता। पुस्तक उपयोगी है। साधुवाद।

३. जय गुंजार—(स्वाध्याय प्रेमी स्मृति अंक) स्थानक-वासी साधु श्री चांदमल जी म० सा० की बारहवी पुण्य स्मृति के अवसर पर प्रकाशित, 'जय गुंजार' वर्ष ४ का ८९ अक १६६+३०=१९६ पृष्ठो में सजाया गया उत्तम अक है। जो सपादक डा० पी० सी० जैन तथा डा० तेजसिंह गौड़ की जागरूकता का सहज परिचय देता है। अक में साधु जी के विविध प्रसगों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए उन्हें श्रद्धांजलियां भेंट की गई है। मुख्य बात विविध आयामों से स्वाध्याय विषय पर प्रकाश की है, जिससे पाठकों को मार्ग दर्शन की सामग्री उपलब्ध होती है। स्वाध्याय संबंधी लेख मननीय है। संकलन के लिए साधुवाद :

४. मूलचंद किशनदास कापड़िया अभिनंदन ग्रंथ—प्रकाशक : डाह्याभाई कापडिया सूरत। पृष्ठ २३२ मूल्य बीस रुपए।

कापडियाजी के विषय में जो लिखा जाय अल्प होगा। वे जैन समाज के अग्रदूतो में से थे और ऐसे अग्रदूत जो आंधी मेह की परवाह किए बिना पथ पर सदा ही बढ़ते रहे ! जैनमित्र और अन्य प्रकाशनों के माध्यम से तो आपने समाज के उत्थान में योग दिया ही : वे यत्र-तत्र भ्रमण करके भी यथावसर जनता को लाभ देते रहे। धार्मिक और सामाजिक चेतना जाग्रत करने में सेठ माणिकचंद जी व पू० ब्र० शीतलप्रसाद जी के कार्य में भी परम सहयोगी रहे।

उक्त प्रकाशन उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मात्र है। प्रयत्न सराहनीय है। —सम्पादक

(पृष्ठ ३४ का शेषांश)

हो गयी। उसके मिलने का महत्व हं उसकी महिमा हं। छोड़ा तो कंकड़ पत्थर हं उसकी क्या महिमा है कि कितना छोड़ा हं।

यहां पर एक बात ज्यादा गौर करने की है कि किसी व्यक्ति को वास्तव में तो स्व की प्राप्ति अथवा ज्ञाता की उपलब्धि हुई नहीं "परन्तु शास्त्र के शब्दों को पकड़ कर बोलने की कला सीख कर अपने को भ्रम से मान बैठा कि सत्य मिल गया" वह व्यक्ति अपने को ज्ञाता मान लेगा और बाहर में यद्वातद्वा गलत प्रवृति करेगा उसको वास्तव में सत्य उपलब्ध नहीं हुआ। पुस्तक में शब्द रूप सत्य के बारे में पढ़ कर यह समझ लिया है कि सत्य मिल गया वह खतरनाक व्यक्ति सिद्ध होता हं।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

समयसार-कलश-टीका : कविवर राजमल्ल जी कृत ढूंढारी भाषा-टीका का आधुनिक सरल भाषा रूपान्तर : सम्पादनकर्ता : श्री महेन्द्रसेन जैनी। ग्रन्थ में प्रत्येक कलश के अर्थ का विशद-रूप में खुलासा किया गया है। आध्यात्मिक रसिकों को परमोपयोगी है। ७-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

सम्पादन परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २ ५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३ ००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

समयसार-कलश-टीका : कविवर राजमल्ल जी कृत ढूढारी भाषा-टीका का आधुनिक सरल भाषा रूपान्तर : सम्पादनकर्ता : श्री महेन्द्रसेन जैनी। ग्रन्थ मे प्रत्येक कलश के अर्थ का विशद-रूप में खुलासा किया गया है। आध्यात्मिक रसिको को परमोपयोगी है। ७-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

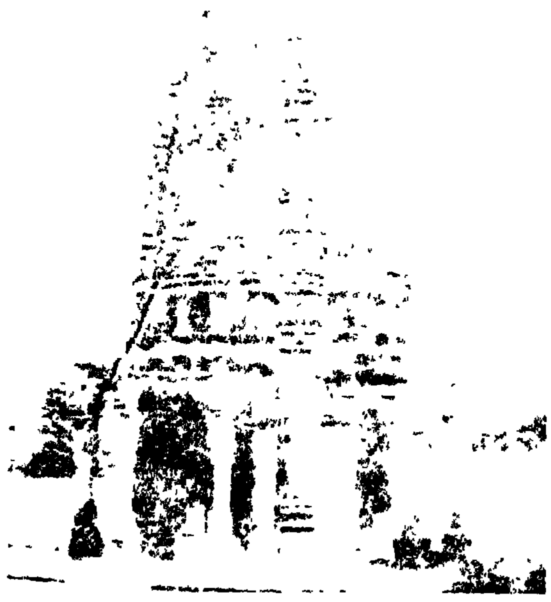
सम्पादन परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३५ : कि० १

जनवरी-मार्च १९८२

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त



[illegible]

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

इस अंक में—

□ □ □

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री रत्नत्रयधारी जैन, ८ जनपथ लेन, नई दिल्ली
राष्ट्रीयता—भारतीय
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक
सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

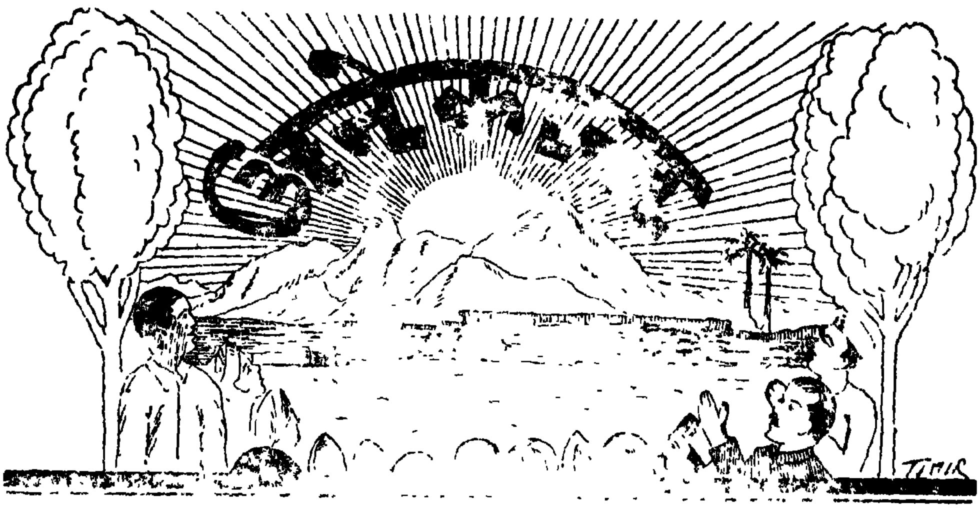
मैं रत्नत्रयधारी जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

रत्नत्रयधारी जैन
प्रकाशक

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादन-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो।

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धासन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३५ किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५०८, वि० स० २०३८ | जनवरी-मार्च १९८२

मन को सीख

"रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन विषय को धावै है ।
इनही के वश तू अनादि तें, निज स्वरूप न लखावै है ॥
पराधीन छिन-छीन समाकुल, दुरगति-विपति चखावै है ॥ रे मन० ॥
फरस विषय के कारन वारन, गरत परत दुख पावै है ।
रसना इन्द्रीवश झष जल में, कंटक कण्ठ छिदावै है ॥ रे मन० ॥
गन्ध-लोल पंकज मुद्रित में अलि निज प्रान खपावै है ।
नयन-विषयवश दीपशिखा में, अंग पतंग जरावै है ॥ रे मन० ॥
करन-विषयवश हिरन अरन में, खल कर प्रान लुभावै है ।
'दौलत' तज इनको, जिनको भज, यह गुरु सीख सुनावै है ॥ रे मन० ॥

— कविवर दौलतराम जी

भावार्थ—हे मन, तेरी यह बुरी आदत है कि तू इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ता है। तू इन इन्द्रियों के वश के कारण अनादि से निज स्वरूप को नहीं पहिचान पा रहा है और पराधीन होकर क्षण-क्षण क्षीण होकर व्याकुल हो रहा है और विपत्ति सह रहा है। स्पर्शन इन्द्रिय के कारण हाथी गढे मे गिर कर, रसना के कारण मछली काँटे मे अपना गला छिदा कर, घ्राण के विषय-गंध का लोभी भौरा कमल में प्राण गँवा कर, चक्षु वश पतगा दीप-शिखा मे जल कर और कर्ण के विषयवश हिरण वन मे शिकारी द्वारा अपने प्राण गँवाता है। अतः तू इन विषयों को छोड़ कर जिन-भगवान का भजन कर, तुझे ऐसी गुरु की सीख है।

धर्मस्थल में भ० बाहुबली

डा० ज्योतिप्रसाद जैन 'विद्यावारिधि

प्राय समस्त प्राचीन भारतीय धर्मों का उदय उत्तर भारत मे हुआ, किन्तु उनके पोषण, विकास एव प्रचार-प्रसार का प्रधान श्रेय दक्षिण भारत को रहा है। वैदिक मत्रो की रचना सरस्वती-यमुना-गगा तटवर्ती ऋषियो ने की तो वेदो के प्रमुख भाष्यकार सायणाचार्य, मेघातिथि आदि दक्षिण मे हुए। वेदान्त के सर्वोपरि प्रस्तोता तथा ब्राह्मण धर्मदर्शन मे नवप्राण सचार करने वाले शकराचार्य और उनके सुयोग्य शिष्य मडन-मिश्र ही नही प्राय अन्य समस्त प्रमुख वेदाचार्य तथा वैष्णवाचार्य दक्षिण भारतीय थे। नागार्जुन, दिड्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर प्रभृति उद्भट बौद्धाचार्य भी दक्षिण मे ही हुए, और प्राय समस्त दिग्गज जैनाचार्य भी, विशेषकर दिगम्बर परम्परा के, दक्षिणी ही थे। इस प्रकार भारतीय सस्कृति, साहित्य एव कला के भारतीय धर्मों एव दर्शनो के सरक्षण, पोषण एव विकास मे दक्षिण भारत का योग-दान उत्तर भारत की अपेक्षा कुछ अधिक ही रहा है, इस कथन मे कदाचित कोई अत्युक्ति नही है।

जैनधर्म का प्रसार दक्षिण भारत मे स्वय आदिपुरुष भगवान ऋषभदेव के समय से ही रहता आया है, यह पुराण प्रसिद्ध तथ्य है। ऐतिहासिक काल मे तो प्राय प्रारम्भ से ही उन भूभाग मे जैनधर्म के अस्तित्व के लक्षय उपलब्ध है। पार्श्व, महावीर युगीन करकडु, जीवंधर आदि परमधार्मिक जैन नरेश दक्षिणात्य थे। चौथी शती ईसापूर्व के मध्य के लगभग अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु द्वादशवर्षीय महादुष्काल का पूर्वाभास पाकर जब अपने १२००० निर्ग्रन्थ मुनि-शिष्यों सहित उत्तर भारत से विहार करके कर्णाटक देशस्थ कटवप्र पर्वत पर पधारे थे, जो उस समय भी एक पवित्र जैनतीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध था, तो यह तभी सभव था जबकि इन प्रदेशो मे जिनधर्म पहले से ही विद्यमान था और उसके अनुयायियो का यहाँ पर्याप्त सख्या मे निवास था। चौबीस तीर्थंकरो मे से अधिकाश की, और विशेष रूप से ऋषभदेव, अजितनाथ, चन्द्रप्रभु, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की विभिन्न कालो की अनगिनत खडित-अखडित मूर्तियो की यत्र-तत्र विद्यमानता दक्षिण भारत मे उक्त तीर्थंकरो की उपासना चिरकाल से चले आने की द्योतक है। किसी भी तीर्थंकर के गर्भ-जन्म-दीक्षा-ज्ञान-निर्वाण कल्याणको मे से एक भी दक्षिण भारत के किसी स्थान मे नही हुआ, अत यहाँ कोई भी कल्याणक क्षेत्र या सिद्धक्षेत्र नही है, तथापि जैन श्रमणो की तपोभूमिया, साधना स्थल, समाधिमरण-स्मारक, गुहमदिर, कलापूर्ण जिनालय, जिनमदिर-नगर, मानस्तम्भ, अतिशय क्षेत्र, कलाधाम और सास्कृतिक केन्द्र कर्णाटक राज्य मे तो पग-पग पर प्राप्त होते ही है आन्ध्र, महाराष्ट्र, तमिल, केरल आदि राज्यो मे भी अनेक है।

कदम्ब, गग, चालुक्य, राष्ट्रकूट, होयसल, विजयनगर, मैसूर आदि प्राचीन एव मध्यकालीन राज्यो का हृद्स्थल सुरम्य कर्णाटक देश अपने सास्कृतिक वैभव के कारण महादेश भारत के अतीत तथा वर्तमान मे भी गौरवपूर्ण स्थान रखता है। इसी कर्णाटक राज मे श्री धर्मस्थल जैसा अद्भुत धार्मिक केन्द्र है, जिसके प्रधान आराध्यदेव तो मजुनाथेश्वर महादेव (शिव) है, किन्तु उनके पुरोहित-पुजारी वैष्णव ब्राह्मण होते है, और सर्वोपरि व्यवस्थापक एव प्रबन्धक 'धर्माधिकारी' उपाधिधारी हेग्गडे है जो जैनधर्मावलम्बी है।

मूलत इस स्थान का नाम 'कुडूमा' था। लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व श्री बर्मण्ण हेग्गडे अपनी धर्मपत्नी श्रीमती अम्मू बल्लालती सहित इस स्थान पर आकर रहने लगे। पति-पत्नी दोनो ही धार्मिक मनोवृत्ति के दानशील जैन सद्गृहस्थ थे। अपने आवास के निकट ही उन्होने अपने इष्टदेव तीर्थंकर चन्द्रनाथ स्वामी का छोटा-सा सुन्दर जिनालय बना दिया। शैवाचार्य अण्णप्पा स्वामी की प्रेरणा

एवं प्रयास से स्थान के मुख्य आराध्य के रूप में मंजुनाथ शिव की स्थापना हुई, तथा शनैः शनैः अन्य देवी-देवताओं के आयतन स्थापित हुए, और १६वीं शती में उडुपि के सोदेमठाधीश्वर वादिराज स्वामी ने इस क्षेत्र का नामकरण 'धर्मस्थल' कर दिया। श्री वर्मण्ण हेग्गडे के वंशज सन्ततिक्रम से इस पुण्यक्षेत्र के धर्माधिकारी होते रहे, जिनकी अब इक्कीसवीं पीढ़ी चल रही है।

प्रायः सभी जातियों, धर्मों एवं सम्प्रदायों के भक्तजन बड़ी संख्या में इस क्षेत्र की यात्रा करते हैं जिसके कारण उसकी आय भी प्रभूत है। राज्य का संरक्षण एवं प्रश्रय भी सदैव प्राप्त रहा। हेग्गडे धर्माधिकारियों ने इस क्षेत्र के साथ स्वयं को आत्मसात किए रखा है, और उसकी समस्त व्यवस्था, विविध धर्मोत्सवों के आयोजन तथा सार्वजनिक हित एवं जनकल्याणकारी अनेक प्रवृत्तियों को कार्यान्वित किया है। उनकी समर्पित एकनिष्ठ साधना एवं लगन के फलस्वरूप स्वयं उनका तो गौरवपूर्ण एवं प्रतिष्ठित स्थान बना ही, क्षेत्र की भी सर्वतोमुखी उन्नति होती आई है। 'वसन्त महल' नामक अतिभव्य सभागार की अनेक उत्तम कलाकृतियां स्व० मंजय्या हेग्गडे द्वारा निर्मित एवं निर्मापित हैं। वर्तमान शती के प्रारम्भिक दशकों में राजा चन्दैया हेग्गडे सन्तानक्रम से १८वें या १९वें धर्माधिकारी थे। वह बड़े प्रतिष्ठित एवं राज्यमान सज्जन थे उनके उत्तराधिकारी श्री रत्नवर्म हेग्गडे को धर्मस्थल के नवनिर्माण का प्रमुख श्रेय है। अपनी धर्मपत्नी श्रीमती रत्नम्मा जी की प्रेरणा से उन्होंने धर्मस्थल में भगवान बाहुबली के विशाल विग्रह की स्थापना का संकल्प किया और उसके कार्यान्वयन में वह मनोयोग से जुट गए। सन् १९६७ ई० में कार्कल के शिल्पी श्रेष्ठ रेंजाल गोपाल शैणै की देखरेख में लगभग एक सौ कारीगरों ने ३९ फुट उत्तुंग प्रस्तर प्रतिमा का निर्माणारम्भ किया जो १९७३ में पूर्ण हुआ। तदनन्तर उसे कार्कल से धर्मस्थल स्थानांतरित किया गया जो एक अति दुस्तर एवं व्ययसाध्य कार्य था। दुर्योग से रत्नवर्म जी हेग्गडे का स्वर्गवास हो गया, किन्तु उनके सुयोग्य पुत्र एवं उत्तराधिकारी, धर्मस्थल के वर्तमान धर्माधिकारी श्री वीरेन्द्र हेग्गडे ने पिता के अधूरे छोड़े कार्य को भरपूर लगन के साथ पूरा किया। गत ४ फरवरी १९८२ को विशाल पैमाने पर धर्मस्थल के उक्त भ० बाहुबली का प्रतिष्ठापना एवं प्रथम महामस्तकाभिषेक महोत्सव सम्पन्न हुआ है।

वर्तमान कर्मभूमि के आदियुगीन महामानव भ० बाहुबली के विशालकाय उत्तुंग विग्रह प्रतिष्ठापित करने की जिस परम्परा का एक सहस्र वर्ष पूर्व मंत्रीश्वर चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोल में ॐ नम किया था, उसकी सहस्राब्दि का समुपयुक्त समापन धर्माधिकारी श्री वीरेन्द्र हेग्गडे ने इस उत्तुंग प्रतिमा की धर्मस्थल के बाहुबली विहार में प्रतिष्ठापना द्वारा किया है, जिसके लिए वह साधुवाद के पात्र हैं। भ० बाहुबली की विशालकाय मूर्तियों में धर्मस्थल की इस प्रतिमा का छठा स्थान है, किन्तु आकार की दृष्टि से तीसरा है—केवल श्रवणबेलगोल (५७) फुट और कार्कल (४२) फुट की मूर्तियाँ ही धर्मस्थल की इस मूर्ति से अधिक विशाल हैं, शेष समस्त दक्षिण एवं उत्तर भारतीय बाहुबली मूर्तियाँ आकार में उससे छोटी हैं।

एलाचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज के आशीर्वाद एवं सानिध्य, श्रवणबेलगोला के भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामी जी की अध्यक्षता और साहू श्रेयांस प्रसाद जी तथा सेठ लालचन्द्र हीराचंद दोशी आदि के सक्रिय सहयोग से धर्मस्थल के इस महोत्सव ने आशातीत सफलता प्राप्त की है। - ज्योति निकुंज, चार बाग, लखनऊ

अभिनन्दन

दिनांक ६ फरवरी १९८२ को लखनऊ में इतिहास मनीषी डा० ज्योतिप्रसाद जैन विद्यावारिधि की सप्तति-पूर्ति के उपलक्ष्य में अनेक मान्य विद्वान् तथा इष्टमित्रों ने डा० सा० का अभिनन्दन किया तथा डा० सा० के कार्यों को सराहा। उपयोगी विचारगोष्ठी हुई तथा 'ज्योतिनिकुंज' में 'पुरातत्त्व के माध्यम से इतिहास शिक्षा' प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। डा० सा० की धर्म और समाज के प्रति अनगिनत सेवाएँ हैं। 'अनेकान्त पत्रिका' के माध्यम से भी डा० सा० समाज को काफी देते रहते हैं। इस पुनीत अभिनन्दन के लिए वीर सेवा मन्दिर की ओर से डा० सा० के शत-शत अभिनंदन! □□

ब्रह्म जिनदास सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य

□ श्री अगरचन्द नाहटा

दिगम्बर, सम्प्रदाय के मरुगुर्जर और हिन्दी भाषा के जैन कवियो मे १६वी शताब्दी के ब्रह्मजिनदास रास-शिरोमणि एव महाकवि माने जाते है। उनके सम्बन्ध मे डा० प्रेमचन्द रावका ने डॉ नरेन्द्र भानावत के निर्देशन मे शोध प्रबन्ध लिखा है जो अभी-अभी श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर से डा० कस्तूरचद जी कासलीवाल के प्रयत्न मे प्रकाशित हुआ है। डा० प्रेमचन्द रावका ने अपनी ओर से काफी श्रम करके इस शोध प्रबन्ध को तैयार किया है। एवं श्री महावीर अकादमी ने जो २० भागों में १६वी शताब्दी से २०वी शताब्दी तक के कवियो सम्बन्धी जानकारी उनके रचनाओं के प्रकाशन की योजना बनायी है, उसके अन्तर्गत 'महाकवि ब्रह्म जिनदास व्यक्तित्व एवं कृतित्व' के नाम से डा० प्रेमचन्द रावका का प्रस्तुत शोध प्रबन्ध प्रकाशित किया है। उसमे २८० पृष्ठ तो उनके शोध प्रबन्ध के है। उसके बाद पृष्ठ २८१ से ४१० (१३० पृष्ठों मे) ब्रह्म जिनदास की कई रचनाएँ मूलरूप मे तथा कई आंशिक रूप मे प्रकाशित की गई है। आधारभूत ग्रन्थों की सूची मे ११४ ग्रन्थो एव पत्रिकाओ की नामावलि दी गई है। उसके बाद नामानुक्रमणिका एव शुद्धिपत्र है। प्रारम्भ मे प्राथमिक वक्तव्य, डा० नरेन्द्र भानावत का प्राक्कथन और डा० रावका की प्रस्तावना और विषयानुक्रम है। प्रस्तुत ग्रन्थ की १ प्रति मुझे सम्मत्यर्थ डा० कासलीवाल ने भिजवायी है। अत सक्षिप्त मे अपने विचार, सुझाव एवं संशोधन इस लेख मे प्रकाशित कर रहा हू। आशा है इससे कुछ नयी जानकारी भी प्रकाश मे आयगी।

'ब्रह्म जिनदास' का जन्म सकलकीर्ति रास के अनुसार पाटण मे हुआ था। क्योंकि भट्टारक सकलकीर्त्ति के ये छोटे भाई और गुरु थे। सकलकीर्त्ति भी अच्छे साहित्यकार हुए है उन्ही की तरह ब्रह्म जिनदास ने, संस्कृत और लोक-भाषा मे बहुत-सी रचनाए की है। राजस्थान और गुजरात के मिलेजुले बागड प्रदेश मे उनका विचरण हुआ है। अत प० जी राजस्थानी-गुजराती दोनो भाषाओ के कवि माने जा सकते है। पर मेरी राय मे ये हिन्दी के कवि नही हैं, क्योकि हिन्दी भाषा से राजस्थानी एव गुजराती अलग व स्वतन्त्र भाषाए है। ब्रह्म जिनदास को महाकवि कहा गया है, क्योंकि इनकी ३ रचनाएं—(१) आदिनाथ रास (२) रामरास (३) हरिवश पुराण रास, इन तीनो का ग्रन्थ परिमाण काफी बडा है पर ये तीनो रचनाएँ महाकाव्य की कोटि मे नही आती। ये कथा या चरित्र-काव्य है पर काव्य शास्त्र मे जो महाकाव्य के लक्षण बतलाये हैं, वैसी इन तीनो रचनाओं का विषय बहुत व्यापक एव बड़ा है। मूल पुराण या चरित्र ग्रन्थ जिनके आधार से इनकी रचना हुयी है, वे बड़े परिमाण वाले हैं इसी से इनका परिमाण बढ़ जाना स्वाभाविक ही है।

ब्रह्म जिनदास को 'रास शिरोमणि इसलिए कहा गया है कि इन्होंने रास सज्ञक रचनाएं अधिक सख्या मे रची है। पर वास्तव मे ये कथा ग्रन्थ ही है। ७० रचनाओ मे से ४० रचनाएँ ही 'रास' सज्ञक हैं और ७० रचनाओ मे से ३३ रचनाएँ तो बहुत छोटी-छोटी हैं जिनका परिमाण १०० पद्यो से भी नीचे का है। कुछ रचनाएँ तो ५-७-१५-२० गाथाओं की ही है। ऐसी रचनाओं का तो केवल सख्या को बढ़ाने की दृष्टि से ही भले ही महत्व हो, पर काव्य की दृष्टि से खास महत्व नही है। समग्र ग्रन्थ परिमाण भी ३० हजार ग्रन्थाग्रन्थ ८३२ अक्षरी अनुपम क्षेत्र का है जो इतनी लम्बी आयु को देखते हुए अधिक नहीं कहा जा सकता।

ब्रह्म जिनदास और उनके गुरु भट्टारक सकल[1] कीर्त्ति

---

१. सकलकीर्ति एव उपलकीर्ति का भी यथा ज्ञातविवरण देना चाहिये था। सकलकीर्ति का जब जन्म सं० १४४३ दिया हुआ है तो स० १४३७ या २३ मान्य नही हो सकता।

और भुवनकीर्त्ति विशेष रूप से जहाँ रहे और उनकी भट्टारक गद्दी जिस स्थान पर थी, उसका पता लगाना बहुत ही जरूरी था। क्योंकि वही उनकी रचनाओ की प्राचीनतम प्रतियाँ व सर्वाधिक रचनाएँ मिलनी सभव है। पर वहाँ पर अभी तक खोजही नही की गई, अन्यथा बहुत-सी और महत्व की रचनाएँ और ब्रह्म जिनदास के जीवन सम्बन्धी विशेष जानकारी मिलनी सभव थी। ब्रह्म जिनदास की छोटी रचनाएँ तो और भी बहुत-सी मिलनी चाहिये क्योंकि कवि ने लम्बी आयु पायी। और उनका मुख्य काम साहित्य-निर्माण का ही प्रधान रूप से रहा है। भट्टारको के साथ ब्रह्मचारी रहते और विचरते रहे है, उनकी अलग अलग से कोई जिम्मेवारी प्राय नही रहती। आने-जाने वाले लोगो से मिलना और उपदेश देना, धार्मिक प्रवृत्तियो के लिए प्रेरणा करना ये सभी काम भट्टारक स्वय करते हैं। तथा उनके साथ रहने वाले ब्रह्मचारियो को साहित्य रचना आदि के लिए काफी समय मिल जाता है। मैं जयपुर गया तब मुझे जो ब्रह्म जिन दास की रचनाओं का सग्रह-गुटका दिखलाया गया था, मेरे ख्याल से उस एक गुटके मे ही कवि की छोटी-मोटी ३०-४० रचनाएँ होगी। इस दृष्टि से रावका जी ने यदि अधिक भण्डारो का अवलोकन किया होता तो बहुत-सी और भी रचनाए मिलनी सभव थी। मुझे ताजुब होता है कि नागौर के भट्टारकीय भण्डार का भी उन्होने उपयोग नही किया, जबकि वह दिगम्बर शास्त्र भण्डारो मे सबसे बडा है और नागोर कोई दूर भी नही है। इसी तरह ब्यावर के सरस्वती भवन के ग्रन्थ संग्रह का भी उपयोग किया नही लगता। इसलिए उनकी खोज मे तो अधूरी ही मानता हूं, खैर! जो भी, मेरे जितना भी कर सके, अच्छा ही है मैंने थोडी-सी खोज की तो मुझे ऐसी रचनाओं की जानकारी मिल गई, जिनका उल्लेख रावका जी ने अपने शोध प्रबन्ध मे नही किया है। साधारणतया 'ब्रह्म जिनदास' की रचनाएँ श्वेताम्बर भण्डारो मे अधिक नही मिलती, विशेषत. बीकानेर जैसलमेर आदि पश्चिमी राजस्थान के श्वेताम्बर भण्डारो में। पर कवि की रचनाओ की भाषा गुजराती प्रधान होने से गुजरात के श्वेताम्बर भण्डारो मे तो मिलनी ही हैं। और उन रचनाओं की प्रतियों का उल्लेख स्वर्गीय मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने 'जैन गुर्जर कवियों' के भाग १ खण्ड ३ में वर्षों पूर्व किया है। आश्चर्य है डा० प्रेमचन्द रावका ने ऐसे प्रसिद्ध ग्रन्थ का भी उपयोग नही किया। ब्रह्म जिनदास की ४ रचनाओ का उल्लेख जैन गुर्जर कवियों भाग १ पृष्ठ ५३ मे और ५ ऐसी रचनाओ का उल्लेख जो भाग १ के बाद ज्ञात व प्राप्त हुयी उनका विवरण जैन गुर्जर कवियों भाग ३ के पृष्ठ ४७६ मे किया गया है। पहले भाग में केवल हरिवश रास एव श्रेणिकरास आदिअत छपा था यशोधर रास, आदिनाथ रास का आदिअन्त विवरण भाग ३ मे छपा है। तीसरे भाग में हनुमन्तरास, समकित रास और सासरवासो रास की प्रतियाँ तो डा० रावका को अन्य भण्डारो मे मिल गई, पर करकण्डु रास एव धर्म पच्चीसी की जानकारी उनको नही मिल सकी। अतः इन दोनो रचनाओं का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

करकडु रास (पूजा फल पर)

आदि—वीर जिणेसर प्रणमीने, सरसती स्वामिणि देवि,
श्रीसकलकीरति गुरु वादिसु, वली भुवकीरति मुनि देव।१
तह्म परसादे निरमलो, रास करु अति चग।
पूजा फलह वेवरणवु, मनि धरि भाव उतग ॥२
अत—अचल ठाम देउ निरमलो, सजने स्वामी देव,
हूं दास छउ तम्ह तणो, जनमि जनमि करु सेव ॥१
श्री सकलकीरति गुरु प्रणमीने, मुनि भुवनकीरती भवतार।
रासकीयो मे रूवडो, ब्रह्म जिनदास कहे सार ॥२
पठइ गुणई जे साभले, मन धरि अविचल भाउ।
मन वाछित फल तेलहे, पामें सिवपुरि ठाउ ॥३
धनद नाम गोवलीयो, एक कमल करि चग।
पूज्या जिणवर मुनिरली, फल पाम्या उत्तग ॥४
ये कथा रस साभलि, भवियण सयल सुजाण।
पूजो जिणवर मनिरली, असट पगारि गुण भान ॥५
एक कमल फलविस्तर्यो, सरग मुगति लगि चग।
अनुदिन जे जिन पूजीसे, तेहने फल उत्तंग ॥६
साचो धरम सुहावणो, थोडो कीजे सहून।
वड बीज जिमि रूवडो, फल दीसे अनन्त ॥७
इति करकंड महामुनीश्वरनीकथा पूजाफलस समाप्त।स.श.

(शेष पृष्ठ ६ पर)

राम का वन गमन : स्वयंभू और तुलसी

□ डा० देवेन्द्रकुमार जैन

राम के वन गमन की भूमिका तब शुरू होती है, जब बुढ़ापे के कारण दशरथ के मन में राजपाट राम को सौंपने का विचार आता है। स्वयंभू के पउमचरिउ मे दशरथ को बुढापे की अनुमति उस समय होती है जब प्रतिहार अपने बुढापे का वर्णन करता हुआ, गधोदक समय पर न पहुचाने की अपनी लाचारी का उल्लेख करता है।—

हे देव मेरे दिन चले गए, यौवन ढल चुका है। जरा, पहले की आयु को सफेद करती हुई चली आ रही है, और असती की तरह मेरे सिर से आ लगी है। गति नष्ट हो चुकी है। हड्डियो के जोड बिखर गए है कान सुनते नही आखे देखती नही। सिर कापता है। मुह मे वाणी लडखडाती है। दात जा चुके है। देह की कीर्ति फीकी पड गई है। रक्त गल गया है। केवल चमडी बची है, मैं ऐसा ही हूं जैसे मेरा दूसरा जन्म हो। अब मेरे पैरो मे पहले जैसा पहाडी नदी का वेग नही है। मैं कैसे गधोदक सब दूर पहुचाता।

"गय दियहा जोव्वणु ल्हसि उ देव,
पढमाउसु जट धवलन्ति आय।
पुणु असइ इव सीस वलग्ग जाय॥
गइ तुट्टिय विहडिय सधिबंध।
ण सुणन्ति कण्ण लोयण विरध॥
सिरु कंपइ मुहे पक्खलइ वाय।
गय दन्त सरीर हो णट्ठ छाय।
परिगलिउ रुहिरु थिउ णवर चम्मु॥
महु एत्थु जे हुउ ण णवर जम्म।
गिरिणइ-पवाह ण वहन्ति पाय,
गंधोवउ पावउ केम राय॥" २२/२

सुन कर दशरथ को लगता है कि एक दिन ऐसी हालत मेरी भी होगी। मैं राम को राजपाट देकर अपना तप साधूगा। अप्पुणु तउ कराम। राम को राज्य मिलने पर कैकेयी जल उठती है वह सीधे अपनी अलकृत वेषभूषा मे दरबार मे जाकर राजा से कहती है—यह वह समय है कि जब आप मेरे बेटे को राज्य का अनुपालक बनाएँ। दशरथ ने राम और लक्ष्मण को बुलाकर कहा—तुम यदि मेरे बेटे हो तो छत्र सिंहासन और धरती भरत को दे दो, हालांकि मैं जानता हूँ कि भरत भव्य और त्यागी है। 'चरिउ' के अनुसार भरत इस समय अयोध्या मे ही थे। उन्हे यह बताया जाता है कि उन्हे राज्य का प्रमुख बनाया गया है तो वे आपे मे बाहर हो उठते है। वह कैकेयी और दशरथ को भला बुरा कहते है। बूढ़े पिता दशरथ ने उन्हें यह आदेश दिया कि दुनिया के इतिहास मे तीन बातें लिखी जाएँ—भरत को राज्य, राम को वनवास और मुझे प्रव्रज्या। राम भी भरत मे यही अनुरोध करते है! आखिर दोनो के आगे भरत को झुकना पडा। राम तब उस राजपट्ट को बाँध कर लक्ष्मण और सीता देवी के साथ वन के लिए कूच कर गए। दशरथ शोक मे मग्न है कि मैने राम को वनवास क्यो दिया? क्या मैने ऐसा कर प्राकृतिक सत्य का ही पालन किया है। यह प्रकृति अपने प्राकृत सत्य पर टिकी हुई है। क्योकि—'सच्चु महंतउ सव्वहो पासिउ।' सबकी तुलना मे सत्य महान् है। राम पैदल माँ कौशल्या के पास जाते है। उन्हे इस तरह आते देख वह हैरान है, हताश वह कारण पूछती है, उत्तर मिलता है—मैंने भरत को सारा राज्य समर्पित कर दिया? वह यह नही बताते—क्यों और कैसे? जो सौप दिया उसके कारणो को गिनाने मे लाभ भी क्या था? कौशल्या फूट-फूट कर रोती हुई कहती है—

"हा हा काइ वुत्तु पइ हलहर,
दस रह वस दीव जग सुंदर।
पइ विणु को चप्रेराइ,
पइ विणु को किंदुएण रमेराइ॥"

हा राम हा राम (हलधर) तुमने यह क्या किया? दशरथ कुल दीपक और विश्वसुंदर तुम्हारे बिना कौन हय गज पर बैठेगा, तुम्हारे बिना कौन गेंद से खेलेगा?

राम माता को समझाते हैं—

धीरिय होहि माए किं रोवहि,
तुहि लोयण अप्पाणु म सोयहि।

जिह रविकिरणें हिं ससि ण पहावइ,
तिह मइ होंते भरहु ण भावइ।
तें कज्जें वणवासे वसखउ ॥"
"तायहो तणउ सच्चु पालेवउ।
दाहिणदेसे करेविणु थत्ति,
तुम्हह पासे एइ सोमित्त ॥' २३/८

हे मा धीरज धारण करो, क्यों रोती हो? आंखे पोंछो, अपने को शोक मे मत डालो। जिस प्रकार सूर्य की किरणो के सामने चन्द्रमा नही चमकता, उसी तरह मेरे रहते हुए प्रजा को भरत अच्छा नही लगता। इस कारण मैं वनवास करना चाहता हूं। मै पिता के सत्य का पालन करूँगा, दक्षिण देश मे निवास कर! लक्ष्मण तुम्हारे पास आएगा।

यह कह कर राम समस्त परिजनो से पूछ कर चल दिए। उनके जाते ही सीता देवी राजभवन से निकली। कवि स्वयभू की कल्पनाए है —

"ण हिमवनहा गग महाणइ।
ण छदहो णिग्गय गायत्ती ॥
ण सद्दहो णीसरिय विहत्ती।
णाइ कित्ति सप्पुरुष-विमुक्की।
णाइ रभ णियप्पाणहो चुक्की।" २३/६

अपने भवन से जानकी इस तरह निकली, जैसे हिमालय से गगा निकली हो, जैसे छद मे गायत्री निकली हो, मानो शब्द से विभक्ति निकली हो, जैसे सज्जन से मुक्त उसकी कीर्ति हो जैसे अप्सरा रभा अपने स्थान से चूक गई हो!

सीता माताओ से पूछ कर राम के साथ हो ली। राम के वन गमन की बात सुन कर लक्ष्मण विद्रोह कर देता है। वह राम से कहता है कि मै अभी भरत को पकड़ता हूं और आपको असामान्य राज्य देता हू।" राम उसे समझाते है—ऐसा राज्य करने मे क्या लाभ जिसमे पिता के सत्य का नाश होता हो, मैं सोलह वर्ष वनवास के लिए जाऊगा।

दोनो के सवाद के बीच सूर्य डूबता है, और साझ आती है; कवि उसके दृश्य पट पर मानवी अनुभूतियो की भयावहता के चित्र अकित करता है—

णाइ सझ आरत्त पदोसिय।
ण गयघड-सिन्दूर-विहूसिय ॥
सूर मस-रुहिटा लि चच्चिय।
णिसियरिव्व आणदु पणच्चिय ॥
गहिय सझ पुणु रयणि पराइय।
जगु गिलेइ ण सुत्त महाइय ॥ २३/६'

सध्या हो गई वह लाल दिखाई दी मानो सिंदूर से लाल, गजघटा हो, मानो सूर्य के मास और रक्तधारा से अलकृत हो। वह निशाचरी की तरह आनद मे नाच उठी, सध्या चली गई, फिर रात्रि आ पहुची जैसे वह सोते हुए विश्व को निगल जाना चाहती है।

राम अयोध्या से चल कर पास के एक जिन-मन्दिर मे ठहरते है। रात्रि मे मिथुन द्वन्द्व देखते हुए —राम आगे बढते है। दूसरे दिन सवेरे जब लोगो को मालूम होता है कि राम वनवास के लिए चले गए है, तो सैन्य और वे पीछे लगते है। तब तक राम गभीर नदी के किनारे पहुंच जाते है। सेना को वापस करते हुए वे—सीता देवी को हाथ पर बैठा कर नदी पार कर जाते है।

राम लक्ष्मण और सीता से सूनी अयोध्या नर-नारियो को अच्छी नही लगती। अयोध्या के राज-परिवार मे सबसे अधिक दुखी व्यक्ति है —भरत (पउमचरिउ के अनुसार भरत राम के वन गमन के समय अयोध्या मे ही थे) वनवास की बात सुन कर वह मूछित हो जाते है? होश मे आने पर, वह सबसे पहले कौशल्या के पास जाते है, और कहते है कि मा तुम व्यर्थ क्यो रोती हो, मै राम को ढूढ कर लाता हू। भरत अयोध्या से निकलता है कई दिना तक भटकने के बाद, एक लतागृह मे भरत राम के दर्शन करते है। भरत उनसे लौटने का अनुरोध करता है इसी बीच कैकेयी वहाँ आ जाती है। भरत राम से प्रस्ताव करता है कि तुम वैसे ही अयोध्या का राज करो जैसे इन्द्र सुरलोक मे करता है।

कैकेयी के सामने राम पूरी दृढता से अपना कथन दुहराते है —

ण दिण्णु सच्चु ताए तिवार,
त मइ वि दिण्णु तुम्ह ममवार।
एउ वयणु मणेप्पिणु सुह समिद्ध,
सइ हत्थें भरह पट्टु बद्धा ॥

पिता ने जो सत्य तुम्हे तीन बार दिया है, वह मैंने सौ बार दिया—यह कह कर राम ने कल्याणमय राजपट्ट भरत के बाँध दिया। (हालांकि इसके पहले वे अयोध्या मे यह कर चुके थे। राम वहां से चल देते है, भरत और शत्रुघ्न धवल मुनि के पास जाकर यह प्रतिज्ञा करते हैं कि राम के वनवास से लौटने पर, वे उन्हे राज्य वापस देकर संन्यास ग्रहण कर लेंगे। इसके बाद राम की वन यात्रा शुरू होती है !

मानस मे दशरथ को बुढापे की अनुभूति, दर्पण में कनपटी के ऊपर सफेद बाल दिखने से होती है। उन्हे लगता है कि सफेदी के बहाने बुढापा कह रहा है—

"नृप अब राज राम कहुं देहू।
जीवन जनम लाभ किन लेहू ॥ अयो०/२

वसिष्ठ के प्रस्ताव पर पंचो की सहमति से जब राम के राज्याभिषेक की घोषणा होती है तो देवताओ मे हड़कप मच जाता है, वे सरस्वती के माध्यम से मथरा की बुद्धि भ्रष्ट करते है। उत्सव के प्रसग से उसका हृदय जल उठता है—

राम तिलक सुन उर भा दाहू। अयो०/१२

मथरा भरत की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुए, आखिरकार कैकेयी को वर मागने के लिए राजी कर लेती है। कोपभवन मे पहुच दशरथ जब, कैकेयी से क्रोध का कारण पूछने है तो वह कहती है—

१. देहु एक वर भरतहि टीका।
× × ×
२. तापस वेषि विसेष उदासी।
चौदह बरस राम वनवासी ॥

यह सुन कर दशरथ मूर्छित है, राजा के रात भर तडपने की उस पर कोई प्रतिक्रिया नही होती। सुमत्र किसी तरह रहस्य का पता लगा कर राम को जब वर्ग के बारे में बताते हैं तो वे अपने को बडभागी मानते हैं कि पिता की आज्ञा मानने का अवसर मिला। जाने पर दशरथ, राम को बार-बार गले लगाते है। सबसे पूछ कर जब राम वन गमन करते हैं, तो दशरथ और कौशल्या को सीता की चिन्ता सबसे अधिक है। कुल मिला कर अयोध्या में प्रतिक्रिया यह है—

राम चलत अति भयउ विषादू।
सुनि न जाइ पुर आरत नादु ॥

सुमंत्र उन्हें छोड़ने जाता है, राम का अन्तिम पड़ाव भृंगवेरपुर में है, वहां उनकी भेंट निषादराज से होती है जो उनका स्वागत करता है। वह सारे कांड के लिए कैकेयी को दोषी मानता है। रात भर राम के गुणों का गान करते हुए सबेरा हो जाता है।

कहत राम गुन भा भिनुसारा।
जागे जगमंगल सुखदारा ॥ अयो० ६४

भृंगवेरपुर में जनता की वापसी के साथ, राम नाव से गंगा पार करते है। चित्रकूट में कोल किरात राम का स्वागत करते है। तुलसी के अनुसार राम वनगमन का वास्तविक प्रारंभ चित्रकूट से समझना चाहिए।

कहेउ राम बन गवनु सुहावा।
सुनहु सुमत्र अवध जिमि आवा ॥२॥

निषादराज जब अपने ठिकाने आता है तो उसे अकेला देख कर सुमंत्र पछाड़ खाकर धरती पर गिर पडता है। निषादराज के समझाने पर सुमत्र जब अयोध्या लौटता है तो उसे लगता है कि जैसे मा बाप की हत्या करके आ रहा है। ग्लानि की तीव्रता से उसके मुंह का रग उड चुका है। वह व्याकुल दशरथ को वन यात्रा का वृत्तान्त सुनाता है। सुनाते-सुनाते उसका वचन रुक जाता है—

अस कहि सचिव, वचन रहि गयऊ।
हानि ग्लानि सोच बस भयऊ ॥ अयो० १५३

यह देख कर राजा के प्राण पखेरू उड़ जाते है।

भरत को ननिहाल से बुलाया जाता है। आशकाओं और अपशकुनों के बीच, भरत अयोध्या मे प्रवेश करते हैं वह जो कुछ सुनते हैं उसकी प्रतिक्रिया है आक्रोश, घृणा आत्मग्लानि और पश्चात्ताप। कौशल्या उन्हे वनगमन की सारी पृष्ठभूमि बताती है। राजसभा की मत्रणा और परामर्श के बावजूद भरत चित्रकूट जाकर राम से मिलते हैं। चित्रकूट की सभा के विवरण का विश्लेषण स्वतंत्र विषय है। उसका निष्कर्ष यह है—

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही।
साकत भरत सीस धरि लीन्हीं ॥

इस प्रकार चरिउ और मानस में यह तथ्य समान है कि सारा बखेड़ा उस समय खड़ा हुआ जब बुढ़ापे के कारण दशरथ ने राम को युवराज बनाने की घोषणा की। चरिउ में कैकेयी सीधे दरबार में जाकर वर मांगती है जब कि 'मानस' में मंथरा के उकसाने पर वह ऐसा करती है चरिउ में राम को युवराज बनाए जाने की घोषणा के समय भरत अयोध्या में थे, जबकि 'मानस' के अनुसार ननिहाल में। दोनों कवि स्वीकार करते हैं कि 'प्राकृतिक सत्य' की रक्षा के लिए, राम ने सहर्ष वन जाना स्वीकार किया। प्राकृतिक सत्य से यहाँ अभिप्राय वचन सत्य या मर्यादा सत्य से है। "चरिउ' में दशरथ, राम वन गमन के बाद जैन-दीक्षा ग्रहण करते है जबकि 'मानस' में सुमंत्र के लौटने के बाद दशरथ की मृत्यु हो जाती है। दोनों कवि स्वीकार करते है कि भरत, जहाँ वर मांगने के लिए कैकेयी को भला-बुरा कहते है, वही कौशल्या के प्रति सद्भाव व्यक्त करते है। तथा राम को वापस लाने के लिए जाते है। 'चरिउ' में राम अयोध्या से पैदल जाते है, 'मानस' में रथ में बैठ कर, बाद में वे उसका परित्याग करते है। स्वयंभू कैकेयी के प्रस्ताव से उत्पन्न विषाद और आक्रोश की छाया एवं सध्या की प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर अंकित करते है। जबकि तुलसी मानवी भावनाओं के उतार-चढाव में भरत की आजीवन अनासक्त वृत्ति, त्याग और उदात्तता को लेकर। दोनों कवि एकमत है, भले ही उसके मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक कारण अलग-अलग हो।

शांति निवास, ११४ उषानगर,
इन्दौर-४५२००६

□□

(पृष्ठ ५ का शेषांश)

(२) धर्म पच्चीसी कडी २७

दोहा —भवि-कमल-रवि सिद्ध जिन, धर्म धुरंधर धीर।
नमन सनिंद ! जगतमहरण नमो त्रिविध गुरुवीर ॥१

चौपाई—मिथ्या विषय में रत जीव, तातैं जग में भवें सदीव,
विविध प्रकार गहै परजाय, श्री जिन धर्मनी नेक सुहाय।२

दोहा —बुध कुमुद ससि सुखकरण भव दुख सागर जान।
कहे ब्रह्म जिनदास यह, ग्रन्थ धर्म की खान।
धारण ! नरं वाचं सुनं, मन में करं उछाह,
ते पावे सुख सासते, मनवांछित फल लाहि।

छपनितकृत तत्वसार भाषा साथेनी प्रत (पक्ष) पत्ति ११ न० ३५-३ आत्मानन्द सभा, भावनगर।

(जैन गुर्जर कवियो भाग ३ के पृष्ठ ८७६)

ब्रह्म जिनदास के २ रास अब से ५३ वर्ष पहले छप भी चुके है। पर उनकी जानकारी डा० रावका को नहीं मिली लगती। मूलचन्द किसनदास कापडिया, सूरत ने दिगम्बर जैन गुजराती साहित्योद्धारक फण्ड के ग्रन्थ न २-३ में ब्रह्म जिनदास रचित (१) श्रीपाल महामुनिरास और (२) कर्म विपाक रास, वीर सवत २४५३ में गुजराती लिपि में ५०० प्रतियां प्रकाशित की गई और लागत मूल्य १ रुपये चार आना रखा गया था— ब्रह्म जिनदास का जन्म सवत आदि कुछ भी विवरण नहीं मिलता। उनके बड़े भ्राता और गुरु सकलकीर्ति ने सवत १४८१ में मूलाचार प्रदीप की रचना भाई के अनुग्रह से की। केवल इसी आधार से डा० रावका ने ब्रह्म जिनदास का जन्म सवत १४५० के लगभग का माना है। पर मेरी राय में १४६० के करीब होना चाहिये। ब्रह्म जिनदास की दो ही रचनाओं में सवत मिलता है। स० १५०८ और १५२०। उसे देखते हुए रावका ने हरिवंश पुराण के रचना के समय उनकी आयु ७० वर्ष की मानी है, पर मेरी राय में उस समय ६० वर्ष से अधिक की आयु नहीं होनी चाहिये। रावका जी ने ब्रह्म जिनदास की प्राकृत सस्कृत रचनाओं के केवल नाम ही दे दिये है, यह मै शोध प्रबन्ध की बड़ी कमी मानता हू। उन रचनाओं का विवरण भी देना चाहिए था तभी कवि का व्यक्तित्व एव कृतित्व का लिखा जाना पूरा माना जायगा। कृतित्व में उनका समावेश है ही। —नाहटो की गवाड़, बीकानेर

जैन भूगोल : कुछ विशेषतायें[1]

□ डॉ० रमेशचन्द जैन

जैनों के अनुसार विश्व नित्य है, इसका कोई उत्पत्ति आदि और अन्त नही है। यह विश्व दो भागो मे विभाजित है—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश मे सभी द्रव्य हैं। आलोकाकाश में केवल आकाश है। जैनो ने गति और स्थिति के नियामक धर्म और अधर्म दो द्रव्य अलग से माने हैं। जिन्हे अन्य किसी दर्शन ने नही माना है। आलोकाकाश पूरी तरह किसी वस्तु के द्वारा अप्रवेश्य है, चाहे वस्तु आत्मा हो या पुद्गल (Matter)। पृथ्वी मण्डल मध्य के अधोभाग मे है। नीचे नरक हैं। ऊपर स्वर्ग है। सारा संसार घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय नामक वायु की मोती पर्त के सहारे स्थित है। जैन विचारको ने विश्व के विस्तार का माप भी दिया है। यह श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार २३९ राजू घनाकार तथा दिगम्बरो के अनुसार ३४७ राजू घनाकार है। पृथ्वी अतिगोल (गेंदाकार) है। सूर्यप्रज्ञप्ति में कहा गया है कि जब दिन का समय १८ मुहूर्त होता है तो पृथ्वी के प्रकाशित होने का क्षेत्र ७२ हजार योजन होता है। जब दिन का समय १२ मुहूर्त होता है तो प्रकाशित पृथ्वी का क्षेत्र ४८ हजार योजन होता है। अनेक जैन कृतियों मे इस तथ्य का निर्देश किया गया है कि हमारी दुनिया मे दो चन्द्रमा तथा दो सूर्य है। सूर्यप्रज्ञप्ति मे ग्रहण के दो सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि इस कृति का लेखक चन्द्रमा और सूर्य की परछाई दिखलाई पडने के सही सिद्धान्त से परिचित था और मनुष्यो का एक वर्ग ऐसा था, जिसने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया था।

आर्य साम अथवा श्याम (२५० B. C.) भूमि प्रदेश का विभाजन ४० रूपो मे करते हैं—(१) कँकरीली भूमि छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़ो से भरपूर भूमि) २. रेतीली ३. उपल (चट्टानो और कच्ची धातुओं के अनेक प्रकार ४. चट्टानें ५, नमक अथवा नमकीली चट्टान ६. बजर भूमि ७—१३ लौह तथा कच्ची धातुएँ १४. हीरा १५, १६, १७. दूसरी चट्टानी निर्मितियाँ १८. सुरमा १९. मूगे के समान २०. अभ्रक २१-२२. अभ्रक की रेत २३ गोमेदक (कीमती पत्थर का एक प्रकार) २४ रुचक (एक कीमती पत्थर) २५ अक २६ बिल्लौर के समान स्वच्छ चट्टानें २७ लाल तहदार चट्टान की परत २९-४० रत्न, ग्रेनाइट तथा परिवर्तनीय चट्टाने एव तलछट सम्बन्धी खनिज द्रव्य।

जीवाजीवाभिगमोपाङ्ग मे मिट्टी के विज्ञान सम्बन्धी कुछ सूचना है। इसमे मिट्टियो के ६ भेद बतलाए गए है—१. अच्छी उपजाऊ मिट्टी २. शुद्ध मिट्टी जो पर्वतीय प्रदेशों मे पाई जाती है। ३. मन.शिल (कुछ चट्टानी मिट्टी) ४. रेतीली ५. ककरीली ६. गोल पत्थर अथवा पत्थरो की प्रचुरता से युक्त। मलयगिरि टीका मे उपर्युक्त मिट्टियो में से प्रत्येक की आयु बतलाई गई है। प्रथम मिट्टी एक हजार वर्ष तक रहती है, दूसरी मिट्टी १२ हजार वर्ष, तीसरी १४ हजार वर्ष, चौथी १६ हजार वर्ष, पाँचवी १८ हजार वर्ष, छठी २२ हजार वर्ष।

सूर्यप्रज्ञप्ति (४०० ई० पू०) मे सूर्य की किरणो के सामने किसी वस्तु के रखने की क्रिया (Incolation), किरण फेकना (Radiation) सूर्य के प्रकाश का प्रतिबिम्बन (Riflection), ऊर्जा (Energy) तथा पृथ्वी एव विभिन्न धरातलो का गर्भ होना इत्यादि विषयो पर विस्तार से विवेचन है। यह वर्णन यथार्थ मे प्रशंसा योग्य है, क्योंकि इस पुस्तक मे इतने विस्तार से और स्पष्ट रूप से विषयों का सही विवेचन इतने प्रारम्भिक समय में किया गया है, जो कि आधुनिक युग के अध्ययन का विषय है। चौथे प्राभृत सूत्र २५ मे किसी वस्तु को शुद्ध करने के लिए सूर्य

१. आधारग्रन्थ—Development of Geographic knowledge in India (प्रो० मायाप्रसाद त्रिपाठी)

की किरणों को सामने रखने की श्रृंखला प्रस्तुत है। सूर्य के तापक्षेत्र का भी इसमे विवेचन है और इस सन्दर्भ मे अनेक आंकडे दिए गए हैं। प्राभृत ५ सूत्र २६ का नाम लेश्या प्रतिहित है। इसमे सूर्य के प्रकाश के फैलने का वर्णन है। विशेष रूप से सूर्य की किरणो के सामने किसी वस्तु के रखने की क्रिया, किरण फेंकना तथा प्रतिबिम्बन के विषय का विस्तृत वर्णन है। इसमे सूर्य की रोशनी के प्रतिबिम्बन के २० वादो का जिक्र है। प्राभृत ६ सूत्र २७ में गर्मी की दशा या सूर्य के प्रकाश का अन्वेषण है। सबमे पहले इसमें इसके विषय मे २५ सिद्धान्त दिए है। पहले सिद्धान्त मे वर्णन है कि प्रत्येक क्षण सूर्य की रोशनी प्राप्त की जा रही है और दूसरे क्षण यह अवश्य हो रही है। सौर वर्ष की समाप्ति के समय जब कि सूर्य सबसे लम्बे दिन आन्तरिक घेरे मे रहता है, इसकी अधिकाधिक ऊर्जा २० की अवधि के लिए आती है। इसके बाद सूर्य परिवर्तन प्रारम्भ करता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी धरातल पर पुद्‌गल सूर्य की किरणो के पडने से ऊर्जा पाता है। अनन्तर दूसरे पुद्‌गल उनके सवाहन द्वारा गर्म होते हैं। तृतीय सिद्धान्त के अनुसार कुछ वस्तुयें सूर्य की किरणो के पड़ने से गर्म होती हैं और कुछ नही होती।

प्रज्ञापना तथा आवश्यक चूर्णि मे अनेक प्रकार की हवाओं का महत्त्वपूर्ण अध्ययन है। हवाओं के वर्गीकरण सम्बन्ध मे जैन पूरे भारतीय भूगोल विज्ञान मे अद्वितीय हैं। प्रज्ञापना मे १९ प्रकार की हवाओं का वर्णन है--- १-४. चारो दिशाओं की हवायें ५-६ उतरती और चढती गर्म हवायें ७. क्षितिज के समानान्तर हवायें ८. जो विभिन्न दिशाओं से बहती हैं। ९. वातोद्‌भ्रम (अनियमित हवायें) १०. सागर के अनुरूप हवायें ११. वातमण्डली १२. उत्कलिकावात (मिश्रित हवायें) १३ मण्डलीकावात (तेजी से चक्कर खाने वाली हवायें) १४. गुञ्जावात (भरभराहट का शब्द करने वाली हवायें १५. झंझावात हिंसक हवायें जो कि बर्फ गिरने मे सहायक होती हैं। १६. संवर्तक वात (किसी विशेष क्षेत्र की हवा जो कि सूखे वनस्पतियो में भर जाती है १७. घनवात (बलदायक हवा) १८. तनुवात १९. शुद्धवात (Gentil Wind) आवश्यक चूर्णि मे १६ प्रकार की हवाओं की सूची है—१. प्राचीन वात (पूर्वी हवा) २. उदीचीन (उत्तरी) ३. दक्षिणवात ४. उत्तर पौरस्त्य (सामने से उत्तर की ओर चलने वाली हवा) ५. सवात्सुक ६. दक्षिणपूर्वतुगर (Southerly Strong Wind) ७. अपरदक्षिणबीजाप (दक्षिण पश्चिम से चलने वाली) ८. अपरबीजाप (Westerlies) ९. अपरोत्तरगर्जभ (उत्तरपश्चिमी चक्रवात) १०. उत्तमसवात्सुक (अज्ञात) ११. दक्षिण सवात्सुक १२. पूर्वतुगर १३-१४. दक्षिण तथा पश्चिमी बीजाप १५. पश्चिम गर्जभ (पश्चिमी आंधी) १६ उत्तरी गर्जभ (उत्तरी आंधी)। अनन्तर यही चक्रवातों का निर्देश कालिकावात के रूप मे है। इस शब्दावली ने अरब भौगोलिको को और नाविकों को प्रभावित किया और उन्होने तत्परता से इन अनेक भारतीय पारिभाषिक शब्दों को अपनी भाषा मे ग्रहण कर लिया। जीव विचार? उद्‌भ्रामक वात (सूखे पेडों से बहने वाली हवायें) २ उत्कलिका वात ३. भूमण्डलीकावात ४. मुखावात ५. शुद्ध वात तथा ६. गुञ्जवात का नाम निर्देश है।

प्रज्ञापना मे हिमपात तथा शिलावृष्टि सहित आंधी का निर्देश है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे बादलों के दो वर्गीकरण है। प्रथम सात प्रकार के बादलो के नाम दिए गए हैं— १. अम्ममेघ २. विरसमेघ ३. क्षारमेघ ४. खात्रमेघ ५. अग्निमेघ ६. विद्युन्मेघ ७. विषमेघ (अशनिमेघ)। दूसरी बार १. सक्षीरमेघ २. घृतमेघ ३. सघृतमेघ ४. अमृतमेघ ५. रसमेघ ६ पुष्करमेघ तथा ७. संवर्तक मेघ के नाम है।

त्रिलोकसार मे कहा गया है कि कालमेघ सात प्रकार के होते है। इनमे से प्रत्येक सात दिन वर्षा लाता है। सफेद मेघ १२ प्रकार के होते हैं, इन्हें द्रोण कहते हैं। इनमे से प्रत्येक सात दिन के लिए वर्षा लाता है। इस प्रकार वर्षा का काल १३३ दिन का होता है। जीवाजीवाभिगम की टीका मे तुषार, बर्फ तथा शिलावृष्टि सहित आंधी और कुहरे का कथन है।

इस बात का निर्णय करने का बहुत सुनिश्चित आधार है कि जैनो के मनुष्य शरीर रचनाशास्त्र तथा चरित्र शास्त्र विषयक विचार बड़े बुद्धिमत्तापूर्ण थे और इन शाखाओ विषयक उनकी जानकारी किसी से कम नहीं थी। प्रज्ञापना केमनुष्यप्रज्ञा सूत्र ३६ अध्याय १ में मनुष्य,

स्त्री तथा म्लेच्छों के विषय में विभिन्न मनुष्य शरीर रचना शास्त्र विषयक सूचनायें हैं। इसमे म्लेच्छों का ५ प्रकार का वर्गीकरण है—(१) शक (२) यवन (३) चिलात (४) शबर तथा (५) बर्वर। जीवाजीवाभिगम के सूत्र १०५ से १०६ में मनुष्यो के विभाजन का प्रयत्न किया गया है। यह नही कहा जा सकता है कि यह कितना वैज्ञानिक है। इसमे दो मुख्य वर्गों की जानकारी है। ये दो वर्ग अनेक उपवर्गों मे विभाजित है। वे है—अ—(१) सम्मूर्च्छिम मनुष्य (२) गर्भव्युत्क्रान्तिक। ब—(१) कर्मभूमक और अन्तर्द्वीपक। अन्तर्द्वीपक के २८ भेद हैं। जैसे—एकोरुक, गूढदन्त तथा शुद्धदन्त इत्यादि।

तत्त्वार्थसूत्र की अकलङ्क देवकृत टीका मे अनेक प्रकार के मनुष्यों और उनके व्यवसाय का वर्णन है।

अगविज्जा (चौथी शताब्दी ई०) मे मनुष्य शरीर रचना शास्त्र विषयक कुछ तथ्य निहित हैं। इसके २८वें अध्याय मे मनुष्यों का आर्य और म्लेच्छों के रूप मे विभाजन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों का रग इसमे सफेद, लाल, पीला तथा काला वर्णित है। जीव विचार मे अनेक प्रकार की जातियाँ वर्णित है। जैसे—असुर, नाग, पिशाच, राक्षस तथा किन्नर। नाप का सबमे पहले निर्देश सम्भवत तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में पाया जाता है। इसमे सूत्र विशेष की टीका मे अकलङ्कदेव कहते हैं—आठ मध्य का एक उत्सेधाङ्गुल होता है। ५०० उत्सेधाङ्गुल का एक प्रमाणाङ्गुल होता है। यह अवसर्पिणी के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् का आत्माङ्गुल है। उस समय ग्राम, कसबे इत्यादि इसी परिमाण से मापे जाते थे। दूसरे कालों में भिन्न-भिन्न आत्माङ्गुलो का प्रयोग किया गया। प्रमाणाङ्गुल महाद्वीप, द्वीप, समुद्र, वेदिकायें, पर्वत विमान, तथा नरकपटलों की माप के लिए प्रयुक्त किया गया। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि जैन प्रत्येक प्रकार की भौगोलिक वस्तु की माप से परिचित थे। यहाँ तक समुद्रो का भी परिमाण बतलाया गया है। समुद्र के किनारे के प्रदेश तथा जलप्राय प्रदेशो का भी माप होता था। तिलोयपण्णत्ति (५०० ई०) मे माप की वही विकसित दशा है जो कि तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की है। द्वीप, समुद्र, बेदी, नदी, झीलें, तालाब, विश्व तथा भरत क्षेत्र प्रमाणाङ्गुल के माप से नापे गए हैं। तिलोयपण्णत्ति के काल में भारत देश की पैमाइश सुनिश्चित रूप में की गई थी।

विश्व अथवा भारत के नकशे को बनाने की कला का प्रमाण भद्रबाहु के वृहत् कल्पसूत्र (४०० ई० पू०) मे है। इसमें कहा गया है—

तरुगिरिनदी समुद्दो भवणावल्लीलयाविणाय।
निद्दीसचित्तकम्म पुन्न कलस सोत्थियाई य॥

तत्त्वार्थसूत्र में जम्बूद्वीप का नकशा बतलाया गया है। सूत्र की टीका से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल के मनुष्य 'स्केल' के विचार से परिचित थे और एक छोटे मे 'स्केल के आधार लम्बे परिणाम की वस्तु की रचना कर मकते थे—

"मख्येयप्रमाणावगमार्थ जम्बूद्वीपतुल्याय विष्कम्मा योजनमहस्रावगाह बुध्याकुशूलाश्चत्वार कर्तव्या.—शलाका प्रतिशलाका महाशलाकाख्यास्त्रयो व्यवस्थिता चतुर्थोऽनव स्थित.।"

वृहत्क्षेत्र ममास के वर्णन से यह प्रकट है कि यह ग्रन्थ अनेक प्रकार के विश्व के चित्रो मे परिचित है। तिलोय-पण्णत्ति मे आकाश का एक Digramaic नकशा दिया गया है। माधवचन्द्र त्रैविद्य (१२२५ ई०) ने एक शब्द सदृष्टि का प्रयोग किया जिसका शायद अर्थ 'भौगोलिक डाइग्राम' या उदाहरण था।

प्रज्ञापना की टीका मे हरिभद्रसूरि (७०५-७६७ ई०) ने १२ प्रकार की वनस्पति का वर्णन किया है—१. वृक्ष २. गुच्छ ३. गुल्म ४. लता ५. वल्ली ६. पर्वग (गन्ने जैसी) ७. तृण ८. वलय ९. हरित १०. औषधि ११. जलरुह १२ कुहणा (भूमि के अन्दर उगने वाली।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और तिलोयपण्णत्ति मे विभिन्न प्रकार के व्यवस्थित नगरो का वर्णन है। जैसे—नन्द्यावर्त, वर्द्धमान, स्वस्तिक, खेट, कर्वट, पट्टन इत्यादि। अंगविज्जा के २९वें अध्याय मे ६४ प्रकार के नगरो का वर्णन है—राजधानी, शाखानगर, पर्वतनगर, आरामबहुल, पवित्नगर, विस्तीर्णनगर। जैनों मे जनपद परीक्षा की परम्परा थी। जिसने Field Work (फील्डवर्क) तथा क्षेत्रीय भूगोल के विकास मे अधिक कार्य किया है।

सातवी शताब्दी की एक कृति वृहत्-क्षेत्र समास से यह प्रकट है कि समुद्र विद्या पर लिखने में जैनों का

(शेष पृष्ठ १५ पर)

जैन परम्परा में निक्षेप पद्धति

☐ अशोक कुमार जैन एम० ए० शास्त्री (शोध छात्र)

प्राचीनकाल में ही जैन परम्परा में पदार्थ के वर्णन की एक विशेष पद्धति रही है। जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है उस अनन्त धर्मात्मक पदार्थ को व्यवहार में लाने के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों मे निक्षेप का भी स्थान है। जगत मे व्यवहार तीन प्रकार से चलते है कुछ व्यवहार ज्ञानाश्रयी अर्थात् ज्ञान पर आश्रित होते है कुछ शब्दाश्रयी अर्थात् शब्दो के ऊपर आश्रित होते है और कुछ अर्थाश्रयी होते हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को सव्यवहार के लिए उक्त तीनों प्रकार के व्यवहारो मे बाटना निक्षेप है। निक्षेप के बारे मे अनेक दार्शनिको ने विभिन्न विचार प्रस्तुत किये है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव मे जीवादि पदार्थो का न्यास करना चाहिए।[1] सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय मे अवस्थित वस्तु को उनसे निकालकर जो निश्चय मे क्षेपण करता है उसे निक्षेप कहते हैं[2] अथवा बाहरी पदार्थ के विकल्प को निक्षेप कहते है। अप्रस्तुत का निराकरण करके प्रस्तुत अर्थ को प्ररूपण करने वाला निक्षेप होता है।[3] अप्रकृत का निराकरण करके प्रकृत का प्ररूपण करने वाला निक्षेप है।[4] श्रुत प्रमाण और उसके भेद नयों के द्वारा जाने गये द्रव्य और पर्यायो का सङ्कर व्यतिकर रहित कथन करने को निक्षेप कहते है।[5] प्रमाण और नय के विषय मे यथायोग्य नामादि रूप से पदार्थ निक्षेपण करना निक्षेप है।[6] युक्ति के द्वारा संयुक्त मार्ग मे कार्य के वंश से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव मे पदार्थ की स्थापना को आगम मे निक्षेप कहा है।[7] नय तो गौण और मुख्य की अपेक्षा रखता है इसीलिए वह विवक्षा सहित है। नय सदा अपने (विवक्षित) पक्ष का स्वामी है अर्थात् वह विवक्षित पक्ष पर आरूढ रहता है और दूसरे प्रतिपक्ष नय की भी अपेक्षा रखता है, निक्षेप मे यह बात नही, यहा पर तो गौण पदार्थ मे मुख्य का आक्षेप किया जाता है इसलिए निक्षेप केवल उपचरित है नय तो ज्ञान विकल्प रूप है और निक्षेप उसका विषय भूत पदार्थ है।[8] अमृतचन्द्र सूरि ने निक्षेप के ४ भेद बतलाये हैं कि सातों तत्वार्थ नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव निक्षेप के द्वारा व्यवहार मे आते हैं इसीलिए प्रत्येक तत्वार्थ चार प्रकार का होता है जैसे नाम-जीव, स्थापना-जीव, द्रव्य-जीव, भाव-जीव।[9] द्रव्य अनेक स्वभाव वाला होता है उनमे से जिस स्वभाव के द्वारा वह ध्येय या ज्ञेय, ध्यान या ज्ञान का विषय होता है उसके लिए एक भी द्रव्य के ४ भेद किये जाते हैं निक्षेप के ४ भेद हैं नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।[10] मूलाचार मे[11] सामायिक के तथा त्रिलोक प्रज्ञप्ति मे मङ्गल के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह निक्षेप किये हैं।[12] आवश्यक निर्युक्ति मे इन छह निक्षेपों मे वचन को और जोड़कर सात प्रकार के निक्षेप बताये हैं।[13] यद्यपि निक्षेपों के सभाव्य भेद अनेक हो सकते हैं और कुछ ग्रन्थकारो ने किये भी है परन्तु कम से कम नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपो को मानने मे सर्वसम्मति है। अकलङ्कदेव ने निक्षेपो का विवेचन करते हुए लिखा है कि निक्षेप पदार्थों के विश्लेषण के उपायभूत हैं उन्हें नयों द्वारा ठीक-ठीक समझकर अर्थात्मक ज्ञानात्मक और शब्दात्मक भेदो की रचना करनी चाहिए।[14]

नाम क्षेत्र निक्षेप—जीव-अजीव और उभयरूप कारणों की अपेक्षा से रहित होकर अपने आप में प्रवृत्त हुआ क्षेत्र यह शब्द नाम क्षेत्र निक्षेप है। वह नाम निक्षेप वचन और वाच्य के नित्य अध्यवसाय अर्थात् वाच्य-वाचक सबंध के सार्वकालिक निश्चय के बिना नही होता है इसलिए अथवा तद्भवसामान्य निबन्धनक और सादृश्य सामान्य निमित्तक होता है इसलिए अथवा वाच्य-वाचक रूप दो शक्तियो वाला एक शब्द पर्यायार्थिक नय मे असंभव है इसलिए द्रव्यार्थिक नय का विषय है।[15] किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा न कर किसी द्रव्य की जो सज्ञा रखी जाती है वह नामनिक्षेप है।[16] सज्ञा के अनुसार गुणरहित वस्तु में व्यवहार के लिए अपनी इच्छा से की गई संज्ञा को नाम

कहते हैं ।[१७] इसी बात को पञ्चाध्यायीकार ने लिखा है ।[१८] मोहनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का घात करने से अरिहन्त नाम है इन गुणों के बिना किसी का अरिहन्त या अर्हन्त नाम रखना नाम निक्षेप का उदाहरण है ।[१९] पुस्तक, पत्र, चित्र आदि में लिखा गया लिप्यात्मक नाम भी नाम निक्षेप है ।[२०]

स्थापना क्षेत्र निक्षेप—बुद्धि के द्वारा इच्छित क्षेत्र के साथ एकत्व को प्राप्त हुए अर्थात् जिनमें बुद्धि के द्वारा इच्छित क्षेत्र की स्थापना की गई है ऐसे सद्भाव और असद्भाव स्वरूप काष्ठ, दन्त और शिला आदि स्थापना क्षेत्र निक्षेप है ।[२१] अमृतचन्द सूरि ने लिखा है कि परमा तथा काष्ठ आदि के सम्बन्ध मे (यह वह है) इस प्रकार अन्य वस्तु मे जो किसी अन्य वस्तु की व्यवस्था की जाती है वह स्थापना निक्षेप कहलाता है ।[२२] स्थापना के दो भेद हैं साकार और निराकार । कृत्रिम या अकृत्रिम बिम्बो मे अर्हन्त परमेष्ठी की स्थापना साकार स्थापना है और क्षायिक गुणो में अर्हन्त की स्थापना को निराकार स्थापना कहते है ।[२३]

द्रव्य क्षेत्र निक्षेप—जो गुणों के द्वारा प्राप्त हुआ था या गुणों को प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणो के द्वारा प्राप्त किया जायेगा या गूणो को प्राप्त होगा उसे द्रव्य कहते हैं ।[२४] किसी द्रव्य को आगे होने वाली पर्याय की अपेक्षा वर्तमान में ग्रहण करना द्रव्यनिक्षेप है ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं ।[२५] पञ्चाध्यायीकार ने कहा है कि ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा नही रखने वाला किन्तु भाविनैगम आदि नयों की अपेक्षा रखने वाला द्रव्यनिक्षेप है ।[२६] आगमद्रव्यक्षेत्र और नोआगमद्रव्यक्षेत्र के भेद से द्रव्य क्षेत्र दो प्रकार का है उसमे मे क्षेत्र विषयक शास्त्र का ज्ञाता किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित जीव आगम द्रव्यक्षेत्र निक्षेप है ।[२७] नो आगम द्रव्य तीन प्रकार का है ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त । जो ज्ञाता का शरीर है वह ज्ञायक शरीर कहलाता है वह त्रिकाल गोचर ग्रहण किया जाता है अर्थात् उसके भूत-भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद हैं । तद् व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य के दो भेद है एक कर्म और दूसरा नोकर्म । आगम द्रव्य में आत्मा का ग्रहण किया गया है, नो आगमद्रव्य मे उसके परिकर, शरीर, कर्मवर्गणा आदि का गृहण है ।[२८]

भाव क्षेत्र निक्षेप—तत्कालवर्ती पर्याय के अनुसार ही वस्तु को सम्बोधित करना या मानना भाव निक्षेप है इसके भी दो भेद है आगम भाव निक्षेप और नो आगमभावनिक्षेप । जैसे अर्हत् शास्त्र का ज्ञायक जिस समय उस ज्ञान मे अपना उपयोग लगा रहा है उसी समय अर्हत है यह आगमभावनिक्षेप है जिस समय उसमें अर्हत के समस्त गुण प्रकट हो गये हैं उस समय उस उसे अर्हत कहना तथा उन गुणों से युक्त होकर ध्यान करने वाले को केवल ज्ञानी कहना नो आगमभावनिक्षेप है ।[२९] क्षेत्र विषयक प्राभृत के ज्ञाता और वर्तमानकाल में उपयुक्त जीव को आगमभाव क्षेत्रनिक्षेप कहते हैं जो आगम में अर्थात् क्षेत्रविषयक शास्त्र के उपयोग के बिना अन्य पदार्थ मे उपयुक्त हो उस जीव को अथवा औदयिक आदि पाच प्रकार के भावो को नो आगमभावक्षेत्रनिक्षेप कहते हैं ।[३०]

जो निक्षेप नय और प्रमाण को जानकर तत्व की भावना करते हैं वे वास्तविक तत्व के मार्ग मे सलग्न होकर वास्तविक तत्व को प्राप्त करते हैं ।[३१]

संदर्भ सूची

१. तत्वार्थ सूत्र १-५ ।

२. संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थित तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः ।
—षट्खण्डागम खण्ड १ भाग ३, ४, ५ पुस्तक ४ सं० हीरालाल जैन पृष्ठ २ ।

३. अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थ व्याकरणाच्च निक्षेप. फलवान् ॥ लघीयस्त्रय स्वो० वि० पृ० २६ ।

४. स किमर्थः अप्रकृत निराकरणाय च । सर्वार्थ सिद्धि १-५

५. न्यायकुमुदचन्द्र का० ७३-७६ विवृति पृ० ७९९ ।

६. प्रमाणनययोर्निक्षेपणं आरोपणं निक्षेपः ॥ आलाप पद्धति-देवसेनाचार्य अनु: नं. रतनचन्द्र मुख्तार पृ. १८२

७. जुत्तीसुजुत्तमग्गे जं चउभेएण होइ खलुणवणं ।
—कज्जैसदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समए ॥ द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र गाथा २७० ।

८. पञ्चाध्यायी १-७४० ।

९. तत्वार्थसार अमृतचन्द्र सूरि-सं०पं० पन्नालाल साहित्या-

चार्य श्लोक ६ पृ० ४।

१०. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र-माइल्लधवल गाथा २७१-२७२ पृ० १३६, सं० प० कैलाशचन्द्र शास्त्री।

११. षडावश्यकाधिकार गाथा १७।

१२. गाथा १/१८। १३. गाथा १२६।

१४. नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने। विरचय्यार्थवाक्-प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान्। लघीयस्त्रम, स्व वृ० श्लोक ७४।

१५. षट्खण्डागमः पुस्तक ४ खण्ड १ भाग ३, ४, ५ स० हीरालाल जैन पृ० ३।

१६. निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम ॥ त० रा० वा०।, सं० प्रो० महेन्द्रकुमार १/५ पृष्ठ २८।

१७. अतद्गुणे वस्तुनिसव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नियुज्यमान सज्ञाकर्म नाम-सर्वार्थसिद्धि-पूज्यपाद स० प० फूलचद सि० शा० पृ० १७।

१८. पञ्चाध्यायी—१-७४२।

१९. मोहरज अतराए हणणगुणादो य णाम अरिहंतो। अरिहो पूजाए वा सेसा णार्म हवे अण्ण ॥ द्र० स्वभाव प्रकाशक नयचक्र गाथा २७३।

२०. जैनतर्क भाषा पृ० २५।

२१. षट्खण्डागम. पुस्तक ४ खण्ड १ भाग ३, ४, ५ स० पृ० ३।

२२ सोऽयमित्यक्षकाष्ठादे सम्बन्धेनान्यवस्तुनि। यदयव स्थापनामात्रं स्थापना सामिधीयते तत्वार्थसार श्लोक ११ पृ० ४।

२३. सायार इयरठवणा कित्तिम इयरा हु बिंबजा पढमा। इयरा खाइय भणिया ठवणा अरिहोय णायव्वो ॥ उ० स्वभावप्रकाशकनयचक्र स० प० कैलाशचन्द शास्त्री पृ० १३७।

२४. गुणैर्गुणान्वा द्रुत गत गुणैर्द्रोष्यते गुणान्द्रोठयतीति वा द्रव्यम् ॥सर्वार्थसिद्धि १-५ ॥

२५. तत्वार्थसार श्लोक १२। २६. पञ्चाध्यायी १-७४३।

२७. षट्खण्डागम पुस्तक ४ खण्ड १ पृष्ठ ५।

२८. तत्वार्थवार्तिकालकार-अनु प० गजाधरलाल जी तथा प० मक्खनलालजी पृ० १२६-१२७।

२९. समणसुत्त गाथा ७४३-७४४ पृ० २३८।

३०. षट्खण्डागम पुस्तक ४ खण्ड व भाग ३, ४, ५।

३१. द्रव्यस्वभाव प्रकाशकनयचक्र सपादक प० कैलाशचन्द शास्त्री गाथा २८२।

—जैन हैपी स्कूल नई दिल्ली

(पृष्ठ १२ का शेषांश)

दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। यह बात उपर्युक्त ग्रन्थ के लवणाब्ध्यधिकार तथा कालोदध्यधिकार से प्रकट है। पहले अधिकार मे लवण समुद्र का माप, इसकी गहराइयाँ, ज्वारभाटीय क्रियाये, विभिन्न द्वीपो की गहराई तथा जलस्तर का वर्णन है। दूसरे मे कालोदधि का माप, इसके जल की प्रकृति तथा दूसरे पहलुओं का वर्णन है।

तत्त्वार्थवार्तिक मे अकलङ्कदेव ने आठ महत्त्वपूर्ण समुद्रो के नाम दिए है—१. लवणोद २. कालोद ३. पुष्करोद ४. वरुणोद ५. क्षीरोद् ६. घृतोद् ७. इक्षुद ८. नन्दीश्वरोद। बृहत् क्षेत्र समास की टीका मे ९. अरुणावरोद।

तत्त्वार्थाधिगम की टीका मे भारतीय समुद्रों की गहराई का वर्णन है। सूत्र ३२ की टीका से ज्ञात होता है कि आन्तरिक और बाह्य समुद्री किनारे तथा समुद्री क्षेत्र के लिए भिन्न-भिन्न शब्दो का प्रयोग होता था। ये शब्द थे—(१) अन्तरवेला (२) बाह्य वेला (३) अग्रोदक जैनों का कहना है कि समुद्र वायु द्वारा प्रवृत्त होता है और दिशाओं मे बढ़ता हुआ ४००० धनुष ऊँचाई तक बढ़ता है।

जीवाजीवाभिगम मे कहा गया है कि ज्वारभाटे का कारण महापटल की मजबूत हवायें (उदारवात) होती है। आवश्यक सूत्र मे ज्ञात होता है कि भारतीय नौविद्या तथा वाणिज्य मे बहुत बडे थे। उनका यह काल ६०० ई० पू० था। यहाँ समुद्री कप्तान के लिए 'णिज्जामक' शब्द का प्रयोग किया गया है। समराइच्च कहा मे भारतीयों की उत्साह और साहसपूर्ण समुद्री यात्रा की कहानियां है। एक सन्दर्भ मे यह बात प्रकट है कि भारतीय लोग चीन, स्वर्ण भूमि और रत्नद्वीप बडे-बडे जहाजों मे जाया करते थे।

इस प्रकार जैन भूगोल अपने अन्तर्गत बहुत सारी भौगोलिक विशेषताओं को अपने गर्भ मे छिपाए हुए है, इसका विस्तृत अध्ययन एव अन्वेषण अपेक्षित है।

—जैन मन्दिर के पास बिजनौर, उ० प्र०

विश्व धर्म बनाम जैन धर्म

□ विद्यावारिधि डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया पी-एच० डी०-डी० लिट्०

विश्व धर्म एक यौगिक शब्द है। विश्व और धर्म इन दो शब्दों के समवाय मे इस शब्द का गठन-सगठन हुआ है। प्राणी के चरने-विचरने सम्बन्धी क्षेत्र विशेष का बोधक शब्द वस्तुत. विश्व कहलाता है और धर्म शब्द उस क्षेत्र से विद्यमान नाना तत्वों और उनमे व्याप्त गुणो, स्वभावों का परिचायक होता है। इस प्रकार विश्व—तत्वों का स्वभाव कहलाया वस्तुत विश्व-धर्म।

जैन धर्म भी यौगिक शब्द है, जिसका गठन जैन और धर्म नामक इन दो शब्दों पर आधृत है। जैन शब्द मूलत 'जिन' से बना है। 'जिन' शब्द का अभिप्राय है जीतने वाला। जिसने अपने समग्र कर्म-कषायों को जीत लिया वह कहलाया जिन और जिन के अनुयायी वस्तुत कहे गए जैन। जैनागम मे धर्म की चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा है—वत्थु सहाबो धम्मो अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। इस प्रकार वस्तु-स्वभाव का सम्यक् विवेचन जैन धर्म कहलाता है।

अब यहां विश्व धर्म बनाम जैन धर्म विषयक विशद किन्तु संक्षिप्त अध्ययन और अनुशीलन प्रस्तुत करना वस्तुत: हमारा मूलाभिप्रेत रहा है।

जनसमुदाय और समाज मे विश्व बोधक जिन शब्दों का प्राय प्रचलन है उनमे लोक और ससार महत्वपूर्ण है। यद्यपि विश्व, लोक और ससार शब्दो का सामान्य अभिप्राय उस क्षेत्र विशेष से रहा है जहा प्राणी नाना-योनियों से आवागमन के चक्रमण मे लगा रहता है, तथापि ये सभी शब्द अपना-अपना पृथक अर्थ-अभिप्राय रखते है।

विश्व शब्द का मन्तव्य सामान्यत सप्त महाद्वीपों के समवेत क्षेत्र—कुल से रहा है, इसी को दुनिया भी कहा गया है। विश्व की अपेक्षा लोक शब्द व्यापक है। स्वर्ग-पृथ्वी और पाताल के समीकरण को वस्तुत: लोक शब्द से कहा जाता है। चौदह संख्या मे लोक शब्द विभक्त है।—अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, और पाताल ये सप्त अधोलोक कहलाते है और सात ही भूलोक माने गए है—भूलोक, भुवलोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक। इन सभी को मिलाकर लोक शब्द का अर्थ स्थिर होता है।

विश्व और लोक से भी व्यापक अर्थकारी शब्द है—ससार। ससरण ससार: अर्थात् ससरण करने को ससार कहा जाता है। कर्म-विपाक के वश मे आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना वस्तुत ससार कहलाता है। ससार मे विश्व और लोक जैसे अनेक क्षेत्रमुखी शब्दों का समवेत विद्यमान रहता है। इसीलिए ससार शब्द महत्तर महिमा मडित है।

विश्व मे अनेक धर्म प्रचलित है जिनमें वैदिक, बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई आदि अधिक उल्लेखनीय है। इन सभी धर्मों मे व्यक्ति विशेष की सत्ता को स्वीकार किया गया है। ईश्वर, बुद्ध, ईशु तथा अल्लाह आदि किसी भी सज्ञा मे उसे व्यक्त किया जा सकता है। ससार के निर्माण और सचालन मे उसकी भूमिका सर्वोपरि मानी गई है। विश्व की सभी जीवात्माए उस शक्ति के वस्तुत अधीन है, परन्तु जैन धर्म इस मान्यता को स्वीकार नही करता है। उल्लेखनीय बात यह है कि जैन धर्म किसी व्यक्ति-शक्ति की देन नही है और ना ही ससारी जीवात्माएं उसके अधीन है। जैन धर्म वस्तुत स्वाधीनता प्रधान धर्म है।

जैन धर्म मे गुणो की उपासना की गई है। गुणों को ही यहा स्पष्टत. इष्ट माना गया है। पाच प्रकार के इष्ट यहां प्रचलित हैं—अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। प्रत्येक इष्ट विशिष्ट गुणो का समवाय समीकरण होता है। पचपरमेष्ठि इसीलिए वदनीय है। जिनमें पच परमेष्ठियो की वदना की गई है। इस आद्य मंत्र को णमोकार मंत्र कहा गया है। यथा—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाण
णमो उवज्झायाण णमो लाए सव्व साहूण ।

सबसे बड़ी बात यह है कि जैन धर्म की मान्यता है कि प्रत्येक जीवात्मा मे ये सभी गुण सदा विद्यमान रहते है । कर्म-कुल से प्रच्छन्न इन गुणों को उजागर करने का यहा विधान है । नाना कर्मों को क्षय करके जीव अपने म प्रतिष्ठित इन गुणों को प्रकट कर सकता है । स्वय इष्ट और परम इष्ट बन सकता है । प्राणी स्वय प्रभु बन सकता है, इस प्रकार की व्यवस्था कदाचित जैन धर्म मे ही उपलब्ध है । इस प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने ह्रास और विकास का स्वय कर्त्ता और भोक्ता है ।

कर्म सिद्धान्त को मान्यता अन्य धर्मों मे भी दी है । वहाँ जीवात्मा प्रत्येक कर्म प्रभु की कृपा मे सम्पन्न करता है और किए हुए कर्म-फल भी उसी की कृपा से भोगता है परन्तु जैन धर्म मे जीव स्वय करता है, कर्मानुसार निमित्त स्वत: जुटा करते है और कर्म-फल का भोग भी वह स्वय भोगा करता है । किसी की कृपा का यहा कोई विधान नही है ।

कर्म शब्द का लौकिक अर्थ तो किया ही है । जीव, मन वचन और काय के द्वारा कुछ न कुछ किया करता है, वह सब उसकी क्रिया या कर्म की सज्ञा प्राप्त करता है । मन, वचन और काय कर्म के य तीन द्वार होते है । ससारी-आत्मा के इन तीन द्वारो की क्रियाओं से प्रतिक्षण सभी आत्म-प्रदेशों मे कर्म होते रहते है अनादि काल से जीव का कर्म के साथ सम्बन्ध चला आ रहा है । इनका पारस्परिक अस्तित्व वस्तुत सिद्ध है ।

मूलत कर्म के दो भेद किए गए है—द्रव्यकर्म और भावकर्म ।

पुद्गल के कर्म-कुल द्रव्यकर्म कहलाते है । द्रव्यकर्म के निमित्त से जो आत्मा के राग-द्वेष अज्ञान आदि भाव होते हैं वे वस्तुत. भाव कर्म कहलाते है । द्रव्य और भाव भेद से जो आत्मा को परतत्र करता है, दुःख देता है तथा ससार चक्र मे चक्रमण कराता है, वह समवेत रूप मे कर्म कहलाता है ।

कर्मों का एक कुल होता है । कर्म अनन्तकाल से अनन्त है । अनन्तकर्मों को स्थूलरूप से दो भागों मे विभाजित किया गया है—घातिया और अघातिया । जो जीव के गुणो का घात करते है वे वस्तुत कहलाए घातिया कर्म । यथा—

१. ज्ञानावरण २ दर्शनावरण ३. मोहनीय ४ अन्तराय

जो पूर्ण गुण को घात न कर पाएं वे अघातिया कर्म कहलाते है—यथा –

१ वेदनीय, २ आयु, ३ नाम, ४. गोत्र ।

घातिया और अघातिया कर्म मिलकर आठ कर्म-भेद प्रचलित है । ससार के अनन्त कर्म इन्ही आठ कर्मो मे परिगणित किए जा सकते है । इन कर्मों की परिचयात्मक सक्षिप्त रेखा निम्न रूपेण प्रस्तुत की जा सकती है ।

१ **घातिता कर्म** —अ —ज्ञानावरण कर्म - जो आत्मा के ज्ञान गुण को ढकता है उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हे ।

(ब) दर्शनावरण कर्म —जो आत्मा के दर्शन गुण को ढकता है उसे दर्शनावरण कर्म कहते है ।

(स) मोहनीय कर्म जिसके उदय मे जीव अपने स्वरूप को भुलाकर अन्य को अपना समझने लगता है, उसे मोहनीय कर्म कहा गया है ।

(द) अन्तराय कर्म—जो दान-लाभ आदि मे विघ्न डालता है उसे अन्तराय कर्म कहते हे ।

२ **अघातिया कर्म** - (अ) वेदनीय कर्म --जो आत्मा को सुख-दुःख देता है, उसे वेदनीय कर्म कहते है ।

(ब) आयु कर्म—जो जीव को नर्क, तिर्यच, मनुष्य और देव मे से किसी एक के शरीर मे रोक रखता है, उसे आयु कर्म कहा गया है ।

(स) नाम कर्म —जिससे शरीर और अगोपाग आदि की रचना होती है उसे नाम कर्म कहते है ।

(द) गोत्र कर्म—जिससे जीव का उच्च अथवा नीच कुल में पैदा होना होता है उसे गोत्र कर्म कहते है ।

आत्मिक गुणो मे कर्म का कोई स्थान नहीं है । अज्ञानता मे कर्म आत्मगुणों को प्रच्छन्न करता है । आत्म-गुणों को प्रभावित करने के लिए कर्मकुल जिस मार्ग को अपनाता है उसे आस्रव मार्ग कहा जाता है । आस्रव भी एक पारिभाषिक शब्द है जिसके अर्थ होते हैं कर्मों के आने का द्वार । इस प्रकार कर्म-सचार आस्रव कहलाता है ।

आस्रव द्वार बहुमुखी होता है। कर्म कुल के अनुसार आस्रव मार्ग को बड़े सावधानी के साथ समझने-समझाने की आवश्यकता है। पाप और पुण्य की दृष्टि से आस्रव दो प्रकार का होता है। इसे ही शुभ और अशुभ कहा गया है। शुभ कर्मास्रव से प्राणी सुखी और अशुभ कर्म से प्रायः दुःखी हुआ करता है। विचार कर देखें तो प्रत्येक प्रकार का कर्म बंधन का कारण है और बंधन कभी सुखद नहीं हो सकता। इस प्रकार दुःख दूर करना और सुखी होना ही प्राणी का उत्कृष्ट प्रयोजन कहा जा सकता है।

लोक अनन्त तत्वों से भरा पड़ा है। जैन धर्म में उन्हें सात भागों में विभाजित किया गया है। जीवाजीवास्रवबंध-संवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम् अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात ही तत्व होते हैं। तत्व एक पारिभाषिक अर्थ रखता है। इसका अर्थ है वस्तु का सच्चा स्वरूप। अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसका जो भाव है दरअसल वही तत्व है। इन सात तत्वों को सही-सही रूप में मानना वस्तुतः सम्यक् दर्शन कहलाता है। इन तत्वों को जानकर स्व-पर भेद बुद्धि को जानना वस्तुतः सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। दर्शन अर्थात् सप्त तत्वों के प्रति श्रद्धान और भेद विज्ञान पूर्वक उन्हें अपने में लय करना ही वस्तुतः सम्यक् चारित्र कहलाता है। यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिवेणी ही वस्तुतः सच्चे सुख मार्ग का प्रवर्तन करती है। यथा—

सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्ष मार्गः।

आज के मानवी-समुदाय की मुख्य समस्या है आग्रह-वादिता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी समझ में श्रेष्ठता अनुभव करता है। बिना सोचे-समझे जब वह अपनी धारणा को दूसरों पर थोपने का दुराग्रह करता है तभी विरोध-तज्जन्य संघर्ष का जन्म होता है। संघर्ष का बृहत् संस्करण ही युद्ध का रूप ग्रहण है। जैन धर्म में इस विश्व व्यापी समस्या के समाधान हेतु एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार पद्धति प्रदान की है। उसके अनुसार युद्ध शान्ति का उपाय सामने नहीं आता अपितु युद्ध के उत्पन्न होने में मूल कारण और आधार का उद्‌घाटन भी हो जाता है। युद्ध का मूलाधार है आग्रहवादिता। अनेकान्त और स्याद्वाद इस दिशा में उल्लेखनीय समाधान है।

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेक + अंत + आत्मक के योग से इस शब्द का संगठन हुआ है। यहां पर अन्त शब्द से धर्म नामक अर्थ ग्रहण किया गया है। इस प्रकार अने-कान्त शब्द का अर्थ हुआ अनेक धर्म वाला अथवा अनेक गुण वाला। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण विद्यमान हैं। मनुष्य के लिए यह बड़ा कठिन है कि उस वस्तु के समस्त गुणों एवं अवस्थाओं का विभिन्न दृष्टियों से एक साथ वर्णन करे। इसके अतिरिक्त केवल उसी गुण का या अवस्था का वर्णन उस दृष्टि से किया जाता है जिस दृष्टि से जिस गुण के कथन करने की आवश्यकता उस समय की परिस्थिति के अनुसार प्रतीत होती है। उस समय वस्तु के अन्य गुणों के वर्णन करने की प्रायः उपेक्षा की जाती है।

अनेकांत मूलतः सिद्धांत है और इस सिद्धांत की शैली का नाम है स्याद्वाद। स्यात् वाद शब्दों के योग से स्याद्वाद शब्द का गठन हुआ है। स्याद् शब्द का अर्थ है कथंचित अर्थात् किसी एक दृष्टि से और वाद का अभिप्राय है विचार। इस प्रकार स्यादवाद के कथन से यह बोध होता है कि विविक्षित वस्तु का वर्णन उसके किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से है, उसका वर्णन अन्य गुण या अन्य दृष्टि की अपेक्षा अन्य प्रकार होता है। लोक में सामान्यतः स्याद्वाद का अर्थ अन्यथा भी लगा कर मिथ्या धारणा का प्रयत्न किया गया। ऐसी मान्यता धारियों की दृष्टि में स्यात् का अर्थ है शायद। फलस्वरूप स्याद्वाद का अर्थ शायद ऐसा हो, इस प्रकार माना गया है। उनकी दृष्टि में स्याद्वाद संदेहबोधक शब्द है। जैन धर्म में इस शब्द का अर्थ इस प्रकार स्वीकार नहीं किया गया है। यहां तो स्यात् शब्द से कथंचित का अर्थ लेते हैं अर्थात् विवक्षित वस्तु के किसी एक गुण का किसी एक दृष्टि से वर्णन है। उस गुण का उस दृष्टि में वर्णन पूर्णतः निश्चयात्मक है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

विश्व में वैचारिक विविधता आरम्भ से ही रही है। विचार वैविध्य को जब आग्रह के साथ ग्रहण किया जाता है तभी संघर्ष को जन्म मिला करता है। आज के विश्व-व्यापी मानवी समुदाय में वैचारिक विसंगति व्याप्त है फलस्वरूप प्रत्येक क्षण युद्ध-संघर्ष की सम्भावना बनी रहती

है। इस विश्व व्यापी समस्या का समाधान अनेकात और स्याद्वाद को जानने और मानने से सहज मे हल हो जाता है। फलस्वरूप अनेकमुखी संघर्षात्मक परिस्थितियो मे समता और सौहार्द का वातावरण स्थिर कर आदर्श की स्थापना होती है।

प्राणी मात्र के विकास और ह्रास हेतु जैन धर्म का एक और सिद्धान्त है—अहिंसा। अहिंसा मूलतः आत्मा का स्वभाव है। वह वस्तुतः किसी नकारात्मक स्थिति की परिणति नही है अर्थात् जो हिंसा नही है वह अहिंसा है प्राय. ऐसा नहीं है। जो वस्तु बाहर से प्राप्त होती है उसका अपना विभाव और प्रभाव हुआ करता है। प्रभाव और विभाव-व्यापार क्षण-क्षण मे बदलते रहते हैं। मैं मानता हू कि जो प्राप्त है वह आज नही तो कल अवश्य समाप्त है अस्तु हमे प्राप्त और समाप्त से सर्वथा पृथक होकर जो व्याप्त है उसे जानना चाहिए।

अहिंसा को विश्व की प्रत्येक धार्मिक मान्यता स्वीकार करती है। चाहे महात्मा ईशु हों, चाहे अल्लाह हो, अथवा ईश्वर हो अथवा भगवान बुद्ध, सभी के द्वारा अहिंसा को स्वीकारा गया है परन्तु जैन धर्म मे अहिंसा को जिस रूप मे माना गया है उसकी सूक्ष्मता और विशदता वस्तुत. अद्वितीय है। यहा अहिंसा के इसी महत्व-महिमा पर सक्षेप मे विश्लेषण करना आवश्यक है।

अहिंसा जैन धर्म का प्राणभूत तत्व है। उसकी विशद व्याप्ति मे सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सब व्रत समा जाते हैं। व्रती अहिंसक होता है और जो व्यक्ति सच्चा अहिंसक है उसके द्वारा किसी प्रकार का पाप कर्म होना सम्भव नही होता। मन, वाणी और शरीर के द्वारा किसी प्रकार की असावधानी अहिंसक प्राय. नही करेगा जिससे किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट पहुंचे। इसके विपरीत की जाने वाली असावधानी वस्तुत हिंसाजन्य होती है।

हिंसा के मूलतः दो भेद किए गए हैं—यथा—

१. भाव हिंसा, २. द्रव्य हिंसा।

अपने मन में स्वय तथा किसी दूसरे प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट देने का विचार आना वस्तुतः भाव हिंसा कहलाती है। वाणी तथा शरीर से अपने तथा दूसरे को कष्ट पहुंचाने वाली असावधानी को द्रव्य हिंसा कहा जाता है। इस प्रकार द्रव्य हिंसा स्थूल है और भाव हिंसा सूक्ष्म। जिस प्रकार किसी चोरी करने वाले चोर की स्वय भी चोरी होती जाती है अर्थात् उसकी अचौर्य वृत्ति की चोरी हुआ करती है उसी प्रकार हिंसक को अहिंसक वृत्ति किसी प्रकार की हिंसात्मक मनोवृत्ति उत्पन्न होने पर प्रायः प्रच्छन्न हो जाती है।

जैन धर्म मे द्रव्य हिंसा को चार कोटियों प्राय. विभक्त किया गया है। यथा—१. सकल्पी हिंसा, २. विरोधी हिंसा ३. आरम्भी हिंसा, ४. उद्योगी हिंसा।

हिंसा का वह रूप जो जान-बूझकर अर्थात् संकल्प पूर्वक की जाती है, वस्तुत सकल्पी हिंसा कहलाती है। मन से वचन से तथा शरीर से स्वय करके, दूसरों के द्वारा कराकर तथा किसी अन्य व्यक्ति के किए जा रहे कार्य की अनुमोदना करके जो कार्य किया जाता है, वह सकल्पी हिंसा की कोटि मे आ जाता है। किसी आक्रमणकारी से अपनी, अपने परिवार की, और धन धर्म और समाज-राष्ट्र की रक्षा हेतु जो हिंसा हो जाती है वह वस्तुत विरोधी हिंसा कहलाती है। विचार कर देखें तो लगता है कि सकल्पी हिंसा की जाती है जबकि विरोधी हिंसा हो जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति को गृह कार्य मे अनेक विधि ऐसे कार्य करने होते है जिनमे हिंसा हो जाती है। घर की व्यवस्था, भोजनार्थ खाद्य सामग्री का व्यवस्था करना, कपड़े बनवाना तथा धुलवाना आदि मे जो हिंसा हो जाती है उसे आरम्भी हिंसा कहा जाता है। अहिंसक इस प्रकार के कार्य करते समय अत्यन्त सावधानी रखता है ताकि कम से कम हिंसा होने पाए। इसी प्रकार उद्योगी हिंसा में प्रत्येक गृहस्थ अथवा व्यक्ति को अपने और अपने आश्रित प्राणियों के लिए जीवकोपार्जन करने मे जो हिंसा होती है उसे उद्योगी हिंसा कहा जाता है। मांस-मदिरा का व्यापार, भट्टा आदि का लगवाना तथा अन्य अनेक इसी प्रकार के काम-काज करने से जो हिंसा होती है वह उद्योगी हिंसा के अन्तर्गत आती है। अहिंसक धर्मो को इस दिशा में पूरी सावधानी रखनी चाहिए और जीवकोपार्जन के लिए ऐसा कार्य करना

चाहिए जिसमे कम से कम हिंसा होने की सम्भावना रहती हो।

उपरोक्त चारो प्रकार की द्रव्य हिंसा वस्तुतः गृहस्थ समूह के द्वारा की जाती है इस प्रकार की होनी वाली हिंसात्मक व्यापारो के प्रति सावधानी रखने वाला प्राणी अणुव्रत साधना के अन्तर्गत आता है। इसके अतिरिक्त इस दिशा मे जो सूक्ष्म स्वरूप पर आचरण करता है वह प्राय सत साधक समाजी कहा जाता है। उसे सामान्यत महाव्रत के साधना समुदाय का अग कहा जा सकता है।

हिंसा पर विजय पाने के लिए जितना कष्ट सहना पड़े वह सब सहा जाए। इसी सिद्धान्त के आधार पर तपस्या का विकास हुआ है। इन्द्रिय और मन को जीते बिना कोई अहिंसा जीवन मे नही आ सकती। इनकी विजय के लिए वाह्य वस्तुओं, विषयों का त्याग आवश्यक है।

जैन धर्म मे इस उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए अपरिग्रह वाद का प्रवर्तन किया गया है। परिग्रह के साधारणत अर्थ हैं सग्रह करना। जैन धर्म समता पर बल देता है ममता पर नही। पर-पदार्थ के प्रति जो ममत्व भाव उत्पन्न होता है उसमे ही सग्रह की भावना उत्पन्न होती है। ममता का मूलाधार अज्ञानता है। अज्ञानी स्व-पर भेद से किसी वस्तु का सही-सही मूल्याकन नही करता। अहिंसक कभी अज्ञानी नही हो सकता। इसीलिए अहिंसक पेट भरने की बात कहता है, पेटी भरने की नही। पेटी भरना ही तो परिग्रहवादिता है।

मत परिग्रह कर यहा कुछ थिर नही है,
व्यर्थ है सग्रह, जरूरत चिर नही है।
हो सकी अपनी न दौलत रूप सी भी,
मौत से पहिले निजी तन, फिर नही है॥

अहिंसक सदा अपरिग्रही होता है। आवश्यकता से अधिक पदार्थ संग्रह में उसे आसक्ति नही रहती आसक्ति वस्तुत अबोध का परिणाम है। आसक्ति बुराई है। बोध होने पर बुराई दुहराई नही जाती।

आत्मानुशासन मे कहा है कि धर्म पवित्र आत्मा मे ठहरता है। अहिंसा एक धर्म है। व्यवहार की भाषा मे वह पवित्र आत्मा मे उद्भूत होती है और निश्चय की भाषा में आत्मा की स्वाभाविक स्थिति ही पवित्रता है और वही अहिंसा है। आज अपेक्षा है जहां हिंसा की रौरवी पिशाचनी मुंह वाए मानवता को निगलना चाहती है, अहिंसा के निरूपण, उस पर चर्चन, विमर्षण और बौद्धिक विश्लेषण के क्रम से आगे बढ़ाया जाए ताकि लोक श्रद्धा जो हिंसा मे गहरी पैठती जा रही है, अहिंसा पर टिकने को समग्रिन हो।

महात्मा ईशु, अहिंसा पालन करने का निदेश देते हैं। वैदिक विश्व मे और इस्लामी दुनिया मे भी अहिंसात्मक प्रवृत्ति की अनुशसा की गई है। इन सभी मान्यताओं में मनुष्य गति की श्रेष्ठता सर्वोपरि है। यह धारणा है भी ठीक। इसीलिए यहा मनुष्य हित को सर्वोपरि समझा जाता है। मनुष्य हित मे यदि तिर्यचादिक गतियो के जीवो का घात होना है तो यहा प्राय उसे करने की स्वीकृति दी जाती है। इसके विपरीत जैन धर्म मे स्पष्ट धारणा है कि मनुष्य गति अन्य सभी गतियो की तुलना मे नि स्सन्देह श्रेप्ठ है तथापि मनुष्य की सुख-सुविधा हेतु यहा अन्य जीव धारियो का घात करने की अनुमति और स्वीकृति कदापि नही दी गई है। विचार कर देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि जीव चाहे किसी भी श्रेणी का हो, मलीन हो, दीन हो अथवा कुलीन और प्रवीण हो, कष्ट कोई भी भोगना नही चाहता। सभी गतियो के जीव सुख की आकाक्षा रखते हैं। जीव घात किए बिना मनुष्य गति को सुख-सुविधा, प्रदान करने का प्रयत्न जैन धर्म मे प्रारम्भ से ही रहा है। यहां स्पष्ट धारणा रही है कि हम स्वय जिए और दूसरो को जीने दे।

विश्व की अन्य अनेक धार्मिक मान्यताओं द्वारा व्यक्ति उदय और वर्गोदय की व्यवस्था सजोयी गई है जबकि जैन धर्म मे व्यक्ति ही नही, कोई वर्ग विशेष ही नही अपितु प्राणी मात्र के उन्नयन हेतु सन्मार्ग प्रशस्त किया गया है। विचार कर देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि यह कितनी व्यापक और उदात्त भावना है। इसी विराट् भावना के बल बूते पर जैन धर्म को विश्व धर्म के उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

—पीली कोठी आगरा रोड, अलीगढ, पिन २०२००१

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

□ महामहोपाध्याय डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, साहित्याचार्य, उज्जैन

परिचय और उपाधि—

विक्रम की ११वी शताब्दी में एक अत्यन्त प्रतिभाशाली जैनाचार्य हुए जिनका नाम नेमिचद्र है। ये, दिगम्बर जैनागम 'षट् खण्डागम' और उसकी 'धवला' और जय धवला' टीकाओं के पारगामी विद्वान् थे। इसी कारण उन्हे 'सिद्धात चक्रवती' की महनीय उपाधि प्राप्त हुई थी। उन्होंने धवल-सिद्धान्त का मथन करके 'गोम्मटसार' तथा जय धवल-सिद्धान्त का मथन करके 'लब्धिसार' नामक ग्रन्थों की रचना की।

गोम्मटसार ग्रन्थ के कर्मकाण्ड में, उन्होंने लिखा है कि "जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने चक्ररत्न मे भारत वर्ष के छह खण्डो को निर्विघ्न स्वाधीन कर लेता है, उसी प्रकार मैंने अपने बुद्धि-रूपी चक्र से षट्खण्डागम सिद्धान्त को सम्यक् रीति से साधा।"

"जह चक्केण य चक्की छक्खण्ड साहिय अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खण्ड साहिय सम्म ॥३९७॥"

सभवत विद्वानो को, आचार्य नेमिचन्द्र के लिए इस उपाधिदान की प्रेरणा, जय धवला प्रशस्ति के उस श्लोक से प्राप्त हुई होगी जिसमे वीरसेन स्वामी के लिए कहा गया है कि "भरत चक्रवर्ती की आज्ञा की तरह जिनकी भारती षट्खण्डागम मे स्खलित नही हुई।"[1]

"भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत्।"
(जय धवला प्रशस्ति-२०)

आचार्य नेमिचन्द्र के गुरु—

आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने गुरुओ के नामो का उल्लेख, स्पष्ट रूप से, अपने ग्रन्थों मे किया है। तदनुसार, आचार्य अभयनन्दि, वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि, उनके गुरु हैं। कर्मकाण्ड मे एक स्थान पर कहा गया है कि "जिनके चरणो के प्रसाद से वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि का वत्स्य (शिष्य), अनन्त ससार रूपी समुद्र से पार हो गया उस अभयनन्दि गुरु को मैं नमस्कार करता हू।"

"जस्स य पायपसाएणणतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणदिवच्छो णमामि त अभयणंदिगुरुं॥"
(कर्मकाण्ड—४३६)

इसी प्रकार कर्मकाण्ड मे अन्यत्र (गाथा नं० ७८५) तथा लब्धिसार (गाथा न० ६४८) मे भी उन्होंने अपने तीनो गुरुओं को प्रणाम किया है।

चामुण्डराय और उनके गुरु आचार्य नेमिचन्द्र—

चामुण्डराय, गगवशी राजा रायमल्ल (राचमल्ल) के प्रधानमत्री एव सेनापति थे। उन्होंने अनेक युद्ध जीते और उसके उपलक्ष्य में वीरमार्तण्ड, रणरंगमल्ल आदि अनेक उपाधिया प्राप्त की।

इसे एक आश्चर्य ही समझना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने यौवन के प्रभातमे प्रबल शक्तिशाली राजाओ से युद्ध कर विजय प्राप्त करता रहा, वही अपने जीवन की सध्या मे आचार्य नेमिचन्द्र सदृश गुरुओं के पारस का स्पर्श पाकर कैसे एक अध्यात्मिक भक्त, सन्त, निर्माता और साहित्यकार बन गया?

नि सन्देह, चामुण्डराय अत्यन्त गुणी पुरुष थे। उन्होंने अपने जीवन मे चार महान् कार्य किए। प्रथम—श्रवणबेलगोला स्थान पर, चन्द्रगिरि पर्वत पर चामुण्डराय बसति नामक जिनालय का निर्माण और उसमें इन्द्रनीलमणि की एक हाथ ऊँची भगवान नेमिनाथ की प्रतिमा की स्थापना, जो अब अनुपलब्ध है। द्वितीय—शक सवत् ९०० (वि०सं० १०३५) मे चामुण्डराय पुराण की रचना। तृतीय—गुरु आचार्य नेमिचन्द्र के गोम्मटसार ग्रन्थ पर 'वीर मार्तण्डी' नामक देशी भाषा (कनडी) मे टीका और चतुर्थ—श्रवणबेलगोला मे विन्ध्यगिरि पर, संसार का अद्भुत शिल्प वैभव एव महान् आश्चर्य बाहुबली स्वामी की सत्तावन

फीट ऊँची, विशाल, भव्य एवं अतिशय मनोज्ञ प्रतिमा की निर्मिति।

चामुण्डराय का घर का नाम 'गोम्मट' था यह बात डॉ० आ० ने० उपाध्याये ने अपने एक लेख में सप्रमाण सिद्ध की है। उनके इस नाम के कारण उनके द्वारा स्थापित बाहुबली की मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' के नाम से ख्यात हुई। डॉ० उपाध्ये ने 'गोम्मटेश्वर का अर्थ किया है— गोम्मट अर्थात् चामुण्डराय का ईश्वर अर्थात् देवता। इसी कारण से विन्ध्यगिरि की, जिस पर गोम्मटेश्वर की मूर्ति स्थापित है, 'गोम्मट' कहा गया है। इसी गोम्मट उपनामधारी चामुण्डराय के लिए नेमिचन्द्राचार्य ने अपने गोम्मटसार नामक समग्र ग्रन्थ की रचना की। इसी कारण ग्रन्थ को 'गोम्मटसार' सज्ञा प्राप्त हुई।[३]

मेरे मित्र डा० देवेन्द्रकुमार जैन ने गोम्मटेश्वर का एक दूसरा अर्थ किया है। वे लिखते हैं[४] कि—"उन्हे गोम्मटेश्वर इसलिए कहा जाता है कि वह गोमद् यानी प्रकाश से युक्त थे, प्रकाशवानों के ईश्वर गोम्मटेश्वर। दूसरी व्युत्पत्ति यह है कि साधनाकाल मे लता-गुल्मों के चढ़ने से वह 'गुल्ममत्' हो गए 'गोम्मट' उसी का प्राकृत शब्द है।

जीवकाण्ड की मन्दप्रबोधिनी टीका (पृ० ३) की उत्थानिका में शब्द लिखे हैं उनसे उनके अप्रतिम व्यक्तित्व का सहज बोध हो जाता है—"श्रीमद्प्रतिहतप्रभावस्याद्वाद शासन गुहाभ्यंतर निवासि···तद्गोम्मटसार प्रथमावयवभूत जीवकाण्डं विरचयन्।"

अर्थात्—"गंगवश के ललामभूत श्रीमद् राजमल्लदेव के महामात्य पद पर विराजमान, रणरगमल्ल, असहाय पराक्रम, गुणरत्नभूषण, सम्यक्त्वरत्ननिलय आदि विविध सार्थक नामधारी श्री चामुण्डराय के प्रश्न के अनुरूप जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड के अर्थ का सग्रह करने के लिए गोम्मटसार नाम वाले पंचसंग्रह शास्त्र का प्रारभ करते हुए, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती परम मगल पूर्वक गाथा सूत्र कहते हैं।"

चामुण्डराय के लिए यह कितने सौभाग्य की बात है कि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती जैसे मनीषी गुरु ने, न केवल गोम्मटसार अपितु त्रिलोकसार की भी रचना उनके प्रतिबोधनार्थ की। त्रिलोकसार के संस्कृत टीकाकार माधवचन्द्र त्रैविद्य ने त्रिलोकसार की प्रथम गाथा की उत्थानिका में लिखा है—"भगवन्नेमिचन्द्र सैद्धान्तदेवश्चतुरनुयोगचतुरुदधिपारश्चामुण्डरायप्रतिबोधनव्याजेनाशेषविनेयजनप्रतिबोधनार्थं त्रिलोकसारनामानं ग्रन्थमारचयन्।"

जीवकाण्ड के अन्त की गाथा (न० ७३५) में ग्रन्थकार ने कहा है—'आर्य आर्यसेन के गुण समूह को धारण करने वाले अजितसेनाचार्य जिसके गुरु हैं वह राजा गोम्मट जयवन्त हो।' इसी प्रकार कर्मकाण्ड के अन्त की कुछ गाथाओ (अंत की कुछ गाथाओ (नं० ९६६ से ९७२) के के द्वारा, आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मट राजा चामुण्डराय का जयकार किया है और उनके द्वारा किए गए कार्यों की भी प्रशशा की है—

"गणधरदेव आदि ऋद्धि प्राप्त मुनियों के गुण जिसमें निवास करते है. ऐसे अजितसेननाथ जिसके गुरुहै, वह राजा जयवन्त हों ॥९६६॥ सिद्धान्तरूपी उदयांचल के तट से उदय को प्राप्त निर्मल नेमिचन्द्र रूपी चन्द्रमा की किरणो से वृद्धिगत, गुणरत्नभूषण, चामुण्डराय रूपी समुद्र की बुद्धि रूपी वेला भुवनतल को पूरित करे ॥९६७॥ गोम्मट संग्रह-सूत्र (गोम्मटसार), गोम्मट शिखर पर स्थित गोम्मटजिन और गोम्मटराज के द्वारा निर्मित कुक्कुटजिन जयवन्त हो ॥९६८॥ जिसके द्वारा निर्मित प्रतिमा का मुख सर्वार्थसिद्धि के देवो द्वारा तथा सर्वाधिज्ञान के धारक योगियो के द्वारा देखा गया है, वह गोम्मट जयवन्त हो ॥९६९॥ स्वर्णकलशयुक्त जिनमन्दिर मे, त्रिभुवनपति भगवान् की माणिक्यमयी प्रतिमा की स्थापना करने वाला राजा जयवन्त हो ॥९७०॥ जिसके द्वारा खड़े किए गए स्तम्भ के ऊपर स्थित यक्ष के मुकुट के किरणरूपी जल से सिद्धों के शुद्ध पाँव धोए गए, वह राजा गोम्मट जयवन्त हो ॥९७१॥ गोम्मटसूत्र के लिखते समय जिस गोम्मट राजा ने देशी भाषा मे जो टीका लिखी, जिसका नाम वीरमार्तण्डी है, वह राजा चिरकाल तक जयवन्त हो ॥९७२॥"

विन्ध्यगिरि पर बाहुबली की प्रतिमा—

चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोला की विन्ध्यगिरि की पहाड़ी पर सत्तावन फुट ऊँची जिस अतिशययुक्त मनोहारी

प्रतिमा का निर्माण कराया, वह उनके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

सम्राट् भरत ने अपने अनुज, बाहुबली की कठोर तपस्या की स्मृति में उत्तर भारत मे एक मनोज्ञ प्रतिमा की स्थापना की थी। कुक्कुट सर्पों से व्याप्त हो जाने के कारण वह 'कुक्कुट जिन' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उत्तर भारत की मूर्ति से भिन्नता बतलाने के लिए चामुण्डराय द्वारा स्थापित मूर्ति 'दक्षिण कुक्कुट जिन' कहलाई। कर्मकाण्ड गाथा ९६९ में इस प्रतिमा की ऊँचाई को लक्ष्य मे रख कर ही नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है कि "उस प्रतिमा का मुख सर्वार्थसिद्धि के देवो ने देखा है।"—

"जेण विणिम्मिय पडिमावयण सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ॥"
—कर्मकाण्ड -गाथा न० ९६९)

प्रतिमा स्थापना का समय—

गोम्मटसार कर्मकाण्ड (गाथा न ९६८ तथा ९६९) मे चामुण्डराय के द्वारा 'गोम्मट जिन' की प्रमि की स्थापना का निर्देश है। अत: यह निश्चित है कि गोम्मटसार की समाप्ति गोम्मट-प्रतिमा की स्थापना के पश्चात् हुई। किन्तु मूर्ति के स्थापनाकाल को लेकर इतिहासज्ञो मे बडा मतभेद है। बाहुबलि चरित्र मे "कल्पयब्दे षट्शताख्ये···"इत्यादि श्लोक मे चामुण्डराज द्वारा वेल्गुल नगर मे 'गोमटेश' की प्रतिष्ठा का समय कल्कि सवत् ६००, विभव संवत्सर, चैत्र शुक्ल पंचमी, रविवार, कुम्भ लग्न, सौभाग्य योग, मस्त (मृगशिरा) नक्षत्र, बताया है।

किन्तु उक्त तिथि कब पड़ती है इस सबध मे अनेक मत है। प्रो० एस० सी० घोषाल ने ज्योतिष् शास्त्र द्वारा परीक्षण के आधार पर उक्त तिथि को २ अप्रैल ९८० माना है।[४]

ज्योतिषाचार्य डॉ० नेमिचन्द्र जी,[५] भारतीय ज्योतिष् के अनुसार उक्त तिथि, नक्षत्र, लग्न, सवत्सर आदि को १३ मार्च सन् ९८१ मे घटित मानते हैं।

प्रो० हीरालाल जी के अनुसार २३ मार्च १०२८ सन् में उक्त तिथि वगैरह ठीक घटित होती है।[६] किन्तु शाम शास्त्री ने उक्त तिथि को ३ मार्च १०२८ सन् बताया है।

एस० श्रीकण्ठ शास्त्री 'कल्पयब्दे' के स्थान पर 'कल्यब्दे' पाठ ठीक मानकर उक्त तिथि के वर्ष को ९०७-८ ई० निर्धारित करते हैं।[७] सिद्धान्त शास्त्री पं० कैलाशचन्द्र जी अपनी साहित्यिक छान-बीन के आधार पर, मूर्ति-स्थापना का समय ९८१ ई० (विक्रम सं० १०३८) उपयुक्त मानते हैं।[८]

इस प्रकार विभिन्न विद्वानो के मतानुसार बाहुबली की प्रतिमा का स्थापना काल ई० ९०७ से लेकर ई० १०२८ तक, लगभग १२१ वर्ष के मध्य झूल रहा है। मुझे तो ज्योतिष शास्त्र के अनुसार परीक्षण किए गए डॉ० घोषाल और डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के ९८०-९८१ ई० वाले मत उपयुक्त जान पडते है। इस मत मे प० कैलाशचन्द्र जी की भी सहमति है।

आचार्य नेमिचन्द्र की रचनाएँ—

आचार्य नेमिचन्द्र की प्राकृत गाथाओं मे रचित पाँच रचनाएं प्रसिद्ध है। इनमे केवल द्रव्य सग्रह को छोड कर शेष चार रचनाओं--गोम्मटसार, लब्धिसार और त्रैलोक्यसार (त्रिलोकसार) की रचना का उल्लेख है —

"श्रीमद्गोमटलब्धिसारविलसत्त्रैलोक्यसारामर-
क्ष्माजश्रीसुरधेनुचिन्तितमणीन् श्रीनेमिचन्द्रोमुनि. ॥"

इसी प्रकार द्रव्य-सग्रह की अन्तिम गाथा मे मुनि नेमिचन्द्र द्वारा उसकी रचना किए जाने का उल्लेख है —

"दव्वसगहमिण मुणिणाहा···णेमिचन्द्र मुणिणा भणिय ज"
—(द्रव्यसंग्रह ५८)

गोम्मटसार—

नाम—इस ग्रन्थ के चार नाम पाए जाते है—गोम्मट सगहसुत्त, गोम्मटसुत्त, गोम्मटसार और पचसग्रह।

गोम्मटसगहसुत्त एव गोम्मटसुत्त नामों का प्रयोग स्वय ग्रन्थकार ने कर्मकाण्ड की ९६८वीं तथा ९७२वी गाथाओं में किया है। गोम्मटसार नाम का प्रयोग अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपनी मन्दप्रबोधिनी टीका में किया है। इसी टीका मे ग्रन्थ का नाम पचसंग्रह भी उपलब्ध होता है।

पचसग्रह, नाम का कारण बताते हुए प्रो० घोषाल[९] ने लिखा है कि इसमे, बन्ध, बन्ध्यमान, बन्धस्वामी, बन्ध-हेतु और बन्धभेद इन पाँच बातों का सग्रह होने के कारण ही इसका नाम पचसग्रह है। सिद्धान्त शास्त्री

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने पंचसंग्रह नाम का कारण बता ते हुए लिखा है कि "संभवतया टीकाकारों ने अमितगति के पंचसंग्रह को देखकर और उसके अनुरूप कथन इसमे देख कर इसे यह नाम दिया है।"[१०]

गोम्मट अर्थात् चामुण्डराय के प्रतिबोधन के निमित्त लिखे जाने के कारण इस ग्रन्थ का नाम 'गोम्मटसार' पड़ा। विद्वान् इसका रचना काल वि० स० १०४० के लगभग मानते हैं।

विषयवस्तु-जीवकाण्ड—

गोम्मटसार के दो भाग है—प्रथम जीवकाण्ड और द्वितीय कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड की गाथा संख्या के विषय में मतभेद है। कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने जीवकाण्ड की गाथाओं की सख्या ७३४ लिखी है है, जबकि डॉ० घोषाल[११] और डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री[१२] ने इसकी गाथाओं की संख्या ७३३ लिखी है। वस्तुत गाथा संख्या ७३४ ही है। भूल का कारण यह है कि जीवकाण्ड के गाधी नाथारंग जी, बम्बई वाले संस्करण तथा रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई वाले सस्करणों इन दोनों संस्करणो में गाथा संख्या ७३४ के स्थान पर ७३३ लिखी गई है। क्योंकि प्रथम सस्करण मे दो गाथाओं पर २४७ नं० पड़ गया है तथा द्वितीय संस्करण मे प्रमादवश १४४ न० की गाथा छूट गई है।

जैसा कि नाम से व्यक्त है इसमें जीव का कथन है। ग्रन्थकार ने जीवकाण्ड की प्रथम गाथा मे "जीवस्स परूपण वोच्छं" कह कर यह बात स्पष्ट कर दी है कि इसमें जीव का प्ररूपण है। जीवकाण्ड की द्वितीय गाथा मे उन बीस प्ररूपणाओ (अधिकारों) को गिनाया है जिनके द्वारा जीव का कथन इस ग्रन्थ मे किया गया है। ये बीस प्ररूपणाएँ हैं—गुणस्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा, १४ मार्गणाएँ और उपयोग।

यहाँ यह बात जानने योग्य है कि गोम्मटसार एक सग्रह ग्रन्थ है। कर्मकाण्ड की गाथा नं० ९६५ मे आए 'गोम्मटसंग्रह सुत्त' नाम से भी यह स्पष्ट है। जीवकाण्ड का संकलन मुख्य रूप से पंचसंग्रह के जीवसमास अधिकार, तथा षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड, जीवट्ठाण के सत्प्ररूपणा और द्रव्यपरिमाणानुगम नामक अधिकारो की धवला टीका के आधार पर किया गया है।

जीवकाण्ड का संकलन बहुत ही व्यवस्थित, सन्तुलित और परिपूर्ण है। इसी से दिगम्बर साहित्य में इसका विशिष्ट स्थान है।

कर्मकाण्ड—

गोम्मटसार के दूसरे भाग का नाम कर्मकाण्ड है। इसकी गाथा सख्या ९७२ है। इसमें नौ अधिकार है—१. प्रकृति-समुत्कीर्तन, २. बन्धोदयसत्त्व, ३. सत्त्वस्थानभङ्ग, ४. त्रिचूलिका, ५. स्थानसमुत्कीर्तन, ६. प्रत्यय, ७. भाव-चूलिका, ८. त्रिकरणचूलिका और ९. कर्मस्थिति रचना। इन नौ अधिकारो मे कर्म की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण किया गया है।

सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने एक महत्त्वपूर्ण बात कर्मकाण्ड के विषय मे कही है। इसके गाथा न० २२ से ३३ तक की गाथाओ मे कुछ असम्बद्धता या अपूर्णता प्रतीत होती है। मूडबिद्री से प्राप्त ताडपत्रीय कर्मकाण्ड की प्रतियों मे इन गाथाओं के बीच में कुछ सूत्र, गद्य में पाए जाते हैं। मूडबिद्री की प्रति मे पाए जाने वाले इन सूत्रो को यथास्थान रख देने से कर्मकाण्ड की गाथा न० २२ से ३३ तक की गाथाओं मे जो असम्बद्धता और अपूर्णता प्रतीत होती है, वह दूर हो जाती है और सब गाथाएँ सुसगत प्रतीत होती हैं।

पं० कैलाशचन्द्र जी का एक महत्वपूर्ण सुझाव है कि मूडबिद्री की प्रति मे वर्तमान गद्य-सूत्र अवश्य ही कर्मकाण्ड के अग है और वे नेमिचन्द्राचार्य की कृति है। कर्मकाण्ड की मुद्रित संस्कृत-टीका मे उन सूत्रों का सस्कृत रूपान्तर अक्षरश: पाया जाना भी इस बात की पुष्टि करता है। उन सूत्रों को यथास्थान रखने से कर्मकाण्ड की त्रुटिपूर्ति हो जाती है।[१]

टीकाएँ—

गोम्मटसार पर संस्कृत में दो टीकाएँ लिखी गई हैं—प्रथम—नेमिचन्द्र द्वारा 'वीर मार्तण्डी टीका' और द्वितीय—'केशव वर्णीकृत 'केशववर्णीया वृत्ति'

'वीरमार्तण्ड' चामुण्डराय की उपाधि थी, अत: 'वीरमार्तण्डी' का अर्थ हुआ चामुण्डराय द्वारा निर्मित टीका। यह टीका आजकल उपलब्ध नही है, किन्तु इसका उल्लेख दो स्थानों पर प्राप्त होता है—प्रथम, कर्मकाण्ड

की गाथा नं० ९७२ में तथा द्वितीय केशववर्णी या वृत्ति की प्रारम्भिक गाथा मे। कर्मकाण्ड की गाथा न० ९७२ इस प्रकार है—

"गोम्मट सुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
सो राओ चिरकाल णामेण य वीरमत्तण्डी॥"

केशववर्णीया वृत्ति की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

"नेमिचन्द्र जिनं नत्वा सिद्धं श्री ज्ञान भूषणम्।
वृत्तिं गोम्मटसारस्य कुर्वे कर्णाटवृत्तित॥"

यहा 'कर्णाटवृत्तित' पद से अभिप्राय, चामुण्डराय द्वारा लिखित कर्मकाण्ड की कन्नड टीका से है।

लब्धिसार—क्षपणासार

लब्धिसार और क्षपणासार को गोम्मटसार का ही उत्तर भाग समझना चाहिए। प्राकृत गाथाओं में निबद्ध दोनों ग्रन्थों की सम्मिलित गाथा-सख्या ६५३ है।" डॉ० घोपाल ने 'लब्धिसार की गाथा-सख्या ३८० तथा क्षपणासार कीगाथा-सख्या २७०, इस प्रकार कुल गाथा-सख्या ६५० लिखी है। वस्तुत गाथा सख्या ६५३ ही है। गाथाओं की विभिन्नता का कारण यह है कि रायचन्द्र शास्त्रमाला बबई वाले सस्करण मे गाथाओं की सख्या ६४९ है, क्योंकि उसमे गाथा न० १५६, १६७, २७४, तथा ५३१ नही है ये चार गाथाएँ हरिभाई देवकरण ग्रन्थमाला से प्रकाशित सस्करण (शास्त्राकार) मे सम्मिलित कर दी गई हैं। डॉ० घोपाल ने गाथाओं की संख्या ६५० किस आधार पर लिखी है, यह बात विचारणीय है।

यहा यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि लब्धिसार और क्षपणासार, दोनों एक ही ग्रन्थ है। जैसे इस ग्रन्थ की प्रथम गाथा में ग्रन्थकार ने दर्शनलब्धि और चारित्रलब्धि को करने की प्रतिज्ञा की है, वैसे ही अतिम गाथा (६५२) मे भी कहा है कि—"नेमिचन्द्र ने दर्शन और चरित्र की लब्धि भले प्रकार कही।" ढुढारी भाषा टीकाकार प० टोडरमल ने भी लिखा है कि—"लब्धिसार नामक शास्त्र विषै कही।" अत. इस ग्रन्थ का नाम लब्धिसार ही है।

टीकाकार नेमिचन्द्र की संस्कृत-टीका, गाथा न० ३९१ तक पाई जाती है, जहां तक चारित्र-मोह की उपशमना का कथन है। चरित्र मोह की क्षपणा वाले भाग पर संस्कृत टीका नही है।

श्री माधवचन्द्र आचार्य ने 'क्षपणासार' नामक एक अन्य ग्रन्थ सस्कृत गद्य मे लिखा है। इस ग्रन्थ और नेमिचन्द्र के प्राकृत-गाथाओं वाले 'क्षपणासार' का विषय एक ही है। संभवत इसी कारण लब्धिसार के उत्तर-भाग का नाम क्षपणासार दे दिया गया है।

विषयवस्तु—

गोम्मटसार के जीवकाण्ड में जीव का, कर्मकाण्ड मे जीव द्वारा बाधे जाने वाले कर्मों का और लब्धिसार मे जीव के कर्मबन्धन से मुक्त होने का उपाय तथा प्रक्रिया बताई गई है।

मोक्ष की प्राप्ति के कारणभूत सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र की लब्धि अर्थात् प्राप्ति का कथन होने के कारण ग्रन्थ का नाम लब्धिसार है।

"सम्यग्दर्शनचारित्रयोर्लब्धिः प्राप्तिर्यस्मिन् प्रतिपाद्यते स लब्धिसारनामा ग्रन्थ।" —(लब्धिसार टीका)

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कथन है। उसकी प्राप्ति पाच लब्धियों के होने पर होती है। वे है—क्षयोपशम, विशुद्धि देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि।

गाथा न० ३९१ तक चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम करने का कथन है। उसके आगे चारित्र मोह की क्षपणा का कथन है। क्षपणा के अन्तर्गत जो क्रियाये होती है उन्ही को आधार बना कर चारित्र मोह की क्षपणा के अधिकारो का नामकरण किया गया है। वे अधिकार हैं—अध करण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण— ये तीन करण, बन्धापसरण और सत्त्वापसरण— ये दो अपसरण, क्रमकरण, कषायों आदि की क्षपणा, देशघातिकरण, अन्तरकरण, सक्रमण, अपूर्वस्पर्धककरण, कृष्टिकरण और कृष्टि अनुभवन (गाथा ३९२)। इन्हीं अधिकारो के द्वारा उस क्रिया का कथन किया गया है।

गोम्मटसार की तरह लब्धिसार भी एक संग्रह ग्रन्थ है। दोनो मे षट्खण्डागम, कषायपाहुड और उनकी धवला-टीका का सार ही संगृहीत नही किया गया है, प्रत्युत उनसे तथा पंचसंग्रह से बहुत-सी गाथाएं भी सगृहीत की गई हैं। संग्रह होने पर भी इनकी अपनी विशेषता ध्यान देने योग्य है।

इसी विशेषता के कारण गोम्मटसार और लब्धिसार की रचना के पश्चात्, पट्खण्डागम और कषाय पाहुड के साथ उनकी टीका धवला और जयधवला को भी लोग भूल गए, और उत्तरकाल मे इन सिद्धान्त-ग्रन्थों को जो स्थान प्राप्त था, धीरे-धीरे वही स्थान नेमिचन्द्राचार्य के गोम्मटसार लब्धिसार को प्राप्त हो गया।

त्रिलोकसार—

गोम्मटसार के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ही त्रिलोकसार ग्रन्थ के रचयिता है। यह बात स्वय ग्रन्थकार ने त्रिलोकसार की अतिम गाथा मे इस प्रकार कही है —

"इदि णोमिचदमुणिणा अप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमनु त बहुसुदाइरिया॥"
—(त्रिलोकसार-१०२८)

त्रिलोकसार पर माधव त्रैविद्य ने एक सस्कृत-टीका लिखी है जिसकी भूमिका मे उन्होने इस बात का निर्देश किया है कि यह ग्रन्थ चामुण्डराय के प्रतिबोधन के लिए लिखा गया है। टीका के अन्त मे प्रशस्ति की एक गाथा मे यह भी लिखा है कि इस ग्रन्थ की कुछ गाथाएँ स्वय मेरे द्वारा रची गई है और गुरु नेमिचन्द्राचार्य की सम्मतिपूर्वक इस ग्रन्थ मे समाविष्ट कर दी गई है—

गुरु-णेमिचद-समद कदिवय-गाहा तहिं तहिं रइया।
माहवचदतिविज्जेणिणमणुसरणिज्जमज्जेहिं॥"

इस प्रकार त्रिलोकसार महकारप—परर्रचित एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी रचना वि० स० ११वी शती के मध्य हुई।

विषय वस्तु—

त्रिलोकसार करणानुयोग का ग्रन्थ है। प्राकृत मे रचित इसकी गाथाओं की सख्या १०१८ है। इसके छह अधिकार हैं—लोकसामान्य, भावनलोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, वैमानिक लोक और नरतिर्यक्लोक।

इन छह अधिकारों के माध्यम से त्रिलोकसार मे जिन बातों का वर्णन किया है वे इस प्रकार है—तीनों लोकों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन—यथा नरक और नारकियों का वर्णन, चारों प्रकार के देवताओं के भेद, प्रभेद, उनके रहने के स्थान, आवास, भवन, आयु, परिवार, विमान, गति आदि का वर्णन तथा जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मनुष्यक्षेत्र, नदी, पर्वत आदि का वर्णन। इसमें सब प्रकार के माप तथा मापने की विधि का भी वर्णन है।

द्रव्यसंग्रह—

मुनि नेमिचन्द्र रचित, द्रव्यसग्रह नाम का, एक छोटा-सा प्राकृत भाषा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है इसमें केवल अट्ठावन गाथाएँ है। फिर भी टीकाकार ब्रह्मदेव ने इसका नाम 'बृहद्द्रव्यसग्रह' लिखा है। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व, ग्रन्थकर्ता द्वारा एक 'लघु द्रव्य सग्रह' का निर्माण हो चुका था जिसकी गाथा सख्या २६ थी। ग्रन्थ की अन्तिम गाथा में ग्रन्थकार ने अपना तथा ग्रन्थ का नाम इस प्रकार दिया है—

"दव्वसगहमिण मुणिणाहा दोससचयचुदासुदपुण्णा।
सोधयन्तु तणुसुत्तधरेण णेमिचदमुणिणा भणिय ज॥"

इस ग्रन्थ के ऊपर ब्रह्मदेव रचित एक सस्कृतवृत्ति है। इसके प्रारभ मे वृत्तिकार ने ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा है कि—"अथ मालवदेशे धारा नाम नगराधिपति-राजभोजदेवाभिधान·· श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्व षड्-विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसग्रह कृत्वा पश्चाद् विशेषतत्त्व-परिज्ञानार्थ विरचितस्य बृहद्द्रव्यसग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वक-त्वेनवृत्ति प्रारभ्यते।" अर्थात्—

"मालवदेश मे धारानगरी का स्वामी कलिकाल सर्वज्ञ राजा भोज था। उसमे सबद्ध मण्डलेश्वर श्रीपाल के आश्रम नामक नगर में श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थङ्कर के चैत्यालय मे भाण्डागार आदि अनेक नियोगों के अधिकारी सोमनामक राजश्रेष्ठी के लिए, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने पहले २६ गाथाओ के द्वारा 'लघुद्रव्यसग्रह' नाम का ग्रन्थ रचा, पीछे विशेष तत्त्वों के ज्ञान के लिए 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' नामक ग्रन्थ रचा। उसकी वृत्ति को मैं प्रारम्भ करता हूं।"

ग्रन्थ का कर्तृत्व—

इस ग्रन्थ का कर्तृत्व विवादग्रस्त है। सामान्यतः, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती को ही द्रव्यसग्रह का रचयिता माना जाता रहा है। श्री डॉ० शरच्चन्द्र घोषाल ने भी द्रव्यसग्रह के अग्रेजी अनुवाद (आरा संस्करण) की भूमिका मे इसे इन्ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की कृति बताया है।

किन्तु पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार द्रव्यसंग्रह के

रचयिता को गोम्मटसार के रचयिता से भिन्न मानते हैं। अपनी पुरातन जैन वाक्यसूची की प्रस्तावना पृ० ९२-९४) में उन्होंने दोनों की भिन्नता के निम्नलिखित कारण दिए हैं—

१. द्रव्यसंग्रह के कर्ता का सिद्धान्त चक्रवर्ती पद सिद्धान्ती या सिद्धान्तिदेव पद से बडा है।

२. गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र ने अपने ग्रन्थो मे अपने गुरु या गुरुओं का नामोल्लेख अवश्य किया है। परन्तु द्रव्य संग्रह मे वैसा नही है।

३. टीकाकार ब्रह्मदेव ने अपनी टीका की प्रस्तावना में जिन नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव को द्रव्यसग्रह का कर्ता बताया है उनका समय धाराधीश भोजकालीन होने से ई० की ११वी शती है, जबकि चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र का समय ई० की १०वी शती है।

४. द्रव्यसंग्रह के कर्ता ने भावास्रव के भेदों मे प्रमाद को भी गिनाया है और अविरति के पाँच तथा कषाय के चार भेद ग्रहण किए है। परन्तु गोम्मटसार के कर्ता ने प्रमाद को भावास्रव के भेदो मे नही गिनाया और अविरत (दूसरे ही प्रकार से) के बारह और कषाय के २५ भेद स्वीकार किए हैं।

इस सबंध मे एक बात और कही जा सकती है कि सिद्धान्त-चक्रवर्ती द्वारा रचित चार ग्रन्थ 'सारान्त' हैं, जैसे गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि। यदि द्रव्यसग्रह भी उनके द्वारा रचित है तो इस बात की सहज कल्पना की जा सकती है कि द्रव्यसग्रह के स्थान पर इसका नाम भी 'द्रव्यसार' होना चाहिए था।

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी प० जुगलकिशोर जी मुख्तार के मत से सहमत होते हुए लिखा है कि" मुख्तार साहब के द्वारा उपस्थित किए गए चारो ही कारण सबल हैं। अत: जब तक कोई प्रबल प्रमाण प्रकाश मे नही आता तब तक द्रव्यसंग्रह को सिद्धांत चक्रवर्ती की कृति नही माना जा सकता।

टीका:—

द्रव्यसंग्रह पर ब्रह्मदेव रचित सस्कृत वृत्ति के अतिरिक्त, प्रसिद्ध दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने भी एक सक्षिप्त वृत्ति लिखी है, जिसमे प्रत्येक गाथा के खंडान्वय के साथ संस्कृत में शब्दार्थ मात्र दिया गया है। इसमे अन्य ग्रंथों के उद्धरण भी स्वल्प है। इसकी हिन्दी टीकाएँ अनेक है। बाबू सूरजभान जी वकील की हिन्दी-टीका अपेक्षाकृत अन्य हिन्दी टीकाओ से अच्छी है।

विषयवस्तु—

इसके तीन अधिकार हैं—प्रथम अधिकार में २७ गाथाओ मे छह द्रव्य और पाँच अस्तिकाय का वर्णन है, द्वितीय अधिकार मे, ग्यारह गाथाओं में सात तत्त्व और नौ पदार्थो का वर्णन है तथा तृतीय अधिकार में बीस गाथाओ मे मोक्षमार्ग का निरूपण है। इन्ही तीनो अधिकारो के अन्तर्गत इसमे चौदह गुणस्थान, चौदह मार्गणा, द्वादश-अनुप्रेक्षा, तीन लोक, व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग, सम्यग्दर्शन, तीन मूढता, आठ अग, छह अनायतन, द्वादशाङ्ग, व्यवहार तथा निश्चय चारित्र, ध्यान तथा उसके चार भेद तथा पच परमेष्ठी का वर्णन है।

इस प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, षट्खण्डागम-कषायपाहुड-धवला-जय धवला प्रभृति सिद्धान्त ग्रन्थों और उनकी टीकाओं के पारगामी प्रकाण्ड मनीषी, गोम्मटसारादि सिद्धांत ग्रथो के प्रणेता, वीरमार्तण्ड—रणरगमल्ल-महामात्य सेनापति—अध्यात्म जिज्ञासु विद्वत्प्रवर शास्त्र प्रणेता टीकाकार गोम्मटेश प्रतिमा के स्थापयिता चामुण्डराय वसदि (जिन मन्दिर) के निर्माता चामुण्डराय के गुरु एव अत्यंत प्रतिभाशाली पुण्य पुरुष थे।

निबधक :
विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन (म० प्र०)

सदर्भ-सूची

१. सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, 'जैन साहित्य का इतिहास' (जै० सा० इ०) प्रथम भाग, पृ० ३८२, गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रथमाला वीर नि० स०, २५०२

२. सि० प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जै० सा० इ०, वर्णी जैन ग्रथमाला, पृ० ३९२।

३. 'सन्मतिवाणी' पत्रिका, इन्दौर मे (वर्ष १०, ४-५, अक्टूबर-नवम्बर १९८०) डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन का लेख 'गोम्मटेश्वर बाहुबली' पृ० २३।

(शेष पृष्ठ टा० पृ० ३ पर)

जरा सोचिए !

१. आखिर, यश का क्या होगा ?

कहने को यश का बहुत बड़ा स्थान है, पर वास्तव में यश है कुछ भी नही। आज और पहिले भी लोग यश-अर्जन के लिए बहुत कुछ करते रहे हैं। अपनी सामाजिक, अन्य-अन्य उपकरणो सबधी आवश्यकताओ की पूर्ति के इच्छुक लोग प्रायः कह दिया करते है—तू नही तो तेरा नाम तो रहेगा, नाम स्वर्णाक्षरो मे लिखा जायगा, फोटो छपेगे आदि। और मानव है कि यश के लालच मे आकर अपना सर्वस्व तक देने को तैयार हो जाता है। इतना ही क्यो? आज तो लोगो मे होड लग रही है। यश-अर्जन में एक को दूसरा पीछे छोडना चाहता है। कोई एक लाख देता है तो दूसरा दो लाख उसी यश के लिए देने को तैयार है—वह ऊँचा हो जायगा। त्याग, तप, सेवा, प्रभावना आदि जैसे धार्मिक कार्यों के लिए सन्नद्ध व्यक्ति भी 'यश' रोग के शमन करने में असमर्थ अधिक देखे जाते है।

लोगों मे आज जो यह दान की प्रवृत्ति आप देखते हैं वह सभी उपकार और कर्तव्य की भावना से हो ऐसा सर्वथा तो नही है, अधिकाश धार्मिक कार्य और दानादि कार्य यश-कामना और मनौतियो की पूर्ति के लिए किए जाने लगे हैं। तीर्थ यात्रा भी मनौतियो तथा दान देकर पाटियो पर नाम लिखाने मे ही सफल-सी मानी जाने लगी हैं। गोया, धर्म और दान कर्तव्य नही अपितु व्यापार बन गए हों—लेन-देन के सौदे हो गए हो। जबकि धर्म और व्यापार में घना अन्तर है।

हाँ, तो कहने को आज एक और नई परिपाटी बड़े वेग से प्रबल हो रही देखने में आने लगी है—अभिनन्दनो की। किसी का अभिनन्दन हो यह हर्ष का विषय है, गुणी का गुणगान होना ही चाहिए। पर, अभिनदन आदि किसका, कौन, कब और कैसे करे? यह प्रश्न ही दूर जा पड़ा है।

आज तो यह प्रवृत्ति देखा-देखी साधारण-सी बनती जा रही है कि अभिनन्दन हो—चाहे किसी का भी हो। इस कार्य में यदि ग्रन्थ भेंट है तो उसमे काफी खर्च होता है और कही-कही तो पैसा एकत्रित करने, ग्रन्थ छपाने की व्यवस्था, यहाँ तक कभी-कभी बिक्री की चिन्ता भी मुख्यपात्र को ही करनी पडती हो ऐसा भी सन्देह बनने लगा है। यदि ऐसा हो तो ऐसे अभिनन्दनो से भी क्या लाभ? सिवाय मान-बडाई सचय के?

कहने को कहा जाता है—हमे कामना नही है, जब लोग पीछे पड जाते है तब विवश स्वीकार करना पडता है। पर, यदि स्वीकार करना पडता है तो उक्त प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे लोगो को शंकाएँ क्यो होती है? यदि विवश किया जाता है और कामना नही होती तो उत्सव मे जाया ही क्यो जाता है! गर्दन झुका कर मालाएँ क्यो पहिनी जाती है? अभिनन्दन स्वीकार क्यो किया जाता है? ऐसे अवसरो पर भूमिगत क्यो नही हुआ जाता! आदि।

सोचा कभी आपने, कि 'यश का होगा क्या? यदि अपयश दुखदायी है तो यश भी सुखदायी नही—अपितु यश में अभिमान की मात्रा बढने का भय ही विशेष है। क्या हुआ पूर्व पुरुषो के यश का? तीर्थंकर प्रकृति को सर्वोत्तम प्रकृति माना गया है, उन जैसा यश.कीर्ति कर्म किसी का नही होता, लेकिन क्या आप बता सकेंगे भूतकाल के अनन्तानन्त तीर्थंकरों के यश को, उनके नाम [illegible] आदि को? क्या आप नहीं जानते—जब चक्रवर्ती छह खं० की विजय कर लेता है तब वह विजय का झण्डा गाड़ने—नाम अंकित करने जाता है। और उसे नामांकन के लिए स्थान नही मिलता। फलतः वह किसी के यश-अंकन को मिटाकर अपना सिक्का जमाता है और कालान्तर मे कोई दूसरा उसके सिक्के को मिटाकर अपना सिक्का जमा लेता है।

फिर, एक बात यह भी तो है कि इस भव में मिला यश अगले भव मे क्या सहारा लगाता है—सम्बन्धित व्यक्ति को पता भी नही चलता कि कौन यश गा रहा है—'आप मरे जग प्रलय'। हाँ, यदि नि.कांक्षित भाव से, कर्तव्य और धर्म समझ कर, यश-लिप्सा के भाव को छोड़ कर कुछ किया जाता तो पुण्यबंध अवश्य होता जो अगले भव में साथ भी देता।

स्वामी समन्तभद्र उपदेश दे रहे है—नि कांक्षित अग का और आज परिपाटी चल रही है ख्यातिलाभ और अन्य-अन्य सांसारिक सुख कामनाओं की। परन्तु जब कुछ देकर कुछ लेने की भावना से कार्य किया जाता है तब होता है शुद्ध व्यापार; और जब न्याय और कर्तव्य-बुद्धि से, विना फल की वाछा के किया जाता है तब होता है **धर्म**। धर्म-सुखदायी है और यश आदि की कामना, मानकषाय पोषक। कहाँ तक ठीक है सोचिए!

२. क्या धर्म-क्षेत्र में साहित्यिक चोरी संभव है?

धार्मिक क्षेत्र मे जब कोई कहता है—अमुक ने मेरे साहित्य की चोरी की है या मेरी रचना को अपने नाम से प्रकाशित करा दिया है, तो बडा अटपटा-सा लगता है और ऐसा मालूम होता है कि ऐसे प्रसग मे चोरी का दोषारोपण करने वाले ने मानो चोरी की परिभाषा को ही भुला दिया हो। आचार्यों ने कहा है—'येषु मणिमुक्ताहिरण्यादिषु दानादानयो प्रवृत्तिनिवृत्तिसभव तेष्वेव स्तेयस्योपपत्ते।'—७।१५।२ 'यस्यदानादानसंभवस्तस्यग्रह्णमिति।'—७।१५।३ त० रा० वा०॥—अर्थात् जिनमे देन-लेन का व्यवहार है उन सोना-चाँदी आदि वस्तुओं के (मूलरूप) अदत्तादान को ही चोरी कहते हैं [कर्म-नोकर्म के ग्रहण को नही—आदि]—कवि ने ऐसा भी कहा है कि—'मालिक की आज्ञा ... गहै सो चोरी होय॥" फलत इस प्रसग में देखना पडेगा जिसे कोई चुरा रहा है वह वस्तु किसी दूसरे की है या नहीं। विचारने पर स्पष्ट होता है वर्ण, शब्द, वाक्य और भावो का कोई एक निश्चित मालिक नही, जब जिसके जैसे है—उतने काल उसके हैं—निकलने पर किसी अन्य के। क्योंकि ये सभी सार्वजनिक—प्रकृति-प्रदत्त हैं, इन पर किसी एक का आधिपत्य नहीं—कर्म और नोकर्म वर्गणाओं की भी ऐसी ही व्यवस्था है। शब्दवर्गणा आदि नकल के आधार पर समान रूप (जाति) में एक काल अनेकों में एक ही रूप में पाए जा सकते हैं—सभी में स्वतन्त्र रूप से। उनमें मूल-वस्तु निर्दिष्ट न होने से उसके हरण का प्रश्न ही पैदा नही होता। जैसे—एक सोने का पिण्ड है और उसकी परछांई भी है मूल पिण्ड के हरण करने वाला चोर होगा—उसकी परछाई को पकड़ने वाला चोर नहीं होगा। उसी प्रकार वर्ण, पद-सरचना पूर्वों की प्रतिकृति होने से परछांई मात्र है और उनके हरण करने वाला चोर नही होगा।

फलत यदि रचना की नकल करने वाला चोर है तो चोर कहने वाला भी पूर्वों का नकलची होने से चोरी के पाप से बरी नही हो सकता और पूर्वाचार्य भी इसी श्रेणी मे जा पड़ेंगे, जैसा कि उचित नही है। देखें—

भगवती आराधना	**जीवकाण्ड**	
(प्रथम शती ईस्वी)	(दशवी शती ईस्वी)	
गाथा ४०	गाथा १८	
,, ४१	,, १७	
,, ३२	,, २७	
,, ३३	,, २८	
भावसंग्रह	,,	**पंचसंग्रह**
(दशवी शती)	,,	(११वी सदी)
गाथा ३५१	,, ३१	१/१३
६०१	,, ३३	१/१४
६०२	,, ३४	---
तिलोयपण्णत्ति		
(१७६ ई० सदी)	,, —	
गाथा ५/३१८	,, ९६	
धवला (पुस्तक ३ पृ ६५)	**जीवकाण्ड**	
गाथा ३३	गाथा ५७३	
दर्शन प्राभृत	**भक्ति परिज्ञा प्रकीर्णक**	
(२-३ सदी)	(११वी सदी)	
गाथा १०६	गाथा ६६	
तत्त्वार्थशास्त्र सार	**तत्त्वानुशासन**	
(१०वी सदी)	(११वी सदी)	
श्लोक ५१	श्लोक ९/१४	
उपसहार २	,, २८	
आप्तमीमांसा	**शास्त्र वार्तासमुच्चय**	
श्लोक ५९	,, ७/४७८	
,, ६०	,, ७/४७९	

उक्त सभी सन्दर्भ आचार्यों ने अपनी मूल रचना के रूप दिए हैं—उद्धृतरूप में नही। जरा सोचिए! धार्मिक में ग्रन्थों पर 'सर्वाधिकार सुरक्षित' छपाना भी कहाँ तक न्याय संगत है? यह भी सोचिए।

३. समयसार की १५वीं 'गाथा का 'संत'?

१. षट्खंडागम के सातवें सूत्र में 'सतपरुवणा' पद का प्रयोग मिलता है। इसी पुस्तक के इसी पृष्ठ १५५ पर एक टिप्पण भी मिलता है जो तत्वार्थराज वा० के मूल का कुछ अंश है—'सत्व ह्यव्यभिचारि' इत्यादि। ऐसे ही षट्खंडागम के आठवें सूत्र में 'संत' पद है। यथा—सतपरुवणदाए···।' इसके विवरण मे 'सत् सत्त्वमित्यर्थ.' भी मिलता है। इसी पुस्तक मे पृ० १५८ पर कही से उद्धृत एक गाथा भी मिलती है। यथा—'अत्थित्तं पुणसंत अत्थित्तस्स य तहेव परिमाणं।" इस गाथा के अर्थ में लिखा है कि—अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाली प्ररूपणा को सत्प्ररूपणा कहते हैं। यहाँ भी 'सत' शब्द दृष्टव्य है।

उक्त पूरे प्रसंग से दो तथ्य सामने आते हैं। पहिला यह कि सभी जगह 'सत' का प्रयोग 'संस्कृत के सत्' शब्द के लिए हुआ है। यह बात भी किसी से छिपी नही कि 'संतपरूपणा' में उसी 'सत्' का वर्णन है जिसे तत्त्वार्थ सूत्रकार ने 'सत्संख्याक्षेत्र' सूत्र में दर्शाया है। यानी जिसे संस्कृत में 'सत्' कहा वही प्राकृत में 'संत' कहा गया है। अत. संत का सत् स्वभावत: फलित है। दूसरा तथ्य यह कि 'सत्' शब्द सत्त्व के भाव मे है, अत. सत्, सत, सत्त्व, सत्त ये सभी एकार्थवाची सिद्ध होते हैं। पुस्तक के अन्त मे जो 'संतसुत्त-विवरणं सम्मत्तं' आया है उसमे भी 'संत' का प्रयोग सत् के लिए ही है।

'संत' शब्द के प्रयोग 'सत्' अर्थ मे अन्यत्र भी उपलब्ध हैं। यथा—'संतकम्ममहाहियारे—जय. ध. अ. ५१२ व व प्रस्तावना ध. प्र. पु. पृ. ६६।

—'एसो संत-कम्मपाहुड उवएसो'

—धव० पु० पृ० २१७

—'आयरिय कहियाणं संतकम्मकसायपाहुडाण···।

—वही, पृ० २२१

सत्त—महाधवलप्रति के अन्तर्गत ग्रन्थ रचना के आदि में 'संतकम्मपंजिका' है। इसके अवतरण में अभी 'सत्त' शब्द भी मेरे देखने मे आया है—'पुणोतेहितो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परुविदाणि।'—यह संतकम्मपंजिका ताडपत्रीय महाधवल की प्रति के २७वें पृष्ठ पर पूर्ण हुई है और षट्खंडागम पुस्तक ३ में इसका चित्र भी दिया गया है। (देखें—प्रस्तावना, षट्खंडागम पुस्तक ३ पृ० १ व ७) अत. इस उद्धरण से इस बात में तनिक भी सन्देह नही रहता कि प्रसंग मे 'संत' या सत्त शब्द सत्त्व—आत्मा के अर्थ में ही है। और मज्झं का अर्थ मध्य है जो 'आत्मा को आत्मा के मध्य अर्थ ध्वनित करता हुआ आत्मा से आत्मा का एकत्वपन झलका कर आत्मा को अन्य पदार्थों से 'असंयुक्त' सिद्ध करता है।

एक बात और। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार की गाथा २६ मे 'अत्तमज्झं' पद का और समयसार की गाथा १५ मे 'संतमज्झं' या सत्तमज्झं' का प्रयोग किया है और नियमसार की उक्त गाथा की संस्कृत छाया में अत्तमज्झं' का अर्थ 'आत्म-मध्यं' किया है। इसी प्रकार 'संतमज्झं' या 'सत्तमज्झं'. की संस्कृत छाया भी सत्मध्यं या सत्त्वमध्यं है यह सिद्ध होता है। सोचिए!

देव-गण इस लोक में क्यों नहीं आते? (उद्धृत)

Today we wonder why the devas do not come down to see us on the Earth. But whom should they come down to see here today? Who is superior to Greatness on the Earth? Should they come down to Smell the stench of the slaughter-Houses, the meatshops, stinking kitchens and recking Restaurants? You have them come down to ignorant Priests, bloated self-complacent tyrants, Lying Statesmen, Dishonest traders or Kings and Emperors, who Respect neither their word nor their signatures? Devas Have Extremely delicate senses. And the strench From the worlds latrines and cess-Pools must be quite

(शेष पृष्ठ टाइटल ३ पर)

साहित्य-समीक्षा

१. वर्धमान जीवन-कोश (Encyclopaedia of Vardhamana)—

सम्पादक—श्री मोहनलाल बांठिया और श्री श्रीचन्द चोरडिया।

प्रकाशक—जैन-दर्शन समिति, १६-सी डोवर लेन, कलकत्ता प्रकाशन वर्ष १९८० ; पृष्ठ ५२४ ; मूल्य ५० रुपए।

प्रस्तुत कृति शास्त्रों के आधार पर रचित महावीर जीवनकोश है जिसमें भगवान महावीर के जीवनवृत्त-विषयक ६३ जैन आगम और आगमेतर एवं जैनेतर स्रोतों से प्रभूत सामग्री का संकलन किया गया है। दो खंडो मे समाप्त जीवन कोश का यह प्रथम खंड मात्र है। इसमे प्रधानतया मूल श्वेताम्बर जैन आगमो से सामग्री ली गई है और आगमो की टीकाओं, निर्युक्तियो, भाष्यों, मूर्तियो आदि से भी प्रचुर सामग्री का सकलन किया गया है किन्तु इसमे दिगम्बर जैन स्रोतों का पर्याप्त और समुचित उपयोग नही किया गया प्रतीत होता है, जिससे यह कोश सर्वमान्य न होकर एकागी बन कर रह गया है तथा वर्धमान जीवन कोश नाम को सार्थक नही करता है। दिगम्बर जैन आगमो विषयक कतिपय प्रसंग और सन्दर्भ तो सर्वथा भ्रामक भी प्रतीत होते है। इस प्रकार एकांगी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के कारण यह गरिमा और निष्ठापूर्ण प्रयास विवादास्पद बन गया है। कम-से-कम शोधप्रवर्तन की दृष्टि से प्रणीत-संकलित ग्रन्थो मे वस्तुस्थिति का ही अंकन अपेक्षित है। सब मिला कर लेखक द्वय का यह महत्प्रयास अत्यन्त सराहनीय, उपादेय एवं उपयोगी है।

२. तीर्थंकर (मासिक) का भक्तामर स्तोत्र विशेषांक जनवरी १९८२—

सम्पादक—डा० नेमीचंद जैन।

प्रकाशक—हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कालोनी, इन्दौर पृष्ठ—२२४, वार्षिक शुल्क—बीस रुपये प्रस्तुत अंक—इक्कीस रुपये।

उच्च कोटि के सर्वांगपूर्ण विशेषाकों की सुस्थिर परम्परा के अनुरूप तीर्थंकर का प्रस्तुत विशेषांक सर्वथा अनुपम है एव सर्वोपरि है। इसमें भक्तामर स्तोत्र के प्रामाणिक मूल पाठ के अतिरिक्त उसके अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी, कन्नड, बंगला आदि मे प्रामाणिक अनुवाद, अन्वयार्थ, मत्र और यन्त्र दिए गए हैं। साथ ही इसमे भक्तामर स्तोत्र सम्बन्धित एव अन्य सम्बद्ध उपयोगी विषयों पर अधिकारी मनीषियों के शोधपूर्ण एव सारगर्भित ज्ञान गम्भीर लेख भी दिए गए है जिससे इसकी उपादेयता बहुगुनी हो गई है। सुन्दर छपाई एव सजधज से युक्त यह विशेषाक सुविज्ञ सम्पन्न सुविज्ञ पाठको की भक्तामर स्तोत्र विषयक सभी जिज्ञासाओ को शान्त कर उन्हें सुप्रशस्त मार्ग पर अग्रसर करेगा, ऐसी आशा है।

—**गोकुल प्रसाद जैन**
उपाध्यक्ष, वीर सेवा मन्दिर

३. दिवंगत हिन्दी-सेवी—

लेखक . श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' . प्रकाशक—शकुन प्रकाशन ३६२५, सुभाषमार्ग, नई दिल्ली-२ : डबल क्राउन: ७८८ पृष्ठ . बढ़िया मैपलीथो कागज ८८६ हिन्दी सेवियो में ७०० के चित्र : मजबूत कपड़े की जिल्द के साथ गत्ते के सुन्दर डिब्बे मे बन्द : मूल्य—तीन सौ रुपए मात्र :

'दिवगत हिन्दी सेवी' मेरे समक्ष हैं और वह भी स्वस्थ, सुडौल, मनोहारी, विशालकाय मे। जब देखता हू तब इसमें सकलित सभी हिन्दी सेवी अनेको रूपो मे आखो और मन मे झूमने लगते है और भारती-भाषा हिन्दी की समृद्धि और व्यापकता मे प्रयत्नशील अतीत सभी हिन्दीसेवी साक्षात् परिलक्षित होते है। असमंजस मे हू कि—समक्षस्थित को दिवगत कैसे मानू ? यदि दिवंगत है तो समक्ष कैसे, और समक्ष है तो दिवंगत कैसे !

समाधान के दो ही मार्ग है—उनको दिवगत न मानू या अपने को दिवंगत मानलू। दोनो एकत्र होंगे तो विरोध मिट जायगा। पर, मैं किन शब्दो मे लिखू लेखक की लेखनी ग्राह्यता को ? जिसने दिवगतो को जीवन्त प्रस्तुत करके मुझे दिवंगत होने से बचा लिया और जिन्दा हू। हालाकि ग्रन्थ के महत्त्व को दृष्टिगत करके यह कहने वाले कई मिले कि हम क्यो न मर गए ? यदि मर जाते तो ग्रन्थ में नाम तो अमर हो जाता। ठीक ही है—

'नाम जिन्दा रहे जिनका, उन्हे मरने से डरना क्या है।'

यद्यपि हिन्दी सेवियो के परिचय मे इससे पूर्व भी सीमित और महत्त्वपूर्ण कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है तथापि इस सकलन की अपनी विशेष महत्ता है और वह है—'खोज-खोजकर हिन्दी सेवियों के परिचयो का सकलन।' सलग्नसूची लेखककी भेद-भाव रहित, विशाल और उदार दृष्टि को भी इंगित करती है कि उसने जाति-पथ, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध जैसे सभी प्रकार के भेद भावो को छोडकर, मात्र हिन्दी भाषा की सेवा को परिचय-संकलन का माध्यम बनाया है। यही कारण है कि सकलन मे छोटे-बड़े सभी गुलदस्ते के रूप मे महक सके है। ग्रन्थ भविष्य पीढ़ी के मार्ग-दर्शन, उत्साह एव ऐतिहासिक ज्ञान-वर्धन मे उपयोगी और सहायक सिद्ध होगा—युग-युगो तक अतीत युगो की गाथा बताएगा।

ग्रन्थ के प्रारम्भिक 'निवेदन' के अनुसार और ग्रन्थ के विस्तृत क्रमबद्ध अन्तरङ्ग कलेवर से भी यह निर्विवाद है कि निश्चय ही 'सुमन' जी को इस कार्य के लिए अथक परिश्रम और बटोर-बटोर कर साहस जुटाना पड़ा है। पर, यह भी तथ्य है कि वृक्ष का 'सुमन' केवल अपनी सुगधि बिखेर पाता है, जबकि 'श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' अपनी जीवित यश सुगधि के साथ दिवगत हिन्दी सेवियो की यश सुगधि भी दिग्दिगन्त व्याप्त करने वाले 'सुमन' सिद्ध हो रहे हैं। लक्ष्य-भूत आगामी खडो के प्रकाशन द्वारा यह सुगध शत और सहस्रगुणी होगी—ऐसा हम मानते है। 'पन्थान. सन्तु ते शिवा:।'

कृति के प्रकाशन, साज-सज्जा, गेट-अप आदि मनमोहक और स्पृहणीय बन पड़े हैं, इसका श्रेय श्री सुभाष जैन, 'शकुन प्रकाशन' को है—जिन्होंने श्री 'सुमन' जी के साथ कन्धे से कन्धा भिडाकर इस कार्य मे पूरा योग दिया है। श्री सुभाष जी जन-परिचित है; इनकी लगन शीलता और सूझ के परिणाम स्वरूप इनके सभी प्रकाशन उत्तम होते रहे हैं। हमारी भावना है कि इस ग्रन्थ का अधिकाधिक प्रचार हो और अधिक से अधिक जनता इसे मगाकर लाभान्वित हो।

४. आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अभिवन्दन ग्रंथ—

सपादक · श्री धर्मचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक · श्री दिगबर जैन नवयुवक मण्डल, कलकत्ता, साइज ११" × ९" पृष्ठ ३४+५४८ छपाई उत्तम, आकर्षक जिल्द व साजसज्जा, मूल्य १५१ रुपए।

अभिवन्दन ग्रन्थ स्वय मे अभिवन्दनीय बन पडा इसे सयोजको का प्रयास ही कहा जायगा। अन्तरग-बहिरग सभी श्लाघ्य। आचार्य श्री के प्रति उमडती अटूट भक्ति का परिणाम सामने आया। मैं तो देखकर गद्गद् हो उठा आयोजको को जितना साधुवाद दिया जाय, अल्प होगा।

इसमे सदेह नही कि भक्तगण ने अपना कर्तव्य पूरा किया पर, अब उन्हे महत्त्वपूर्ण उन प्रश्न-चिन्हो पर भी विचार करना चाहिए जो चिह्न आचार्य श्री ने ग्रन्थ समर्पण के अवसर पर लगाए है। जैसे—

'साधु नरक मे जाए चाहे निगोद मे जाए' 'साधु की प्रशसा से साधु बिगडता है' 'साधु का अभिवन्दन से कोई प्रयोजन नही।'

यह आचार्यश्री का अन्तरग है जिसे हम भक्तो को आदेश रूप में लेना चाहिए और भविष्य में ऐसी परम्पराओं से (चाहे कर्तव्य ही क्यों न हो) मुख मोड़ना चाहिए जो साधु को पसन्द न हों या धार्मिक अस्थिरता मे कारण भूत हो सकती हों। फिर, निमित्तवाद मे विश्वास रखने वालो को तो यह परम आवश्यक है कि साधु को ऐसे निमित्त न जुटाएं जिनमे साधु की साधुता क्षीण होने मे सहारा मिले।

श्रावको की भावना के अनुरूप मेरे भी आचार्य श्री मे

'भक्ति' के भाव हैं फलतः व्यवहारी होने के नाते मैं उन्हें 'अभिवन्दन' के स्थान पर 'अभिनमोऽस्तु' करता हूं। यतः यह पद मुनि के प्रति व्यवहारी है और साधु के प्रति इसका विधान भी है—ब्रह्मचारी को वन्दन-वन्दना, ऐलक व क्षुल्लक को इच्छाकार और मुनिश्री को नमोऽस्तु।

५. अरहंत प्रतिमा का अभिषेक जैनधर्म सम्मत नहीं—

ले० श्री बंशीधर शास्त्री एम० ए०, प्रस्तावना: श्री डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक : श्री शान्ता व निर्मला सेठी, पृष्ठ २४, मूल्य ५० पैसे।

यद्यपि लेखक ने अपने पक्ष में पर्याप्त प्रमाण दिए हैं तथापि यह लघु-पुस्तक, पंथवाद के व्यामोह मे पनप रहे वर्तमान विवादो के निराकरण मे कहां तक सहायक हो सकेगी यह नहीं कहा जा सकता। सामग्री शोधपूर्ण और विचारणीय है।—पंथ-व्यामोह से अछूते रहकर पढ़ने वाले इससे अवश्य लाभान्वित होंगे। प्रक्षाल जरूरी है।

६. गृहस्थ के वर्तमान षडावश्यकों का विकास और पूजा पद्धति में विकृतियों का समावेश—

ले० पं० श्री भंवरलाल पोल्याका, प्रकाशक अ० भा० दि० जैन परिषद् राजस्थान, पृष्ठ २४ मूल्य ३० पैसे।

छोटी सी पुस्तक में विषय के अनुकूल पर्याप्त प्रमाण संकलित किए गए हैं। खेद है कि आज ये विषय भी पंथवाद से अछूते नही रहे। निष्पक्ष दृष्टि से पढ़ने का हमारा आग्रह है। प्रयास सराहनीय है।

—सम्पादक

(पृष्ठ २७ का शेषांश)

४. Dravya-Samgraha, Edited by Dr. Bhoshal. Published by central Jain Pubtishing House, Assah, Introduction. Page-35-36.
५. जैनसिद्धातभास्कर, भाग ६, पृ० २६१।
६. जैनशिलालेख सग्रह, भाग १, पृ० ३१
७. जैन एण्टीक्वेरी, जिल्द ५, न० ४ मैं 'The Date of the Cohsecrction of Image' पृ० १०७-११४।
८. जैनसाहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ, ३६३-३६५।
९. Dravy-Samgraha C.J.P.H. Arrah. Introduction. Page 40.
१०. जै०सा० इति० प्रथम भाग, वर्णी ग्रंथमाला, पृ० ३८६।
११. Dravy-Samgraha. Page 40.
१२. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलो० इतिहास, तारा प० वाराणसी, पृ० २३६।
१३. जैन साहित्य का इतिहास, वर्णी ग्रथमाला, प्रथम भाग पृ० ३६६-४०६।
१४. जैन सा० का इति० प्रथम भाग, वर्णी ग्रंथमाला, पृ० ४१२।
१५. Dravya-Samgraha, Arrah, Introduction, Page-42.
१६. जै० सा० इति०, वर्णी ग्रंथमाला: द्वितीय भाग पृ० ३४१। —(सैमीनार श्रवणबेलगोला मे पठित)

(पृष्ठ ३० का शेषांश)

Nauseating to them...."The devas do come when There is an Adequate Cause, e.G., o do reverence to a world teacher, But will not Enter the Atmosphere of corruption and Filth otherwise. —Rishabhadeva, the founder of Jainism P, 80—81

—"आज हमें आश्चर्य होता है कि, क्यों देवता लोग पृथ्वी-तल पर हमें देखने नहीं आते? लेकिन वे आज किन्हें देखने को यहां आवें पृथ्वी पर ऐसा कौन है जो ज्ञान, बल या महिमा में उनसे बढ़ा-चढ़ा हो? क्या वे कसाई-घरों, मांस की दूकानों, गन्दे भोजनालयों तथा सजे भोगस्थलो की महान् बदबुओं को सूंघने आवें? क्या तुम चाहते हो, कि वे मूढ़ पुरोहितो, मोटे ताजे असन्तुष्ट अत्याचारियों, मिथ्याभाषी राजनीतिज्ञों, बेईमान व्यापारियों, नरेशो या महाराजाओ को देखने आवें, जो न अपने वचन और न अपने हस्ताक्षरों का सन्मान ही करते हैं? देवों की इन्द्रियां अति सुकुमार होती हैं अतः दुनियां के खण्डासो और नालियो की गंदगी उनके लिए अत्यन्त अरुचिकारी होगी। हां, देवलोग अवश्य आते हैं जब उनके आगमन के अनुरूप कारण हो यथा तीर्थंकर भगवान की पूजा के लिए। वे बुराई और गन्दगी से सयुक्त वातावरण में अन्यथा नहीं आते।"

—सम्पादक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

समयसार-कलश-टीका : कविवर राजमल्ल जी कृत ढूंढारी भाषा-टीका का आधुनिक सरल भाषा रूपान्तर : सम्पादनकर्ता : श्री महेन्द्रसेन जैनी। ७-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Just Released :
Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 1945)
2 Volumes ... ... Per Set ... ६००-००

सम्पादन परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३५ : कि० २ अप्रैल-जून १९८२

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

Telephone : 271818
G. Secretary 263985

VIR SEVA MANDIR

21, Darya Ganj, New Delhi-110002

Sub : JAINA BIBLIOGRAPHY

'Jaina Bibliography', a monument of colossal scholarship is the fruit of lifetime's strenuous labour and selfless dedication to the cause of Jaina studies by its author, Shree Chhote Lal Jain.

It is a rare collection of detailed information and result of painstaking research in various aspects of Jainism. It aims to facilitate and deepen the study on Jainology.

No study of Indian philosophy is complete without the understanding and knowledge of Jaina thought. Jaina scholars and saints have rendered valuable contribution to various branches of knowledge—literature, poetics, art, philosophy, religion, archaeology, geography, sculpture etc. Much of it still lies unexplored.

The seekers of knowledge on Jainology will find 'Jain Bibliography' an invaluable reference book. The learned author has not left any possible aspect of Jainistic studies and principles untouched. Material has been collected from all possible sources—encyclopaedias, dictionaries, gazettes, census reports, temple records, history and chronology, geography and travels, religion, biography, philosophy and sociology, language and literature. There are innumerable references yet unexplored and hidden treasures stored in the form of manuscripts, tamrapatras, inscription on stone-pillars etc. in ancient Jain temples and Jain mathas scattered all over the country. The work done in prakrit, sanskrit, ardhmagadhi, kannad and other Indian and foreign languages have constantly been referred to.

It is a precious gem worth keeping in every library of a college and University for there is no single reference book, available so far in the world of knowledge which encompasses such a vide domain on Jainistic studies as this bibliography does. It is a boon for the scholars, researchers and pursuers of Jaina thought.

The Bibliography consists of three volumes of which two (I & II) have already been published. Volume III which contains the index is under preparation.

Volume I contains 1 to 1044 pages, Volume II contains 1045 to 1918 pages, size crown octavo.

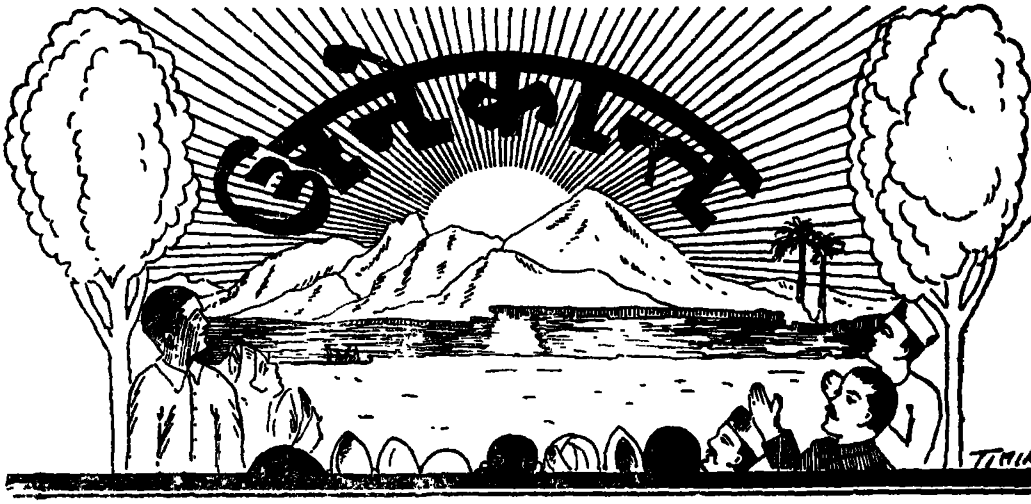
Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only for Rs. 600/- for one set of 2 volumes.

You may procure your set for your library through your vendor or directly from us.

SUBHASH JAIN
Genl. Secretary

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

वर्ष ३५ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५०८, वि० सं० २०३९ | अप्रैल-जून १९८२

सम्बोधन

जे दिन तुम विवेक बिन खोए ।।टेक।।
मोह-वारुणी पी अनादि तें पर पद में चिर सोए।
सुखकरण्ड चितपिण्ड आपपद, गुन अनंत नहिं जोए ।।१।।
होय बहिर्मुख ठानि रागरुख, कर्मबीज बहु बोए।
तसुफल सुख-दुख सामग्री लखि, चित में हरषे रोए ।।२।।
धवल ध्यान शुचि सलिल पूरतें, आस्रव मल नहिं धोए।
पर-द्रव्यनि की चाह न रोकी, विविध परिग्रह ढोए ।।३।।
अब निज में निज जान नियत तहँ, निज परिनाम समोए।
यह शिव मारग सम-रससागर, 'भागचन्द' हित तो ए ।।४।।

भावार्थ—हे चेतन, तूने ये दिन विवेक के बिना व्यर्थ गँवा दिए। तू मोह-रूपी मदिरा को पीकर अनादि काल से निद्रा-मग्न रहा। तूने सुख के खजाने अपने चतन्य पद के अनंत गुणों को नहीं देखा। और बाह्य-दृष्टि होकर राग की ओर देखा जिससे तूने अनंत कर्मों के बीज को बोया—उसके फल-रूप सुख-दुख रूप सामग्री हुई और तू चित्त में सुखी-दुखी हुआ। तूने शुक्ल ध्यान रूपी पवित्र जल से आस्रवरूपी मल को नही धोया और पर-द्रव्यों की इच्छा को नहीं रोका तथा भांति-भांति के परिग्रह को वहन किया। अब अपने (स्वरूप) को जान कर उसमें अपने परिणामों को लगा, यही समता रूपी रस का सागर मोक्ष का मार्ग है और इसी में तेरा हित है—ऐसा 'भागचंद जी' कहते हैं।

भारत के बाहर जैनधर्म का प्रसार-प्रचार

□ इतिहास-मनीषी डा० ज्योतिप्रसाद जैन

जैन धर्म एक ऐसी सनातन धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है जो शुद्ध भारतीय होने के साथ-ही-साथ प्रायः सर्वप्राचीन जीवंत परम्परा है। उसके उद्गम और विकासारंभ के बीज सुदूर अतीत—प्रागैतिहासिक काल में निहित हैं। मानवीय जीवन मे कर्मयुग के प्रारम्भ के साथ-ही-साथ इस सरल स्वभावज आत्मधर्म का भी आविर्भाव हुआ था। वर्तमान कल्प-काल में इसके आदिपुरस्कर्ता आदिपुरुष स्वयंभू प्रजापति ऋषभदेव थे, जो चौबीस निर्ग्रन्थ श्रमण तीर्थंकरों में सर्वप्रथम थे। उनका समय अनुमानातीत है। आधुनिक खोजों के आलोक में यही कहा जा सकता है कि तथाकथित आर्य-वैदिक सभ्यता के ही नहीं, उसकी पूर्ववर्ती प्रागैतिहासिक सिन्धु-घाटी सभ्यता के उदय से भी पूर्व ऋषभादि कई तीर्थंकर हो चुके थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषो मे कायोत्सर्ग-स्थित वृषभलांछन उन दिगम्बर योगिराज की उपासना प्रचलित रहने के संकेत मिले हैं। ऋग्वेदादि मे भी उनके अनेक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष उल्लेख प्राप्त होते हैं। वैदिक संस्कृति के साथ इस आर्हत या श्रमण संस्कृति का दीर्घकालीन संघर्ष एवं आदान-प्रदान चला, और आधुनिक शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से भारत-वर्ष का इतिहास जब से भी व्यवस्थित रूप में मिलना प्रारम्भ होता है, अर्थात् रामायण तथा महाभारत में वर्णित घटनाओं के युगों से, तब से तो निरन्तर ब्राह्मणीय-वैदिक परम्परा के साथ-साथ श्रमण जैन परम्परा का अस्तित्व इतिहाससिद्ध है। पारस्परिक संघर्ष, उत्थान-पतन, प्रचार-प्रसार का युगानुसार अल्पाधिक्य रहा। ऐसे समय आये जब जैनधर्म महादेश भारतवर्ष की सीमाओं का अतिक्रमण करके उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण-पूर्व के भारतेतर प्रदेशों में भी प्रसारित हुआ। स्वय इस देश के तो प्रायः सभी भागों में प्राप्त उसके अवशेष, वहाँ उसके अस्तित्व के तथा कभी कम और कभी अधिक प्रभाव रहा होने के साक्षी हैं। जैन संस्कृति ने प्राचीन भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहते हुए, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व एवं मौलिकता को भी बहुत कुछ अक्षुण्ण बनाए रखने मे सफलता प्राप्त की है। साथ ही, उसने भारतीय साहित्य, कला, स्थापत्य ज्ञान-विज्ञान, को अमूल्य देनें प्रदान करके समग्र भारतीय संस्कृति को पर्याप्त समृद्ध किया है, और अपने विशिष्ट आचार-विचार एवं जीवन-पद्धति से भारतीय जन-जीवन का उन्नयन करने में स्तुत्य योग दिया है।

प्रायः कह दिया जाता है कि जैनधर्म भारत के बाहर कभी गया ही नही, किन्तु यह बात सत्य नही है कि तप, त्याग एव सयम पर आधारित, निवृत्ति एव अहिंसा प्रधान अन्तर्मुखी आत्मसाधना मे लीन जैन-साधक का लक्ष्य ख्याति-लाभ-पूजा अथवा आत्मप्रचार या धर्मप्रचार भी कभी नही रहा। जैन साधुचर्या के नियमो की कठोरता भी इस दिशा में बाधक रही। अतएव जैनधर्म विदेशों मे बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों की भाँति कभी भी सगठित प्रयत्नपूर्वक प्रचारित नही हुआ। तथापि जैनधर्म के प्रकाश एवं प्रभाव ने इस महादेश की सीमाओं का अतिक्रमण किया है, इस तथ्य के सकेत भी पर्याप्त उपलब्ध हैं।

मेजर जनरल जे० फर्लांग, कर्नल जेम्सटाड आदि कई प्रारम्भिक प्राच्यविदो का अनुमान है कि जैनधर्म किसी यूरोप के स्केंडीनेविया जैसे दूरस्थ प्रदेशों मे, तुर्की तथा ऊपरी मध्य एशिया के क्षेत्रों तक पहुंचा था। चौथी शती ईसापूर्व मे यूनानी सम्राट सिकन्दर महान तक्षशिला से कल्याण नामक एक जैन सन्त को अपने साथ बाबुल ले गया था, जहाँ उक्त सन्त ने सल्लेखना-पूर्वक देहत्याग किया था। ईस्वी सन के प्रारम्भ के लगभग भड़ोंच के एक श्रमणाचार्य का महानगरी रोम में जाना और वहाँ समाधि-पूर्वक चितारोहण करना पाया जाता है। दक्षिण एवं पूर्व

में बृहत्तर भारत के सिंहल, बर्मा, स्याम, कम्बुज, चम्पा, श्रीविजय, नवद्वीप आदि प्रदेशों एवं द्वीपो में भारतीय संस्कृति का जो प्रसार हुआ, उसमे भी जैन व्यापारियों एवं गृहस्थ जैन विद्वानों का कुछ न कुछ योग अवश्य रहा है, ऐसा उक्त देशों के भारतीय-कृत राज्यों के इतिहास तथा उनके देवायतन आदि स्मारको के अध्ययन से फलित होता है।

मध्य एशिया की फरात नदी की घाटी के ऊपरी भाग में एक भारतीय उपनिवेश ईसापूर्व दूसरी शताब्दी मे विद्यमान था। लगभग पांच सौ वर्ष पश्चात् पोपग्रेगरी ने भयंकर आक्रमण करके उसे ध्वस्त कर दिया था। अनुश्रुति है कि खेतान के उक्त भारतीय उपनिवेश की स्थापना का श्रेय मौर्य सम्राट अशोक के पुत्र राजकुमार कुणाल को है—यह राजकुमार जैन धर्मावलम्बी था और इसी का पुत्र प्रसिद्ध जैन सम्राट सम्प्रति था। मध्यएशिया मे सम्भवतया यही सर्वप्रथम भारतीय उपनिवेश था। फिर तो चौथी शती ई० के प्रारम्भ तक काशगर से लेकर चीन की सीमा पर्यन्त समस्त पूर्वी तुर्किस्तान का प्रायः पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था। उसके दक्षिणी भाग मे शैलदेश (काशगर), चोक्कुक (यारकन्द), खोतम (खोतान) और चलन्द (शान-शान) नाम के तथा उत्तरी भाग में भरुक, कुचि, अग्निदेश और काओचग नाम के भारतीय सस्कृति के सर्वमहान प्रसारकेन्द्र थे। इन उपनिवेशों की स्थापना मे निर्ग्रन्थ (जैन) साधुओ और बौद्ध भिक्षुओ का ही सर्वाधिक योगदान था। कालान्तर में निर्ग्रन्थो का विहार उक्त क्षेत्रो मे शिथिल होता गया और बौद्धो का सम्पर्क एवं आवागमन बढ़ता गया, अतः गुप्तकाल के उपरान्त बौद्धधर्म ही वहाँ का प्रधान धर्म हो गया तथापि चौथी से सातवी शती ई० पर्यन्त भारत आने वाले फाह्यान, युवानच्वाग, इत्सिंग आदि चीनी यात्रियो के वृत्तान्त से स्पष्ट है कि उनके समय में भी उक्त प्रदेशो मे निर्ग्रन्थ मुनियों का अस्तित्व था। कुछ जैन मूर्तियाँ एवं अन्य जैन अवशेष भी वहाँ यत्र-तत्र प्राप्त हुए हैं। काश्यप के रूप में तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का बिहार भी उक्त देशों मे हुआ प्रतीत होता है अनेक प्राच्यविदों एवं पुरातत्वज्ञों का मत है कि प्राचीन काल में जैनधर्म भी उन प्रदेशों में अवश्य पहुंचा था। तिब्बत, कपिशा (अफगानिस्तान) गान्धार (तक्षशिला और कन्दहार), ईरान इराक, अरब, तुर्की, मध्य एशिया आदि में जैनधर्म के किसी न किसी रूप में किसी समय पहुंचने के चिह्न प्राप्त होते हैं। चीन देश के ताओ आदि प्राचीन धर्मों पर जैनधर्म का प्रभाव लक्षित है और चीन के उत्तर-कालीन बौद्ध साहित्य में भी अनेक जैन सूचक संकेत मिलते हैं। जापान के 'जेन' सम्प्रदाय का सम्बन्ध भी कुछ लोग जैनधर्म से जोडते हैं। प्राचीन यूनान के पाइथेगोरस व एपोलोनियस जैसे शाकाहारी आत्मधर्मी दार्शनिकों पर भी जैन प्रभाव लक्ष्य या अलक्ष्य रूप में रहा प्रतीत होता है। ईसाई मत प्रवर्तक ईसामसीह भी जैनविचारधारा से अवश्य प्रभावित हुए थे, ऐसा स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जी ने सिद्ध किया था।

उपरोक्त अधिकांश विदेशों में जैनों की छोटी-मोटी बस्तियाँ भी मध्यकाल तक रही प्रतीत होती हैं। इधर आधुनिक युग में दक्षिणी-अफ्रीका नैरोबी आदि प्रदेशों में जैनो की अच्छी संख्या रहती आई है, पूर्व के फिजी आदि द्वीपों में भी कुछ जैन हैं। यूरोप के विभिन्न देशों में व्यापार-व्यवसाय अथवा विद्यार्जन के बहाने अनेक जैन रहते रहे हैं। यही स्थिति अमरीका की है। वहाँ तो पिछले दो-तीन दशकों में जैन प्रवासियों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है।

वर्तमान शती के प्रारम्भिक दशकों में वीरचन्द्र राघवजी गांधी, प० लालन, बैरिस्टर जगमन्दरलाल जैनी, बैरिस्टर चम्पतराय, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद प्रभृति विद्वानों ने विदेशों मे धर्मप्रचार किया है। गत दशकों में\पं० सुमेरचन्द दिवाकर, कान्हजी स्वामी, मुनि सुशीलकुमार, मूडबिद्री एवं श्रवणवेलगोल के भट्टारक द्वय प्रभृति महानुभावों ने इस कार्य को प्रगति दी है। स्व० बा० कामताप्रसाद जैन द्वारा संचालित अखिल विश्व जैन मिशन का एक मुख्य उद्देश्य विदेशों में धर्म प्रचार रहा और उसने अनेक विदेशी विद्वानों एवं जिज्ञासुओ से सम्पर्क बनाने तथा उन्हें जैन साहित्य उपलब्ध कराने की दिशा में बहुत कुछ प्रगति की। किन्तु यथोचित व्यवस्था एवं साधनों के अभाव के कारण हम उन सम्पर्कसूत्रों से भी लाभ नहीं उठा पाते।

—ज्योति निकुंज, लखनऊ

मैं कौन हूं

□ श्री बाबूलाल जैन, कलकत्ता वाले

किसी ने प्रश्न किया कि आत्मा को कैसे पावें। मेरे को एक कहानी बच्चों की याद आ गयी कि एक महात्मा के पास एक आदमी गया और कहने लगा मुझे आनद चाहिए। महात्मा ने कहा कि मैंने अभी आनंद मगरमच्छ को दिया है उससे ले लो। वह नदी के पास गया और मगरमच्छ को बोला कि महात्मा ने तुम्हे आनंद दिया है उसमें से मुझे भी दे दो मगरमच्छ ने कहा कि पहले मुझे एक लोटा पानी पिला दो बहुत प्यासा हू फिर मैं तुझे आनंद दे दूगा उस आदमी ने कहा कि क्या बात कहते हो पानी में रहते हो फिर भी पानी मागते हो। उसने कहा कि तुम भी तो आनंद मे रहते हो और आनद माग रहे हो। यह कहानी तो इतनी ही है परन्तु यही हमारी कहानी नही है क्या? आत्मा ही पूछ रही है कि आत्मा को कैसे पाया जाये।

किसी व्यक्ति से पूछिये या अपने से ही पूछिये कि शरीर मे रोग है इसको किसने जाना तो वह कहेगा मैंने जाना इससे मालूम हुआ कि वहा दो है एक जानने वाला और एक शरीर जिसमे रोग हुआ है। मै भूखा हू मुझे भूख लगी है या प्यास लगी है इसको किसने जाना तो यही जवाब है मैंने जाना। फिर यहा पर दो हो गये एक जानने वाला और एक जिसको भूख या प्यास लगी है। शरीर पर चोट लगी है शरीर दुख रहा है यह किसने जाना मैंने जाना यहां पर भी एक जानने वाला है और एक शरीर है जिसको चोट लगी हैं। इसी प्रकार भीतर मे क्रोध हुआ है आप दूसरे से कहते है कि मुझे क्रोध हो रहा है यह किसने जाना कि अभी क्रोध है अभी क्रोध ज्यादा है अथवा कम है आप कहेगे मैंने जाना वहां फिर दो हो गये एक क्रोध है जो कभी कम हो रहा है कभी ज्यादा और एक वह है जो न कम होता है न ज्यादा परन्तु जान रहा है। भीतर में विकल्प चल रहे हैं इच्छा हुई है आप कहते है मेरे को यह इच्छा हुई है। इस बात को किसने जाना। एक जानने वाला है और एक इच्छा का होना है। आप कहते हैं मेरा मूड ठीक नही है यह किसने जाना। वहां पर एक जानने वाला है और एक मूड है। आप कहते हैं मुझे आज बहुत चिन्ता है आकुलता हो रही है यह किसने जाना कि चिन्ता हो रही है एक जानने वाला है और एक चिन्ता का होना है। ये मैंने अभी सत्य बोला या झूठ बोला यह किसने जाना एक जानने वाला है और एक झूठ बोलना या सत्य बोलना है। मैं ४ माइल चला यह किसने जाना वहा एक जानने वाला है और एक चलने वाला है। मेरे पास इतना धन है यह किसने जाना वहां एक जानने वाला है एक धन है और एक धन का स्वामीपना है। हमने कोई चीज खाई वह हमे अच्छी लगी और मीठी भी वहा तीन चीज हुई एक वह वस्तु जो मीठी थी एक अच्छे जानने रूप भाव और एक इन दोनों का जानने वाला। बाहर मे हमने कोई कपडा पहना गाडी पर चढे और हमे बहुत आनद आया वहां पर भी तीन है एक गाडी और उस पर चढना एक आनन्द का आना और एक उनको जानने वाला। क्या इससे यह साबित नही हो रहा है कि हर हालत मे कोई एक जानने वाला है जो हमारे भीतर होने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म विकल्पो को, विचारों के, भावों को चाहे वह अच्छे हो अथवा बुरे, शुभ हो चाहे अशुभ उनको जान रहा है। इन मन सम्बन्धी भावों मे, परिणामों मे विचारो मे परिवर्तन होता जा रहा है पर जानने वाला सदा काल एक रूप रहता हुआ मात्र जान ही रहा है। यहा तक क्रोध को भी जाना है। बाहर मे भले ही हमने किसी को अच्छा कहा हो प्रेम दिखाया हो और भीतर मे उसके प्रति अन्यथा भाव है तो जानने वाले ने दोनो बातों को ही जाना है। यही हालत शरीर की है चाहे शरीर की कैसी भी अवस्था क्यो न हो चाहे स्वस्थ हो चाहे अस्वस्थ, चाहे दुबला हो चाहे ताकतवर परन्तु जानने वाले ने उसकी हर हालत को जाना है।

जिस समय शरीर की कोई अवस्था हो रही है उसी समय जानने का कार्य भी हो रहा है यहां तक जब सोता है तो उस समय भी कोई जान रहा है कि सो रहा है अगर नहीं जानता तो जागने पर यह कैसे कह सकता था कि आज नीद अच्छी आई। जिंदा है तो उसको जानता है और मरता है तो उसको भी जान रहा है उसी प्रकार भीतर में सूक्ष्म से सूक्ष्म अथवा स्थूल से स्थूल विचार-भाव-इच्छा जिस समय उत्पन्न हुई है उसी समय उसके जानने का कार्य भी हुआ है। यहा पर एक तर्क है कि जब इच्छा उत्पन्न हुई उसके पहले उसको जाना तो जब थी ही नही तो जाना कैसे। इच्छा मिटने के बाद जाना तो अभाव होने पर कैसे जाना इससे यह सावित होता है कि जिस समय इच्छा उत्पन्न हुई उसी समय जाना। इसमें एक तर्क और है कि इच्छा ने ही इच्छा को जाना है अथवा क्रोध ने ही क्रोध को जाना है तो उसका उत्तर है कि क्रोध के अभाव को जिसने जाना। इससे साबित होता है कि क्रोध के अलावा कोई जानने वाला भिन्न है जो क्रोध को भी जानता है और उसके अभाव को भी जानता है।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि हर कार्य मैं तीन बाते साथ-साथ हो रही एक शरीर की क्रिया, एक मनसम्बन्धी विचारो की—भावो की—विकल्पो की क्रिया और एक जानने की क्रिया। पहली दो क्रिया बदलती रहती है कभी शुभ होती है कभी अशुभ। कभी दान पूजा रूप-दयारूप किसी के भले करने रूप होती है कभी किसी को सताने-मारने रूप। कभी सत्य कभी असत्य रूप होती है परन्तु जानने का कार्य हर अवस्था मे एक रूप मे चालू रहता है। वह हर हालत मे—हर अवस्था को जानता रहता है। पहली दो क्रिया एक शरीराश्रित और एक मनाश्रित है जो हमारे पकड मे आती है। हम शरीर पर ही नही ठहर कर मन की क्रिया तक तो पहुंचते हैं और उनको अपनी मानते हैं यह समझते हैं यह मैं हू यह मेरी है। इस प्रकार अहम्पने को उन दोनो मे प्राप्त हो रहे हैं। वहां इन दोनो में अहम्पना भी है एकत्वपना भी है कर्त्तापना भी है। परन्तु तीसरी क्रिया जो ज्ञान की क्रिया है जानने का कार्य-रूप वह प्रगट—निरन्तर होते हुए भी उसको पकड़ने की चेष्टा आज तक नही की है। जहा से जानने की क्रिया उठ रही है वह स्थल भिन्न है और जहां से भावों की और विचारो की क्रिया उठ रही है वह स्थल भिन्न है यह जानने वाला ही अपने को जानने वाला न समझ कर इन विचारो के—भावों के चिन्ताओं के करने वाला समझ रहा है शरीर सम्बन्धी कार्यों के करने वाला उस सम्बन्धी दुख-सुखको भोगने वाला समझ रहा है। उस जानने वाले को कहा जा रहा है कि तू अपने को पर रूप मान रहा है—शरीर रूप जान रहा है विचारो और विकल्पों रूप जान रहा है और सुखी-दुखी हो रहा हैं तू उस रूप नहीं है तू तो जानने वाला है—जाननेरूप क्रिया का करने वाला है तू अपने आपको अपने रूप क्यों नही देखता? तू अपने आपको जानने वाला रूप देखे तो तू पावेगा कि मैं शरीर रूप नही परन्तु उसका जानने वाला हूं उस शरीर की अवस्था अच्छी या बुरी का भोक्ता नही परन्तु जानने वाला हू। तो शरीर की कैसी भी अवस्था क्यो न हो जावे उससे मेरा क्या सम्वन्ध और उससे सुखी-दुखी होने का भी क्या सवाल है। यह नाम, यह जाति, यह कुल, यह मां-बाप भाई-बन्धु बाहर मे पुरुष अथवा स्त्रीपना, धनवान अथवा गरीबपना सभी जब शरीर की अवस्था है और मै तो जानने वाला हू शरीर नही तो इनसेभी मेरा क्या सम्बन्ध रहा। अगर किसी ने गाली दी अथवा प्रशसा की बात कही तो भी मै तो उसका जानने ही वाला हू शरीर नही तब मुझे हर्ष और विषाद क्यों?

इसी प्रकार विचार उठ रहे है—चिन्ता हो रही है—भाव उठ रहे है, भीतर मे दया रूप भाव हुए और उस जानने वाले से, उस भाव से साथ एकत्व जोड़ा तो उसमे अहम्पने को प्राप्त हो गया कि मै कैसा दयालू हूँ मै उच्च दर्जे का हू चाहे हम बाहर मे न कहें परन्तु भीतर मे तो औरो से अपने को ऊँचा समझा ही है। अगर अपना उच्चपना नही पकड़ मे आवे तो ओरों का नीचापना तो महसूस किया ही है वही बना रहा है कि अहम् भाव बना है यह तब तक नही मिट सकता जब तक हम जानने वाले से एकत्व होते हुए भी इन विकारी भावों से एकत्व जोड़ते रहेगे इन मन सम्बन्धी विकारी भावो से और शरीर के साथ इस जानने वाले ने एकत्व जोड़ा है यह एकत्व जोड़ना

(शेष पृष्ठ ८ पर)

गत कि० ४ से आगे—

जीवन्धर चम्पू में आकिञ्चन्य

□ राका जैन, एम० ए०

जीवन्धर कुमार के मुखारविन्द से आकिञ्चन्यादि धर्मों को सुन कर कृषक अति प्रसन्न हुआ और उसे धारण कर अपने जीवन को सफल मानने लगा। जीवन्धर कुमार ने भी उसे योग्य पात्र समझ अपने बहुमूल्य आभूषण देकर निर्द्वंद्व भाव से जागे बढ़ दिए और परम सुख का अनुभव किया। आभूषण के मोह को त्यजकर परमानन्दानुभव करना आकिञ्चन्य धर्म का परिपोषक है।

प्रमुदित कृषक को सहर्ष स्व-स्वर्णाभूषण देकर मध्याह्न में वे नृप कुँवर उद्यान में विश्राम करने लगे। वे, जिनका मन काम विकार सम्बन्धी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान था, जो कार्यज्ञ मनुष्यों मे अग्रणी तथा संसार के समस्त भोग्य-उपभोग्य पदार्थ को अपना किञ्चित मात्र भी न समझने वाले एवं निरन्तर वैराग्य का चिन्तन करने में प्रवीण थे ऐसे जीवन्धर स्वामी पर आसक्त विद्याधरी के प्रणयीवचनों को सुन कर उस उद्यान से बाहर निकल पडे। स्व प्रिया को खोजते हुए व्यथित विद्याधर की दीनता भरे वचनों को सुन कर जीवन्धर स्वामी ने आकिञ्चन्य के परिपोषक सान्त्वनाप्रदायक गम्भीर वचन उनसे कहे—

धैर्योदार्यविवर्जितक्षितिपति. प्रज्ञाविहीनो गुरुः,
कृत्याकृत्यविचारशून्यसचिव. सग्रामभीरुर्भट·।
सर्वज्ञस्तवहीनकल्पनकविर्वाग्मित्वहीनो बुध·,
स्त्रीवैराग्यकथानभिज्ञपुरुषः सर्वे हि साधारणाः॥

अर्थात्—धीरिता और उदारता से रहित राजा, बुद्धिहीन गुरु, कार्य-अकार्य के विचार से शून्य मन्त्री, युद्ध-भीरु योद्धा, सर्वज्ञ के स्तवन से रहित कवि, वक्तव्य कला से रहित विद्वान और स्त्री-विषयक वैराग्य की कथा से अनभिज्ञ पुरुष ये सब तुच्छ व्यक्ति हैं अत· मोहजनित विचारों को त्यागना चाहिए। यथार्थतः सच्चा आकिंचन-पुरुष वही है जो जैसा अन्दर है वैसा ही अपने को उपस्थापित करता है तथा वैसे ही वचनों को कहता है। जीवन्धर स्वामी ऐसे सिद्धान्त के स्पष्ट उदाहरण हैं।

जीवन्धर स्वामी के राज्यसिंहासीन हो चुकने पर वे एक दिन अपनी आठों रानियों के साथ वासन्ती सुषमा से सुशोभित वानर-समूह को देख कर वे आनन्द-विभोर हो उठे। एक बानरी, अपने बानर का अन्य बानरी के साथ मोहित हुए देख रुष्ट हो गई। उसे प्रसन्न करने के लिए बानर ने बहुत प्रयत्न किए पर वह सन्तुष्ट नही हुई। अन्त मे निरुपाय होने पर वानर मृत-तुल्य पृथ्वी पर लेट गया। यह देख बानरी भय से काप उठी और उसके पास जाकर दोनों प्रसन्न हो गए। बानरी को प्रमुदित देख बानर ने एक पनस-फल तोड़ कर उसे उपहार में दिया परन्तु अकस्मात् वनपाल ने आकर बानरी के हाथ से वह पनस-फल छीन लिया—यह सब दृश्य जीवन्धर स्वामी स्व नेत्रो से देख रहे थे। उनका दयलु हृदय वनपाल के इस कार्य को देख कर व्यग्र हो उठा। उनके मन में यह विचार तरंगित होने लगा—

'काष्ठाङ्गारयते कीशो राज्यमेतत्फलायते।
मद्यते वनपालोऽ्य त्याज्यं राज्यमिदं मया ॥११।१२

अर्थात्—यह वानर काष्ठाङ्गार के समान है, यह राज्यफल के समान और यह वनपाल मेरे सदृश आचरण कर रहा है अर्थात् जिस प्रकार बानर के द्वारा दिए गए फल को वनपाल ने छीन लिया है उसी प्रकार मैंने इस राज्य को छीन लिया है अतः यह राज्य मेरे द्वारा त्याज्य है।

जिसने स्वराज्य हेतु काष्ठाङ्गार से लोहा लिया और उसे तथा अपने प्रतिद्वंद्वियो को मौत के घाट उतारा वे ही जीवन्धर आज इस राज्य को तुच्छ समझ कर अपना आकिञ्चन्य-स्वरूप उपस्थित कर रहे हैं। यह राज्य तैल

रहित दीपक की लौ के समान है, जीवन चंचल है, शरीर बिजली के समान क्षणभंगुर है और आयु चपल मेघ के तुल्य है। इस प्रकार इस संसार की सन्तति मे किञ्चित् भी सुख नही है फिर भी उसमें मूढ हुआ पुरुष अपना हित नहीं करता किन्तु इसके विपरीत मोह को बढाने वाले व्यर्थ के कार्य ही करता है। नश्वर विषयो के द्वारा लुभाया हुआ बेचारा मानव मोहवश दुखजनित दोषो को नही समझता प्रत्युत ग्रीष्मकाल मे शीतल जल की धारा छोड मृगमरीचिका के सेवन तुल्य सांसारिक भोगो मे लिप्त रहना है। दुर्लभ मानव-जन्म पाकर आत्महित मे प्रमाद करना उचित नही। ११।२३-२६। इस प्रकार तत्वचिन्तन के फलस्वरूप जीवन्धर स्वामी ससार की माया-ममता से विरक्त हो (आकिञ्चन्य धर्म की पूर्ण दशा को पाकर) मुनि दीक्षा लेने का निश्चय कर लेते है और राजकीय-व्यवस्था से निवृत हो महावीर-स्वामी के समवसरण में जाकर मुनि-दीक्षा धारण करते हैं एवं घोर तपश्चरण के द्वारा कर्मों को क्षय कर विपुलाचल से मोक्ष प्राप्त करते हैं। शलाका पुरुष न होने पर भी पुराणकारो ने अपने पुराणो मे आकिञ्चन्य पुरुष जीवन्धर का चरित्र अंकित किया। कवियो ने इन पर गद्यपद्यात्मक काव्य लिखे। जीवन्धरचम्पूकार ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि 'जीवन्धरस्य चरित दुरितस्य हन्तृ'—जीवन्धर का चरित्र पाप को नष्ट करने वाला है।

इस प्रकार जीवन्धर स्वामी राज्य-वैभव होने पर भी घर में विरागी विचारो से सम्पन्न थे। उनका विचार था कि यदि धन-दौलत आदि परिग्रह यथार्थतः सुख देने वाले हैं तो मृगमरीचिका भी पिपासा-शमन कर सकती है, आर्त-रौद्र-ध्यान भी मोक्षानन्द दिला सकता है, अग्नि शीतल हो सकती है और मात्र भोजन-इच्छा ही भूख-शान्ति कर सकती है। जीवन्धर स्वामी के परिग्रहभिन्न ऐसे भावो ने ससार के प्रति निराशा उपस्थित की और अन्ततोगत्वा उन्हें मोक्षवधू का वरण करा दिया।

रानी विजया और सुनंदा का आकिञ्चन्य—नृपराज सत्यंधर एवं राजकुंवर जीवन्धर के तुल्य रानी विजया का आकिञ्चन्य व्यक्तित्व भी सहज ही सामने उपस्थित हो जाता है। राजपुत्र जीवन्धर के राजसिंहासनारूढ होने पर तथा स्वय के राजमाता बनने पर रानी विजया को राजवैभवरूप परिग्रह से यकायक ग्लानि हो गई। उन्होने अपनी आठो पुत्रवधुओं को बुलाकर कहा— हे पूर्णचन्द्र के समान मुख वाली बहुओ! आज मेरे हृदय मे इस सारहीन भयकर संसार के विषय से विरक्ति हो रही है और यह विरक्ति इस समय मुझे दीक्षा लेने के लिए शीघ्रता कर रही हैं।

उसी समय गन्धोत्कट की पत्नी सुनन्दा को भी सासारिकता से वैराग्य उत्पन्न हो गया अत. रानी विजया और सुनन्दा ने पद्मा नाम आर्या के समीप दीक्षा ले ली। इस प्रकार जीवन्धर चम्पू मे पुरुष-पात्रो के साथ-साथ नारी-पात्र स्वजीवन मे प्रथमत आकिञ्चन्य धर्म का अणु रूप धारण करते और अन्तत. दीक्षा लेते और असीमितानन्द को पाते हैं।

काष्ठाङ्गार के आकिञ्चन्य भिन्न भाव—आकिञ्चन्य बहुल प्रसङ्गो के साथ-साथ जीवन्धर चम्पू मे यदि आकिञ्चन्य का विपरीत रूप देखना चाहे तो काष्ठाङ्गार का चरित तो पाठक के मध्य सहज ही उपस्थित हो जाता है। नृपराज सत्यधर ने कुछ समय के लिए काष्ठाङ्गार को राज्य दे दिया किन्तु कृतघ्न मन्त्री ने षड्यन्त्र रच युद्ध में उन नृपराज को दीक्षा लेने पर भी मौत के घाट उतार कर उनके राज्य का अधिकार हो गया। काष्ठाङ्गार ने समझा कि मेने राजा को मार ही डाला और रानी मयूरयन्त्र मे बैठ कर गयी थी अत. गिरने पर उसका और उसके गर्भस्थ बालक का प्राणघात स्वय हो गया होगा। इस प्रकार निश्चिन्त हो वह राज्य-शासन करता रहा।

सुप्रचार से किसी की अकीर्ति दबती नही प्रत्युत फैलती ही है। काष्ठाङ्गार की अकीर्ति राजघातक के रूप मे सर्वत्र फैलती ही है काष्ठाङ्गर की अकीर्ति राजघातक के रूप में सर्वत्र फैल गयी। नृपमृत्यु के कलक के परिमार्जन हेतु राजा की मृत्यु का कारण हाथी द्वारा मारा जाना प्रचारित कर जीवन्धर-मातुल गोविन्द महाराज के पास सन्देश भेजा। काष्ठाङ्गार-कलक के उपशमन के व्याज से गोविन्द महाराज ने सत्यंधर की राजधानी राजपुरी में स्व सुता लक्ष्मणा का स्वयंवर रचा। जीवन्धर राज ने चन्द्रकवेधक को वेधकर लक्ष्मणा प्राप्त की, तब जीवन्धर

के यथार्थ-जीवन का रहस्योद्घाटन हो गया। लक्ष्मण-माला का इच्छुक काष्ठाङ्गार उत्तेजित हो भडक उठा। युद्ध के लिए उद्यत हो जाने पर वह जीवन्धर के द्वारा मृत्युलोक का पान्थ बन गया। देखिए ! कितनी विचित्रता है मानसिक-मनोभावो की ? काश ! यदि वह नृपराज्य की ओर आकिञ्चन्य रहता तो उसकी यह निकृष्ट दशा न होती।

सासारिक परिभ्रमण से निकल कर मानव को मुक्ति-मन्दिर मे भेज देना जैन कथानकों का उद्देश्य रहता है। यद्यपि इसमे प्रसङ्गोपात्त विविध भावों का समावेश हुआ है तथापि अकिंचन-भाव से पीछे नही। जीवन्धर स्वामी का वैभव विसर्जन कर मुक्ति-पदवी पाना, रानी विजया का आर्या पद ग्रहण करना इसके विपरीत काष्ठाङ्गार का राज्य-च्युत होना जीवन्धर चम्पू मे प्रयुक्त आकिञ्चन्य-स्वरूप को परिपुष्ट करने वाले ही हैं। जीवन्धर चम्पू में नायक जीवन्धर को शृङ्गारिक रूप मे दर्शाया गया है तथापि यत्र-तत्र अकिंचन-तत्व प्रदर्शित होता है जो कि उनके शृङ्गारिक जीवन मे चारचाँद लगा देता है और एक विलक्षणता उपस्थित करता है।

—अलीगञ्ज (एटा)

(पृष्ठ ५ का शेषाप)

ही सबसे बडा पाप है, सबसे बडा अधर्म है सबसे बडा अज्ञान है यह किसी अन्य प्रकार से नही मिट सकता परन्तु जानने वाला अपने आपको जाने अपना सर्वम्व अपना अहम्पना उस जानने वाले मे स्थापित करे तो वह अहम्पना जो अभी मन सम्बन्धी विकारो मे और शरीर सम्बन्धी क्रियाओ मे आ रहा है वह मिट कर अपने जानन-पर्न रूप निज स्वभाव मे आये तो नकली मै का अभाव हो और असली मैं की प्राप्ति हो जोकि वास्तव मे ब्रह्मोस्मि है और वही पारिणामिक भाव है वही निज भगवान आत्मा है। जिसको जानने से धर्म की शुरुआत होती है—साक्षी भाव जागृत होता है। निजस्वभाव के प्रति मूर्च्छा दूर होती है जागरण चालू होता है आप अपना मालिक बनता है। आज तक जिसको नही पाया उसको पाता है जिस कूडे-कर्कट को पकड रखा था उससे निवृत होता है। जो अभी तक व्यवहार मे पर मे जगता था वह अब परमार्थ मे जगता है जहा अब तक मूर्च्छित था। घोर अन्धकार मे सूर्य का प्रकाश दिखाई देता है। अब अन्धकार नही रहने का। चाहे कितना ही गाढ़ा क्यो न हो प्रकाश की किरण ने उसको भेद दिया है। शरीर रहता है और अन्य भाव भी रहता है परन्तु मै नही रहता। मै मिट जाता है। यह मैं ही निज परमात्मा से मिलने में रुकावट थी, मैं मिट गया।

मुक्ति का सच्चा हेतु

'यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्याऽऽत्मा।
दृगवगमचरणरूपः स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति हि जिनोक्तिः॥'

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप आत्मा मध्यस्थभाव को प्राप्त होकर आत्मा को आत्मा के द्वारा, आत्मा में देखता और जानता है वह निश्चय से (स्वयं) मुक्ति का हेतु है, ऐसी सर्वज्ञ—जिन भगवान की वाणी है।

□□

सम्यक्त्व-कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनायें एवं विशेष ज्ञातव्य

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

'अनेकान्त' के सितम्बर ८१ के अंक मे डा० ज्योतिप्रसाद जैन का एक लेख 'सम्यक्त्व—कौमुदी सम्बन्धी रचनायें' शीर्षक छपा था। उसकी पूर्ति के रूप में दिसम्बर ८१ के अंक में 'सम्यक्त्व कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनायें' नामक लेखप्रकाशित हो चुका है। पर अभी-अभी पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५ से 'जैन साहित्य का बृहद इतिहास का ७वां भाव प्रकाशित हुवा है, उससे कन्नड़ और मराठी भाषा की सम्यक्त्व कौमुदी सम्बन्धी कुछ नई जानकारी प्रकाश मे आई है। इसलिए पाठको को उसकी जानकारी देने के लिए यह लेख, पूर्व प्रकाशित दोनों लेखों की पूर्ति के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

'जैन साहित्य का बृहद इतिहास' के सातवें भाग मे कन्नड, तमिल और मराठी तीन भाषाओं के जैन साहित्य का विवरण स्व० पं० के० भुजबली शास्त्री और मराठी साहित्य का विवरण डा० विद्याधर जोहरापुरकर लिखित है। कन्नड जैन साहित्य मे सम्यक्त्व कौमुदी नामक रचना प्राप्त हैं। जिनमे से कवि मगरम का कुछ विशेष विवरण उपरोक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ८७ मे छपा है उसके अनुसार मगरम तृतीय का समय सोलवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध का बताया है। और यह ग्रथ प्रकाशित भी हो चुका हैं। इसका सम्पादन पं० शान्तिलाल शास्त्री ने किया है और अतिबल ग्रंथमाला, बेलगाव से यह प्रकाशित हुआ है।

मराठी जैन साहित्य मे दया सागर (दया भूषण) की सम्यक्त्व-कौमुदी में ११ अध्याय और २३८० ओवी है। यह जिनदास चवड़े, वर्धा सं० १९०८ मे प्रकाशित हो चुका है। दूसरी रचना महीचन्द रचित सम्यक्त्व कौमुदी है, जिसमे १३ अध्याय और १९८१ ओवी है। इसकी कथाएं दया सागर की सम्यक्त्व कौमुदी के समान ही है। महीचन्द के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति ने कालिका पुरान नामक एक बडा ग्रथ रचा है उसमे सम्यक्त्व कौमुदी की कथाएं भी शामिल कर ली गयी है। आधुनिक मराठी जैन साहित्यकारो मे कल्लाप्पा भरमाप्पानिटवे ने सम्यक्त्व कौमुदी का मराठी अनुवाद किया है। पर उसमे मूल ग्रथ को अज्ञातकर्तृक लिखा है।

हमारे सग्रह मे सस्कृत गद्य मे सम्यक्त्व कौमुदी, मूलचन्द किशनदास कापडिया, सूरत से प्रकाशित सन् १९३९ की प्रथम आवृति है। माणिकचन्द दिगंबर जैन परीक्षालय मे यह पाठ्यक्रम मे रखा गया था, यह भी अज्ञात कर्तृक है। इससे २५ वर्ष पहले पं० उदयलाल कासलीवाल ने इसे प्रकाशित किया था, लिखा है। जिसका उल्लेख डा० ज्योतिप्रसादजी के लेख मे हो चुका है। सम्यक्त्व कौमुदी नामक श्वेताम्बर जिनहर्षगणि स० १४८७ की रचित, मूलरूप मे प्रकाशित हुई है वह तो मुझे नही मिली पर उसका गुजराती अनुवाद आत्मानद जैन सभा भावनगर से सन् १९१७ मे प्रकाशित हुआ, यह मेरे सग्रह मे है। इस श्लोकबद्ध सस्कृत ग्रथ के रचयिता जिन हर्षगणि, तपागच्छीय जयचन्दसूरि के शिष्य थे। इसमें सात प्रस्ताव हैं। मूलग्रथ भी इसी सभा से पूर्व छप गया था। दि० श्वे० सम्यक्त्व कौमुदी की कथाओ के तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह ग्रथ महत्वपूर्ण है।

□□

अपभ्रंश काव्यों में सामाजिक-चित्रण

□ डा० राजाराम जैन, रीडर एवं अध्यक्ष—संस्कृत प्राकृत विभाग, आरा

मध्यकालीन भारतीय इतिहास एव सस्कृति के सर्वांगीण प्रामाणिक अध्ययन के लिए अपभ्रंश-साहित्य अपना विशेष महत्व रखता है। उसमे उपलब्ध विस्तृत प्रशस्तियां, ऐतिहासिक-सन्दर्भ लोक-जीवन के विविध चित्र, सम-सामयिक सामाजिक परिस्थितिया, राजनीति, अर्थनीति, एवं धर्मनीति के विविध सूत्र, हास-परिहास, एव विलास-वैभव के रससिद्ध चित्रांकन इस साहित्य के प्राण है। अपभ्रंश के प्रायः समस्त कवि आचार और दार्शनिक तथ्यों तथा लोक जीवन की अभिव्यजना कथाओ एव चरितो के परिवेशों द्वारा करते रहे है। इस प्रकार के चरितो और कथानकों के माध्यम से अपभ्रंश-साहित्य मे मानव-जीवन यथा जगत की विविध मूक-भावनाए एव अनुभूतियाँ मुखरित हुई हैं। क्योकि वह एक ओर पुराण-पुरुषो के महामहिम आदर्श चरितों से समृद्ध है तो दूसरी ओर सामन्तों वणिकपुत्रो अथवा सामान्य वर्ग के व्यक्तियो के सुखों-दुखों अथवा रोमांसपूर्ण कथाओ से परिव्याप्त। वन-विहार, उद्यान-क्रीड़ाए, सगीत-गोष्ठिया, आखेट-द्यूत, एव जल-क्रीड़ाएं, रासलीलाएं, सरोवर-स्नान के समय प्रेमी-प्रेमिकाओं के परस्पर में छकाने के लिये वस्त्रों के अपहरण आदि विविध चित्र-विचित्र चित्रणों से अपभ्रंश-साहित्य की विशाल चित्रशाला अलकृत है। चउमुह, ईशान एव द्रोण जैसे महाकवियों ने इस महान चित्रशाला की नीव रखी, तो जोइन्दु स्वयम्भू, पुष्पदन्त, हरिभद्र, धनपाल, वीर, कनकामर, पद्मकीर्ति, हेमचन्द्र, अब्दुल-रहमान प्रभृति काव्य-कुशल सरस्वती पुत्रो ने अपभ्रंश के उस भवन को धडकर भव्य-प्रसाद के रूप मे अलकृत किया है और यश कीर्ति एव रइधू जैसे प्रतिभाशाली महाकवियो ने उसे सर्वतोभावेन समृद्ध बनाये रखने का अथक प्रयास किया है। इस प्रकार अपभ्रंश-काव्यो में विक्रम की छठवी सदी से सोलहवी सदी तक के भारतीय इतिहास एव सस्कृति के प्रामाणिक चित्र सुसज्जित है। प्रस्तुत लघु-निबन्ध मे उन सभी पर प्रकाश डालना तो सम्भव नही, हाँ, उदाहरणार्थ केवल कुछ सरस एवं रोचक तथ्यो पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

सामाजिक परिस्थितियाँ :

अपभ्रंश काव्यो मे परम्परानुमोदित पौराणिक, सामाजिक मान्यनाओ को ग्रहण किये जाने पर भी सम-सामयिक स्थितियो के उनमे पर्याप्त निर्देश मिलते है। इन काव्यो मे कुछ ऐसी मान्यताए निर्दिष्ट की गई है, जो मध्यकालीन स्थितियो पर प्रकाश डालती है। वैदिक वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्तानुसार ब्राह्मण का कार्य पठन-पाठन और यज्ञ-यागादि करना था। पर १५वी सदी मे विदेशी आक्रमण होने एव मुसलमानो के उत्तराधिकार सम्बन्धी पारम्परिक कलह तथा राजनैनिक अस्थिरता के कारण देश की आर्थिक स्थिति बिगडने लगी थी। फलस्वरूप ब्राह्मण आजीविका के हेतु खेती भी करने लग गए थे। महाकवि रइधू ने अपनी एक रचना 'धण्णकुमार-चरिउ' मे 'बम्भणकिमाणु'[1] लिख कर उसका स्पष्ट निर्देश किया है और इस प्रकार उसकी परिवर्तित स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला है।[2]

जातियाँ :

'धण्णकुमार चरिउ' के उपर्युक्त 'बम्मणकिसाणु' पद मे 'किसाणु' का विशेषण 'बम्भए' है और यह इस बात का द्योतक है कि ब्राह्मणजाति के किसान भी होते थे। यदि यह तथ्य न होता तो कवि 'किसाणु' शब्द से ही अपना काम चला लेता। 'बम्भणु किसाणु' का उसने किसी विशेष अभिप्राय से ही प्रयोग किया है। बिहार मे जहाँ ब्राह्मणो के लिये खेती करना वर्जित है और अधिकांश

१. धण्ण ३।३।३।

२. हरिवंस० २।२०; ३।१३-१४; ४।६।

ब्राह्मण कृषि-कर्म स्वय नही करते, वहां राजस्थान उत्तर प्रदेश आदि में ब्राह्मणों को स्वय कृषिकर्म करते हुए देखा जाता है।

ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रीय, वैश्य एव शूद्रों की जातियों के भी उल्लेख हुए है। क्षत्रियो मे इक्ष्वाकुवशी,[1] सूर्यवशी,[2] चन्द्रवशी,[3] अन्धकवृष्णि,[4] एव भोजकवृष्णियों[5] के परम्परा प्राप्त उल्लेख मिलते है। उनके अतिरिक्त तोमर, गुर्जर, प्रतिहार एव सोरट्ठ नामक क्षत्रिय जातियो के भी उल्लेख हुए है। 'सिरिवाल चरिउ' मे बताया गया है कि खस एव नव्वर जाति के डाकुओं से मराठे, सोरठे एवं गुर्जरो ने महायुद्ध मे लोहा लिया था।[6]

वैश्य मे अग्रवाल, पद्मावती, पुरवाल, जैसवाल, गोलाराड, एव पौरपाट आदि जातियो के उल्लेख मिलते है। अग्रवालो मे गर्ग ऐंडिल गोयल मित्तल, बसल गोत्रो के भी नाम प्रशस्तियो एव ग्रन्थ-पुष्पिकाओ मे मिलते है। साहित्यिक एव कला के विविध क्षेत्रो में उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा है।[7]

'धण्णकुमार चरिउ' मे एक पटवारी जाति का भी निर्देश पाया जाता है।[8] हमारा अनुमान है कि यह भी कोई वैश्य जाति है जो पटवारिगिरि अर्थात् भूमि की पैमाइश आदि का कार्य करती थी। मध्यभारत मे आज भी उन्हें ही पटवारी कहा जाता है जो खेतो की मालगुजारी का लेखा-जोखा एव बन्दोवस्त के कार्य करते है, भले ही उनकी जाति कुछ भी हो।

अन्य जातियों में भील,[9] खस,[10] बव्वर,[11] पुलिंद,[12] केवट,[13] कलाल,[14] सुनार,[15] लुहार,[16] कुम्हार,[17] यादव,[18] आदि के नाम मिलते हैं। खस बव्वर एवं पुलिंद के विषय मे रइधू ने लिखा है कि ये तीनों जातियां जहां भी रहें, वहा किसी को स्वप्न में भी रहने का विचार नहीं करना चाहिए। कवि ने इसीलिये इनका उल्लेख आक्रमणकारी जातियो के रूप में किया है।

अस्पृश्य जातियो मे डोम,[19] मातंग,[20] चाण्डाल,[21] घिनिवाल[22] एव सुञ्भिस[23] जातियो के नाम मिलते हैं। 'घिनिवालु' जाति नवीन प्रतीत होती है। हो सकता है कि यह वही हो, जिसे हम आजकल कसाई कहते हैं। इसीलिए कवि ने इसकी डोम आदि जातियों के साथ गणना की है।

'सुञ्भिस' सम्भवत आजकल की भिश्ती जाति है जिसके लोग मशक के द्वारा जाल घर-घर पहुंचाया करते थे। एक अन्य म्लेच्छ जाति का भी उल्लेख आया है। जो सम्भवत यवन जाति के लिये प्रयुक्त है।

'सिरिवल चरिउ' में एक भांड़-जाति[24] का भी उल्लख आता है। जाति के कारनामे आजकल के समान ही मध्य-मे भी थे। किसी भी अच्छे व्यक्ति की नकल बना कर उसे निम्नतर घोषित करना एव व्यग्योक्तियों द्वारा खरी एवं स्पष्ट बातो को जनता के समक्ष रख देना इस जाति का परम्परा-प्राप्त व्यापार था। श्रीपाल जिस समय धवल सेठ के द्वारा समुद्र में गिरा दिया जाता है और वह अपने पुरुषार्थ से समुद्र तैर कर उसी द्वीप में पहुंचता है, जहां

१. उपरिवत्।
२. उपरिवत्।
३. उपरिवत्।
४. उपरिवत्।
५. हरिवंश० २।२० ; ३।१३-१४ , ४।१।
६. सिरिवाल० ५।२२।
७. रइधू-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४९८
८. धण्ण० १।३।४।
९. सम्मइजिण० ३।११, बलहद्द० ४।३।
१०. सिरि० ५।२२, १०।३, पाम० ५।६।५, बलहद्द० ४।३।
११. सिरि० ५।२२, ८।१०, १०।३।
१२. धण्ण ३।२४।६।
१३. सिरि० ५।१३।६।
१४. बलहद्द० ३।२, ५।१०।
१५. बलहद्द०—३।२, ५।१०।
१६. बलहद्द०—५।१०।
१७. उपरिवत्—३।२, ५।१०।
१८. हरिवंस० १४।५।
१९. सिरि० ७।१२, बलहद्द० ६।२, ५।१३।
२०. धण्ण० २।७।१-३, सिरि० ७।१२।
२१. बलहद्द ३।२।
२२. उपरिवत्।
२३. उपरिवत्।
२४. सिरि० ७।९-१२।

कि बाद में धवल स्वयं पहुंचता है तथा श्रीपाल को वहां के राज-दरबार मे एक सम्मानित व्यक्ति के रूप मे देखता है तब धवल भाड़ों की सहायता से उसे अपमानित करता है तथा राजा की दृष्टि में उसे पतित सिद्ध कर देता है। यद्यपि धवल की यह कुटिलता बाद मे स्पष्ट हो जाती है।

परिवार :

समाज का घटक परिवार है। प्रत्येक कवि या साहित्यकार अपनी रचना में पारिवारिक सम्बन्धों पर अवश्य ही प्रकाश डालता है। अपभ्रंश काव्यो में भी पारिवारिक सम्बन्धों का विस्तृत विवेचन मिलता है, क्योंकि कथानायक का जन्म किसी परिवार मे होता है। उस परिवार में माता-पिता आदि गुरुजनों के साथ भाई, भावज, बहिन, पुत्र, मित्र, दास-दासियां आदि विद्यमान रहते हैं। अत: कवियों ने इसके पारस्पिरिक सम्बन्धो की चर्चा कर उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी उपस्थित किया है।

यह परिवार-व्यवस्था सम्मिलित परिवार व्यवस्था के रूप में चित्रित है। अत: सास-बहू की कलह, ननद-भौजाई के झगड़े, सौतियाडाह तथा परिवार में परस्पर मे चलने वाले शीतयुद्ध आदि के प्रसंग प्रचुर-मात्रा में मिलते हैं। महाकवि स्वयम्भू ने सास-बहू के झगड़े को अनादिकालीन कहा है।[1] सौतिया डाह के प्रसंग आनुषंगिक एव स्वतन्त्र दोनों ही रूप में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। एतद्विषयक स्वतन्त्र कृति के रूप मे 'सयधदहमी कहा'[2] सुप्रसिद्ध रचना है। इसी प्रकार पुष्पदन्त कृत महापुराण[3] मे एक प्रसग आया है जिसके अनुसार महाराज कृष्ण की सत्यभामा एव रुक्मिणी नाम की दोनों पत्नियो मे पर्याप्त ईर्ष्या चलती है। उन्होंने परस्पर में यह शर्त रखी थी कि जिसके बेटे का पहले विवाह होगा, वह दूसरी का सिर मुँडवा देगी। 'धण्णकुमार चरिउ' में कहा गया है कि अपने माता-पिता के अत्यन्त दुलारे धन्यकुमार को अपने ईर्ष्यालु बड़े भाइयों एवं भौजाइयों के तीखे व्यंग्य वाणी एवं कटु आलोचनाओ का शिकार होना पड़ा और बेचारे को परदेश भाग जाना पड़ा।[4]

नारी की स्थिति :

परिवार में नारी की स्थिति परतन्त्र थी। उसके लिये जो आचार-संहिता मिलती है, वह बड़ी दुरूह है। विवाहिता-नारी को अपने पति के लिये मन-वचन एवं कार्य से पूर्णतया समर्पित रहने का आदेश दिया गया है तथा कहा गया है कि वह दुश्चरित्र एवं निर्लज्ज नारियो की संगति कर अपने कुल, एवं शीलव्रत को कलकित न करे। उन्हें अपना जीवन इस प्रकार का बनाना चाहिए कि कोई अंगुली भी न उठा सके और दोनो कुलों पर किसी भी प्रकार का कलक न लग सके।[5]

परित्यक्ता नारियो को अपभ्रंश काव्य मे दुर्भाग्य का भण्डार कहा गया है। उनके लिए कहा गया है कि उन्हे दुर्जनो एवं आवारागर्दी करने वालो से अपने को छिपा कर रखना चाहिए। सिर उघाड कर रास्तों एवं बाजारों मे नही घूमना चाहिए। दिन मे शयन नही करना चाहिए तथा दूसरो के भाग्य पर ईर्ष्या नहीं करना चाहिए। उन्हें शीलव्रत धारण कर सात्विक जीवन व्यतीत करना ही श्रेयस्कर है।[6]

प्रौढा विधवाओ के विषय मे कहा गया है कि पति की मृत्यु पर विधवा को चिता में जल मरने का प्रयास नही करना चाहिए। सिर पटक कर हाय-हाय करना उचित नही। कवियो ने उन्हें आदेश अथवा उपदेश दिया है कि उन्हे मार्ग मे अत्यन्त वेगपूर्वक अथवा अत्यन्त मन्द-गति से चलना सर्वथा छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार बिना कार्य के दूसरों के घर आना-जाना या रात्रि मे अकेली घूमना त्याज्य बताया गया है। सहिष्णु बन कर आत्मोद्धार का प्रयास आवश्यक बताया गया है और जोर देकर कहा गया है कि जो नारी उत्तम शीलव्रत धारण नही कर सकती, उसकी वही दशा होती है जो सड़ी कुतियों अथवा जूठी पातल की होती है।[7]

१. पउमचरिउ—२।१५५।
२. भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित।
३. महापुराण ६१।३, भाग ३, पृष्ठ १७१।
४. धण्ण० १।६-१०।
५. अप्पसवोह० २।१७।
६. उपरिवत्—२।१८, २१, २३
७. उपरिवत्—२।१६, २१

बाल विधवा के लिये कहा गया है कि उसे सादा भोजन और उच्च विचार रखना चाहिए। सदैव शुभ्र-वस्त्र धारण करना चाहिए। किसी भी प्रकार का शारीरिक शृंगार नहीं करना चाहिए, काम-वासना को उभाड़ने वाले रंगीन एव रक्ताभ वस्त्र भूल कर भी धारण नही करना चाहिए। इमी प्रकार ताम्बूल सेवन, इत्र लेपन, धूर्तक्रीड़ा, लोगों से हसी।मजाक, विरह कथाओं का सुनना-सुनाना, घी एवं दूध मिश्रित गरिष्ठ भोजन, जल्दी-जल्दी माथा धोना, शून्यगृह मे रहना, घर की दीवालो या छत पर चढ कर दिशाओं का निरीक्षण, गाना गाना, मार्ग मे भटकना, जोरों से किसी को कोमना, परिवार के लोगों से रूठना आदि कार्य वर्जित बताये गये है। इनके त्याग के विना बाल-विधवा की दुर्गति अचिन्तनीय है।[1]

विवाह-संस्था :

व्यक्ति के चरित्र निर्माण मे विवाह-सस्था का महत्व-पूर्ण योग है। विवाहित होने से यौन-सम्बन्ध एव विषय सीमा का सकोच दोनों ही बातें एक साथ सम्पन्न हों जाती है। स्नेह, प्रेम, सहयोग एव सहानुभूति की पाठशाला परिवार ही होती है। गुरजनो के प्रति आदर और भक्ति-भाव का प्रदर्शन एव सत्य दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता एव सेवा प्रभृति सद्गुणों का विकास विवाहित परिवार के बीच ही सम्भव है। अत. परिवार का आधार विवाह माना गया है।

अपभ्रंश चरित काव्यो मे आर्ष-विवाँह को ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। विवाह के पूर्व वर-वधू का सम्पर्क होना या अन्य किसी कारण से प्रेम का जागृत होना अथवा प्रेमी-प्रेमिकाओ को एकत्र करके प्रेम के विकसित होने का अवसर नहीं दिया गया है, क्योकि इन कवियो की दृष्टि मे विवाह एक ऐसी पवित्र-संस्था है जिसका दायित्व पूर्णतया माता-पिता पर है। सिरिवाल चरिउमे आए हुए एक कथानक के आधार पर उज्जयिनी नरेश राजा पृथ्वीपाल अपनी बड़ी पुत्री सुरसुन्दरी से प्रसन्न होकर उसका विवाह कौशाम्बी नरेश के राजकुमार हरिवाहन के साथ कर देता है किन्तु छोटी पुत्री मैना[2] सुन्दरी की स्पष्टवादिता और धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा, एवं भवितव्यता के प्रति उसका घोर विश्वास देख कर वह क्रोधाभिभूत हो जाता है। पिता को पुत्र की यह प्रवृत्ति अपमानजनक प्रतीत होती है। अतः वह उसका विवाह एक कोढ़ी के साथ कर देता है। इस सन्दार्भाश से विवाह प्रथा के सम्बन्ध में निम्नलिखित संकेत मिलते हैं—

१. विवाह के पूर्व पिता अपनी कन्या की सम्मति लेता था और विभिन्न प्रकार के वरो का परिचय एवं वैभव इत्यादि का वर्णन कर कन्या की भावना को जान लेता था।
२. वर-निर्वाचन मे पिता का स्वातन्त्र्य था। यद्यपि वह परिवार के व्यक्तियो से सम्मति लेता था, पर पिता का निर्णय ही सर्वोपरि होता था। उज्जियिनी नरेश राजा पृथ्वीपाल को उसके निर्णय से विचलित करने के लिए रानी एवं अमात्यो का प्रयास व्यर्थ जाता है।
३. अनुचित और अनमेल विवाहों को समाज उचित नहीं समझता था। मैना सुन्दरी का कोढ़ी के साथ विवा-सम्बन्ध होते देख कर समस्त-प्रजा के मुख से त्राहि-त्राहि की ध्वनि निकलने लगती है तथा सभी प्रजाजन राजा के इस कुकृत्य पर उसे कोसने लगते हैं।

विवाह पद्धति :

विवाह रचाने के लिए अनेक प्रकार के रीति-रिवाजों की चर्चायें आई हैं। कविधाहिल ने अपने 'पउमचरिउ' में पद्मश्री के विवाह का वर्णन करते हुए लिखा है—ज्योतिषियों द्वारा शुभतिथि के निश्चल किये जाने पर विवाह की तैयारिया प्रारम्भ कर दी गईं। विवाह-सामग्री का सकलन किया जाने लगा। नाते-रिश्तेदारों को न्यौते भेजे जाने लगे। सभामण्डप सजा दिया गया, बच्चों के आनन्द का पारावार न रहा। भावी वधू का मन कुलांचे मार रहा था, वाद्यो की ध्वनि में ब्राह्मण लोग श्रुतिपाठ कर रहे थे। सुहागिन स्त्रियां कौतुकपूर्ण गीत गा रही थी। कुछ समय बाद कन्या का अभिषेक किया गया, नवीन कीमती वस्त्राभूषणों से सजा कर उसकी आंखों में अंजन लगा दिया गया, फिर उसे कुलदेवी के दर्शनार्थ ले जाया गया।

इधर वर भी सज-धज कर हाथी पर सवार होकर बारात के साथ चला। सखियां उसे मातृमन्दिर ले गईं।

---

१. अप्प० २।२०।

२. सिरिवाल—२।२।

पद्मश्री की हमजोली सखियां वर से हंसी-मजाक करने लगी। वर से उन्होंने दोहे पढ़वाए और फिर दोनो का विवाह हो गया।[१]

इसी प्रकार 'भविसयतकहा' में धनपति एवं कमलश्री के विवाह के अवसर पर भवन की सजावट, तोरणबन्धन, रंगोली, चौक विविध मिष्ठान्न, आभूषण आदि की सुव्यवस्थाएं कर प्रीतिभोज का वर्णन किया गया हैं।[२]

जंबूसामिचरिउ मे वैवाहिक भोज का सुन्दर वर्णन मिलता है। उसमे तृणमय आसनो पर आगन्तुको को भोज कराये जाने तथा ग्रीष्मऋतुओ मे सुगन्धित सरस पदार्थों से सरावोर तालपत्रों से सभी पर हवा करने के उल्लेख मिलते हैं। भोजन मे कूर नामक धान के चावल से निर्मित मीठे भात, खट्टे आचार, चटनी एव तक्र, मूग के बने हुए व्यंजन आदि कटोरियों मे सजा कर परोसे जाने तथा भोजनोपरान्त सुगन्धित द्रव्य एवं ताम्बूल आदि के खिलाये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[३]

प्रीतिभोज के बाद मंगल मंत्रो एवं घी की आहुति के साथ वरमाला डालकर विवाह की अन्तिम प्रक्रिया सम्पन्न की जाती थी,[४] सिरिवाल चरिउ मे सुलोचना के विवाह-प्रसंग मे इष्टदेवपूजा के साथ सात भांवरें, सप्तपदीकथन एवं उसके बाद हथलेबा की प्रक्रिया को विवाह की अन्तिम प्रक्रिया कही गई है।[५]

बहु विवाह :

अपभ्रंश-काव्यों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय बहु-विवाह प्रथा का पर्याप्त रूप में प्रचलन था। क्या पौराणिक पात्र और क्या युगीन पात्र, सभी मे यह प्रवृत्ति देखी जाती है। हां, अन्तर इतना ही है कि पौराणिक पात्र सहस्रों विवाह रचाते थे और युगीन पात्र २-२, ४-४ चक्रवर्ती सम्राट भरत की ९६ सहस्र रानियां,[६] चम्पानरेश श्रीपाल की ८ सहस्र रानियां,[७] बसुदेव की एक सहस्र से अधिक रानियों[८] को चर्चाएं आती हैं।

बहु-विवाह-प्रथा में अपभ्रंश के कवि स्वयं भी बड़े रसिक प्रतीक होते हैं। पउमचरिउ के लेखक कविराज चक्रवर्ती नाम की उपाधि से विभूषित महाकवि स्वयम्भू की अमृताम्बा एव आदित्याम्बा नाम की दो पत्नियां थी[९] जिनकी प्रेरणा एव उत्साह से कवि ने पउमचरिउ जैसे गम्भीर महाकाव्य की रचना की।

जंबूसामिचरिउ के लेखक महाकवि बीर की भी चार साहित्यरसिक पत्नियां थी जो उनकी कविता-कामिनी की अजस्र प्रेरणा स्रोत थी। उनके नाम है जिनमती, पद्मावती, लीलावती एव जयामती।[१०]

महाकवि रइधू के आश्रयदाता श्री मुल्लण साहू की भी दो पत्नियो के उल्लेख मिलते हैं।[११]

इन उल्लेखो से यह स्पष्ट है कि मध्यकाल मे बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी। समाज में उसे मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। (क्रमशः

---

१. पउमचरिउ—पद्य २४।
२. भविसयत्तकहा—११८-१०।
३. जबूसामिचरिउ भूमिक—पृ० १४३।४४।
४. भविसयत्त० १।८।१०।
५. सिरिवालचरिउ—३।१७।
६. हरिवंस० २।१७।
७. सिरिवाल० ८।१५, ९।१३।
८. हरिवंस० ५।१४।
९. रइधू-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन—पृ० १७।
१०. जंबूसामिचरिउ, भूमिका—पृ० ११।
११. धण्णकुमार चरिउ—४।२०।

□□

जैनदर्शन में अनेकान्तवाद

□ अशोककुमार जैन एम० ए० शास्त्री, नई दिल्ली

भारतवर्ष का उर्वर मस्तिष्क अनेक सुन्दर और सार्वभौम विचारों की जन्मभूमि रहा है। यहाँ के विभिन्न-दर्शन अपनी स्वतन्त्र मान्यता और विचारधारा को लेकरउद्भूत हुए और उनका विकास होता रहा। उनकी अपनी मान्यताओं में से अनेक ऐसी धारायें निकली जिनके नाम पर तत्तत्सम्प्रदायों का बोध होने लगा उदाहरणतः मध्यम प्रतिपदा के लिए बौद्ध, अद्वैतवादी विचारधारा के लिए नैयायिक और साख्य, भोगवादी विचारधारा के लिए चार्वाक, आत्मवादी विचारधारा के लिए पौराणिक विशेष प्रख्यात हुए। इसी सन्दर्भ मे अनेकान्तवाद का जब नाम आता है तो उससे जैन विचारधारा सम्यगुपलक्षित होती है।

जैन दार्शनिक साहित्य का सामान्यावलोकन करते समय आज तक उपलब्ध समग्र साहित्य को ध्यान मे रख कर प्रो० महेन्द्रकुमार जी ने इस प्रकार कालनिर्धारण किया है।[१]

१. सिद्धान्त आगमकाल : वि० ६वी शती तक।

२. अनेकान्तस्थापनकाल : वि० ३ री से ८वी तक।

३. प्रमाण व्यवस्थायुग : वि० ८वी से १७वी तक।

४. नवीन न्याय युग वि० १८वी से···

जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेक अन्त धर्म या अंश ही जिसका आत्मा स्वरूप हो वह पदार्थ अनेकान्तात्मक कहा जाता है।[२] सभी ज्ञानो का विषय अनेकान्तात्मक कहा जाता है।[३] सभी ज्ञानों का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु है और नय का विषय एक देश से विशिष्ट वस्तु है।[४] अकलङ्कदेव ने अनेकान्त का लक्षण इस प्रकार किया है।[५] अनेकान्त की सीमा के अन्दर वस्तु के अनन्त धर्मों का समावेश होता है एक वस्तु मे वस्तुत्व की सिद्धि करने वाले परस्पर विरोधी द्रव्य पर्याय रूप दो शक्ति धर्मों का युगपद् एकत्र अविनाभाव अविरोध सिद्ध करना यही अनेकान्त का मुख्य प्रयोजन है। भेदाऽभेद मे एकान्त की अनुपलब्धि होने से अर्थ की सिद्धि अनेकान्त से होती है।[६] दर्शनशास्त्र मे प्रयुक्त नित्य-अनित्य, भिन्न-अभिन्न, सत्-असत्, एक-अनेक आदि सभी अपेक्षित धर्म हैं। लोक व्यवहार मे भी छोटा-बडा, स्थूल-सूक्ष्म, ऊँचा-नीचा, दूर-नजदीक, मूर्ख-विद्वान आदि सभी आपेक्षिक है। एक ही समय मे पदार्थ नित्य और अनित्य दोनो हैं किन्तु जिस अपेक्षा से अनित्य है उसी अपेक्षा से नित्य नही है। प्रत्येक वस्तु द्रव्य अपेक्षा नित्य एवं पर्याय अपेक्षा अनित्य है। पर्याय उत्पाद और व्यय स्वभाव वाली है जो कि वस्तु मे अनित्यता सिद्ध करती है साथ ही उत्पाद-व्यय से वस्तु मे हमे उसकी स्थिति की ध्रुवता का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है यही स्थिरता—ध्रुवता वस्तु मे नित्य धर्म का अस्तित्व सिद्ध करती है जो अपनेअस्तित्व स्वभाव को न छोड़कर उत्पाद, व्यय तथा ध्रुवता से सयुक्त है एवं गुण तथा पर्याय का आधार है सो द्रव्य कहा जाता है।[७] यही लक्षण उमास्वामि ने भी तत्त्वार्थसूत्र मे किया है।[८] अन्य दर्शनों ने किसी को नित्य और किसी को अनित्य माना है परन्तु जैनदर्शन कहता है कि दीपक से लेकर आकाशपर्यन्त सब पदार्थों का स्वरूप एक-सा है अत वस्तु का स्वभाव नित्य अनित्यादि अनेक धर्मों के धारक स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) की मर्यादा को उल्लघन नही करता। एकान्त से नित्य-अनित्य आदि कुछ भी नही है किन्तु अपेक्षा से सब है।[९] अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनो पर्यायवाची नही हैं किन्तु अनेकान्तवाद और स्याद्वाद पर्यायवाची हो सकते हैं यथार्थ मे अर्थ का नाम अनेकान्त है। अनेक धर्मों के प्रतिपादन करने की शैली का नाम स्याद्वाद है।[१०] सभी प्रमाण या प्रमेयरूप वस्तु मे स्व-पर द्रव्य की अपेक्षा क्रम और युगपद् रूप मे अनेक धर्मों की सत्ता पायी जाती है जिस रूप से घडे की सत्ता हो उसे स्वपर्याय तथा जिससे घड़ा व्यावृत होना हो उन्हें पर पर्याय समझ लेना चाहिए। घड़ा पार्थिव होकर भी धातु का बना हुआ है मिट्टी या

पत्थर का नहीं है अतः वह धातु रूप से सत् है मिट्टी या पत्थर आदि अनन्त रूप से असत् है। घडा धातु का बना होकर भी सुवर्ण का है चांदी, पीतल तांबे आदि का नही अतः स्वर्णरूप से सत् है चांदी या पीतल सैंकडों धातुओ की दृष्टि से असत् है। सोने का होकर भी जिस सोने की डली को गढ़ा गया हैं वह उस गढ़े गये सुवर्ण की दृष्टि से सत् है तथा नही गढ़े गये खदान आदि में पडे हुए अघटित स्वर्ण की दृष्टि से असत् है। गढे गये सुवर्ण की दृष्टि से होकर भी वह देवदत्त के द्वारा गढ़ गये उस स्वर्ण की दृष्टि से सत् है यज्ञदत्त आदि सुनारोंके द्वारा गढ़े गये सुवर्ण की दृष्टि से असत् है। गढ़े हुए सुवर्ण की दृष्टि से होकर भी वह मुंह पर सकरे तथा बीच में चौड़े आकार से सत् है तथा मुकुट आदि के आकारो से असत् है। घड़ा मुंह पर सकरा तथा बीच मे चौडा होकर भी वह गोल है अतः गोल आकार से सत् है तथा अन्य लम्बे आदि आकारो से असत् है। गोल होकर भी घड़ा अपने नियत गोल आकार से सत् है तथा अन्य लम्बे आदि आकारो से असत् है अपने गोल आकार वाला होकर भी घड़ा अपने उत्पादक परमाणुओं से बनेहुए गोल आकार से असत् है इस तरह घड़ को जिस-जिस पर्याय से सत् कहेगे वे पर्यायें स्वपर्याय हैं तथा जिन अन्य पदार्थों से वह व्यावृत होगा वे सभी पर पर्याय होंगी।[११]

जैनदृष्टि से पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है उसमे कुछ धर्म सामान्यात्मक हैं और कुछ विशेषात्मक। प्रत्येक पदार्थ मे दो प्रकार के अस्तित्व है उसमे कुछ धर्म सामान्यात्मक है और कुछ विशेषात्मक। प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के अस्तित्व हैं एक स्वरूपास्तित्व और दूसरा सादृश्यास्तित्व एक द्रव्य को सजातीय या विजातीय किसी भी द्रव्य से असकीर्ण रखने वाला स्वरूपास्तित्व है। इसके कारण एक द्रव्य की पर्यायें इसके सजातीय या विजातीय द्रव्य से असकीर्ण रह कर पृथक् अस्तित्व रखती हैं। यह स्वरूपास्तित्व जहाँ विवक्षित द्रव्य की इतर द्रव्यो से व्यावृत्ति करता है वहाँ वह अपनी कालक्रम से होने वाली पर्यायों में अनुगत भी रहता है। स्वरूपास्तित्व से अपनी पर्यायों में तो अनुगत प्रत्यय होता है तथा इतर द्रव्यों और उनकी पर्यायों में व्यावृत प्रत्यय।[११] सभी द्रव्य अपने अनादिकालीन स्वभाव सन्तति से बद्ध है सभी के अपने-स्वभाव अनाद्यनन्त है।[११] भाव मे ही जन्म सद्भाव, विपरिणाम, बृद्धि, अपक्षय और विनाश देखे जाते हैं। बाह्य अभ्यन्तर दोनों निमित्तो से आत्म लाभ करना जन्म है जैसे मनुष्य जाति आदि के उदय से जीव मनुष्य पर्याय रूप उत्पन्न होता है। आयु आदि निमित्तो के अनुसार उस पर्याय में बने रहना सद्भाव या स्थिति है। पूर्व स्वभाव को कायम रखते हुए अधिकता हो जाना बृद्धि है क्रमशः एक देश का जीर्ण होना अपक्षय है। उस पर्याय की निवृत्ति को विनाश कहते है इस तरह पदार्थो मे अनन्तरूपता रहती है अथवा सत्व ज्ञेयत्व, द्रव्यत्व, अमूर्तत्व, अवगाहनत्व असख्येयप्रदेशत्व अनादिनिधनत्व और चेतनत्व आदि की दृष्टि से जीव अनेकरूप है।[११]

सम्पूर्ण चेतन और अचेतन पदार्थ स्वरूप से स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत् है और पररूप से परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से असत् स्वरूप है जैसे घट अपने द्रव्य--पुद्गल, मृत्तिका क्षेत्र---स्थान, काल---वर्तमान एव भाव---लाल काला आदि की अपेक्षा से तो सत् स्वरूप है वही पट से अन्य पटादिक के द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव से नही है असत् रूप है दोनो मे से किसी एक रूप मानने से वस्तु या तो सर्वात्मक हो जायेगी अथवा लोक-व्यवहार का अभाव हो जायेगा इसीलिए स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सब पदार्थों को सत् कौन नही मानेगा और पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से पर पदार्थों को असत् कौन नही मानेगा।[५] इसी को अकलङ्कदेव कहते है कि जितने भी पदार्थ शब्दगोचर है वे सब विधि निषेधात्मक हैं कोई भी वस्तु सर्वथा निषेधगम्य नही होती जैसे कुरबक पुष्प लाल और सफेद दोनो रगों का नही होना तो इसका यह अर्थ कदापि नही है कि वह वर्ण शून्य है इसी तरह पर की अपेक्षा से वस्तु मे नास्तित्व होनेपर भी स्वदृष्टि से उसका अस्तित्व प्रसिद्ध ही है कहा भी है कथञ्चित् असत् की भी उपलब्धि और अस्तित्व है तथा कथञ्चित् सत् की भी अनुपलब्धि और नास्तित्व। यदि सर्वथा अस्तित्व और उपलब्धि मानी जाय तो घट की पटादि रूप से भी उपलब्धि होने से सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे और यदि पररूप की तरह स्वरूप से भी असत्व माना जाय अर्थात् सर्वथा असत्व

माना जाय तो पदार्थ का ही अभाव हो जायेगा वह शब्द का विषय नही हो सकेगा अत: नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व से शून्य जो होगा वह अवस्तु ही होगा।[१६] जिस पदार्थ में जितने शब्दों का प्रयोग होता है उसमें उतनी ही वाच्य शक्तियाँ होती हैं तथा वह जितने प्रकार के ज्ञानो का विषय होता है उसमें उतनी ही ज्ञेय शक्तियाँ होती हैं। शब्द प्रयोग का अर्थ है प्रतिपादन क्रिया। उसके साधन दोनों ही हैं शब्द और अर्थ। एक ही घट में पार्थिव, मार्तिक-मिट्टी से बना हुआ, सत्, ज्ञेय, नया, बड़ा आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है तथा इन अनेक ज्ञानों का विषय होता है जैसे घड़ा अनेकान्त रूप है उसी तरह आत्मा भी अनेक धर्मात्मा है। अज्ञानी पुरुष प्रत्यक्ष में, ज्ञान मे आगत, स्फुट स्थिर जो ज्ञेयाकार, उसकी अस्तिता से उठाया हुआ स्वद्रव्य को न देखता हुआ सब ओर से शून्यता को प्राप्त हुआ अज्ञानी पुरुष स्वयं नाश को प्राप्त होता है। अनेकान्तवादी शीघ्र उत्पत्ति हैं जिसकी ऐसे सुस्पष्ट, सुविशुद्ध ज्ञान के तेज से अपने आत्मद्रव्य के अस्तित्व के द्वारा वस्तु का स्पष्ट निरूपण करके स्वयं अपने मे परिपूर्ण होता हुआ जीवित रहता है।[१७]

अनेक शक्तियों का आधार होने से भी अनेकान्त है जैसे घी चिकना है। तृप्ति करता है। उपबृंहण करता है अत. अनेक है अथवा जैसे घड़ा जल धारा आहरण आदि अनेक शक्तियों से युक्त है उसी तरह आत्मा भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से अनेक प्रकार की वैभाविक पर्यायों की शक्तियों को धारण करता है। जिस प्रकार एक ही घड़ा अनेक सम्बन्धियों की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम, दूर-पास, नया-पुराना, समर्थ-असमर्थ देवदत्तकृत चैत्रस्वामिक, संख्या परिमाण पृथकत्व, संयोग विभागादि के भेद से अनेक व्यवहारों का विषय होता है उसी तरह अनन्त सम्बन्धियों की अपेक्षा आत्मा भी उन-उन अनेक पर्यायों को धारण करता है अथवा जैसे अनन्त पुद्गल सम्बन्धियों की अपेक्षा आत्मा भी उन-उन अनेक पर्यायों को धारण करता है अथवा जैसे अनन्त पुद्गल सम्बन्धियों की अपेक्षा एक ही प्रदेशिनी अंगुली अनेक भेदों को प्राप्त होती है उसी तरह जीव भी कर्म और नोकर्म विषय उपकरणों के सम्बन्ध से जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणस्थान, दंडी, कुंडली आदि अनेक पर्यायों को धारण करता है। प्रदेशिनी अंगुली में मध्यमा की अपेक्षा जो भिन्नता है वह अनामिका की अपेक्षा नहीं है प्रत्येक पररूप का भेद जुदा-जुदा है। मध्यमा ने प्रदेशिनी मे ह्रस्वत्व उत्पन्न नही किया अन्यथा शशविषाण में भी उत्पन्न हो जाना चाहिए था और न स्वत: ही था अन्यथा मध्यमा के अभाव में भी उसकी प्रतीति हो जानी चाहिए थी तात्पर्य यह कि अनन्त परिणामी द्रव्य ही उन-उन सहकारी कारणों की अपेक्षा उन-उन रूप से व्यवहार में आता है।

अनन्तकाल और एक काल में अनन्त प्रकार के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त होने के कारण आत्मा अनेकान्त-रूप है जैसे घड़ा एककाल मे द्रव्यदृष्टि से पार्थिव रूप में उत्पन्न होता है जलरूप में नहीं, देशदृष्टि से यहाँ उत्पन्न होता है पटना आदि मे नहीं भावदृष्टि से बड़ा उत्पन्न होता है छोटा नहीं। यह उत्पाद अन्य जातीय घट किञ्चिद् विजातीय घट। पूर्ण विजातीय पटादि तथा द्रव्यान्तर आत्मा आदि के अनन्त उत्पादो से भिन्न है अत: उतने ही प्रकार का है। इसी प्रकार उस समय उत्पन्न नहीं होने वाले द्रव्यो की ऊपर नीची, तिरछी, लम्बी, चौड़ी आदि अवस्थाओं से भिन्न वह उत्पाद अनेक प्रकार का है। अनेक अवयव वाले मिट्टी के स्कन्ध से उत्पन्न होने के कारण भी उत्पाद अनेक प्रकार का है उसी तरह जल-धारण आचमण हर्ष, भय, शोक, परिताप आदि अनेक अर्थ क्रियाओ में निमित्त होने से उत्पाद अनेक तरह का है उसी समय उतने ही प्रत्यक्षभूत व्यय होते हैं जब तक पूर्व पर्याय का विनाश नहीं होता तब तक नूतन उत्पाद की संभावना नहीं है उत्पाद और विनाश की प्रतिपक्ष-भूत स्थिति भी उतने ही प्रकार की है जो स्थित नहीं है उसके उत्पाद और व्यय नहीं हो सकते। घट उत्पन्न होता है इस प्रयोग को वर्तमान तो इसलिए नही मान सकते कि घड़ा अभी तक उत्पन्न नही हुआ है, उत्पत्ति के बाद यदि तुरन्त विनाश मान लिया जाय तो सद्भाव की अवस्था का प्रतिपादक विनाश मान लिया जाय तो सद्भाभाव की अवस्था का प्रतिपादक कोई शब्द ही प्रयुक्त नही होगा अत: उत्पाद में भी अभाव और विनाश में भी अभाव इस प्रकार पदार्थ का अभाव ही होने से

तदाश्रित व्यवहार का लोप हो जायेगा अत. पदार्थ में उत्पद्यमानता, उत्पन्नता और विनाश ये तीन अवस्थाये माननी ही होंगी इसी तरह एक जीव मे भी द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय की विषयभूत अनन्त शक्तियों तथा उत्पत्ति, विनाश, स्थिति आदि रूप होने से अनेकान्तात्मक समझनी चाहिए।

अन्वय व्यतिरेक होने से भी अनेकान्तरूप है जैसे एक ही घड़ा सत् अचेतन आदि सामान्य रूप से अन्वय धर्म का तथा नया पुराना आदि विशेष रूप से व्यतिरेक धर्म का आधार होता है उसी तरह आत्मा भी सामान्य और विशेष धर्मों की अपेक्षा अन्वय और व्यतिरेकात्मक है। अनुगताकार बुद्धि और अनुगताकार शब्द प्रयोग के विषयभूत स्वस्तित्व, आत्मत्व, ज्ञातृत्व, दृष्टत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अमूर्तत्व, असंख्यात प्रदेशत्व, अवगाहनत्व, अतिसूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व अहेतुकत्व, अनादि सम्बन्धित्व, ऊर्ध्वजाति स्वभाव आदि अन्वय धर्म है व्यावृताकार बुद्धि और शब्द प्रयोग के विषयभूत परस्पर विलक्षण उत्पत्ति, स्थिति, विपरिणाम, बुद्धि, ह्रास, क्षय, विनाश, जाति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, दर्शन, सयम लेश्या सम्यक्त्व आदि व्यतिरेक धर्म हैं।[16]

अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते है। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एकदेश को सयुक्तिक ग्रहण करने वाला सम्यगेकान्त है। एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यगनेकान्त हैं तथा वस्तु को तत् अतत् आदि स्वभाव से शून्य कह कर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना अर्थशून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है। सम्यगेकान्त नय कहलाता है और सम्यगनेकान्त प्रमाण। यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त का लोप किया जाय तो सम्यगेकान्त के अभाव में शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह तत्समुदायरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायेगा यदि एकान्त ही माना जाय तो अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत धर्म का भी लोप होने से सर्वलोक का प्रसग प्राप्त होगा।[17] प्रयोजन के अनुसार वस्तु के किसी एक धर्म को विवक्षा से जब प्रधानता प्राप्त होती तो वह अर्पित या उपनीय कहलाता है और प्रयोजन के अभाव मे जिसकी प्रधानता नही रहती वह अनर्पित कहलाती है मुख्यता और गौणता की अपेक्षा एकवस्तु मे विरोधी मालूम पड़ने वाले दो धर्मो की सिद्धि होती है।[18] जिस तरह अनेकान्त सब वस्तुओ को विकल्पनीय करता है उसी तरह अनेकान्त भी विकल्प का विषय बनने योग्य है। ऐसा होने से सिद्धान्त का विरोध न हो इस तरह अनेकान्त एकान्त भी होता है। अनेकान्त दृष्टि जब अपने विषय मे प्रवृत होती है तब अपने स्वरूप के विषय मे वह सूचित करती है कि वह अनेक दृष्टियो का समुच्चय होने से अनेकान्त तो है ही परन्तु वह एक स्वतन्त्र दृष्टि होने से उस रूप में एकान्त दृष्टि भी है इस तरह अनेकान्त भिन्न-भिन्न दृष्टिरूप इकाइयों का सच्चा जोड है। अनेकान्त मे सापेक्ष (सम्यक्) एकान्तो को स्थान है ही। सभी नय अपने-अपने वक्तव्य मे सच्चे है और दूसरे के वक्तव्य का निराकरण करने मे झूठे है अनेकान्त शास्त्र का ज्ञाता उन नयो का ये सच्चे है और ये झूठे है ऐसा विभाग नहीं करता।

अनेकान्त छल रूप नही है क्यो कि जहाँ वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके वचन विघात किया जाता है वहाँ छल होता है जैसे नवकम्बलोऽय देवदत्त: यहाँ नव शब्द के दो अर्थ है एक ९ सख्या और दूसरा नया जो नूतन विवक्षा मे कहे गये नव शब्द का ९ सख्या रूप अर्थ विकल्प करके वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना छल कही जाती है किन्तु सुनिश्चित मुख्य गौण विवक्षा से सभव अनेक धर्मों का सुनिर्णीत रूप से प्रतिपादन करने वाला अनेकान्तवाद छल नही हो सकता क्यों कि इसमे वचन विघात नही किया गया है अपितु यथावस्थित वस्तुत्व का निरूपण किया गया है।

अनेकान्त सशयरूप नही है—सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष न होने पर, किन्तु उभय विशेषो का स्मरण होने से सशय होता है जैसे धुंधली रात्रि मे स्थाणु और पुरुषगत ऊँचाई आदि सामान्य धर्म की प्रत्यक्षता होने पर स्थाणुगत कोटर पक्षिनिवास तथा पुरुष-

गत सिर खुजाना कपडा हिलने आदि विशेष धर्मों के न दिखने पर। किन्तु इन विशेषो का स्मरण रहने पर ज्ञान दो कोटियों में दोलित हो जाता है कि यह स्थाणु है या पुरुष किन्तु अनेकान्तवाद मे विशेष धर्मों की अनुपलब्धि नही है। सभी धर्मों की सत्ता अपनी-अपनी निश्चित अपेक्षाओ से स्वीकृत है। तद्धर्मों का विशेष प्रतिभास निर्विवाद सापेक्ष रीति से बनाया गया है। अपनी-अपनी अपेक्षाओ से सभावित धर्मों में विरोध की कोई सम्भावना ही नही है जैसे एक ही देवदत्त भिन्न-भिन्न पुत्रादि सम्बन्धियो की दृष्टि से पिता पुत्र, मामा आदि निर्विरोध रूप मे व्यवहृत होता है उसी तरह अस्तित्वादि धर्मों का भी एक वस्तु में रहने मे कोई विरोध नही है।[13]

अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वाद भाषा का अहिंसक उद्देश्य था समस्त मत-मतान्तरो का नय दृष्टि मे समन्वय कर समत्व की सृष्टि करना। अनेकान्तदर्शन के अन्त: यह रहस्य भी है कि हमारी दृष्टि वस्तु के पूर्णरूप को जान नही सकती जो हम जानते है वह आशिक सत्य है हमारी तरह दूसरे मतवादियो के दृष्टिकोण भी आशिक सत्यता की सीमा को छूते है इसलिये इसमें यह शर्त लगायी गयी है कि जो दृष्टिकोण अन्य दृष्टियों की अपेक्षा रखता है उनकी अपेक्षा, उपेक्षा, या तिरस्कार नही करता वही सच्चा नय है और ऐसे नयों का समूह ही अनेकान्तदर्शन है।[17]

अन्य सभी दर्शनो के सिद्धान्तों की अपेक्षा जैनदर्शन की यह विशेषता है कि जहाँ सभी दर्शन अपने से अतिरिक्त दूसरे दर्शनो का खण्डन करते हैं वहाँ यह सभी का संग्रह करके उन्हे एक अखण्ड रूप देने में ही दर्शनशास्त्र का सार्थक्य दिखलाता है। इस प्रकार दर्शनों के एकांगी कथनों को समन्वित करने की क्षमता इस अनेकान्तवाद सिद्धान्त मे है। इस सिद्धान्त का आश्रय लेने पर संसार का कोई भी दर्शन या वाद असत्य दिखाई नही देता है इसमें केवल विभिन्न दर्शनो को नयदृष्टि से देखने की अपेक्षा है। यदि इस सिद्धान्त को अपनाया जाय तो विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने सोचने के साथ ही वास्तविक वस्तु स्वरूप का सम्यक्ज्ञान हो सकेगा।

---

१. जैनदर्शन डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य पृ० १८।

२. अनेकेऽन्ता अशा धर्मावात्मास्वरूप यस्य तदनेकान्तात्मकमिति व्युत्पत्ते.। षड्दर्शन समुच्चय: हरिभद्र पृ० ३२२।

३. अनेकान्यात्मकं वस्तु गोचर: सर्वसंविदाम्।
एकदेशविशिष्टोऽर्थोनयस्य विषयोमत ॥
न्यायावतार कारिका २९।

४. सदसन्नित्यादि सर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्त ।
अष्टशती पृ० २८६।

५. एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्पर विरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्त ।
समयसार (आत्मख्याति) १०।२४७।

६. भेदाऽभेदैकान्तयोरनुपलब्धे अर्थस्य सिद्धि अनेकान्तात्।

७. अपरित्यक्तस्वभावेन उत्पाद-व्यय ध्रुवत्वसबद्धम्।
गुणवच्चसपर्यायम् यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्तिपप्रवचनसार-३४।

८. गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ५.३८।
उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत् ५.३०।

९. आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदिवस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यद् इति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापा।
स्याद्वादमञ्जरी का० ५।

१०. आप्तमीमासा: तत्वदीपिका प्र० गणेशवर्णी संस्थान वाराणसी पृ० ३३०।

११. षड्दर्शन समुच्चय: हरिभद्र पृ० ३३० प्र० भारतीय ज्ञानपीठ।

१२. सिद्धिविनिश्चयटीका संपादक पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य प्रस्तावना पृ० १३८।

१३ तत्वार्थवार्तिक अकलङ्कदेव अ० २।७ पृ० १२२। प्र० भारतीय ज्ञानपीठ

१४. तत्त्वार्थवार्तिक—भट्टाकलङ्कदेव ४।४२ पृ० २५०।

१५. सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
आप्तमीमांसा—समन्तभद्र १५।

१६. तत्त्वार्थवार्तिक—भट्टाकलङ्कदेव २।८ पृ० १२२।

१७. अध्यात्म अमृतकलश— आ० अमृतचन्द—टीकाकार। प० जगन्मोहनलाल शास्त्री २५२ पृ० ३५३।

(शेष पृष्ठ २३ पर)

पचास वर्ष पूर्व—

दो मौलिक-भाषण

[अतीत के संस्मरण उस काल की स्थिति के दर्पण होते हैं। आज से ५० वर्ष पूर्व जाति-समाज और देश की क्या स्थिति थी और साहू-दम्पति के क्या अरमान थे, इसका पूरा चित्र निम्न दो भाषणो में अंकित है। ये भाषण सन् १९३२ के हैं जो **'स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन तथा स्व० श्रीमती रमारानी जैन'** ने अपने दाम्पत्य सूत्र-बन्धन के अवसर पर दिए थे। दोनों भाषण वीर सेवा मन्दिर मे लिपिवद्ध रूप मे सुरक्षित हैं। उन्हें पाठकों के चिन्तन व तद्रूप-आचरण की प्रेरणा हेतु 'अनेकान्त' में प्रकाशित किया जा रहा है। निश्चय ही साहू जी की स्मृति की चन्दन-सुरभि आज भी हमें सुवासित कर रही है। हमारे नमन।—सम्पादक]

साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन का अपने विवाहोत्सव पर दिया हुआ भाषण :

पूज्य गुरुजनों तथा उपस्थित सज्जनों !

आज अपना देश जिस परिस्थिति मे से गुजर रहा है उन्हें विचार करते हुए विवाह की समस्या एक बड़ी ही जटिल व विकट समस्या हो रही है। नहीं कहा जा सकता इसके उपरान्त हम देश धर्म तथा समाज के प्रति कहाँ तक अपने कर्तव्य का पालन कर सकते हैं। विवाह करना एक बहुत बड़ी जरूरत तथा पहले से कई गुना अधिक जिम्मेदारी को अपने सिर पर लेना है। मेरा विद्यार्थी जीवन होने से यद्यपि मैं इस जिम्मेदारी को उठाना नही चाहता था, परन्तु अपने हितैषी गुरुजनों और आप सब सज्जनों की जब यही इच्छा है तथा आज्ञा है कि मुझे इस गृहस्थाश्रम के जुए को उठाना ही चाहिए तब मेरे लिये उसके आगे नतमस्तक हो जाने के सिवाय और कोई चारा नही रह जाता। ऐसी दशा मे इस विवाहोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए आप सब सज्जनो को जो कष्ट हुआ है उसके लिए आभार प्रकट करने तथा स्वागत करने का मेरा अधिकार नही रह जाता।

विवाह सम्बन्ध एक नैतिक और धार्मिक सम्बन्ध है जो दो प्राणियों को अपनी अध्यात्मिक तथा लौकिक उन्नति तथा अपने देश व समाज की सेवा के लिये सहायक होता है। विवाह नियमित संयम है। इसमे सन्देह नही यह एक प्रकार का बन्धन भी है। स्त्री के लिये पुरुष और पुरुष के लिये स्त्री बन्धन रूप है। इस बन्धन को स्वीकार करने पर मनुष्य बहुत से अंशो में अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है तरह-तरह की चिन्ताओं आपदाओ तथा जिम्मेदारियों के दलदल में फंस जाता है, इस तरह एक अच्छा, खासा बन्दी बन बैठता है।

समाज और देश की गिरती हुई दशा को रोकने के लिये बड़े सुधारो की नितान्त आवश्यकता है। विवाह आदि अवसरो पर तो फिजूलखर्ची, आडम्बर, बनावट और बेहूदी रश्मों ने अपना घर बना लिया है इनसे एकदम छुटकारा पाना कतई जरूरी है। इस अवसर पर जो कुछ भी सुधार हो सका है उसका विशेष श्रेय पूज्य श्रीयुत सेठ डालमिया जी को है। वह धन्य हैं। किन्तु यह भी मानना पडेगा कि अभी और बहुत से सुधारों की गुंजायश इसमें रह जाती है।

संसार विशेषकर हमारा देश इस समय बिल्कुल एक निर्धन अनियन्त्रित और अनियमित स्थिति में से गुजर रहा है। हमारा भविष्य देश के भविष्य पर निर्भर है। अभी भविष्य अन्धकार मे है। नही कहा जा सकता कि जीवन गति क्या होगी।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वह हम दोनों को बल प्रदान करें। हममें इस भार को सहन करने की शक्ति हो। आप गुरुजन और महानुभाव हमको आशोर्वाद दें कि हम अपनी जीवन नौका को संसार समुद्र मे हर प्रकार के कष्ट आंधी-झोकों का सामना करते हुए अपने ध्येय पर पहुंच सकें।

श्रीमती रमा जैन का अपने विवाहोत्सव पर दिया हुआ भाषण :

श्री परमात्मा देव व पूज्य महानुभावों को प्रणाम करते हुए सबसे पहले मैं आप सबका हृदय से अभिनन्दन करती हूं जिन्होंने हमारे लिये इतनी कड़ी गर्मी की मौसम में यहाँ आने का कष्ट उठाया है फिर इसके बाद जिस कार्य के लिये यह समारोह रचा गया है उसके विषय मे मैं कुछ कहना चाहती हूं।

आप जानते है कि आजकल सारे संसार मे दुःख छा रहा है। कही राष्ट्र आपस में लड़ रहे हैं, कही बेकारी से, कही काम की अधिकता से, कही अकाल से, कही (Overproduction) अर्थात् पैदावारी की वहुतायत से, कहीं स्वतन्त्रता के अभाव से, कही स्वर्ण के अभाव से, कही स्वर्ण की बहुतायत से दुःख हो रहा है फिर भारतवर्ष का तो कहना ही क्या जो सैकडो वर्षों से गुलामी की जञ्जीर मे जकड़ा हुआ है, जहाँ धर्म के नाम से अधर्म करते हुए हिन्दू-मुसलमान ही नही, हिन्दुओ मे, सनातनी आर्यसमाजी, जैनियो मे श्वेताम्बरी, दिगम्बरी, मुसलमानो मे सिया, सुन्नी, छोटी-मोटी बातो पर जिनमें कुछ भी तथ्य नही है लडते है जहा के ही नही करोडों मनुष्य अन्न के महगे होने से, सस्ते नहीं होने के कारण एक समय भी पेट भर न खाकर किसी तरह उदराग्नि को शान्त करते हैं और उस हमारे दुःख को देख कर संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष महात्मा गाधी अपने साथियो सहित असख्य आदमियो को लेकर जेलों मे तपस्या कर रहे हैं। जिनके लिये वे जेलों में सड़ रहे हैं वही हम अपना समय खेल, तमाशा, आमोद-प्रमोद और गुलछर्रों मे व्यतीत कर रहे हैं। क्या शर्म की बात नही है ?

क्षमा करेंगे, विवाह सस्कार हिन्दू धर्म के सोलह संस्कारों मे एक मुख्य था जिसको परिवर्तन करते-करते हमने यहाँ तक बदल दिया कि जिनका विवाह किया जाता है उन्हें इसके रहस्य तक का पता नही रहा और गुड्डे-गुड़ियों का खेल बना दिया। कई समाजों मे तो इसका यहाँ तक पतन हो गया है कि गरीब घर की लडकी को चाहे वह कितनी ही सुशीला, योग्य और बुद्धिमती हो धनाभाव के कारण आजन्म कुमारी रहना पडता है और उसके अभिभावक उसे कुमारी रखने में पाप मान कर, बिना पात्र का विचार किये चाहे जहां उस बेचारी को ढकेल देते हैं, या कही से कर्ज मिल सका तो कर्ज लेकर, घर-बार बेच कर जन्म भर के लिये दुःखी हो जाते है और प्रत्यक्ष मे यह सिद्ध कर देते है कि भारतवर्ष में गरीब घर में कन्या का जन्म होना ही एक प्रकार का दैवी कोप है। कही-कही तो बेचारी लडकियो को आत्महत्या तक करनी पड़ती है। पञ्जाब के आधुनिक सन्यासी स्वामी राम के वाक्य मुझे इस समय याद आ रहे हैं।

An average Indian home is typical of the state of the whole nation—Very slender means and not only yearly multiplying mouths to feed but slavishly to incur, undue expences in meaningless and cruel ceremonies of marriage etc.

भारतवर्ष का साधारण गृहस्थ सारे राष्ट्र की दशा का चित्र है। बहुत थोडी-सी तो आमदनी और तिस पर प्रति वर्ष खाने वालों (मन्नानों) की सख्या में वृद्धि ही नही वरन् विवाहादि की दुखदायी रस्मों में द्रव्याभाव से अनुचित खर्च।

मुझे दुःख के साथ कहना पडता है कि मेरे विवाह में जितनी सादगी मैं चाहती थी वह कुछ भी नही हुई। मुझे विश्वास है कि यदि पूज्य बापू जी और पूज्य श्री जमनालाल जी बजाज जेल से बाहर होते तो ऐसा कभी नही हो पाता।

भारतवर्ष जब धन-धान्य से परिपूर्ण था, दूध और घी मनो के भाव ही नही, दूध को लोग बेचना पाप समझते थे उस समय विवाहादि की प्रत्येक रश्में कुछ-न-कुछ तथ्य को लेकर चलाई गई थी पर अब दूध तो दूर रहा पानी तक के दाम देने पड़ते हैं। हर एक बातें समयानुसार बदलती रहती हैं अब हम इन रश्मो के भावार्थ को भूल कर लकीर के फकीर रह गए। कुप्रथाओं को बन्द करने की दृष्टि से क्या मैं यह प्रार्थना दोनों तरफ से कर सकती हूं कि कम से कम इस विवाह में न तो गहना और न दहेज दें। विवाह के बाद तो कौन अपनी कन्या को नही देता और कौन

किसको रोक सकता है? दूसरी तरफ गहने की? दरकार ही क्या है जब सारी सम्पत्ति मे ही मेरा अधिकार हो जायगा। इस समय की स्थिति को देखते हुए यदि हमारी गहने पहनने की इच्छा होती है, तो देश, समाज और ईश्वर के प्रति अन्याय और महापाप है। स्त्रियों का गहना तो लज्जा है और वह लज्जा घूघट और पर्दे से नहीं होती। वैसे तो हम घूघट निकालती है, वह भी केवल परिचितों मे और दूसरी तरफ बडो का कहना तक नही मानती। हमें यदि लज्जा करनी चाहिए तो झूठ से व्यर्थ के आडम्बरो मे बुरे कामों से, फैशन तथा भोग-विलासो से। हमारा शरीर सांसारिक सुखों के लिये नही, भगवन् प्राप्ति के लिये हुआ है। यदि हममें विशेष ज्ञान है और हम उसका सदुपयोग नही करते तो हम मनुष्य होते हुए भी बिना सींग के पशु के समान हैं।

विवाहिक संस्कार के अनन्तर गृहस्थ धर्म की एक बडी भारी जिम्मेदारी हम अपने ऊपर ले लेते है। उस समय यदि गृहस्थ रूपी वायुयान मे, पति-पत्नी रूपी पखो मे, पूर्वजन्म के कर्मरूपी पेट्रोल से और बुद्धि रूपी Pilot द्वारा दुनियाँ के प्रलोभनो आदि आधी-तूफानो से बचते हुए ससार यात्रा करें तो अपने लक्ष्य को पहुच कर सुखी हो सकते है पर जिसने अपनी इन्द्रियों को और पूज्य महात्मा जी के मतानुसार कम-से-कम स्वादेन्द्रिय को वश में नही किया, चाहे वह कैसा भी पडित M. A. L. L. B. आदि डिग्री धारी, प्रोफेसर, जज, सुधारक और देश सेवक भी क्यों न हो उसमें और एक बे समझ बालक मे कुछ भी अन्तर नही है।

इस समय हम सब भयानक विपत्ति मे फसे हुए है। दिन-प्रतिदिन आयु बढती नही घटती जा रही है। ऐसी अवस्था में हमे अपना एक ध्येय निश्चित कर लेना चाहिए। मनुष्य योनि का फल ही ईश्वर प्राप्ति है' उस ईश्वर प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग हो सकते है। कौन-सा रास्ता ग्रहण करना यह अपना-अपना अधिकार है। किसी के लिये देश-सेवा—जेल जाना, लाठी खाना, खद्दर प्रचार करना आदि—ठीक हो सकता है, किसी के लिये गृहस्थ में नियमित रह कर दान धर्म आदि करते हुए गृहस्थधर्म का पालन करना ठीक हो सकता है किसी के लिये एकान्त मे भगवान का भजन करना ठीक हो सकता है और कोई-कोई श्रम से अधिकारियों की खुशामद करके देशद्रोही बनना भी ठीक समझते हैं यह सब अपनी-अपनी रुचि भावना और विश्वास पर निर्भर करता है।

शायद आप उकता गए होंगे अब मैं आपका १-२ मिनट समय और लूगी। आजकल प्राय —

All marriage relations brought about by attachment to the colour of the face to the outlines of the countenance to figure, form or personal beauty, and in losses and are very unhappy?

सभी ऊपर के दिखावे को लेकर चेहरे की सुन्दरता पर मुग्ध रहते है भीतर के गुणो की ओर कोई नही देखता इसका परिणाम आगे जाकर दुख होना है जैसा कि आज-कल Europe और America मे सैकडो और हजारो की तादाद मे Case court मे जाते हैं।

The aim of the husband and wife should be elevation of marriage tie and not money making and wrong use of family relation.

स्त्री-पुरुष दोनों को एक-दूसरे पर भार-स्वरूप न होकर सुख-दुख के भागी होना चाहिए।

सज्जनो विवाह की रश्में करनी बाकी हैं इसलिये बाल विवाह बेमेल विवाह, स्त्री शिक्षा आदि विषयों पर मैं कुछ भी नही कहूंगी। अन्त में आपके कष्ट के लिये आभार मानती हुई प्रार्थना करती हूँ कि आप सब हमे सत्य-पथ पर चलने का आशीर्वाद दे और खादी पहनने का प्रण करें। खादी का महत्व तो पूज्य बापूजी के कारण एक छोटे मे बच्चे से लेकर बुड्ढे तक को मालूम है। हमारे धर्मों मे और खास कर जैनधर्म मे तो अधिक ही परम धर्म माना गया है। मिल और विलायती वस्त्रो मे कितनी हिन्सा होती है यह तो किसी से छिपा नही होगा फिर इसे यहां दुहराने से क्या फायदा? हा एक बात मैं सुधारको के प्रति कहना भूल गई। स्वामी राम ने कहा है—

Young would-be Reformer! decry not the ancient customs and spirituality of India. By introducing a fresh element of discord, the Indian people can not reach unity.

भावी नवयुवक सुधारको भारत की पुरानी रिवाजों और अध्यात्मिकता की निन्दा न करो। व्यर्थ की नयी बातें निकाल कर झगडा पैदा करने से भारतवासियो मे कभी एकता नही हो सकती। आज कल वाह्य सुधारको ने पुरानी बातो को चाहे वे बुरी हों या अच्छी मिटाना और उनकी जगह नयी बाते निकालना ही एक महत्व का काम समझ लिया है।

मैं आपसे फिर प्रार्थना करती हू कि आप अपने राष्ट्र के लिये अपने पूज्य नेताओ के लिये, राजा अग्रसेन के लिये, अपनी भावी सन्तानो के लिये, अपने लिये, और मेरे लिये खादी पहनने का व्रत लेवे।

× × ×

(पृष्ठ १६ का शेषांश)

१८. तत्त्वार्थवार्तिक प्र० भाग सपादक प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य हिन्दी सार पृ० ४२०-४२१।

१६. तत्त्वार्थवार्तिक प्र० भाग सपादक प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य हिन्दी सार १।६ पृ० ४८७।

२०. अपितानर्पित सिद्धे—सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद ५-३२।

२१. भयणाविहुभइयत्वा जइभयणाभयइ सव्वदव्वाइ।
एव भयणा णियमो वि होइ समयाविरोहेण॥
सन्मतिप्रकरण ३-२७।

२२. णियमवयणिज्जसच्चा सव्वनया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभमइसच्चेव अलिए वा॥
सन्मति प्रकरण ॥२८॥

२३. तत्त्वार्थवार्तिक. अकलङ्कदेव सपा० प० महेन्द्रकुमार जी भाग १, पृष्ठ ३६, १/६।

२४ सिद्धिविनिश्चय टीका भाग १ सम्पादक प्रो० महेन्द्र-कुमार जी प्रस्तावना पृष्ठ ६१।

दुखद-वियोग

वीर सेवा मन्दिर के परम-हितैषी एव जैन वाङ्मय के अनन्यसेवी, महामनस्वी स्व० ला० पन्नालाल जी अग्रवाल जीवन पर्यन्त धर्म प्रभावना एवं साहित्योद्धार के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। वे दीर्घ काल तक वीर सेवा मन्दिर कार्यकारिणी के सदस्य भी रहे।

वीर सेवा मन्दिर परिवार उनके दुखद निधन पर हार्दिक सवेदना प्रकट करता है और स्वर्गीय आत्मा की सद्गति की प्रार्थना करता है।

× × × × ×

होनहार युवक स्व० राष्ट्रदीप (सुपुत्र श्री रत्नत्रयधारी जैन, प्रकाशक 'अनेकान्त') का हृदय-गति बंद होने से असमय में निधन हो गया। दिवंगत आत्मा को सद्गति और कुटुम्बियों को धैर्य की क्षमता हो, ऐसी कामना है।

'असारे खलु ससारे मृत का वा न जायते।'
'राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार॥'

—सम्पादक

वर्तमान जीवन में वीतरागता की उपयोगिता

□ कु० पुखराज जैन, एम. ए., जयपुर

जीवन जीने का नाम है, जीना एक कला है और दुनियाँ मे कला के कलाकार चंद लोग ही हुआ करते हैं। जीते तो सभी हैं गरीब-अमीर, विद्वान-मूर्ख, लेकिन गौरव-पूर्ण जीवन उसे ही कहा जायेगा जिसमें जीवन के अधिकाधिक क्षणो में सुख की अनुभूति हो। 'जीवन' का दूसरा नाम है—'सुख की अनुभूति' और जब प्राणी सुख की अनुभूति करता है (दुख की भी) तब अनुभूति के काल से निकल कर आने के बाद ही उसे जीवन के अस्तित्वपने का बोध होता है और तत्क्षण उसे जीवन की गरिमा अनुभव मे आती है। निरन्तर व्यक्ति के सुख के अभाव व दुख के वेदन की स्थिति 'जीवन' नही, 'जीवन' के नाम पर होने वाला 'निरन्तरण मरण' ही है। और ऐसा 'जीवन' जीवन के नाम पर 'कलंक' ही है।

वर्तमान भौतिक सभ्यता व्यक्ति को ऐन्द्रिक सुख की ओर उन्मुख करती है। वर्तमान में विज्ञान व तकनीक के आशातीत विकास ने पंच इन्द्रिय के भोगों की प्रचुर मात्रा व्यक्ति को भेंट की है और यह भेंट निरन्तर वृद्धिगत है। विषय-भोग के साधनो की प्रचुरता व्यक्ति को काफी हद तक अपने आप से (अध्यात्मिक दृष्टि से) दूर करने के लिए जिम्मेदार है। जो व्यक्ति के लिए दुःख का कारण है लेकिन व्यक्ति भुलावे में है और वह उस विज्ञान की भेंट को स्वीकार करने और निरन्तर भोग करने मे अपने आपको व्यस्त पाता है। और किन्ही क्षणो मे सुख का अनुभव भी करता है, लेकिन अन्ततोगत्वा भौतिक सामग्री व इच्छाए-वासनाए दोनों ही उपलब्ध व उपस्थित होने के बावजूद भी व्यक्ति अपने आपको भोग भोगने में असमर्थ पाता है और परेशान होकर नवीन सिरे से सुख की खोज करता है। वह देखता है—"विषय-भोगो की सामग्री प्रचुर मात्रा में मेरे सामने है और इच्छाएं भी हैं लेकिन विषय भोग के बाद भी इच्छाएं समाप्त नही हो पा रही हैं तो वह समझता है कि कभी न समाप्त होने वाली यह इच्छाओं की कतार ही मुझे आकुलित व्याकुलित व दुःखी करती हैं।" वह पुनः सोचता है इच्छा-अनिच्छा का मूल राग-द्वेष है—अर्थात् आत्मा का विकारी परिणाम है। वस्तु अपने आप में अच्छी-बुरी नही। अच्छे-बुरे की कसौटी सार्वभौमिक व सार्वव्यापिक नही। यह कसौटी हमेशा व्यक्तिपरक ही हुआ करती है जिसका आधार इच्छा-अनिच्छा अर्थात् अनुकूल विषयों से राग व प्रतिकूल विषयों से द्वेष है इसी आधार पर यह इष्ट विषयों का संभोग और अनिष्ट विषयों का वियोग चाहता है। और जब पूर्ण पुण्य का उदय नही होता तो इष्ट विषयों की प्राप्ति नही होती और व्यक्ति आकुलित होकर दुखी होता है।

कुल मिला कर यही आज के व्यक्ति की स्थिति है यह स्थिति सभी व्यक्तियों (गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष, बालक से वृद्ध) मे पायी जाती है। व्यक्ति अपनी ही इच्छा अनिच्छा से परेशान है विकल है, संतप्त है और इस आशा से कि भविष्य में मेरी आशा पूरी होगी उसी अंधी दौड़ में शामिल है—यही वर्तमान जीवन का शब्द चित्र है।

अत्यल्प प्रतिशत ऐसे मुमुक्षुओं का है जो इस प्रकार की आकुलता विकलता दुःख व परेशानी से मुक्ति पाने के लिए सही उपाय की खोज में प्रयत्नशील है और सुख का मार्ग खोजकर तत्परता से उस मार्ग पर चलने को कृत-सकल्प है। यह मार्ग 'वीतरागता' का है, सुख का कारण है, सुखरूप है, भले ही इस मार्ग को जानने वाले, मानने वाले व इस पर चलने वाले अति अल्प हो लेकिन यह मार्ग तीन काल व तीन लोक मे सच्चा है इस पर चलकर सच्चा-सुख प्राप्त करने वाली महान आत्माएं सूर्य की भाति इस मार्ग को सदैव समय-समय पर आलोकित करती है। (तीर्थंकर की दिव्यवाणी) अंधकार में भटकने वाले इस आलोक से प्रकाश प्राप्त करते हैं और इस प्रथानुगामी बनकर पूर्ण वीतरागता को प्राप्त हो जाते हैं। वीतरागता की महिमा गाते हुए विद्वद्वर्य पंडित दौलतराम जी ने लिखा है—

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिव स्वरूप शिवकार, नमहु त्रियोग सम्हारिकें॥

जो "वीतराग विज्ञान" तीन लोक में सार तत्व है उसे दौलतराम जी ने वीतरागता की महिमा मोक्ष सुख देने वाली व मोक्ष स्वरूप होने की वजह से गायी है।

आचार्य उमास्वामी ने तो वीतराग भगवान को वीतरागता की प्राप्ति हेतु ही नमस्कार किया है।

मोक्ष मार्गस्य……………वंदे तद्गुण लब्धये।

वर्तमान मे व्यक्ति का दुख का मूलकारण कर्मबन्ध है और कर्म बन्ध का कारण है राग—जहाँ राग पाया जाता है वहाँ द्वेष युगपत रहता है। रागी और विरागी के भविष्य का निर्धारण करने वाली "प्रवचन सार" मे एक प्रमुख गाथा है।

रत्तो बधदि कम्म ……जीवाण जादा णिच्छयदो ।।७६१

रागी आत्मा कर्म बाधता है और राग रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। इस प्रकार राग दुख का और वीतराग स्वत ही सुख का कारण हो जाता है।

इसकी उपयोगिता जहाँ मोक्ष सुख के रूप मे स्वय सिद्ध है वहाँ वर्तमान जीवन में किसी भी प्रकार कम नही। जहाँ १२वें गुणस्थान मे सूक्ष्म राग का नाश होकर (पूर्ण) सुख दशा वर्तती है, यह तो वर्तमान जीवन मे सम्भव नही इसलिए यह अवस्था तो फिलहाल अनुभव से परे है लेकिन इस प्रक्रिया की शुरुआत तो अभी इस समय आबाल-गोपाल प्राणिमात्र को ही हो सकती है और उसमे होने वाले आशिक सुख के वेदन से इकार भी नही किया जा सकता।

जैन धर्म के दो ही मुख्य उपदेश है, जिनकी विलक्षणता को देखकर हम अन्य भारतीय धर्म व दर्शनो से जैन धर्म का भिन्न कर सकते है वह है स्वतत्रता व वीतरागता पर से (द्रव्य-कर्म, नो कर्म, भाव-कर्म)—भिन्न निजात्म तत्व के प्रति सच्ची श्रद्धा व एकत्व बुद्धि होने पर "आत्मानुभूति" होती है और इसी के द्वारा वीतरागता की प्राप्ति होती है इस काल मे जिस आशिक सुख का वेदन होता है गुणात्मक रूप से वह मोक्ष मे प्राप्त होने वाले अनन्तगुणा सुख से समानता रखता है इस प्रकार वीतरागता नितान्त "वैयक्तिक" हो जाती है लेकिन अध्यात्म की शुद्ध दृष्टि के बिना आत्म तत्व व वीतरागता समझ मे नही आती।

इस सुख का नकारात्मक कारण राग द्वेष रूप आत्मा के विकारी परिणामो का अभाव सकारात्मक रूप से निजात्म तत्व के प्रति सच्ची श्रद्धा है। "वीतरागता"—रागद्वेष से रहित सवेदन अर्थात् उपयोग का अन्तर्मुखी होकर निजात्म तत्व मे स्थिर होना है। इस एक समय के अनुभव में होने वाले आशिक सुख की महिमा शब्दातीत है उसका वर्णन करने से अनुभवहीन पुरुष को किंचित् मात्र भी सुख का वेदन नही होता। यदि उसे अपने इस जीवन को भी सुखमय व गौरवपूर्ण बनाना है तो स्वयं मे स्थित निजात्म तत्व को पहिचानना, मानना, जानना व सुमेरु सदृश अटल श्रद्धा करनी होगी।

पूर्ण वीतरागता तो मोक्षरूप ही है, लेकिन यदि वर्तमान जीवन मे मात्र वीतरागता के प्रति सच्ची श्रद्धा भी हो तो जीवन सुख-शान्ति से व्यतीत हो सकता है तभी तो जैन व्यक्ति नित्य प्रति वीतरागता के दर्शन को कृतसकल्प है और इसलिए उनका जीवन अन्यान्य अपेक्षाओ से सुखमय भी है उनके जीवन मे विकलता आकुलता का अवसरो पर ही देखी जाती है।

ऐसा तभी हो सकता है जब व्यक्ति अपने जीवन की कीमत समझे और इसी वर्तमान जीवन को अनागत भविष्य की जन्म-मरण करने की शृखला को कम करने के लिए समर्पित कर दे। और ऐसा करने के लिए व्यक्ति को निरन्तर होने वाले दुख के वेदन को समझना होगा और सच्चे अर्थो मे सुख शान्तिभिलाषी होना होगा।

वीतरागता अर्थात् एक समय के लिए भी बहिर्मुख दृष्टि अन्तर्मुख हो—मात्र दृष्टि के अन्तर्मुख होने पर दुःख परेशानी आकुलता-विकलता के छू मतर होने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इस प्रकार वीतरागता तत्काल सुखदायी है कोई अनुभव तो करे।

"युगल जी का एक वाक्य समय-समय पर मस्तिष्क को आदोलित करता है। "एक क्षण भी जीओ, गौरवपूर्ण जीवन जीओ" ठीक ही तो है सुखमय जीवन का दूसरा नाम है गौरवपूर्ण जीवन, और यह 'गौरवपूर्ण सुखमय जीवन' का महल वीतरागता की नीव पर बना है।

जीवन मे वीतरागता को अपनाने के साधन यद्यपि सुख के साधन है वीतरागी देव (वीतरागी मत) पूर्वापर विरोध रहित बात करने वाले पवित्र शास्त्र व वीतरागी पथ पर चलने वाले विरागी साधु जैन धर्म मे सरागता की पूजा नही होती। बाहरी देश व आडम्बर की पूजा नही, पूजा है वीतरागी सर्वज्ञ व हितोपदेशी की। वीतरागी भगवान शुद्ध सिद्धात्मा सदा ही सुख सागर से निमग्न है भक्तो की भक्ति से निस्पृह वीतरागी व्यक्तित्व में न पुजारी के प्रति राग है और न निंदक के प्रति द्वेष। सदा मात्र ज्ञाता दृष्टा व सुख सागर में लीन रहने वाले देव हैं। ऐसे

वीतरागी देव को "जीवन आदर्श" के रूप मे स्वीकार कर और प्रेरणा ग्रहण कर साधक उस आदर्श की ओर बढ सकता है और सुखी जीवन का बीजारोपण कर सकता है। भगवान के लक्षण स्पष्ट करने मे प्रथम सकेत वीतरागता की ओर है। जैसा कहा हैं—

जो रागद्वेष विकार वर्जित लीन आत्मध्यान मे···।
वे वर्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान मे ॥

इतना ही नही वीतरागी अर्हत परमात्माओं द्वारा कहा गया सागर सदृश विस्तृत उपदेश वीतरागता के जल से आप्लावित है। जिसके अवगाहन से भव्य जीव शुद्ध होता है। भागचन्द जी ने ठीक कहा है—

सांची तो गगा ये वीतराग वाणी।
अविच्छिन्न धारा निज धर्म की कहानी ॥

वीतरागी पथ पर चलने वाले सच्चे गुरु तो साक्षात वीतरागता के प्रतीक व पोषक है उन्होंने तो इष्टानिष्ट की कल्पना का मूलोच्छेद कर दिया है। उनकी समता का उल्लेख किया है दौलतराम जी ने छहढाला मे—

अरि मित्र महल मशान कचन काच निन्दन थुति करन।
अर्घावतारन असि प्रहारन मे सदा समता धरन ॥

समता वीतरागता की पोषक है समता के अभाव मे वीतरागता संभव नही। समता प्रथम चरण है और वीतरागता द्वितीय। समता धारण करने पर होने वाले सुख से कई गुणा सुख वीतरागता अपनाने पर होता है। समता की उपयोगिता केवल आध्यात्मिक जीवन मे नही, समता व सरलता का गुण होने से भौतिक कार्यों मे भी सफलता मिलती है। आकुलता व्याकुलता समता विरोधी है। तद्-जन्य मानसिक दबाव तनाव, विद्वेष परेशानी व दु खो से छुटकारा समता धारण करने पर ही मिलता है। यही समता वीतरागता का मार्ग प्रशस्त करती है और इसी समता रूपी भूमि मे वीतरागता के पुष्प पल्लवित होते हैं।

जब व्यक्ति के सामने वीतरागता का आदर्श रहता है तभी वह परेशानियो व सकटों से बचा रह सकता है। यद्या संकट आने पर दूसरे व्यक्ति को रागद्वेष से अधिकाधिक विरत रहने में मदद मिलती है :

व्यवहारिक जीवन मे भी यह देखा गया है कि राग-द्वेष—निन्दा व प्रशंसा से परे रहने वाले व्यक्ति की प्रतिष्ठा व साख होती है। सदा स्थित एव समतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाने वाले व्यक्ति का मानस अपने निर्धारित क्षेत्र तक सीमित रहता है और उसे सत्रधित क्षेत्र मे ही ध्यान के संकेन्द्रित रखने मे सहायता मिलती है। इस प्रकार व्यक्ति एक और व्यर्थ की वकवाद से बचता है दूसरी ओर कम समय मे अधिक महत्वपूर्ण कार्य मे सफलता प्राप्त करता है :

रागद्वेष की उत्पत्ति अज्ञान द्वारा होती है किन्तु इसका अपराधी स्वय आत्मा है और यह ज्ञात होते ही कि मैं ज्ञान हू, अज्ञान अस्त हो जाता है। इस प्रकार वीतरागता की उपलब्धि मे शुद्ध ज्ञान का बहुत बड़ा कारण है किन्तु यह शुद्ध ज्ञान शुद्ध दृष्टि वीतरागी दृष्टि से मिल सकता है। शुद्ध दृष्टि को विकसित करने का एक मात्र उपाय वीत-रागी दर्शन, वीतरागी शास्त्र स्वाध्याय, तत्व चिंतन है और इसके लिए इस दिशा मे अपना जीवन समर्पित करने का सकल्प करना होगा। इस प्रकार वीतरागी दृष्टि विकसित कर अवश्य ही अन्तर मे विद्यमान निज वीतराग तत्व को प्राप्त कर पूर्ण वीतरागी बनाने का मार्ग प्रशस्त होगा। यहा एक कवि की पक्तियाँ सचमुच प्रेरणादायी लगती है—

राग से फूला हुआ तू, द्वेष मे भूला हुआ तू।
कभी आसू बहाता है, कभी खुशियाँ लुटाता है।
जिंदगी घट रही हर पल, अगुलि मे भरा ज्यो जल।
एक पल रुक सोच तो क्या, जिंदगी की राह तेरी।
झाँक अन्तस मे लगी है, अनोखी निधियो की ढेरी ॥

वर्तमान जीवन मे आवश्यकता इसी बात की है कि भौतिक सभ्यता की इस अधी दौड मे एक पल ठहर कर यह सोचे तो सही कि जिस राह पर हम दौडे चले जा रहे हैं क्या सचमुच वही मजिल है, जो हम प्राप्त करना चाहते है, क्या वहाँ सुख-शाति मिल सकती है? इस पर विचार कर शीघ्र ही अपना गतव्य पथ निर्धारित कर उस पर चलने का सकल्प लेने पर ही यह जीवन "जीना" कहलायेगा। सचमुच क्या ज्ञान दर्शन सुख आदि अनन्त निधियों के स्वामी सम्राट की उपेक्षा तिरस्कार कर और गौरवपूर्ण जीवन को तिलाजलि दे रक का जीवन जीना भी कोई जीना है। व्यक्ति की बुद्धि से जब मोह का पर्दा उठेगा और निज-प्रभु के दर्शन होगे, वह घड़ी धन्य होगी, वह जीवन सफल होगा और यही होगी वीतरागता की जीवन मे उपयोगिता।

—२-घ, २७, जवाहर नगर, जयपुर

परिचिति

'जिन-शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग'

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, निदेशक—भारतीय ज्ञानपीठ

श्री पं. पद्मचन्द्र शास्त्री ने 'जिनशासन के कुछ विचारणीय प्रसंग' शीर्षक से प्रकाशित पुस्तिका मे अपने सात लेख प्रस्तुत करके विद्वानों के लिए ऊहापोह करने तथा चिन्तन को स्फूर्त करने की पर्याप्त सामग्री दी है। शास्त्र पढ लेना एक बात है, परम्परा के अनुसार प्रतिपादन कर लेना भी उसी श्रेणी की एक बात है किन्तु जिन विषयो को लेकर विद्वानो मे मतभेद दिखाई देता है अथवा अर्थ-संगति को ठीक ढग से पकड़ने मे शब्द या शब्दो के रूपान्तर विकल्प उत्पन्न करते हैं, उनसे जूझना और फिर न्याय-सगत, तर्क सगत निष्कर्ष प्रस्तुत करना एक दूसरे ही प्रकार की कुशल प्रगल्भता है। पडित जी अपनी बात असदिग्ध होकर इसीलिए कह पाये है कि उन्होने सही अर्थों मे व्यापक अध्ययन किया है और इस अध्ययन को चिन्तन-मनन द्वारा परिपुष्ट किया है।

सभी लेखो को पढने के उपरान्त पाठक को जो उपलब्धि होती है वह ज्ञान की समृद्धि की तो है ही, एक आह्लाद की अनुभूति भी उत्पन्न करती है कि पक्ष-प्रतिपक्ष स्पष्ट हुआ और नया दृष्टिकोण हाथ लगा।

णमोकार मन्त्र और नवकार मत्र मे क्या अन्तर है? ॐ की रचना-सिद्धि यदि सहमति को रेखाकित करती है तो स्वास्तिक की सरचना के सम्बन्ध मे पडित जी का चिन्तन स्थापित प्रतीक की रेखाओं को नये मगल-प्रदीप से उद्भासित करता है।

चातुर्याम की चर्चा यद्यपि पार्श्वनाथ और महावीर के कालभेद एवं दृष्टि भेद पर आश्रित मानी जाती है, किन्तु पंडित पद्मचन्द्र जी ने इस चर्चा को बाईस और चौबीस तीर्थंकरों के परिपेक्ष्य मे रखकर दो प्रकार के श्रमणो का सदर्भ दे दिया—वे जो सरलमति है, और वे जो छली हैं—आत्म प्रवचक। शास्त्र की भाषा मे यही हैं—ऋजु-जड और वक्रजड। पडित जी ने अपना निष्कर्ष शीर्षक मे ही घोषित कर दिया—'भगवान पार्श्व के पंच महाव्रत।'

यह लेख इतनी विदग्धता और तार्किक अकाट्यता से लिखा गया है कि विवेचन श्वेताम्बर दिगम्बर मान्यता को प्रतिपादित करने वाले अनेक ग्रन्थों की पजिका बन गया है। 'सावद्ययोग-विरति' 'सपुत्तदार' 'बहिद्धादान' आदि की चर्चा करते हुए जब 'परिगृहीता' के भेद को शास्त्र के आधार पर स्पष्ट किया तो विचित्र निष्कर्ष सामने आया। 'ऐसा प्रतीत होता है कि अपरिगृहीता में मैथुन शक्य नही, यह भ्रम ही ब्रह्मचर्ययाम को गौण या लुप्त करने मे कारण रहा है। चूकि मुनि सर्वथा स्त्री रहित होता है, उसके परिगृहीता मानी ही नही गई तो वह स्वभाव से (परिगृहीता रहित होने से) ब्रह्मचारी ही सिद्ध हुआ = अत: उसके लिए इस याम की आवश्यकता प्रसिद्ध नही की जाती रही और चार याम प्रसिद्ध कर दिए गए। 'चातुर्याम' शब्द के व्यवहार का एक दूसरा ही सदर्भ पडित जी ने दिया है अच्छा होता यदि संदर्भ कहा का है? यह उद्धृत कर दिया होता'—'अजातशत्रु ने स्वय बुद्ध को बतलाया कि वह स्वय निगठनातपुत्त (महावीर) से मिले और महावीर ने उनसे कहा कि—निर्ग्रन्थ 'चतुर्याम सवर सवृत' होता है—(१) जल के व्यवहार का वारण करना है (२) सभी पापों का वारण करता है (३) सभी पापों का वारण करने से धुतपाप होता हैं (४) सभी पापों का वारण करने मे लगा रहता है।···अत: फलित होता है कि ऊपर कहे हुए चातुर्यामसवर' के अति

१. प्रसग—'दीघनिकाय'—(महाबोधि सभा, सारनाथ-प्रकाशन सन् १९३६) पृ. २१ पर निगंठनातपुत्त का मत।
—सम्पादक

रिक्त अन्य कोई 'चातुर्याम' नहीं थे।" बुद्ध और महावीर के साक्षात्कार का विषय शोधापेक्षी है।

'पर्युषण और दशलक्षण धर्म' लेख रोचक भी है और सूचक भी। पर्युषण दिगबर श्रावको मे दस दिन और श्वेताम्बरो मे आठ दिन मनाया जाता है। इसीलिए एक सम्प्रदाय इसे दशलक्षण धर्म कहता है, दूसरा अष्टान्हिका (अठाई)। उत्कृष्ट पर्युषण दोनो मे चार मास का माना जाता है अतः चातुर्मास दोनो सम्प्रदायों मे प्रचलित है। पर्युषण दिगम्बरों मे भाद्र शुक्ला पचमी से प्रारम्भ होता है, श्वेताम्बरों में पंचमी को पूर्ण होता है। लेखक ने इसे शोध का विषय-बताया है। हाँ, है=-किन्तु अव उन्हीं से अपेक्षा है कि इस शोध कार्य में वह जुट जाए। श्रुत-सागर और समाजशास्त्र के महोदधि मे गोता लगायेंगे तो रत्न निकालकर लाए गे। जब पर्यूषण पर्व पर, महानिशीथ के अनुसार पंचमी, अष्टमी, और चतुर्दशी को उपवास का विधान है तो श्वेताम्बर आम्नाय मे प्रचलित अष्टान्हिका की सीमा में एक पर्व छूट जाता है। क्यों?

'समयसार' की पन्द्रहवी गाथा के तीसरे चरण—

'अपदेश संत मज्झ' के ये जो दो रूप मिलते है, उनमे 'सुत्त' और 'संत' को लेकर विद्वानों मे विवाद है कि कौन से शब्द-पाठ ठीक है। 'अपदेश' वह जो पदार्थ को दर्शाए—अर्थात शब्द, यही है द्रव्यश्रुत। सुत्त-सूत्र = सूत्रम् परिच्छित्तिरूपम् भावश्रुतं। अर्थात आत्मा और जिन शासन के बीच (मज्झ) अभेदभाव की प्रतीति। विकल्प में अर्थ है—'अपदेस' अर्थात अप्रदेशी, 'सत' अर्थात शात, मज्झं अर्थात मेरा। इतना ही नही—संभावना है कि 'सत' शब्द का मूलरूप 'सत्त'' या 'मत्त रहा हो। सत्त=सत्त्व। सुत्त शब्द भी विचारणीय है=स्वत्व। मत्त की सगति बैठानी हो तो —अपदेस+अत्त+मज्झ। अत्त- आत्म। सब प्रकार का द्रविड प्राणायाम सभव है। कुन्दकुन्द ने जो कहा है अन्त में सब आयेंगे उसी भाव पर। फिर अनेकान्तवादियों को क्या चिंता?

'आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत' लेख मे यही उचित रहा कि कुन्दकुन्द के इतिहास को चक्रव्यूह में ही सुरक्षित रखा। रही बात प्राकृत की, सो जो प्रकृत है (विशेष रूप में घडी, ऐसा अर्थ न कर लें, नही तो प्राकृत भी सस्कृत हो जाएगी) प्राकृतिक है, सहज है, वाणी के स्वभाव में स्थित है, उसके रूप-रूपान्तर तो होगे ही। पडित पद्मचन्द्रजी की बात तर्क-सगत है कि प्राकृत का रूप चाहे शौरसेनी हो, चाहे महाराष्ट्री, चाहे अर्धमागधी के आस-पास का, शब्द रूप तो भिन्न-भिन्न मिलेंगे। इनका सशोधन क्या? बात इतनी भर है। लेकिन लेखरूप मे यही वात अच्छी खासी गभीर बन गई है। गणित जैसी तालिकाए, व्याकरण के नियमः पिशल का साक्ष्य, पुग्गल और पोंग्गल तादात्म्य, पाहुड ग्रन्थो में उपलब्ध पाठान्तर, 'द' का लोप और 'य' का आगम—सब कुछ चमत्कारी है। व्यापक अध्ययन का द्योतक!

'आत्मा का असख्यात प्रदेशित्व'—गभीर विषय है। सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द्र जी ने इसे एक वाक्य मे ही सरल बना दिया। "यह कोई बिवाद ग्रस्त विषय नही है···यहां अप्रदेशी का मतलब 'एक भी प्रदेश न होना' नही है, किन्तु अखण्ड अनुभव से है वही शुद्ध नय का विषय है।"

पडित पद्मचन्द्र शास्त्री ज्ञान में जितने गुरु-गम्भीर हैं, व्यवहार मे उतने ही सरल और विनयशील। उनकी पुस्तक का अन्तिम वाक्य है—

'जदि चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं'

□

—अन्य मनीषियों की दृष्टि में—

श्री यशपाल जैन, नई दिल्ली

'जिन शासन के······प्रसग' मे जिन तात्विक प्रश्नो को उठाया है वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। अपने गहन अध्ययन के आधार पर आपने जो समाधान प्रस्तुत किए है वे सागोपाग विचार के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करते है। सप्रमाण और तर्कसगत विवेचन निश्चय ही उन विसगत स्वरो के बीच सौमनस्य स्थापित करने मे सहायक हो सकता है, जो जैनत्व की एकता को खडित करते हैं। पुस्तक की रचना के लिए हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए।

श्री फूलचन्द्र जी सि० शास्त्री, वाराणसी

आपने जिन विषयों पर दृष्टिपात किया है और ऊहापोह पूर्वक विचारणा प्रस्तुत की है वह आपकी गहन अध्ययन शीलता का सुस्पष्ट प्रमाण है। आपकी लेखनी में बल है और एक रूपता भी। इन निबन्धो से उक्त विषयो पर अवश्य ही ऊहापोह के लिए अवसर मिलेगा। आपने जो स्वस्ति के साथ स्वस्तिक की सगति विठलाई है वह अवश्य आपकी अनूठी सूझ है, उसके लिए आप धन्यवाद के पात्र है।

डा० कस्तूरचन्द्र काशलीवाल, जयपुर

'पुस्तक मे जिन प्रश्नो को उठाया गया है, वे वर्तमान युग के बहुचर्चित प्रश्न है, आपने उनका समाधान भी प्राचीन ग्रथो के आधार पर बहुत तर्कपूर्ण शैली मे किया है। इससे पुस्तक बहुत ही उपयोगी बन गई है। आपकी भाषा भी बड़ी प्राजल होती है तथा विषय का प्रतिपादन भी सुन्दर ढग से करते हैं ऐसे उपयोगी प्रकाशन के लिए आपको एव वीर सेवा मदिर के अधिकारियो को हार्दिक बधाई।'

डा० राजाराम जैन, आरा

'जिनशासन······प्रसग' वस्तुत जैन सिद्धान्त के कुछ गूढ रहस्यो का नवनीत है। इसमे पिष्टपेषण नही है, कुछ मूल मुद्दो पर स्वतन्त्र दृष्टि से निर्भीक एव मौलिक चिंतन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार का मौलिक चिंतन एव उसका प्रकाशन वीर सेवा मन्दिर के मूल उद्देश्यों के सर्वथा अनुरूप है।'

डा० प्रेमचन्द 'सुमन', उदयपुर

'जिनशासन····· प्रसग' से यह जानकर बहुत सतोष हुआ कि कम से कम आपने विद्वान् जगत मे कुछ मथन करने की सामग्री तो दी। अन्यथा आज का शोध दिनो दिन भोथरा होता जा रहा है। परिश्रम और पैनी दृष्टि का अभाव खलने लगा है। सकलित निबध स्पष्ट और तर्क संगत हैं, जितनी मिहनत आपने की है उतनी कोई करे तो इन पर चर्चा की जा सकेगी।'

डा० एम० पी० पटैरिया चुरारा

'जिनधर्म के महत्वपूर्ण प्रसगो पर तर्क और विद्वत्ता-पूर्ण प्रामाणिक विवेचना की है। यह चिन्तनभरादृष्टि-बिन्दु शोधार्थियो के लिए पर्याप्त सहयोगी बनेगा।'

श्री वंशीधर शास्त्री, जयपुर

'ऐसे सकलन से तत्त्वान्वेषी पाठक अवश्य लाभ उठा-येंगे, क्योकि वे किसी पक्ष से ग्रस्त नही होते। उन्हे गभीर शास्त्रीय-चिन्तन मनन का सुअवसर मिलेगा।'

श्री बाबूलाल पाटौदी, इन्दौर

'पुस्तक को मैंने पढा, अध्ययनपूर्ण पद्धति से आपने श्वेताम्बर एव दिगम्बर आम्नाय के ग्रन्थों के आलोडन के पश्चात् जो तथ्य प्रगट किये है, उससे निश्चय ही मतिभ्रम का निरसन होगा। आपकी खोजपूर्ण शक्ति, स्पष्टवादिता वस्तु को रखने का ढग सभी से मैं प्रभावित हू।'

Dr. B D Jain Principal J.H.S.S., New Delhi.

'Jin Shasan Ke Vicharniya Prasang' by Pandit Padamchand Shastri is a painstaking study in which he has tried to explore, with utmost objectivity, very deep and controversial subjects on Jainology. He has a keen insight and his approach is very objective and rational. The references to the scholarly works of Digamber, Swetamber and other Acharyas bear a testimony to this fact. Panditji has provided a food for further thought to the scholars on Jainology. The study undoubtedly reveals his originality, depth and mastery on the subject.

जरा सोचिए !

१. संयोग और वियोग ?

वस्तु के 'स्व' में 'पर' का मेल सयोग कहा जाता है और ऐसी पर्याय 'सयोगी पर्याय' होती है। सयोगी पर्याय सर्वथा अशुद्ध होती है चाहे वह शुभ, शुभतर या शुभतम ही क्यो न हो। इसके विपरीत—शुद्धपर्याय हर वस्तु में स्व-जाति को लिए हुए सर्वदा और सर्वथा बन्धरहित, अन्यत्व रहित, भेदों से मुक्त, अपने में नियत और पर-असयुक्त होती है—इस पर्याय मे अन्य सबका पूर्ण वियोग होता है। इसका तात्पर्य ऐसा समझना चाहिए कि सयोग और वियोग दोनों के फल क्रमश अशुद्धि और शुद्धि है अर्थात् सयोग अशुद्धि मे और वियोग शुद्धि में निमित्त हैं। लोक में भी सयोगी (मिलावटी) अवस्था को नकली और वियोगी (मिलावट रहित) अवस्था को असली कहते हैं और लोग इसी भाव मे वस्तुओ के मूल्य आकने की व्यवस्था करते हैं। सुवर्ण मे जितने-जितने अश मे स्व-जाति भिन्न—पर—किट्टिमादि का संयोग होता है उतने-उतने अंश में उसका मूल्य कम और जितने-जितने अश मे पर—किट्टकालिमादि का वियोग होता है उतने-उतने अंश में उसका मूल्य अधिक आंका जाता है।

तीर्थंकरो ने इसी मूल के आधार से सयोगो के त्याग और वियोगों के साधन जुटाने का उपदेश दिया है। वे स्वय काय से तो नग्न—अपरिग्रही थे ही, उनमे मनसा और वाचा भी पर के वियोग रूप पूर्ण अपरिग्रहत्व था—पर का असयोग था। वे अपरिग्रह—वीतरागता पर सदा लक्ष्य दिलाते रहे। जिस-जिस परिमाण मे परिग्रह की न्यूनता मे तरतमता होगी उस-उस परिमाण मे पर-भावो—हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील आदि का परिहार भी होगा और ये परिहार स्वाभाविक—बिना किसी प्रयत्न के होगा।

वस्तु की उक्त स्थिति के बावजूद—जब संयोग मे अशुद्धि है और वियोग मे शुद्धि है, तब हम कहां जा रहे हैं? संयोग (अशुद्धि) की ओर या वियोग (शुद्धि) की ओर? कही हम सयोगों को अच्छा मान उनसे चिपके तो नही जा रहे? या-वियोगो मे दुखी तो नही हो रहे? जरा सोचिए !

२. क्या मरण वास्तविक है ?

पर्याय विनाशीक, क्षण-क्षण मे बदलने वाली है। आपको और हमे पता ही नही चलता कि किस समय, क्या बदल जाता है। हाँ, बदलता अवश्य है। बाल काले से सफेद होते हैं, बालकपन से युवापन आता है और वृद्ध-पन भी। एक दिन ऐसा भी आता है कि प्राणियो का भौतिक शरीर भी उन्हे छोड देता है और उन्हें मृतक नाम से पुकारा जाता है। ये सब कैसे और क्यो कर घटित हो रहा है?

बाज लोग समय को दोष देते हैं। कहते हैं—समय बदल गया तो सब बदल रहा है। पर, जैन-दर्शन के आलोक में सांसारिक सभी वस्तुयें और संसारातीत सिद्ध-भगवान भी प्रति समय अपने में बदल रहे हैं—सिद्धों में षड्गुणी हानि-वृद्धि चलती है और सांसारिक वस्तुयें अपनी पर्यायो मे स्वाभाविक, स्वत: परिणमन करती रहती हैं—सभी में नयापन आ रहा है, पुरानापन जा रहा है और सभी अपने स्वभाव में ध्रुव है—द्रव्य-स्वभाव कभी नही बदलता। जैसे अंगूठी के टूटने और कुण्डल पर्याय को धारण करने पर भी सोना सोना ही है वैसे ही षड्द्रव्य परिवर्तनशील होकर भी अपने स्वभाव रूप ही हैं।

संसार मे जिसे 'मरना' नाम से कहा जाता है और जिसमे लोग संतप्त होते—रोते-धोते हैं, वह वस्तु का नाश नही अपितु पर-भाव का वियोग मात्र है—यदि ऐसा वियोग सदा काल बना रहे और पर का संयोग न हो तो वस्तु सर्वथा शुद्ध—सिद्धवत् निर्मल है—इसमें संताप कैसा? लोक मे जिन प्राणों के उच्छेद को मरण कहा जाता है, वह मरण व्यवहार ही है। निश्चय से तो मरण

है ही नहीं । तथाहि—

'प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं, प्राणं किलस्यात्मनो ।
ज्ञान तत्स्वयमेव शास्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ॥'

लोक में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, मन-वचन-काय, आयु और श्वासोच्छ्वास के रहने को व्यवहार से प्राण कहा जाता है और इनके उच्छेद को मरण कहते हैं। पर, वस्तुत· ये पुद्गल मे होने वाले विकार भाव हैं। ये आत्मा के प्राण कैसे हो सकते है ? प्राण तो वे है जो शाश्वत् साथ रहें—तद्रूप हो। आत्मा का प्राण तो ज्ञान है जो सदा आत्म-रूप है—कभी भिन्न नही होता फिर ऐसे में आत्मा के मरण की सम्भावना ही कैसे हो सकती है ? लोग मरण से क्यो भयभीत हैं ? कही इस भय मे मोह तो कारण नही, जरा सोचिए !

३. कौन किसके पीछे दौड़े ?

'खेद यह है कि वर्तमान दिगम्बर सम्प्रदाय स्वय कुन्द-कुन्द आम्नाय को मानना है, परन्तु उनकी मूल-कृतियो का प्रामाणिक सपादित सस्करण प्रस्तुत नही कर सका। 'प्रदर्शन और दिखावे मे धन का व्यय करने वाले समाज को आप ही इस ओर मोड सकते है। आप निश्चय ही एक सराहनीय कार्य कर रहे है, बधाई स्वीकार करे।'

उक्त अश एक विद्वान के उस पत्र के है, जो उन्होने वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित पुस्तक 'जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसग' पर सम्मति देते लिखा है। विद्वान ने विषय संबंधी कुछ दृष्टिकोण भी दिए है, जिन पर यथा-अवसर प्रसग के अनुसार प्रकाश डाला जाएगा। फिलहाल तो बात है—कुन्दकुन्द के साहित्य और दिगम्बर समाज के मोड़ की।

निःसन्देह, कुन्दकुन्द-साहित्य अमूल्य निधि है यदि भाषा की दृष्टि से उसमे विसगति आई हो तो उसकी सभाल विद्वानों का धर्म है। पर, इस सम्बन्ध मे जब तक कोई विश्वस्त और प्रामाणिक व्यवस्था न हो जाय तब तक हमे सि० आ० श्री पडित कैलाशचन्द्र शास्त्री के उद्गारो की कद्र करनी चाहिए—'प्राकृत भाषा के ग्रन्थो को भाषा की दृष्टि से सशोधन करना ठीक नही है। सस्कृत भाषा का तो एक बधा हुआ स्वरूप है किन्तु प्राकृत की विविधता में यह सभव नही है, इससे अर्थ मे विपर्यास का भय रहता है।'

यह सभी जानते है कि हमारा समाज मुख्यत: व्यवसाई समाज है और धर्म सम्बन्धी विशेष ज्ञान के अभाव मे उसका धार्मिकसम्बन्ध मात्र परंपरागत श्रद्धा से ही जुड़ा रह गया है। धार्मिक आचार विचार की दृष्टि मे तो वह सर्वथा विद्वानो से बधकर ही रह गया है और उसने अपनी श्रद्धानुसार अपने विद्वानों-गुरुओ का चयन कर लिया है। फलत· आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के बचनो में समाज को दोषी करार नही दिया जा सकता। वे कहते है—

'सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं, अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥'—

अर्थात् अज्ञानी गुरु के उपदेश से सम्यग्दृष्टि जीव (भी) विपरीत तत्व का श्रद्धान कर लेता है। और सम्यक्त्वी बना रहता है।

दूसरी ओर, विद्वानो– गुरुओं की व्यवस्था अपनी है। कौन विद्वान —गुरु कब, क्यो और क्या कहते है इसे वे जानें। पर यदा-कदा बहुत से प्रसंगों में विरोध परि-लक्षित होने मे यह तो सिद्ध होता ही है कि कही विसगति अवश्य है फिर वह विसगति आर्थिक कारण से, सामाजिक कारण से या अन्य किन्ही कारणो से ही क्यो न हो ?

गत मास एक सेठ जी ने मुझसे जो हृदयग्राही वचन कहे उनमे बल था—मानो सेठ जी ने विद्वानो की टीस को पहिचाना है और उनका इधर लक्ष्य है। बोले—'पडित जी, अब तक सेठो के पीछे विद्वान दौड़ते रहे हैं, हमारा प्रयत्न है कि अब विद्वानो के पीछे सेठ दौड़े।'—उक्त भाव विद्वत्समाज के सन्मान मे और उन्हें आर्थिक संकट से उबारने मे प्रशसा योग्य है, ऐसे विचारवान सेठो पर समाज को भी गर्व होना चाहिए। पर, प्रश्न है कि एक के दौडने से समस्या हल हो सकेगी क्या ? दौड़ना फिर भी एकागी ही रहेगा। अब विद्वान दौडते हैं फिर सेठ दौड़ेंगे, दौड़ना एकांगी ही रहेगा। हम चाहते हैं इसमें कुछ संशोधन हो—'दोनो ही दौड़ें', विद्वानो की दौड़ सेठों तक हो और सेठो की दौड विद्वानों तक। हाँ, दौड़ की दृष्टि मे भेद आए। विद्वान दौड़ें, उनके सेठों और समाज को धार्मिक-सस्कार देने के भाव में, उन्हें स्वाध्यायी बनाने के

प्रयत्न मे, आर्थिक दृष्टिकोण को लेकर नही। सेठ दौडे अपने ज्ञान-चारित्र के लाभ मे, धर्म प्रभावना के लाभ मे; विद्वानो से जगह-२ अपने यशोगान की प्रेरणा के लिए नही। हमारी दृष्टि में वे विद्वान व्यर्थ हैं जिनका समाज उन्मार्ग पर जाय और वे देखते रहे तथा वे सेठ और श्रावक व्यर्थ हैं जिनके धर्मस्तम्भ विद्वान आर्थिक-चिन्ता में जलते रहे। इस तरह समाज को विद्वानो और विद्वानो को समाज का सबल हो। अब तक जो विसगति चलती रही है वह इसी का परिणाम है कि एक ने दूसरे की आवश्यकताओ को नही समझा और यदि समझा तो गलत समझा। सबने आवश्यकता के माप मे धन या यश को तराजू बनाया 'जब कि प्रसंग धार्मिक था।

४. क्या कुव्यसन, सुखकर होंगे ?

जैन परम्परा मे अष्टमूलगुण धारण करने का अनादि विधान है। जो जीव मद्य-मास मधु का त्याग और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण अणुव्रत के धारी हैं वे श्रावक हैं अर्थात् श्रद्धा-विवेक और क्रियावान है। वे ही सम्यक् रत्नत्रय के अधिकारी है और वे ही उभय लोक में सुख पाते है।

यह जो आप आज लोगो मे आपाधापी-मारामारी देख रहे हैं वह सब मूलगुण धारण न करने और सप्त-कुव्यसनो में फँसे रहने के परिणाम है। कही गुरुद्वारो जैसे पवित्र स्थानों मे सिगरेट रखने या पीने पर, मन्दिर-मूर्तियो पर मास फैंकने पर और कही मद्यपान करने पर विवाद खडे होना—अपवित्र वस्तुओं के सेवन के ही परिणाम है। यदि लोग जैन मान्यताओ मे बद्ध हो तो सब झगडे ही शान्त रहे। आश्चर्य तो तब होता है कि जब हमारी सरकार एक ओर तो मद्यपान, बीड़ी-सिगरेट जैसे पदार्थों के सेवन का निषेध करती है—उन पर प्रतिबन्ध लगाती है, उन पर नशा और जहर के लेबल लगवाती है और दूसरी ओर उनके ठेके और लाइसेस बाटती है—शासन करने वाले कतिपय अधिकारी तक नशों मे सराबोर रहते हैं। यदि इन कुप्रवृत्तियो पर अंकुश न लगाया गया तो भविष्य अधकारमयी वातावरण मे झूलता रहेगा और वर्तमान भी सुखकर कैसे रहेगा ? जरा सोचिए !

५. युवक क्या करें ?

धर्म के विषय मे जो विविध मान्यतायें हैं, उनको यथावत् हृदयंगम करने की आवश्यकता है। हमें स्पष्ट रूप मे जान लेना चाहिए कि धर्म वस्तु का स्वभाव है जिसका लेन-देन नही हो सकता—व्यवसाय नही किया जा सकता। व्यवसाय मे अल्प पूजी को अधिक करने का उद्देश्य है और धर्म मे मात्र आत्म-पूजी की संभाल का उद्देश्य। व्यवसाय में लेन-देन है और धर्म मे 'पर से निर्वृत्ति'। अत. धर्म को व्यवसाय नही बनाया जा सकता। इसीलिए स्वामी समन्तभद्र ने कहा कि 'धर्म मे निःकांक्षित अंग का होना आवश्यक है।' जो जीव धर्म में किसी आकांक्षा का भाव रखते हों वे धार्मिक या धर्मात्मा नही, अपितु व्यवसायी है।

आज जो प्रवृत्ति चल रही है उसमे व्यवसाय मार्ग अधिक परिलक्षित होता है। कतिपय लोग अल्प त्यागकर उससे अधिक प्राप्त करना चाहते है या त्याग कर भी उसका मोह नही छोडते। कतिपय अपने दान-द्रव्य के बदले उसका अधिक फल चाहते है। जैसे कुछ देकर वे सस्था के सदस्य ही बन जाय, उनकी पूछ ही हो जाय, उनके नाम का अमरपट्ट लग जाय आदि। इसी प्रकार तीर्थ-वन्दना मे भी लोभ-लालच है—उसमे भी फल चाहना है, लोग उसमे भी सासारिक अभीष्ट की चाहना कर बैठते हैं। कही-कही तो धन की आड मे—थोड़ा सा देकर किसी समृद्ध धार्मिक न्यास की सम्पत्ति पर शासन जमाने की प्रवृत्ति भी लक्ष्य मे आती है। कई लोग पार्टीबन्दी के चक्कर में सस्थाओ तक को ले डूबते है या वहा विवादो का वातावरण तैयार करा देते है, आदि।

हमे स्मरण रखना चाहिए कि धर्म और धर्म-सस्थाओं को भी ऐसे पात्रो की जरूरत है जो सर्वथा उनके योग्य हों। शिक्षा व साहित्यिक सस्थाओ मे तद्विषय और तद्भाषा विशेषज्ञो की, मन्दिर आदि प्रतिष्ठानो मे धर्माचरण मे समुन्नत जनों की आवश्यकता है। इसी तरह जो शिक्षा मे उस विषय के अधिकारी न हों उन्हे शिक्षा सस्थाओ मे तथा धर्माचरण से शून्य व्यक्तियो को धार्मिक प्रतिष्ठानो मे अगुआ नही होना चाहिए।

ऐसे ही जयन्तियों की परिपाटी भी उत्तम है यदि वह लाभ के लिए हो, उससे धार्मिक प्रचार को बल मिलता

(शेष पृ० आवरण ३ पर)

साहित्य-समीक्षा

जिनवरस्य नयचक्रम् :

संपादक : डा० हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक : प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर। प्रकाशनवर्ष १९८२, पृष्ठ १८०, छपाई व जिल्द बढ़िया, मूल्य ४ से ६ रुपये तक।

'नय' एक अनादि शैली है जो सापेक्ष दृष्टि से प्रयुक्त होने पर सम्यक् और निरपेक्ष दृष्टि से प्रयुक्त होने पर मिथ्या होती है। जब से समयसार जैसे अध्यात्म ग्रन्थों का पठन-पाठन जन साधारण में प्रचलित हुआ—नयवाद विशेष चर्चा का विषय बन गया है। कई लोग तो विपरीत धारणा ही बना बैठे। डा० भारिल्लजी ने जहाँ विषय का मंथन कर अपनो शैली मे अपने विचारो को प्रस्तुत किया है वहाँ उन्होने विभिन्न आचार्य-मन्तव्यो को प्रस्तुत कर बड़ी बुद्धिमानी की है। इससे जो लोग उन्हे सोनगढी कैम्प का समझ बैठे हो, उन्हें निश्चय ही विषय निर्णय मे आचार्य वाक्य सहायक होंगे। डा० साहब ने विषय को बहुत स्पष्ट किया है ऐसा मेरा मत है। आचार्य वाक्यो की कसौटी के अस्तित्व मे मै क्या लिखू ? निश्चय ही भारिल्ल जी का प्रयास सराहनीय है अन्यथा अनेक ग्रन्थो को एकत्रित कर देखने का प्रयास ही कौन करता है। बधाई। × ×

भट्टारकीय ग्रन्थभण्डार नागौर ग्रन्थसूची :

निर्माता : डा० प्रेमचन्द जैन जयपुर, प्रकाशक डाइरेक्टर, सैन्टर फोर जैन स्टडीज राजस्थान, जयपुर। प्रकाशन वर्ष १९८१, पृष्ठ २६६, छपाई व जिल्द उत्तम, मूल्य ४५ रुपए।

प्रस्तुत सूची मे भण्डार के १८६२ विभिन्न ३० विषयो के ग्रन्थो का १२-१३ कालमों मे बिस्तृत विवरण दिया गया है जो अनुसंधानकर्ताओं के बड़े उपयोग का है, उन्हें एक ही स्थल पर ग्रन्थतालिका उपलब्ध होगी तथा भटकना नही पड़ेगा। ग्रंथ उपयोगी बन पडा है। डा० पी. सी. जैन बधाई के पात्र हैं। उन्होंने परिश्रम पूर्वक समस्या सरल कर दी है। अन्त मे अकारादि क्रमबद्ध सूची भी दी गई है। शोधार्थियो के लिए यह पुस्तक उपयोगी है।—बधाई। × ×

दिल्ली जिनग्रन्थरत्नावली :

लेखक : श्री कुन्दनलाल जैन, प्रिंसिपल, दिल्ली; प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ; सन् १९८१, कुल पृष्ठ ४२५, मूल्य ७० रुपए, छपाई जिल्द आदि उत्तम।

प्रस्तुत कृति दि० जैन सरस्वती भण्डार नया मन्दिर, धर्मपुरा दिल्ली के ग्रन्थो की सूची है, जिसे लेखक ने बड़ी कठिनाइयों मे परिश्रम पूर्वक लिखा है। अभी तक अन्य भण्डारो की प्रकाशित सूचियो मे ऐसा व्यवस्थित क्रम कम ही देखने में आया है। इसमे ११ कालमो द्वारा १२६१ ग्रन्थो का परिचय वैज्ञानिक ढंग से दर्शाया जाने से शोधार्थियो को सरलता हो गई है, वे अल्प परिश्रम से ही अपना अभीष्ट सिद्ध करने मे समर्थ हो सकेंगे। २०८ पृष्ठों के परिशिष्ट मे प्रति ग्रथ के आदि-अन्त अंशो को दर्शाया गया है और कुछ विशेष भी दिया गया है।

लेखक से विदित हुआ कि उक्त प्रकाशन लेखक के श्रम का प्रथम अश है, ऐसी कई कलेवरो की सामग्री अभी भी प्रकाशन की प्रतीक्षा मे हैं। प्रस्तुत प्रकाशन का विद्वानों मे स्वागत हुआ है और होगा; हम प्रिंसिपल साहब के उत्साह की सराहना करते है—वे शोध विषयो के भी योग्य प्रतिपादक हैं—बधाई। —सम्पादक

(पृ० ३२ का शेषांश)

हो। पर, आज जयन्तियों का उद्देश्य मानपुष्टि अथवा स्वार्थलोभ मे अधिक दिखाई देता है। धार्मिक उत्सव की महत्ता प्राय किसी बड़े राजनैतिक नेताके आनेसे मापी जाती है। जहाँ वीतरागी महावीर की दिव्यध्वनि के लिए अंग पूर्वधारी गणधरो की खोज करनी पडी वहाँ आज सांसारिक-विषय-कषाय और अभक्ष्य सेवी जैसों को प्रमुखता दी जाती है। थोड़ी देर के प्रसंग में धर्म के नाम पर प्रभूत सम्पत्ति दिखावे में व्यय कर दी जाती है। अहिंसा की जय तो बोली जाती है पर अहिंसा के अग—जीव रक्षा, दीन भोजन, ज्ञानप्रचार प्रसार आदि पर जोर नही दिया जाता। ऐसे ही भगवान के अभिषेक आदि की बोलियों जैसी प्रथाएं भी गरीब साधारण गृहस्थों के अधिकार-हनन में हैं, ये सब ही कुप्रथायें है। यदि ऐसे अवसरो पर लोगों मे स्वाध्याय का प्रचार किया जाय, उन्हें स्वाध्याय व दर्शन करने, रात्रि भोजन त्याग व अभक्ष्य त्याग करने और सदाचार पालन जैसे नियम दिलाकर सन्मार्गों को प्रशस्त किया जाय, विवाह आदि मे दान-दहेज और सौदाबाजी न करने की प्रतिज्ञा को कराया जाय तो सभी उत्सव सार्थक हों।

खेद है कि, *आज मद्य-मांस-मधु जैसे अभक्ष्य खाद्य* बनते जा रहे है। कन्द-मूल त्याग की बात तो पीछे जा पड़ी है, बाज लोग अण्डा तक से भी परहेज नही करते।

युवकों का कर्तव्य है कि वे इनके सुधार में कटिबद्ध हों, स्वाध्याय के अभ्यासी बनें और जिन-शासन को समझें। धर्म की बागडोर उन्ही के हाथों में है—वे इसे उबारें या डुबायें यह उन्हें सोचना है, सोचिए! —सम्पादक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर क उपयोगी प्रकाशन

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित।	२ ५०
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ...	४ ५०
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१५ ००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	५-५०
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	३ ००
न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०।	१०-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।	७-००
कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२५-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया	७-००
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	१२-००
श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया	५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग ४०-००
समयसार-कलश-टीका : कविवर राजमल्ल जी कृत ढूंढारी भाषा-टीका का आधुनिक सरल भाषा रूपान्तर : सम्पादनकर्ता : श्री महेन्द्रसेन जैनी।	७-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित	२-००
Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन	१५-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द	८-००

Just Released :

Jaina Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 1945)

2 Volumes ... ... Per Set ... ६००-००

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३५ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९८२

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर के चिर सहयोगी स्व. ला. पन्नालाल जैन अग्रवाल

दिल्ली महानगरी के मौहल्ला चरखेवालां की गली कन्हैयालाल अत्तार के निवासी स्व० ला० पन्नालाल जैन अग्रवालका साधिक ८० वर्ष की परिपक्व आयु मे गत २ अप्रैल १९८२ ई० को देहान्त हो गया। लाला पन्नालाल जी बडे समाजचेता एवं कर्मठ किन्तु मूक समाजसेवी सज्जन थे। ऊँचा-लम्बा कद, छरहरा बदन, क्वचित श्यामल वर्ण, सौम्य मुखमुद्रा, मन्दस्मिति, बहुत कम बोलना, सीधे तन कर बैठना—खडा होना व चलना, धोती-कुर्ता व टोपी वाली सादी वेषभूषा—सामने वाले व्यक्ति को आश्वस्त करने एव उस पर अनुकूल प्रभाव छोड़ने वाला व्यक्तित्व था। दिल्ली की दि० जैन पचायत, जैन मित्र मण्डल आदि अनेक सस्थाओ के साथ प्राय. वह जीवनपर्यन्त सम्बद्ध रहे। दिल्ली जैन समाज तथा उसके मदिरो: शास्त्रभडारो व सस्थाओ के इतिहास मे उनकी विशेष रुचि एव जानकारी थी। दिल्ली की जैन रथ यात्रा के इतिहास पर उन्होने पर्याप्त सामग्री एकत्रित की थी और उस पर एक पुस्तक लिखने का उन्होने हमसे आग्रह किया था किन्तु अन्य व्यस्तताओं के कारण जब विलम्ब होता देखा तो उन्होने स्व० बा० माई दयाल जैन से वह पुस्तक लिखा कर प्रकाशित की। दिल्ली के जैन मन्दिरो एव सस्थाओ पर भी उन्होने हिन्दी एव अग्रेजी मे परिचयात्मक पुस्तिकाएँ लिखकर प्रकाशित की। दिल्ली के कई मन्दिरो के शास्त्र भडारो की सूचियाँ भी उन्होंने वीर सेवा मन्दिर के मुखपत्र अनेकान्त मे प्रकाशित कराई। हमारी पुस्तक 'प्रकाशित जैन साहित्य' की भी बहुत सी आधारभूत सामग्री उन्होन एकत्रित की थी, अतएव उस पुस्तक के मुखपृष्ठ पर 'संयोजक' के रूप मे हमने उनका नाम दिया था। पुस्तक की तैयारी के समय भी जब जो सूचनाएँ हमने चाही उन्होने प्रयत्न करके भरसक प्रदान की। पुस्तक तैयार होकर भी लगभग दस वर्ष अप्रकाशित पड़ी रही, अन्तत. उन्होने जैन मित्र मंडल दिल्ली द्वारा उसे १९५८ मे प्रकाशित करा दिया। 'तीर्थंकरों के सर्वोदय मार्ग' को हमसे लिखाने की प्रेरणा भी उन्होने जैनवाच क० दिल्ली के ला० प्रेमचन्द्र जैन को की थी, जिसे ला० प्रेमचन्द्र जी ने अपने स्वर्गीय पिताजी की पुण्य-स्मृति मे वितरणार्थ प्रकाशित कराया था। हमारी रिलीजन एंड कल्चर आफ जैनिज्म के मूल प्रेरक भी ला० पन्नालाल जी एवं ला० प्रेमचन्द्र जी थे—वह पुस्तक भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई (उसके दो सस्करण समाप्त हो गए, तीसरा मुद्रणाधीन है) हमारी तो बात ही क्या, स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी, स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जी, स्व० बा० कामताप्रसाद जी आदि अनेक लेखकों को पन्नालाल जी ने प्रेरणा तथा सामग्री सुलभ कराने मे सहयोग दिया। जिस लेखक से किसी पुस्तक के लिखने का बचन वे लेते थे उसे दो-तीन दिन बाद निरन्तर पत्र लिख कर याद दिलाने, प्रगति जानने, आवश्यक सूचना या सदर्भ सामग्री आदि पहुचाने के लिए पत्र लिखते रहते थे। हमे उनसे प्राप्त पत्रो की सख्या सैकड़ो मे है। स्व० बा० उग्रसेन जी (परिषद परीक्षा बोर्ड वाले) भी लेखको से काम कराने और पत्र लिखने मे ऐसे ही निरालस एव तत्पर रहते थे।

लाला पन्नालाल कुछ विशेष पढ़े-लिखे, विद्वान या साहित्यकार नही थे और बहुत वर्षों तक पुस्तक-विक्रेता का व्यवसाय करते रहे। यह आवश्यक है कि अपनी दुकान मे भी जैन पुस्तकें ही अधिकनर रखते थे। किन्तु साहित्य-जगत की जो अद्वितीय सेवा उन्होने की वह थी किसी भी जैन या अजैन विद्वान को इच्छित साधन-सामग्री, प्रकाशित पुस्तकें, दिल्ली के किसी भी शास्त्र भडार के शास्त्रो की हस्तलिखित प्रतियाँ तथा पुस्तकालयो के सदर्भ ग्रंथ तत्परता पूर्वक खोजकर मुहैया करना, और काम हो जाने पर उसी तत्परता के साथ उन्हे वापस मगा लेना। इस बेमिसाल साहित्य सेवा के कारण वह अनेक जैनाजैन साहित्यकारो के के लिए सुपरिचित थे। ऐसा नि:स्वार्थ एवं सदा तत्पर साहित्यिक सहयोग एव प्रेरणा देने वाला दूसरा कोई व्यक्ति प्राय: देखने-सुनने मे नही आया। इस प्रकार अनेक विद्वान व लेखक उनके आभारी हुए और अनेक पुस्तको के सृजन मे वह परोक्ष रूप से सहयोगी रहे।

वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक स्व० आचार्य जुगल-किशोर मुख्तार 'युगवीर' के प्रति ला० पन्नालाल जी का निश्छल आदर भाव था। मुख्तार सा० द्वारा १९३५-३६ ई० मे सरसावा में वीर सेवा मन्दिर की स्थापना होने के

(शेष पृष्ठ २४ पर)

वीर सेवा मन्दिर के चिर सहयोगी स्व. ला. पन्नालाल जैन अग्रवाल

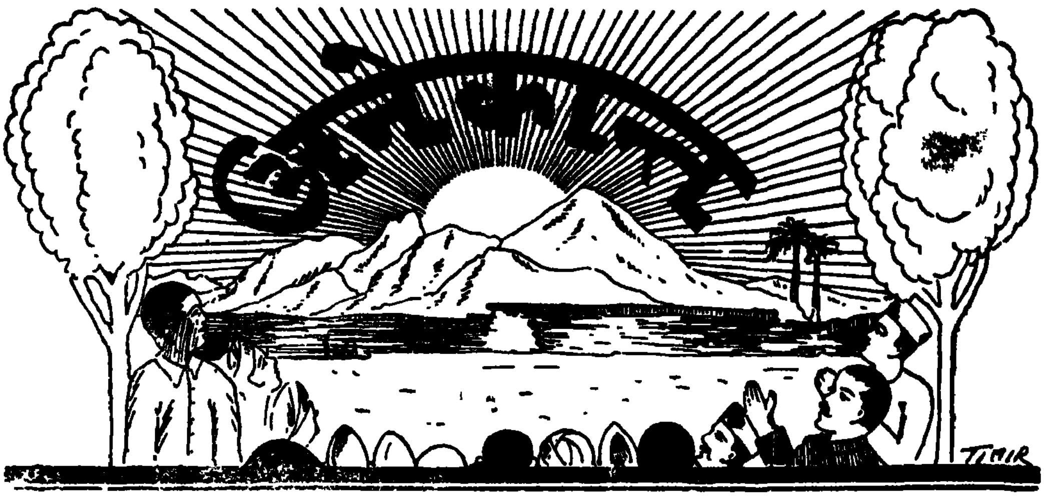
दिल्ली महानगरी के मौहल्ला चरखेवालाँ की गली कन्हैयालाल अत्तार के निवासी स्व० ला० पन्नालाल जैन अग्रवालका साधिक ८० वर्ष की परिपक्व आयु मे गत २ अप्रैल १९८२ ई० को देहान्त हो गया। लाला पन्नालाल जी बड़े समाजचेता एव कर्मठ किन्तु मूक समाजसेवी सज्जन थे। ऊँचा-लम्बा कद, छरहरा बदन, क्वचित श्यामल वर्ण, सौम्य मुखमुद्रा, मन्दस्मिति, बहुत कम बोलना, सीधे तन कर बैठना—खड़ा होना व चलना, धोती-कुर्ता व टोपी वाली सादी वेषभूषा—सामने वाले व्यक्ति को आश्वस्त करने एव उस पर अनुकूल प्रभाव छोड़ने वाला व्यक्तित्व था। दिल्ली की दि० जैन पचायत, जैन मित्र मण्डल आदि अनेक संस्थाओ के साथ प्राय: वह जीवनपर्यन्त सम्बद्ध रहे। दिल्ली जैन समाज तथा उसके मदिरो: शास्त्रभडारो व संस्थाओ के इतिहास मे उनकी विशेष रुचि एवं जानकारी थी। दिल्ली की जैन रथ यात्रा के इतिहास पर उन्होने पर्याप्त सामग्री एकत्रित की थी और उस पर एक पुस्तक लिखने का उन्होने हमसे आग्रह किया था किन्तु अन्य व्यस्तताओं के कारण जब विलम्ब होता देखा तो उन्होने स्व० बा० माई दयाल जैन से वह पुस्तक लिखा कर प्रकाशित की। दिल्ली के जैन मन्दिरों एव सस्थाओ पर भी उन्होंने हिन्दी एव अंग्रेजी में परिचयात्मक पुस्तिकाएँ लिखकर प्रकाशित की। दिल्ली के कई मन्दिरो के शास्त्र भडारों की सूचियाँ भी उन्होने वीर सेवा मन्दिर के मुखपत्र अनेकान्त मे प्रकाशित कराई। हमारी पुस्तक 'प्रकाशित जैन साहित्य' की भी बहुत सी आधारभूत सामग्री उन्होन एकत्रित की थी, अतएव उस पुस्तक के मुखपृष्ठ पर 'संयोजक' के रूप में हमने उनका नाम दिया था। पुस्तक की तैयारी के समय भी जब जो सूचनाएँ हमने चाहीं उन्होने प्रयत्न करके भरसक प्रदान की। पुस्तक तैयार होकर भी लगभग दस वर्ष अप्रकाशित पड़ी रही, अन्तत: उन्होंने जैन मित्र मंडल दिल्ली द्वारा उसे १९५८ में प्रकाशित करा दिया। 'तीर्थंकरों के सर्वोदय मार्ग' को हमसे लिखाने की प्रेरणा भी उन्होने जैनवाच कं० दिल्ली के ला० प्रेमचन्द्र जैन को की थी, जिसे ला० प्रेमचन्द्र जी ने अपने स्वर्गीय पिताजी की पुण्य-स्मृति में वितरणार्थ प्रकाशित कराया था। हमारी रिलीजन एंड कल्चर आफ जैनिज्म के मूल प्रेरक भी ला० पन्नालाल जी एवं ला० प्रेमचन्द्र जी थे—वह पुस्तक भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई (उसके दो सस्करण समाप्त हो गए, तीसरा मुद्रणाधीन है) हमारी तो बात ही क्या, स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी, स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जी, स्व० बा० कामताप्रसाद जी आदि अनेक लेखकों को पन्नालाल जी ने प्रेरणा तथा सामग्री सुलभ कराने में सहयोग दिया। जिस लेखक से किसी पुस्तक के लिखने का बचन वे लेते थे उसे दो-तीन दिन बाद निरन्तर पत्र लिख कर याद दिलाने, प्रगति जानने, आवश्यक सूचना या सदर्भ सामग्री आदि पहुचाने के लिए पत्र लिखते रहते थे। हमे उनसे प्राप्त पत्रों की सख्या सैकडों मे है। स्व० बा० उग्रसेन जी (परिषद परीक्षा बोर्ड वाले) भी लेखको से काम कराने और पत्र लिखने मे ऐसे ही निरालस एवं तत्पर रहते थे।

लाला पन्नालाल कुछ विशेष पढ़े-लिखे, विद्वान या साहित्यकार नही थे और बहुत वर्षों तक पुस्तक-विक्रेता का व्यवसाय करते रहे। यह आवश्यक है कि अपनी दुकान मे भी जैन पुस्तकें ही अधिकतर रखते थे। किन्तु साहित्य-जगत की जो अद्वितीय सेवा उन्होंने की वह थी किसी भी जैन या अजैन विद्वान को इच्छित साधन-सामग्री, प्रकाशित पुस्तकें, दिल्ली के किसी भी शास्त्र भंडार के शास्त्रो की हस्तलिखित प्रतियाँ तथा पुस्तकालयो के सदर्भ ग्रंथ तत्परता पूर्वक खोजकर मुहैया करना, और काम हो जाने पर उसी तत्परता के साथ उन्हें वापस मगा लेना। इस बेमिसाल साहित्य सेवा के कारण वह अनेक जैनाजैन साहित्यकारो के के लिए सुपरिचित थे। ऐसा नि.स्वार्थ एव सदा तत्पर साहित्यिक सहयोग एव प्रेरणा देने वाला दूसरा कोई व्यक्ति प्राय. देखने-सुनने में नही आया। इस प्रकार अनेक विद्वान व लेखक उनके आभारी हुए और अनेक पुस्तको के सृजन मे वह परोक्ष रूप से सहयोगी रहे।

वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक स्व० आचार्य जुगल-किशोर मुख्तार 'युगवीर' के प्रति ला० पन्नालाल जी का निश्छल आदर भाव था। मुख्तार सा० द्वारा १९३५-३६ ई० में सरसावा में वीर सेवा मन्दिर की स्थापना होने के

(शेष पृष्ठ २४ पर)

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३५ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५०८, वि० स० २०३९ | जुलाई-सितम्बर १९८२

सीख

जिनराज-चरन मन, मति बिसरै ।
को जानं किहि बार काल की, धार अचानक आनि परै ।।
देखन दुख भजि जाहि दशों दिशि, पूजत पातक पुंज गिरै ।
इस संसार सार सागर सों, और न कोई पार करै ।।
इकचित ध्यावत वांछित पावत, आवत मंगल, विघन टरै ।
मोहनि धूल परी मांथे चिर, सिर नावत तत्काल झरै ।
तबलों भजन संवार सयाने, जबलों कफ नहिं कण्ठ अरै ।
अगनि प्रवेश भयो घर 'भूधर' खोवत कूप न काज सरै ।।

× × × ×

रे नर, विपति में धर धीर ।
सम्पदा ज्यों आपदा रे, विनश जैहें वीर ।।
धूप-छाया घटत-बढ़ ज्यों, त्यांहि सुख-दुख-पीर ।
दोष 'द्यानत' देय किसको, तोरि करम-जंजीर ।।

□□

जीवंधर-कथानक के स्रोत

□ विद्या वारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के साक्षात् भक्त एव शिष्य, वर्तमान अवसर्पिणी मे भारत क्षेत्र के अन्तिम कामदेव तथा तद्भव मोक्षगामी जीवंधरस्वामि का पुण्य-चरित्र अति प्रेरक एव बोधप्रद है इतना ही नही, इन परम तेजस्वी वीरवर एवं पुण्यश्लोक हेमाङ्गदनरेश महाराज जीवधर का रोचक एव कौतूहलवर्द्धक कथानक कम-से-कम दिगम्बर परम्परा मे अति लोकप्रिय भी रहता आया है। सस्कृत, अपभ्र श, तमिल, कन्नड, हिन्दी आदि कई भाषाओ मे और विभिन्न शैलियो मे निबद्ध लगभग बीस रचनाए तो इस विषय पर अधुना ज्ञात एव उपलब्ध है जिनमे से कई अपने ढग की बेजोड है।

जीवंधरकुमार की गणना चौबीस कामदेवो मे की जाती है। इस परम्परा का मूलाधार क्या और कितना प्राचीन है, यह गवेषणीय है। तिलोयपण्णत्ति (४/१४७२) मे मात्र यह निर्देश प्राप्त होता है कि चौबीस जिनवरो (तीर्थंकरो) के काल मे बाहुबलि को प्रमुख करके निरुपम आकृति वाले चौबीस कदर्प या कामदेव हुए है। उत्तरपुराण के अनुसार जीवंधर मुनि के अप्रतिमरूप को देखकर श्रेणिक को उनके विषय मे जिज्ञासा हुई, जिसका समाधान सुधर्मास्वामी ने जीवधर चरित्र का वर्णन करके किया। वादीभसिंहसूरि की गद्यचिन्तामणि के अनुसार तो श्रेणिक को यह भ्रम हो गया कि यह स्वर्गो के कोई देव है जो यहाँ मुनिवेष मे आ विराजे है। अतएव कामदेव होने के कारण जीवधर एक पुराणपुरुष है और क्योंकि वह भगवान महावीर के संघ मे मुनिरूप मे दीक्षित हुए, उसी तीर्थ मे केवलज्ञान प्राप्त करके राजगृह के विपुलाचल से ही उन्होने निर्वाणलाभ किया, वह एक ऐतिहासिक महापुरुष भी है। उनकी राजधानी 'रांजपुर' तथा हेमांगद देश का भौगोलिक वर्णन भी सुदूर दक्षिण का अर्थात् कर्णाटक-केरल-तमिल भूभाग का ही सकेत करता है।

प्राप्त साहित्य में जीवधर कथा की दो स्पष्ट धाराएँ मिलती है एक का प्राचीनतम उपलब्ध एव ज्ञात स्रोत आचार्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराण (ल० ८५०-८९७ ई०) है। पुष्पदंत ने अपने अपभ्र श महापुराण (९६५ ई०) मे तथा तमिल श्रीपुराणम मे व रईधु, शुभचन्द्र आदि कई परवर्ती लेखको ने उत्तर पुराण के कथानक को अपना आधार बनाया। किन्तु वादीभसिंहसूरि कृत गद्यचिन्तामणि एव क्षत्रचूडामणि और तिरुतकदेवकृत तमिल जीवकचिन्तामणि के कथानक मे जहाँ परस्पर अद्भुत सादृश्य है, वही उत्तरपुराण की कथा से वह अपने मौलिक अन्तर भी प्रकट करता है। हरिचन्द्रकृत जीवन्धरचम्पू से लगता है कि वह दोनो ही धाराओ से प्रभावित है दोनो मे परिचित रहा है।

अब प्रश्न यह है कि कथा का मूलाधार उपरोक्त मे से किस ग्रथ को माना जाय, या उनसे भी प्राचीनतर कोई अन्य स्रोत थे?

उत्तरपुराणकार गुणभद्र एक अत्यन्त प्रमाणिक आचार्य हैं। उन्होने स्वगुरु जिनसेन स्वामी (८३७ ई०) के अपूर्ण आदिपुराण को पूर्ण किया, तदनन्तर अपने उत्तरपुराण मे शेष २३ तीर्थंकरों तथा सम्बन्धित अन्य शलाका पुरुषों एव विशिष्ट व्यक्तियो के चरित्रों को निबद्ध किया था—आदिपुराण एव उत्तरपुराण ही सयुक्त रूप से महापुराण कहलाए। भाषा, शैली, सक्षेप, विस्तार आदि को छोड़कर, उनके पौराणिक कथानक निराधार नही हो सकते—उनके सन्मुख तद्विषयक पूर्ववर्ती साहित्य अवश्य रहा। कवि परमेश्वर (अनुमानित समय लगभग ४०० ई०) के वागार्थ-संग्रह नामक पुराणग्रन्थ का तो जिनसेन और गुणभद्र दोनो ने स्पष्ट उल्लेख किया है तथा उनके कई परवर्ती पुराणाकरों एवं शिलालेखों मे भी उनके उल्लेख प्राप्त हैं। कवि प्राय. परमेश्वर के समसामयिक या कुछ आगे-पीछे के

नंदिमुनि एवं कूचिभट्टारक नामक पुराणकारो की विद्यमानता के भी संकेत मिलते हैं। भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि के आधार पर गौतम, सुधर्मा आदि गणधर भगवानों द्वारा गूथित द्वादशांगवाणी के १२वे अग दृष्टिप्रवाद का एक विभाग प्रथमानुयोग था जिसमें पुराण पुरुषों के चरित्र का सग्रह था। आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवलि के उपरान्त उसका सार गाथानिबद्ध नामावलियों एव कथासूत्रों के रूप में मौखिक द्वार से प्रवाहित होता रहा। उन्ही के आधार पर उपरोक्त प्राचीन पुराणग्रथ तथा बिमलसूरि, सघदासगणि, रविषेण, जिनसेन सूरि पुन्नाट आदि के पुराण तथा वरागचरित्र प्रभृति अन्य प्राचीन पौराणिक चरित्र भी रचे गए। अस्तु, जीवधर कथानक गुणभद्र का ही आविष्कार अथवा उनकी अपनी कल्पना से प्रसूत था, यह मानने का कारण प्रतीत नही होता। उसके लिए भी उनका आधार उनका पूर्ववर्ती पुराणसाहित्य एव पौराणिक अनुश्रुतियाँ थी।

जीवधर कथा की दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व तिरुतकदेव का तमिलकाव्य तथा वादीभसिंह के ग्रथद्वय और अशत: हरिचन्द्र का जीवधर चम्पू करते है हरिचन्द्र की एकरचना धर्मशर्माभ्युदय है, जिसकी प्राचीनतम उपलब्ध प्रति १२३० ई० की है। पहले अनेक विद्वान काव्यमीमासाकार राजशेखर के एक उल्लेख के आधार पर हरिचन्द्र का समय ९०० ई० के लगभग मानते थे। किन्तु जैसा कि धर्मशर्माभ्युदय के विद्वान संपादक डा० पन्नालाल साहित्याचार्य का कहना है, हरिचन्द्र के ग्रथ न केवल गुणभद्रीय उत्तरपुराण (८९७ ई०) से वरन वीरनदि के चन्द्रप्रभचरित्र (ल० ९५० ई०) और सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू (९५९ ई०) से पर्याप्त प्रभावित हैं। इसके अतिरिक्त, उनका जीवधर चम्पू वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि से भी प्रभावित एवं परवर्ती हैं। वादीभसिंह सूरि का समय भी आधुनिक युग के प्रारंभिक विद्वान पहले तो ८०० ई० के लगभग मानते थे, तदनन्तर अब अधिकाश विद्वान १०वीं शती ई० का उत्तरार्ध मानने लगें। किन्तु, जैसा कि हमने अपने लेख श्रीमद्वादीभसिंहसूरि में तत्संबधित प्राय: सभी प्रचलित भ्रान्तियों का निरसन करके सिद्ध किया है, गद्यचिन्तामणि, क्षत्रचूडामणि स्याद्वादसिद्धि आदि ग्रन्थो के रचयिता आचार्य अजितसेन वादीभसिंह का मुनिजीवनकाल १०२५-१०९० ई० प्राय: सुनिश्चित है और गद्यचिन्तामणि एव क्षत्रचूड़ामणि की रचना उन्होने १०५० व १०६० ई० के मध्य की है। अतएव महाकवि हरिचन्द्र और उनके दोनों ग्रथों का रचनाकाल १०६० ई० के उपरान्त और ११०० ई० के पूर्व, अर्थात् लगभग १०७५ ई० मानना उचित होगा।

तिरुत्तकदेवकृत तमिल महाकाव्य जीवक चिन्तामणि तमिल भाषा के प्राचीन पाच महाकाव्यों मे परिगणित, प्राचीन तमिल साहित्य का समुज्ज्वल रत्न एव बेजोड़ अति प्रतिष्ठिन रचना है। उसमे और वादीभसिंह सूरि की गद्यचिन्तामणि मे इतना अद्भुत सादृश्य है कि दोनो में जो भी परवर्ती है उसने पूर्ववर्ती को अपना अधिकार बनाया है। पहले टी० एस० कुप्पुस्वामी, स्वामीनाथ अइयरपिल्ले, चक्रवर्ती आदि अनेक तमिल विद्वान भी जीवकचिन्तामणि को गद्यचिन्तामणि पर आधारित मानते रहे, और उसे भी प्राय: दसवीं या ग्यारहवी शती ई० की रचना अनुमान करते रहे। किन्तु इधर कुछ विद्वान उसका बिल्कुल उलटा सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। उनकी युक्तियां भी बेदम नही हैं। उदाहरणार्थ डा० आर० विजयलक्ष्मी ने जीवकचिन्तामणिका विस्तृत एव सूक्ष्म अध्ययन तथा गद्यचिन्तामणि, क्षत्रचूडामणि, जीवधरचपू और उत्तरपुराण के कथानकों एव वर्णनों के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि जीवक चिन्तामणि ७५० और ८५० ई० के मध्य किसी समय लिखी गई होनी चाहिए।

यों तो जीवकचिन्तामणि के सर्व प्राचीन स्पष्ट उल्लेख शेकिल्लार पडित की पेरिय पुराणम् (११५० ई०) में तथा उसके उपरान्त किसी समय लिखी गई कम्बन कृत तमिल रामायण मे ही प्राप्त होते हैं। अत: इससे तो इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि जीवकचिन्तामणि की रचना ११०० ई० के पूर्व किसी समय हुई। गद्यचिन्तामणि के साथ किए गए उसके तुलनात्मक अध्ययन से यह भी प्रतीत होता है कि वादभसिंह उससे सुपरिचित थे। अस्तु तिरुतक्कदेवकृत तमिल महाकाव्य जीवकचिन्तामणि उतनी प्राचीन भी नही तो कम-से-कम ९वी या १०वी शती ई०

की रचना अवश्य है। डा० विजयलक्ष्मी के अध्ययन से यह भी प्रतीत होता है कि तिरुक्कदेव के सम्मुख कोई प्राचीन कथानक रहे, जिनमें कोई प्राकृत कथा भी थी। उन्हें ही इन्होंने अपना आधार बनाया था।

इस संबंध में यह भी ध्यातव्य है कि वादीभसिंह भी मूलतः तमिलदेश के निवासी थे और तमिल भाषा एवं साहित्य से सुपरिचित थे, बल्कि एक अनुश्रुति तो यह भी है कि जीवकचिन्तामणि का रचनारंभ उन्होंने किया था, बीच में ही छोड़ दिया और तिरुतक्कदेव ने उसे पूरा किया। इस अनुश्रुति में तो शायद कोई सार नहीं है किन्तु यह सुनिश्चित है कि जो आधार स्रोत एव साहित्यिक परंपराए निरुतक्कदेव को प्राप्त थी, वे वादीभसिंह को भी प्राप्त थी। वस्तुतः तमिलसाहित्य की प्राचीन अनुश्रुतियों में चूडामणि और चिन्तामणि नामक दो काव्यग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। हमे ऐसा लगता है कि उक्त दोनों ग्रंथ पर्याप्त प्राचीन (लगभग ६ठीं शती ई०) के हैं, वे तमिल एवं कन्नडदेश में भी बहुप्रचलित रहे हैं और उन दोनों में जीवंधर कथानक का ही वर्णन रहा। वे या उनमें से कोई एक प्राकृत में अथवा प्राकृत-संस्कृत-तमिल मिश्रित भाषा में भी था, यह संभव है। उन्ही को तिरुतक्कदेव ने आधार बनाया और उन्हें ही वादीभसिंह ने तमिल भाषा में 'चिन्तामणि' जीवंधर का पर्यायवाची भी बतलाया जाता है अतएव तिरुतक्कदेव ने जीवकचिन्तामणि लिखा तो वादीभसिंह ने गद्यचिन्तामणि एवं क्षत्रचूड़ामणि लिखे। उन्होंने दोनों प्राचीन ग्रथो को मान्य किया। जीवंधरचंपूकार के सामने ऐसी कोई बात नही थी। वह मध्य भारतीय और सभवतया तमिल भाषा एव साहित्य से अनभिज्ञ था। उसने तो अपने कथानक को रोचक बनाने के लिए जो आधार, उत्तरपुराण एव गद्यचिन्नामणि उसे प्राप्त थे, उन दोनों का उपयोग किया,।

सन्दर्भ सूची

१. डा० आर० विजयलक्ष्मी ए स्टडी आफ जीवकचिन्तामणि (अहमदाबाद १९८१)।
२. ज्योतिप्रसाद जैन—दी जैन सोर्स आफ दी हिस्टरी आफ एन्शेंट इंडिया दिल्ली (१९६४)
३. ज्योतिप्रसाद जैन ४ श्रीमद्वादीभसिंह (जै० सि० भा० जौलाई ८२)।
४. ज्योतिप्रसाद जैन जीवधर साहित्य (शोधांक-४६)
५. डा० पन्नालाल सा० गद्यचिन्तामणि (भा० ज्ञा० पी० दिल्ली १९६८)
६. डा० पन्नालाल सा० जीवधर चम्पू भा० (ज्ञा० पी० दिल्ली १९६८)।
७. डा० पन्नालाल सा० धर्मशर्माभ्युदय (भा० ज्ञा० पी० दिल्ली १९७१)।
८. प० नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास (द्वि० सं०)।
९. बी० ए० सालतोर—मेडिकलजैनिज्म (बंबई १९३८)
१०. ए० सी० चक्रवर्ती—जैनालिटरेचर इन तमिल (भा० ज्ञा० पी० दिल्ली १९७४)।

□□

सम्यक्त्व

'सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं वालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स॥'

जिसके हृदय में नित्य सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह होता है, उसके कर्मरूपी धूल का आवरण नष्ट हो जाता है (अतः सम्यक्त्व प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए)।

'सम्मत्तस्सणिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणयापुरिसा।
अंतर हेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी॥'

सम्यक्त्व के बाह्य निमित्त जिनसूत्र और जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम, क्षयोपशम आदि है।

असली मैं और नकली मैं

☐ श्री बाबूलाल जैन, कलकत्ता वाले

मैं दो प्रकार का है—एक असली और एक नकली। परन्तु दोनों एक साथ नही रहते जहाँ असली मैं है वहा नकली नही और जहाँ नकली मैं है वहाँ असली मैं नही। यह नकली मैं ही परमात्मा को देखने के लिये, परमात्मा बनने में रुकावट है। रुकावट ही नहीं, यह फाटक भी बन्द है आगल भी लगी है और ताला भी पडा हुआ है। यही जीव का संसार है और यही महापाप है। यही हिंसा है। इसको समझना जरूरी है।

एक ज्ञान का कार्य हो रहा है जानने रूप-ज्ञातादृष्टा-रूप, ज्ञायकरूप-एक मन सम्बन्धी विकल्प हो रहे है भाव हो रहे हैं कोई शुभरूप-दयादानादि, भगवान की भक्ति, त्याग वृत रूप है और कोई अशुभरूप क्रोधादिरूप द्वेषरूप दूसरे का बुरा करने का हिंसा करने का चोरी करने का झूठ बोलने का परिग्रह का अब्रह्मरूप है। इसी प्रकार बाहर मे शरीर की क्रिया है कोई शुभरूप है कोई अशुभ रूप है। हम जब कोई कार्य करते हैं तो तीन काम होते है जसे मैं बोल रहा हू तो होठ हिलने रूप शरीर की क्रिया है भीतर बोलने रूप राग भाव है और उन दोनो के जानने वाला ज्ञातापना है। ज्ञातापने का भाव तो आत्मा से उठ रहा है क्योकि ज्ञान और आत्मा का एकत्वपना है और मन सम्बन्धी विकारी भाव और शरीर की क्रिया कर्म के सम्बन्ध को लेकर हो रही है। जब हम ज्ञान की क्रिया को नही पकडते हैं तो मन सम्बन्धी विकारी भावो मे और शरीर की क्रिया में अहपना मानते है कि मैं हू—ये मेरे हैं, मैंने ऐसा किया है। इस प्रकार का अहपना चाहे अशुभ भावो मे आवे चाहे शुभ भावो – चाहे शुभ क्रिया मे चाहे अशुभ क्रिया में आवे यही नकली मैं पना है। साधारण रूप से यह मैं पना झूठ बोलने में भी आता है मैंने ऐसा झूठ बोला और सत्य में भी आता है मेरे बराबर कोई सत्य बोलने वाला नही—जीव को बचाने मे भी आता है और मारने में भी। जैसे मैंने एक बार में ही सफाया कर दिया या मैंने इतने लोगों को बचा दिया। इसी प्रकार चोरी करने मे भी और न करने मे भी। ब्रह्मचर्य पालने मे भी और अब्रह्म का सेवन करने में भी। परिगृह के गृहण मे भी आता ही है और परिग्रह के त्याग मे उससे भी ज्यादा आता है। मैंने इतना बडा त्याग किया है मैं लाखों की सम्पत्ति छोडकर त्यागी बना हू। मैंने पहले बड़ी-बडी मौज की है अब सब कुछ त्याग दिया है इत्यादि। इसी प्रकार आने का विकल्प उठाते है कि मैं इतने लोगों की सेवाएं करूँ इतने लोगो को दान करने अथवा इतने लोगो को बन्दी कर लू इत्यादि रूप। इसी प्रकार बाहरी क्रिया जिनको धार्मिक क्रिया कहते हैं पूजा दान व्रत उपवास मन्दिर बनवाना सेवा आदि करना इसमे भी अहंपना आता है चाहे हम बाहर मे प्रगट करें या न करें परन्तु भीतर मे यह जरूर बनता है कि मैंने कुछ किया है ऐसा अहपना। इस प्रकार दोनो प्रकार की—मन के भाव और शरीर की क्रिया मे होता है चाहे वह परिणाम ऊचे मे ऊंचे कोटि के शुभ हो चाहे अशुभ हो। यहाँ भाव शुभ है कि अशुभ है इसमे प्रयोजन नही प्रयोजन है अहंपना का। अलग शुभ में अहपना है तो भी और अशुभ में अहपना है तो भी अहम्पना तो अपने मे नही है पर मे ही है। हमारा संसार शुभ-अशुभभाव नहीं परन्तु शुभ अशुभ भावो मे अहपना है।

हम ऐसा मान लेते हैं कि शुभ भाव हुए हम तो धर्मात्मा है अशुभ हुए पापी हैं। यह तो बहुत मोटी बात है यहाँ पर तो सवाल है कि हमारा अहम्पना किसमें है अपने निज भाव ज्ञाता दृष्टा मे, ज्ञायक मे, चैतन्य मे अथवा शुभ-अशुभ भावों मे और शरीर सम्बन्धी क्रिया मे। अगर हमारा अहम्पना अपने मे है जो वहाँ दोनों (मन सम्बन्धी शरीर-सम्बन्धी) का जानने वाला है अथवा इन दोनो मे।

अगर अपने में अपनापना आ गया तो इन दोनों में अपना-पना अहम्पना भर गया यह पर में अहमपना भरना ही परमात्मा के लिये फाटक खुल गया हैं इसी को कहते हैं नकली मैं का भरना। छोडना क्या है इस मैं पने को छोड़ना है। हम भेष बदली कर लेते हैं हम कपडे बदली कर लेते हैं हम कमरे बदली कर लेते हैं परन्तु मैं पना वैसा-का वैसा कायम रहता है भेष बदलने से नही अपने को बदलने से क्रान्ति होगी।

यह अहम्पना जैसा मन सम्बन्धी और शरीर सम्बन्धी कार्यों मे जैसा आ रहा है वैसा उस ज्ञाता दृष्टा जानने वाले वाले में आना चाहिए जब उसमे मैं पना आयेगा तब इन दोनों से मैं पना मिटेगा। शुभ-अशुभ रहेगे क्रिया रहेगी परन्तु मैंपना नही रहेगा। मैंपना अपने मे अपने ज्ञायक मे आयेगा मैं कौन जानने वाला साक्षीभूत। तब doing मिट जायेगा इन भावो मे और क्रिया मे जो doing उठ रहा था वह नही रहेगा परन्तु Being हो जायेगा। जिसका अहंम्पना मिट गया उसका ससार मिट गया अब उसके भीतर संसार नही है वह ससार मे है। नाव मे पानी नही है परन्तु नाव पानी के ऊपर है यह अहम्पना मेटने का और कोई उपाय नही उसका उपाय है जानने वाले मे अहंपना 'ब्रह्मोऽस्मि' आना स्थापित करना अन्यथा यह अहम्पना सूक्ष्मरूप धारण करके जीवित रह जाता है।

यह अहम्पना अशुभ में तो फिर भी 'कम पड़ जाता है कारण समाज और अन्य लोग उसकी निन्दा करते हैं परन्तु शुभ में तो उस अहम्पने का छूटना बहुत मुश्किल है कारण समाज भी माला पहना कर उसको उपाधि देकर उसका अहम्पना पुष्ट करते हैं वह सोचता है क्या इतने आदमी मेरे को मान दे रहे हैं सब गलती तो नहीं कर रहे मैंने जरूर कुछ किया है। पूजा-पाठ करके ह॰ 'समझते' हैं हम कुछ आत्मकल्याण के नजदीक आ रहे हैं परन्तु इस अहपना को करके हम और दूर होते जा रहे है।

दूसरे प्रकार का अहम्पना अब आया अपने आपमें जो अस ि अहपना है। ग्रथकार कहते है कि इस आत्मा में अगर तूने अहम्पना माना तो तेरे यह आत्मा भी परिग्रहपने को प्राप्त हो जायेगी कहना यह था कि मैं और आत्मा दो चीज तो है कि जो मैं हू वही आत्मा है इसलिये अगर मैं और आत्मा मे भेद आ रहा है तो आत्मा तेरें मैं से पर हो गयी और पर होना ही परिग्रह हो गया इसलिये मैं और आत्मा दो न होकर अभेद होना चाहिए जहाँ मैं की अनुभ नि होती है वही आत्मा है ऐसा अभेद रूप होगा तब कहने सुनने को कुछ नही रहेगा तू अपने आप में समा जायेगा। पानी का बुदबुदा पानी मे लीन हो गया।

□□

(पृष्ठ ८ का शेषाश)

१. ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमारकेमरसिहाइ।
ओदसअन्ति दअमणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइ ॥१।४

२. न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयस्मिन्।
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः॥
क्व बत हरिणकानां जीवित चातिलोल।
क्व च निश्चितनिपाता वज्रसारा. शरास्ते॥
—अभि० शाकु० १।१०

३. आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि॥
—अभि० शाकु० १।११

४. पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे॥
—प्रथम अङ्क पृ० २८

५. 'विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः'
—अभि० शाकु० १।१४
नष्टाशङ्काहरिणशिशवो मन्द्रमन्दं चरन्ति॥
—वही १।१५
गाहन्तां···················अस्मद्धनुः ॥वही २।७

अभिज्ञान शाकुन्तल में अहिंसा के प्रसंग

□ डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

कालिदास एक अहिंसावादी कवि थे। उनके द्वारा ग्रथित अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक के सूक्ष्म अध्ययन से उनकी अहिंसावादी मनोवृत्ति की पर्याप्त झाँकी प्राप्त होती है। इस नाटक के प्रथम अङ्क के प्रारम्भ मे ही नटी कहती है कि प्रमदायें दयाभाव से युक्त हो भ्रमरो के द्वारा कुछ-कुछ चूमे गए कोमल केसर शिखा से युक्त शिरीष पुष्पों को अपने कानो का आभूषण बना रही है।[1] इस पद्य मे दअमाणा पद साभिप्राय है। मदयुक्त (सौन्दर्य आदि के कारण मतवाली) होने पर भी दयाभाव के कारण युवतियाँ शिरीष के फूलों को सावधानी के साथ तोड कर कर्णाभूषण बना रही है। जिस प्रकार भौरे बहुत सावधानी से फूलो का रसास्वादन करते है, उसी प्रकार युवतियाँ भी बडी सावधानी से पुष्पो का स्पर्श कर रही है। किसी को कसी प्रकारकष्ट पहुंचाए बिना उससे कुछ ग्रहण करना उपर्युक्त भ्रामरी वृत्ति की सदृशता के अन्तर्गत परिगणित होता है। जैन ग्रन्थो मे साधु को भ्रामरी वृत्ति का पालक कहा गया है। जैन साधु बिना गृहस्थ को कष्ट पहुचाए उसके न्यायोपर्जित धन से बने हुए आहार मे से कुछ आहार अपने उदर की पूर्ति हेतु ले लेता है, उसके लिए श्रावक को विशेष उपक्रम नहीं करना पडता इसी कारण है कि साधु को उद्दिष्ट भोजन लेने का निषेध है। भ्रामरी वृत्ति का एक तात्पर्य यह भी है कि जिस प्रकार भ्रमर एक फूल से दूसरे फूल पर थोड़ा-थोडा रस ग्रहण कर बैठता रहता है, उसी प्रकार साधु भी वर्षा काल को छोड़ कर अन्य समय मे एक स्थान पर अधिक दिन निवास न करे; क्योंकि इससे श्रावकों से गाढ परिचय होने के कारण रागभाव की वृद्धि की आशङ्का होती है। इसीलिए भगवान् बुद्ध ने भी अपने भिक्षुओं को बहुजनहिताय बहुजन सुखाय सतत गतिशील रहने का उपदेश दिया था—"चरथ भिक्खवे चारिक बहुजन हिताय बहुजन सुखाय।"

शाकुन्तल के प्रथम अङ्क के सातवें श्लोक मे शिकारी राजा दुष्यन्त के द्वारा पीछा किए जाते हुए हरिण का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। हरिण की स्थिति देख कर निष्ठुर व्यक्ति के मन मे भी करुणा जाग्रत हो सकती है—

"ग्रीवाभङ्गाभिराम मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टि।
पश्चार्द्धेन प्रविष्ट. शरपतनभयाद् भूयसा दत्तदृष्टि॥
दर्भैरर्द्धावलीढै: श्रमविवृतमुख भ्रशिभि कीर्णवर्त्मा।
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतर स्तोकमुर्व्या प्रयाति॥"

अर्थात् देखो, पीछे दौडते हुए रथ पर पुन पुन. गर्दन मोड कर दृष्टि डालता हुआ, बाण लगने के भय के कारण (अपने) अधिकाश पिछले अर्द्धभाग से अगले भाग मे सिमटा हुआ, थकावट के कारण खुले हुए मुख से अर्द्धचर्वित कुशो से मार्ग को व्याप्त करता हुआ ऊँची छलांग भरने के कारण आकाश मे अधिक और पृथ्वी पर कम चल रहा है।

राजा को आश्रम के मृग पर प्रहार करने को उद्यत देख कर तपस्वी कहता है—'राजन्, आश्रममृगोऽय न हन्तव्यो न हन्तव्य' अर्थात् यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारिए। इस कोमल मृग शरीर पर रुई के ढेर पर अग्नि के समान यह बाण न चलाइए, न चलाइए। हाय! बेचारे हरिणों का अत्यन्त चञ्चल जीवन कहाँ और तीक्ष्ण प्रहार करने वाले वज्र के समान कठोर आपके बाण कहाँ।[2]

शास्त्रों की उपयोगिता केवल दुःखी प्राणियों की रक्षा के लिए है, निरपराध पर प्रहार करने के लिए नहीं है।[3] आश्रम में सब प्रकार की हिंसा का निषेध है, अत उसका पुण्याश्रम नाम सार्थक है। ऐसे पुण्याश्रम के दर्शन से ही व्यक्ति पवित्र हो जाता है।[4] पशुपक्षी भी ऐसे स्थान पर विश्वस्त होकर रहते हैं, और सब प्रकार शब्दो के प्रति सहिष्णु हो जाते हैं।[5] रक्षा के कार्य मे राजा का सबसे बड़ा योग होना है अत तप का सचय प्रतिदिन करने के

कारण सबसे बडा योग होता है अत: तप का सचार प्रति दिन करने के कारण सबसे बडा योग होता है अत: तप का सचार प्रतिदिन करने के कारण राजा राजर्षि कहलाता है—

रक्षायोगादयमपि तप: प्रत्यहसञ्चिनोति।
अस्यापि द्या स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीत:
पुण्य: शब्दो मुनिरिति मुहु केवल राजपूर्व.॥
—अभि० शाकु० २।१४

अहिंसक भावना से ओत-प्रोत स्नेह का पशुपक्षियो और वृक्षो पर प्रभाव पडता है। वे भी अपने स्नेही के वियोग मे कातर हो जाते है। शकुन्तला के वियोग मे पशुपक्षियों की ऐसी ही दशा का चित्रण कालिदास ने किया है—

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ॥
—अभि० शाकु० ।१२

अर्थात् शकुन्तला के वियोग के कारण हरिणिओं ने कुशो के ग्रास उगल दिए, मोरो ने नाचना छोड दिया और लताये मानो आंसू बहा रही है।

शकुन्तला के द्वारा पुत्र के रूप में पाला गया मृग इतना सवेदनशील है कि शकुन्तला की विदाई के समय वह उसका मार्ग ही नही छोड़ता है—

यस्य त्वया व्रणविरोपर्णमिंगुदीना।
तैल न्यषिच्यत् मुखे कुशसूचिविद्धे॥
श्यामाकमुष्टिपरिवर्द्धित को जहाति।
सोऽय न पुत्रकृतक. पदवी मृगस्ते॥
—अभि० शाकु० ४।१४

अर्थात् जिसके कुशो के अग्रभाग से बिंधे हुए मुख में तुम्हारे द्वारा घावो को भर ने वाला इंगुदी का तेल लगाया गया था, वही यह सावाँकी मुट्ठियों (ग्रासों) को खिला कर बड़ा किया गया और तुम्हारे द्वारा पुत्र के समान पाला गया मृग तुम्हारे मार्ग को नही छोड रहा है।

जीवन मे अहिंसा की भावना सर्वोपरि है। जिसके जीवन मे अहिंसक आचरण नही है। उसका लोकनिन्दित जीविका वाले व्यक्ति भी परिहास करते हैं। शाकुन्तल के छठे अक मे जब श्याल मत्स्योपजीवी की हँसी उड़ाता है, तब वह अनुकम्पा मृदु श्रोत्रिय का उदाहरण देकर अपने जीविकोपार्जन की पद्धति का औचित्य सिद्ध करना चाहता है—

शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणी अए।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदु एव शोत्तिए॥
—अभि० शाकु० ६।१

अर्थात् निन्दित भी जो काम वस्तुत वशपरम्परागत है, उसको नही छोडना चाहिए। (यज्ञ मे पशुओं को मारने रूपी कार्य मे कठोरवृत्ति वाले भी वेदपाठी ब्राह्मण दयाभाव मे मृदु ही कहे जाते हैं।

ऐसा लगता है, कालिदास के समय यज्ञों मे जो पशु हिंसा होती थी, उसे जन सामान्य अच्छा नही समझता था। छठे अङ्क मे ही जब राजा मातलि का स्वागत करता है तो विदूषक कहता है—'अह जेण इट्ठिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि' अर्थात् जिसने मुझे यज्ञिय पशु की मार मारा है, उसका यह स्वागत के द्वारा अभिनन्दन कर रहे हैं।

जहाँ अहिंसा और प्रेम होता है, वहाँ विश्वास की भावना प्रबल होती है। छठे अङ्क में चित्रकारी के नैपुण्य की पराकाष्ठा को प्राप्त एक कृति बनाना चाहता है—

कार्यासैकतलीन हसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरो पावना:॥
शाखालम्बितवल्कनस्य च तरोर्निमातुमिच्छाम्यध.।
श्रङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूमानां मृगीम्॥—६।१७

जिसके रेतीले किनारे पर हसो के जोड़े बैठे हुए है, ऐसी मालिनी नदी बनानी है, उसके दोनो ओर जिन पर हिरण बैठे हुए हैं ऐसे हिमालय की पवित्र पहाड़ियाँ बनानी है जिनकी शाखाओ पर वल्कल लटके हुए हैं, ऐसे वृक्ष के नीचे कृष्ण मृग के सीग पर अपनी बाई आँख खुजाती हुई मृगी को बनाना चाहता हूं।

हसमिथुन प्रेम का प्रतीक है। प्रेम की अवतारणा कृष्णमृग और मृगी मे हुई है। मृगी को मृग पर इतना अगाध विश्वास और प्रेम है कि वह उस के सीग पर अपनी बाईं आंख खुजला रही है।

इस प्रकार सारी प्राकृतिक सृष्टि के प्रति सवेदनशील महाकवि कालिदास ने अपने सुकुमार भावों की व्यंजना में अहिंसा को पर्याप्त स्थान दिया है।

(शेष पृष्ठ ६ पर)

नियमसार की ५३वीं गाथा की व्याख्या और अर्थ में भूल

□ डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य, वाराणसी

आचार्य कुन्दकुन्द का नियमसार जैन परम्परा मे उसी प्रकार विश्रुत और प्रसिद्ध प्राकृत ग्रन्थ है जिस प्रकार उनका समयसार है। दोनो ग्रन्थो का पठन-पाठन और स्वाध्याय सर्वाधिक है। ये दोनों ग्रन्थ मूलत आध्यात्मिक है। हाँ, समयसार जहाँ पूर्णतया आध्यात्मिक है वहाँ नियमसार आध्यात्मिक के साथ तत्त्वज्ञान प्ररूपक भी है।

समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय इन तीन पर आचार्य अमृतचन्द्र की सस्कृत-टीकाएँ है, जो बहुत ही दुरूह एव दुरवगाह है। किन्तु तत्त्वस्पर्शी और मूलकार आचार्य कुन्दकुन्द के अभिप्राय को पूर्णतया अभिव्यक्त करने वाली तथा विद्वज्जनानन्दिनी है। नियमसार पर उनकी सस्कृत टीका नही है, जब कि उस पर भी उनकी सस्कृत-टीका होना चाहिए, यह विचारणीय है।

नियमसार पर पद्मप्रभमलधारि देव की सस्कृत-व्याख्या है, जिसमे उन्होने उसकी गाथाओ की सस्कृत गद्य व्याख्या तो दी ही है। साथ मे अपने और दूसरे ग्रन्थकारो के प्रचुर सस्कृत-पद्यो को भी इसमे दिया है। उनकी यह व्याख्या अमृतचन्द्र जैसी गहन तो नही है, किन्तु अभिप्रेत के समर्थन मे उपयुक्त है ही।

किसी प्रसग से हम नियमसार की ५३वी गाथा और उसकी व्याख्या देख रहे थे। जब हमारी दृष्टि नियमसार की ५३वी गाथा और उसकी व्याख्या पर गयी, तो हमे प्रतीत हुआ कि उक्त गाथा की व्याख्या करने मे उन्होने बहुत बड़ी सैद्धान्तिक भूल की है। श्री कानजी स्वामी भी उनकी इस भूल को नही जान पाये और व्याख्या के अनुसार उन्होने उक्त गाथा के प्रवचन किये। सोनगढ़ और अब जयपुर से प्रकाशित आत्मधर्म मे दिये स्वामी जी के उन प्रवचनो को भी उसी भूल के साथ प्रकट किया गया है। सम्पादक डॉ० हुकुमचन्द जी भारिल्ल ने भी उसका सशोधन नही किया। आश्चर्य यह है कि सोनगढ़ से प्रकाशित नियमसार व उसकी सस्कृत-व्याख्या का हिन्दी अनुवाद भी अनुवादक श्री मगनलाल जैन ने वैसा ही भूलभरा किया है।

यहाँ हम उसे स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते है, जिससे उक्त भूल सुधारी जा सके और उस भूल की गलत परम्परा आगे न चले। नियमसार की वह ५३वी गाथा और टीकाकार पद्मप्रभमल धारिदेव द्वारा प्रस्तुत उसकी टीका निम्न प्रकार है—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतर हेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

'अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतराग-सर्वज्ञमुखकमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादनपदार्थ-समर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति। ये मुमुक्षव· तेऽप्युपचारत. निर्णयहेतुत्वात् अन्तरङ्गहेतव इत्युक्ता दर्शनमोहनीयकर्मक्षय-प्रभृते· सकाशादिति।'

- टीका पृ० १०६, सोनगढ़ सं०

गाथा और उसकी इस सस्कृत-व्याख्या का हिन्दी अनुवाद, जो प० हिम्मतलाल जेठालाल शाह के गुजराती अनुवाद का अक्षरश रूपान्तर है, श्री मगनलाल जैन ने इस प्रकार दिया है—

'सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है जिन सूत्र के जानने वाले पुरुषों को (सम्यक्त्व के) अन्तरग हेतु कहे हैं, क्योकि उनको दर्शन मोह के क्षयादिक हैं।' (गाथार्थ)। इस सम्यक्त्व परिणाम का बाह्यसहकारी कारण वीतराग सर्वज्ञ के मुख कमल से निकला हुआ समस्त वस्तु के प्रतिपादन मे समर्थ द्रव्यश्रुत रूप तत्त्वज्ञान ही है। जो मुमुक्षु हैं उन्हें भी उपचार से पदार्थ निर्णय के हेतुपने के कारण (सम्यक्त्व परिणाम के) अन्तरंग हेतु कहेहैं, क्योंकि उन्हें दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं।'

इस गाथा (५३) के गुजराती पद्यानुवाद का हिन्दी

पद्यानुवाद श्री मगनलाल जैन ने दिया है, जो निम्न प्रकार है—

जिन सूत्र समकित हेतु है, अरु सूत्रज्ञाता पुरुष जो।
वह जान अन्तर्हेतु जिसके दर्शमोहक्षयादि हो ॥५३॥

श्रीकान जी स्वामी ने भी गाथा और टीका का ऐसा ही प्रवचन किया है, जो आत्मधर्म मे भी प्रकाशित है।

किन्तु टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा की गयी उक्त (५३वी) गाथा की सस्कृत-टीका, दोनों (गाथा और सस्कृत-टीका) का हिन्दी अनुवाद और जिस गुजराती अनुवाद पर से वह किया गया है वह तथा स्वामी जी के उन (गाथा और संस्कृत-टीका) दोनो पर किये गये प्रवचन न मूलकार आचार्य कुन्दकुन्द के आशयानुसार है और न सिद्धान्त के अनुकूल है।

यथार्थ मे इस गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन के बाह्य और अन्तरग दो निमित्त कारणों का प्रतिपादन किया है। उन्होने कहा है कि सम्यक्त्व का निमित्त (बाह्य) जिनसूत्र और जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुष है तथा अन्तरग हेतु (अभ्यन्तर निमित्त) दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय आदि है। यहाँ '**पहुदी—प्रभृति**' शब्द प्रथमा विभक्ति के बहु-वचन—'**प्रभृतयः**' का रूप है। पंचमी विभस्ति—'**प्रभृतेः**' का रूप नही है, जैसा कि सस्कृत-व्याख्याकार पद्मप्रभमल-धारिदेव और उनके अनुसर्त्ताओ (श्री कानजी स्वामी, गुजराती अनुवादक पं० हिम्मतलाल जेठालालशाह तथा हिन्दी अनुवादक श्री मगनलाल आदि) ने समझा है। 'प्रभृति' शब्द से आचार्य कुन्दकुन्द को दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम और उपशम का ग्रहण अभिप्रेत है, क्योंकि वह दर्शन मोहनीय के क्षय के साथ है, जो कण्ठतः उक्त है। और इस प्रकार क्षायिक, क्षयोपशमिक और औपशमिक इन तीनो सम्यक्त्वो का अन्तरंग निमित्त क्रमश दर्शन-मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम और उपशम है। अतएव 'पहुदी' शब्द प्रथमा विभक्ति का बहुवचनान्त है, पचमी विभक्ति का नहीं।

सिद्धान्त भी यही है। आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि (१-७ मे तत्त्वार्थ सूत्र के 'निर्देश स्वामित्व साधन···' आदि सूत्र (१-७) की व्याख्या करते हुए सम्यग्दर्शन के बाह्य और अभ्यन्तर दो साधन बतला कर बाह्य साधन तो चारों गतियो मे विभिन्न प्रतिपादन किये है। परन्तु अभ्यन्तर साधन सभी गतियों में दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम बतलाया है। यथा—

'साधन द्विविध अभ्यन्तर बाह्य च। अभ्यन्तर दर्शन-मोहस्योपशम क्षय क्षयोपशमो वा। बाह्य नारकाणा प्राक्चतुर्थ्या सम्यग्दर्शनस्य साधन केषाञ्चिज्जातिस्मरणं केषाञ्चिद्धर्मश्रवण केषाञ्चिद्वेदनाभिभवः। चतुर्थीमारभ्य आ सप्तम्या नारकाणा जातिस्मरण वेदनाभिभवश्च। तिरश्चा केषाञ्चिज्जातिस्मरण केषाञ्चिद्धर्मश्रवण केषा-ञ्चिज्जिनविम्बदर्शनम्। मनुष्याणामपि तथैव।···'

—स० सि० पृ० २६१

आचार्य अकलकदेव ने भी तत्त्वार्थवार्त्तिक (१-७) मे लिखा है कि **दर्शनमोहोपशमादिसाधनम्, बाह्यं चोपदे-देशादि, स्वात्मा वा।**'—अर्थात् सम्यक्त्व का अभ्यन्तर साधन दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है तथा बाह्य साधन उपदेशादि है और उपादानकारण स्वात्मा है।

इन दो आचार्यों के निरूपणो से प्रकट है कि सम्यक्त्व का अभ्यन्तर (अन्तरग) निमित्त दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम और उपशम है। जिन सूत्र के ज्ञाता पुरुष सम्यक्त्व के अभ्यन्तर निमित्त (हेतु) नही है। **वास्तव में जिन सूत्र ज्ञाता पुरुष जिन सूत्र की तरह एकदम पर (भिन्न) हैं। वे अन्तरंग हेतु उपचार से भी कदापि नहीं हो सकते।** क्षायिक सम्यग्दर्शन केवली या श्रुतकेवली के पाद-सान्निध्य मे होने का जो सिद्धान्त शास्त्र मे कथन है उसी को लक्ष्य मे रख कर गाथा मे जिन सूत्र के ज्ञाता पुरुषो (श्रुतकेवलियों) को सम्यक्त्व का बाह्य निमित्त कारण कहा गया है। उन्हें अन्तरग कारण कहना या बतलाना सिद्धान्त-विरुद्ध है। उनमे दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिका सम्बन्ध जोड़ना भी गलत है। वस्तुत. सम्यक्त्व के उन्मुख जीव में ही दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम या उपशम होना जरूरी है; अतएव वह उसके सम्यक्त्व का अन्तरंग हेतु है और जिन सूत्र श्रवण या उसके ज्ञाता पुरुषों का सान्निध्य बाह्य निमित्त है।

कुन्दकुन्द भारती के संकलयिता एवं सम्पादक डॉ० पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने भी नियमसार की उक्त

(५३वीं) गाथा का वही अर्थ किया है, जो हमने ऊपर प्रदर्शित किया है। उन्होंने लिखा है कि 'सम्यक्त्व का बाह्य निमित्त जिनसूत्र-जिनागम और उसके ज्ञायक पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय आदि कहा गया है।' इसका भावार्थ भी उन्होंने दिया है। वह भी दृष्टव्य है। उसमे लिखा है कि 'निमित्तकारण के दो भेद हैं—१. बहिरंगनिमित्तऔर २. अन्तरगनिमित्त। साम्यक्त्व की उत्पत्तिका बहिरगनिमित्त जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरगनिमित्त दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति एव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन प्रकृतियो का उपशम, क्षय और क्षयोपशम का होना है। बहिरग निमित्त के मिलने पर कार्य की सिद्धि होती भी है और नही भी होती, परन्तु अन्तरङ्ग निमित्त के मिलने पर कार्य की सिद्धि नियम से होती है ॥५३॥', पृ० २०।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि नियमसार के संस्कृत-टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने उल्लिखित गाथा की व्याख्या में जिन सूत्र के ज्ञाता पुरुषो को सम्यक्त्व का उपचार से अन्तरग हेतु बतला कर तथा उनसे दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक का सम्बन्ध जोड़ कर महान् सैद्धान्तिक भूल की है। उसी भूल का अनुसरण सोनगढ ने किया है। पता नही इस भूल की परम्परा कब तक चलेगी! लगता है कि श्री कान जी स्वामी ने पद्मप्रभमलधारिदेव की इस गाथा (५३) की संस्कृत-व्याख्या पर ध्यान नही दिया। इसी से उनकी व्याख्या के अनुसार गाथा और व्याख्या के उन्होने गलत प्रवचन किये तथा गुजराती और हिन्दी अनुवादकों ने भी उनका अनुवाद वैसा ही भूलभरा किया।

आशा है इन भूलो का परिमार्जन किया जायेगा तथा गलत परम्परा पर चलने से बचा जावेगा।

□□

सम्बोधन

अनादि-निधन धर्म की सीमितकालीन प्राचीनता सिद्ध करने में कौन-सा सार है? बहुत हो चुका पाषाण और शिलाखण्डों का अन्वेषण। अब ऐसे व्यावहारिक शोध-प्रबंध एवं लेखादि का लेखन भी पिष्ट-पेषण ही होगा—इनका भी प्रभूत भण्डार हो चुका है।

अब तो जैन भूगोल पर शोध को आवश्यकता है आध्यात्मिक और व्यावहारिक विषयों को अन्तरंग में उतारने को आवश्यकता है—जिनकी ओर से लोग आँख मूंद रहे हैं और वे भक्ष्याभक्ष्य, आचार, व्यवहार तथा देवशास्त्र गुरु की श्रद्धा से विमुख होकर पतन के कगार पर खड़े है। आज तो लोग धार्मिक सभा-सोसायटियों तक में मारपीट पर उतारू होते देखे जाते हैं—उनके सुधार पर थीसिस होने चाहिए।

धर्माचार बिना मनुष्य, पशुतुल्य है। धर्माचार अन्तरंग शुद्धि के लिए अभ्यास है। इसलिए धर्माचार की प्रेरणा के लिए—मद्य, माँस, मधु, अण्डा आदि तथा रात्रि भोजन और अनछने जल से हानियाँ दर्शाने वाले व हिंसादि पापों, सप्त व्यसनों आदि से विरक्ति दिलाने वाले विषयों पर वैज्ञानिक और सैद्धान्तिक, आकर्षक शोध-प्रबंधों की ओर प्रयत्नशील होना चाहिए।

गतांक से आगे—

अपभ्रंश काव्यों में सामाजिक-चित्रण

□ डा० राजाराम जैन, रीडर एवं अध्यक्ष—संस्कृत प्राकृत विभाग, आरा

स्वयंवर प्रथा :

सुलोचना का स्वयंवर रचाया जाता है जिसमें देश-देश के राजकुमार आशाओं के तान-वितान बिनते हुए स्वयंवर मण्डप मे आते हैं। जब राजकुमारी अपने अमात्य के साथ मण्डप मे आती है तब उसके अप्रतिम सौन्दर्य को देख कर सभी राजा आशा एवं निराश के समुद्र मे डूबने उतराने लगते हैं। प्रस्तोता द्वारा परिचय प्राप्त करती हुई सुलोचना अन्त मे सेनापति मेघेश्वर के गले मे वरमाला डाल देती है।[1] स्वयम्बर का यह वर्णन कालिदास के इन्दुमति-स्वयंवर से पूर्णतया प्रभावित है ?

समस्या-पूर्ति-परम्परा :

अपभ्रंश-साहित्य मे समस्या-पूर्ति के रूप मे कुछ गाथाए उपलब्ध होती है इनके प्रयोग राज दरबारो या सामान्य-कक्षो मे होते थे। इनका रूप प्राय. वही था जो आजकल के 'इण्टरव्यू' का है। व्यक्ति के बाह्य-परीक्षण के तो अनेक माध्यम थे, किन्तु चतुराई, प्रतिमा, आशुकवित्व प्रश्न के तत्काल उत्तर-स्वरूप आशुप्रतिमा आदि के परीक्षणार्थ समस्यापूर्ति के पद्यो से व्यक्ति के स्वभाव, विचारधारा उसकी कुलीनता एव वातावरण का भी सहज अनुमान हो जाता था।

'सिरिवाल चरिउ' में एक प्रसंग आया[2] है जिसके अनुसार कोंकणणापट्टन नरेश यशराशि को १६०० राजकुमारियों मे से ८ हठीली एवं गर्वीली राजकुमारियो ने प्रतिज्ञा की थी कि वे ऐसे व्यक्ति के साथ अपना विवाह करेंगी जो उनकी समस्याओं की पूर्ति गाथा छन्द में करेगा। उनकी यह भी शर्त थी कि जो भी प्रतियोगी उनके उत्तर नही दे सकेगा, उसे शूली पर चढ़ा दिया जायगा फलस्वरूप हीनबुद्धि व्यक्तियों ने तो उसमें भाग लेने का साहस ही न किया और जो भी प्रतियोगी अपनी हेठी बांधकर भाग लेने आए उन्हें हार कर शूली पर झूलना पडा। श्रीपाल ने जब यह सुना तो वह भी अपना भाग्य अजमाने चल पड़ता है। राज-दरबार मे सर्वप्रथम राजकुमारी सुवर्ण देवी उससे निम्न समस्या की पूर्ति के लिये कहती है—

१. समस्या—गउ पेक्खतहु सव्वु

पूर्ति—जोव्वण विज्जा मपयहं किज्जइ किंपि ण गव्वु।
जम रुट्टइ णट्ठि एहु जमु गउ पेक्खतहु सव्वु॥

अर्थात् यौवन, विद्या, एव सम्पत्ति पर कभी भी गर्व नही करना चाहिए क्योकि इस समार मे जब यमराज रूठ जाता है तब 'सब कुछ देखते ही देखते चला' जाता है।

२. समस्या—ते पचाणणसीह।

पूर्ति—रज्जु-मोउ-महि-घरिणि-धरु भव-भमणहु रणिरीह।
जें छडेवि बरतउ करहि ते पचाणिण सीह॥

अर्थात् राज्यभोग, पृथ्वी, गृहिणी एव भवन इन्हे भव-भ्रमण का कारण जान कर जो व्यक्ति उनका त्याग कर देते है तथा श्रेष्ठ तप का आचरण करते है 'उनकी आत्मा पंचाग्नि-शिखा के समान निर्मल हो जाती है।'

३. समस्या—तहु कच्चरु सुमट्ठि।

पूर्ति—जेहिं ण लद्धउ अप्पगुणु तह विसयहं सुहइट्ठु।
जेहि ण मक्खिउ केलिफलु तहु कच्चरु सुमिट्ठ॥

अर्थात् जिसने आत्मगुण नही किया, वह विषय-वासना के सुखो को ही सुख मानता है। जिसने कभी भी केला नही खाया हो उसे 'कचरा भी मीठा लगता है।

४. समस्या—कासु पियावउ खीरु।

पूर्ति—पज्जणु वि छट्ठी निसिहिं हरिणियउ जा वीरु।
ता रुप्पिणि सहियह मणइ कासु पियावउ खीरु॥

---

१. मेहेसर चरिउ—४।१०।

२. मिरिवालचरिउ—८।६।१-८।

अर्थात् अपनी छट्ठी की रात्रि मे ही एक विद्याधर द्वारा प्रद्युम्न का अपहरण कर लिया गया। इसीलिए रुक्मिणी अपनी सखियों से कहती है कि मैं 'अपना स्तनपान किसे कराऊँ ?'

५. समस्या—काइ विटतउ तेण

पूर्ति—घरहु तेणजि पवरघणु दाणु न दिण्णउ तेन।
लोह मरि नरयहं गयउ काइ विटत्तउ तेण॥

अर्थात् प्रचुर धनार्जन करके घर तो भर लिया किन्तु **दान नही दिया और** लोभ के कारण नरक मे जा पडा। तब 'ऐसे धनार्जन से लाभ ही क्या ?

६. समस्या—पुण्ण लब्भइ एहु॥

पूर्ति—विज्जा-जोवण-रूव-धणु-परियणु कय णेहु।
वल्लहजण मेलावउ पुण्णे लब्भइ एहु॥

अर्थात् संसार मे विद्या यौवन, सौन्दर्य, धन, भवन, **परिजनो का** स्नेह एव प्रियजनों का संयोग पुण्य से ही **प्राप्त होता है।**

उक्त समस्यापूर्तियो मे पौराणिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एव लौकिक सभी प्रकार के प्रसग आए है। श्रीपाल अपने शिक्षा काल मे गुरु चरणो मे बैठ कर सभी विद्याओ में पारंगत हो चुका था अत राजदरबार के इस साक्षात्कार मे वह उत्तीर्ण हो गया और उन हठीली एव गर्वीली राजकुमारियो को जीन लिया।

जामाताओं का ससुराल में निवास :

जामाताओ के लिये ससुराल का सुख सर्वाधिक सन्तुष्टि का कारण होता है क्योंकि वहा सालि-सालियो के साथ प्रेमालाप, मधुर मिष्ठान, एव सभी प्रकार के सम्मान सहज ही उपलब्ध रहते है। अत अपभ्रंश काव्यो मे अनेक जामाता विवाहोपरान्त कुछ समय के लिये ससुराल मे रहते हुए देखे जाते है। श्रीपाल भी अपनी ससुराल मे जब कुछ दिन रह लेता है तब एक दिन अर्धरात्रि के समय उसकी नीद खुल जाती है और विचार करने लगता है कि मैं ससुराल मे पड़ा हुआ हूँ। यहा लोग मुझे 'राज जवाई' कहते हैं। न तो मेरा कोई नाम एव शौर्य-पराक्रम ही जानता है और न मेरे पराक्रमी पिता तथा उनके साम्राज्य के विषय में ही किसी को कोई जानकारी है। यह तो मेरा बडा भारी अपमान है। अत अब तत्काल यहां से चल देना चाहिए।[1] यह विचार कर वह अगले दिन ही सबसे आज्ञा लेकर चल देता है।

बेटी की विदा :

विवाह के बाद बेटी की विदा माता-पिता के जीवन की सर्वाधिक मार्मिक एवं करुण घटना है। भारतीय समाज मे बेटी का जन्म प्रारम्भ से ही उसके माता-पिता के लिये एक बडी भारी धरोहर के रूप मे माना जाता रहा है। एक ओर तो उन्हें सुयोग्य विवाह-सम्बन्ध के हो जाने तथा पुत्री के स्वर्णिम भविष्य की कल्पना से आल्हाद उत्पन्न होता था, तो दूसरी ओर विवाहोपरान्त विदा करते समय उसके बिछोह का असहनीय दुःख भी होता है। किन्तु यह एक ऐसा सामाजिक नियम है कि जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। अपभ्रंश-कवियो ने इस प्रसग को बडा ही करुणाजनक बनाया है। मेहेसर चरिउ के एक प्रसग में अपनी बेटो की विदा के समय राजा अकम्पन का सारा परिवार एवं नगर शौकाकुल हो जाता है। पिता उसे अवरुद्ध कण्ठ से शिक्षाए देता हुआ कहता है—"हे पुत्रि, अपना शील उज्ज्वल रखना, पति के प्रतिकूल कोई भी कार्य मत करना। कडुए एव कठोर वचन मत बोलना, सास ससुर को ही अपना माता-पिता मान कर विनय करना, गुरुजनो को प्रत्युत्तर मत देना, सभी से हसी-मजाक मत करना। घर मे सभी को सुला कर सोना एवं सबसे पहले जाग उठना। बिना परीक्षण किए कोई भी कार्य मत करना। ऐसा भी कोई कार्य मत करना, जिससे मुझे अपयश का भागी होना पडे।"

फिर वह अपने जामाता से कहता है—"हमारे ऊपर स्नेहकृपा बनाये रखना तथा समय-समय पर आते-जाते बने रहना। अपनी बेटी सुलोचना तुम्हारे हाथो मे सौप दी हैं अत अब उसका निर्वाह करना। राजा उसके आगे भी कुछ कहना चाहता था, किन्तु उसका गला रुध गया, वाणी मूक हो गई और आसुओ के पनारे बहने लगे, फलस्वरूप वह बेचारा आगे कुछ भी न कह सका।[2]

परिवार में पुत्र का महत्व :

भारतीय सामाजिक-परिवार मे पुत्र का स्थान पूर्ण

१. सिरिवाल चरिउ—५।१।

२. मेहेसर चरिउ – ७।८-९।

उत्तरदायित्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि नवीन पीढी का वह कर्णधार होता है। आचार-सहिता के अनुसार पिता को दीक्षा लेने का अधिकार उस समय तक नही रहता जब तक कि उसे पुत्र प्राप्ति न हो जाय। 'सुक्कोमल चरिउ मे बताया गया है कि अयोध्या को राजा कीर्तिधवल जिस समय संसार से उदास होकर सन्यास लेने का विचार करता है तभी उसका सुबुद्ध मन्त्री उसे सविधान का स्मरण दिलाता है तथा कहता है कि राजन् यह आपके कुल की परम्परा रही है कि जब तक उत्तराधिकारी पुत्र का जन्म न हो जाय तब तक किसी ने सन्यास नही लिया।"[1]

अपभ्रंश काव्यों मे पुत्र-महिमा का गान कई स्थलों पर किया गया है। 'मेहेसर चरिउ मे एक प्रसग मे कहा गया है कि—"पुत्र अपने कुलरूपी मन्दिर का दीपक है, वह अपने परिवार का जीवन है, कुल की प्रगति का द्योतक है, परिजनों की आशा-अभिलाषाओ की साकार प्रतिमा हैं, कुल के भरण-पोषण के लिये वह कल्पवृक्ष के समान है और वृद्धावस्था में वह माता-पिता को हर प्रकार के संकटो से बचाने वाला है।"[2]

'सुकौसल चरिउ' मे एक अद्भुत उदाहरण भी मिलता है। जब राजा सुकौशल ससार से उदास होकर सन्यास लेने का विचार करता है तब पुत्रजन्म के अभाव मे उसको सम्मुख भी राज्य छोड़ने सम्बन्धी बाधा उपस्थित हुई। संयोग से उसकी तीस रानियों मे से चित्रमाला नाम की एक रानी, गर्भवती थी अत: वह उसके गर्भस्थ बच्चे को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर तथा उसे नृपपट्ट बांध कर स्वयं वनवास धारण कर लेता है।[3]

समाज में कवियों को आश्रयदान :

अपभ्रंश-साहित्य के निर्माण का अधिकाश श्रेय-श्रेष्ठियों, राजाओं अथवा सामन्तों को है। मध्यकालीन श्रेष्ठि वर्ग एव सामन्त गणराज्य के आर्थिक एव राजनीतिक विकास के मूल कारण होने के कारण राज्य में सम्मानित एव प्रभावशाली स्थान बनाये हुए थे। समय-समय पर इन्होने साहित्यकारो को प्रेरणाएं एव आश्रयदान देकर साहित्य की बड़ी सेवाएं की हैं।

इन आश्रयदाताओं की अभिरुचि बड़ी सात्विक एवं परिष्कृत रूप में पाई जाती है। भौतिक समृद्धियों एवं भोग-विलास के ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण में रह कर भी वे धर्म, समाज, राष्ट्र साहित्य एवं साहित्यकारों के प्रति अपने दायित्व को विस्मृत नही करते। महामात्य भरत, उनके पुत्र नन्न एव कमल सिंह सघवी प्रभृति आश्रयदाता इसी कोटि मे आते है।

णायकुमार चरिउ एव जहसर चरिउ तथा तिसट्ठि-पुरिसगुणालकारु जैसे शिरोमणि काव्यो के प्रणेता महाकवि पुष्पदन्त 'अभिमानमेरु' अभिमानचिह्न काव्यपिशाच जैसे गर्वीले विशेषणो से विभूषित थे। उनकी ज्ञान-गरिमा को देखते हुए सचमुच ही वे विशेषण सार्थक प्रतीत होते है। उनका साहित्यिक अभिमान एव स्वाभिमान विश्व-वाङ्मय के इतिहास मे अनुपम है। किसी के द्वारा अपमान किये जाने पर उस वाग्विभूति ने तत्काल ही अपना राजसी-निवास त्याग दिया और वन मे डेरा डाल दिया। वहाँ अम्मइ और इन्द्र नामक पुरुषो द्वारा पूछे जाने पर उन्होने कहा था—"गिरिकन्दराओ मे घास खाकर रह जाना अच्छा, किन्तु दुर्जनो की टेढीमेढ़ी भौंहें सहना अच्छा नही। माता की कोख से जन्मते ही मर जाना अच्छा, किन्तु किसी राजा के भ्रूकुंचित नेत्र देखना और उसके कुबचन सुनना अच्छा नही, क्योकि राजलक्ष्मी ढुरते हुए चवरो की हवा से सारे गुणो को उडा देती है, अभिषेक के जल से सारे गुणों को धो डालती है, विवेकहीन बना देती है और दर्प से फूली रहती है। इसीलिये मैंने इस वन मे शरण ली है।"[4]

राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज (तृतीय) के महामन्त्री भरत कवि के ज्वालामयी स्वभाव को जानता था और फिर भी वह उन्हे मान कर अपने घर ले आया और सभी प्रकार का सम्मान एवं आश्वासन देकर साहित्य-रचना की ओर उन्हें प्रेरित किया। तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकारु' के प्रथम भाग की समाप्ति क बाद कवि पुन: खेद खिन्न हो गया तब भरत ने पुन: कवि से निवेदन किया—हे महाकवि, आप खेद खिन्न क्यों हैं? क्या काव्य-रचना मे मन नहीं लगता? अथवा मुझसे कोई अपराध बन पड़ा है? या क्या

१. सुकोसल०—३।१८।
२. मेहेसरचरिउ—२।८।१-३।
३. सुकोसल०—४।७।
४. महापुराण—१।३।४-१५।

है फिर आप सिद्ध वाणी रूपी धेनु का नवरसक्षीर क्यों नही करते ?[1] भरत के इस मृदुशील भाषण एव विनयशील स्वभाव के द्वारा फक्कड एव अक्खड महाकवि बडा प्रभावित हुआ और बडी ही आत्मीयता के साथ भरत से बोला —"मैं धन को तिनके के समान गिनता हू, मैं उसे नही लेता। मैं तो केवल अकारण प्रेम का भूखा हू और इसी से तुम्हारे राजमहल मे रुका हू।[2] इतना ही नही, कवि ने पुन उसके विषय मे लिखा है—"भरतस्वय सन्तजनो की तरह सात्विक जीवन व्यतीत करता है, वह विद्या-व्यसनी है उसका निवास स्थान संगीत, काव्य एव गोष्ठियो का केन्द्र बन गया है। उसके यहां लिपिक ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ किया करते हैं। उसमे लक्ष्मी एव सरस्वती का अपूर्ण समन्वय है।"[3]

कमल सिंह सघवी गोपाचल के तोमरवशी राजा डूगरसिंह का महामात्य था। उसकी इच्छा थी कि वह प्रतिदिन किसी नवीन काव्य-ग्रन्थ का स्वाध्याय किया करे। अत: वह राज्य के महाकवि रइधू से निवेदन करता है कि हे सरस्वती-निलय, शयनासन, हाथी, घोडे, ध्वजा, छत्र चवर, सुन्दर रानिया, रथ, सेना, सोना चादी, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोष, नगर. ग्राम, बन्धु-बान्धव, सन्तान, पुत्र भाई आदि सभी मुझे उपलब्ध है सौभाग्य से किसी भी प्रकार की भौतिक सामग्री की मुझे कमी नही है, किन्तु इतना सब होने पर भी मुझे एक वस्तु का अभाव सदा खटकता रहता है और वह यह, कि मेरे पास काव्यरूपी एक भी सुन्दरमणि नही है। उसके बिना मेरा सारा वैभव फीका-फीका लगता है। अत. हे काव्यरत्नाकर, आप तो मेरे स्नेही बालमित्र है. अत: अपने हृदय की गाठ खोल कर आपसे सच-सच कहता हू, आप कृपा कर मेरे निमित्त से एक काव्य रचना कर मुझे अनुगृहीत कीजिए।"[4]

कवियों का सार्वजनिक सम्मान :

अपभ्र श-काव्य-प्रशस्तियों मे विद्वान्-कवियो के सार्वजनिक सम्मानो की भी कुछ घटनाएं उपलब्ध होती हैं। इनसे सामाजिक अभिरुचियो का पता चलता है। 'सम्मतगुणणिहाण कव्व से विदित होता है कि महाकवि रइघू ने जब अपने उक्त काव्य की रचना समाप्त की और अपने आश्रयदाता कमल सिंह सघवी को समर्पित किया तब कमल सिंह इतने आत्मविभोर हो उठे कि उसे लेकर वे नाचने लगे। इतना ही नही, उन्होने उक्त कृति एव कृतिकार दोनो को ही राज्य के सर्वश्रेष्ठ शुभ्रवर्ण वाले हाथी पर विराजमान कर गाजे-बाजे के साथ सवारी निकाली और उनका सार्वजनिक सम्मान किया था।[5]

इसी प्रकार एक अन्य घटना प्रसग से विदित होता है कि 'पुण्णासवकहा' नामक एक अपभ्र श कृति की परिसमाप्ति पर साहू साधारण को जब धीरदास नामक द्वितीय पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई तब बडी प्रसन्नता के साथ साधारण साहू ने महाकवि रइघू एव उनकी कृति "पुण्णासवकहा' को चौहानवशी नरेश प्रतापरुद्र के राज्यकाल मे चन्द्रवाडपट्टन मे हाथी की सवारी देकर सम्मानित किया था।[6]

व्यक्तियों के नाम रखने की मनोरजक घटना :

अपभ्र श काव्य-प्रशस्तियो मे व्यक्तियो के नाम रखने सम्बन्धी कुछ मनोरजक उदाहरण मिलते हैं। मेहेसर चरिउ नामक एक अप्रकाशित चरितकाव्य के प्रेरक एव आश्रयदाता साहू णेमदास के परिचय-प्रसग मे कहा गया है कि उसके पुत्र ऋषिराम को उस समय पुत्ररत्न की उपलब्धि हुई है जबकि वह पचकल्याणक प्रतिष्ठा के समय जिन-प्रतिमा पर तिलक निकाल रहा था। इसी उपलक्ष्य मे उस नवजात शिशु का नाम तिलकू अथवा तिलकचन्द्र रख दिया गया।[7]

राजनैतिक तथ्य :

अपभ्र श-काव्यो के राजनैतिक अवस्था के जो भी चित्रण हुए है वे सभी राजतन्त्रीय है। कवियो ने सहताग राज्य[8] एव पचाग मन्त्रियो[9] के उल्लेख किये हैं। कौटिल्य के अनुसार दुर्ग. राष्ट्र, खनि सेतु, वन, व्रज एव व्यापार

१. महापुराण—३८।३॥६-१० ।
. महाकवि पुष्पदन्त पृष्ठ ८१ ।
३. उपरोक्त—पृष्ठ ८१ ।
४. सम्मत्तगुण० १।१४ ।
५. सम्मत्तगुण० ६।३४ ।
६. पुण्णासव० १३।१२।२ ।
७. उपरिवत्—१३।११।१३-१४ ।
८. विशेष के लिये दे० रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४८६-९२ ।
९. उपरिवत् ।

'सप्ताग राज्य' कहलाता है। एव कार्यारम्भ का उपाय, पुरुष तथा द्रव्य-सम्पत्ति, देश-काल का विभाव, विघ्न-प्रतिकार एवं कार्यसिद्धि रूप पचांग मन्त्री का होना बताया है कवियो ने इनके विश्लेषण प्रस्तुत नही किये हैं।

दूत :

अपभ्र श-साहित्य मे दूतो के उल्लेख अधिक आए है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उस युग मे युद्धो की भरमार थी और युद्ध के पूर्व दूतो के माध्यम से समस्या सुलझाने का प्रयास किया जाता था। दूतो की असफलता युद्धो के आह्वान की भूमिका बनती थी।

अध्ययन से विदित होता है कि इन कवियों ने प्राय शासनहर नामक दूत के ही अधिक उल्लेख किये है। वह घोडे आदि वाहनो पर सवार होकर शत्रु राज्य की ओर प्रस्थान करता था। उसमे प्रत्युत्पन्नमतित्व का होना अत्यावश्यक था। वह शत्रु देश के वनरक्षक, नगर निवासियो से मित्रता रखता था। शत्रु राजा के दुर्ग राज्यसीमा, आयु और राष्ट्ररक्षा के उपायो से वह सम्यग्रूपेण परिचित रहता था।[१]

राज्य का उत्तराधिकारी :

राज्य के उत्तराधिकारी के निर्वाचन के सम्बन्ध मे स्पष्ट सिद्धान्त नही मिलते। राजतन्त्रीय व्यवस्था मे राजा का बड़ा पुत्र ही राजा का उत्तराधिकारी समझा जाता था। सर्वदा पट्टरानी का पुत्र ही राज्याधिकारी होता था। वयस्क पुत्र के अभाव मे शिशु अथवा गर्भस्थ बालक को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जाता था और उसके योग्य होने तक उसकी माता प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करती थी।[२]

शासन :

राजतन्त्रीय व्यवस्था होने पर भी अमरककापुरी के राजा पद्मनाथ के भ्रष्ट-आचरण निकल जाने पर प्रजा द्वारा राज्यच्युत किये जाने का भी उल्लेख मिलता है।[३] शासन का कार्य यद्यपि राजा ही करता था, किन्तु कभी-कभी उसे जनता की भावना का भी ध्यान रखना पड़ता। भविसयत्तकहा के एक प्रसगानुसार राजा भूपाल जब बन्धुदत्त एव उसके पिता धनपति को कारागार मे डाल देता है तब दूत उसे आकर समाचार देता है—घर-घर मे कार्य बन्द हो गया है, नर-नारी रुदन कर रहे है। बाजार मे लेन-देन ठप्प है तथा आपकी मुद्रा का प्रचलन भी बन्द है? अन्त मे राजा को उसे छोड़ना पडता है।[४]

व्रत-त्यौहार :

व्रत-त्यौहार मानवजीवन की भौतिक एव आध्यात्मिक समृद्धि के प्रतीक है। जीवन को एक रस जन्य विराग एव निराशा से दूर रखने के लिये इनकी महती आवश्यकता है। अपभ्र श-साहित्य मे इनके पर्याप्त उल्लेख मिलते है। ऐसे व्रत त्यौहारो मे करवा चौथ, नागपचमी, गौरीतीज, शीतलाष्टमी, सुगन्ध दशमी, मुक्तावली, निर्दुखसप्तमी, दुग्ध एकादशी आदि व्रतो का नाम उल्लेखनीय है।[५]

इसी प्रकार विशेष अवसरो पर विविध पूजाओ के भी उल्लेख आए है जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार है—गौरीपूजा, गगापूजा, दूर्वादलपूजा, वटवृक्षपूजा, चन्द्रग्रहण पूजा, छठपूजा, द्वादशीपूजा, नन्दीश्वरपूजा, श्री पचमीपूजा, श्रुतपचमी पूजा आदि।[६] (क्रमश)

---

१. उपरिवत्। पृ० ४६१
२. सुकोसल० ४।७।
३. हरिवंस० १२।४।
४. भविसयत्त पृ० ७०, अपभ्रंश भाषा और साहित्य पृ० २७६ से उद्धृत।
५. अप्पसंबोह० २।२५।
६. अप्पसंबोह २।१३।

□□

जैन और यूनानी परमाणुवाद : एक तुलनात्मक विवेचन

□ डा० लालचन्द जैन

जैन-दर्शन के अहिंसावाद, अपरिग्रहवाद, कर्मवाद; अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, अध्यात्मवाद और परमाणुवाद मूलभूत सिद्धान्त हैं। इनमे से कतिपय सिद्धान्तो का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। परमाणुवाद भी इसको अपेक्षा रखता है। परमाणुवाद जैन-दर्शन की भारतीय दर्शन को एक महत्वपूर्ण और अनुपम देन है। विश्व के सामने सर्वप्रथम भारतीय चिन्तकों ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। अब प्रश्न यह उठता है कि भारत मे सर्वप्रथम किस निकाय के मनीषियो ने परमाणु-सिद्धान्त प्रस्तुत किया? जैकोवी ने इस पर गहराई से विचार करके इसका श्रेय जैनमनीषियो को दिया है। इसके बाद वैशेषिक दार्शनिक कणाद इस परम्परा मे आते है।[1]

पाश्चात्य देशो मे जो दार्शनिक विचारधारा उपलब्ध है उसका बीजारोपण सर्वप्रथम यूनान (ग्रीस) मे ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे हुआ था। ग्रीक-दर्शन के प्रारम्भिक दार्शनिको को वैज्ञानिक कहना अधिक उपयुक्त समझा गया है। इनमें एम्पेडोक्लीज के समकालीन ईसा से पूर्व पाचवी शताब्दी मे होने वाले 'ल्यूसीयस' और डिमाक्रिट्स का सिद्धान्त परमाणूवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इनके इस सिद्धान्त की जैनो के परमाणुवाद के साथ तुलना प्रस्तुत की जायेगी ताकि अनेक प्रकार की भ्रांतियो और आशकाओ का निराकरण हो सके।

भगवान ऋषभदेव जैन धर्म-दर्शन के प्रवर्तक सिद्ध हो चुके हैं। जैन-धर्म मे इन्हे तीर्थंकर कहा जाता है। इस प्रकार के तीर्थंकर जैन-धर्म में चौबीस हुए हैं। भगवान महावीर अतिम तीर्थकर थे। ऋषभदेव की परम्परा से प्राप्त जैन धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों को ई० पू० ५४० मे भगवान महावीर ने सशोधित-परिमार्जित करके नये रूप मे प्रस्तुत किया था। तीर्थंकरों के उपदेश जिस पुस्तक मे निबद्ध किये गये वे आगम कहलाते हैं। आगमो मे अन्य सिद्धान्तो की तरह परमाणुवाद अत्यधिक प्राचीन है। जैन वांङ्मय मे परमाणु के स्वरूप भेद आदि का सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध होता है। इस प्रकार विवेचन अन्यत्र अर्थात् भारतीय और पाश्चात्य वांगमय में नही हो सका है।

जैन-दर्शन में परमाणु का स्वरूप-परिभाषाएँ :

परमाणु शब्द 'परम' 'अणु' के मेल से बना है। परमाणु का अर्थ हुआ सबसे उत्कृष्ट सूक्ष्मतम अणु। द्रव्यों मे जिससे छोटा दूसरा द्रव्य नही होता है वह अणु कहलाता है अत. अणु का अर्थ सूक्ष्म है। अणुओ में जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है वह परमाणु कहलाता है। बारहवें अग दृष्टिवाद का दोहन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द के पाहुडों में परमाणु का सर्वप्रथम विवेचन किया है जिसका अनुकरण अन्य आचार्यों ने किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द :

आचार्य कुन्दकुन्द ने परमाणु की निम्नांकित परिभाषा दी है।

(क) परमाणु पुद्गल द्रव्य कहलाता है।[2]

(ख) पुद्गल द्रव्य का वह सबसे छोटा भाग जिसको पुन विभाजित नही किया जा सकता है परमाणु कहलाता है।[3]

(ग) स्कन्धों (छह प्रकार के स्कन्धों) के अंतिम भेद (अर्थात् अति सूक्ष्म-सूक्ष्म को जो शाश्वत, शब्दहीन, एक अविभागी और मूर्तिक परमाणु कहलाता है।[4]

(घ) जो आदेशमात्र से (गुणगुणी के संज्ञादि भेदों से) मूर्त्तिक है, पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार धातुओं का कारण है, परिणमन स्वभाव वाला है, स्वयं अशब्द रूप है, नित्य है, न अनवकाशी है, न सावकाशी है, एक प्रदेशी है, स्कन्धो का कर्त्ता है, काल संख्या का भेद करने वाला है,[5] जिसमे एक रूप, एक रस, एक गंध और दो स्पर्श होते

हैं, शब्द का कारण है स्वय शब्दरहित है, और स्कन्धों से जो भिन्न द्रव्य है वह परमाणु कहलाता है।[६]

(ङ) जो स्वयं ही आदि है, स्वयं ही अत है, चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा जिसे नहीं ग्रहण किया जा सकता है और जो अविभागी है, वह परमाणु कहलाता है।[७]

(च) जो पृथ्वी आदि चार धातुओ का कारण है वह कारण परमाणु और जो स्कन्धों के टूटने (अविभाज्य अश) से बनता है, वह कार्य परमाणु कहलाता है।[८]

आचार्य उमास्वामी :

उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र में अनेक प्रदेश रहित द्रव्य को अर्थात् जिसके मात्र एक प्रदेश होता है उसे अणु कहा है।[९]

(ख) अणुओ की उत्पत्ति स्कन्धो के टूटने से होती है।[१०]

श्वेताम्बरमत मे मान्य उमास्वाति ने अपने भाष्य मे कहा है कि परमाणु आदि मध्य और प्रदेश मे रहित होता है।[११]

(घ) भाष्य मे यह भी कहा गया है कि परमाणु कारण ही है, अन्त्य है, (उसके अनन्तर दूसरा कोई भेद नही है)। सूक्ष्म है, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुणवाला है, कार्यलिंग है अर्थात् परमाणुओ के कार्यो को देखकर उसके अस्तित्व का बोध होता है।[१२]

(ङ) परमाणु अबद्ध है अर्थात् वे परस्पर में अलग-अलग असंश्लिष्ट अवस्था मे रहते है।[१३]

पूज्यपादाचार्य :

तत्वार्थसूत्र के सर्वप्रथम टीकाकार आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि नामक तत्वार्थसूत्र की टीका से परमाणु की निम्नांकितपरिभाषा दी है—

(क) अणु प्रदेश रहित अर्थात् प्रदेश मात्र होना है।[१४]

क्योकि अणु के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसी वस्तु नही है जो अणु से भी अधिक अल्प परिमाण वाली अर्थात् छोटी हो।[१५] अत: पूज्यपाद ने प्रदेश और अणु को एकार्थक माना है।[१६]

(ख) प्रदेशमात्र में होने वाले स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रूप से जो अयन्ते अर्थात्—शब्दो के द्वारा कहे जाते हैं वे अणु कहलाते है।[१७]

(ग) अणु अत्यन्त सूक्ष्म है। यही कारण है कि वही आदि है, वही मध्य और वही अन्त है।[१८]

भट्ट अकलंकदेव :

परमाणु के स्वरूप का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम अकलंकदेव ने तत्वार्थवार्त्तिक मे परमाणु की सत्ता सिद्ध करना आवश्यक समझा है।

(१) परमाणु अप्रदेशी होते हुए भी खर-विषाण की तरह अस्तित्वहीन नही है क्योंकि अप्रदेशी कहने का अर्थ प्रदेशों का सर्वथा अभाव नही है अप्रदेशी का अर्थ है कि परमाणु एक प्रदेशी है। जिसके प्रदेश नही होते है उनका अस्तित्व नही होता है। जैसे— खरविषाण। परमाणु के एक प्रदेश होता है इसलिए उसका अस्तित्व है।[१९]

परमाणु की सत्ता सिद्ध करने के लिए दूसरा तर्क यह दिया है कि जिस प्रकार विज्ञान का आदि, मध्य और अन्त नही होता है फिर उसकी सत्ता सभी स्वीकार करते है उसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त रहित परमाणु की भी सत्ता है। अत आदि मध्य और अन्त रहित परमाणु की सत्ता न मानना ठीक नही है।[२०]

(३) परमाणु के अस्तित्व सिद्ध करने के लिए तीसरा कारण दिया है कि परमाणु की सत्ता है क्योंकि उसका कार्य दिखलाई पडता है। शरीर, इन्द्रिय, महाभूत आदि परमाणु के कार्य है। क्योकि परमाणुओ के सयोग से उनकी स्कन्ध रूप मे रचना हुई है। कार्य बिना कारण के नही होता है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। अत. कार्यलिंग से कारण के रूप मे परमाणु का अस्तित्व सिद्ध होता है।[२१] तत्वार्थधिगम-भाष्य मे भी यह तर्क दिया गया है।

इस प्रकार भट्ट अकलंकदेव ने परमाणु का अस्तित्व सिद्ध किया है। ग्रीक और वैशेषिक-दर्शन में परमाणु की स्वतन्त्र सत्ता नही सिद्ध की गई।

जहां भट्ट अकलंकदेव ने पूज्यपादाचार्य का अनुकरण करते हुए परमाणु के स्वरूप का विवेचनकिया है,[२२] वहीं उन्होने श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय मे मान्य तत्वार्थाधिगम सूत्र के भाष्य मे दिया गया परमाणु के स्वरूप का निराकरण भी किया है जो यहां प्रस्तुत है—

(१) परमाणु कथंचित् कारण और कथंचित् कार्य स्वरूप है—

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र भाष्य में परमाणु को कारण ही ऐसा कहा गया है। भट्ट अकलंकदेव कहते है कि परमाणु को 'कारणमेव' अर्थात् 'कारण ही है' ऐसा मानना ठीक नही है क्योकि परमाणु एकान्त रूप कारण ही नही है बल्कि कार्य भी है। उमास्वामी ने स्वय बतलाया है कि परमाणु स्कन्धो के टूटने से बनते हैं। अत परमाणु कथचित् कारण और कथचित् कार्य स्वरूप है।

(२) परमाणु नित्य और अनित्य स्वरूप है—

कुछ जैन, वैशेषिक और ग्रीक दार्शनिकों ने परमाणु को एकान्त रूप से नित्य ही माना है। भट्ट अकलक कहते है कि परमाणु को सर्वथा नित्य मानना ठीक नही है क्योकि स्नेह आदि गुण परमाणु मे विद्यमान रहने के कारण परमाणु अनित्य भी है। ये स्नेह, रस आदि गुण परमाणु में उत्पन्न विनष्ट होते रहते है। परमाणु द्रव्य की अपेक्षा नित्य और स्नेह-रूक्ष, रस, गध आदि गुणो के उत्पन्न-विनष्ट होने की अपेक्षा अनित्य भी है। इसलिए परमाणु को सर्वथा नित्य कहना ठीक नही है। दूसरी बात है कि परमाणु परिणामी होते है। कोई भी पदार्थ अपरिमाणी नही होते है। इसलिए परमाणु कथचित् अनित्य भी है।

(३) परमाणु सर्वथा अनादि नही है— परमाणु को कुछ दार्शनिक अनादि मानते है, अकलकदेव ने इस कथन का खडन किया है उनका कहना है कि परमाणु को सर्वथा अनादि मानने मे उससे कार्य उत्पन्न नही हो सकेगा। यदि अनादिकालीन परमाणु से सघात आदि कार्यो का होना माना जायगा तो उसका स्वभाव नष्ट हो जायगा। अतः कार्य के अभाव मे वह कारण रूप भी नही हो सकेगा। अत. परमाणु अनादि नही है। दूसरी बात यह है कि अणु भेद पूर्वक होते है, ऐसा तत्वार्थसूत्र मे कहा गया है।

(४) परमाणु निरवयव है—भट्ट अकलकदेव ने भी परमाणु को निरवयव कहा है क्योंकि उसमे एक रस, एक रूप और गध होती है। अत द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा ही अकलकदेव ने परमाणु को निरवयव बतलाया है।

भट्ट अकलकदेव ने अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर परमाणु का स्वरूप प्रतिपादित किया है। परमाणु मे द्वयणुक आदि स्कन्धो की उत्पत्ति होती है इसलिए परमाणु स्यात् कारण है।

परमाणु स्यात् कार्य है क्योंकि स्कन्ध के भेदन करने से उत्पन्न होता है और वह स्निग्ध, रूक्ष आदि कार्यभूत गुणो का आधार है।

परमाणु से छोटा कोई भेद नही है इसलिए परमाणु स्यात् अन्त्य है। यद्यपि परमाणु मे प्रदेश भेद नही होता है, लेकिन गुण भेद होता है, इसलिए परमाणु स्यात् नान्त्य है।

परमाणु सूक्ष्मरूप परिणमन करता है इसलिए वह स्यात् सूक्ष्म है।

परमाणु मे स्थूल कार्य उत्पन्न करने की योग्यता होती है। अत परमाणु स्यात् स्थूल है।

परमाणु द्रव्य रूप से नष्ट नही होता है इसलिए वह स्यात् नित्य है।

परमाणु स्यात् अनित्य भी है क्योकि वह बन्ध और भेद रूप पर्याय को प्राप्त होता है और उसके गुणों का विपरिणमन होता है।

अप्रदेशी होने से परमाणु मे एक रस, एक वर्ण और दो अविरोधी रस होते है, अनेक प्रदेशी स्कन्ध रूप परिमणन करने की शक्ति परमाणु मे होती है, इसलिए परमाणु अनेक रसो वाला भी है।

इस प्रकार अकलकदेव भट्ट ने अनेकान्त प्रक्रिया के द्वारा परमाणु का लक्षण निर्धारित किया है।

जैन परमाणुवाद की विशेषताएं और ग्रीक एवं वैशेषिक परमाणुवाद से उसकी तुलना :

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर जैन-परमाणुवाद की निम्नाकित विशेषताए उपलब्ध होती हैं—

१. जैन-दर्शन मे परमाणु एक भौतिक द्रव्य माना गया है। भौतिक द्रव्य जैन दर्शन मे पुद्गल कहलाता है। इसका मूल स्वभाव सड़ना-गलना और मिलना है। परमाणु भी पिडो (स्कन्धो) की तरह मिलते और गलते हैं। भट्ट अकलंकदेव ने परमाणु को पुद्गल द्रव्य सिद्ध करते हुए कहा हैकि गुणो की अपेक्षा परमाणु मे पुद्गलपने की सिद्धि होती है। परमाणु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त होते है, उनमे एक, दो, तीन, चार, सख्येय, असख्येय और अनन्त गुणरूप हानि-वृद्धि होती रहती है। अतः उनमें भी पूरण-गलन व्यवहार मानने मे कोई विरोध नही है।

पुद्गल द्रव्य की दूसरी परिभाषा की जाती है कि पुरुष अर्थात् जीव शरीर, आहार, विषय, इन्द्रिय उपकरण के रूप में निगलते हैं, ग्रहण करते हैं वे पुद्गल कहलाते हैं। परमाणुओ को भी जीव स्कन्ध दशा मे निगलते हैं। अतः परमाणु पुद्गल द्रव्य है। देवसेन ने अणु को ही वास्तव मे पुद्गल द्रव्य कहा है।[१०]

जैन-दर्शन की तरह वैशेषिक और ग्रीक दर्शन में भी परमाणु भौतिक द्रव्य माना गया है।

(२) **परमाणु अविभाज्य है**—जैन-दर्शन मे परमाणु को अविभागी कहा गया है। जैन आचार्यो ने बतलाया है कि पुद्गल द्रव्य का विभाजन करते-करते एक अवस्था ऐसी अवश्य आती है जब उसका विभाजन नही हो सकता है। यह अविभागी अश परमाणु कहलाता है।

ग्रीक[११] और वैशेपिक दार्शनिको ने भी परमाणु को जैन-दार्शनिको की तरह अविभाज्य माना है।

(३) **परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म है**—जैन-दार्शनिको ने बतलाया कि पुद्गल द्रव्य के छह प्रकार के भेदो में परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इससे सूक्ष्म दूसरा कोई द्रव्य नही है।

अन्य परमाणुवादियो ने भी परमाणु को अत्यन्त सूक्ष्म माना है।[१२]

(४) **परमाणु अप्रत्यक्ष है**—परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य होते हैं। ग्रीक और वैशेषिक दार्शनिक भी जैनों की उपर्युक्त बात से सहमत हैं। लेकिन जैनों ने परमाणु को केवलज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष माना है। वैशेषिक दर्शन में भी परमाणु योगियो द्वारा प्रत्यक्ष माना गया है।[१३] ग्रीक दर्शन मे इस प्रकार के प्रत्यक्ष की कल्पना नही दी गई है।

(५) **परमाणु सगुण है**—जैन-दर्शन और वैशेषिक दर्शन में परमाणु सगुण माना गया है, इसके विपरीत ग्रीक-दार्शनिकों ने परमाणु को निर्गुण माना है। जैन दर्शन में परमाणु के बीस गुण माने गये है। परमाणु पुद्गल द्रव्य का अंतिम भाग है, इसलिए इसमें एक रस (अरल, मधुर कटु, कषाय और तिक्त मे से कोई एक) एक वर्ण (कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत में से कोई एक) एक गंध (सुगन्ध और दुर्गन्ध मे से कोई एक) अविरोधी दो स्पर्श (शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरू, मृदु ओर कठोर में मे से कोई दो) इस प्रकार परमाणु में कुल पांच गुण पाये जाते हैं। ये गुण परमाणुओं के कार्य में स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि जैन-दर्शन में द्रव्य और गुण वैशेषिको की तरह भिन्न न होकर अभिन्न माने गये हैं। इसलिए परमाणु का जो प्रदेश है वही स्पर्श का, वही वर्ण का है। इसलिए वैशेषिकों का यह कहना युक्ति सगत नहीं है कि पृथ्वी के परमाणु मे सर्वाधिक चारों गुण जल के परमाणुओ में रूप, रस और स्पर्श, अग्नि के परमाणुओं में और रूपर्श गुण ओर वायु के परमाणु मे स्पर्श गुण होता है।[१४] वैशेषिको का उपर्युक्त कथन इसलिए ठीक नही क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर गुण से अभिन्न अप्रदेशी परमाणु ही नष्ट हो जायेगा।[१५] जैन-दर्शन मे किसी मे भी गुणों की न्यूनाधिकता नही मानी गई है। पृथ्वी आदि चारो धातुओ मे परमाणु के उपर्युक्त चारो गुण मुख्य और गौण रूप से रहते हैं। पृथ्वी मे स्पर्श आदि चारो गुण मुख्य रूप से जल मे गध गुण गौण रूप से शेप मुख्य रूप से, अग्नि मे गंध और रस गौणता और शेष की मुख्यता और वायु में स्पर्श गुण की मुख्यता और शेष तीन की गौणता रहती है।[३१]

(६) **परमाणु नित्य है**—जैन वैशेषिक एव ग्रीक दर्शन में परमाणु नित्य माना गया है, लेकिन जैनपरमाणुवाद की यह विशेषता है कि परमाणु की उत्पत्ति ओर विनाश होता है जब कि ग्रीक और वैशेषिक दार्शनिक परमाणु को उत्पत्ति विनाश रहित मानते हैं।

जैन परमाणु वाद के अनुसार द्रव्य दृष्टि से परमाणु नित्य है लेकिन पर्याय की अपेक्षा वे अनित्य भी हैं।

(७) **परमाणु एक ही प्रकार का है**—जैन दर्शन के अनुसार परमाणु एक ही जड़ तत्व से बने है। लेकिन वैशेषिक परमाणुवाद। के अनुसार चार प्रकार के हैं—पृथ्वी के परमाणु जल के परमाणु, वायु के परमाणु और अग्नि के परमाणु। जैन परमाणुवाद के अनुसार पृथ्वी आदि चार धातुओ की उत्पत्ति एक जाति के परमाणु से हुई है।

(८)**परमाणु गोल है**—जैन और वैशेषिक दर्शन मे परमाणु का आकार गोल बताया गया है, लेकिन ग्रीक परमाणुवादियों का मत है कि परमाणुओं का आकार

निश्चित नहीं होता है। अतः आकार की अपेक्षा उनमे भेद है।[३७]

(६) सभी परमाणु एक ही तरह के हैं—जैन-दर्शन में सभी परमाणुओं को एक ही तरह का माना गया है। ग्रीक दार्शनिकों के मतानुसार परमाणुओ में मात्रागत (Quantity), आकारगत तौल, स्थान, क्रम और बनावट (Shape) की अपेक्ष्य माना गया है।[३८] वैशेषिकों के अनुसार परमाणुओ मे गुणात्मक और परिमाणत्मक इन दोनों की अपेक्षा भेद माना गया है।[३९] जैन-दर्शन की यह भी विशेषता है कि उसमे परमाणुओं में गुणमात्रा आकार आदि किसी भी प्रकार का भेद नही माना है।

(१०) परमाणु आदि-मध्य और अन्तहीन है—जैन-दर्शन मे परमाणु को आदि मध्य और अन्तहीन बतलाया गया है। ग्रीक और दर्शन मे परमाणुओ को ऐसा नही माना गया है। ग्रीक दर्शन मे कुछ परमाणुओं को छोटा और कुछ बडा बतलाया गया है ग्रीक दर्शन मे कुछ परनाणुओ को छोटा और कुछ बडा बतलाया गया है।[४०]

परमाणु गतिहीन और निष्क्रिय नहीं है :

जैन और ग्रीक दर्शन मे परमाणु को वैशेषिको की तरह गतिहीन और निष्क्रिय नही माना गया है। जैन-ग्रीक दार्शनिको ने परमाणु को स्वभावत. गतिशील और सक्रिय कहा है वैशेषिको ने परमाणुओ मे गति का कारण ईश्वर माना है जबकि जैन और ग्रीक दार्शनिको को ऐसी कल्पना नही करनी पड़ी है।

परमाणु कार्य और कारणरूप है :

जैन दार्शनिको ने परमाणु को स्कन्धो का कार्य माना है क्योंकि उसकी उत्पत्ति स्कन्धो के तोड़ने से होती है। इसी प्रकार परमाणु स्कन्धो का कारण भी है। लेकिन वैशेषिक और ग्रीक दर्शन मे परमाणु केवल कारण रूप ही है कार्य रूप नही।

भौतिक परमाणु आत्मा का कारण नहीं है :

ग्रीक परमाणुवादियो के अनुसार आत्मा का निर्माण परमाणुओ से हुआ है। लेकिन जैन और वैशेषिक परमाणुवादी ऐसा नहीं मानते हैं। जैनपरमाणुवाद के अनुसार परमाणु शरीर, वचन, द्रव्य मन, प्राणापान, सुख, दुख, जीवन, मरण आदि के कारण हैं। भौतिक परमाणु अभौतिक आत्मा के कारण नही है।

परमाणु अचेतन है—परमाणु भौतिक और अचेतन अर्थात् अजीव के उपादान कारण होने से जैन-दर्शन में परमाणुओ को जड़ और अचेतन कहा गया है। ग्रीक और वैशेषिक परमाणुवादियो का भी यही मत है।

परमाणु एक ही भौतिक द्रव्य के हैं :

जैन-दर्शन मे परमाणु एक ही प्रकार के भौतिक द्रव्य पुद्गल के माने गये हैं। ग्रीक परमाणुवादियो का भी यही मत है। लेकिन वैशेषिको ने चार प्रकार के भौतिक द्रव्य के परमाणु माने हैं।

परमाणु सावयव और निरवयव है :

जैन-परमाणुवाद के अनुसार परमाणु सावयव और निरवयव है। परमाणु सावयव इसलिए है कि उसके प्रदेश होते हैं। ऐसा कोई द्रव्य ही नही हो सकता जो सर्वथा प्रदेश शून्य हो दूसरी बात यह है कि परमाणु का कार्य सावयव होता है। यदि परमाणु सावयव न होता तो उसका कार्य भी सावयव न होना चाहिए। अतः स्कन्धों को सावयव देखकर ज्ञात होता है कि परमाणु सावयव है।[४१]

परमाणु निरवयव भी है क्योकि परमाणु प्रदेशी मात्र है। जिस प्रकार अन्य द्रव्यों के अनेक प्रदेश होते हैं उस प्रकार परमाणु के नही होते हैं। यदि परमाणु के एक से अधिक प्रदेश (प्रदेश प्रचय) हो तो वह परमाणु ही नही कहलायेगा।[४२] परमाणु के अवयव पृथक-पृथक नही पाये जाते है। इसलिए भी परमाणु निरवयव है।[४३]

अत. जैन परमाणवादियो ने अनेकान्त सिद्धान्त के द्वारा परमाणु को सावयव और निरवयव बतलाया है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा परमाणु निरवयव है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सावयव है।[४४] इसके विपरीत ग्रीक और वैशुद्धिक परमाणुवादी दार्शनिकों ने परमाणु को निरवयव ही माना है।

परमाणुकाल-संख्या का भेदक है—जैन-दर्शन के अनुसार परमाणु काल सख्या का भेद करने वाला है। आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में समय रूप जो काल लगता है उसको भेद करने के कारण परमाणु काल अश का कर्ता कहलाता है। अन्य परमाणुवादियों ने ऐसा नही माना है।

परमाणु शब्द रहित और शब्द का कारण हैं :

जैन परमाणुवादियों ने परमाणु को शब्द रहित और शब्द का कारण बतलाया हैं। परमाणु शब्दमय इसलिए है क्योंकि वह एक प्रदेशी है। शब्द स्कन्धों से उत्पन्न होता है। परमाणु शब्द का कारण इसलिए है क्योकि शब्द जिन स्कन्धों के परस्पर स्पर्श से उत्पन्न होना है वे परमाणुओ के मिलने से बने हुए हैं।[४६] अन्य परमाणुवादी वैशेषिको और ग्रीक-दार्शनिको ने ऐसा नही माना है।

जैन परमाणुवाद के अनुसार परमाणु जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा दो प्रकार का होता है।[४७] पचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति मे द्रव्य परमाणु और भाव परमाणु की अपेक्षा परमाणु दो प्रकार और भगवती सूत्र मे द्रव्य परमाणु क्षेत्र परमाणु, काल परमाणु और भाव परमाणु की अपेक्षा परमाणु चार प्रकार का बतलाया गया है। ग्रीक और वैशेषिक परमाणुवाद मे इस प्रकार के भेद दृष्टिगोचर नही होते हैं।[४८]

परमाणुओं का परस्पर संयोग—जैन परमाणुवाद के अनुसार दो या दो से अधिक परमाणुओ का परस्पर बन्ध (सयोग) होता है। यह सयोग स्वयं होता है इसके लिए वैशेषिकों की तरह ईश्वर जैसे शक्तिमान की कल्पना नही की गई है। जैन परमाणुवादियो ने परमाणु सयोग के लिए एक रसायनिक प्रक्रिया प्रस्तुत की है, जो निम्नाकित है।[४९]

१. पहली बात यह है कि स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओ का परस्पर में बन्ध होता है।

२. दूसरी बात यह है कि जघन्य अर्थात् एक स्निग्ध या रूक्ष गुण वाले परमाणु का एक, दो, तीन आदि स्निग्ध या रूक्ष वाले परमाणु के साथ बन्धन नही होता है।

३. समान गुणवाले सजातीय परमाणुओं का परस्पर बन्ध नही होता है। जैसे दो स्निग्ध गुणवाले परमाणु का दो स्निग्ध गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध नही होता है। इसी प्रकार रूक्ष गुण वाले परमाणुओ के बन्ध का नियम है।

४. चौथी महत्वपूर्ण बात यह है कि दो गुण अधिक सजातीय अथवा विजातीय परमाणुओं का परस्पर मे बन्ध हो जाता है। दो से कम और दो से अधिक परमाणु का परस्पर मे बन्ध नही होता है।

उपर्युक्त परमाणुओं के परस्पर संयोग प्रक्रिया के संबंध में जैन-दर्शन की दिगम्बर[५०] और श्वेताम्बर परम्परायें[५१] एकमत नही हैं। दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि यदि दो परमाणुओं मे से कोई एक भी परमाणु जघन्य गुण अर्थात् निकृष्ट गुण वाला है तो उनमे कभी भी बन्ध नही होना इसके विपरीत श्वेताम्बर मत मे दो परमाणुओं मे परस्पर मे सयोग तभी नही होगा जब वे दोनो ही जघन्य गुण वाले हो। यदि उन दोनो मे से कोई एक परमाणु जघन्य गुण वाला और दूसरा अजघन्य (उत्कृष्ट) गुण वाला होगा तो बन्ध हो जायेगा।

तीसरे नियम के सबध मे भी दिगम्बरो की मान्यता है कि दो परमाणुओ मे चाहे वे सदृश (समान जातीय वाले हो) या विसदृश्य (असमान जातीय वाले हो) बन्ध तभी ही होगा जबकि एक की अपेक्षा दूसरे मे स्निग्धता या रूक्षत्व दो गुण अधिक हो। तीन-चार-पांच सख्यात-असंख्यात-अधिक गुण वालो के साथ कभी भी बन्ध नही होगा। इसके विपरीत श्वेताम्बर मत मे केवल एक अश अधिक होने पर दो परमाणुओ मे बन्ध का अभाव वतलाया गया है। दो तीन, चार आदि अधिक गुण होने पर दो सदृश परमाणुओ मे वन्ध हो जाता है।

जैन परमाणुवाद मे इस शका का भी समाधान उपलब्ध है कि परमाणुओ का परस्पर सयोग होने के बाद किस परमाणु का किसमे विलय हो जाता है? दूसरे शब्दो मे कौन परमाणु किसको अपने अनुरूप कर लेता है? इस विषय में उमास्वाति का मत है कि परमाणुओ का परस्पर मे बध होने के बाद अधिक गुणवाला कमगुणवाले परमाणु को अपने अनुरूप कर लेता है? इस विषय मे उमास्वाति का मत है कि परमाणुओ का परस्पर मे बंध होने के बाद अधिक गुण वाला कम गुण वाले परमाणु को अपने अनुरूप (स्वभाव के) कर लेता है।[५२]

उपर्युक्त मान्यता दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय मे मान्य है। लेकिन दोनो में एक भेद यह है कि श्वेताम्बर परम्परा मे मान्य सभाष्य तत्वार्थाधिगम भाष्य सूत्र[५३] मे इस विषय मे एक यह भी नियम बतलाया गया है—

१. श्वेताम्बर मत मे गुण-गत विसदृशता रहती है तो कोई भी समपरमाणु दूसरे सम वाले परमाणु को अपने अनुरूप कर सकता है अकलंक भट्ट[२४] ने इस नियम को आगम विरुद्ध बतला कर निराकरण किया है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन मे स्पष्ट है कि जैन दार्शनिकों और चिन्तकों ने परमाणु का जितना सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया उतना अन्यत्र उपलब्ध नही है; वैज्ञानिकों का परमाणुवाद भी बहुत कुछ जैन परमाणुवाद से साम्य रखता है। इस पर और भी तुलनात्मक शोध आवश्यक है।

सन्दर्भ सूची

१ देवेन्द्रमुनि शास्त्री जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण पृ० १६४-६५।

२. पोग्गल दव्व उच्चइ परमाणू णिच्छएण। नियमसार, गाथा २६।

३ परमाणू चेव अविभागी। कुन्दकुन्दाचार्य पञ्चास्ति-काय, गाथा-७५।

४. सव्वेसिं खंधाण जो अंतो त वियाण परमाणू। सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागि मुत्तिभवो॥ वही, गाथा ७७।

५ आदेसमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारण जो दु। सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो॥
णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता। खंधाण पि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाण॥
वही, गाथा-७८ और ८०।

६ (क) एयरसवण्णगंध दो फास सद्दकारणमसद्द। खंधतरिद दव्व परमाणुं त वियाणेहि॥
वही, गाथा-८१।
(ख) एयरसगंध दो फास त हवे सहावगुण।
... . ॥
आ० कुन्दकुन्द नियमसार, गाथा-२७।

७. अत्तादि अत्तमज्झ अत्तन्त णेव इंदिए गेज्झ। अविभागी ज दव्व परमाणू त विजाणाणाहि॥
आ० कुन्दकुन्द नियमसार, गाथा-२७।

८. धाउचउक्कस्स पुणो ज हेऊ कारणंति त णेयो। खंधाणा अवसाणो णादव्वो कज्ज परमाणू॥
नियमसार, गा०-२५।

९. नाणोः। तत्त्वार्थसूत्र, ५।११।

१०. भेदादणु, वही, ५।२७।

११. अनादिमध्योऽप्रदेशी हि परमाणु। सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र, ५।११, पृ०-२५६।

१२. कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। ... ...कार्यलिंगश्च॥ वही, ५।२५, पृ०-२७८।

१३. इति तत्राणवोऽबद्धा ·· ··· ···। वही।

१४ अणोः प्रदेशा न सन्ति ······प्रदेशमात्रत्वात्। सर्वार्थसिद्धि. ५।११, पृ०-२०५।

१५. किं च ततोऽल्पपरिमाणाभावात्। न ह्यणोरल्पीया-नन्योऽस्ति,···। वही।

१६. प्रदिश्यन्त इति प्रदेशा परमाणव। वही २।३८, पृ०-१३८।

१७ प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्याय प्रसवसामर्थ्ये नाण्यन्ते शब्द्यन्त इत्यणव·। वही, ५।२५, पृ० २२०।

१८ सौक्ष्म्यादात्मादय आत्ममध्या आत्मान्ताश्च। वही, ५।२५, पृ० २२०।

१९ ··· ···। प्रदेशमात्रोऽणु न खरविषाणवदप्रदेश इति। तत्त्वार्थवार्तिक, ५।११।४, पृ०-४५४।

२० यथा विज्ञानमादि मध्यान्ताव्यपदेशाभावेऽप्यस्ति तथा-अणुरपि इति। वही, ५।११।५, पृ०-४५४।

२१. तेषामणूनामस्तित्व कार्यलिंगत्वादवगन्तव्यम्। कार्य-लिंग हि कारण।
ना सत्सु परमाणुषु शरीरेन्द्रिय महाभूतादिलक्षणस्य कार्यस्य प्रादुर्भाव इति।
वही, ५।२५।१५, पृ०-४९२।

२२ भेदादणुः। तत्त्वार्थसूत्र, ५।२७।

२३. कारणमेव तदन्त्यमित्यसमीक्षिताभिधानम्, कथञ्चि कार्यत्वात्।

२४. नित्य इति चायुक्त स्नेहादि भावेनानित्यत्वात्···। स्नेहादयो हि गुणा. परमाणौ प्रादुर्भवन्ति, वियन्ति च ततस्तत्पूर्वक मस्यानित्यमिति।
वही, ५।२५।७, पृ०-४९१।

२५. नित्यवचनंमनादि परमाण्वर्यमिति, तन्न किं कारणम्? तस्यापि स्नेहादि विपरिणामाभ्युपगमात् न हि निष्परिणामः कश्चिदर्थोस्ति भेदादणु. इति बचनात्। वही, ५।२५।१०, पृ०-४६२।
२६. निरवयश्चाणुरत एकरसवर्णागन्ध । वही, ५।२५।१३, पृ० ४६२।
२७. तत्त्वार्थवार्तिक न चानादि परमाणुर्नाम कश्चिदस्तिर। वही ५।२५।१६ पृ० ४६२-४६३।
२८. वही, ५।२५।१६, पृ० ४६२-४६३।
२९. तत्त्वार्थवार्तिक, ५।१।२५ पृ० ४३४।
३०. देवसेन : नयचक्र, गाथा १०१।
३१. डब्लु० टी० स्टेट्स : ग्रीक फिलोसफी, पृ० ८८।
३२. वही।
३३. भारतीय दर्शन, सम्पादक डॉ० न० कि० देवराज पृ० ड५ड।
३४. प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २६८।
३५. आचार्य अमृतचन्द्र . तत्त्वार्थप्रदीपिकावृत्ति, गाथा ७८, पृ० १३३।
३६. वही।
३७. डब्लु० टी० स्टेट्स · ग्रीक फिलोसोफी, पृ० ८८।
३८. वही।
1। उपाध्याय बलदेव भारतीय दर्शन, पृ० २४४।
३९. प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा भा० द० रूपरेखा, पृ० २६।
४०. डब्लु टी० स्टेट्स : ग्रीक फिलोसोफी पृ० ६।
४१. वीरसेन धवला पु० १३, खंड ५, पु० ३, सूत्र ३२, पृ० २३।
४२. द्रष्टव्य-पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, ५।११।
४३. वीरसेन धवला, पु० १३, खड ५, पु० ३, सूत्र ३२, पृ० २३।
४४. गम्मटसार जीवप्रदीपिका टीका, गा० ५६४, पृ० १००६।
४५. पञ्चास्तिकाय तत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा ८० पृ० १३७।
४६. सद्दो खघप्पभवो खधो परमाणुसगसगघादो। पुट्‌टेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥ पचास्तिकाय, गाथा-७९।
४७ पद्मप्रभ नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गा० २५।
४८. भगवती सूत्र, २०।५ १२।
४९. छण्णद्रव्य . तत्त्वार्थसूत्र, ५।३३-३६।
५० पूज्यपादाचार्य : सर्वार्थसिद्धि, पृ० २२७-२८९।
५१. डा० मोहनलाल मेहता। जैनदर्शन, पृ० १८५-८६।
५२. बन्धेऽधिकौ पारिणामकौ च। तत्वार्थसूत्र-५।३७।
५३. बन्धे ममाधिकौ पारिणामिकौ। ५।३६।
५४ बन्धे सत्ति समगुणस्य समगुणः पारिणामिकौ भवति, अधिक गुणो हीठास्येति। वही भट्टाकलकदेव : तत्त्वार्थवार्तिक, ५।३६।४-५।

—प्राकृत जैन शोध-सस्थान, वैशाली

(टाइटिल २ का शेपाश)

समय से ही वह उक्त संस्था के भी परम सहयोगी हो गए, प्रायः प्रारम्भ मे १०-१५ वर्ष पर्यन्त उसके मन्त्री भी बने रहे, और उसकी गतिविधियो एवं प्रवृत्तियों मे सक्रिय रुचि लेते रहे। इतना ही नही, उन्होने दिल्ली समाज के अनेक सज्जनों को वीर सेवा मदिर का सदस्य या सहयोगी बनाने में पर्याप्त एवं सफल प्रयत्न किया। मुख्तार सा० की अनेक पुस्तको व ट्रैक्ट आदि के मुद्रण-प्रकाशन की भी व्यवस्था की या कराई। आदरणीय मुख्तार साहब के साथ ला० पन्नालाल जी के जीवन पर्यन्त मधुर संबध रहे। स्व० बाबू छोटेलाल जी और स्व० साहू शान्तिप्रसाद जी भी ला० पन्नालाल जी की अमूल्य सेवाओं का आदर करते थे। वीरसेवा मन्दिर के दिल्ली में स्थानान्तरित हो जाने के उपरान्त भी उसके प्रति ला० पन्नालाल जी का प्रेम पूर्ववत् बना रहा।

ऐसे मूक, निःस्वार्थ एव कर्मठ समाजसेवियों की जैन समाज मे आज अत्यन्त विरलता है। आशा है कि स्व० लाला पन्नालाल जी के कार्यो से प्रेरणा लेकर कोई-न-कोई सज्जन उनकी क्षतिपूर्ति के लिए शीघ्र ही अग्रसर होंगे।

हम अपनी ओर से तथा वीर सेवा मन्दिर परिवार की ओर से वीर सेवा मन्दिर तथा साहित्यकारो के चिर सहयोगी स्व० लाला पन्नालाल जैन अग्रवाल के व्यक्तित्व और सेवाओं के प्रति हार्दिक श्लाघा एवं आदरभाव व्यक्त करते हैं।

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

श्रावक के व्रत

[पद्मचन्द्र शास्त्री

व्रत का भाव विरति—विरक्तता है। साधुवर्ग ससार-शरीर भोग से निर्विण्ण होता है और श्रावक ससार-शरीर भोगों मे रहते हुए इनमें मर्यादाएँ करता है और अभ्यास-पूर्वक धीरे-धीरे साधु-संस्था तक पहुंचाता है। मर्यादा बाँध कर भव-बन्ध कारक पापजनक क्रियाओ का त्याग करना यानी स्थूलरीति से पापो का त्याग करना अणुव्रत कहलाता है। ऐसी अणुव्रती दशा मे क्रोध, मान, माया, लोभ कषायो का शमन, इन्द्रिय-जय की प्रवृत्ति भी मुख्य है। वास्तव मे धर्म निवृत्तिमार्ग है, और प्रवृत्ति से उसका सबध केवल आत्मा तक सीमित है। इसका अर्थ ऐसा है कि आत्म-प्रवृत्ति के लिए पर-निवृत्ति आवश्यकीय साधन है। अत श्रावक आत्म-विघातक पाँच पापो के त्याग पर बल देता है और पाप त्यागरूप अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतो को नियमत पालता है। जिन अणुव्रतो को नियमत. पालता है उन अणुव्रतो के सबध मे यहाँ चर्चा की जाती है, वे इस प्रकार है—

१ अहिंसा-अणुव्रत २. सत्य-अणुव्रत ३. अचौर्य-अणुव्रत ४. ब्रह्मचर्य-अणुव्रत ५. परिग्रह परिणाम अणुव्रत, इन्ही का क्रमश वर्णन किया जाता है।

(१) अहिंसा अणुव्रत—बहुत से लोगो का ऐसा विचार है कि जीवों को उनके मौजूदा शरीर से पृथक् कर देना—मृत्यु को पहुचा देना ही हिंसा है। और उनके शरीर मे आत्मा को रहने देना अहिंसा है। इसका तात्पर्य ऐसा हुआ कि जिन्होने जन्म से आज पर्यन्त किसी जीव के प्राणों का हरण नही किया वे सब अहिंसक हैं और ऐसे बहुत से आदमी आज मिल भी जाएँगे। पर, मात्र ऐसा ही नहीं है। जैनाचार्यों ने हिंसा-अहिंसा का जितना सूक्ष्म और विशद विवेचन किया है वैसा विवेचन निश्चय ही किसी अन्य ने नहीं किया। उन्होंने कहा है—

'यत् खलु कषाययोगात् प्राणाना द्रव्य-भावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥'—

कषाय के योग—निमित्त अर्थात् वशीभूत होकर किसी जीव के द्रव्यरूप अथवा भावरूप या दोनो प्रकार के प्राणों का हरण करना—प्राणो को बाधा पहुंचाना हिंसा है। भावार्थ ऐसा है कि प्राण दो प्रकार के माने गए है—पांच इन्द्रियाँ, मन-वचन-कायरूप तीनो बलो, आयु और श्वासो-च्छ्वासो मे से किसी एक के हरण करने अथवा किसी एक को घात पहुचाने का नाम हिंसा है—यदि उस करने मे क्रोध, मान, माया अथवा लोभ किसी एक का भी सहकार है। क्योंकि बिना कषायो के जाग्रत हुए पाप कर्म नही होता। अत मानव को अपनी कषायो पर अकुश रखना चाहिए। उक्त दश प्रकार के प्राणो को ही दो अपेक्षाओं से (बहिरग और अतरंग) द्रव्य प्राण और भावप्राण नामों से कहा गया है। इन दोनो प्रकार के प्राणो की रक्षा करना धर्म है। ऐसा कहा गया है कि—'आत्मनः प्रति-कूलानि परेषा मा समाचरेत्।'—अर्थात् सब आत्माओं को अपने समान ही समझना चाहिए। जब हमे सुई चुभने पर दुख होता है तब दूसरो को भी सुई से दुख होना अवश्य-भावी है। जैनाचार्य इसकी अत्यन्त गहराई में चले गए हैं और उन्होंने हिंसा से बचने के लिए यहाँ तक कह दिया है कि मन से, वचन से, काया से, समरंभ से समारंभ से, कृत से, कारित से, अनुमोदना से, क्रोध, मान, माया, लोभ से या इन्द्रिय पुष्टि के बहाने से भी किसी जीव को कष्ट नही देना चाहिए।

जैन-साधु महाव्रती होते हैं, उनके सभी प्रकार की हिंसा का सर्वथा त्याग होना है। पर, श्रावक के हिंसा का त्याग मर्यादा पूर्वक यानी स्थूल रीति से होता है। इसका अर्थ यह है कि श्रावक गृहस्थ होता है और उसे आवश्यक

आजीविकोपार्जन करना होता है। उसके समरभ समारभ और आरभो मे प्राणि को पीडा संभव है। क्योंकि ससार मे कोई भी स्थान जीवों से अछूता नही और श्रावक अपनी आजीविका से अछूता नही। अत श्रावक को मर्यादा मे अहिंसा धर्म का पालन करना होता है और वह इस प्रकार अणुव्रती—स्थूलव्रती कहलाता है। इसका विशेष इस इस प्रकार है—

हिंसा को चार भागों मे विभक्त कर दिया गया है—
(१) सकल्पी (२) आरभी (३) उद्योगी (४) विरोधी।

संकल्पी हिंसा—क्रोध, मान, माया, लोभ के वशीभूत अथवा मनोविनोद आदि के लिए जानबूझ कर किसी जीव के प्राणों का हरण करना, धर्म के नाम पर जीवित पशुओं की बलि चढाना, शिकार खेलना, मॉस जैसे निन्द्य पदार्थ के लिए पशुओं तथा अन्य जीवों को मारना अथवा जानबूझ कर उसे परेशान करके उसके मन को कष्ट पहुचाना **संकल्पी हिंसा** है श्रावक इस प्रकार की हिंसा का पूर्णरूप से त्यागी होता है वह मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना, सरभ, समारभ, आरभ सभी प्रकार से इसका त्यागी होता है और स्वप्न मे भी इसमें भाग नही लेता।

आरंभी हिंसा—घर गृहस्थी के कार्य श्रावक को करने आवश्यक होते है इनके बिना वह रह नही सकता। इन कार्यों मे जीवो का घात अवश्यभावी है. परन्तु वह इन कामों को देखभाल कर—जीवो को बचा कर करता है, ताकि कोई जीव मर न जाए या किसी जीव को कष्ट न पहुचे। ऐसी हिंसा, (जो अनजान मे हो जाती है) के लिए श्रावक प्रतिक्रमण-आलोचना और प्रायश्चित करता है—उसके मन मे दया और करुणा का भाव रहता है।

उद्योगी हिंसा—आरभी हिंसा की भाँति इसे भी समझ लेना चाहिए। व्यापार-उद्योग आदि मे अनजान मे होने वाली हिंसा का भी श्रावक त्यागी नही होता। वह ऐसा व्यापार भी नही करता जिसके मूल मे हिंसा हो। जैसे चमडे, शराब आदि हिंसाजन्य पदार्थों का व्यापार अथवा रेशम के कीडे पालने का व्यापार आदि।

विरोधी हिंसा—अपने आचार-विचार अथवा सामाजिक नियम को भग करने वालो अथवा धन-धान्यादि हरण करने वालो का विरोध—मुकाबला करना विरोधी हिंसा है। श्रावक को विरोधी हिंसा का त्याग उस स्थिति मे अहभव है जब कोई धर्मध्वसी, आततायी, चोर आदि उस पर—उसकी सम्पत्ति पर और धर्म आदि पर प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से हमला करे। वह उनका निराकरण करेगा—उन्हें भगाएगा। अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाना, अन्याय का प्रतीकार करना कर्तव्य कर्म है। इस कर्तव्य का पालन करने मे श्रावक को जागरूक रहना होता है—उसके परिणाम किसी को कष्ट देने के नही होते, अपितु न्यायपूर्वक अपनी और अपने अधिकारो की रक्षा—नीति की रक्षा—धर्म की रक्षा के होते हैं।

हिंसा से बचने और अहिंसा अणुव्रत की रक्षा के लिए श्रावक के लिए कुछ नियम भी बताए है। उनमे से दोषों के परिहार करने और व्रत को दृढ करने वाली भावनाओं के मनन-चिंतवन एव पालन करने से व्रत मे दृढता होती है। तथाहि---

'बन्ध - वधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधा ।'—अर्थात् बन्धन, ताडन, छेदन, अतिभारारोपण और अन्नपान निरोध ये अहिंसाव्रत के दोष है। यदि व्रती श्रावक पशु आदि के सबध मे उक्त कार्यों को करता है तब भी उसे हिंसा का भागी होना पडता है अर्थात् वह इन दोषो को सदा टालता ही रहे। ताकि किसी को कष्ट न हो। ऐसे ही और भी बहुत से दोष गिनाए जा सकते है। इसके साथ-ही-साथ व्रतीश्रावक मन और वचन की गुप्ति—वशीकरण के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। उसके ऐसा करने से, अन्य जीवो के प्रति कठोर भावो की सभावना नही रहेगी। व्रती को ईर्यासमिति—चार हाथ परिमाण भूमि आदि देख कर चलने का यत्न रखना चाहिए। वस्तुओं के आदान—लेने और निक्षेपण रखने मे जीवो की रक्षा के प्रति जागरूक रहना चाहिए। भोजन को भलीभाँति देखभाल कर करना चाहिए, जल भी शुद्ध निर्दोष और वस्त्रपूत—छना हुआ लेना चाहिए।

२. सत्य-अणुव्रत :

जो नही है या जो जैसा नही है, उसको वैसा कहना झूठ है। ऐसे वचन का स्थूल रीति से त्याग करना सत्य-अणुव्रत है। श्रावक सत्य-अणुव्रत का पालन करता है— वह हास्य मे या विनोदभाव से भी कभी गलत नहीं बोलता।

व्यवहार में सत्य के अनेक भेद किए गए हैं—जिन बातो के करने मे धर्म का घात न हो और जो व्यवहार प्रसिद्ध हो, ऐसी बातें भी सत्य मे गर्भित है। जैसे—नाम सत्य, स्थापना सत्य, जनपदसत्य, संभावना सत्य, आदि।

सत्य-अणुव्रती श्रावक सत्य बोलता है पर ऐसा सत्य भी नही बोलता है। कटु-वचन, सत्य भले ही कहा जाय, पर वह दूसरो के दिल दुखाने वाला होने से झूठ ही माना जाता है। पर की प्राण-रक्षा के निमित्त बोला गया असद् (असत्य) रूप वचन भी जीव रक्षा के कारण सत्य है। अत अणुव्रती को अहिंसा की रक्षा के निमित्त ऐसे वचनो को बोलने का भी विधान है। महाव्रती, पर-जीवन की रक्षा के निमित्त असत्-रूप वचन कदापि नही बोलता और ऐसी स्थिति के उत्पन्न होने पर वह मौन रह जाता है।

सत्य वचन को महत्त्व इसलिए भी है कि सत्य, पदार्थ का स्वरूप है। जो द्रव्य या पदार्थ जिस रूप है, वह त्रिकाल उसी मूलरूप मे रहेगा—उसकी पर्याये भले ही परिवर्तन-शील स्वभाव वाली हो। इसलिए जब तक हम सत्य पर पर नही पहुचेगे, तब तक हम हित-अहित का बोध न होगा, हम ग्राह्य एव अग्राह्य ने मे भेद भी न कर सकेंगे—हमे दुखो से मुक्ति भी न मिल सकेगी। अत. आत्म-लाभ की दृष्टि से भी हमें सत्य व्रत लेना उचित और उपयोगी है। व्रत मे दृढता के लिए निम्न दोषो से भी बचते रहना चाहिए। यथा—

'मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार साकार मन्त्रभेदा.।'

किसी को मिथ्या उपदेश न दे, किसी के गुप्त रहस्यो को सार्वजनिक रूप से प्रकट न करे, झूठे पत्र तैयार न करें। इन बातों से हम सत्यव्रत की रक्षा कर सकते है।

३. अचौर्य अणुव्रत :

प्रमाद—कषाय यानी, क्रोध, मान, माया और लोभ के वश में होकर किसी की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना लेना चोरी है। इस पाप का स्थूल रीति से त्याग करना अचौर्याणुव्रत है। अचौर्याणुव्रती को ऐसा कोई कार्य या व्यापार भी नही करना चाहिए, जिसमे अनैतिकता या मिलावट का समावेश हो। असली घी मे नकली मिला कर बेचना और दाम असली के लेना आदि धोखाधडी के सभी कार्य पर अधिकार हरण करने के कारण चोरी में संमिलित हो जाते हैं ऐसे पाप का त्याग करना ही उचित है : इस अणुव्रत के धारी का कर्तव्य है कि वह चोरी का प्रयोग किसी को न सिखाए, चोरी से आई वस्तुओं का आदान-प्रदान न करे, राज्याज्ञा के विरुद्ध आचरण न करे; हीनाधिक तौल-माप न करे, मिलावट न करे, आदि :

ब्रह्मचर्याणुव्रत :

पुरुषवेद या स्त्रीवेद के उदय से एक दूसरे के साथ रमण करने के भाव को अब्रह्म कहा गया है। रमण करे या न करे, मन मे भावमात्र होना भी ब्रह्मचर्य का भंग है। इस पाप से आंशिक निवृत्ति लेने वाला श्रावक ब्रह्मचर्याणु-व्रती कहलाता है। वह अपनी विवाहिता स्त्री, (और स्त्री विवाहित-पुरुष) के सिवाय अन्य किसी के प्रति रमण के भाव नही रखता। वह एक दूसरे मे राग बढ़ाने वाली बातो को न सुनता है और न सुनाता है, उसके अगों को भी बुरे भावो से नही देखता। पहिले भोगे हुए भोगों को याद भी नही करता। गरिष्ट भोजन भी नही करता और अपने शरीर को सजाता भी नही है. भाव ऐसा है कि मन को अब्रह्म की ओर ले जाने वाला कोई कार्य नही करता।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत :

राग या लोभ के वशीभूत होकर धन-धान्य आदि का सग्रह, परिग्रह कहलाता है। वास्तव में मूर्च्छा यानी ममत्व-भाव ही परिग्रह है। लोग पदार्थों का सग्रह तब ही करते है, जब उन्हें पदार्थों के प्रति राग या लोभ होता है। जो लोग अपनी आवश्यकताओ मे कृशता करके उन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए—यथावश्यक सचय कर उसका उपयोग करते है, वे परिग्रह परिमाणाणुव्रती हैं, ऐसे व्रती पदार्थों की मर्यादा भी निश्चित कर लेते है और वे मर्यादित पदार्थ आवश्यकताओं की कृशता की सीमा मे होते हैं। एक व्यक्ति जब अधिक सग्रह कर लेता है तो दूसरा अभावग्रस्त और दुखी हो जाते है। राष्ट्रों के पारस्परिक युद्ध भी परिग्रह-सचय की दृष्टि से ही होते है। इसलिए सुख-शान्ति के इच्छुको को यह व्रत अत्यन्त उपयोगी है।

दिग्व्रत :

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ईशान आदि चतुष्कोण, ऊर्ध्व और अधो दिशाओ मे आने-जाने की मर्यादा

बांध लेना, कि मैं जीवन भर इस मर्यादा का अतिक्रम नहीं करूंगा। परिमाणकृत क्षेत्र से (मन-वचन-काय, संरंभ, समारंभ-आरंभ, कृत-कारित और अनुमोदनापूर्वक) किसी प्रकार का संबंध न रखना दिग्व्रत है। इससे अणुव्रतों की रक्षा में सहायता मिलती है।

देशव्रत :

दिग्व्रत की मर्यादा में, काल एवं स्थान की दृष्टियो की अपेक्षा से, संकोच कर लेना देशव्रत कहलाता है। जैसे कि मैं अपने ग्रहण किए हुए दिग्व्रतो में अमुक, घड़ी, घण्टा, दिन अथवा महीनों तक इतने क्षेत्र का संकोच करता हू। आदि ·

अनर्थदण्ड त्याग :

जिन कार्यों से अपने और पराये किसी का लाभ नहीं होता हो, अपितु जीवों के घात का प्रसंग आता हो या पदार्थों का अप-व्यय होता हो ऐसे कार्यों के त्याग को अनर्थदण्डविरत कहते हैं। व्रती श्रावक स्नान के लिए उतना ही जल प्रयोग मे लाएगा, जितने में उसको पानी की बर्वादी न करनी पड़े। जैसे बहुत से लोग बैठे-बैठे जमीन को कुरेदते रहते हैं, तिनका तोडते या चबाते रहते हैं, और मार्ग गमन के समय छड़ी से व्यर्थ में पौधों को तोड़ते चलते हैं: आदि ऐसे सभी कार्य छोड़ने चाहिए।

सामायिक :

समय आत्मा को कहते हैं. आत्मा में होने वाली क्रिया सामायिक है. अथवा समताभावपूर्वक होने वाली क्रिया सामायिक है। मनुष्य ससार सबधी क्रियाएँ हर समय करता है, उसे कुछ काल आत्मा की—अपनी क्रिया करनी चाहिए। क्योंकि आत्मा ही सार है—दूसरे की क्रियाओं से लाभ नही। अत: जो श्रावक प्रात, मध्याह्न, सायं किसी मन्दिर, वन सामायिक भवन या गृह के एकान्त स्थान में बैठ कर आत्म-चिन्तवन करते हैं, वे सामायिक-व्रती होते हैं: सामायिक का उत्कृष्ट काल मुहूर्त और मध्यम व जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है।

प्रोषधोपवास व्रत :

उपवास शब्द का अर्थ आत्मा के निकट—आत्मामे निवास करना है। और आत्म-वास मे भोजन आदि वाह्य क्रियाओं का त्याग देना आवश्यक है अत: परिपाटी में सामायिक में निमित्तभूत होने से नियमित काल के लिए आहारादि का त्याग प्रोषध या प्रोषधोपवास नाम पा गया है। श्रावक को निर्जल उपवास से पहिले और पिछले दिन एक-अशन ही करना चाहिए। इससे सहन-शक्ति बढ़ती है: यदि परिणामों में कलुषता बढ़ जाय तो प्रोषध करना और न करना एक जैसा है परिणामों में निर्मलता रखना उपवास का परम लक्ष्य है, इसमें शरीर आदि से ममत्व भी छोडना आवश्यक है: उपवास के दिन बाह्य आरंभजनक क्रियाओं का त्याग भी आवश्यक है।

भोगोपभोग परिमाण :

ऊपर परिग्रह परिमाण व्रत को बता आए हैं: किए हुए परिमाण में भोग-उपभोग संबंधी पदार्थों के सेवन की मर्यादा बांधना—परिग्रह परिमाणव्रत में सीमा का संकोच करना, श्रावक को मुनि पद तक पहुंचाने मे सहायक होता है और इससे तृष्णा तथा ममत्व भाव के त्याग को बल मिलता है।

अतिथि संविभाग व्रत :

जिसके आने की कोई तिथि नहीं होती—उसे अतिथि कहते है। प्राय इस श्रेणी में साधु-साध्वी आते हैं। साधारणतया गृहस्थ भी—जैसे प्रतिमाधारी त्यागी-व्रती भी इसमे ग्रहण कर लेने चाहिए। श्रावक का कर्तव्य है कि वह अतिथियों की सेवा करे। उन्हे आहार, वसतिका आदि से संतुष्ट करे: इससे धर्म सरक्षण को बल मिलता है और प्रभावना व स्थितिकरण में सहायता मिलती है।

उक्त प्रकार श्रावक के व्रतो का सक्षेप है। इसके साथ ही श्रावक का कर्तव्य है कि वह सप्त कु-व्यसनों से दूर रहे तथा प्रतिदिन श्रावक के षट्कर्मों का पालन करे। प्रात: उठने के बाद और रात्रि को शयन से पूर्व अपने दोषों की आलोचना करे और प्रायश्चित्त लेकर नियम करे कि कल वह उन दोषों से वचने की कोशिश करेगा जो दोष उसे आज लग गए है: इसके बाद पचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए अपने दैनिक कार्यों मे प्रवृत्त हो और यदि शयन का समय है तो सोए। श्रावक को अन्य अनेक सत्कार्यों का सदा ध्यान रखना चाहिए और सदा ही निम्न प्रकार की भावना के अनुसार व्यवहार करना चाहिए—

'सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्य भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।"

× × ×

क्षेमं सर्वप्रजानां, प्रभवतु वलवान् धार्मिको भूमिपाल:।
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्॥
दुर्भिक्षं चौर मारीक्षणमपिजगतां मास्म भूज्जीव लोके।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्व सौख्य प्रदायि।

—वीर सेवा मदिर, दिल्ली

जरा सोचिए !

१. क्या कोई इस योग्य है ?

दुखी बहुत देखे, अभावग्रस्त भी मिले, पर उन जैसा अनूठा और बात का धनी आज तक न देखा। लाठी के सहारे, चिथडों से आच्छादित, कमर झुकी, मुख पर झुर्रियाँ फिर भी सन्तेज। सहसा मेरी ओर बढे और दीवार के सहारे मेरे पास ही बैठ गए—मौन।

मैंने पूछा—बाबा क्या बात है, दुखी से दिखाई देते हो। क्या कोई कष्ट है या कुछ आवश्यकता है ? बताओ।

बोले—बेटा, क्या कहू ? मेरी माँगने की आदत नहीं, मैं जैनी हूं। फिर कैसे मागू और किससे मांगू ? क्या कोई इस योग्य हैं जो मुझे कुछ दे सके, और जिससे मैं ले सकू ?

मैंने कहा—कोई बात नही। आवश्यकता पड़ने पर सभी मांगते है। फिर देने वालो की कमी भी तो नही। लोग आज भी हजारो लाखो की संख्या में देते हैं। आप कहिए तो ? आपका वचन यथाशक्ति पूरा कराने का प्रयत्न करूँगा।

वे बोले—बहुत दिनो की बात है। किसी पहुचे हुए सन्त ने मुझे बताया था कि ससार मे किसी से कुछ मत मांगना। यदि मागना ही हो तो चार की शरण जाना—'अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि पण्णत्त धम्म सरण पवज्जामि।' अर्थात् अरहत, सिद्ध, साधु और धर्म की सरण जाना। यदि अधिक आवश्यकता पड जाय तो किसी जैनी (मद्य-मांस-मधु त्यागी और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण व्रतों के निरतिचारपालक) की सहायता ले लेना—वह भी तुम्हारा मनोरथ पूरा कर सकेगा।

बाबा ने आगे कहा—जब मैं समर्थ था और मेरे हाथ-पांव चलते थे तब मिहनत मजदूरी करके न्याय की कमाई से गुजारा चलाता रहा। जो बचता था वह जोड़ता रहा, वह भी अब पूरा हो गया। ये तो तुम जानते ही हो कि न्यायपूर्वक अर्जित धन से किसके कोठी और महल बने है और कौन लाखों-करोड़ों का धनी हुआ है ?

अब साक्षात् अरहंत नही, सिद्धों तक मेरी पहुच नहीं, साधु मुझे मिलेंगे कहाँ ? धर्म मेरे साथ है और धर्मात्मा जैनी की खोज मे हू।

मैंने कहा—बाबा, ऐसी कौनसी बात है आप दुखी न हो। अभी तो जैनी लाखो की सख्या में जिन्दा हैं—आपकी व्यवस्था बन जाएगी।

बाबा ने कहा—बेटा, जिन्हे तुम जैनी कह रहे हो, उन्हें मेरी और जिनेन्द्रदेव की आँखो से देखो—शायद मैं ही तो भ्रम मे नही ! मुझे तो अष्टमूलगुणधारी दाता नजर नही आते। वे आगे बोले—दातारों में कितने हैं जो मद्य-मांस-मधु के त्यागी हैं, कितने हैं जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण व्रतों को निरति चार पालते हैं ? या जिनके अनछने जल और रात्रि भोजन का त्याग है ? देव दर्शनादि आवश्यको के पालक कौन हैं ?

बाबा की बात सुन कर मैंने दूर तक सोचा। मेरी दृष्टि मे ऐसा व्यक्ति नही आया जो जिनेन्द्र और बाबा की परिभाषा में जैन हो और जिससे बाबा की कुछ सहायता कराई जा सके। फिर भी मैंने बाबा से कहा—बाबा, ऐसे लोग होगे जरूर। मैं तलाश करके बताऊंगा।

बाबा ने उत्तर दिया—यदि कोई मिले तो उससे कुछ सहायता मँगा कर रख लेना मैं फिर हाजिर हो जाऊँगा। इतना कह कर बाबा अन्तर्धान हो गए।

मैं अवाक् रह गया ? इतना कठोर नियम-पालक। धन्य है ऐसे लौह पुरुष को।

जरा सोचिए ! उक्त परिभाषा में गर्भित किसी निरतिचार जैनी को और उसका नाम पता दीजिए ताकि जरूरत पडने पर बाबा के लिए कुछ सहायता मँगाई जा सके।

२. धर्म संस्थानों का रजिस्ट्रेशन क्या है ?

धर्म और धर्म-संस्थाएँ स्वयं मे ऐसे केन्द्र हैं जो स्वयं ही मानवो का रजिस्ट्रेशन करते हैं—इनके आश्रितों को अन्य किसी लौकिक रजिस्ट्रेशन की आवश्यकता नहीं

होती—इनके आश्रित व्यक्ति अपने आचरण से सहज ही मानवता के प्रतीक बन जाते हैं।

हमें आश्चर्य होता है जब कोई व्यक्ति स्वभावतः रजिस्ट्रेशन करने वाले धर्म या धर्म-संस्थान के लौकिक रजिस्ट्रेशन की चर्चा चलाता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति मन में विविध शकाएँ होती है—कि इसके मन में अवश्य कोई अनैतिकता का भूत सवार है। या तो यह संस्था के प्रति दूसरे के द्वारा भय-उत्पादन से शकित हैं या स्वयं ही भयावह है, जो लौकिक न्यायालय के सहारे की ताक मे है।

उस दिन एक व्यक्ति मिले। बोले—हमे अपने धार्मिक न्यास का रजिस्ट्रेशन कराना है। मैं अवाक् रह गया थोड़ी देर बाद मैंने ही उनसे कहा—धर्म और धर्म-संस्थानो का आत्मा से तादात्म्य संबंध है। धर्म तो व्यक्ति का स्वयं मे रजिस्ट्रेशन है। धर्म मानवता की रजिस्ट्री करता है। मानव धर्म से तनिक भी च्युत हुआ कि वह पाप कर्म से जकड लिया गया इसमें किसी दूसरे न्यायालय की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जब किसी व्यक्ति के मन में अनैतिकता का प्रवेश होता हे तब धर्म और धर्म संस्थान दोनो ही स्वतः विघटित हो जाते हैं—वे अधर्म का रूप ले लेते हैं, उनकी रक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। लोक में आज हम जिन्हें धार्मिक संस्थान मानने लगे हैं वे सर्वथा ईंट चूने और सीमेन्ट के ढेर और चांदी सोने के टुकड़े मात्र हैं—उनकी रक्षा करके हम धर्म या धार्मिक न्यास की रक्षा नही कर सकते जब कि हम धर्म और मानवता-शून्य हों।

वे बोले—आप तो पुण्य-पाप की बात पर आ गए। मैं तो बाह्य-सम्पत्ति के संरक्षण की बात कर रहा हूँ कि भविष्य में वह सुरक्षित रहे।

मैंने कहा—यदि किसी को झगड़ा करना ही हो—और यदि उसकी नीयत खराब हो तो झगड़ा अवश्य करेगा। वह रजिस्ट्रेशन होने पर भी अधिकार कर लेगा और आप बचा न सकेंगे। वहाँ तो कानून मे कानून हैं और साथ में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत भी है। वह अपने पक्ष में बहुमत सिद्ध करने के लिए अपने सदस्यों का बाहुल्य भी कर सकता है, उन्हें पदों आदि के प्रलोभन भी दे सकता है, जैसी कि मनोवृत्ति आज राजनैतिक पार्टियों में स्पष्ट ही चल रही है, आदि :

पहिले बुजुर्गों ने अनेकों संस्थाएँ खड़ी कीं उनके भौतिक रजिस्ट्रेशन भी कराए। वे रजिस्ट्रेशन क्या काम आए ? लोग कानूनों में उलझ गए और आज स्थिति यह है कि न वे लोग रहे और ना वे संस्थाएँ ही रहीं। जो रहीं भी उनसे कई तो व्यक्तियों के कमाने खाने में ही सीमित हो गईं। सो यह तो समय का फेर है। जब धर्मी के मन से धर्म निकल जाता है तब रजिस्ट्रेशन आदि सभी यूँ ही धरे रह जाते हैं। अतः धर्म और धार्मिक भावना की कद्र करना ही सबसे बड़ा रजिस्ट्रेशन है—इन वाह्य रजिस्ट्रेशनों में कुछ नही रखा। वस वे चुप हो गए।

वास्तविकता क्या है ? धर्म-संस्थानो की रक्षा में धर्म-भाव मुख्य कारण है या वाह्य—लौकिक रजिस्ट्रेशन ? जरा सोचिए !

३. ऊर्ध्व व मध्यलोक तथ्य है !

'जैनी' जिनदेव का भक्त होता है। वह 'जिन' की वाणी का ज्ञाता और उपदेश का पालक भी होता है। देव-शास्त्र-गुरु तीनो ही रत्न उसके अपने होते हैं और वह उनकी संभाल करता है। जो लोग कुदेवों की उपासना करते हों, जिन वाणी के रहस्य को न जानते हों और गुरुओं में निःस्पृहता के दर्शन न करते हो—वे इन रत्नों की रक्षा करने मे सर्वथा असमर्थ ही होंगे।

आज स्थिति ये है कि अनादि परम्परागत धर्म और त्रिलोक-महल, जिन्हें शताब्दियों तक तीर्थंकर और परम्परागत आचार्य संभालते रहे—संरक्षण देते रहे, अब खण्डहर होने की बाट जोहने लगे हैं। और हम ऐसे निर्मम हैं जो इनकी ओर कनखियों तक से निहारने को तैयार नही—सर्वथा मुख मोड़े बैठे हैं और कहीं पर प्रकाशित निम्न पंक्तियों को भी सुख से पढ़ रहे हैं—

"ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक संबंधी वर्णन तो बाद के आचार्यों ने जो छद्मस्थ थे उस समय के इस विषय के विद्वानों की मान्यतानुसार अपने शास्त्रों में किए हैं।" "छद्मस्थ आचार्यों द्वारा लिखी बात आधुनिक वैज्ञानिक

खोजो से गलत हो जाने से जैन धर्म का कुछ नही बिगड़ता ।" "जब हमारे विद्वान् मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक संबंधी अपनी शास्त्रीय मान्यताओं को आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के मुकाबले में प्रमाणित करने में असमर्थ हैं, तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे चौथे अध्याय व उनकी टीकाओं का पढ़ाना बन्द कर दिया गया है ।"

हमारे यहाँ देव-शास्त्र-गुरु को रत्न-संज्ञा दी गई है । इस समय इनमे से वीतराग देव का सर्वथा अभाव है और गुरु भी अंगुलियो पर गिनने लायक कुछ ही होंगे—अधिकांश में तो लोगों की अश्रद्धा जैसी ही हो चली है । अब तो केवल शास्त्र ही स्थितिकरण के साधन है; जो उक्त प्रकाशनों जैसे साधनों से मिथ्या होने लगेंगे । और लोग जो अश्रद्धा के कगार पर खड़े हैं—गड्ढे में गिर पड़ेंगे और यह सबसे बड़ा बिगाड़ होगा ।

यदि भूगोल सबधी जैन-रचना को मिथ्या माना जायगा तो 'जैन' का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा—न नन्दीश्वर द्वीप होंगे न उनमें स्थित प्रतिविम्बों के पूजक ही होंगे । जैसे—

(१) जैन भूगोल के मिथ्या मानने पर विदेह क्षेत्र का अभाव होगा जिससे वहाँ के विद्यमान बीस तीर्थंकर असिद्ध होंगे । आप बीस तीर्थंकर-पूजा न करेंगे ?

(२) सुमेरु पर्वत का अभाव होगा, तब तीर्थंकरो का जन्म कल्याणक अभिषेकोत्सव असिद्ध होगा ।

(३) क्षीर-समुद्र का अभाव होने से जल—जो अभिषेक के लिए आया होगा—वह भी न होगा ।

(४) इन्द्रादि देवगण (ऊर्ध्वलोक) के अभाव मे अभिषेक किसने किया होगा ?

(५) समवसरण देव रचते है, देवो के अभाव मे वह रचा न गया होगा तब तीर्थंकरों की दिव्य- ध्वनि कहाँ से हुई होगी ?

(६) देवरचितअर्धमागधी भाषा के अभाव मे दिव्य-ध्वनि का इस भाषा मे होना भी सिद्ध न होगा ।

(७) इन्द्र की सिद्धि न होने से गणधर की उपलब्धि भी सिद्ध न होगी और गणधर के अभाव में दिव्य-ध्वनि भी नहीं होगी । ऐसे में तीर्थंकरों का कोई भी उपदेश सिद्ध न हो सकेगा ।

इतना ही क्यों ? जैन भूगोल और ऊर्ध्वलोक की मान्यता के अभाव मे तीर्थंकरों के जीवन चरित्र के सँबंध मे भी विवाद खडा हो जायगा । यतः जब स्वर्ग नही, तो तीर्थंकर के जीव का वहाँ होना और वहाँ से चयकर माता के गर्भ मे आने का प्रसग ही नही और गर्भ में न आने से पैदा भी न हुए । तथा देवगति के अभाव में भगवान पार्श्वनाथ पर कमटजीव (देवयोनि) द्वारा और महावीर पर 'संगम' देव द्वारा उपसर्ग भी नहीं । ऊर्ध्वलोक के अभाव में सिद्धशिला (मुक्त जीवों का स्थान) भी सिद्ध न हो सकेगा.. मुक्ति भी समाप्त हो जायगी । और भी बहुत से विरोध खड़े होंगे ।

हमारी दृष्टि में जैन आगम सर्वथा तथ्य हैं । अमेरिकी वैज्ञानिको की मान्यता हो चली है कि चन्द्र अनेक होने चाहिएं—वे खोज मे लगे हैं : खोज होने दीजिए । वास्तव मे खोज कभी पूरी नही हो पाती क्योकि वस्तु अनन्त धर्म वाली है और अनन्त को अनन्त ज्ञान ही जान पाता है ।

समाज का लाखो रुपया जो दिखावट और यश-अर्जन मे अथवा किन्ही सीमित हाथों मे अधिकार के लिए, इधर-उधर घूमता दिखाई देता है उसे वास्तविक 'ज्ञान-ज्योति' (ज्ञानप्राप्ति—शोध) मे लगाये जाने की आवश्यकता है—बुझने वाली, अस्थायी किसी 'ज्ञान-ज्योति' में लगाने की नही ।

ऊर्ध्व और मध्य लोक की रचना के बारे में लोग विद्वानो से पूछते हैं । आखिर, जैन-विद्वान् तो उतना ही बता सकेंगे—जितना वे जानते हो । क्या समाज ने कभी विद्वानों को साइन्स के एक्सपर्ट बनाने के साधन जुटाए हैं ? कोई ऐसी वैज्ञानिक रिसर्च शोधशाला खोली है जो जैन भूगोल पर शोध करे ! क्षमा करें, समाज की दृष्टि तो आज भी मिट्टी-पाषाण, भाषा-लिपि, और स्वतः में सिद्ध—स्पष्ट साहित्य ग्रन्थो को कुरेदने—उनमें इतस्ततः विभिन्न जोड़-तोड़ बिठाने वाले शोधकर्ताओं और तथाविध शोध-प्रबन्धो को तैयार करने कराने की बनी हुई है । कोई उनमें छन्द-अलंकार की खोज मे लीन है तो कोई व्यक्तित्व और कृतित्व में P.hd. चाहता है और कोई पुरुषों की लम्बाई-चौड़ाई ही ढूढता है । आगम के मौलिक तथ्यों को उजागर करने-कराने वाले तो विरले ही हैं ।

मेरी दृष्टि से लोक-रचना और तत्त्वों के तत्त्व पर शोध किए बिना—मात्र आगम को मिथ्या बताने से कुछ हाथ नहीं आएगा। अपितु, रहा सहा जो है वह भी खो जाएगा। कृपया लोक रचना की पुष्ट-शोध कराइए और सोचिए।

४. ज्ञान-आगार और शोध-संस्थान ?

जैन-धर्म और दर्शन स्व-पर स्वरूप को दिखाने वाले जीवित शोध-संस्थान थे। इनके माध्यम से भेद-विज्ञान का पाठ पढ़ाया जाता था और पढ़ाने वाले शिक्षक, आचार्य, उपाध्याय और गुरु कहलाते थे। शोध-संस्थानों की यह परम्परा तीर्थंकर ऋषभदेव के समय से महावीर पर्यन्त अविच्छिन्न रूप में चली आती रही—कभी कम और कभी अधिक। तत्त्वार्थसूत्र में बतलाए गए साधुओ के भेदों में गिनाए गए तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, साधु, मनोज्ञ और अणुव्रती श्रावक सभी इन माध्यमों से ऊँची-ऊँची पदवियों को पाते और स्व-पर कल्याण करते-कराते रहे। पर, तीर्थंकर महावीर के बाद गौतम, जम्बू, सुधर्मा तथा अन्य मान्य आचार्यों और श्रावकों के उपरान्त धीरे-धीरे इस परम्परा में धूमिलता आती गई। फिर भी इनका चलन विद्यालयों, मन्दिरों और पुस्तकालयों के रूप मे जारी रहा—इनके माध्यम से स्व-पर भेद विज्ञान का पाठ चालू रहा। गुरु गोपालदास वरैया, पूज्यवर्णी गणेशप्रसाद जी आदि जैसे उद्भट विद्वान भी तैयार होते रहे।

आज स्थिति यहाँ तक पहुच गई है कि विद्यालय, विद्यालय न रहे। वे ईंट-पत्थरो के आगार मात्र रह गए और गुरु, गुरु न रहे वे कर्मचारी श्रेणी में जा पड़े। यह सब भौतिकता का प्रभाव है जो धन के लोभ और धन के प्रभुत्व में क्रमशः पनपता रहा। पढ़ाने वाले विद्वान् धर्म-ज्ञान जैसे धन को पैसे लेकर बेचने लगे और भौतिक-विभूति वाले उसको खरीदने के आदी बन गए। कैसी विडम्बना चालू हुई ? जिनवाणी के सेवक कर्मचारी और तत्संबंधी कुछ न करने वाले स्वामी होकर रह गए—जैसा कि सरकारी और लौकिक चलन है। बस यहीं से पतन का श्रीगणेश हुआ—दृष्टि में बदलाव आया—धर्म नियमों में राजनीति प्रविष्ट हुई जिसे कि नहीं होना चाहिए था।

इस भौतिकता का प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि बड़े-बड़े भवन बनते रहे, उनके भौतिक रजिस्ट्रेशन होते रहे, सरकारी मान्यताएँ मिलती रहीं। उनमें शोध-कार्य चले, और कहने को कुछ सफल भी हुए। पर वास्तव में कुछ हाथ न लगा। जो भौतिक शोधें हुई वे ग्रन्थों, मन्दिरों और मठो तक ही सीमित रह गईं—स्व-पर भेद विज्ञान से उनका कोई प्रयोजन नही। मानव आज भी पर में लीन—भेद-विज्ञान शून्य है—उसे व्यावहारिक बातचीत का ढंग भी नही आया है। देव-शास्त्र-गुरु की पूजा तो दूर: वह आचार-विचार से भी भ्रष्ट हो चला है।

यह सब क्यो हुआ ? इसमे कारण, दास-प्रथा को कायम रखने की मनोवृत्ति है या धर्म-ज्ञान की बिक्री की प्रवृत्ति या कुछ न करके भी अधिकारित्व जताने की भावना कारण है ! जरा सोचिए और पतन के कारणों को रोकिए।

—सम्पादक

(आवरण पृष्ठ ३ का शेषांश)

दूसरी प्रतिमा में केवल शासन देवी अम्बिका का सिर प्राप्त हुआ है, जो पूर्णतः घिस गया है।

जिन प्रतिमा का पार्श्व भाग :

संग्रहालय में जिन प्रतिमा के पार्श्व भाग से संबंधित तीन कलाकृतियां सग्रहीत हैं। प्रथम भाग में जैन प्रतिमा का दायाँ पार्श्व भाग है। जिस पर अंकित जिन प्रतिमा भिन्न प्रायः है। दाईं ओर गज व्याल बाईं ओर मालाधारी यक्ष एवं नृत्यरत यक्षी का शिल्पांकन है।

दूसरी प्रतिमा जैन मूर्ति का बाँया भाग है। जिसका दायाँ पार्श्व भग्न है। दोनों ओर अभिषेक कलश सहित गजराज, जिन प्रतिमा यक्ष, गन्धर्व एवं मालाधारी छत्रावली आदि का आलेखन है।

तीसरी प्रतिमा जिन प्रतिमा का बायां भाग है। जिसमें छत्रावली, वादक, नर्तक, यक्ष, गन्धर्व तथा कलश लिए हुए हाथियों का शिल्पांकन है।

केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय गूजरी महल, ग्वालियर (म० प्र०)

संग्रहालय, ऊन में संरक्षित जैन प्रतिमाएँ

□ नरेन्द्रकुमार पाठक

ऊन पश्चिमी निमाड़ में जैन मूर्ति कला एवं स्थापत्य कला का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहां प्रसिद्ध सुवर्णभद्र तथा अन्य तीन संतों को नमन पर जिन्होंने चेलना नदी के तट पर स्थित पावागिरि शिखर पर निर्माण प्राप्त किया था।[1] संग्रहालय में कुल नौ जैन प्रतिमाएं हैं। ये सभी कलाकृतियां हल्के काले रंग के पत्थर पर निर्मित है। कलाक्रम के आधार पर १२वीं १३वीं शती की हैं एवं ऊन के खण्डहरों से प्राप्त हुई हैं।

शान्तिनाथ :

पद्मासन मुद्रा में निर्मित शान्तिनाथ का कमर से नीचे का भाग प्राप्त हुआ है। पैरों पर रखा हुआ दाहिना हाथ भी खंडित है। पादपीठ पर भगवान शान्तिनाथ का ध्वज चिह्न हिरण तथा शंखाकृतियों के मध्य में मूर्ति का स्थापना लेख उत्कीर्ण है। लेख का पाठ इस प्रकार है—

संवत् १२१२ वर्षे देवचंद्र सुत (श्री) पाल: प्रणमीत नित्य···

पार्श्वनाथ :

तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा पद्मासन में निर्मित संग्रहालय की जैन प्रतिमाओं में सबसे सुन्दर और आकर्षक प्रतिमा है। मूर्ति के सिर पर कुन्तलित केशराशि का आलेखन है। वक्ष पर 'श्री वत्स' चिह्न सुशोभित है। पैरों के नीचे भाग में प्रभावाली नागफणमौलि भग्नप्राय है। अलंकरण उच्च स्तरीय है।[2]

लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाएँ :

यह तीर्थंकर प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में निर्मित है। पत्थर के क्षरण के कारण प्रतिमा की कलात्मकता नष्ट हो गई है।

गोमुख यक्ष :

एक शिल्पखण्ड पर गोमुख यक्ष का शिल्पांकन है। बाएं पार्श्व में चामरधारी और दाएँ पार्श्व में गज, सिंह एव व्यालाकृतियों का आलेखन मनोहारी है।

अम्बिका :

भगवान नेमिनाथ की शासन यक्षी अम्बिका की यह प्रतिमा आशाधर और नेमिचन्द्र द्वारा वर्णित प्रतिमा लक्षणों के अनुरूप है जिनमें अम्बिका त्रिभंग मुद्रा में शिल्पांकित है। जो अपनी दाहिनी गोद में प्रियंकर को लिए है। बाईं ओर की खड़ी प्रतिमा द्वितीय पुत्र शुभंकर की है। दाएं चामरधारी खड़ा है। चामरधारी के हाथ व पैर एवं मुंह भग्न अवस्था में हैं। अम्बिका, पारम्परिक आभूषणों से कानों में कुण्डल, गले में माला बाजूबन्ध आदि से युक्त है। ये आलेखन आंशिक रूप में दिखाई दे रहे हैं। यह प्रतिमा निर्मित के समय काफी सुन्दर रही होगी।[3] (शेष पृष्ठ ३२ पर)

---

१. आधुनिक इतिहासकार ऊन के पास बहने वाली नदी को चेलना नदी मानते हैं तथा पावागिरि को आधुनिक ऊन से समीकृत करते हैं।

२. सम्भवत: इस प्रतिमा का कमर से ऊपर का भाग इन्दौर संग्रहालय में संरक्षित तीर्थंकर प्रतिमा का ऊर्ध्व भाग होना चाहिए जो ऊन से प्राप्त हुआ है।

३. इन्दौर व विदिशा संग्रहालय में भी इस प्रकार की स्थानक अम्बिका की प्रतिमा संरक्षित है।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५ ००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८ ००

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो।

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३५ : कि० ४ अक्तूबर-दिसम्बर १९८२

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

'अनेकान्त' के जन्मदाता की स्मृति में

'अनेकान्त' और वीर सेवा मन्दिर के जनक, स्वनामधन्य स्व० आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर की इसी दिसम्बर मास में मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन १०५वीं जन्म जयन्ती थी और २२ दिसम्बर को उनकी १४वीं पुण्यतिथि थी। वर्तमान शती के इस महापुरुष के ९१ वर्ष के दीर्घ जीवन-काल का बहुभाग, साधिक ७० वर्ष, जैन-धर्म-संस्कृति-साहित्य-समाज की एकनिष्ठ सेवा में व्यतीत हुआ। इस सम्पादकाचार्य ने, विशेषकर 'अनेकान्त' के माध्यम से, जैन पत्रकारिता को अत्युच्च स्तर प्राप्त कराया। इस समालोचना सम्राट की साहित्य-समीक्षाएं निर्भीक, विस्तृत, तलस्पर्शी तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक होने के कारण अद्वितीय होती थीं। पुरातन साहित्य की शोध-खोज के क्षेत्र में मुख्तार सा० ने अभूतपूर्व मान स्थापित किये। वह उच्चकोटि के ग्रन्थ-परीक्षक, टीकाकार एवं व्याख्याकार भी थे और समाजसुधार के उद्देश्य से उन्होंने अनेकों सुविचारित एव उद्बोधक लेख-निबन्धादि भी लिखे। वह सुकवि भी थे और उनकी 'मेरी भावना' तो अमरकृति बन गई तथा बच्चे-बच्चे की जबान पर चढ़ गई। पुरातन आचार्यों की कृतियों की खोज एवं शोध तथा प्रकाशन की दिशा में उनके प्रयास अत्यन्त महत्वपूर्ण रहे। 'पुरातन जैन वाक्य सूची', 'जैनग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह', 'जैन लक्षणावली', जैन शास्त्र भंडारों की ग्रन्थ सूचियां प्रभृति उनके द्वारा नियोजित एवं सम्पादित सन्दर्भग्रन्थ शोधार्थियों के लिए अतीव उपयोगी रहे हैं और रहेंगे। प्रातः स्मरणीय स्वामी समन्तभद्राचार्य के मुख्तार साहब अनन्य भक्त थे और उनके साहित्य के तलस्पर्शी अध्येता एवं व्याख्याता थे। राष्ट्रीय चेतना के प्रति सजग रहने के कारण उन्होंने सदैव शुद्ध खादी का प्रयोग किया।

'अनेकान्त' और 'वीर सेवा मन्दिर' अपने इस साहित्य-तपस्वी जनक के सजीव स्मारक हैं। स्व० मुख्तार सा० की अप्रकाशित कृतियों के प्रकाशन तथा प्रकाशित किन्तु अप्राप्य कृतियों के पुन: प्रकाशन की आवश्यकता है। श्रद्धेय मुख्तार सा० की उपलब्धियां एवं सेवाएं अविस्मरणीय है।

हम उनकी इस १०५वीं जन्म-जयन्ती एवं १४वीं पुण्यतिथि के उपलक्ष्य में उनके प्रति अपनी तथा वीर सेवा मन्दिर एवं अनेकान्त परिवार की ओर से विनयावनत स्मरणाञ्जलि अर्पित करते हैं।

ज्योति निकुञ्ज,
चारबाग, लखनऊ

—डा० ज्योति प्रसाद जैन

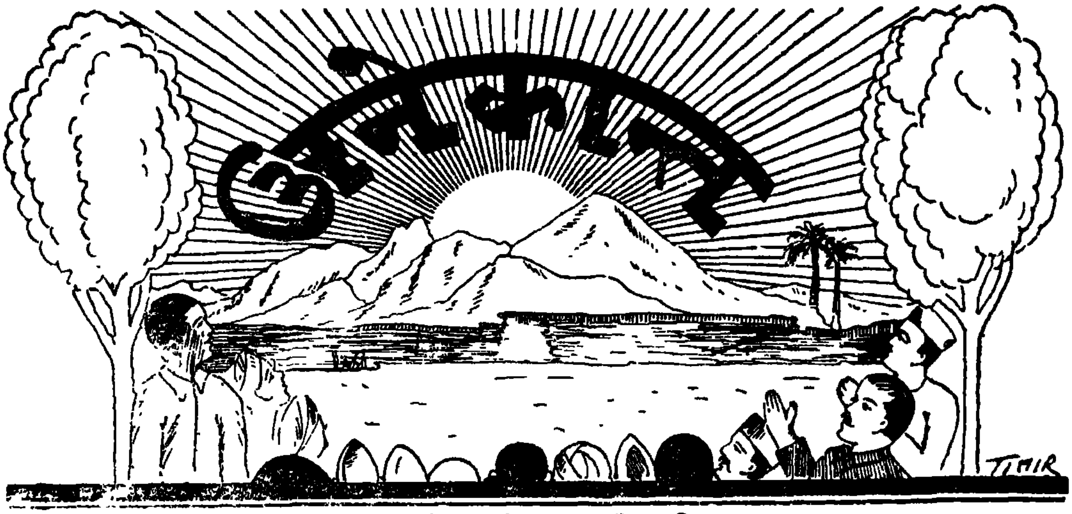
अपनी बात—

'अनेकान्त' के वर्ष ३५ की अन्तिम भेंट प्रस्तुत करते हुए हमें सन्तोष है कि सभी प्रसंगों में 'अनेकान्त' का स्वागत किया गया है—कई सराहना सूचक संदेश भी मिलते रहे हैं जिसका समस्त श्रेय सहयोगी-सम्पादक मंडल, विद्वान् लेखक, प्रकाशक एवं संस्था की कमेटी को जाता है—सम्पादक तो भूलों के लिए क्षमा याचक और निमित्त मात्र है। कई प्रसंग ऐसे भी आते हैं जिनमें लेखनी फूंक-फूंक कर चलानी पड़ती है फिर भी स्खलित हो जाता है। पाठक और संबंधित महानुभाव इसके लिए क्षमा करें।

जिनेन्द्र देव की आराधना हमें शक्ति दे कि हम भविष्य में भी बिना किसी पक्षपात के वस्तु-स्थिति का दिग्दर्शन कराने में समर्थ रह सकें और 'अनेकान्त' अधिक से अधिक उपयोगी बन सभी की सुख-समृद्धि का स्रोत बना रह सके।

—सम्पादक

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३५ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | अक्टूबर-दिसम्बर
वीर-निर्वाण संवत् २५०८, वि० सं० २०३६ | १९८२

जिनवाणी-महिमा

नित पीजो धी-धारी ।
जिनवानि सुधासम जान के, नित पीजो धी-धारी[1] ॥
वीर-मुखारविन्द ते प्रगटी, जन्म-जरा-गद[2] टारी ।
गौतमादि गुरु उर घट व्यापी, परम सुरुचि करतारी ॥१॥
सलिल समान कलित-मलगंजन बुधमन रंजनहारी ।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी ॥२॥
कल्यानकतरु उपवन धरनी, तरनी[3] भव-जल तारी ।
बंध विदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी ॥३॥
स्व-पर स्वरूप प्रकाशन को यह भानु कला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदनि-मोदन-शशिभा[4], शम-सुख सुमन-सुवारी[5] ॥४॥
जाको सेवत, बेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ॥५॥
कोटि जीभसों महिमा जाकी, कहि न सके पविधारी[6] ।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी ॥६॥

---

१. बुद्धिमान, २. बीमारी, ३. नौका, ४. चांदनी, ५. बगीची, ६. इन्द्र

राजस्थान के इतिहास में जैनों का योगदान

□ इतिहासमनीषी, डा० ज्योतिप्रसाद जैन

राजस्थान का इतिहास मध्यकालीन भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। इस प्रदेश मे उस लगभग एक सहस्र वर्ष के काल में अनेक राजपूत राज्यवशों एव राजपूत राज्यों के प्रभुत्व के कारण ही वह प्रदेश राजपूताना कहलाया। सामान्य इतिहास के पाठक उनमे से प्रमुख राजपूत राज्यवशो और राजपूत नरेशो के नामादि और कतिपय कार्यकलापो से ही परिचित होते है और उनकी यह धारणा बन जाती है कि राजस्थान का इतिहास राजपूतो का ही इतिहास है, वे ही उस प्रदेश के इतिहास के एक मात्र निर्माता है। वस्तुतः, राजपूताने मे स्वयं राजपूत एक अल्पसख्यक जाति है और उस प्रदेश की संपूर्ण जनसख्या का एक बहुत बडा भाग राजपूतेतर लोग है। राजपूताने की सपूर्ण जनसख्या को दो भागो मे बाट सकते है—एक तो सभ्य सभ्रान्त एव अपेक्षाकृत अर्वाचीन निवासी है। इनमें गहलोत, चौहान, कछवाहा, राठौर, होडा आदि वशो के राजपूत, बनिये या वैश्य जो प्राय. ओसवाल, खडेलवाल, अग्रवाल, श्रीमाल, पोरवाल, बघेरवाल, हूमड, नरसिंह राजपुरा आदि है और अधिकाशत. जैन धर्मावलम्बी रहे हैं, कायस्थ, चारण या भाट और ब्राह्मण प्रमुख है। दूसरे, राजपूताने के आदिम निवासी अर्धसभ्य जगली, पहाड़ी, या कृषक जातिया है। इनमे भील, मीने, मेव, जाट, मेढ़ आदि प्रमुख हैं। राजस्थान के इतिहास के निर्माण मे इन दोनो ही वर्गो की राजपूतेतर जातियों ने महत्वपूर्ण भाग लिया है। राजपूताने का इतिहास इन जातियो का भी उतना ही है, जितना कि स्वय राजपूतो का है।

जैन धर्मावलम्बी मूता नेणसी की मध्यकालीन 'ख्यात' सूरजमल मिश्रण का 'वंशभास्कर' (१९वी शती ई०) भाटो और चारणों की विरुदावलियां, जैन पंडित ज्ञानचन्द्र की सहायता से रचित कर्नल जेम्सटाड का राजस्थान, जोधपुर के मुंशी देवीप्रसाद का इतिहास, पं० गुलेरी जी का ग्रंथ, विश्वेश्वरनाथ रेउ का 'भारत के प्राचीन राजवंश' म० म० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा का 'राजपुताने का इतिहास', आदि ग्रंथ राजस्थान इतिहास के प्रधान साधन है। इन ग्रन्थो मे यद्यपि प्रमुख राजपूत राज्यवंशो एव रजवाड़ो के आश्रय से ही राजस्थान के ऐतिहासिक विवरण दिए गए है, तथापि उनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त इतिहास मे राजपूतो के अतिरिक्त जैनी बनियों, चारण, भाटो, कायस्थों तथा ब्राह्मणो का और भील, मीना आदि आदिम जातियों का भी बड़ा हिस्सा रहा है। सामान्य इतिहास पुस्तको मे अवश्य ही इन राजपूतेतर लोगों का प्रायः कोई उल्लेख नही रहता, अतः सामान्य पाठक भी राजस्थान के इतिहास मे इन जातियों के महत्वपूर्ण योगदान के ज्ञान से वंचित ही रहते है। मध्यकालीन इतिहास के एक माने हुए विशेषज्ञ प्रो० के० आर० कानूनगो के लेख 'दी रोल ऑफ नान राजपूत्स इन दी हिस्टरी ऑव राजपूताना (मार्डन रिव्यू फर्वरी ५७ पृ० १०५) मे भी राजपूताने के इतिहास में राजपूतो के अतिरिक्त जिन चारण, वैश्य और कायस्थ तथा भील, मीना, मेव, मेढ नामक राजपूतेतर जातियों का प्रमुख योगदान रहा है, उन पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है।

उपरोक्त जातियों मे से चारण या भाट तो राजस्थान की एक विशिष्ट जाति है और प्रायः उसी प्रदेश में सीमित है। यह जाति राजपूत युग की एक महत्वपूर्ण एवं दिलचस्प विशेषता है। राजपूतों के साथ उसका चोली-दामन का साथ रहा है। चारण या भाट राजपूती सभ्यता और संस्कृति के अभिन्न अंग रहे हैं। कायस्थ और वैश्य, दोनो जातियो की प्रशंसा और प्रतिष्ठा भी खूब हुई है और निन्दा भी काफी की गई है। अपनी प्रशासकीय एवं व्यापारिक बुद्धि के कारण वे अपरिहार्य रहे हैं और भारतवर्ष में

सदैव एवं सर्वत्र विद्यमान रहे हैं। राजस्थान के सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक जीवन में तथा उस प्रदेश के इतिहास के निर्माण में उन दोनों जातियों का महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

डॉ० कानूनगो के शब्दों मे "राजपूतों में सामान्यतया शारीरिक बल की ही प्रधानता रहती थी, युद्ध और शांति दोनों ही अवसरो के उपयुक्त बुद्धि का उनमें प्रायः अभाव रहता था। मेवाड़ के राणा कुंभा और सांगा, जयपुर के मानसिंह और जयसिंह द्वय, जोधपुर के दुर्गादास और कोटा के जालिमसिंह इस नियम के इने गिने अपवाद ही है। राजपूत तो मुख्यतया एक छीन-झपट करने वाला योद्धा था, शासन प्रबन्ध की योग्यता का उसमें अभाव था। राजपूती इतिहास के पीछे जो कुछ बुद्धि दृष्टिगोचर होती है वह अधिकांशतया वैश्यो एवं कायस्थों की और कुछ अशों मे ब्राह्मणो की है। राजपूताने का यथार्थ इतिहास तब तक नही लिखा जा सकता जब तक कि इन राजपूतेतर लोगो के जिन्होंने राजपूत राज्यों के ऊपर शासन किया था और जिनके हाथ में उनका सपूर्ण नागरिक प्रशासन था, पारिवारिक आलेखों की भली-भांति शोध-खोज नहीं की जाती। इतिहास ने अब तक केवल राजपूतों को जो गौरव प्रदान किया है, उसके एक बड़े भाग के न्याय अधिकारी ये लोग थे। राजपूत संगीत आदि का तो प्रेमी होता था, किन्तु हिसाब-किताब प्रशासकीय, योग्यता, उद्योग और मितव्ययिता का उसमें प्रायः अभाव ही होता था। इसके विपरीत वैश्य, और कायस्थ में ये सब गुण तो होते ही थे, अवसर पडने पर वह सफल योद्धा और कूटनीतिज्ञ भी सिद्ध होते थे। इसके अतिरिक्त राजपूत नरेश राजनीतिक एवं आर्थिक विभागों में किसी अन्य राजपूत के परामर्श पर प्रायः कभी भी भरोसा नहीं करते थे। अतः राजपूत राज्यो मे राज्य के प्रधान या मुख्यमन्त्री का पद अनिवार्य रूप से वैश्य या कायस्थ के हाथ में रहता था। अधिकांश राजपूत जागीरदारों कामदार भी वैश्य या कायस्थ ही होते थे। नैणसी मूता की बात के अनुसार राजपूतों मे एक उक्ति प्रचलित थी कि 'यदि अपने भाई को प्रधान बनाओ तो इससे अच्छा है कि राज्य से हाथ धो बैठो।' यह उक्ति राजपूतो की बुद्धिमत्ता को चरितार्थ करती है। विचक्षण एवं विश्वासी वैश्य आदि को प्रधान पद पर नियुक्त करने का एक और भी कारण था। रणयात्रा के समय यदि स्वयं राजा या युवराज सेना का नायकत्व नही करता था, तो अन्य राजपूत सरदार किसी राजपूतेतर प्रधान की अधीनता में तो सहर्ष कार्य कर सकते थे किन्तु अपने किसी प्रतिद्वन्द्वी कुल के मुखिया का सेनापति होना कभी भी स्वीकार नही कर सकते थे। प्रत्येक ठिकाने मे भी यही दशा थी। कर्नल टाड द्वारा उल्लिखित कोठारी भीमजी महाजन अपरनाम बेंगू ही राजपूताने में इस बात का अकेला उदाहरण नही था कि जन्म से बनिये की दुकान मे आटा तोलने वाला व्यक्ति दोनों हाथों मे तलवारें सूंतकर राजपूतो की बहादुरी को भी लज्जित कर सकता था और शत्रु की पंक्तियों को तोड कर युद्धभूमि मे वीरगति प्राप्त कर सकता था।'

राजपूताने के इन वैश्य अथवा जैन वीरों में सर्वप्रथम भामाशाह का कुटुम्ब उल्लेखनीय है। सपूर्ण राजस्थान में भामाशाह का नाम आज भी उसी स्निग्ध स्नेह और श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है जैसे कि महाराणा प्रताप का। वह कापडिया-गोत्रीय ओसवाल जैनी महाजन भारमल का पुत्र था। भारमल को महाराणा सागा ने रणथम्भौर के अत्यन्त महत्वपूर्ण दुर्ग का दुर्गपाल नियुक्त किया था, और वह उस पद पर तब तक आरूढ़ रहा जब तक कि उस दुर्ग पर कुमार विक्रमाजीत के अभिभावक के रूप मे उसके मामा बूंदी के सूरजमल डाडा का अधिकार नही हो गया। भारमल के दोनों पुत्र, भामाशाह और ताराचन्द्र दुर्धर योद्धा एवं निपुण प्रशासक थे। वे दोनों ही हल्दीघाटी के प्रसिद्ध युद्ध में महाराणा प्रताप की अधीनता मे वीरता पूर्वक लड़े थे। राणा प्रताप ने महासनीराम के स्थान मे भामाशाह को अपना प्रधान नियुक्त किया और ताराचद्र को गोढ़ार प्रदेश का अध्यक्ष बनाया था। महाराणा की विपन्नावस्था में भामाशाह ने सम्राट अकबर के मालवा के सूबे पर आक्रमण किया और वहा से बीस लाख रुपया और बीस हजार अशर्फी लूटकर महाराणा को अर्पित कर दी। अकबर के अत्यन्त विचक्षण राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ मत्री अब्दुर्रहीम खानखाना ने नाना प्रकार के प्रलोभनों द्वारा भामाशाह को फुंसलाने और मुगल सम्राट की सेना में आ जाने के लिए जी तोड़ प्रयत्न किया, किन्तु भामाशाह

तानाजी मालसुरे नही था, जो कि शिवाजी का सर्वाधिक वीर एव विश्वस्त सेनापति होते हुए भी कुछ काल के लिए अपने स्वामी का परित्याग करके मुसलमान बन गया था। मुगलो के साथ होने वाले राणा प्रताप के अन्तिम युद्धो मे भामाशाह ने चूडावत और शेखावत सरदारों के साथ, विशेषकर दिवर की लडाई मे, प्रमुख भाग लिया था। राणा अमर सिंह के समय मे भी २६ जनवरी सन् १६०० ई० में अपनी मृत्यु पर्यन्त, वीर भामाशाह मेवाड का प्रधान बना रहा। मरते समय उसने अपनी पत्नी को यह आदेश दिया था कि वह उसकी मृत्यु के बाद महाराणा को वह पोथी सौप दे जिसमे भामाशाह ने मेवाड़ के भूमिस्थ खजानों का ब्यौरा लिख रखा था और जिनका रहस्य उसके स्वयं के अतिरिक्त और कोई भी व्यक्ति नही जानता था। डॉ० कानूनगो कहते है कि उस प्रसिद्ध मराठा राजनीतिज्ञ नाना फाडनीस के प्रतिपक्ष मे यह कितना श्रेष्ठ एवं उदात्त उदाहरण है। नाना फाडनीस ने राजकीय कोष का विपुल धन छुपा रखा था और उसे उसने अपने निजी लाभ के लिए ही व्यय किया था और मरते समय उस खजाने की विवरण पुस्तिका भी वह विरसे के रूप मे अपनी विधवा को ही सौप गया था।

भामाशाह का छोटा भाई ताराचन्द प्रसिद्ध योद्धा था। उसकी शूरवीरता एवं रणकौशल की कीर्ति चहुं ओर फैल गई थी। उस तूफानी युग के किसी भी राजपूत वीर की अपेक्षा इस जैन वीर ने जीवन का अधिक आनन्द, वैभव और गौरव के साथ उपभोग किया। अपने निवास स्थान सदुरी में उसने एक विशाल उद्यान के मध्य अत्यन्त सुंदर भवन (बारादरी) और एक बावडी निर्माण कराई थी। उक्त बावडी के निकट स्वय ताराचद की, उसकी चार पत्नियों की, उसकी कृपापात्र खवास की, छः नर्तकियों की और सपत्नीक उसके सगीताचार्य की सुन्दर प्रस्तर मूर्तिया स्थापित है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस जैनी ओसवाल वनिए ने वैभवपूर्ण जीवन-यापन की कला में उस काल के मुगल अमीरों को भी मात दे दी थी। भामाशाह की मृत्यु के पश्चात उनके पुत्र जीवाशाह राणा अमरसिंह के प्रधान बने उनके उपरान्त उनके पुत्र अक्षयराज राणा कर्णसिंह के समय में मेवाड राज्य के प्रधान रहे।

महाराणा राजसिंह प्रथम के समय संघवी दयालदास राज्य के प्रधान थे। जिन दिनों सम्राट औरंगजेब के साथ राजपूतों के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध चल रहे थे उस काल में सघवी दयालदास राणा राजसिंह के दाहिने हाथ और प्रधान स्तम्भ इसी प्रकार के थे जिस प्रकार कि महाराणा प्रताप के लिए भामाशाह रहे थे। दयालदास के पिता महाजन राजू थे जिनके पूर्वज सिसोदिया क्षत्री थे। शान्तिपूर्ण जैनधर्म मे दीक्षित होने के उपरान्त वे वणिकों की ओसवाल जाति मे समाविष्ट हो गए थे। सघवी दयालदास के वीरतापूर्ण एव राजनीतिक बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य-कलाप, इतिहास-प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त, उन्होंने राजसमुद्र झील के तट पर विपुल द्रव्य व्यय करके श्वेतमर्मर का अत्यन्त भव्य आदिनाथ जिनालय निर्माण कराया था। मेहता अगरचन्द के पूर्वज सिरोही राज्य के देउरावशी चौहान शासक थे। एक प्रसिद्ध जैन सत ने उसमे से एक जैनधर्म मे दीक्षित कर लिया था अतः उसके वशज ओसवाल जाति मे समाविष्ट हो गए, जो राजस्थानी जैन वणिकों की एक प्रमुख जाति थी। अगरचन्द्र मेवाड के महाराणा अमरसिंह द्वितीय के प्रधान थे। उनके पश्चात उनके पुत्र देवीचन्द्र राज्य के प्रधान बने।

सेठ जोरावलमल बाफना का परिवार राजपूताना का धन कुबेर परिवार था। अमेरिका के प्रसिद्ध धनकुबेर राकचाइल्ड परिवार से उनकी तुलना की जाती है। इनके पूर्वज मूलतः परिहार राजपूत थे। ब्राह्मण धर्म का परित्याग करके जैनधर्म मे दीक्षित होने के कारण उन्होंने वणिक वृत्ति अपना ली थी और ओसवाल जाति मे सम्मिलित हो गए थे। जब कर्नल जेम्सटाड मेवाड़ के पोलिटिकल एजेण्ट नियुक्त होकर आए तो उन्होंने तत्कालीन नरेश महाराजा भीमसिंह को यह परामर्श दिया था कि वे अपने दीवालिया राज्य की साख एवं आर्थिक स्थिति का पुनरुद्धार करने के लिए इन्दौर से सेठ जोरावरमल को आमन्त्रित करें। अत. घाटे का सौदा होते हुए भी जोरावरमल ने उदयपुर में अपनी गद्दी स्थापित कर दी। असहाय महाराजा ने सेठ जी से कहा कि आप मेरे राज्य का समस्त प्रशासकीय एवं राजकीय दाय अपनी कोठी से भुगतान करें और राज्य की समस्त आय आपके यहाँ जमा

होती रहेगी। सेठ ने मानो जादू कर दिया। थोड़े ही समय में मेवाड़ राज्य के घाटे के बजट को उन्होने पर्याप्त बचत के बजट में परिवर्तित कर दिया। इतना ही नही, उन्होने महाराणा की विपुल व्यय-साध्य गया जी की तीर्थ-यात्रा की भी पूर्ति कर दी और राणा के ऊपर जो भारी आभार थे उनसे भी उन्हे मुक्त करा दिया। राणा के ऊपर अकेले स्वय जोरावरमल का ही बीस लाख रुपये ऋण था। सेठ जोरावरमल बाफना की यह प्रशंसनीय सफलता इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि जो व्यक्ति एक व्यापारिक सस्थान का उत्तमता के साथ प्रबंध कर सकता है, वह एक राज्य की अर्थव्यवस्था को भी सफलता पूर्वक सम्हाल सकता है तथा एक नम्र वणिक उन न्याय-विरोधी तत्वों का तथा राज्य के भ्रष्टाचारी कर्मचारियों का, जो कि भूमि एवं व्यापार से होने वाली राजकीय आय के राजकीय कोष मे प्रवाहित होते रहने मे बाधक होते हैं, सफलतापूर्वक दमन करने मे जबर्दस्त सिद्ध हो सकता है।

मेवाड की राजनीति मे गांधी वंशजो ने भी महत्वपूर्ण भाग लिया। सोमचन्द्र गांधी ने षडयत्र द्वारा भीमसिंह के समय मे प्रधान पद प्राप्त किया था और छल-बल मे ही वह उस पर आरूढ रहा। उसमें राजनीतिक दूरदर्शिता एवं कूटनीतिक योग्यता भी पर्याप्त थी। बहुत समय तक उसने मराठों को मेवाड़ मे घुसने नही दिया और राजपूताने मे मराठो के प्रभुत्व की जीन का प्रतिरोध करने में भी सफल रहा। अपनी शक्ति बनाए रखने के लिए उसने चूडावतों और शक्तावतो की वंशगत प्रतिद्वन्द्वता की अग्नि को और अधिक भड़काया। फलस्वरूप रावत अर्जुनसिंह चूडावत के महलों में ही सोमचन्द्र का वध कर दिया गया। उसके पुत्र सतीचन्द्र ने चूडावतो से पिता की हत्या का बदला लेने के उन्मत्त प्रयत्न मे मेवाड़ के पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

मेवाड़ में ही नही, मारवाड़ में भी इन राजपूतेतरों, अर्थात् जैन बनियों ने पर्याप्त महत्वपूर्ण भाग लिया था। महाराज जसवंतसिंह की मृत्यु के पश्चात जब राठौर दुर्गादास विश्वासघाती औरंगजेब की सेनाओ के व्यूह को भेदकर शिशुमहाराज अजितसिंह को लेकर दिल्ली से निकले थे उस भयंकर युद्ध में जैन वीर मुहताबिसन राजपूतों के साथ ही साथ युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए थे। राठौर दुर्गादास के प्रधान परामर्शदाताओं, सहायकों और सरदारों में आसकरन, रामचन्द्र, दीपावत, खेमती का पुत्र सावतसिंह, जगन्नाथ का पुत्र हेमराज आदि भंडारी देसीय जैन वीर थे। इन लोगों की सहायता से ही राजस्थान ने औरंगजेब कालीन लम्बे राजपूत युद्ध में मुगल साम्राज्य के छक्के छुड़ा दिये थे। भंडारी खीमसी महाराज अजितसिंह का अत्यन्त विश्वासी सामन्त था। सैयद बन्धुओं के साथ महाराज के कूटनीतिक संबंध उसी के द्वारा निष्पन्न हुए थे। अजमेर पर अधिकार होने पर अजितसिंह ने उस महत्वपूर्ण दुर्ग मे भडारी विजयराज और मुहनोत सांगो की नियुक्ति की थी। अहमदाबाद के बाहर महाराजा अभयसिंह ने हैदरकुली खां की बर्बर सेना पर आक्रमण किया था तो उन्होंने अपनी सेना के दक्षिण पक्ष का सेनाध्यक्ष भडारी विडैराज को नियुक्त किया था और वाम पक्ष स्वय अपने छोटे भाई राजकुमार बख्तसिंह को सौंपा था। मध्य भाग का नेतृत्व स्वय महाराज कर रहे थे, और उनकी सहायता जो प्रधान सेनानायक और सरदार कर रहे थे उनमें भडारी वश के गिरधर, रतन, डालो, घनस्थ, विजेराज सेतासियोत, सामलदास लूनवत, अमरोदेवावत, लक्ष्मीचन्द्र, माईदास, देवीचन्द्र, सिंघवी अचल, जोधमल और जीवन, मुहतावंश के गोकुल, सुन्दर दासोत, गोपालदास, कल्याणदासोत, देवीसिंह, मेघसिंह, रूपमालोत तथा मोदी पांथल, टीकम आदि प्रमुख वणिक जैन वीर थे।

इसी प्रकार अम्बर (जयपुर), बीकानेर, कोटा, बूदी, अलवर, सिरोही आदि राजस्थान के अन्य राजपूत राज्यों मे भी न केवल समृद्ध व्यापारी वर्ग, नगरसेठ, राज्यसेठ आदि के रूप मे वणिक जाति उन राज्यो की आर्थिक उन्नति और समृद्धि का प्रधान साधन रही वरन् प्रधान, दीवान, मत्री, दुर्गपाल, जिलाधीश, सेनानायक आदि अनेक उच्च राजकीय पदों पर रह कर उनके प्रशासन, राजनीतिक जीवन मे भी उनके योगदान महत्वपूर्ण रहे है। इतिहास का अर्थ मात्र राजा-महाराजाओं की जय-पराजय

(शेष पृष्ठ ६ पर)

ब्रह्मजिनदास की तीन अन्य रचनाएं

□ श्री अगर चन्द नाहटा

डा० प्रेमचन्द रांवका का शोधप्रबंध "महाकवि ब्रह्मजिनदास व्यक्तित्व एवं कृतित्व" के नाम से श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा सन् ८० में प्रकाशित हुआ है। जिसके सम्बन्ध मे मेरा एक लेख 'अनेकान्त' जनवरी-मार्च ८२ के अक मे प्रकाशित हो चुका है।

अभी-अभी उस नागौर के भट्टारकीय ग्रन्थ-भण्डार की सूची का पहला भाग डा० प्रेमचन्द जैन के सम्बन्धित 'सैण्टर फॉर जैन स्टडीज, यूनिवर्सिटी ऑफ राजस्थान' जयपुर द्वारा सन् ८१ मे प्रकाशित हुआ है। इसमे नागौर के उक्त भण्डार की १८६२ प्रतियो की विषय-विभाजित सूची दी गई है। जबकि मूल-भण्डार में १५ हजार हस्तलिखित प्रतिया व दो हजार गुटके होने का उल्लेख है अर्थात् समस्त प्रतियों की संख्या को देखते हुए यह करीब दसवें भाग की ही सूची है।

प्रकाशित सूचीपत्र को सरसरी तौर से देखने पर बहुत सी असावधानियां भी ज्ञात हुई, जिनके सम्बन्ध में यथावसर प्रकाश मे लाया जाएगा। यहां तो केवल 'ब्रह्म जिनदास' की रचनाओं का इस सूची मे उल्लेख है, उन्ही के सम्बन्ध मे प्रकाश डालते हुए इस शोध-प्रबन्ध मे जिन रचनाओं का उल्लेख नही हुआ है उन्ही का विवरण प्रकाशित किया जा रहा है।

उक्त सूची मे 'ब्रह्म जिनदास' की ११ रचनाओ का विवरण है। इनमे से पहले की ९ हिन्दी की एव अन्तिम २ सस्कृत की बतलाई गई है।

१. नं. ३६८ अनन्तव्रत-कथा, गाथा १७२ पत्र-५ हिंदीभाषा
२. नं. ३६२ आकाश पचमी कथा, गा० १२० पत्र-४ "
३. न. ३६३ अक्षय दशमी व्रतकथा, गा० ३११ पत्र-४ "
४. न. ४०८ दश-लक्षण कथा, पत्र-३ "
५. न. ४२३ निर्दोष-सप्तमी कथा, गा० १०६ पत्र-१५ "
६. नं. ४३२ पुष्पाजलि कथा, गा० १६१ पत्र-४ "

वास्तव मे इनकी भाषा गुजराती, राजस्थानी है, पर इस भाषा से हिन्दी अलग है पर बहुत से विद्वान नही समझ पाते।

अब मैं सुगन्ध दशमी कथा जिसका उल्लेख करना लेखक से छूट गया है, पर नागौर भण्डार सूची में इसका जो विवरण दिया है, वह मैं नीचे दे रहा हूं।

न. ४६१ सुगन्ध दशमी कथा—ब्रह्मजिनदास। देशी कागज। पत्र सख्या ८। आकार १३॥ × ८॥" दशा सुन्दर पूर्ण। भाषा हिन्दी। लिपि नागरी। ग्रन्थ संख्या-२६०८। रचनाकाल-X। लिपिकाल-आश्विन कृष्णा १० मंगलवार स० १९४५।

(पृष्ठ ५ का शेषांश)

का विवरण नही होता, वह तो राजा-प्रजा, शासक वर्ग और जनता, सपूर्ण जाति का इतिवृत्त होता है। राजस्थान का इतिहास भी राजस्थान के राजपूतों का ही नही वरन् राजपूतेतर जातियों का भी इतिहास है, जो उसके सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के साधक एवं अंग नही थे और इसमें सदेह नही है कि इन जातियों में राजस्थान की ओसवाल, अग्रवाल, खडेलवाल आदि वैश्य जातियों, जो संयोग से अधिकाशत: जैनधर्मावलबिनी थीं, प्रमुख रही है। आज जबकि मध्यकालीन राजपूत योद्धा एक किस्से-कहानियों की वस्तु रह गया, उसकी दुनिया बिल्कुल उलट-पुलट गई है, राजस्थान से विकसित ये वणिक जातियां अपनी साहसिक व्यापारिक प्रवृत्तियो द्वारा राजस्थान की आत्मा को नवीन युग के नवीन वातावरण मे भी सजीव बनाए हुए हैं।

नोट—विशेष जानकारी के लिए देखिए भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित हमारी पुस्तकें—'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' (द्वि. स.) तथा 'प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाए।'

—चार बाग, लखनऊ

खोज करने पर विदित हुआ कि प्रस्तुत सुगन्ध दशमी कथा सन् १९६६ में डा० हीरालाल जैन सम्पादित एव भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'सुगन्ध दशमी कथा' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ५१ से ६४ तक मे प्रकाशित भी हो चुकी है। डा० हीरालालजी ने इसकी भाषा स्पष्टत गुजराती बतलाई है। और नव भाषो-ठालो मे यह विभक्त है। इसके आदि अन्त के कुछ पद्य नीचे दिए जा रहे है—

आदि—

पच परम गुरु, पंच परम गुरु। प्रणमेषु।
सरस्वति स्वामीणमि विनवु सकल कीरति गुणसार।
भुवन कीरति गुरु उपदेस्यु करस्यु रास निरभर।
सुगध दशमि कथा एवडी, ब्रह्म जिनदास भणें सार।
भवियण जन सबोधवा, जिमि होइ पुण्य विस्तार।

अन्त—

श्री सकलकीरति प्रणमिजइ, मुनि भुवन कीरति भवतार।
रास कियौ में निरमलौ, सुगध-दशमि सविचार ॥४२॥
पढै गुणै जे साभलैं, मनि धरइ अति भाव।
ब्रह्म जिनदास भणे सवडौ, ते पामैं मुख-ठाव ॥४३॥

आश्चर्य है कि १९६६ मे रचित इस रचना का उल्लेख भी डा० रावका ने नही किया।

अब सस्कृत की इन दो रचनाओं का विवरण नागौर भण्डार सूची से दिया जा रहा है जिनका उल्लेख उक्त शोध-प्रबध मे, सस्कृत के दिए हुए ग्रन्थों की सूची मे नही है।

४३९ बकचूल कथा—ब्रह्म जिनदास देशी कागज। पत्र संख्या-५। आकार १०॥×४१॥"। दशा प्राचीन। पूर्ण। भाषा संस्कृत। लिपि नागरी। ग्रन्थ सख्या २७२९। रचना काल-×। लिपिकाल-×। विशेष-श्लोक सख्या १०९ है।

८६२—होल रेणुका चरित—प० जिनदास। देशी कागज। पत्र सख्या-४९। आकार १०॥।×५"। दशा-जीर्ण-क्षीण। पूर्ण। भाषा सस्कृत। लिपि नागरी। ग्रन्थ संख्या-१५७३। रचनाकाल-×। लिपिकाल-×।

नागौर भण्डार सूची का अभी पहला भाग ही छपा है। अत: अन्य आगे के भागो मे भी ब्रह्म जिनदास की और रचनाएँ हो सकती है। इसी तरह अन्य भण्डारों की सूचियों में भी इस कवि की अन्य बहुत-सी रचनाएँ मिलेंगी। कई रचनाओ के नाम तो मैंने देखे भी हैं पर नोट नहीं किए। न अन्य भण्डारों की प्रकाशित सूचिया देखने का ही समय मिला है। अत: मेरा तो यही लिखना है कि नागौर भण्डार के प्रकाशित उक्त शोध-प्रबन्ध को पूरा नही समझा जाय और कवि की अन्य रचनाओ व प्रतियो की खोज जारी रखी जाय, जिससे नई जानकारी प्रकाश मे आती रहे।

वास्तव मे तो कवि ने लम्बे काल तक साहित्य-सृजन किया है। अत. छोटी-बड़ी शताधिक रचनाएँ प्राप्त होंगी। उनका एक सग्रह-ग्रन्थ हमारे 'समय सुन्दर कवि कुसुमाजलि' की तरह प्रकाशित होना चाहिए। जिससे कवि की रचनाओं का समुचित मूल्याकन हो सके।

यहा यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझता हू कवि की रचनाओं की भाषा हिन्दी लिखी व मानी जाती है पर वास्तव मे वह तत्कालीन राजस्थानी व गुजराती ही है क्योंकि कवि का विचरण क्षेत्र ये दोनों प्रान्त रहे है और उसमें भी गुजराती का प्रभाव अधिक है।

डा० हीरालाल जैन ने सुगन्ध दशमी कथा की प्रस्तावना पृष्ठ २० ब्रह्म जिनदास ने ३७ रचनाओं के नाम दिये है उनमें से—

१. बागश्री २. जोगी ३. जीवदया ४. श्रेणिक ५. करकुण्डु ६. प्रद्युम्न ७. कलश दशमी ८. मद्रसप्तमी ९. अष्टाह्निका १०. श्रावण द्वादशी ११. श्रुति स्कध के नाम डा० रावका के शोध-प्रबन्ध मे नही पाए जाते उनकी प्रतियो की खोज होनी चाहिए। इस तरह खोजने पर और भी बहुत-सी रचनाओ के नाम प्राप्त होने सम्भव है क्योंकि कवि ने दीर्घ आयु पाई सस्कृत एव गुजराती मे छोटी-मोटी अनेको रचनाएँ करते ही रहे है। जिन प्रदेशो मे कवि का विचरण अधिक हुआ है उन प्रदेशों एव आस-पास के भडारो मे तथा कवि के गुरू सकलकीर्ति का भण्डार एव प्रभाव जहा अधिक रहा होगा वहां भी खोज की जानी चाहिए।

७. न. ४६२ लब्धि-विधान गाथा १६९ पत्र-५ हिंदी भा. व्रत कथा
८. न. ४६१ सुन्ध दशमी कथा गा. × पत्र-८ ,,
९. नं. ९५३ सम्यक्त्वरास पत्र-३ ,,

(शेष पृ० १२ पर)

(गतांक से आगे)

अपभ्रंश काव्यों में सामाजिक चित्रण

डा० राजाराम जैन

लोकाचार एवं अन्य विश्वास

भारतीय-जीवन मे लोकारुढियो एव अन्ध विश्वासो का अपना विशेष महत्व रहा है। इष्टजनों के स्वागत अथवा विदाई के समय उनके प्रति लोक विश्वासो के आधार पर श्रद्धा-समन्वित भावना से कुछ कर्तव्यकार्य किये जाते है। इनमे दही, सरसो (सिद्धार्थ), दूर्वादल एव मगल कलश जैसी उपकरण सामग्रियों का प्रयोग किया जाता था।

महाकवि पुष्पदन्त ने चक्रवर्ती भरत की दिग्विजय यात्रा से लौटने पर लिखा है कि "—उस समय जनसमूह आनन्द विभोर हो उठा, राजमार्ग केशर से सीच दिया गया, कपूर की रगोली पूरी जाने लगी, दूर्वादल, दही एव सरसो से स्वागत की तैयारी की जाने लगी[1]। सर्वत्र वन्दन-वार सजाये जाने लगे।" मेहेसर चरिउ 'मे मगलाचार, मन्त्राचार, गीत-नृत्य आदि की भी चर्चाए आई है[2]।

शकुन-अपशकुन

शकुन-अपशकुन जन-जीवन की आस्थाएव विश्वास के प्रमुख तत्व है। अपभ्रंश काव्यों मे उनके प्रसग प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते है। स्त्री का दाया एव पुरुषो का बाया नेत्र फरकना, बाल खोले हुए स्त्री का रोना, कौए का विरस बोलना, सियार का रोना, या लगडा कर चलना, गधे का रोना, नक्षत्रो का टूटना, मृग का दायी और भागना इन्हें कवियों ने अपशुकन की कोटि मे रखा है[3]।

स्वप्न मे धरती का कम्पन, मूर्ति का हिलना, आकाश मे कबन्ध का नृत्य, राजछत्र का टूटना, दिशाओ का जलना दिखाई देना आदि को अपशुकन कहा गया है[4]।

मेहेसर चरित मे एक प्रसग मे कहा गया है कि सुलोचना जब अपने प्रियतम मेघेश्वर के साथ ससुराल के लिये प्रस्थान करती है तब मार्ग मे गगा तट पर विश्राम करती है। रात्रि के अन्तिम प्रहर मे वह स्वप्न देखती है कि एक कल्पवृक्ष गिर रहा है, और उसे कोई सम्हालने का प्रयत्न कर रहा है। इसी प्रकार एक दूसरे स्वप्न में वह नाना मणिरत्नों से लदे हुए जहाज को समुद्र में डूबते हुए देखती है। प्रातःकाल जब वह अपने प्रियतम से इन स्वप्नो का फल पूछती है तब मेघेश्वर उन्हे दुःख स्वप्न कह कर भयकर भविष्य की भूमिका बतलाता है[5]।

'सिरिवाल चरिउ' मे एक स्थान पर शुभ-स्वप्न की चर्चा आई है। चम्पानरेश अरिदमन की महारानी कुन्दप्रभा रात्रि के अन्तिम प्रहर मे दो स्वप्न देखती है। प्रथम मे वह सुवर्णाचल का दर्शन करती है और दूसरे मे फलो से लदे हुए कल्पवृक्ष का। वह प्रातःकाल ही अपने पति से स्वप्नफल पूछती है तो पति उसे शीघ्र ही सुन्दर पुत्ररत्न की प्राप्ति की सूचना देता है[6]।

आमोद-प्रमोद

अपभ्रंश-काव्यो मे आमोद-प्रमोद एव मनोरजन की दो प्रकार की प्रथाएँ देखने को मिलती है, एक तो वे, जिनका सम्बन्ध राजघरानो से था और दूसरी वे, जिनका सम्बन्ध जन-साधारण से था।

राजघरानो मे नृत्यगान-गोष्ठिया आखेट जल-क्रीडा तथा उपवन-क्रीडा प्रधान है। नृत्य-गान दोनो ही प्रकार के होते थे, शास्त्रीय भी एव लौकिक भी। पुष्पदन्त ने सगीत के भेद-प्रभेदो की भी चर्चा की है[7] जो भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र अध्याय (४, ५, ११) से पूर्णतया प्रभावित है। स्वयम्भूकृत पउमचरिउ मे भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते है[8]।

जन-साधारण मे दोलाक्रीडा, रामलीला चर्चरी, द्यूत-क्रीडा, साले-सालियो से हसी-मजाक आदि के उल्लेख मिलते हैं। नट-प्रदर्शन के प्रसग भी प्राप्त होते हैं। पुष्प-दन्त ने लिखा है कि नागकुमार द्यूतक्रीड़ा मे बड़ा दक्ष था, उसने उसके द्वारा अर्जित सम्पत्ति से मा के गहने बनवाये थे[9]। हरिवश चरित में वस्त्राहरण का उल्लेख भी मिलता है[10]।

आर्थिक परिस्थितियां

अपभ्रंश-काव्यों मे प्रायः समृद्ध समाज का ही वर्णन मिलता है। अतः दीन-हीन एवं दरिद्रता प्रताड़ना से पीड़ित जन इसमें क्वचित् कदाचित् ही दिखाई पड़ते हैं।

क्रय-विक्रय सम्बन्धी कई मनोरजक उदाहरण मिलते है। महाकवि रइधू ने 'हरिवंश चरिउ' के द्वारका-दहन प्रकरण में बताया है कि जब द्वारका अग्नि की भयकर लपटों में व्याप्त थी तब कृष्ण एव बलदेव नगर के बाहर चले जाते है। चलते-चलते वे एक बन में पहुचते है। वहा कृष्ण को भूख सताने लगी। बलदेव उनकी व्याकुलता देख कर तड़प उठते है और उन्हे एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठाकर समीपवर्ती किसी नगर से अपने सोने के कड़े के बदले में पुआ खरीदकर ले आते है[११]।

'धण्णकुमार चरिउ' में प्राप्त एक प्रसगानुसार धन्य-कुमार एक ईंधन सहित बैलगाड़ी के बदले में भेड़ें खरीदता है तथा उन्ही भेडों के बदले मे पुनः पलग के चार पाये खरीद लेता है। धण्णकुमार चरिउ मे ही एक अन्य प्रसग के अनुसार धन्यकुमार अपने पिता से ५०० दीनारे लेकर व्यापार प्रारम्भ करता है तथा सर्वप्रथम उनसे ईंधन भरी एक बैल गाडी खरीदता है[११]।

मजदूरी के बदले मे वस्तु के देने का उल्लेख मिलता है। अकृतपुण्य नामक एक मजदूर अपनी मजदूरी के बदले मे चने की पोटली प्राप्त करता है[११]।

उक्त प्रसगो से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

१. वस्तुओं के बदले मे वस्तुओं का क्रय

२. मजदूरी के बदले मे अनाज या अन्य आवश्यक वस्तुओं का प्रदान तथा

३. सिक्कों के बदले मे वस्तुओं का क्रय।

बेची जाने वाली बाजार की वस्तुओं में मिलावट

बाजारों मे बेची जाने वाली अच्छी वस्तुओं मे पुरानी एवं कम कीमत वाली वस्तुओं की मिलावट की इक्की-दुक्की चर्चा भी अपभ्रंश-काव्यो मे आती है। पउमचरिउ के अनुसार जब हनुमानजी किष्किन्धापुरी के बाजार मे निकलते हैं तब उन्होंने एक दूकान पर तेल मिश्रित घी देखा था[१४]।

द्रव्य-सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के साधन

सोना, चांदी आदि द्रव्य सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के आज जैसे साधन बैंक आदि उस समय न थे। अध्ययन करने से पता चलता है कि लोग उसे जमीन या दीवाल में गाड़कर या पलग के पायो आदि मे बन्दकर रखतें थे। धण्णकुमार चरिउ के एक प्रसग मे बताया गया है कि उसने बाजार से जो पलंग के पाये खरीदे थे और घर पर उसकी मा जब उन्हे साफ करने लगी तब उनमे से उसे अनेक कीमती मणि-रत्नो की प्राप्ति हुई साथ ही एक शुभ्र-पत्र भी मिला जिसके अनुसार पत्रवाहक को उस नगर का राज्य मिलना था[१५]।

ग्रन्थों का प्रतिलिपि कार्य

अपभ्रंश काव्यो में ग्रथ प्रणयन का जितना महत्व है उतना ही महत्व ग्रन्थों की प्रतिलिपियों का भी मानाँ गया है, क्योंकि मुद्रणालयों एव लिखने सम्बन्धी सुकर-सामग्रियों के अभावो मे प्रतिलिपि कार्य बड़ा ही श्रमसाध्य समय साध्य एव धैर्य का कार्य माना गया है।

धण्णकुमार चरिउ[१६] में इसीलिए त्यागधर्म के अन्तर्गत आर्थिक सहायता देने के साधनों मे 'ग्रथ-प्रतिलिपि' को भी स्थान दिया गया है। पुष्पदन्त ने महामात्य भरत के राज-महल मे ग्रथ प्रतिलिपियों की चर्चा की है[१७]। सोलहकारण-पूजा एव जयमाला मे भी कवि रइधू ने ग्रथ प्रणेता एव ग्रन्थ के प्रतिलिपिक को समकक्ष रखा है[१८]।

प्रतिलिपिक भी यह कार्य बड़ी श्रद्धा एव अभिरुचि के साथ करते थे क्योंकि उन्हे यह साहित्य-सेवा भी थी तथा आजीविका का साधन भी।

मध्यकालीन समुद्र यात्रा

अपभ्रंश काव्यों से विदित होता है कि मध्यकाल में विदेशो से भारत के अच्छे सम्बन्ध थे। यातायात के साधनों मे जलमार्ग प्रमुख था। सार्थवाह बडे-बडे जहाजों अथवा नौकाओं मे व्यापारिक सामग्रिया भरकर कुंकुमद्वीप, सुवर्ण-द्वीप, हंसद्वीप, रत्नद्वीप, गजद्वीप, सिंहलद्वीप आदि द्वीपों मे जाकर लेन-देन का व्यापार करते थे।

समुद्री-यात्राओं का विशेष वर्णन करने वाले दो काव्य प्रमुख है भविसयत्त कहा एवं सिरिवाल चरिउ। इन रच-नाओ के कथानक इतने सरस एवं मनोरजक हैं कि उनकी लोकप्रियता का पता इसीसे लग जाता है कि विभिन्नकालों एवं विभिन्न भाषाओ में इन पर दर्जनों रचनाए लिखी गईं।

महाकवि रइधू ने श्रीपाल की विदेश यात्रा के बहाने यात्रा के लिए अत्यावश्यक सामग्री, विदेशो में ध्यान देने

योग्य बातों एवं समुद्री-यात्रा की कठिनाइयों, आदि का वर्णन किया है। धवल सेठ जब समुद्री-यात्रा का आरम्भ करता है तब उसके पूर्व वह अपने साथ चलने के लिए दस सहस्र सुभटों को निमन्त्रित करता है तथा ध्वजा, छत्र, लम्बे-लम्बे बांस, बड़े-बड़े वर्तन, ईंधन, पानी, बारह वर्ष तक के लिए सभी साथियो के लिए अनाज, विविध-खाद्य, तिल-तेल, चन्दन आदि सामग्रियां तैयार करता है[१८]।

जहाज मे बैठते समय यात्री अपने सिर पर लोहे की टोपी धारण करते थे तथा मुद्‌गर एव बांस के डण्डे आदि हाथ मे धारण करते थे[१९]। यह सम्भवतः समुद्री जन्तुओ एवं अन्य भयकर पक्षियों से सुरक्षित रहने के लिए किया जाता होगा। इसके लिए यात्रियों को रात्रि-जागरण भी करना होता था।

समुद्री-यात्रा के समय अन्य कई कठिनाइयों की भी चर्चा आई है। इनमें सर्वाधिक कठिनाई समुद्री डाकुओं के आक्रमण से होती थी। समुद्री डाकू सामूहिक रूप में बडी भयकरता के साथ आयुधास्त्रों के साथ मालवाहक जहाजो पर आक्रमण करते थे। धवल सेठ अपने साथियो के साथ गाता-नाचता एव विविध मनोरजन करता हुआ जब चला जा रहा था। जहाज भी वेग के साथ आगे बढा जा रहा था तभी पीछे से भयकर आवाज सुनाई दी लोग निर्णय नही कर सके समुद्री जानवरों ने आक्रमण किया था या डाकुओ ने[२१]।

आखेट-क्रीड़ा

आखेट-क्रीड़ा की आयोजनाएँ प्रायः राज परिवारों में देखने को मिलती हैं। राजा लोग सदल बल जंगलो में जाते थे तथा वहाँ सिंह, बाघ, जंगली भैंसे एवं हिरण का शिकार करते थे। जसहर चरिउ के अनुसार राजा यशोमति मृगया हेतु १५०० कुत्तों के साथ जाता था[२२]।

भोजन

अपभ्रंश-काव्यों मे भोजनों की चर्चा आहारदान, विवाह अथवा अन्य उत्सवों के अवसर पर आई है। कवि स्वयम्भू ने इन खाद्य-पदार्थों के उल्लेख इस प्रकार लिखे हैं—भात, खीर, सोयवति, घेउर, मंडा, ईख, गुड़, नमक, मूंग की दाल, विविध प्रकार के कूर, सालज, माइणी, माइन्द आलय, पिप्पली, गिरियामलय, असलक, मलूर, रिमंटिका, कचोर, वासुत, पेड़व, पापड, केला, नारियल, दही, करमर, करवद, खोले (शर्वत), वक, वाइडण, कारेल्ल, मही, वघारी हुई बड़ी आदि।

उक्त तथ्यो से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश कवियों ने मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू को लेकर उन पर हर दृष्टिकोण से गहन विचार किया है। वस्तुतः अपभ्रंश साहित्य मध्यकालीन भारत का एक जीवित प्रामाणिक चित्र है जो कालदोष से आच्छन्न हो गया और जिस पर गम्भीर एव तुलनात्मक शोध कार्य अत्यावश्यक है। उसके अभाव में मध्यकालीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति मे प्रामाणिकता एवं पूर्णतया नही आ सकती।

—महाजन टोली न० २, आरा (बिहार)

सन्दर्भ सूची

१. महापुराण० १।२६२
२. मेहेसर० ७।६
३. रइधू-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन—पृ० ३-६।
४. उपरिवत्।
५. मेहेसर चरिउ-७।१२
६. सिरिवाल०-३।२
७. महाकवि पुष्पदन्त-पृष्ठ १७३
८. अपभ्रंश भाषा और साहित्य-पृष्ठ २७८
९. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृष्ठ २७८
१०. हरिवंश० १२।१२।१-४
११. हरिवंश० ६।११
१२. णण्णकुमार० २।५-६
१३. उपरिवत्-३।६
१४. पउमचरिउ २।१६७
१५. णण्णकुमार० २।७
१६. णण्णकुमार० ४।१६
१७. महापुराण० सन्धि २१ पुष्पिका
१८. शास्त्रभक्ति पद्य
१९. सिरिवाल० ५।१३।१-३
२०. सिरिवाल० ५।२०।२-४
२१. उपरिवत् ५।२१।१-१०
२२. जसहर चरिउ।

"जिला संग्रहालय खरगोन में संरक्षित जैन प्रतिमाएं"

मार्गदर्शक : नरेशकुमार पाठक

जिला संग्रहालय खरगोन की स्थापना मध्यप्रदेश पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग द्वारा जिला पुरातत्व संघ खरगोन के सहयोग से सन् १९७४ में की गई। यहां पर जिले के विभिन्न स्थानों से प्राप्त लगभग ५५ कलाकृतियो को एकत्रित कर जिलाध्यक्ष कार्यालय खरगोन के सामने के उद्यान में प्रदर्शित किया गया है। संग्रहालय की ये प्रतिमाएं हिन्दू व जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित ग्यारह प्रतिमाओ का संग्रह है। जिनमे अधिकांशतः खरगोन जिला के प्रसिद्ध जैन तीर्थस्थल ऊन (पावागिरि सिद्ध क्षेत्र) से प्राप्त हुई है। तथा एक चोली ग्राम से इस संग्रहालय को उपलब्ध हुई है। संग्रहित प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है :—

चन्द्रप्रभु:—

संगमरमर के पत्थर पर निर्मित आठवें तीर्थंकर भगवान चन्द्रप्रभु पद्मासन (सं० क्र० ३१) की ध्यानस्थ मुद्रा में बैठे हुए हैं। सिर पर कुन्तलित केशराशि, कर्णचाप एवं वक्ष पर श्रीवत्स का आलेखन है। चौकी पर भगवान चन्द्रप्रभु का ध्वज लांछन चन्द्रमा अंकित है। दुर्भाग्य मे प्रतिमा का प्राप्ति स्थान अज्ञात है। परन्तु यह खरगोन जिले के किसी स्थान से ही मिली होगी। पादपीठ पर १९वीं २०वीं शती ईस्वी की देवनागरी लिपि मे लेख उत्कीर्ण है। लेकिन पत्थर के क्षरण के कारण अपठनीय है।

मल्लिनाथ:—

संग्रहालय में ऊन से प्राप्त (सं० क्र० १२) उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ की ध्यानस्थ मुद्रा में शिल्पांकित मूर्ति का मुख व वितान भग्न है। चौकी पर उनका शासन देवता, यक्ष, कुबेर एवं खण्डित अवस्था में यक्षी अपराजिता का आलेखन मनोहारी है। लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित १३वीं शती की यह प्रतिमा निर्मित के समय अवश्य ही सुन्दर रही होगी।

पार्श्वनाथ:—

सोप स्टोन पर निर्मित तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ (सं० क्र० ३०) का सिर भग्न है। वक्ष पर श्रीवत्स सुशोभित है। अठारहवीं शती की इस प्रतिमा की कलात्मक अभिव्यक्ति सामान्य है।

लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाएँ:—

संग्रहालय मे लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमा से संबंधित तीन प्रतिमाएँ संरक्षित है। लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित १३वी शती ईस्वी सन् की ये सभी प्रतिमाएँ ऊन से प्राप्त हैं। प्रथम (सं० क्र० ११ ध्यानस्थ मुद्रा मे अंकित तीर्थंकर के सिंहासन पर अस्पष्ट यक्ष-यक्षी प्रतिमा अंकित है। वितान में मालाधारी विद्याधर युगलों का अकन है।

दूसरी प्रतिमा मे (सं० क्र० १६) भव्य आसन पर चार लघु तीर्थंकर प्रतिमाएँ अंकित है। जिनमे दो कायोत्सर्ग एवं दो पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे अकित हैं। वितान में विद्याधर युगलों का आलेखन मनोहारी है।

तीसरी प्रतिमा (स० क्र० २२) काफी खण्डित अवस्था में है। पत्थर के क्षरण के कारण मूर्ति की कलात्मकता समाप्त हो गई है।

अम्बिका:—

भगवान नेमिनाथ की शासन यक्षी अम्बिका की दो प्रतिमाएं संग्रहालय में संरक्षित है। प्रथम काले स्लेटी रग के पत्थर (सं० क्र० ४) पर निर्मित द्विभुजी प्रतिमा ऊन से प्राप्त हुई है। देवी के हाथो मे बीजपूर तथा गोद में अपने लघु पुत्र प्रियंकर को लिये हुए हैं। पादपीठ पर दोनों ओर परिचारक एवं पूजक प्रतिमाएं अकित हैं।

ऊन से ही प्राप्त दूसरी प्रतिमा मे शासनदेवी अंबिका भव्य ललितासन में बैठी हुई शिल्पांकित है। (स०क्र०१५) देवी के पीछे आम्र लुम्बी का आलेखन है। गोद में अपने लघु पुत्र प्रियंकर को लिए हुए है । देवी के आयुध भग्न

हैं। पादपीठ पर दोनों ओर चामरधारी प्रतिमाओं का आलेखन आकर्षक है। कालक्रम की दृष्टि से ये दोनों प्रतिमा १३वी शती ईस्वी की है।

गोमेद-अम्बिका:—

तीर्थकर नेमिनाथ के शासन यक्ष गोमेद, यक्षी अंबिका स्थानक मुद्रा में शिल्पांकित यह प्रतिमा ऊन से प्राप्त हुई है। पीछे कल्पवृक्ष (आम्र-लुम्बी) का आलेखन आकर्षक है। (सं० क्र० २) दोनो के हाथ मे बीजपूर ऊपर दोनों ओर दो लघु जिन प्रतिमाएं एव वृक्ष पर आठ अन्य जिन प्रतिमाओं का शिल्पाकन है। १३वी शती ईस्वी की यह प्रतिमा कलात्मक दृष्टि से परमार कालीन शिल्पकला के अनुसार है।

सर्वतोभद्रिका:—

चोली से प्राप्त हुई इस प्रतिमा के चारो ओर तीर्थंकर प्रतिमाओं को अंकित किया गया है। (स० क्र० ५१) इस प्रकार की प्रतिमाओं को किसी तरफ देखा जाय तीर्थंकर के दर्शन हो जाते हैं। जिससे मानव का कल्याण होता है। इसीलिए चारों तरफ मूर्तियों वाली प्रतिमाओं को सर्वतोभद्रिका की संज्ञा दी गई है। प्रस्तुत सर्वतो-भद्रिका के चारों ओर तीर्थंकर प्रतिमाओं का अकन है। जिन्हें लांछन के अभाव में पहिचानना कठिन है। किन्तु सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओं में चार विशिष्ट तीर्थंकरो की प्रतिमाएं अधिकतर बनाई जाती रही हैं। यथा ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी। अतएव इस सर्वतोभद्रिका की चारों प्रतिमा ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की हो सकती है।

जिन प्रतिमा वितान

जिन प्रतिमा वितान से सम्बन्धित इस (सं०क० ४४) शिल्पखण्ड में त्रिछत्रावली, अभिषेक करते हुए ऐरावत, दुन्दुभि-वादक एव कलश लिए हुये विद्याधर युगलो का आलेखन किया गया है।

—केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर

(पृष्ठ ७ का शेष)

१०. नं. ४३६ वंक चूल कथा श्लोक-१०६ पत्र-५ संस्कृत
११. नं. ८६२ होल रेणुका चरित्र पत्र-४४६ ,,

इनमें से लब्धि-विधान व्रत कथा का दूसरा नाम 'गौतम स्वामी रास' बतलाया गया है। पद्य संख्या १३२ दी है। नंबर २३ समकित अष्टाग कथा रास। पहले तो मैंने सोचा कि नाम के अनुसार नबर २३ नागौर भण्डार में जो समकित रास है, वही यह होगा पर उसकी पद्य सख्या ८२६ बतलायी गई है वह इससे भिन्न ही मालूम देता है क्योंकि ३ पत्रो मे इनके २६ पद्य शायद ही लिखे गये है।

न० ३० मे पुष्पाजलि गम के विवरण में पद्य सख्या १३४ बतलायी है, जबकि नागौर भण्डार सूची मे १६१ हैं। नं० ३१ आकाश पचमी कथा में छन्द संख्या ६४ बतलाई है। जबकि नागौर सूची में गाथा १३० है। नं० ३४ में निर्दोष सप्तमी कथा रास के छन्द की संख्या ८५ लिखी है, जबकि नागौर भण्डार सूची में गाथा १०६ है। नं० ३५ अक्षय दशमी रास की छन्द सख्या ८६ है, जबकि नागौर भंडार सूची में गाथा १११ है। नं० ३६ दशलक्षण व्रत कथा रास की छन्द सख्या ८२ बतलायी गई है। नागौर सूची मे नही दी है। न० ३८ अनन्त व्रत रास मे छन्द १२५ लिखी गई है, जबकि नागौर सूची मे गाथा १७२ है। अर्थात् सभी रचनाओ मे पद्य सख्या न्यूनाधिक है। अतः मिलान करना जरूरी है।

लगता है नागौर भण्डार का सम्यक्त्व रास, सभवतः डॉ० रांवका के लिखित नं० ५५ समकित-मिथ्यात्व रास होगा, जिसकी पद्य संख्या ७० है। खोज करने पर विदित हुआ कि यह रास "राजस्थान के जैन संत" नामक परिशिष्ट में छपा है।

उपरोक्त रचनाओं में २ अर्थात् सस्कृत रास बकचूल व होल-रेणुका चरित्र का लेखक ने ब्रह्म जिनदास के संस्कृत ग्रथों में उल्लेख नही किया है। पर गुजराती या हिन्दी रचनाओ मे उल्लेख है। जिनमें से न० २५ होली रास के पद्य १४६ है और न० २८ बकचूल रास का विवरण देते हुए लेखक ने लिखा है कि "यह कृति अधूरी मिली है। इसमे बंकचूल का आख्यान है। जिसमें सम्यक्त्व के नियमों के पालन से देव गति प्राप्त की गई है। रास का प्रारम्भ वस्तु छंद है।" पर वास्तव में सम्यक्त्व के नियमों का नही, कुछ अन्य नियमो के ग्रहण करने का सुफल इसमें बतलाया है।

—नाहटों की गवाड, बीकानेर

मासल की जैन मूर्तियां

—प्रो० प्रदीप शालिग्राम मेश्राम

'मासल' यह भंडारा जिले में पवनी से लगभग १५ किलोमिटर दूर एक छोटा सा गांव है। यहां श्री संपत मोतीराम भाग-भणारकर नामक एक मछेरे के आंगन में लगभग ५० वर्षों से, तीन जैन मूर्तियां धूप, वर्षा में धूल खा रही अपने उद्धार की प्रतीक्षा कर रही हैं। हरी छटा वाले काले रंग के पत्थर की बनी यह मूर्तियां कलात्मक एव पुरातत्व की दृष्टि से बेजोड है। किंतु प्रचार के अभाव मे अभी तक पुरातत्व प्रेमियों का विशेष कोई ध्यान आकर्षित नहीं कर पाई है। इसमें से दो मूर्तियां जो एक जैसी है खड़ी या खड्गासन में है। तीसरी मूर्ति मात्र ध्यान मुद्रा मे बैठी हैं। इनका नीचे वर्णन प्रस्तुत है।

ध्यान मुद्रा में बैठी मूर्ति पादपीठ सहित २' २" ऊंची है। पादपीठ दो इंच ऊंचा है जो आकार मे वर्तुलाकार प्रतीत होता है। ध्यान मुद्रा मे बैठी इस मूर्ति के वक्ष स्थल पर श्रीवत्स चिन्ह बना है। ग्रीवा की त्रिवली, नासाग्र, दृष्टि, मूर्ति के मुखमंडल पर शांति और वैराग्य का भाव दर्शाते हैं। कान कंधों पर टिके है, जो महापुरुष लक्षणों में से एक है। भौहें लचीली एवं लंबी हैं। सिर के केश परम्परागत अंगुष्ठ मात्र कुंचित हैं जो चार समान जूडो मे बंटे हैं।

प्रस्तुत मूर्ति का पादपीठ छोटा होने से दोनो ओर पांव बाहर निकलते दिखाई देते हैं। दोनों हाथ एक दूसरे के ऊपर रखे है। दाहिना हाथ जो ऊपर रखा है में वर्तुलाकार चक्र है तथा इसकी माध्यमिका टूटी है। हाथ-पांव तथा पेट के मध्य जो शेष जगह है उसमे मूर्ति को धोते समय जल संग्रहित न हो इसलिए, नाभी के निचले हिस्से में एक छेद बना है। यह सहजता से दिखाई नही देता। इससे होता हुआ जल बिना किसी रुकावट के बाएं पांव से होता हुआ सीधा दाहिने पांव के ऊपर से बाहर निकल जाता है। यह मूर्ति सर्वांग है। मूर्ति का मुख तथा अंग सौष्ठव अत्यंत आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक है, उंगलियां तक बहुत बारीकी से मूर्ति के आकार के अनुपात में बनाई गई हैं।

पादपीठ दो इंच ऊंचा है, आसन मे कमल का चिन्ह बना है। जो घिस जाने से अभी मद्य चषक जैसा प्रतीत होता है। यह निश्चित ही कमल है अतः इसे इक्कीसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा कहना उचित होगा। संभवतः यह मूर्ति उपासना हेतु निर्मित की गई थी, इसकी वजह से इसकी सुंदरता और सौंदर्य बोध पर विशेष ध्यान दिया गया है। दोनो गालो, होंठो एवं गले को बच्चों ने हाथ लगा-लगा कर खुरदरा बना दिया है। शेष पॉलिश की स्निग्धता अब भी कायम है। अन्य दोनों मूर्तियां लगभग एक जैसी है। दोनो आठ इंच चौड़े पत्थर पर बनी हैं एक २' ९" और दूसरी २' १०" ऊंची है। यह दोनों प्रतिमाएं सिंहासन पर कायोत्सर्ग या खड्गासन मे अधिक सुघड़ और सौम्य हैं, जिन्हें घिस कर यथेष्ट चिकना बनाया गया है।

सिंहासन में सिंहयुगल का अंकन सूक्ष्मता और सुन्दरता मे किया गया है। बीच में कलश रखा है, जिस पर पात्र ढका है। जैन ग्रंथों में वर्णित लांच्छनों के अनुसार यह मूर्ति १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ की है। श्वेताम्बर पंथीय इसे स्त्री मानते है तो दिगंबरों के अनुसार यह पुरुष है।

प्रस्तुत प्रतिमा के हाथ लम्बे, घुटनों तक लटक रहे हैं तथा हथेलियों पर कमल पुष्प या चक्र का अंकन है। मूर्ति पूर्णतः नग्न है और इसकी आखें बन्द हैं। वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह बना है। सिर पर तीन छत्र हैं।

सिंहासन के पादमूल में दाए ओर हाथ के नीचे एक छोटी पुरुष प्रतिमा है। इसके एक हाथ मे अंकुश सदृश कोई वस्तु है, दूसरे हाथ में वर्तुलाकार कोई वस्तु है। इसके पीछे एक पुरुष प्रतिमा उकेरी है जो तीर्थंकर के हथेलियों तक पहुंचती है। इस प्रतिमा के कण्ठ में माला,

कानों में कुण्डल हैं। दाहिने हाथ की वस्तु स्पष्ट नही है, दूसरा हाथ नीचे की ओर है। बाएं ओर एक बैठी स्त्री प्रतिमा है जिसके आसन पर मत्स्य (Fish) का अंकन है। इसका एक हाथ आसन पर है तो दूसरा हाथ कधे पर। उसके पीछे खड़े पुरुष का बायां हाथ नीचे की ओर है तो दायां हाथ संभवतः कमल उठाकर इस ढग से रखा है कि तीर्थंकर के हथेली को छूने लगे। प्रतिमा की ग्रीवा त्रिवली युक्त है, कान कधे पर लटक रहे हैं तथा सिर पर बाल तीन समान जूडो में बटे हैं। सिर पर उष्णीप है। सिर के पीछे प्रभावलय का अकन है जिसे चार वर्तुलाकार रेखाओं से दर्शाया गया है। कधे के दोनो ओर दो उडते हुए विधाधर अकित है जिनके हाथों मे सनाल कमल है। दोनो की केश रचना एव कान के आभूषण एक जैसे हैं। विद्याधर वे मनुष्य होते हैं, जो साधना या तपस्या के फलस्वरूप आकाशगामिनी आदि विद्याएँ सिद्ध कर लेते थे। अन्यत्र इन्हें तीर्थंकर के मस्तक पर चवर डुलाते हुए पाया जाता है।

तीर्थंकर के सिर पर छत्रावली है जिस पर गजलक्ष्मी आसीन है। इसके दोनों ओर अलंकृत हाथी सूड से कुभ उठाए लक्ष्मी के सिर पर अभिषेक कर रहे है। लक्ष्मी धन-धान्य आदि सर्व प्रदात्री देवी मानी गई है। इसे अभिषेक लक्ष्मी भी कहते हैं। शुंग काल से ही यह देवी बौद्ध, जैन और ब्राह्मण इन तीनों सप्रदायों को मान्य थी। तीर्थंकर माता के स्वप्नो में अभिषेक लक्ष्मी की भी गणना है।

ग्रीवा की त्रिवली, मुखमडल की सौम्यता और चमकते हुए पॉलिश की स्निग्धता ये सब मिलकर इन मूर्तियो का काल गुप्तोत्तर युग को सिद्ध करते है।

तीर्थंकर की कुल सख्या चौबिस है। आज की विचार धारा के अनुसार इनमें केवल तीन को—नेमि, पार्श्व तथा महावीर को सत्य सृष्टि के पुरुष होना स्वीकार किया जाता है।

उक्त तीनो मूर्तिया लगभग ५० वर्ष पूर्व, घर के आगन में खुदाई करते समय मिली थीं। तब से अभी तक यह मूर्तियां श्री भाणरकर के आंगण की शोभा बढ़ा रही है। दिन भर बच्चे इन मूर्तियों से लिपट-लिपट कर खेलते हैं। मकान मालिक इन्हें 'ऋषी-मुनी' कहते हैं तो गांव वाले 'उघडा (नंगा) देव' कहते हैं। इन मूर्तियों के पिछवाड़े ही हेमाडपथी मदिर की जगती और कुछ स्तंभ बिखरे पड़े हैं, जो यहां मदिर होने के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इससे लगकर ही तालाब है, जिसके किनारे भी अनगिनत हिंदू धर्म से सबधित मूर्तिया बिखरी पडी हैं।

आज भी पवनी के इर्द-गिर्द प्राचीन अवशेष यथेष्ट मात्रा में देखे जा सकते हैं। मासल से तीन किलो मीटर दूर तेलोता खैरी नामक एक छोटा-सा गाव है जहा प्राचीन अवशेष 'कप स्टोन' (Cap stone) देखे जा सकते हैं। इसके तीन-चार किलोमीटर दूर निपानी पिपल गाव नामक एक और गाव मे भी इसी प्रकार के अवशेष हैं। इन दोनों के बीच तथा पवनी के चारो ओर बृहदाश्म (Megaithic stone C!rocie) वर्तुल देखे जा सकते है। इन दोनो प्रकारों मे शव दफनाए जाते थे।

पवनी प्राचीनकाल से ही हीनयान बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहा का जगन्नाथ स्तूप तो गौतम बुद्ध की अस्थियो पर बनाया गया था। अड़म से कुछ रोमन सिक्के भी प्राप्त हुए हैं, जिससे यहा विदेशी धर्म यात्रियो तक के आने का प्रमाण मिलता है। पवनी के परिसर मे अनेक विहार तथा स्तूपों के अवशेष यथेष्ट मात्रा मे मिले हैं। भिवापूर, चांडाला, सातभोकी, कोरंभी आदि जगहों पर कई प्राचीन गुहाएं है। इतना ही नही यह स्थान प्राचीन व्यापारी मार्ग पर भी था।

बौद्ध धर्म के अवनति के पश्चात् इस परिसर में हिंदू तथा जैनधर्म पथियो ने अधिकार कर लिया। मासल से कुछ ही दूर पद्मपूर तथा भडारा मे भी जैन अवशेष पाये जाते है।

यह मूर्तिया तथा पवनी का प्रदेश अभी तक अप्रचारित एव अनेक पुरातत्व प्रेमियों, पर्यटकों के लिए अनजान है। पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग की इस महत्वपूर्ण परिसर के प्रति उपेक्षा खटकती है। गावों मे इतनी अधिक मूर्तियां पड़ी है कि यहां एक विशाल संग्रहालय एवं दर्शनीय स्थल का रूप दिया जा सके।

बेझनबाग, नागपुर-४४०००४

परिणामि-नित्य

युवाचार्य महाप्रज्ञ

आंधी चल रही है। उसमे जितनी शक्ति आज है। उतनी ही कल होगी, यह नही कहा जा सकता। जो कल थी, उसका आज होना जरूरी नही है और जो आज है उसका आने वाले कल मे होना जरूरी नही है। इस दुनिया मे एकरूपता के लिए कोई अवकाश नही है। जिसका अस्तित्व है, वह बहुरूप है। जो बाल आज सफेद है वे कभी काले रहे है। जो आज काले हैं, वे कभी सफेद होने वाले है। वे एकरूप नहीं रह सकते। केवल बाल ही क्या दुनिया की कोई भी वस्तु एकरूप नही रह सकती। जैन दर्शन ने अनेकरूपता के कारणो के कारणो पर गहराई से विचार किया है, अन्तर्बोध से उसका दर्शन किया है। विचार और दर्शन के बाद एक सिद्धात की स्थापना की। उसका नाम है—"परिणामि-नित्यत्ववाद"।

इस सिद्धांत के अनुसार विश्व का कोई भी तत्व सर्वथा नित्य नही है। कोई भी तत्व सर्वथा अनित्य नही है। प्रत्येक तत्व नित्य और अनित्य—इन दोनों धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है। तत्व का अस्तित्व ध्रुव है, इसलिए वह नित्य है। ध्रुव परिणनमन-शून्य नही होता और परिणमन ध्रुव-शून्य नही होता। इसलिए वह अनित्य भी है। वह एकरूप मे उत्पन्न होता है और एक अवधि के पश्चात् उस रूप से च्युत होकर दूसरे रूप में बदल जाता है। इस अवस्था में प्रत्येक तत्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों धर्मों का समवाय है। उत्पाद और व्यय—ये दोनो परिणमन के आधार बनते है और ध्रौव्य उसका अन्वयीसूत्र है। वह उत्पाद की स्थिति मे भी रहता है और व्यय की स्थिति मे भी रहता है। वह दोनो को अपने साथ जोड़े हुए है। जो रूप उत्पन्न हो रहा है, वह पहली बार ही नही हो रहा है और जो नष्ट हो रहा है वह भी पहली बार ही नही हो रहा है। उससे पहले वह अनगिनत बार उत्पन्न हो चुका है और नष्ट हो चुका है। उसके उत्पन्न होने पर अनित्य का सृजन नहीं हुआ और नष्ट होने पर उसका विनाश नही हुआ। ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय को एक क्रम देता है किन्तु अस्तित्व की मौलिकता मे कोई अन्तर नही आने देता। अस्तित्व की मौलिकता समाप्त नही होती। इस बिन्दु को पकड़ने वाले "कूटस्थ नित्य" के सिद्धात का प्रतिपादन करते है। अस्तित्व के समुद्र मे होने वाली ऊर्मियों को पकड़ने वाले "क्षणिकवाद" के सिद्धात का प्रतिपादन करते है। जैन दर्शन ने इन दोनों को एक ही धारा मे देखा, इसलिए उसने परिणामि-नित्यत्ववाद के सिद्धात का प्रतिपादन किया।

भगवान महावीर ने प्रत्येक तत्व की व्याख्या परिणामि-नित्यत्ववाद के आधार पर की। उनसे पूछा—"आत्मा नित्य है या अनित्य! पुद्‌गल नित्य है या अनित्य!" उन्होंने एक ही उत्तर दिया, "अस्तित्व कभी समाप्त नही होता। इस अपेक्षा से वे नित्य है। परिणाम का क्रम कभी अवरुद्ध नही होता, इस दृष्टि से वे अनित्य है। समग्रता की भाषा मे वे न नित्य है और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य हैं।

वस्तु मे दो प्रकार के धर्म होते है—सहभावी और क्रमभावी। सहभावी धर्म तत्व की स्थिति और क्रमभावी धर्म उसकी गतिशीलता के सूचक होते है। सहभावी धर्म "गुण" और क्रमभावी धर्म "पर्याय" कहलाते है। जैन दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है कि द्रव्य-शून्य पर्याय और पर्याय-शून्य द्रव्य नही हो सकता। एक जैन मनीषी ने कूटस्थ-नित्यवादियो से पूछा, "पर्याय-शून्य द्रव्य किसने देखा! कहा देखा! कब देखा! किस रूप में देखा! कोई बताये तो सही।" उन्होंने ऐसा ही प्रश्न क्षणिकवादियो से पूछा कि वे बताए तो सही कि द्रव्य-शून्य पर्याय किसने देखा! कहा देखा! कब देखा! किस रूप मे देखा! अवस्था-अवस्थावान और अवस्थावानविहीन अवस्थाएं—ये दोनों तथ्य घटित नही हो सकते। जो घटनाक्रम चल रहा है, उसके पीछे कोई स्थायी तत्व है। घटना-क्रम उसी में चल

रहा है। वह उससे बाहर नही है। तालाब में एक ककर फेंका और तरगे उठी। तालाब का रूप बदल गया। जो जल शात था, वह क्षुब्ध हो गया, तरगित हो गया। तरग जल में है। जल से भिन्न तरग का कोई अस्तित्व नही है। जल मे तरग उठती है इसलिए हम कह सकते है कि तालाब तरगित हो गया। तरगित होना एक घटना है। वह विशेष अवस्थावान मे घटित होती है। जलाशय नही है तो जल नही है। जल नही है तो तरग नही है। तरंग का होना जल के होने पर निर्भर है। जल हो और तरग न हो—ऐसा भी नही हो सकता। जल का होना तरग होने के साथ जुड़ा हुआ है। जल और तरग—दोनो एक-दूसरे मे निहित है—जल मे तरग और तरग मे जल।

द्रव्य पर्याय का आधार होता है। वह अव्यक्त होता है, पर्याय व्यक्त। हम द्रव्य को कहा देख पाते है। हम देखते हैं पर्याय को। हमारा जितनाज्ञान है, वह पर्याय का ज्ञान है। मेरे सामने एक मनुष्य है। वह एक द्रव्य है। मैं उसे नही जान सकता। मै उसके अनेक पर्यायों मे से एक पर्याय को जानता हू और उसके माध्यम से यह जानता हू कि यह मनुष्य है। जब आख से उसे देखता हू तो उसकी आकृति और वर्ण—इन दो पर्यायों के आधार पर उसे मनुष्य कहता हू। कान से उसका शब्द सुनता हू, तब उसे शब्द पर्याय के आधार पर मनुष्य कहता हू। उसकी समग्रता को कभी नही पकड पाता। आम को कभी मै रूप-पर्याय मे जानता हू, कभी गन्ध-पर्याय से और कभी रस पर्याय से। किन्तु सब पर्यायो से एक साथ जानने आदि का मेरे पास कोई साधन नही है। गध का पर्याय जब जाना जाता है तब रूप का पर्याय नीचे चला जाता है। इस समग्रता के सदर्भ मे मै कहता हू कि मै द्रव्य को नही देखता हूं, केवल पर्याय को देखता हूं और पर्याय के आधार पर द्रव्य का बोध करता हूं।

हमारा पर्याय का जगत् बहुत लम्बा-चौडा है और द्रव्य का जगत् बहुत छोटा है। एक द्रव्य और अनन्त पर्याय। प्रत्येक द्रव्य पर्यायो के बलय से घिरा हुआ है। प्रत्येक द्रव्य पर्यायो के पटल मे छिपा हुआ है। उसका बोध कर द्रव्य को देखना इन्द्रिय ज्ञान के लिए संभव नहीं है।

परिणमन स्वभाव से भी होता है और प्रयोग से भी। स्वाभाविक परिणमन अस्तित्व की आतरिक व्यवस्था से होता है। प्रायोगिक परिणमन दूसरे के निमित्त से घटित होता है। निमित्त मिलने पर ही परिणमन होता है, ऐसी बात नही है। परिणमन का क्रम निरंतर चालू रहता है। काल उसका मुख्य हेतु है। वह (काल) प्रत्येक अस्तित्व का आयाम है। वह परिणमन का आंतरिक हेतु है। इसलिए प्रत्येक अस्तित्व मे व्याप्त होकर वह अस्तित्व को परिणमन शील रखता है। स्वाभाविक परिणमन सूक्ष्म होता है। वह इद्रियो की पकड़ मे नही आता, इसलिए अस्तित्व मे होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों की इन्द्रिय-ज्ञान के स्तर पर व्याख्या नही की जा सकती। जीव और पुद्गल के पारस्परिक निमित्तो से जो स्थूल परिवर्तन घटित होता है, हम उस परिवर्तन को देखते है और उसके कार्य-कारण की व्यवस्था करते है। कोई आदमी बीमारी से मरता है, कोई चोट से, कोई आघात से और कोई दूसरे के द्वारा मारने पर मरता है। बिमारी नही, चोट नही, आघात नही और कोई मारने वाला भी नही, फिर भी वह मर जाता है। जो जन्मा है, उसका मरना निश्चित है। मृत्यु एक परिवर्तन है। जीवन मे उसकी आतरिक व्यवस्था निहित है। मनुष्य जन्म से पहले क्षण मे ही मरने लग जाता है। जो पहले क्षण मे नही मरता, वह फिर कभी नही मर सकता। जो एक क्षण अमर रह जाए, फिर उसकी मृत्यु नही हो सकती। बाहरी निमित्त से होने वाली मौत की व्यवस्था बहुत सरल है। शारीरिक और मानसिक क्षति से होने वाली मौत की व्याख्या उससे कठिन है। किन्तु पूर्ण स्वस्थ दशा में होने वाली मौत की व्याख्या वैज्ञानिक या अतीन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर ही की जा सकती है।

कुछ दर्शनिक सृष्टि की व्याख्या ईश्वरीय रचना के आधार पर करते है। किन्तु जैन दर्शन उसकी व्याख्या जीवन और पुद्गल के स्वाभाविक परिणमन के आधार पर करता है। सूक्ष्म विकास या प्रलय—जो कुछ भी घटित होता है, वह जीव और पुद्गल की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से घटित होता है। काल दोनों का साथ देता ही है। व्यक्त घटनाओं में बाहरी निमित्त भी अपना योग

देते हैं। सृष्टि का अव्यक्त और व्यक्त—समग्र परिवर्तन उसके अपने अस्तित्व में स्वयं सन्निहित है।

परिणमन सामुदायिक और वैयक्तिक—दोनों स्तर पर होता है। पानी मे चीनी घोली और वह मीठा हो गया। यह सामुदायिक परिवर्तन है। आकाश मे बादल मंडराये और एक विशेष अवस्था का निर्माण हो गया। भिन्न-भिन्न परमाणु-स्कन्ध मिले और बादल बन गया। कुछ परिणमन द्रव्य के अपने अस्तित्व में ही होते हैं। अस्तित्वगत जितने परिणमन होते हैं, वे सब वैयक्तिक होते है। पाच अस्तिकाय (अस्तित्व) हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में स्वाभाविक परिवर्तन ही होता है। जीव और पुद्गल में स्वाभाविक और प्रायोगिक—दोनों प्रकार के परिवर्तन होते है। इसका स्वाभाविक परिवर्तन वैयक्तिक ही होता है। किन्तु प्रायोगिक परिवर्तन सामुदायिक भी होता है। जितना स्थूल जगत् है वह सब इन दो द्रव्यो के सामुदायिक परिवर्तन द्वारा ही निर्मित है। जो कुछ दृश्य है, उसे जीवो ने अपने शरीर के रूप मे उपस्थित रूपायित किया है। इसे इन शब्दो मे भी प्रस्तुतत किया जा सकता है कि हम जो कुछ देख रहे हैं वह या तो जीवच्छरीर है या जीवों द्वारा त्यक्त शरीर है।

प्रत्येक अस्तित्व का प्रचय (काय, प्रदेश राशि) होता है। पुद्गल को छोड़कर शेष चार अस्तित्वों का प्रचय स्वभावतः अविभक्त है। उसमे सगठन और विभाजन नही होता। पुद्गल का प्रचय स्वभाव मे अविभक्त नही होता। उसमें सगठन और विघटन—ये दोनो घटित होते है। एक परमाणु का दूसरे परमाणुओं के साथ योग होने पर स्कन्ध के रूप में रूपान्तरण हो जाता है और उस स्कन्ध के सारे परमाणु वियुक्त होकर केवल परमाणु रह जाते है। वास्तविक अर्थ में सामुदायिक परिणमन पुद्गल में ही होता है। दृश्य अस्तित्व केवल पुद्गल ही है। जगत् के नानारूप उसी के माध्यम से निर्मित होते हैं। यह जगत् एक रगमंच है। उस पर कोई अभिनय कर रहा है तो वह पुद्गल ही है। वही विविध रूपों में परिणत होकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है। उसमे जीव का योग भी होता है, किन्तु उसका मुख्य पात्र पुद्गल ही है।

अस्तित्व में परिवर्तित होने की क्षमता है। जिसमें परिवर्तित होने की क्षमता नही होती, वह दूसरे क्षण में अपनी सत्ता को बनाए नही रख सकता। अस्तित्व दूसरे क्षण में रहने के लिए उसके अनुरूप अपने आप में परिवर्तन करता है और तभी वह दूसरे क्षण मे अपनी सत्ता को बनाए रख सकता है एक परमाणु अनन्तगुना काला है। वही परमाणु एक गुना काला हो जाता है। जो एक गुना काला होता है, वह कभी अनन्तगुना काला हो जाता है। यह परिवर्तन बाहर से नही आता। यह द्रव्यगत परिवर्तन है। इसमें भी अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण अधिक तारतम्य होना रहता है। अनन्तकाल के अनन्त क्षणो और अनन्त घटनाओं मे किसी भी द्रव्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए अनत परिणमन करना आवश्यक है। यदि उसका परिणमन अनत न हो तो अनतकाल मे वह अपने अस्तित्व को बनाए नही रख सकता।

अस्तित्व मे अनत धर्म होते है, कुछ अव्यक्त और कुछ व्यक्त। प्रश्न हुआ कि क्या घास में घी है? इसका उत्तर होगा घास मे घी है, किन्तु व्यक्त नही है। क्या दूध मे घी है? दूध मे घी है, पर पूर्ण व्यक्त नही है। दूध को बिलोया या दही बनाकर बिलोया, घी निकल आया। अव्यक्त धर्म व्यक्त हो गया। द्रव्य मे "ओघ" और "समुचित"—ये दो प्रकार की शक्तिया काम करती है। "ओघ" नियामक शक्ति है। उसके आधार पर कारण-कार्य के नियम की स्थापना की जाती है। कारण कार्य के अनुरूप ही होता है। कारण अव्यक्त रहता है, कार्य व्यक्त होता है। अब आप पूछे कि घास में घी है या नही? तो उत्तर होगा—"ओघ" शक्ति की दृष्टि से है, किन्तु "समुचित" शक्ति की दृष्टि से नही है। पुद्गल द्रव्य मे वर्ण, गध, रस और स्पर्श—ये चारो मिलते हैं। गुलाब के फूल में जितनी सुगंध है, उतनी ही दुर्गंध है। किन्तु उसमें सुगध व्यक्त है और दुर्गंध अव्यक्त। चीनी जितनी मीठी है, उतनी ही कड़वी है। किन्तु उसमे मिठास व्यक्त है और कड़वाहट अव्यक्त। सडान में जितनी दुर्गंध है, उतनी ही सुगंध भी छिपी हुई है। राजा जितशत्रु नगर के बाहर जा रहा था। मंत्री सुबुद्धि उसके साथ था। एक खाई आई, उसमे जल भरा था। वह कूड़े-करकट से गंदा हो रहा था। उसमें मृत पशुओं के कलेवर सड़ रहे थे। दूर तक दुर्गंध फट

रही थी। राजा ने कपड़ा निकाला और नाक को दबा लिया। कितनी दुर्गंध आ रही है ! राजा ने मंत्री की ओर मुड़कर कहा। मंत्री तत्त्ववेत्ता था। उसने कहा, महाराज ! यह पुद्‌गलों का स्वभाव है। उसने राजा के भाव की तीव्रता को अपनी भावभगी से मद कर दिया। बात वही समाप्त हो गई। कुछ दिनों बाद मत्री ने राजा को अपने घर भोजन के लिए निमन्त्रित किया। भोजन के मध्य राजा ने पानी पिया। पानी तुम कहां से लाते हो ? इच्छा होती है कि एक गिलास और पीऊ। मैं तुम्हे अभिन्न मानता हू, किन्तु तुम मुझे वैसा नही मानते। तुम इतना अच्छा पानी पीते हो मुझे कभी नही पिलाते। "मत्री मुस्कराया और बोला, "महाराज ! यह पानी उस खाई से लाता हूं, जहा आप ने नाक-भौ सिकोड़ी थी और कपड़े से नाक ढंकी थी।" राजा ने कहा, "यह नही हो सकता। यह पानी उस खाई का कैसे हो सकता है !" मत्री अपनी बात पर अटल रहा। राजा ने उसका प्रमाण चाहा। मंत्री ने उस खाई का पानी मगवाया। राजा की देखरेख में सारी प्रक्रिया चली और वह पानी वैसा ही निर्मल, मधुर और सुगंधित हो गया जैसा राजा ने मत्री के घर पिया था। केवल पानी ही क्या, हर वस्तु बदलती है। परिणमन का चक्र बदलता ही रहता है, वस्तुएं बदलती है। "ओघ" शक्ति की दृष्टि से हम किसी पौद्‌गलिक पदार्थ को काला या पीला, खट्टा या मीठा, सुगन्धमय या दुर्गन्धमय, चिकना या रूखा, ठडा या गर्म, हल्का या भारी, मृदु या कर्कश नही कह सकते। एक नीम के पत्ते मे वे सारे धर्म विद्यमान है जो दुनिया मे होते है। किन्तु "समुचित" शक्ति की दृष्टि से ऐसा नही है। उसके आधार पर देखें तो नीम अत्यन्त निर्मल, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त सुगन्धित है। राजा बोला, "मत्री ! पत्ता हरा है, चिकना है। उसकी अपनी एक सुगन्ध है। वह हल्का है और मृदु है। हमारा जितना दर्शन है, वह आनुभविक और प्रात्ययिक है।

पर्याय-परिवर्तन के द्वारा वस्तुओं मे बहुत सारी बातें घटित होती है। उनमे ऊर्जा की वृद्धि और हानि भी एक है। ऊर्जा परिणमन से ही प्रकट होती है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि द्रव्य (Mass) को शक्ति (Energy) मे और शक्ति को द्रव्य में बदला जा सकता है। इस द्रव्यमान, द्रव्यसंहति और शक्ति के समीकरण के सिद्धांत की व्याख्या परिणामि-नित्यवाद के द्वारा ही की जा सकती है। आइन्स्टीन से पहिले वैज्ञानिक जगत् मे यह माना जाता था कि द्रव्य को शक्ति मे और शक्ति को द्रव्य मे नही बदला जा सकता। दोनो स्वतंत्र हैं। किन्तु आइन्स्टीन के बाद यह सिद्धांत बदल गया। यह माना जाने लगा कि द्रव्य और शक्ति—ये दोनो भिन्न नही, किन्तु एक ही वस्तु के रूपान्तरण है। एक पौड कोयला मे और उसकी द्रव्य सहति को शक्ति मे बदले तो दो अरब किलोवाट की विद्युत शक्ति प्राप्त हो सकती है।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य मे अनन्त शक्ति है। वह द्रव्य चाहे जीव हो या पुद्‌गल। काल की अनन्त धारा मे वही द्रव्य अपना अस्तित्व रख सकता है जिसमे अनन्त शक्ति होती है। वह शक्ति परिणमन के द्वारा प्रकट होती रहती है। आज के वैज्ञानिक जगत् मे जितना प्रयोग हो रहा है, उसका क्षेत्र पौद्‌गलिक जगत् है। पौद्‌गलिक वस्तु को उस स्थिति मे ले जाया जा सकता है, जहा उसकी स्थूलता समाप्त हो जाये, उसका द्रव्य-मान या द्रव्य-सहिता समाप्त हो जाये और उसे शक्ति के रूप मे बदल दिया जाये।

जैन दर्शन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दो नयों से विश्व की व्याख्या की है। हम विश्व को अभेद की दृष्टि से देखते है तब हमारे सामने द्रव्य होता है। यह नीम, मकान, आदमी, पशु—ये द्रव्य ही द्रव्य हमारे सामने प्रस्तुत है। हम विश्व को जब भेद या विस्तार की दृष्टि से देखते है तब द्रव्य लुप्त हो जाता है। हमारे सामने होता है—पर्याय और पर्याय। परिणमन और परिणमन। आदमी कौन होता है ? आदमी कोई द्रव्य नही है। आदमी है कहां ? आप सारी दुनिया मे ढूढे, आदमी नाम का कोई द्रव्य आपको नही मिलेगा। आदमी एक पर्याय है। नीम कोई द्रव्य नही है। वह एक पर्याय है। दुनिया में जितनी वस्तुओ को हम देख रहे हैं, वे सारी की सारी पर्याय हैं। हम पर्याय को देख रहे हैं, द्रव्य हमारे सामने नही आता।

(शेष पृ० २१ पर)

अज्ञानता

□ ले० बाबूलाल जैन (वक्ता)

चाहे दूसरे कोटि भी उपाय करो पर बिना अज्ञानता को छोड़े राग, द्वेष, मोह नही मिटेगा। इसीलिए यह कीमती बात है कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नही होता। सम्यक्चारित्र अर्थात् कषाय का छुटना। सम्यक्-दर्शन क्या है—अपने को अपने रूप देखना। बंध क्या है ? संसार क्या है ? भीतर की यह अज्ञानता ही सब कुछ है। हमने क्या किया ? इस अज्ञानता को तो भीतर रखी और जब घर में रहे तो वह स्त्री पुत्रादि के साथ जुड गई तब यह भासित हुआ कि ये मेरे है, यही मेरे लिए सब कुछ है। फिर उपदेश मिला कि मन्दिर जाया करो। जब मन्दिर आए तो अज्ञानता तो घर छोडकर आए नही वह साथ-साथ मन्दिर आ गई तब यहां वह जुडी भगवान के साथ और यह दिखाई दिया कि यही तरण-तारण है। यही सुख देने वाला है, यही सब कुछ है। शास्त्र पढने बैठे तो अज्ञानता उसमें जुड़ गई; तब उसके शब्दो में अटक गए, या खूब शास्त्र पढ़कर पंडित बन गए। अहकार पैदा हो गया, या सोचा चलो कुछ तो पुण्य का बंध होगा। वह अज्ञानता अब पुण्य बंध के साथ जुड़ गई और पुण्य बंध पर दृष्टि रहने से निज तत्व की प्राप्ति मुश्किल हो गई इस पुण्य को पाप समझकर चलो तब अंतर धक्का लगेगा और 'स्व' पर दृष्टि जाएगी। वास्तव मे ये पुण्य सार्थक नही है, जब इसका उदय आता है तो व्यापार में और अधिक फंसा देता है, रोटी खाने में हैरान, पूजा करने मे हैरान, शास्त्र पढ़ने में हैरान तो यह पुण्य का नही पाप का ही उदय है। खैर, आगे चले, जब मुनि बनते है और वह अज्ञानता साथ रह जाती है तो पहले उसके कारण लड़के बच्चों में अपनापन था अब सेठों में, भक्तों में, पिच्छी कमण्डलु में अपनापन आ गया। अज्ञान तो अब भी अपना काम किए बिना नही रहेगा। पहले गृहस्थ भेष में अपनापन था अब मुनि भेष मे आ गया। जंगल मे गए तो वहां स्थान में अपनापन आ गया कि अमुक जगह बड़ी अच्छी है, बड़े काम की है। वैष्णवों की कथा है कि बाबाजी ने जंगल में, अनाज बोया, गाय बांधी, लगान न देने पर राजा द्वारा सजा मिली जब उसने विचार किया कि इस सब झमेले की जड़ क्या है, घर-बार सब छोडने पर भी ये अडंगा क्या हुआ तब बहुत सोचते-सोचते उसकी समझ में आया—अरे सब कुछ तो छोड़ दिया पर मूल बात वह अपनापन तो छोड़ा ही नही जो सबसे पहले छोडना था। वहा घर तो छोड आया पर यहां खेत में अपनापन मान लिया तो बाहर का क्षेत्र बेशक बदल गया पर भीतर मे अपना मानने वाला जो बैठा है वह तो वहीं का वही है, उसे तो घर से यहां भी साथ ही ले आया हूं। इसीलिए कह रहे है कि इस अज्ञानता को साथ लेकर तू चाहे जहां चला जा, यह साथ जाएगी तो वहां जिस किसी के भी साथ मे जुड़ेगी वही तुझे उल्टा दिखाई देने लगेगा। तब छोड़ना क्या है ? उस बाहरी वस्तु को नही, पदार्थ को नही, वह तो पर है ही उसे क्या छोड़ेगा। छोड़ना तो उस अज्ञानता को है जो तेरी अपनी नहीं है जिसे तू ने अपना रखा है और उस अज्ञानता को छोड़ने के बाद वही घर रहेगा वही स्त्री-पुत्रादि रहेंगे पर, पहले तुझे वे ही सब कुछ दिखाई देते थे अब लगेगा अरे ! ये तो पर है : मैं इनमें कहा फंसा हुआ हूं। चीज तो वहीं है पर अन्दर की अज्ञानता छोड़ने से वही दूसरे रूप मे दिखाई देने लगती है। दूसरे रूप से मतलब सच्चे रूप मे, पहले उसी वस्तु को गलत रूप मानता था। मन्दिर में आता अज्ञानता को छोड़कर तो अब दिखाई देने लगा कि जिनेन्द्र के माध्यम से मुझे अपनी चेतन आत्मा के दर्शन करने हैं। बार-बार जिनेन्द्र की तरफ देखता है तो एक धिक्कार फिर अन्दर से आती है कि वे तो अपने आप में लीन हैं और तू बाहर में घूम रहा है। तू उनकी तरह भीतर मे लीन क्यों नही हो जाता ? उस धिक्कारता के आने पर उसके अन्दर पुरुषार्थ जागृत होता है। धक्का लगता है तो नींद टूटती है।

अब जिस वस्तु से सम्बन्ध जुड़ता है वह ज्ञान का ही जुड़ता है अज्ञान का नही। पर पदार्थ को देखता है तो वह सुन्दर या असुन्दर प्रतिभासित नही होता उसमें राग द्वेष का कोई प्रयोजन नही रह जाता और फिर भी जितना राग-द्वेष होता है उसे अपनी कमजोरी ही मानता है। असल मे देखा जाए तो यह शरीर तो राग करने का बिल्कुल स्थान ही नही है, शरीर तो इतनी खोटी चीज है कि ये तो ममत्व के बिल्कुल ही योग्य नही है। इसलिए ये मूल बात यही है कि उस अज्ञानता को छोड दे। उसे साथ लेकर यदि समवसरण में भी जायगा तब भी कल्याण होने का नही है। यदि अपने स्वभाव को ठीक कर ले तो वह जहां रहे वहा मन्दिर हो जाए और अगर अज्ञानता न छोड़े तो मन्दिर भी अखाडा हो जाना है।

उस अज्ञानता को मेटने के लिए हम शास्त्र पढ़ते हैं परन्तु शास्त्र हमारी अज्ञानता मेट नही सकता, शास्त्र तो केवल हमें हमारी अज्ञानता का बोध करा सकता है, मेटनी तो वह हमें स्वय को ही है। पण्डित व त्यागी को तत्व की प्राप्ति इसीलिए दुर्लभ हो जानी है क्योंकि पडित समझता है कि मैं जान गया और त्यागी समझता है कि मैं हो गया। तत्व की प्राप्ति तो उसे हो जो यह समझे कि मैं कुछ भी नहीं जानता और मैं कुछ भी नही है जो समझे कि मैं कुछ हो गया वह तो हो ही गया फिर भीतर जाकर क्या करे खोज ? तो शास्त्र-ज्ञान व व्रतो में अहंकार होने से व्यक्ति अपने को नही जान पाता और अपने को न जानने से शास्त्र-ज्ञान व व्रतो मे अहकार होता है। अज्ञानी अपने को फिर भी जल्दी जान सकता है क्योंकि वह समझता है कि मैं कुछ नही जानता।

सारे द्वादशांग के उपदेश का जोर उस अज्ञानता को मेटने पर है क्योकि वह अज्ञानता ही प्रत्येक वस्तु को उल्टा दिखाती है और फिर हम सोचते है कि उस वस्तु या व्यक्ति को सीधा कर दें। अरे ! उसे तू क्या सीधा करेगा। वह तो सीधा ही है, उल्टा तो तू है, तू अपनी उस अज्ञानता को मेट कर सीधा हो जा। आपने को ठीक करना है पर को नही।

शास्त्र तो अज्ञानता का बोध कराता है, कहता है कि ये शरीर तुझे अपना लगता है क्या ? यदि अपना लगता है तो समझना अज्ञानता है। अब शरीर में अपनेपने की अज्ञानता का बोध तो हमें शास्त्र ने करा दिया पर इतने मात्र से शरीर मे अपनापन तो छूटा नही, वह तो जब हम छोड़ेंगे तभी छूटेगा। दूसरा काम शास्त्र करता है एक प्यास, तडप व छटपटाहट पैदा करने का। वह कहता है जबकि तत्व को जान लेने से तेरा एक अद्वितीय रूप हो जाएगा। सारे संसार का अनादि काल का तेरा दुख मिट जाएगा तब इसके भीतर में एक जिज्ञासा पैदा होती है कि कैसे अपने को समझू व जानू। शास्त्र ने तो जिज्ञासा पैदा कराके छोड़ दिया अब अपने को जानना तो हमें स्वयं ही है। गुरू भी ये ही दोनों काम करता है, अज्ञानता का बोध कराने का व तडपन पैदा करने का। यदि शास्त्र अज्ञानता मेट सकता होता तो ११ अंग ९ पूर्व का पाठी अज्ञानी कैसे रह जाता ? हम ये चाहे कि राग द्वेष तो हमारा मिट जाए और अज्ञानता बनी रहे तो ये तो होने का ही नह है। द्वीपायन मुनि ने कितनी तपस्या की, लोगों ने उन्हें उठा कर फेंक दिया, उन पर थूक दिया और उन्होंने उफ नही की पर भीतर मे अज्ञानता बनी रही चिनगारी सुलगती रही और एक दिन वह आग बनकर भभक उठी। अत: यदि अन्दर की अज्ञानता न जाए और बाहर में कितना भी उपसर्ग व परीषह सहन करे तब भी वह कार्यकारी नही है।

इसलिए मूल बात उस अज्ञानता को छोड़ने की है और वह हमारे अपने कारणसे हुई और अपनेही कारण से छूटेगी। किसी दूसरेके कारणसे होती तो उसके छोड़नेसे छूट जाती पर ऐसा नही है। पागल कपड़े फाड़ रहा है और हम चाहते हैं कि ये न फाड़े और हम उसे रोक रहे हैं तो उस रोकने का भी क्या फायदा है ? अरे ! वो कपड़ा फाड़ना बन्द करेगा तो अन्य और कुछ गड़बड़ करेगा, कुछ तोड़ने फोड़ने लगेगा इसलिए हमारा पुरुषार्थ उसको उन क्रियाओं से रोकने में नही वरन् उसका पागलपन मेटने में है। आचार्यों ने कहा कि होना चाहिये मिथ्यादृष्टि का सारा आचरण मिथ्याचरित्र है। अब वह सम्यक्चारित्र कैसे हो ? वह तो मिथ्यादर्शन के मेटने से ही होगा, क्रिया को बदली करने से तो होगा नहीं। मूल भूल को मिटाना चाहिए। ×

जैन साहित्य में कुरुवंश, कुरुजनपद एवम् हस्तिनापुर

☐ डा० रमेशचन्द्र जैन

हरिवंश पुराण में कुरुवंश सम्बन्धी विवरण—

जिनसेन कृत हरिवंश पुराण में कुरुवंश को सोमवंश के अन्तर्गत वर्णित किया गया है, तदनुसार षट्खण्ड पृथ्वी के स्वामी भरत ने चिरकाल तक लक्ष्मी का उपभोग कर अर्ककीर्ति नामक पुत्र का अभिषेक किया और स्वय अतिशय कठिन आत्मरूप परिग्रह से युक्त एव कठिनाई से निग्रह करने योग्य इन्द्रिय रूपी मृगसमूह को पकड़ने के लिए जाल के समान जिन-दीक्षा धारण कर ली[१]। राजा अर्ककीर्ति के स्मितयश नाम का पुत्र हुआ। अर्ककीर्ति उसे लक्ष्मी दे तप के द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुआ। स्मितयश के बल, बल के सुबल, सुबल के महाबल, महाबल के अतिबल, अतिबल के अमृतबल, अमृतबल के सुभद्र, सुभद्र के सागर, सागर के भद्र, भद्र के रवितेज, रवितेज के शशि, शशि के प्रभूततेज, प्रभूततेज के तेजस्वी, तेजस्वी के तपन, तपन के प्रतापवान, प्रतापवान् के अतिवीर्य, अतिवीर्य के सुवीर्य, सुवीर्य के उदितपराक्रम, उदितपराक्रम के महेन्द्रविक्रम, महेन्द्रविक्रम के सूर्य, सूर्य के इन्द्रद्युम्न, इन्द्रद्युम्न के महेन्द्रजित्, महेन्द्रजित् के प्रभु, प्रभु के विभु, विभु के अविध्वंस, अविध्वंस के वीतभी, वीतभी के वृषभध्वज, वृषभध्वज के गरुडाङ्क, और गरुडाङ्क के मृगाङ्क आदि अनेक राजा सूर्यवंश में उत्पन्न हुए। ये सब राजा विशाल यश के धारक थे और पुत्रों के लिए राज्यभार सौंप तप कर मोक्ष को प्राप्त हुए। भरत को आदि लेकर चौदह लाख इक्ष्वाकुवंशीय राजा लगातार मोक्ष गए। उसके बाद एक राजा सर्वार्थसिद्धि से अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुआ। फिर अस्सी राजा मोक्ष गए, परन्तु उनके बीच में एक-एक राजा इन्द्र पद को प्राप्त होता रहा। सूर्यवंश मे उत्पन्न हुए कितने धीरवीर राजा अन्त में राज्य का भार छोड़कर तप का भार धारण कर स्वर्ग गए गए और कितने ही मोक्ष गए। भगवान् ऋषभदेव के बाहुबली पुत्र थे, उनसे सोमयश नामक पुत्र हुआ। वह सोमयश सोमवंश (चन्द्रवंश) का कर्त्ता हुआ। सोमयश के महाबल, महाबल के सुबल और सुबल के महाबली पुत्र हुआ। इन्हें आदि लेकर सोमवंश में उत्पन्न अनेक राजा मोक्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव का तीर्थ पृथ्वी पर पचास लाख करोड़ सगर तक अनवरत रहा। इस तीर्थकाल में अपनी दो शाखाओं सूर्यवश और चन्द्रवंश में उत्पन्न हुए इक्ष्वाकुवंशीय तथा कुरु वंशीय अनेक राजा स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त हुए[२]।

हरिवंश पुराण के त्रयोदश पर्व के एक उल्लेखानुसार सर्वप्रथम इक्ष्वाकुवंश उत्पन्न हुआ, फिर उसी इक्ष्वाकुवंश से सूर्यवंश और चन्द्रवंश उत्पन्न हुए। उसी समय कुरुवंश तथा उग्रवंश आदि अन्य वंश प्रचलित हुए[३]। जो इक्ष्वाकु क्षत्रियों

(पृष्ठ १८ का शेषांश)

वह आंखों से ओझल रहता है। इस सत्य को आचार्य हेमचन्द्र ने इन शब्दो में प्रकट किया था—

अपर्यायं वस्तु समस्यमान—
मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं।

—हम अभेद के परिपार्श्व में चलें तो पर्याय लुप्त हो जाएगा, बचेगा द्रव्य। हमारी दुनिया बहुत छोटी हो जाएगी। विस्तार से शून्य हो जाएगी। हम भेद के परिपार्श्व में चलें तो द्रव्य लुप्त हो जायेगा, बचेगा पर्याय। हमारी दुनिया बहुत बडी हो जायेगी। भेद अभेद को निगल जायेगा। केवल विस्तार और विस्तार।

परिणमन के जगत् मे जैसा जीव है, वैसा ही पुद्गल है। किन्तु इस विश्व मे जितनी अभिव्यक्ति पुद्गल द्रव्य की है, उतनी किसी में नहीं है। अपने रूप को बदल देने की क्षमता जितनी पुद्गल में है, उतनी किसी में नही है। हमारे जगत् में व्यक्त पर्याय का आधारभूत द्रव्य यदि कोई है तो वह पुद्गल ही है। × × ×

में वृद्ध तथा जाति-व्यवहार को जानने वाले थे, उन्हें लोक-बन्धु भगवान् ऋषभदेव ने रक्षाकार्य में नियुक्त किया। जो कुरुदेश के स्वामी थे, वे कुरु, जिनका शासन उग्र था, वे उग्र और जो न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करते थे, वे भोज कहलाए। इनके अतिरिक्त प्रजा को हर्षित करने वाले अनेक राजा और भी बनाए गए। उस समय श्रेयान्स और सोमप्रभ आदि कुरुवंशी राजाओं से यह भूमि सुशोभित हो रही थी[४]।

हरिवंश पुराण के ४५वें पर्व मे कुरुवशी राजाओं की विस्तृत परम्परा का वर्णन हुआ है। तदनुसार शोभा मे उत्तर कुरु की तुलना करने वाले कुरुजाङ्गल देश के हस्तिनापुर (हस्तिनपुर) नगर में जो आभूषणस्वरूप श्रेयान्स और सोमप्रभ नामके दो राजा हुए थे, वे कुरुवश के तिलक थे, भगवान ऋषभदेव के समकालीन थे और दानतीर्थ के नायक थे। उनमें सोमप्रभ के जयकुमार नाम का पुत्र हुआ। वह जयकुमार ही आगे चलकर भरत चक्रवर्ती के द्वारा 'मेघस्वर, नाम से सम्बोधित किया गया। जयकुमार से कुरु पुत्र हुआ, कुरु के कुरुचन्द्र, कुरुचन्द्र के शुभकर और शुभकर के धृतिकर पुत्र हुआ। तदनन्तर कालक्रम से अनेक करोड़ राजा हुए और अनेक सागर प्रमाण तीर्थंकरो का अन्तराल काल व्यतीत हो जाने पर धृतिदेव, धृतिकर, गङ्गदेव, धृतिमित्र, धृतिक्षेम, सुव्रत, व्रात, मन्दर, श्रीचन्द्र और सुप्रतिष्ठ आदि सैकड़ो राजा हुए। तदनन्तर धृतपद्म, धृतेन्द्र, धृतवीर्य, प्रतिष्ठित आदि राजाओं के हो चुकने पर धृतिदृष्टि, धृतिद्युति, धृतिकर, प्रीनिकर आदि हुए। तत्पश्चात् भ्रमरघोष, हरिघोष, हरिध्वज, सूर्यघोष, सुतेजस, पृथु और इभवाहन आदि राजा हुए। तदनन्तर विजय, महाराज और जयराज हुए। इनके पश्चात् उसी वश मे चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार हुए, जो रूपपाश से खिचकर आये हुए देवों के द्वारा सम्बोधित हो दीक्षित हो गए थे। सनत्कुमार के सुकुमार नाम का पुत्र हुआ। उसके बाद वरकुमार, विश्व, वैश्वानर, विश्वकेतु और वृहद्ध्वज नामक राजा हुए। तदनन्तर विश्वसेन राजा हुए, जिनकी स्त्री का नाम ऐरा था। इन्ही के पंचम चक्रवर्ती और सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ हुए। इनके पश्चात् नारायण, नरहरि, प्रशान्ति, शान्तिवर्द्धन, शान्तिचन्द्र, शशाङ्क और कुरु राजा हुए। इत्यादि राजाओं के व्यतीत होने पर इसी वंश में सूर्य नामक राजा हुए, जिनकी स्त्री का नाम श्रीमती था। उन दोनों के भगवान् कुन्थुनाथ उत्पन्न हुए, जो तीर्थंकर भी थे और चक्रवर्ती भी थे। तदनन्तर क्रम-क्रम से बहुत से राजाओं के व्यतीत हो जाने पर सुदर्शन नामक राजा हुए, जिनकी स्त्री का नाम मित्रा था। इन्हीं दोनों के सप्तम चक्रवर्ती और अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ हुए। तदनन्तर अन्य राजाओ के हो चुकने पर इसी वंश मे पद्ममाल, सुभौम और पद्मरथ राजा हुए। उनके वाद महापद्म चक्रवर्ती हुए। उनके विष्णु और पद्म नामक दो पुत्र हुए। तदनन्तर सुपम, पद्मदेव, कुलकीर्ति, कीर्ति, सुकीर्ति, कीर्ति, वसुकीर्ति, वासुकि, वासव, वसु, सुवसु, श्रीवसु, वसुन्धर, वसुरथ, इन्द्रवीर्य, चित्र, विचित्र, वीर्य, विचित्र, विचित्रवीर्य, चित्ररथ, महारथ, धृतरथ, वृपानत, वृषध्वज, श्रीव्रत, व्रतधर्मा, धृतधारण, महासर, प्रतिसर, शर, पाराशर, शरद्वीप, द्वीप, द्वीपायन, सुशान्ति, शान्तिभद्र, शान्तिषेण, योजनगंधा के भर्ता शन्तनु और शन्तनु के राजा धृतव्यास पुत्र हुए। तदनन्तर धृतधर्मा, धृतेदय, धृततेज, धृतयश, धृतमान और धृत हुए। धृत के धृतराज नामक पुत्र हुआ। उसकी अम्बिका, अम्बालिका और अम्बा नामक तीन स्त्रियां थीं, जो उच्चकुल में उत्पन्न हुई थी। उनमे अम्बिका के धृतराष्ट्र, अम्बालिका से पाण्डु और अम्बा से ज्ञानिश्रेष्ठ विदुर ये तीन पुत्र हुए। भीष्म भी शन्तनु के ही वंश में उत्पन्न हुए थे। धृतराज के भाई रुक्मण उनके पिता थे और राजपुत्री गंगा उनकी माता थी। राजा धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे, जो नय-पौरुष से युक्त तथा परस्पर एक-दूसरे के हित करने मे तत्पर थे। राजा पाण्डु की स्त्री का नाम कुन्ती था। जिस समय राजा पाण्डु ने गन्धर्व विवाह कर कुन्ती से कन्या अवस्था मे सम्भोग किया था, उस समय कर्ण उत्पन्न हुए थे और विवाह करने के बाद युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम ये तीन पुत्र हुए। इन्हीं पाण्डु की माद्री नामकी दूसरी स्त्री थी। उससे नकुल और सहदेव ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों ही पुत्र कुल के तिलकस्वरूप थे और पर्वत के समान स्थिर थे। युधिष्ठिर को आदि लेकर तीन तथा नकुल और सहदेव ये पांच पाण्डव कहलाते थे[५]।

आदि पुराण में उल्लिखित कुरु जनपद—आदि पुराण में कुरु[६] और कुरुजाङ्गल इन दो राज्यों का उल्लेख आया

है। आदि पुराण के ४३वें पर्व में कुरुजाङ्गल की निम्न-लिखित विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं—

१. कुरुजाङ्गल देश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थों की खान है।

२. यह देश स्वर्ग के समान है अथवा स्वर्ग में भी इन्द्र के विमान के समान है।

३. कुरुजाङ्गल देश में स्थित हस्तिनापुर नगर सब प्रकार की सम्पदाओं से विचित्र है तथा वह समुद्र में लक्ष्मी की उपत्यका को झूठा सिद्ध करता हुआ उसके कुलगृह के समान जान पड़ता है।

असग कवि विरचित शान्तिनाथ पुराण के त्रयोदश सर्ग में कुरुदेश तथा उसमे स्थित हस्तिनापुर नगर का विस्तृत वर्णन मिलता है। तदनुसार कुरु देश मे निम्न-लिखित विशेषताएं दृष्टिगोचर होती है—

१. यह लक्ष्मी से उत्तरकुरु की शोभा जीतता है।

२. साधु पुरुष यहां याचकों को कभी नही रोकते है।

३. वहा के मनुष्यो मे विरह तथा मूर्खजनों की सगति नही देखी जाती है।

४. अशोक वृक्षावलि के पल्लवों मे मुक्त यहा के सरोवर मूंगा के वनों से युक्त ज्ञात होते है।

५. यहा की स्त्रियां नाना प्रकार के बेल-बूटों से प्रसाधन करती है तथा काम से उज्ज्वल से शोभा रमणीक हैं।

६. यहा के मनुष्यो की बात ही क्या, वनवृक्ष भी सत्पुरुषों के आचरण का पालन करते है।

७. उस देश के तालाबों मे राजहस निवास करते है।

८. वहां के ब्राह्मण निर्दोष तलवार धारण करने वाले उत्तम राजाओं की सेवा करते हैं।

९. उस देश के उत्तम राजा जगत् के दरिद्र्यजनित दुःख को दूर करते हैं।

१०. वहां की नारियां बर्फ के समान शीतल जल धारण करती हैं।

११. वहां का जन समूह विपत्तियों के अंश से रहित फलश्री से युक्त तथा समीचीन आचार-विचार मे स्थित है।

१२. वहां ऊंचे-ऊंचे पर्वत हैं। उन पर्वतों पर धव तथा देवदारु के वृक्ष एवं लताएं हैं, एवं सिंह आदि बड़े-बड़े जीव हैं।

२३. वहां के लोग सज्जन, उदारहृदय, उज्ज्वलता के आधार, भीतर से निष्कपट एव महापराक्रम से युक्त है।

कल्पसूत्र के अनुसार ऋषभ के सौ पुत्रों में इक्कीसवें का नाम कुरु था, जिनके नाम पर कुरु नामक राष्ट्र प्रसिद्ध हुआ, किन्तु आदि पुराण के अनुसार बाहुबलि पुत्र सोमप्रभ ही इस नगर के राजा थे और उनकी दूसरी सज्ञा कुरु होने से यह भूभाग कुरु देश कहलाया[१]।

जैन साहित्य में हस्तिनापुर—

जैन आगमों में हस्तिनापुर—स्थानाङ्ग सूत्र मे दस महानदियों तथा चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, हस्तिनापुर, काम्पिल्य, मिथिला, कौशाम्बी और राजगृह नामकी दस राजधानियों के नाम है[१०]

विपाकसूत्र मे उज्झिय नामक वणिक् पुत्र के पूर्वजन्म की कथा है, जिसके अनुसार हस्तिनापुर मे भीम नामका एक कूटग्राह (पशुओं का चोर) था। उसके उत्पला नामकी भार्या थी। उत्पला गर्भवती हुई और उसे गाय, बैल आदि का मास भक्षण करने का दोहद हुआ। उसने गोत्रास नामक पुत्र को जन्म दिया। यही गोत्रास वणियगाम में विजय मित्र के घर उज्झिय नामका पुत्र हुआ। उज्झिय जब बडा हुआ तो उसके माता-पिता मर गए और नगर-रक्षकों ने उसे घर से निकालकर उसका घर दूसरों को दे दिया। ऐसी स्थिति मे वह द्यूतगृह, वेश्यागृह और पाना-गारों मे भटकता हुआ समय यापन करने लगा। कामज्झया नामक वेश्या के घर पर वह आने-जाने लगा। यह वेश्या राजा को भी प्रिय थी। एक दिन उज्झिय वेश्या के घर पकड़ा गया और राजपुरुषों ने उसे प्राणदण्ड दे दिया[११]।

निसीह के नौवें उद्देशक मे चम्पा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, काम्पिल्य, कौशाम्बी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह नामकी दस अभिषिक्त राजधानियां गिनाई गई है। यहां राजाओ का अभिषेक किया जाता था[१२]।

आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में हस्तिनापुर—आचार्य कुन्द-कुन्द की निर्वाण भक्ति में अष्टापद, चम्पा, ऊर्जयन्त, पावा, सम्मेदशिखर, गजपथा, शत्रुंजय, तुंगीगिरि, सुवर्णगिरि, कुथलगिरि, कोटिशिला, रेशिंदीगिरि, पोदनपुर, हस्तिना-पुर, वाराणसी, मथुरा, अहिच्छत्र, श्रीपुर, चन्द्रगुहा आदि तीर्थस्थानों का उल्लेख हुआ है। यहा से अनेक ऋषि-मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया था[१३]।

पौराणिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने ५२ आर्य देशों की स्थापना की थी उसमें कुरु-जांगल देश भी था। इस प्रदेश की राजधानी का नाम गजपुर था। सम्भवतः इस प्रदेश के गङ्गातटवर्ती जंगलों में हाथियों का बाहुल्य होने के कारण यह गजपुर कहलाने लगा। पश्चात् कुरुवंश में हस्तिन् नाम का एक प्रतापी राजा हुआ। उसके नाम पर इसका नाम हस्तिनापुर हो गया[१४]। प्राचीन साहित्य में इस नगर के कई नाम आते हैं, जैसे—गजपुर[१५], हस्तिनापुर, गजेसाह्वयपुर[१६], नागपुर[१७], आसन्दीवत्, ब्रह्म-स्थल[१८], कुंजरपुर[१९] आदि। यह नगर पाण्डवों को अत्यधिक प्रिय था, अतः श्रीकृष्ण ने इसे पाण्डवो को प्रीतिपूर्वक दिया था[२०]। जब पान्डव हास्तिनपुर (हस्तिनापुर) में यथा-योग्य रीति से रहने लगे, तब कुरुदेश की प्रजा अपने पूर्व स्वामियों को प्राप्तकर अत्यधिक सन्तुष्ट हुई। पाण्डवों के सुखदायक सुराज्य के चालू होने पर देश के सभी वर्ण और सभी आश्रम धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि को सर्वथा भूल गये[२१]। एक बार भीम के एक परिहास से क्रुद्ध होकर कृष्ण पाण्डवों से रुष्ट हो गये और सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु को राज्य देकर वहा से उन्होंने पाण्डवों को क्रोधवश विदा कर दिया[२२]। असमय में वज्रपात समान कठोर कृष्णचन्द्र की आज्ञा से पाण्डव अपने अनुकूल जनों के साथ दक्षिण दिशा की ओर गए और वहाँ उन्होंने मथुरा नगरी बसायी[२३]।

प्रथम दानतीर्थ का प्रवर्तन—पद्मचरित में हस्तिनपुर अथवा हस्तिनापुर में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव द्वारा आहार ग्रहण करने का वर्णन आया है, तदनुसार शोभा मे मेरु के समान भगवान् ऋषभदेव किसी दिन विहार करते-करते मध्याह्न के समय हस्तिनापुर नगर में प्रविष्ट हुए[२४]। मध्याह्न के सूर्य के समान देदीप्यमान उन पुरुषोत्तम के दर्शन कर हस्तिनापुर के समस्त स्त्री-पुरुष बड़े आश्चर्य से मोह को प्राप्त हो गए अर्थात् किसी को यह ध्यान नहीं रहा कि आहार की बेला है, इसलिए भगवान् को आहार देना चाहिए। वहाँ के लोग अन्य वाहन ला-लाकर उन्हें समर्पित करने लगे। विनीत वेष को धारण करने वाले कितने ही लोग पूर्ण चन्द्रमा के समान मुख वाली तथा कमलों के समान नेत्रों से सुशोभित सुन्दर कन्यायें उनके पास ले आए। जब वे कन्यायें भगवान् के लिए रुचिकर नही लगीं, तब वे निराश होकर स्वयं अपने आपसे ही द्वेष करने लगीं और आभूषण दूर फेंक भगवान् का ध्यान करती हुई खड़ी रह गईं। अथानन्तर महल के शिखर पर खड़े हुए राजा श्रेयांस ने उन्हें स्नेह-पूर्ण दृष्टि से देखा और देखते ही पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। राजा श्रेयांस महल के नीचे उतर कर अन्तःपुर तथा अन्य मित्रजनों के साथ उनके पास आया और हाथ जोड़ कर स्तुति पाठ करता हुआ प्रदक्षिणा देने लगा। भगवान् को प्रदक्षिणा देता हुआ राजा श्रेयांस ऐसा सुशो-भित हो रहा था, मानो मेरु के मध्य भाग की प्रदक्षिणा देता हुआ सूर्य ही हो। सर्वप्रथम राजा ने अपने केशों से भगवान् के चरणों का मार्जन कर आनन्द के आँसुओं से उनका प्रक्षालन किया, रत्नमयी पात्र से अर्घ्य देकर उनके चरण धोए और पवित्र स्थान में उन्हे विराजमान किया, तदनन्तर उनके गुणों से आकृष्ट चित्त हो कलश में रखा हुआ शीतल जल लेकर विधिपूर्वक श्रेष्ठ पारण कराई। उसी समय आकाश मे चलने वाले देवों ने प्रसन्न होकर साधु-साधु, धन्य-धन्य शब्दों के समूह से मिला एवं दिग्मंडल को मुखरित करने वाला दुन्दुभिबाजों का भारी शब्द किया। पाच रंग के फूल बरसाए। अत्यन्त सुखकर स्पर्श सहित दिशाओं को सुगन्धित करने वाली वायु बहने लगी और आकाश को व्याप्त करती हुई रत्नों की धारा बरसने लगी। इसी प्रकार राजा श्रेयास तीनो लोकों को आश्चर्य में डालने वाले देवकृत सम्मान को प्राप्त हुआ। सम्राट् भरत ने भी बहुत भारी प्रीति के साथ उनकी पूजा की। अनन्तर इन्द्रियजयी भगवान् ऋषभदेव मुनियों का व्रत कैसा है? उन्हें किस प्रकार आहार दिया जाता है, इसकी प्रवृत्ति चलाकर फिर से शुभध्यान में लीन हो गए। अनन्तर शुक्लध्यान के प्रभाव से मोह का क्षय होने पर उन्हें लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान उत्पन्न हो गया[२५]।

७०० मुनियों की उपसर्ग निवृत्ति का क्षेत्र—हस्तिना-पुर में अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों के उपसर्ग का निवारण हुआ। इसकी कथा इस प्रकार है—

किसी समय उज्जयिनी में श्रीधर्मा राजा रहता था। उसके बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद ये चार मन्त्री

थे। किसी समय श्रुत के पारगामी महामुनि अकम्पन सात सौ मुनियों के साथ उज्जयिनी के बाह्य उपवन में विराजमान हुए। उनके दर्शन के लिए नगरनिवासियों की भाँति राजा भी मन्त्रियों के साथ गया। मुनियों के दर्शन कर मन्त्री कुछ विवाद करने लगे। उस समय गुरु की आज्ञा से सब मुनि संघ मौन लेकर बैठा था, इसलिए ये चारों मन्त्री विवश होकर लौट आए। लौटते समय उन्होंने एक श्रुतसागर नाम के मुनि को देखकर राजा के समक्ष छेड़ा। सब मन्त्री मिथ्यामार्ग से मोहित थे, अतः श्रुतसागर नामक मुनिराज ने उन्हें जीत लिया। उसी दिन रात्रि के समय उक्त मुनिराज प्रतिमायोग से विराजमान थे कि सब मन्त्री उन्हें मारने के लिए गए, किन्तु देव ने उन्हे कीलित कर दिया। यह देख राजा ने उन्हें अपने देश से निकाल दिया।

चारों मन्त्री हस्तिनापुर आए। उस समय वहाँ राजा पद्म राज्य करता था। राजा पद्म वलि आदि मन्त्री के उपदेश से किले मे स्थित सिंहबल राजा को पकड़ने मे सफल हो गया, अतः उसने बलि से अभीष्ट वर माँगने के लिए कहा। बलि ने उस वर को राजा के ही पास धरोहर के रूप रखा।

किसी समय अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनिराज हस्तिनापुर आए। उनके विषय मे जानकर बलि आदि मन्त्री भयभीत हो गए। बलि ने राजा पद्म से वर देने की प्रतिज्ञा का निर्वाह करने हेतु सात दिन का राज्य माँगा। राजा ने बलि को सात दिन का राज्य दे दिया। बलि ने सिंहासन पर आरूढ़ होकर उन मुनियो पर उपद्रव करवाया। उसने चारो ओर से मुनियों को घेरकर पत्तो का धुआँ कराया तथा जूठन व कुल्हड़ आदि फिकवाए। मुनिगण सावधिक संन्यास धारण कर उपसर्ग सहन करते रहे।

उस समय मिथिला नगरी में पद्म के छोटे भाई विष्णुकुमार मुनि के अवधिज्ञानी गुरु विराजमान थे। अवधिज्ञानी उन गुरु से पुष्पदन्त नामक क्षुल्लक ने मुनियों पर उपसर्ग होने का दारुण समाचार सुना। वह गुरु की आज्ञा से विष्णुकुमार मुनि के पास आया तथा विष्णुकुमार मुनि से कहा कि आपको विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गई है, अतः आप ही इस उपसर्ग को दूर कर सकते हैं। विष्णुकुमार मुनि राजा पद्म के पास गए। राजा पद्म ने कहा कि मैंने सात दिन का राज्य बलि को दे रखा है। अतः इस विषय में मेरा कुछ अधिकार नही है। यह सुनकर विष्णुकुमार मुनि बलि के पास गए तथा इस कुकृत्य को रोका। जब बलि नही माना तब उन्होने बलि से तीन पग भूमि दान स्वरूप प्राप्त कर विक्रिय ऋद्धि के द्वारा अपना शरीर बढ़ा लिया। उन्होने एक डग सुमेरु पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर, तीसरा डग अवकाश न मिलने के कारण नही रख सके। इस प्रभाव से पृथ्वी पर खलबली मच गई। देवों ने बलि को बाँध लिया और उसे दण्डित कर देश से दूर कर दिया[१६]। मुनियो के उपसर्ग निवारण की स्मृति स्वरूप ही श्रावण शुक्ल पूर्णिमा को सारे देश में रक्षाबन्धन का पर्व मनाया जाता है।

मुनि दीक्षा का केन्द्र—भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के समय नागपुर (हस्तिनापुर) का राजा बाहुवाहन था। उसकी पुत्री मनोहरा थी। उसका विवाह साकेतपुरी के राजा विजय के पुत्र वज्रबाहु के साथ हुआ था। विवाह के बाद जब वह अपनी पत्नी को लेकर जा रहा था, तब वसन्तगिरि पर एक ध्यानस्थ मुनि को देखा और उनका उपदेश सुना। उपदेश सुनकर वह बहुत प्रभावित हुआ और उसने २६ अन्य राजकुमारो के साथ मुनि दीक्षा ले ली। भगवान् मुनि सुव्रतनाथ के समय मे ही गगदत्त श्रेष्ठी था। उसके पास सात करोड़ स्वर्ण मुद्रायें थी। एक बार भगवान् हस्तिनापुर पधारे। श्रेष्ठी ने भगवान् का उपदेश सुना। उनके मन मे वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने भगवान् के पास ही मुनिव्रत अगीकार कर लिए[१७]। इस प्रकार क्षेत्र पर अनेको महान् पुरुषों ने मुनि दीक्षा लेकर आत्मकल्याण किया।

कल्याणक भूमि—हस्तिनापुर सोलहवें, सत्रहवें एवं अठारहवें तीर्थंकर शान्ति, कुन्थु और अरहनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान कल्याणक की भूमि रही है। इन तीनों के चरित के आधार पर अनेक महाकवियों ने अपनी काव्य रचना की। कवि असग ने भगवान् की जन्म भूमि हस्तिनापुर की निम्नलिखित[१८] विशेषताओं का वर्णन किया है—

१. हस्तिनापुर तीनों जगत की कान्ति को जीतने

वाली भरतक्षेत्र की लक्ष्मी का निवासभूत अद्वितीय कमल है।

२. वहाँ के लोग विद्वान होते हुए भी अहकार रहित हैं।

३. वहाँ तलवार को ग्रहण करने वालें लोग है तथा वहां मूर्खों का सद्भाव नही है।

४. वहाँ की स्त्रियाँ गले में हार धारण करती हैं।

५. वहाँ के बाजारों में चित्र-विचित्र मणियाँ रखी गई हैं, जिनकी किरणों से शरीर कल्माषित होने के कारण लोग एक दूसरे को पहिचान नहीं पाते हैं।

६. वहाँ के भवनों मे ऊँचे-ऊँचे स्तम्भ लगे हुए हैं।

७. वहाँ के लोग दूसरे लोगों के सहायक है।

८. वहां के मनुष्य लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए अत्यधिक खेदयुक्त नहीं होते है।

९. वहाँ के लोग युद्ध मे विजय प्राप्त करते है।

१०. वहाँ के निवासी संसारी होने पर आत्माधीन, सुखी तथा समान गुणो से युक्त है।

११. वहाँ का राजा विविध गुणो से युक्त है।

विविध तीर्थकल्प का उल्लेख—विविध तीर्थंकल्प नामक ग्रन्थ में बताया गया है कि आदि तीर्थकर के सौ पुत्रों में भरत और बाहुबली प्रधान थे। शेष ९८ भाई भरत के ही सहोदर थे। जब भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा ली तो उन्होंने अयोध्या के अपने पद पर भरत का राज्याभिषेक किया और बाहुबली को तक्षशिला के पद पर। शेष पुत्रों को भी यथायोग्य राज्य प्रदान किया। अंगकुमार ने जिस देश को प्राप्त किया, वह अगदेश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुरु नामक पुत्र के नाम से कुरुक्षेत्र और बंग, कलिंग, सूरसेन एवं अवन्ति के नाम से तत्तत् देश प्रसिद्ध हुए। कुरु का पुत्र हस्ति नामक राजा हुआ, जिसने हस्तिनापुर को बसाया[२९]। यहाँ गगा नामक पवित्र नदी प्रवाहित होती है। मल्लिनाथ स्वामी का समवसरण हस्तिनापुर आया था। इस नगर मे विष्णुकुमार मुनि ने बलि द्वारा हवन के लिए एकत्र सात सौ मुनियों की रक्षा की थी। सनत्कुमार, महापद्म, सुभौम और परशुराम का जन्म इसी नगर में हुआ था। इस महानगर मे शान्ति, कुन्थु, अरह और मल्लिनाथ के मनोहर चैत्यालय थे। अम्बादेवी का प्रसिद्ध मन्दिर भी इसी नगर में विद्यमान था।

—अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग वर्धमान कालेज, बिजनौर

१. जिनसेन . हरिवंशपुराण ४५।६-३८
२. वही १३।७-१९
३. वही १३।३३
४. वही १३।४३-४५
५. वही ४५।६-६८
६. जिनसेन : आदिपुराण १६।१५२
७. वही १६।१५३
८. असग : शान्तिनाथपुराण १३।१-१०
९. श्री सुदर्शनमेरुबिम्बप्रतिष्ठा स्मारिका पृ० ७ पर डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख।
१०. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिसास पृ० ६१।
११. वही पृ० ९६
१२. वही पृ० १४१
१३. वही पृ० ३०३
१४. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ (प्रथम भाग) पृ० २२
१५. विमलसूरि : पउमचरिय ९५।३४
१६. श्रीमद्भागवत १।१।४८
१७. पउमचरिय ६।७१, २०।१०
१८. वही २०।१८०
१९. वही ९५।३४.
२०. हरिवंशपुराण ५३।४६
२१. वही ५४।२-३
२२. हरिवंशपुराण ५४।६३-७१
२३. वही ५४।७३
२४. पद्मचरित ४।६
२५. पद्मचरित ४।७-२२
२६. जिनसेन : हरिवंशपुराण सर्ग-२०
२७. विमलसूरि : पउमचरित २१।४३
२८. शान्तिनाथ पुराण १३।११-२०
२९. सिरिआइतित्थेसरस्स दोण्णि पुत्ता भरहेसर बाहुबलि नामाणो आसि। भरहस्स सहोपरा अट्ठाणउई वि तेसु तेसु देसेसुं रज्जाइं दिण्णाइं कुरुनरिंदस्स पुत्तो हत्थी नाम राया हुत्था। तेण हत्थिणाउरं निवेसिअं। विविध तीर्थकल्प (हस्तिनापुर) पृ. २७

ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी की सौवीं जन्मतिथि पर

क्रान्तिकारी शीतल

□ श्री ऋषभचरण जैन

"नंगे बदन रहते हैं। इण्टर या थर्ड में होंगे। यह उनका फोटो रहा। सांवला-सा रंग है। जरा-जरा कुछ मुस्कुराते से, खूब मीठे-मीठे से व्यक्ति हैं। हजारीलाल जी तो तुम्हारे साथ हैं ही। उन्हें बहुत सत्कार पूर्वक लाना।"

सन् १९२४-२५ की बात है। हरदोई में ब्रह्मचारी जी आने वाले थे। बाबूजी (बै० चम्पतराय जी) ने उन्हें बुलाया था। हमारी और मुंशी हजारीलाल जी की ड्यूटी उन्हें स्टेशन पर 'रिसीव' करने की थी। बाबूजी के उपरोक्त शब्दों में ही हमने ब्रह्मचारी जी का प्रथम परिचय पाया। कुछ ही दिन पहिले ब्रह्मचारी जी समाज-सुधार सम्बन्धी घोषणा कर चुके थे। और इस घोषणा ने जैन-समाज में बज्रपात का-सा कार्य किया था।

"जैन-मित्र" और 'दिगम्बर जैन' में ब्रह्मचारी जी के लेख हमने पढ़े थे। बिल्कुल एक बालक का-सा कौतूहल मुझे ब्रह्मचारी जी मे मिला। अपना यह कौतूहल मैंने बाबूजी पर प्रकट भी कर दिया था तथा उनसे वादा भी ले लिया था कि वे एक दिन ब्रह्मचारी जी के दर्शन मुझे करायेंगे। यह उस कहे की पूर्ति थी।

'जैन-समाज' के छः-सात नाम बाबू जी के मुंह से अकसर निकलते थे। ये नाम थे, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी, बाबू देवेन्द्रकुमार आरा वाले, बाबू रतनलाल (वकील), लाला राजेन्द्रकुमार (बिजनौरवाले), बाबू अजितप्रसाद (एडवोकेट, लखनऊ), बाबू कामताप्रसाद(एटा) और बाबू मूलचन्द किसनदास कापड़िया। ब्रह्मचारी जी का नाम वास्तव में सबसे अधिक बार उनकी जबान पर आता था। आज ये मेरे जीवन के अमिट भाग बन गए हैं जिन्हें मैं कभी भुलाए नहीं भूल सकता। और इनमें से ब्रह्मचारी जी का संस्मरण लिखने का अवसर पाकर मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ है।

बिल्कुल ठीक उपरोक्त नख-शिख के ब्रह्मचारी जी थे। मेरी प्रकृति में आरम्भ से ही एक खास तरह की युक्त-प्रांतीय ऐंठ है। मैंने अपने जीवन में बाबूजी के अतिरिक्त और किसी के पैर नहीं छुये परन्तु ब्रह्मचारी जी के पैर मुझे छूने पड़े। मैंने अपने अहंकारवश बहुत कम आदमियों को अपने से बड़ा माना लेकिन ब्रह्मचारी जी को मैं मन ही मन सदा बहुत बड़ा मानता रहा। मेरे जीवन की परिस्थितियां कुछ ऐसी रहीं कि मैं ब्रह्मचारीजी के जीवन-काल में उनकी किसी भी आज्ञा का पालन नही कर सका और न उनकी कोई सेवा मुझसे बन सकी। लेकिन उनके बाद मैं उनके कार्य को अवश्य अग्रसर होकर करना चाहूंगा। चाहे इसमें मुझे कोई सहयोग दे या न दे।

बाबूजी के प्रेरक कुछ हद तक ब्रह्मचारी जी थे और ब्रह्मचारी जी की प्रेरक थी वह उत्कृष्ट आत्मा जिसकी सत्ता में हमें एकनिष्ठ विश्वास है।

ब्रह्मचारी जी कई दिन हरदोई में रहे। ब्रह्मचारी जी और बाबूजी दोनों ही महापुरुष थे। परन्तु एक प्रतिमाधारी था और दूसरा केवल एक अणुव्रती गृहस्थ। यह २५ या २६ सन् की बात है। बाबूजी का जीवन करीब १० वर्ष हुए, बदल चुका था। उन्होंने अपने व्यस्त जीवन में से भी समय निकाल कर जैन धर्म सम्बन्धी बहुत से ग्रंथ रच डाले थे। दिगम्बर जैन परिषद्' की बुनियाद पड़ चुकी थी और 'दि० जैन महासभा' के कुछ सज्जन बाबू जी की अप्रिय आलोचना भी कर रहे थे। बाबूजी में नीतिमत्ता कुछ कम थी। वे अपनी बात सदा ओजस्वी और बहुत सीधे ढंग पर कह देते थे। 'महासभा' के साथ अपने मतभेद को भी इसी ओजस्वी और सीधे ढंग पर उन्होने प्रकट कर दिया था। ब्रह्मचारी जी के साथ उनकी गाढ़ी मैत्री थी। दोनों में बहुत-सी और बहुत लम्बी-लम्बी बातें हुई। कुछ इधर-उधर और कुछ मेरे सामने। मुझे ब्रह्मचारीजी के समक्ष बाबूजी भी कुछ हलके-हलके लगने लगे।

ब्रह्मचारी जी की वह सूरत हमारे मन में घर कर गई। वे बरामदे में काठ के तख्त पर सोते थे और बहुत तड़के उठते थे। दिन में एक ही बार भोजन करते

(शेष पृष्ठ आवरण ३ पर)

विश्व शान्ति में भगवान महावीर के सिद्धान्तों की उपादेयता

□ कु० पुखराज जैन

आज भौतिक विज्ञान ने बहुत विकास कर लिया है उसकी उपलब्धियों एवं अनुसंधानों ने विश्व को चमत्कृत कर दिया है। प्रति क्षण अनुसधान हो रहे हैं जो आज तक नहीं खोजा जा सका उसकी खोज मे और जो नही सोचा उसे सोचने में व्यक्ति व्यस्त है। आविष्कार का धरातल अब केवल भौतिक पदार्थों तक सीमित नही रहा, वरन् अन्तर्मुखी चेतना को पहचानना व अध्ययन करना भी उसकी सीमा मे आ रहा है। आज की वैज्ञानिक प्रगति स्वर्ग की भौतिक दिव्यताओं को पृथ्वी पर उतारने के लिए (कटिबद्ध प्रयत्नशील है। पाश्चात्य देशो ने अपनी समृद्धि से उन दिव्यताओं को खरीद भी लिया है।

इतना होने पर भी आज का मनुष्य सुखी नही है। वह सुख की तलाश में भटक रहा है। आजकल परिवार भौतिक साधन सम्पन्न तो देखे जाते है, लेकिन परिवारो के सदस्यों में परस्पर सद्भावना व विश्वास व्यय होता जा रहा है। व्यक्ति सम्पूर्ण भौतिक सुखों को अकेला ही भोगने के लिए व्यग्र है, लेकिन अन्ततः उसे अतृप्ति का अनुभव ही हो रहा है। ऐसे निराश एवं संत्रस्त मानव को आशा एव विश्वास की मशाल थमानी है। आज हमें मनुष्य को चेतना के केन्द्र में प्रतिष्ठित कर उसके पुरुषार्थ व विवेक को जगाना है। उसके मन मे जगत के सभी जीवों के प्रति अपनत्व का भाव लाना है मनुष्य-मनुष्य के बीच आत्मतुल्यता की ज्योति जलानी है जिससे परस्पर समझदारी प्रेम व विश्वास पैदा हो।

आज भौतिकता अग्नि से जीवन मुख्यतः पिघ रहे हैं। मानवता गल रही है, धर्म जल रहा है। और संस्कृति झुलस रही है। शान्ति के नाम पर नर संहार, मित्रता के नाम पर शोषण व स्वार्थ की भावनायें बराबर जड़ पकड रही हैं। नैतिकता का पतन जिस गति से हो रहा है वह कल्पनातीत है। राष्ट्रीय समाज, धर्म और सम्प्रदाय को लेकर अशान्त है; हिंसक बना हुआ है। विश्व के मानचित्र देखें तो वहां भी वर्ग संघर्ष है; विकसित व विकासशील देशों में रस्साकशी है; विषमता बढ़ती जा रही है।

आज व्यक्ति ने न्यूट्रान बम और हाइड्रोजन बम बना लिया है। व्यक्ति स्वयं अपनी जाति के सर्वनाश पर तुला है; साथ ही समस्त प्राणी जगत को भी अपने साथ नष्ट करना चाहता है। मनुष्य का मनुष्य की दृष्टि में कोई मूल्य नही; कैसी भयानक स्थिति है? आज का विश्व युद्ध की विभीषिका से सत्रस्त है। पता नही किस समय फौजें आमने-सामने आ जायें। आज के युग में जिस प्रकार के विनाशक हथियारों का निर्माण हुआ है और निरन्तर होता जा रहा है उससे भय है कि यदि युद्ध छिड़ा तो प्रलय का झंझावात विश्व के बहुत बडे भाग को अपनी चपेट में ले लेगा। उस स्थिति की कल्पना मात्र ही भय से रोंगटे खड़ा कर देने वाली है।

यह तो रहा विश्व का युद्धमय वातावरण। विज्ञान ने केवल सामरिक क्षेत्र मे ही उन्नति नही की। विज्ञान ने भौतिक क्षेत्र में इतना विकास किया है कि कहना चाहिए अब आविष्कार आवश्यकता की जननी बन गए। व्यक्ति के सामने पदार्थों का ऐसा विश्वव्यापी समूह है जिसे वह देख नही पा रहा, जान नही पा रहा, इसलिए कौन-सी वस्तु का प्रयोग कहां पर हो सकता है यह जानकारी प्राप्त करने में बराबर प्रयत्नशील है जिससे वह विज्ञान की प्रगति को अपने जीवन में समाहित कर सके। इन आविष्कारों ने उसकी आवश्यकताओं में अभिवृद्धि की है विज्ञान ने व्यक्ति के प्रत्येक अभाव को सद्भाव में परिवर्तित कर दिया है।

आज आवश्यकता है सामरिक व्यक्ति को सामाजिक बनाने की जिससे प्राणी जगत का सर्वनाश करने वाला व्यक्ति प्राणी जगत का कल्याण कर सके; वह सामाजिक बन कर प्राणी जगत के साथ जी सके। उनके हिताहित के बारे में सोच सके। मानवता का सम्मान कर सके। (क्रमशः)

जरा सोचिए !

१. ये विसंगतियां !

दूसरों को दोष देना लोगों का स्वभाव जैसा बन गया है। कहते हैं—आज संसार में जो बदलाव आया है, छीना-झपटी, आपा-धापी मची हुई है वह सब समय के बदलाव का प्रभाव है। पर, यह कोई नहीं बतलाता कि यह सब घटित कैसे हुआ ? जबकि समय, दिन-रात, घड़ी-घन्टा, मिनट-सैकिण्ड आदि में कोई बदलाव आया नही मालूम देता। समय तो तीर्थंकरों के काल में और उससे बहुत पहिले काल में जैसा और जिस परिमाण में था आज और अब भी वैसा उसी परिमाण में है। फिर काल-द्रव्य अन्य पदार्थों के लिए प्रेरक भी तो नहीं—हर द्रव्य का परिणमन उसका अपना और स्वाभाविक है—'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्।'

सुना है, पहिले के लोग स्वार्थी उतने नही थे जितने परमार्थी। उनकी दृष्टि दूसरों के उपकार पर अधिक रहती थी जबकि आज बिरले ही मानवों की बिरली ही गतिविधियां परमार्थ के लिये समर्पित हैं। मनुष्य स्वय स्वार्थ की ओर दौड़ रहा है और बदनामी से बचने के लिये स्वयं ही युग को 'अर्थयुग' या अर्थ के प्रभाव का नाम देकर बदनाम कर रहा है।

स्वार्थ के लिए मानव की दौड कहां-कहां है, यह जानने के लिये लम्बे लम्बे व्यायामो की आवश्यकता नही। आज तो मानव कहां नहीं दौड़ रहा ? यह आसानी से जाना जा सकता है, क्योंकि उसकी अ-दौड के क्षेत्र सीमित हैं और दौड़ के क्षेत्र विस्तृत। मानव ने सभी क्षेत्र तो स्वार्थपूर्ति से व्याप्त कर रखे हैं—**जो निःस्वार्थ हैं वे धन्य हैं**। बहुत से लोगो ने तो धर्म उपकरणो, स्थानों, और धर्म के नाम पर होने वाले कार्यक्रमों तक को स्वार्थ-पूर्ति से अछूता नही छोड़ा है। बहुत से लोग दान देते हैं तो यश-कीर्ति-नाम के लिये, सम्मेलन, जयन्तियों आदि के आयोजन करते हैं तो यश व अर्थ के लिए, भाषण, कथा, प्रचार आदि करते हैं यश व अर्थ के लिये और धार्मिक-साहित्य प्रकाशन आदि करते हैं तो वह भी व्यवसाय के लिये। कोई दूसरो को नीचा दिखाने के लिये समन्वय के नाम पर विरोधी वाणी बोल रहे हैं तो कहीं—जहा पहिले वस्तुनिर्णय के लिये अपेक्षावाद को निर्णायक माना जाता था वहां अब निर-पेक्षवाद का प्रभुत्व है, जहां अनेकान्त था वहां एकान्त है। इस प्रकार सभी तो विसंगतियाँ इकट्ठी हो गई हैं; जबकि धर्म सभी विसंगतियों से अछूता —वस्तु स्वभाव में है।

यदि कहीं विसंगतियां नजर आती हों तो उन्हें दूर कीजिये। अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि परिपक्व होने पर ये विसंगतियां ही धर्म का रूप ले बैठें। क्योंकि बदलती परम्पराओं से यह स्पष्ट होने लगा है कि—धर्म में अधर्म तीव्रगति से घुसपैठ कर रहा है और हम एक-दूसरे का मुँह देख रहे हैं। हममें जो एक करता है दूसरे भी वही करने लगते हैं और करें भी क्यों नहीं ? कुछ अपवादों को छोड, प्राय: हम सभी तो एक थैली के चट्टे-बट्टे जैसे हैं। पर, आश्चर्य न करें—बलिदान-निरोधक धर्म के मध्य भी बलिदान बैठा है। अधर्म निरोध के लिये सभी तीर्थंकरों को भी सर्वस्व तक बलिदान (त्याग) करना पड़ा। अब धर्म-रक्षा के लिये हमें क्या बलिदान (त्याग) करना है ? जरा सोचिये और करिये !

२. प्रचार किसका और कैसे :

जैनधर्म आचार-मूलक है तथा इसमें आभ्यन्तर और बाह्य दोनों आचारों के पालन का निर्देश है। जिसका अन्त-रग राग-द्वेष, मिथ्यात्व, कषायादि से रहित हो, और बाह्य-प्रवृत्ति पंचेन्द्रिय तथा मन के वशीकरण क्रिया से ओत-प्रोत हो वही पूरा जैनी है, वहीं 'जिन' का सच्चा अनुयायी और वही जैन का समर्थक है। यहां तक कि पूर्वजन्म में तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध करने वाले सभी जीवों को भी इसी मार्ग में होकर गुजरना पड़ा और वे इस जन्म में भी निवृत्ति रूप इसी प्रवृत्ति से केवलज्ञानी व 'जिन' बन सके। अत: लोगो को 'जिन' व वीतराग की श्रद्धा व रुचि हो, वे जिन-मार्ग पर चलें, जिन और जैनी बनने का प्रयत्न करें यही उत्तम मार्ग है।

श्रद्धा करने और मार्ग पर चलने के लिये वह सब कुछ करना होता है जो महापुरुषों ने किया और जिसका मूल चारित्र है। यत:—श्रद्धा और ज्ञान दोनों स्वयं भी जानने व अनुभूति रूप क्रिया होने से स्वयं चारित्र रूप ही

हैं। फलतः चारित्र ही मुख्य है। जो जितना अन्तरंग व बहिरंग चारित्री होगा वह उतना ही 'जिन' और जैन के निकट होगा। हां, इस चारित्र में शक्ति की अल्प व महत् व्यक्तत: की अपेक्षा अल्प -बहुत्व अवश्य है—अल्प अणुव्रत व महत् महाव्रत कहलाता है। श्रावक का चारित्र अणुव्रत और मुनि का महाव्रत रूप है—पर, है वह सभी चारित्र। उक्त चारित्र के परिप्रेक्ष्य मे आज की स्थिति क्या है? यह विचारणीय विषय बन रहा है।

आज लोगों में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने को दबाव डाला जाता है, आधुनिक के सन्दर्भ में ज्ञान के विस्तार का निर्देश दिया जाता है, आध्यात्मिक चर्चाएँ होती हैं। सम्मेलनों और सेमीनारों के आयोजन किये जाते हैं—आदि ! यदि उक्त सभी आयोजन आचरण मे उतरने की ओर अग्रसर दिखाई देते हों तो सभी संकल्प और आरम्भ शुभ हैं। पर अधिकांशत: ये आयोजन क्या हैं? चर्चाएं क्या हैं? और सेमीनार क्या हैं? इनके वास्तविक रूपों पर लोगों की दृष्टि नहीं। अन्यथा—क्या कषायपोषण और आचार-विचार शून्यता में की जाने वाली सम्यग्दर्शन की चर्चाएँ धर्म से दूर नहीं? क्या वर्तमान उत्सव व सेमीनारों के आयोजन प्राय. प्रभूत सम्पत्ति व्यय करने वाले और साधारण ज्ञान-पिपासुओं को लाभ देने से दूर नही? क्या दोनों के ही मूल में चारित्र का अभाव नही? बहुतो में प्रकट कषाय-मान आदि दृष्टिगोचर है तो बहुतों में लोभादि के सद्भाव रूप अन्तरंग कलुषता और वाह्याचार-शून्यता।

वर्तमान सेमीनार क्या कुछ दे जाते हैं, ये लेने वाले जानें। पर अनुभव तो ऐसा है कि एक ओर जहा उत्सवो व सेमीनारों में पठित कतिपय निबन्ध बहुत घिसे-पिटे और कई २ जगह वाँचे होते हैं—उनमें पिष्ट-पेषण भी अधिक मात्रा में लक्षित होते हैं, तो दूसरी ओर बहुत से नये प्रबन्ध कुछ बुद्ध-बोधितों तक ही सीमित रह जाते हैं और कई वाचकों में तो आचार-विचार सम्बन्धी मूर्तरूप भी परिलक्षित नहीं होता। ऐसे सेमीनारो से अधिकांश लोगों को खासकर स्थानीय युवापीढ़ी को धर्म के अनुकूल कुछ नहीं मिल पाता और कभी-कभी तो इन सेमीनारों से विपरीत प्रभाव होता भी देखा जाता है जैसे—युवक जान लेते हैं इन सेमीनारों के विकृत-रूप, सम्मिलित होने वाले अनेकों महारथियों के आचार-विचार और धन के अप-व्यय के विविध आयाम। किसी का कहना था—कि उनके नगर में पिछले वर्षों में घटित एक सेमीनार में कुछ वाचकाचार्य ऐसे भी थे जो नई पीढ़ी पर बिना छने पानी और कन्दमूल सेवन की छाप छोड़ गए और कुछ ने तो रात्रि-भोजन त्याग जैसे मोटे नियमों का भी उल्लंघन किया।

उक्त प्रसगों में सोचना पड़ेगा कि इन सेमीनारो के आयोजन दुरूह तत्त्व-ज्ञान के आदान-प्रदान मात्र के लिए हो या आचार-विचार का मूर्त-रूप प्रस्तुत करने के लिये भी? आज जबकि शास्त्रों-सम्बन्धी खोजों के प्रसंगों से भण्डार भर चुके हैं—लोग इतना लिख चुके हैं कि उन्हें पढ़ने और छपाने वाले भी दुर्लभ हो रहे है। इन प्रभूत लेखों और अनुवादो ने मूल भाषा और भावों को लोगों की आँखों से दूर-सा जा पटका है—वे आचार्यों के मूल-भावो से दूर जा पड़े हैं और वाह्याचार-विचार (प्रगट में जैनत्व दर्शाने वाली—प्रभावक क्रिया) से भी शून्य जैसे हो रहे हैं। तब क्यों न मूल ग्रन्थो के पठन-पाठन की परिपाटी का पुन: प्रयत्न किया जाय और क्यो न मूर्त-आचार-विचार प्रसार के लिए चारित्र विषयक ग्रन्थो के शोध व मूर्त आचार प्रस्तुत करने के मार्ग खोजे जाएं? द्रव्य उधर लगे या दिखावे में? जरा सोचिये!

३. धर्म का मूल अपरिग्रह

जिन धर्म वीतराग का धर्म है और इसकी भूमिका में अपरिग्रह की प्राथमिकता है, चौबीसों तीर्थंकर भी वीतराग पहिले और धर्म-उद्घोषक बाद में बने पूर्ण ज्ञानी होने पर ही उनकी दिव्य-देशना हुई। फलतः जितने अंशों में जीव वीतरागी—अपरिग्रही होगा वह उतने अंशों में जैनी होगा। तीर्थंकर महावीर का युग एक ऐसा युग था जब हिंसा का बोलबाला था और उस समय लोगों का आकर्षण केन्द्र जीवो का चीत्कार बना हुआ था—वे अहिंसा का उपदेश चाहते थे। सयोग से ऐसे समय में तीर्थंकर की सर्वधर्म-उद्घोषक देशना हुई और लोगों ने उसमें से एक-मात्र वांछित धर्म—अहिंसा को प्रमुखता देकर महावीर की देशना को मात्र अहिंसा धर्म विशेषण से प्रतिबद्ध कर

दिया। जबकि महावीर की देशना पूर्व-तीर्थंकरों की देशना से किंचित् भी भिन्न न थी। महावीर ने भी अन्य तीर्थंकरों की भांति वस्तु-तत्त्व का याथातथ्य—नग्न दिग्दर्शन कराया और वस्तु के सभी धर्मों को कहा।

प्रश्न है कि तीर्थंकरों ने क्या और कैसा कहा? तत्त्व-चिंतन की गहराई में जाने पर स्पष्ट होता है कि सभी तीर्थंकरों ने, वीतरागी व निर्विकल्प दशा में होने के कारण—वीतरागभाव से वीतरागतामयी देशना की। उनकी देशना 'याथातथ्यं बिना च विपरीतात्' 'अन्यूनमनतिरिक्त" थी और 'करो या न करो' के सकेत से रहित भी थी। क्योंकि हां या ना का सकेत विकल्पदशा में ही संभव है।

तीर्थंकरो ने वस्तु के जिस शुद्धस्वरूप को दर्शाया वह स्वरूप हर वस्तु के अपने निखालिसपने मे समाहित था—पर-संयोगों से सर्वथा अछूता और परिग्रहो—मिलावटो से सर्वथा पृथक्। जिन अन्य धर्म-अगों की हम चर्चा चलाते हैं वे सभी धर्म इस अपरिग्रह के होने पर स्वयमेव उसी मे समाहित हो जाते है। इसीलिये तीर्थंकरो ने मूल पर प्रहार किया और पहिले वे वीतरागी बने। यत:—वीतरागता (अन्तरंग-बहिरंग, परिग्रह राहित्य) होने पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि जैसे सभी धर्म स्वभावत. फलित हो जाते है। अत: जीवों को अन्तरग रागादि और बहिरग धन-धान्यादि परिग्रहो से विरक्त होना चाहिये। इसीलिए आचार्यों ने सभी पापों मे प्रमाद (परिग्रह) को मूलकारण कहा है—'प्रमत्त योगात्...।"

क्या कहें! लोग बड़े व्यवहार चतुर हैं। उन्हे धर्मात्मा बनने का चाव भी है और परिग्रह-संचय का भाव भी। फलतः उन्होने ऐसा सरल-मार्ग खोज लिया है कि जिसमें सांप भी मर जाये और लाठी न टूटे—वे धार्मिक बने रहें और उन्हें इन्द्रिय-दमन व परिग्रह-त्याग जैसी कठिन साधनाओं से भी मुक्ति मिली रहे। क्योकि इन्द्रिय-संयम व परिग्रह त्याग दोनों उन्हें कठिन मालुम होते है। अपनी इस इष्ट-पूर्ति के लिए वे आज जी जान से जुट गए हैं और उन्होंने दैनिक कठिन साधनाओं की उपेक्षा कर दान और बाह्य अहिंसा से नाता जोड़ लिया है। इसमें उन्हें संचय कर अल्प देना होता है—परिग्रह भी बढ़ता है और दानी भी बने रहते हैं।

जब आचार्यों ने आहार, औषध, ज्ञान और वसतिका (कही-कही अभय) देने को दान कहा है तब रुपया-पैसा देना दान में गर्भित है या आकिंचन्य में : यह विचारणीय है। फिर भी यदि यह दान में गर्भित है तो इसमें विधि, द्रव्य, दाता और पात्र पर दृष्टि देना भी तो न्यायोचित है! यदि दाता अनुकूल है तो उसे विचारणीय है कि जो रुपया वह दे रहा है उसके स्रोत क्या हैं? वह दान के योग्य है या नहीं? पात्र भी योग्य है या नही? द्रव्य का उचित उपयोग होगा या नही? इसी प्रकार पात्र को भी दाता की नि.स्वार्थ भावना व वित्त की न्यायोपात्तता देखनी चाहिए। पर, आज ये सब देखने वाले दाता और पात्र बिरले हैं—दोनो ही आखें मीचकर—स्वार्थपूर्तियो में—लिए और दिए जा रहे हैं और जो विसंगतियां समक्ष आ रही हैं वे शोचनीय बन रही है—पैसे का दुरुपयोग। यदि ऐसी परम्पराओं पर अकुश लगे तो धर्म की बहुत कुछ बढ़वारी हो। उक्त प्रसगों में यदि सुधारों की अपेक्षा हो तो परिग्रह-त्याग का सही मार्ग क्या हो? जरा सोचिए!

४. वे जैनी ही तो थे!

'उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या: ॥'

निष्प्रतीकारयोग्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापे, बीमारी आदि के कारण धर्म के लिए—धर्मसाधन हेतु शरीर का त्यागना सल्लेखना या समाधिमरण है।

—बड़े शोक में डूब गया देश और धार्मिक जगत्। जब बाबा विनोबा भावेजी का वियोग सुना। वे देशहित के लिये राष्ट्र-पिता बापूजी के आदर्शों पर उनसे कन्धा भिड़ाकर चले और बापूके बाद में भी जीवनपर्यन्त धर्म की आन को निभाते चले। भू-दान तो उनकी सेवापद्धति का एकमात्र उजागर रूप था। वे अपने अन्तस्तल में न जाने कितने ऐसे यज्ञ छिपाये फिरते रहे जो जन-जन हितकारी थे। जहां भी जैसी आवश्यकता प्रतीत हुई वहीं यज्ञ के अंश बिखेर दिये। उनकी अहिंसा, करुणा, परोपकार-बुद्धि आदि-आदि की भावनयें, धार्मिक और पारमार्थिक यज्ञ थे। जब तक जिए पर के लिये, देश के लिये और धर्म के लिए।

बाबा ने संसार चक्र को पैनी दृष्टि से परखा था फलतः वे अन्तिम परीक्षा तक उत्तीर्ण होते रहे। हल्का दिल का दौरा पड़ने पर सभाल के प्रयत्न किये गए, देश प्रमुखों ने संबोधन दिये। पर, बाबा ने किसी की न सुनी। वे एक संयमी—जैन संयमी की भाँति उस प्रतिज्ञा—आस्था पर दृढ़ हो गये जो जन-जन को दुर्लभ होती है। उन्होने औषधि, अन्न, आहार, उपचार आदि सभी से विरक्ति ले ली। वे अपने में इस आस्था से दृढ़ हो गए कि शरीर मरण धर्मा है—इससे मेरा कोई सरोकार नही—'वस्त्राणि जीर्णानि यथा विहाय।'

जैनी को अव्रती अवस्था मे भी अष्टमूल गुण धारी होना चाहिये—व्रत तो बहुत बडी निधि हैं। बाबा में जैन-मान्य ऐसी कौन-सी विधि नही थी? मोटे रूप से बहुत सी विधियां उनमें विद्यमान थी। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाण, अणुव्रत सभी तो उनमे थे—जैनी के नाम से भले ही न सही, व्यवहार से वे सच्चे जैन श्रावक थे। काश! हमे सद्बुद्धि मिले और हम व्रत के बन्धन में न बंधे रहकर भी बाबा की भांति आचरण मे अणुव्रतों जैसा पालन करने की सीख लें, तो हमें भी बिना प्रयत्न के सहज सल्लेखना प्राप्त हो सकती है। जिसका जीवन न्याय नीतिपूर्ण रहे और अन्त मे समाधि-मरण हो, वह जैनी नहीं तो और क्या है? मेरी दृष्टि में तो वे जैनी ही थे। उन्हें सादर नमन और श्रद्धांजलि।

५. और एक यह भी :

—धर्म का सच्चा स्वरूप चारित्र अर्थात् आचरण है। और सम्यक् चारित्र का धारक (धर्म को जीवन मे उतारने वाला) धर्मात्मा है। धर्म और धर्मात्मा दोनों परस्पर-सापेक्ष हैं। फलतः—जहाँ भी धर्म का प्रसंग उपस्थित हो, धर्मात्मा की खोज की जाना चाहिए। यद्यपि वर्तमान अवार पचमकाल में जीवों में चारित्रमोहनीय के उपशम-क्षय-क्षयोपशम में मन्दता लक्षित होती है और वे व्रत और नियमो की उच्च दशा में नही पहुंच पाते। तथापि धर्म के वाहकों को उतना तो होना ही चाहिए जितना अव्रती श्रावक में अवश्यम्भावी है। जैसे आजन्म मद्य-मांस-मधु का त्याग, पंच उदुम्बरों का त्याग, अनछने जल और रात्रि-भोजन का मन-वचन-काय, कृतकारित-अनुमोदना से त्याग। यदि देव दर्शन, गुरुभक्ति करने का नियम हो तो और भी उत्तम।

श्रावकों का कर्तव्य है कि धार्मिक प्रसगों मे उत्सव के मुखिया के चुनाव में उक्त बातों का ध्यान करे और जिन-शासन के महत्त्व को समझ धर्मचक्र को प्रभावक बनाने मे सहायक हों। अन्यथा हमने कई बार कईयो के मुख से उलाहने सुने हैं—

"क्या जिनदेव या गुरु भी ऐसे ही मुखिया थे, जैसे अमुक धर्म-सभा के अमुक नेता?—जिनमे 'जैनी' का एक भी चिह्न नही था।" 'जैसे नेता वैसी सभा और वैसा ही प्रभाव' आदि।

धर्म-उत्सवो के मुखिया बनने का आग्रह आने पर सबधित व्यक्तियों को भी सोच लेना चाहिए कि उक्त संदर्भ मे वे उस पद के कहाँ तक योग्य हैं? धार्मिक प्रसग में मुखियापने के लिए धर्म-विहीन-लौकिक बड़प्पन, लौकिक या राजकीयपद अथवा लौकिक ज्ञान प्राप्त कर लेना कार्यकारी नही अपितु मुखियापने के लिए या किन्ही धर्म उत्सवों के उत्तरदायित्व सँभालने के लिए जिन-धर्मानुकूल स्थूल आचरण और धर्मविषयक स्थूल ज्ञान होना अनिवार्य हैं—ऊँचे नियमपालक और ज्ञाता हों तो सोने में सुहागा। जरा सोचिए।

—संपादक

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री रत्नत्रयधारी जैन, ८ अलका, जनपथ लेन, नई दिल्ली

राष्ट्रीयता—भारतीय प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय। स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं रत्नत्रयधारी जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है। रत्नत्रयधारी जैन

अविश्वसनीय किन्तु सत्य

"जैनधर्म के अनुयायी अपने शुद्ध-सात्त्विक आहार-बिहार एवं नैतिकतापूर्ण जीवन-पद्धति के लिये प्रसिद्ध रहे हैं, किन्तु क्या आज भी गिधवा गाँव के आदर्श निवासियों की भाँति वे अपने धर्म-सम्मत आचरण पर दृढ़ रह गये हैं ? इस उदाहरण से उन्हें शिक्षा लेनी चाहिए—"

—प्रेस ट्रस्ट आफ इंडिया द्वारा प्रसारित २० सितम्बर ८२ के समाचार के अनुसार मध्यप्रदेश के रायपुर जिले में अरगराजिम राजपथ पर स्थित गिधवा नाम का एक ग्राम है जिसमें छ. सौ व्यक्तियों की आबादी है। इनमें अधिकांश गौड़ हैं, कुछ एक परिवार चन्द्रकरस साहुओं के है और एक परिवार ब्राह्मणों का है। इस ग्राम के सभी निवासी कबीरपंथी हैं और परस्पर अत्यन्त सद्भाव और भाईचारे के साथ रहते हैं। लगभग एक सौ वर्ष पूर्व इस गाव के निवासियों ने कबीरपंथ की दीक्षा ली थी और प्रतिज्ञा की थी कि गाव का कोई भी व्यक्ति मास-मच्छी आदि का भक्षण नहीं करेगा, शराब नही पियेगा, बलात्कार, व्यभिचार, दुराचार आदि कुकृत्य नहीं करेगा। तभी से इस गाव के सभी निवासी अपनी इस उत्तम टेक को निभाते चले आ रहे हैं। यदि गांव का कोई भी निवासी इन मर्यादाओं में से किसी का भी उल्लघन करता है, कोई भी दुष्कर्म करता है तो उसके लिए गाँव छोड़कर चला जाने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नही रहता। पुलिस अधिकारियों का भी कहना है कि इस ग्राम में अथवा उसके निवासियों द्वारा कभी भी किसी अपराध का किया जाना देखने सुनने में नही आया। मद्य-मांस-मत्स्य को तो वे छूते भी नहीं, बलात्कार, व्यभिचार आदि की भी कोई घटना घटी नही होती। शनिवार १८ सितम्बर ८२ को इस गांव में एक समारोह हुआ जिसमे ग्रामवासियों ने अपनी प्रतिज्ञा को दोहराया। वे अपनी इस आदर्श जीवन-पद्धति पर गर्व करते है जो उचित ही है। ग्राम-प्रमुख ने बताया कि उक्त मर्यादाओं का उल्लघन करने वाले के साथ कड़ाई से काम लिया जाता है, कोई रू-रियायत नही की जाती। उसे सजा के लिए गाँव से निर्वासित होना पडता है। किन्तु ऐसे अवसर बहुत कम ही आए है।

आज के युग मे यह स्थिति कितनी अविश्वसनीय लगती है, तथापि यह सर्वथा सत्य है। स्व-धर्म को जीवन के साथ जोड़ने, जीवन में उतारने से ही धर्म की सार्थकता है।

—ज्योति प्रसाद जैन

(पृ० २७ का शेषांश)

थे और भोजन करते समय मौन रहते थे। वैसे तो बाबूजी का भोजन भी बहुत पवित्रता पूर्वक तैयार होता था, किंतु ब्रह्मचारी जी का भोजन विशेष तत्परता क साथ बनता था। मुझे याद है कि ब्रह्मचारी जी के लिए स्वयं हमारी माताजी भोजन बनाती थी और ब्रह्मचारी जी मेज-कुर्सी पर न लाकर चौके मे भोजन करते थे। उनका व्यवहार अभ्यागतों से लगाकर नौकर-चाकरों तक से ममता भरा था।

बाबूजी के साथ उनकी जो-जो बाते मेरे सामने होती थी मैं उन्हें बड़े ध्यान से सुनता था। समाज-सुधार और अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धी उनके विचार तो प्रकाश में आ ही चुके थे, परन्तु नारी जाति के सर्वांगीण उत्थान पर उनकी धारणायें अत्यन्त प्रभावशाली और प्रखर थीं।

प्रत्येक आदमी के भीतर एक दूसरा आदमी रहता है। [illegible] परिस्थितियों का शिकार बन[illegible] कर कुछ ऐसे कार्य करता है जो उसके आदर्शों के नहीं, उसकी अन्तरात्मा के भी सर्वथा विपरीत होते हैं। परन्तु अन्दर का आदमी सदा अपने मार्ग पर अग्रसर रहता है। हमारी सम्मति मे वे ही गृहस्थ सच्चे गृहस्थ हैं जो कम से कम व्यक्तिगत जीवन में अन्तरात्मा की आवाज के साथ चलते हैं। परन्तु साधु का अन्दर का और बाहर का व्यवहार सर्वथा समान होना चाहिए। ब्रह्मचारी जी मेरी दृष्टि में एक सच्चे साधु इसलिये थे कि उन्होंने अन्तरात्मा की आवाज को स्पष्टतापूर्वक संसार पर प्रकट कर दिया।

उन्हें न नेतृत्व की चाह थी और न कोई सांसारिक मोह था। वे एक सर्वथा वैरागमय पुरुष थे जिन्होंने अपना जीवन जैन जाति के अभ्युत्थान में न्यौछावर कर दिया था और जिनका तप तथा त्याग अवश्य एक दिन संसार में [illegible]

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो।

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० १

जनवरी-मार्च १९८३

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

अग्रणी साहित्यान्वेषी स्व० अगरचन्द नाहटा

गत १२ जनवरी १९८३ को स्वनगर बीकानेर में, लगभग ७२ वर्ष की आयु में, लब्धप्रतिष्ठ साहित्यसेवी श्री अगरचन्द नाहटा का देहान्त हो गया। वह अति सादा वेषभूषा, आहार-विहार एवं आदतों वाले, धार्मिक प्रवृत्ति के सद्गृहस्थ एव सफल व्यापारी थे। शिक्षा-दीक्षा भी अति सामान्य काम-चलाऊ चटसाली रही। किन्तु इस पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति से जिस बात की आशा प्राय: नही की जाती, उसे स्व० नाहटा जी ने आश्चर्यजनक रूप मे करके दिखा दिया। साहित्य के क्षेत्र मे जिस चाव, उत्साह, लगन और अध्यवसाय के साथ वह लगभग पचास वर्ष निरन्तर साधना करते रहे और परिणामस्वरूप जैसी और जो उपलब्धिया उन्होने प्राप्त की, उसके अन्य उदाहरण अति विरल हैं।

पुरानी हस्तलिखित प्रतियो की खोज-तपास, अपने निजी अभय जैन ग्रन्थालय एवं शकरदान कलाभवन में उनका सग्रह-सरक्षण, उन पर शोध-खोज करना तथा उसके परिणामो से विद्वज्जगत को तत्परता के साथ परिचित कराते रहना, नाहटाजी की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तिया रही। इस क्षेत्र में उन्हें श्वेताम्वर समाज का 'आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार' कहा जा सकता है। मुख्तार साहव की भाँति नाहटाजी की दृष्टि भी मूलत: ऐतिहासिक रही और झुकाव तुलनात्मक अध्ययन की ओर विशेष रहा। स्वभावत: नाहटाजी का कार्यक्षेत्र मुख्यता जैन साहित्य रहा, उसमे भी विशेषरूप से देश-भाषाओ, हिन्दी, राजस्थानी आदि में रचित श्वेताम्बर साहित्य, किन्तु वह वही तक सीमित नही रहा। दिगम्बर साहित्य भी जब जहाँ उनके दृष्टिपथ में आया, बिना साम्प्रदायिक पक्षपात के वह भी उसी प्रकार उनकी दिलचस्पी का विषय बना। इतना ही नही, जैनेतर हिन्दी एव राजस्थानी साहित्य की शोध-खोज मे भी उनका योग-दान महत्त्वपूर्ण रहा। अनेक साहित्यान्वेषियों एव शोधार्थियों को भी उनसे अमूल्य सहायता मिलती रही। कई साहित्यिक पत्रिकाओं, अभिनन्दन-स्मृति ग्रन्थों आदि के सम्पादन में योग देने के अतिरिक्त, नाहटाजी ने साधिक एक दर्जन पुस्तकों की रचना भी की, और जैनाजैन पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित उनके लेखों की संख्या तो लगभग चार सहस्र होगी। दूसरे लेखको की कृतियो की समीक्षा भी खरी करते थे और उनकी त्रुटियों को बिना किसी तकल्लुफ के गिना डालते थे।

हमारे तो बन्धुवर नाहटाजी के साथ लगभग चालीस वर्ष से निकट साहित्यिक-मैत्री सम्बन्ध रहते आये ओर उनके सैकड़ो पत्र हमें प्राप्त हुए। कई बार मतभेद भी हुए परन्तु सम्बन्धों मे कभी भी कटुता नहीं आई, वरन् सौहार्द्र मे वृद्धि ही हुई। मित्रों को लिखने को निरंतर प्रेरणा देने वालों में भी उन जैसे बहुत कम देखने में आये। साहित्य साधना में उनका जो सतत अध्यवसाय रहा वह किसी तपस्वी की तप:साधना से कम नही, 'विद्वानेव विजानाति विद्वज्जन परिश्रमम्'। वीर सेवामन्दिर के मुखपत्र अनेकान्त पर उनकी सदैव कृपा रही और उनकी विभिन्न किरणों मे उनके दर्जनों लेख प्रकाशित हुए। वस्तुत: नाहटाजी के निधन से हिन्दी साहित्य संसार की अपूरणीय क्षति हुई है।

हम स्वयं अपनी ओर से तथा वीर सेवामन्दिर एवं अनेकान्त परिवार की ओर से दिवंगत आत्मा की शान्ति एव सद्गति की भावना करते हुए, उनके परिजनो के साथ हार्दिक संवेदना अनुभव करते हैं।

—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३६ किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | जनवरी-मार्च
वीर-निर्वाण सवत् २५०८, वि० स० २०३६ | १९८३

उपदेशी-पद

चेतन, तू तिहुंकाल अकेला ।
नदी-नाव संयोग मिले ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला ।।
यह संसार असार रूप सब, ज्यों पटपेखन खेला ।
सुख-संपति शरीर-जल-बुदबुद, विनशत नाहीं बेला ।।
मोह-मगन आतमगुन भूलत, परी तोहि गल-जेला ।
मैं मैं करत चहुंगति डोलत, बोलत जैसे छेला ।।
कहत "बनारसि" मिथ्यामति तज, होय सुगुरु का चेला ।
तास वचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरझेला ।।

× × × ×

चेतन, तोहि न नेक संभार ।
नख सिख लों दिढ़बन्धन बेढ़े, कौन करे निरवार ।
जैसे आग पषाण काठ में, लखिय न परत लगार ।
मदिरा पान करत मतवारो, ताहि न कछू विचार ।।
ज्यों गजराज पखार आप तन, आपहि डारत छार ।
आपहि उगल पाट को कीरा, तनहि लपेटत तार ।।
सहज कबूतर लोटन को सो, खुलै न पेच अपार ।
और उपाय न बनै 'बनारसि', सुमिरन भजन अधार ।।

जैनधर्म का प्राचीनत्व

☐ इति० मनीषी डॉ० ज्योति प्रसाद जैन

किसी धर्म की श्रेष्ठता एवं उपादेयता उसकी प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता पर अनिवार्यतः निर्भर नही होती, किन्तु यदि कोई धार्मिक परम्परा प्राचीन होने के साथ-साथ सुदीर्घ कालपर्यन्त सजीव, सक्रिय एवं प्रगतिवान बनी रहती है और लोक के उन्नयन, नैतिक वृद्धि तथा सांस्कृतिक समृद्धि में प्रबल प्रेरक एव सहायक सिद्ध हुई होती है तो उसकी प्राचीनता जितना अधिक होती है वह उतना ही अधिक उक्त धर्म के स्थायी महत्व तथा उसमे निहित सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक तत्त्वों की सूचक होती है। इसके अतिरिक्त, किसी भी संस्कृति के उद्गम एवं विकास का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने तथा उसकी देनों का समुचित मूल्यांकन करने के लिए भी उसकी आधारभूत धार्मिक परम्परा की प्राचीनता का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि जैनधर्म की प्राचीनता में शंका करने की अथवा उसे एक अत्यन्त प्राचीन धर्म परपरा सिद्ध करने की आवश्यकता ही क्यों हुई? स्वय जैनों की परम्परा अनुश्रुतियाँ तो सुदूर अतीत में, जबसे भी वह मिलनी प्रारम्भ होती है, निर्विवाद एवं सहजरूप में उसे सर्वप्राचीन धर्म मानती ही चली आती हैं। साथ ही, बौद्ध एवं ब्राह्मणीय (हिन्दू) अनुश्रुतियाँ भी अत्यन्त प्राचीनकाल से जैनधर्म की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करती चली आती हैं। इस विषय में भारत वर्ष के पुरातन आचार्यों एवं मनीषियों ने कभी कोई विवाद नही उठाया। अतएव जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं थीं। किन्तु आधुनिक प्राच्यविदों एवं इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास के अन्य अनेक तथ्यों की भाँति उसे भी एक समस्या बना दिया।

अठारहवीं शती ई० के अन्तिम पाद में यूरोपीय प्राच्यविदों ने जब भारतीय इतिहास, समाज, धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला आदि का अध्ययन प्रारम्भ किया तो उन्होंने उस आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया जिसमे वर्तमान को स्थिर बिन्दु मानकर प्रत्येक वस्तु के इतिहास को पीछे की ओर उसके उद्गम-स्थान या उदयकाल तक खोजते चला जाना था। जो तथ्य प्रमाण, सिद्ध होते जाते और अतीत में जितनी दूर तक निश्चित रूप से ले जाते प्रतीत होते, वही उनका अथवा उनकी ऐतिहासिकता का आदिकाल निश्चित कर दिया जाता। कालान्तर मे नवउपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में उक्त अवधि को और अधिक पीछे की ओर हटा ले जाना सम्भव होता तो वैसा करने में भी विशेष सकोच न होता। उन्नीसवी शती के प्राच्यविदो द्वारा पुरस्कृत एव कार्यान्वित यह खोज-शोध पद्धति ही आज के युग की सर्वमान्य वैज्ञानिक अनुसधान पद्धति मानी जाती है। इस परीक्षा-प्रधान बौद्धिक युग में प्रत्येक तथ्य को परीक्षा द्वारा युक्तियुक्त प्रमाणित करके ही मान्य किया जाता है। इसी पद्धति के अवलम्बन द्वारा गत डेढ़-सौ वर्षों मे जैनधर्म की ऐतिहासिकता सातवी शताब्दी ईस्वी मे बौद्धधर्म की शाखा के रूप मे प्रगट होने वाले एक छोटे से गौण सम्प्रदाय की स्थिति से शनैः-शनैः उठकर कम से कम वैदिक धर्म जितने प्राचीन तथा सुसमृद्ध संस्कृत से समन्वित एक महत्त्वपूर्ण भारतीय धर्म की स्थिति को प्राप्त हो गई है। वर्तमान युग मे जैनधर्म सम्बन्धी ज्ञान के विकास की तथा परिणामस्वरूप उसकी ऐतिहासिकता एवं आपेक्षिक प्राचीनता के निर्णय की एक अपनी कहानी है जो रोचक होने के साथ-साथ ज्ञानप्रद भी है। इस समय उसमें न जाकर जैन परम्परा की प्राचीनता के कतिपय प्रमुख प्रमाण प्रस्तुत किये जाते है।

जैन परम्परा के चौबसवें एवं अन्तिम तीर्थंकर निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र श्रमण भगवान् वर्द्धमान महावीर का निर्वाण विक्रम पूर्व ४७०, शकशालिवाहन पूर्व ६०५ तथा ईसा पूर्व ५२७

में हुआ था। वह बौद्ध धर्म के प्रवर्तक एवं संस्थापक शाक्य मुनि तथागत गौतम बुद्ध के ज्येष्ठ समकालीन थे—भगवान् बुद्ध के निर्वाण की तिथि में अनेक मतभेद हैं, किन्तु बहुमान्य आधुनिक मत के अनुसार उनका परिनिर्वाण ईसा पूर्व ४८३ में हुआ माना जाता है। बौद्धों के पालित्रिपिटक नामक प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थों में भगवान् महावीर का उल्लेख निगंठनातपुत्त (निर्ग्रन्थज्ञातृपुत्र) नाम से हुआ है और उन्हें श्रमण परम्परा में उत्पन्न उस काल के छः तीर्थंकरों (सर्व महान् धर्ममार्ग प्रदर्शकों) मे परिगणित किया गया है। बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त भगवान्-महावीर एव जैनधर्म सम्बन्धी उल्लेखो से डॉ० हर्मन जेकोबी प्रभृति प्रकाण्ड प्राच्यविदों ने यह फलित निकाला है कि 'इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि महावीर और बुद्ध एक-दूसरे से स्वतन्त्र किन्तु परस्पर प्रायः समकालीन धर्मोपदेष्टा थे। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों में जैनधर्म का एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी धर्म के रूप में तो उल्लेख किया गया है, किन्तु इस बात का कहीं कोई सकेत नहीं है कि वह एक नव-स्थापित सम्प्रदाय था। इसके विपरीत, उनके उल्लेख इस प्रकार के है कि जिनसे यह सूचित होता है कि बुद्ध के समय में निर्ग्रन्थो (जैनो) का सम्प्रदाय पर्याप्त प्राचीन हो चुका था—वह बौद्धधर्म की स्थापना के बहुत पहले से चला आ रहा था।' बौद्ध साहित्य से यह भी प्रतीत होता है कि बोधि प्राप्त करने के पूर्व गौतम बुद्ध ने सत्य की खोज में जो विविध प्रयोग किये थे उनमें एक जैन मुनि के रूप में रह कर जैन विधि से तपश्चरण आदि करना भी था। इस तथ्य का समर्थन उस जैन अनुश्रुति से भी होता है जिसके अनुसार बौद्धधर्म की स्थापना एक जैन साधु द्वारा हुई थी। दोनो धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन मे यह बात भी स्पष्ट हो चुकी है कि बौद्धधर्म पर जैनधर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था और बुद्ध ने अनेक बातें जैनधर्म से लेकर अपने धर्म में समाविष्ट की थी।

बौद्ध साहित्य में लिखा है कि वैशाली के लिच्छवि निर्ग्रन्थों के प्राचीन अर्हत चैत्यों के पूजक थे। उसमे तीर्थंकर पार्श्व के चातुर्याम धर्म का भी उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि आद्य बौद्ध लोग तेईसवें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ के उपदेशों से सम्बन्धित जैनों की महावीर पूर्व परम्परा से भी अवगत थे। बौद्ध धम्मपद मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभ तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर के नामोल्लेख हैं तथा बौद्धाचार्य आर्यदेव ने अपने षट्शास्त्र में ऋषभदेव को भी जैन-धर्म का मूल प्रवर्तक बताया है।

आजीविक नामक एक अन्य श्रमण सम्प्रदाय के संस्थापक मक्खलि गोशाल ने, जो महावीर और बुद्ध का प्रायः समकालीन था, समस्त मानव जाति को छः समुदायों में विभक्त किया है, जिनमें निर्ग्रन्थों का तीसरा नम्बर है। इस पर से विद्वानों का कहना है कि मानव जाति के ऐसे मौलिक विभाजन में किसी नवीन, गौण या थोड़े समय से प्रचलित सम्प्रदाय को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हो सकता था।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि डॉ० जैकोबी का कहना है, जैनों जैसे 'एक बहुसंख्यक सम्प्रदाय की लिपिबद्ध परम्परा अनुश्रुति को निरर्थक एवं असत्य-पुंज मानकर अस्वीकार करने के लिए भी तो कोई उचित कारण होना चाहिये। वे समस्त तथ्य एवं घटनायें जो जैनों की अत्यन्त प्राचीनता की सूचक हैं प्राचीन जैनग्रन्थों में भरी पड़ी हैं और ऐसी वास्तविकता के साथ लिखी गई हैं कि उन्हें तब तक अमान्य नहीं किया जा सकता जब तक कि उन तर्कों एवं युक्तियों से अधिक सबल प्रमाण प्रस्तुत न किये जाँय जिन्हें कि जैन धर्म की प्राचीनता में शंका करने वाले विद्वान बहुधा प्रस्तुत करते हैं।'

वस्तुतः भ० महावीर के निर्वाण से अढ़ाई सौ वर्ष पूर्व (ई० पूर्व ७७७ में) एकसौ वर्ष की आयु में सम्मेदशिखर (बिहार राज्य के हजारी बाग जिले में स्थित पारसनाथ पर्वत) से निर्वाण प्राप्त करने वाले काशी के राजकुमार २३वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता में अब प्रायः किसी पौर्वात्य या पाश्चात्य विद्वान को सन्देह नहीं है।

इतना ही नहीं, जैसा कि सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन का कहना है, 'इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान या पार्श्वनाथ के भी बहुत पहले से प्रचलित रहता आया है।' डॉ० नगेन्द्र नाथ बसु का मत है कि 'भ० पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भ० कृष्ण के ताऊजात भाई थे। यदि हम कृष्ण की ऐतिहासिकता स्वीकार करते हैं तो कोई कारण नहीं कि हम

उनके समकालीन २२वें तीर्थंकर भ० नेमिनाथ को एक वास्तविक एवं ऐतिहासिक व्यक्ति मान्य न करें।' प्रो० कर्वे, कर्नल जेम्स टाड, शेजर जन० जी० जे० आर० फर्लांग डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार, डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य आदि अनेक विद्वान् भ० नेमिनाथ की ऐतिहासिकता स्वीकार करते हैं। यजुर्वेद आदि में तीर्थंकर नेमिनाथ अपर नाम अरिष्टनेमि का उल्लेख पाया जाता है और डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल प्रभृति कई विद्वानों का मत है कि अथर्व वेद में उल्लिखित व्रात्य वह व्रात्यक्षत्रिय या क्षात्रबन्धु थे जिनकी निन्दा उनके अवैदिक होने के कारण वैदिक साहित्य मनुस्मृति आदि में की गई है, और जो वस्तुत. जैनधर्म के अनुयायी थे।

प्राचीन भारतीव अनुश्रुतियों के अनुसार महाभारत मे वर्णित घटनाओं के पूर्व रामायण मे वर्णित घटनाओ का युग था। इस महाकाव्य के नायक अयोध्या के इक्ष्वाकुवशी (सूर्यवंशी) भ० रामचन्द्र का जैन परम्परा मे भी परम्परा जैसा ही आदरणीय स्थान है। वह बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में उत्पन्न हुए थे। उसके भी पूर्वकाल की राजा बसु तथा राजा वेन सम्बन्धी हिन्दू पौराणिक कथायें जैन अनुश्रुतियों से समर्थित है।

वास्तव में, जैसा कि प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार का कहना है, "भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास उतना ही जैन है जितना कि वह अपने आपको वेदो का अनुयायी कहने वालों का है। जैनो की मान्यता के अनुसार महावीर के पूर्व २३ और तीर्थंकर हो चुके थे। इस विश्वास को सर्वथा भ्रमपूर्ण और निराधार मान लेना तथा समस्त पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों को काल्पनिक एव अनैतिहासिक मान बैठना न तो न्यायसंगत ही है और न उचित ही है। इस मान्यता मे विश्वास न करने योग्य बात कुछ भी नही है।"

जैनों की असंदिग्ध मान्यता कि प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) ने ही सर्वप्रथम धर्म का प्रवर्तन किया एवं कर्मयुग का सूत्रपात किया, उन्हीं ऋषभदेव का ऋग्वेदादि में उल्लेख होना, ब्राह्मणीय पुराणों में उन्हें विष्णु का एक प्रारम्भिक अवतार घोषित करना तथा अर्हत (जैन) मत का प्रवर्तक-प्रचारक मानना, प्रागार्य एवं प्राग्वैदिक सिन्धु-घाटी सभ्यता के अवशेषों में उन्हीं वृषभलांछन योगिराज ऋषभ की कायोत्सर्ग-मुद्रा में ध्यानस्थ आकृतियाँ मुद्रांकित पाया जाना, साथ ही जीववाद, परमाणुवाद जैसी जैनों की अत्यन्त मौलिक आदिमयुगीन तात्त्विक मान्यताएं उसे न केवल एक सर्वथा स्वतन्त्र एवं शुद्ध भारतीय धार्मिक परम्परा सिद्ध करती हैं, वरन् प्राग्वैदिककालीन भी सूचित करती है।

अस्तु, उपरोक्त प्रमाण बाहुल्य के आधार पर अनेक प्रख्यात विद्वान् जैन परम्परा को आपेक्षिक प्राचीनता में सन्देह नही करते। यदि कुछ विद्वानों के अनुसार 'यह अहिंसा प्रधान जैनधर्म, अधिक भी नहीं तो कम से कम वेदों और वैदिक धर्म जितना प्राचीन अवश्य है', तो कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि 'जैनों और उनके धार्मिक साहित्य-सम्बन्धी वर्तमान ज्ञान के आधार पर हमारे लिये यह सिद्ध करना तनिक भी कठिन नही है कि बौद्धधर्म अथवा वैदिक धर्म की शाखा होना तो दूर की बात है, जैनधर्म निश्चयत: भारतवर्ष का अपना एक सर्वप्राचीन धर्म है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही उसका स्वतन्त्र अस्तित्व रहता आया है।' अतएव, यह बात प्राय: नि संकोच कही जा सकती है कि प्रागैतिहासिक काल के प्रकृत्याश्रित पाषाण युग से ही, जब से भी भारत एवं भारतीयों का इतिवृत्त किसी न किसी रूप में मिलना प्रारम्भ हो जाता है, तभी से उसके साथ वर्तमान में जिसे जैनधर्म और जैन-संस्कृति के नाम से जाना जाता है उस धार्मिक परम्परा एवं तत्सम्बन्धी संस्कृति का सम्बन्ध बराबर मिलना चला आता है। वस्तुत: जैनधर्म परम्परामूलक अथवा सनातन है। वह बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, सिख प्रभृति धर्मों की भाँति ऐतिहासिक नही है, जिसके कि संस्थापक और स्थापना की निश्चित तिथि और ऐतिहासिकता प्रतिपादित की जा सके, आदिम मानव मे जब भी धर्मभाव का जो उदय हुआ, उसी से शनै: शनै. विकसित होता हुआ और एक के बाद एक तीर्थङ्करों द्वारा व्यवस्थित, आचारित एवं प्रचारित होता हुआ यह मानव का स्वभावगत और भारतवर्ष का परम्परा गत मौलिक धर्म है।

—ज्योति निकुंज
चारबाग, लखनऊ

महाकवि रइधू कृत रिट्ठणेमिचरिउ में सोनागिर की भट्टारकीय गद्दी का उल्लेख

□ डॉ० राजाराम जैन इतिहासरत्न,

श्री सोनागिरि क्षेत्र बुन्देलखण्ड के तीर्थक्षेत्रों में अपना प्रमुख स्थान रखता है। पहाड़ी पर निर्मित भव्य एवं विशाल जिन मन्दिर, प्राकृतिक सौन्दर्य, सुन्दर निर्झर एवं वनौषधियों से मिश्रित मधुर जल वाले सरोवरों से व्याप्त यह पुण्यभूमि बरबस ही जन-मन मोह लेती हैं।

तीर्थभूमि होने के कारण उसका अपना महत्व तो रहा ही किन्तु वि० स० की १५-१६वी सदी में साहित्यिक केन्द्र होने के कारण भी उसका विशेष महत्व रहा है। मुगलकाल मे राजनैतिक एव धार्मिक उथल-पुथल होने के कारण भट्टारकों ने साहित्य लेखन तथा प्रचार-प्रसार के निमित्त यत्र-तत्र अपने केन्द्र व्यवस्थित किए थे, जिन्हे भट्टारकीय गद्दियों के नाम मे सभी जानते हैं। तोमरवशी राजाओ के काल में भट्टारकों के कार्यकलापों का प्रमुख केन्द्र गोपाचल था। तत्कालीन राजाओ ने भट्टारकों एवं जैन कवियो को विशेष प्रश्रय भी दिया था। राजा डूंगर सिंह के सम कालीन महाकवि रइधू ने सोनागिरि मे स्थापित हुई भट्टारकीय गद्दी की सर्व प्रथम सूचना दी है तथा कहा है—

"उत्तमक्षमा-गुण को धारण करने वाले तथा भव्यजनों को संसार रूपी ससार से तारने वाले भट्टारक कमलकीर्ति के पट्टधर परम तपस्वी श्री शुभचन्द्र ने कनकाद्रि में एक भट्टारकीय गद्दी (पट्ट) की स्थापना की।"

[रिट्ठणेमिचरित्र १।२।१२-१३]

"भट्टारक शुभचन्द्र को रइधू ने अपने गुरु के रूप मे स्मरण किया है और कहा है कि "मैंने रिट्ठिणेमि चरिउ की रचना भट्टारक शुभचन्द्र के श्री चरणो की सेवा एव सत्कृपावश ही की है।"

[वही० १४।२३।६-१२]

भट्टारक शुभचन्द्र भट्टारक कमलकीर्ति के दो शिष्यो में से एक अन्यतम विद्वान एवं साधक शिष्य थे। रइधू ने रिट्ठणेमि चरिउ एवं अपनी अन्य रचनाओं में उन्हें विविध विविध प्रसंगों में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक कई बार स्मरण किया है। शुभचन्द्र का समय वि० सं० १५०६ से १५३० के लगभग रहा है। अत इसी काल में कनकाद्रि पर भट्टारकीय गद्दी की स्थापना की गई होगी, इसमें सन्देह नहीं।

शुभचन्द्र नाम के कई भट्टारक साधक एवं विद्वान हुए है, जिनके नाम साम्य के कारण उनके काल-निर्णय में बडी उलझनें हुई है। किन्तु प्रस्तुत शुभचन्द्र भट्टारक के विषय में स्थिति अत्यन्त सुस्पष्ट है।

यह तो ज्ञात नही हो पाया है कि भट्टारक शुभचन्द्र ने कौन-कौन-सी रचनाएं लिखीं, किन्तु रइधू के उल्लेख के आधार पर यह ज्ञात होता है कि वे परम सम्यक्त्वी, गुरु के प्रति अत्यन्त विनयशील, महातपस्वी, साहित्यकारों के लिए प्रेरणास्रोत तथा शिष्यों को अपने यहाँ आवास एवं भोजनादि की व्यवस्था एवं अन्य सुविधाएं प्रदान करते थे,

[वही० १।२।१४-१५]

महाकवि रइधू को शुभचन्द्र ने अत्यन्त स्नेहवश अपने निवास स्थान पर रखकर सभी सुविधाएं प्रदान की थी तथा उन्हे कुछ तात्त्विक ग्रन्थों का अध्ययन कराया था। रिट्ठणेमि चरिउ की रचना तो शुभचन्द्र की कृपा के बिना सम्भव ही नही थी। [वही० २४।२३।६-१२]

शुभचन्द्र काष्ठासंघ, माथुरगच्छ एवं पुष्करगण शाखा के भट्टारक थे। अतः सोनागिर की भट्टारकीय गद्दी भी उसी परम्परा की थी। उसके अद्यावधि इतिहास की जानकारी प्राप्त करने के लिए मैंने सोनागिर के वर्तमान भट्टारक महोदय, गोपाचल के कुछ प्रमुख व्यक्तियों एवं ग्वालियर के पुरातत्त्व-विभाग से घना पत्र-व्यवहार किया, किन्तु कही से कोई भी उत्तर मुझे नही मिल सका। यदि कुछ

(शेष पृ० ७ पर)

स्थानीय संग्रहालय पिछोर में संरक्षित जैन प्रतिमाएं

□ नरेश कुमार पाठक

स्थानीय संगहालय पिछोर (जिला ग्वालियर) की स्थापना सन् १९७६-७७ ईस्वी सन् में मध्य प्रदेश शासन के पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग द्वारा जिला पुरातत्व संघ ग्वालियर के सहयोग से भूतपूर्व पिछोर रियासत के एक प्राचीन भवन मे की गई। इसमे ग्वालियर एव चम्बल सम्भाग के विभिन्न स्थानों से मूर्तियाँ एकत्रित की गई है, जो धार्मिक मान्यताओ के आधार पर शैव, शाक्त, वैष्णव एवं जैन धर्म से सम्बन्धित है। जैन धर्म से सम्बन्धित प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है :—

आदिनाथ

प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ की दो उल्लेखनीय प्रतिमा संग्रहालय मे सरक्षित है। जो मालीपुर से प्राप्त हुई हैं। प्रथम प्रतिमा (सं० क्र० ९)कायोत्सर्ग मुद्रा में अपने लांछन वृषभ सहित शिल्पांकित है। दोनो ओर चावरधारी परिचारक एव चावरधारिणी का अंकन है। प्रतिमा के सिर पर कुन्तलित केशराशि लम्बे जटा एव पीछे प्रभामण्डल सुशोभित है। वितान म त्रिछत्र, दुन्दभिक व मालाधारी विद्याधरों का अंकन है। परिकर मे जिन प्रतिमा, गज, सिंह तथा मकर व्यालो का आलेखन है। पादपीठ पर धर्मचक्र जिसके दोनो ओर सिंह आकृतियाँ अंकित है।

आदिनाथ की दूसरी प्रतिमा में [सं० क्र० १०] पद्मासन की सौम्य एवं शान्त मुद्रा मे तीर्थङ्कर आदिनाथ अपने ध्वज लांछन वृषभ सहित निर्मित है। सिर पर कुन्तलित केशराशि तथा लम्बे जटाओं एव वक्ष पर 'श्री वत्स' का आलेखन कलात्मक है। मुख्य प्रतिमा प्रभामण्डल से सुशोभित है। पार्श्व में दोनो ओर चामरधारी परिचारक खड़े है। वितान में त्रिछत्र, दुन्दभिक और परिकर में गज, सिंह व मकर व्यालों का शिल्पांकन है। आसन पर धर्मचक्र दोनों ओर सिंह आकृतियां और परिचरों का अंकन है। पादपीठ पर दायी ओर मानवीय गरुड़ के ऊपर यक्षणी चक्रेश्वरी बायी ओर सिंह पर सवार यक्षणी अम्बिका है, जो अपने दायें हाथ में लघु-पुत्र प्रियंकर को लिये है। ऊपर आम्र लुम्बी अंकित है। प्रतिमा मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। क्योंकि आदिनाथ के साथ यक्षणी अम्बिका का आलेखन इस कलाकृति की विशेषता है।

पार्श्वनाथ—

मालीपुर से ही प्राप्त दो प्रतिमा तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की संग्रहालय में सरक्षित है। प्रथम प्रतिमा में योगासन मुद्रा मे [स० क्र० १] पादपीठ पर बैठे है। सिर पर कुन्तलित केशराशि ऊपर सप्तफर्ण नागमौलि की छाया है। पार्श्व मे दाये-बायें चावरधारिणी एवं चावरधारियों का अंकन है। पादपीठ पर दायें-बायें यक्ष धरणेन्द्र एव यक्षणी पद्मावती अंकित है। आसन पर दोनों ओर सिंह आकृति तथा मध्य में धर्मचक्र अंकित है। वितान में हाथियों द्वारा अभिषेक का दृश्य परिकर मे गज, सिंह एवं मकर व्यालों का आलेखन है।

पार्श्वनाथ की दूसरी प्रतिमा [सं० क्र० २] में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हुए तीर्थङ्कर के सिर पर कुन्तलित केशराशि, ऊपर सप्तफण नाग मौलि की छाया है। वितान में त्रिछत्र, दुन्दभिक, मालाधारी विद्याधर युगल, हाथियों द्वारा किये जा रहे अभिषेक का दृश्य अंकित है। पादपीठ पर दायें यक्ष धर्णेन्द्र एवं बायें यक्षणी पद्मावती अंकित है। दोनों ओर परिचारिकों का आलेखन है।

लांछन विहीन तीर्थंकर—

संग्रहालय में लांछन विहीन तीर्थङ्कर की तीन पद्मासन में एवं चार कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित प्रतिमाएं संरक्षित हैं। मालीपुर-सुजवाया से प्राप्त तीर्थङ्कर प्रतिमा पद्मासन [सं० क्र० ३] में शिल्पांकित है। मूर्ति के सिर पर कुन्तलित केशराशि पीछे आकर्षक प्रभावली, दोनों पार्श्व में सिर विहीन चावरधारियों का अंकन है। आसन पर भग्न अवस्था में यक्ष-यक्षणी, मध्य में धर्मचक्र एवं सिंह आकृतियों का अंकन है। वितान में दायें ओर अभिषेक करता हुआ हाथी व विद्याधर युगलों का अंकन है। दोनों पार्श्व में दो जिन प्रतिमा अंकित है। परिकर में सिंह एवं मकरव्यालो से अलकृत है।

पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में निर्मित दूसरी मूर्ति नरवर [सं० क्र० ४] प्राप्त हुई प्रतिमा के सिर पर कुन्तलित केशराशि, वक्ष पर 'श्री वत्स' का अंकन है। दोनों

पार्श्व में कायोत्सर्ग मुद्रा में जिन प्रतिमाओं का अकन है। वितान में छत्र व मालाधारी विद्याधरों का अकन है। परिकर में मकर व्याल एव पद्म कलियों से अलंकृत है।

तीसरी पद्मासन मे [सं० क्र० ६०] प्रतिमा पिछोर से प्राप्त हुई है। प्रतिमा का सिर भग्न अवस्था मे है। अलकरण सामान्य स्तरीय है।

कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित तीर्थङ्करो मे उल्लेखनीय कलाकृति [सं० क्र० ५] मालीपुर-सुजवाया से प्राप्त प्रतिमा के सिर व पैर भग्न है। पार्श्व में दोनो ओर चवरधारियों का आलेखन है।

मालीपुर-सुजवाया से ही प्राप्त दूसरी कायोत्सर्ग मुद्रा मे [स० क्र० ६] शिल्पाकित तीर्थङ्कर के सिर और पैर भग्न है। पार्श्व में दोनो ओर चवरधारियो का अकन है।

नरवर से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित तीसरी [स० क्र० ७] प्रतिमा के सिर पर कुन्तलित केशराशि, कर्णचाप है। पीछे अलकृत प्रभावली, वक्ष पर 'श्री वत्स' का अकन है। पार्श्व में दोनो ओर चाउरधारियों का आलेखन मनोहारी है।

नरवर से ही प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा मे [स० क्र० ८] शिल्पांकित तीर्थङ्कर के सिर पर कुन्तलित केशराशि, पीछे प्रभामण्डल, वक्ष पर 'श्री वत्स' का अकन है। पार्श्व में दोनों ओर चावरधारियों का आलेखन है।

जिन प्रतिमा वितान, पादपीठ एवं सिर :—

मालीपुर-सुजवाया [स० क्र० १६] से प्राप्त जिन प्रतिमा विनान से सम्बन्धित इस मूर्ति खण्ड में त्रिछत्र, दुन्दभिक एव मालाधारी विद्याधर युगलों का अंकन है।

नरवर से प्राप्त [सं० क्र० १८] जिन प्रतिमा पादपीठ पर गज, सिंह एवं मानव आकृतियों का आलेखन है।

पिछोर से प्राप्त जिन प्रतिमा [सं० क्र० ६१] का दायाँ भाग शेष है, जिनमे त्रिभग मुद्रा में चँवरधारी, सेविकाओ का अकन है। तीर्थङ्कर प्रतिमा का केवल पैर ही शेष है।

पिछोर से ही प्राप्त जिन प्रतिमा [स० क्र० ६२] का सिर का फीसुन्दर है। सिर पर अकित कुन्तलित केशराशि मनोहारी है।

नरवर, मालीपुर-सुजवाया एव पिछोर से प्राप्त ये सभी मूर्तिया १०वी ११वी शती ईस्वी की है, जो मूर्ति कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय, गूजरी
महल, ग्वालियर, म० प्र०

(पृष्ठ ५ का शेषांश)

सामग्री वहाँ से मिलती तो इस पर विशेष प्रकाश पड़ सकता था।

कुछ समय पूर्व "स्वर्णाचल माहात्म्य" नामक एक काव्य ग्रन्थ प्रकाश में आया है। उसे वि० स० १८४५ मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थी को अटेर निबासी कान्यकुब्ज कुलोत्पन्न श्री देवदत्त दीक्षित ने भट्टारक जितेन्द्र भूषण के आदेश एव उपदेश से लिखा था। ये जितेन्द्र भूषण भट्टारक मूलसंघ, बलात्कार गण, नन्दि-आम्नाय की शाखा के थे। उनका निवास एवं साधना-स्थल विश्वविख्यात पुण्यक्षेत्र सूरिपुर मे था, जो यमुना के तट पर बसा था। सम्भवतः किसी समय सोनागिर की यात्रा के समय वे उस पुण्यतीर्थ से बहुत प्रभावित हो गए थे और श्रद्धाभिभूत होकर उन्होने उक्त देवदत्त दीक्षित को उक्त काव्यग्रन्थ लिखने की प्रेरणा की थी। किन्तु सोनागिर की पूर्व-स्थापित भट्टारकीय गद्दी से उक्त जिनेन्द्र भूषण का सम्भवत, किसी भी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध नही रहा है।

पिछले दशक मे सोनागिर-क्षेत्र की ऐतिहासिकता पर कुछ विद्वानो ने विचार किया है तथा कुछेको ने उसकी प्राचीनता को सदिग्ध माना है। किन्तु उस पर ऊहापोह करना इस निबन्ध का विषय नही है। उसकी प्राचीनता कुछ भी हो, किन्तु महाकवि रइधू के उक्त उल्लेखो से यह स्पष्ट हो जाता है कि १५वी सदी में कनकाद्रि अथवा सोनागिरि तपोभूमि, तीर्थभूमि एव साधना-भूमि के रूप में सुप्रसिद्ध एव ज्ञात था तथा साहित्यिक केन्द्र की स्थापना के योग्य मानकर ही भट्टारक कमलकीर्ति ने काष्ठासंघ एव पुष्करगण की परम्परा सम्मत एक भट्टारकीय गद्दी की वहां स्थापना की थी। **—आरा (बिहार)**

नोट—रिट्णेमि चरिउ ग्रन्थ अप्रकाशित है—संपादन कार्य चल रहा है।

ज्ञायक भाव

☐ श्री बबूलाल वक्ता

विचार से रहित जब उपयोग होगा तब उस रूप वह आप है। जिस समय किसी को जान रहा है उस समय वह ज्ञान है और जिस समय किसी को नहीं जान रहा है, उस समय भी तो ज्ञान ही है, जब वह दूसरे को जानने का काम बन्द करके केवल ज्ञानस्वरूप स्वयं ही रहे तब बात बने। जैसे मिश्री दूध मे मिली हुई है तब वह उसे मीठा कर रही है पर जब वह उसमे न मिले, ऐसी ही रहे तब भी तो वह मीठी ही है, वह तो अपने स्वभाव रूप ही है, मिश्री ही है उसी प्रकार चेतन सदैव चेतन रूप ही है, किसी को जाने चाहे न जाने, विकल्प करे या न करे, हर हाल मे वह चेतन रूप ही है। यह (जीव) जो विचार उठाता है वह राग है, निर्विचार बने, निर्विकल्प हो तो बात ठीक हो। यदि यह मन का आश्रय लेगा तो विचार उठेंगे, उसका आश्रय न लेकर आप अपने आश्रय मे ज्ञाता बने, ज्ञायक रूप रहे कि मैं जान रहा हू बस, लेकिन विचार करने की इसको ऐसी आदत पड़ गई है कि यह इस बात को ही स्वीकारने को तैयार नही कि निर्विकल्पपना भी हो सकता है।

प्रश्न--निर्विकल्पता कैसे हो ?

उत्तर—पहले तो हम इस बात को पकड़ें कि कोई भी जीव हो भव्य हो, अभव्य हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, प्रत्येक के भीतर मे दो काम हो रहे है एक तो कर्म का कार्य और एक ज्ञान का कार्य। कर्म के अनुसार शरीर मे घाव हुआ, ज्ञान ने उसे जाना, जब घाव ठीक हो जाता है तो ज्ञान शरीर के उस स्वस्थ रूप को जानने लगता है। उस घाव के होने पर भीतर में, भाव में जो सुख दुःखादि होते हैं ज्ञान उसे भी जानता है। आपने किसी जीव की रक्षा की बाहर मे तो उसकी रक्षा की व भीतर में दया रूप परिणाम हुए और ज्ञान ने उन्हे जाना। हमें यह नक्की करना है कि इनमें से मेरा अपना कौन-सा काम है। इसी प्रकार सुनते हुए, बोलते हुए हर वक्त तीन काम हो रहे है पर 'मैं' कौन ? कोई हाथ को काट रहा है तब एक तो वह बाहर की क्रिया, एक भीतर में दुःख रूप परिणाम और एक उसका जानना, दुख रूप परिणाम तो एक समय आता है और मिट जाता है बाहर की वह क्रिया भी मिट जाती है। पर ज्ञान का जाननपना अभी भी उसी रूप से कायम है। पहले वह शरीर को काटे जाने रूप क्रिया को और दुःख रूप परिणाम को जान रहा था अब स्वस्थ अवस्था को व सुख रूप परिणाम को जान रहा है। और एक बात और है हाथ का काटा जाना ही भीतर के दुःख का कारण हो ऐसा भी नही, ऐसा होता तो मुनि आदि इतने उपसर्ग व परीषह के समय भी कैसे स्थिर होते ? ये बड़े-बड़े क्रान्तिकारी हुए हैं जिन्होने इतनी-२ यातनाएं सहर्ष झेली, उनके भीतर मे उस जाति का राग नही था। भगतसिंह को जिस समय फासी होने लगी तो पहले दिन की अपेक्षा उसका वजन दो-तीन पौंड बढ़ गया था।

आपने रोटी खाई तब भी तीन काम है, ज्ञान ने खाते समयभी उसे जाना और जब वह क्रिया खत्म हो गई तब भी जानने रूप क्रिया हो रही है तभी तो कह रहे हो कि भोजन स्वादिष्ट था इससे सिद्ध होता है कि कोई भीतर मे ऐसा जानने वाला है जो उस समय भी था और अब भी मौजूद है। रास्ते चलते हुए भी तीन काम हो रहे है, तीन मे से दो काम तो बदल रहे हैं नाशवान हैं अत. कर्म के है और जानने का काम सतत एक रूप है, स्थाई है अत: आत्मा का है, हमारा है। यद्यपि वह कर्म का काम चेतना के अस्तित्व मे हो रहा है फिर भी चेतना का अपना नही है, पर-कृत है जैसे कोई बाहर के तीन-चार आदमी हमारे घर में आकर ठहर जाएं और कोई राशनकार्ड वाला आकर पूछे तो हम कहते हैं कि हम तो तीन है तो हैं, तो उस समय आदमी घर में सात पर कहते हैं कि बाकी चार तो बाहर

के हैं, घर में हैं फिर भी घर के नहीं हैं, उसी प्रकार चेतना में यद्यपि भाव कर्म हो रहे हैं पर फिर भी चेतना के अपने नहीं हैं। उस ज्ञान के कार्य को हमने आज तक पकड़ने की चेष्टा ही नहीं की और उस कर्म के कार्य को हमने जाना कि मैं इसका करने वाला और यह मेरे करने से हुआ है और मैं इस रूप हूं। आचार्य कहते हैं कि यह तेरी अज्ञान अवस्था है, तूने अपने को क्यों नहीं जाना ? और इस कर्म के कार्य को अपना जानने से तेरे अहंकार पैदा हुआ ज्ञान के कार्य में तूने अपनापन क्यों नहीं माना, तू कर्म रूप नहीं, तू तो चेतना रूप है, अपने रूप ही है।

कर्म तो चौकी की तरह जड़ है वह अपना फल दे देता है, अज्ञानी उसे ले लेता है, ज्ञानी उसे नहीं लेता, फल नहीं लेता है तो वह कर्म फालतू हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि तू उस जानने वाले को देख जो वहां सतत विद्यमान है, वही तू है। अकलंक स्वामी ने कहा कि जिसने क्रोध जाना उसी ने क्रोध के अभाव को भी जाना। हम भी कभी-कभी कहते हैं कि आज हमारा मूड खराब है उसको किसने जाना ? मूड तो खराब से ठीक हो गया परन्तु जानने वाला वही है ? वह पहले जान रहा था मूड खराब है अब जान रहा है मूड ठीक है। क्रोध भीतर में चालू हुआ चाहे बाहर मे अभी प्रगट नही हुआ पर उस जानने वाले ने जानना शुरू कर दिया कि क्रोध शुरू हो चुका है। एक आदमी ने सुन्दर बात बताई कि क्रोध चालू हो तो उससे कहो कि पांच मिनट बाद आवें और फिर वह होगा ही नही। इसमें भी वही तत्व है कि जानने वाला जागरूक है, जागृत है, सावधान है, उसने जान लिया कि क्रोध आ रहा है और जब जानने वाला सावधान है तो फिर वह क्रोध कैसे रह सकता है !

इस जानने वाले को पकड़, वही तू है। पकड़ना कहते हैं कि जैसा अपनापन तेरे आज तक कर्म, उसके कार्य व उसके फल मे आ रहा है, क्रोध करने में, दया करने में आ रहा है, खाने में आ रहा है, शरीर के घाव में व दर्द में आ रहा है वैसा अपनापन उस जानने वाले में आए और जब जानने वाले में अपनापन आयेगा तो चेतना की जितनी ताकत पहले कर्म में लग रही थी वह जाननपने में लग गई अब उसमें कौन ताकत लगाए, अतः वह कर्म का कार्य तो होता है पर उसमें कोई हर्ष-विषाद वाली बात नहीं रहती क्योंकि मैं तो जानने वाला हूं और जानने वाला मरता नहीं, बीमार होता नहीं, उसका हाथ कटता नहीं अतः मैं क्यों रोऊं और जिसका कटता है वह रोना जानता नहीं। इस प्रकार से शरीर में रहते हुए इससे अलग हो जाओ। पहले तो केवल एक कर्मधारा चलती थी पर अब ज्ञानधारा भी चालू हो गई और अब जो भी कार्य होता है उसे ये कहता है कि काम तो यह कर्म का है मैंने तो उसे जाना है अतः पहले मन के आश्रय से जो मिथ्या अहंकार पैदा होता था कि मैं करोड़पति, मैं गरीब, मैं सुखी, मैं दुःखी वह सारा टूट गया अब कर्म का, पुण्य पाप का उदय तो है, शरीर भी है पर उसमें अपनापन न होकर ज्ञान के कार्य मे अपनापन है अतः कहते हैं कि अब यह शरीर का मालिक नही रहा पड़ोसी बन गया और जब मालिक ही नहीं रहा तो कैशियर के पास कितना ही धन पड़ा रहे, उसे उसका अहंकार नहीं हो सकता। आज तक ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला जो केवल इस बात का अहंकार कर रहा हो कि मैं आज दो करोड़ के नोट गिनकर आया हूं। तो पहले कर्म के कार्य को चेतना का योगदान मिलता था, पर अब वह बंद हो गया क्योंकि वह सारा योगदान जाननपने के काम को मिलने लगा अतः कर्म की ताकत घट गई।

पहले अज्ञान अवस्था में एक और अड़ंगा था भूतकाल की सोच-सोचकर दुःखी होता था और भविष्य की सोचकर शेखचिल्ली की तरह सुखी भी हो जाता था अब ज्ञानी हो गया तो उसकी समझ में आया कि अरे ! यह पागलपन कहां से लाया, इसमें तेरा अपना कुछ है नहीं और इससे कुछ लेना-देना नहीं फिर जो शक्ति वह पहले मन द्वारा फालतू इन विकल्पों में लगा रहा था वह शक्ति उसने उन सब कार्यों के जानने में लगा दी, और अब वह उन सबको मात्र जान रहा है और स्वयं को उन रूप नहीं मान रहा है तो राग-द्वेष का कोई प्रयोजन नहीं रहा। मन तो एक माध्यम है, और उसे आप चाहो तो इस्तेमाल में ले लो, अन्यथा ये तो पौद्गलिक है, जड़ है, ऐसे ही पड़ा रह जायेगा जैसे इस चश्मे को हमें जब दरकार होती है तभी लगा लेते हैं। अब विकल्प

कुछ रुकने लगे और वह ज्ञाता बना पर क्योंकि अनादि काल की आदत पड़ी है अत: बार-बार फिर मन का आश्रय ले लेता है फिर गल्ती समझकर फिर मन से हट कर ज्ञाता बनता है इस प्रकार से चेष्टा करते-करते उसकी मन का अवलम्बन लेने की पुरानी आदत छूटती जाती है, विकल्प बंद होते जाते हैं, निर्विचार होता जाता है। अभी भी थोड़ा अंश उसका बाहर के काम में लगा हुआ है। जैसे बाहर में अभी बोलने की क्रिया हो रही है तब थोड़ा उपयोग तो उसमें जा रहा है और बाकी का उपयोग उसे जान रहा है, बीच में मन का जो कार्य था इधर-उधर घूमने का, हिसाब-किताब करने का वह अब नहीं है। अब इससे आगे बढ़े तो कदाचित् ऐसा होता है कि वह बाहर का काम भी बंद हो जाय और केवल वह जानने वाला शुद्ध ज्ञान बचा तो अनुभूति पैदा हो जाती है। अनुभूति का समय कम है, देरी से होती है पर यह ज्ञातापना हर समय चालू रह सकता है। मन की यदि जरूरत है कुछ सोचने-विचारने को उसका सहारा ले लो अन्यथा वह जरूरी नही। बाहर का काम चलने दो और उसे मात्र जानते रहो।

णमोकार मंत्र जोर-जोर से बोल रहे है तो उसे चलने दो उसके जानने वाले बन जाओ तो वह धीमा होता चला जायेगा, वह बहुत मंद हो जाता है और ज्ञातापने पर पूरा जोर है तो विकल्प कोई भी नही रहता, विकल्पों से कुछ लेना-देना नहीं। यद्यपि ज्ञाता पने में पूरी सावधानी है और अन्य किसी भी चीज में हेय उपादेय की भी दृष्टि नही है पर अभी भी यह पूरी अनुभूति की स्थिति नही क्योंकि बाहर का कार्य चालू है। अब इसके बाद भी वह आगे बढ़े और जब वह सत्ता मात्र रह जाए, वह अनुभूति की अवस्था है। नीद में व अनुभूति में मात्र इतना ही अन्तर है कि नींद में मूर्च्छित-सी, असावधान अवस्था हे और अनुभूति में जाग्रत अवस्था है।

इन विकल्पों से क्या हानि होती है ?

जितने विचार व विकल्प हम हैं वे पर-पदार्थ में राग पैदा करते हैं, उतने ही सस्कार गहरे हो जाते हैं, और सस्कार का गहरा होना ही कर्म है। वे संस्कार इतने गहरे हो जाते हैं कि आपको तद्रूप परिणमन करा देते हैं। आप बीस दफे रसगुल्ले को अपने उपयोग में याद करो तो भीतर मे इतनी जोर की रुचि पैदा होगी कि खाना ही पड़ेगा। सही बात यह है कि पहला विकल्प आते ही तत्काल सावधान हो जाए कि अब दुबारा ये विकल्प नहीं उठेगा। यदि वही विकल्प बार-बार उठ जाए तो वह इतना मजबूत हो जाता है कि हम उसके आधीन हो जाते है। □

—भक्ति-परक सभी प्रसंग सर्वाङ्गीण याथातथ्य के स्वरूप के प्रतिपादक नहीं होते। कुछ में भक्ति-अनुराग-उद्रेक जैसा कुछ और भी होता है। जैसे—'शान्तेर्विधाताशरणं गतानाम्', 'पुनातु चेतो मम नाभिनन्दन:', श्रेयसे जिनवृष प्रसीद न:' इत्यादि। इन स्थलों में कर्तृत्व की स्पष्ट पुष्टि है जब कि आतम-स्वभाव इससे बिल्कुल उल्टा। ऐसे में विवेक पूर्वक वस्तु को परखना चाहिए कि वक्ता की दृष्टि क्या है ?

× × × ×

—तू ज्ञानी, धनी या कहीं का कोई अधिकारी है, यह सोचना महत्त्वपूर्ण नहीं। अपितु महत्त्वपूर्ण ये है—कि तूने कितनों को ज्ञानी धनी या अधिकारी बनने में कितना योग दिया :—

'जो अधीन को आप समान। करै न सो निन्दित धनवान ॥'

'जैन दर्शन में सप्तभंगीवाद'

□ अशोक कुमार जैन एम० ए०, शास्त्री

इस भारत भूमि में विश्व के सम्बन्ध से सत्, असत्, उभय और अनुभय ये चा पक्ष वैदिककाल से ही विचार-कोटि में रहे हैं। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छान्दो० ६।२) 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छन्दो० ३।१६।१) इत्यादि वाक्य जगत के सम्बन्ध मे सत् और असत् रूप मे परस्पर विरोधी दो कल्पनाओं को स्पष्ट उपस्थित कर रहे हैं तो वही सत् और असत् इस उभयरूपता तथा इन सबसे परे वचन-गोचर तत्व का प्रतिपादन करने वाले पक्ष भी मौजूद थे। बुद्ध के अव्याकृतवाद और संजय के अज्ञानवाद मे इन्ही चार पक्षों के दर्शन होते हैं। उस समय का वातावरण ही ऐसा था कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप 'सत् असत् उभय और अनुभय' इन चार कोटियो से विचारा जाता था। भगवान महावीर ने अपनी विशाल और उदार तत्वदृष्टि से वस्तु के विराट रूप को देखा और बताया कि वस्तु के अनन्त धर्ममयस्वरूप सागर में ये चार कोटियां तो क्या ऐसी अनन्त कोटियां लहरा रही हैं।[१] यह कहना ठीक नहीं है कि शब्द प्रधान रूप से विधि का ही कथन करता है क्योंकि ऐसा कहने पर शब्द से निषेध का ज्ञान नही हो सकेगा। शायद कहा जाये कि शब्द गौण रूप से निषेध को भी कहता है किन्तु ऐसा कहना भी निःसार है क्योंकि सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा प्रधान रूप से जिसका कथन नही किया जाता उसका गौण रूप से कथन करना सम्भव नही है।[२] विधि और निषेध के विकल्प से अर्थ में शब्दों की प्रवृति सात प्रकार की होती है, उसे ही सप्तभङ्गी कहते हैं। सबसे प्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रथों में सातभङ्गों का नामोल्लेख मात्र मिलता है उनमे से प्रवचनसार में स्यात् अवक्तव्य को तीसरा भंग रखा है और स्यादस्ति-नास्ति को चतुर्थभंग रखा है।[३] किन्तु पञ्चास्तिकाय में अस्तिनास्ति को तीसरा और अवक्तव्य को चतुर्थ भंग रखा है।[४] इसी तरह अकलङ्कदेव ने दो स्थलों पर सप्तभंगी का कथन किया है उनमें से एक स्थल पर उन्होंने प्रवचनसार का क्रम अपनाया है, दूसरे स्थल पर पंचास्तिकाय का क्रम अपनाया है।[५]

दोनों जैन सम्प्रदायो मे दोनों ही क्रम प्रचलित रहे हैं। सभाष्य तत्वार्थाधिगम (अ० ५।३१) सूत्र और विशेषा-वश्यकभाष्य (गा० २२२३) मे प्रथम क्रम अपनाया है किंतु आप्तमीमांसा (का० १४) तत्वार्थ श्लोक वार्तिक(पृ०१२८) प्रमेयकमल मार्तण्ड (पृ० ६८२) प्रमाणनयतत्वालोकालंकार (परि० ४ सूत्र १७-१८) स्याद्वाद मञ्जरी (पृ० १८९) सप्तभगीतरंगिणी (पृ० २) और नयोपदेश (पृ०१२) में दूसरा क्रम अपनाया गया है। इस तरह दार्शनिक क्षेत्र में दूसरा ही क्रम प्रचलित रहा है अर्थात अस्ति-नास्ति को तीसरा और अवक्तव्य को चतुर्थभङ्ग ही माना है। विधि और प्रतिषेध की कल्पना मूलक सात भंग इस प्रकार हैं—१. विधि कल्पना, २. प्रतिषेध कल्पना, ३. क्रम से विधि प्रतिषेध कल्पना, ४. युगपद् विधि प्रतिषेध कल्पना, ५. विधि कल्पना और युगपद् विधि प्रतिषेध कल्पना, ६. प्रतिषेधकल्पना और युगपद् विधि प्रतिषेध कल्पना, ७. क्रम और युगपद् विधिप्रतिषेध कल्पना।[६]

श्रुतज्ञान के दो उपयोग है, एक स्याद्वाद और दूसरा नय। प्रमाण सकलदेश रूप होता है और नय विकला-देश।[७] ये सातों ही भंग जब सकलादेशी होते हैं तब प्रमाण और जब विकलादेशी होते हैं तब नय कहे जाते है। इस तरह सप्तभंगी भी प्रमाण सप्तभगी और नय सप्तभंगी के रूप में विभाजित हो जाती हैं। सकलादेश में प्रत्येक धर्म की अपेक्षा सप्तभंगी होती है। १. स्यात् अस्त्येव जीवः, २. स्यात् नास्त्येव जीवः, ३. स्यात् अवक्तव्य एव जीवः, ४. स्यादस्ति च नास्ति च, ५. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यश्च, ६. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यश्च, ७. स्यात् अस्ति नास्ति च अवक्तव्यश्च। विकलादेश में भी सप्तभंगी

होती है। गुणभेदक अंशों में क्रम, यौगपद तथा क्रमयौग-पद दोनों से विवक्षावश विकलादेश होते हैं।[९] जब अस्तित्व तथा नास्तित्व आदि धर्मों की देश काल आदि के भेद से कथन की इच्छा है तब अस्तित्व आदि रूप एक ही शब्द की नास्तित्व आदि रूप अनेक धर्मों के बोधन करने में शक्ति न होने से नियत पूर्वापरभाव वा अनुक्रम से जो निरूपण है उसको 'क्रम' कहते हैं। और जब उन्ही अस्तित्व आदि धर्मों की काल आदि द्वारा अभेद से वृत्ति कही जाती है तब एक अस्तित्व आदि शब्द से भी अस्तित्व आदि रूप एक धर्म के बोधन के उपलक्षण से उस वस्तुरूपता को प्राप्त जितने धर्म हैं उनका प्रतिपादन एक समय में सम्भव है, इस प्रकार से जो वस्तु के स्वरूप का निरूपण है उसको यौगपद्य कहते हैं।[१०] प्रथम और द्वितीय भग में स्वतन्त्र क्रम, तीसरे में यौगपद्य, चौथे में संयुक्त रूप, पाँचवें और छठे भंग में स्वतन्त्र क्रम के साथ यौगपद्य तथा सातवें भंग में संयुक्त क्रम और यौगपद्य है। सर्व सामान्य आदि किसी एक द्रव्यार्थ दृष्टि से 'स्यादस्त्येव आत्मा' यह पहला विकला देश है। इस भंग में अन्य धर्म यद्यपि वस्तु में विद्यमान हैं तो भी कालादि की अपेक्षा भेद विवक्षा होने से शब्द वाच्य त्वेन स्वीकृत नही है। अत. न उनका विधान ही है और न प्रतिषेध।[११]

एक धर्म के विधि निषेध की विवक्षा से सात ही भंग होते हैं क्योंकि प्रश्न के भी सात ही प्रकार होते हैं और प्रश्नों के अनुसार ही सप्तभंगी होती है। जिज्ञासा सात प्रकार की होने से प्रश्न भी सात प्रकार के होते हैं तथा जिज्ञासा भी सात प्रकार की होती है क्योंकि संशय सात प्रकार के होते हैं।[१२] सप्तभंगी का विकास दार्शनिक क्षेत्र में हुआ अत उसका उपयोग भी उसी क्षेत्र में होना स्वाभाविक है। स्याद्वाद चूंकि विभिन्न दृष्टिकोणों को उचित रीति से समन्वयात्मक शैली में व्यवस्थित करके पूर्ण वस्तु-स्वरूप का प्रकाशन करता है अतः उसका फलित सप्त-भंगीवाद भी प्रयोजन का साधन है।[१३] स्वामी समन्तभद्र ने अपने आप्तमीमासा नामक प्रकरण में अपने समय के सदैकान्तवादी[१४] सांख्य, असदैकान्तवादी[१५] माध्यमिक, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक[१६] और अवक्तव्येकान्तवादी[१७] बौद्ध का निराकरण करके आदि ४ भंगों का ही उपयोग किया है और शेष तीन भंगों के उपयोग का सूचनामात्र भर दिया है। आप्तमीमांसा पर अष्टशती नामक भाष्य के रचयिता अकलंक देव ने और उनके व्याख्याकार विद्यानन्द ने शेष तीन भंगों का उपयोग करते हुए शंकर के अनिवर्च-नीयवाद को सदवक्तव्य, बौद्धों के अन्यापोहवाद को असद-वक्तव्य और यौग के पदार्थवाद को एक सदसदवक्तव्य बतलाया है और इस तरह सप्तभंगी के सात भंगों के द्वारा दार्शनिक क्षेत्र के मन्तव्यों को संग्रहीत किया है। वचनात्मक स्याद्वाद श्रुत के द्वारा जीवादि की प्रत्येक पर्याय सप्तभङ्गी रूप से जानी जाती है।[१८] स्यात् शब्द का अर्थ कथंचित है जो एकांत का निषेध और अनेकांत का प्रकाश करता है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य है, अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य नहीं है, स्व पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य है और नहीं है, और स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से युगपद् कहे जाने की अपेक्षा अर्थात नहीं कहा जा सकता, द्रव्य अवक्तव्य है, स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और युगपद् स्वपर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की अपेक्षा द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है, स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य है और नही है तथा अवक्तव्य है।[१९] विधि निषेध की मुख्यता गौणता करके यह सप्तभंगी वाणी 'स्यात्' पद रूप सत्यमंत्र से एकान्तरूप छोटे नामरूपी विषमोह को दूर करती है।[२०] तत्व न तो सन्मात्र सत्ताद्वैत रूप है और न असन्मात्र सर्वथा अभाव रूप है, क्योंकि परस्पर निरपेक्ष सत्तत्व और असत्तत्व दिखाई नहीं पड़ता—किसी भी प्रमाण से उपलब्ध न होने के कारण उसका होना असम्भव है। हाँ सत्वासत्व से विभिन्न परस्परापेक्षरूप तत्व जरूर देखा जाता है और वह उपाधि के स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप तथा परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप विशेषणों के भेद से है अर्थात सम्पूर्ण तत्व स्यात् सत् रूप ही है। स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा, स्यात् असत् रूप ही है, पर रूपादि चतुष्टय की अपेक्षा, स्यात् उभयरूप ही है, स्वपर-रूपादि चतुष्टय द्वय के क्रमार्पणा की अपेक्षा, स्यात् अवा-च्यरूप ही है। स्वपररूपादि चतुष्टय द्वय के सहार्पण की अपेक्षा, स्यातसदवाच्यरूप ही है स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा तथा युगपत्स्वरूपादि चतुष्टयों के कथन की अशक्ति

की अपेक्षा स्यात् असद्वाच्यरूप ही है, पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा तथा स्वपररूपादि चतुष्टयों के युगपद् कहने की अशक्ति की अपेक्षा, और स्याद-सदसदवाच्यरूप है। क्रमार्पित स्वरूपादि चतुष्टय द्वय की अपेक्षा तथा सहार्पित उक्त चतुष्टय द्वय की अपेक्षा। इस तरह तत्व सत् असत् आदि विमिश्रित देखा जाता है।[१०] स्वयंभूस्तोत्र में आचार्य समंतभद्र ने सुविधिनाथ की स्तुति करते हुए कहा है कि आपने अपने ज्ञान तेज से उस प्रमाण सिद्ध तत्व का प्रणयन किया है जो सत्, असत् आदि रूप विवक्षिताविवक्षित स्वभाव को लिये हुये हैं और एकान्त दृष्टि का प्रतिषेधक है। सम्यक् अनुभूत तत्व का प्रतिपादक 'तदतत्स्वभाव' जैसा पद आपसे भिन्न मत रखने वाले दूसरे मत प्रवर्तको के द्वारा प्रणीत नहीं हुआ है।[११] जैन शासन में वस्तु कथचित् सद् ही है, कथञ्चिद् असद् ही है इस प्रकार अपेक्षाभेद से वस्तु उभयात्मक और अवाच्य भी है। नय की अपेक्षा से वस्तु सत् आदि रूप है सर्वथा नहीं।[१२] अनेकांत में भी सप्तभङ्गी अवतरित होती है।[१३] यथा स्यादेकान्त, स्यादनेकान्त, स्यादुभय, स्यादवक्तव्य, स्यादेकान्त अवक्तव्य, स्यादनेकान्त अवक्तव्य और स्यादेकान्त अनेकान्त अवक्तव्य। ये भङ्ग प्रमाण और नय की अपेक्षा से घटित होते हैं। एकान्त दो प्रकार से हैं, सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त अनेकान्त भी दो प्रकार का है—सम्यक् अनेकांत और मिथ्या अनेकान्त। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु से एक देश को हेतु विशेष की सामर्थ्य की अपेक्षा से ग्रहण करने वाला सम्यक् एकान्त है और एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य सब धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध प्रतिपक्षी अनेक धर्मों का निरूपण करने वाला सम्यक् अनेकान्त है। तत् और अतत्स्वभाव वाली वस्तु से शून्य काल्पनिक अनेक धर्मात्मक जो कोरा वाग् जाल है वह मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक् एकान्त को नय कहते हैं और सम्यक् अनेकान्त को प्रमाण कहते हैं। नय की अपेक्षा से एकान्त होता है क्योंकि एक ही धर्म का निश्चय करने की ओर उसका झुकाव होता है और प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त होता है क्योंकि वह अनेक निश्चयों का आधार है। यदि अनेकान्त को अनेकान्त रूप ही माना जाय और एकान्त को सर्वथा न माना जाय तो एकान्त का अभाव होने से एकान्तों के समूह रूप अनेकान्त का भी अभाव हो जाये जैसे शाखा, व पुष्प, आदि के अभाव में वृक्ष का अभाव अनिवार्य है 'तथा' यदि एकान्त को ही माना जाय तो अविनाभावी इतर सब धर्मों का निरूपण करने के कारण प्रकृत धर्म का भी लोप हो जाने से सर्वलोप का प्रसग होता है इस कारण अनेकान्त में सप्तभङ्गी है।

संदर्भ-सूची

१. जैन दर्शन—प्रो० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य पृ४९८।
२. तत्वार्थ श्लोक वा० सूत्र १-६ पृ ९२८।
३. प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभङ्गी। —तत्वार्थ राजवा० १-६ पृ० ३३
४. प्रवचनसार गाथा २।२३।
५. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं। दव्व खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि। पंचास्ति० १४।
६. तत्वार्थवार्तिक पृ० ३५३, पृ० ३१।
७. अष्टसहस्री पृ० १२५।
८. उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ। स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा॥ लघीयस्त्र-३२।
९. तत्वार्थवार्तिक सं. प्रो. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ४।४२
१० तत्वार्थ वार्तिक ४।४२।
११. सप्तभङ्गी तरंगिणी—विमलदास, प्र० रायचन्द्र शास्त्र माला। पृ० ३३।
१२. तत्वार्थ श्लोक वार्तिक पृ० १३२।
१३. जैन न्याय—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री पृ० ३२५-३२६
१४. आप्तमीमांसा का० ९-११।
१५. वही का० १२।
१६-१७. वही का० १२।
१७. तत्वार्थ वार्तिक—सं० प्रो० महेन्द्रकुमार ४।४२ हि० पृ० ४२८।
१८. समयसार—स्याद्वाद अधिकार, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन दिल्ली पृ० ५३८।

(शेष पृ० १४ पर)

क्रमागत :—

विश्व शांति में भ० महावीर के सिद्धान्तों की उपादेयता

□ कु० पुखराज जैन

भौतिक सुख सुविधाओं के बीच पलने वाला व्यक्ति संतप्त है, हताश है भौतिक सुख-सुविधायें क्षणिक हैं इसलिए प्रति समय वह व्यक्ति अपनी मौत का अनुभव कर रहा है लेकिन उसे इच्छा है जीने की, दौड़ने की बजाय कुछ पल ठहरने की, जिससे उसकी सांस न फूलने पाए जिससे वह भावी जीवन का रास्ता तय करने के लिए शक्ति जुटा सके। व्यक्ति को युद्ध की दुनियां से निकालकर सहज सुख शान्ति के संसार मे प्रतिष्ठित करते हैं महावीर के सिद्धांत। इन सिद्धांतों को जीने से व्यक्ति असुरक्षित न रहकर अभय व निर्भार होता जा रहा है।

साथ ही हताश, दिग्भ्रमित व्यक्ति को सार्थक व सुखपूर्ण जीवन जीने की कला (मार्ग) भी महावीर के सिद्धान्त बताते हैं। महावीर जिन धर्म मय हैं जिन वाणी के शब्दों से महावीर के अङ्गों-प्रत्यङ्गों का निर्माण हुआ है; दूसरी ओर सारी ही जिनवाणी का निर्माण तीर्थंकर महावीर की देशना से हुआ है। इसलिए महावीर के सिद्धांतों के साथ-साथ जैन धर्म के सिद्धांतों का उल्लेख आये तो वह प्रसंग वश होगा।

यदि जैन धर्म एवं दर्शन के सिद्धांतों को आत्मसात किया जाये तो न केवल विश्वशांति स्थापित हो सकेगी वरन् सच्चे अर्थों में यह पृथ्वी मनुष्य के लिए जीने योग्य बन सकेगी। राधाकृष्णन ने तो यहां तक माना कि वे इतिहास के सच्चे महापुरुष थे। प्राचीन भारत के निर्माण में भगवान महावीर का स्थान बहुत ऊँचा था और आधुनिक भारत व आधुनिक मानव के निर्माण में जैन सिद्धांत आज भी सहायक सिद्ध हो सकते। प्रश्न उठता है हमारे धर्म का स्वरूप कैसा हो? हमारा दर्शन ऐसा हो जो मानव मात्र को सतुष्ट कर सके। उसे शांति एवं सौहार्द का अमोघ मंत्र दे सके। इसके लिए मानवीय मूल्यों की स्थापना करनी होगी भाग्यवाद के स्थान पर कर्मवाद की प्रतिष्ठा करनी होगी।

धर्म एवं दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो प्राणी मात्र को प्रभावित कर सके। एवं उसे अपने ही प्रयत्नों के बल पर विकास करने का मार्ग दिखा सके। ऐसा दर्शन नहीं होना चाहिए जो आदमी आदमी के बीच दिवारें खड़ी करे। धर्म एवं दर्शन को आधुनिक मूल्यों, स्वतन्त्रता समानता, विश्व बन्धुत्व तथा आधुनिक वैज्ञानिक निष्कर्षों का विरोधी होना चाहिये।

इन सभी तत्वों का सुन्दर समन्वय जैन धर्म एवं दर्शन में देखने को मिलता है। सामाजिक समता एवं एकता की दृष्टि से श्रमण परम्परा का अप्रतिम महत्व है। इस परम्परा मे मानव को मानव के रूप में देखा गया। मानव महिमा का जितना जोरदार समर्थन जैन दर्शन में हुआ है वह अन्य किसी दर्शन में नहीं। भगवान महावीर ने आत्मा की स्व-

---

(पृ० १३ का शेषांश)

१९. प्रवचनसार—प्र० रायचन्द्र जैन शास्त्र माला पृ०१६२

२०. न सच्च नाऽसच्च न दृष्टमेक
मात्मान्तरं सर्वनिषेध गम्यम्।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधि भेदात्
स्वप्नेऽपि नैतत्वदृषेः, परेषाम् ॥३२
युक्त्यनुशासनः समन्तभद्र पृ० ३६-३७ !

२१. एकान्तदृष्टि प्रतिषेधितत्व प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभाव।
त्वया प्रणीतं सुविधे स्वधाम्न नैतत्समालीढ़
पदंत्वदन्यै।
स्वयम्भूस्तोत्र ॥६ पृ० ३६।

२२. कथञ्चिद् ते सदेवेष्टं कथंचिदसदैव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगाच्च सर्वथा ॥?-१४॥
आप्तमीमांसा तत्वदीपिका पृ० १४२।

२३. तत्वार्थवर्तिक पृ० ३५।

—बिजनौर

तन्त्रता की प्रजातंत्रात्मक घोषणा की। उन्होंने एक बहुमूल्य सिद्धांत का शंखनाद किया, अस्तित्व की दृष्टि से सभी जीव स्वतन्त्र व आत्मशक्ति की अपेक्षा समान है। शारीरिक एवं मानसिक विषमताओं का कारण कर्म है। जीव अपने ही कारण से संसारी है और अपने ही कारण मुक्त हो जायेगा।

भगवान मानवतावादी थे। वे जाति को मूल्य नही देते थे। सम्प्रदाय व जाति से हटकर उनका धर्म राजमार्ग से जाता है। इस राजमार्ग पर सभी को चलने का समान रूप में अधिकार है। महावीर के धर्म को हम जोड़ने वाला धर्म कहेंगे, यह विभिन्न जातियों एवं धर्मों को जोड़ता है। सबको एक साथ मिलकर चलने, रहने व जीने का अधिकार देता है। यह प्राणी मात्र का धर्म है सभी प्राणियों मे एक जैसे सुख- दु ख की बात करने वाला धर्म है।

भगवान ने समस्त जीवो पर मैत्री भाव रखने एव समस्त ससार को समभाव से देखने का निर्देश दिया। उन्होने कहा जाति की कोई विशेषता नही। प्राणी मात्र आत्मतुल्य है इसलिये सबके प्रति मैत्री भाव रखे। यह आन्तरिक समानता का धर्म है। अहिंसा धर्म का अनुयायी वही बनता है जिसके अन्त:बाह्य दोनो समता पर अवलम्बित हो।

अखिल विश्व के पाप समूह एव अशांति के कारणों को यदि वर्गीकरण किया जाय तो पांच होगे। हिंसा झूठ, चोरी, कुशील व (अत्यधिक) परिग्रह। आज जो सर्वत्र अशांति व्याप्त है वह केवल इन पाच अनैतिक कारणो से है। बहुमुखी पतन एवं अशाति की विभीषिका मे अहिंसादि पाँचों सिद्धांत अवश्य ही सम मार्ग का प्रदर्शन करते हैं। उनके सर्वोदयी आदर्श सिद्धांत स्वस्थ समाज राष्ट्र तथा विश्व का निर्माण कर सर्वत्र शान्ति स्थापित कर सकते हैं इसमें सन्देह नही।

अहिंसा :—जीवन का विधानात्मक मूल्य—भगवान महावीर ने अहिंसा के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति के चित्त को बहुत गहरे से प्रभावित किया। जब व्यक्ति सभी जीवों को सम भाव से देखता है तो राग-द्वेष का विनाश हो जाता है सम भाव एवं आत्मतुल्यता की दृष्टि का विकास होने पर व्यक्ति अहिंसक अपने आप ही जाता है। अहिंसा केवल निवृति परक साधना नहीं, यह व्यक्ति को सही रूप में सामाजिक बनाने का अमोघ मन्त्र है। अहिंसा व्यक्ति के मानस से सीधा सम्बन्ध रखती है मानसिक हिंसा का दोष द्रव्य हिंसा से कम नही। हिंसा से पाशविकता का जन्म होता है अहिंसा से मानवीयता व सामाजिकता का।

भीतर मे चलने व पलने वाली हिंसा बाहर की हिंसा से कही अधिक भीषण व खतरनाक होती है। बाहर की हिंसा हमे उतना नही जलाती जितनी की भीतर की हिंसा पल-पल मे तिल-तिलकर हमे जलाती है। वर्तमान में चलने वाले शीत युद्ध इसलिए सबसे अधिक खतरनाक तथा भीषण है कि वे हमें ही नही हमारी संस्कृति को भी धीरे-धीरे मिटाते जा रहे हैं, बाहर से भले ही वे क्रूर व दर्दनाक न दिखते हो किन्तु उनमें निरन्तर हिंसा का लावा धधकता रहता है।

हम नही जानते कि आने वाला कल कैसा होगा, किन्तु हमें यह प्रत्यक्ष रूप मे दिखलाई पड़ रहा है कि हिंसा के नित नए औजार बनते जा रहे हैं। इनके प्रयोग करने के तरीके बदलते जा रहे हैं, जब तक राग-द्वेष की भट्टी जलती रहेगी तब तक मनुष्य दमन, शोषण व अत्याचार से विमुक्त नही हो सकता। अध्यात्म ही उसे सुख व शांति प्रदान कर सकता है। जिस किसी भी क्रिया के साथ राग द्वेष मूलक आवेश होगा वहाँ नियम से प्रतिक्रिया होगी और प्रतिक्रिया पुन. प्रतिक्रिया को जन्म देगी। इस प्रकार हिंसा युद्ध-संघर्ष तथा अशांति से शांति व सुख मूलक समाधान नही होगा। यदि हम वास्तविक शांति चाहते हैं तो अहिंसा व साम्यभाव के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

जहाँ राग-द्वेष का भाव उत्पन्न होता है वहां हिंसा हुए बिना नही रहती इसलिए यदि हम वस्तुत: समस्या का समाधान करना चाहते हैं तो सदा सदा के लिए यही अभ्यास करना चाहिये कि राग-द्वेष किसी प्रकार उत्पन्न न हों।

अहिंसा व समता एक सिक्के के दो पहलू हैं मन में यदि अहिंसा का भाव होगा तो जगत के सभी जीवों पर समदृष्टि हुए बिना न रहेगी। उसमें छोटे बड़े के भेद का

अवकाश नहीं होगा। सम का अर्थ है मन की तराजू के पलड़ों का समान रहना (न राग न द्वेष, न आकर्षण न विकर्षण)। जैन धर्म प्राणी मात्र को एक आंख से देखता है, चींटी से लेकर हाथी और देव से लेकर दानव। यहां तक कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव (पृथ्वीकाय, जलकाय आदि) को भी प्राणों के विछोह के समय दुःख का वेदन होता है। समता का यह आदर्श आज के संसार को बचाने में समर्थ है, यह शीतल जल का कार्य कर उस धधकती ज्वाला को बुझा सकता है।

'परस्परोपग्रह जीवनाम्' का सन्देश हमें महावीर ने दिया। इस सन्देश मे सभी जीवों के साथ उपकार करने की एक साथ जीवन-यापन करने की बात कही। अहिंसा के पौधे से सहअस्तित्व का पुष्प पल्लवित होता है आज के विश्व में जब अहिंसा की भावना ह्रास को प्राप्त हो रही है तो स्वाभाविक रूप से यह सहअस्तित्व का पुष्प पूर्ण विकसित नहीं हो रहा। विश्व इस पुष्प की सुवास से बहुत कुछ रीता होता जा रहा है। आज के तथाकथित बड़े राष्ट्रों को यह सहन नही हो पा रहा है कि छोटे राष्ट्र अधिकाधिक विकास करके उनकी लाइन में खड़े हों क्योंकि इससे उनके निहित स्वार्थ टकराते हैं, छोटे राष्ट्रों पर बड़े राष्ट्रों का वह दबदबा नहीं रह पाता।

आज पाश्चात्य सभ्यता के मर्यादा विहीन जीवन-मूल्य सम्पूर्ण विश्व को सक्रामक रोग की तरह ग्रसते जा रहे हैं। आज के व्यक्ति के लिए संयम व मर्यादा का कोई मूल्य नहीं। वह वासना के लिए नारी का भोग करता है उसे भोग सामग्री के अतिरिक्त कुछ नही समझता। यह नारी का परिग्रह है, परिग्रह धन का ही नही, मनुष्यों का भी देखने में आता है (दासता के रूप में) और नारी का परिग्रह भोग व दहेज के रूप में होता है। दहेज कम लाने पर उसे जीवित जलाया जाता है। कामुकता व वासना की पंक से निकलने के लिए जैन धर्म का ब्रह्मचर्य सहायक है। ब्रह्मचर्य संयम सिखाता है लेकिन उसमें नारी-प्रेम व नारी-सम्मान गर्भित है। हम पुराणों को उठाकर देखें तो विदित होगा कि महापुरुषों ने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में राज्य-कार्य करते हुए पंचेन्द्रिय सुख भोगे पर उनमें मोहित नही हुए। आत्म-बोध होते ही समस्त वैभव विलास को जीर्ण तृणवत छोड़कर बनवासी हो गये।

आज हम कितने उन्मुक्त, स्वच्छन्द व मर्यादाहीन हो गये हैं किसी से छिपा नही है संसार में अशान्ति का एक बड़ा कारण यही अनुशासनहीनता है। अनुशासन आत्म-संयम जैन धर्म का परम आदर्श है। ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करने से व्यक्ति में अनुशासन व संयम का दीप प्रज्वलित हो सकता है।

आज विश्व में अशांति का एक प्रमुख कारण परिग्रह है। परिग्रह हमें अंधा बनाता है। स्वार्थी बनाकर केवल अपने लिए धन संग्रह के लिए प्रेरित करता है। अधिकाधिक संग्रह से मूल्य बढ़कर मुद्रा स्फीति की समस्याएँ पैदा होनी है। बड़े देश छोटे देशों का शोषण करते हैं। शोषण की इस प्रवृति को; परिग्रह की इस दुर्भावना को अपरिग्रह अर्थात आवश्यकतानुसार परिग्रह से नष्ट किया जा सकता है और संसार में विश्वव्यापी शांति स्थापित की जा सकती है। अहिंसक व्यक्ति अपरिग्रह वादी होता है, अहिंसा की भावना से प्रेरित व्यक्ति अपनी आवश्यकता को उसी सीमा तक बढ़ाता है जिसमें किसी अन्य प्राणी के हितों को आघात न पहुचे। केवल अधिक उत्पादन मात्र से हमारी सामाजिक समस्यायें नही सुलझ सकती। व्यक्ति को अन्दर से बदलना होगा, उसकी कामनाओं, इच्छाओं को सीमित करना होगा। कामनाओं के नियन्त्रण की शक्ति या तो धर्म मे है या शासन की कठोर व्यवस्था में। धर्म का अनुशासन आत्मानुशासन है, इसके प्रतिबन्ध प्रसन्नता देने वाले होते हैं। संयम परिलौकिक आनन्द के लिए नहीं, वर्तमान जीवन को सुखी बनाने के लिए भी आवश्यक है। पाश्चात्य सभ्यता निर्बाध भोगों में रत है फिर भी वहां जीवन में सन्त्रास, अविश्वास, वितृष्णा एवं कुंठायें हैं।

स्वस्थ समाज व राष्ट्र के निर्माण के लिए पारस्परिक स्नेह सौजन्य तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है। महावीर ने नवीन विचारशैली का आविष्कार किया जिसे अनेकांत कहा गया। इसे वैचारिक अहिंसा भी नाम दिया जा सकता है। अहिंसक व्यक्ति आग्रही नही होता। अनेकांत व्यक्ति के अहंकार की झक-

झोरता है उसकी आत्यान्तिक दृष्टि के सामने प्रश्न चिन्ह लगाता है। इस विचार शैली में उदारता, व्यापकता, सहिष्णुता है जिससे दूसरे के दृष्टिकोण को समझा जा सके। इससे समझौते की भावना उत्पन्न होगी। दूसरे के प्रति आदर व प्रामाणिकता का भाव उत्पन्न होगा।

स्यादवाद अनेकांत का समर्थक उपादान है। सत्य कथन की वैज्ञानिक पद्धति है। आग्रहों के दायरों में सिमटा जो मानव था उसकी अँधेरी कोठरी को अनेकांतवाद ने अनन्य लक्षण सम्पन्न सत्य प्रकाश से आलोकित किया, आग्रह एवं असहिष्णुता के दरवाजों को स्याद्वाद् की चाबी ने खोल दिया। यदि हम प्रजातन्त्र मे वैज्ञानिक पद्धति से सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो उसका साधन अनेकांत दृष्टि व स्याद्वाद प्रणाली होगी।

जैन शाश्वत जीवन पद्धति तथा जड एव चेतन के रहस्यो को जानकर आत्मानुसधान की प्रक्रिया है। व्यक्ति स्वयं अपने प्रयासो से ऊपर उठता है, यह एक क्रान्तिकारी विचार है। इसको यदि हम आधुनिक सन्दर्भो मे व्याख्यापित कर सके तो निश्चित रूप से विश्व के ऐसे समस्त प्राणी जो धर्म और दर्शन से निरन्तर दूर होते जा रहे है इनसे जुड सकते है।

भगवान महावीर का दूसरा क्रान्तिकारी विचार है कि मनुष्य जन्म से नही अपितु आचरण से महान बनता है इस सिद्धान्त के आधार पर उन्होने मनुष्य समाज की दीवारो को तोड फेका। आज भी मनुष्य मनुष्य के बीच दीवारो को तोड़ डालता है। इस सिद्धान्त से जातिगत विष जिसने समाज की शान्ति मे एक विष घोल रखा है, दूर हो सकता है। तीसरा महत्वपुर्ण विचार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति समान है, ऊचा उठ सकता है और परमात्मा बन सकता है। महावीर ने मानवीय महिमा का जोरदार समर्थन करते हुए कहा कि जिस साधक का मन धर्म में रमण करता है उसे देव भी नमस्कार करते है। इसे यदि आध्यत्मिक भाषा मे कहा जाए तो सम्यक दृष्टि श्रावक को देवताओं के राजा इन्द्र नमस्कार करते हैं, महिमावन्त होते हैं। व्यक्ति अपनी ही जीवन साधना द्वारा इतना विकास कर सकता है कि पामर आत्मा परमात्मा बन जाता है, तीन लोक का स्वामी बनकर अनन्तकाल के लिए अनन्त सुख का पान करता है।

जैन तीर्थङ्करों का इतिहास व जीवन आकाश से पृथ्वी पर उतरने का नही अपितु पृथ्वी से ही आकाश की ओर जाने का उपक्रम है। नारायण को नर का शरीर धारण नही करना पड़ता वरन् नर ही नारायण बनता है।

महावीर ने अपनी जीवन साधना द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रमाण दिया कि यदि वह साधना कर सके, राग, द्वेष को छोड सके तो कोई ऐसा कारण नही कि वह प्रगति नही कर सके। जब प्रत्येक व्यक्ति प्रगति कर सकता है और तत्वत. कोई किसी की प्रगति मे बाधक या साधक नही तो फिर सघर्ष का प्रश्न ही कहां उठता है। इस तरह उन्होने एक सामाजिक दर्शन दिया।

व्यक्तिगत स्तर पर आचार के लिए पाच अणुव्रत, विचार के लिए अनेकात व वाणी के लिए स्याद्वाद का जीवन में समावेश हो। सामाजिक स्तर पर विचार सहिष्णुता समान अधिकार व्यक्ति स्वातन्त्र्य की स्वीकृति आतरिक मामलो मे हस्तक्षेप आवश्यक है। समाज रचना ऊपर से लदनी नही चाहिए। किन्तु उसका विकास सहयोग पद्धति से सामाजिक भावना की भूमि पर होना चाहिये तभी सर्वोदयी समाज की रचना हो सकती है। जब तक इन सर्वसमता मूलक अहिंसक आधारों पर समाज रचना का प्रयास न होगा तब तक विश्व शान्ति स्थापित न हो सकेगी। तीर्थङ्कर महावीर और बौधिसत्व बुद्ध के देश भारत मे पंचशील व गुट निरपेक्षता की नीति अपनायी है और इसके पीछे भावना है मानव के सम्मान व अहिंसा मूलक आत्मौपम्य की हार्दिक श्रद्धा। जीवन का सामन्जस्य, नव समाज निर्माण और विश्व शांति का यही मूल मन्त्र है, इसका नाम लिए बिना कोई विश्व शांति की बात भी नही कर सकता।

—२ घ २७, जवाहर नगर,
जयपुर

अध्यात्म-दृष्टि—

विवेकी विद्वानों के लिए

'अपदेस संत मज्झं'

□ महाचन्द्र जैन

समयसार ग्रन्थराज की पन्द्रहवीं गाथा के विषय में अनेक विद्वानों के विभिन्न विचार दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जिन शासन के समीचीन सिद्धान्त का अपलाप न हो इसलिए इस गाथा के सम्बन्ध मे विवेकी विद्वानों के विचारार्थ कुछ तथ्य रख रहा हूं, आशा है इन पर अवश्य ही सर्वांगीण रूप से चिन्तन किया जावेगा।

पन्द्रहवीं गाथा वस्तुपरक न होकर प्रयोजन परक गाथा है तथा इसका प्रयोजन भेद कल्पना निरपेक्ष निरंश अखण्ड निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव का अनुभव करना है।

कुछ विद्वान इस गाथा मे आये हुए अपदेस शब्द का अर्थ अप्रदेश करके आत्मा को अप्रदेशी सिद्ध करने मे लगे हुए हैं तथा कुछ विद्वान आगम अनुसार आत्मा के असंख्यात प्रदेशी होने के कारण इसका निषेध कर रहे है, जबकि आत्मा के अप्रदेशी अथवा असख्यात प्रदेशी होने का कथन तो वास्तव में पर्याय अपेक्षा से होता ही है। पर्याय भेद को गौण करके निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव का अनुभव करने के लिए पर्याय भेद का निषेध तो श्रीमद कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने छठवीं गाथा में प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नही है कह कर किया था क्योंकि ये दोनो अवस्थायें पर्याय अपेक्षा से कहने में आती है। पर्याय पर की अपेक्षा से प्रमत्त तथा स्व की अपेक्षा से अप्रमत कहलाती है लेकिन फिर भी शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव निरपेक्ष ही है, वह तो वही है।

इसी प्रकार असंख्यात प्रदेशी और अप्रदेशी अवस्था को भी 'छठवीं गाथा के अनुसार घटित किया जावे तो इसका तात्पर्य होता है कि आत्मा असंख्यात प्रदेशी भी नही है और अप्रदेशी भी नही है क्योंकि ये दोनों ही अवस्थायें पर्याय अपर्याय अपेक्षा से कहने में आती है अर्थात असंख्यात प्रदेशी और अप्रदेशी अवस्था का पर्याय भेद ही है। प्रदेशत्व गुण की व्यजन पर्याय पर अपेक्षा (आकाश द्रव्य के प्रदेशो की अपेक्षा) से तो असंख्यात प्रदेशी है तथा स्वयं अपनी अपेक्षा से अप्रदेशी है लेकिन फिर भी शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव शाश्वत निरपेक्ष ही है, वह तो वही है।

आचार्य महाराज ने पर्याय भेदो का छठवी गाथा मे निषेध करने के पश्चात् सातवे गाथा में गुण भेदो का भी निषेध करके यह सिद्ध कर दिया कि आत्मा मे अनन्त गुणों का भेद भी नही है तब फिर पन्द्रहवी गाथा अखण्ड और निरश निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव के अनुभव के लिए निर्देश है उसमें असख्यात प्रदेशी और अप्रदेशी अवस्था की चर्चा करना, व्यर्थ की चर्चा नही है तो और क्या है?

पन्द्रहवी गाथा मे असख्यात प्रदेशी और अप्रदेशीपने का कथन नही होने पर भी जो खीचतान करके जबरदस्ती से अपदेस शब्द का अर्थ अप्रदेश करते हैं, वह इस गाथा के तात्पर्य के साथ किस प्रकार से संगत बैठ सकती है, यह विचारणीय है। इस गाथा में प्रयुक्त "अप्रदेश संत मज्झ" का अर्थ अप्रदेशी शान्त अंतस्तत्त्व मे करने से क्षेत्र अपेक्षा कथन हो जाता है जो कि भेद रूप विकल्पात्मक अवस्था का ही कथन है। इसी प्रकार सत शब्द का अर्थ शांत करना भी तर्क सगत नही है क्योकि सत का वास्तविक अर्थ तो अत सहित होता है, शात नही इसलिए यहा वास्तव में या तो किसी के अन्त का अथवा किसी के अन्त सहित विषय का विचार करना चाहिए।

"अपदेश संतमज्झं" का अर्थ अप्रदेश के अन्त सहित अन्तस्तत्व में करना भी यहां संगत नही है अतः अपदेस शब्द में अप को देश का उपसर्ग मान कर (अपमान और अपराध शब्द के अर्थ की तरह से) देश से परे अपदेस समझा जाय तो अधिक युक्ति संगत होगा, तब इसका अर्थ (स्व क्षे—स्व स्थान—स्व पद) से परे अपदेश (पर क्षेत्र—पर स्थान—पर पद) के अन्त सहित अन्तस्तत्व में होता है और यह अर्थ अप्रदेशी शांत अन्तस्तत्व मे अथवा अप्रदेश के अन्त सहित अन्तस्तत्व में की अपेक्षा निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव की स्वानुभूति के अधिक निकट होने से इसकी सही समझ पूर्वक अन्तस्तत्व का आगम अनुसार युक्ति एवं तर्क सहित सही अनुमान होकर स्वानुभव की प्राप्ति हो सकती है।

अपदेस (पर पद) के अन्त सहित निज पद (अंतस्तत्व) में का विश्लेषण करने पर यह अपदेस क्या है प्रश्न उठना भी स्वाभाविक ही है। इस प्रश्न का समाधान सम्यक अनेकान्त के द्वारा किया जावे तो निज पद (अन्तस्तत्व) रूप ज्ञायक स्वभाव पर की अपेक्षा से ज्ञेयाकार तथा स्व की अपेक्षा से ज्ञानाकार रूप है। तथा ज्ञेयाकार मे ज्ञेय का विकल्प (उपचार) करने के कारण पर पद का आरोप आता है अर्थात ज्ञेयाकार ज्ञान स्वय स्वभाव का परिणमन होने पर भी ज्ञेय का विकल्प (निक्षेप) होने के कारण इसमें पर पद (अपदेश) का उपचार (विकल्प-निक्षेप) किया जाता है। तात्पर्य यही है कि ज्ञेयाकार ज्ञान, स्वयं ज्ञान स्वभाव का ही परिणमन होने से वास्तव में ज्ञान स्वभाव का व्यवहार तो अवश्य है लेकिन ज्ञान स्वभाव का उपचार (विकल्प-निक्षेप) नही होने के कारण वास्तविक पर पद (अपदेश) नही हो सकता अत: ज्ञेयाकार ज्ञान का अन्तरूप अभाव नही मान कर प्रयोजन वश गोण रूप अभाव अर्थात निराभाव ही मानना चाहिए। ज्ञेयाकार ज्ञान प्रति समय बदलते रहने से अन्य अन्य होता रहता है लेकिन ज्ञानाकार ज्ञान शास्वत एक रूप रहने से अनन्य ही है। निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञान स्वभाव का ऐसा ही शास्वत स्वभाव होने के कारण इस अन्यपना और अनन्यपना मे विरोध का सा भ्रम होने पर भी इस सम्यक अनेकान्तस्वरूप ज्ञान स्वभाव मे कोई विरोध नही है क्योंक पर अपेक्षा मे अन्यपना और स्व अपेक्षा से अनन्यपना स्वयं ज्ञान स्वभाव का ही स्वपर प्रकाशक स्वभाव है अर्थात ज्ञान स्वयं को जानता हुआ भी ज्ञेयाकार को भी जानता रहता है, इसलिए ज्ञेयाकार रूप उपचरित पर पद (अपदेश) स्वयं ज्ञान स्वभाव का ही परिणमन होने पर भी ज्ञेय का उपचार अर्थात ज्ञेय का विकल्प होने के कारण ज्ञेयाकार नाम पाता है अत: यह भेद कल्पना की अपेक्षा का ही कथन है लेकिन पंद्रहवीं गाथा तो भेद कल्पना निरपेक्ष स्वभाव निर्देश करने वाला है। उसमें द्रव्य-भेद, क्षेत्र-भेद, काल-भेद तथा भाव-भेद भी नहीं होना चाहिए इसलिए ऐसी भेद कल्पना निरपेक्ष स्वभाव निज अन्तस्तत्व कैसा है यही यह गाथा इंगित कर रही है।

अपदेश संत शब्द मज्झं (अन्तस्तत्व) का विशेषण होने से मज्झं का सूचक है तथा अन्तस्तत्व शब्द स्वयं भी किसी अन्त का सूचक है। जयसेनाचार्य ने अपदेश का स्पष्टीकरण इसी गाथा की टीका में "अपदिश्यतेऽर्थो" येन स भवत्यपदेशः शब्द द्रव्यश्रुतमिति द्वारा किया है अर्थात जिसके द्वारा अर्थ निर्देशित किये जायें सो अपदेश है यह शब्द अर्थात द्रव्य श्रुत है।

टीकाकार आचार्यों के कथन का मिलान करके उनके अनुसार इस गाथा के अर्थ का युक्ति एवं तर्क पूर्वक अनुमान करें तो ज्ञात होता है कि ज्ञायक स्वभाव रूप भाव श्रुत ज्ञान ही ज्ञेय अपेक्षा से ज्ञेयाकार तथा ज्ञान अपेक्षा से ज्ञानाकार होने पर भी यह भेद कल्पना निरपेक्ष भावश्रुतज्ञान रूप निज अन्तस्तत्व का कथन नहीं बन सका क्योंकि इसके भेद करके समझाने पर प्रयोजन वश क्रमवर्ती ज्ञेयाकार रूप विशेष उपचरित पर पद के तिरोभाव का और अक्रमवर्ती ज्ञानाकाररूप निर्मम सामान्य (स्व-पद) के आविर्भाव का अनुमान तो होता है लेकिन ज्ञेयाकार रूप उपचरित पर पद का ही अनुभव करते रहने से ज्ञानाकार रूप स्व पद के स्वाद का अनुभव नहीं होता है क्योंकि ज्ञेयाकार रूप उपचरित पर पद अर्थात ज्ञेय के विकल्प का अनुभव करने वाले के साथ ही साथ भाव श्रुत ज्ञान के विकल्प (उपचार-निक्षेप) रूप द्रव्यश्रुत ज्ञान (अंतर्जल्प एवं बहिर्जल्प रूप शब्द ज्ञान) का भी अविनाभावी निमित्त नैमैत्तिक

सम्बन्ध होने के कारण भ्रमवश भावश्रुत ज्ञान रूप निज अन्तस्तत्व का अनुभव नहीं होकर मात्र भावश्रुत ज्ञान के विकल्प रूप द्रव्य श्रुत ज्ञान अर्थात जल्प रूप शब्द का ही अनुभव होता रहता है कारण जल्प रूप शब्द ज्ञान का उपचार याने विकल्प भी ज्ञेयाकार रूप उपचरित पर पद में ही होता है।

अनादि काल से इस अविनाभावी निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की श्रृङ्खला चालू रहने पर भी ज्ञेयाकार रूप भाव श्रुत ज्ञान द्रव्य श्रुत ज्ञान (जल्प रूप शब्द ज्ञान) का तथा जल्प रूप शब्द ज्ञान (द्रव्य श्रुत ज्ञान) ज्ञेयाकार रूप भाव श्रुत ज्ञान का आपस मे एक दूसरे का निमित होने के कारण एक दूसरे का निर्देश तो अवश्य करते है लेकिन एक दूसरे की उत्पत्ति बिल्कुल भी नही करते अर्थात एक दूसरे के गमक रूप निमित कारण तो अवश्य है लेकिन एक दूसरे के जनक रूप उपादान कारण किंचित भी नही है इसलिए ज्ञेयाकार रूप भाव श्रुत ज्ञान मे द्रव्य श्रुत (जल्प रूप शब्द) का विकल्प होने पर भी द्रव्य श्रुत रूप शब्द (जल्प) का अन्त रूप अभाव होने के कारण यह अन्तस्तत्व रूप भाव श्रुत ज्ञान सदा ही अपदेश के अंत सहित अर्थात द्रव्य श्रुत ज्ञान रूप पद के अन्त सहित याने जल्प रूप शब्द से रहित ही है लेकिन भ्रम वश इससे विपरीत मानता हुआ जीव मिथ्यात्वी होकर स्वयं ही अनन्त के साथ अनुबद्ध करता हुआ अर्थात अनन्तानुबंधी कषाय के कारण महान आकुलित हो रहा है।

भावश्रुत एवं द्रव्य श्रुत के भेद को पडित प्रवर श्री जयचन्द जी छाबड़ा ने समयसार के मंगलाचरण में "शब्द ब्रह्म परब्रह्म के वाचक वाच्य नियोग" कह कर स्पष्ट किया है। इस भेद की यथार्थ समझ होने पर जब उपचरित अपदेश रूप ज्ञेयाकार ज्ञान अर्थात ज्ञान के क्रमवर्ती विशेष का प्रयोजन वश तिरोभाव होता है तब अविनाभावी निमित नैमैत्तिक सम्बन्ध वाले वास्तविक अपदेश रूप द्रव्य श्रुत ज्ञान अर्थात जल्परूप शब्द ज्ञान (भाव श्रुत ज्ञान के विकल्प) का अन्त होकर एकमात्र अक्रमवर्ती तिर्यग सामान्य रूप भावश्रुत अर्थात अन्तस्तत्व रूप निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव ही अनुभव में आता है। यह अवस्था अनिवृतिकरण के समय सहज ही बनती है क्योंकि बाह्य प्रवृति और बाह्य निवृति रूप विकल्प का अन्त होने पर ही अर्थात उपयोग के साथ मन वचन काय की प्रवृति और निवृति के विकल्प का अन्त होने पर ही याने निश्चय त्रिगुप्ति की आंशिक शुरूआत होने पर ही स्वानुभव रूप सेवा धर्म होता है इसलिए त्रिगुप्ति कहो या अनिवृतिकरण कहो एक ही बात है अत: इस पन्द्रहवीं गाथा में अपदेश का वास्तविक अर्थ द्रव्य श्रुत रूप शब्द (अतर्जल्प और बहिर्जल्प रूप शब्द) ही तर्क संगत सही है।

उपरोक्त विवेचन अनुसार इस गाथा का भावार्थ निम्न प्रकार से बनता है। जो अबद्ध स्पष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षण से नियत एवं असंयुक्त आत्मा को ज्ञान के विकल्प रूप द्रव्य श्रुत (बहिर्जल्प और अन्तर्जल्प रूप शब्द) के अन्त सहित अन्तस्तत्व रूप भाव श्रुत ज्ञान में देखता है व ज्ञाता का दृष्टा होने के कारण समस्त जिन शासन को देखता है क्योंकि द्वादशांग वाणी रूपी उपचरित जिन शासन भी भावश्रुत ज्ञान रूपी वास्तविक जिन-शासन का ही निर्देश करने वाली है।

विवेकी विद्वान इस गाथा का वास्तविक अभिप्राय समझ कर इसके अर्थ का निर्णय करके विकल्प रहित अंतस्तत्व में अबद्ध, स्पृष्ट, अनन्य, अविशेष, नियत और असंयुक्त आत्मा के विकल्प का भी अंत करके निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञायक स्वभाव का अनुभव करेंगे इसी भावना के साथ।

—इम्फाल (मनीपुर)

विद्यानुवाद और कैंसर रोग

—वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल, भिषगाचार्य

जैन साहित्य एक सर्वांग साहित्य है। अनेक महाकाव्य जैन कवियों द्वारा लिखे हुए मिलते है। ज्योतिष-शास्त्र मे चन्द्र प्रज्ञप्ति और सूर्य प्रज्ञप्ति जैसे महान ग्रन्थ जेन आचार्यों द्वारा लिखे गये हैं। गणित मे तो ऊचे से ऊचा साहित्य जैन आचार्यों की ही देन है। ठीक इसी तरह आयुर्वेद मे भी जैन विद्वानो द्वारा अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया गया हैं। वाग्भट जो कि आयुर्वेद का महान् ग्रन्थकार हुआ है वह एक जैन विद्वान था, इसको अनेक तथ्यों द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। मत्र शास्त्र मे विद्यानुवाद जैसे महान् ग्रन्थ जैन शास्त्र भण्डारों मे विद्यमान है।

विद्यानुवाद में कैंसर रोग का वर्णन किया गया है, ग्रन्थकार ने कैंसर रोग का नाम ज्वालागर्दभ दिया है। इस रोग का विश्लेषण इस प्रकार किया है—

ज्वाला गर्दभ मनुष्य के शरीर में प्रकट होकर मानों मृत्यु का आह्वान करता है। यह रोग वेगो को रोकने से, प्रकृति के प्रतिकूल पदार्थों का सतत सेवन, ईर्ष्या, द्वेष, काम, मायाचारी आदि कपायो के कारण मन:स्थिति का सन्तुलन अधिक समय तक बिगड़ जाना अधिक धूम्रपान अथवा ऐसे पदार्थों के सेवन से जो शरीर मे अग्नि पिण्डो का निर्माण करते हों—सेवन से उत्पन्न होता है।

उपरोक्त कारणो से शरीर के किसी भी भाग मे एक अग्निपिण्ड का निर्माण होता है, उस अग्निपिण्ड से अग्नि किरणें शरीर के उसी अग में जहाँ वह अग्निपिण्ड पैदा हुआ है, अथवा किसी अन्य स्थान पर अग्निपिण्ड से प्रकट होने वाली किरणें शरीर के उस २ अंग को जलाने लगती हैं। अग्नि किरणें प्रतिक्षण शरीर के उस अंग को जलाती रहती हैं, बस यह ही ज्वालागर्दभ नाम का रोग होता है, इन दाहमान, किरणों की क्रिया-शक्ति को शमन करने के लिए प्रकृति एक ग्रन्थि का निर्माण करती है, दाहमान क्रिया के शमन हेतु ग्रन्थि का आकार बढ़ता जाता है लेकिन अग्नि किरणें शमन नहीं होतीं क्योकि अग्नि किरणे कार्य हैं कारण नही, कारण तो वह अग्निपिण्ड है जिसका उद्गम किसी अन्य स्थान पर हुआ है। दाहमान क्रिया के शमन हेतु प्रकृति अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देती है पर रोग पर विजय नही मिलती। यही कारण है कि कैंसर रोग की ग्रन्थि बढ़ती जाती हैं और सम्पूर्ण शरीर दुर्बल होता जाता है। अग्नि किरणें आगे-आगे और ग्रन्थि पीछे-पीछे चलती रहती है। यदि अग्नि-पिण्ड का नाश हो जावे तो किरणें रुक सकती हैं अन्यथा नही।

अग्नि किरणें इतनी सूक्ष्म होती हैं कि इन्हें देखा जाना भी सम्भव नही है, फिर भी बहुत सूक्ष्म अध्ययन, प्रश्नों द्वारा लक्षणों के द्वारा अग्निपिण्ड का स्थान भी मालूम किया जा सकता है।

ज्वाला गर्दभ आठ प्रकार का होता है :—

(१) कपिल, (२) पिंगल, (३) विजय, (४) कलह-प्रिय, (५) कुम्भकर्ण, (६) विभीषण, (७) चन्द्रहास, (८) दर्दुर।

१. कपिल—यह ज्वालागर्दभ स्तन या उदर में होता है।

२. पिंगल—यह ज्वाला गर्दभ शिर में निकलता है। तथा इसकी चिकित्सा निम्न प्रकार है—

आक की जड, प्रियंग, नाग केसर इन तीनों दवाइयों को चावल के पानी से पीसकर सेवन करे तथा इनका ही लेप करें।

३. विजय—नेत्र मे पैदा होने वाले ज्वाला गर्दभ को विजय नाम से पुकारते हैं। कनेर की जड़ को चावलों के पानी में पीसकर लेप करें तथा सेवन करें।

४. जघादि स्थानों मे पैदा होने वाले ज्वाला गर्दभ का नाम कलह प्रिया नाम से कहा गया है।

(शेष पृ० २८ पर)

विचारणीय-प्रसंग

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

जिनवाणी अनेकान्तमय है और आचार्य अमृतचन्द्र जी अनेकान्त वाद के ज्ञाता और परमोपासक। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में पग-पग पर इस वाद की गहरी झलक मिलती है। वैसे आज भी नया बहुत कुछ लिखा जा रहा है—बड़े-बड़े विद्वान् प्राचीन ग्रंथों की विस्तृत टीकायें और व्याख्यायें भी कर रहे है। उनके समक्ष हम जैसे मन्दों का कुछ लिखना हास्यास्पद ही होगा। फिर भी हमे अपने विचार देने का कोई आदेश प्राप्त हुआ है अतः मन्तव्य लिख रहे हैं—ज्ञाता हमें स्खलन से सँभाल लें—हमे कोई हठ नही।

'अनादि रक्तस्य तवायमासीत्,
य: एव संकीर्णरस: स्वभाव:।
मार्गावतारे हठमार्जितश्री—
स्त्वया कृत: शांतरस: स एव ॥"

उक्त काव्य 'लघुतत्त्वस्फोट' से है। इसमें आचार्य अमृतचन्द्र जी ने आत्मा के स्वभाव का वर्णन रसों के अस्ति और नास्ति दोनों पक्षों की अपेक्षा से किया है। दूसरी पंक्ति में 'संकीर्णरस:' पद रसो के अस्ति रूप को और चौथी पंक्ति में 'शान्तरस:' पद रसो के नास्ति रूप को दर्शा रहा है। अर्थात् जो स्वभाव अनादि से रागी होने के कारण अनेक भौतिक रसों से व्याप्त था वह स्वभाव केवलज्ञानी (रागरहित) होने पर हठ पूर्वक उन रसों से शान्त—अव्याप्त—रहित हो गया।

प्रस्तुत काव्य का अर्थ करते समय हमे 'संकीर्णरस:' और 'शान्तरस.' दोनों पदो के विग्रह की एकरूपता का ध्यान रखना चाहिए। बिना एकरूपता के स्याद्वाद-संमत शुद्ध अर्थ फलित होना असम्भव है। हमारा मत है कि उक्त दोनों पदों का विग्रह निम्न रूप में लेना युक्ति संगत है—

'संकीर्णरस.'—संकीर्णा: व्याप्ता: रसा: यस्मिन् स:
(एतादृश: स्वभाव:)

जिसमें रस संकीर्ण—व्याप्त है वह (ऐसा स्वभाव)

'शांतरस:'—शान्ता: निर्गता: रसा: यस्मात् स: (एतादृश: स्वभाव:)

जिससे रस शान्त हो गए—चले गए (ऐसा स्वभाव)

—बहुव्रीहि समासान्त उक्त दोनों रूपों को समरूप से दोनों स्थलों में अपनाने पर अर्थ युक्ति-संगत और ठीक बैठ जाता है। ऊपर की पंक्ति मे अस्तिरूप और नीचे की पंक्ति में नास्ति रूप।

यदि हम आ० अमृतचन्द्र जी की इस अस्ति और नास्ति दृष्टि का ध्यान न रख, दोनों पदों के समासो में व्यत्यय करे अर्थात् भिन्न-भिन्न समासों का प्रयोग करें तो अस्ति और नास्ति दृष्टि का लोप ही होगा। 'जैसे कि 'सकीर्णरस.' में बहुव्रीहि का प्रयोग करना और 'शान्तरस:' मे कर्म-धारय का प्रयोग करना आदि। कुछ लोग तत्पुरुष समास भी कर रहे हैं।

हाँ, यदि शांत-रस नामक रस की भांति कोई 'संकीर्ण-रस' नामक स्वतन्त्र रस भी होता तब दोनों पदों में कर्म-धारय समास भी चल सकता था। पर, संकीर्ण नाम का कोई रस स्वतन्त्र नही है अत: उसमें कर्म-धारय का प्रश्न ही नही उठता। साथ मे ऐसा समास करने से समासों की एकरूपता का विरोध ही होगा। तथा ऐसा करने में एक विसंगति यह भी होगी कि हम 'सकीर्णरस:' मे तो रस को "परिमाण" की तुला से नापेंगे और 'शांतरस:' में इसको "जाति" की तुला से नापेंगे, जबकि समास-समरूपता की दृष्टि से दोनों स्थानो में सम-जातीय तुला से ही नाप होना न्याय्य है। ऐसा हमारा भाव है। फलत:—उत्तम यही है कि यदि हमें आत्मा में रस मानने का आग्रह ही हो तो

उसके विकल्पातीत चैतन्य को ही रस मान ले। हमारे मत में शुद्ध आत्मा विकल्पातीत होने से न शातरस को स्पर्श करती है और ना ही अशातरस को। वह तो मात्र 'चिवेकरसनिर्भरः'—एक चैतन्य रस पूर्ण है—जो है सो है। फलत. जहाँ भी शान्त-रस जैसा कथन हो वहा सभी प्रकार के रस शांत हो गए ऐसा अर्थ उचित है। शाति का भाव भी शान्तनामारस नही होना चाहिए। आत्मा, रस जैसे लौकिक अनुभवो से अतीत—मात्र चैतन्यही है।

एक बात और। रस के प्रसंग में 'साहित्यदर्पणकार' के मत मे 'विभाव, अनुभाव सचारी भावो से अभिव्यक्त—पुष्ट स्थायी भाव रस है, जो कि मन वालो के होता है—

**"विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि स्थायीभावः सचेतसाम्॥**

—साहि० दर्पण ३।२

इसका खुलासा भाव यह भी है कि रस का मूल आधार मन की वासना है। जिनके मन नही होता उनके वासना नही होती और जिनके वासना नही होती उनके रस का अनुभव नही होता। वे तो रस के विषय मे काष्ठ दीवार और पत्थर की भाँति अकिंचित्कर—निष्क्रिय होते है। तथाहि—

**'न जायते तदास्वादो विना रत्यादि वासनाम्।'
'सवासनानां सभ्यानां रसस्यानुभवोभवेत्।
निर्वासनास्तुरङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभा॥'**

उक्त प्रसग के अस्तित्व मे शुद्ध आत्म स्वभाव मे जहाँ मन ही नही है वहाँ यदि हम किसी रस की कल्पना करते है तो वह कल्पना 'खर-विषाणवत्' मात्र कल्पना और अकिंचित्कर ही होगी—वास्तविक नही। फिर शुद्धात्माओ मे शान्त-रस की पुष्टि के लिए उसके मूल कारण विभाव, अनुभाव और सचारी भाव भी कल्पित करने पड़ेगे और मन भी कल्पित करना पडेगा, जिनका कि शुद्धात्माओ मे सर्वथा अभाव है। आशा है मनीषी विचारेगे और शुद्धात्माओ को विसगतियो से दूर रखने का प्रयत्न करेंगे—उनको सासारिक व्यवस्थाओ मे लौटाने का नही। अन्यथा इसके दूरगामी—(मुक्ति से पुनरावृत्ति या अवतारवाद की पुष्टि जैसे) अनेक विरुद्ध परिणाम सिद्ध हो सकेंगे जो जैन आगम के मूल पर चोट ही होगे।

दरअसल बात ऐसी है कि जैसे कोई विवाहित पुरुष स्त्री को दुखदायी जान उसे छोड़ने का सकल्प कर बैठा और उसे छोड़कर साधु भी बन गया। उसने व्यक्ति-रूप स्त्री को तो छोडा, पर वासनावश स्त्री-जाति का मोह न त्याग सका। फलत.—वासनावश मुक्ति में ही स्त्री की झूठी कल्पना कर बैठा और सुखी होने लगा। जबकि मुक्ति-नामा कोई स्त्री ही नही है। कोरा संकल्प और मन की भ्रान्ति है। वैसे ही शान्तरस की स्थिति है। ये भी संसारी जीवों की वासना द्वारा कल्पित भाव है जो शुद्ध जीवों में भी कल्पित किया जाने लगा। वास्तव मे उनमें इसका कोई अस्तित्व नही। यदि मुक्ति नामक कोई स्त्री हो तो उसे खोजा जाय।

जब हम 'अजैर्यष्टव्यम्' प्रसग पर विचार करते हैं तब हमारे रोंगटे खड़े हो जाते है और सोचते हैं कि यदि उस समय आग्रह-वश 'अज' शब्द का अप्रासंगिक अर्थ 'बकरा' न हुआ होता तो धर्म में हिंसा-रूप अनर्थ का प्रवेश न हुआ होता और ना ही लोगों को वीतरागी तीर्थंकर की सर्व-तत्त्व-समन्वित—विधि-निषेध रहित, निर्विकल्प, अभेद-अखण्डधारामयी दिव्यध्वनि को अहिंसा जैसे एकांगी सविकल्प उपदेश की प्रमुखता का रूप मानना पड़ा होता—जो कि लोगो द्वारा तत्कालीन परिस्थिति के अनुरूप अपनी कल्पना मे मानना पडा और आज तक उसी मान्यता में चला आ रहा है। लोग आज भी कहते हैं—'महावीर ने परिस्थिति को देखकर उस समय अहिंसा का प्रमुख उपदेश दिया'—गोया, वीतरागी महावीर उस समय जीवों की दया के प्रति रागी और जीवों की रक्षा के प्रति बेचैन हुए हों। समझ मे नही आता कि वीतरागी ने विकल्प-प्रेरित मात्र अहिंसा जैसे किसी एक जातिरूप धर्म का उपदेश दिया हो? उनकी दिव्यध्वनि तो सर्वतत्त्व-समुदित निरक्षरी थी जिसे गणधर देव ने ही भेद-रूप मे गूंथा।

'शान्तरस.' पद भी ऐसा ही है, यदि प्रसग के अनुसार इसे निरास अर्थ मे न लेकर शान्त-रस या शान्ति के अर्थ मे लेने का विचार किया गया तो शुद्धजीवो मे भी रस हेतु वैसे ही विकार कल्पित करने पड़ेगे जैसे कि लोग आज मुक्ति-स्त्री के सबध में प्रसिद्ध करने लगे हैं। वे कहते है कि—जब जैनियो के मुक्त जीवों ने स्त्री को नही छोड़ा है—वे मुक्ति

स्त्री के सुख में मग्न हैं, तब हमें ही स्त्री से वैराग्य का उपदेश क्यों दिया जाता है आदि। आत्माके प्रसंग में शान्त शब्द का प्रयोग विकारों के उपशम या अभाव के लिए ही हुआ है, इस पर फिर कभी सोद्धरण लिखेंगे।

'संत'—

इस शब्द के सम्बन्ध में अब हम नया क्या लिखे? वे ही आचार्य वाक्य हमें प्रमाण हैं जिन्हें हम लिख चुके हैं।

षट्खंडागम के सातवें सूत्र में 'संतपरुवणा' पद का प्रयोग मिलता है। इसी पुस्तक के इसी पृष्ठ १५५ पर एक टिप्पण भी मिलता है जो तत्त्वार्थराज वा० के मूल का कुछ अंश है—'सत्वं ह्यव्यभिचारि' इत्यादि। ऐसे ही षट्खंडागम के आठवे सूत्र मे 'सत' पद है। यथा—सतपरुवण दाए…।' इसके विवरण मे 'सत् सत्त्वमित्यर्थ.' भी मिलता है। इसी पुस्तक मे पृ० १५८ पर कही से उद्धृत एक गाथा भी मिलती है। यथा—'अत्थित्त पुणसत अत्थित्तस्स य तहेव परिमाण।" इस गाथा के अर्थ मे लिखा हैकि—अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाली प्ररूपणा को सत्प्ररूपणा कहते हैं। यहाँ भी 'सत' शब्द सत् अर्थ मे है।

उक्त पूरे प्रसग से दो तथ्य सामने आते है। पहिला यह कि सभी जगह 'सत' का प्रयोग 'सस्कृत के 'सत्' शब्द के लिए हुआ है। यह बात भी किसी से छिपी नहीं कि 'संतपरूपणा' मे उसी 'सत्' का वर्णन है जिसे तत्त्वार्थ सूत्रकार ने 'सत्संख्याक्षेत्र' सूत्र मे दर्शाया है। यानी जिसे सस्कृत मे 'सत्' कहा वही प्राकृत मे 'सत' कहा गया है। अतः सत का सत् स्वभावतः फलित है। दूसरा तथ्य यह कि 'सत्' शब्द सत्त्व के भाव मे है, अतः सत्, संत, सत्त्व, सत्त ये सभी एकार्थवाची सिद्ध होते है। पुस्तक के अन्त मे जो 'संतसुत्त-विवरण सम्मत्तं' आया है, उसमें भी 'संत' का प्रयोग सत् के लिए ही है।

'संत' शब्द के प्रयोग 'सत्' अर्थ मे अन्यत्र भी उपलब्ध हैं। यथा—'सतकम्ममहाहियारे—जय. ध. अ. ५१२ प्रस्तावना ध. प्र. पु. पृ. ६६।

—'एसो संत-कम्मपाहुड उवएसो'—धव० पु० पृ० २१७।

—'आयरिय कहियाणं संतकम्मकसायपाहुडाणं। पृ० २२१

सत्त—महाधवलप्रति के अन्तर्गत ग्रन्थ रचना के आदि में 'सन्तकम्मपंजिका' है। इसके अवतरण में 'सत्त' शब्द भी मेरे देखने में आया है—'पुणोतेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परुविदाणि।'—यह 'संतकम्मपंजिका' ताडपत्रीय महाधवल की प्रति के २७वें पृष्ठ पर पूर्ण हुई है और षट्खंडागम पुस्तक ३ में इसका चित्र भी दिया गया है। (देखें—प्रस्तावना, षट्खंडागम पुस्तक ३ पृ० १ व ७) अतः इस उद्धरण से इस बात में तनिक भी सन्देह नही रहता कि प्रसंग मे 'संत' या सत्त शब्द सत्त्व—आत्मा के अर्थ में ही है। और मज्झं का अर्थ मध्य है जो 'आत्मा को आत्मा के मध्य अर्थ ध्वनित करता हुआ आत्मा से आत्मा का एकत्वपन झलका कर आत्मा को अन्य पदार्थों से 'असयुक्त' सिद्ध करता है:

एक बात और। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार की गाथा २६ में 'अत्तमज्झ' पद का और समयसार की गाथा १५ मे 'संतमज्झं' या 'सतमज्झ' का प्रयोग किया है और नियमसार की उक्त गाथा की सस्कृत छाया में अत्तमज्झं का अर्थ 'आत्म-मध्य' किया है। इसी प्रकार 'सतमज्झ' या 'सत्तमज्झ' की सस्कृत छाया भी सत्मध्य या सत्त्वमध्य है यह सिद्ध होता है।

विशेषावश्यक-भाष्यकार 'सत' का अर्थ 'सत्' कर रहे है इसे भी देखिए—

संतं ति विज्जमाणं एयस्स पयस्स जा परूवणया।
गइयाइएसु वत्थुसु संत पयपरूवणा सा उ॥
जीवस्स च जं संतं जम्हा तं तेहिं तेसु वा पयति।
तो संतस्स पयाइं ताइं तेसु परूवणया॥'

'संतस्य'—सतः पदानि तानि सत्पदानि तेषु प्ररूपणता सत्पदप्ररूपणतेति।'

विशेषावश्यक भाष्य—४०७-४०८

स्मरण रहे यदि जैन मान्य शुद्धात्मस्वरूप को अन्य-मत-मान्य ईश्वर के रूपो से मेल बिठाने का प्रयत्न किया गया तो जैन ही लुप्त हो जायगा।

□□

श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली

जैनाचार्यों ने श्रावकाचार का वर्णन करते हुए श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ का वर्णन किया है। ग्यारहवी प्रतिमा का नाम उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है। दशवी प्रतिमा तक उद्दिष्ट त्याग का सर्वथा विधान नही है और उससे आगे श्रावक और मुनि दोनों के उद्दिष्ट का सर्वथा त्याग है।

प्रारम्भिक आचार्यों में जैसे कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, सोमदेव, जिनसेन, अमितगति और पद्मनन्दि आदि ने इस प्रतिमा का सामान्य निर्देश किया है—इसका अभेदवर्णन किया है। ग्यारहवी शताब्दी के पूर्व की रचना 'प्रायश्चित चूलिका' मे भी एक क्षुल्लकपद का विवेचन मिलता है। बारहवी शताब्दी मे वसुनन्दी आचार्य ने इस प्रतिमा को प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक इन दो भेदो मे विभक्त कर दिया। यह कैसे और क्यो हुआ यह विचारणीय है। विचारार्थ पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों के मतव्यो को उद्धृत किया जा रहा है—

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने चारित्र पाहुड मे मात्र प्रतिमाओं के नाम दिए है—

दसण-वय-सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बभारभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२२॥'

—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग इस प्रकार ये देशविरत श्रावक के ग्यारह भेद हैं।

आचार्य उमा स्वामीं ने प्रतिमाओ का वर्णन नहीं किया और आचार्य समन्तभद्र ने इस प्रतिमा का वर्णन खण्डचेल धरा:' मात्र के रूप में किया है। उन्होने क्षुल्लक व ऐलक जैसे कोई भेद नही किए और ना हीं एक या दो वस्त्र का उल्लेख किया। आ० सोमदेव ने भी ग्यारह प्रतिमाओं के नाम मात्र का संकेत दिया है—

'मूलव्रत व्रतान्यचा पर्वकर्माकृषिक्रिया:।
दिवानवविध ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥'
परिग्रह परित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता।
तद्धानौ च वदंत्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥'

—कल्प ४४।८५३-८५४।

इसके बाद उन्होने ११ प्रतिमाओं के विषय में यह भी स्पष्ट किया है कि पहिली छ: प्रतिमाओं के धारक गृहस्थ, सातवी से नवमी प्रतिमा तक के ब्रह्मचारी और अन्त की दो प्रतिमाओ वाले भिक्षु कहलाते हैं। सबसे ऊपर साधु होते है—

'षडत्रगृहिणो ज्ञेयास्त्रय. स्युर्ब्रह्मचारिण:।
भिक्षुको द्वौ तु निर्दिष्टौ तत. स्यात्सर्वतो यति. ।८५६।'

आदिपुराण मे आचार्य जिनसेन ने ग्यारहवी प्रतिमा के सन्दर्भ मे निम्न मन्तव्य प्रकट किया —

'त्यक्तागारस्य सद्दृष्टे, प्रशान्तस्य गृहेशिन.।
प्राग्दीक्षोपयिकात्कालादेकशाटकधारिण: ॥३८।१५८॥
त्यक्तागारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुष:।
एकशाटकधारित्व प्राग्वद्दीक्षाद्यमिष्यते ॥३९।७७॥
तेषां स्यादुचित लिंग स्वयोग्यव्रतधारिणाम्।
एकशाटक धारित्व सन्यासमरणावधि: ॥'४०।१६९॥

उक्त सभी श्लोकों में एकशाटकधारित्व रूप को पुष्ट किया गया है जैसे कि पूर्वाचार्यों को भी इष्ट था उन्होंने भी दो वस्त्रधारी और एकवस्त्रधारी जैसे कोई दो भेद नहीं किए। आचार्य अमितगति और पद्मनन्दि ने भी पूर्व-मतों की पुष्टि की और ग्यारहवी प्रतिमा के दो भेद नहीं किए। इसके बाद ग्यारहवी शताब्दी से पूर्व की रचना 'प्रायश्चित्त चूलिका' के देखने से भी स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि उस शती तक यथावत् ग्यारहवी प्रतिमा एक रूप में चलती रही। तथाहि—

'क्षुल्लकेष्वेककं वस्त्रं नान्यन्नस्थितिभोजनं।
आतापनादियोगोऽपि तेषां शश्वन्निषिध्यते ॥१५५३॥
क्षौरं कुर्याच्चलोचं वा पाणौ भुंक्तेऽथ भाजने।
कौपीन मात्र तंत्रोऽसौ क्षुल्लक परिकीर्तितः ॥१५६॥'

इन श्लोकों में क्षुल्लक के लिए एक वस्त्र का विधान दो बार कहा गया है और जोर देकर 'अन्यत् न' के द्वारा द्वितीय वस्त्र का निषेध किया गया है (जब कि बाद के काल में क्षुल्लक के दो वस्त्रों की परिपाटी रही है ? यह क्यों और कैसे ? यह स्पष्ट नही हो पा रहा।) दूसरे श्लोक मे तो 'कौपीन मात्र तत्रोऽसौ' में 'मात्र' पद देकर द्वितीय वस्त्र का सर्वथा ही निषेध कर दिया। इसका भाव ऐसा हुआ कि ग्यारहवी शताब्दी से पूर्व तक ग्यारहवी प्रतिमा क्षुल्लक के रूप मे ही रही और क्षुल्लक एक वस्त्रधारी ही कहे जाते रहे।

बारहवीं शताब्दी में आचार्य वसुनन्दी ने सर्वप्रथम दो भेद किए—और उन्हें प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट नाम दिए। तथाहि—

'एयारसंमि ठाणं उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीण परिग्गहो विदिओ ॥३०१।'

—ग्यारहवें स्थान अर्थात् ग्यारहवी प्रतिमा को प्राप्त उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार के होते है—प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट। इनमें प्रथमोत्कृष्ट श्रावक एक वस्त्रधारी और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक कौपीन परिग्रहधारी होता है।

उक्त गाथा से किसी के भी दो वस्त्र होने की स्पष्ट पुष्टि नही होती, अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथमोत्कृष्ट के लिए एक वस्त्र (बड़ा—जो शरीर के कुछ भाग पर लपेटा जा सकता हो ?) का विधान हो और द्वितीयोत्कृष्ट को उसमें संकोच करके कौपीन-मात्र जैसा। वस्त्र दोनो पर ही एक हो ? यहां तक भी ऐलक शब्द का व्यवहार नही हुआ—भेद भी हुए तो प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के नाम से।

आचार्य वसुनन्दी ने दोनों की विशेष विधि का वर्णन करते हुए निम्न गाथा दिए हैं—

धम्मिल्लाणं चवणंकरेईकत्तरि छुरेण या पढमो।
ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पयडप्पा ॥
भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सइं समुवइट्ठो।
उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ॥
पक्खालिऊण पत्त पविसइ चरियाय पंगणें ठिच्चा।
भणिऊण धम्मलाह जायइ भिक्ख सयचेव ॥
सिग्घलाहालाहे अदीण वयणो णियतिऊण तओ।
अण्णम्मि गहेवच्चइ दरिसइ मोणेण कायं वा ॥
जइ अद्धवहे कोइवि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणह।
मोत्तूण णिययभिक्ख तस्सण्णं भुंजए सेसं ॥

अह ण भणइ तो भिक्खं भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाण।
पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुग सलिल।
ज किं पि पडियभिक्ख भुंजिज्जो सोहिऊण जत्तेण।
पक्खालिऊण पत्त गच्छिज्जा गुरुसयासम्मि।
जइ एवं ण रएज्जो काउंरिसगिहम्मि चरियाए।
पविसत्ति एयभिक्खं पवित्तिणियमण ता कुज्जा ॥
गंतूणगुरुसमीव पच्चक्खाणं चउव्विहं विहिणा।
गहिऊण तओ सव्व आलोचेज्जा पवत्तेण ॥'

—वसु० ३०२—३१०।

—प्रथमोत्कृष्ट श्रावक कैंची या छुरे से हजामत करता है, प्रयत्नशील होकर उपकरण से स्थान का सशोधन करता है। हाथों अथवा पात्र मे **एक बार बैठकर** भोजन करता है और पर्व-दिनो में नियम से उपवास करता है। पात्र को प्रक्षालन करके चर्या के लिए श्रावक के घर मे प्रवेश करता है और आगन मे ठहरकर 'धर्मलाभ' कहकर स्वय ही भिक्षा याचन करता है। भिक्षा न मिलने पर अदीनमुख वहाँ से शीघ्र निकलकर दूसरे घर जाता है और मौन से अपने शरीर को दिखलाता है। यदि अर्धपथ मे कोई श्रावक मिले और प्रार्थना करे कि भोजन कर लीजिए तो पूर्व घर से प्राप्त भिक्षा को खाकर, जितना पेट खाली रहे, उतना उस श्रावक के अन्न को खावे। यदि कोई भोजन के लिए न कहे तो पेट के प्रमाण भिक्षा न मिलने तक भ्रमण करे, भिक्षा प्राप्त होने पर किसी एक घर मे जाकर प्रासुक जल मागे। जो भिक्षा प्राप्त हुई हो उसे शोधकर भोजन करे और सयत्न पात्र-प्रक्षालन कर गुरु के समीप जावे। यदि किसी को उक्त विधि से गोचरी न रुचे तो वह मुनियो के गोचरी कर जाने के बाद चर्या के लिए

प्रवेश करे अर्थात् एक भिक्षा के नियम वाला उत्कृष्ट श्रावक चर्या के लिए किसी श्रावक के घर जावे। यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले तो उसे फिर किसी के घर न जाकर उपवास का नियम कर लेना चाहिए। पश्चात् गुरु के समीप जाकर विधि पूर्वक चतुर्विधि आहार का त्याग कर प्रत्याख्यान कर पुन: प्रयत्न के साथ सर्व दोषों की आलोचना करनी चाहिए।

उक्त कथन से कई बातें समक्ष आती हैं—

१. छुरे से हजामत करना।

२. उपकरण से स्थान संशोधन।

३. पात्र प्रक्षालन करके चर्या के लिए श्रावक के घर प्रवेश करना।

४. भिक्षा स्वयं माँगना।

५. कई घरों से (भी) माँगना।

६. बैठकर भोजन करना आदि। इस प्रतिमाधारी से द्वितीयोत्कृष्ट प्रतिमाधारी मे जो भिन्नता बतलाई है वह इस प्रकार है—

'एमेव होइ विदिओ णवरि विसेसो कुणिज्ज णियमेण।
लोच धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तमि ॥३११॥'

—द्वितीयोत्कृष्ट प्रतिमाधारी भी इसी प्रकार होता है परन्तु उसमे इतनी विशेषता है कि वह नियम से लोंच करता है, पीछी धारण करता है और पाणिपात्र में आहार करता है।

उक्त स्थिति में सर्वप्रथम विचार यह उठता है कि जब पूर्वाचार्यों ने सभी प्रतिमाओ का वर्णन अभेदरूप मे एक एक प्रकार का ही किया है और ग्यारहवी प्रतिमा के नामान्तर क्षुल्लक और त्यक्तागार घोषित किए है तब ग्यारहवी प्रतिमा के पृथक्-२ दो भेद करने की आवश्यकता क्यों पडी और ऐलक शब्द कहा से आया?

विचारने पर प्रतीत होता है कि 'ऐलक' शब्द 'अचेलक' शब्द का प्राकृत व्याकरण प्रसिद्ध लघु रूप है। प्राकृत व्याकरण के सूत्र 'क ग च ज त द प यवां प्रायो लुक्' के अनुसार दो स्वरों के मध्यवस्थित व्यंजन का विकल्प से अदर्शन (लोप) हो जाता है। फलत अ+च्+एलक में अ+और ए के मध्य का 'च्' लुप्त हो गया तथा अ+ए को वृद्धि रूप मे ऐ होने पर ऐलक रूप बन गया।

यह 'अचेलक' शब्द ऐसा है जिसे दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय मानते हैं और इसका प्रयोग मुनि के लिए करते हैं। भेद इतना है कि दिगम्बर 'अ' उपसर्ग का अर्थ सर्वथा निषेध रूप में और श्वेताम्बर सर्वथा निषेध और अल्प स्वीकृति दोनो अर्थों में करते हैं। इसीलिए उनमें जहा चेल-वस्त्र का सर्वथा निषेध है वहां मुनि 'जिन-कल्पी' है और जहां अल्प चेल-स्वीकृति है वह मुनि स्थविरकल्पी' है—हैं दोनों ही मुनि। पर, यह बात दिगम्बरों को मान्य नही, वे सर्वथा वस्त्र त्याग मे ही मुनि पद स्वीकारते हैं।

मालूम होता है जब श्वेताम्बरों द्वारा किंचित् वस्त्र वाले को भी 'अचेलक' घोषित किया गया तो दिगम्बरो ने किंचित् वस्त्र वाले के लिए एक नया सम्बोधन चुन लिया और वह सम्बोधन 'ऐलक' था। इससे ईषत् अर्थ में 'अ' का प्रयोग भी मान्य हो गया और मुनि रूप के गृहण का परिहार भी। इससे यह भी ध्वनित हुआ कि ईषत् वस्त्र वाला श्रावक ही है, मुनि नही। स्मरण रहे कि 'ऐलाचार्य' शब्द भी प्राकृत व्याकरण के उक्त 'सूत्र' से ही निष्पन्न है—अचेलकाचार्य, ऐलकाचार्य, ऐलाचार्य ये सब एक ही शब्द के विभिन्न रूप है और प्राकृत के 'क-ग-च-ज-तद-यवां प्रायोलुक्' सूत्र से बंधे हैं, तीनों ही रूप विकल्प से लोप के हैं।

पूर्वाचार्यो के व्याख्यान से ऐसा भी ध्वनित होता है कि अन्य प्रतिमाओं की भांति ग्यारहवीं प्रतिमा भी एक अभेद रूप है, जो अपेक्षा भेदो से नाम भेदों में विभक्त कर ली गई है। इसे मुनि पद के सामीप्य और मुनिपद से छोटा-नीचा होने की अपेक्षा क्षुल्लक, घर छोड़ने की अपेक्षा त्यक्तागार और ईषद् वस्त्र होने से ऐलक कहा गया है। वस्तुत: 'ऐलक' शब्द अचेलक (सर्वथा वस्त्र त्यागी) दि० मुनि का ही नामान्तर है जिसे 'अ' के ईषत् अर्थ में श्रावक की ग्यारहवी प्रतिमा मे स्थान देकर प्रतिमा को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है।

जहा तक श्वेताम्बर परंपरा के साधुओं का प्रश्न है, वे साधारणत. श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा के रूपान्तर प्रतीत होते हैं, अपितु उस रूप में भी स्पष्ट शिथिलता ही परिलक्षित होती है जैसे—ढेर से वस्त्र, ढेर से पात्र, कई

बार आहार आदि। हां, पात्र प्रक्षालन करके श्रावक के घर प्रवेश, भिक्षायाचना, कई घरों से याचना, बैठकर भोजन आदि नियम क्षुल्लक के नियमों से मेल खाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि श्वे० मुनि का यह रूपान्तर बारह-वर्षीय अकाल के प्रभाव का द्योतक है।

जहां तक दिगम्बर परंपरा में क्षुल्लक के नियम बतलाए गए हैं उनमे भी कुछ प्रश्न खड़े होते हैं। जैसे—छुरे से हजामत। क्या क्षुल्लक छुरा रख सकते हैं? यदि हां तो परिग्रह बढ़वारी के साथ हिंसोपकरण रखने का दोष भी आता है और यदि श्रावक से मांगते है तो नियमित श्रावक उन्हें क्यों और कैसे देता है? जबकि आ० समन्तभद्र हिंसोपकरण दान का सर्वथा निषेध करते हैं—'परशुकृपाण खनित्र' आदि। इसी प्रकार पात्र रखना, उसे धोना आदि आडम्बर क्षुल्लक को नहीं कल्पते। ऐसा मालूम होता है कि किसी समय स्पृश्य-अस्पृश्य का प्रश्न बड़ी प्रबलता से सामने उभरकर आया हो और पात्र आदि के रखने की छूट दी गई हो। इसी प्रकार द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक में जो विशेषताएं बतलाई गई हैं वे भी इसलिए विचारणीय हैं कि यदि वे विशेषताए प्रथमोत्कृष्ट में नियमित नहीं हैं तो वह भूमि परिमार्जन किससे करता है यत: एक वस्त्र के सिवाय अन्य वस्त्र का कही भी विधान नहीं है। ऐसे में एक वस्त्र-धारी और दो वस्त्रधारी आदि भेद कैसे घटित हो गए?

(क्रमश:)

(पृष्ठ २१ का शेषांश)

इस गर्दभ के शमन हेतु—चन्दन की धूप का सेवन करें।

५—स्त्री और पुरुष के गुप्तांगों में पैदा होने वाले गर्दभ को कुम्भकर्ण ज्वालागर्दभ का नाम दिया गया है।

इसके लिए लिखा है कि लोंग तगर और कूट को पीस कर मिलावें तथा लेप करें। इससे पीड़ा शान्त हो जाती है।

६—अण्डकोष में पैदा होने वाले ज्वाला गर्दभ को विभीषण ज्वाला गर्दभ कहते हैं।

७—हृदय में होने वाले ज्वाला गर्दभ को चन्द्रताल नाम की सज्ञा दी गई है।

इसकी चिकित्सा के लिये कोले के बीजो को बकरी के दूध मे पीस कर लेप करे एवं सेवन करे।

८—मुख में होने वाले ज्वाला गर्दभ को दुर्दर नभ की संज्ञा दी गई है।

इसकी चिकित्सा निम्न प्रकार है :—

विजोर के बीज, प्रियंगु, हल्दी, मंजीठ, कुंकुम, खश और केशर को सफेद सरसों के जल में पीस कर लेप करें।

इस प्रकार यह लघु रूप में आपके सामने वर्णन किया है इसका विस्तृत विवरण प्रत्येक रोग का पृथक-पृथक किया जा सकता।

□□

नोट—उक्त ग्रन्थ जैन धर्मानुयायी किसी धार्मिक विद्वान द्वारा रचित हो ऐसा हम नहीं मानते। ग्रन्थ में अभक्ष्य और असेव्य के सेवन का विधान जैसे प्रसंग जैन परम्परा के सर्वथा विरुद्ध है। ऐसे प्रसग हमने लेख से निकाल दिए हैं। लोग कैंसर से परिचित हों, इसी दृष्टि से लेख छपाया जा रहा है, अन्यथा न लें।

—संपादक

अभिनन्दनों और अभिनन्दन-ग्रन्थों के संग्रह की होड़ समाज और धर्म को कहां ले जाएगी? यह सोचने का विषय है। सोचना ये भी है कि क्या सभी पात्र धार्मिक-आचार-विचार के आलोक में उस योग्य होते हैं? जरा विवेक से काम लें और इन दिखावों को छोड़, आचार-विचार को ऊंचा उठाएं तभी जैन धर्म स्थिर और पुष्ट रह सकेगा।

जरा सोचिए

१. संस्कृति क्या है ?

संस्कृति शब्द बड़े गहरे में है और इसका सम्बन्ध वस्तु की स्व-आत्मा से है। जिसे हम 'संस्कृत' कहते हैं वह संस्कार किया हुआ होता है और संस्कार किए हुए से संस्कृति पनपती है और वह स्थायी होती है। क्योंकि वह स्व-गुणों के विकास का रूप होती है, निखरे गुणों का पुंज होती है। इससे उल्टी असंस्कृति—पर से प्रभावित, बहुरूपियापन से लदी होती है और बहुरूपियापन—उधार लिया रूप—नाश होने वाला रूप होता है। उदाहरणार्थ, स्वर्ण का रूप निखरना उसका सस्कृत होना है और निखरे संस्कृत रूप से प्रभावित होने वाली परम्परा स्वर्ण-सस्कृति है। ऐसे ही अन्यत्र समझना चाहिए।

आज जो विभिन्न मत-मतान्तरों, भाषाओं, जाति-पंथों और प्रान्तवादों आदि से सस्कृति का नाता जोडा जा रहा है वह अटपटा-सा लगता है। जैसे—हिन्दू-सस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति इत्यादि। क्योंकि हिन्दू, मुस्लिम, सिख, बौद्ध, पारसी, ईसाई आदि किसी मूल के उभरे संस्कार नही—ऊपर के वेष हैं, बाने हैं, जो समय-समय पर मत-भेदों के प्रादुर्भाव में लादे जाते रहे है और बदलते रहे हैं, बदलते रहेंगे और कभी नष्ट भी हो जायेंगे। न जाने कब से अब तक कितने मत-मतान्तर, प्रान्त, राष्ट्र आदि पैदा हुए और न जाने कितने अतीत में समा गए। पर, संस्कृति न कभी निर्मित हुई और न कभी नाश होगी। अत: यदि हम ऐसा कहें कि मानव-सस्कृति, आत्मा-सस्कृति अहिंसा-संस्कृति आदि तो ठीक बैठ जाता है क्योंकि ये सदा से हैं और सदा रहेंगे। इनके अपने रूप मे कभी अपनों से भेद-भाव न होगा। जबकि हिन्दू का हिन्दू से, मुसलमान का मुसलमान से भेद-भाव हो जायेगा—एक पंथ-सम्प्रदाय के होने पर भी उसके आधार से पनपने वाली संस्कृति, उसके अनुयाइयों से दो भेदों में बँट जायेंगी—एक हिन्दू की संस्कृति कुछ होगी तो दूसरे की कुछ। मानव या आत्मा में ऐसा नहीं होता—मानवता एक रूप अखण्ड है और आत्मा भी एक रूप अखण्ड है। इनके लक्षणों-गुणों में फर्क नही होगा ! जो फर्क दिखेगा भी वह फरक मानवता या आत्मत्व के लिहाज से न होकर, पर-प्रभावित आधारो से स्व की असंस्कृत अवस्था में ही होगा अत: वह उसके लिए असस्कृति ही होगी।

मानव और अमानव में स्वभाव, विभाव—स्व-परिणतिशीलता और पर-परिणतिशीलता का भेद है। जब कोई मानव स्व-परिणति-स्वभाव मे प्रकट होगा तब उसकी संस्कृति मानव-सस्कृति होगी। और जब वह हिन्दू-मुसलमान आदि पर-प्रभावित रूपो मे प्रकट होगा तब वह अमानव-सस्कृति से ग्रस्त होगा। क्योंकि वह उसका 'स्व' का असस्कृत—विना संस्कार किया हुआ और पर-प्रेरित रूप होगा। इसी प्रकार जब आत्मा स्वभाव की ओर जाता है तब उसका सस्कृत रूप होता है और जब स्वभाव में न जाकर पर-प्रेरित रूप में होता है तब उसका रूप असंस्कृत होता है। फलत. मानव के असली रूप से पनपने वाली संस्कृति मानव सस्कृति होती है और आत्मा के असली रूप से पनपने वाली सस्कृति आत्म-संस्कृति होती है, आदि।

उक्त तथ्य के प्रकाश में आज हमें अपनी श्रेणी निश्चित करनी होगी कि हम किस पक्ति में बैठ रहे हैं ? पहले बताई गई सस्कृति की पंक्ति में या दूसरी असंस्कृत पंक्ति मे ? हममे रत्नत्रय हैं या मिथ्या-त्वादि विकृत भाव ? हम परमेष्ठियो वत् अपने गुणों में विकास की ओर चल रहे हैं या अविरति प्रमाद कषायादि की ओर ? गुणस्थानों की अपेक्षा हम कहां हैं और हमारी गति अनेकान्त अथवा एकान्त किस विचारधारा के आश्रय में वर्तमान है ? आदि।

पुरुष के विषय मे जब आचार्य कहते हैं—

'पुरुगुणभोगेसेदे, करेदि लोयम्मि पुरु गुणं कम्म।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो ॥

—जो उत्तम गुण और भोगों का सेवन और लोक में उत्तम गुण-कर्मों को करता है वह पुरुष और पुरुषार्थी है। तब हम लोक में उत्तम गुणों में न रह, हिंसा करते हुए, झूठ और चोरी प्रेरित जैसी आजीविका के सहारे जीते हुए बाह्याडम्बरों—जाति, सम्प्रदाय, वेश-भूषा, भाषा, प्रान्त आदि के पक्षपात जैसे यत्रों से पुरुषत्व और पुरुषार्थ का माप कर रहे हैं यानी असली पुरुषत्व और पुरुषार्थ के रूप को विकृत—असस्कृत बनाने मे लगे हैं।

आत्मा के विषय में जब आचार्य कहते है—'भेद-विज्ञानतो सिद्धा सिद्धा ये खलु केचन'—सिद्ध होने के लिए जीव और पुद्गल के भेद का ज्ञान होना जरूरी है। तब लोग उस भेद-विज्ञान की दिशा, जाति-सम्प्रदाय, भेष-भूषा भाषा और प्रान्तवाद आदि की ओर मोड रहे हैं, आत्मा को पर-के रंग में रंग रहे हैं, परिग्रह की पकड़ को दृढ़ करने में लगे है और इस तरह वे संस्कृति और आचार्यो की अवहेलना ही कर रहे है।

यदि हम संस्कृति को भिन्न रूपो मे देखना चाहें तो हम कहेंगे—मन-वचन-काय द्वाराकिसी को न सताना, याथातथ्य व्यवहार करना, पराई वस्तु का हरण न करना, ब्रह्मचर्य पालन करना और इच्छा व सग्रहो के त्याग की ओर लगना इन पांच नियमो पर सभी ने जोर दिया है—किसी ने कम और किसी ने ज्यादा। ये सभी दर्जे मानवता के निखार के हैं। संसारी आत्मा को पर-मात्मा बनने मे सहायक हैं, तद्रूप हैं। अत: ये मानव-संस्कृति या आत्म-संस्कृति कहलाएगे और इन्हें हिन्दू-मुस्लिम जैसे फिरकों के पोषक न होने से, हिन्दू या मुस्लिम संस्कृति नही कहा जाएगा। यत:—इन पांचो के होने न होने से इन फिरकों के रूपों पर कोई प्रभाव नही पड़ता—पांचो हों तब भी हिन्दू या मुसलमान हुआ जा सकता है और न हो तब भी हुआ जा सकता है। ऐसे ही—

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र संस्कृति हैं। सिद्ध दशा साक्षात् संस्कृति है और अरहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु के रूप संस्कृति के सूचक हैं। पहिला गुण-स्थान असंस्कृति सूचक है, दूसरा संस्कृति से गिरने की सूचना देता है, तीसरा ढुलमुल और आगे के गुणस्थान संस्कृति के उजागर तर-तम रूप हैं जो उत्तरोत्तर निर्मलता लिए हुए हैं। अनेकान्तवाद, स्याद्वाद संस्कृति का दर्शन कराने वाले हैं—आदि !

इसके विपरीत आधुनिक युग का मानव जिन्हें संस्कृति पोषण के लिए प्रयुक्त कर रहा है और सस्कृति का नाम देने में लगा है वे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आदि विभाव मानव और आत्मा के लिए असं-कृतियां हैं।

उक्त सन्दर्भ में संस्कृति क्या है ? जरा सोचिए !'

२. जिन, जैन और जैनी

वस्तु की स्वभाव मर्यादा के अनुसार वस्तु के गुण-धर्मों को उससे पृथक् नही किया जा सकता। इस सिद्धांत के अनुसार जिन, जैन और जैनी ये तीनों शब्द तीन होते हुए भी एक ही व्यक्ति को इंगित करने वाले है। अत: धर्म-धर्मी मे अभेद है और इनमें परस्पर गुण-गुणीपना है। कर्मो पर विजय पाने वाले जिन, 'जिनं का धर्म जैन और जैन का अनुगमनकर्ता जैनी है। इसके विपरीन जो 'जिन' नहीं, वह 'जैन' नहीं, और जो 'जैन' नही, वह 'जैनी' भी नहीं। फलत:—उक्त परिप्रेक्ष्य में वर्तमान में जैनी का सर्वथा अभाव है। यदि जैनी बनना हो तो जिन बनना चाहिए।

जिन या जैन बनने के लिए तीर्थङ्कर ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त और मुक्ति पाने से पूर्व सभी अर-हन्तों ने जो किया, वही हमें करना पड़ेगा। हमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह जय और चारित्र के मार्ग से जाना पड़ेगा। अणुव्रतों और महाव्रतों की सीढ़ियों पर चढना पड़ेगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र को धारण करना पड़ेगा—इनकी पूर्णता में ही हम जिन, जैन और जैनी बन सकेंगे। जबकि आज हम इन सभी से दूर हैं और लगातार दूर जाने के प्रयत्नों में लगे हुए हैं।

दूर होने का उक्त सन्दर्भ, किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में हो ऐसा नही है, यह तो आज सभी पर लागू होता है—चाहे वह किसी भी श्रेणी का क्यों न हो ? आज श्रावक श्रावक में, श्रावक-साधु में, साधु-साधु में, धनिक-धनिक, धनिक-निर्धन, और निर्धन-निर्धन में परस्पर विसं-

गतियां चल रही हैं—एक-दूसरे की आलोचना मे तत्पर हैं। एक-दूसरे को हीन समझ रहा है, हर अन्य हर अन्य की कमजोरियां बताने मे लगा है, अपनी ओर नही देखता। यदि व्यक्ति इस प्रक्रिया मे मोड ले और दूसरो की अपेक्षा पहिले अपने को देखे तो हर व्यक्ति जिन, जैन और जैनी हो सकता है।

जैनी बनने के प्रयत्नों मे पहिले श्रावक बनना जरूरी है। जो श्रद्धा, विवेक और क्रियाशील होता है, वह श्रावक कहलाता है। हम देखे कि हम तत्त्वो एव देव, शास्त्र, गुरुओ में कितनी श्रद्धा रखते है? वर्तमान में देव तो है नही, शास्त्रो के रहस्य को हम जानें नही और गुरुओं की निन्दा करते हो तो हम कैसे श्रावक हो सकते है? श्रावक होने से पहले हमे अष्टमूल गुणों को समझना चाहिए और उन्हें धारण करना चाहिए। हम उन्हे धारण न करे और अपने को श्रावक घोषित करे यह सर्वथा विसगति ही है-जैसा कि आज चल रहा है। आज कुछ लोग तो कुदेवो मे देव, कु-शास्त्रो मे शास्त्रो की कल्पना किए बैठे है, और कुछ को तो गुरु फूटी आँखो भी नही सुहाते। गोया, छिद्रान्वेषण एक व्यापार बन बैठा है। उपगूहन और स्थिति-करण की बात ही नही होती—सुधार के नाम पर निन्दा मे इश्तिहार तक निकाले जाते है। यदि ऐसे लोग अपने को देखे कि वे कितने गहरे में है और श्रावक के योग्य अपनी क्रियाओं के प्रति कितने सावधान हे तो उन्हें सहज ही पता चल जाय कि वे स्वय भी भ्रष्ट हैं। भ्रष्ट लोग भ्रष्ट को भ्रष्टता से कैसे बचा सकेंगे और कैसे जिन, जैन या जैनी बन सकेंगे? यह विचारणीय है? जरा सोचिए।'

३. विद्वानों की महत्ता

'णमो उवज्झायाणं' ये अश णमोकार मत्र के मूल पाठ का है, जिसे प्रत्येक उपासक हृदय मे सँजोकर रखता और धर्म जानने के लिए उपाध्यायो की शरण जाना रहा है। तीर्थंङ्करो की दिव्य ध्वनि के पश्चात् उपाध्याय गणधर देव भव्य जीवों को धर्ममार्ग बतलाते रहे है। उपाध्याय पूर्ण श्रुत—अंग पूर्वो के पाठी होते है और वे प्रमुख उपाध्याय हैं। उनसे कम अंग-पूर्व भाग के ज्ञाता लघु-लघु श्रेणी मे आते है। जो वाणी तीर्थङ्करदेवो से प्रवाहित होती रही है वह इन्ही उपाध्यायो के क्रम से भव्य जीवों तक पहुंचती रही है।

कालान्तर मे जब अंग-पूर्वो के ज्ञाता उपाध्यायों का विच्छेद होता गया तब उनका काम आचार्यों, और साधु-गण ने सँभाला और उनकी अनुपस्थिति मे इस कार्य की पूर्ति अल्प ज्ञान और अल्प चारित्रधारी त्यागी विद्वान करते रहे। जो विद्वान व्रत और प्रतिमाधारी नही थे वे भी श्रावक के स्थूल आचार का पालन करते हुए इस क्षेत्र मे गतिशील रहे। फलत. भव्य जीवो को जिनधर्म का ज्ञान व चारित्र सम्बन्धी मूर्त-रूप फलित होता रहा।

चूकि जैन धर्म वीतराग-धर्म है और धार्मिक प्रसंग मे वीतराग-रूप को नमस्कार का विधान है। अत: पूर्णचारित्र की मुख्यता के आधार पर मूल-मत्र णमोकार मे सकल-चारित्री उपाध्याय परमेष्ठी को नमन कर उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन है और अल्प-चारित्री या अव्रती विद्वानो को इसमे ग्रहण नही किया गया है। यद्यपि ऐसे स्थूल-चारित्रधारी विद्वान पहिले भी होते रहे है जो स्वतत्र आजीविका से निर्वाह कर परमार्थ रूप धर्मज्ञान देकर भव्य-जीवों का उपकार करते रहे हैं। उन विद्वानो की आजीविका पठन-पाठन पर आश्रित नही होती थी। फलत: वे स्वतन्त्र और निर्भीक भी थे। वस्तुत. धर्मज्ञान क्रय-विक्रय का धदा नही है। अभी तक यह प्रकट नही हो पाया कि विद्वानों मे पारिश्रमिक लेकर धर्म-ज्ञान दान की परम्परा कब से चालू हुई? हो सकता है ये ब्राह्मण सम्प्रदाय का प्रभाव हो। बाद के काल मे तो विद्वानो मे इस व्यवसाय-परम्परा का मूल कारण विद्वानो का अर्थाभाव ही परिलक्षित होता है।

जो भी हो, यह तो निर्विवाद है कि विद्वानों ने धर्म-रक्षा और उसकी प्रभावना मे कोई कोर-कसर नही छोड़ी, उन्होंने तन-मन का पूरा योग देकर मन्दिरो, सरस्वती-भवनों, शिक्षा सस्थानों आदि की स्थापना का मार्ग सुझाया उनके निर्माण मे योग दिया, स्थान-२ पर भ्रमण करके उनके लिए चन्दा इकट्ठा किया। उनकी व्यवस्था और पठन-पाठन जैसी सभी जिम्मेदारियां उठाईं। विद्वानों ने

पूजा-प्रतिष्ठा, विधान, संस्कार-विधियों को सुरक्षित रखा, यद्यपि कालान्तर में ये कार्य व्यवसाय बनने से विकृत हो गए। विद्वानो ने लोगों मे श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र जगाने के लिए जगह-जगह भ्रमण कर प्रवचन किए। शास्त्रो को सुरक्षित रखा। और भी जितने धार्मिक प्रसंग उपस्थित होते रहे सभी में विद्वानों का पूर्ण योगदान रहा। विधर्मियो द्वारा आगम,मार्ग पर किए गए प्रहारों को भी विद्वानों ने निर्मूल किया। आदि !

यह कहना भी अत्युक्ति होगा कि धर्मक्षेत्रों मे विद्वानो ने ही सब कुछ किया और दूसरों का उसमें हाथ न था। वास्तविकता तो यह है कि ये सभी कार्य 'परस्परोपग्रह-जीवानाम्' के संदर्भ मे चलता रहा और सभी अपनी-अपनी योग्यतानुसार धर्म-मार्ग को प्रशस्त करते रहे ज्ञान वाले ज्ञान और धन वाले धन देते रहे। इस मार्ग मे गिरावट तब आई जब विद्वान् स्वय ज्ञान-दान के लिए किसी प्रकार का ठहराव करने और किसी निश्चित राशि मे बँधने लगे और अन्य लोग विद्वान् को वदला चुकाने की बात सोचने के आदी बन गए। हो सकता है इनमे एक-दूसरे की ओर से प्रस्तुत कोई ऐसे अन्य कारण उपस्थित हुए हों जिनसे दोनों को मार्ग बदलने को मजबूर होना पड़ा हो। काश, ये विचारा गया होता कि किसी के ऋण से कभी उऋण नही हुआ जा सकता तो ये प्रसग उपस्थित न होता। बाद को और भी बहुत-सी विसगतिया पेदा होने लगी। लोगो ने प्रदत्त धन या दान-द्रव्य से निर्मित उपकरणो—भवनादि मे अहम्भाव को स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। वे त्याग कर भी इस सम्पदा को अपना और अपने विद्वान् को पराया समझने लगे। कुछ विद्वान् भी आचार-विचार से शिथिलाचारी और समाज से निराश होते रहे। ऐसी विसंगतियों को दूर किया जाना चाहिए।

वास्तव में ज्ञान-दान का कोई मूल्य नहीं। विद्वान् तो समाज से पोषण पाकर भी समाज के गुरु ही हैं और उनकी श्रेणी माता-पिता से भी उच्च है। जैसे लोग अशक्त माता-पिता की सेवा करते हैं, उनका भरण-पोषण करते हैं वैसे ही उन्हे विद्वानों की सेवा करनी चाहिए। यदि समाज विद्वानो के साथ ये सब व्यवहार करे तब भी विद्वानो के ऋण से उऋण नही हो सकता। आखिर, कोई देगा तो विद्वान् को कितना भौतिक धन-वैभव दे सकेगा ? जो भी वह देगा सब यही छूट जायेगा—नश्वर होगा। जबकि विद्वान् का दिया हुआ ज्ञान-धन जन्म-जन्मान्तरों तक साथ जायगा और सद्गति में सहायक होगा। फिर—जब विद्वान् ने अपना तन-मन सब कुछ समाज के लिए अर्पण कर दिया हो तब उसके मुकाबले मे भौतिक सम्पदा अकिंचन ही है। अतः समाज का कर्त्तव्य है कि माता-पिता और धर्म-उपकरण मन्दिर आदि की भांति विद्वानों का सरक्षण करे और विद्वान् भी सदाचारी धार्मिक और निर्भीक रहकर, समाज के होकर धर्म-प्रभाव मे तत्पर रहे।

ध्यान रहे, विद्वद्गण समाज के ऐसे धन है जो उसकी धर्म-सम्पदा की रक्षा और वृद्धि मे सहायक होते है। समाज विद्वानो के ऋण से कभी उऋण नही हो सकता। और तो और—विद्वान् हमारी मरणासन्न दशा मे भी हमारी समाधि करा हमारी सद्गति मे कर्णधार बनते रहे है। इनके अभाव मे धार्मिक जगत् मे अन्धेरा छा जायगा और हम भटक जाएगे। ऐसा अनर्थ न हो, अतः उद्यम करना चाहिए कि कैसे विद्वानों की रक्षा की जाय और कैसे विद्वद्वंश बढ़ाने में साधन-भूत धार्मिक संस्थाओं को दृढ़ किया जाय ? जरा सोचिए ?

—सम्पादक

मोहं-जो-दड़ो का अर्थ है 'मरे हुओं का स्थान'—श्मशान। लोक में श्मशान में जाने वाला अशुद्ध हो जाता है उसको शुद्धि नहा-धोकर होती है। पर, साधुगण वहाँ शुद्धि के लिए समाधिस्थ होते है। ये विरोध कैसा ?

विचारा जाय तो कोई विरोध नहीं। जिसने मरे हुओं की खोजबीन की—पर की खोज में लगा रहा वह अशुद्ध हुआ और जिसने श्मशान का उपयोग वैराग्य के बंधन हेतु कर अपनी खोज का प्रयत्न किया वह शुद्ध हुआ।

तू सोच, कि तू उन मरे हुओं की खोज कर रहा है या अपनी ? अशुद्धि की ओर जा रहा है या शुद्धि की ? दिखता तो ऐसा है कि आज लोग आत्मा से भटके हैं और मात्र 'मोहं-जो-दड़ो' की खोज में लगे हैं।

ब्र० सीतल प्रसाद जन्मशताब्दी समापन समारोह

इस शती के अप्रतिम जिनधर्म प्रचारक एवं समाज सुधारक पूज्य ब्रह्मचारी शीतल प्रसादजी का जन्म लखनऊ मे १८७८ ई० मे हुआ था और उनका देहान्त भी इसी नगर में फरवरी १९४२ में हुआ, जहां डालीगंज स्थित जैन बाग मे कृतज्ञ समाज ने उनकी समाधि का निर्माण किया। जैनधर्म के इस युग के इस सर्वोपरि मिशनरी ने समाज एवं संस्कृति की सेवा, पत्रकारिता तथा जैन वाङ्मय के अध्ययन, चिन्तन एवं प्रसार के प्रति स्वय को पूर्णतया समर्पित करने हेतु रेलवे की अच्छी-खासी नौकरी से त्यागपत्र दिया, गृहस्थ जीवन को तिलांजलि दी और अपने मिशन के अनुरूप कार्य करने के लिए परिव्राजक ब्रह्मचारी का जैन शास्त्र विहित वेष धारण किया तथा उसी धुन मे सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया।

जब स्व० आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ने सरसावा मे वीर सेवामदिर की स्थापना की थी तो उन्होने इसका उद्घाटन ब्रह्मचारीजी के करकमलो द्वारा ही कराया था। ब्रह्मचारीजी उनके पत्र 'अनेकान्त' के भी सदैव बडे प्रशंसक रहे। ब्रह्मचारीजी के निधन पर मुख्तार साहब ने निम्नोक्त उद्गार व्यक्त किए थे—'ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी, जैन के एक बड़े ही कर्मठ विद्वान थे। जैनधर्म और जैनसमाज के प्रति उन्हे गाढ प्रेम था, लगन थी और साथ ही उनके उत्थान की चिन्ता थी-धुन थी। उसी धुन में वे दिन-रात काम किया करते थे—लिखते थे, लम्बे-लम्बे सफर करते थे, उपदेश तथा व्याख्यान देते थे और अनेक प्रकार की योजनाए बनाते थे। उन्हें जरा भी चैन नही था और न वे अपना थोड़ा-सा भी समय व्यर्थ जाने देते थे। जहाँ जाते वहाँ शास्त्र बाँचते, अपने पब्लिक व्याख्यान की योजना कराते, अग्रेजी पढे-लिखो मे धर्म की भावना फूकते, उन्हें धर्ममार्ग पर लगाते, सभा-पाठशालादि की स्थापना कराते और कोई स्थानीय सस्था होती तो उसकी जाँच-पडताल करते थे। साथ ही परस्पर के वैमनस्य को मिटाने और जनता मे फैसी हुई कुरीतियो को दूर कराने का भरसक प्रयत्न भी करते थे। प्रत्येक चौमासे मे अनुवादादि रूप से कोई ग्रन्थ तैयार करके छपाने के लिए प्रस्तुत कर देना और उसके छपकर प्रचार मे आने की समुचित योजना कर देना तो उनके जीवन का एक साधारण-सा क्रम हो गया था। उनमे एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे सहनशील थे—विरोधों, कटु आलोचनाओं, वाक्प्रहारों और उपसर्गों तक को खुशी से सह लिया करते थे और उनकी वजह से अपने कार्यों में बाधा अथवा विरक्ति का भाव नही आने देते थे। इसी गुण और धुन के कारण, जिसका एक समाजसेवी में होना आवश्यक है, वे मरते दम तक समाज की सेवा करने मे समर्थ हो सके। नि:सन्देह उन्होंने अपनी सेवाओं द्वारा जैनसमाज के ब्रह्मचारियों एव त्यागीवर्ग के लिए कर्मठता का आदर्श उपस्थित किया।'

पूज्य ब्रह्मचारीजी के जन्म शताब्दी समारोह का प्रारभ १९७९ ई० में लखनऊ में तथा अ० भा० दि० जैन परिषद के भिण्ड अधिवेशन में किया गया था और समापन २५ अक्तूबर १९८२ को लखनऊ में उनकी समाधि पर पुष्पांजलि अर्पित करके तथा श्रद्धांजलि सभा करके किया गया। परिषद के अध्यक्ष श्री डालचन्द जैन सागर आयोजन में मुख्य अतिथि थे और हम स्वागताध्यक्ष थे। समाचार भारती के अध्यक्ष श्री अक्षयकुमार जैन तथा देश के विभिन्न भागों से आये अनेकों विद्वानों एवं गणमान्य महानुभावों ने पूज्य ब्रह्मचारीजी के प्रति भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। हमने सभी समागत बन्धुओं का स्वागत करते हुए, पूज्य ब्रह्मचारीजी के जीवन, व्यक्तित्व, कृतित्व एवं समाजसेवाओं पर प्रकाश डाला। उपस्थित जनसमूह ने ब्रह्मचारीजी की प्रेरणाप्रद स्मृति को स्थायी बनाये रखने की कामना व्यक्त की। यह समारोह परिषद के कानपुर अधिवेशन की प्रेरणा पर जैनधर्म प्रवर्द्धनी सभा लखनऊ के तत्त्वावधान में सम्पन्न हुआ था, अतएव उक्त सभा के अध्यक्ष श्री इन्द्रचन्द्र जैन द्वारा धन्यवाद दिये जाने के साथ समाप्त हुआ किन्तु क्या पूज्य ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी जैसे युगपुरुषों के प्रति मात्र इतना कृतज्ञता ज्ञापन अलम् है?

—डॉ० ज्योति प्रसाद जैन

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो।

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० २ अप्रैल-जून १९८३

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

सविनय श्रद्धांजली

ऐसा कौनसा धर्मानुरागी है जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साधक, अध्यात्म-रसिक, जैनसिद्धान्तज्ञ श्री जिनेन्द्र वर्णी (श्री सिद्धान्त सागर जी) से परिचित न हो ? उनसे सभी परिचित हैं। जिसने एक बार उन्हें निरखा वह तृप्त हो गया। वर्णी जी के मन-वचन और काया तीनों संयम के मूर्तरूप थे। दूसरे शब्दों में वे 'मन में हो सो वचन उचरिए, वचन होय सो तन सों करिए' का पूर्ण रूपेण निर्वाह करते रहे। व्यवहार जगत में जहां लोग बड़ी से बड़ी कही जाने वाली विभूति में भी गुण-दोषों का विभाजन करते देखे जाते हैं वहां उन्हें वर्णी जी में सदा गुण ही परखने को मिलते रहे। वे वास्तव मे संत-सत्पुरुष थे।

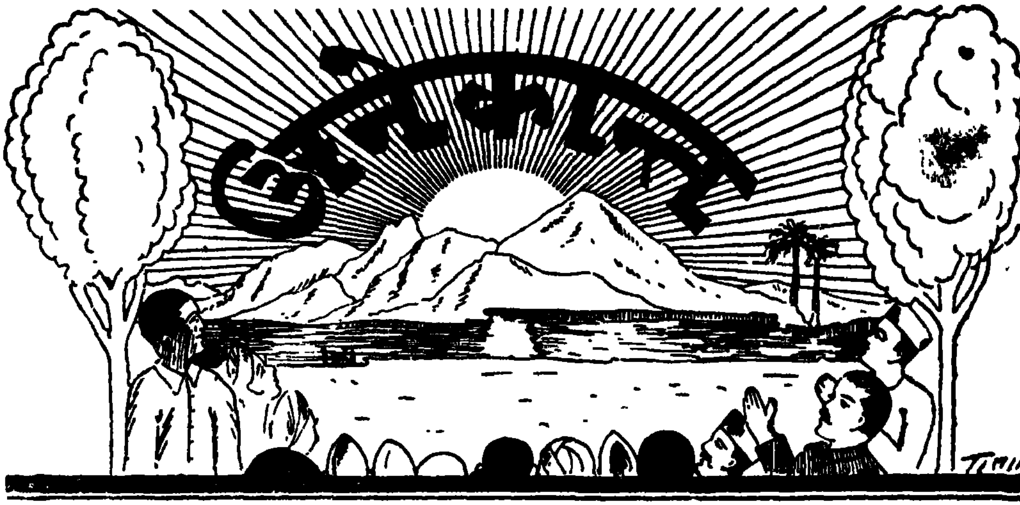
वर्णी जी का सैद्धान्तिक ज्ञान उनकी अपूर्व, अनूठी रचनाओं से ही उजागर रहा है। 'समणसुत्त', 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' और 'शान्तिपथप्रदर्शक' आदि के निर्माण उनकी ऐसी देन हैं जो 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' उनके स्मरण को बल देती रहेंगी। जो भी इन्हे पढ़ेगा, प्रचार में लाएगा अपूर्व पुण्योपार्जन का भागी होगा। हर्ष है कि उदारमना साहू श्री अशोककुमार जैन ने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष के द्वितीय संस्करण को भारतीय ज्ञानपीठ से पुनर्मुद्रण कराने का सकल्प प्रकट किया है। जैन ग्रन्थो के प्रकाशन मे भा० ज्ञानपीठ का अनूठा योगदान है।

वर्णी जी का त्याग सर्वथा त्याग के लिए था। यह प्रवृत्ति क्वचित् ही—कठिनता से दृष्टिगोचर होती है। जहां लोग त्यागकर कुछ ग्रहण करने की भावना रखते हैं—और नही तो यश-कीर्ति, पूजा-प्रतिष्ठा ही सही। वहा वर्णी जी कुछ नही चाहते थे। यदि उनकी चाह थी भी तो यही कि वे त्याग-त्याग और सर्वस्व त्याग की ओर बढ़े और एक दिन ऐसा आए कि निष्परिग्रही—अन्तरग व बहिरग परिग्रहों से मुक्त हो जाएँ। यही जैन दर्शन का सिद्धान्त है जहा आत्मा-आत्मा मे रह जाती है, शुद्ध-निर्विकल्प हो जाती है।

जीवन के अन्तिम क्षणो तक वर्णी जी ने अपने प्रण-पण का निर्वाह किया। उन्होने १२ अप्रैल १९८३ को सल्लेखना लेकर २४ मई १९८३ को समाधि-मरण प्राप्त किया। वे सदा ही अपने धर्म-साधन के प्रति जागृत रहे। हमें उनकी जीवन-चर्या से बहुत कुछ सीखना है। वे हमारे गुरु थे, हमे मार्ग प्रशस्त कर गए। वीर सेवा मन्दिर परिवार उनके असीम उपकार के लिए, उनके कृत्यों के प्रति श्रद्धावनत होते हुए उन्हें सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

—सुभाष जैन
महासचिव
वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, नई दिल्ली

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३६ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५०९, वि० सं० २०४० | अप्रैल-जून १९८३

सम्बोधन

कहा परदेसी को पतियारो ।
मन माने तब चलै पंथ कों, साँझि गिनै न सकारो ।
सबै कुटुम्ब छाँड़ि इतही, पुनि त्यागि चलै तन प्यारो ।।१।।
दूर दिसावर चलत आपही, कोउ न राखन हारो ।
कोऊ प्रीति करो किन कोटिक, अंत होयगो न्यारो ।।२।।
धन सों रुचि धरम सों भूलत, झूलत मोह मझारो ।
इहि विधि काल अनन्त गमायो, पायो नहि भव पारो ।।३।।
सांचे सुख सौं विमुख होत है, भ्रम मदिरा मतवारो ।
चेतहु चेत सुनहु रे 'भैया' आप ही आप संभारो ।।४।।
कहा परदेसी को पतियारो ।।

गरब नहि कीजे रे ए नर निपट गँवार ।
झूठी काया झूठी माया, छाया ज्यों लखि लीजे रे ।
कै छिन साँझ सुहागरु जोबन, कै दिन जग में जीजे रे ।।
बेगहि चेत बिलम्ब तजो नर, बंध बढ़ै थिति कीजे रे ।
'भूधर' पल-पल हो है भारी, ज्यों ज्यों कमरी भीजे रे ।।

□□

जैन न्याय के सर्वोपरि प्रस्तोता श्रीमद् भट्टाकलंकदेव

□ इतिहासमनीषी डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन 'विद्यावारिधि'

प्राय: छठी शती ई० के मध्य से लेकर १२वीं शती के अन्त पर्यन्त जैन साहित्याकाश का सर्वोपरि मुखर स्वर न्यायशास्त्र रहा[1]—सन्मति सूत्र प्रणेता सिद्धसेन दिवाकर (ल० ५५०—६०० ई०), द्वादशारनयचक्र के कर्ता मल्लवादी (ल० ६०० ई०) त्रिलक्षण-कदर्थन के रचयिता पात्रकेसरि (ल० ५७५-६०० ई०), अकलङ्कदेव महान, न्यायावतारकार सिद्धसेन (ल० ७००-७५० ई०), अनन्तकीर्ति प्र० (ल० ७५० ई०), याकिनीसुनू हरिभद्रसूरि (ल० ७५०-८२५ ई०), बृहद् अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र प्र०, परवादिमल्ल, विद्यानन्द (ल० ७७५-८२५ ई०), रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्य (ल० ८०० ई०), चन्द्रकीर्ति, अनन्तवीर्य द्वि०, नामदेव (ल० ६८५-७५ ई०), माइल्लधवल, माणिक्यनन्दि (ल० ६६५-१००० ई०), अभयदेव (ल० १००० ई०), नरेन्द्रसेन, वादिराज (ल० १०००—१०३५ ई०), महापंडित प्रभाचन्द्र (लगभग १०१०—१०६० ई०), जिनेश्वरसूरि (ल० १०५० ई०), वादीभसिंह अजितसेन (ल० १०५०-१०६० ई०), महासेन (१०५४ ई०), देवसेन (१०६८ ई०), चन्द्रप्रभ (१०६२ ई०), वसुनन्दि (ल० ११००-५० ई०), लघु अनन्तवीर्य (११०५-१७ ई०), हेमचन्द्राचार्य (११०६-७२ ई०), मुनिचन्द्र, वादिदेवसूरि (१११७-६६ ई०), शान्तिसूरि (ल० ११२५ ई०, कुमुदचन्द्र, विमलदास (ल० ११५० ई०), शान्तिषेण, मल्लिषेण (११५८ ई०), रत्नप्रभ ११६६ ई०), अभयचन्द्र, अजितसेन, रामचन्द्रसूरि, देवभद्र, लघुसमन्तभद्र (ल० १२०० ई०), चन्द्रसेन, प्रद्युम्नसूरि, चारुकीर्ति पंडितदेव (ल० १२०० ई०), प्रभादेव सौख्यनन्दि (ल० १२०० ई०), पं० आशाधर, प्रभृति लगभग पचास न्याय निष्णात जैन दार्शनिकों ने जैन न्याय के इस तथाकथित मध्ययुगीन सम्प्रदाय का प्रोत्साह संवर्द्धन एवं पोषण किया। किन्तु जैन दार्शनिक साहित्य के इस दौर के वास्तविक संस्थापक श्रीमद् भट्टअकलंकदेव ही थे[2], जिन्होंने अपने प्राय: समस्त उत्तरवर्ती लेखकों को प्रभावित एवं प्रेरित किया—मात्र जैन विद्वानों को ही नहीं, ब्राह्मण एवं बौद्ध दार्शनिकों को भी प्रभावित किया।

यह अकलंकदेव या भट्टाकलंकदेव जैन परंपरा में अकलंक नाम के प्रथम ज्ञात आचार्य हैं।[3] मात्र पूज्यपाद, देव, देवेन्द्र, मुनीन्द्र, वादिसिंह जैसे विरुदों से भी परवर्ती साहित्य में इनका कई बार उल्लेख हुआ है।[4] वह सर्वमहान जैन नैयायिक, तार्किक एवं वादी थे, और भारतीय न्याय दर्शन की जैन शाखा के वास्तविक संस्थापक थे। वस्तुत, विभिन्न सम्प्रदायों के नैयायिकों की दृष्टि में जैन न्याय और अकलंकन्याय पर्यायवाची शब्द बन गये।[5] अकलंकदेव के कई टीकाकार भी परम उद्भट नैयायिक थे और वह स्वयं दिगम्बर-श्वेताम्बर उभय-सम्प्रदायों के तथा जैनेतर सम्प्रदायों के भी अनगिनत मनीषियों की प्रशंसा के पात्र बने। अनेकों शिलालेखों, साहित्योल्लेखों, एवं लोकानुश्रुतियों में इन आचार्य प्रवर के प्रति परवर्ती पीढ़ियों की श्रद्धा मुखर हुई।[6]

अकलंकदेव की सुनिश्चित रूप से ज्ञात एवं उपलब्ध कृतियां हैं :

१. उमास्वामिकृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की अत्यन्त विद्वतापूर्ण विशद एवं विशाल टीका, तत्वार्थ राजवार्तिक, २. समन्तभद्राचार्य (२री शती ई०) की आप्तमीमांसा अपर नाम देवागम की ८०० पद्यों में रचित पांडित्यपूर्ण टीका, अष्टशती, ३. लघीयस्त्रय ४. न्यायविनिश्चय ५. सिद्धिविनिश्चय, ६. प्रमाण संग्रह या प्रमाणसार संग्रह —अकलङ्कदेव की समस्त कृतियां जैन न्याय के सर्वोत्कृष्ट रत्न हैं और प्रौढ़ संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। 'स्वरूप-संबोधन' आदि कई अन्य ग्रंथों के कृतित्व का श्रेय भी

उन्हें दिया जाता हैं, किन्तु उनमे से जो उपलब्ध है, वे परवर्ती लेखकों की कृतियां प्रतीत होती है।

प्राचीन काल के अन्य अनेक महान आचार्यों की भांति अकलङ्कदेव भी स्वय अपने विषय में प्राय कोई ज्ञानव्य प्रदान नही करते—उनकी कुछ कृतियो मे उनका नामोल्लेख मात्र प्राप्त होता है, केवल तत्त्वार्थराजवार्तिक के एक पद्य से ज्ञात होता है कि वह लघुहव्व नामक किसी नृपति के पुत्र थे[७]। अकलङ्काष्टक-सह-अकलङ्कचरित नामक एक लघु रचना का श्रेय भी स्वय अकलंकदेव को दे दिया जाता है, किन्तु अधिक सम्भावना यही है कि वह उनके किसी नातिदूर परवर्ती प्रशंसक की कृति है। इसमे अकलङ्कदेव के मुख से किन्ही राजन्—साहसत्तुग की राजसभा मे बौद्धो पर प्राप्त अपनी वाद विजय का सक्षिप्त विवरण दिया गया है, और उक्त घटना की तिथि वि० स० ७०० (अर्थात् ६४३ ई०) भी सूचित कर दी गई है[८]। दशवी शती ई० से ही अकलङ्क की बौद्धाचार्यो पर प्राप्त इस महत्वपूर्ण वाद विजय का उल्लेख अनेक शिलालेखो तथा ग्रन्थो मे प्राप्त होने लगता है[९]। विशेषकर, ११२८ ई० की मल्लिषेण-प्रशस्ति नामक शि० ले० मे उक्त घटना का विस्तृत वर्णन है जो अकलङ्कचरित के कथन की पुष्टि करता है, और बताता है कि उक्त शास्त्रार्थ महाराज हिमशीतल की राजसभा मे हुआ था तथा उक्त अवसर पर बौद्धाचार्यने अपनी सहायतार्थ तारादेवी का आह्वान किया था[१०]। प्रभाचन्द्र के आराधना-सत्-कथा प्रबन्ध (११वी शती) के अनुसार अकलङ्क का भक्त नरेश मान्यखेट का राजा शुभतुग था, जिसका पुरुषोत्तम नामक ब्राह्मण मन्त्री ही स्वय उनका पिता था, तथा उक्त शास्त्रार्थ कलिंग नरेश हिमशीतल के समक्ष रत्न-सचयपुर मे हुआ था[११]। श्रीचन्द्र और ब्रह्म नेमिदत्त के कथाकोशो मे प्राय उसी की पुनरावृत्ति है। कन्नड हिमशीतलकथे (१८०० ई०), राजाबलिकथे तथा भुवन-प्रदीपिका (१८०८ ई०) भी स्थूलतया कथाकोशों के कथन का ही समर्थन करते है, किन्तु वे अकलङ्क को तामिल देशवासी या कर्णाटक का निवासी सूचित करते हैं, जबकि कथाकोशो का इगित महाराष्ट्र की ओर है। साहसतुग के विषय में ये ग्रन्थ मौन हैं, और हिमशीतल को काञ्ची का राजा रहा बताते हैं, जो उक्त वादविजय के परिणाम स्वरूप जैनधर्म का अनुयायी बन गया था और उसने बौद्धो का उत्पीडन किया था। भुवनप्रदीपिका के अनुसार हिमशीतल तुण्डीर देश का राजा था और घटना की तिथी कलि स० ११२५ पिंगलसवत्सर थी[१२]। अजितसेन ने न्यायमणिदीपिका की प्रशस्ति मे सकल-राजाधिराज-परमेश्वर हिमशीतल के महास्थान को वादस्थल सूचित किया है[१३]। पीटरसन ने किसी अनुश्रुति के आधार पर अकलङ्क को राष्ट्रकूट कृष्ण प्र० (७५६-७२ ई०) का पुत्र सूचित किया[१४]।

उपरोक्त तथ्यो तथा सुप्रसिद्ध जैन, बौद्ध एव ब्राह्मणीय विद्वानों के साथ जो अकलङ्क द्वारा उल्लेखित हुए अथवा जिन्होने अकलक का प्रत्यक्ष या परोक्ष उल्लेख किया, स्वय अकलक की समसामयिकता एव पूर्वापर के आधार पर आधुनिक युगीन विद्वानों में अकलङ्क की तिथी एव जाति-कुलादि को लेकर तथा उनके भक्त नरेशों साहसत्तुग एवं हिमशीतल की पहिचान को लेकर, पर्याप्त ऊहापोह एव वाद विवाद हुए है। गत शताब्दी के प्रारंभिक दशको मे होने वाले कर्नल मेकेन्जी सम्भवतया सर्वप्रथम विद्वान थे जिनने उक्त आचार्य के विषय मे ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया[१५]। कर्नल मेकेजी के उल्लेखों के आधार पर विल्सन ने यह निष्कर्ष निकाला कि 'आठवी शती ई० मे श्रवण बेलगोल के जैन गुरु अकलङ्क ने, जिनकी अगन. शिक्षा त्रिवत्तूर के निकटस्थ पोन्नग के बौद्ध अधिष्ठान मे हुई थी, काञ्ची के अन्तिम बौद्धराजा हिमशीतल के समक्ष बौद्धो से वाद किया और उन्हे पराजित किया था। फलस्वरूप राजा ने भी जैन धर्म अपना लिया और बौद्धो को अपने राज्य से निर्वासित करके (सिंहलद्वीप के) कैन्डी नामक स्थान मे भेज दिया था[१६]। विल्सन का अनुसरण करते हुए जान मुरडोख ने वाद की तिथी लगभग ८०० ई० अनुमानित की[१७]। और राबर्ट सिवेल ने तो ठीक ७८८ ई० निर्धारित कर दी[१८]। बी० एल० राईस ने सिवेल के मत का समर्थन तो किया, उसे इस विषय में भी कोई सन्देह नही था कि हिमशीतल काञ्ची का कोई पल्लव नरेश था, किन्तु यह भी सूचित कर दिया कि वाद की तिथि के विषय मे स्वयं जैनों का

अविस्मरणीय वाक्य सप्त शैलाद्रि' आदि है, जिसके अनुसार वह तिथि शक ७७७ (या ८५५ ई०) बैठती है। साहसत्तुंग को चीन्हने मे उसने अपनी असमर्थता भी स्वीकार की[९]। तदुपरान्त प्रायः किसी भी विद्वान ने हिमशीतल की इस पहिचान पर सन्देह नही किया और अनेको ने ७८८ ई० की तिथि को भी मान्य किया[१०]।

जहां तक साहसत्तुग की चीन्ह का प्रश्न है, डा० पाठक ने उसका समीकरण पहले राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्र० (७५६-८२ ई० के साथ किया था, और डा० स० च० विद्याभूषण ने उनका समर्थन किया था[११]। कालान्तर मे पाठक ने अपने पूर्वमत मे सशोधन करके उसका समीकरण राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग (७४५-५६ ई०) के साथ कर दिया[१२]। तब से इस पहिचान पर भी किसी विद्वान ने प्रश्न चिन्ह नही लगाया—केवल डॉ० अल्तेकर एव डा० उपाध्येय ने उसे एक निराधार अनुमान मात्र माना[१३]।

उपरान्त काल मे कई विद्वानो ने आठवी शती ई० के उत्तरार्ध वाली (७८८ ई० आदि) तिथि को सर्वथा अस्वीकृत कर दिया और परम्परागत तिथि वि० स० ७०० (ई० ६४३), की सम्भवनीयता की पुष्टि करने का प्रयत्न किया[१४]। पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने तो स्वय अकलङ्क तथा उक्त शताब्दियों के अन्य जैन एव जैनेतर विद्वानों द्वारा किये गये पारस्परिक उल्लेखों आदि के आधार पर उनका पूर्वापर प्रकट करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि अकलङ्क सातवी शती ई० मे ही हुए है[१५]। किन्तु इन सब विद्वानों ने अकलङ्कीय अनुश्रुति के हिमशीतल एव साहसत्तुंग वाले पक्षों का स्पर्श नहीं किया और न ६४३ ई० की परम्परागत तिथि की ऐतिहासिकता पर ही कोई गवेषणा की।

इन महान आचार्य से सम्बन्धित मूल साधन स्रोतो, अनुश्रुतियो एवं आधुनिकयुगीन चर्चाओ के निरीक्षण-परीक्षण से निम्नोक्त तथ्य उभर कर सम्मुख आते है—

अकलङ्कदेव उमास्वामि (प्रथम शती ई०) और समन्तभद्राचार्य (२री शती ई०) के टीकाकार सुविदित है, तथा वह श्रीदत्त (ल० ४०० ई०), देवनन्दि-पूज्यपाद (४६४-५२४), सिद्धसेन दिवाकर (५५०-६०० ई०), पात्रकेसरि (५७५-६२५ ई०) और मल्लवादी (६००) ई० के उल्लेख या उनके उद्धरण आदि अपने ग्रन्थों में देते पाये जाते हैं[१६]।

जैनेतर विद्वानो मे पतञ्जलि के महाभाष्य (ईसापूर्व २री शती), वसुबन्धु के अभिधर्मकोष (ल० ४०० ई०) दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय (३४५-४२५ ई०) और भर्तृहरि के वाक्यपदीय (५९०-६५० ई०) से अकलङ्क अपने ग्रन्थो मे उद्धरण देते है, उनके मतों की आलोचना करते है, अथवा उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत करते हैं[१७]।

स्वयं अकलङ्क देव के सुविदित टीकाकार हैं—अभयचन्द्र (१२वी शती), प्रभाचन्द्र (९८०-१०६५ ई०), वादिराज (१०२५ ई०), अनन्तवीर्य द्वि० (ल० ८२५ ई०) और अनन्तवीर्य प्र० (ल० ७२५-५० ई०)। इसके अतिरिक्त, जिनसेनीय आदि पुराण (ल० ८३७ ई०), हरिभद्रसूरि (ल० ७२५-८२५ ई०) की अनेकान्त जयपताका, जिनसेन पुन्नाट के हरिवश (७८३ ई०), वीरसेनीय धवला टीका (७८० ई०) तथा सिद्धसेनगणि के तत्त्वार्थभाष्य (ल० ७५० ई०) मे अकलङ्कदेव का गुणगान, प्रशसा या प्रत्यक्ष वा परोक्ष उल्लेख प्राप्त है[१८]। जिनदास गणि महत्तर, जिनने अपनी नन्दिचूर्णि शक ५९८ (या ६७६ ई०) मे पूर्ण की थी, अपनी निशीथचूर्णि मे अकलङ्ककृत सिद्धिविनिश्चय को एक 'प्रभावक शास्त्र कहते है'[१९]।

अकलङ्क देव की कृतियो का भर्तृहरि (५९०-६५० ई०), कुमारिलभट्ट (६००-६६० ई०) एव धर्मकीर्ति (६३५-४० ई० की मृतियो के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से लगता है कि जैसे ये सब विद्वान प्रायः समसामयिक एव दार्शनिक क्षेत्र में साक्षात् प्रतिद्वन्द्वी थे—वे परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना करते प्रतीत होते हैं। अकलङ्क की उनके साथ अल्पाधिक समसामयिकता अवश्य रही लगती है, कम से कम उनके तथा अकलङ्क के मध्य दो-एक दशको से अधिक का अन्तराल रहा नही लगता।

अकलङ्क की परम्परागत तिथि, वि० स० ७ ० (या ६४३ ई०) की मान्यता की प्राचीनता कम से कम ९वी शती ई० मिलती है।

भुवनप्रदीपिका मे वह तिथि कलि सं० ११२५ पिंगल वर्ष के रूप मे प्राप्त होती है। एक लोकानुश्रुति के अनुसार कलिसवत का प्रारम्भ प्रथम नन्द नरेश के सिंहा-

सनारोहण से हुआ था और हरिवंश पुराण में सुरक्षित जैन अनुश्रुति उक्त घटना की तिथि विक्रमपूर्व ४२५ सूचित करती हैं। अतएव ११२५ मे से ४२५ घटाने पर विक्रम वर्ष ७०० प्राप्त होता है, और उस वर्ष का संवत्सर भी पिंगल ही था।

११२८ ई० की मल्लिषेण प्रशस्ति के अनुसार अकलङ्कदेव के एक कनिष्ठ सधर्मा पुष्पसेन थे। जिनके शिष्य महानवादी विमलचन्द्र थे जो कि 'शत्रुभयंकर' नामक किसी नरेश की राजसभा से सम्बद्ध थे। विमलचन्द्र के प्रशिष्य परवादिमल्ल भी भारी वादी एवं तार्किक थे और उनका सम्बन्ध कृष्णराज नामक एक नरेश से था[3]। जो विद्वान अकलङ्क को ८वी शती ई० मे हुआ मानते रहे, उन्होंने उक्त दोनों राजाओं को भ्रमवश राष्ट्रकूट गोविन्द तृ० (७९३-८१४ ई०) तथा राष्ट्रकूट कृष्ण द्वि० (८८४-९१४ ई०) के साथ क्रमशः समीकृत करने का प्रयत्न किया"। उक्त परवादिमल्ल ने न्यायविन्दु पर रचित बौद्ध विद्वान धर्मोत्तर (७२५-५० ई०) के टिप्पण पर अपनी टीका लिखी है[3]। और परवादिमल्ल के एक प्रशिष्य को गुजरात के राष्ट्रकूट वायसराय कर्कराज ने शक ७४३-८२१ ई०) के ताम्रशासन द्वारा दान दिया था"। अतएव इन परवादिमल्ल से सम्बन्धित नरेश राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम (७५८-७३ ई० ही हो सकता है[34]। इसी प्रकार, विवक्षित "शत्रुभयंकर" गंगनरेश श्री पुरुष मुत्तरस (७२६-७७७ ई०) से अभिन्न है। अनेक गग अभिलेखो मे इस नरेश का एक विरुद 'अरिभयंकर', जो 'शत्रुभयकर' का ही पर्यायवाची है, प्राप्त होता है—स्वय उसके अपने राज्यकाल के एक अभिलेख मे जो शक ६९८ (ई० ७७६) में अकित हुआ था यह विरुद प्राप्त है"। इस अभिलेख में विमलचन्द्र का भी उल्लेख है और उक्त उल्लेख से प्रतीत होता है कि उक्त आचार्य आठवी शती ई० के मध्य से पूर्व हुए होने चाहिए"।

७वी शती ई० के अन्तिम चरण तथा ८वी शती के प्रारम्भिक दशकों के कई चालुक्य अभिलेखो मे देवगण के किन्ही 'पूज्यपाद' के शिष्यों एव प्रशिष्यो के उल्लेख प्राप्त होते हैं और इन पूज्यपाद को अलक्तक नगर (वर्तमान अल्तेम, महाराष्ट्र मे) का निवासी रहा सूचित किया गया है"। इस विषय मे अब तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन 'पूज्यपाद' से अभिप्राय अकलङ्क देव का ही है"। अपनी धवला टीका (७८० ई०) में स्वामि वीरसेन ने भी अकलङ्कदेव का मात्र 'पूज्यपाद' नाम से ही स्मरण एवं उल्लेख किया है तथा उनके ग्रन्थो से उद्धरण दिये है"। अकलङ्कदेव एक महान सघाचार्य थे और वह देवगण (या देवसघ) से ही सम्बद्ध थे, नन्दि या देशियगण से नही"। उन्हे तथा उनके उत्तराधिकारियो को मुख्यतया वातापी के पश्चिमी चालुक्य नरेशो का सरक्षण एव राज्याश्रय प्राप्त था, और वे एक प्रसिद्ध ज्ञानकेन्द्र के अधिष्ठाता रहे, जो चालुक्यो की राजधानी वातापी (बादामी) से नातिदूर सभवतया एहोल अथवा उक्त अलक्तकनगर में स्थित था।

अकलङ्कदेव का भक्त 'राजन साहसतुंग' चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वि० (६०६-४२ ई०) के पुत्र एवं उत्तराधिकारी सम्राट विक्रमादित्य प्रथम (६४२-८१ ई०) से अभिन्न प्रतीत होता है—'विक्रम' शब्द 'साहस' शब्द का पर्यायवाची है, और विक्रमांक, साहसांक, साहसोत्तुग जैसे विरुद इस वश के, विशेषत विक्रमादित्य नामधारी नरेशों के साथ, उस काल मे भी तथा उनकी उत्तरकालीन कल्याणीशाखा के समय भी, प्रयुक्त हुए मिलते हैं। यह भी एक सम्भावना है कि राष्ट्रकूट दतिदुर्ग ने, जिसका राज्यारभ अब ८वी शती के दूसरे दशक मे हुआ माना जाने लगा है, और जिसने उक्त चालुक्यो को परास्त (पराभूत) करके अपना राज्य एव शक्ति स्थापित की थी। उनका 'साहसत्तुग' विरुद भी अपनाने का प्रयत्न किया हो, अथवा 'साहसांक' को कुछ परिवर्तित करके।

इसी प्रकार अकलङ्कीय अनुश्रुति का राजा हिमशीतल भी कलिंग देश का वह नरेश जो 'त्रिकलिंगाधिपति' कहलाता था, और जो मूलतः बौद्ध था तथा जिसके स्वय के अथवा निकट पूर्वज के समय मे चीनी यात्री हुएनसाग ने ६४३ ई० मे कलिंग की यात्रा की थी, रहा प्रतीत होता है। कलिंग देश के हीरक-रेणु तट पर स्थित रत्नपुर या रत्नसचयपुर नाम का एक नगर भी उस युग में था। वही उक्त महाराज हिमशीतल के समक्ष अकलङ्कदेव का वह इतिहास प्रसिद्ध शस्त्रार्थ बौद्ध विद्वानों के साथ

अविस्मरणीय वाक्य सप्त शैलाद्रि' आदि है, जिसके अनुसार वह तिथि शक ७७७ (या ८५५ ई०) बैठती है। साहसत्तुंग को चीन्हने में उसने अपनी असमर्थता भी स्वीकार की[१]। तदुपरान्त प्रायः किसी भी विद्वान ने हिमशीतल की इस पहिचान पर सन्देह नहीं किया और अनेको ने ७८८ ई० की तिथि को भी मान्य किया[२]।

जहां तक साहसत्तुग की चीन्ह का प्रश्न है, डा० पाठक ने उसका समीकरण पहले राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्र० (७५६-८२ ई० के साथ किया था, और डा० स० च० विद्याभूषण ने उनका समर्थन किया था[३]। कालान्तर मे पाठक ने अपने पूर्वमत में सशोधन करके उसका समीकरण राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग (७४५-५६ ई०) के साथ कर दिया[४]। तब से इस पहिचान पर भी किसी विद्वान ने प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया—केवल डॉ० अल्तेकर एव डा० उपाध्येय ने उसे एक निराधार अनुमान मात्र माना[५]।

उपरान्त काल मे कई विद्वानो ने आठवी शती ई० के उत्तरार्ध वाली (७८८ ई० आदि) तिथि को सर्वथा अस्वीकृत कर दिया और परम्परागत तिथि वि० स० ७०० (ई० ६४३), की सम्भवनीयता की पुष्टि करने का प्रयत्न किया[६]। प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने तो स्वयं अकलङ्क तथा उक्त शताब्दियो के अन्य जैन एवं जैनेतर विद्वानो द्वारा किये गये पारस्परिक उल्लेखों आदि के आधार पर उनका पूर्वापर प्रकट करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि अकलङ्क सातवी शती ई० मे ही हुए है[७]। किन्तु इन सब विद्वानों ने अकलङ्कीय अनुश्रुति के हिमशीतल एवं साहसत्तुंग वाले पक्षो का स्पर्श नहीं किया और न ६४३ ई० की परम्परागत तिथि की ऐतिहासिकता पर ही कोई गवेषणा की।

इन महान आचार्य से सम्बन्धित मूल साधन स्रोतो, अनुश्रुतियों एवं आधुनिकयुगीन चर्चाओं के निरीक्षण-परीक्षण से निम्नोक्त तथ्य उभर कर सम्मुख आते है—

अकलङ्कदेव उमास्वामि (प्रथम शती ई०) और समन्तभद्राचार्य (२री शती ई०) के टीकाकार सुविदित है, तथा वह श्रीदत्त (ल० ४०० ई०), देवनन्दि-पूज्यपाद (४६४-५२४), सिद्धसेन दिवाकर (५५०-६०० ई०), पात्रकेसरि (५७५-६२५ ई०) और मल्लवादी (६००)ई० के उल्लेख या उनके उद्धरण आदि अपने ग्रन्थों में देते पाये जाते हैं[८]।

जैनेतर विद्वानों मे पतञ्जलि के महाभाष्य (ईसापूर्व २री शती), वसुबन्धु के अभिधर्मकोष (ल० ४०० ई०) दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय (३४५-४२५ ई०) और भर्तृहरि के वाक्यपदीय (५९०-६५० ई०) से अकलङ्क अपने ग्रन्थो मे उद्धरण देते हैं, उनके मतो की आलोचना करते है, अथवा उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत करते हैं[९]।

स्वय अकलङ्क देव के सुविदित टीकाकार हैं—अभयचन्द्र (१२वी शती), प्रभाचन्द्र (९८०-१०६५ ई०), वादिराज (१०२५ ई०), अनन्तवीर्य द्वि० (ल० ८२५ ई०) और अनन्तवीर्य प्र० (ल० ७२५-५० ई०)। इसके अतिरिक्त, जिनसेनीय आदि पुराण (ल० ८३७ ई०), हरिभद्रसूरि (ल० ७२५-८२५ ई०) की अनेकान्त जयपताका, जिनसेन पुन्नाट के हरिवश (७८३ ई०), वीरसेनीय धवला टीका (७८० ई०) तथा सिद्धसेनगणि के तत्त्वार्थभाष्य (ल० ७५० ई०) मे अकलङ्कदेव का गुणगान, प्रशसा या प्रत्यक्ष वा परोक्ष उल्लेख प्राप्त है[१०]। जिनदास गणि महत्तर, जिनने अपनी नन्दिचूर्णि शक ५९८ (या ६७६ ई०) मे पूर्ण की थी, अपनी निशीथचूर्णि मे अकलङ्ककृत सिद्धिविनिश्चय को एक 'प्रभावक शास्त्र कहते हैं[११]।

अकलङ्क देव की कृतियों का भर्तृहरि (५९०-६५० ई०), कुमारिलभट्ट (६००-६६० ई०) एव धर्मकीर्ति (६३५-४० ई० की मृतियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से लगता है कि जैसे ये सब विद्वान प्रायः समसामयिक एव दार्शनिक क्षेत्र में साक्षात् प्रतिद्वन्द्वी थे—वे परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना करते प्रतीत होते है। अकलङ्क की उनके साथ अल्पाधिक समसामयिकता अवश्य रही लगती है, कम से कम उनके तथा अकलङ्क के मध्य दो-एक दशको से अधिक का अन्तराल रहा नही लगता।

अकलङ्क की परम्परागत तिथि, वि० स० ७ ० (या ६४३ ई०) की मान्यता की प्राचीनता कम से कम ९वी शती ई० मिलती है।

भुवनप्रदीपिका में वह तिथि कलि सं० ११२५ पिंगल वर्ष के रूप मे प्राप्त होती है। एक लोकानुश्रुति के अनुसार कलिसंवत का प्रारम्भ प्रथम नन्द नरेश के सिंहा-

स्नारोहण से हुआ था और हरिवंश पुराण मे सुरक्षित जैन अनुश्रुति उक्त घटना की तिथि विक्रमपूर्व ४२५ सूचित करती हैं। अतएव ११२५ में से ४२५ घटाने पर विक्रम वर्ष ७०० प्राप्त होना है, और उस वर्ष का संवत्सर भी पिंगल ही था।

११२८ ई० की मल्लिषेण प्रशस्ति के अनुसार अकलङ्कदेव के एक कनिष्ठ सधर्मा पुष्पसेन थे। जिनके शिष्य महानवादी विमलचन्द्र थे जो कि 'शत्रुभयंकर' नामक किसी नरेश की राजसभा से सम्बद्ध थे। विमलचन्द्र के प्रशिष्य परवादिमल्ल भी भारी वादी एवं तार्किक थे और उनका सम्बन्ध कृष्णराज नामक एक नरेश से था[30]। जो विद्वान अकलङ्क को ८वी शती ई० में हुआ मानते रहे, उन्होंने उक्त दोनों राजाओ को भ्रमवश राष्ट्रकूट गोविन्द तृ० (७९३-८१४ ई०) तथा राष्ट्रकूट कृष्ण द्वि० (८८४-९१४ ई०) के साथ क्रमश समीकृत करने का प्रयत्न किया[31]। उक्त परवादिमल्ल ने न्यायविन्दु पर रचित बौद्ध विद्वान धर्मोत्तर (७२५-५० ई०) के टिप्पण पर अपनी टीका लिखी है[32]। और परवादिमल्ल के एक प्रशि य को गुजरात के राष्ट्रकूट वायसराय कर्कराज ने शक ७४३-८२१ ई०) के ताम्रशासन द्वारा दान दिया था[33]। अतएव इन परवादिमल्ल से सम्बन्धित नरेश राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम (७५८-७३ ई० ही हो सकता है[34]। इसी प्रकार, बिवक्षित "शत्रुभयंकर" गंगनरेश श्री पुरुष मुत्तरस (७२६-७७७ ई०) से अभिन्न है। अनेक गग अभिलेखो मे इस नरेश का एक विरुद 'अरिभयंकर', जो 'शत्रुभयकर' का ही पर्यायवाची है, प्राप्त होता है—स्वय उसके अपने राज्यकाल के एक अभिलेख मे जो शक ६९८ (ई० ७७६) में अंकित हुआ था यह विरुद प्राप्त है[35]। इस अभिलेख में विमलचन्द्र का भी उल्लेख है और उक्त उल्लेख से प्रतीत होता है कि उक्त आचार्य आठवी शती ई० के मध्य से पूर्व हुए होने चाहिए[36]।

७वी शती ई० के अन्तिम चरण तथा ८वी शती के प्रारम्भिक दशकों के कई चालुक्य अभिलेखो मे देवगण के किन्ही 'पूज्यपाद' के शिष्यों एवं प्रशिष्यो के उल्लेख प्राप्त होते हैं और इन पूज्यपाद को अलक्तक नगर (वर्तमान अल्तेम, महाराष्ट्र में) का निवामी रहा सूचित किया गया है[37]। इस विषय में अब तनिक भी सन्देह नही है कि इन 'पूज्यपाद' से अभिप्राय अकलङ्क देव का ही है[38]। अपनी धवला टीका (७८० ई०) में स्वामि वीरसेन ने भी अकलङ्कदेव का मात्र 'पूज्यपाद' नाम से ही स्मरण एवं उल्लेख किया है तथा उनके ग्रन्थों से उद्धरण दिये है[39]। अकलङ्कदेव एक महान सघाचार्य थे और वह देवगण (या देवसंघ) से ही सम्बद्ध थे, नन्दि या देशियगण से नही[40]। उन्हे तथा उनके उत्तराधिकारियो को मुख्यतया वातापी के पश्चिमी चालुक्य नरेशो का सरक्षण एव राज्याश्रय प्राप्त था, और वे एक प्रमिद्ध ज्ञानकेन्द्र के अधिष्ठाता रहे, जो चालुक्यो की राजधानी वातापी (बादामी) से नातिदूर सभवतया एहोल अथवा उक्त अलक्तकनगर में स्थित था।

अकलङ्कदेव का भक्त 'राजन साहसत्तुग' चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वि० (६०६-४२ ई०) के पुत्र एव उत्तराधिकारी सम्राट विक्रमादित्य प्रथम (६४२-८१ ई०) से अभिन्न प्रतीत होता है—'विक्रम' शब्द 'साहस' शब्द का पर्यायवाची है, और विक्रमाक, साहसाक, साहसोत्तुग जैसे विरुद इस वश के, विशेषत विक्रमादित्य नामधारी नरेशों के साथ, उस काल मे भी तथा उनकी उत्तरकालीन कल्याणीशाखा के समय भी, प्रयुक्त हुए मिलते हैं। यह भी एक सम्भावना है कि राष्ट्रकूट दतिदुर्ग ने, जिसका राज्यारभ अब ८वी शती के दूसरे दशक मे हुआ माना जाने लगा है, और जिसने उक्त चालुक्यो को परास्त (पराभूत) करके अपना राज्य एव शक्ति स्थापित की थी। उनका 'साहसत्तुग' विरुद भी अपनाने का प्रयत्न किया हो, अथवा 'साहसांक' को कुछ परिवर्तित करके।

इसी प्रकार अकलङ्कीय अनुश्रुति का राजा हिमशीतल भी कलिंग देश का वह नरेश जो 'त्रिकलिंगाधिपति' कहलाता था, और जो मूलतः बौद्ध था तथा जिसके स्वय के अथवा निकट पूर्वज के समय में चीनी यात्री हुएनसाग ने ६४३ ई० में कलिंग की यात्रा की थी, रहा प्रतीत होता है। कलिंग देश के हीरक-रेणु तट पर स्थित रत्नपुर या रत्नसचयपुर नाम का एक नगर भी उस युग में था। वही उक्त महाराज हिमशीतल के समक्ष अकलङ्कदेव का वह इतिहास प्रसिद्ध शास्त्रार्थ बौद्ध विद्वानों के साथ

हुआ था"[१]। वस्तुतः अकलङ्क सम्बन्धी अनुश्रुतियां, ७वी शताब्दी ई० के मध्य भाग का राजनैतिक इतिहास, उस युग की धार्मिक स्थिति तथा अन्त साम्प्रदायिक सम्बन्ध चीनी यात्री हुएनसांग का यात्रावृत्त, अभिलेखीय साक्ष्य सब का स्पष्ट सकेत यही है कि बौद्धाचार्यो के साथ अकलङ्कदेव का वह इतिहास प्रसिद्ध वाद ७वी शती ई० के मध्योत्तर एक-दो दशको के भीतर ही किसी समय कलिंग देश के रत्नसचयपुर मे हुआ था, और अपने भक्त जिस राजन् साहमत्तुग की सभा मे आचार्य ने उक्त वाद विजय का वर्णन सुनाया था, वह वातापी का चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य प्र० (६४२-८१ ई०) ही था।

अनुश्रुति के अनुसार अकलकदेव के गुरु का नाम रविगुप्त था। क्या आश्चर्य है जो वह गुरु चालुक्य पुलकेशिन द्वि० की एहोल० प्रशस्ति (६३४ ई०) के इतिहास प्रसिद्ध कवि शिरोमणि तथा स्वय राजा के श्रद्धास्पद रविकीर्ति से अभिन्न हो। वह बौद्ध विद्यालय जहा अकलङ्क ने बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया था, चालुक्य राज्य मे ही स्थित कन्हेरी का प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र रहा हो सकता है।

इस प्रकार जैन न्याय के सर्वोपरि प्रस्तोता, वादीसिंह, देव, देवेन्द्र, पूज्यपाद आदि विरुदधारी श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव की पूर्वावधि ६४३ ई० और उत्तरावधि अधिक से अधिक ७२० ई० हो सकती है। वे सुनिश्चित रूप से सातवी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में सक्रिय रहे हैं।

अकलङ्कदेव की भारतीय दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में अप्रतिभ देन के मूल्यांकन के लिए महाकवि धनञ्जय (लगभग ७०० ई०) की नाममाला का प्रसिद्ध श्लोक पर्याप्त है—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जय-कवे. काव्य त्रिरत्नमपश्चिमम्॥

ध्यातव्य है कि इसी 'नाममाला' का एक पद्य स्वामी वीरसेन ने अपनी धवला टीका (७८० ई०) मे भी उद्धृत किया है"[२]। इसके अतिरिक्त स्वय अकलङ्कदेव के 'प्रमाण सग्रह' का मंगल श्लोक आठवी शती ई० से ही शिलालेखो मे प्रयुक्त होने लगा और ६वी आदि आगामी शताब्दियों मे तो इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि अत्यल्प परिवर्तन के साथ अनेक शैवादि जैनेतर शिलालेखो में भी प्रयुक्त हुआ पाया जाता है। आचार्य प्रवर अकलंकदेव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व का समुज्ज्वल प्रतीक वह अमर श्लोक है :—

"श्रीमत् परमगंभीर स्याद्वादामोघलांछनं।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन शासनम्॥"

सन्दर्भ-सूची

१. देखिए—ज्यो० प्र० जैन जैनासोर्मेज आफ दी हिस्ट्री आफ एन्सेन्ट इडिया (दिल्ली १९६४), पृ० १६३।
२. वही।
३. देखिए—शोधाङ्क—१ (१७ जुलाई ५८) पृ० १३-१५, जहा हमने अकलक नाम के बीस विभिन्न गुरुओ का परिचय दिया है तथा देखें—न्यायकुमुदचन्द्र, भा० १, प्रस्तावना पृ० २५।
४. ज्यो० प्र० जैन, पूज्यपाद आफ दी चालुक्यन रेकार्डस' जैना एन्टीक्वेरी, भा० १६, न० १, पृ० १६ आदि।
५. डा० स० च० विद्याभूषण, ए हिस्टरी आफ दी मेडिवल स्कूल आफ इडियन लाजिक, तथा न्यायकुमुदचन्द्र, (भा० १ व २) अकलक ग्रथत्रय एव तत्त्वार्थ राजवार्तिक की प्रस्तावनाएं।
६. वही, ११३८ ई० के एक शि० ले० (एपी० कर्णा०, भा० २, न० ६७, पृ० १७) मे तो इनके विषय मे कहा है कि जो 'जिनशासन प्रारम्भ से ही बेदाग रहता आया था, वह अब और अधिक निर्मल रूप मे देदीप्यमान हो उठा।'
७. जीयाच्चिरमलङ्क ब्रह्मा लघुहव्व नृपति वरतनयः।
अनवरतनिखिलविद्वज्जन नुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः॥
—देखिए हीरालाल, कैटे मैनुष्क्रिप्ट्स भूमिका पृ. २६
८. देखिए, एपी० कर्णा०, भा० २, भूमिका पृ० ४८, ८४, फ्लीट, डायनेस्टीज आफ कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स (प्र० सं०), पृ० ३२-३३; आर० नरसिंहाचर, इन्स० एट श्र० बे० गो० (द्वि० सं०), भूपिका।
तिथ्यांकित पद्य—

विक्रमार्क शकाब्दीय शतसप्त प्रमाजुषि ।
कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत ॥

९. एम० ए० आर०, १९२३, पृ० १५ (१०वीं शती), एपी० कर्णा०, भा० २, न० ६४, पृ० १७ व न० ६७ आदि । ग्रंथकारों में प्रभाचन्द्र, श्रीचन्द्र, वादिराज, अजितसेन, अजितब्रह्म, शुभचन्द्र आदि ।

१०. एपी० कर्णा०, भा० २, न० ६७ पृ० २७, श्र० बे० गो० इन्सीक्र० न० ५४ आफ ११२८ ई० ।

११. हीरालाल, केट० मेनुस्क्रिप्ट्स भूमिका पृ० २६ व १९, यह कथाकोश अब भा० ज्ञा० पीठ से प्रकाशित है ।

१२. देखिए, राईस, मैसूर एण्ड कुर्ग, पृ० २००-२०१; एम० ए० आर०, १९१८, पृ० ६८ ।

१३. प्रशस्ति संग्रह (आरा, १९४२), पृ० १ ।

१४. पीटरसन रिपोर्ट न० २, पृ० ७९, अल्तेकर, राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृ० ४०९ ।

१५. क० मेकेन्जी-कलेक्शन आफ मेनुस्क्रिप्ट्स (केट०, भा० ३, पृ० ४२३-३६) ।

१६. दी मेकेंजी-कलेक्शन्स, भूमिका पृ० ८० ।

१७. क्लासीफाईड केट० आफ तमिल प्रिन्टेडबुक्स १८६५, पृ० ६५-६६ ।

१८. ए स्केच आफ दी डायनेस्टीज आफ साउथ इंडिया, पृ० ७३ ।

१९. इन्स० एट श्र० बे० गो० (बगलोर १८८९), भूमिका पृ० ८५, मैसूर इन्सक्रि० पृ० ५६, पद्म रामायण, पृ० ३,—राईस को तिथि सूचक श्लोक का कोई ऐसा पाठ प्राप्त हुआ प्रतीत होता है जिसमें 'सप्त-प्रमाजुषि' के स्थान में 'सप्तर्णरात्रि' शब्द रहे। किन्तु यदि उक्त पाठ में कुछ सत्यांश है तो उसे विक्रम संवत् का वर्ष ही मानना उचित था । अर्थात् वि० स० ७७७=सन् ७२० ई०, और तब वह अकलंकदेव की अन्तिम उत्तरावधि का सूचक हो सकता है

२०. इस तिथि को न मान्य करने वालों में—एम० के० आयंगर ८५५ ई० के पक्ष में रहे (एन्शेन्ट इंडिया पृ० २९९), आर० जी० भंडारकर ७७८ ई० के (रिपोर्ट १८८९, पृ० ३१), स० च० विद्याभूषण ७५० ई० के (हिस्ट० मेडि० इंडि० लाजिक पृ० २६), नाथूराम प्रेमी ८५३-७५ ई० (जैन हितैषी भा० १२, पृ० ७-८), के० बी० पाठक ७४४–८२ ई० (एनल्स बी० ओ० आर० आई०, भाग ११, न० २, पृ० १५३), अल्तेकर ७८० ई० (राष्ट्रकूटाज पृ० ४०९), महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य (न्याय० कु० च० भा० १, प्रस्ता०) ७२०-८० ई० के पक्ष में रहा ।

२१. डा० स० च० विद्याभूषण पूर्वोक्त पृ० २६ ।

२२. जर्नल भंडारकर ओ० रि० इ०, भा० ११, न० २, पृ० १५५ ।

सन् १९०५ में ही मद्रास के गवर्नमेंट एपीग्रेफिस्ट ने रामेश्वर मन्दिर के शि० ले० में उल्लिखित 'साहसत्तुंग' का आशय राष्ट्रकूट दन्ति दुर्ग से हो सकता है । यह सम्भावना व्यक्त की थी और यह भी कि सम्भवतया अकलंकीय अनुश्रुति का साहसत्तुंग भी वही नरेश है (एपी रिपोर्ट, सदर्न सरकिल फार १९०५, पृ० ४९) । इस तिथि रहित, खंडित एवं त्रुटित अभिलेख को जो दन्ति के समय से कम से कम दो सौ वर्ष पश्चात् अंकित कराया गया था । डा० बी० ए० सालतोर ने अपना आधार बनाकर साहसत्तुंग का समीकरण राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग के साथ कर दिया (दी एज आफ गुरु अकलंक-जर्नल बाम्बे हिस्टोरिकल सोसायटी भा० ६, पृ० १०-३३) ।

२३ अल्तेकर पूर्वोक्त पृ० ४०९, उपाध्ये, जर्नल भंडारकर ओ० रि० ई०, भा० १४ पृ० १६४ ।

२४ एम० श्रीकंठ शास्त्री ६४५ ई० —(जर्नल भंडारकर ओ० रि०इ०, भा० १२, न० ३, पृ० २५५), आ० जुगलकिशोर मुख्तार—६४० ई० (स्वामी समन्तभद्र, पृ० १२५), ए० एन० उपाध्येय, ७वीं शती ई० का अन्तिम पाद (जर्नल भंडारकर भा० १४, पृ० १६४, फु० नो०) ।

२५. न्यायकुमुदचन्द्र भाग २, प्रस्तावना ।

२६. वही, तथा उसी के प्रथम भाग की, अकलंक-ग्रन्थत्रय की व राजवार्तिक की प्रस्तावनाएं, एस० सी० घोषाल की परीक्षामुखम् की भूमिका, पाठक एवं विद्याभूषण के पूर्वोक्त संदर्भ आदि ।

२७. वही । २८. वही । [शेष पृ० १२ पर]

"रूपशतक" एक अनूठी आध्यात्मिक कृति

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

मेरे पास 'बनारसी विलास' की एक प्राचीन हस्त-लिखित पोथी है जो २३ से० मी० लम्बी १४.१/२ से० मी० चौडी है। यह तीन चरणो मे लिखी गई है अत: तीनो का लिपिकाल भिन्न-भिन्न है। प्रथम चरण मे कविवर बनारसीदास कृत "समय सार कलश नाटक" है जो कार्तिक सुदी तृतीय गुरुवार स० अर्काद्रागत्य त्यष्टि (सभवत. १७०० हो स्पष्ट नही समझ सका) को श्रीलाभ-वर्द्धन मुनि ने लिपि की। द्वितीय चरण मे अमृतचद स्वामी की समयसार की सस्कृत टीका है जो माघ सुदी…रवि-वार स० १७२३ मे प० परमानद ने लिपि की और तृतीय चरण मे कविवर बनारसीदास कृत सभी रचनाए 'बनारसी विलास' के नाम से अकित है जो कार्तिक सुदी १४ स० १७३२ मे प० परमानद ने लिपि की। इनकी लिपि बडी सुन्दर और सुवाच्य है, पृष्ठ मात्रा का प्रयोग किया गया है, लाल स्याही भी प्रयुक्त है। अतिम चरण की लिपि मे प्रति पत्र ३३ पक्तिया है तथा प्रत्येक पक्ति मे २७ अक्षर है।

इस पोथी का सबसे बडा महत्व यह है कि कवि बनारसीदास एव प० रूपचन्द्र जी की मृत्यु के बाद क्रमश ३२ और २६ वर्ष बाद की लिखी हुई है। अत अन्य पोथियो की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय कही जा सकती है। इसी पोथी के प्रथम और द्वितीय चरण के बीच खाली छूटे कुछ पत्रो मे से तीन पत्रो अर्थात पांच पृष्ठों पर प्रस्तुत "रूपचद शतक" नामक श्रेष्ठ कृति अकित है। यह कृति 'बिहारी शतक' के दोहो की भाति बड़ी गभीर और अर्थ परक है, चूकि 'बिहारी शतक' शृगारी रचना है अत: हिन्दी मे पर्याप्त प्रसिद्ध हो गई है और यह आध्यात्मिक रस से सरावोर है अत. इसे उतनी अधिक ख्याति न मिल सकी। इसके दोहे सतसैया के दोहरो की भाति छोटे पर अत्यधिक गभीर और आध्यात्मिक हृदय को भेदने वाले है।

यद्यपि कवि रूपचद जी ने अपने शतक मे अपना परिचय नही दिया है अत: स्पष्ट रूप से कुछ कहना कठिन है पर चूकि 'बनारसी विलास' के बीच के पत्रों में इसे स्थान प्राप्त है और रूपचंद नाम से अलकृत है अत: यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह कृति कविवर बनारसीदास के गुरू प० रूपचद जी द्वारा रचित है, इस कृति को किन्ही पोथियो मे 'दोहा शतक' या 'परमार्थ शतक' नाम से भी उल्लेख किया है पर 'रूप शतक' या 'रूपचद शतक' के नाम से यह पहला ही उल्लेख देखने को मिला है।

पूर्ववर्ती विद्वान स्व० पं० नाथूराम जी प्रेमी तथा श्री कस्तूरचद जी कासलीवाल रूपचद नाम के दो विद्वान मानते है एक रूपचद दूसरे रूपचद पाडे। पर, परवर्ती विद्वान स्व० प० नेमीचंद जी ज्योतिषाचार्य तथा स्व० प० परमानद जी शास्त्री इन दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं। 'अर्धकथानक' के प्रकरणो से भी यही ज्ञात होता है कि दोनो एक ही है; कही उन्हे रूपचंद तथा कही उन्हे पाडे उपाधि से अलकृत रूपचद लिखा है। कही प० रूपचन्द भी लिखा है। वे स० १६९० मे आगरे पधारे थे और तिहुना के मंदिर मे ठहरे थे, वे दरियापुर (बाराबंकी) भी गये थे।

यही रूपचंद जी कविवर बनारसीदास के परम आदरणीय गुरू थे इन्हीं द्वारा गोमट्टसार के प्रवचन और उपदेश सुन बनारसीदास जी दिगम्बरत्व की ओर आकर्षित हुए थे और 'समयसार नाटक' जैसी सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक कृति जैन हिन्दी साहित्य को समर्पित कर सके। इसके अतिरिक्त बनारसीदास जी की और बहुत सी छोटी मोटी रचनाए है जिनका संकलन सं० १७०१ मे श्री जग जीवन ने 'बनारसी विलास' नाम से किया है।

पं० रूपचन्द जी का जन्म कुरु देश के सलेमपुर नामक ग्राम मे स० १६४० के लगभग हुआ था, ये गर्ग गोत्रिय अग्रवाल थे इनके बाबा मामट और पिता का नाम भगवानदास था। भगवानदास की दो पत्निया थी जिनमे से एक से ब्रह्मदास नामक पुत्र का जन्म हुआ था और दूसरी से हरिराज, भूपति, अभयराज, कीर्तिचन्द और रूपचद ये पाच पुत्र उत्पन्न हुए थे। यही रूपचद जी हमारे 'रूप शतक' या 'रूपचद शतक' के कर्ता है। चूकि रूपचद जी जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् थे और भट्टारकीय परम्परा से सबधित थे अत इन्हे 'पाण्डे' की उपाधि से अलकृत किया गया था। इनकी मृत्यु स० १६९४ मे हो गई थी। इनकी कई रचनाए उपलब्ध है जो आध्यात्म रस से पगी हुई है और सैद्धान्तिक चर्चाओ की अगाध भडार है। १. रूप (रूपचद) शतक (दोहा शतक परमार्थ दोहा शतक, दोहा परमार्थ इत्यादि) २. गीत परमार्थ या परमार्थी गीत ३. अध्यात्म सवैया ४ खटोलना गीत ५. पचमगल या मगल गीत प्रबन्ध ६. फुटकर पद ७ परमार्थ हिंडोलना ८ तत्वार्थसूत्र भाष टीका ९. नेमिनाथ रासो १० आध्यात्मिक जकडिया ११. समवशरण पूजा पाठ १२. पच कल्याण पूजा पाठ आदि-आदि। इनमे से अन्तिम दो कृतिया सस्कृत की सुपुष्ट रचनाए है। रूपचद कृत समय सार भाषा का भी उल्लेख मिलता है पर यह रचना स० १७०० की है अत यह कोई दूसरे रूपचद होगे क्योकि प्रस्तुत प० रूपचद जी का देहावसान तो स० १६९४ मे ही हो गया था। प्रस्तुत 'रूप शतक' बहुत ही सुन्दर और सरस है दोहा जैसे छोटे छद मे कवि ने आध्यात्म एव निश्चय व्यवहार आदि नयो की सैद्धातिक चर्चा का बडी गभीरता पूर्वक चित्रण किया है। पढ़कर मन प्रफुल्लित हो जाता है, आइए आप भी इसका रसास्वादन करें।

दोहा

अथ रूप शतक लिख्यते।
अपनौ पद न विचार हो अहो जगत के राइ।
भव बन छाय कहा रहे शिवपुर सुधि बिसराइ।१।
भव बन चेतन बसत ही बीते काल अनादि।
अब किन घर सभारि हो कित दु.ख देखत वादि।२।
परम अतिन्द्री सुख सुनै तुमहि गयौ सु भुलाइ।
किञ्चित इन्द्री सुख लगै विषय विरह लुभाइ।३।
विषयन सेवत हू भलै तिसना तो न बुझाइ।
ज्यू खारा जल पीवतै बाढ़ै तिस अधिकाइ।४।
तिसना उपशम कारनै विषयन सेवत आइ।
मृग बपुरा प्यासनि मरै ज्यु जल धोखो खाइ।५।
चेतन तुम भरमत भए रहे विषय सुखमानि।
ज्यो कपि शीत विथा मरै तापै गुजा आनि।६।
विषयन सेवत दु.ख भजै सुख व तिहारे जानि।
अस्थि चबनि निज रुधिर तै ज्यु सच मानै स्वान।७।
जिन ही विषयन दु ख दियो तिनही लागत धाइ।
माता मारे बाल ज्यो वह उठि पग लपटाइ।८।
विषयन सेवत दु ख बढै देखहु किन जीउ जोइ।
खाज खुजावत ही भलै फिर दु ख दूनो होइ।९।
सेवत विषय लगै भलै अन्त करहि अपकार।
दुरजन जन की प्रीति ज्यो जब तब होइ विकार।१०।
सेवत ही मधुरै विषय करुए होहि निशान।
विषफल मीठे खात ज्यु अन्त हरहि निज प्रान।११।
सेवि विषय तुम आपुनै लोयौ अनर्थ विमाहि।
आपुही आपन बधि रहे ज्यो क्रिमि कोठा माहि।१२।
चेतन तुम डहकाइ दे विषय सुखनि बौराइ।
रतन लियो सिसु पास तै ज्यो कछु इक दे माइ।१३।
लागत विषय सुहावने करत जु तिनसो केलि।
चाहत हो तुम कुशल ज्यो बालक फनि सो खेलि।१४।
विषयन सेवत सुख नही कष्ट भलै ही होइ।
चाहत हो कर चीकनो निरविष सलिल बिलोइ।१५।
देखि जु विषय सुहावने चाहत है सुख सेइ।
ज्यो बालक विषफल भखै वरजे पर हंस लेइ।१६।
विषयन के दु ख जरत हो विषयन ही सो रग।
दीपक देखि सुहावनो ज्यूं हठ जरत पतग।१७।
चेतन तुम जु परम दु:खी तातै विषय सुहात।
भूख मरत ज्यु स्वाद तै मूढ़ करेला खात।१८।
विषयन मन में राखिकै रहै प्रतीति जु भानि।
घर भीतर ज्यु फनि बसै जब तब पूरी हानि।१९।
विषय भिलाष न छडिहो क्रिया करत मन भाइ।
घर ही मैं बटवा परै बाहिर राखत काय।२०।
बिषयन की परनीति मैं सोवत कहा न चीत।

घर जु तुम्हारो लूटियो जागत काहि न मीन ।२१।
विषयन की मनमा किये हाथ परै कछु नांहि ।
ज्यो सेंवल सेवै सुआ उडै तूल फल माहि ।२२।
जैसी चेतन तुम करी ऐसी करै न कोय ।
विषय सुखनि के कारनै बैठे सर्वस खोय ।२३।
चेतन मरकट मूढ ज्यो बाध्यो परसो मोहि ।
विषय गहन छूटै नही मुकत बात कैसे होहि ।२४।
चेतन तुम जु पढ़ै सुआ, लटके भवद्रुम कूलि ।
विषय करहि किन छडिहौ कहा रहे भ्रम भूलि ।२५।
सुख लग विषय भजौ भलै सुख की बात अगाध ।
काजी पियै न पूजियै सुरहि दूध की साध ।२६।
निज सुख छत सेवत विषै चेतन यही समान ।
घर पंचामृति छडिकै मांगत भीख अयान ।२७।
सुख स्वाधीन जु परिहरै विषयनि परि अतिराग ।
कमल सरोवर छडिकै घट जल पीवै काग ।२८।
सेवत विषय अनादि तै तिसना तौ न बुझाइ ।
ज्यु जलतै सरिता पति ईंधन सिखि अधिकाइ ।२९।
चेतन सहजहि सुख बिना यह तिसना न बुझाई ।
मेघ सलिल बिन ऊमतै ग्रीषम तपति न जाइ ।३०।
चेतन तुमहि न बूझीए करत विदेश विहार ।
ताकै कहा अब चाहियै जाकै रतन भडार ।३१।
चेतन तुमहि कहा भयौ घर छाड़े बेहाल ।
संग पराये फिरत हौ विषय सुखनि के ख्याल ।३२।
बडे करे तुम धापियऊ करत नीच के काम ।
पर घर फिरत जु लघु भये बहुत धराए नाम ।३३।
अपने ही घर सब बडे पर घर महिमा नाहि ।
सिव के अरु भव के न रहे फेर कितौ इह मांहि ।३४।
सिव छड़े भव ही मतै अब है तुहारो ग्यान ।
राज तजै भिक्षा भषै सो तुम कियौ कहान ।३५।
चेतन तुम प्रभु जगत के रंक भए बिललात ।
बैठि चौक तजि चाट हो तिन सौ क्यु न लजात ।३६।
चेतन तुम हो कहा सदी रत्न त्रय निधि दावि ।
रहे दीन हुइ कृपन जिम कहा वहै फल सावि ।३७।
प्रथम अचेत अरु असुचि जो करै मिले में हानि ।
चेतन तन में बसत हो कहा भलाई जानि ।३८।
तन की संगति जरत हो चेतन दुःख सो आप ।
भाजन सगि सलिल तपै ज्यों पावक आताप ।३९।
क्षीर नीर ज्यु मिल रहै को न कहै तन और ।
चेतन तुम सा मझतन ही होत मिलै में चोर ।४०।
भिन्न भयो भीतर रहे बाहर मिल्यौ तो काइ ।
पर परतीति न मानिये शत्रु न चूकै दाव ।४१।
पर की सगति तुम गहै खोई अपनी जात ।
आपा पर न पिछ.न हो रहे प्रमादनि मात ।४२।
सहज प्रकृति तुम परहरी पकरी पर की वानि ।
प्रकृति फिरै जब पुरुष की होइ सर्वथा हानि ।४३।
जो कछु करै सो पर करै करै तुहारी छाह ।
दोप तुम्हारे सिर चढै तुम कछु समझत नाहि ।४४।
परसो सग कहा कियो पर सौ आश्रव होइ ।
सवर पर के परिहरै विरला बूझै कोइ ।४५।
पर सजोगतै बध है पर वियोग तै मोख ।
चेतन पर के मिलन मे लागत है सब दोप ।४६।
चेतन तुम जु सुजान हो जड सो कहा सनेह ।
जान अजानहिं क्यो मिलै मेरे मन सदेह ।४७।
अपनो ही अपनो भलो और न अपनो कोइ ।
कोकिल काग जु पोसिये काग न कोकिल होई ।४८।
स्व पर विवेक है नही तुमे पर सो कहत जु आप ।
चेतन मति विभ्रम भई रज्जु विषे जिम साप ।४९।
चेतन तुम बेसुध भए गयो अपनपौ भूलि ।
काहू तेरे सिर मनो मेली मोहन धूलि ।५०।
मोहे मम तुम आपको जानत हो पर दर्व ।
ज्यो जनमा तू कनक को कनकहि देखे सर्व ।५१।
भ्रम तें भूल्यो अपनपो खोजत किन घट माहि ।
बिसरी वस्तु न कर चढै जो घर ढूढहि नाहि ।५२।
घट भीतर सो आप है तुमहि नही कछु यादि ।
वस्तु मुठि में भूलिकै इत उत खोजत वादि ।५३।
पाहन माहि सुवर्न ज्यु दारु विषै हुत भोज ।
त्यु तुम व्यापक घट विषै देख करो किन खोज ।५४।
पुहुपनि विषै सुवास ज्यौं तिलनि विषै ज्यु तेल ।
त्यु तुम घट में रहत हो जिन जानहु यह खेल ।५५।
दर्शन ज्ञान चरित्र मय वस्तु बसै घट माहि ।
मूरख मरम न जानही बाहिर खोजन जाहि ।५६।
दर्शन ज्ञान चरित्र मय वचनहि मात्र विसेस ।

दहन पचन अरु तपन ज्यों अगिनिहि आहि असेस ।५७।
दर्शन वस्तु जु देखिए अरु जानि ये सुग्यान ।
चारित थिरता तहि विषै तिहुं प्रगटै निरबान ।५८।
रत्नत्रय समुदाय बिन, साध्य सिद्धि कहुं नाहिं ।
अंध पंगु अरु आलसी जुदे जरहि दौ माहिं ।५९।
दर्शन ज्ञान चरित्र के गहिये वस्तु प्रमान ।
पीरौ भारी चीकनौ ज्यो कंचन पहिचान ।६०।
एक जु ज्ञायक वस्तु है साधिरु साधक सोइ ।
निर विकलप दोई सोचिए सिद्धि सर्वथा होइ ।६१।
दर्शन ज्ञान चरित्र ए तीनू साधक रूप ।
ज्ञायक मात्र जु वस्तु है ताहि को जु सरूप ।६२।
प्रति विषयनि प्रति मति विषै प्रतिभासै जो कोइ ।
अद्वितीय आनदमय वस्तु प्रवानहि सोइ ।६३।
अपने रस ज्यों लो न निज्यूँ विश्व विषै चिद्रूप ।
सुद्ध बोध आनद मय जानहु वस्तु सरूप ।६४।
सोम गयो गलि भूमि मे जाग्मि अवर होइ ।
पुरुषाकार सुज्ञान मे वस्तु न जानै कोइ ।६५।
वस्तु सुद्ध चैतन्य मय लिपै छिपै कहु नाहिं ।
जद्यपि नव तत्त्वनि मिली मिलै न काहू माहिं ।६६।
तन मन वचन अगम्य है इन्द्रिनतै हो दूरि ।
वस्तु सु अनुभव ज्ञान के गम्य कहै जिन सूरि ।६७।
वस्तु सुजानहु जाहि विषै गुन परजै सह वास ।
अरु जहा सतत ही रहै थिति उत्पत्ति बिनास ।६८।
सहभावी गुन जानिए वस्तु विधान जु कोइ ।
क्रमवर्ती पर्याय है वस्तु विकार जु सोइ ।६९।
उपजै बिन जो ऊपजै नासै बिनु जु नसाई ।
जैसे कू तैसो रहै वस्तु सु प्रति पर्याय ।७०।
नित्य अनित्यादिक विविध धर्ममयी नर आहि ।
झगरत विमतिनि रूपिकै अंध दंत विधि ताहि ।७१।
नय विभाग बिनु अन्ध तै कलपत जुगत बनाइ ।
वस्तु सरूपनि जानिहिं मरत बहिर मुख धाइ ।७२।
अनेकांत नै वादिनी जिनवानी जु रमाइ ।
नित्य अनित्यादिक कथा ताके हिरदै समाइ ।७३।
जिनवानी नै भेद कै थापि जुदौ इक पक्ष ।
ता बिनु मुनि जन मोह कू लखै सुवस्तु अलक्ष ।७४।
विजन परजे नित्य ज्यो निश्चयनय समवाय ।
विवहार नय सुवस्तुहि छिनक अर्थ पर्याय ।७५।
निश्चय नय जो वस्तु है ज्ञायक रूपी एक ।
दर्शन ज्ञान चरित्र के व्यवहारै सु अनेक ।७६।
फास रहित रस रहित है गंध रहित जु रूप ।
अह प्रतीति जु मानिए वस्तु जु ज्ञायक रूप ।७७।
अमूर्तीक स्वभाव कै निश्चय नय सुविचार ।
मूर्तीक सौं बंध तैं वस्तु कह यौ व्यवहार ।७८।
लोक प्रमाण प्रदेस तै वस्तु सुनिश्चय रूप ।
सकुचनि पसरनि देह सम सो व्यवहार निरूप ।७९।
निश्चय नय नय परभाव को कर्ता भोक्ता नाहिं ।
विवहारै घट कार ज्यो सुकरै भुगतै ताहि ।८०।
सुद्ध निरजन ज्ञान मे निश्चय नय जे कोइ ।
प्रकृति मिलै व्यवहार की राग निरूपि सोइ ।८१।
निश्चय सुकत सुभाव नै बंध कह यौ व्यवहार ।
एवमादि नै जुगत कै जानहु वस्तु विचार ।८२।
निश्चय नय परमत्त जो अरु अप्रमत्त न होइ ।
गुन सगै व्यवहार कै पावहि ज्ञान किसोर ।८३।
नय प्रमाण निक्षेप कै परखि गहो निज वस्तु ।
चिन्तामनि ज्यु कर चढै त्यु कर चढै समस्त ।८४।
जहि देखे सब देखिए जानै सब जहि जान ।
जहि पाये सब पाईए लेहु ताहि पहिचान ।८५।
चेतन के परिचय बिना जप तप सबै निरत्थ ।
कन बिन तुस खुस फटकतै आवै कछू न हत्थ ।८६।
चेतन के परिचय नही कहा नए व्रतधारि ।
मालि बिहूनै खेत की वृथा बनावन वारि ।८७।
ता लगि सर्वस रूचत है अरु सब विषय कहान ।
जो लग चेतन तत्व है नहीं कहू पहिचान ।८८।
बिना तत्व परिचय लगत अपरभाव अभिराम ।
तम और रस रूचत है अमृत न चाख्यो जाम ।८९।
सुनै परचाए अनुभयै बार बार परभाव ।
कबहू भूलि न परतए ज्ञायक सुद्ध सुभाव ।९०।
कहां कहा भैनई तुम्हैं सुर नर पद की सिद्धि ।
पर कबहू भूलि न भई चेतन केवल सिद्धि ।९१।
अनादि दरसन मोह नै रही न सम्यक दृष्टि ।
चेतन ताके तत्व सो भई न कबहू दृष्टि ।९२।
जब लगु मोह न उपसमै सहजहि कर लहिपाइ ।

तब लगु निरमल दिष्टि बिनु तत्व पिछान न जाइ।९३।
ग्रंथ पढै अरु तप तपै सहै परीसह साहु।
केवल तत्व पिछान बिनु ही कहुं निर्वाहु।९४।
चेतन तुम जु अनादि तै कर्म कर्दमहि फेटि।
समल अमल जल ज्यो भए सहज सुभाव हि मेटि।९५।
भेद ज्ञान अब कतक फल सद्गुरु दयो लखाद।
चेतन निर्मल तत्व यह समल वके तक थाइ।९६।
गुरु बिन भेद न पाइये को पर को निज वस्तु।
गुरु बिन भव सागर विषै परत गहै को हस्त।९७।
जो गुरु गुन भेदहि सही तो जन हो इम सिद्धि।
लोहा कंचन होइ जिम कचन रस के बिद्ध।९८।
गुरु माता अरु गुरु पिता गुरु बाधव गुरु मित्त।
हित उपदेसै कवल ज्यूं बिकसावै जग चित्त।९९।
रूपचंद सदगुरुन की जनु बलिहारी जाइ।
आपुन वे सिवपुर गए भव्यन पंथ दिखाइ।१००।
गुरु न लखाई मैं लखी वस्तु भली पर दूर।
मन सरसी सम नाल ज्यूं सूत्र रहो भरपूर।१०१।

इति रूपचंद शतक समाप्तम्। श्री।

तीन पत्र पांच पृष्ठ। लम्बाई २३ से० मी० चौडाई १४॥ से० मी० पक्तियां ३३ अक्षर २७ (प्रति पत्र)

कार्तिक सुदि तृतीय गुरुवार सं० अर्कादाक्रुत्यत्यष्टि लाभवर्द्धन मुनि व्यलिखत।

त्रिद्विसप्तदशे वर्षे (१७२३) माघ सुदी रवौ लिपि परमानदेन। कार्तिक सुदी १४ स० १७३२ वर्षे प० परमानन्देन लिखत —श्रुत कुटीर, ६८ कुन्ती मार्ग, विश्वासनगर, शाहदरा दिल्ली-११००३२

[पृ० ७ का शेषांश]

२९. देखिए, न्या० कु० च०, भा० २, प्रस्तावना; मुख्तार, पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना पृ० ११०; सन्मति तर्क, प्रस्तावना, पृ० ३५-३६, जैसलमेर भंडार सूची (बडौदा), पृ० १८। सन् ६७६ ई० मे ही रचित जीतकल्पचूर्णि की श्रीचन्द्रसूरि द्वारा लिखित वृत्ति मे भी उक्त सदर्भ प्राप्त है।

३०. एपी० कर्णा०, भा० २, न० ६७, पृ० २७-२८; भाग ८, न० ३५, पृ० १३८-४२।

३१. बी० ए० साल्तोर, मेडिवल जैनिज्म, पृ० ३६-३७, एपी० कर्णा०, २, न० ६७, भूमिका पृ० ४८।

३२. विद्याभूषण, पूर्वोक्त, पृ० ३४, पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्ता० पृ० १४६; वर्णी० अभिग्रथ पृ० २०४।

३३. एपी० इंडिका, भाग २१, न० २२, पृ० १३३ आदि।

३४. देखिए हमारा लेख-- 'परवादि मल्लदेव और कृष्ण-राज', शोधांक—१२ (३१-८-६१) पृ० ३६-४२।

३५. एपी० कर्णा०, भा० ४, नागर ८५, पृ० १३५-३६ तथा भूमिका पृ० ६, मेडि० जैनिज्म, पृ० ८८, १५५;

३६. देखिए हमारा लेख—'विमलचन्द्रीय अनुश्रुति का 'शत्रुभयंकर', शोधांक ११ (१-६-६१), पृ० २-४।

३७. इंडियन एन्टीक्वेरी, भा० १२, पृ० १६-२१; भा० ७ पृ० ११२; भा० ३० पृ० १०६, डी० सी० सरकार, सक्सेसर्स आफ सातवाहनाज, पृ० ३००, मेडि० जैनिज्म, पृ० ४१-४२; जैना एन्टीक्वेरी भा० १३, न० २, पृ० ३३; एम० ए० आर०, १९२१, पृ० २३-२४।

३८. देखिए हमारा लेख—पूज्यपाद आफ दी चालुक्यन रेकार्डस, जैना एन्टीक्वेरी, भा० १६, न० १, पृ० १६-२०, भा० २०, न० २, पृ० १-८।

३९. वही।

४०. देखिए—हरिवंश पुराण (२/३१); भंडारकर की सूची, १८८६, पृ० ३१; न्यायकु० च०, भा० १ व २ तथा अकलंक ग्रन्थत्रय की प्रस्तावनाए।

४१. देखिये, ज्यो० प्र० जैन—'दी त्रिकलिंगाधिपति आफ हुएनसाग्स टाइम्स एड किंग हिमशीतल आफ अकलक ट्रेडीशन, जर्नल यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, भा० ३, (न्यू सीरीज), अक २, पृ० १०८-१२५ तथा ज्ञानोदय, नवम्बर ५० एव जनवरी, फरवरी, मार्च ५१ के चार अक।

४२. ज्यो० प्र० जैन, 'दी जैना सोर्सेज'—पूर्वोक्त, पृ० १८३।

४३. देखिये हमारा लेख—शोधांक ४ (१६ जुलाई ५६) पृ० १३०-१३३।

॥ इति ॥

स्वयंभू की भाषा और देशी तत्त्व

□ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

देशी तत्त्व का प्रश्न, स्वयभू की भाषा का ही नही, समूची भारतीय आर्य भाषा का प्रश्न है। भाषा जब क्षर रूप (बोल चाल के रूप) से अक्षर रूप (लिखित रूप) मे आती है, तब यह प्रश्न उठता है? लिखित रूप स्थिर रहता है, जबकि बोल चाल का रूप बदलता रहता है। लिखी गई भाषा से बोली गई भाषा, जब बहुत दूर जा पड़ती है, तो वह देशभाषा बन जाती है। भारतीय आर्य-भाषा का उद्गम, जिस बोली से हुआ, वह भारतमूलक आर्यों की अपनी बोली थी, आव्रजक आर्यों की भाषा भारत ईरानी की टहनी थी, यह विवाद यहा अप्रासगिक है। वह जो भी रही हो, उसका पहला लिखित रूप ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा है। पाणिनि ने जिस भाषा का व्याकरण लिखा, उसे उन्होने वेदभाषा की तुलना मे लोकभाषा कहा है। लोकभाषा यानी देशभाषा, लेकिन वह क्षेत्रीय दृष्टि से अविभाजित भाषा है। बोल चाल की भाषा बदलती है, बदलते-बदलते लिखित भाषा से दूर जा पड़ती है, तो वह फिर देशी भाषा बनती है, लिखित रूप ग्रहण करने पर, वह प्राकृत कहलाती है और पुरानी लिखित भाषा संस्कृत। 'कृत' (की गई) भाषाए दोनो हैं। एक संस्कारो से बधी हुई, दूसरी बोलने वालो के सहज वचन व्यापार के अधीन। प्राकृत क्षेत्रीय रूप से विभक्त होती है, शौरसेनी प्राकृत, अर्धमागधी और मागधी, उसकी ये तीन क्षेत्रीय इकाइया हैं। लिखित रूप में प्राकृतें स्थिर होती हैं तब बोलचाल की प्रक्रिया मे वे नए देशी रूप ग्रहण करती है, जिनका एक लिखित मानक रूप अपभ्रंश है, अपभ्रंश का अर्थ है और आगे विकसित या बढ़ी हुई भाषा। संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश की यह पहचान, श्रमणो ब्राह्मणो के सकुचित दृष्टिकोण से परे, एक विशुद्ध भाषा वैज्ञानिक पहचान है। स्वयभू ने इस भाषा को सामान्य भाषा कहा है :—

सामण्ण भास छुडु सावडउ
जुडु आगम जुत्ति का वि घडउ ३।१ प० च।

दूसरी जगह उन्होने उसे देशी भी कहा है·

सक्कय पायय—पुलिणा लकिय
देसीभाषा—उभय-तडुज्जल,

मेरी रामकथा रूपी यह नदी, संस्कृत प्राकृत के पुलिनो से अलकृत है तथा इसके दोनो किनारे देशीभाषा (अपभ्रंश) से उज्जवल हैं। स्वयभू ने यह भी कहा है कि मेरे वचन ग्राम्य प्रयोगो से रहित हो। इस प्रकार उनके सामने आर्यभाषा का पूरा प्रवाह क्रम था, संस्कृत प्राकृत अपभ्रश (देशी)। ग्राम्य वचनो से उनका अभिप्राय उन जनपद-बोलियो से था जो अस्तित्व मे आ चुकी थी, वस्तुत: ये भाषाए विद्यापति के शब्दो मे देशी वचन हैं, जो सबको मीठे लगते हैं। अपभ्रश और देशी वचन के बीच 'अपहट्ठ' की स्थिति थी। तात्पर्य यह है, कि 'देशी तत्त्व' आर्यभाषा का स्थायी या स्थिर तत्व नही, बल्कि उसके निरतर विकास की स्थितियों का सूचक तत्व है। सस्कृत प्राकृत और अपभ्रश, इसी देशी तत्व से अस्तित्व मे आई मानस भाषाए है! स्वयभू की भाषा मे 'देशी-तत्त्व' का यही अर्थ होना चाहिए। नीचे, कुछ शब्दों की व्युत्पत्तिया दी जा रही है, उनसे स्पष्ट होगा कि किस प्रकार काल और क्षेत्र के दबाव से परिवर्तन के सांचे में ढहा कर शब्द क्षर से अक्षर, और अक्षर से क्षर बनते हुए, आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ तक चले आए हैं।

पाहुना—अतिथि के अर्थ मे, यह शब्द हिन्दी प्रदेश के अलावा, पजाबी गुजराती मराठी आदि भाषाओ मे आज भी प्रयुक्त है, जो सस्कृत प्राघूर्णक से विकसित है। प्राघूर्णक—पाहुण्णअ पाहुण—पाहुन। स्वयंभू ने इसका प्रयोग किया है।

रयणउर हो आइउ पाहुणउ। प० च १०।६

रत्नपुर से पाहुना आया।

पैज—आधुनिक हिंदी में पैज प्रचलन में नही है. मध्ययुगीन हिंदी में इसका प्रयोग अधिक था।

व्युत्पत्ति होगी—प्रतिज्ञा—पइज्ज—पेज।

पइज करेवि गउ दस लोयणु (प० च)

रावण प्रतिज्ञा कर चला गया।

'चितउर चली पैज कै दूती', पदमावत

दूती प्रतिज्ञा कर, चित्तौड़ के लिए चली!

दाति—दाति शब्द का प्रयोग कबीर ने किया है।

"सतगुरु सवाँन को सगा
सोधी सईं न दाति,"

टीका कार, दाति का दाता अर्थ करते हुए लिखते हैं—सद्गुरु के समान कोई सगा नही है, और सोधी यानी ईश्वर के खोजी के समान कोई दाता नही है। प्रश्न है ईश्वर का खोजी दाता कैसे हुआ? दाता तो ईश्वर ही हो सकता है 'वास्तव में दानि' संस्कृत दातृता से बनी भाव वाचक सज्ञा है। स्वयंभू के प० च० में उल्लेख है 'णं दत्ति विवज्जिउ किविण धणु' मानो दान से रहित कजूस का धन हो। व्युत्पत्ति—दातृता—दत्तिआ—दत्ति—दाति। इसी प्रकार शोधि शुद्धि का तद्भव है। अत: कबीर की उक्त अर्धाली का अर्थ होगा सद्गुरु के समान कोई सगा नही है, और शोध (ईश्वर की खोज) के समान कोई दाति, देने या समर्पण का भाव नही है।

कंठ कुठार—'कंठ कुठार' के विचित्र अर्थ मानम की टीकाओ मे मिलते है। स्वयभू का अवतरण है :—

'दंत तिणग्गें कठ कुठारें
णमिउ णराहिउ विणयाचारें
हउं तुहारा एवहिं किंकरू
सपरिवार सकलत्तु सपुत्तउ' रि० णे० च०

राजा विराट युधिष्ठिर के मामने आत्मसमर्पण कर रहा है। अर्थ है :—

जिसमे तिनके का अगला भाग दांतो में है, कंठ मे कुठार है ऐसे विनय-आचरण से राजा विराट झुक गया (और बोला) मैं अब अपने परिवार कलत्र और पुत्र सहित, तुम्हारा अनुचर हू।

'रामचरित मानस' में अंगद रावण को राम के सामने आत्म समर्पण की विधि बता रहा है :—

"दसन गहहु तृण कंठ कुठारी,
परिजन संग सहित निज नारी॥
सादर जनक सुता करि आगे
एहि विधि चलहु सब भय त्यागे"

रावण, तुम दांतों मे तिनका लो, और कठ मे कुठारी, तथा अरिजनो के साथ अपनी नारी (पत्नी) लो। फिर आदर पूर्वक जनक पुत्री सीता को आगे करो सब प्रकार का भय छोड़कर इस प्रकार चलो। स्वयभू और तुलसी-दास के बीच लगभग ७०० वर्ष का अन्तर है, फिर भी, दोनो के मुहावरो मे समानता है। कुठार का अर्थ कुठार है, पग्गइ या कुछ और अर्थ करना ठीक नही। मध्य युग में अपनी हार मानने की यही विधि थी!

अहिवात—का अर्थ, हिंदी टीकाओ मे सौभाग्य मिलता है। प्रश्न है यह अर्थ कैसे हुआ—चिरु अहिवात, असीस हमारी"। वस्तुत: अहिवात के मूल मे अविध-वात्व शब्द है। अविधवात्व—अइहवत्त—अहिवत्त—अहिवात्त अहिबाता। अहिबाता, यानी तुम्हारा पति हमेशा बना रहे।

जौहर करना—जौहर करना और जौहर दिखाना दो अलग-अलग मुहाबरे हैं, हिंदी मे इनके बारे मे भ्रम है। पहले मूल में संस्कृत जतुगृह शब्द है, जबकि दूसरे में फारसी जौहर (साहस, रत्न) शब्द है। जतुगृह यानी लाक्षा गृह। प्राचीन भारत मे शत्रु को धोखे से मारने के लिए जतुगृह का उपयोग होता था जो विभिन्न रासा-यनिक द्रव्यो से बना होता था। महाभारत और स्वयभू के रिट्ठणेमि—चरिउ मे इसका विस्तृत वर्णन है। व्युत्पत्ति इस प्रकार है, जतुगृह—जउहर—जोहर—जौहर। जौहर करना—सामूहिक अग्निदाह करना।

बरात और जनेत—

मध्ययुगीन कविता मे 'बरात' और जनैत दोनों शब्दो का प्रयोग है, जो क्रमश: वरयात्रा और यज्ञ यात्रा के तद्भव हैं। हिंदी मे बरात प्रयुक्त है। स्वयभू ने वर आत्त और जण्णत्त शब्दो का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है। भारतीय परम्परा मे विवाह भी एक यज्ञ है। मानस मे वरि आता और 'जनेत' शब्दों का प्रयोग है।

(शेष पृ० १५ पर)

भागलपुर की प्राचीन जैन प्रतिमाएं

□ डॉ० अजयकुमार सिन्हा

भागलपुर[1], प्राचीन चम्पापुर, जैन धर्मावलम्बियों के लिए एक महत्वपूर्ण नगर है। प्राचीन जैन साहित्य में इसका उल्लेख प्रमुख रूप से मिलता है। यहां बारहवें तीर्थंकर भगवान वासुपुज्य[2] जी का जन्म तथा निर्वाण हुआ था। इसी कारण तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ[3] जी एव अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर[4] इस नगर में पधारे थे। प्रमुख जैन ग्रंथ **आचारांग सूत्र**[5] मे इस क्षेत्र की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था का विस्तृत रूप मे वर्णन हम पाते हैं। चीनी यात्री हुएनसांग[6] ने भी इस नगर (चेन पो) की समृद्धता का वर्णन किया है। **औपपातिक सूत्र**[7] में इस नगर के द्वार, प्रासाद, उद्यान एवं तालाबों का उल्लेख है।

वासुनन्दि[8] का मत है कि ऐसे सभी स्थान, जहां तीर्थकर ने जन्म लिया, दीक्षा ली अथवा निर्वाण की प्राप्ति किया जैन मन्दिर के लिए उपयुक्त हैं। भुवनदेव[9] ने अपने ग्रंथ **अपराजितपृच्छा** में लिखा है कि जैन मंदिर नगर के भीतर ही बनना चाहिए। चूंकि भागलपुर अर्थात प्राचीन चम्पापुर मे बारहवे तीर्थंकर भगवान वासुपुज्य पचकल्याण को प्राप्त हुए, अतएव यह जैनियों का एक महान तीर्थ बन गया। छठी शताब्दी ई० पू० मे ही इस नगर में भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा को दन्तपुर नरेश करन्दक ने स्थापित किया था।"[10] यहां भगवान महावीर के शिष्य सुधर्मन के समय मे एक समृद्ध जैन बिहार था। जो **पूर्णभद्र यक्ष चैत्य**"[11] के नाम मे विख्यात था। तब से निरन्तर जैन धर्म इस नगर मे फैलता गया। जिसका प्रमाण यहा के अनेक जैन मंदिरो मे सकलित प्राचीन जैन प्रतिमाए है जो प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सबसे प्राचीन प्रतिमा भगवान आदिनाथ"[12] की है। तीर्थंकर **कायोत्सर्ग** मुद्रा मे खडे है। इसका **वृतबंध जटाजूट** अत्यन्त प्रभावशाली है जो हमे गुप्तकाल का आभास देता है। इनके सीना पर अकित श्रीवत्स चिह्न, कधे तक लटकते हुए लम्बे कान, तथा कुंचित केशवल्लि, अधखुली आखे, मस्तक पर दोनो भौंहो के मध्य मे गोल टीका तथा इसका नग्न रूप सब एक साथ मिलकर एक महापुरुष के लक्षण को दर्शाते हैं। भगवान आदिनाथ एक साधारण आसन पर खड़े हैं जिसके मध्य मे धर्मचक्र चिह्न अति सुन्दरता से अकित है। इनका लाछन बैल (वृषभ) है

(पृ० १८ का शेषांश)

बरयात्रा—बरआत्त— बरात्त—बरात। यज्ञ यात्रा—जण्ण आत्त—जण्णत्त—जन्नत्त—जनेत।

पजाबी मे बरात के लिए 'जज' राजस्थानी और गुजराती मे 'जान' शब्द आता है। जो यज्ञ से बने शब्द है। यज्ञ—जण्ण—जाण—जान। पजाबी मे यज्ञ—जञ्ज—जज। बाराती को जानी और जाजी कहते है। इसी प्रकार दूल्हा पील सवार, दहेज ढोर आदि सैकडो शब्द है, जो आर्यभाषा की देशी प्रवृत्ति से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ मे प्रयुक्त है, जिन्हे हिंदी के कुछ अति उत्साही समन्वयवादी विद्वान् विदेशी मान रहे है, शब्द ही नही, उन्हे, अपभ्रंश, उसकी तुकात शैली, दूहा, रड्डाबद्ध काव्य शैली या पद्धडिया बध मे विदेशी प्रभाव (फारसी प्रभाव) दिखाई देता है। सौभाग्य से स्वयभू और पुष्पदत का साहित्य प्राचीन और आधुनिक के बीच, एक प्रामाणिक कड़ी उपलब्ध है। यदि यह न होती, तो ये सब शब्द विदेशी करार दे दिए गए होते, हम उन कवियो के अनुगृहीत तो है ही, परन्तु उनके भी अनुगृहीत हैं जिन्होने उन्हे सृजन की प्रेरणा दी और उनके साहित्य को सुरक्षित रखा।

शांति निवास ११४ उषा नगर
इंदौर ४५२००९

जो चरणचौकी पर बायी ओर मुख किये बैठा है। यह प्रतिमा ९६.५ × ४८.३ सेंटीमीटर का है तथा हल्के ग्रेनाइट पत्थर मे खुदा हुआ है। यह प्रतिमा निस्संदेह पाचवी-छठी शताब्दी की है। इस प्रतिमा मे यक्ष-यक्षिणी का अकन नही हुआ है।

दूसरी जैन प्रतिमा भी भगवान आदिनाथ की है जो **कायोत्सर्ग** मुद्रा में है। इनके मस्तक के ऊपर त्रिछत्र सुशोभित है जो चैत्यद्रुम से आच्छादित है इनका केश विन्यास साधारण है। जिनके लम्बे कान उनके कधे पर लटक रहे है। उनका आजानबाहु तथा श्रीवत्स चिह्न जैन प्रतिमा विज्ञान के अनुरूप है। इनके दोनो ओर छह छोटी-छोटी प्रतिमाए अकित है जिनमे ऊपर मे दायी ओर शासन देवी चक्रेश्वरी तथा बायी ओर यक्ष गोमुख है। ये दोनो कमल पर समपर्यंकासन मुद्रा मे बैठे है। इनके नीचे दोनों ओर सम्भवतः जिनके माता-पिता हैं। चरण चौकी के मध्य में धर्मचक्र है जिनके दोनो ओर भगवान आदिनाथ का लाछन बैल अकित है। यह प्रतिमा काले बसाल्ट पत्थर की है जिसका २५.४ × १५.३ सेटीमीटर माप है इसे सातवी सदी का माना जा सकता है।

भगवान आदिनाथ की पद्मासन मुद्रा मे बैठी प्रतिमा अत्यन्त आकर्षक है। जैन ग्रथ **विवेक विलास**[११] मे वर्णित विधान के अनुरूप इस प्रतिमा का अकन किया गया है। भगवान आदिनाथ अतिसुन्दर त्रिछत्र के नीचे ध्यानमुद्रा में बैठे है। इनके वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न अकित है। इस प्रतिमा मे जिनके शासन देवी तथा यक्ष की अनुपस्थित महत्वपूर्ण है। भगवान आदिनाथ की **वृतबंध जटाजुट** कधे तक लटकते लम्बे कान तथा घुंघराले केशवल्लि प्रतिमा-शास्त्र के विधानों के अनुरूप है। भगवान आदिनाथ मस्तक के ठीक ऊपर दोनो ओर शासन देवी चक्रेश्वरी तथा यक्ष गोमुख कमलदल पर आसीन हैं। यह बिहार के जैन प्रतिमा विज्ञान मे एक अद्भुत कलाकृति है। यह प्रतिमा काले बसाल्ट पत्थर में अकित है तथा इसका मा । ११२ × ६५ सेंटीमीटर है। यह प्रतिमा आठवीं शताब्दी की है। चरण चौकी के मध्य में धर्मचक्र तथा उनके दोनों ओर दो बैल, जो जिनके लांक्षण है सुन्दरता पूर्बक अंकित हैं।

भगवान आदिनाथ की एक चौबीसी भी कम महत्व-पूर्ण नही है। जिन पद्मासन मुद्रा मे एक कमल आसन पर आसीन हैं। चरण चौकी के मध्य में धर्मचक्र के स्थान पर शासन देवी चक्रेश्वरी स्वयम् एक शिशु को गोद में लिये बैठी है। जिनके एक ओर लांछन बैल तथा दूसरी ओर एक हाथी है। भगवान आदिनाथ के अगल-बगल में दो चामरधारी सेवक खडे हैं। भगवान का घुंघुराला केश भगवान बुद्ध के उष्णीष की भांति है। श्रीवत्स चिह्न नही दीख पडता है। जिनके मस्तक के दोनों ओर दो विद्याधर लबे पुष्पहार लिए हुए है। चैत्यद्रुम से आच्छादित त्रिछत्र जिनके मस्तक पर सुशोभित है तेइस अन्य तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा मे भगवान आदिनाथ के चारों ओर अत्यन्त सुदरता से अकित किये गये है। जिनके लाछण स्पष्ट है। यह प्रतिमा काले बसाल्ट पत्थर में उत्कीर्ण किया गया है तथा इसका माप ६० × ३६ सेंटीमीटर है।

भागलपुर के जैन मूर्तिकारों ने परम्परागत 'युगलिया' प्रतिमा को भी उत्कीर्ण किया। 'युगलिया' जिनको कुछ विद्वानो ने युग गोमेध तथा शासनदेवी चक्रेश्वरी की संज्ञा दी है[१४] पूर्ण विकसित कमल पर ललितासन मे विराजमान है। इन्होने सुन्दर मुकुट आभूषण आदि को धारण किया है। इनके दाहिने हाथो मे एक-एक फल तथा बायें हाथ से पकडे गोद में बिठाये एक-एक बालक है। इनके नीचे चार अन्य बालक तथा बगल में एक बालक बैठा है। इनके ऊपर चैत्यद्रुम के ऊपर कमलदल पर एक राजसिंहासन रखा हुआ है जिसपर भगवान आदिनाथ पद्मासन मुद्रा में आसीन हैं। जिनके मप्तक के पीछे एक अलंकृत प्रभामण्डल है जिसमें अतिसुन्दर छत्र अकित हैं। कुछ विद्वान जिनके नीचे मे आसीन युगलजोड़ी को उनका माता-पिता मानते हैं।[१५] ऐसी प्रतिमा बिहार तथा बगाल प्रदेश में कम संख्या मे मिलती हैं। यह प्रतिमा काले बसाल्ट पत्थर मे उत्कीर्ण है। इसकी सजीवता हमें अत्यन्त आकर्षित करती हैं। बिहार प्रान्त में अब तक प्रकाशित यह प्रथम युगलिया है। इसका माप ३०.५ × ५.३ सेंटीमीटर है।

सोलहवें तीर्थंकर भगवान शांतिनाथ की प्रतिमा कलात्मक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह काला

बसाल्ट पत्थर मे उत्कीर्ण है तथा इसका माप ६१ X ३०.५ सेंटीमीटर है। भगवान शांतिनाथ पद्मासन मुद्रा में पूर्ण पुष्पित कमल पर आसीन हैं। कमलासन दो सिंहों के पीठ पर स्थिर है। जिसके मध्य में एक धर्मचक्र अंकित है। धर्मचक्र के ठीक नीचे भगवान शांतिनाथ का लांछन मृग अतिसुन्दरता पूर्वक बनाया गया है। मृग के दोनों ओर दो उपासक दर्शाये गये हैं। भगवान शातिनाथ के ऊपर त्रिछत्र तथा उसके दोनों ओर मालाधारी विद्याधरों का अंकन बडा सजीव है। भगवान के मस्तक के पीछे चित्रित प्रभा-मण्डल प्रभावशाली है। इस प्रतिमा को अत्यन्त महत्वपूर्ण बनाता है **ज्योतिष्क देवों** का (जिन के दोनों ओर) चित्रण। ज्योतिष्क देव हिन्दू प्रतिमा विज्ञान के नवग्रह हैं। इस प्रतिमा मे सिर्फ आठ ज्योतिष देवों—सूर्य, सोम, मगल, बुद्ध, बृहस्पति, शुक्र, शनि एव राहु को दर्शाया गया है। बिहार प्रात में अब तक ज्ञात जैन प्रतिमाओ मे यह प्रतिमा अद्वितीय है।

उपर्युक्त सभी प्रस्तर प्रतिमाये भागलपुर के श्री चम्पापुर दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र मंदिर, नाथ नगर में सकलित है। ये प्रतिमाएं सन् १९१४[१५] ई० में चम्पानगर के एक सुखे तालाब (सम्भवतः रानी भग्गर छठी सदी ई० पू० द्वारा खुदवाए गए तालाब) से प्राप्त हुई थी तथा १९३४ ई० के भयानक भूकम्प में जब इनके लिए बना मंदिर ध्वस्त हो गया तब नाथनगर के प्रमुख दिगम्बर जैनियों के प्रयास से उपर्युक्त मंदिर मे सकलित किया गया।[१६] इसके लेखक ने उपर्युक्त मंदिर के सचिव श्री रतन लाल जैन बिनायक्या, जिनके सद्प्रयास से भागलपुर की जैन संस्कृति का दिन दूना रात चौगुना विकास हो रहा है के सहयोग एवं अनुमति से इसे विद्वानों तथा श्रद्धालु भक्तो के समक्ष रखने का प्रयास किया है। भागलपुर में जैन धर्म जो छठी सदी ई० पू० मे ही अपनी जड़ डाल चुका था अभी भी विकसित अवस्था मे है।

—बिहार शिक्षा सेवा
हटिया रोड, मोहल्ला : तिलका माझी,
भागलपुर (बिहार)

संदर्भ-संकेत

१. राय चौधरी, पी० सी०—बिहार डिस्ट्रीक्ट गजेटियर—भागलपुर: (पटना— १९६२) पृ० ५९९
२. समवायाग—पृ० ६७
३. भगवती सूत्र—पृ० २२३८
४. लाहा बी० सी०—महावीर : हिज लाइफ एण्ड टिचीग्स (लंदन—१९२७), पृ० ३२-३३
५. मिश्र, यु० कि०—सोसियो—इकानामिक एण्ड पोलिटीकल हिस्ट्री ऑफ इस्टर्न, (दिल्ली–१९७७) पृ० ४
६. बील० एस०—बुद्धिष्ट रिकॉडस ऑफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड, खण्ड १, पृ० १९१-९२
७. लाहा बी० सी० समन जैन कैनोनिकल सूत्राज, (कलकत्ता–१९१४) पृ० ७३
८. प्रतिष्ठासार संग्रह—३.३-४
९. अपराजित पृच्छा—१७९.१४
१०. चटर्जी, ए० के०—कम्प्रीहेन्सिभ हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म, (कलकत्ता—१९ ८), पृ० ७८
११. औपपातिक उपाग पृ० १०
१२. यह प्रतिमा उत्तर गुप्त कालीन है।
१३. विवेक विलास—१.१२८-३०
१४. शर्मा, बी० एन०—जैन प्रतिमायें, (नई दिल्ली—१९७९), पृ० ५२
१५. उपरिवत्—पृ० ३०
१६. भट्टाचार्य, बी० सी०—दी जैन आइकनोग्राफी, (नई दिल्ली–१९७८, नवीन संस्करण) पृ० ११६
१७. पाटिल, डी० आर०—दी एण्टिक्यूरियन रिमेन्स इन बिहार, (पटना–१९६३) पृ० १७८
१८. उपरिवत्

नागौर तथा उसमें स्थित भट्टारकीय दि० जैन ग्रंथ भंडार की स्थापना एवं विकास का संक्षिप्त इतिहास

□ डॉ० पी० सी० जैन

नागौर का ऐतिहासिक परिचय

वर्तमान मे नागौर राजस्थान प्रदेश का एक प्रान्त है जो उसके मध्य मे स्थित है। पहिले यह जोधपुर का प्रमुख भाग था। नागौर इस जिले का प्रमुख नगर है तथा यहाँ की भूमि अर्द्ध रेगिस्तानी है।

रामायण कालीन अनुश्रुति के अनुसार पहिले यहाँ पर समुद्र था। लेकिन रामचन्द्र जी ने अग्नि बाण चला कर उस समुद्र को सुखा दिया। महाभारत के अनुसार इस प्रदेश का नाम कुरू-जागल देश था। मौर्य वश का शासन भी इस क्षेत्र पर रहा। विक्रम की दूसरी शताब्दी से पांचवी शदी तक यह नागौर का अधिकांश क्षेत्र नाग-वशी राजाओ के अधीन रहा। उसी समय से नागौर नागपुर, नागपट्टन, अहिपुर, भुजगनगर, अहिछत्रपुर आदि विभिन्न नामो से समय-समय पर जाना जाता रहा। कुछ समय के लिए इस प्रदेश पर गौड़ राजपूतों का शासन रहा। गौड़ राजपूत कुचामन, नावां, मारोठ की ओर चले गए इसलिए बह पूरा प्रदेश गौड़वाटी के नाम से जाना जाने लगा।

बिक्रम की ७वी शताब्दी मे यहां पर चौहानों का शासन हुआ। चौहानों की राजधानी शाकम्भरी (सांभर) थी। इनके शासनकाल में यह क्षेत्र सपादलक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही कारण है कि आज भी स्थानीय लोग इसे सवालक्ष कहते है।

इसी बीच कुछ समय के लिए यह नगर प्रतिहारो के अधीन आ गया। जयसिंह सूरि के धर्मोपदेश की प्रशस्ति मे मिहिरभोज प्रतिहार का उल्लेख मिलता है। जयसिंह सूरि ने नागौर में ९१५ वि० स० मे इस ग्रन्थ की रचना की।[1]

अणहिलपुर पाटन (गुजरात) के शासक सिद्धराज जयसिंह ने १२वी शताब्दी मे इस क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। जो भीमदेव के समय तक बना रहा। महाराजा कुमारपाल के गुरू प्रसिद्ध जैनाचार्य कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरि का पट्टाभिषेक सम्वत् ११६६ की बैसाख सुदी ३ को यही पर हुआ था।

इसके बाद यह नगर तथा क्षेत्र वापिस चौहानो के मे चला गया। प्राचीन समय से ही यहाँ पर छोटा गढ बना हुआ था। जिसके खडहर आज भी उपलब्ध होते है, चौहानो ने अपने मध्य मे होने के कारण तथा लाहौर से अजमेर जाने के रास्ते में पड़ने के कारण यहा पर दुर्ग बनाना आवश्यक समझा क्योंकि उस समय तक महमूद गजनवी के कई बार आक्रमण हो चुके थे। नगर मे विशाल दुर्ग का निर्माण वि० स० १२११ मे पृथ्वीराज तृतीय के पिता सोमेश्वर के शासन काल मे बनना प्रारम्भ हुआ था जिसका शिलालेख दरवाजे पर आज भी सुरक्षित है।

सन् ११९३ मे पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) की हार के बाद यहां पर दिल्ली के सुल्तानो का अधिकार हो गया। उसी समय यहा पर प्रसिद्ध मुस्लिम सन्त तारकीन हुआ जो अजमेर वाले ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती का शिष्य था। इसकी दरगाह पर परकोटे के बाहर गिनाणी तालाब के पीछे की तरफ बनी हुई है। इनका उर्स के अवसर पर अजमेर के मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह से चादर कब्र पर ओढ़ने के लिए आती है। इसी समय से नागौर मुस्लिम धर्म का भी केन्द्र बन गया।

सन् १३२३ के एक शिलालेख के अनुसार इस क्षेत्र पर देहली के शासक फिरोजशाह तुगलक का शासन था। फिरोजशाह के शासन में ही दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के

भट्टारक द्वारा संवत् १३६० पौश सुदी १५ को दिल्ली में वस्त्र धारण करने की प्रथा का श्री गणेश हुआ। उसके पूर्व वे सब नग्न रहते थे। इन भट्टारकों का मुस्लिम शासकों (बादशाहो) पर अच्छा प्रभाव था इसलिए उन्हें विहार एवं धर्म प्रचार की पूरी सुविधा थी। यही नही मुस्लिम बादशाहो ने इनकी सुरक्षा के लिए समय-समय पर कितने ही फरमान निकाले थे। उसी समय से दिल्ली गादी के भट्टारक नागौर आते रहे और संवत् १५७२ मे नागौर मे एक स्वतन्त्ररूप में भट्टारक गादी की स्थापना की गयी।

सन् १४०० ई० के बाद नागौर की स्वतन्त्र रियासत स्थापित हुई जिसका सुल्तान[1] फिरोजखान प्रथम सुल्तान था जो गुजरात के राजवश[1] से सम्बन्धित था। जिसका प्रथम शिलालेख १४१८ ए० डी० का मिलता है। सुल्तान फिरोजखान के समय मे मेवाड के महाराजा मोकल ने नागौर पर आक्रमण किया तथा डीडवाना तक के प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। मोकल के लौटने पर शम्मखा के पुत्र मुजाहिदखां ने इस क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। शम्मखा ने शम्स तालाब बनवाया। शम्स तालाब के किनारे अपने गुरू की दरगाह तथा मस्जिद बनवाई। इसी दरगाह के प्रांगण मे ही शम्सखां तथा उनके वंशजो की कब्रें बनी हुई हैं। इस तालाब के चारों ओर परकोटा बना हुआ है।

महाराजा कुम्भा ने भी एक बार नागौर पर आक्रमण किया था। जिसका शिलालेख गोठ मांगलोद के माता जी के मन्दिर मे लगा हुआ है। महाराजा कुम्भा ने राज्य को वापस पुराने सुल्तान को ही सौंप दिया। इसी वश मे मुजाहिदखां, फिरोजखा, जफरखां, नागौरीखा आदि सुल्तान हुए। ये सुल्तान मुस्लिम होते हुए भी हिन्दू तथा जैनधर्म के विरोधी नही थे। इनके राज्यकाल मे दिगम्बर जैन भट्टारक तथा साधुओ का बिहार निर्बाध गति के साथ होता था। उस समय जैनधर्म के बहुत से ग्रन्थो की रचनायें एव लिपि करने का कार्य सफल हुआ। तत्कालीन प्रसिद्ध भट्टारक जिनचन्द्र (संवत् १५०७ से १५७१) का भी यहाँ आगमन हुआ था जिनके द्वारा १५६४ मे प्रतिष्ठित सैंकड़ो मूर्तियाँ सम्पूर्ण देश के बड़े जैन मन्दिरों मे उपलब्ध होती हैं। पं० मेधावी ने नागौर मे ही रह कर संवत् १५४१ में धर्मसंग्रह श्रावकाचार की रचना की थी।[4] इसमें फिरोजखान की न्यायप्रियता, वीरता और उदारता की प्रशंसा की है।[5] मेधावी भट्टारक जिनचन्द्र के शिष्य थे। इस ग्रन्थ की प्रतियाँ भारत के सभी जैन ग्रन्थ भंडारों मे प्राय पायी जाती है। इसी वश के नागौरीखां नवाब के दीवान परबतशाह पाटनी हुए थे जिनका शिलालेख श्री दिगम्बर जैन बीस पन्थी मन्दिर मे लगा हुआ है। इन परबतशाह पाटनी ने एक बेदी बनवाई तथा उसकी प्रतिष्ठा बडी धूमधाम से करायी थी ऐसा शिलालेख में लिखा है। चूने की पुताई हो जाने से पूरा लेख पढने मे नही आता है।

सुल्तानों के शासन के पतन के पश्चात् नागौर पर मुगल सम्राट अकबर का अधिकार हो गया। स्वय अकबर भी नागौर आया था। उसने गिनाणी तालाब के किनारे दो मीनारो वाली मस्जिद बनवाई जो आज भी अकबरी मस्जिद के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे अकबर के समय का फारसी भाषा का शिलालेख लगा हुआ है।

जोधपुर नरेश महाराजा गजसिंह के दो पुत्र थे—बड़े अमरसिंह तथा छोटे जसवन्तसिंह। अमरसिंह बड़े अक्खड निर्भीक और वीर थे। जोधपुर के सरदार अमरसिंह से नाराज हो गये। उन्होंने महाराजा से मिलकर अमरसिंह को देश निकाला दिला दिया। अमरसिंह शाहजहाँ के दरबार में गये, शाहजहाँ ने उनकी वीरता पर खुश होकर नागौर का प्रदेश इनको जागीर में दे दिया।

अमरसिंह के पश्चात् शाहजहाँ ने इन्दरसिंह को नागौर का राजा बना दिया। इन्दरसिंह ने शहर मे अपने रहने के लिए महल बनवाया जिसका उल्लेख महल के दरवाजे पर स्थित लेख मे मिलता है।

सैंकड़ों वर्षों तक मुस्लिम शासन में रहने के कारण धर्मान्ध शासको ने यहाँ के हिन्दू एव जैन मन्दिरो को खूब ध्वस्त किया। मन्दिरो को मस्जिदो मे परिवर्तित किया गया फिर भी नागौर जैन संस्कृति का एक प्रमुख नगर माना जाता रहा। सिद्धसेन सूरि (१२वीं शताब्दी) ने इसका प्रमुख तीर्थ के रूप में उल्लेख किया है। जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि के पट्टाभिषेक के समय यहाँ के धनद नाम

के श्रेष्ठि ने अपनी अपार सम्पत्ति का उपयोग किया था। १३वी शताब्दी में पेथडशाह ने यहाँ एक जिन मन्दिर का निर्माण कराया था। तपागच्छ की एक शाखा नागपुरिया का उद्गम भी इसी नगर से माना जाता है। १५वीं-१६वी शताब्दी में यहाँ कितनी ही श्वेताम्बर मूर्तियों की प्रतिष्ठाएं हुई। उपदेशगच्छ के कक्कसूरि ने ही यहाँ शीतलनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई थी।

भट्टारकीय दि० जैन शास्त्र भण्डार की स्थापना एवं विकास—

संवत् १५८१, श्रावण शुक्ला पचमी को भट्टारक रत्नकीर्ति ने यहाँ भट्टारकीय गादी के साथ ही एक बृहद् ज्ञान भण्डार की स्थापना की।[१] जिनचन्द्र के शिष्य भट्टारक रत्नकीर्ति के पश्चात् यहाँ एक के बाद दूसरे भट्टारक होते रहे। इन भट्टारको के कारण ही नागौर मे जैन धर्म एवं साहित्य का अच्छा प्रचार प्रसार होता रहा। नागौर का ग्रन्थ भण्डार सारे राजस्थान में विशाल एव समृद्ध है। पाण्डुलिपियो का ऐसा विशाल संग्रह राजस्थान में कही नही मिलता है। यहाँ करीब २० हजार पाण्डुलिपियों का संग्रह है जिनमें दो हजार से अधिक गुटके है। यदि गुटकों में संग्रहीत ग्रन्थों की संख्या कम की जावे तो इनकी सख्या भी १०,००० से कम नही होगी। भण्डार में मुख्यतः प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में निबद्ध कृतियां सर्वाधिक संख्या में है। अधिकांश पाण्डुलिपियाँ १४वी शताब्दी से १९वी शताब्दी तक की हैं जिससे पता चलता है कि गत १५० वर्षों से यहां ग्रन्थ संग्रह की ओर कोई ध्यान नही दिया गया। इससे पूर्व यहाँ ग्रन्थ लेखन का कार्य पूर्ण वेग से होता था। सम्पूर्ण भारतवर्ष के शास्त्रागारों में सैकड़ों ऐसे ग्रन्थ हैं जिनकी पाण्डुलिपियाँ नागौर में ही हुई थी। प्राकृत भाषा के ग्रंथों में आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की यहाँ सन् १३०३ की पाण्डुलिपि है, इसी तरह मूलाचार की सन् १३३८ की पाण्डुलिपि उपलब्ध होती है। कुछ अनुपलब्ध ग्रन्थों में वराग-चरिउ (तेजपाल) वसुधीर चरिउ (श्री भूषण), सम्यक्त्व कौमुदी (हरिसिंह) णेमिणाह चरिउ (दामोदर), जगरूपविलास (जगरूप कवि) कृपणपच्चीसी (कल्ह) सरस्वती लक्ष्मी सवाद (श्रीभूषण) क्रियाकोश (सुखदेव) के नाम उल्लेखनीय है।

भट्टारक परम्परा :—

नागौर की परम्परा में निम्न भट्टारक हुए[२]—

१.	भट्टारक	रत्नकीर्ति	संवत्	१५८१
२.	,,	भुवनकीर्ति	,,	१५८६
३.	,,	धर्मकीर्ति	,,	१५९०
४.	,,	विशालकीर्ति	,,	१६०१
५.	,,	लक्ष्मीचन्द	,,	१६११
६.	,,	सहस्रकीर्ति	,,	१६३१
७.	,,	नेमिचन्द्र	,,	१६५०
८.	,,	यशःकीर्ति	,,	१६७२
९.	,,	भानुकीर्ति	,,	११९०
१०.	,,	श्रीभूषण	,,	१७०५
११.	,,	धर्मचन्द्र	,,	१७१२
१२.	,,	देवेन्द्रकीर्ति	,,	१७२७
१३.	,,	सुरेन्द्रकीर्ति	,,	१७३८
१४.	,,	रत्नकीर्ति द्वितीय	,,	
१५.	,,	ज्ञानभूषण		
१६.	,,	चन्द्रकीर्ति		
१७.	,,	पद्मनन्दि		
१८.	,,	सकलभूषण		
१९.	,,	सहस्रकीर्ति		
२०.	,,	अनन्तकीर्ति		
२१.	,,	हर्षकीर्ति		
२२.	,,	विद्याभूषण		
२३.	,,	हेमकीर्ति		
२४.	,,	सेमेन्द्रकीर्ति		
२५.	,,	मुनीन्द्रकीर्ति		
२६.	,,	कनककीर्ति		
२७.	,,	देवेन्द्रकीर्ति		

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति नागौर गादी के अन्तिम भट्टारक थे। नागौर गादी का नागपुर, अमरावती, अजमेर आदि नगरों में भी सम्बन्ध रहा है तथा महाराष्ट्र के अन्य नगरों मे जहाँ मारवाड़ी व्यापारी रहते थे वहां भी वे जाया करते थे। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पश्चात् नागौर ग्रन्थ भण्डार बन्द पड़ा रहा। अनेक वर्षों के बाद पं० सतीश-

(शेष पृ० २५ पर)

जैनदर्शन में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय

□ अशोक कुमार जैन एम० ए०, शास्त्री

अनेकान्तदृष्टि जैवतत्वदर्शियों की अहिंसा का ही एक रूप है जो विरोधी विचारों का वस्तु स्थिति के आधार पर सत्यानुगामी समीकरण करती है और उमी अनेकान्त दृष्टि का फलितवाद नयवाद है[1]। प्रमाण और नय से जीवादि पदार्थों का अधिगम ज्ञान होता है।[2] प्रमाण वस्तु के पूर्णरूप को ग्रहण करता है और नय प्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु के एक अश को जानता है। वस्तु अनन्त-धर्म वाली हैं। प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ को एकदंश मे वस्तु का निश्चय कराने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है।[3] प्रमाण के द्वारा प्रकाशित अनेक धर्मात्मक पदार्थ के धर्मविशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय है।[4] आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद से गृहीत अर्थ के नित्यत्व विशेषधर्म के व्यञ्जक को नय कहा है।[5] नय[6] प्रमाण से उत्पन्न होता है अत: प्रमाणात्मक होकर भी अशग्राही होने के कारण पूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता। अत. जैसे घड़े का जल समुद्रैकदेश है उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश है[8] अप्रमाण नही। वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने पर भी ज्ञाता किसी एक धर्म की मुख्यता से ही वस्तु को ग्रहण करता है जैसे व्यक्ति मे अनेक सम्बन्धो के होते हुए भी प्रत्येक सम्बन्धी अपनी दृष्टि से ही उसे पुकारता है। अनेकान्त का मूल नय है। नय का विषय एकान्त है इसलिए नय को एकान्त भी कहते हैं और एकान्तों के समूह का नाम अनेकान्त है। अत: एकान्त के बिना अनेकान्त सम्भव नहीं है। जो वस्तु प्रमाण की दृष्टि मे अनेकान्तरूप है वही वस्तु नय की दृष्टि मे एकान्त स्वरूप है। यदि एकान्त न हो तो जैसे एक बिना अनेक नही वैसे ही एकान्त के बिना अनेकान्त नही। अत: जब सभी अनेकान्त रूप है तो अनेकान्त एकान्तरूप कैसे हो सकता है। प्रमाण और नय के द्वारा अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त है और विवक्षित नय की अपेक्षा एकान्त है। अत: नय के बिना अनेकान्त सम्भव नही है।[9] सकलादेश प्रमाण का विषय है, विकला देश नय का विषय है प्रमाण समग्र को विषय करता है तथा उससे ही नय प्ररूपणा की उत्पत्ति हुई है।[10] सकलादेश क्या है ? कथञ्चिद् घट है, कथञ्चिद् घट नही है, कथञ्चिद् घट अवक्तव्य है, कथञ्चिद् घट है नही है, कथञ्चिद् घट है और अवक्तव्य है, कथञ्चिद् घट नही है और अवक्तव्य है, कथञ्चिद् घट नही है और अवक्तव्य है इस प्रकार ये सातों भग सकलादेश कहे जाते हैं।[11] विकलादेश क्या है ? घट है ही, घट नहीं ही है, घट अवक्तव्य रूप ही है घट है ही और नही ही है, घट है तो और अवक्तव्य ही है, घट नही ही है और अवक्तव्य ही है, घट है ही, नही है और अवक्तव्यरूप ही है इस प्रकार यह विकलादेश है। सातों वाक्य एक धर्म विशिष्ट वस्तु का ही प्रतिपादन करने हैं इसलिए ये विकलादेश रूप है।[12] जैसे शास्त्रों का मूल अकारादि वर्ण है, तप आदि गुणों के भण्डार साधु में सम्यक्त्व है। धातुवाद में पारा है वैसे ही अनेकान्त का मूल नय है।[13] जो नय दृष्टि से विहीन हैं उन्हे वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नही हो सकता और वस्तु के स्वरूप को न जानने वाले सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं।[14] अध्यात्मशास्त्र मे नयो के निश्चय और व्यवहार ये दो भेद प्रसिद्ध है। निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा गया है।[15] इसी बात को माइल्ल धवल ने भी कहा है कि निश्चय नय और व्यवहार नय सब नयो के मूल भेद है।[16] निश्चय के साधन मे कारण पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक जानो। जैन अध्यात्म का निश्चय नय वास्तविक स्थिति को उपादान के आधार से पकडता है वह अन्य पदार्थो के अस्तित्व का निषेध नही करता जब कि वेदान्त या विज्ञानाद्वैत का परमार्थ अन्य पदार्थों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। बुद्ध की

धर्मदेशना को भी परमार्थ सत्य और लोकसंवृतिसत्य इन दो रूप[17] से घटाने का प्रयत्न हुआ है। जो नय आत्मा को बंध रहित और पर के स्पर्श रहित, अन्यत्वरहित, चलाचलता रहित विशेष रहित अन्य के संयोग रहित ऐसे पांच भाव रूप अवलोकन करता है उसे शुद्धनय जानो।[18] व्यवहार नय तो ऐसा कहता है कि जीव और देह एक ही है और निश्चय नय का कहना है कि जीव और देह ये दोनों तो कभी एक पदार्थ नही हो सकते।[19] स्वसमयी व्यक्ति दोनों नयों के वक्तव्य को जानता है पर किसी एक नय का तिरस्कार करके दूसरे नय के पक्ष को ग्रहण नही करता। वह एक नय को द्वितीय सापेक्ष रूप से ही ग्रहण करता है।[20] जिस पदार्थ में जितने शब्दों का प्रयोग होता है उसमें उतनी ही वाच्य शक्तियां होती हैं तथा वह जितने प्रकार के ज्ञानो का विषय होता है उसमें उतनी ही ज्ञेय शक्तियां होती हैं। शब्द प्रयोग का अर्थ है प्रतिपादन क्रिया। उसके साधन दोनों ही हैं शब्द और अर्थ। एक ही घट मे घट पार्थिव, मार्तिक, सत्, ज्ञेय, नया, बड़ा आदि अनेकों शब्दों का प्रयोग होता है तथा इन अनेक ज्ञानो का विषय होता है। अत: जैसे घड़ा अनेकान्तरूप है उसी तरह आत्मा भी अनेक धर्मात्मक है।[21] अनेकान्तात्मक जीव का कथन शब्दों से दो रूप में होता है एक क्रमिक और दूसरा यौगपद्य रूप से। तीसरा कोई प्रकार नही है जब अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादि की अपेक्षा भिन्न-भिन्न विवक्षित होते हैं उस समय एक शब्द मे अनेक अर्थों के प्रतिपादन की शक्ति न होने से क्रम से प्रतिपादन होता है इसे विकलादेश कहते है परन्तु जब उन्ही अस्तित्वादि धर्मों की कालादिक की दृष्टि से अभेद विवक्षा होती है तब एक भी शब्द के धर्ममुखेन तादात्म्यरूप से एकत्व को प्राप्त अखण्ड भाव से युगपद कथन हो जाता है और यह सकलादेश कहलाता है।[22] समन्तभद्र ने नय के साथ उपनय का भी प्रयोग किया है।[23] अकलङ्क देव ने लिखा है सग्रह आदि नय हैं और उसकी शाखा प्रशाखायें उपनय है।[24] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही मूल नय कहें गये हैं अन्य असंख्यात संख्या को लिए हुए उन दोनो के ही भेद जानने चाहिए। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन सात नयों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक को मिलाने से नौ नय हैं तथा तीन उपनय हैं वे हैं सद्भूत, असद्भूत और उपचरित।[25] शब्द की अपेक्षा नयों के एक से लेकर असंख्यात विकल्प होते हैं। मध्यम रुचि शिष्यों की अपेक्षा ७ भेद भट्टाकलङ्क देव ने बताये हैं।[26] जो उन-उन पर्यायो को प्राप्त होता है या उन-उन पर्यायो के द्वारा प्राप्त किया जाता है वह द्रव्य है।[27] स्व और पर कारणो से होने वाली उत्पाद और व्ययरूप पर्यायों को जो प्राप्त हो तथा पर्यायों से जो प्राप्त होता हो वह द्रव्य है।[28] जो सत् है वह द्रव्य है।[29] वह सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।[30] गुणपर्याय वाला द्रव्य होता है।[31] उत्पाद एवं नाशरूप पर्यायों से रहित द्रव्य नही होता और द्रव्य अर्थात् ध्रुवांश से रहित पर्याय नही होते क्योंकि उत्पाद नाश, स्थिति ये तीनो द्रव्य सत् का लक्षण है।[32] जो नही छोड़े हुए अपने अस्तित्व स्वभाव से उत्पाद-व्यय तथा ध्रौव्य से युक्त है और अनन्त गुणात्मक है, पर्याय सहित है उसे द्रव्य कहते हैं।[33] अकलङ्क देव ने नय के दो मूल भेद माने हैं द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक। द्रव्यमात्र के अस्तित्व को ग्रहण करने वाला द्रव्यास्तिक और पर्यायमात्र के अस्तित्व को ग्रहण करने वाला पर्यायास्तिक है। अथवा द्रव्य ही जिसका अर्थ है— गुण और कर्म आदि द्रव्यरूप ही है वह द्रव्यार्थिक ओर पर्याय ही जिसका अर्थ है वह पर्यायार्थिक। पर्यायार्थिक का विचार है कि अतीत और अनागत चूंकि विनष्ट और अनुत्पन्न है। अत: उनसे कोई व्यवहार सिद्ध नही हो सकता और वर्तमान मात्र पर्याय ही सत् है। द्रव्यार्थिक का विचार है कि अन्वयविज्ञान अनुमताकार वचन और अनुगत धर्मों का लोप नही किया जा सकता अतः द्रव्य ही अर्थ है।[34] माइल्लधवल ने भी जो पर्याय को गौण करके द्रव्य का ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जो कर्मों के मध्य में स्थित अर्थात् कर्मों से लिप्त जीव को सिद्धों के समान शुद्ध ग्रहण करता है उसे **कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक** नय कहते हैं। उत्पाद और व्ययको गौण करके जो केवल सत्ता को ग्रहण करता है उसे आगम से **सत्ता ग्रहण शुद्ध** द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। गुण गुणी आदि चतुष्क रूप अर्थ में जो भेद

नही करता वह भेद **विकल्प निरपेक्षशुद्ध द्रव्यार्थिक** नय है। जो सब रागादि भावो को जीव कहता है या रागादि भावो को जीव कहता है वह **कर्मोपाधि सापेक्ष** अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। जो नय उत्पाद-व्यय के साथ मिली हुई सत्ता को ग्रहण करके द्रव्य को एक समय मे उत्पाद-व्यय ध्रौव्यरूप कहता है वह अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। समस्त स्वभावो मे जो यह द्रव्य है इस प्रकार अन्वय रूप से जो द्रव्य की स्थापना करता है वह **अन्वय द्रव्यार्थिक** नय है। जो स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव मे वर्तमान द्रव्य को ग्रहण करता है वह **स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक** नय है और जो परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव मे असत् द्रव्य को ग्रहण करता है वह **परद्रव्यादिग्राहक-द्रव्यार्थिक** नय है। जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचरित स्वभाव से रहित परम स्वभाव को ग्रहण करता है वह **परमभाव-ग्राही द्रव्यार्थिक** नय है उसे मोक्ष के अभिलाषी को जानना चाहिए। जो अक्रमिक और अनिधन अर्थात् अनादि अनत चन्द्रमासूर्य आदि पर्यायों को ग्रहण करता है उसे जिन भगवान ने **अनादि नित्य** पर्यायार्थिक नय कहा है। जो पर्याय कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण सादि है अत विनाश का कारण न होने से अविनाशी है। ऐसी सादि नित्य पर्याय को ग्रहण करने वाला **सादि नित्य पर्यायार्थिक** नय है। जो सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करता है उसे अनित्य स्वभाव को ग्रहण करने वाला **शुद्ध पर्यायार्थिक नय** कहते हैं। जो एक समय मे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त पर्याय को ग्रहण करता है वह स्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है। जो चार गतियो के जीवो की अनित्य अशुद्ध पर्याय का कथन करता है वह **विभाव अनित्य** अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।[१५] गौण मुख्य विवक्षा से परस्पर सापेक्ष होकर ये नय सम्यग्दर्शन के कारण होते हैं और पुरुषार्थ क्रिया मे समर्थ होते हैं।[१६] नयों के मूलभेद मानने में भी मतभेद है आचार्य सिद्धसेन अभेदग्राही नैगम का सग्रह में तथा भेदग्राही नैगम का व्यवहार नय मे अन्तर्भाव करके नयों के छह भेद ही मानते है।[१७] षट्खण्डागम मे नैगमादि शब्दान्त ५ भेद नयों के गिनाये हैं पर कषाय-पाहुड़ में मूल ५ भेद गिनाकर शब्द नय के ३ भेद कर दिए हैं और नैगम नय के संग्रहिक और असंग्रहिक दो भेद भी किए है। इस तरह सात नय मानना प्राय. सर्वसम्मत है ऐसा प्रो० महेन्द्रकुमार जी ने लिखा है।[१८] द्रव्यार्थिक नय तीन प्रकार का है संग्रह, व्यवहार और नैगम। इन तीनों मे से जो पर्यायकलक से रहित होता हुआ अनेक भेदरूप सग्रह नय है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक है और जो पर्याय-कलक से युक्त द्रव्य को विषय करने वाला व्यवहार नय है वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक है। जो सत् है वह दोनों अर्थात् भेद और अभेद को छोडकर नही रहता है इस प्रकार जो केवल एक को अर्थात् अभेद या भेद को हीं प्राप्त नही होता है किन्तु मुख्य और गौणभाव से भेदाभेद दोनो को ग्रहण करता है उसे नैगम नय कहते है। शब्दशील, कर्म, कार्य, कारण, आधार, आधेय, सहचार, मान, मेय, उन्मेय, भूत, भविष्यत् और वर्तमान इत्यादिक का आश्रय लेकर होने वाला उपचार नैगम नय का विषय है।[१९] पर्यायार्थिक नय ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवम्भूत के भेद से ४ प्रकार है इनमे जो तीन काल विषयक अपूर्व पर्यायो को छोडकर वर्तमान कालविषयक पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है।[२०] जो शपति अर्थात् अर्थ को बुलाता है या उसका ज्ञान कराता है वह शब्दनय है यह नय लिंग, वचन, कारक पुरुष और उपग्रह के व्यभिचार को दूर करने वाला है।[२१] शब्दभेद से जो नाना अर्थों मे रूढ हो अर्थात् जो शब्द के भेद से अर्थ के भेद को स्वीकार करता है वह समभिरूढ़ नय है।[२२] जैसे इन्दन अर्थात् ऐश्वर्यों व सोम रूप क्रिया के सयोग से इन्द्र, सकन क्रिया के सयोग से शक्र और पुरो के विभाग करने रूप क्रिया के सयोग से पुरन्दर इस प्रकार एक अर्थ का एक शब्द से परिज्ञान होने से अथवा अन्वर्थक शब्द का उस अर्थ मे सामर्थ्य न होने से पर्याय शब्दो प्रयोग व्यर्थ है इसलिए नाना अर्थों को छोड़कर एक अर्थ मे ही शब्द का रूढ़ होना इस नय की दृष्टि मे उचित है।[२३] जो शब्द गत वर्णों के भेद से अर्थ का और गौ आदि अर्थ के भेद से गो आदि शब्द का भेदक है वह एक भूतनय है क्रिया का भेद होने पर एवम्भूत नय अर्थ का भेदक नही है क्योकि शब्द नय के अन्तर्गत एवं-भूत नय के अर्थ नय का विरोध है।[२४]

जैनदर्शन में ये नय वस्तु को सम्यक् रूप से समझने

की कुंजी है। तत्वज्ञान के निरूपण की दिशा वस्तु तत्व के विश्लेषण पूर्वक वर्णन की होती है। अतः हमें आचार्यों की विभिन्न नय दृष्टियों का यथावत् परिज्ञान करके तथा तीर्थ की व्याख्या मे प्रवृत होना चाहिए। एक आचार्य की भी विभिन्न प्रकरणों में क्या विवक्षा है यह सम्यक् प्रतीति करके ही सर्वनय समूह साध्य अनेकान्त

—निकट दि० जैन मन्दिर,
बिजनौर

सन्दर्भ-सूची

१. कषायपाहुड़ भाग १ प्रस्तावना पृ० १०६ प्र० भारतवर्षीय दि० जैन संघ, मथुरा।

२. प्रमाणनयैरधिगमः तत्वार्थ सूत्र १-६।

३. धवला स० पृ० ७३।

४. नयोज्ञातुरभिप्राय —लघीयस्त्रय-अकलंकदेव श्लोक ५२

५. प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नय १-३३ तत्वार्थ राजवार्तिक।

६. स्याद्वादप्रविभक्तार्थ विशेषव्यञ्जको नय। आप्तमीमांसा श्लोक १०।

७. सिद्धि विनिश्चय १०।३।

८. नाय वस्तु न चा वस्तु वस्त्वश कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥
— त० श्लोकवार्तिक ११६

९. अनेकान्तोऽप्यनेकान्त प्रमाण नय साधन।
अनेकान्त प्रमाणान्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥
—वृ० स्वयभूः समन्तभद्र १०३।

१०. सकलादेश. प्रमाणाधीन, विकलादेशो नयाधीन।
—सर्वार्थसिद्धि. पूज्यपाद ११६

११. स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्य. स्यादस्ति च नास्ति च स्यादस्ति चा वक्तव्यश्च स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति सप्तापि सकलादेशः।
—कषायपाहुड़ भाग १, पृ० २०१-२०२

१२. कषाय पाहुड़ भाग १, पृ० २०३।

१३. जह सत्थाणं माई सम्मत्त जह तवाइगुणनिलए।
धाउवाए रसो तहणयमूल अणेयंते ॥
—द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नय चक्र। माइल्लधवल १७५

१४. जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धि।
वत्थुसहाव विहूणा सम्मादिट्ठी हवइ जीवो ॥
—नयचक्र : द्रव्यस्वभाव प्रकाशक माइल्लधवल १८१

१५. ववहारो भूयत्थोऽभूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥
—समयसार कुन्दकुदाचार्य गाथा ११, अहिंसा म० दिल्ली

१६ द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र माइल्लधवल विरचित गाथा १८२।

१७ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना।
लोकसवृतिसत्य च सत्य च परमार्थत ॥
——माध्यमिक कारिका आर्य सत्य परीक्षा श्लोक ८

१८. जो पस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठ अणण्णय णियद।
अविसेसमसजुत त सुद्धणय वियाणीहि ॥
— समयसार १४

१९. ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कयावि एकट्ठो ॥
—समयसार २७

२०. दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ णवरिं तु समय पडिबद्धो।
णदु णयपक्ख गिण्हदि किञ्चवि णयपक्खपरिहीणो ॥
—समयसार गाथा १४३

२१. तत्वार्थ राजवार्तिक ४-४२ हिन्दी सार पृ० ४२०।

२२. ,, ४-४२ ,, पृ० ४२१।

२३. आप्तमीमासा कारिका १०७।

२४. अष्टशती कारिका १ ५।

२५. दो चेव य मूलणया······जाणतिविह पि ॥
—द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र माइ० धवल गा० १८३-१८७

२६. तत्वार्थवार्तिक १।३३।

२७. द्रवति गच्छति तांस्तान्पर्यायान्, द्रूयते गम्यते तैस्तैः पर्यायैरिति वा द्रव्यम् —कषायपाहुड़ भाग १, पृ० २११

२८. स्वपरप्रत्ययोत्पाद विगमपर्यायै द्रूयन्ते गम्यते पर्यायैरिति वा द्रव्यम्। —तत्वार्थवार्तिक ५।२

२९. तत्वार्थसूत्र ५-२९।

३०. ,, ५-३०।

३१. ,, ५-३१।

३२. दव्वं पज्जव विउयं दव्व विउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पायट्ठिइभंगा हदि दविय लक्खणं एयं ॥
—सन्मति प्रकरण १।१२

३३. अपरिच्चत्त सहावेणुप्पादव्वय धुवत्वसजुत्त ।
गुणवं च सपज्जायं जं जं दव्वंति वुच्चति ॥
प्रवचनसार अ० २।३

३४. तत्वार्थ वार्तिक १।३३ ।

३५. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र : माइल्लधवल संपादक कैलाशचन्द्र शास्त्री गाथा १८६ से २०४।

३६. तत्वार्थवार्तिक हिन्दी सार : स० प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य हिन्दी सार पृ० ३३४।

३७. सन्मति प्रकरण १।४।५ ।

३८. सिद्धिविनिश्चय टीका प्र० भाग—सम्पादक पंडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य प्रस्तावना पृ० १४४ ।

३९. कषायपाहुड़ भाग १, णयपरूवणं भाग १, गाथा १३-१४, पृ० २२१ ।

४०. षट्खण्डागम : वेदनाखण्ड कृति अनुयोग द्वार खण्ड ४, भाग १, पुस्तक ९, पृ० १७१ ।

४१. तत्वार्थ राजवार्तिक १।३३ ।

४२. सर्वार्थसिद्धि १।३३, ष० खं० पु० १, पृ० ८६ ।

४३. जयधवल पृ० २७० ।

४४. ष० ख० पु० १, पृ० ९०; जयधवला १, पृ० २४२ ।

(पृ० २० का शेषांश)

चन्द्र तथा यतीन्द्र कुमार शास्त्री ने ग्रन्थ सूची निर्माण एवं प्रकाशन का कार्य अपने हाथ में लिया था परन्तु किन्ही कारणों से वे इसे पूरा नही कर पाये ।

तत्पश्चात् सन् १९७७ मे लेखक ने इस ग्रन्थ भण्डार के वर्तमान मे उपलब्ध ग्रन्थो की सूची के निर्माण एव उसके प्रकाशन का कार्य हाथ मे लिया । लेखक के समक्ष शास्त्र भण्डार की व्यवस्था सम्बन्धी सीमाएं हैं जिनके कारण वे इसे शीघ्रतर पूरा नही कर पा रहे हैं। फिर भी अब तक सूची के दो भाग प्रकाशित किये जा चुके हैं, अगला भाग प्रेस में दिया जा रहा है। ग्रंथ भण्डार की सम्पूर्ण सूची का पाच भागो मे प्रकाशित करने का लेखक का अपना संकल्प है।

—जैन अनुशीलन केन्द्र,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

सन्दर्भ-सूची

१. Jainism in Rajasthan by K. C. Jain p. 153

२. History of Gujrat Page 68.

३. Epigraphika Indomuslima 1623-24 & 26.

४. राजस्थान के ग्रंथ भण्डारों की सूची भाग प्र० पृ० ७६

५. सपादलक्षे विषयेति सुंदरे, भियांपुरं नागपुरं समस्तितत् ।
फैरोजखाना नृपति प्रयातियन्न्यायेन शोर्येण रिपुन्निहंति च ।।

६. Dr. P.C. Jain, Granth Bhandar in Jaipnr and Nagpur, P. 118.

७ए. नागौर ग्रंथ भण्डार मे उपलब्ध भट्टारक पट्टावली के आधार पर। ब-डा० जोहरापुरकर-भट्टारक सम्प्रदाय पृ० १२४-२५ ।

८. डा० कासलीवाल ने शाकम्भरी प्रदेश के सांस्कृतिक विकास में जैनधर्म का योगदान में 'भुवनकीर्ति' नाम दिया है।

नोट—जैन सिद्धान्त भास्कर किरण ४ भाग १ अप्रेल से जून तक १९१३ में पृ० ८० पर ९वें भट्टारक का नाम भुवनकीर्ति तथा १३वें में अमरेन्द्रकीर्ति दिया गया है। और डा० कासलीवाल ने भी 'वीर शासन के प्रभावक आचार्य' मे इनका 'अमरेन्द्रकीर्ति' नाम दिया है।

जैन साहित्य में वर्णित जन-जातियां+

☐ डा० प्रेम सुमन जैन, उदयपुर

भारतीय समाज में जातियों का विभाजन प्राय: चतुर्वर्ण जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत हुआ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र इन चार जातियो के अन्तर्गत विभिन्न जातियो को सम्मिलित किया जाता रहा है। किंतु नीति शास्त्रों में वर्णित इन चारों जातियों के कार्य एव प्रतिष्ठा समय-समय पर बदलती रही है।[1] भारत के प्राचीन साहित्य एव इतिहास की सामग्री में जातियों के इस विकास-क्रम के उल्लेख प्राप्त है। जैन साहित्य ईसा की प्रथम शताब्दी से वर्तमान युग तक लिखा जा रहा है।[2] इस विशाल साहित्य का सम्बन्ध जन-जीवन तथा लोक-जीवन से अधिक रहा है।[3] अत. जैन साहित्य मे जन-जातियों की सस्कृति का पर्याप्त वर्णन हुआ है। अभी इस दृष्टि से जैन-साहित्य का अध्ययन नही हुआ है। अत. जन-जातियों के प्रारम्भिक जीवन के अध्ययन की दृष्टि से जैन साहित्य मे शोध कार्य की अधिक सभावनाएं हैं।

भगवान महावीर के उपदेशो का सग्रह प्राकृत भाषा के आगम साहित्य मे हुआ है।[4] यह आगम साहित्य लगभग एक हजार वर्ष की भारतीय सस्कृति को अपने मे समेटे हुए है। इसका आधारभूत अध्ययन डा० जगदीशचन्द्र ने अपने ग्रथ "जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज" मे प्रस्तुत किया है।[5] इसी तरह के अन्य अध्ययनो की भी नितात आवश्यकता है। प्राकृत के कुछ स्वतन्त्र कथाग्रंथो का भी सामाजिक एव सास्कृतिक अध्ययन विद्वानो ने प्रस्तुत किया है।[6] उससे भी प्राकृत साहित्य में वर्णित भारतीय समाज का चित्र उजागर होता है। इन अध्ययनो से तथा जैन साहित्य के अन्य ग्रन्थो से भारत की जन-जातियो आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत निबन्ध मे संक्षेप मे कुछ जन-जातियो का वितरण प्रस्तुत किया गया है, जिसे आधुनिक समाज शास्त्रीय दृष्टि से जांचा-परखा जा सकता है।

प्राचीन भारत मे शूद्रों की स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानो ने विशेष अध्ययन किये है।[7] उसके आधार पर वर्तमान मे जिन्हे हरिजन, अनुसूचित जन-जाति आदि के नाम से जाना जाता है, उन्हें पहले शूद्र के अन्तर्गत गिना जाता था। मोटे तौर पर जो जातियां किसी भी कारण से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अन्तर्गत नही आ पाती थी। उन्हे शूद्र जाति के अन्तर्गत गिना जाता था। कृषक, शिल्पी. अन्त्यज और मलेच्छ कही जाने वाली जातियां शूद्र के अन्तर्गत थी। यद्यपि आगे चलकर पूर्व-मध्य युग में ये जातियां क्रमश: अपनी स्थिति में सुधार कर रही थी।[8] आर्थिक सम्पन्नता के कारण इन्हें कुछ सम्मान प्राप्त हो रहा था, किन्तु इनकी सामाजिक और धार्मिक स्थिति अच्छी नही थी।

जैन साहित्य मे जातियो का विभाजन यद्यपि परपरागत ढग से इन चार वर्णो में हुआ है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। किन्तु इनको प्रमुख रूप से दो वर्गो मे विभक्त किया गया है—(१) आर्य जातिया और (२) अनार्य जातिया। प्रज्ञापना (१.६७-७१) नामक प्राकृत आगम मे वर्णित है कि आर्यों के छह भेद थे=क्षेत्र आर्य, जाति-आर्य, कुल,आर्य, कर्म-आर्य, भाषा-आर्य और शिल्पी-आर्य। इनमे जाति आर्य मे छह जातिया थी—अम्बट्ठ, कलिन्द, विदेह, वेदग, हरित और चुचुण। इनमे से अंबट्ठ और विदेह निम्न जातिया थी। कर्म-आर्यों मे कुम्हार (कौलालिय) और पालकी ढोने वाले (णरवाहणिय) निम्न जातिया थी। शिल्प-आर्यो मे मशक बनाने वाले देयड़, रस्सा बटने वाले वरुड़, चटाई बुनने वाले छबिय आदि निम्न जाति के कर्मकार थे। रामायण एव बौद्ध साहित्य मे भी इनमे से कुछ जातियों का उल्लेख है।[9]

अनार्य जाति के लोग आयो के अधीन रहते थे और प्राय: ये कृष्ण वर्ण के होते थे।[10] *प्राकृत के प्रति कथाकार* हरिभद्रसूरि ने[11] उन जातियो को जो आचार-विचार से भ्रष्ट हों तथा जिन्हें धर्म-कर्म का कुछ विवेक न हों, अनार्य या म्लैच्छ कहा है। उद्योतनसूरि ने भी कुवलयमालाकहा मे अनार्यो को पापी, प्रचण्ड और धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ से रहित कहा है। उन्होंने लगभग ४० प्रकार की अनार्य जातियों का उल्लेख किया है, जिनकी

+ अ० भा० आर० सी० एच० आर६ सेमिनार, जनवरी ८३, उदयपुर मे पठित निबन्ध।

म्लेच्छ, अन्त्यज, कर्मकार एवं विदेशी इन चार जातियों में प्रमुख रूप से विभक्त किया जा सकता है।[११]

प्राकृत आगम के प्रसिद्ध ग्रंथ निशीथसूत्र (१६.२६ आदि) में पांच प्रकार की अनार्य जातियों का उल्लेख है—विरूव, दसू, अणारिय, मिलक्खू और पच्चंतिय। अनेक वेष धारण करने वाले और विभिन्न जन-भाषाओं को बोलने वाले लोग विरूव कहलाते थे। इस विरूव का आधुनिक शब्द बैरवा हो सकता है। राजस्थान मे बैरवा जाति प्रचलित है। क्रोधी और दांत से काट खा जाने वाले जगली लोग दसू (दस्यु) कहलाते थे। आर्यभाषा को न समझने वाले, हिंसा आदि मे रत लोग अनार्य कहे जाते थे। अव्यक्त वाणी बोलने वाले आदिवासी म्लेच्छ कहे जाते थे। तथा गांव या नगर की सीमा के बाहर निवास करने वाले निवासी पच्चतिय (प्रत्यतिक) कहे जाते थे।[१२] प्राकृत के इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि उस समय की जन-जातियों के विशेष लक्षण इस प्रकार थे—विचित्र वेप-भूषा, ग्रामीण बोली, हिंसक-प्रवृत्ति, कुरूपता और एकांतवास। ये प्रवृत्तिया थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आज भी जन-जातियो मे मिल जायेंगी।

जैन साहित्य मे मुख्यरूप से आर्य संस्कृति के विपरीत आचरण करने वालो को म्लेच्छ कहा गया है। आठवीं शताब्दी तक इन म्लेच्छो का रहन-सहन अलग था। अतः इनके संगठन भी बन गए थे।[१३] प्रश्नव्याकरण सूत्र तथा कुवलयमाला मे कई म्लेच्छ जातियों के उल्लेख हैं। उनमें से कुछ जातियों का परिचय इस प्रकार है :

औड्ड : औड्ड की आधुनिक पहचान उडीसा की पिछडी जातियों से की जा सकती है। हुएनसांग ने इनको औड कहा है, जो काले रंग के असभ्य लोग थे।[१४]

चंचुय : यह जाति भारत के सीमा प्रदेशो मे निवास करती थी। वर्तमान में दक्षिण भारत की चेच्चुस नामक जाति से इसकी पहिचान की जा सकती है।[१५]

मुरंड : प्राकृत के अतिरिक्त भी अन्य भारतीय साहित्य में इसके उल्लेख हैं। इतिहास से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने शक और मुरुडो को हराया था।[१६] किन्तु बाद मे इस जाति के उल्लेख नही मिलते। अतः मुरुड जन-जाति न होकर कोई विदेशी जाति रहीं होगी।

आरण्य : जंगल में निवास करने के कारण जन-जाति का एक नाम आरण्य भी था। यह धनुर्धर एवं वीर जाति थी। आरण्य जाति के लोग शिकार करते थे। वे जंगली जडी-बूटियोंको एकत्रकर उन्हें नगरोंमें बेचते थे।[१८]

चरट : म्लेच्छ जातियों में चरट नामक जाति भी थी। उसे आरण्यचर भी कहते हैं।[१९] जो उसके जंगल में विचरण करने का द्योतक है।

गोंड : यह भी एक जन-जाति थी, जिसे अनार्य कहा गया है।[२०] नर्मदा तथा कृष्णा नदी के बीच में स्थित प्रदेश में इनका निवास बताया गया है।[२१] मध्यप्रदेश में आज भी गोंड नामक जनजाति है, जो जंगल की वस्तुओं से ही अपनी जीविका चलाती है।

किरात : यह जाति प्राचीन भारत में प्रचलित जंगली जाति है।[२२] म्लेच्छ जाति की यह एक उपजाति थी। किरातार्जुनीयम् नामक संस्कृत काव्य से किरातों की वेश-भूषा स्पष्ट हो जाती है।[२३] कुवलयमाला, यशस्तिलकचम्पू मे किरात को शिकारी जाति के रूप मे गिना है। किरात का दूसरा नाम चिलात भी मिलता है।[२४] किसी वन मे किरातों का राज्य होता था।[२५]

शबर : अनार्य जातियों में शबरों का प्रमुख स्थान था। जैन-साहित्य में शबर को असभ्य और जंगली जाति माना गया है।[२६] शबर जाति के लोग दरिद्री होते थे। ठंड में भी उनके पास कपड़े नही होते थे। समराइच्चकहा में भिल्ल और शबर जाति को एक माना है।[२७] शबरों की अलग पल्लि (गांव) होती थी। जिसका एक मुखिया होता था शबर जंगल से गुजरने वाले पथिकों एवं सार्थों को लूट लेते थे। शबर चण्डिका देवी की आराधना करते थे।[२८] जंगल की जड़ी-बूटियों का इन्हें ज्ञान था। अतः शबर रोगों का उपचार भी करते थे। दक्षिण भारत की पहाड़ी जाति के रूप में शबर प्रसिद्ध थे। शबर कुछ विद्याओं के जानकार थे। उनकी शाबरी-विद्या शबर-वेष धारण करके ही सीखी जा सकती थी।[२९]

पुलिन्द : प्राचीन साहित्य में पुलिन्दों का पर्याप्त उल्लेख है। पुलिन्द भी भीलों की ही एक जाति थी।

किंतु पुलिन्दों ने अपना सामर्थ्य बढ़ाकर अधिपति बनना प्रारम्भ कर दिया था। कुवलयमाला में पुलिन्द राजकुमार का भी उल्लेख है। किन्तु उसे राज्यसभा में पर्याप्त आदर प्राप्त नहीं था।[१०] पुलिन्दी दासियां भी राजदरबार में रखी जाती थीं।[११]

भील : प्राचीन जन-जातियों में भील जाति के भी उल्लेख हैं। शबर, पुलिन्द भिल्ल इन तीन के नाम प्राय: एक साथ मिलते हैं। तीनों ही जंगली जातियां थी। इनमें थोडा अन्तर रहा होगा। कुवलयमाला में भिल्ल जाति की दो पल्लियों (गांवों) का वर्णन किया गया है, जिससे उनके क्रिया-कलापों और रहन-सहन का पता चलता है। भिल्लपति एक राजा के समान अपना शासन चलाता था। सह्य पर्वत में चिन्तामणिपल्लि थी, जो कुछ सभ्य भीलों का निवास-स्थान थी। किन्तु विन्ध्य पर्वत की म्लेच्छपल्लि असभ्य और जंगली भीलों की बस्ती थी।[१२] प्राकृत साहित्य से ज्ञात होता है कि भील शिव के परम भक्त होते थे।[१३] शबर और भिल्ल जाति के लोग सेना में काम करते थे। युद्ध में उनकी सेना सबसे आगे रहती थी।[१४]

इनके अतिरिक्त वनेचर, मातंग आदि भी जंगली जन-जातियां थी।[१५] इन सभी जन-जातियों का वर्तमान सन्दर्भ में अध्ययन किया जा सकता है। जैन साहित्य के इस प्रकार के उल्लेखों को ध्यान में रखकर भारतीय जन-जातियों के इतिहास और विकासक्रम को प्रस्तुत किया जा सकता है।

प्राकृत साहित्य के मध्ययुगीन साहित्य में भी इन जातियों का उल्लेख है। कुछ अन्य नई जातियां भी इसमें सम्मिलित हुई हैं। यदि इस साहित्य का सूक्ष्म दृष्टि से मूल्यांकन किया जाए तो भारतीय समाज की विभिन्न जातियों के उद्‌भव और विकास का पता चल सकता है। प्राकृत साहित्य की दृष्टि जन-सामान्य के जीवन की ओर रही है। अत: उसने सूक्ष्मता से मनुष्य के जीवन को आंका है। समाज के किसी भी वर्ग के चित्रण मे इस साहित्य ने संकोच नहीं किया है। अत: इसमे भारतीय समाज का सही प्रतिबिम्ब प्राप्त हो सकता है। समाज शास्त्रियों और इतिहास वेत्ताओं का ध्यान प्राकृत साहित्य की ओर आकृष्ट करने के लिए प्राकृत की इस प्रकार की बहुमूल्य सामग्री को आधुनिक ढंग से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति प्राकृत के विद्वान कर सकते हैं।

□□

सन्दर्भ-सूची

१. घुर्ये, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया।
२. शास्त्री, नेमिचन्द्र, प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, वाराणसी।
३. द्रष्टव्य, लेखक का निबन्ध—"प्राकृत साहित्य और लोक संस्कृति" पं. चैनसुखदास अभिनन्दन ग्रंथ जयपुर
४. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १-३
५. जैन जे० सी० जैन लाइफ इन ऐंशियेन्ट इण्डिया, ऐज डिफिक्टेड इन जैन कैनन्स, बम्बई।
६. (क) चन्द्रा, के० आर०, ए क्रिटीकल स्टडी आफ पउमचरियं।
(ख) शास्त्री, नेमिचन्द्र, हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली।
(ग) जैन, प्रेम सुमन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन।
७. शर्मा दशरथ, राजस्थान थ्रू दि एजेज, बीकानेर पृ० ४२७।
८. बुद्धप्रकाश, आस्पेक्ट्स आफ इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिविल इजेशन, पृ० २५५।
९. (क) रामायण (२. ८३-१२ आदि)।
(ख) दीर्घनिकाय १, सामंयफलसुत्त (पृ० ४४)।
१०. सेनार्ट, कास्ट इन इण्डिया, पृ० १२२ आदि।
११. समराइच्चकहा, पृ० ३४८ एवं ६०५ आदि।
१२. विस्तार के लिए देखें—लेखक की पुस्तक—कुव० सा० अ० पृ० १०८ आदि।
१३. निशीथ भाष्य, १६ २७-२८ चूर्णी।
१४. शर्मा राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४४३, पृ० ४२६१
१५. प्राचीन भारतीय स्थलकोश प्रयाग, पृ० २४१

(शेष पृ० ३० पर)

बाहर-भीतर

□ श्री बाबूलाल जैन

देखने के दो तरीके हैं बाहर से देखना अथवा भीतर की तरफ से देखना। एक वृक्ष से एक पत्ता गिर गया और नया पत्ता आ गया बाहर से देखने वाला देखता है कि पुराना पत्ता गिरने से नया पत्ता आया है। उसका कहना जैसा बाहर से दिखाई देता है उसी पर आधारित है परन्तु भीतर से देखने वाला कहता है कि नया पत्ता आने के सन्मुख हुआ तो पुराने पत्ते ने जगह खाली कर दी। अब अपने को समझना है कि सही बात क्या है। यह सही हैं कि दोनों अवस्थाओ में पुराना पत्ता गिरा है परन्तु देखना है कि पुराना पत्ता गिरना कारण है कि कार्य है। बाहर से देखने वालो को कारण दिखाई देता है अतर से देखने वालो को कार्य याने (reaction) दिखाई देता है।

आत्मकल्याण के कार्य मे भी ऐसे दो प्रकार से दिखाई देता है। बाहर से देखने वाला समझता है इतना त्याग करने से—इतना काया कष्ट करने से. इतना व्रत उपवासादि करने से ऐसी वीतरागता प्राप्त हो जाती है और वह वैसा करने का पुरुषार्थ करता है परन्तु उपलब्धि प्राप्त नही होती। जैसे बाहर के पत्ते कच्चे तोड़कर फैंक देने से नया पत्ता नही आता परन्तु भीतर से देखने वाला देखता है कि अगर मैं भीतर में निज आत्मस्वभाव का अवलम्बन कर—और ज्ञाता-दृष्टा बने रहने का पुरुषार्थ करू तो स्वालम्बन बढ़कर परालम्बन छूटता चला जायेगा। फिर बाहर में त्याग नही करना पड़ेगा परन्तु बाहर में उसकी जरूरत ही नहीं रहेगी। बाहर से देखने वाले को कायाकष्ट मालूम देता है परन्तु वह तो गर्मी सर्दी में रहते हुए भी दुख नहीं भोग रहा है परन्तु अपने स्वभाव का भोग कर रहा है वहां गर्मी सर्दी मालूम ही नही हो रही है। निज आनन्द में लगा हुआ है भूख और प्यास की जरूरत ही नही। बाहर में कार्य तो सभी उसी प्रकार के हो रहे हैं जैसा पहले वाले ने किया है परन्तु दोनों में बड़ा फर्क है एक शारीरिक परिवर्तन है और एक आत्मीक परिवर्तन है। एक आत्मीक क्रांती है जो पूरे जीवन को बदल देती है।

इसी को कहते है केवल व्यवहार का उपदेश जो पहले वाला है। और एक है निश्चयपूर्वक व्यवहार जो दूसरा है। असली बात तो निश्चयपूर्वक व्यवहार है परन्तु जो देखा जाता है कि अभी इसकी पात्रता नही है तो मात्र व्यवहार का याने बाहर का उपदेश देते हैं यह समझकर कि कम से कम इसमे लगा रहेगा उतना ही ठीक है फिर कभी असलियत को समझने का उपाय करेगा।

एक और तीसरा व्यक्ति है जो अतर को तो जाना नही अतर दृष्टि हुई नही परन्तु किसी से अथवा ग्रन्थों से उसका कथन जान कर बना हुआ ज्ञानी है वह आत्म-क्रांति को तो प्राप्त हुआ है? इसलिए बाहर में परिवर्तन आता नहीं और पहले वाले खाली व्यवहार को गलत समझ बैठा और फल यह निकला कि बाहर में स्वच्छन्दता को प्राप्त हो जाना है।

इसी प्रकार बाहर से देखने वाला समझता है कि फलाने आदमी ने गाली निकाली इसने मुझे क्रोध करा दिया। उसने ऐसा किया इसलिए मेरे को राग हो गया। उसका सुख-दुःख सब पर के अधीन हो जाता है। रास्ते चलते किसी भीख मांगने वाले ने बाबू जी कह दिया तो सुख हो गया और चलबे! बाबू जी तेरे जैसे बहुत देखे हैं, कह दिया तो दुखी हो गया। असल में विचारा जावे तो हमारा दु.ख-सुख एक भिखमंगे के आधीन है। यह है हमारी आत्मा की पराधीनता का नमूना। हमें विचारना होगा कि दुख पैदा करने वाला वह भिखमंगा था कि कुछ और था।

ग्रन्थकार कहते हैं कि बोला गया शब्द तो यह कहता

नहीं कि तू मेरे को सुन और कान में जाकर वह आपको दुखी बना दे ऐसा भी नही परन्तु उस शब्द को तुमने ही सुनने की चेष्टा की है और तुमने ही उसको उस रूप से ग्रहण किया है जिससे दुखी हुआ है। तूने उस शब्द के साथ सम्बन्ध जोडा है तू अपने से सम्बन्ध जोड़े रहता तो कुछ होता नही। अपने से हटकर शब्दों से और शब्दों के कहने वाले से जैसा सम्बन्ध जोड़ा वैसा दुखी-सुखी तू हो गया। इसलिए भीतर से देखने वाला समझदार है कि दुख-सुख का कारण शब्द नही वह व्यक्ति नही परन्तु मैं हूं जिससे उससे सम्वन्ध जोड़ा है। वह अपनी गलती भीतर समझ कर कालांतर मे फिर पर से सम्बन्ध नहीं जोडने का अथवा अपने से सम्वन्ध बनाये रखने का पुरुषार्थ करता है जबकि पहले वाला गाली निकालने वाले व्यक्ति को दुःख का कारण समझकर उससे द्वेष और सुख का कारण समझकर उससे राग करता है।

पहली परालम्बन दृष्टि है दूसरी स्वालम्बन दृष्टि है। पहली बात हमें बाहर की तरफ, पर की तरफ ले जाती है दूसरी हमें बाहर से भीतर लाती है। आत्मकल्याण बाहर से, पर से, भीतर आने मे है भीतर ही रहने में है। संसार मार्ग भीतर से बाहर में पर मे जाने में है। जो शब्द, जो मूर्ति, जो स्तोत्र जो पूजा हमें बाहर से भीतर ले जाने में प्रेरक है वह उपयोगी है जो हमें भीतर से बाहर की तरफ प्रेरणा करती है वह उपयोगी नही है यही हमारा पैमाना है और यही वह फार्मूला है। सवाल है बाहर से भीतर नहीं परन्तु भीतर से बाहर की तरफ। हर बात को इसी पैमाने पर नापना है।

इसी प्रकार एक बीज जब बोया जाता है और जब वह अंकुरित होने के सम्मुख होता है तो फट जाता है और जैसे-जैसे आगे बढ़ता है ऊपर की चट्टाने रास्ता देने लगती है और ऊपर की जमीन फट जाती है। ऊपर की जमीन फटना बता रही है कि अब बीज पौधा बनने लग गया है परन्तु बाहर से देखने वाले कितनी ही जमीन को क्यो न फाड़े परन्तु पौधा नहीं निकल सकता।

एक तो फल पकता है गाच्छ पर और एक पकाया जाता है कारवाइड गैस देकर। जो कारबाइड गैस देकर पकाया जाता है वह ऊपर ऊपर से, बाहर से तो पका दिखाई देता है परन्तु भीतर में मिठास नहीं होता और उसकी पकास अन्तस तक नही जाती परन्तु जो गाछ का पका होता है वह भीतर से पकता है और उसकी पक्कस भीतर से बाहर की तरफ आती है, उसकी मिठास का क्या कहना। यही बात आत्मा के बारे में है भीतर जब आत्म परिवर्तन होता है तब आत्मदर्शन होता है तो बाहर मे उसी के अनुकूल मिठास आती है। फल में परिवर्तन आता है परन्तु बाहर का परिवर्तन करने मात्र से भीतर में मिठास नहीं पैदा होती।

—सन्मति बिहार, नई दिल्ली

(पृ० २८ का शेषांश)

१६. जामखेडकर, कुवलयमाला ए कलचरल स्टडी, पृ० २४२।
१७. फ्लीट, भाग ३ पृ० ८
१८. आदि पुराण (जिनसेन) १६-१६१
१६. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० १५५
२०. समराइच्चकहा, ४ पृ० ३४६
२१. आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश।
२२. समराइच्चकहा, १, पृ० ५५
२३. किराता०, सर्ग १२, श्लोक ४०-४३
२४. ज्ञाताधर्म कथा, अ० २
२५. यशस्तिलकचम्पू पृ० २०३ (उत्तरा०)
२६. यादव, समराइच्चकहा का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १०५।
२७. समराइच्चकहा, ७, पृ० ६८८
२८. वही ६, पृ० ५२६
२६. जैन प्रेम सुमन, कुवलयमाला का सां० अ० पृ० २४१-४२
३०. वही, पृ० ३१६
३१. ज्ञाताधर्म कथा, प्रथम अध्ययन।
३२. कुवलयमाला का सां० अ०, पृ० ७७-७८
३३. दशवैकालिक (हरिभद्रवृत्ति), पृ० २०८
३४. वर्धमान चरितं, सोलापुर, ३-३८
३५. जैन, गोकुल चन्द्र, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ६६

विचारणीय-प्रसंग

(आत्मा और शान्तरस : एक विसंगति)

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

तत्त्वार्थ सूत्र जैन आगम का महत्त्वपूर्ण सूत्र-ग्रन्थ है और जैन के सभी सम्प्रदायों में आबाल-वृद्ध बड़ी श्रद्धा से पढ़ा सुना जाता है। इसकी पवित्रता का सहज अनुमान इसी से होता है कि इसका एक बार पाठ करने से वाचक और श्रोता दोनों को बिना ही उपवास किए, एक उपवास का फल-लाभ हो जाता है। इसमे सात तत्त्वों के क्रम मे समस्त पदार्थों के मूल-प्रवाहों और स्थितियो का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र मे जीव के भावों का वर्णन है। आचार्य ने जीव के भावो को पाँच विभागो में बाटा है। तथाहि—**'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्व-तत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च'** अर्थात् औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भाव जीव के स्व-तत्त्व हैं। ये सभी भाव जीव की अपेक्षा से हैं, शुद्ध आत्मा के परिप्रेक्ष्य मे नही।

उक्त पाच भावों मे शुद्धात्माओं में औपशमिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भावो का अभाव तो स्पष्ट परिलक्षित होता है। औदयिक भाव के लक्षण मे तो यह भी कहा गया है कि—'द्रव्यादि निमित्तवशात् कर्मणा फलप्राप्तिरुदय:' अर्थात् द्रव्य आदि के निमित्त वश से कर्मों की फलप्राप्ति उदय है और कर्म के उदय मे होने वाला भाव औदयिक भाव है। जैसे साता वेदनीय के उदय में मानसिक-शारीरिक शान्ति या असाता वेदनीय के उदय मे मानसिक-शारीरिक अशान्ति। यदि शान्तरस साता का ही नाम है तो वह कर्मोदयजन्य-संसारी होने से शुद्धात्मा मे नही बनता। तथा—**'सुखदुख जीवतमरणोपग्रहाश्च'** और **'कम्मशरीरमणभासाआणपाणसुह-दुक्ख जीविअमरणोवग्गहहेऊ नायव्वा'**—समयसार प्रकरण टीका देवनन्दाचार्य अ० २, पृ० १२ के अनुसार सुख-दु:खादि शरीरकृत उपकार भी हैं और शरीर भी नामकर्मोदयजन्य है। फलत: शुद्ध आत्माओं में नामकर्म व शरीर तथा वेदनीयकर्म तीनों के अभाव मे सुख-शान्ति या शान्तरस की सम्भावना असंभव ठहरती है।

इसके सिवाय जिन भव्यत्व, अभव्यत्व और जीवत्व को पारिणामिक भाव कहा है, यह कहना भी उपचार है। यत: भव्य, अभव्य दो भाव ऐसे हैं जो मुक्त होने और संसार मे सदा काल रहने की योग्यता शक्ति के परिप्रेक्ष्य मे है—आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव की अपेक्षा मे नही। तीसरा जीवत्व भाव भी आत्मा में सदाकाल रहने वाला भाव नही —प्राणो पर अपेक्षित है और उपचार ही है। अत आचार्य ने इस भाव को भी औदयिक घोषित कर पर-निरपेक्ष चैतन्य मात्र को ही पारिणामिक मानने की घोषणा की है। तथाहि—

'सिद्धा ण जीवा जीविदपुव्वा इदि। सिद्धाणं पि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे? ण, उवयारस्स सच्चत्ताभावादो। सिद्धेसु पाणाभावण्णहाणुववत्तीदो जीवत्तं ण पारिणामियं, किंतु कम्मविवागजं ·····। तत्तो जीवभावो ओदइओ त्ति सिद्धं। तच्चत्थे जं जीवभावस्स पारिणामियत्तं परूविदं तं पाण धारणत्तं पडुच्च ण परूविदं किंतु \ चेदणगुणमवलंबिय तत्थ परूवणा कदा।'—षटखण्डागम, धवला पु० १४, ५।६।१६ पृ० १३

—सिद्ध जीव नही है, जीवितपूर्व कहे जा सकते हैं।

शका—सिद्धो के भी जीवत्व स्वीकार क्यो नहीं किया जाता?

समाधान—नही, सिद्धों मे जीवत्व उपचार से (कहा) है (और) उपचार को सत्य मानना ठीक नही। सिद्धों में प्राणो का अभाव अन्यथा बन नही सकता इसलिए **'जीवत्व' पारिणामिक भाव नहीं है,** किन्तु कर्मोदय जन्य है। इसलिए 'जीव' (ये) भाव औदयिक है ऐसा सिद्ध है। त० सूत्र में जो 'जीवत्व' को पारिणामिक कहा है

वह प्राण धारण की अपेक्षा से प्ररूपित नही किया किन्तु चेतनगुण के अवलंबन से वहां प्ररूपणा की गई है।

इसके सिवाय रहे क्षायिक भाव : सो जहा क्षायिक भावों को कर्मों के क्षय से उत्पन्न भाव कहा गया है वहां भी क्षय का अर्थ प्रध्वसाभाव है, अत्यताभाव नही। क्योंकि किसी द्रव्य का पर्यायरूप से ही नाश होता है, द्रव्यरूप से नहीं। यत:—ज्ञानावरणादि रूप जो कर्मपर्याय है उसके नाश से अकर्मरूप उत्तरपर्याय ही प्रकट होती है, जीव की अपनी चैतन्य ज्ञानादि रूप पर्याय निर्मित नही होती।

एक बात और है। वह यह कि जिस समय जीव की केवल ज्ञानादि पर्यायें प्रकट होती हैं उस समय तो ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव ही है और अभाव को कार्योत्पत्ति में कारण माना नही जा सकता। अन्यथा खर-विषाण को या शून्य से कुसुम उत्पत्ति को भी वैध मानना पडेगा। फलत: निष्कर्ष ऐसा है कि ये भाव कर्मों की विच्छेद दशा मे आत्मा में प्रकट होते है। इसी कर्म-विच्छेद यानी विकार-निरास को आचार्यों ने क्षय नाम से कहा है और इसी क्षय या विकार-निरास को 'शान्त' शब्द से भी इगित किया है—शान्त रस जैसे किसी लौकिक-अलौकिक रस की उत्पत्ति होने को नही। जैसे लोक में भी किसी के मरने (पर्याय बदलने) पर प्राय: कह देते हैं कि—'अमुक' शान्त हो गया—समाप्त हो गया, आदि।

'शान्त' शब्द से विकार-निरास को इगित करना निम्न शब्दो से भी स्पष्ट होता है—उपशमत्व, क्रोधादि अभाव, व्याधिविवर्जित, विकल्पोज्झित आदि इन सभी एक भाव द्योतक शब्दो को 'शान्त' शब्द से इंगित किया गया है—शृंगारादि रसों जैसे किसी शान्त-रस के सद्भाव को इंगित करने के भाव में नही। तथाहि—

१. 'शान्तरसे'—शान्त: **उपशमत्वं** स एव रस.।

—परमाध्या० त० कलश ३२

२. 'शान्तमह:'—कि भूतं मह: शान्तं **क्रोधादेरभावात्**।'

—परमाध्या० त० कलश १२३

३. 'परं शान्तं—**सर्वव्याधिवर्जितम्**।'

—पद्मनन्दि पंच० १।१८

४. 'शान्तं—**सर्वोपाधिवर्जितम्**।'

—पद्मनंदिपच० (टीका ४।१)

५. '**विकल्पोर्मिभरत्यक्त:** - शान्त:।'

—पद्मनंदिपंच० ४।२६

६. '**विकल्पोज्झितं** परं शान्तं।' „ ४।५४

इसके सिवाय 'लघुतत्त्वस्फोट' मे भी निम्नस्थलो पर आत्मा के सम्बन्ध में जहां रस शब्द का प्रसग आया है वहां भाषाकार ने रस से चैतन्य, ज्ञायक या आत्म-रस को लिया है, शान्त-रस जैसे भाव को नहीं। तथाहि—

१. एकरसप्रभाव '—चैतन्यरस के एक प्रवाह स्वरूप।

—स्तुति १०, श्लोक ३

२. 'भिन्नरस: स्वभाव:'—विभाव परिणति से भिन्न रस वाला यह स्वभाव। —स्तुति १०, श्लो० ६

३. 'एवैकरसस्वभाव:'—एक ज्ञायक स्वभाव से सहित। स्तुति १०, श्लोक १३

४. 'स्वरसेन'—आत्म रस से। – स्तुति १०, श्लोक १४

५. 'चिदेकरसनिर्भर.'—एक चैतन्य रस से परिपूर्ण।

—स्तुति १२, श्लोक २३

पाठक यह भी विचारे जब आचार्यों ने पारिणामिक नाम से प्रसिद्ध 'जीवत्व' जैसे भाव को भी उपचरित होने के कारण शुद्ध आत्मा का स्वाभाविक भाव मानने से निषेधकर, मात्र चैतन्य को ही स्वाभाविक भाव माना, तब शान्त-रस जैसा कल्पित, औदयिक (क्षायिक ?) भाव, जो लोक व्यवहाराश्रित है—शुद्ध आत्मा का स्वभाव कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता। आत्मा का शुद्ध स्वभाव तो 'चिदेकरसनिर्भर:' ही आचार्य सम्मत है—अन्य नही।

कई मनीषियों का विचार है कि दो विरोधी धर्मों मे से एक का रह जाना अवश्यंभावी है, एतावता जब आत्मा मे अशान्त रस नही, तो शान्तरस अवश्य होगा। ऐसे विचारको से हमारा निवेदन है कि—पहिले तो निरपेक्ष वस्तुस्वरूप में द्वित्व या विरोध का प्रश्न ही नही। फिर, यह भी आवश्यक नही कि विरोधी दो में से एक शेष रह ही जाय। यदि एक विरोधी धर्म को शेष मानना अवश्यंभावी माना जायगा तो आचार्यों के कथनानुसार जो सिद्ध भगवान जीव संज्ञा में नहीं हैं, उन्हें क्या 'अजीव'

मान लिया जायगा ? हमारी दृष्टि में तो ऐसा सर्वथा ही नही है। शुद्ध आत्मा को हम तो ऐसा मानते हैं—कि वे न जीव हैं और ना ही अजीव हैं, न अशान्त हैं और ना ही शान्त हैं, वे तो पर-निरपेक्ष 'चिदेकरसनिर्भरः' जो है सो हैं—वचन अगोचर। जीव के जो प्रचलित भेद संसारी और मुक्त बतलाए गए हैं वे भी बंध और अबंध दशा को लक्ष्यकर हृदयगम कराने की व्यवहार दृष्टि से ही बतलाए गए हैं—शुद्ध आत्मस्वभाव की दृष्टि से नही। शुद्ध आत्मा की दृष्टि से तो वे केवल 'चिदेकरसनिर्भर' ही हैं—शान्तरस आदि जैसा कोई अन्य विकल्प नहीं।

'संत'—

'पदेससंतकम्मं' और **'पदेससंतमज्झं'** उक्त दोनो पदों मे अन्त के शब्द 'कम्म' और 'मज्झ' का भेद है। जब आचार्य ने पूर्व पद का अर्थ 'प्रदेश सत्कर्म' किया है तो उत्तर पद का अर्थ 'प्रदेश सत्मध्य' स्वाभाविक फलित होता है। और यदि इन्ही दोनो पदों के पूर्व मे 'अ' उपसर्ग जोड़ कर इन्हें 'अपदेस संत कम्मं और 'अपदेस संत मज्झं कर दें तो इनका अर्थ क्रमशः 'अप्रदेश सत्कर्म' और 'अप्रदेश सत्मध्य' (अखड सत् (सत्त्व) के मध्य) फलित होता है। ये तो हम पहिले भी लिख चुके हैं कि आत्मा असंख्यात प्रदेशी और अखड है : अप्रदेशी (प्रदेश रहित या एक प्रदेशी) नही। (तीर्थंकर मई ८३, टा० ३, क्षु० जिनेन्द्र वर्णीजी को भी पढ़ें)

आश्चर्य न करें 'कषाय पाहुडसुत्त चूर्णि मे इस 'पदेससत कम्मं' पद का उल्लेख है और यति वृषभाचार्य को प्रामाणिक मानने वालो के लिए यह श्रद्धा का विषय है। वहा इस पद का अर्थ 'प्रदेश सत्कर्म' किया गया है—'प्रदेश शांतकर्म' जैसा अर्थ नही। अब पाठक देखें कि वे 'अप्रदेश सत्कर्म और 'अप्रदेश सत् मध्य' अर्थ लेंगे या उन्हें इनके अर्थ क्रमशः 'अप्रदेश शान्त कर्म' और 'अप्रदेश शान्त मध्य' ठीक जँचेंगे ? हम उन्ही पर छोड़ते हैं। देखें, वे अब 'संत' का अर्थ सत् (सत्त्व) लेते हैं या शान्त ? देखिए—

सम्मामिच्छत्तस्सजहण्णय **'पदेस सन्त कम्मं'** कस्स ?

—कषायपाहुड, पदेसविहत्ती स्वामित्व गा० २२ सूत्र ३१ और वहीं पद गाथा २२ सूत्र ५, ६-२० ३१, ३२, ३५, ३८, ४४, ४६, ५४, ८०, ११७-२६० में।

इसी भांति के पाठ 'सत कम्मं' रूप में देखें—

'मूलुत्तर पगइगयं चउव्विहं **'संत कम्मं'** वि नेयं

—कम्मपयडि. सत्तापगरण गाथा १ और टीका—

'...पुनरेकैकं चतुर्विधं तद्यथा—प्रकृति सत्कर्म, स्थिति सत्कर्म, अनुभाग सत्कर्म प्रदेश सत्कर्म च (मलयगिरि)।

संपुन्नगुणिय कम्मो पएस उक्कस्स 'संतसामी उ'

—कम्म पयडि, सत्ता पगरण गाथा २७

टीका—तस्सेव य त्ति णेरइय चरमसमये वट्टमाणस्स सामण्णेणं सव्वकम्माणं उक्कोसं 'पदेससंत कम्मं भवति।'

खुलासा अर्थ—'उत्कृष्ट प्रदेश सत् कर्म स्वामी संपूर्ण गुणित कर्मांश. सप्तम्यां पृथिव्यां नारक चरम समये वर्तमानः प्रायः सर्वासामपि प्रकृतीनामवगन्तव्यः (मलयगिरि)

इसी प्रकार इसी ग्रन्थ की मूलगाथा २८ से ३१ की चूर्णि में 'उक्किस्स (उक्कोस ?) पदेससंतं' पद बारम्बार, उत्कृष्टतया कर्म प्रदेशो की सत्ता को बतलाने को कहा गया है—शान्त या शान्त— रस जैसा अर्थ बतलाने के लिए नही।

ऐसे ही 'उवसंत मोह' गुणस्थान में 'संत' शब्द को मोह के प्रभावहीन होने के भाव मे भी देखा जा सकता है। वहां यही कहा गया है कि इस गुण स्थान में मोह दब गया है—शान्त या प्रभावहीन हो गया है. आदि। यदि वहा 'उव-सत मोह मे से 'उव' उपसर्ग को हटा कर संत मोह का अर्थ लें तो वह भी दब जाने—प्रभावहीन हो जाने के भाव में ही होगा। यानी मोह का शमन होगया ऐसा कहेंगे। यदि हम ऐसा न कह 'संत' का अर्थ 'शान्तरस' लेंगे (जैसा कि उपक्रम किया जा रहा है) तो अर्थ होगा कि इस गुणस्थान में मोह शान्तरसी—शान्त रसवाला मोह, हो गया है। इसका भाव ऐसा फलित होगा कि जिन लोगों को शुद्ध आत्मा में शान्त रस इष्ट है, उनके मत में मोह के सद्भाव में ही इष्ट—(शान्त रस) का पूर्ति हो जाने से मुक्ति के लिए मोह क्षय का उपक्रम न करना पड़ेगा—यतः मोह शान्त रसी होकर—सत्ता में रहते हुए ही सिद्धों में शांत-रस का संचार करता रहेगा। इस प्रकार बारहवें, तेरहवें गुण स्थान और अशरीरी होने के उपक्रमों से भी छुटकारा मिल जाएगा और मोह क्षय की आवश्यकता भी न पड़ेगी। ऐसे में तो जैन ईश्वर भी

जब कभी [सप्ततिर्मोहनीयस्य] मोहनीय के उदय में आने पर, हितबुद्धि या लीलावश अवतार ले सकेगा; लोक का निर्माण कर सकेगा, कर्मफल दे सकेगा और वह सर्वव्यापक भी हो सकेगा जैसा कि काफी समय से प्रच्छन्न उपक्रम है। क्या यही ईश्वर जैन-दर्शन-मान्य ईश्वर होगा ? जरा सोचें और जैन-दर्शन-मान्य आत्मा को 'न शून्यं न जडं नोचिच्छान्तमेवेदमाततम्' जैसी घुसपैठ से रोकें। नहीं तो इसके परिणाम जैन-तत्त्व विध्वंसक होंगे। सदियों बाद कहा जायगा कि—जैन-मान्य-आत्मा भी न शून्य है न जड़ है और न चैतन्य है—वह तो शान्त और सर्वव्यापक है।

दूसरी बात। मोह के शान्तरसी मानने पर शान्तरस और मोह में गुण-गुणीपना मानना पड़ेगा अर्थात् शान्तरस गुण और मोह गुणी ठहरेगा। एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव होगा। यदि मोह (गुणी) का अभाव किया जायगा तो शान्त रस (गुण) उसके साथ ही जायगा। और इस भांति 'शान्त रस' मानने वालों के सिद्धांत में मोह-क्षय करना सर्वथा निषिद्ध हो जायगा। जो जैन-दर्शन को इष्ट नहीं।

अब तो कोई-कोई यह भी कहने लगे है कि—'संत' शब्द देसी हिन्दी भाषा में भी है और शान्त अर्थ में है। पर, जहां तक हमने देखा है 'संत' शब्द श्रेष्ठ जैसे अन्य अनेक अर्थों में है, शान्त अर्थ में नहीं। संत का तत्समरूप सत् भी है—संत पुरुष को सत्पुरुष भी कहते हैं। हिन्दी कोषकारों ने प्रायः जो अर्थ दिए हैं वे निम्न भांति हैं—

संत—साधु, धर्मात्मा, विरक्त, महात्मा।

—बृहत् हिन्दी कोष (ज्ञानमण्डल)

संत—सन्यासी, सत्संगी पुरुष, सज्जन, परमधार्मिक, यति,(ऊपर की भांति अन्य अर्थों मे भी)—मानक हिंदी कोष।
—संस्कृत में 'संत' शब्द है या नही हम नही जानते।

यह भी तथ्य है कि आचार्यों ने 'संत' को 'सत्त्व' भाव में भी लिया है। यथा—'अप्पदरसंतविभत्तिओ' (कषायपाहुड चूर्णि गाथा २२ सूत्र १२४)

हमारा निश्चित मत है कि आचार्यों द्वारा 'अपदेस' 'संत' और 'मज्झ' तीनों शब्दों के अर्थ अनेकों बार दिए गए हैं जो आगमों मे यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। अतः यह कहना कि टीकाकारों ने गलत या उलझनपूर्ण जो जैसा चला आ रहा था वैसा ही मान लिया, आचार्यों का अपमान है। हां, अब तो यह भी सोचना पड़ेगा कि आचार्यों को मान्य करने की दिशा मे 'संत' के अर्थ में यतिवृषभाचार्य और धवलाकार आदि जैसे मर्मज्ञ पूर्वाचार्यों के मन्तव्य को वरीयता दी जाय या नही : अस्तु !

हमारी भावना है कि आगम तद्वस्थ और अपरिवर्तित रहे इसी भावना को लक्ष्य में रख हमने प्राचीन उद्धरणों को संकलित किया है। हमारे भाव तदनुकूल और स्पष्ट हैं—पाठक विचारें। इस विषय में हम पहले भी काफी स्पष्टीकरण दे चुके हैं। हमारा अपना कुछ नही।

□□

'छद्मस्थ-लौकिक पुरुष चाहे कितने भी प्रसिद्ध विद्वान् क्यों न हों ? उन सभी के सभी लेख, वार्तालाप सैद्धान्तिक-प्रसंगों में जिनागम का रहस्योद्घाटन नहीं करते—उनमें कुछ और भी हो सकता है। अतः ज्ञानी पुरुष प्रमाण और नय की कसौटी पर परखकर ही उनकी हेयोपादेयता का निर्णय करते हैं। वे उनके मंतव्यों को प्रचारित भी तभी करते हैं।'

—सम्पादक

स्वाध्याय और उसकी महत्ता

□ कु० राका जैन

'सुष्ठु सम्यक् प्रकारेण अधीयत् इति स्वाध्यायः।' भले प्रकार मन, वचन और काय की शुद्धता से अर्थ के चिन्तवन सहित जिनागम का अध्ययन करना ही स्वाध्याय है।[1] अथवा 'शोभनोऽध्यायः इति स्वाध्यायः' अर्थात् काल-शुद्धिपूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करने या कराने को स्वाध्याय कहते हैं। जो निर्दोष हो, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और और परिग्रह इन पांच पापों को नाश करने वाला हो, जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से सहित हो एवम् सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान द्वारा कहा गया हो वही सच्चा शास्त्र है।[2] सर्वज्ञ कथित सच्चा जिनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग से चार भेद वाला है। इन चारों के शास्त्रों को यथार्थ रूप से पढ़ने पढ़ाने को ही स्वाध्याय कहते हैं।[3] इसे प्राकृत मे 'सज्झाय'[4] कहते हैं। इस प्रकार श्रुत के अध्ययन पाठ को स्वाध्याय कहा जाता है।[5]

जिस प्रकार बिना प्रकाश के अन्धकार में रखे पदार्थों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार बिना श्रेष्ठ शास्त्रों के पढ़े ज्ञान सम्भव नही। ज्ञान के अभाव मे मनुष्य प्रगति के पथ पर नहीं पहुंच सकता अतः ज्ञान-मानव-जीवन का सार है।[6] ज्ञान नेत्र का उद्घाटन शास्त्र स्वाध्याय द्वारा ही सम्भव है। बिना शास्त्र ज्ञान के चक्षु होने पर भी मनुष्य अन्धा ही कहा जाएगा। जो पदार्थ चक्षु द्वारा प्रतीत नही होता उसे प्रकाशित करने के लिए शास्त्र ही सक्षम हैं। यह शास्त्र-ज्ञान मानव का तीसरा नेत्र है।[7]

सम्यक् ज्ञान के लिए स्वाध्याय आवश्यक है। स्वाध्याय के माध्यम से अज्ञान-दीप बुझकर पुनः ज्ञान दीप ज्वलित होता है। जैन धर्म मे श्रावक के षट्कर्म बताए गए हैं जिनमें स्वाध्याय भी समाहित है यथा—

"देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानाम् षट्कर्माणि दिने दिने॥[8]

मानव जन्म-मरण के बन्धनों से आक्रांत है जिसके फलस्वरूप वह दुःखों का वहन करता है यह दुःख वस्तुतः अज्ञान ही है। स्वाध्याय के द्वारा मनुष्य दुःखों से दूर रहता है।[9] अत. सम्यग्ज्ञान अर्जित करने के लिए स्वाध्याय आवश्यक है, यहां सम्यग्ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है।[10] स्वाध्याय मोक्ष-प्राप्ति का एक सोपान है।

तप के द्वारा अभीष्ट (मोक्ष) की प्राप्ति सम्भव है— ऐसा भारतीय सस्कृति में मान्य है। जैन-धर्म में बारह प्रकार के तप बताए गए हैं।[11] उनमें से एक तप स्वाध्याय भी है। यह तप के आभ्यन्तर रूप में समाहित है। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश, ये पांच प्रकार के स्वाध्याय माने गए हैं।[12] स्वाध्याय का अर्थ विद्याभ्यास करना है।[13] पढ़ना, पढ़ाना, शुद्ध-पाठ उच्चारण करना, धर्म सम्बन्धी उपदेश करना अथवा तत्त्वों का चिन्तवन करना, ये सभी बातें विद्याभ्यास में ही गर्भित हैं।[14]

१. वाचना—निर्दोष ग्रन्थ का अर्थ सहित अध्ययन करना वाचना स्वाध्याय कहा जाता है।[15]

२. पृच्छना—जो वाचना द्वारा अध्ययन किया जाता है उसे दृढ़ बनाने के लिये विशेष विद्वान् से उस विषय में प्रश्न करना पृच्छना है।[16]

प्रश्न करना अध्ययन नही कहा जा सकता अतः इसे स्वाध्याय नहीं कहा जा सकता अतः इसे स्वाध्याय में समाहित नहीं करना चाहिए किन्तु प्रश्न करना अध्ययन की प्रवृत्ति में सहायक है अतः उसको भी स्वाध्याय कहना असगत न होगा। पृच्छना को पढ़ना भी कह सकते हैं।[17]

३. अनुप्रेक्षा—जो अध्ययन किया है उसका बार-बार चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय कहलाता है। बारह भावनाओं का भाना भी अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।[18]

४. आम्नाय—पढ़े हुये पाठ को शुद्ध उच्चारणपूर्वक पढ़ना आम्नाय स्वाध्याय कहलाता है।[19]

५. धर्मोपदेश—पूर्व पुरुषों के चरित्र अथवा विषयों का स्वरूप बतलाना धर्मोपदेश कहलाता है। अथवा त्रेसठ

शलाका के पुरुषों का चरित्र कहना धर्मोपदेश है।"

इस प्रकार पाच प्रकार का स्वाध्याय विधि पूर्वक करना चाहिये, इससे कर्म क्षय होता है, वैराग्य की वृद्धि होती है और अन्ततोगत्वा मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

स्वाध्याय करने से यावत् वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है।" मानसिक व्यापार अशुभ प्रवृत्ति से हटकर शुभ प्रवृत्ति की ओर आकृष्ट होता है। आत्मा से राग-द्वेष दूर होकर आत्मा विशुद्ध हो जाती है। स्वाध्याय के करने से राग, क्रोध, मान, माया, लोभादिक पापों से आत्मा पराङ्मुख होती है। आत्मा मोक्ष के मार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र में प्रवृत्त होती है। स्वाध्याय से ही मैत्री बढ़ती है।

स्वाध्याय करने से तर्क शक्ति, बुद्धि की प्रकर्षता, परमागम की स्थिति, वस्तु का यथार्थ ज्ञान एवं निर्णय, धर्म-प्रभावना करने की शक्ति आदि गुणों का विकास होता है यथा—

'प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायाध्यर्थं स्वाध्यायः।'

इस प्रकार स्वाध्याय सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर विजय लक्ष्मी (श्रेयस) प्राप्त करने का पहलू है तथा जो सम्यग्ज्ञान के लिए आवश्यक है।

—अलीगंज (एटा)

सन्दर्भ-सूची

१. विद्वज्जन बोधक, पृ० ४६५।
२. पूर्वापर विरोधादि हिंसादिनाशनम्।
प्रमाणद्वय संवादिशास्त्रं सर्वज्ञभाषितम्
—स्वामी समन्त भद्राचार्य विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार २।६८।
३. चतुर्णामनुयोगानां जिनोक्तानां यथार्थतः।
अध्यापनमधीतिर्वा स्वाध्यायः कथ्यते हि सः॥
—संस्कृत भाव संग्रह, श्लोक सं ५९६, पृ० २१०।
४. शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश-स्वाध्याय प्रकरण, जैन समाज मरौठ (राज०) पृ० २५६।
५. अनगार धर्मामृत-पं खूबचन्द्रकृत, भाषाटीका, पृ०७६४
६. 'णाणं णरस्स सारो।'
—३१, दर्शन पाहुड़।
७. अलोचन गोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं पुरुषाणाम्।'
—नीतिवाक्यामृतम्।
८. पद्मनन्दि श्रावकाचार।
९. 'सज्झाए वा निउत्तेण, सव्व दुःक्ख विमोक्खणे।'
—उत्तराध्ययन २६।१०।
१०. सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः - तत्त्वार्थ १।१
११. प्रायश्चितविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।'—श्रीउमास्वामि विरचित 'तत्वार्थ सूत्र' ६।२०
१२. से किं तं सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते तं।
जहा वायणा पड़िपुच्छण परियट्टण धम्मकहा सेतं सज्झाए॥' —भगवती शतक ७३।६०२।
"वाचना पृच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्याय. पंचधा जिनैः॥
तत्त्वार्थसार ६।१६ पृ० ३६३।
'वाचना पृच्छनाऽनुप्रेक्षाऽम्नाय धर्मोपदेशाः।'
—तत्वार्थ सूत्र ६।२५।
१३. शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश —श्री जैन समाज मारौठ (राज०) पृ० २६२।
१४. निरवद्यग्रन्थार्थोभय प्रदानं वाचना।'
—राजवार्तिक १, पृ० ३४७।
१५. पृच्छनं संशयोच्छित्यै निश्चीति दृढ़नाय वा।
प्रश्नोऽध्रीति प्रवृत्त्यर्थं त्वादर्ध्य विरसावपि॥
—तत्त्वार्थ सार ७।१४।
१६. भाषा टीका तत्त्वार्थ सार, पृ० ३८३।
१७. अनुप्रेक्षा द्वादशानुप्रेक्षाऽनित्यत्वादेश्चिन्तनम्।'
—आचारवृत्ति, पृ० ३०६।
१८. धर्मकथा धर्मोपदेश संस्तुति मंगला।'
—आचार वृत्ति, पृ० ३०६।
१९. 'पठणाई सज्झायं वे एग णिवन्धणं कुणई विहिगा।
सज्झायं कुव्वतो पंचेदियं सं वुडोति गुत्तोय।
हवदि ए अगणो विणएण समाहि ओभिक्खू।'
—मूलाचार पूर्वार्द्ध २१३, पृ० ३२१।
२०. विनेयवद्विनेतृणामपि स्वाध्यायशालया।'
—अनगारधर्मामृतम् पृ० ५२१
'विना विमर्शशून्यधीर्दृष्टेऽप्यन्धायतेऽध्वनि।'
—सागारधर्मामृतम् पृ० ४४।

जरा-सोचिए

१. 'सव्वसाहूणं' में साधु कौन !

'णमो लोए सव्व साहूणं'—लोक अर्थात् ढ़ाई द्वीप में विद्यमान सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

उक्त पद से क्या लोक के सभी—सच्चे और वेश या नामधारी दिखावटी साधुओं को नमस्कार करने का भाव प्रगट नहीं होता ? यह प्रश्न कई लोगों द्वारा पूछा जाता रहा है। इस विषय में आगम का अभिमत क्या है, इस परिप्रेक्ष्य में विचारना चाहिए। आगम मे 'साधु' की व्याख्या इस प्रकार दी है—

"जो अनन्त ज्ञानादिरूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं। उन्हें साधु कहते हैं। जो पांच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुप्तियो से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदो को धारण करते है और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं।"

"सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी वृत्ति करने वाले, पवन के समान नि.संग या सब जगह बिना रुकावट के विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्वों के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर के समान गंभीर, मदराचल अर्थात् सुमेरु पर्वत के समान अकम्प रहने वाले, चन्द्र के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभापुंजयुक्त, पृथ्वी के समान बाधाओं को सहने वाले, सर्प के समान अनियत आश्रय–वसतिका में निवास करने वाले, आकाश के समान निरालम्बी या निर्लेप, सदाकाल मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु होते हैं।" (षटखं० १-१-१)

"मूलमंत्र मे सर्वगुण सम्पन्न सभी साधुओं के ग्रहण के भाव में 'सव्व' पद है। सर्व शब्द से अर्हत्-मत मान्य साधुओं मात्र का ग्रहण है, बुद्धमत आदि के साधुओं का ग्रहण नहीं है। जिनसे सब जीवो का हित हो, जो अरहन की आज्ञानुसार प्रवर्ते, दुर्नयो का निराकरण करें वे सर्व साधु हैं।" मंत्र में उन्हीं को नमस्कार किया गया है और उन्हीं के विषय में कहा गया है। (षट्० भाग १-१-१)

'उरग-गिरि-जलण-सागर-नहतल-तरुगणसमो अ जो होई। भमर, मिय, धरणि, जलरुह, रवि पवण समो अतो समणो॥'

उक्त परिप्रेक्ष्य मे विचारना है कि आज देखा-देखी, चाहे जो हो, जैसा हो, अपने से तनिक भी श्रेष्ठ हो—चाहे आडम्बर परिग्रह का पुंज ही क्यों न हो ? सभी को गुरु मानकर नमस्कार करने की जो परिपाटी चल रही है, वह कहां तक उचित और णमोकार मंत्र सम्मत है। जरा सोचिए !

२. 'मिथ्यादृष्टि' का अनादित्व !

वस्तुतत्व का निरूपण जुदी प्रक्रिया है और प्रमाद-कषायादि भावो वश वस्तु का कथन या विचार करना जुदी बात है। तीर्थंकरो की दिव्यध्वनि के प्रमाण नयगर्भित और प्रमाद-कषायादि रहित होने से उसमें केवल वस्तु-तत्व का विवेचन है और उसमें पुण्यात्मा-पापी सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि आदि जैसी दृष्टियों के स्वरूप कथनों का समरूप मे समावेश है। वहां प्रमादादि का अभाव होने से भाव या द्रव्य रूप जैसी हिंसा की सम्भावना नही। इसके विपरीत—जब किसी को कषाय या प्रमादवश होकर या तिरस्कार की भावना से पापी, हिंसक, झूठा, चोर, व्यभिचारी, मिथ्यादृष्टि आदि कहा जाय तब वहां हिंसा का दोष है और इस दोष में प्रवृत्ति करना जैन या जैन धर्म को अमान्य है।

यत:—जैन-आगम के अनुसार यह संसार अनादि है। मोक्ष भी अनादि है और इनके मार्ग और अनुगमनकर्त्ता भी अनादि हैं। आचार्यों ने सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि को मोक्ष का मार्ग और इन मार्गों के अनुसरणकर्त्ताओं को सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्चारित्री कहा है। इसमे विपरीत यानी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र को संसार मार्ग और इन मार्गों के अनुसरणकर्त्ताओं को मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री कहा है। इस प्रसग को यदि विशदरूप में जानना चाहें तो कह सकते हैं कि उत्सर्ग-अपवाद, विधि-निषेध, अस्ति-नास्ति, सम्यक्—मिथ्या जैसी दो विरोधी विचार-धारायें अनादि-निधन हैं—जब एक का विकल्प है तब दूसरी का होना अनिवार्य है। बिना ऐसा माने, अनेकान्त की भी सिद्धि नहीं है। फलतः चूंकि सम्यग्दृष्टि आदि व्यवहार अनादि हैं

अतः वस्तुस्थिति के परिप्रेक्ष्य में उससे उल्टे मिथ्या दृष्टि आदि व्यवहार भी अनादि हैं।

आठों कर्मों में मोहनीय कर्म को सबसे बलवान बतलाया है और उसका साक्षात् सम्बन्ध आत्मा के भावों से है। मूलतः उसकी दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो प्रकृतियां हैं और कर्मोंके अनादि होने से ये प्रकृतियां भी अनादि हैं। दर्शन मोहनीय प्रकृति के उदय का फल मिथ्यात्व भाव भी है और जिसे इस मिथ्यात्व का उदय होता है वह मिथ्यादृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों भावों और शब्दो तथा व्यक्तित्वों का अस्तित्व भगवान ऋषभदेव के समय मे भी था। उस युग में जो ३६३ मिथ्या-मत कहे गए हैं—वे मिथ्यादृष्टियों के ही थे। तीर्थंकर महावीर के समय में भी ऐसे जीव विद्यमान थे। बाद के प्राचीनतम आचार्यों ने भी मिथ्यादृष्टि शब्द को स्थान दिया है। तथाहि—

'**मिच्छाइट्ठी** णियमा उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।'

—गुणधराचार्य कसायपाहुड १०८

—गोम्मटसार जीवकाण्ड

'ओघेण अत्थि **मिच्छाइट्ठी**'—

—षट्खंडागम १-१-९

इसी प्रकार गुणस्थानों में प्रथम गुणस्थान का नाम 'मिथ्यात्व' है और वह अनादि से है और उस गुणस्थानवर्ती अनन्तजीव हैं, उन सभी को 'मिथ्यादृष्टि' नाम दिया गया है। उक्त वर्णन में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न छुए बिना मात्र वस्तु-तत्त्व वर्णन को प्रमुखता दी गई है। एतावता ऐसा मानना कि 'मिथ्यादृष्टि' हिंसक, झूठा, चोर आदि जैसे शब्दों में 'वैचारिक हिंसा' का दोष आता है—अतः ये जैन आगमिक शब्द नहीं हैं या बाद के प्रचलन है आदि कहना सर्वथा निर्मूल है। पुण्यात्मा-पापात्मा, हिंसक-अहिंसक, सत्यवादी-झूठा आदि सभी विरोधी धर्मों के विकल्प और सभी विरोधी धर्म अनादि हैं। भावों की संभाल (उत्तमता) से इनके कथन में अहिंसा है और भावों की कलुषता में हिंसा है। समताभाव से यथार्थ वस्तु-स्वरूप का वर्णन करना पाप नहीं। मिथ्या को मिथ्या और मिथ्या मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कहना आगम संमत अनादि तथ्य है—नवीन नहीं। इसमें जैनी को कैसे बर्तना चाहिए? जरा सोचिए!

३. शोध-पत्रिकाएं कैसी हों!

भौतिक शोध (रिसर्च) का जोर है और लोगों का ध्यान पर्याप्त मात्रा में उधर ही है। उस दिन एक सज्जन बोले—समाज में शुद्ध मायने में शोध-पत्रिकाएं होनी चाहिएं। हमने सोचा बात तो ठीक है। टीका-टिप्पणी और आलोचना-प्रत्यालोचना के प्रसंगो से तो अनेकों पत्र भरे रहते हैं। पर, प्रश्न यह उठता है कि शोध करने से तात्पर्य क्या है? मात्र जड़ की या चेतन की भी?

अनादि काल से यह जीव पर की खोज में रहा; उसने सिद्धान्त को और अपने को नही खोजा। यदि अपने को खोजे और खोजकर अपना निखार करे तो खोज सार्थक हो। आज जो लोग खोज की बातें या खोज के कार्य करते हैं उनमें कितने ऐसे हैं जिनका ध्यान सिद्धान्त और आचार-विचार के प्रसंगों की ओर हो या जो जिन-मार्ग में प्रवृत्ति करते-कराते हों। यतः सिद्धान्त ज्ञान और आचार-विचार के बिना इन भौतिक मिट्टी-पाषाणो, साहित्य, इतिहास एवं पाण्डुलिपियों के संग्रह मात्र में धर्म का उतना लाभ नही। ऐसी-ऐसी खोजें तो आज तक बहुत हो चुकीं और उनसे जैनधर्म का उतना ठोस प्रचार नहीं हो सका। ठोस सिद्धान्त ज्ञान और आचार-विचार के बिना धर्म का आचरण में ह्रास ही हुआ है।

इस प्रसंग में अनेकान्त के जन्म का इतिहास जब हमारी दृष्टि में आया तब हमने पढ़ा—

"जैन समाज में एक अच्छे साहित्यिक तथा ऐतिहासिक पत्र की जरूरत बराबर महसूस हो रही है, और **सिद्धान्तविषयक** पत्र की जरूरत तो उससे पहिले से चली आती है। इन दोनों जरूरतों को ध्यान में रखते हुए, समंतभद्राश्रम ने अपनी उद्देश्य सिद्धि और लोकहित की साधना के लिए सबसे पहिले 'अनेकान्त' नामक पत्र को निकालने का महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में लिया है।' अनेकान्त वर्ष १, किरण एक, वी० नि० २४५६।

उक्त नीति के आधार पर 'वीर सेवा मन्दिर' की नियमावलि में प्रकाशित निम्न पैरा भी मननीय है—

'अनेकान्त पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊंचा उठाने का सुदृढ़ प्रयत्न (करना)—नियम ३(घ)

उक्त सन्दर्भ में 'अनेकान्त' आज तक खरा उतरता आया है इसमें प्रारम्भ से ही शोध-पूर्ण, सैद्धान्तिक, आचार-विचार सम्बन्धी सभी प्रकार के लेखों, कविताओ कथाओ आदि का समावेश होता रहा है।

आज स्थिति ऐसी हैं कि युग के अनुरूप धर्म को चलाने का प्रयत्न किया जा रहा है और धर्म के अनुरूप युग को चलाने में उपेक्षा भाव दिखाया जा रहा है। फलत:—युगानुरूप—सिद्धान्त ज्ञानहीन या भीरु कुछ लोग अण्डे जैसे अभक्ष्य को निरामिष घोषित कर धर्म मे खीचना चाह रहे हैं, कुछ शुद्ध खान-पान को छोड़ होटलों में जाने और उनमें विवाह शादी आदि रचाने में लगे हैं और कुछ समूहिक रात्रि भोजन आदि की परम्पराएँ बना रहे हैं तथा जिन्हें मन्दिर शास्त्र और गुरुओ से लगाव नहीं रह गया है उनमें कितने ही धर्म के प्रमुख बनने की दौड़ धूप में भी लग रहे है। यदि उन्हें सिद्धान्त का ज्ञान और आगम-विहित आचार-विचार का ज्ञान कराकर धर्म के अनुरूप युग को बदलने की प्रेरणा दी जाय तो धर्म के ह्रास का स्थान धर्म का उत्थान ले सकेगा। बिना आचार-विचार के सब सूना है। हमारे पाक्षिक-मासिक, द्वि या त्रैमासिक पत्र इस ओर प्रमुख ध्यान दें, तो कैसा रहेगा ? जरा सोचिए !

४. व्यसन-मुक्ति आंदोलन !

जैन देखे, जैन समाज देखा। इसके सदस्य, पंच, पंचायतें और नेता भी देखे। हमने महाव्रती मुनि और अणुव्रती तथा अव्रती श्रावकों के समागम के अवसर भी पाए। कभी यह सब ऐसा ही रहा। पर, आज सब स्थिति बदली हुई है। अब न वैसे जैन हैं, न जैन समाज। सदस्य, पंच, पंचायत और नेता भी वैसे नही है। सब बदल गया है। जो कुछ दिख रहा है, अधिकांश बनावटी—अर्थ और यश-अर्जन की दिशा में मुड़ा हुआ है।

अब तो न जाने कितनेक व्यसनी अपने को जैन लिखते हैं, कितनेक जैन समाज हैं, कितने सदस्य और कितनी ही पंचायतें हैं। और नेताओं का तो कहना ही क्या ? उनमें कितनेक राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक धरोहर का लाभ उठाने की धुन में हैं और कितनेक कोरी प्रतिष्ठा और यश-अर्जन के चक्कर मे है ?

जैन संस्थाओं—मन्दिरों, विद्यालयों, महाविद्यालयो और सरस्वती भवनों के हाल भी प्राय: डगमगाए हुए है। मन्दिरो में दर्शन-पूजा करने वालों को जबर्दस्ती हांकना पड़ता है। कही-कही तो पूजा का कार्य वेतन देकर पुजारियों से कराया जाता है। विद्यालयों, महाविद्यालयों के विद्यार्थी धर्म-शिक्षा का ग्रहण मजबूरी में ही करते हैं—वे भी कालेजों की शिक्षा-सुविधा को ही प्रमुखता देते हैं। हमारे पूर्वजों ने सरस्वती भवनों की स्थापनाएं कीं। खोज २ कर दुर्लभ-ग्रंथों के संग्रह किए—उन्हे आज पढ़ने वाले नही। इन सब बातों मे, अनेक कारणों में एक कारण लोगों का व्यसनों से लगाव भी है। अत: व्यसनो से मुक्ति आवश्यक है।

जैन को सबसे पहले व्यसन-मुक्त होना चाहिए और आज की पीढ़ी मे इसका ह्रास है। जब तक एकजुट होकर इन व्यसनों से मुक्ति नही पाई जाती, तब तक सुधार असम्भव है।

हाल ही मे कोल्हापुर मे घटित समाचारो को पढ़कर कुछ आशा की किरणे चमकती जैसी लगी हैं। वहाँ के वीरो ने मुनि श्री विद्यानन्द जी के आशीर्वाद मे 'व्यसन-मुक्ति आंदोलन' पद्धति को अपनाया है। म० गाधी की भाति इसमे भी डगर-डगर, नगर-नगर, ग्राम-ग्राम और गली-मुहल्लो में पैदल मार्च होता होगा और लोगों को व्यसन-मुक्त रहने का सदेश दिया जाता होउगा।

हमे स्मरण रखना चाहिए कि मुनि श्री पिछलें दशकों मे, व्यवहारत:—धर्म प्रचार के विधि-विधान निर्मित एवं उनको सफलतापूर्वक संचालित करने मे सफल हुए हैं। उन्होंने आबाल-वृद्ध—विशेषकर नवयुवकों को व्यवहार धर्म की दिशा में जागृत किया है। धर्म-चक्र, मंगलकलश, धार्मिक रिकार्ड्स निर्माण, गोम्मटगिरि पर भ० बाहुबली महामस्तकाभिषेक का बड़े पैमाने पर आयोजन आदि सब मुनि श्री के आशीर्वाद—फल हैं।

इस प्रकार के व्यसन-मुक्ति आंदोलन को अपनाना—सभी के हित में है ऐसा हम सोचते हैं। जरा आप भी सोचिए !

—सम्पादक

(हिन्दी का ऐतिहासिक दस्तावेज)

दिवंगत हिन्दी सेवी

लेखक : आचार्य श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'।
प्रकाशक : शकुन प्रकाशन ३६२५ सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।
साइज डबल क्राउन, पृष्ठ ८५२, मूल्य ३०० रु०।

दिनांक २२ जून ८३ को जब हमने राष्ट्रपति भवन पर भारतीय भाषा—हिन्दी के प्रति महामहिम राष्ट्रपति के विचार सुने, हमारा मन राष्ट्र और हिन्दी-गौरव के प्रति नम्रीभूत हो उठा। राष्ट्रपति महोदय 'शकुन प्रकाशन' के उत्तम प्रकाशन 'दिवंगत हिन्दी-सेवी' के दूसरे खण्ड का उद्घाटन कर रहे थे। प्रस्तुत कृति आचार्य श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' के पुण्य संकल्पों और अथक परिश्रमों से खिला द्वितीय पुष्प है। इसके प्रथम खण्ड का उद्घाटन सन् ८१ में प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने किया था।

महामहिम राष्ट्रपति ने कहा—हिन्दी ही एक मात्र ऐसी भाषा है जो समूचे देश को एक कड़ी मे पिरोती है। हिन्दी यदि कमजोर होती है तो देश कमजोर होता है। अगर हिन्दी मजबूत हुई तो देश मजबूत होगा। देश की एकता मजबूत होगी।

उन्होने कहा कि हिन्दी भाषा को कई सौ वर्षों से कमजोर बनाने के प्रयत्न होते रहे हैं फिर भी बिना किसी राजकीय सहयोग के हिन्दी देश के कोने-कोने मे बोली और समझी जाती रही। इसके सींचने मे हमारे ऋषियों, मुनियों एवं साधुओं ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आजादी की लड़ाई में हमारे नेता महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू आदि ने हिन्दी के जरिये जगे आजादी में कमाल का काम किया। जब मैं राष्ट्रपति बन कर यहां आया तो हिन्दी, उर्दू और गुरुमुखी का अखबार पढ़ने की इच्छा हुई लेकिन मुझे ये अखबार नही मिले। मुझसे कहा गया कि राष्ट्रपति भवन में सिर्फ अंग्रेजी के अखबार आते हैं। मुझे बहुत तकलीफ हुई। आजाद भारत में राष्ट्रपति भवन में जब देश को जोड़ने वाली भाषा के अखबार न आते हों तब देश की एकता कैसे रह सकती है। हालांकि अब वह कमी दूर हो गई और अब हिन्दी के अखबार आते हैं। हिन्दी की किसी भाषा से दुश्मनी नही है। हिन्दी तो सभी भाषाओं को साथ लेकर चलती है। मैं हिन्दी वालों से अनुरोध करूंगा कि वे सरल हिन्दी का प्रचार करें। जब लोग सरल हिन्दी पढने के आदी हो जायेंगे तब गूढ़ हिन्दी भी समझने लगेंगे।

दिवगत हिन्दी सेवी का सपूर्ण प्रकाशन दस खण्डों में पूर्ण होगा और इसमें हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने में श्रेय-प्राप्त तमिलनाडु, बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक, पजाब आदि प्रांतो के और सभी धर्मों के सन् १८०० के बाद के दिवगत हिन्दी सेवियों का परिचय रहेगा। प्रथम खण्ड में ८८९ और द्वितीय खण्ड मे ८६३ परिचयो का समावेश हो चुका है। दोनों खण्डों में लगभग—५० जैन-नक्षत्रों पर भी हमारी दृष्टि पड़ी। देश की आजादी की लडाई, शासन-अनुशासन और भारत-भारती की सेवा आदि सभी क्षेत्रों मे जैनी सदा आगे रहे हैं। उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य भी तदनुरूप है। 'ग्रन्थ प्रकाशन' में आने वाली कठिनाइयों का जिक्र करते हुए श्री सुभाष जैन ने प्रारम्भिक स्वागत भाषण में कहा कि - हिन्दी के प्रति समर्पित भाव के कारण ही उनमे ग्रन्थ को प्रकाशित करने का साहस हुआ।

लेखक व प्रकाशक की सूझ, प्रयत्न, साहस और सामग्री सजोने की कला को जितना सराहा जाय, थोड़ा है। उनका सकल्प—लोगों को हिन्दी सेवी पूर्वजों की स्मृति करा, उन्हें श्रद्धा-सुमन चढ़ाने का अवसर देना है। इससे बड़ा उपकार कोई क्या होगा।

हम जैन बन्धुओं से अपेक्षा करेंगे कि वे अपनी प्रतियां सुरक्षित करें और दिवंगत हिन्दी सेवी जैनोंके परिचय लेखक या प्रकाशक के पास अधिकाधिक संख्या में भेजें ताकि वे ग्रन्थ में उनका समावेश कर सकें।

—सम्पादक

वीर सेवा मन्दिर के वर्तमान पदाधिकारी

तथा

कार्यकारिणी समिति के सदस्य

१. साहू श्री अशोककुमार जैन	अध्यक्ष	६, सरदार पटेल मार्ग नई दिल्ली
२. न्यायमूर्ति श्री मागीलाल जैन	उपाध्यक्ष	३०, तुगलक क्रीसेण्ट, नई दिल्ली
३. श्री गोकुलप्रसाद जैन	उपाध्यक्ष	३, रामनगर पहाड़गंज "
४ श्री सुभाष जैन	महासचिव	१६, दरियागंज "
५. श्री रत्नत्रयधारी जैन	सचिव	५, अल्का जनपथ लेन "
६. श्री नन्हेमल जैन	कोषाध्यक्ष	७/३५, दरियागंज "
७. श्री प्रेमचन्द जैन	सदस्य	७/२५, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
८. श्री दिग्दर्शन चरण जैन	,,	४६६२/२१, दरियागंज, ,,
९ श्री देवकुमार जैन	,,	एम-३४, ग्रेटर कैलाश I, ,,
१०. श्री मल्लिनाथ जैन	,,	१, दरियागंज, नई दिल्ली
११. श्री हरीचन्द जैन	,,	२/२९, दरियागंज, नई दिल्ली
१२. श्री इन्दर सैन जैन	सदस्य	४, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
१३. श्री ओमप्रकाश जैन एडवोकेट	,,	४७४१/२३, दरियागंज, नई दिल्ली
१४. श्री अजितप्रसाद जैन ठेकेदार	सदस्य	५-ए/२८, दरियागंज ,,
१५. श्री भारतभूषण जैन एडवोकेट	,,	१, दरियागंज, नई दिल्ली
१६. श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन	,,	बी-४५/४७, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली।
१७. श्री बाबूलाल जैन	,,	२/१०, दरियागंज, नई दिल्ली
१८. श्री विमलप्रसाद जैन (डेसू)	,,	२१-ए, ,, ,,
१९. श्री चक्रेशकुमार जैन	,,	३, ,, ,,
२०. श्री अनिलकुमार जैन	,,	२७७०, कूचा सेठ, दिल्ली
२१. श्री अजितप्रसाद जैन	,,	२१-ए, दरियागंज, नई दिल्ली

"यदि हम अपने सिद्धान्त पर आरूढ़ हो जावें—उसी के अनुसार अपनी सब प्रवृत्ति करने लगें तो अन्य लोग हमारे सिद्धान्त को अच्छी तरह हृदयंगम कर लगें। परन्तु हम लोग अपने सिद्धान्तों को अपने आचरण या प्रवृत्ति से तो दिखाते नहीं, केवल शब्दों द्वारा बतलाने का प्रयत्न करते हैं—उसका प्रभाव लोगों पर नहीं पड़ता।"

—वर्णी जी, (मेरी जीवन गाथा)

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

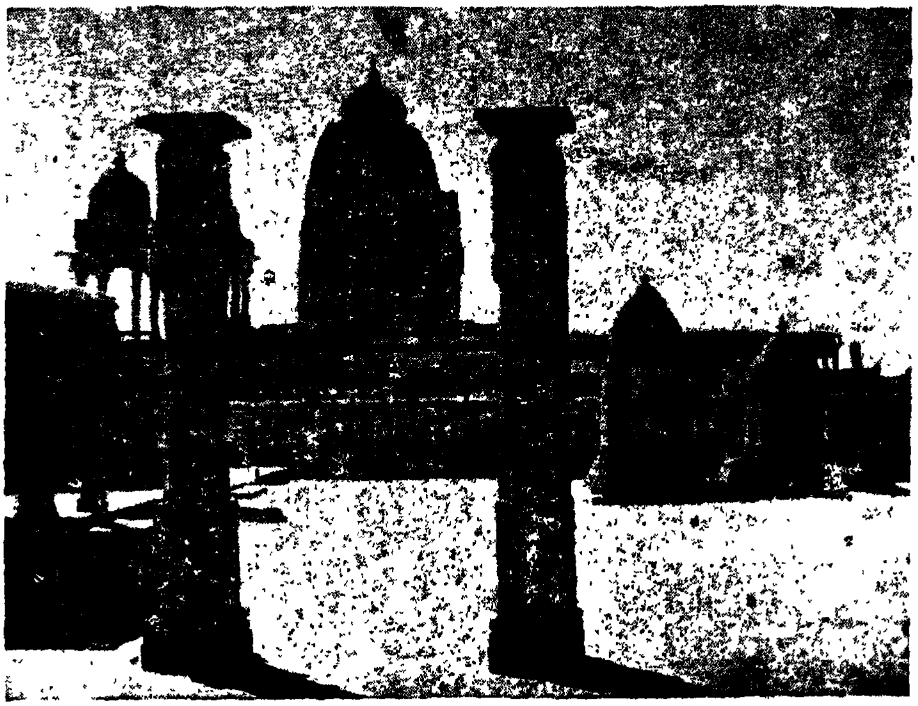
सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० ३ — जुलाई-सितम्बर १९८३



मन्दिर एवं मानस्तंभ, देवगढ़

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

इस अंक में—

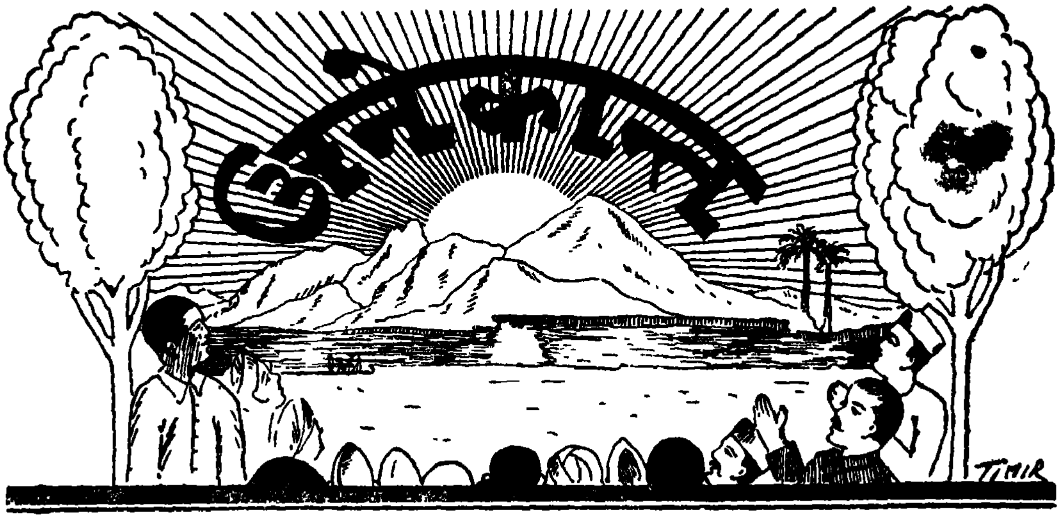
स्वर्गस्थ सरसेठ भागचन्द जी सोनी के प्रति श्रद्धाञ्जलि

जैन शासन के अनन्य सेवक, देव-गुरु-शास्त्र के निष्ठावान आराधक, जैन-रत्न, सर सेठ कैप्टिन भागचन्द-जी सोनी का निधन समूचे जैन समाज की ऐसी क्षति है, जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में सम्भव नही लगती।

जिन वाणी के प्रसार में, जैन तीर्थों के सरक्षण में और समाज संगठन के क्षेत्र में दीर्घ अवधि तक अपनी बहुमूल्य सेवायें समर्पित करके श्री भागचन्दजी सोनी ने जैन इतिहास में अपने अमिट हस्ताक्षर अंकित किये है। साधु-सेवा और शास्त्र स्वाध्याय के द्वारा उन्होंने अपने जीवन को साधनामय बनाकर एक आदर्श श्रावक का उदाहरण प्रस्तुत किया। उनके व्यक्तित्व में सात्विकता, सहृदयता, विद्वत्ता और सरलता आदि अनेक विशेषतायें थी। उनके निधन से समाज की अपूरणीय क्षति हुई है। वे एक मानवता प्रेमी व्यक्ति थे और समाज कल्याण के कार्यों में उनकी गहरी अभिरुचि थी।

वीर सेवा मन्दिर सोसाइटी की कार्यकारणी की दिनांक ८-८-८३ की बैठक में स्वर्गीय आत्मा की सद्गति एवं सुखशान्ति के लिए खड़े होकर दो मिनट का मौन रखा गया और उनके परिवार-जनो के प्रति सवेदना प्रकट की गई।

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३६ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५०९, वि० सं० २०४० | जुलाई-सितम्बर १९८३

सीख

जिया तोहि समुझायो सौ-सौ बार ।
देव-सुगुरु की पर-हित में रति हित-उपदेश सुनायो सौ-सौ बार ।।
विषय भुजंग सेय दुख पायो, पुनि तिनि सों लपटायो ।
स्व-पद बिसार रच्यो पर-पद में, मद-रत ज्यों बौरायो ।।
तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे, नाहक नेह लगायो ।
क्यों न तजे भ्रम, चाख समामृत, जो नित संत सुहायो ।।
अबहूं समुझि कठिन यह नर-भव, जिन-वृष बिना गमायो ।
ते बिलख मनि डार उदधि में, 'दौलत' को पछतायो ।।

× × × × ×

अन्तर उज्जल करना रे भाई ।
कपट कृपान तजै नहिं तबलों, करनी काज न सरना रे ।।
जप-तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे ।
विषय कषाय कीच नहिं बोयो, यों ही पचिपचि मरना रे ।।
बाहिर भेष क्रिया उर शुचि सों, कीये पार उतरना रे ।
नाहीं है सब लोक-रंजना, ऐसे वेदन वरना रे ।।
कामादिक मल सों मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे ।
'भूधर' नील वसन पर कैसें, केसर रंग उछलना रे ।।

सम्यक्त्व-कौमुदी सम्बन्धी शोधखोज

□ विद्यावारिधि डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

जैन परम्परा, विशेषकर दिगम्बर जैन परम्परा मे बहु प्रचलित एव लोकप्रिय कथाग्रन्थ सम्यक्त्व-कौमुदी का सर्वप्रथम ज्ञात एव उपलब्ध मुद्रित प्रकाशित सस्करण प० उदयलाल कासलीवाल द्वारा संपादित, प० तुलसीराम काव्य तीर्थ द्वारा अनुदित और १६१५ ई० मे हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बई द्वारा प्रकाशित है। तदनंतर पं० नाथूराम प्रेमी ने अपने जैनग्रथ कार्यालय बबई से १६२८ ई० में और सेठ मूलचन्द्र किसनदास कापड़िया ने अपने दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत से १६३६ ई० में उसी का प्रकाशन किया। भारतीय ज्ञानपीठ काशी से १६४८ ई० मे प्रकाशित नागदेव-कृत सस्कृत मदनपराजय के स्वसपादित संस्करण की प्रस्तावना (द्वि० सस्करण, १६६४ ई०, पृ० ५७-५८) मे डॉ० राजकुमार जैन साहित्याचार्य ने मदन-पराजय के कर्ता नागदेव को ही अज्ञातकर्तृक सम्यक्त्व-कौमुदी का कर्ता अनुमानित किया, और सम्यक्त्व-कौमुदी की ही उन्हे ज्ञात प्राचीनतम प्रति (ए० बेबर द्वारा उल्लेखित १४३३ ई० की) के आधार से नागदेव का समय वि० स० की १४वी शती का पूर्वार्ध प्रतिपादित किया। तदनन्तर उन्होने १६४६ ई० मे सागर से प्रकाशित वर्णी-अभिनदन-ग्रन्थ मे प्रकाशित अपने लेख मे 'सम्यक्त्व-कौमुदी के कर्ता' (पृ० ३७५-३७६) मे शैलीसाम्य, भाषासाम्य, उद्धृत पद्यसाम्य, अतर्कक्षसाम्य और प्रकरणसाम्य के आधार पर मदनपराजय तथा सम्यक्त्व-कौमुदी के तुलनात्मक परीक्षण द्वारा दोनो रचनाओ को अभिन्न-कर्तृक सिद्ध करने का सफल प्रयास किया। डा० राजकुमार जी के सम्मुख सम्यक्त्व-कौमुदी का १६२८ ई० का जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई से प्रकाशित सस्करण था। मदनपराजय के प्रथम संस्करण (१६४८ ई०) के ग्रंथमाला-सपादकीय-निवेदन मे प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने अवश्य ही उन दोनों रचनाओं के अभिन्न कर्तृत्व पर प्रश्न चिन्ह लगाया था और डा० राजकुमार जी के अनुमान को स्वीकार करने में हिचकिचाहट व्यक्त की थी, किन्तु विरोध में कोई पुष्ट प्रमाण अथवा तर्क भी नही दिया था।

तदनन्तर १६७५ ई० में शान्तिवीरनगर श्री महावीर जी से आचार्य शिवसागर-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनि श्री अजित सागर जी द्वारा सपादित तथा प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा अनूदित सम्यक्त्व-कौमुदी प्रकाशित हुई, जिसमे रचयिता अज्ञात सूचित किया गया। तथापि अपनी प्रस्तावना मे प० पन्नालाल जी ने डा० राजकुमार जी के वर्णी अभिनन्दन-ग्रन्थ वाले लेख का बहुभाग उद्धृत करते हुए उनके मत को ही मान्य कर लिया प्रतीत होता है।

हमने अपने लेख 'सम्यक्त्व-कौमुदी-कथा और उसके कर्ता' (जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० ३४ अ० २ दिस० ८१, पृ० १-८) मे ग्रन्थ के १६१५ ई० मे प्रकाशित सस्करण, जो हमें उपलब्ध था, के आधार से ग्रंथ का परिचय दिया, जिनदेव अपरनाम नागदेव को उसका कर्ता तथा उसकी १४०३ ई० की प्राचीनतम ज्ञात प्रति के आधार से लगभग १३५० ई० उसका रचनाकाल अनुमानित किया। हम भी सम्यक्त्व-कौमुदी और मदनपराजय को अभिन्नकर्तृक मान्य करते है। अपने एक अन्य लेख 'सम्यक्त्व-कौमुदी नामक रचनाए' (अनेकान्त व० ३४ कि० २-३, अप्रैल-सितम्बर ८१, पृ० २-६) मे हमने दिगम्बर एव श्वेताम्बर उभय परम्पराओ तथा सस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, हिन्दी, गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं मे रचित १६ रचनाओ का, जिनमे १२ दिगम्बर विद्वानों द्वारा तथा ४ श्वेताम्बर विद्वानो द्वारा रचित हैं, विवरण दिया था। हमारे उक्त दोनो लेखों को देखकर स्व० अगरचन्द्र नाहटा ने अपने लेख 'सम्यक्त्व-कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनाए' (अनेकान्त व० ३४, कि० ४, अक्तूबर-दिस० ८१, पृ० ११-१२) मे मल्लिभूषण, यशःकीर्ति, यशःसेन

कवि, वादिभूषण और श्रुतसागर द्वारा रचित सम्यक्त्व-कौमुदी नामक ५ रचनाओ का, जो सब दिगम्बर प्रणीत तथा संभवतया यशकीर्ति की कृति को छोडकर सस्कृत मे रचित प्रतीत होती है, उल्लेख किया है। एक श्वेताम्बर संस्कृत रचना तथा उसी परम्परा की १७वी से १८वी शती मे रचित ६ राजस्थानी रचनाओ का सूचन किया है। अपने एक अन्य लेख 'सम्यक्त्व-कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनाएं एव विशेष ज्ञातव्य' (अनेकान्त वर्ष ३५, कि० २, अप्रैल-जून ८२, पृ० ८) में स्व० नाहटा जी ने पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी से प्रकाशित 'जैन साहित्य का वृहद इतिहास', भाग ७ के आधार से दयासागर (दयाभूषण), महीचन्द्र, देवेन्द्रकीर्ति और क० भ० निटवें द्वारा मराठी भाषा मे लिखित चार रचनाओं का उल्लेख किया है, जो सब दिगम्बरकृत है। नाहटा जी ने श्वेताम्बर जिनहर्ष गणि द्वारा १४३० ई० में सस्कृत में रचित सम्यक्त्व-कौमुदी का तथा १९१७ ई० मे प्रकाशित उसके गुजराती अनुवाद का भी उल्लेख किया है। शोधांक ४८ (६ मई ८२, पृ० ३०२-३०३) मे प्रकाशित अपने लेख 'सम्यक्त्व-कौमुदी के सबन्ध मे' हमने विद्वद्वय नाहटा जी का उनकी अतिरिक्त सूचनाओं के लिए आधार मानते हुए उनकी कतिपय सदिग्ध सूचनाओं की समीक्षा भी की है और अपने मूल प्रश्न पर बल दिया है कि क्या जिनदेव अपर-नाम नागदेव कृत सस्कृत सम्यक्त्व कौमुदी ही तन्नाम मूल अथवा सर्वप्रथम रचना नही है?

उपरोक्त लेखो को लिखते समय हमारे सामने तथा संभवतया श्री नाहटा जी के सामने भी, पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा सपादित-अनूदित तथा १९७५ ई० मे शान्तिवीरनगर श्री महावीर जी से प्रकाशित सस्करण नही था। इस संस्करण की पंडित जी द्वारा लिखित प्रस्तावना से तथा सम्यक्त्व-कौमुदी के इस पाठ के साथ १९१५ वाले संस्करण के पाठ का तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन करने पर कई अन्य रोचक एव महत्वपूर्ण तथ्य उजागर हुऐ :—

१. अधुना ज्ञात एवं उपलब्ध स्रोतो से विदित है कि पूर्ववर्ती विविध साहित्य से उद्धृत प्रसगोपयुक्त सूक्तियों से भरपूर सरल संस्कृत गद्य मे निबद्ध जो सम्यक्त्व-कौमुदी नामक धर्मकथा-ग्रन्थ पाठकों एव श्रोताओं में सम्यक्त्व गुण को अकुरित एव पुष्ट करने के उद्देश से १३५० ई० के लगभग रचा गया था और जो १९१५, १९२८, १९३९ तथा १९७५ ई० के पूर्वोक्त मुद्रित-प्रकाशित सस्करणो मे प्राप्त है, वही इस नाम की सर्वप्रथम रचना है।

२. उसकी जितनी हस्तलिखित प्रतियो का उल्लेख हमने अपने पूर्वोक्त लेखो मे किया है, ऐसा प्रतीत होता है कि देश के विभिन्न छोटे-बडे शस्त्रभण्डारो मे उनसे कहीं अधिक सख्या मे प्रतियां विद्यमान हैं।

३. ऐसा लगता है कि ग्रन्थ के दो रूप भी पर्याप्त समय से प्रचलित रहते आये है—एक बृहद् रूप और एक सक्षिप्त रूप। सन् १९७५ वाले सस्करण मे बृहद रूप प्राप्त होता है। जिसमे उद्धृत सूक्तियों-श्लोको आदि की सख्या ५४० के लगभग है, गद्यांश भी कही-कही अधिक या विस्तृत है, जबकि १९१५ आदि के उसके पूर्ववर्ती संस्करणो मे सक्षिप्त रूप प्राप्त होता है जिसमे उद्धरणों की सख्या लगभग २१० है। जैसा कि प० पन्नालाल जी ने अपनी प्रस्तावना (पृ० ६) मे लिखा है, "इसके बृहद् और सक्षिप्त दो रूप कैसे हो गये यह भी विचारणीय है। ऐसा लगता है कि इसके बृहद् रूप को ही परिमार्जित कर सक्षिप्त रूप निर्मित कर दिया गया है। सुभाषितों की अधिक भरमार हो जाने से कथा की रोचकता मद हो जाती है। जिस प्रकार बहुत अधिक आभूषणो से सुसज्जित स्त्री की स्वाभाविक सुन्दरता समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार बहुत भारी सुभाषितो अथवा अलकारो से कथा की स्वाभाविक रोचकता समाप्त हो जाती है। इसी अभि-प्राय से किसी विद्वान ने इसका सक्षिप्त रूप निर्मित किया है। कथा वही रही है, भाषा भी प्राय वही है, परन्तु सुभाषितों का सकलन कम किया गया है। कही पात्रों के नामादिक मे भी कुछ परिवर्तन किया गया है। इन दोनो के कर्ता हमारे लिए अज्ञात है।" बृहद रूप के उपोद्घात मे सम्यक्त्व के स्वरूप एव माहात्म्य का सुन्दर व्याख्यान है जो सक्षिप्त रूप मे नही है। अन्य भाग तथा अन्यत्र भी सक्षेप-विस्तार के अतर हैं।

४. इसी ग्रन्थ का एक तीसरा रूप श्री पं० रतन-लाल जी कटारिया केकडी के सग्रह मे प्राप्त है, जिसमे

उनके अनुसार मुद्रित प्रति से बहुत विशेषता है—कई श्लोक अधिक हैं और कितने ही गद्य-खण्ड विभिन्न प्रकार के हैं। उसकी पत्र संख्या ७५, आकार १' × ६", प्रत्येक पृष्ठ पर १३ पंक्तियां और प्रत्येक पक्ति मे ३५ के लगभग अक्षर हैं। इस प्रति तथा मुद्रित प्रति के मगलाचरण संबन्धी श्लोकों मे भी पाठ भेद है, आगे भी पर्याप्त पाठ-भेद होने की संभावना है। इस प्रति के पाठ मे एक विशेषता यह है कि इसमे छठी कथा तक का भाग पूर्णतया पद्य रूप में ही दिया गया है, गद्य में बिल्कुल नहीं, सातवी व आठवी कथा गद्य में दी गई है। अन्त्य पुष्पिका है— 'इतिश्री सम्यक्त्वविषये अर्हद्‌दासकथायां सम्यक्त्व-कौमुदीग्रंथः समाप्त। ग्रथाग्र २३६८ श्लोक।' यह प्रति मूलसंघ-सरस्वतीगच्छवलात्कारगण श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वय के भट्टारक सकलकीर्ति की परम्परा के भ० पद्मनंदि के शिष्य ब्रह्मकल्याण के प्रशिष्य ब्रह्मश्री भीमजी ने फाल्गुन वदि १४ भौमवार स० १७३४ (सन् १ ७ ई०) मे उदयपुर में लिखवाई था (देखिए १९७५ के संस्करण की पं० पन्नालाल जी की प्रस्तावना, पृ० ८-९)। इस प्रकार ग्रंथ के तीन रूप तो अभी प्राप्त हैं। उनकी समस्त ज्ञात एवं उपलब्ध प्रतियों के निरीक्षण से कतिपय अन्य रूप भी प्रकट हो सकते है। यह कहना कठिन है कि क्या मूल लेखक ने ही रचना को कई रूपों मे लिखा था, अथवा उसके द्वारा रचित रूप में उनमे से कोई एक था और था तो कौन था। सभावना है कि कथा की उपादेयता एव लोकप्रियता से प्रभावित होकर किन्ही परवर्ती विद्वानों या प्रतिलेखकों को उक्त विभिन्न रूपों का श्रेय है। किन्तु मूल लेखक के विषय मे तो कुछ साधार अनुमान भी है कि वह संस्कृत मदनपराजय के कर्त्ता जिनदेव अपरनाम नागदेव से अभिन्न है, जबकि इन परवर्ती रूपान्तरकारो के सबन्ध मे कुछ ज्ञान नही है।

५. पं० कटारिया जी की प्रति को छोड़कर जो दो रूप एव पाठ उपलब्ध है, उनमे भी कम से कम एक पाठ-भेद अति दिलचस्प है—१९१५ आदि के संस्करणो मे चौथी कथा मे (पृ० ६५ पर) औषधिदान के दृष्टान्तरूप से कथन है कि 'रेवतीश्राविकाया श्री वीरस्योपधदानं दत्तम। तेनौषधदान फलेन तीर्थकर नाम कर्मोपार्जितमत एवौषधदानमपि दातव्यं।' जबकि १९७५ के संस्करण में 'द्वारवत्या वासुदेवेन औषधदानं भट्टारकस्य दत्तं तेनौषधदान फलेन तीर्थकर नामकर्मोपार्जितमत एवौषधदानमपि दातव्यम्' पाठ है। मूलग्रथ मे इन दोनों में से कौन सा पाठ रहा, यह समस्या है। मूल ग्रथ और उसके कर्ता दिगम्बर आम्नाय के है, यह सुनिश्चित है। हरिवंशपुराण आदि मे द्वारिका नगरी मे वासुदेव कृष्ण द्वारा एक मुनि को औषधदान करने का प्रसग है, उसका बड़ा महात्म्य भी बताया गया है, और नारायण कृष्ण द्वारा तीर्थंकर-नामकर्म का बध करने की बात भी है। किन्तु रेवती नामक श्राविका द्वारा भगवान महावीर को औषधदान दिए जाने का दिगम्बर साहित्य मे कही कोई सकेत नही है। दिगम्बर आम्नाय की सैद्धान्तिक मान्यता के अनुसार तो तीर्थंकर को रोगादि शारीरिक व्याधि ही नही होती, अतएव उनके लिए औषधिदान दिए जाने का प्रश्न ही नही होता। केवलीभगवान तो कवलाहारी भी नही होते। दूसरी ओर, श्वेताम्बरागम भगवतीसूत्र (१५/५५७) आदि मे भगवान महावीर की केवलीचर्या के १५वें वर्ष मे मक्खलिगोशाल द्वारा तेजोलेश्या छोड़े जाने से भगवान के शरीर मे रक्तातिसार एवं दाहजन्य अत्यन्त पीड़ा होने, उस रोग के शमनार्थ स्वय अपने एक शिष्य को भेजकर मैंढ़िया ग्राम निवासिनी गाथा पत्नी रेवती के घर से बिजौरा-पाक मगवाने, उसके सेवन से रोग का उपशमन होने, और उक्त औषधिदान के फलस्वरूप उस रेवती श्राविका द्वारा तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किए जाने के वर्णन है (देखें—आ० हस्तीमल कृत 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' प्रथम भाग, जयपुर १९७१ पृ० ४२५-४२७)। श्वे० साहित्य मे कृष्ण द्वारा मुनि को औषधिदान देने का दिग० अनुश्रुति जैसा कोई उल्लेख तो नही है किन्तु भ० नेमिनाथ द्वारा वासुदेव कृष्ण को भावी चौबीसी मे बारहवां तीर्थंकर होने की भविष्यवाणी की गई बताई है (देखें वही पृ० २२४ तथा अतगड़दश सूत्र)। इस प्रसग में यह ध्यातव्य है कि सम्यक्त्व-कौमुदी के उक्त दोनो सस्करणो मे उपरोक्त रेवती-वासुदेव विषयक कथन से आगे और पीछे के पाठ सर्वथा समान हैं। अतएव स्पष्ट है कि यह पाठभेद किसी श्वे० विद्वान या प्रतिलेखक की साम्प्रदायिक

मनोवृत्ति का परिणाम है, जिसने वासुदेव विषयक कथन के स्थान में रेवती विषयक प्रसग यहां डाल दिया। ग्रथ की समस्त उपलब्ध प्रतियो एव सस्करणो का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर सभव है कि इस प्रकार के कुछ अन्य पाठभेद, परिवर्तन, हस्तक्षेप आदि भी प्रकाश मे आ जांय।

६. सन् १३५० ई० के लगभग जिनदेव (नागदेव) द्वारा सस्कृत मे विरचित उपरोक्त सम्यक्त्व-कौमुदी के अतिरिक्त उसी या उमसे मिलते-जुलते नाम की तथा उसी के आधार से कालान्तर मे रचित तीस-पैंतीस रचनाओ का पता चलता है। इसमे से १४०० ई० मे पूर्व की कोई रचना नही है, दो तीन ही १५वी शती की है, शेष १६वी से १९वी शती पर्यन्त की है। ये रचनायें सस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि कई भाषाओं मे विभिन्न लेखको द्वारा कभी-कभी विभिन्न शैलियों मे भी लिखी गई है। सम्यक्त्व-कौमुदी-चौपाई, समकित राम आदि विभिन्न नामरूप उपरोक्त तथ्य के ही पोषक हैं। पं० पन्नालाल जी (वही प्रस्तावना पृ० ८) की सूचनानुसार सम्यक्त्व-कौमुदी की कथाओ का एक रूपान्तर हिन्दी पद्य मे विरचित सम्यक्त्वलीलाविलास के नाम से प्राप्त है, जिसकी हस्तलिखित प्रतिया यत्र-तत्र कई शस्त्र-भडारों मे मिलती है—एक प्रति गोरावाई जैन मन्दिर कटरा सागर के सरस्वती भवन मे भी विद्यमान है। उसके कर्ता का नामादि कुछ सूचित नही किया गया। रचना अभी अप्रकाशित है। शास्त्र-भडारो की खोज करने से सम्यक्त्व-कौमुदी विषयक और भी कई रचनाये प्रकाश में आ सकती हैं। प्रत्येक रचना की सभी प्राप्त पाडुलिपियों का निरीक्षण करने से उनमे परस्पर तथा अन्य कर्तृक रचनाओं के साथ रहे पाठभेदो, अन्तरों, विशेषताओं आदि का भी पता चल सकता हैं।

इस प्रकार विभिन्न समयो, विभिन्न क्षेत्रों, विभिन्न भाषाओं एवं शैलियो में उभय सम्प्रदायो के विभिन्न लेखकों द्वारा विरचित सम्क्त्वकौमुदी विषयक साहित्य की प्रचुरता एव विविधता को देखते हुए इस कथाग्रन्थ की लोकप्रियता एव प्रचार-प्रसार मे कोई सन्देह नहीं रहता। गत लगभग ६०० वर्ष से यह कथा अखिल जैनजगत में आबालवृद्ध स्त्री-पुरुषों के लिए एक शिक्षाप्रद रोचक एवं पठनीय शास्त्र रहता आया है। मूल कथा में विवेकपूर्ण धार्मिकता एवं नीतिमत्ता तथा उदारमयता पर विशेष बल है और साम्प्रदायिक अभिनिवेष अत्यल्प हैं, इसी से वह सर्वग्राह्य हुई।

अब प्रश्न यह है कि सम्यक्त्व-कौमुदी परम्परा का मूलाधार या स्रोत क्या है? क्या १३५० ई० के लगभग जिनदेव अपरनाम नागदेव द्वारा रचित सस्कृत गद्यपद्यमयी सम्यक्त्वकौमुदी ही वह मूलाधार या स्रोत है, अथवा उसकी पूर्ववर्ती कोई अन्य रचना या ग्रथ है? यदि जिनदेव कृत सम्यक्त्वकौमुदी ही इस परम्परा का मूलग्रथ है तो उसका प्रकृत रूप और आकार-प्रकार क्या था? स्वयं उसकी सभी विभिन्न प्रतियो के तुलनात्मक सूक्ष्म परीक्षण से उसके जो रूपान्तर कालान्तर मे हुए उनका स्वरूप निर्धारण तथा वे कबकब और किस-किस की कृपा से हुए, इस विषय पर भी प्रकाश पड सकता है। विभिन्न लेखको द्वारा रचित इस परम्परा की विभिन्न रचनाओ के तुलनात्मक अध्ययन मे उसके विकास-क्रम पर तथा अतरों परिवर्तनो, सशोधनों, परिवर्धनों आदि पर प्रकाश डाला जा सकता है। सम्यक्त्व-कौमुदी की कथाओ के बीजों को पूर्ववर्ती दिगम्बर एव श्वेताम्बर तथा जैनेतर लोककथा साहित्य मे भी खोजने की आवश्यकता है। ग्रन्थ मे उद्धृत सूक्तियो, सुभाषितो आदि के मूल स्रोतो को खोज निकालना भी उपयोगी होगा। जैन कथा-साहित्य मे, भारतीय कथा-साहित्य मे तथा विश्वकथा-साहित्य मे इस कथाग्रथ का मूल्याकन करके स्थान निर्धारण करना एक रोचक अध्ययन होगा। और इस कथाग्रथ अथवा सम्यक्त्व-कौमुदी परम्परा की समस्त रचनाओ का तुलनात्मक सांस्कृतिक अध्ययन भी आनन्दवर्द्धक होगा।

वस्तुत:, सम्यक्त्व-कौमुदी साहित्य एक उत्तम गवेषणीय अन्वेषणीय विषय है जिस पर एक अनुसंधित्सु शोधार्थी, श्रमपूर्वक सम्यक् शोध-खोज करके किसी भी विश्वविद्यालय की पी-एच. डी० उपाधि के लिए उत्तम शोधप्रबध प्रस्तुत कर सकता है और जैनविद्या के अध्ययन की प्रगति मे सराहनीय योग दे सकता है।

ज्योति निकुंज, चार बाग, लखनऊ

नव वर्ष दिवस

□ रमाकान्त जैन, बी० ए०, सा० रत्न, तमिल कोविद

हमारे देश भारत मे नव वर्ष-दिवस वर्ष मे अनेक बार, अनेक प्रकार से मनाया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कलैण्डर (ग्रेगोरियल कलैण्डर) के अनुसार अब यदि अधिकतर लोगों द्वारा नव-वर्ष दिवस पहली जनवरी को मनाया जाता है तो दक्षिण भारत मे तमिलनाडु में नव वर्ष मकर-संक्रान्ति (१४ जनवरी) को मनाया जाता है। भारत के वर्तमान राष्ट्रीय पचाग (कलैण्डर) के अनुसार नववर्ष का आरम्भ चैत्र मास की प्रथम तिथि (२२) मार्च को होता है। सरकार अपना वित्तीय वर्ष पहली अप्रैल (मूर्ख दिवस) से आरम्भ करती है, तो भारत का कुछ व्यापारी वर्ग राम-नवमी से नया वर्ष मान अपने बहीखाते बदलता है और अधिकांश व्यापारी दशहरे से अथवा दीपावलि को लक्ष्मी-पूजन के उपरान्त कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से अपना नया व्यापारिक वर्ष आरम्भ करते हैं। शिक्षण-सस्थाओ में नया वर्ष या नया सत्र प्रायः जुलाई में आरम्भ होता है। वर्ष-वर्ष दिवसों की सूची यही पर समाप्त नही हो जाती। इनका सम्यक् लेखा देना सरल नही है। इन विभिन्न नव-वर्षों के मध्य इस वर्ष (१९८३ ई० की) १४ अप्रैल को आरम्भ होने वाला नव-वर्ष क्या है और उसका क्या ऐतिहासिक महत्त्व है, उसकी समीक्षा करने का यहां प्रयास किया जा रहा है।

यह नव-वर्ष चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ होता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय पचाग का नव-वर्ष भी चैत्र माम की प्रतिपदा से आरम्भ होता है, जो २२ मार्च को पड चुकी है। होली का त्योहार चैत्र कृष्ण प्रतिपदा, २९ मार्च को हो चुका है और बगला पंचांग के अनुसार चैत्र मास का आरम्भ इस वर्ष १५ मार्च को ही हो चुका था। अत. चैत्र मास की इन विभिन्न तिथियों की गणनाओं का समाधान भी आवश्यक है।

प्राचीन काल से ही काल गणना की विभिन्न परिपाटियां रही हैं। इनमे मुख्य दो हैं—एक सूर्य को आधार बनाकर और दूसरी चन्द्रमा को आधार बनाकर। मोटे तौर से सूर्य को आधार बनाकर की गई काल-गणना "सौर-वर्षीय" और चन्द्रमा को आधार बनाकर की गई काल-गणना 'चन्द्रवर्षीय' कहलाती है। सौर वर्ष की भी गणना दो प्रकार से की जाती है—एक सायन विधि से और दूसरी निरयण विधि से। इन दोनो गणनाओ मे थोडा अन्तर होता है। भारत सरकार द्वारा अपनाये गए राष्ट्रीय पचांग मे सायन सौर वर्ष को ही आधार बनाया गया है जिसमें वर्ष मे ३६५-१/४ दिन माने गए है। ग्रेगोरियल कलैण्डर भी इसी सायन सौर वर्ष पर आधारित हैं। काल-गणितज्ञो के अनुसार वर्तमान में सायन सौर-वर्ष ओर निरूपण सौर-वर्ष मे साढ़े-तेइस दिन का अन्तर है। अतः जबकि राष्ट्रीय पचाग मे चैत्र प्रतिपदा २२ मार्च को मानी गई, निरयण सौर वर्ष के अनुसार चैत्र शुक्ल प्रतिपदा १४ अप्रैल को, अर्थात् २३ दिन बाद, पड़ रही है। भारत में अनेक पचाग ऐसे है, जो चान्द्र वर्षीय काल-गणना पर आधारित हैं। मुसलमानो की कालगणना और उनके हिजरी सन् का आधार भी चन्द्र मास है।

भारत के वर्तमान राष्ट्रीय पंचाग के लिए जो संवत् अपनाया गया है वह है ईस्वी सन् ७८ मे आरम्भ हुआ शक-सवत्। जैसा कि इस सवत् के नाम से स्पष्ट है इसके प्रवर्तक विदेशी शक थे। ईस्वी सन् का आरम्भ यदि ईसा-मसीह के जन्म से किया गया तो हिजरी सन् का पैगम्बर हजरत मुहम्मद के मक्का से मदीने जाने की घटना की याद मे। भारत मे तो सवत् और सन् आरम्भ करने अर्थात् कालगणना करने हेतु मील के पत्थर गाड़ने की परम्परा बहुत प्राचीन है। प्रायः सभी भारतीय धार्मिक परम्पराओं में अपनी-अपनी कालगणना है जो कहीं-कहीं इतिहास काल का भी अतिक्रमण कर गई है। यदि तीर्थंकर

वर्द्धमान महावीर के अनुयायियो ने उनके निर्वाण की घटना को अपनी कालगणना का आधार बनाया तो महात्मा बुद्ध के अनुयायियों ने भी उनके परिनिर्वाण से अपनी कालगणना आरम्भ की। कही कालगणना किसी व्यक्ति विशेष के जन्म से आरम्भ हुई तो कही किसी के अभ्युदय से अथवा निधन से। राजनैतिक इतिहास में अनेक ऐसे दृष्टान्त हैं जब पराक्रमी व महात्वाकाक्षी नरेशों द्वारा अपने जन्म, राज्यारोहण या विजय की स्मृति मे नया संवत् या कालगणना प्रारम्भ की गई। किसी गण, जाति या वश के सत्ता में आने पर उसकी स्मृति स्वरूप भी सवत् का प्रवर्तन हुआ। इतिहास काल की इस हजारो वर्षों की अवधि मे भारत मे कालगणता के इन आधारो ने कितनी बार नये-नये सवतो के रूप मे जन्म लिया और उनमे से कितने कालकवलित हो गए कहना कठिन है। फिर भी जो भारतीय धर्मनिरपेक्ष सवत् आज तक देश के बहुभाग मे सर्वाधिक प्रचलित चले आ रहे हैं वे दो है—विक्रम सवत् और शक-संवत्। यद्यपि शक सवत् को हम राष्ट्रीय पचाग मे अपना चुके हैं। विक्रम-सवत् भारतीय जन-मानस को उससे अधिक प्रिय है।

पचांग के अनुसार इस चैत्र शुक्ल प्रतिपदा (१४ अप्रैल १९८३) को विक्रम सवत् को आरम्भ हुए २०४० वर्ष हो जायेगे अर्थात् यह सवत् (२०४०–१९८३) ईस्वी सन् से ५७ वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ माना जाता है। इस कालगणना का आरम्भ पश्चिम भारत मे उज्जयिनी मे मालव जाति अपने पराक्रमी नेता विक्रम के नेतृत्व मे वहा पर कब्जा कर रहे विदेशी शकों को परास्त कर उन्हे वहा से निकाल देने की घटना की स्मृति मे हुआ बताया जाता है। यह उनकी विदेशी आक्रान्ताओं पर विजय का स्मृति चिह्न है। जैन परम्परा के अनुसार यह घटना महावीर निर्वाण सवत् ४७० मे घटित हुई थी।

उपलब्ध प्राचीन उत्कीर्ण लेखों, शिलालेखो, अभिलेखों आदि का अध्ययन करने से विदित होता है कि इस नई कालगणना के वर्ष २८२ से ४८१ तक के जो अभिलेख अभी तक मिले है, उनमे इसका नाम 'कृत सवत्' दिया है। वर्ष ४६१ के लेखों और वर्ष ४८१ के एक लेख में इस संवत् के लिए 'मालबगण' और 'कृत' शब्दों का एक साथ प्रयोग किया गया है। वर्ष ४८१ से वर्ष ९३६ के बीच के लेखों मे निम्न लिखित कुछ अपवादों को छोड़कर इसे 'मालव' या 'मालवगण' सवत् नाम दिया गया है। वर्ष ७७० के दो लेखों मे इसे न तो 'कृत' नाम दिया गया और न मालव' अपितु मात्र 'सवत्सर' कहा गया है जो वर्ष, संवत या सन् का पर्यायवाची है। वर्ष ७९४ का एक शिलालेख पहला उपलब्ध अभिलेख है जिसमे इसे 'विक्रम सवत्सर नाम से अभिहित किया गया है। वर्ष ८९८ के एक लेख मे इसे 'विक्रमाख्य काल' काल कहा गया। वर्ष १०२८ और उसके बाद आज तक इस सवत् मे जो विभिन्न अभिलेख आदि है उनमें इसका उल्लेख 'विक्रम सवत्' मे रूप मे मिलता है।

साहित्य मे यद्यपि इस सवत् का प्रयोग कुछ देर से आरम्भ हुआ इसे 'विक्रम सवत्' का ही नाम दिया गया। सातवी-आठवी शती ईस्वी के जैन ग्रन्थो--दिगम्बर नन्दि सघ और श्वेताम्बर तपागच्छ की पट्टावलियों मे और आचार्य हरिभद्र की 'आवश्यकवृत्ति' मे तीर्थंकर महावीर की तिथि निर्धारण हेतु अपनी परम्पराओ का विवेचन करते हुए विक्रम सवत् की चर्चा की गई थी। कदाचित् आठवी शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध मे हुए आचार्य वीरसेन सर्वप्रथम विद्वान लेखक थे जिन्होंने विक्रम सवत् मे तिथि अकित की थी। दसवी-ग्यारहवीं शती ईस्वी मे हुए अनेक जैन विद्वानो द्वारा अपने ग्रन्थो मे विक्रम सवत् मे तिथि अकन को अपनाया गया और तदनन्तर इस सवत् का साहित्य मे व्यवहार करने की परिपाटी चल पड़ी।

उत्कीर्ण लेखो, शिलालेखो और अभिलेखो आदि में इस सवत् के कृत, मालव और विक्रम जो तीन नाम क्रमश: मिलते है वे इस सवत् के नामकरण की क्रमिक कहानी बताते है। जब यह कालगणना आरम्भ की गई उस समय उससे पूर्व के जो सवत् अधिक प्रचलन प्राप्त थे; जैसे—महावीर निर्वाण सवत् और शकों द्वारा उज्जयिनी पर अपनी विजय की स्मृति मे लागू किया गया शक संवत्, जो उपयुक्त मालवगण की विजय की घटना से मात्र ९ वर्ष पूर्व महावीर निर्वाण संवत् ४६१ में आरम्भ हुआ था, वे

(शेष पृष्ठ ९ पर)

पर्यूषण-कल्प

□ विद्यावारिध डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

उत्तम क्षमादि दशविध आत्मधर्मों की आराधना का पावन पर्व 'दशलाक्षणिक' वर्ष मे तीन बार, भाद्रपद, माघ तथा चैत्र मासों के शुक्ल पक्ष की पचमी से चतुर्दशी पर्यन्त चलता है। इनमे भी भाद्रपद की दशलक्षणी अनेक कारणो से सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव लोकप्रिय है। उसे दिगम्बर समाज मे भी सामान्यतया 'पर्यूषण पर्व' कहा जाने लगा है, यद्यपि प्राचीन साहित्य अथवा शिलालेखों मे भाद्रपद की इस दशलाक्षणी के लिए 'पर्यूषण पर्व' शब्द प्रयुक्त हुआ प्राप्त नही होता। हाँ, श्वेताम्बर परम्परा मे भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी या पचमी को पूरे होने वाले आठ दिवसीय पर्व के लिए पर्यूषण शब्द प्रायः रूढ हो गया है। परन्तु मूलतः पर्यूषण का अभिप्राय कुछ विशेष रहा प्रतीत होता है।

शिवार्यकृत भगवती आराधना की विजयोदया एव मूलाराधना नाम्नी टीकाओ के अनुसार वर्षाकाल के चार मासो में अन्यत्र गमनागमन न करके एक ही स्थान मे निवास करना जैन मुनियो का 'पर्यूषण' नामक दसवा 'स्थितिकल्प' है—'पज्जोसमणकप्पो अथवा 'पज्जोसवणाकप्पो' नाम 'दशमः स्थितिकल्प.'। इस ऋतु मे पानी, कीचड़, घास-पात कटकादि तथा त्रस जीव-जन्तुओ की यत्र तत्र बहुलता हो जाने से हिंसा एव आशातना की आशका और सभावना निरन्तर बनी रहती है। इसी कारण मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आदि गृहत्यागी सत गमनागमन का परित्याग करके एक ही स्थान मे वर्षायोग या चतुर्मासिक योग धारण करके निवास करते है। यह वर्षावास आषाढ़ शुक्ल १५ से कार्तिक शुक्ल १५ पर्यन्त १२० दिन का होता है। यही पर्यूषणकल्प है और इसी के कारण वह पूरा चातुर्मासिक वर्षाकाल 'पर्यूषण' कहलाता है। श्वेताम्बर परम्परा मे मान्य दशाश्रुतस्कंध नामक छेदसूत्र के अध्ययन का नाम भी 'पाज्जोसणाकप्प' (पर्यूषणकल्प) है। इस सूत्र की निर्युक्ति के अनुसार पर्यूषण, परिवसना पर्युपशमना, वर्षावास, प्रथम समवशरण, ज्येष्ठग्रह सब शब्द पर्यायवाची है। अतएव वहा भी पर्यूषण से मूलत वर्षावास का ही आशय है।

यतः भगवान महावीर का प्रथम समवसरण तथा केवलज्ञान सम्प्राप्ति के उपरान्त प्रथम वर्षावास राजगृही मे व्यतीत हुआ, इस कारण पर्यूषण का अर्थ 'प्रथम समवसरण भी किया जाने लगा। सभव है कि उक्त प्रथम समवसरण की पावन स्मृति के सरक्षणार्थ ही पर्यूषण पर्व मनाने की प्रथा ने जन्म लिया हो। इसके अतिरिक्त, जैन परम्परा मे साधु-साध्वियो के लिए नित्य, पाक्षिक, मासिक तथा वार्षिक प्रतिक्रमण करने आवश्यक होते है। दिगम्बर मुनि आदि इस चातुर्मास के मध्य ही अपना वार्षिक या सावत्सरिक प्रतिक्रमण करते है। श्वेताम्बर साधुओ के लिए इस प्रतिक्रमण की तिथि प्रारम्भ मे भाद्रपद शुक्ल पचमी निश्चित की गई थी जिसे कालान्तर मे एक आचार्य ने चतुर्थी कर दिया। प्रारम्भ मे यह सावत्सरिक प्रतिक्रमण (सवत्सरी) साधुजन ही करते थे, शनै. शनै. उसमे श्रावक समाज भी सम्मिलित होने लगा। इस अवसर पर सवत्सरी के आठ दिन पूर्व से नित्य पर्यूषण कल्प अपरनाम कल्पसूत्र मे निबद्ध महावीरचरित का पाठ करने की प्रथा भी देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण (५वी शती ई०) के समय से चल पड़ी।

एक बात और है, अनादि कालगणना मे वर्ष का आरम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से होता है। तीसरे काल (सुखमा-दुखमा) के अन्त होने मे जब पल्य का आठवा भाग शेष रह गया था तो ज्योतिराग जाति के कल्पवृक्षों की आभा क्षीण हो गई, और आकाश मे सूर्यास्त एव चन्द्रोदय एक साथ दृष्टिगोचर हुए। कुलकर प्रतिश्रुति ने तत्कालीन भोगभूमियां जनो का समाधान किया तथा अगले

दिन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से दिन, पक्ष, मास, वर्ष, युग आदि व्यवहारकाल की गणना प्रारम्भ (स्थापित) की। इसी गणना के अनुसार अवसर्पिणी के छठे (दुखमा-सुखमा) काल के अंत मे ४६ दिन पर्यन्त (ज्येष्ठ कृ० ११ से आषाढ़ शु० १५ तक) भयकर प्रलय होती है। सवर्तक नामक प्रलय पवन चलती है, सात-सात दिन सात प्रकार भीषण कुवृष्टियाँ होती हैं। परिणाम स्वरूप भयकर विध्वस होता है, अधिकांश मनुष्य व जीवजन्तु नष्ट हो जाते है। उस कुसमय में देवादिक की कृपा से कुछ एक प्राणी विजयार्द्ध पर्वत की गुफाओ मे आश्रय पाते है। श्रावण कृ० १ से सात सप्ताह तक सात प्रकार की सुवृष्टिया होती है, जिससे प्रलयकाल की प्रचण्डता कुछ शान्त होती है और पृथ्वी फिर से रहने के योग्य होती है। ये ४६ दिन भाद्र कृ० ४ को पूरे होते है। अतएव पहली बार भाद्र शु० ५ के दिन वे लोग विजयार्द्ध की गुफाओ में से बाहर निकलते है और परस्पर मिलते हैं। उस समय उनकी कषाय अति मन्द होती हैं। इसी उपलक्ष्य मे उस दिन से चतुर्दशी पर्यन्त उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्मों का विशेष-रूप से चिन्तन, मनन व आराधना करने के लिए उस पुनीत पर्व की प्रवृत्ति चली आ रही है। पर्यूषण शब्द के पर्यूषण, पर्युपवास, पर्युपासना, पर्युपशमन आदि जो विभिन्न रूप प्राप्त होते है, उन सबके वाच्यार्थों से भी यही स्पष्ट होता है कि भाद्रपद का यह दशलक्षण अपर नाम पर्यूषण पर्व आत्मसाधना, आत्मालोचन, आत्मनिरीक्षण, आत्मा-नुशासन, आत्मजागृति एव आत्मोपलब्धि का महान पर्व है।

□

(पृष्ठ ७ का शेष)

कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होते थे। अत. यह नई कालगणना भी कार्तिक शुक्ल एकम् से आरम्भ की गई और इस नये सवत् को 'कृत' अर्थात्' कार्तिकादि संवत् नाम दिया गया। बाद में लगभग ५वी शताब्दि ईस्वी के प्रारम्भ मे जब चैत्र मास से प्रारम्भ होने वाले कुछ परवर्ती सवत्, यथा—शक सवत् जो इस सवत् के १३५ वर्ष पश्चात् महावीर निर्वाण सवत् ६०५ अर्थात् ईस्वी सन् ७८ मे आरम्भ हुआ था, कल्चुरि या चेदि सवत्, गुप्त या वल्लभी सवत् अधिक प्रचलन प्राप्त हुए तो उसकी देखादेखी उत्तर भारत में विक्रम सवत् के मानने वालो ने उसे भी चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ मानना शुरू कर दिया यद्यपि दक्षिण भारत मे उसे अब भी कार्तिकादि सवत् मानते है। इस परिवर्तन के फल-स्वरूप इस सवत् का नाम 'कृत सवत्' निरर्थक हो गया। उस समय मालव जाति का स्वतन्त्र अस्तित्व बना हुआ था। अत: मालवगण की प्राचीन कीर्ति को उजागर करने के उद्देश्य से इसे 'मालव' या 'मालवगण' सवत् नाम दिया गया। आठवी शती ईस्वी आरम्भ होने तक मालव जाति का स्वतन्त्र अस्तित्व लोप हो चुका था और गणो का स्थान राजा ले चुके थे। इस परिवर्तित स्थिति में इस सवत् का प्रवर्तन करने वाले नायक, जो तत्कालीन विचार-धारा के अनुसार कोई महान नरेश ही हो सकता था, की खोज अनुश्रुतियो मे की गई। सयोगसे अनुश्रुतियो में मालवगण के उस नायक का नाम विक्रम मिला अत: ८वी से १०वी शती ईस्वी के मध्य के लेखो मे 'मालवगण' नाम क्रमश 'मालवगणकीर्ति', 'मालवे', 'विक्रम' और 'राजा विक्रमादित्य' नामो मे परिवर्तित होता चला गया। उत्तर और दक्षिण भारत के अनेक पराक्रमी महान राजाओं ने अपने नाम के आगे 'विक्रमादित्य' विरुद लगाकर विक्र-मादित्य नाम को पहले ही काफी विख्यात कर दिया था। अत: अनुश्रुतियों मे इस सवत् के प्रवर्तक का नाम विक्रम पाते ही इस सवत् को 'विक्रम सवत्' के नाम से प्रख्यात कर दिया गया और आज तक इसी नाम से जाना जाता है। विक्रम-संवत् के विषय मे विस्तृत विवेचन इतिहास मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन की पुस्तक 'दी जैना सोर्सेज आफ दि हिस्ट्री आफ एन्शिएण्ट इण्डिया' में द्रष्टव्य है।

□□

डिग्गी (राजस्थान) के दि० जैन मन्दिर में उपलब्ध हिन्दी का प्रथम पद्मपुराण

☐ डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल

डिग्गी (राजस्थान) के दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार को मुझे अभी १६, १७, १८ जून, ८३ को देखने एव उनकी सूची बनाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। यह देखकर बडी प्रसन्नता हुई कि वहाँ मन्दिर मे प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो का अच्छा सग्रह है। शास्त्र भण्डार को देखते समय अपभ्रंश एवं हिन्दी की कितनी ही अज्ञात एव अचर्चित कृतियाँ प्राप्त हुई जिनमे प० महाराज का बुद्धि रसायन, धनपाल के हिन्दी पद एव गीत, भट्टारक महेन्द्रकीर्ति के हिन्दी पद, ऋषि दीपायन का महावीर गीत, प० खुशालचन्द काला की स्वय के द्वारा लिपिबद्ध पाण्डुलिपि, नाटक समयसार की सवत् १६६८ की पाण्डुलिपि, मुनि समाचन्द का पद्मपुराण जैसी बीसों कृतियो के नाम उल्लेखनीय है जिन पर विभिन्न लेखो द्वारा प्रकाश डाला जायेगा। डिग्गी के शास्त्र भण्डार मे कभी ३००-४०० ग्रन्थो का अच्छा सग्रह था। लेकिन हमारी ग्रन्थो की सुरक्षा के प्रति उदासीनता के कारण १००-१५० ग्रन्थ अपूर्ण एवं खराब हो गये। फिर भी शास्त्र भण्डार में डिग्गी जैसे कस्बे को देखते हुये शास्त्रों का अच्छा सग्रह है। जिनमे कितनी ही प्राचीन एव महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपिया भी हैं।

राम और सीता के जीवन पर जैनाचार्यो एव जैन विद्वानो ने अनेक कृतिया लिखी है। पुराण, चरित कथा एव काव्य की अन्य विधाओ के नाम से लिखे गये रामकथा पर आधारित अनेक ग्रन्थ जैन शास्त्र भण्डारों मे मिलते हैं। ऐसे ग्रन्थो का विस्तृत विवरण राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रन्थ सूचियो के पाच भागों में देखा जा सकता है। वैसे राम-कथा के प्रमुख ग्रन्थो में प्राकृत भाषा मे निबद्ध विमलसूरि का पउमचरिय, अपभ्रंश के महाकवि स्वयभू का पउमचरिउ, संस्कृत भाषा मे निबद्ध आचार्य रविषेण का पद्मपुराण एव राजस्थानी भाषा के महाकवि ब्रह्म जिनदास का रामरास के नाम उल्लेखनीय हैं जिनमें रामचरित के (एक भाग को छोड़कर) अतिरिक्त सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है।

डिग्गी के शास्त्र भण्डार से प्राप्त मुनि सभाचन्द का पद्मपुराण एक अज्ञात एव अचर्चित कृति है। महाकवि तुलसीदास की मृत्यु के केवल ३१ वर्ष पश्चात् निबद्ध यह कृति सचमुच रामकथा सम्बन्धी जैन कृतियो मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। डिग्गी से लौटने के तत्काल पश्चात् मैंने डॉ० कामताप्रसाद जैन, डा० नेमीचन्द शास्त्री, डा० प्रेमसागर जैन एव प० परमानन्द जी शास्त्री द्वारा लिखित हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास पर आधारित पुस्तकें देखी लेकिन किसी भी विद्वान द्वारा मुनि समाचन्द के हिन्दी (पद्य) मे निबद्ध 'पद्मपुराण' का उल्लेख नही किया। ऐसे विशालकाय ग्रन्थ की अन्य पाण्डुलिपि नही मिलना भी आश्चर्यजनक है।

जैन समाज मे पद्मपुराण के स्वाध्याय की ओर अत्यधिक रुचि देखी जाती है। गत २०० वर्षों से पण्डित दौलतराम कासलीवाल के पद्मपुराण भाषा का सबसे अधिक स्वाध्याय हुआ है। प० दौलतराम जी के पूर्व प० खुशालचन्द काला ने भी सवत् १७८४ मे हिन्दी पद्य मे पद्मपुराण लिखा था, जिसकी कितनी ही पाण्डुलिपियाँ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो मे मिलती है, लेकिन फिर भी वह समाज में लोकप्रिय नही बन सका। समाचन्द द्वारा रचित हिन्दी पद्मपुराण एक विशालकाय ग्रन्थ है। जिसकी रचना १७११ मे फागुन शुक्ला पचमी गुरुवार को समाप्त हुई थी।[1]

ग्रन्थकार का परिचय

पद्मपुराण के रचयिता सभाचन्द मुनि थे जिनका

दूसरा नाम सुभचन्द सेन भी दिया गया है। कवि ने अपने प्रथम नाम का उल्लेख मंगलाचरण की समाप्ति के बाद ही किया है,[1] तथा पुराण समाप्ति पर लिखी गई प्रशस्ति में उन्होंने सुभचन्द सेन के नाम का प्रयोग किया है, जो उनके सेनगणीय भट्टारक परम्परा का मुनि होने की ओर संकेत करता है। इसके पश्चात् ग्रथ समाप्ति पर जो पुष्पिका दी गई है उसमे सभाचन्द नाम दिया गया है।

इति श्री पद्मपुराण सभाचन्द कृत 'सपूरन' कवि सभाचन्द मुनि थे तथा उनका सम्बन्ध काष्ठासघ के सेन गण से था। दिल्ली मण्डल उनका केन्द्र था। इसलिए मुनि सभाचन्द भी देहली मे ही रहते थे, और उन्होने पद्मपुराण की रचना भी देहली मे रहते हुए की थी। जिसका उल्लेख कवि ने निम्न प्रकार किया है।

दिल्ली मडल का मुनि राई, जिमके पर भया बहु ठाई।
धरम उपदेश घणा कुभया, पूजा प्रतिष्ठा जामैं नया ।४१।
पडित पदधारी मुनि भए, ग्यानवत करुणा उर थए।
मलयकीर्ति मुनिवर गुणवत, तिनके हिये ध्यान भगवत ।४२।
गुणकीर्ति अर गुणभद्रसेन, गुणवाद प्रकासै जैन।
भान कीरति महिमा अति घणी, विद्यावत तपसी मुनी ।४३।
कुमारसेन भट्टारक जती, किया श्रेष्ठ उज्वल मती।
उनके पट सुभचन्द्र सेन, धरम बरवाण सुनावै जैन ।४४।

उक्त उद्धरण से उनके भट्टारक के पद पर अभिषिक्त होने का भी सकेत मिलता है।

ग्रंथ परिचय :

मुनि सभाचन्द ने आचार्य रविषेण के सस्कृत पद्मपुराण की हिन्दी पद्य मे काव्य के रूप में रचना की थी। कवि ने इसका उल्लेख पुराण के प्रारम्भ और अन्त दोनो में किया है।

आचार्य रविषेण महंत सैहसकृत मैं कीनो ग्रन्थ।
महामुनिवर ज्ञानी गुनी, मति श्रुति अवधि ग्यानी मुनी।
महा निग्रंथ तपस्वी जती, क्रोध मान माया नही रती ।३१

पृष्ठ। कवि ने रविषेण के सम्बन्ध मे लिखा है कि वीर निर्वाण में १२०० वर्ष और ६ महीने व्यतीत होने पर आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण की रचना समाप्त की थी[2]। यह समय स्वय रविषेण द्वारा लिखे हुए समय से तीन वर्ष से कम हैं। क्योंकि रविषेण ने पद्मपुराण का रचनाकाल वीर निर्वाण के १२०३ वर्ष एवं ६ माह बाद का लिखा है।[3]

कवि के समय तुलसीदास जी की रामायण जन-जन मे लोकप्रियता प्राप्त कर रही थी। सामान्य जनता मे राम के जीवन को पढने, पढ़ाने की अभिरुचि बढ़ रही थी। इमी दृष्टि को ध्यान मे रखकर कवि ने हिन्दी पद्य मे और वह भी केवल चौपाई एवं सोरठा छन्दो में पद्मपुराण की रचना कर जैन समाज मे राम कथा के प्रति रुचि जाग्रत की। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे कवि ने भगवान राम के प्रति निम्न शब्दो मे अपनी श्रद्धा प्रकट की है—

राम नाम गुन अगम अथाह, ते गुन किस पै बरने जाइ।
जो मुख राम नीमरै, तो सकट बहुरि न परै ।२३।
जा घर राम नाम का वास ताके पापन आवे पासि।
जिन श्रवणे राम जस सुने देव लोक सुख पावे घने ।२४।
सकट विपति पड़े जे आय, राम नाम तिहा होइ सहाय।
जल थल वन विहडे ले नाम, मन वाछित सहु सीझे काम ।२५।

प्रस्तुत पद्मपुराण ११६ विधानकों में पूरा होता है जबकि आचार्य रविषेण के पद्मपुराण मे १२३ पर्व हैं। कवि ने पर्व का नाम न देकर उसका नाम विधानक लिखा है। पद्मपुराण की पाण्डुलिपि मे ११८ पत्र है जो १३×६ इच आकार वाले हैं। एक पत्र में दोनों ओर करीब ५० चौपाई छन्द लिखे हुए हैं इस प्रकार यह पूरा पुराण ६ हजार चौपाई एव सोरठा छन्दो मे विभक्त किया हुआ है। प्रस्तुत पान्डुलिपि सवत् १८५६ आषाढ शुद्धि १४ सोमवार की है। लिपि कराने वाली श्री गगाराम की पत्नी ने मांडलगढ़ में अष्टान्हिका व्रत के उपलक्ष मे पंडितोत्तम पडित मोतीराम जी के पास प्रतिलिपि करवाई थी। लिपि सुन्दर एव स्पष्ट है। कागज सागानेरी है। ग्रथ प्रशस्ति के पश्चात मूल सघ सरस्वती गच्छ के मुनि रत्नकीर्ति एवं उसके शिष्य रामचन्द्र मुनि का भी वर्णन किया गया है जो निम्न प्रकार :—

श्री मूलसघ सरस्वती गच्छ, रत्नकीरत मुनि धरम का पच्छ,
तारण तरण ज्ञान गभीर, जाणे सहु प्राणी की पीर।
तप संयम तै आतम ज्ञान, धरम जिनेश्वर कहे बखान,
छूटै मिथ्या उपजै ज्ञान, जे निसचै धरि मन में आन॥

काष्ठसंघ एवं लोहाचार्य का उल्लेख

कवि ने ग्रन्थ के अन्त मे काष्ठसघ के सस्थापक लोहाचार्य का नामोल्लेख एवं उनका गुणानुवाद करते हुए अग्रोहा जाने का वर्णन किया है तथा अग्रवाल श्रावको को प्रतिबोधित करने की चर्चा की है उन्हे जैनधर्म के प्रति निष्ठावान, दृढ श्रद्धानी बनाने की बात भी लिखी है। यही नही अग्रवाल श्रावको द्वारा व्रत उपवास, पूजा दान आदि देने, मन्दिरो का निर्माण करवाने, बारह व्रतों का पालन करने आदि का भी उल्लेख किया है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि मुनि सभाचन्द अग्रवाल जैन थे। वर्णन ऐतिहासिक है जो निम्न प्रकार है :—

काष्ठसघी माथुर गच्छ, पहुकर गण मे निर्मल पच्छ।
महानिरगथ आचारिज लोह छांड्या सकल जानि का मोह।
तेरह विध चारित्र का धणी, काम क्रोध नही माया मणी।
महातपस्वी आतम ध्यान, दयावत निर्मल ग्यान।३१।
जिह्वा है उत्तम क्षमां आदि, छोड़े पाच इन्द्री का स्वाद।
रूप निरंजन ल्याया चित्त, अठाईस मूलगुन नित।३२।
चौरासी क्रिया सजुक्ति, जे क्षाईक समकित सो रक्ति।
कहै ज्ञान के सूक्ष्म भेद- वाणी सुणत मिथ्यात का खेद।३४।
अगेहे निकट प्रभु ढाडे जोग, करै वन्दना सब ही लोग।
अग्रवाल श्रावक प्रतिबोध, त्रेपन क्रिया बताई सोध।३५।
पच अणुव्रत सिख्याधारि, गुनव्रत तीन कहे उपधारि।
बारहै व्रत बारहै तप कहे, भवि जीव सुणि चित मे गहे।३६।
मिथ्या धरम कीयो तहां दूरि, जैन धरम प्रकास्या पुरि।
विध तै दान देई सब कोई, सास्त्र भेद मुनि समकिती होई।
दस लख्य॰ बताया धरम, तीन रत्न का जान्या मरम।
व्रत विधान समझाई रीत, पूजा रचना करै नचित्त।३८।
श्री जिनके कीए देहुरे, चउईस ब्रिब रचना सुख रे।
चउविध दान दे वित्त समान, चउधडीया अणथमी प्रमान।

भाषा.—भाषा की दृष्टि से पद्मपुराण मे ब्रजभाषा एव राजस्थानी दोनो का पुट है। कवि सभाचन्द का दिल्ली प्रदेश से अधिक सम्बन्ध था। तथा वहा सभी तरह भाषायें बोलने वाले श्रावक गण आते रहते थे इसलिए पद्मपुराण की रचना सामान्य बोलचाल की भाषा में की गई। भाषा का एक उदाहरण देखिए—

घेवर बरफी लडुवा सेत, बहु पकवान परोस्या तेह।
षटरस भोजन कीने घने, हुरे व पेरे उत्तम बने।४२।
जीमैं भोजन सब परिवार, वीरा दीना पान संवार।
सिंहासन पर बैठे आय, नगर कितोहल देखे राय।४३

उक्त पद्यो में घेवर, बरफी, परोस्या, जैसे शब्द राजस्थानी है तो पेरे (पेड़े) वीरा (वीड़ा) कितोहल जैसे शब्द ब्रजभाषा के है।

ग्रन्थ विशेषतायें:—कवि ने सभी घटनाओं का अच्छा वर्णन किया है। फिर चाहे वह नगर का वर्णन हो अथवा किसीके स्वभाव अथवा तत्त्व एव दर्शन का हो। पुण्य अर्जन करते रहने की कवि ने निम्न प्रकार प्रशंसा की है—

पुण्यमुं पावै सुर की रिधि, पुण्यैंभव होवै विद्या सिध॥
पुण्ये भोग भूमि सुख करै, पुण्य राज पृथ्वी कुं वरै।
पुण्य दुख दालिद्र सब हरै, पुण्ये भवसागर जल तिरै॥
पुण्ये पुत्र कलित्र परिवार, पुण्ये लक्ष्मी होय अपार।
पुण्य विधा लहै विमान, पुण्यै पावै उत्तम थान॥
पुण्ये दूरि जिन लागै पाय, पुण्य थी सदा सुखदाय।
जल थल वन विहंड सहाय, तापै पुण्य करो मन लाय॥
सुणो पुण्य कीजे सब कोय, मन वाछित फल पावै सोय।
सुरगति नर नारकी तिरयंच, पुण्य बिना सुख लहै न रच॥

कुछ बिधानकों (सर्ग) को छोड़कर शेष बिधानक छोटे-छोटे हैं। कवि ने पुराण का मुख्य वर्णन (रामचरित) प्रारम्भ करने से पूर्व ऋषभदेव से महावीर तक का संक्षिप्त वर्णन किया है।

प्रकाशन की आवश्यकता

इस प्रकार पद्मपुराण एक महत्वपूर्ण कृति है। रामकथा पर लिखी जाने वाली यह प्रथम हिन्दी जैन रचना है। जिसमे छ हजार से ऊपर चौपाई एव सोरठा छन्दो का प्रयोग हुआ है। भाषा सीधी-सादी एव लालित्य गुण युक्त है। सभी वर्णन सामान्यतः अच्छे है। यद्यपि प्रस्तुत कृति रविषेणाचार्य की पद्मपुराण की अनुकृति है फिर भी वह मौलिकता लिये हुई है। इस पुराण के प्रकाशन से जैन कवियो द्वारा हिन्दी विकास मे उनके योगदान पर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। प्रस्तुत पद्मपुराण की अभी तक एक मात्र पाण्डुलिपि की खोज की जा सकी है। इसलिए यह पाण्डुलिपि भी अलभ्य पाण्डुलिपि है इस ग्रथ का विस्तृत अध्ययन मूलपाठ के साथ महावीर ग्रंथ अकादमी के आगामी प्रकाश मे किया जावेगा। (शेष पृ० १३ पर)

बिहार मे जैन धर्म : अतीत एवं वर्तमान

□ प्रो० डा० राजाराम जैन, आरा

पृष्ठभूमि : प्राचीन जैन पुराणेतिहास में "बिहार" शब्द का अर्थ—

प्राचीन जैन इतिहास मे 'बिहार' शब्द का अर्थ उस पवित्र भूमि से है, जहाँ जैन-साधु एव साध्वियो का निरतर विचरण होता रहा हो, उनके लगातार चातुर्मासो (वर्षावासों) से जो भूमि पवित्र हो तथा जो तीर्थकरो एव अन्य जैन-साधको की जन्म, तप, समवशरण (उपदेश-भूमि) एव निर्वाण की स्थली रही हो[1]। इस दृष्टि से वर्तमान बिहार प्रान्त उसका साक्षात् प्रमाण है। क्योकि ईसा पूर्व की ८वी सदी के पूर्व के एतद्विपयक अनेक उल्लेख मिलते है। उदाहरणार्थ अग-जनपद (वर्तमान भागलपुर-प्रक्षेत्र) की चम्पापुरी (मे स्थित मन्दार गिरि), बारहवे तीर्थकर वासुपूज्य की निर्वाणभूमि रही[2]। तो मगध-जनपद की राजगृही[3] पावापुरी[4], नालन्दा[5], गुणावा[6] एव कुण्डलपुर[7], कोल्हुआ (कोटिशिला[8]) पर्वत, प्रचार[9] एव श्रावक[10] पर्वत गाथा बराबर की पहाड़ियाँ[11], अनेक तीर्थकरो एव साधको की जन्म, तप, समवशरण, वर्षाबास एव निर्वाण की पुण्यभूमि रही। वज्जि-विदेह[12] (वर्तमान तिरहुत-प्रक्षेत्र) जनपद, तीर्थंकर नमिनाथ, मल्लिनाथ एव वर्द्धमान की जन्म, तप, वर्षावास एव समवशरण की पवित्र भूमि है, तो भगि-जनपद[13] (वर्तमान हजारीबाग प्रक्षेत्र) के सम्मेद-शिखर (पार्श्वनाथ पर्वत), भद्रिकापुरी (वर्तमान भदिया आदि २२ तीर्थंकरो एव अन्य कोटि-कोटि जैन साधको की घोर तपस्या एव निर्वाण भूमि रही।

वर्तमान बिहार प्रान्त का उदय

कालान्तर मे उक्त सभी जनपद कुछ हेर-फेर के बाद मिलकर वर्तमान "बिहार" के नाम से प्रसिद्ध हुए तथा प्राचीनकाल मे जो "बिहार-क्षेत्र" आध्यात्मिक साधना की पुण्यभूमि के रूप मे प्रसिद्ध था, वही आगे चलकर एक राजनैतिक तथा भौगोलिक सीमा-क्षेत्र के प्रतीक—'बिहार-प्रान्त' के रूप मे विख्यात हुआ।

कुछ भौगोलिक एवं भाषा-वैज्ञानिक प्रमाण—

जिस प्रकार 'बिहार' शब्द जैन-संस्कृति-गर्भित एक सार्थक नाम है, उसी प्रकार वर्तमान बिहार-प्रान्त के अनेक नगरों, ग्रामों नदियो एव पर्वतो के नाम भी जैन-संस्कृति-गर्भित सार्थक नाम है और यदि अधिक प्राचीन नही, तो भी वे नन्द एव मौर्य कालीन जैन-केन्द्र रहे होंगे, इसमें सन्देह नही। ऐसे नामो मे वर्तमान चौसा (भोजपुर) चाइवासा, संथाल, मगध, विदेह, वैज्जि, नालन्दा, गया, कर्मनासा, श्रावक-पहाड़ आदि प्रमुख हैं। ये सभी शब्द-नाम मूलत. जैन-सस्कृति के सूचक हैं। इनका भाषा-वैज्ञानिक एव जैन-दार्शनिक तथा आध्यात्मिक अर्थ निम्न प्रकार समझा जा सकता है :—

चौसा[14] चउसा < चउम्मासासा < चतुर्मासः—वह स्थल, जहाँ का वातावरण शान्त, धर्मानुकूल एव आध्यात्मिक साधना के लिए उपयुक्त हो और जैन-साधु एवं साध्वियाँ निर्विघ्न रूप से वर्षा ऋतु में चतुर्मास (वर्षावास) कर सकें। यहाँ की खुदाई मे धातुओं की अनेक प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है।

(पृ० १२ का शेषांश)

सन्दर्भ-सूची

१. संवत सत्रह सै ग्यारहै बरस, सुन्या भेद जिन वाणी परम,
फाल्गुन मास पचमी श्वेत, गुरूवासर मन मे धरी हेत।
२. सभाचन्द मुनि भया आनन्द भाषा करी चौपाई छन्द,
सुनि पुरान कीना मंडान, गुरूजन लोक सुनदे कान।
३. सहैश्र एक अर दोइसे वरस, छह महीने बीते कुछ तरस,
महावीर निर्वाण कल्याण इह अतर है रच्या पुराण।
४. द्विशताभ्यधिके समासहश्रे समतीते अर्धचतुर्थ वर्ष युक्ते,
जिनभास्कर वर्द्धमानसिद्धेश्चरित पद्म मुनेरिद निबद्धम्।

चाइवासा[15] < त्यागी वास: (उदासीनाश्रम)=वह स्थल जहाँ गृहविरत त्यागी, व्रती, संयमीगण रहकर संयम पालन एवं स्वाध्याय कर आत्म-कल्याण कर सकें।

संथाल < संथार < संस्तार=वह स्थल, जहाँ जैन साधु या सयमी व्यक्ति तथा साध्वियाँ सल्लेखना-पूर्वक देह त्याग कर सकें।

मगध < मा+गृद्धि=वह आध्यात्मिक क्षेत्र, जहां मूर्छा-रहित होकर सयमशील जीवन व्यतीत किया जा सके।

विदेह—वि+देह=देह के प्रति ममता भाव त्याग कर साधनापूर्ण जीवन व्यतीत करने योग्य क्षेत्र।

वज्जि < वज्जितो < वर्जित.=वह क्षेत्र जहाँ भौतिक-लिप्सा के त्याग की भावना उदित हो और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते रहने की शिक्षा प्रदान की जाय।

गया[16] < गता:=वह स्थल, जहा से निर्वाण की प्राप्ति हो।

कर्मनासा[17] < कर्मनाशा= वह प्रक्षेत्र जहाँ साधना करके ज्ञानावरणादि अष्ट दुखद-कर्मों को नष्ट कर निर्वाण पद प्राप्त किया जा सके।

चूकि प्राच्य कालीन बिहार की जन-भाषा अथवा राष्ट्र-भाषा प्राकृत थी अत: वहां के तत्कालीन नगरों आदि के नामों की प्राय: प्राकृत-भाषात्मक थे। इनके उदाहरण ऊपर दिए ही जा चुके हैं। प्राकृत-भाषा के जन भाषा एवं राष्ट्र भाषा होने के कारण ही उसमें लोकनायक सर्वोदयी नेताओं—महावीर एव बुद्ध ने अपने उपदेश दिए दिये थे एव मगध के सम्राट प्रियदर्शी अशोक ने अपनी धर्माज्ञाए समस्त भारत तथा सीमावर्ती प्रदेशो मे सर्वगम्य होने कारण प्राकृत-भाषा मे ही जारी की थी। भाषा-वैज्ञानिको के अनुसार वर्तमान भोजपुरी, मैथिली, मगही, सथाली तथा बगला, उड़िया, असमिया, ब्रज, अवधी, मराठी, राजस्थानी, गुजराती, पजाबी एव काश्मीरी आदि आधुनिक बोलियों अथवा भाषाओं का विकास विविध प्रादेशिक-प्राकृतो से ही हुआ है।

वंशानुक्रम-परम्परा, मूर्तिकला एवं पुरातत्त्व की दृष्टि से—

यदि जैन पुराणो मे वर्णित ई० पू० की सहस्राब्दियो की घटनाओं को ऐतिहासिक न भी मानें तो भी २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ [ई० पू० ७७० वर्ष अर्थात् तीर्थंकर महावीर के परिनिर्वाण (ई० पू० ५२७) से २५० वर्ष पूर्व] के समय मे बिहार-प्रान्त जैन धर्म का प्रधान केन्द्र था। आधुनिक बिहार में जो लोग आदिवासी, सथाली एवं सराक जाति के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिन्हें दुर्भाग्य से पिछड़े वर्ग का माना जाता है, उनके विषय मे स्वयं-सेवी संस्थाओं ने सर्वेक्षण कराया है। तदनुसार उनके कुल, गोत्र, नाम एव उनके सामाजिक रीति-रिवाजों के आधार पर यह सिद्ध हुआ है कि उक्त जातियो के लोग विशेषतया सराक जाति के लोग तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। यह 'सराक' शब्द श्रावक (आचारवान जैन गृहस्थ) का अपभ्रंश रूप है। संथाल परगना मे अभी यद्यपि उत्खनन (Excavations) कार्य अत्यल्प ही हुआ है, फिर भी वहाँ अनेक प्राचीन जैन-मूर्तियाँ मिली है। उनसे भी उक्त तथ्य का समर्थन होता है[18]।

उपलब्ध जैन सन्दर्भों के अनुसार मगध सम्राट नन्द मौर्य वशी अनेक नरेश जैन धर्मानुयायी थे[19]। उन्होने जैन धर्म को न केवल राष्ट्रीय धर्म के रूप मे प्रतिष्ठा दी अपितु उसके उद्धार एव प्रचार-प्रसार के लिए भी महत्त्व-पूर्ण कार्य किए। हाथी गुम्फा शिलालेख का वह प्रसंग स्मरणीय है, जिनके अनुसार कलिंगनरेश खारवेल (ई० पू० दूसरी सदी) मगध सम्राट वृहस्पति मित्र पर आक्रमण कर अपनी राष्ट्रीय-मूर्ति—कलिंग जिन (प्रथम तीर्थंकर आदि-नाथ की मूर्ति) को छीनकर वापिस कलिंग मे ले आए थे[20]। इस प्रसग मे मेरा अनुमान यह है कि उक्त शिला-लेख में जिसे "कलिंगजिन" कहा गया है, वह मूर्ति पूर्व मे 'मगधजिन' के रूप मे प्रतिष्ठित रही होगी। क्योकि नन्द राजाओं के समय मे जैन-मूर्तियों का निर्माण होने लगा था। वह 'मगधजिन' जब कलिंग पहुंची तो वहां वही मूर्ति 'कलिंगजिन' के नाम से प्रसिद्ध हो गई। इस प्रकार उस ऐतिहासिक मूर्ति का आवागमन होता रहा। कभी वह मगध से कलिंग ले जाई गई तो कभी कलिंग से वापिस मगध मे ले आई गई और फिर कलिंग वापिस ले जाई गई। उसका नाम परिवर्तन भी (मगधजिन अथवा कलिंगजिन के रूप मे) उसी क्रम से होता रहा। अन्ततः कलिंग मे जाने के

बाद उस ऐतिहासिक मूर्ति का क्या हुआ ? इसकी जानकारी नही मिलती।

लोहानीपुर पटना के उत्खनन में प्राप्त प्राचीन जैन मूर्ति एवं मन्दिर का ऐतिहासिक महत्त्व—

जैसा कि पूर्व मे उल्लेख किया जा चुका है, लोहानीपुर (पटना) के उत्खनन मे जो कार्योत्सर्ग-मुद्रा की अद्वितीय जैन नग्न मूर्ति प्राप्त हुई है, उसे देखकर यह अनुमान होता है कि प्रथम बार में 'मगधजिन' के कलिंग मे ले जाए जाने के तत्काल बाद ही उस रिक्तता को पूर्ण करने हेतु उसकी प्रतिकृति बनवाकर उसे पाटलिपुत्र के एक नवनिर्मित कलापूर्ण जैन-मन्दिर मे प्रतिष्ठित किया गया होगा और लोहानीपुर के उत्खनन मे वही मूर्ति एव मन्दिर के भग्नावशेष अब उपलब्ध हुए है। वस्तुत: अद्यावधि उपेक्षित प्रस्तुत विषय पर पुनर्विचार एव निष्पक्ष गम्भीर अन्वेषण की महती आवश्यकता है।

जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र पाटलिपुत्र : जैनेतिहास की दृष्टि से—

प्राचीन जैन सस्कृत एव प्राकृत साहित्य मे ई० पू० की ५वी सदी के पूर्वोक्त जनपदो के कुछ प्रमुख नगरो मे घटित जैन धर्म विषयक अनेक ऐतिहासिक घटनाओ के उल्लेख मिलते है। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) के वर्णन-प्रसग मे बताया गया है कि यह वही पावन-स्थान है जहा अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) ने मौर्यवशी प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त (ई० पू० ३६३) को जैनधर्म मे दीक्षित कर उसे अपना शिष्य बनाया था और उसके साथ दक्षिण-भारत की यात्रा की थी।[११] पाटलिपुत्र मे ही ई० पू० ३७५ के आसपास अर्धमागधी प्राकृत के जैनागमो को लिपिबद्ध कर उन्हे सुरक्षित रखने हेतु प्रथम सगीति का आयोजन किया गया था।[१२] यही पर नन्द एव मौर्यकालीन जैन मूर्तिया भी प्राप्त हुई। ये मूर्तिया न केवल जैनकला के इतिहास मे अपितु भारतीय मूर्तिकला के इतिहास मे भी सर्वप्रथम मानी गई हैं। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो मोहन-जो-दारो एवं हड़प्पा मे प्राप्त मूर्तियों की कला यदि आदिम अथवा प्रारम्भिक है, तो लोहानीपुर की जैन-मूर्ति भारतीय मूर्तिकला का चरम विकसित रूप है।

जन साहित्य-लेखन की दृष्टि से भी देखा जाय तो गीता, बाइबिल एव कुरान के समान सम्मानित एव ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी सुप्रसिद्ध जैन ग्रन्थ "तत्त्वार्थाधिगम सूत्र भाष्य" की रचना ईसा की दूसरी सदी मे पाटलिपुत्र मे ही हुई।[१३] सुप्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र (दूसरी सदी) ने शास्त्रार्थ[१४] मे तथा जैन महाकवि हरिचन्द (११वी सदी) ने सस्कृत-गद्य के कठिन परीक्षण[१५] मे यहा गौरवपूर्ण विजय प्राप्त की थी।

उक्त कुछ तथ्यो से बिहार के साथ जैनधर्म के अटूट सम्बन्धो की जानकारी आसानी से मिल जाती है और उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि वह बिहार का एक प्रमुख महान धर्म था। अत: यह कहने मे कोई सकोच नही किया जा सकता कि बिहार के निर्माण मे तथा उसे सुयश एव गौरवपूर्ण स्थान दिलाने मे उसका योगदान अविस्मरणीय है।

प्रथम-शती के प्रारम्भ से बिहार में जैनधर्म का क्रमिक ह्रास—

मौर्य साम्राज्य की समाप्ति के बाद कुछ नए गणतन्त्र अस्तित्व मे आए किन्तु आपसी कलह के कारण वे दीर्घकाल तक नही टिक सके। गुप्तवशीय राजा समुद्रगुप्त (चौथी सदी) के समय तक उनकी समाप्ति हो गई। यद्यपि वैशाली का गणतन्त्र उस समय भी अपना कुछ प्रभाव बनाए हुए था।[१६] समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने उसी की सहायता से गुप्त-साम्राज्य की स्थापना की थी। किन्तु राजनैतिक महत्वाकाक्षा बडी विचित्र होती है। उसने अपना प्रभुत्व स्थापित करने हेतु जहाँ यौधेय, आर्जुनायन एव मालव जैसे गणराज्यो को नष्ट किया उसी प्रकार वज्जी-विदेह के गणराज्य को भी आत्मसात कर लिया।[१७] इतिहास की यह लीला भी विचित्र ही मानी जायगी कि एक ओर वैशाली दौहित्र—शिशुनाग वशी राजा अजातशत्रु ने अपने ननिहाल के राज्य (वैशाली) को ध्वस्त किया तो दूसरे दौहित्र समुद्रगुप्त ने उसके रहे-सहे अस्तित्व को गणतन्त्रों के मानचित्र से सदा-सदा के लिए ही मिटा दिया। वैशाली के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के कारण वहाँ के जैन धर्मानुयायी लिच्छिविगण आदि हिमालयवर्ती तिब्बत, लद्दाख, भूटान, नेपाल, बर्मा आदि देशों में चले

गए।[18] वहां के वर्तमानकालीन कुछ राजवश आज भी अपने को लिच्छवियो से सम्बन्धित बतलाते हैं परिस्थिति-वश धर्म-परिवर्तन कर वे सभी बौद्धधर्मानुयायी हो गए। यही कारण है कि चीनी यात्री ह्वेनत्सांग को ७वी सदी में वहां केवल जैन मन्दिरों एव भवनो के खण्डहर ही दिखाई दिए थे। वहां उसे जैनियों की संख्या अत्यल्पमात्रा में ही दिखाई दी थी[19]।

१३वीं सदी के तिब्बती यात्री धर्मस्वामी को वैशाली में यह जानकारी मिली थी कि तुरुष्क सेना के आक्रमणों के भय से वहां के निवासी भाग गए थे[10]। इतना ही नही, उस समय अग-चम्पा एव पाटलिपुत्र, जो कि उस समय महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र थे, वे भी आक्रान्ताओं के भय से उजाड़ हो गए थे। इस प्रकार वैशाली एव उसके समीपवर्ती प्रदेशो में जैन धर्म की स्थिति नगण्य हो गई। जैन धर्मानुयायियो के नष्ट-भ्रष्ट अथवा पलायन के कारण वज्जी-विदेह एव मगध से जैन धर्म का प्रभाव प्रायः समाप्त होता गया तथा वहा क्रमशः ब्राह्मणो का प्रभाव बढ़ने लगा।

इस प्रकार महावीर-निर्वाण (ई० पू० ५२७) के बाद लगभग पाँच सौ वर्षों तक जिसने भारतीय सीमाओं को पार कर एशिया[11] एव यूनान[12] की विचारधारा को प्रभावित किया और जिसने भारत, विशेषतया बिहार के चतुर्दिक् जन-जीवन में आध्यात्मिकता तथा अहिंसा एव अपरिग्रह की अमृत-स्रोतस्विनी प्रवाहित की वही जैन धर्म विविध विषम परिस्थितियों के कारण अपने मूल केन्द्र में ही प्रभावहीन हो गया। यद्यपि मध्यकालीन जैन-साहित्य मे, बिहार में जैन धर्म की स्थिति के कुछ साहित्यिक-सन्दर्भ तथा जैन तीर्थ यात्रा सम्बन्धी साहित्य अवश्य मिलता है किन्तु उससे एक अन्तः सलिला नदी की तरह, जैन धर्म की स्थिति का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। वस्तुतः वह एक समयसाध्य शोध का विषय है। वर्तमान मे उससे जैन धर्म की सर्वाङ्गीण गतिविधियो को समझ पाने मे विशेष सहायता नही मिल रही है। यथार्थतः हमारे इतिहास-कारों की उपेक्षा के कारण ही बिहार के तत्कालीन जैन धर्म का वह एक महान ऐतिहासिक अध्याय अभी तक अन्धकाराच्छन्न जैसा ही बना हुआ है।

बिहार में जैन धर्म का पुनर्जागरण-काल—

बिहार में जैन धर्म के पुनरुद्धार की दृष्टि से १९वी एव २०वीं सदी का काल एक नव जागरण काल के रूप मे स्मृत किया जायगा। सन् १८७० के आसपास बिहार में राजनैतिक स्थिरता, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन की समाप्ति, भारतीय-प्राच्य-विद्या के अनेक देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक खोजों के प्रति गहरी अभिरुचि अंग्रेजों के शासन की स्थापना तथा उसके द्वारा बिहार के आर्थिक-बिकास के क्रम में खान एवं अन्य उद्योग-धन्धों का क्रमिक विकास होने लगा। उनसे आकर्षित होकर व्यापारिक दृष्टिकोण से अनेक जैन-परिवार बिहार में आने लगे और वे धीरे-धीरे यही बसने लगे। इनकी तथा अन्य स्थानीय मूल निवासी जैनियो की प्रेरणा से अनेक जैन साधुओ एव साध्वियो के भी बिहार मे पुन. बिहार (आवागमन) होने लगे और जैन-मदिरो, स्वाध्यायशालाओ, पाठशालाओ एव औषधालयो का पुनरुद्धार अथवा नव-निर्माण होने लगा। व्यापारी होने के कारण जैनियो ने व्यापार की सम्भावना का पता लगाकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार बिहार के विभिन्न नगरो को अपना कार्य क्षेत्र बनाया। से जैन-बहुल नगरो मे आरा, ईसरीबाजार औरगाबाद कटिहार, कतरास, गया, गिरिडीह, गुणावा, छपरा, झरिया, झूमरी-तिलैया, डालटनगज, डालमियानगर धनबाद, नवादा, बाढ, बारसोइघाट, बेगूसराय, पावापुरी, पूर्णिया, भागलपुर, मुजफ्फरपुर, मुगेर, रफीगज, राजगृही, राची, सम्मेत शिखर, एव हजारीबाग आदि प्रमुख है।

पाश्चात्य एवं प्राच्य-विद्वानों की देन—

१९वी-२०वी सदी मे जैन धर्म के प्राचीन गौरव के प्रकाशन की दिशा मे हर्मन याकोबी, बुहलर, सर विलियम जोन्स, जेम्स फर्ग्युसन, कनिंघम, स्पूनर ब्लाख, स्मिथ, डॉ० बाशम, डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल, डॉ० आर० डी० बनर्जी, डॉ० उपेन्द्र ठाकुर एव डॉ० योगेन्द्र मिश्र का नाम बड़े ही गौरव के साथ स्मरण किया जाएगा जिन्होने अपनी विविध खोजो मे प्राप्त बहुमूल्य सामग्रियो के आधार पर निष्पक्ष दृष्टि से जैन धर्म की प्राचीनता को प्रकाशित कर न केवल नव जागरणकाल के बिहार के जैनियो को प्रोत्साहित किया; अपितु भारतीय इतिहासकारों को भी

जैन धर्म के विषय मे लेखन-कार्य हेतु प्रेरित किया। सम्भवत उसी समय से बिहार के प्राचीन जैन तीर्थों के पुनरुद्धार, नव-निर्माण एव उनकी लोकप्रियता को बढाने हेतु नए-नए प्रयत्न किए गये।

प्राचीन जैन तीर्थ मूर्तियों का जीर्णोद्वार एवं नव-निर्माण—

सन् १८२५ ई० के आसपास पवित्र गिरिराज सम्मेद शिखर (पारसनाथ पहाड जिला हजारी बाग) को तत्कालीन पाल नरेश से खरीदकर तथा उसका जीर्णोद्धार कर जैन समाज ने उसकी अधित्यका में अनेक नवीन शिखर बन्द जैन मन्दिरो का निर्माण कराया और प्रशासन से सुरक्षा की गारण्टी प्राप्त कर उसकी तीर्थ यात्रा के लिए देश के कोने-कोने से जैनियो को आकर्षित किया गया। एतद्विषयक अनेक पूजा-पाठ एव स्तुतियो का प्रणयन किया गया। हिन्दी के एक जैन कवि द्यानतराय ने उस तीर्थराज की महिमा मे लिखा है —

एक बार बन्दे जो कोई ताहि नरक पशु-गति नहिं होई।

आगे चलकर उसकी उपत्यका मे भी अनेक जैन मन्दिरो और दर्जनो विशाल धर्मशालाओ तथा गगनचुम्बी उत्तुग मानस्तम्भो का निर्माण कराया गया इनके अतिरिक्त सार्वजनिक औषधालय, वाचनालय, ग्रन्थालय एव विद्यालयो की भी स्थापना की गई जिससे स्थानीय जनता भी लाभान्वित हो सके। इस तीर्थ का वर्णन तीसरी-चौथी सदी के जैन-साहित्य मे भी प्राप्त होता है।

सन् १९०१ ई० के आसपास सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ एम० ए० स्टेन तथा सर विलियम हण्टर ने भद्रिकापुरी (वर्तमान भदिया, हजारी बाग) की खोजकर उसे तीर्थकर शीतलनाथ की जन्मभूमि सिद्ध करते हुए घोषित किया कि उसके आसपास के सतगवां, कुन्दकिला, बलरामपुर, बोरम, छर्रा, द्वारिका, उल्मा, कतरासगढ़, पवनपुर, पाकवीर एव तेलकुप्पी आदि नगर जैनियों के प्रधान केन्द्र थे। उक्त विद्वानो ने वहाँ की जैन-मूर्तियो के कला-वैभव एव अन्य प्रमाणो से आधार पर यह भी सिद्ध किया कि वहा पर १३-१४वी सदी मे एक विशाल कलापूर्ण जैन मन्दिर था, जिसमें दूसरी-तीसरी सदी की जैन मूर्तिया सुरक्षित थी"।

एक प्राचीन किंवदन्ती के अनुसार चम्पापुरी (भागलपुर) मे ११वी सदी मे एक जैन-मन्दिर का निर्माण कराया गया था किन्तु मुगलकाल मे सम्राट शाहजहा ने उस पर अधिकार कर उसे तथा आसपास के कुछ गाव चाँदबाई नाम की एक ब्राह्मणी को राखी बाधने के उपलक्ष्य मे उसे भेट कर दिया था" उसके बाद उसका क्या हुआ, इसकी जानकारी नही मिलती।

सन् १९११ मे चम्पापुरी मे स्थित मन्दारगिरि पर्वत किसी स्थानीय जमीन्दार के अधिकार मे रहने के कारण वह बडा अव्यवस्थित था लेकिन रायबहादुर सखीचन्द जैन कैसरे हिंद (तत्कालीन जनरल सुपरिटण्डेण्ट आफ पुलिस, बिहार, बगाल एव उडीसा) के अथक प्रयत्नो से वह जैनियो के अधिकार मे आ गया"। तत्पश्चात् उस क्षेत्र का बहुमुखी विकास हुआ। वहाँ सर्वोपयोगी अनेक जैन-धर्मशालाओ का निर्माण कराया गया। सन् १९४३ मे बारामती (महाराष्ट्र) के श्रीमन्त श्री तलकचन्द कस्तूरचन्द ने ८५०००) रुपयों की लागत से एक विशाल भव्य जैन मन्दिर का निर्माण कराया तो उसी के आसपास एक अन्य जैन धर्मानुरागी श्री घनश्यामदास सरावगी ने भी एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया। कहा जाता है कि इस मन्दिर मे नन्द एव मौर्यकालीन जैन-मूर्तिया सुरक्षित है"।

सन् १९२० के आसपास से कुछ तीर्थंकरो की जन्म, तप एव समवशरण की पुण्यभूमि राजगृही का क्षेत्र विकसित हुआ। तीसरी-चौथी सदी के जैन साहित्य मे उसे पचशैलपुर[30] के रूप में स्मृत किया गया है। २०वी सदी के प्रारम्भिक वर्षों मे सभी पहाडियो के प्राचीन जैन-मन्दिरो का जीर्णोद्धार एव नवीन मन्दिरो का निर्माण कराकर श्रेणी मार्ग बनवाये गए तथा यात्रियो की सुविधा के लिए अनेक धर्मशालाए और सार्वजनिक औषधालय, ग्रन्थालय, वाचनालय, विद्यालय एव दानशाला का निर्माण कराया गया। १९३६ ई० मे आरा की ब्रह्मचारिणी चन्दा बाई जी ने रत्नागिरि पर्वत पर दशाश्रुतस्कन्ध का निर्माण कराकर एक ऐतिहासिक कार्य किया। सन् १९४४ मे यहाँ भ० महावीर के प्रथम समवशरण के आगमन की पुण्य स्मृति में एक कलापूर्ण मानस्तम्भ का निर्माण कराया गया

तथा उसके उद्घाटन के समय प्रथम वीर-शासन जयन्ती का बृहद् आयोजन किया गया।

पिछले दशक मे आगरा के सुप्रसिद्ध राष्ट्र सन्त अमर मुनि जी महाराज ने वहाँ "वीरायतन" नामक एक संस्था की स्थापना की है, जो भगवान महावीर की पुण्यस्मृति में स्थानीय सामान्य जनता के बहुमुखी विकास एव नव-निर्माण मे सर्वतोभावेन सलग्न है। इस संस्था की ओर से सार्वजनिक विशाल एव आधुनिक साज-सज्जायुक्त चिकित्सालय, प्रारम्भिक विद्यालय संस्थापित हैं। अल्पमोली साहित्य-प्रकाशन एव सर्वोदयी नैतिक शिक्षा-प्रसार हेतु भी अनेक विभाग कार्य-सलग्न है।

पावापुरी को जैनियो का महान निर्वाण क्षेत्र माना गया है। वहा से भ० महावीर के परिनिर्वाण की चर्चा दूसरी-तीसरी सदी के जैन-साहित्य मे उपलब्ध हैं। कुछ प्रमाणो के आधार पर वहां के एक प्राचीन जैन मन्दिर का जीर्णोद्धार सन् १६४१ मे कराया गया था और उसमे महत्तियाण वश के श्रावकों ने तीथकर महावीर के चरणो की स्थापना भी थी। उस समय ये जैन श्रावक पावापुरी एव उसके आसपास के प्रक्षेत्र मे बहुसख्यक थे किंतु कालान्तर मे कुछ विषम-परिस्थितियो में वे जैन धर्म से विमुख हो गए[38]।

सन् १६२५ ई० मे गुणावा-क्षेत्र (नालन्दा) का जीर्णोद्धार हुआ। अर्द्धमागधी आगम-साहित्य के अनुसार इसका पुराना नाम गुणशिला-चैत्य है, जहा भगवान महावीर के कुछ चतुर्मास (वर्षावास) हुये थे। यहां पर इन्दौर के धन-कुबेर रावराजा सर सेठ हुकुमचन्द जैन ने लाखो रुपयो की लागत से एक विशाल जैन मन्दिर एवं धर्मशाला का निर्माण कराया था। मन्दिर मे १५-१६वी सदी की कुछ जैन मूर्तिया प्रतिष्ठित हैं। सन् १६४७ में गया निवासी केशरीमल लल्लूमल ने यहाँ एक कलापूर्ण उत्तुंग मानस्तंभ का भी निर्माण कराया था।

सन् १६४० मे गुलजार बाग (पटना) स्थित कमलदह सिद्ध क्षेत्र का जीर्णोद्धार कर वहाँ पुरातन जैन मन्दिर का नवनिर्माण किया गया। एक विशाल जैन धर्मशाला भी बनवाई गई। उक्त मन्दिर मे १६-१७वी सदी की जैनमूर्तियां सुरक्षित हैं। यह वही स्थल है जहाँ ईसापूर्व ६वीं सदी के आसपास सन्त-साधक सुदर्शन सेठ को तत्कालीन किसी विदेशी नरेश ने सूली की सजा दे दी थी। वह सजा सर्वथा अन्यायपूर्ण थी। सुदर्शन शुद्ध परिणामपूर्वक मरे और उन्हें वहीं से निर्वाण की प्राप्ति हुई थी[39]। तभी से वह जैन सिद्धक्षेत्र के रूप मे जैन इतिहास में प्रसिद्ध है। ईसापूर्व चतुर्थ सदी के आसपास नन्द नरेश के महामन्त्री शकटाल के पुत्र स्थूलिभद्र एव गणिका कोशा की इतिहास-प्रसिद्ध मौलिक एवं आध्यात्मिक घटनायें भी इसी स्थल पर घटी थी[40]। तद्विषयक एक जीर्ण-शीर्ण स्मारक आज भी उस घटना को प्रकाशित कर रहा है।

बिहार के आधुनिक जैन इतिहास मे यदि आरा नगर के जैनियों एव उनके कार्यकलापो की चर्चा न की जाय तो वह अधूरा ही रहेगा। आरा नगर वैसे तो रामायणकालीन नगर है। उस समय उसका नाम क्या रहा होगा, यह एक शोध का विषय है किन्तु मसाढ (प्राचीन महाशाल वन—जि० भोजपुर) के प्राचीन जैन मन्दिर मे सुरक्षित एक जैन मूर्ति के लेखानुसार उसका प्राचीन नाम आरा नगर (उपवनो एव बगीचो का नगर) था। यह लेख अनुमानतः ७वी सदी का है। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग पाटलिपुत्र जाते समय महाशालवन(मसाढ़ वर्तमान आरा से लगभग ४ मील दूर) एव आरामनगर (आरा) आया था। उसके बाद लगभग १८वी सदी तक के वहाँ के जैन कार्य-कलापों की जानकारी नही मिल सकी है[40]।

१६वी सदी के मध्य मे यहाँ एक बड़ा ही तेजस्वी साहित्यकार हुआ, जिसकी साहित्यिक रचनाओं ने जैन समाज मे धूम मचा दी। उसका नाम है महाकवि वृन्दावनदास [वि० सवत १८४८-१६०६] आजीविका हेतु वे तत्कालीन बनारस की एक टकसाल मे सेवाकार्य करते थे, अपने स्वाभिमान एव अक्खड़ स्वभाव के कारण अंग्रेजों ने उन्हे कारागार मे बन्द कर दिया था। उनकी भक्ति-चमत्कार के कारण कारागार का दरवाजा अपने आप खुल गया था। इस कारण अंग्रेजों ने उनसे क्षमा-याचना मागते हुए उन्हें मुक्त कर दिया था। इनकी सरस स्तुतियां समस्त जैन समाज में लोकप्रिय हैं। इनका पारिवारिक भवन आरा की महाजन टोली न० २ मे अभी भी बना हुआ है किन्तु काल के थपेड़ों ने उसे जर्जर कर दिया है।

२०वीं सदी के प्रारम्भ में आरा नगर बिहार के एक जैन केन्द्र के रूप में उभरकर सम्मुख आया और पिछले लगभग ८० वर्षों में उसने ऐसे अनेक ऐतिहासिक कार्य कार्य किये हैं, जो समूचे भारतीय जैन समाज के लिये प्रेरणा के स्रोत बन गए। ऐसे कार्यों में प्रथमतः भारत विख्यात जैन सिद्धान्त भवन की स्थापना है, जिसमे लगभग १०,००० प्राचीन ताडपत्रीय एव कर्गलीय (सचित्र सामान्य) तथा लगभग सहस्र दुर्लभ ग्रन्थ एवं जर्नल्स एक विशाल कलापूर्ण भवन में सुरक्षित हैं। इसके निर्माता सस्थापक एव संचालक श्री देवकुमार जी जैन एव उनके सुपुत्र श्री बाबू निर्मलकुमार जैन के नाम जैन-इतिहास में अविस्मरणीय रहेंगे। जैन सिद्धान्त भवन ने अनेक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों का प्रकाशन तो किया ही, साथ ही उसने सन् १९०३ के आसपास जैन सिद्धान्त भास्कर एवं जैन ऐंटिक्वेरी (हिन्दी-अंग्रेजी दोनों में) नामक एक उच्चस्तरीय शोध-पत्रिका का भी नियमित प्रकाशन किया और उसके माध्यम से जैन-विद्या के शोध के क्षेत्र मे एक स्वर्णिम अध्याय का सूत्रपात किया। वर्तमान मे उक्त भवन देवकुमार जैन ओरिण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट आरा के नाम से एक शोध-सस्थान के रूप मे मगध विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत है और जैन विद्या के विविध अगो पर वहां शोध-कार्य चल रहा है।

जैन धर्म के विकास के क्षेत्र में आरा की जैन समाज का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है Sacred Books of the Jaina series का प्रकाशन। आरा के एक उत्साही युवक कुमार देवेन्द्र ने न केवल जैन-साहित्य के अंग्रेजी अनुवाद एवं समीक्षा कर अहिन्दी-भाषियों के लिये उक्त सीरीज के प्रकाशन की कल्पना की, अपितु देश के अनेक गण्यमान्य विद्वानों को प्रेरित कर जैन-विद्या के लगभग २५ ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुबाद, समीक्षा तथा तुलनात्मक अध्ययन अंग्रेजी में उक्त सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित कर जैन इतिहास के एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ भी किया। इन ग्रन्थों के कारण विदेशों में भी जैन धर्म की लोकप्रियता बढी।

आरा जैन-समाज की तीसरी देन है श्री जैन बाला विश्राम, जिसकी स्थापना ब्रह्म० पं० चन्दाबाई जैन ने सन् १९२१ में की थी। इस प्रथम एव अनुपम जैन धर्म कन्या शिक्षण संस्था ने जैन महिला जगत में शिक्षा की धूम मचा दी। उसी का सुफल है कि आज देश के कोने-कोने में आरा की प्रशिक्षित जैन महिलाएँ जैन समाज तथा विविध सार्वजनिक सेवाकार्यों मे सलग्न है। प० चदा बाई जी का अभी हाल मे दुखद निधन हो गया है किन्तु ब्रह्म० पं० ब्रजबाला जी के तत्त्वावधान मे उक्त सस्था प्रगतिशील कार्यों मे सलग्न है।

आरा की चौथी देन है श्री आदिनाथ ट्रस्ट जिसने भोजपुर एव रोहताम जैसे पिछडे हुये जिलो मे सार्वजनिक शिक्षाप्रसार का संकल्प किया। इसके सस्थापक थे श्री हरिप्रसाद दास जैन। उनके स्वर्गवास के बाद ट्रस्ट के पदाधिकारियो ने उनके नाम पर आरा में हरप्रसाद दास जैन कालेज और हर प्रसाद दास जैन हाई स्कूल की स्थापना की। ये दोनो शिक्षा सस्थाएं बिहार के उच्च संस्थानों मे प्रथम स्थान रखती है। इनके अतिरिक्त ट्रस्ट की ओर विशाल जैन धर्मशाला, औषधालय, ग्रन्थालय, वाचनालय, एवं दानशाला तथा अन्ध-मूक बधिर विद्यालय जैसी सस्थाए भी सचालित हैं।

आरा नगर की पांचवी देन है यहा के ४५ जैन मन्दिर। बिहार मे इतने अधिक जैन-मन्दिर किसी भी अन्य नगर में नही हैं। इन में से कुछ जैन मन्दिर भव्य, विशाल एव कलापूर्ण होने के कारण दर्शनीय है। यहां की चौबीसी, नन्दीश्वर एवं चन्द्रप्रभ मन्दिर अन्यत्र वर्णित हैं। सम्मेद-शिखर एवं पावापुरी के जल-मन्दिर की भी अनुकृतियां यहाँ उपलब्ध हैं। उक्त जल-मन्दिर जीर्ण-शीर्ण हो चूका था किन्तु भ० महावीर के २५००वे निर्वाण-महोत्सव वर्ष की स्मृति मे उसका जीर्णोद्धार कर उसे सन् १९७४-७५ में विकसित किया गया था तथा वर्तमान मे भी उसे नगर के एक दर्शनीय स्थल के रूप मे विकसित किया जा रहा है। इस कार्य मे सर्वश्री भागचन्द्र, पद्म-राज, परेशचन्द्र एवं अचिन्त्यकुमार जैसे युवकों की सुरुचि एवं सत्प्रयत्न सराहनीय है। अन्य कलात्मक वस्तुओ मे मानस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ, सहस्रकूट-चैत्यालय एव बाहुबलि की विशाल सौम्य-मूर्ति दर्शनीय है।

जैन-विद्या सम्बन्धी शोध कार्यों में भी आरा के जैन-विद्वानों ने भारत में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है। इतिहास एवं संस्कृति, ज्योतिषशास्त्र एव गणित-विद्या, साहित्यिक समीक्षा, अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थो का सम्पादन एव समीक्षा एव प्राचीन जैन-साहित्य मे वर्णित आर्थिक जीवन एव वैदेशिक व्यापार पर यहा के विद्वानो ने अनुकरणीय ठोस कार्य किए है, जिनकी शिक्षा जगत ने मुक्तकण्ठ मे प्रशसा की तथा समाजसेवी सस्थाओ एव राज्य-सरकारो ने भी उन्हे पुरस्कृत किया है। ऐसे विद्वानो में श्री पं० के० भुजबली शास्त्री, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ० दिनेन्द्रचन्द्र जैन, डॉ० रामनाथ पाठक, डॉ० राजाराम जैन, डॉ० गदाधरसिंह, डॉ० चन्द्र-देवराय एव डॉ० विद्यावती जैन प्रमुख है।

मौलिक साहित्य-प्रणयन तथा सगीत एव कला के क्षेत्र में भी आरा का नाम अग्रगण्य है। श्री जैनेन्द्रकिशोर जैन ने सन १९३० के आसपास विविध नाटको एव ग्रन्थो के लेखन से न केवल जैन जगत अपितु जिले के हिन्दी-जगत को भी प्रेरणा दी। शास्त्रीय सगीत में श्री भैरव-कुमार प्रसाद जैन तथा चित्रकला के क्षेत्र मे श्री प्रबोध-कुमार जैन एव सुबोधकुमार जैन के नाम उल्लेखनीय है। इन चारो व्यक्तियो ने आरा को साहित्य, सगीत एव कला का त्रिवेणी-सगम बना दिया है।

वर्तमानकालीन गया, हजारीबाग, राँची एव भागल-पुर भी जैन समाज के प्रमुख केन्द्र माने जाते है। वहाँ की समाजो ने वहा सुरुचिसम्पन्न भव्य जिनालयों के निर्माण तो कराए ही, सार्वजनिक हितों की दृष्टि से भी वहा कन्या पाठशालाए, हाई स्कूल एव कालेज बनवा कर शिक्षा के प्रचार-प्रसार मे महत्वपूर्ण योगदान किया है। इनके अतिरिक्त भी सार्वजनिक स्थानो पर पानी की टंकियाँ, ब्लड बैंक, नेत्रदान शिविर, ग्रन्थालय, वाचनालय आदि का निर्माण कर भ० महावीर के सर्वोदय का सच्चे अर्थ मे प्रचार किया है। राँची के रायबहादुर श्री हरख-चन्द जैन इस समय जैन समाज के प्रमुख नेताओ मे माने जाते हैं। उनकी सत्प्रेरणा एव सहायता से श्री पी० सी० राय चौधरी ने *Jainism in Bihar* नाम ग्रन्थ लिखकर पुरातत्त्व की दृष्टि मे बिहार के प्राचीन जैन-वैभव का सुन्दर विवेचन किया है। गया के श्री रामचन्द्र जैन सरा-वगी डालटनगंज, चतरा, कतरास एव गया में जैनधर्म के विकास हेतु अनेक कार्य किए। वे लेखक एव विचारक विद्वान हैं। वर्तमान मे वे कोल्हुआ-पर्वत की पुरातात्विक सामग्री का अध्ययन कर कुछ लिखने का विचार कर रहे है। इसी प्रकार डा० जयकुमार जैन M L.C. भागलपुर, श्री चिरजीलाल जैन गया, श्री बिमलकुमार जैन (रेड मोटर) गया, श्री स्वरूपचन्द्र सोगानी हजारीबाग, श्री बिमलप्रसाद जैन झरिया, श्री शिखरचन्द्र जैन खरखरी, श्री दयालचन्द्र जैन आरा, बद्रीप्रसाद सरावगी पटना, सुबोधकुमार जैन एव डा० देवेन्द्रकुमार जैन आरा अपने-अपने नगरो की स्वयसेवी सस्थाओ के माध्यम मे जैनविद्या के बहुमुखी विकास एव जैनधर्म के युगानुकूल सर्वोपयोगी बनाने मे कार्यरत है।

सन १९४५ के आसपास कुछ साहित्यिक एव पुरा-तात्विक प्रमाणो के आधार पर अन्तिमरूप में वैशाली स्थित कुण्डग्राम को भ० महावीर का जन्म स्थान घोषित किया गया और बिहार के डा० श्रीकृष्ण सिन्हा (तत्कालीन मुख्यमन्त्री), आचार्य बद्रीनाथ वर्मा (शिक्षा-मन्त्री), डा० अल्टेकर, डा० योगेन्द्र मिश्र, श्री जगदीशचन्द्र माथुर (तत्कालीनन शिक्षा सचिव), श्री आर० आर० दिवाकर (राज्यपाल) आदि ने उस क्षेत्र की सार्थकता बढाने हेतु वहा प्राकृत एव जैन-विद्या के उच्च अध्ययन एव शोध-कार्य हेतु एक बृहत योजना तैयार की तथा साहू शान्ति-प्रसाद जैन के लगभग साढे छह लाख रुपयो के अनुदान से वैशाली मे सन् १९५८ मे प्राकृत जैन शोध-सस्थान की स्थापना की गई। उसके सस्थापक निदेशक के रूप मे डा० हीरालाल जैन ने प्राकृत एव जैन-विद्या सम्बन्धी एम० ए० का पाठ्यक्रम तैयार कर उसके अध्यापन तथा उच्चस्तरीय शोध की व्यवस्था की। शोध सस्थान की योजनाओ को साकार करने मे डा० जगदीशचन्द जैन, डा० नथमल टाटिया, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी, डा० राजाराम जैन, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, डा० विमलप्रकाश, डा० रामप्रकाश पोद्दार, डा देवनारायण शर्मा, डा. स्वरूप चन्द्र जैन, एव डा० रजनसूरि का प्रमुख हाथ रहा। डा० हीरालाल जैन की प्रेरणा से मगध विश्वविद्यालय ने भी

सन् १९५८ से प्राकृत-भाषा एवं जैन-विद्या को अपने पाठ्यक्रम मे स्वीकृत किया । वर्तमान में बिहार इण्टर-मीडियट एजुकेशन कौंसिल ने भी उसे इण्टरमीडियट स्तर तक स्वीकृत किया है, जिसके फलस्वरूप बिहार के सभी विश्वविद्यालयो में इण्टर कक्षा तक छात्र-छात्रायें उसका अध्ययन कर सकते है।

इस प्रकार १९वीं २०वी सदी मे बिहार में जैन धर्म ने अपने अतीतकालीन गौरव को प्राप्त करने का यथा-सम्भव प्रयत्न किया है। उसके अनुयायियो ने एक ओर अपने सत्यनिष्ठ आचरण, शुद्ध सात्विक जीवन, शाकाहारी-सात्विक ज्ञान व मधुर व्यवहार एव उदार आचरण से जहां स्थानीय जन-जीवन को प्रभावित किया तो वही राष्ट्रिय स्वतन्त्रता आन्दोलन को सफल बनाने तथा स्वातन्त्र्योत्तर-काल मे राष्ट्रिय एव प्रान्तीय आधिदैविक एवं आधिभौतिक विषम समस्याओं के समाधान हेतु भी उन्होने तन, मन एव धन से सदा सदा सक्रिय योगदान दिया। अपने पुरुषार्थ एव परिश्रम से जहा एक ओर विपुल धनार्जन किया, वही उन्होंने अनेक सर्वोपयोगी धर्मशालाओ, शिक्षा सस्थाओं, चिकित्सालयों, वाचनालयो, ग्रंथालयो एवं दानशालाओ के भी निर्माण कराए। विविध उद्योग-धन्धों के माध्यम से उन्होने अपने नगरो एवं बिहार प्रान्त के आर्थिक समुन्नयन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। जैन-तीर्थों के जीर्णोद्धार एव लोकप्रियता बढाने में उन्होने करोडो-करोड रुपये व्यय कर जहाँ कलाओं लेखको एवं श्रमिको के नियोजन की व्यवस्था की, वहीं देश के लाखों लाख जैन-यात्रियो को आकर्षित कर राज्य के राजस्व में भी प्रतिवर्ष करोडो रुपयो की आय का एक स्थायी साधन बना दिया। जैन धर्मानुयायियो ने प्रारम्भ से ही बिहार को अपने तीर्थंकरो, महापुरुषों एव पूर्वजो की मातृभूमि एव तीर्थभूमि मानकर उसकी प्रतिष्ठा एव गौरव की अभि-वृद्धि मे उन्होने निरन्तर ही पुत्रवत् सेवाकार्य किया है। सक्षेप मे हम यही कह सकते हैं कि कला, सस्कृति, साहित्य उसका आर्थिक समुन्नयन करके पवित्र तीर्थभूमियो के गौरवपूर्ण प्रदेश के रूप में महान यशस्वी इस बिहार के नव-निर्माण मे जैनधर्म के रचनात्मक योगदान को कभी भी विस्मृत नही किया जा सकेगा।

महाजन टोली नं० २ आरा (बिहार)

सन्दर्भ-सूची

१. दे० जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष ३।५८१-८३।
२. तिलोयपण्णत्ति—४।५६८।
३. वही—४।५४५।
४. हरिवंशपुराण—६६।१५-२७.
५. सुयगडमुत्त--२।७।
६. भगवती सूत्र ११३।
७ श्रमण-साहित्य मे वर्णित विहार—डा० राजाराम जैन।
८. विविध तीर्थकल्प [कोटि शिला कल्प गाथा—२]।
९-१०. श्रमण साहित्य मे बिहार--पृ० ८३।
११. अशोक-स्तम्भ लेख स० ७, प० १६।
१२-१३. दे० भारत के दि० जैनतीर्थ भा० २, पृ० १५-१८५
१४. भोजपुर आरा जिले का एक छोटा ग्राम।
१५. सथाल परगना का एक प्रमुख नगर।
१६. दे० श्रमण-साहित्य मे विहार—पृ० ८२।
१७. बिहार एव यू० पी० की सीमा-विभाजक एक नदी।
१८. दे० श्री बाबूलाल जमादार द्वारा लिखित—सराक हृदय, जैन सस्कृति के विस्तृत प्रतीक एव प्राच्य जैन सराक शोधकार्य नामक ग्रन्थ [अहिंसा निकेतन बेल-चापा द्वारा प्रकाशित]।
१९. दे० डा० राजाराम जैन द्वारा सम्पादित—आ० भद्र-बाहु चाणक्य चन्द्रगुप्त कथानक की प्रस्तावना।
२०. दे० हाथीगुम्फा—शिलालेख प० स० १२।
२१. दे० रामचन्द्र मुमुक्षुकृत पुण्याश्रवकथा कोष (उपवास फल प्रकरण)।
२२. दे० जैनागम साहित्य मे भारतीय समाज—डा० जगदीशचन्द्र जैन पृ० ४६२।
२३. दे० विविध तीर्थकल्प (सिंघी सीरीज) पृ० ६९।
२४. श्रमण-साहित्य मे वर्णित बिहार—पृ० ३४।
२५. दे० मागधम् ६।८५। (शेष पृष्ठ २२ पर)

निमित्ताधीन दृष्टि

☐ श्री बाबूलाल जैन, कलकत्ता वाले

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि परवस्तु हमारा बिगाड़ करती हैं जैसे स्त्री राग कर देती है इसलिए राग से बचने को स्त्री को छोड़कर जंगल में चले जाते हैं परंतु वह मन की स्त्री तो सूक्ष्म रूप सजाकर मन मे प्रविष्ट हो जाती है जिसको पहचानना भी मुश्किल हो जाता है, समझना यह है कि क्या स्त्री राग कराती है। एक स्त्री चुपचाप अपने रास्ते जा रही है उसको यह भी मालूम नहीं है कि उसे कोई देख रहा है। और किसी ने उसे देखा और राग किया फिर कहता है कि स्त्री ने राग करा दिया यह तो सरासर झूठ और बेईमानी है। अगर हम यही समझते रहे तो दोष तो दूसरे का हैं उसको ठीक करने की चेष्टा करेंगे परन्तु अपने को ठीक कैसे कर सकते है। सही बात यह है कि हमने स्त्री को देखकर राग कर लिया गलती हमारी है। अगर अपनी गलती समझेंगे तो अपने को ठीक करने की चेष्टा करेंगे।

व्यवहार में भी यही कहा जाता है कि कोई चिढ़ता है तो लोग चिढाने लगते हैं तो कहा जाता हैं कि चिढ़ाने वालों को चिढाने दे तू चिढना छोड़ दे।

बाहरी निमित्त कोई प्रेरणा नही देते परन्तु हम उसके साथ जिस रूप का सम्बन्ध स्थापित करते हैं वैसी ही परणति हो जाती है वजन हमारे सम्बन्ध स्थापित करने पर है। हम सही तरह से भी देख सकते हैं। कोई आदमी हाथ का थप्पड दिखा रहा है हम उसे देख कर अनदेखा भी कर सकते हैं, हम उसे पागल भी समझ सकते हैं, हम यह भी सोच सकते हैं कि यह मेरे को थप्पड़ दिखाता है। यह सब बातें हमारे पर निर्भर है कि हम कैसे हैं? अगर शात परिणामी हैं तो देखा अनदेखा कर देंगे अगर तीव्र परिणामी हैं तो क्रोध मे पागल हो जायेंगे।

इसलिए ऐसा समझना चाहिए कि पर वस्तु ने राग नही कराया परन्तु उसका अवलम्बन लेकर मेरा भीतर का रूप बाहर मे आ गया। अगर भीतर न होता तो बाहर कहां से आता। एक कुये मे मैला पडा है हमने बाल्टी डाली बाल्टी ने मैला पैदा नहीं किया परन्तु अगर मैला था तो बाल्टी मैले से भरकर आ गई। बाल्टी का अवलम्बन लेकर जो भीतर था वह बाहर आ गया। दोष बाल्टी का नहीं। हमारे भीतर क्या पड़ा है हम कैसे हैं इसका है।

एक साधु जंगल में बैठा है, एक राजा आता है यह उसके गले में एक मरा हुआ सांप डाल देते हैं। रात को अपनी रानी से कहते हैं मैंने ऐसा किया है। रानी राजा को लेकर साधु के पास आती है, लाखों चीटियां साधु के शरीर को चिपक जाती हैं रानी बड़ी सावधानी से चीटियां अलग करती है साधु ध्यान से हटते हैं और दोनों को आशीर्वाद दे देते है। सवाल है कि दोनों को समान आशी-

---

(पृष्ठ २१ का शेषांश)

२६. दे० भारत के दि० जैनतीर्थ ३।४१।
२७. वही।
२८. एंशिएंट ज्याग्राफी आफ इंडिया (कनिंघम) पृ० ५१७
२९. दे० स्वेनच्वांग (जगमोहन वर्मा) पृ० १२६।
३०. दे० भारत के दि० जैन तीर्थ ३।४१।
३१. दे० संक्षिप्त जैन इतिहास (डा० कामताप्रसाद जैन) पृ० १६१–२।
३२. वही।
३३. दे० भारत के दि० जैनतीर्थ २।१६७।
३४. दे० भारत के दि० जैन तीर्थ २।३७।
३५. दे० वही ३।७१।
३६. दे० वही ३।६६।
३७. तिलोयपण्णत्ति १।६५।
३८. दे० भारत के दि० जैन तीर्थ ३।११८।
३९. विविध तीर्थ कल्प पृ०।
४०. विशेष से लिए देखिये—शोध पत्रिका (आरा ना० प्र० स०) १।२५।

र्वाद क्यों दिया इसका कारण है कि साधु के पास आशीर्वाद के अलावा और कुछ नहीं था। जो था वही दे सकते थे वही दिया। सवाल यह नहीं है कि राजा ने क्या किया? सवाल यह है कि हमारे पास क्या है? अगर हमारे भीतर गाली है तो गाली ही देगे अगर ऊपर से आशीर्वाद भी दिया तो भीतर से तो वही देगे जो हमारे पास है।

इसलिए सवाल यह नही है कि दूसरे ने क्या किया वह कैसा है, सवाल है कि हम कैसे हैं?

इसलिए यह देखने से नुकसान होगा कि दूसरे ने क्या किया परन्तु यह देखिए मैंने क्या किया।

परन्तु जब तक रोग है अस्वस्थ है तब तक ठण्डी हवा से बचना चाहिये, वह इसलिए नही कि हवा हमारा बिगाड करने वाली है परन्तु इसलिए कि हम अस्वस्थ है। हम इसलिए बच रहे है कि हमारा स्वास्थ्य ठीक नही है। अपनी कमी की वजह से बच रहे है। इसलिए जो जोर आयेगा वह अपनी कमी दूर करने पर आएगा न कि हवा से द्वेष करने पर।

घी बहुत बढिया चीज है। लोगों को फायदा भी करता है परन्तु बुखारवाला खावे तो नुकसान करता है इसलिए ऐसा मानना उचित नही कि घी खराब है परन्तु बुखार की वजह से उससे बचना जरूरी है।

इसलिए बाहरी निमित्तों से बचना भी चाहिए तब-तक जब तक हमारे मे कमजोरी है परन्तु दोष उनका न समझ कर अपनी कमजोरी को समझना चाहिए तब तो हम अपनी कमजोरी को दूर करने का पुरुषार्थ करेंगे जो हो सकता है। अगर दूसरे का दोष समझेंगे तो उसको ठीक करने का पुरुषार्थ करेंगे जो हो सकता है। जो जैसा हम कर रहे हैं और जो हो नही सकता परन्तु हमारी कमजोरी तो इससे दूर होगी नही।

एक आदमी को कुछ आदमी छेड़ रहे हैं वह किस किस का मुह बन्द करने की चेष्टा करेगा। अगर कुछ लोगो को समझाता है तो और लोग छेड़ने लग जाते हैं। दुनिया बहुत बड़ी है परन्तु हम अपने को ठीक कर लें चिढना बन्द कर दे तो बात ठीक हो जाती है।

'आत्मार्थी अपना दोष देखता है अपने को ठीक करने की चेष्टा करता है। ससार मार्गी दूसरे का दोष देखता है और उसे ठीक करने की चेष्टा करता है।

दो आदमियो को बुखार है और दोनो किसमिस खाते है और दोनो को खारी लगती है परन्तु एक सच्चा है वह किसमिस को खारी समझता है और एक कहता है कि अगर किसमिस खारी लगती है तो अभी मेरे बुखार है। जो ऐसा समझता है वह अपने बुखार को दूर करने का उपाय करता है जो सही उपाय है परन्तु जो किसमिस को खारी समझता है वह किसमिस को धोकर खारापन दूर करने की चेष्टा करता है जो असम्भव है।

हमे विचार करना है कि क्या उसी आदमी की सी हालत ही हमारी नही है? हम भी जीवन में दूसरे को ठीक करने की चेष्टा करते है अपने को नही देखते अपने को ठीक करने की चेष्टा नही करते।

□□

एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिराभावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेकः,
सहजपरमचिच्चिन्तामणिनित्यशुद्धः।
निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यांसमृद्धः,
किमिह बहुविकल्पे मे फलं बाह्यभावैः॥

निश्चय से मेरा आत्मा नित्य, एक, अविनाशी है। ज्ञान-दर्शन लक्षण का धारी है। मेरे आत्मीक भाव के सिवाय अन्य सर्वभाव मुझसे बाह्य हैं तथा सर्व ही भाव संयोग लक्षण हैं अर्थात् पर-द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

भट्टारक-पट्टावली

☐ डॉ० पी० सी० जैन

सपादकीय नोट—

बीते काल मे विविध-साहित्य प्रचुर मात्रा मे लिखा और सकलित किया जाता रहा है, कुछ मूल आगमो की व्याख्या के रूप मे, कुछ स्वतत्र रूप मे और कुछ सकलन के रूप मे। ऐसे सकलनो में भट्टारक परम्परा की ऐसी पट्टावलियां भी मिलती हैं जिनमे श्रेणी-बद्धता, क्रम-एकरूपता और कही-कही पूर्णता का अभाव भी परिलक्षित होता है। यद्यपि भट्टारक शब्द पूर्व-काल मे केवली, श्रुतकेवली, दिगम्बराचार्य-मुनियो के लिए प्रयुक्त होता रहा है तथापि बाद के काल मे इस शब्द को वस्त्रधारी-श्रावको के लिए भी खीच लिया गया। शायद महिमा पाने के लिए वस्त्रधारी भी भट्टारको मे सम्मिलित होने लगे हो। इससे उनकी लोकमहिमा मे तो वृद्धि हुई पर चारित्र की दृष्टि से वे महाव्रतियो से दूर ही रहे। ऐसे मे पद की अपेक्षा भेद करना कठिन होता चला गया और सभी एक श्रेणी मे बैठने लगे। प्रस्तुत पट्टावली उसी का एक नमूना है—पूरा घोल मोल। इससे दिगम्बराचार्य-मुनियो और वस्त्रधारियो मे कोई अन्तर शेष न रह गया। वर्तमान मे तो भट्टारक शब्द आचार्यादि से हटकर मात्र वस्त्रधारियो के लिए ही शेष रह गया है, जबकि होना ऐसा चाहिए था कि ये दिगम्बर-वेश मे ही प्रयुक्त किया जाता और यदि वस्त्रधारियो मे इसका प्रचलन कर भी लिया गया हो तब भी विभिन्नगण-गच्छ के समस्त दि० आचार्यों को क्रमवार एक (ऊंची) श्रेणी मे और वस्त्रधारी (भट्टारक नाम पा गए) श्रावकों को अन्य पृथक् श्रेणी मे रखा जाता। यह विषय परिमार्जन की अपेक्षा रखता है। आशा है मनीषी विचारेंगे।

—सपादक

नागौर स्थित भट्टारकीय दिगम्बर जैन ग्रन्थ भण्डार मे ग्रथ सख्या— ४४०८ की भट्टारक पट्टावली मे मूल सघ के सरस्वती गच्छ एव बलात्कारगण के प्रमुख भट्टारको की विस्तृत नामावलि दी है। इसके साथ ही उसमे भट्टारकीय गादी अजमेर तथा आम्बेर की भी सूची दी है जो निम्न प्रकार है—

ग्रन्थ पट्टावली स०—४४०८	६. भट्टारक श्री उमास्वामी जी	१९. भट्टारक श्री वसुनन्दि
श्री महावीर जी	७. ,, ,, लोहाचार्य जी	२०. ,, श्री वीर नन्दि
श्री गौतम स्वामी जी	८. ,, ,, यश. कीर्ति जी	२१. ,, श्री रत्न नन्दि
श्री सुधर्माचार्य जी	९. ,, ,, यशोनन्द जी	२२. ,, श्री माणक नन्दि
श्री जम्बू स्वामी जी	१०. ,, ,, देव नन्दि जी	२३. ,, श्री मेघ चन्द्र जी
विष्णु नदि श्रुतकेवली	११. ,, ,, गुणनन्दि जी	२४. ,, श्री शान्ति कीर्ति जी
नन्दि मित्र	१२. ,, ,, वज्रनन्दि	२५. ,, श्री मेरुकीर्ति जी
अपराजित	१३. ,, ,, कुमार नन्दि	२६. ,, श्री महा कीर्ति
१. भट्टारक श्री भद्र बाहु जी	१४. ,, ,, लोकचन्द्र जी	२७. ,, श्री विश्व नन्दि
२. ,, ,, गुप्ति गुप्त	१५. ,, ,, प्रभाचन्द्र जी	२८. ,, श्री शान्ति कीर्ति
३. ,, ,, माघनन्दि	१६. ,, ,, नेमचन्द्र जी	२९. ,, श्री सील चन्द्र जी
४. ,, ,, जिनचन्द्र जी	१७. ,, ,, भानुनन्दि जी	३०. ,, श्री नन्दि जी
५. ,, ,, पद्मनन्द जी	१८. ,, ,, सिंह नन्दि	३१. ,, श्री देशभूषण जी

३२. भट्टारक श्री अनन्त कीर्ति	५८. भट्टारक श्री सुर कीर्ति	८४. भट्टारक श्री पद्म नन्दि जी
३३. ,, श्री धर्म चन्द्र जी	५६. ,, श्री विद्या चन्द्र जी	८५. ,, श्री शुभ चन्द्र जी
३४. ,, श्री विद्यानन्दि जी	६०. ,, श्री सूरचन्द्र जी	८६. ,, श्री जिनचन्द्र जी
३५. ,, श्री रामचन्द्र जी	६१. ,, श्री माघ नन्दि जी	८७. ,, श्री छत्र कीर्ति
३६. ,, श्री रामकीर्ति जी	६२. ,, श्री ज्ञान नन्दि जी	८८. ,, श्री भुवन कीर्ति
३७. ,, श्री अभयचन्द्र जी	६३. ,, श्री गग कीर्ति	८६. ,, श्री धर्म कीर्ति
३८. ,, श्री नरचन्द्र जी	६४. ,, श्री सिंह कीर्ति	६०. ,, श्री विशाल कीर्ति
३६. ,, श्री गगचन्द्र जी	६५. ,, श्री हेम कीर्ति	६१. ,, श्री लक्ष्मी चन्द्र जी
४०. ,, श्री नयनंदि जी	६६. ,, श्री पद्म नन्दि	६२. ,, श्री सहस कीर्ति
४१. ,, श्री हरि चन्द्र जी	६७. ,, श्री नेमि चन्द जी	६३. ,, श्री नेमि चन्द्र जी
४२. ,, श्री नेमि चन्द जी	६८. ,, श्री नाभि कीर्ति	६४. ,, श्री यश. कीर्ति
४३. ,, श्री माधवचन्द जी	६६. ,, श्री नरेन्द्र कीर्ति	६५. ,, श्री भानु कीर्ति
४४. ,, श्री लक्ष्मीचन्द जी	७०. ,, श्री चन्द्र जी	६६. ,, श्री भूषण जी
४५. भट्टारक श्री गुण नन्दि जी	७१. ,, श्री पद्म कीर्ति	६७. ,, श्री धर्मचन्द जी
४६. ,, श्री गुणचन्द्र जी	७२. ,, श्री बर्द्धमान जी	६८. ,, श्री देवेन्द्र कीर्ति
४.. ,, श्री बासवचन्द्र	७३. ,, श्री अकलक चन्द्र जी	६६. ,, श्री अमरेन्द्र कीर्ति जी
४८. ,, श्री लोकचन्द्र जी	७४. ,, श्री ललित कीर्ति	१००. ,, श्री रत्न कीर्ति जी
४६ ,, श्री श्रुतकीर्ति	७५. ,, श्री केशव चन्द जी	१०१. ,, श्री ज्ञान भूषण जी
५०. ,, श्री भानुचन्द जी	७६. ,, श्री चारु कीर्ति जी	१०२. ,, श्री चन्द्र कीर्ति
५१. ,, श्री महीचन्द्र जी	७७. भट्टारक श्री अभय कीर्ति जी	१०३. ,, श्री पद्मनन्दि जी
५२. ,, श्री मेघ चन्द्र	७८. ,, श्री बसन्त कीर्ति	१०४. ,, श्री सकल भूषण जी
५३. ,, श्री वृषभ नन्दि	७६. ,, श्री प्रख्यात कीर्ति	१०५. ,, श्री सहस्र कीर्ति जी
५४. ,, श्री शिवनन्दि	८०. ,, श्री सुभ कीर्ति	१०६. ,, श्री अनन्त कीर्ति जी
५५. ,, श्री विश्व नन्दि	८१. ,, श्री धर्म चन्द्र जी	१०७. ,, श्री हर्षकीर्ति जी
५६. ,, श्री सिंघ नन्दि	८२. ,, श्री रत्न कीर्ति	१०८. ,, श्री विद्याभूषण जी
५७. ,, श्री भावन नन्दि	८३. ,, श्री प्रभा चन्द्र जी	

संवत् १५३२ मे भट्टारक जिनचन्द्र जी ने आम्बेर मे प्रभाचन्द्र जी को बिठाया ज्यां का पाटा की बिगति निम्न प्रकार है :—

८७. भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र जी	८८. भट्टारक श्री धरम चन्द जी
८६. ,, श्री ललित कीर्ति जी	६०. ,, श्री देवेन्द्र कीर्ति जी
६१. ,, श्री चन्द्र कीर्ति जी	६२. ,, श्री देवेन्द्र कीर्ति जी
६३. ,, श्री नरेन्द्र कीर्ति जी	६४. ,, श्री सुरेन्द्र कीर्ति जी
६५. ,, श्री जगत कीर्ति जी	६६. ,, श्री देवेन्द्र कीर्ति जी
६७. ,, श्री महेन्द्र कीर्ति जी	६८. ,, श्री क्षेमेन्द्र कीर्ति जी
६६. ,, श्री सुरेन्द्र कीर्ति जी	१००. ,, श्री सुखेन्द्र कीर्ति जी
१०१. ,, श्री नरेन्द्र कीर्ति जी	१०२. ,, श्री देवेन्द्र कीर्ति जी (शेष पृ० २७ पर)

नोट—ग्रन्थ संख्या ४४०४ की भट्टारक पट्टावली में छत्रकीर्ति के स्थान पर पद्मनन्दि लिखा है शेष इसी के अनुरूप हैं।

"भाव संग्रह" की लिपि प्रशस्ति

☐ ले० कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

"भाव संग्रह" जैन साहित्य की प्राकृत भाषा का सर्वोत्तम सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक ग्रंथ है यह ग्रन्थराज आचार्य विमलसेन के शिष्य देवसेन ने विक्रम संवत् ११० के लगभग रचा था। आचार्य देवसेन की दर्शनसार, आराधना सार, तत्त्वसार, लघु नयचक्र आलाप पद्धति आदि अन्य कई बहुमूल्य कृतियों का निर्माण किया था, वे अपने समय के बहुश्रुत विख्यात विद्वान् थे। चूंकि भाव संग्रह मुद्रित हो चुका है और इसके विषय में विद्वानों द्वारा सविस्तार ऊहापोह हो चुका है अतः प्रस्तुत लेख का लक्ष्य "भाव संग्रह की चर्चा या विवेचना नहीं है अपितु "भाव संग्रह" की वि० सं० १६०६ में प्रतिलिपि कराई गई थी। इस प्रति में लिपिकर्ता की विस्तृत प्रशस्ति दी गई है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है अतः उसी लिपि प्रशस्ति को प्रकाश में लाने के लिए ही यह लेख लिखा जा रहा है।

"भाव संग्रह" की यह प्रति मूलगाथा मात्र है और यह ५८ पत्रों की पूरी प्रति रही होगी। पर दुर्भाग्यवश हमारे संग्रह में इसका अन्तिम पत्र ५८वां ही सुरक्षित बचा है शेष ५७ पत्रों का क्या हुआ कुछ नहीं कहा जा सकता। बहरहाल इतिहास की दृष्टि से यह अकेला ही पत्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है अतः मैंने इसे बड़ी सुरक्षापूर्वक संजोकर रख छोड़ा है।

"भाव संग्रह के इस अन्तिम पत्र की लम्बाई २८ से. मी. तथा चौड़ाई १२ से. मी. है। इसमें प्रत्येक पत्र पर ११-११ पंक्तियां हैं तथा प्रत्येक पंक्ति में ३४-३४ अक्षर विद्यमान हैं। इस प्रति का लिपिकाल संवत् १६०६ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ८ भौमवार लिखा है। यह प्रति तक्षकगढ़ (टोडा रायसिंह) नामक महादुर्ग के आदिनाथ चैत्यालय में लिखी गई थी।

"भाव संग्रह के लिपिकाल में तक्षकगढ़ के शासक महाराजाधिराज श्री रामचन्द्र जी राव राज सिंहासन पर विराजमान थे। इसी समय भ० पद्मनन्दी, भ० शुभचन्द्र, भ० जिनचन्द्र, भ० प्रभाचन्द्र के शिष्य मण्डलाचार्य श्री धर्मचन्द्र जी महाराज की परम्परा में सावड़ा गोत्रिय खण्डेलवाल वंशी साहु बीझा और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विजयश्री के वंश में साहु टेहू नामका बड़ा धर्मात्मा और साहित्यानुरागी एवं गुरुभक्त सुश्रावक पुत्र हुआ जिसने पंचकल्याणक व्रत के उद्यापनार्थ यह "भाव संग्रह ग्रन्थ लिखा कर आचार्य श्री हेमकीर्ति के लिए ज्ञानवरणी कर्मक्षय हेतु प्रदान किया था। साहु बीझा से साहु टेहू तक के वंश वृक्ष में उनके सभी पुत्रों और उनकी पत्नियों का नामोल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त भ० श्री पद्मनन्दी आदि दिल्ली-जयपुर शाखा का प्रतिनिधित्व करते थे, जिनका परिचय अन्य उपलब्ध होता है। साहु टेहू ने "णायकुमार चरिऊ" की भी प्रति लिखवाकर भ० ललित कीर्ति को सं० १६१२ ज्येष्ठ सुदी ५ शनिवार को प्रदान की थी। "णायकुमार चरिउ" महाकवि पुष्पदंत की श्रेष्ठ कृति है।

यह साहु टेहू अपने समय का बड़ा प्रबुद्ध श्रावक था जिसे ग्रंथों के प्रचार प्रसार में अत्यधिक अभिरुचि थी और ज्ञानवृद्धि के लिए धर्मग्रंथ लिखाकर आचार्यों व भट्टारकों को उपलब्ध कराता था। धन्यास्ते सुकृतिनः।

गाथा की लिपि प्रशस्ति

संवतु १६०६ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ८ भौमवासरे श्री आदि नाथ चैत्यालये ताक्षकगढ़ महादुर्गे महाराजाधिराज राउ श्री रामचन्द्र राज्ये प्रवर्तमाने श्री मूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री पद्मनंदीदेवा तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे भ० श्री जिनचंद्रदेवा तत्पट्टे श्री प्रभाचन्द्रदेवा तत्पट्टे शिष्य मंडलाचार्य श्री धर्मचंद्रदेवाः तदाम्नाये खंडेलवालान्वये सावड़ा गोत्रे साहु बीझा तत्भार्या विजयश्री तत्पुत्राः

चत्वार: प्र० सा० सोढ़ा द्वि० सा० गाल्हा तृ० सा० रत्ना, च० सा० माल्हा। सा० मोढ़ा भार्या भोली तत्पुत्र पंच प्र० सा० चाहड़ द्वि० साषी वा तृ० सा० दूलह, च० सा० देवा, पं० सा० पूना। सा० चाहड भार्या मदना, सा० दूलह भार्या करमा तत्पुत्र त्रय: प्र० सा० पोया, द्वि० साथेल्हा, तृ० सा० श्रीपाल, सा० पोया भार्या पौसिरि तत्पुत्रौ द्वौ प्र० सा० सुरताण, द्वि० चि० पचाइण, सुरताणभार्या सुहागदे सा० थेल्हा भार्ये द्वे प्र० सरसुति, द्विलाडो तत्पुत्रौ द्वौ प्र० डूगरसी भार्या नाथी द्वि० सा० भेल्हा, सा० श्रीपाल भार्ये द्वे प्रथमा सरुपदे, द्वितीया लहुडी, तत्पुत्र सा० रूपा। सा० देवाभार्ये द्वे० प्र० साभौ० द्वि० सरूपदे तत्पुत्रा: त्रय: प्र० सा० सरवण, भार्या होली, तत्पुत्र सा० हेमा, सा० टोहा भार्या चन्द्रा सा० ईसर भार्ये द्वे प्रथम ईसर दे, द्वि० वारु, सा० रतना भार्या सिरमा तत्पुत्रा: त्रय: प्र० सा० डालू भार्ये द्वे प्र० डाली द्वि० नौलादे तत्पुत्र खीवसी द्वि० सा० डूगा भार्या नानी तत्पुत्रा: त्रय: प्र० सा० छीतर भार्या छायलदे तत्पुत्र चिकौडू। सा० चोहथ भार्या चतुरंबदे, तृ० चि० राणा। सा० भेला भार्या भावलदे। सा० माल्हा भार्ये द्वे प्र० नाल्हा, द्वि० मेहां। तत्पुत्रै द्वौ प्र० सा० टेहू, द्वि० सा० नोता, सा० टेहू भार्या त्रय: प्र० तिहुणश्री, द्वि० सुहागदे, तृ० गूजरि तत्पुत्रौ द्वौ प्र० सा० पदमसी भार्ये द्वे प्र० प्रतापदे द्वि० पाटमदे, द्वि० चि० सा० गोपाल। सा० नोता भार्ये द्वे प्र० नोणादे द्वि० कोउमदे तत्पुत्रौ द्वौ प्र० चि० आधा भार्या अहंकारदे द्वि० चि० सांगा एतेषां मध्ये सा० टेहू.........

(स्याही फेर मिटा दिया है) इदं शास्त्रं लिखाप्य कल्याण व्रत उद्योतनार्थं आचार्य श्री (धर्मचंद्राय काट दिया है) हेमकीर्तयेदमां ज्ञान वा ज्ञानदानेन इत्यादि पठनीयं। शुभं भवतु।

श्रुतकुटीर, ६८ कुन्ती मार्ग, विश्वास नगर
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

(पृ० २५ का शेषांश)

अजमेर गादी पर रहे भट्टारकों का क्रम निम्न प्रकार दिया हुआ है—

१. भट्टारक श्री विद्या नन्दि जी	२. भट्टारक श्री महेन्द्र कीर्ति जी
३. ,, श्री भुवन भूषण जी	४. ,, श्री अनन्त कीर्ति जी
५. ,, श्री विजय कीर्ति जी	६. ,, श्री तिलोक कीर्ति जी
७. ,, श्री भुवन कीर्ति जी	८. ,, श्री सकल भूषण जी

उक्त पट्टावलि का "भट्टारक सम्प्रदाय" के भट्टारकों की लिस्ट से मिलान करने पर निम्न प्रकार से अंतर मिलता है जो दृष्टव्य है—

उक्त पट्टावलि की क्रम संख्या ५ और ६ के बीच में कुन्दाकुन्दाचार्य का नाम और उपलब्ध होता है। इसी प्रकार क्रम संख्या १८वें के स्थान में जटासिंह नन्दि, २८वें के स्थान में श्रीभूषण, ३३वें के स्थान पर धर्म नन्दि, ३९वें के स्थान पर नागचन्द्र, ४१वें के स्थान पर हरिश्चन्द्र, ४२वें के स्थान पर भ० महीचन्द, ४५वें के स्थान पर गुणकीर्ति, ५३वें के स्थान पर ब्रह्मनन्दि, ५६वें के स्थान पर हरिनन्दि, ६३वें के स्थान पर गंगकीर्ति, ६६वें के स्थान पर चारुनन्दि, ८७वें के स्थान पर रत्नकीर्ति एवं ९९वें के स्थान पर भ० सुरेन्द्रकीर्ति मिलता है।

इसी पट्टावलि में उल्लिखित क्र० सं० १०१ से १०८ तक के सभी भट्टारकों के नाम के भी "भट्टारक सम्प्रदाय" की सूची में नहीं है इसके स्थान पर क्रमश: भट्टारक विद्यानन्दि, भ० महेन्द्रकीर्ति, भ० अनन्तकीर्ति, भ० भुवनभूषण तथा भ० विजयकीर्ति का नाम है।

जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

आचार्य कुन्दकुन्द की जैन दर्शन को देन

□ डा० लालचन्द जैन, वैशाली

आचार्य भूतबली और पुष्पदन्त के पश्चात् आगमोत्तर साहित्य के सृजक, अध्यात्म और तत्त्वज्ञान के सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में निरूपक, भगवान महावीर के और गणधर के समान मंगल-रूप आचार्य कुन्दकुन्द ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्हें जैन धर्म की दोनों परम्परायें समान रूप से प्रामाणिक मानती हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने विपुल साहित्य-सृजन कर अपने उत्तरकालवर्ती आध्यात्मिक और जैन दार्शनिक आचार्यों के लिए आदर्श प्रस्तुत किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी बहुमूल्य कृतियो मे तत्व-मीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आचारमीमासा का विवेचन किया है। वर्तमान में उपलब्ध इनके पाहुडो (ग्रन्थ) के अध्ययन करने के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यवहार-निश्चयनयवाद, सप्तभङ्गी, आत्म-निरूपण शैली, उपयोग सिद्धांत, त्रिविध चेतना, ज्ञान की स्व-पर प्रकाशता, स्वभाव-विभाव ज्ञान, पुद्गल और आत्मा का सयोग, परमाणुवाद, सर्वज्ञतावाद आदि जैन दर्शन को ही नही बल्कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन को उनकी अनुपम देन है।

निश्चय और व्यवहारनय

नयवाद दर्शन-जगत का प्रमुख सिद्धान्त है। निश्चय और व्यवहार नय का सिद्धान्त भारतीय दर्शन को आचार्य कुन्दकुन्द की अद्वितीय देन है। समयसार के अध्ययन से ज्ञात होता है कि निश्चय नय और व्यवहार नय पदार्थ निरूपण की दो दृष्टियां हैं। व्यवहार नय के द्वारा वस्तु के अयथार्थ स्वरूप का और निश्चय नय के द्वारा उसके यथार्थ स्वरूप का विवेचन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार नय को अभूतार्थ और निश्चयनय को भूतार्थ कहा है[1]। वे कहते हैं कि जो नय आत्मा को कर्मों के बन्धन से रहित, पुद्गल पदार्थ के स्पर्श से रहित, अनन्य, नियत, अविशेष और अन्य पदार्थों के संयोग से रहित देखने वाला है वह निश्चय नय कहलाता है[2] और जो आत्मा को पुद्गल द्रव्य का कर्ता, कर्म बन्धन से युक्त, कर्म रूप परिणमन और कर्म-ग्रहण करने वाला मानता है वह व्यवहार-नय कहलाता है[3]। समयसार में निश्चय नय के द्वारा शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का और व्यवहार नय से पुद्गल कर्मबद्ध सासारिक आत्मा का विवेचन किया गया है। व्यवहार नय से वस्तु के स्वरूप का विवेचन वस्तु के यथार्थ स्वरूप के समझने के लिए किया है[4]। इसी कथन को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार म्लेच्छ लोग म्लेच्छ जनो की भाषा के बिना वस्तु के स्वरूप को नही समझ सकते हैं उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ को नही समझा जा सकता है।

प्रमेय विवेचन

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथो मे प्रमेय निरूपण अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योकि उनको भलीभांति जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। आचार्य ने कहीं पर द्रव्य[5] को और अन्यत्र लोक-अलोक[6] एव पदार्थ को ज्ञेय[7] अर्थात् प्रमेय कहा है। दूसरे शब्दो मे ज्ञेय या प्रमेय का अर्थ पदार्थ, द्रव्य और लोक-अलोक है। सम्यग्दर्शन मोक्ष की प्रथम श्रेणी है। इसलिए आचार्य ने दसण पाहुड़ मे छह द्रव्य[8]—जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल, आकाश, नौ पदार्थ[9]—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष, पाच अस्तिकाय[10]—जीव, पुद्गलकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एव सात तत्त्वो (पुण्य और पाप के अतिरिक्त) के स्वरूप का श्रद्धान करने वाले को सम्यग्दृष्टि कहा है[11]। सूत्र पाहुड़[12] मे जीव, अजीव आदि बहुत प्रकार के पदार्थों और हेय-उपादेय तत्त्व के जानने वाले को सम्यग्दृष्टि कहा है। इसी प्रकार प्रवचनसार मे आचार्य ने द्रव्य, गुण और पर्याय को[13] एव अन्यत्र केवल द्रव्य[14] को अर्थ कहकर बतलाया है कि अर्थ के जानने वालों का मोह नष्ट हो जाता है[15] और मोह के क्षय से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

सत् या सत्ता

जैन दर्शन में सत्, द्रव्य, सत्ता अर्थ और वस्तु एकार्थक माने गए हैं। सत् का अर्थ अस्तित्व होता है और यही अर्थ सत्ता का भी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने सत् या सत्ता को द्रव्य का लक्षण बतलाया है[१६]। यह सत् सभी द्रव्यों में विद्यमान रहता है[१७]।

सत्ता की विशेषताएँ

सत्ता के लक्षण मे निम्नांकित विशेषतायें परिलक्षित होती हैं[१८]—

१. सत्ता समस्त पदार्थो मे रहती है।
२. सत्ता सविश्वरूप अर्थात् नाना प्रकार के स्वरूपों से युक्त है।
३. सत्ता अनन्तपर्यायात्मक है।
४. सत्ता उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है।
५. सत्ता प्रतिपक्ष है अर्थात् समस्त प्रतिपक्षी धर्मों से युक्त है।
६, सत्ता एक है।
७. सत्ता का विनाश नही होता है।

द्रव्य का स्वरूप

पचास्तिकाय मे आचार्य ने द्रव्य को सत्ता से अभिन्न कह कर सत्ता को ही द्रव्य का लक्षण कहा है[१९]। यद्यपि लक्षण की अपेक्षा सत्ता और द्रव्य मे अन्तर है[२०] लेकिन वास्तव मे सत्ता और द्रव्य एक ही है। द्रव्य के लक्षण मे निम्नांकित विशेषताये है[२१]---

१. द्रव्य की व्युत्पत्ति के अनुसार जो उन-उन (अपनी-अपनी) गुण-पर्यायो को प्राप्त होता है वह द्रव्य कहलाता है।
२. द्रव्य सत् स्वरूप है।
३. द्रव्य उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है।
४. द्रव्य गुण-पर्याय स्वरूप है।
५. द्रव्य अपने स्वभाव [illegible] है अर्थात् द्रव्य अपरित्यक्त स्वभाव है।

द्रव्य-स्वरूप की व्याख्या

आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य-स्वरूप की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि अपने गुणो और नाना प्रकार की पर्यायो, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त द्रव्य का तीनो काल मे सद्भाव बना रहना स्वभाव है[२२]। सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है[२३], अतः सत् ही द्रव्य का स्वभाव और ऐसा लक्षण है जो सभी द्रव्यों में पाया जाता है[२४]। इसलिए द्रव्य स्वभाव से सत्वान या सत्तावान है।

आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्य और सत् भिन्न-भिन्न नही हैं। इसके विपरीत सत् द्रव्य से अभिन्न है। ऐसा नही है कि सत् या सत्ता अलग है और द्रव्य अलग है तथा सत्ता सामान्य के सयोग से द्रव्य सत्तावान हो जाता है। इसलिए कहा है कि यदि द्रव्य स्वभाव से सत् रूप न होता तो वह असत् हो जाएगा अथवा सत् से भिन्न हो जाएगा। अतः द्रव्य स्वय सत्ता स्वरूप है, ऐसा मानना चाहिए[२५] सत्ता रूप परमतत्त्व का द्रव्य-गुण और पर्यायो में रहने के कारण सर्वत्र विस्तार है[२६]। द्रव्य और सत्ता मे प्रदेश भेद न हो कर गुण-गुणी या अन्यत्व रूप भेद है[२७]। द्रव्य गुणी है और सत्ता गुण है[२८]। इसलिए द्रव्य सत्ता का स्वरूप है[२९]।

द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है

आचार्य ने द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहा है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का परिणाम है[३०]। द्रव्य का स्वय उत्पाद अथवा विनाश नही होता है। पर्याय की अपेक्षा ही द्रव्य उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप होता है[३१]। उत्पाद एव विनाश द्रव्य मे रहने वाली पर्यायो का होना है[३२]। उत्तर पर्याय की उत्पत्ति और पूर्व पर्याय का विनाश होना क्रमश. उत्पाद-व्यय कहलाता है और इन दोनो अवस्थाओ मे अस्तित्व रूप से रहना ध्रौव्य कहलाता है। उदाहरण द्वारा आचार्य ने बतलाया है कि "मनुष्य पर्याय से नष्ट हुआ जीव देव अथवा अन्य पर्याय रूप हो जाता है। लेकिन दोनो पर्यायो मे जीवत्वभाव का सद्भाव मौजूद रहता है। जीव का न स्वय उत्पाद होता है और न उसका विनाश होता है। वही जीव उत्पन्न होता और मरता है लेकिन सत्स्वरूप स्वभाव से वह न मरता है और न उत्पन्न होता है[३३]।

उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य का परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि व्यय के बिना उत्पाद नही होता है और उत्पाद के बिना व्यय नही होता है। उत्पाद और व्यय दोनो ध्रौव्य के बिना नही होते हैं।[३४] इस प्रकार उ [illegible]

व्यय और ध्रौव्य में परस्पराश्रय सम्बन्ध बतलाया है। यद्यपि उत्पादादि पर्यायों में होते हैं लेकिन वे द्रव्य से भिन्न नहीं हैं। क्योंकि पर्याय द्रव्य में रहती है।[३५] अतः सिद्ध है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक ही समय द्रव्य में होते हैं। इसलिए उत्पादादि द्रव्य रूप हैं। द्रव्य से भिन्न नहीं हैं।[३६] इस प्रकार आचार्य ने द्रव्य को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप कहा है।

द्रव्य गुण-पर्याय वाला है

कुन्दकुन्दाचार्य ने द्रव्य की एक यह विशेषता बतलाई है कि द्रव्य गुण-पर्याय स्वरूप है। ऐसा कहने का तात्पर्य है कि द्रव्य परिणमनशील है। जो उत्पन्न और विनष्ट होती है उसे पर्याय कहते हैं। पर्याय दो प्रकार की होती हैं।

स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय

आचार्य कुन्दकुन्द ने मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव को विभाव पर्याय और कर्मरूप उपाधि से रहित पर्यायों को स्वभाव पर्याय कहा है।[३७] जिनके द्वारा द्रव्यों में भेद किया जाता है उसे गुण कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की विशेषता यह है कि उन्होने द्रव्य और गुण-पर्याय अभेद होते हुए भेद भी दिखलाया है। द्रव्य और गुणपर्याय अभिन्न हैं क्योंकि पर्याय के बिना द्रव्य नही है और द्रव्य के बिना परिणाम नही है।[३८] पंचास्तिकाय में भी कहा है कि पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय नहीं होती है। इसलिए द्रव्य-पर्याय दोनों परस्पर में अभिन्न है।[३९] द्रव्य के बिना गुण नही रह सकते और न गुण के बिना द्रव्य ही सम्भव है। इसलिए द्रव्य और गुण में अव्यतिरेक अर्थात् अभिन्न भाव है।[४०] द्रव्य जब जिस रूप से परिणमन करता है तब वह उसी रूप हो जाता है।[४१] द्रव्य स्वयं एक गुण से अन्य गुण रूप परिणमन करता है इसलिए द्रव्य गुण-पर्याय वाला है।[४२]

द्रव्य और गुण-पर्याय के भिन्न और अभिन्न सम्बन्ध को समझने के लिए आचार्य के पृथकत्व और अन्यत्व को समझना होगा।

वस्तुओं के प्रदेशों में अत्यन्त भेद को पृथकत्व नामक भेद और अतद्भाव को (वह यह नही है) अन्यत्व भेद कहते हैं।[४३]

द्रव्य-गुण-पर्याय से पृथक सर्वथा भिन्न नही है क्योंकि उनमें प्रदेश-भेद नहीं है। किन्तु उनमें अन्यत्व भेद है।[४४] क्योंकि जो गुण हैं वे द्रव्य नहीं हैं और जो द्रव्य है वह गुण नही है। द्रव्य और गुण-पर्याय में स्वरूप भेद तो है लेकिन वे सर्वथा भिन्न नही है। इसी प्रकार यदि द्रव्य गुण से सर्वथा भिन्न हो और गुण द्रव्य से भिन्न हो तो (एक) द्रव्य अनन्त हो जायेगा अथवा द्रव्य का अभाव हो जायेगा।[४५] अतः द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न नहीं है। इसके विपरीत व्यपदेश, संस्थान, संख्या और विषय की अपेक्षा द्रव्य और गुण-पर्याय मे भेद होते हुए भी अभेद है।[४६] उदाहरण[४७] द्वारा आचार्य ने बतलाया है कि सम्बन्धियों के अलग-अलग होने पर एक होने पर भी स्वामित्व भाव हो सकता है। जैसे धन और पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न हैं और धन से धनी सम्बन्ध बनता है। इसी प्रकार ज्ञान और पुरुष एक होने पर वह ज्ञानी कहलाता है। लेकिन जैसे धन धनी से सर्वथा भिन्न है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञानी से भिन्न नही है।[४८] यदि ज्ञान भी ज्ञानी से धन के समान सर्वथा भिन्न माना जाय तो आत्मा और ज्ञान दोनों अचेतन (जड़) हो जायेंगे।[४९] आचार्य ने इस सिद्धांत का खण्डन किया है कि ज्ञान और आत्मा के भिन्न मानने पर भी समवाय सम्बन्ध से आत्मा ज्ञानी हो जाता है। समवाय सम्बन्ध से आत्मा को ज्ञानी मानना सिद्ध नही होता है क्योंकि अज्ञान के साथ आत्मा का एकत्व सिद्ध होता है।[५०] अतः उन्होने गुण-गुणी के तादात्म्य सम्बन्ध को समवाय कह कर उसे अपृथग्भूत और अयुतसिद्ध बतलाया है।[५१] अतः द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध और अपृथग्भूत हैं अर्थात् इनमे समवाय सम्बन्ध है। दृष्टान्त द्वारा उन्होने बतलाया है कि दर्शन-ज्ञान गुण आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है किन्तु व्यय देश-संज्ञादि की अपेक्षा पृथक कहे जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य और गुण-पर्याय कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं।[५२] अर्धमागधी आगम में द्रव्य और गुण-पर्याय को इस प्रकार कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न नही सिद्ध किया गया है। अतः यह आचार्य की अपूर्व देन है।

(ख) द्रव्य का स्वभाव नहीं छूटता

आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य की एक इस विशेषता का

भी उल्लेख किया है कि जीवादि छहो द्रव्य परस्पर एक-दूसरे में *प्रवेश करते हैं, अवकाश देते हैं* और एक दूसरे से मिलते हैं तो भी वे मिल कर एक नही होते हैं, क्योंकि वे कभी अपने स्वभाव का त्याग नही करते हैं।[५३] सभी द्रव्यों का विशेष स्वभाव होता है जिससे उनमे भेद बना रहता है।

एक प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने बतलाया है कि यद्यपि धर्म, अधर्म और आकाश एक क्षेत्रावगाही है अर्थात् एक ही स्थान में रहते हैं और अमूर्त हैं लेकिन आकाश को गति और स्थिति का कारण नही माना जा सकता है। अन्यथा ऊर्ध्व गति स्वभाव वाले सिद्ध जीव को लोकाग्र भाग में नही रुकना चाहिए।[५४] लेकिन वे लोकाग्र भाग में स्थिर हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि आकाश गति और स्थिति स्वभाव वाला नही है। आकाश से भिन्न गति और स्थिति स्वभाव वाले धर्म और अधर्म द्रव्य स्वतन्त्र हैं।[५५] गति और स्थिति का कारण आकाश को मानने से अलोक की हानि और लोक की वृद्धि हो जायेगी अर्थात् लोक-अलोक का विभाग नष्ट हो जायेगा।[५६] अन्त मे आचार्य ने धर्म-अधर्म और आकाश को अपृथग्भूत, समान-परिमाण वाले और विशेष स्वभाव वाले होने से कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न कहा है।[५७]

३. आत्म-निरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो मे विशेषकर समयसार मे आत्मा का जो विवेचन उपलब्ध है वह आगमो मे उपलब्ध नही है। आचार्य ने आत्मा का स्वरूप विवेचन निश्चय और व्यवहार नय की पद्धति से किया है जो अद्वितीय है। उन्होने शुद्ध निश्चय नय के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन किया है और व्यवहार नय के द्वारा ससारी आत्मा का, जो शुद्ध आत्मा को समझने के लिए आवश्यक है।[५८] क्योकि कर्म उपाधि से उत्पन्न गुण और पर्यायो से रहित शुद्ध आत्मा ही उपादेय है।[५९] एकत्व विभक्त शुद्ध आत्मा की प्राप्ति सुलभ नही है, क्योंकि सासारिक जीवों ने काम, भोग और बन्ध की कथा सुनी है, उससे परिचित हैं और अनुभव भी किया है। लेकिन शुद्ध आत्मा की कथा कभी न सुनी है, न उससे परिचित हैं और उसका न अनुभव किया है।[६०] इसलिए वे कहते हैं कि मैं अपने वैभव (ज्ञान वैभव) के द्वारा एकत्व शुद्ध आत्मा का निरूपण करूंगा।[६१] इसी के जानने से मोक्ष मिल सकता है।[६२]

आचार्य कुन्दकुन्द के आत्म निरूपण द्वारा हम देखेंगे कि उनका आत्मवाद बौद्ध दर्शन से किस प्रकार भिन्न है। बौद्ध दर्शन में विशेष कर पालि-त्रिपिटक 'मलिन्दपञ्हो' मे यह तो प्रतिपादित किया गया है कि आत्मा क्या नही है, लेकिन वहां यह नही बतलाया गया कि आत्मा क्या है। यही कारण है कि उनको अनात्मवादी कहा जाता है।

भावात्मक शैली द्वारा आत्मस्वरूप निरूपण

इस शैली के द्वारा उन्होंने बतलाया है कि शुद्ध आत्मा क्या है, कैसा है। विभिन्न गाथाओ द्वारा बतलाया कि *शुद्ध आत्मा ज्ञायक स्वरूप, उपयोग स्वरूप, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानमय अरूपी* (अमूर्तिक) पर द्रव्य से भिन्न,[६३] रूप-रस-गन्ध से रहित अव्यक्त, चैतन्य गुण से युक्त. शब्द रहित, इन्द्रियो द्वारा अग्राह्य, निराकार[६४], जन्म-जरा और मरण से रहित आठ गुणो से युक्त है[६५]। सिद्धो की तरह शरीर रहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा[६६] त्रस-स्थावर से भिन्न है[६७]। शुद्ध आत्मा निर्दण्ड निर्द्वन्द्व, निर्मम, निष्कल, निरालम्ब' नीराग, निर्दोष, निर्मूढ, निर्भय, निर्ग्रन्थ, निःशल्य, निष्काम, निष्क्रोध, निर्मान और निर्मद[६८] अतीन्द्रिय, महान, नित्य, अचल, श्रेष्ठ पर पदार्थों के आलम्बन से रहित शुद्ध है।[६९] मोक्ष पाहुड मे भी कहा है कि आत्मासिद्ध, शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और केवलज्ञानरूप है।[७०]

निषेधात्मक शैली द्वारा आत्म-स्वरूप निरूपण

निषेधात्मक शैली द्वारा आचार्य ने बताया है कि शुद्ध आत्मा क्या नही है। शुद्ध जीव न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है। उसके न ज्ञान है, न दर्शन है और न चरित्र है. न कर्म है न नो-कर्म है, न-सचित्ताचित्त पदार्थ है।[७१] शरीरादि बद्ध और धनधान्य आदि अबद्ध पुद्गल जीव के नही है और न वह अनेक भावों से युक्त है। यदि ये पुद्गल द्रव्य जीव के होते तो पुद्गल भी जीव हो जाता। व्यवहार नय से शरीर और जीव एक है लेकिन *निश्चयनय की दृष्टि* से शरीर और जीव भिन्न-भिन्न है। जीव समस्त परभावों से भिन्न है।[७२] अध्यवसान, कर्म, अध्यवसान भावों में तीव्र

अथवा मन्द अनुभाग गत नो कर्म, कर्म-उदय, कर्मों का तीव्र अथवा मन्द भाव से युक्त अनुभाग, जीव और कर्म का सयोग जीव नही है। क्योकि ये सभी भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाम है। आचार्य ने उदाहरण द्वारा समझाया है कि व्यवहार नय से अध्यवसानादि भाव जीव उसी प्रकार है जैसे कि सेना के निकलने पर सेना के समूह को राजा व्यवहार मे कहा जाता है।[३३] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, सस्थान, सहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यवसाय, अनुभाग, योग-स्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्ध-स्थान, सक्लेशस्थान, सयमलब्धिस्थान जीव समास और गुण स्थान जी नहीं है।[३४] क्षायिक भाव, क्षायोपशमिक, औदयिक और औपशमिक भाव जीव नही है। चतुर्गति रूप ससार परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, स्त्री, पुरुष, नपुसकादि पर्याय शुद्ध जीव के नही है।[३५] क्योकि वर्णादि उपर्युक्त भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाम है। अतः व्यवहार नय की अपेक्षा उपर्युक्त भाव जीव के कहलाते है।[३६] जिस प्रकार दूध और पानी दोनो पृथक-पृथक होते है लेकिन आपस मे मिल जाने पर एक से प्रतीत होने लगते हैं। उसी प्रकार जीव और उपर्युक्त पुद्गल के परिणाम पृथक-पृथक होते है और परस्पर मे मिल जाने पर एक से प्रतीत होने लगते है।[३७] उदाहणार्थ किसी पुरुष को मार्ग मे लुटते देखकर व्यवहार से कहा जाता है कि अमुक मार्ग लुटता है। उसी प्रकार जीव मे कर्मादि देखकर व्यवहारी लोग उन्हें जीव के कहने लगते हैं। जैसे मार्ग नही लुटता है पुरुष लुटता है, उसी प्रकार से वास्तव मे कर्म, वर्णादि जीव के नहीहोते है।[३८] ससारी जीवो के ससारावस्था मे ही उपर्युक्त कर्म, वर्णादि होते है। मुक्तावस्था मे उसके नही होते है। यदि जीव के साथ वर्णादि भावों का अभिन्न सबध होता तो जीव और अजीव मे कोई भेद ही नही होता। दूसरा दोष यह आयेगा कि पुद्गल द्रव्य को जीव मानना पडेगा।[३९] अत एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय जीव, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त अपर्याप्त ये सब नाम कर्म की प्रकृतिया है। ये सब व्यवहार नय की अपेक्षा जीव की है, वास्तव मे (पारमार्थिक दृष्टि से) नही है।[४०]

(क्रमश)

सन्दर्भ-सूची

१. समयसार, गा० ११ २. वही, गाथा १५
३. वही, गाथा १०८ ४. वही, गाथा ८
५. ...णेय दव्व...। प्र० सा०, गा० ११३६
६. 'णेयं लोगालोय ।' वही, गा० ११२३
७. '...अट्ठा णेयप्पगा...।' वही, गा० ११२८
८. द्रष्टव्य–प० का० गा० ६७, एव नि० सा०, गा० ६
९. प० का०, गा० १०८ १०. वही, गा० ४
११. छह दव्व णव पयत्था पचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥
दसण पाहुड, गा० १६
१२. सू० पाहुड, गा० ५
१३. दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठमण्णयाभणिया।—
प्र० सा०, ११८७
१४. अत्थो खलु दव्वमओ...। वही, २११
१५. वही, गा० ८६ एव ८८।
१६. (क) दव्व सहावसिद्धं सदिति...। प्रवचनसार, २१६
(ख) सदवट्ठिय सहावे दव्वति ...। वही, गा० २११७
१७. इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगय।
प्रवचनसार, २१५
१८. पंचास्तिकाय, गा० ८
१९. 'दविय त भण्णते अणण्णभूद तु सत्तादो ॥' वही, गा०६
२०. प्र० सा० गा० २११८
२१. (क) दवियदि गच्छदि ताइ ताइ सब्भाव पज्जयाइ ज।
प० काय ६
(ख) दव्व सल्लक्खणिय उप्पादव्वयधुवत्तसजुत्तम्।
गुणपज्जयासय वा ज त भण्णति सव्वण्हू ॥—
वही, गा० १०
(ग) अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसजुत्तम्।
गुणव च सपज्जाय ज त दव्वत्ति वुच्चति ॥—
प्र० सा० २१३
२२. सब्भावो हि सहावो ...। प्र० सा०, गा० २१४
२३. वही, गा० २१७
२४. इह विविहलक्खणाण लक्खणमेग सदिति सव्वगय।—
वही, गा० ५
२५. वही, गा० २१६
२५.(क) ण हवदि जदि सद्दव्व असद्धुव हवदि त कधदव्वं।
हवदि पुणो अण्ण वा तम्हा दव्व सय सत्ता ॥—
वही, गा० २११३
२६. वही, गा० २११५ २७. वही, गा० २११६
२८. जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिअं सहावे दव्वत्ति ॥ प्र० सा० २११७

२९. दव्वत्तं पुणभावो तम्हा दव्वं सयंसत्ता ।।—
प्रा० सा०, गा० २।१८

३०-३१. उप्पादो य विणासो विज्जति सव्वस्स अत्थजादस्स ।
पज्जाएण दु केणवि अत्थो खलु होदि सब्भूदो ।।—
प्रा० सा०, १।१८

३२. पं० का०, गा० ११, एवं प्र० सा०, गा० २।११

३३. वही, गा० १७-१८

३४. ण भवो भंग विहीणो भगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो णइ वेणा धोव्वेण अत्थेण ।।—
प्र० सा०' गा० २।८

३५. वही, गा० २।९

३६. समवेदं खलु दव्वं सभवठिदिणाससण्णिणदट्ठेहिं ।
एक्कम्मि णेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ।।—
वही, २।१०

३७. द्रष्टव्य—नियमसार, गा० १५ ।

३८. प्र० सां०, गा० १।१०

३९. पज्जयविजुद दव्व दव्वविजुत्ता पज्जया णत्थि ।
दोण्ह् अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ।।
—पं० का०, गा० १२

४०. दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाण हवदि तम्हा ।।
—प० का०, गा० १३

४१. प्र० सा०, गा० ९

४२. वही गा० १२

४३. वही गा० २।१५

४४. अविभक्तमणण्णात्तं दव्वगुणाणं विभत्तमण्णात्तं ।
णिच्छंति णिच्चयण्हू तव्विवरीदं हि वा तेंसि ।।

४४. (क) प्र० सा०, २।१६

४५. प० का०, गा० ४४

४६. वही, गा० ४६

४७. वही, गा० ४७

४८. ण वियप्पदि णाणादो णाणी······। वही, गा० ४३

४९. प० का०, गा० ४८

५०. ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदोणाणी ।
अण्णाणीति य वयणं एगत्तप्पसाधणं होदि ।।
—वही, गा० ४९

५१. समवत्ती समवाओ अपुघब्भूदो य अजुद सिद्धोय ।
तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धित्ति णिद्दिट्ठा ।।
—वही, गा० ५०

५२. वही, गा० ५१-५२

५३. पं० का०, गा० ७

५४. वही, गा० ९२

५५ वही, गा० ९३-९५

५६. धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाण
पधगुवलद्धिविसेसा करंति एगत्तमण्णत्तं ।।
—वही, गा० ९६

५७. समयसार, गा० ८

५८. जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा ।
कम्मोपाधिमपुब्भवगुणापज्जाएहिं वदिरित्तो ।
पुव्वत्तसयलभावा परदव्व परसहावमिदि हेयं ।
सगदव्वपुबादेय अतरतच्चं हवे अप्पा ।।
—नियमसार, गा० ३८ एव ५०

(ख) एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
—स० सा०, गा० ३

५९. (क) वही, गा० ४
(ख) दुक्खं णज्जइ अप्पा · । मो० पा०, गा० ६५

६०. वही, गा० ५

६१-६२. वही, गा० १७-१८

६३. अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणुमित्तं पि ।।
— स० सा०, गा० ३८

६४. अरसमरुवमगंधं अव्वक्त चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंग्गगहण जीवमणिद्दिट्ठसठाणं ।।
(क) वही, गा० ४९
(ख) नि० सा०, गा० ४६
(ग) प्र० सा०, गा० २।८०

६५. नि० सा०, गा० ४७

६६. वही, गा० ४८

६७. भणिदा पुढविप्पमुहा······। प्र० सा०, गा० २।९०

६८. णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ।।
णिग्गथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ।।
—नि० सा०, गा० ४३-४४

६९. एव णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थ ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पग सुद्ध ।।
—प्र० सा० गा० २।१००

७०. मो० पा०, गा० ३५

७१. स० सा०, गा० ६-७, १९-२२ ।

७२. वही, गा० २३-३७ ७३. वही, गा० ३९-४८

७४. वही, गा० ५०-५५ । नि० सा०, गा० ४० एवं ४५

७५. नि० सा०, गा० ४१-४२ ।

७६. स० सा०, गा० ५६

७७. वही, गा० ५७ ७८. वही, गा० ५८-६०

७९. द्रष्टव्य—वही, गा० ६१-६४

८०. (क) वही, गा० ४५-६८ (ख) प्र० सा० गा० २।९०

विचारणीय-प्रसंग

(संत)

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

'शब्दानामनेकार्थाः'—एक ही शब्द के शास्त्रों में अनेक अर्थ मिलते हैं परन्तु प्रकरण जाने बिना शब्दमात्र से अर्थ का अभीष्ट दोहन नही किया जा सकता। एतावतः हमने भी समयसार की १५वी गाथा के 'अपदेस संत' पद के हार्द उद्घाटन में प्रसंग की उपेक्षा किये बिना 'संत' का अर्थ सत्-सत्त्व-आत्मा किया था और आचार्यों द्वारा प्ररूपित प्रमाण भी दिये थे कि 'अपदेससंतमज्झं' में संत-शब्द का अर्थ सत्-आत्मा है—शान्त-रस जैसा अर्थ नही (अनेकान्त वर्ष ३६ किरण २) इसके सिवाय 'शान्त-रस' क्यों नहीं इस सम्बन्ध में भी हमने सयुक्तिक लिखा था तथा पाठकों को इस विषय पर अन्य मनीषियो के विचार भी मिले होगे।

इसमें दो रायें नहीं कि एक ही प्रसंग में विभिन्न प्रकार के अनेको विरोधी-विचार जब साधारण जिज्ञासुओं के समक्ष आते हैं तब प्रसंग और गहराई के ज्ञान के अभाव में वे भ्रम मे पड जाते हैं कि किसे उचित और किसे अनुचित मानें? फलतः हमारे पास एक पत्र भी आया जिसमें लिखा था—'कचहरी के अन्दर अपनी दलील की पुष्टि करने के लिए वकील लोग कानून की धाराओ का Interpretation अपनी-अपनी सुविधा तथा मौके के अनुसार जज के सामने रखते हैं। कानून एक ही है परन्तु उसकी भिन्न-भिन्न मान्यतायें बनाई जा रही हैं। बिल्कुल यही स्थिति हमारे धर्म की होती जा रही है। विद्वान क्या साधु क्या सब अपनी-अपनी मान्यतानुसार प्रतिपादन कर रहे हैं। साधु-साधु का, विद्वान-विद्वान का और साधु-विद्वान का, विद्वान-साधु का विरोध रोज ही सामने आ रहा है। वस्तुस्थिति तो जैसी है वैसी ही रहेगी परन्तु मुश्किल है हमारे जैसे अल्पज्ञ और सक्षेप बुद्धि वाले जीवों की। भिन्न-भिन्न मान्यतानुसार प्रतिपादन होने से विषय जटिल और अनिर्णयात्मक होते जा रहे है आदि।'

इस सम्बन्ध में हम निवेदन कर दें कि प्रसंग में हमें ख्याति अथवा अर्थ-लाभादि की चाह नही और ना ही अपमान कराने या करने का भाव। हम तो ज्ञाताओ के समक्ष 'विचारणीय-प्रसग' ही रखते हैं, निर्णायक नही। और चाहते हैं कि जिनवाणी अक्षुण्ण-निर्मल रहे। हम क्षमा भी मांगते रहते है। हमारा न किसी कोर्ट मे मुकदमा पेश है और न हार-जीत का प्रश्न है। फिर, विद्वानो से हमे ज्ञान-दान मिला है और दि० गुरु के आशीर्वाद मे हमे मनन का अवसर मिला है जिसका प्रवाह आज भी चालू है। ऐसे मे हम सभी प्रकार नम्र हैं—हमारा कोई मुकद्दमा नही। हाँ, कषाय-वश यदि किसी अन्य ने ऐसा किया हो तो वह जाने, हम तो विद्वानों, त्यागियों, सभी के दास हैं। हमारा ऐसा भी भाव रहता है कि पाठक मनन करें यदि जँचे तो ग्रहण करें, अन्यथा छोड दें।

यद्यपि आत्मा स्वभावत सश्लेष व सयोग सम्बन्धों से रहित, अनन्य, स्व में नियत एवं स्व से अभिन्न—अपने मे एक रूप है तथापि नयाश्रित-छद्मस्थो की दृष्टि मे भिन्न२ दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि जैसे अन्य अनेक क्रमिक-विकल्पो रूप प्रतिभासित होता है। पर जो ज्ञाता समयवर्ती नयाश्रित एकागी और सविकल्प दृष्टि को छोड़कर प्रमाणरूप—अभेद दृष्टि को प्राप्त करता है—आत्मा को **'अपदेस'**—अखण्ड **'संतमज्झं'**—सत्-सत्त्व अर्थात् आत्मा के मध्य—स्व मे स्थापित करता है वही जिनागम के अन्तरंग को पूर्ण रीति से जानता है। भेद-दृष्टि वाला नहीं जान सकता। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने कहा है कि—'निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां खंडखडरूप प्रतिभाति, ज्ञानिनां पुनरखण्डकेवलज्ञानस्वरूप

एव इति हेतोरखण्डज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवति।' —जयसेनाचार्य

उक्त टीका में **'अखंडज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति'** पद का मनन करने पर 'अपदेससंतमज्झं' का तदनुकूल—पूर्णसंगत अर्थ स्पष्ट होता है। तथाहि—**'अपदेस'** का अर्थ अखण्ड और **'संतमज्झं'** का अर्थ ज्ञानरूपे शुद्ध-आत्मनि। यहाँ आचार्य ने 'संत' का अर्थ काल्पनिक और अप्रासंगिक शान्त-रस जैसा सविकल्प भाव न करके प्रसंग-सम्मत सत्-सत्त्व अर्थात् आत्मा किया और ज्ञानमय-शुद्ध को विकल्पातीत आत्मा का विशेषण बनाया है। प्रकृत में यदि आचार्य को शान्त-रस इष्ट होता तो वे टीका में **'अखण्डज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिन-शासनं ज्ञातं भवति'** पंक्ति के स्थान में **'अखण्डशान्तरसरूपे शुद्धात्मनि इत्यादि'** पंक्ति को स्थान देते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। अपितु उक्त प्रसंग में भेद-दृष्टि के परिहार और अभेददृष्टि के पोषण के लिए आचार्य ने लवण का दृष्टान्त ही दिया। वे कहते हैं कि—"*यथा लवणखिल्य एकरसो-ऽपि* फलशाकपत्रशाकादिपरद्रव्य संयोगेन भिन्न-भिन्न-स्वाद: प्रतिभात्यज्ञानिनां, ज्ञानिनां पुनरेकरस एव तथा-ऽऽत्माप्यखण्डज्ञानस्वभावोऽपि ...... विषयभेदेनाज्ञानिना निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टाना खंड-खड ज्ञानरूप: प्रतिभाति ज्ञानिनां पुनरखण्डकेवलज्ञानरूप एव।"

जैसे लवण की डली एक-रस व्याप्त है और वह वस्तु-स्वरूप से अनभिज्ञो को फलशाक-पत्रशाकादि के संयोगो के कारण भिन्न-भिन्न स्वाद वाली मालूम होती है और ज्ञानियों को अखण्ड एकक्षाररसरूप अनुभव में आती है वैसे ही अखण्ड ज्ञानस्वभावी आत्मा भी निर्विकल्पसमाधि से रहित जीवो को विभिन्न-ज्ञेय रसादि अनेकरूपो मे प्रतिभासित होती है और ज्ञानियों को अखण्ड—केवल-ज्ञानरूप प्रतिभासित होती है। प्रसग मे 'अपदेस-संतमज्झं' पद इसी भाव मे है। यहा कहा गया है—जो (अपदेस) अखण्ड (संतमज्झ) सत्-सत्त्व अर्थात् आत्मा के मध्य अपने को स्थापित करता है अपने को निर्विकल्पदृष्टि से एक—अभेदरूप, ज्ञानरूप या चैतन्यरूप जानता है वह जिनशासन को जानता है। यहा शान्तरस का कोई प्रसंग ही नहीं है।

प्रसंग के संबन्ध में हम मनीषियों से निवेदन करते हैं कि वे समयसार की १५वी गाथा की पूर्ववर्ती १४वी और उत्तरवर्ती १६वीं गाथाओं का ध्यान पूर्वक मनन करें तो वहां उन्हें अखण्डज्ञानरूप आत्मा का ही प्रसंग मिलेगा—'शान्तरस' नाम तक नहीं। यदि प्रकृत में आचार्य को 'संत' का अर्थ शान्त रस जैसा अभीष्ट होता तो वे कही उक्त गाथा में एक बार तो उसका नाम लेते या किसी टीका में उसका उल्लेख करते। चूंकि वे जानते थे कि **'णाणं सो अप्पा अप्पा सो णाणं।'** फलत. उन्होने अभेद निर्विकल्प-ज्ञान को आत्मा का रूप दिया। वे ये भी जानते थे कि जिनशासन को जानने का काम ज्ञान का है—शान्त रस का नही। अत उन्होने स्पष्ट कह दिया कि—**'अखंड ज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवति।'** अन्यथा वे कहते—'अखण्डशान्तरसरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वजिनशासनं ज्ञातं भवति।'

हम और सभी यह जानते है कि कोषों मे 'संत' का अर्थ शान्त भी मिलता है—शान्त-रस नही। पर प्रसंग मे (जैसी हमने प्रार्थना की) शान्त अर्थ का प्रयोजन न होने से और टीकाकार तथा अन्य आचार्यों द्वारा भी आत्मा अर्थ के ग्रहण किये जाने से हमने भी आचार्यों को मान दिया है और आगमार्थ की पुष्टि की है। यह तो हम पहिले ही सयुक्तिक लिख चुके हैं कि आत्मा के प्रसग मे जहा भी रस के साथ 'शान्त' शब्द प्रयुक्त हो वहां उससे किसी रस-विशेष का आविर्भाव ग्रहण न कर 'विकार-निरास' भाव ही लेना चाहिए—शान्ता:-निर्गता:-शमिता इत्यादि। इस प्रसंग में देखें—'अनादिरक्तस्य तवायमासीद्' के प्रसग में हमारा 'विचारणीय-प्रसग।'

एक निवेदन और। हम अपने को प्राजल एवं सहृदय (सज्जन) समझदार मानकर इस प्रसग के ज्ञाता मानने का दावा नही करते और ना ही दूसरो के स्वतन्त्र—मनमाने विचारों को अविचारित-रम्य ही कहते हैं। हमारा आशय तो सभी को सम्मान देते हुए यह रहता है कि वे 'विचारणीय-प्रसग' पर सद्भावना पूर्वक विचार दे सकते हो तो देकर उपकृत करते रहे। विज्ञेषु किमधिकम्? ☐

जरा-सोचिए

जैनी कैसे बना जाय ?

धर्म और अधर्म दोनों में तथ्य-अतथ्य, सत्य-असत्य और हां-नां जैसा अन्तर है। धर्म वस्तु का स्वभाव और अधर्म वस्तु का बनावटी रूप है। जब धर्म स्व-द्रव्य में पूर्ण और सम-रूप में व्यापक है तब अधर्म में न्यूनाधिक्य और अव्यापकत्व है। वस्तु मात्र के सत्यरूप को विचारें तो छहों द्रव्यों में अपने गुण-धर्म पूर्ण निश्चित हैं, उनमें कभी फेर-बदल नहीं होता।

हमने कभी इसी स्तम्भ में जिन, जैन और जैनी की विवेचना की थी कि जैनी बाह्य-आचार और अन्तरंग-विचार में समानरूप में एक होता है। मात्र जैन य जैनी नाम लिखने-लिखाने से जैनी नही हुआ जाता। आज हमें इस परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए कि हममें कितने जैनी हैं और कितनों ने कारणों वश जैनी का बाना ओढ़ रखा है ? कितनों ने समाज में घुले-मिले रहने के लिए और कितनों ने राजनैतिक दृष्टि से गणना बढ़ाने के लिए, अपने को जैन घोषित कर रखा है ? आदि :

गत दिनों दिल्ली बूचड़खाने के विरोध में कई पत्र मिले, अखबारों में लेख और स्वतन्त्र पैम्फलेट भी देखे। बड़ा सन्तोष हुआ कि अभी जैनो में चेतना है, वे महावीर के उपासक हैं। पर बाद में जब स्वकीयों के सम्बन्ध में देखा तो जैनत्व के प्रति खेद ही हुआ कि—एक ओर तो हम मूक-पशुओं तक के प्रति दयालु हो—दूसरों से उनकी रक्षा की अपेक्षा करें और दूसरी ओर अपनों में हो रहे अनर्थों को रोकने में उपेक्षा बरतें ?

हमने 'जैन शुद्ध वनस्पति का निदेशक जेल में' हैडिंग देखा, दहेज के माध्यम से जली या मरी बहुओं की चर्चाएं सुनीं, और जैनों से अफीम बरामद होने जैसे समाचार भी देखे। ये तो कुछ प्रसंग हैं। न जाने अब हम जैन नाम-धारियों में ऐसी कितनी अनहोनी-होनी के रूप में परिणत होंगीं ? हमें इनका उपचार करना होगा।

हम देश-विदेश में, जन-साधारण में धर्म प्रचार करने कराने का नारा देते हैं, यूनिवर्सिटी और कालेजों में जैन चेयरों को चाहते हैं, गीता जैसा कोई जैन ग्रन्थ लिखाकर साधारण में वितरण करने-कराने का स्वप्न देखते हैं। पर हमारे अपने घरो में अधर्म की जो आग फैल रही है उसे बुझाने के उपाय नहीं करते। यह तो ऐसी ही विडम्बना है जैसे कोई पुरुष मद्य-पान को बुरा माने और मद्य-पायी की निन्दा भी करे। पर, अपने मद्य-पायी पुत्र या सम्बन्धी को प्रश्रय दे उसका पालन-पोषण करता रहे उससे नाता न तोड़ सके। और जो धर्म की अपेक्षा अपने पुत्रादि को अधिक महत्त्व दे, या जो सिगरेट और शराब पर जहर के लेबल लगवाने का पक्षधर होकर भी उन्हें बेचता और उनके ठेके देता-लेता रहे।

आचारवान् पण्डित गण को देखकर हमें खुशी होती है कि हमारे और समाज के भाग्य से वे इस पद के योग्य हैं—बड़ा ही अच्छा है। पर, इतने लम्बे अर्से के बाद भी मुझे अपने को पंडित कहलाने या लिखने-लिखाने की जुर्रत नही होती। यदि कोई मुझे पंडित संबोधन देता है तो अपने पर शर्म जैसी महसूस होती है। आखिर, पण्डित तो वही होता है जो ज्ञान के अनुरूप आचरण भी करे। मैं तो अभी मार्ग में ही लगने के प्रयत्न में हूं। जैन और जैनी के विषय में भी मेरी यही धारणा है कि उसे—आचरणवान् होना लाजिमी है—बिना आचार-विचार के जैन कैसा ?

यदि अपने को जैनी कहने-कहाने वाले उक्त परिप्रेक्ष्य में जैनी बन जाँय तो अजैनों को भी जैनी बनते देर न लगे—जैन के प्रचार की चिन्ता भी न करनी पड़े—स्वयं ही प्रचार हो जाय। आखिर, तीर्थंकर भी किसी से जैन बनने को नहीं कहते। लोग उनके दर्शन कर (उनके आचरण रूप आदर्श से) स्वयं ही जैन हो जाते हैं। उक्त प्रसंग में हम कैसे सच्चे जैनी बन सकते हैं और कैसे आदर्श आचरण की ओर बढ़ सकते हैं ? जरा सोचिए !

—सम्पादक

साहित्य-समीक्षा

१. जैन तत्त्व कलिका :

लेखक : आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक : श्री अमर मुनि

प्रकाशक : आत्मज्ञानपीठ, मानसा मण्डी (पंजाब)

डिमाई साइज : पृष्ठ २६४+३१६=५८०

मूल्य : साधारण जिल्द ४० रु० रेजीन ७५ रुपए

स्थानकवासी श्वेताम्बर उपाध्याय श्री आत्माराम महाराज की 'जैन तत्त्व कलिका विकास' नामक ३०८ पेजी कृति सन् १९३८ में करनाल से प्रकाशित हुई थी। प्रस्तुत कृति उसी का परिवर्धित और परिवर्तित रूप है। यद्यपि ग्रंथ के मूल नाम से 'विकास' शब्द हटाकर इसका नाम 'जैन तत्त्व कलिका' कर दिया गया है तथापि विषय विस्तृत हुआ है।

ग्रन्थ में जैन-मान्य तत्त्व, द्रव्य, प्रमाण-नय, स्याद्वाद, रत्नत्रय, लोकवाद, कर्मवाद आदि जैसे तात्त्विक विषयों को स्पष्ट और सरल रूप में खोला गया है। इससे पाठक ज्ञानानुभूति और आत्मानुभूति कर सकेंगे। संस्करण को नवीन रूप देने में सम्पादक श्री अमर मुनि जी ने अथक श्रम किया है और विषय को सरलता से विशदरूप में स्पष्ट किया है, इसके लिए वे साधुवादार्ह हैं। साज-सज्जा की दृष्टि से प्रकाशक भी बधाई के पात्र हैं।

प्रथम-संस्करण से उद्धृत 'स्वकथ्य' में मूलग्रंथकर्ता द्वारा घोषित उस प्रशस्त भावना का हम आदर करते हैं, जिसका सूत्रपात और निर्वाह उन्होंने ५० वर्ष पूर्व किया। उनका संकल्प था—'ग्रन्थ इस प्रकार से लिखा जाय जो परस्पर साम्प्रदायिक विरोध से सर्वथा विमुक्त हो और उसमें केवल जैन-तत्त्वों का ही जनता को दिग्दर्शन कराया जाय।'

प्रस्तुत परिवर्धित संस्करण में उक्त रेखा का उल्लंघन जैसा दिखा, अब इसमे जैन सम्प्रदाय की धाराओ के विरोध सम्बन्धी प्रसंग भी जुड़ गए हैं जैसे—मल्लि और महावीर के कथानक, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग और गृहीलिंग से मुक्ति आदि। इससे ग्रन्थ मूल लेखक की भावनानुसार संप्रदायातीत न होकर श्वेताम्बर पथ की मान्यता जैसा बन गया है। पूरी जैन-धारा का नहीं। ऐसा तो हम मानते नहीं कि उपाध्याय श्री ऐसे मतभेदों से अपरिचित थे इसलिए उन्होंने ऐसे प्रसंगों को छोड़ा हो। प्रत्युत ऐसे कथनों को स्पर्श न करने में उनकी पन्थवाद निर्मूलक प्रशस्त भावना ही थी जिसका घात हुआ है। —संपादक

२. तीर्थंकर (मासिक) : जैन ध्यान योग विशेषांक अप्रैल १९८३

सम्पादक—डा० नेमिचन्द जैन। प्रकाशक—हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कालोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर। पृष्ठ १३४; मूल्य—पन्द्रह रुपये।

ध्यान-योग पर भारत के ऋषिमुनियों ने गहन चिंतन-मनन किया है एवं प्रभूत प्रयोग करके उसकी परम वैज्ञानिकता को परखा है। जैनाचार्यों का भी इस क्षेत्र में अपना विशेष एवं प्रचुर योगदान है। उन्होंने ध्यान-योग का प्रयोग आत्मा के स्वरूप को जानने में किया है। आज जैन ध्यान-योग के प्रति रुचि एव जिज्ञासा बढ़ी है तथा वह वस्तु-स्वरूप, उसकी समग्रता और परिपूर्णता को युगपत् समझने में सहायता प्रदान करता है। ध्यान की प्रक्रिया सूक्ष्मतर है और उसका सम्बन्ध अभीष्ट एकाग्रता से है। इसलिए हमारा ध्येय सदैव असंदिग्ध होना चाहिये वस्तुतः जैन परम्परित प्रयोगधर्माओं ने जैन योग एवं जैन ध्यान की सूक्ष्मतम मौलिकताओं को उद्भासित एवं उद्घाटित किया है।

विशेषज्ञों की अपनी समृद्ध परम्परा के अनुरूप विशेषांक का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। 'तीर्थंकर' ने हमेशा व्यक्तियों की अपेक्षा प्रवृत्तियों को अधिक महत्त्व दिया है और भारतीय संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में जैन संस्कृति की मौलिकताओं को प्रकाशित किया है। प्रस्तुत विशेषांक जैन ध्यान-जैन योग की शास्त्रीय एवं लौकिक दोनों ही दृष्टियों से सांगोपांग विविध एवं रोचक शैली में संयोजित अभिव्यक्ति है। इसमे जैन धर्म और दर्शन के मर्मभूत ध्यान और योग के बहुविध पक्षों पर सर्वाङ्गपूर्ण दृष्टि से प्रकाश डाला गया गया है जिसके कारण इसे अपने विषय के विश्व कोष की कोटि मे रखा जा सकता है। विषय को प्रस्तुत करने में सर्वत्र अधिकारी विद्वानों एवं सुविज्ञ मनीषियों द्वारा आधुनिक साधनों एवं शैलियों का आश्रय लिया गया है जिसके कारण विषय और भी रोचक बन पड़ा है।

विशेषांक विशेषतया संग्रहणीय एवं सर्वथा उपादेय है तथा प्राच्य विद्याओं के प्रत्यास्थापन से हितबद्ध मनीषियों द्वारा मननीय एवं पठनीय है।

—गोकुल प्रसाद जैन, उपाध्यक्ष

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

सम्पादक परामर्श मण्डल — डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक — श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक — रत्नत्रयधारी जैन, वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा। दिल्ली-३२ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३६ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९८३

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

बाहुबली-कुम्भोज दि० क्षेत्र का संकट दिगम्बरत्व पर संकट है। यहां प्रात-तायियों ने देव-धर्म और गुरु सभी का अपमान किया है। सरकार इसकी न्यायिक जांच कराकर अपराधियों के साथ भारतीय-संविधान के अनुरूप व्यवहार करे और ऐसी व्यवस्था बनाये कि देश में सभी धर्म-जाति-सम्प्रदाय के लोग अपनी मर्यादाओं में सुरक्षित रह सकें। दि० जैनों को भी प्रस्तुत प्रसंग में मुनि श्री विद्यानंद जी महाराज के निर्देश में आगे बढ़ना चाहिए। —वीर सेवा मन्दिर

अपनी-बात

इस अंक के साथ 'अनेकान्त' का ३६वां वर्ष पूर्ण हो रहा है। हम उन सभी लेखकों, पाठकों और सहायकों का अभिनन्दन करते हैं जिन्होंने इस पुण्य कार्य में हमें सहयोग दिया है। हम यह भी जानते हैं कि हमसे गल्तियां भी हुई होंगी, जिन्हें सभी ने क्षमा किया है—कोई किसी प्रकार का उलाहना नहीं आया। सच तो यह है कि यह कार्य बड़ी जिम्मेदारी का है और सभी के सहयोग से पूरा होता है। हमारा सम्पादक मण्डल पूरा ध्यान रखता है और समय-समय पर निर्देश देता रहता है। संस्था की कार्यकारिणी का भी इधर ध्यान है।

हमें खुशी है कि विद्वान पाठकों ने 'अनेकान्त' को सराहा है— बहुत से पत्र भी भेजे हैं। सभी का प्रकाशन आत्म-प्रशंसा न समझ लिया जाय इस भय से हम कुछ की कुछ पंक्तियां ही उद्धृत कर रहे हैं। तथाहि—

१. अनेकान्त में 'विचारणीय प्रसंग', पढ़कर हर्ष हुआ। वस्तुतः लेख आगमोक्त, युक्ति-आगम-तर्क से पूर्णतः संपुष्ट, विचारोत्तेजक, अध्ययन खोज व शोधपूर्ण हैं। ऐसे लेखों द्वारा आप सचमुच में आगम-मार्ग विलोपता की रक्षा कर रहे हैं।'

—स्वामी श्री भ० चारुकीर्ति जी पंडिताचार्य, मूडबिद्री

२. 'शान्त रस' के सबंध में 'विचारणीय-प्रसंग' तथा 'जरा-सोचिए' के अन्तर्गत विचारोत्तेजक टिप्पणियां युक्ति-युक्त एवं अच्छी लगीं।'

—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

३. 'आप अनेकान्त में चिंतन के रूप में जो विचार दे रहे हैं, वे काफी सुलझे हुए और नवीन चेतना को जगाने वाले हैं।'

—डॉ० दरबारीलाल कोठिया, वाराणसी

४. 'अनेकान्त ने अपना रूप निखारा है। विद्वत्तापूर्ण लेख तथा 'जरा-सोचिए' की सामयिक टिप्पणियां बड़े अच्छे होते हैं।' —डॉ० नन्दलाल जैन, रीवां

हम पाठकों से निवेदन कर दें कि 'अनेकान्त' की नीति व्यक्तिगत किसी विवाद में पड़ने या खंडन मंडन की नहीं है। इसके उद्देश्य सभी भांति जैन-आगम, संस्कृति और उसके मार्ग-उद्घाटन, उसकी रक्षा तथा प्रचार तक केन्द्रित हैं। अतः चिन्तन के रूप में जहां, जैसा जो मिलता है, लेखकों के माध्यम से पाठकों के विचारार्थ पहुंचा दिया जाता है और उसके जिम्मेदार लेखक स्वयं होते हैं। फिर भी जाने-अनजाने किसी लेख से किन्हीं पाठकों को कोई ठेस लग जाय तो वे उसे सहज-भाव में ग्रहण कर हमें क्षमा ही करते रहें—हम उन्हीं के अपने हैं। धन्यवाद !

—सम्पादक

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३६ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१०, वि० सं० २०४० | अक्टूबर-दिसम्बर १९८३

जिनवाणी-महिमा

नित पीजो धी-धारी ।
जिनवानि सुधासम जानके नित पीजो धी-धारी ॥
वीर-मुखारविन्द तैं प्रगटी, जन्म जरा गद-टारी ।
गौतमादिगुरु उर घट व्यापी, परम सुरुचि करतारी ॥
सलिल समान कलित, मलगंजन, बुध-मन-रंजनहारी ।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी ॥
कल्यानकतरु उपवन धरनी, तरनी भवजल-तारी ।
बन्धविदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी ॥
स्वपरस्वरूप प्रकाशन को यह, भानु-कला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदिनि-मोदन-शशिभा, शम सुख सुमन सुवारी ॥
जाको सेवत, बेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ॥
कोटि जीभ सौं महिमा जाको, कहि न सके पविधारी ।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी ॥

□□

श्रीलंका और जैनधर्म

□ 'इतिहासमनीषी' डा० ज्योतिप्रसाद जैन

श्रीलका, लंका, सिंहलद्वीप या सीलोन भारतवर्ष के सुदूर दक्षिण में तथा भारतीय भूभाग के निकटतम स्थित एक विशाल द्वीप है। इसका आकार सीधी रखी नाशपाती जैसा है, जिसकी अधिकतम लम्बाई उत्तर-दक्षिण लगभग ५०० कि० मी०, अधिकतम चौड़ाई पूर्व-पश्चिम लगभग २५० कि० मी. तथा क्षेत्रफल लगभग ८०,००० वर्ग कि० मी० है। कुमारी अन्तरीप या कन्याकुमारी से लका के पश्चिमी तट की दूरी लगभग २५० कि० मी० है। मनार की खाड़ी श्रीलंका को भारत के दक्षिणी-पूर्वी तट से पृथक करती है। तमिल देशस्थ नाग पट्टिनम से थोड़ा दक्षिण में भारतीय भूभाग को श्रीलका के उत्तरी सिरे पर स्थित जफना बन्दरगाह से लगभग ५० कि० मी० चौड़ा पाक जलडमरुमध्य अलग करता है। निकट ही सेतुबंध रामेश्वरम अथवा 'आदम का पुल' स्थित है। द्वीप के दक्षिणी-पश्चिमी तट पर स्थित श्रीलंका की वर्तमान राजधानी कोलम्बो है, द्वीप के प्राय: मध्य मे प्राचीन नगरी कैन्डी स्थित है और उत्तर पूर्वी तट पर त्रिकोमाली। कुछ विद्वानों का कहना है कि चीनी भाषा के 'सेज' शब्द से, जिसका अर्थ रत्न है, संस्कृत का सिंहल और अंग्रेजी का सीलोन बने, अतएव सिंहलद्वीप और रत्नद्वीप पर्यायवाची हैं। प्राचीन जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मणीय साहित्य में लंका, सिंहलद्वीप और रत्नद्वीप के अनगिनत उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के साथ इस द्वीप के धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक सम्बन्ध सुदूर अतीत से ही पर्याप्त घनिष्ट रहते आये हैं, जिनके कारण यह द्वीप अखिल भारतवर्ष का ही एक अभिन्न अग जानामाना जाता रहा है। वर्तमान मे श्री लंका के अधिकांश निवासी बौद्ध धर्मानुयायी है। गत दो-तीन सौ वर्षों में धर्म परिवर्तनों के परिणामस्वरूप ईसाई और कुछ मुसलमान भी है तथा भारतीय मूल के तमिल आदि प्रदेशों से गये प्रवासियों की संख्या भी पर्याप्त है।

प्राचीन जैन अनुश्रुतियों के अनुसार भोगयुग के अवसान पर प्रथम तीर्थंकर. आदिदेव भगवान वृषभनाथ ने कर्मयुग एव मानवी सभ्यता का ॐ नमः किया था तथा समाज एवं राज्य की व्यवस्था की थी। भगवान के एक उपनाम इक्ष्वाकु पर मानवों का इक्ष्वाकुवश प्रसिद्ध हुआ जिसकी शाखा उपशाखाओं मे आगे चलकर सूर्यवश, चन्द्रवश एव हरिवंश प्रसिद्ध हुए। उस युग में प्राय. संपूर्ण उत्तरापथ मे उक्त इक्ष्वाकुवशी क्षत्रियों की ही प्रभुसत्ता थी। भगवान के ज्येष्ठ पुत्र भरत इस महादेश के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट हुए और उन्ही के नाम पर वह भारतवर्ष कहलाया। उसी युग मे मनुष्यों की एक अन्य जाति थी जो विद्याधर कहलाती थी। उसके नेता नमि और विनमि नाम के दो भाई थे। उन्हे वेताढ्य अथवा विजयार्ध पर्वत की उत्तर एव दक्षिण श्रेणियों में सुखपूर्वक निवास करने की व्यवस्था हुई। उक्त विद्याधरों के वंशजो में आगे चलकर *ऋक्ष या राक्षस वंश और बानरवंश* नाम की दो वश परम्पराएं सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई। ये तब भी मनुष्य ही थे, और प्राय: जिनधर्म भक्त थे। लेकिन ज्ञान-विज्ञान एवं विद्याओं में अत्यन्त कुशल होने के कारण विद्याधर कहलाते थे। एकवंश का राज्य-चिह्न एवं ध्वज-चिह्न कपि या बानर होने से वह बानरवंश कहलाया, दूसरे ने ऋक्षद्वीप या राक्षसद्वीप को अपनी सत्ता का केन्द्र बनाया अत: वह राक्षस वश कहलाया। उक्त राक्षसद्वीप के मध्य में त्रिकुटाचल पर्वत था जिस पर उसकी अत्यन्त भव्य राजधानी लंकापुरी का निर्माण हुआ। राजधानी के नाम पर पूरा द्वीप ही लका कहलाने लगा। स्वर्ण रत्न आदि की प्रचुरता के कारण रत्नद्वीप भी कहलाया। यह कहना कठिन है कि लंका का ही अपरनाम रत्नद्वीप था अथवा वह उसके निकटस्थ कोई अन्य एवं अपेक्षाकृत छोटा द्वीप था।

आदिपुराण के अनुसार भरत चक्रवर्ती ने अपने दिग्विजय अभियान में उक्त राक्षसद्वीप को भी विजय किया था। एक अनुश्रुति के अनुसार भारत के पूर्वी तट से वररोज नामक एक असुर सरदार अक्ष, यक्ष, नाग आदि विद्याधर जातियो के व्यक्तियों को लेकर लंका गया था और उसी ने उस द्वीप को बसाया था। पद्मपुराण से विदित होता है कि बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में मालि, सुमालि और माल्यवान नाम के तीन भाइयो ने इस द्वीप पर अधिकार कर लिया था। उसी काल मे रथनपुर का विद्याधर नरेश इन्द्र था जो बड़ा शक्तिशाली, प्रतापी एव महत्वाकांक्षी था और प्रत्येक बात मे देवराज इन्द्र की नकल करता था। उसने समस्त विद्याधर राजाओं को पराजित करके अपने अधीन कर लिया। लंका वालों को भी उसने पराभूत कर दिया। युद्ध में मालि मारा गया और सुमालि एवं माल्यवान अपने परिवार सहित अज्ञात गुप्तस्थान मे शरण लेने पर विवश हुए। इन्द्र ने लका मे अपने आज्ञाकारी सामन्त वैश्रवण को स्थापित कर दिया जो साक्षात कुबेर जैसा था। उसके समय मे लका के वैभव मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई।

सुमालि का पुत्र रत्नश्रवा था जिसकी पत्नी का नाम केकसी था—इन दोनों का पुत्र सुप्रसिद्ध राक्षस-राज दशानन अपरनाम रावण हुआ। वह अत्यन्त पराक्रमी और तेजस्वी था। होश सम्भालने पर उसे अपने कुल के पराभव का कारण ज्ञात हुआ और उसने लंका पर चढ़ाई कर दी तथा वैश्रवण को पराजित करके लका पर अधिकार कर लिया। वैश्रवण रावण का मौसेरा भाई था—उसने रावण से संधि कर ली, अपना पुष्पक विमान भी उसे दे दिया और अन्यत्र जाकर रहने लगा। अब रावण की प्रभुसत्ता, शक्ति और समृद्धि में द्रुतवेग से प्रगति होने लगी। उसने इन्द्र विद्याधर तथा उसके प्रायः सभी सामन्तों को पराजित करके अपने अधीन कर लिया। अन्ततः लकाधीश राक्षसराज रावण विद्याधर वंशियों का एकच्छत्र सम्राट बन गया। उसकी सोने की लका लोक-विख्यात हो गई। रावण और उसका परिवार परम जिनभक्त थे। राजधानी लंकापुरी का प्रधान देवालय सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ का अत्यन्त भव्य मन्दिर था जिसमें वे लोग जिनेन्द्र भगवान की पूजा-उपासना करते थे। रावण अपने युग का अर्ध-चक्री सम्राट एवं प्रतिनारायण था।

इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न रघु के वंशज अयोध्यापति महाराज दशरथ के पुत्र राम जब अपनी पत्नी जनकसुता वैदेही सीता तथा अनुज लक्ष्मण के साथ दंडकारण्य में बनवास कर रहे थे तो एकदा लक्ष्मण के हाथों अनजानें शबूककुमार का वध हो गया। वह रावण की बहिन चन्द्रनखा का पुत्र था। परिणामस्वरूप चन्द्रनखा के पति खर-दूषण के साथ राम लक्ष्मण का भीषण युद्ध हुआ। उस अवसर का लाभ उठाकर रावण ने सती सीता का अपहरण कर लिया और उसे लका मे ले गया। रावण की प्रतिज्ञा थी कि किसी परस्त्री का उसकी इच्छा एवं सहमति के बिना उपभोग नही करेगा, साथ ही वह अत्यन्त मानी था और स्वय को सर्वशक्तिशाली समझता था। अतएव वह सीता को उसके पति राम के पास भेजने के लिए राजी नही हुआ। उधर राम व लक्ष्मण सीता की खोज में भटकते रहे और जब उन्हें रावण के कुकृत्य का ज्ञान हुआ तो हनुमान, सुग्रीव, नल, नील आदि वानरवंशी विद्याधरों को उन्होने अपना सहायक बनाया और समुद्र पार करके लका पर आक्रमण कर दिया। रावण की अनीति से क्षुब्ध होकर उसका भाई विभीषण भी राम से आ मिला। राम और रावण के मध्य भयंकर युद्ध हुआ जिसमें नारायण के हाथों प्रतिनारायण रावण मारा गया। उसके अनेक परिजन और सामन्त भी युद्ध में काम आये। इन्द्रजित आदि कई एक ने जिनदीक्षा ले ली। राम और सीता का मिलन हुआ। लंका का राज्य विभीषण को सौंपकर राम, लक्ष्मण, सीता आदि अयोध्या चले गये। लंका में विभीषण एवं तदनन्तर उसके वंशज चिरकाल तक राज्य करते रहे। ये प्रायः सब ही जिनधर्म भक्त थे।

महाभारतकाल में श्रीकृष्ण सिंहलद्वीप (लंका) जाकर वहा के राजा श्लक्षणरोम की कन्या लक्ष्मणा को हर लाये थे और उन्होने उसे अपनी पत्नी बनाया था। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तीर्थ में अंग-कलिंग-आन्ध्र के अधीश्वर महाराज करकंडु ने, जो एक जैन नरेश था, सिंहलद्वीप की यात्रा की थी। अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के समय (छठी शती ई० पू०) में कलिंग देश के सिंहपुर

नगर का विजय नामक एक जैन राजकुमार लंका गया था और वहां उसने एक नए राज्यवंश की स्थापना की थी। बौद्धग्रंथ महावंश से विदित होता है कि चौथी शती ई० पूर्व में इसी वंश में उत्पन्न सिंहल नरेश पाण्डुकामय ने राजधानी अनुराधापुर में एक विशाल जैन बिहार तथा अति भव्य जिनमन्दिर बनवाया था। ३री शती ई० पू० के मध्य के लगभग मगध सम्राट अशोक के मौर्य के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा के द्वारा लंका में बौद्ध धर्म का सर्वप्रथम प्रवेश हुआ, किन्तु उसकी विशेष प्रगति नही हुई लगती और उससे जैन धर्म प्राय: अप्रभावित रहा, क्योंकि २री शती ई० पू० में कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट खारवेल ने लंका में अपने दूत एव धर्मप्रचारक भेजे थे और लका के प्राचीन ऐतिहासिक अभिलेखों से स्पष्ट है कि लंका-नरेश खलतग (१०९-१०३ ई० पू०) के समय में भी तत्कालीन राजधानी श्रीगिरि (सिगिरिया) के निकटस्थ अभयगिरि पर एक विशाल जैन बसति (विहार) विद्यमान थी जिसमें अनेक जैन मुनि साधनारत रहते थे। कुछ समय पश्चात् लंका नरेश वट्टगामिनी के शासनकाल में तमिल देशवासी किसी राजा ने लका पर आक्रमण किया। कोलंब-हलक स्थान मंकविश्रय भी उनसे मिल गया और लका के नरेश के साथ युद्ध हुआ। राजा वट्टगामिनी पराजित होकर युद्धभूमि से भाग गया। कहते हैं कि जब वट्टगामिनी अपने साथियों के साथ भागता हुआ अभयगिरि की जैन बसति के निकट पहुंचा तो उक्त विहार के जैनाचार्य मुनि गिरि ने इस कायरतापूर्ण पलायन के लिए उसका उपहास एवं भर्त्सना की थी। इससे वह राजा चिढ गया और उसने प्रतिज्ञा की कि यदि कभी वह अपना राज्य पुन: प्राप्त कर लेगा तो इस जैन विहार को नेस्तनाबूद कर देगा। सयोग से कुछ समय बाद वह सफल हो गया और अपने राज्य पर पुन: स्थापित हो गया; ८८-७७ ई० पू० में १२ वर्ष उसका यह शासन रहा उस अवधि में वट्टगामिनी ने उक्त एवं अन्य अनेक जैन मन्दिरों एवं विहारों को जो उसके पूर्ववर्ती राजाओं ने बनवाए या संरक्षित रखे थे, नष्ट करवा कर उसके स्थान म बौद्ध मन्दिर और बिहार बनवाये। इसी राजा के समय मे सिंहल में बौद्ध त्रिपिटक के संकलन और लिपिबद्ध करने का सर्वप्रथम प्रयास किया गया। कुछ विद्वान इस घटना की तिथि ई० पू० ३८ बताते हैं। इस प्रकार श्रीलंका के इतिहास के प्रारम्भ से लेकर ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कुछ दशक पूर्व तक उस देश का प्रधान धर्म जैनधर्म ही बना रहा।

बौद्ध राजा वट्टगामिनी की बिध्वंसलीला एवं धार्मिक अत्याचारों के बावजूद भी श्रीलंका में जैनधर्म का अस्तित्व प्राय: मध्यकाल तक बना रहा। लंका के इतिहास से पता चलता है कि ५वीं शती में जब लंका नरेश कस्सप प्रथम द्वारा निर्वासित होकर राजा मोग्गलन को १८ वर्ष तक भारत में रहना पड़ा था तो उसने लंका निवासी जैनों तथा सेनापति मिगार के साथ गुप्त संपर्क बनाये रखे थे। किन्तु जब ४९५ ई० में मोग्गलन राज्य को पुन: प्राप्त करने में सफल हुआ तो उसने जैनों की उपेक्षा की और शिलाकाल द्वारा लाये गये बुद्ध के अवशेषों के स्वागत समारोह में ही व्यस्त रहा। कस्सप बौद्ध गया जाकर बौद्ध भिक्षु बन गया। ७वी-८वीं शताब्दी ई० में भी जैन-धर्म और उनके अनुयायियों का अस्तित्व श्रीलंका में था, इस बात के स्पष्ट निर्देश मिलते हैं। इतना ही नही, एक प्राय: तत्कालीन शिलालेख से प्रकट है कि ११वीं शती ई० के कर्णाटक के एक जैनाचार्य यश:कीर्ति उस समय के सिंहल नरेश द्वारा अपनी राजसभा में सम्मानित किए गए थे।

१ मई १९८३ के दैनिक टाइम्स आफ इंडिया में प्रकाशित अपने एक लेख में श्री पी० बी० राय चौधरी ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या कारण जब बौद्ध धर्म तो श्रीलंका पर प्राय: पूरी तरह छा गया, जैनधर्म के अस्तित्व के वहां कोई चिह्न नही प्राप्त होते। विद्वान लेखक एक मास लंका मे रहकर आए हैं और वहा के पुरातत्व विभाग से उन्होने संपर्क किया, किन्तु उन्हें यही बताया गया कि किसी भी जैन मन्दिर, मूर्ति या कलाकृति के कोई अवशेष श्रीलंका में अभी तक दृष्टिगोचर नही हुए हैं। उक्त लेखक का अनुमान है कि जैनों का जीवनदर्शन, आचार के कठोर नियम तथा दिगम्बरत्व ही श्रीलका में जैनधर्म के प्रसार में बाधक रहे हैं।

हमारे विचार से यह अनुमान किसी अंश तक सत्य हो सकता है, सर्वथा नहीं। स्वयं भारतवर्ष के प्राय: प्रत्येक

(शेष पृ० ८ पर)

जैनधर्म की प्राचीनता व ऐतिहासिकता

☐ डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

जैन धर्म सबसे प्राचीन जीवन्त परम्परा है। इसकी प्राचीनता का सबसे बड़ा प्रमाण इस धर्म का अनादि-अनिधन मंत्र है। अनादिनिधन मगल मन्त्र इस प्रकार है—

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं।
णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्व साहूणं॥

अर्थात्—लोक में सब अर्हन्तों को नमस्कार हो, सब सिद्धों को नमस्कार हो, सब आचार्यों को नमस्कार हो, सब उपाध्यायों को नमस्कार हो, सब साधुओं को नमस्कार हो।

इस मन्त्र में जैन धर्म, संस्कृति-साधना, इतिहास सब कुछ समाहित है। यद्यपि भाषा की दृष्टि से पैंतीस अक्षरो वाला यह मन्त्र प्राकृत भाषा मे है, किन्तु इस में समस्त श्रुतज्ञान की अक्षर संख्या निहित है, यह जिनवाणी का सार है। तत्त्वज्ञान भी इस मे समाया हुआ है। इस मन्त्र का उच्चारण करने से घनात्मक और ऋणात्मक दोनो प्रकार की विद्युत शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिन से कायिक शक्ति जाग्रत होती है। मन्त्र में पाँच परम इष्टों अर्थात पूज्य, सर्वोत्कृष्ण का स्मरण यानी उनके गुणों का स्मरण किया जाता है। पूज्य परमात्मा की श्रेणी के माने गए है। जो मिथ्यात्व और रागादिक को जीत लेते हैं, वे सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी पुरुष "एकदेशजिन" कहे गए हैं। अतः परमात्मा के गुणों का चिन्तन, मनन करने से मन विसुद्धता को प्राप्त होता है। जिस समय हम निर्विकल्प-दशा में तत्त्वज्ञान का शुद्ध ज्ञान रूप से अनुभव करते हैं, उस समय जिनशासन, यह मंगल मंत्र हमारी आत्मशुद्धि का साधन होता है। इस प्रकार इस मंगल मन्त्र में जिनशासन समाया हुआ है। अपने शुद्धात्मस्वरूप स्वभाव को साधने वाले साधु होते हैं, द्रव्य श्रुतज्ञान की विशिष्टता के साथ भाव श्रुतज्ञान की विशेषता को लिए उपाध्याय होते हैं और जो सघ में नायक तथा स्वरूपाचरण में ही अधिकतर मग्न रहते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। गृहस्थपना का त्याग कर, मुनि धर्म अंगीकार कर निजस्वभाव साधन के द्वारा जो चार घातिकर्मों का क्षय कर देते हैं, वे पूर्ण वीतराग अर्हन्त कहे जाते हैं। सभी प्रकार के कर्म-कलकों से रहित सिद्ध भगवान होते है। इस तरह मन्त्र में कहे गए पाँच परमेष्ठियों के रूप में जैन साधना का क्रमिक वर्णन निहित है।

जैनधर्म के अनुसार लोक अकृतिम है, अनादि-अनिधन है। इस विश्व में पाई जाने वाली सभी वस्तुएं अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक बनी रहेंगी। इसलिए ६८ वर्णों की रचना वाले प्राकृत भाषा का यह मन्त्र भले ही द्रव्यश्रुत के रूप में पांच हजार वर्ष पुराना हो, किन्तु भावश्रुत के रूप में प्रत्येक तीर्थंकर के कल्पकाल में इसका अस्तित्व रहता है।

पौराणिक दृष्टि से काल की अखण्ड धारा में कभी विकास का समय वर्तता है और कभी पतन का समय आता है। यह काल-चक्र की भांति परिणमनशील रहता है। इसके दो विभाग या कल्प-काल माने गए हैं—उत्सर्पिणी। और अवसर्पिणी। जिस प्रकार गाड़ी का पहिया कभी नीचे से ऊपर और फिर ऊपर से नीचे नियत क्रम मे घूमता रहता है, उसी प्रकार एक समय ऐसा आता है जब जगत उन्नतिशील होता है और एक समय ऐसा भी आता है जब सब तरह से अवनति की ओर झुकता जाता है। जैसे घड़ी की सुई छह संख्या तक नीचे की ओर, फिर छह तक ऊपर की ओर चलती है, वैसे ही दोनों काल-विभाग छह-छह के चक्रों में निरन्तर घूमते रहते हैं। उनमें क्रम है। इसी काल चक्र का नाम विकासवाद तथा ह्रासवाद है। उत्सर्पिणी के छह विभागों के नाम हैं—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुष्मा, दुषमा-सुषमा और दुष्मा-दुष्मा। इसी प्रकार जब काल-चक्र घूमकर सुख से दुख की ओर आता

है, तब अवसर्पिणी काल होता है। इसके भी छह विभाग किए गए हैं। दोनों को मिलाकर एक कल्पकाल बनता है। इन दोनों कल्पों की अवधि लाखो वर्षों की होती है। इस समय दुषमा या दुःखम नामक पाँचवा अवसर्पिणी काल चल रहा है।

पुराणों में प्रारम्भ के दो कालों को भोग भूमिकाल कहा गया है। इन कालों मे आधुनिक ग्राम- सभ्यता या नगर-सभ्यता नही थी। लोगो की आवश्यकताएं बिना श्रम किए कल्पवृक्षो से पूर्ण हो जाती थी। कल्पवृक्ष दस तरह के थे—मद्यांग, तूर्यांग, विभूषणांग, स्रगंग, ज्योतिरंग, दीपांग, गृहांग, भोजनांग, पत्रांग और वस्त्रांग। उसयुग में मनुष्य परिवार बना कर नही रहता था। लोग खेती नही करते थे। कल्पवृक्षों से घर-मकान, भोजन-वस्त्रादि प्राप्त हो जाते थे। भाई-बहन का जन्म युगल रूप मे होना था। अपना अंगूठा चूस-चूस कर वे ४९ दिनों मे तरुण हो जाते थे। उन में परस्पर अनायास विवाह हो जाता था। भोग भूमि की यह व्यवस्था लाखों वर्षों तक चलती है। फिर, तीसरे काल की समाप्ति होते-होते कल्पवृक्षों का प्रभाव क्रमशः क्षीण हो जाता है।

एक दिन सहसा अस्त होते हुए सूर्य तथा चन्द्र को देख कर लोग भयभीत हो उठते हैं। प्रथम कुलकर उन्हें ग्रह-नक्षत्रों की जानकारी देते हैं। इसप्रकार चौदह कुलकर होते हैं जो आवश्यकतानुसार उन सब को शिक्षा देते हैं। इन कुलकरों में अन्तिम कुलकर नाभिराय हुए। नाभिराय का उल्लेख वैदिक तथा श्रमण दोनो परम्पराओ के ग्रन्थों मे समान रूप से मिलता है। नाभिराय भगवान ऋषभदेव के पिता तथा कर्मभूमि की व्यवस्था के सूत्राधार थे। संस्कृत के शब्दकोशों में यह उल्लेख है कि जिस प्रकार चक्र के मध्य में नाभि अर्थात् कीली मुख्य होती है, इसी प्रकार वे क्षत्रिय राजाओं में मुख्य थे। उनके नाम पर सुदीर्घ प्राचीन काल में इस देश का नाम अजनाभवर्ष था। नाभिराय अत्यन्त प्रतापी राजा थे। आगे चलकर उनके पुत्र ऋषभ या वृषभ आदि तीर्थंकर हुए। ऋषभ के पुत्र भरत चक्रवती के नाम पर इस देश का नाम भारत वर्ष पड़ा। हिन्दू पुराणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। "श्रीमद्भागवत" में [५।४। ८।९] में कहा गया है—

भगवान वृषभदेव के एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें सबसे बड़े सहयोगी भरत थे। उनके नाम पर इस देश को भारतवर्ष कहते हैं। "अग्निपुराण" में भी यही उल्लेख है कि ऋषभ और मरुदेवी के पुत्र भरत के नाम से यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ। "ब्रह्माण्डपुराण" और विष्णुपुराण" में ऋषभ को राजाओं में श्रेष्ठ, सभी क्षत्रियों का पूर्वज और भरत आदि सौ पुत्रो का जनक कहा गया है। "विष्णुपुराण" के अनुसार महात्मा नाभि और मरुदेवी से अतिशय कान्तिमान ऋषभ नामक पुत्र हुआ। ऋषभ से भरत का जन्म हुआ। वे एक सौ पुत्रो मे सबसे बड़े थे। पिता ने वन जाते समय राज्य भरत को सौंप दिया था। प्रतापी राजा भरत के नाम से यह हिमवर्ष भारतवर्ष के नाम से विश्रुत हुआ। "मार्कण्डेपुराण" [५०,३९-४१] मे कहा गया है—ससार से विरक्त होकर ऋषभ ने हिमवान पर्वत की दक्षिण दिशा का भूमि-भाग भरत को सौंप दिया जो भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हो गया। "कूर्मपुराण" अग्नियुराण, वायुमहापुराण, गरुणपुराण, वाराहपुराण, लिंगपुराण तथा स्कन्दपुराण आदि मे भी लगभग समान रूप से वर्णन मिलता है।

हिन्दू पुराणो में कहीं-कही जैनधर्म की विशिष्ट प्रशसा की गई है। यहां तक कहा गया है कि जैनधर्म सनातन है, पूज्य है, केवल जिन की ही पूजा करनी चाहिए। "पद्मपुराण" [भूमिखन्ड ३७।१५] मे उल्लेख है—

जिनरूप विजानीहि सत्यधर्म कलेवरम्।
अर्हन्तो देवता यत्र निर्ग्रन्थो दृश्यते गुरु.।
दया चैव परो धर्मस्तत्र मोक्ष प्रदृश्यते॥

अर्थात् —जिनमुद्रा ही सत्यधर्म का कलेवर [शरीर] है। जिसके देवता अर्हन्त हों, निर्ग्रन्थ जिसके गुरु हो और जो स्वयं दया रूप ही है, वही उत्कृष्ट धर्म है और उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

"नगरपुराण" में कहा गया है—कृतयुग में दश ब्राह्मणों को भोजन कराने का जो फल है, कलियुग में वही फल अर्हन्तभक्त मुनि का भोजन कराने का है।

पुराणों में ही नही, वेदों में भी जैनधर्म के चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। "यजुर्वेद" (अ० २५, म० १९, अष्ट ९१, अ० ६, वर्ग १) में उल्लेख है—

"ओम् ऋषभपवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं माहसंस्तुतं वरं शत्रुं जयंतं पशुरिन्द्रमाहुतिरिति स्वाहा। ओम् त्रातारमिन्द्र हवे शत्रमजितं तद्वर्द्धमानपुरुहूतमिन्द्र माहुरिति स्वाहा। ········ शान्त्यर्थमनुविधीयते सो स्माक अरिष्टनेमि· स्वाहा।"

इसमे ऋषभदेव, सुपार्श्वनाथ, अरिष्टनेमि और वर्द्धमान इन चार तीर्थंकरों की पूजा की गई है। "ऋग्वेद" के कई मन्त्रों में ऋषभदेव का "वृषभ" रूप से और नेमिनाथ का "अरिष्टनेमि" शब्द से स्तुति-गान किया गया है। इससे अत्यन्त स्पष्ट है कि साहित्यक, सांस्कृतिक, पौराणिक व ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन किंवा अनादि-अनिधन परम्परा है।

जैनधर्म का प्राचीन इतिहास "कृषि के देवता: ऋषभ" से प्रारम्भ होता है। सृष्टि के प्रारम्भ के दिनो मे खेती क्यो और कैसे करनी चाहिए—इसका ज्ञान उन्होने समाज को दिया था। उनके ही समय मे अग्नि की उत्पत्ति हुई थी। समाज-व्यवस्था की सभी पद्धतियो का जन्म उनसे प्रारम्भ हुआ। समाज की सभी मर्यादाएं और नियम उन्होंने बनाए। उन्होने अपनी बडी पुत्री ब्राह्मी को अठारह प्रकार की लिपियां सिखाई, आगे चलकर ब्राह्मी के नाम पर "ब्राह्मीलिपि" प्रचलित हुई। श्री पी० सी० राय चौधरी के अनुसार "जैन शास्त्रो द्वारा यह प्रमाणित होता है कि ऋषभ देव ने जैनधर्म का प्रचार मगध (विहार) मे पाषाण-युग के शेष काल मे तथा कृषि-युग के आरम्भ मे किया था। उस प्राचीन काल मे मगधदेश शेष भारत से गंगा सागर से विच्छिन्न था। नेपाल का प्राचीन इतिहास भी इस बात का साक्षी है।" (जैनिज्म इन विहार, पृ० ७)

जैन पुराणो के अनुसार ऋषभदेव अरबो (८२ हजार वर्ष कम लगभग एक सागर) वर्ष पहले हुए थे। उनकी पूज्यता अत्यन्त प्राचीन है। बौद्ध दार्शनिक "न्यायविन्दु", "आर्यमंजुश्रीमूलकल्प" आदि ग्रन्थों में उनका सादर उल्लेख किया गया है। आचार्य शुभचन्द्र स्वयं "योगी-कल्पतरु" के रूप में ऋषभदेव का स्मरण करते हैं—

भुवनाम्भोजमार्तण्डं धर्मामृतपयोधरम्।
योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वज॥

पुरातात्त्विक दृष्टि से सिन्धु घाटी के उत्खनन से प्राप्त मुद्राओं तथा मूर्तियों पर अंकित वृषभ से यह प्रमाणित होता है कि शैवधर्म की भांति जैनधर्म भी ताम्र युगीन सिन्धु सभ्यता के साथ फल रहा था। सिन्धु घाटी से प्राप्त मोहरों पर कायोत्सर्ग मुद्रा मे अंकित मूर्तियां ठीक वैसी हैं, जैसी कि मथुरा म्यूजियम की दूसरी शती की कायोत्सर्ग मुद्रा मे स्थित ऋषभदेव की मूर्ति है। सिन्धु घाटी की मूर्ति की शैली इससे बहुत कुछ समानता लिए हुए है। इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० राधाकुमुद मुकर्जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "हिन्दू सभ्यता" में लिखते है—"श्री चन्दा ने ६ अन्य मोहरो पर खड़ी हुई मूर्तियों की ओर ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८, आकृति ७ (मार्शलकृत "मोहनजोदड़ो") कायोत्सर्ग नामक योगासन में खडे हुए देवताओ को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियो की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है, जैसे मथुरा सग्रहालय मे स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की मूर्ति मे। ऋषभ का अर्थ है बैल जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या एफ० जी० एच० फलक दो पर अंकित देवमूर्ति मे एक बैल ही बना है। सम्भव है यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है।"

जन साधारण का यह भ्रम है जो यह कहते हैं कि जैनधर्म कभी इस देश के बाहर नही गया। इतिहास मे इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि मध्य एशिया से लेकर सुदूर पूर्व देशो तक जैनधर्म का प्रचार-प्रसार रहा है। मेजर जनरल जे फर्लांग, कर्नल जेम्स टाड आदि कई प्रारम्भिक प्राच्यविदो का अनुमान है कि जैनधर्म यूरोप के स्केण्डिनेविया जैसे दूरस्थ प्रदेशो मे तुर्की तथा ऊपरी मध्य एशिया के क्षेत्रो तक पहुंच गया था। चौथी शती ई० पू० में यूनानी सम्राट् सिकन्दर महान् इस देश के तक्ष शिला से कल्याण नामक जैन सन्त को अपने साथ बाबुल तक ले गया था, जहां उन सन्त ने सल्लेखना ग्रहण कर समाधि पूर्वक देहत्याग किया था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भड़ौंच के श्रमण आचार्य का रोम जाना और वहीं समाधि करने का उल्लेख पाया जाता है। दक्षिण एव पूर्व में बृहत्तर भारत

के सिंहल, बर्मा, स्याम, कम्बोज, चम्पा, श्री विजय, नवद्वीप आदि प्रदेशों से इस देश का जो सांस्कृतिक सम्बन्ध बना रहा है, उसके मूल मे जैन व्यापारियों एवं विद्वानों का योग अवश्य रहा है। सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा जब लका में धर्म प्रचार के लिए गए, तो उन्होंने वहां देखा कि निर्ग्रन्थ सघ पहले से ही उस देश मे स्थापित है। पालि ग्रन्थों के अनुसार लंका में बौद्ध धर्म की स्थापना हो जाने के पश्चात ४४ ई० पूर्व तक वहां निर्ग्रन्थों के आश्रम विद्यमान थे। "महावंश" के अनुसार तत्कालीन राजा ने निर्ग्रन्थों के लिए भी आश्रम बनवाए। डा० जैन के अनुसार मध्य एशिया की फरात नदी की घाटी के ऊपरी भाग मे एक भारतीय उपनिवेश ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में विद्यमान था। लगभग पाच सौ वर्ष पश्चात् पोपग्रेगरी ने भयकर आक्रमण करके उसे ध्वस्त कर दिया था। अनुश्रुति है कि खेतान के उक्त भारतीय उपनिवेश की स्थापना का श्रेय मौर्य सम्राट अशोक के पुत्र राजकुमार कुणाल को है। वह राजकुमार जैन धर्मावलम्बी था और उसका ही पुत्र प्रसिद्ध जैन सम्राट सम्प्रति था। मध्य एशिया में सम्भवत. यह सर्वप्रथम भारतीय उपनिवेश था। फिर तो चौथी शती ई॰ के प्रारम्भ तक काशगर से लेकर चीन की सीमा पर्यन्त समस्त पूर्वी तुर्किस्तान का प्रायः पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था। उसके दक्षिणी भाग में शैलदेश (काशगर), चौक्कुक (यारकन्द), खोतग (खोतान), और चलन्द (शान-शान) नाम के तथा उत्तरी भाग में भरुक, कुचि, अग्नि देश और काओ चंग नाम के भारतीय संस्कृति के महान प्रसार केन्द्र थे। इन उपनिवेशों की स्थापना के पश्चात चौथी से सातवीं शताब्दी तक लगातार निर्ग्रन्थो तथा बौद्ध भिक्षुओं का आवागमन होता रहा है। कुछ जैन मूर्तियां एव अन्य जैन अवशेष भी वहां यत्र-तत्र प्राप्त हुए है। अनेक प्राच्यविदों एवं पुरातत्त्वज्ञों का मत है कि प्राचीन काल में जैनधर्म भी उन प्रदेशों में अवश्य पहुंचा था। तिव्वत, कपिशा (अफगानिस्तान), गान्धार (तक्षशिला और कन्दहार), ईरान, ईराक, अरब, तुर्की, मध्य एशिया आदि मे जैनधर्म के किसी-किसी रूप में पहुचने के चिन्ह प्राप्त होते है। इतना नही, चीन देश के "ताओ" आदि प्राचीन धर्मरूपो पर जैनधर्म का प्रभाव लक्षित होता है। चीन के उत्तरकालीन साहित्य पर जैन-धर्म की छाप तथा जैन प्रभाव के सूचक सकेत मिलते है। प्राचीन यूनान के पाइथागोरस एव एपोलोनियस जैसे शाका-हारी व आत्मवादी दार्शनिकों पर भी जैनधर्म का प्रभाव स्पष्ट रहा है और यह तब तक सभव नही है, जब तक वे किसी जैन साधु-सन्त के सम्पर्क मे न आए हो। इस प्रकार जैनधर्म की प्राचीनता व ऐतिहासिकता के सूत्र देश-देशांतरो मे कई रूपो में उपलब्ध होते है जिनका भलीभाति अध्ययन व विवेचन इस युग की मुख्य माग कही जा सकती है। □□

(पृ० ४ का शेषांश)

भाग में अनेक समूह सामिषहारी पाये जाते है, इतर धर्मों वाले नग्न जैन मुनियो के प्रति विरक्ति भी प्रदर्शित करते है, तथापि प्रायः सर्वत्र ही जैनधर्म, उसके अनुयायी एव धर्मायतन आदि अल्पाधिक पाये जाते रहे हैं। दिगम्बर मुनियों का प्राय. निर्बाध बिहार भी सर्वत्र होता रहा है। शुद्ध सात्विक अहिंसक जैन विचारधारा और जैनचर्या, विशेषकर जैन साधुओ की चर्या के नियमों की कठोरता अवश्य ही जिनधर्म के व्यापक प्रचार मे बाधक रही है, किन्तु सर्वोपरि कारण इतर परम्पराओं के अनुयायियों का धार्मिक विद्वेष तथा उनके सत्ताधारी प्रश्रयदाताओ द्वारा किए गए भीषण धार्मिक अत्याचार ही हैं। लका का वट्टगामिनी, पांड्यमदुरा का सम्बदर, पल्लवकांची का अय्यर और महेन्द्र वर्मन रामानुज के श्रीवैष्णव, वासव के लिंगायत या वीरशैव किस किसने जैनधर्म का उच्छेद करने के अमानुषिक प्रयास नही किए। अन्य विरोधी शक्तियां एवं विविध कारण भी कार्य करते रहे।

यों, लगभग ५० वर्ष पूर्व स्व. ब्र. सीतल प्रसाद जो लंका गये थे, वहां उन्होंने कुछ काल निवास भी किया था, और जैनधर्म एव दर्शन पर सार्वजनिक भाषण भी दिये थे। व्यापारार्थ भी छुट-पुट जैन वहां जाते-आते रहते है, शायद कुछ-एक वहां बस भी गये है। बौद्ध, ईसाई, मुसलमानों आदि जैसा मिशन से धर्म प्रचार तो जैनो मे प्रायः कभी रहा नही—वह उसकी प्रकृति के अनुकूल नही है। एक बौद्ध देश का पुरातत्त्व विभाग, वहा प्रतिद्वन्द्वी जैन-धर्म का कोई पुरातत्त्व मिलता भी है तो उसमे को दिल-चस्पी क्यो लेने लगा—उसके कार्यकर्त्ता ईमानदार भी हों तो अनभिज्ञता तथा जैन एवं बौद्ध परम्पराओ के अनेक सादृश्यों के कारण जैन पुरावशेषो को चीन्हना भी प्रायः दुष्कर है। फिर प्रायः गत २००० वर्ष मे ध्वस ही तो हुआ है, कोई भी जैन निर्माण शायद नही हुआ। जो जैन अवशेष रहे भी होगे, उन्हें बौद्ध मन्दिरो, विहारो आदि में तथा जनता द्वारा अपने भवनों आदि में इस्तेमाल कर लिया होगा। इसके अतिरिक्त, किसी विशेषज्ञ टीम द्वारा श्रीलंका का जैनावशेषो एव चिन्हो को खोजने के लिए कोई सर्वेक्षण भी नही हुआ है। इस दिशा मे कोई ठोस प्रयास किया जाय तो बहुत कुछ सामग्री मिलने की सम्भावना है। □□

गुप्त सम्राट् रामगुप्त जैनधर्मानुरागी था ?

☐ कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

गुप्तकाल प्राचीन भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। इस वश मे चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्र गुप्त, रामगुप्त (काचगुप्त) उसका भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त आदि बडे प्रतापी और बलशाली बुद्धिमान शासक हुए थे।

अकेले चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही अपने सैन्यबल एव बुद्धिकौशल से शको एव हूणो जैसे महान विजेताओं के दात खट्टे कर दिए थे। गुप्तकाल अपने साहित्य, सगीत, शिक्षा कला आदि की अभिवृद्धि के लिए इतिहास में विख्यात है।

इसी वश के सस्थापक सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र सम्राट समुद्रगुप्त के दो पुत्र हुए प्रथम रामगुप्त जो काचगुप्त के नाम से भी प्रसिद्ध था द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वितीय जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी चन्द्र गुप्त का बडा भाई रामगुप्त (काचगुप्त) था जिसे जन श्रुतियो ने इतिहास मे कायर और डरपोक प्रसिद्ध कर दिया और जो शकों से पराजित हो अपनी पत्नी ध्रु व स्वामिनी को शको को समर्पित करने के लिए तैयार हो गया था पर इसका अनुज चन्द्रगुप्त द्वितीय यह सब कुछ सहन न कर सका और उसने गुप्तवश की मर्यादा सरक्षण हेतु स्वय ध्रुवस्वामिनी का रूप धारण कर शकराज को पराजित किया था और अपने कुल की मर्यादा बचाई थी।

रामगुप्त को कायर और डरपोक सिद्ध करने के पीछे एक बड़ा भारी एतिहासिक षड्यन्त्र रहा है जो इतिहास के विद्वानो को अब अनुभव होने लगा है। क्योकि रामगुप्त की कायरता व डरपोकपने को सिद्ध करने के लिए अभी काई ठोस ऐतिहासिक अभिलेख उपलब्ध नही हुए है, सब से पहले ११ वी सदी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटककार श्री विशाखदत्त ने 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक लिखकर इस षड्यत्र को उभारा है। और राम गुप्त को पृष्ठ भूमि मे धकेल दिया।

यद्यपि आधुनिक प्रसिद्ध इतिहासकार डा0 अल्टेकर और डा0 मजूमदार ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "The Vakataka Gupta age" मैं स्पष्ट रूप से निषेध कर दिया है। कि जब तक इस तरह के कोई अभिलेखात्मक प्रमाण उपलब्ध नही हो जाते तब तक इस चर्चा को यही रोक दिया जावे। सच्चाई तो यह है कि श्री विशाखदत्त अपने चरित्रनायक चन्द्रगुप्त से इतने अधिक प्रभावित दिखाई देते है कि वे उसकी छवि की उज्जवलता तब तक नही उभार पाते हैं जब तक कि उसके अनुज की हीनता न प्रकट कर दें, इसीलिए साहित्य की ओट मे वे रामगुप्त को कायर और डरपोक लिख गए।

यथार्थता यह है कि जब देवी ध्रुवस्वामिनी का स्वयवर हुआ तो वह चन्द्रगुप्त द्वितीय पर आसक्त थी और उसी को वरण करना चाहती थी पर राजगद्दी पर उस समय रामगुप्त (काचगुप्त) विराजमान था, अतः उसका (ध्रुव देवी) विवाह राम गुप्त से कर दिया गया, बस इसी तीखातीखी मे रामगुप्त को बदनाम करने का अवसर मिल गया और कालान्तर मे 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के रूप मे विशाखदत्त इस ऐतिहासिक झूठ को तथ्य के प्रवंतक सिद्ध हुए। जिससे राम गुप्त हीन चरित्र और चन्द्रगुप्त द्वितीय श्रेष्ठ चरित्र वाला चित्रित हुआ और विवाह की ईर्ष्या से प्रज्जवलित चन्द्रगुप्त ने अपने अग्रज रामगुप्त (काचगुप्त) का बध कर दिया जिससे आगे के लिए कोई प्रमाण ही अविशिष्ट न रहें।

सन् १६५० मे विदिशा से प्राप्त सिक्को मे राम गुप्त का चित्र अकित है और उसे 'महाराजाधिराज' की पदवी से अलकृत किया गया है। सन् १६६५ में विदिशा के दुजना गांव मे बुलडोजर चलाते हुए जमीन से खुदाई में तीन तीर्थंकरो चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त और पद्म प्रभु की प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं यद्यपि इन प्रतिमाओं में लांछन (चिन्ह)

नहीं उकेरे जाते थे, चिन्ह उकेरने की परम्परा बाद मे प्रचलित हुई है। इन तीनों प्रतिमाओं की, जिनका मूल निम्न प्रकार है, महाराजाधिराज श्री रामगुप्त के उपदेश से गोलकान्त के पुत्र चेल ने सर्पसेन के शिष्य और उनके प्रशिष्य द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी :—तीनो मूर्ति लेख निम्न प्रकार है :—

श्री चन्द्रप्रभु की प्रतिमा

१. भगवतोऽर्हत: चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराज श्री रामगुप्तेन् उपदेशात् पाणिपात्रिक चन्द्रक्षमणाचार्य क्षमण श्रमण प्रशिष्याचार्य सर्पसेन क्षमण शिष्यस्य गोलक्यान्त्य सत्पुत्रस्य चेलक्षमणस्येति।

श्री पुष्पदन्त की प्रतिमा

२. भगवतोऽर्हत. पुष्पदन्तस्य प्रतिमेय कारिता महाराजाधिराज श्री रामगुप्तेन् उपदेशात् पाणिपात्रिक चन्द्रक्षमताचार्य क्षमण श्रमण प्रशिष्य ············ अपूर्ण।

श्री पद्मप्रभु की प्रतिमा

३. भगवतोऽर्हत: पद्मप्रभस्य प्रतिमेय कारिता महाराजाधिराज श्री राम गुप्तेन उपदेशात् पाणि पात्रिक······ अपूर्ण।

उपर्युक्त प्रमिमाए विदिशा के सग्रहालय मे सुरक्षति हैं।

उपर्युक्त तीनो मूर्ति लेखो की भाषा एक सी ही है केवल चन्द्र प्रभु भगवान के मूर्ति लेख को छोड़कर शेष दो लेख खन्डित हैं। पर यह सुनिश्चित है कि ये प्रतिमाएं महाराजाधिराज रामगुप्त के उपदेश से प्रतिष्ठत कराई गई थीं इससे सम्राट रामगुप्त का जैन धर्म के प्रति अनुराग और सद्भाव स्पष्ट प्रतीत होता है। हो सकता है जैनधर्म के प्रति अनुराग की यह भावना वंश परम्परा मे ही चली आ रही हो।

उपर्युक्त तथ्यो से सम्राट रामगुप्त की हीनता एव कायरता का सर्वथा निषेध हो जाता है। यह तो कोई राजनैतिक या ऐतिहासिक षड्यन्त्र रहा है जिसने रामगुप्त की छबि धूमिल कर दी और यह षड्यत्र ११ वी सदी के बाद प्रचलित हुआ जिसे परवर्ती विद्वानो ने आंख मीचकर स्वीकार लिया। ११ वी सदी से पूर्व ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता है और अब विदिशा से प्राप्त मूर्तियो एव सिक्को से इस षड्यत्र का सर्वथा भडाफोड़ ही हो जाता है और रामगुप्त एक श्रेष्ठ गुप्त सम्राट सिद्ध होता है। निष्पक्ष इतिहासकारों को इस तथ्य की पुष्टि कर प्राचीन षड्यन्त्र का सर्वथा निराकरण करना कराना चाहिए। इतिहास मे प्राय. भूलें प्रचलित हो जाती है जो कालान्तर मे स्पष्ट प्रमाण मिलने पर सुधार ली जाती है। अत. इन भूल को भी सुधारना चाहिए।

विश्वासनगर-शाहदरा
दिल्ली-११००३२

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरयागज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री रत्नत्रयधारी जैन, ८ जनपथ लेन, नई दिल्ली
राष्ट्रीयता—भारतीय
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक
सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं रत्नत्रयधारी जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

रत्नत्रयधारी जैन
प्रकाशक

क्षणभंगवाद और अनेकान्त

□ अशोककुमार जैन एम० ए०, शास्त्री

क्षणभंगवाद बौद्धदर्शन का सबसे बड़ा सिद्धान्त है। संसार के समस्त पदार्थ क्षणिक हैं वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, विश्व मे कुछ भी स्थिर नही है, चारो ओर परिवर्तन ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, हमें अपने शरीर पर ही विश्वास नही है, जीवन का कोई ठिकाना नही है, इत्यादि भावनाओ के कारण क्षणभगवाद का आविर्भाव हुआ है। वैसे तो प्रत्येक दर्शन (भग) नाश को मानता है, किन्तु बौद्ध दर्शन की यह विशेषता है कि कोई भी वस्तु एक क्षण ही ठहरती है और दूसरे क्षण मे वह वही नही रहती, किन्तु दूसरी हो जाती है अर्थात् वस्तु का प्रत्येक क्षण मे स्वाभाविक नाश होता रहता है। तर्क के आधार पर क्षणिकत्व की सिद्धि इस प्रकार की गई है—'सर्वं क्षणिकं सत्वात्' अर्थात् सब पदार्थ क्षणिक है, सत् होने से। सत् वह है जो अर्थ क्रिया (कुछ काम) करे।[1] बौद्ध कह रहे हैं कि इस ढंग की कई व्याप्तियां बनी हुई है कि जो जो सत् है वे सभी क्षणिक हैं अर्थात् नित्य नही है अथवा जो जो सत् है वह सभी प्रकारों करके एक दूसरे से विलक्षण हैं अर्थात् कोई भी किसी के सदृश नही है। उससे अतिरिक्त अन्य स्थानों में सतपने का व्याघात हो जाने से अर्थ क्रिया की क्षति है। सम्पूर्ण सत् पदार्थ क्षण मे समूल चूल नाश हो जाना स्वभाव वाले है यानी एक क्षण मे ही उत्पन्न होकर आत्मलाभ करते हुए द्वितीय क्षण में बिना कारण ही ध्वंस को प्राप्त हो जाते हैं तथा प्रतिक्षण नवीन-नवीन उत्पन्न हो रहे पदार्थ सर्व ही प्रकारों से परस्पर मे विलक्षण है। कोई किसी के सदृश नही। सूर्य चन्द्रमा, आत्मा, सर्वज्ञप्रत्यक्ष, परमात्मा आदि पदार्थों के भी उत्तर-उत्तर होने वाले असंख्य परिणाम सदृश नही हैं, विभिन्न है, इस प्रकार बौद्ध मानते हैं।[2] अब यह देखना है कि अर्थ क्रिया नित्य पदार्थ में हो सकती है या नही। बौद्ध दर्शन का कहना कि नित्य वस्तु में अर्थ क्रिया हो ही नही सकती क्यों कि नित्य वस्तु न तो युगपद् अर्थ क्रिया करती है और न क्रम से। नित्य वस्तु यदि युगपद् अर्थ क्रिया करती है तो संसार के समस्त पदार्थों को एक साथ, एक समय में ही उत्पन्न हो जाना चाहिए और ऐसा होने पर आगे के समय में नित्य वस्तु को कुछ भी काम करने को शेष नही बचेगा। अत. वह अर्थ क्रिया के अभाव मे अवस्तु हो जायगी। इस प्रकार नित्य मे युगपद् अर्थ क्रिया नही बनती है। नित्य वस्तु क्रम से भी अर्थ क्रिया नही कर सकती तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सहकारी कारण उसमे कुछ विशेषता उत्पन्न करते है या नही ? यदि सहकारी कारण नित्य में कुछ विशेषता उत्पन्न करते है तो वह नित्य नहीं रह सकती और यदि सहकारी कारण नित्य में कुछ भी विशेषता उत्पन्न नही करते तो सहकारी कारणो के मिलने पर भी वह पहले की तरह कार्य नहीं कर सकेगी। दूसरी बात यह भी है कि नित्य स्वयं समर्थ है अतः उसे सहकारी कारणो की कोई अपेक्षा भी नही होगी फिर क्यों न वह एक समय मे ही सब काम कर देगी। इस प्रकार नित्य पदार्थ मे न तो युगपद् अर्थ क्रिया हो सकती है और न क्रम से। अर्थ क्रिया के अभाव मे वह सत् भी नही कहला सकता इसलिए जो सत् है वह नियम से क्षणिक हैं। क्षणिक ही अर्थ क्रिया कर सकता है। यही क्षणभगवाद है। क्षणभग के कारण ही बौद्धदर्शन विनाश को निर्हेतुक मानता है। प्रत्येक क्षण मे विनाश स्वतः होता है किसी दूसरे के द्वारा नही।[3] घट का जो विनाश दण्ड के द्वारा होता हुआ देखा जाता है वह घट का विनाश नही, किन्तु कपाल की उत्पत्ति है।[4]

उत्तरपक्ष—बौद्धो के अनुसार सर्वपदार्थ क्षणिक है कोई भी पदार्थ दो क्षण नही ठहरता, एक क्षण ही पदार्थ का अस्तित्व रहता है। इस प्रकार का अनित्यत्वैकान्त प्रत्यक्ष से सिद्ध नही होता है। प्रत्यक्ष से तो स्थिर अर्थ

की प्रतिपत्ति होती है बौद्ध यदि अनित्यत्वैकान्त की सिद्धि अनुमान से करना चाहें तो बौद्धों के यहां अनुमान भी नहीं बन सकता है। साध्य और साधन में अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान होने पर साधन के ज्ञान से जो साध्य का ज्ञान होता है वह नुअमान है। धूम साधन है और वह्नि साध्य है। उनमें असा ज्ञान करना कि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां वह्नि होती है और जहां वह्नि नही होती वहां धूम भी नही होता इस प्रकार के ज्ञान का नाम अविनाभाव का ज्ञान है। धूम और वह्नि में अविनाभाव का ज्ञान हो जाने पर पर्वत में धूम को देखकर वह्नि का ज्ञान करना अनुमान है किन्तु बौद्धों के यहां अविनाभाव का ज्ञान किसी प्रमाण से नही हो सकता है। प्रत्यक्ष से तो साध्य और साधन में अविनाभाव का ज्ञान हो नही सकता क्यो कि बौद्ध प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) मानते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा अविनाभाव का ज्ञान कैसे संभव हो सकता है। जो किसी बात का निश्चय ही नहीं करता। वह अविनयभाव को कैसे जानेगा। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद एक सविकल्पक प्रत्यक्ष भी होता है जिसको बौद्ध भ्रान्त मानते हैं। वह भी अविनयभाव का ज्ञान नहीं कर सकता। क्योंकि उसका विषय भी वही है जो निर्विकल्पक का विषय है जब निर्विकल्पक अविनाभाव को नहीं जानता है तो सविकल्पक को कैसे जान सकता है। दूसरी बात यह भी हैं कि प्रत्यक्ष पास के अर्थ को ही जानता है। उसमें इतनी समर्थ्य नहीं है कि वह संसार के समस्त साध्य ओर साधनों का ज्ञान कर सके अत: प्रत्यक्ष के द्वारा अविनाभाव का ज्ञान सभव नही है।

अनुमान के द्वारा भी अविनाभाव का ज्ञान संभव नही है 'पर्वतोऽयं वह्निमान धूमवत्वात्' इस अनुभान मे जो अविनाभाव है उसका ज्ञान इसी अनुमान से होगा या दूसरे अनुमान से यदि दूसरे अनुमान से इस अनुमान के अविनाभाव का ज्ञान होगा तो दूसरे अनुमान में अविनयभाव का ज्ञान तीसरे से और तीसरे में अविनाभाव का ज्ञान चौथे अनुमान से होगा इस प्रकार अनवस्था दूषण आ जाता है। यदि इसी अनुमान से इस अज्ञान के अविनाभाव का ज्ञान किया जाता है तो ऐसा मानने में अन्योन्याश्रय दोष आता है क्योंकि अविनाभाव का ज्ञान हो जाने पर अनुमान होगा और अनुमान के उत्पन्न होने पर अविनाभाव का ज्ञान होगा। इस प्रकार बौद्धों के यहां किसी भी प्रमाण से अविनाभाव का ज्ञान न हो सकने के कारण अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता है इसलिए अनुमान प्रमाण से भी अनित्यत्वैकान्त की सिद्धि नही होती है।[1]

क्षणिकात्मवाद मे हेतु बनता ही नहीं है क्योंकि हेतु को यदि सत् रूप माना जाय—सत् रूप ही पूर्वचित्तक्षण उत्तरचित्तक्षण का हेतु है ऐसा स्वीकार किया जाय तो इससे विभव का प्रसंग आता है अर्थात् एकक्षणवर्ती चित्त में चित्तान्तर की उत्पत्ति होने पर उस चित्तान्तर के कार्य की भी उसी क्षण उत्पत्ति होगी और इस तरह सकलचित्त और चैत्तक्षणो के एकक्षणवर्ती हो जाने पर सकल जगत व्यापी चित्त प्रकारो की युगपत् सिद्धि ठहरेगी और ऐसा होने से जिसे क्षणिक कहा जाता है वह विभुत्व रूप ही है, सर्व व्यापक ही है यह कैसे निवारण किया जा सकता है। इसके सिवाय एकक्षणवर्ती सत् चित्त के पूर्वकाल तथा उत्तरकाल मे जगत चित्तशून्य ठहरता है और सन्तान निर्वाणरूप जो विभवमोक्ष है वह सबके अनुपाय (बिना प्रयत्न के ही) सिद्ध होता है और इसलिए सत् हेतु नही बनता (इस दोष से बचने के लिए) यदि हेतु को असत् ही कहा जाय तो अकस्मात् विना किसी कारण के ही) कार्योत्पत्ति का प्रसग आयेगा और इसलिए असत् हेतु भी नही बनता।[1] यदि पदार्थ को प्रलयस्वभावरूप आकस्मिक माना जाय—यह कहा जाय कि जिस प्रकार बौद्ध मतानुसार बिना किसी दूसरे कारण के ही प्रलय (विनाश) आकस्मिक होता है, पदार्थ प्रलयस्वभावरूप है उसी प्रकार कार्य का उत्पादन भी बिना कारण के ही आकस्मिक होता है तो इससे कृतकर्म के भोग का प्रणाश ठहरेगा—पूर्वचित्त न जो शुभ अथवा अशुभ कर्म किये उसके फल का भोगी वह न रहेगा और इससे किये हुए कर्म को करने वाले के लिए निष्फल कहना होगा और अकृत कर्म के फल को भोगने का प्रसग आयगा जिस उत्तरभावी चित्त ने कर्म किया ही नही उसे अपने पूर्वचित्त द्वारा किये हुये कर्म का फल भोगना पड़ेगा क्योंकि क्षणिकात्मवाद मे कोई भी कर्म का कर्ता चित्त उत्तरक्षण में अवस्थित नहीं रहता किन्तु फल

की परम्परा चलती है। साथ ही कर्म भी असंचेतित-अविचारित ठहरेगा, क्योंकि जिस चित्त ने कार्य करने का विचार किया उसका उसी क्षण निरन्वय विनाश हो जाने से और विचार न करने वाले उत्तरवर्ती चित्त के द्वारा उसके सम्पन्न होने से उसे उत्तरवर्ती चित्त का अविचारित कार्य ही कहना होगा। पदार्थ के प्रलय स्वभावरूप क्षणिक होने पर कोई मार्ग भी युक्त नही रहेगा।[7] क्षणिक एक चित्त में बन्ध और मोक्ष भी नही बनते।[8] शास्ता और शिष्यादि के स्वभाव-स्वरूप की भी कोई व्यवस्था नहीं बनती।[9]

बौद्धों की यह कल्पना भी उचित नही जान पड़ती कि अनेक वस्तुयें एक ही कार्य को जन्म देने में समर्थ हैं क्योंकि इन अनेक वस्तुओं में अनेकता रहती है जब कि इस अनेकता का प्रस्तुत कार्यगत एकता के साथ विरोध है। कारण सामग्री की अगभूत सभी वस्तुओं पर निर्भर रहते हुए अस्तित्व में आने वाला कार्य एक कैसे कहा जा सकता है क्योंकि एक वस्तु वह होती है जिसमे एक स्वभावता रहती है जब कि अनेक वस्तुओ से उत्पन्न होने वाली वस्तु में एकस्वभावता रह नहीं सकती। कारण-सामग्री की अंगभूत वस्तुएँ अनेक इसीलिए हैं कि उनके स्वभाव परस्पर भिन्न हैं ऐसी दशा में इन्हीं (अनेक) वस्तुओं की सामर्थ्य के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली वस्तु एकरूप कैसे हो सकती है। जो कार्य एकवस्तु की सामर्थ्य के फलस्वरूप उत्पन्न होता है वह किसी दूसरी वस्तु से भी उत्पन्न हो यह संभव नही; क्योंकि उस दशा में उक्त दो वस्तुयें परस्पर अभिन्न हो जायेंगी और यदि ये वस्तुयें परस्पर भिन्न रहेंगी तो यह कार्य भी दो रूपों वाला हो जाएगा। किन्हीं वस्तुओं के सम्बन्ध में यह कहना कि किसी कार्य विशेष को जन्म देने में वे सभी समर्थ हैं तभी युक्तसंगत है जब इनमे से प्रत्येक वस्तु उक्त कार्य को जन्म देने में समर्थ हो क्योंकि सबकी सामर्थ्य 'प्रत्येक की सामर्थ्य' के बिना सभव नही। दो वस्तुओं को एक ही ज्ञान का विषय बनाये बिना उनके बीच कार्यकारणभाव की कल्पना करना युक्तिसगत नहीं लेकिन बौद्धों के अनुसार दो वस्तुएँ एक ही ज्ञान का विषय हो नहीं सकती। एक ही क्षण तक ठहरने वाले और अंशो से रहित निरात्म भाव में भी क्रम और यौगपद्य नहीं ठहरते हैं तथा अपने अर्थ क्रिया भी नही होती है अर्थात् कूटस्थ के समान निःस्वभाव क्षणिक पदार्थ मे भी क्रम और यौगपद्य तथा अर्थक्रिया का होना विरुद्ध हो रहे हैं क्योंकि ये अनेकधर्मात्मक पदार्थ में पाये जाते हैं जिस कारण वह बौद्धों का सत्व हेतु विपक्ष में वृत्ति होने से अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है अर्थात् एकान्त साध्यवाद से विपरीत में वृत्ति कर रहा वह हेतु विरुद्ध है।

सभी प्रकार मूल से ही दूसरे क्षण मे नाश होने वाले पदार्थ मे वास्तविक रूप से क्रम और अक्रम नही बनते हैं। क्रम तो कालान्तरस्थायी पदार्थ मे बनता है और अक्रम यानी एक साथ कई कार्यों का करना भी कुछ देर तक ठहरने वाले पदार्थ मे सम्भवता है। तिस कारण अक्रम के असम्भव होने पर ज्ञानमात्र हो जाना इस अपनी निज की अर्थक्रिया की भी भला कैसे व्यवस्था हो सकेगी? जिससे कि उस सर्वथा क्षणिक से निवृत्ति को प्राप्त हो रहा सत्ता सत्व हेतु अनेकान्तस्वरूप कथंचित् क्षणिक पदार्थ मे स्थिति को प्राप्त करके उस क्षणिकपन से विरुद्ध नहीं होता।[10] सत्व हेतु से कथचित् क्षणिकपन और न्यारे-न्यारे पदार्थों में कथंचित् सदृशपना सिद्ध हो जाने से निर्वाध हो गई सदृशपन और एकपन को विषय करने वाली प्रत्यभिज्ञा नाम की प्रतीति पदार्थों के सर्वथा नित्यपन अथवा क्षणिकपन के एकान्त को नष्ट कर देती है और पदार्थों को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणाम का साधन करा देती है। ऐसे अनेकान्तरूप और परिणामी उस पदार्थ में भला वह प्रत्यभिज्ञान कैसे नही होगा? अर्थात् अवश्य होगा। परिणाम नही होने वाले कूटस्थ और निरंश एकान्त क्षणिक पदार्थों की सिद्धि नही हो सकी है। कथंचित् नित्य, परिणामी, अनेकधर्मात्मक वस्तुभूत अर्थ मे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का विषयपना है।[11]

निकट जैन मन्दिर, बिजनौर (उ० प्र०)

संदर्भ-सूची

१. अर्थ क्रिया सामर्थ्य लक्षणत्वाद् वस्तुनः ।
—न्यायविन्दु पृ० १७

२. यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं सर्वथैव विलक्षणं ।
ततोऽन्यत्र प्रतीघातात्मत्वस्यार्थक्रियाक्षते: ।।
अर्थक्रिया क्षतिस्तत्रक्रमवृत्तिविरोधत: ।
तद्विरोधस्ततो नं शस्यान्यापेक्षा विघातत: ।।
इतीय व्यापका दृष्टिर्नित्यत्वं हंति वस्तुन: ।
सादृश्यं च तत: संज्ञा बाधिकेत्यपि दुर्घटम् ।।
क्षणप्रध्वंसिन: संत: सर्वथैव विलक्षण: ।
इति व्याप्तेरसिद्धत्वाद्वप्रकृष्टार्थशकिनाम् ।।
तत्वार्थ श्लोक वार्तिकाल्कार, तृ० खंड पृ० २३०-३२

३. तस्मादनश्वरत्वे कदाचिदपि नाशायोगात्, दृष्टत्वाच्च नाशस्य, नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरुपजातमङ्गी कर्तव्यम् । तस्मादुत्पन्नमात्रमेव विनश्यति उत्पत्ति क्षण एवं सत्वात् । —तर्कभाषा पृ० १६

४. प्रो० उदयचन्द जैन : आप्तमीमांसा-तत्वदीपिका पृ० ३८ ।

५. प्रो० उदयचन्द जैन : आप्तमीमांसा तत्वदीपिका पृ० ८६-६० ।

६. नैवास्ति हेतु: क्षणिकात्मवादे,
न सन्नमन्वा विभवादकस्मात् ।
नाशोदयैकक्षणता च दुष्टा,
सन्तान-भिन्न क्षणयोरभावात् ।।
—युक्त्यनुशासन १३

७. कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगौ स्याताम-
सञ्चेतितकर्म च स्यात् ।
आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे मार्गो न
युक्ती वधकश्च न स्यात् ।।
—युक्त्यनुशासन १४

८. वही—१५

६. वही—१७

१०. प्रभूतानां च नैकत्र साध्वी सामर्थ्यकल्पना ।
तेषां प्रभूत भावेन तदेकत्व विरोधत: ।।
तान शेषान् प्रतीत्येह भवदेकं कथं भवेत् ।
एकस्वभावमेकं यत् तत्तु नानेकभावत: ।।
यतो भिन्नस्वभावत्वे सति तेषामनेकत: ।
तावत् सामर्थ्यजत्वे च कुतस्तस्यकरूपता ।।
यज्जायते प्रतीत्यैक सामर्थ्य नान्यतो हि तत् ।
तयोरभिन्नतापत्तेर्भेदे भेदस्तयोरपि ।।
प्रत्येकं तस्य सद्भावे युक्तायुक्तएवभावता ।
न हि तत्सर्वं सामर्थ्यं तत्प्रत्येकत्ववर्जितम् ।।
उभयोर्ग्रहणभावे न तथाभावकल्पनम् ।
तयोर्न्याय्य न चैकेन द्वयोर्ग्रहणमस्ति व ।।
हरिभद्र : शास्त्रवार्तासमुच्चय ३०६, ३०७, ३०८, ३०६, ३११, ३२१ ।

११. क्षणिकेऽपि विरुध्येते भावेनशे क्रमाक्रमौ ।
स्वार्थ क्रिया च सत्वं च ततोऽनेकान्तवृत्तितत् ।।७०।।
तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार पृ० २३३-३४ तृ० खड

१२ निर्हंति सर्वथैकांतं साध्येत्परिणामिन ।
भवेत्तम न भावे तत्प्रत्यभिज्ञा कथंचन् ।।७१।।
तत्वार्थ श्लोक वार्तिकालंकार पृ० २३४ खण्ड

मेरा यह दृढ़तम विश्वास हो गया है कि धनिक वर्ग ने पंडित वर्ग को बिल्कुल ही पराजित कर दिया है। यदि उनको कोई बात अपनी प्रकृति के अनुकूल न रुचे तब वे शीघ्र ही शास्त्र विहित पदार्थ को भी अन्यथा कहलाने की चेष्टा करते हैं।

—वर्णीवाणी २०-६-१९५१

गतांक से आगे :

आचार्य कुन्दकुन्द की जैन दर्शन को देन

□ डा० लालचन्द जैन, वैशाली

४. आत्मा के तीन भेद : बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—

आचार्य कुन्दकुन्द के मोक्खपाहुड़ (मोक्षप्राभृत) मे आत्मा के तीन भेद उपलब्ध होते हैं —बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।[1] आत्मा के इस प्रकार के भेद कुन्दकुन्दाचार्य के पूर्ववर्ती जैन वाङ्मय मे दृष्टि गोचर नही होते है। अतः यह भी उनकी एक अभूतपूर्व देन है। कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तरवर्ती आचार्यो ने इनका अनुकरण कर आत्मा के उपर्युक्त भेदो का विवेचन किया है।[2]

बहिरात्मा का स्वरूप—इन्द्रियों को आत्मा मानना बहिरात्मा है। बाह्य पदार्थों में जिसका मन आसक्त है, इन्द्रियरूपी द्वार से जो अपने स्वरूप से भ्रष्ट (च्युत) हो गया है, जो अपने शरीर को आत्मा मानता है और उसका ध्यान करता है, ऐसा मूढ़ दृष्टि वाला बहिरात्मा कहलाता है।[3] जो आवश्यक कर्म से रहित है, अन्त र्जल्प और बाह्यजल्प मे वर्तता है और ध्यान रहित है वह बहिरात्मा है।[4]

अन्तरात्मा—जो आत्मा का सकल्प करता है, आवश्यक कर्म से युक्त, जो जल्पो मे वर्तता है, धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान मे परिणत है वह अन्तरात्मा कहलाता है।

परमात्मा—जो आत्मा कर्म कलक से विमुक्त है, मैल शरीर और इन्द्रियो से रहित है, केवलज्ञानमय है, विशुद्ध है, परमपद मे स्थित है, परम जिन है, मोक्ष देने वाला अविनाशी सिद्ध है,[5] समस्त दोषों से रहित है, केवल ज्ञान आदि परम वैभव से युक्त है परमात्मा कहलाता है।[6] परमात्मा ज्ञानी, शिव, परमेष्ठि, सर्वज्ञ, विष्णु चतुर्मुख तथा बुद्ध भी कहलाता है।[7] परमतत्त्व जन्म, जरा और मरण से रहित है, उत्कृष्ट, अष्टकर्मों से वर्जित, शुद्ध ज्ञानादि चार गुण रूप स्वभाव वाला, अक्षय, अविनाशी, अछेद्य, अव्याबाध, अनिन्द्रिय, अनुपम, पाप-पुण्य से युक्त, पुनरागमन से रहित, नित्य, अचल और अनालम्ब है।[8] आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्व आत्मा के उपर्युक्त तीन भेदों का निरूपण आचारांगादि अग साहित्य मे भी उपलब्ध नही होता है।

५. त्रिविध चेतना

आत्मा चेतना रूप है अर्थात् चेतना आत्मा का स्वरूप है। चेतना को अनुभूति, उपलब्धि और वेदना भी कहते हैं आचार्य कुन्दकुन्द ने तीन प्रकार की चेतना का उल्लेख किया है। चेतना के इस प्रकार के भेदो का उल्लेख अर्धमागधी आगम मे उपलब्ध नही है। आचार्य ने बतलाया है कि आत्मा परिणामी है और वह चेतना रूप परिणमन करता है।[9] इस दृष्टि से चेतना निम्नांकित तीन प्रकार की है।[10]—

१) ज्ञान चेतना, २) कर्म चेतना, और ३) कर्मफल चेतना।

स्व-पर भेदपूर्वक जीवादि पदार्थों को जानना अर्थात् ज्ञानभाव रूप परिणमन करना ज्ञान चेतना है। आत्मा ने (शुभ-अशुभ कार्य करते समय) जो भाव किए है वह भावकर्म है, जो अनेक प्रकार के हैं। इसे कर्म चेतना कहते हैं, कर्मजन्य सुख-दुख का अनुभव करना कर्मफल चेतना है।[11]

चेतना की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवराशि उपर्युक्त तीन भागों मे विभाजित है।[12] जिनके ज्ञानावरणादि समस्त कर्म नष्ट हो गये है और जो प्रमुख रूप से ज्ञानरूप परिणमन करते हैं उनके ज्ञानचेतना होती है। यह चेतना केवलज्ञानी और सिद्धों के होती है।

जो जीव प्रमुख रूप से केवल कर्म-फलो का अनुभव करते हैं वे कर्म-फल चेतना युक्त जीव कहलाते हैं। पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीवों के कर्मफल चेतना होती है। दो इन्द्रियादि त्रस जीवो के कर्मचेतना होती है।

६. उपयोगवाद

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार में उपयोग सिद्धान्त का जो विवेचन मिलता है वह आचारांगादि आगमों में दृष्टिगोचर नहीं होता है। चेतना की परिणति विशेष उपयोग कहलाता है। उपयोग चैतन्य को छोडकर अन्यत्र नही रहता इसलिए उपयोग चैतन्य का अन्वयी परिणाम कहलाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने आगम ग्रन्थों की तरह आत्मा को उपयोग स्वरूप और ज्ञान-दर्शन रूप बतलाया है। लेकिन आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के परिणमन की अपेक्षा उपयोग के तीन भेद बतलाये है[१]— (१) अशुभोपयोग, (२) शुभोपयोग, (३) शुद्धोपयोग। पचास्तिकाय और भाव पाहुड़ मे उन्होंने बतलाया है कि भाव तीन प्रकार के होते है—(१) शुभ, (२) अशुभ और (३) शुद्ध।[१४]

शुभ अशुभ अनुष्ठानों के करने से क्रमश. शुभ भाव और अशुभ भाव होते हैं। जब आत्मा शुभ और अशुभ अनुष्ठानो के विकल्पों से रहित निर्विकल्प रूप हो जाता है तो उसके शुद्ध भाव होता है। अत: शुभ भाव रूप से परिणमन करने से आत्मा शुभोपयोगी, अशुभ भाव से युक्त होने से अशुभोपयोग वाला और शुद्ध भावो से युक्त होने से आत्मा शुद्धोपयोगी कहलाता हैं।[१५] शुभ, अशुभ और शुद्ध रूप अनुष्ठान करने से होने वाले शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के स्वरूप, उनके फल और हेय-उपादेय का सूक्ष्म और विशद विवेचन प्रवचनसार में उपलब्ध है।

१. शुभोपयोग

प्रशस्त राग शुभ भाव कहलाता है। पचास्तिकाय में अरहन्त सिद्ध और साधुओ मे भक्ति रखना शुभ राग रूप धर्म में प्रवृत्ति होना तथा गुरुओं के अनुकूल चलना प्रशस्त राग कहा है।[१६] अत. प्रशस्तराग से युक्त होना शुभोपयोग कहलाता है। प्रवचनसार में उन्होंने शुभोपयोग का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करना, दान देना, अहिंसादि पांच महाव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत का निर्दोष रूप से पालन करना, उपवास आदि करना शुभोपयोग कहलाता है।[१७] ज्ञेयाधिकार में भी कहा हैं कि जो अरहन्त को जानता है, सिद्धों तथा अनगारों अर्थात् मुनियों के प्रति श्रद्धा करता है और जीवों में अनुकम्पा रखता है उसके शुभोपयोग होता है।[१८] यह उपयोग चतुर्थ-गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक के जीवों के तारतम्यरूप से होता है। शुभोपयोग से पुण्य का संचय होता है।

शुभोपयोग का फल

शुभोपयोग के प्रभाव से शुभोपयोगी जीव उत्तम तिर्यंच उत्तम मनुष्य तथा उत्तम देव होता है और आयु पर्यन्त अनेक प्रकार के उत्तम सुखों को भोगता है।[१९] आचार्य ने यह भी कहा कि शुभोपयोग से युक्त आत्मा को स्वर्ग के सुखों की प्राप्ति होती है।[२०]

अशुभोपयोग

अशुभोपयोग अशुभ-भावो अर्थात् मोह, द्वेष और अप्रशस्तराग से होता है। इन्द्रिय विषय स्पर्शनादि और क्रोधादि कषाय मे परिणत होना, मिथ्या शास्त्र सुनना, पर के लिए इष्ट काम भोग की चिन्ता से युक्त होना, दुष्टों की संगत करना, और दुचर्या करना अर्थात् परनिन्दा करना, हिंसादि पाप करने मे उग्र होना और उन्मार्गी होना अर्थात् सर्वज्ञ कथित मार्ग से उल्टे मार्ग को अपनाना अशुभोपयोग कहलाता है।[२१]

अशुभोपयोग अशुभ परिणामो से होता है। अत: यह पाप का कारण है।[२२] अशुभोपयोग से युक्त आत्मा कुमनुष्य तिर्यंच और नारकी होकर अनन्त दुखो से दुखित होकर ससार में भ्रमण करता रहता है।[२३] प्रवचनसार के टीकाकार के अनुसार मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र के गुणस्थानों के जीवो के अशुभोपयोग होता है।[२४]

शुभोपयोग और अशुभोपयोग में अन्तर

अशुभोपयोग और शुभोपयोग दोनो अशुद्ध परिणामो से होते है इसलिए ये दोनों अशुद्धोपयोग कहलाते हैं। लेकिन शुभोपयोग पुण्य का कारण है और इससे इन्द्र, नरेन्द्र चक्रवर्ती एव स्वर्गों के सुखो तक उपलब्धि हो सकती है। क्योकि शुभोपयोग शुभ अनुष्ठानों से होता है। अत: व्यवहार नय की अपेक्षा धर्म है। इसलिए शुभोपयोग उपादेय है। इसके विपरीत अशुभोपयोग अशुभ अशुभ अनुष्ठानों के करने से होता है। इसलिए यह एक मात्र दु:ख का कारण है। व्यवहार नय की दृष्टि से भी धर्म का अंश न होने के कारण सर्वथा हेय है।[२५]

शुद्धोपयोग

अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित रहना शुद्धोपयोग है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग से रहित निर्विकल्प स्थिति शुद्धोपयोगी की है। जिस समय जीव पर-पदार्थों में न राग करता है और न द्वेष करता है अर्थात् उससे सर्वथा उदासीन हो जाता है।[२६] और निर्विकल्प होकर शुद्ध आत्मा का चिन्तन करने लगता है। यह मोह-क्षोभ-विहीन आत्मा की साम्य अवस्था ही शुद्धोपयोग है। कहा भी है—"अशुभ-योग से रहित और शुभोपयोग में राग न रखने वाला (अशुभयोग और शुभोपयोग से रहित) और शुभ एवं अशुभ पदार्थों में मध्यस्थ स्व-पर-विवेकी जीव ज्ञान स्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।"[२७]

शुद्धोपयोग को पद्मनन्दि ने साम्य, स्वस्वास्थ्य, समाधि योग, चित्तनिरोध कहा है।[२८] जयसेन ने प्रवचनसार की *तात्पर्य-वृत्ति* में उत्सर्ग मार्ग, निश्चय नय, सर्वपरित्याग, संयम, वीतराग चारित्र और शुद्धोपयोग को एकार्थक कहा है।[२९] अतः शुद्धोपयोगी वह कहलाता है जिसने समस्त शास्त्रों का भलीभाँतिपूर्वक अध्ययन कर लिया है, संयम और तप से युक्त है, वीतराग है और सुख-दुःख में समभाव रखता है।[३०]

शुद्धोपयोग का फल

शुद्धोपयोग युक्त आत्मा को निर्वाण का सुख मिलता है। क्योंकि शुद्धोपयोग पुण्य-पाप का कारण नहीं हैं। निर्वाण सुख की विशेषता है कि वह सातिशय, आत्म-जन्य, विषयातीत, अनुपमेय, अनन्त और निरन्तर बाधा-रहित होता हैं।

शुद्धोपयोग अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान से क्षीण कषाय नामक बारहवें गुण-स्थान तक के जीवों के तारतम्य रूप से होता है। संयोग केवली और अयोगकेवलीजिन होना शुद्धोपयोग का फल है। शुद्धोपयोग के प्रभाव से आत्मा के ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से शुद्धोपयोगी के केवलज्ञान हो जाता है। अतः वह केवली कहलाने लगता है। केवली तीन कालवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों को जानने लगता है इसलिए वह सर्वज्ञ कहलाने लगता है।[३१]

शुद्धोपयोग ही उपादेय है

यद्यपि अशुभोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग उपादेय है। लेकिन शुभोपयोग भी संसार का कारणभूत होने के कारण शुभोपयोग भी छोड़ने योग्य है। शुभोपयोग पुण्य उत्पन्न करता है, पुण्य सोने की बेड़ी के समान है, जो जीव को बन्धन में बांधता है।[३२] अतः यह मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है।[३३] अशुभोपयोग की तरह शुभोपयोग से भी स्वाभाविक सुख की प्राप्ति नहीं होती। इसके विपरीत शुभोप-योगजन्य सुख इन्द्रियजन्य, पराधीन, बाधायुक्त, कर्म-बन्धन का कारण, क्षयिक और विषम होने से दुःख रूप ही होता है।[३४] शुभोपयोगी विषयों में तृष्णा रखता हुआ उनमें रमण करते हैं। विषय-जन्य सुखाभास है सुख नहीं। अतः मनुष्य, तिर्यंच, नारकी और देव सभी देहजन्य दुःखों से पीड़ित रहते हैं।[३५] अतः शुभोपयोग भी अशुभोपयोग की तरह त्यागने योग्य है शुद्धोपयोग से शरीरजन्य दुःख नहीं होते हैं और स्वाभाविक सुख मिलता है, संवर एवं मोक्ष का साक्षात् कारण है।[३६] इसलिए यह उपादेय है। यही कारण है कि आचार्य ने संसारी जीवों को शुद्धोपयोग ग्रहण करने की प्रेरणा दी है।

ज्ञान-विमर्श

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में ज्ञान मीमांसा बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानी गई है। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में ज्ञान जीव का स्वरूप, स्वभाव और सार बतलाया गया है।[३७] जो जानता है वह ज्ञान है। ज्ञान के द्वारा ही समस्त पदार्थों को जान सकते हैं। पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर ही मोक्षमार्ग के लक्षभूत शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो सकती है।[३८] ज्ञान सर्वव्यापक[३९] स्व-पर प्रकाशक रूप कहा गया है।

ज्ञान के भेद

आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्धज्ञान केवलज्ञान को प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य बतलाया है। यह सामान्य ज्ञान कर्म की अपेक्षा आठ प्रकार का बतलाया है—

आभिनिबोध, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुत और विभंगज्ञान।[४०]

स्वभाव ज्ञान और विभावज्ञान

अर्धमागधी आगमों में स्वभावज्ञान और विभावज्ञान

की चर्चा उपलब्ध नही है। ज्ञान को स्वभावज्ञान और विभावज्ञान इन दो निकायो में विभाजित कर जैनदर्शन को अपूर्व चिन्तन प्रदान किया है।[४१] प्रवचनसार मे जिस केवल ज्ञान को क्षायिकज्ञान कहा गया है वही नियमसार में स्वभावज्ञान है। विभाव ज्ञान को पुन. दो भागों में विभाजित किया है—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान।[४२]

सम्यग्ज्ञान

आचार्य ने संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कह कर मति आदि चार ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान बतलाया है।[४३]

मिथ्याज्ञान

मिथ्याज्ञान अज्ञान रूप होता है। इसके तीन भेद किए गए हैं[४४]—कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान।

परोक्ष और प्रत्यक्षज्ञान

आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान का विभाजन प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से भी किया है। उन्होंने इन्द्रियो और प्रकाश को पर कह कर इनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा है।[४५] नियमसार में आचार्य कहते हैं कि जो अनेक प्रकार के गुण-पर्यायों से युक्त समस्त द्रव्यो को नही देखता है वह उसे परोक्ष दृष्टि कहते है।[४६] इस विभाजन के अन्तर्गत मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को रखा गया हैं।

जो ज्ञान आत्मा से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है।[४७] आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि मूर्त, अमूर्त चेतन, अचेतन एवं स्व और पर द्रव्यो को देखने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष और अतीन्द्रियज्ञान कहलाता है।[४८] प्रवचनसार[४९] में भी यही कहा गया है। प्रत्यक्षज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष के अन्तर्गत केवल ज्ञान को ही रखा गया है।

(घ) ज्ञान की स्व पर प्रकाशता

ज्ञान स्व-प्रकाशक है या पर प्रकाशक या स्व-पर प्रकाशक है इसका समाधान अर्धमागधी आगम में उपलब्ध नही है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक स्वरूप बतलाकर उपर्युक्त शंका का समाधान नियमसार में किया है। यह उनकी अभूतपूर्व देन मानी गई है।

उन्होंने कहा कि ज्ञान को पर-प्रकाशक और दर्शन को स्व-प्रकाशक मानकर आत्मा को स्व-पर प्रकाशक मानना ठीक नही है।[५०] क्योकि ऐसी मान्यता मे निम्नांकित दोष आते हैं—

१—ज्ञान को परप्रकाशक और दर्शन को स्वप्रकाशक मानने से ज्ञान और दर्शन भिन्न-भिन्न हो जायेगे। क्योंकि दर्शन पर-द्रव्य को नही जानेगा।[५१]

२—दूसरा दोष यह है कि दर्शन आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा क्योंकि आत्मा पर का भी प्रकाशक है लेकिन दर्शन पर-प्रकाशक नही है।[५२]

३—जैन धर्म मे ज्ञान-दर्शन और आत्मा भिन्न नही है। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञान पर-प्रकाशक है, इसलिए दर्शन और आत्मा भी पर-प्रकाशक है।[५३] निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञान स्व-प्रकाशक है, इसलिए आत्मा और दर्शन भी स्वप्रकाशक है।[५४] यदि यह माना जाय कि ज्ञान लोक-अलोक ज्ञेय को जानता है और स्वद्रव्य आत्मा को नही जानतां, तो ऐसा कहना ठीक नही है।[५५] क्योकि ज्ञान जीव का स्वरूप है इसलिए वह आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो ज्ञान आत्मा से भिन्न हो जाएगा। आत्मा ज्ञान है औरज्ञान आत्मा है इसलिए ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है।[५६]

(ङ) ज्ञान से जानने का तात्पर्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने इस बात की निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा व्याख्या की है कि ज्ञान से ज्ञेय को जानने का तात्पर्य क्या है ?

ज्ञानी और ज्ञेय में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है

आचार्य ने बतलाया है कि ज्ञानी (आत्मा) ज्ञान स्वरूप है और अर्थ ज्ञेय स्वरूप है। अर्थात् स्वरूप की अपेक्षा दोनो भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र है। जिस प्रकार चक्षु-मूर्तिक पदार्थों से अलग रहकर उन्हे जान लेती है अर्थात् चक्षु न तो मूर्तिक पदार्थो मे प्रविष्ट होती है और न मूर्तिक पदार्थ चक्षु मे घुसते है। दोनों स्वतन्त्र रहते हैं।[५७] फिर भी चक्षु उन मूर्तिक पदार्थों को जान लेता है और मूर्तिक पदार्थ अपने स्वरूप को जना देते हैं। उसी प्रकार ज्ञानी और ज्ञेय दोनो के स्वतन्त्र रहने पर भी ज्ञानी पदार्थो अर्थात् ज्ञेयो मे घुसे बिना भी उन्हे जान लेता है और ज्ञेय ज्ञानी में प्रविष्ट हुए

बिना अपने को जना देते हैं। इस प्रकार निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञेय और ज्ञानी दोनों स्वतन्त्र हैं और उनमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है।

व्यवहार से ज्ञान पदार्थों में है

व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानी ज्ञेयों में प्रविष्ट होता है। ज्ञेयों में ज्ञानी उसी प्रकार रहता है जैसे पदार्थों मे दृष्टि रहती है। इस बात को उदाहरण देकर समझाया गया है। जिस प्रकार दूध में नीलमणि रत्न डालने से वह अपनी प्रतिमा से अर्थात् नीली आभा से दूध के रूप को ढक करके उसे नीला कर देता है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय पदार्थों मे रहता है।[५८] कहने का तात्पर्य यह है कि दूध में नीलमणि स्वय व्याप्त नही होता फिर भी वह दूध उसकी नील आभा के कारण नीला हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान वास्तव में ज्ञेय मे नही होता है फिर भी अपनी विचित्र ज्ञायक शक्ति से पदार्थों को जान लेता है इसलिए कहा जाता है कि ज्ञेय अर्थात् पदार्थों मे ज्ञान है।

ज्ञेय ज्ञान में रहता है

जिस प्रकार व्यवहार नय से ज्ञान पदार्थों मे रहता है उसी प्रकार यह भी मानना चाहिए कि ज्ञान मे पदार्थ रहते हैं। यदि पदार्थ ज्ञान मे नही रहता है, ऐसा माना जाय तो ज्ञान सर्वव्यापक कैसे कहा जायेगा? चूकि ज्ञान सर्वव्यापक है, ज्ञेय लोक-अलोक है, इसलिए अर्थ ज्ञान मे रहते हैं, यह सिद्ध है।[५९]

दर्शन

दर्शन का सामान्य अर्थ देखना होता है।[६०] पचास्तिकाय में जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है।[६१]

स्वभाव और विभाव दर्शन

नियमसार में दर्शन का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है[६२]—

१ — स्वभाव दर्शन—केवलदर्शन

२—विभाव दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षु एवं अवधि-दर्शन।

ज्ञान दर्शन का यौगपद्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने केवली के ज्ञान और दर्शन को यौगपद्य होना बतलाया है। नियमसार मे वे कहते है कि जिस प्रकार सूर्य का ताप और प्रकाश एक साथ होता है उसी प्रकार केवलज्ञानी का ज्ञान और दर्शन एक साथ होता है।

आचार्य सिद्धसेन ने इस सिद्धान्त की तार्किक रूप से सम्पुष्टि की है।

सर्वज्ञता का सिद्धान्त

सर्वज्ञता की जो व्याख्या प्रवचनसार में कुन्दकुन्द ने की वह इनके पूर्व किसी भी अर्धमागधी आगम में दृष्टि-गोचर नही होती है। जीव या आत्मा स्वभाव से ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान उसका स्वाभाविक गुण है इसलिए वह ज्ञाता कहलाता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान आत्मा से अभिन्न है। इसलिए आत्मा को ज्ञाता कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ज्ञान आत्मा से भिन्न है और ज्ञान के संयोग से वह ज्ञाता हो जाता है।[६३] आत्मा स्वभाव से ज्ञाता होता है। ज्ञान गुण आत्मा ही है और यह आत्मा के बिना अन्यत्र नही रहता। इसलिए ज्ञान आत्मा है। लेकिन आत्मा ज्ञान गुण स्वरूप एवं अन्य सुखादि गुण रूप भी है।[६४] आत्मा ज्ञान प्रमाण है[६५] उससे कम या अधिक नही है। यदि आत्मा को ज्ञान के बराबर न माना जाय तो आत्मा को उससे कम या अधिक मानना पड़ेगा। यदि ज्ञान आत्मा से कम है; ऐसा माना जाय तो ज्ञान अचेतन हो जाएगा और वह कुछ भी नही जान सकेगा। यदि ऐसी मान्यता हो कि आत्मा ज्ञान से बडा है तो आत्मा ज्ञान के बिना कुछ नही जान सकेगा।[६६] इसलिए सिद्ध है कि ज्ञान आत्मा का अभिन्न स्वाभाविक गुण है। इसलिए आत्मा स्वभाव से ज्ञाता है। वह दीपक की तरह स्वय और पर-पदार्थों को जानता है।

लेकिन अनादि काल से यह जीव पुद्गल कर्मों से मलीन है।[६७] इसलिए उसकी स्वाभाविक ज्ञान शक्ति रुक जाती है, अत: उसकी स्वाभाविक शक्ति का प्रकाश रुक जाता है। सांसारिक जीव स्वय प्रतिगुणस्थान प्रयत्न करता हुआ बारहवें गुण स्थान में घातिया कर्म-ज्ञानावरण, दर्शनावरण अन्तराय और मोहनीय रूपी रज को सर्वथा समूल नष्ट कर देता है तो वह समस्त पदार्थों को जानने लगता है।[६८] तब वह अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त करके स्वयं ही सर्वज्ञ, सम्पूर्ण लोक के अधिपतियों का पूज्य स्वयम्भू हो जाता है।[६९] घातिया कर्मों के नाश हो जाने से उसके

अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन रूप तेज के प्रकट हो जाने से अतीन्द्रिय होता हुआ ज्ञान और सुख रूप परिणमन करने लगता है।[८०] सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रियाधीन न होने के कारण और स्वयं आत्मजन्य होने के कारण केवली अतीन्द्रिय कहलाने लगता है। केवलज्ञान अतीत, अनागत और वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त द्रव्यों की पर्यायों को जानता है इसलिए उसके कुछ भी परोक्ष नही होता है।[८१] अतीन्द्रियज्ञान सप्रदेशी, अप्रदेशी, मूर्त, अमूर्त अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायों को जानता है।[८२] सर्वज्ञ का ज्ञान क्षायिक कहलाता है क्योंकि वह कर्मों के क्षय से होता है। इसलिए कुन्दकुन्द ने कहा है कि सर्वज्ञ का क्षायिक ज्ञान त्रिकालवर्ती द्रव्यों और उनकी पर्यायों को एक साथ जानता है।[८३] यदि वह तीन लोक में स्थित त्रैकालिक द्रव्यो और उनकी पर्यायों को युगपद न जानकर क्रमशः जाने तो सर्वज्ञ एक द्रव्य को भी उसकी समस्त पर्यायों सहित नही जान सकेगा[८४] जो अनन्त पर्यायों सहित एक (आत्मा) द्रव्य को नहीं जानता है तो वह अनन्त द्रव्य को युगपत कैसे जानेगा ? अर्थात् वह सर्वज्ञ कैसे कहलायेगा ?[८५] दूसरी बात यह भी है कि यदि सर्वज्ञ का ज्ञान अर्थों की अपेक्षा करके क्रमः उत्पन्न होता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि कोई ज्ञान नित्य, क्षायिक और सर्व-विषयक (सर्वगत) नहीं हो सकेगा[८६] सर्वज्ञ के ज्ञान का माहात्म्य यही है कि वह तीन लोक में स्थित त्रिकालवर्ती विभिन्न प्रकार के समस्त पदार्थों को सदैव एक साथ जानता है।[८७]

सर्वज्ञ समस्त द्रव्यों की भूतकालीन, भविष्यत-कालीन और वर्तमान-कालीन पर्यायों को भेद सहित वर्तमान-कालीन पर्यायों की तरह स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष ही जान लेता है।[८८] सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता तो यही है कि वह उत्पन्न और विनष्ट पर्यायो को प्रत्यक्ष रूप से जान लेता है।[८९]

पुद्गल द्रव्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने पुद्गल द्रव्य का विवेचन पंचास्तिकाय, नियमसार और प्रवचनसार मे किया है। उनका द्रव्य विवेचन अभूतपूर्व है। पुद्गल को उत्तराध्ययन की तरह स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाला मूर्तिक कहा है।[९०] तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी ने भी पुदगल का लक्षण यही कहा है। पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्द ने बादर और सूक्ष्म रूप से परिणमन करने वाले स्कन्ध को पुद्गल कहा है। अर्थात् बढ़ने और घटने का नाम पुद्गल है। लेकिन नियम सार में पुद्गल की व्याख्या निश्चय और व्यवहार-नय के द्वारा की गई है। उनका मत है कि निश्चयनय की दृष्टि से परमाणु ही पुद्गलद्रव्य द्रव्य कहलाता है और व्यवहार-नय की अपेक्षा स्कन्ध पुद्गलद्रव्य कहलाता है।[९१] पुद्गल की यह व्याख्या किसी भी अर्धमागधी आगम में उपलब्ध नही है।

पुद्गल की पर्याय

आचार्य ने पुद्गल की दो पर्यायें बतलाई हैं—स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। परमाणु का अन्य निरपेक्ष परिणमन स्वभाव पर्याय कहलाती है और परमाणु का स्कन्ध रूप परिणमन विभाव पर्याय है।[९३]

पुद्गल के भेद

पंचास्तिकाय मे पुद्गल के निम्नकित चार भेद बतलाये गये हैं—[९४]

१. स्कन्ध (खंध)—अनन्त समस्त परमाणुओं का पिंड।
२. स्कंध देश (खंधदेसा)—स्कन्ध का आधा भाग।
३. स्कन्धप्रदेश (खधपदेसा)—स्कन्ध का चौथाई भाग।
४. परमाणु (परमाणु)—अविभागी।

नियमसार ८५ में पुद्गल दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) स्कन्ध और (२) परमाणु।

पुद्गल स्कन्ध

आचार्य ने पुद्गल स्कन्ध छह प्रकार का बतलाया है[९५]—

१. अतिस्थूलस्थूल (अइथूलथूल)—पृथ्वी, पर्वत आदि जो तोड़ने पर टूट जाएं लेकिन पुनः मिलाने पर मिल न सकें।
२. स्थूल (थूल)—घी, जल, तेल आदि जो काटने पर भी स्वयं आपस में मिल जायें।
३. स्थूलसूक्ष्म—छाया, आतप आदि जो देखने में स्थूल लगें किन्तु जिन्हें पकड़ा, काट ना जा सके।
४. सूक्ष्म स्थूल—चक्षु इन्द्रिय के अलावा शेष चार इन्द्रियों के विषय—रस गंध, स्पर्श और शब्द।

सूक्ष्म—कर्मवर्गणा रूप होने योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं जिन्हें इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

६. अति सूक्ष्म—कर्मवर्गणा रूप न होने योग्य स्कन्ध अति सूक्ष्म हैं।

परमाणु सिद्धान्त

आचार्य कुन्दकुन्द का परमाणु-सिद्धान्त भी अनुपम हैं। नियमसार[७], प्रवचनसार[८] और पंचास्तिकाय[९] में परमाणु का स्वरूप निम्नांकित बतलाया गया है—

१. जिसका आप ही आदि, आप ही मध्य है और आप ही अन्त है, वह परमाणु कहलाता है।
२. जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नही किया जाता है।
३. जो अविभागी है।[१०]
४. स्कन्धों का अन्तिम अश (भाग) परमाणुं है।[११]
५. परमाणु शाश्वत (नित्य) है।
६. अशब्द है, लेकिन शब्द का कारण है।[१२]
७. परमाणु एक प्रदेशी अर्थात् प्रदेश मात्र है।
८. परमाणु मूर्तिक है।
९. परमाणु अप्रदेशी है।
१०. परमाणु में स्निग्ध और रूक्ष गुण होते हैं।[१३]
११. परमाणु में एक रस, एक गध, एक रूप और दो स्पर्श होते हैं। ऐसा परमाणु स्वभाव गुण वाला परमाणु कहलाता है।[१४]
१२. द्वयणुक में अनेक रसादि वाला परमाणु विभाग गुण वाला कहलाता है।
१३. परमाणु पृथ्वी आदि चार धातुओं का कारण और कार्य है।[१५]
१४. परमाणु परिणामी है। तात्पर्य यह है कि स्पर्शादि गुण के भेदों से षट्गुणी हानि-वृद्धि होती रहती है।
१५. परमाणु नित्य है।
१६. पराणु अनवकाशी नही है अर्थात् परमाणु वर्णादि गुणो को अवकाश देता है।
१७. परमाणु सावकाशी नहीं है अर्थात् दो आदि प्रदेश वाला नहीं होने से उसमें जगह नहीं है।
१८. एक प्रदेश से ही स्कन्धों का भेदक है।
१९. स्कन्धों का कर्ता है।
२०. परमाणु काल और संख्या का भेद करने वाला है।[१६]
२१. स्कन्ध से भिन्न है।
२२. स्निग्ध और रूक्ष गुणो के कारण एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर दो-तीन प्रदेश वाला हो जाता है।
२३. परमाणु परिणमन स्वभाव होने से उसके स्निग्ध और रूक्ष एक अविभावी प्रतिच्छेद से लेकर बढ़ते-बढ़ते अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद वाले तक हो जाते हैं।[१७]
२४. परमाणु के स्निग्ध गुण हो अथवा रूक्ष गुण हों, समान संख्यक (दो, चार, छह आदि) अथवा विषम संख्यक (तीन, पांच, आदि) गुण वाले परमाणुओं में से दो गुण अधिक होने पर दोनों परमाणुओं का आपस में बध होता है। लेकिन एक स्निग्ध अथवा एक रूक्ष गुण वाले परमाणु का किसी परमाणु के साथ बन्ध नही होता है।[१८]

आचार्य कुन्दकुन्द के पाहुडों में निहित तत्त्व मीमांसा और ज्ञानमीमांसा के कतिपय मूलभूत सिद्धान्तो का सक्षिप्त विवेचन किया। आचारांग आदि विद्यमान अर्धमागधी आगमो मे उपर्युक्त सिद्धान्त दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द की जैन दर्शन को एक अनुपम देन कही जा सकती है। निबन्ध का कलेवर बढ़ जाने के भय से यहा उनके द्वारा प्रतिपादित आचार मीमांसा का विवेचन नही प्रस्तुत कर सका हू। आचार्य कुन्दकुन्द के उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने उनके सिद्धान्तो का पोषण और संवर्धन किया है।

सन्दर्भ-सूची

१. मोक्खपाहुड़, गा० ४
२. (क) पूज्यपादाचार्य . समाधिसतक।
(ख) शुभचन्द्र : ज्ञानार्णव, अधिकार ३२
(ग) योगेन्दु : परमात्म प्रकाश, १।११ इत्यादि
३. मो० पा०, गा० ५, ८-११
४. नि० सा०, गा० १४९-१५१
५. मो० पा०, गा० ५-६
६. नि० सा०, गा० ७
७. णाणी सिव परमेष्ठी सव्वण्हू चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं॥
भावपाहुड, गा० १५०
८. नियमसार, गा० १७६-७७
९. अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
प्र० सा०, २।३३

१०. परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥
प्र० सा० २।३१

११. णाणं अट्ठवियप्पो कम्म······। प्र० सा०, २।३२

१२. पं० का०, गा० ३८-३९

१३. प्रवचनसार ज्ञेयतत्वाधिकार, गा० ६३

१४. भावपाहुड़, गा० ७६ । और भी द्रष्टव्य—पं० का० गा० १३१-२३६

१५. जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहा असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥
प्र० सा०, ज्ञानाधिकार, गा० ९

१६. पं० का ९, गा० १३६

१७. प्र० सा०, ज्ञानाधिकार, गा० ६९

१८. प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वाधिकार, गा० ६ण

१९. जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो वा देवो वा ।
भूदो तावदि कालं वहदि सुहं इंदियं विविहं ॥
वही, १।७०

२०. पावदि—सुहावजुत्तो वा सग्गसुहं ॥ वही, १।११

२१. विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मलगपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥
प्र० सा०, गा २।६६

२२. असुहो वा तध पावं । वही, गा० २।३४

२३. वही, गा० १।१२

२४. जयसेनाचार्य, प्र० सा० तात्पर्यटीका, गा० ९, पृ० ९-१०

२५. ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति । अमृतचन्द्रसूरि : प्र० सा० तत्वप्रदीपिका वृत्ति, गा० १२, पृ० १३

२६. एवं विदियत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा उवओगविसुद्धो । प्र० सा०, गा० १।७८

२७. वही, २।६७ । और भी द्रष्टव्य गा० ६८-८०

२८. पंच विंशतिका, गा० ४।६४

२९. प्र० सा० तात्पर्यवृत्ति टीका, ३।३०, पृ० २८७

३०. प्र० सा० १।१४

३१. प्र० सा०, गा १।१५-२१

३२. समयसार, गा० १४५-४६

३३. विस्तृत रूप से द्रष्टव्य पंचास्तिकाय, गा० १७५-१७१

३४. सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदियेहिं लद्धं तंसोक्ख दुक्खोव तत् ॥प्र० स०,
गा० १।७६

३५. द्रष्टव्य, प्र० सा०, १।७१-७७

३६. क–उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ।
ख– सुद्धेण लहइ सिद्धिं···। बारसाणुपेक्खा । गा० २४ एवं ६४
ग– वही, गा० १।२०

३७. (क) जीव सहावं णाणं···। प० का०, गा० १५४
(ख) णाणं णरस्य सारो···। दर्शन पाहुड, गा० ३१
(ग) णाणं पुरिसस्स हवदि···। बोध पाहुड़, गा० २१

३८. (क) जो जाणदि सो णाणं—। प्र० सा० ३।३५
(ख) णाणेंण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं । बोध पाहुड,
(ग) णाणेण लहदि लक्खं मोक्खमग्गस्स । वही, २१

३९. द्रष्टव्य प्र० सा० ज्ञानाधिकार

४०. पंचा० काय, गा० ४१

४१. नियमसार; गा०, ११

४२. वही, गा० १९

४३. वही, गा० ११

४४. वही, गा० ११

४ण. प्रवचनसार, १।५८

४६. नियमसार, गा० १६८

४७. प्रवचनसार, गा० १।५८

४८. नियमसार, गा० १७९

४९. प्रवचनसार, गा० १।५४, ५०-६०

५०. नि० सा०, गा० १६१

५१. वही, गा० १६२

५२. (क) वही, गा० १७३

५३. (ख) वही, गा० १६४

५४ वही, गा० १६५

५५. वही, गा० १६९

५६ णाणं जीवसरुव तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा ।
अप्पाण ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं ॥
अप्पाण विणु णाण णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो ।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ।
वही, गा० १७०,७१

५७. प्र० सा०, गा० १।२८
५८. वही, गा० १।२६-३०
५६. जदि ते ण संति णाणे ण होदि सव्वगय।
सव्वगय वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अटठा।
प्र० सा० १।३०
६०. ज पिच्छइ त च दसण भणिय। चरित्त पा०, गा० ३
६१. सम्मत्तसद्दहणं—। प० का० गा० १०७
६२. नियमसार, गा० १३-१४
६३. ……ण हवदि णाणेण जाणगो आदा। प्र० सा०
६४. णाणं अप्प त्ति मद वट्ठदि णाणविणा ण अप्पाण।
तम्हा णाण अप्पा अप्पा णाण व अण्ण वा॥
वही, गा० १।२७
६५. आदा णाणपमाण …। वही, गा० १।२३
६६. वही, गा० १।२४-२६
६७. वही, गा० २।२६
६८. उवओग विसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सममेवादा जादि परणेयभूदाण। प्र० मा० १।१५
६६. तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयभु त्ति णिद्दिट्ठो॥वही, १।१६
७०. पक्खीणघादिकम्मो अणंनवखीरिओ अधिक नेजो।
जादो अदिंदिओ सो णाणसोक्ख च परिणमदि॥
वही, गा० १।१६
७१. वही, गा० १।२२
७२. वही, गा० १।४१
७३. प्र० सा० १।४७
७४. वही, गा० १।४८
७५. वही, गा० १।४६
७६. वही, गा० १।५०
७७. वही, गा० १।५१
७८. वही, गा० १।३७-३८
७६. वही, गा० १।३६
८०. प्र० सार, गा २,४०। तुलना करें—उत्तराध्ययन सूत्र, २८।१२
८१. पंचास्तिकाय, गा० ७६
८२. नियमसार, गा० २६
८३. वही, गा० २८
८४. पचास्तिकाय, गा० ७४-७५, एवं गा० ७६
८५ वही, गा० २०
८६. (क) नियमसार, गा० २१-२४, (ख) प० काय—गा० ७६
८७. गा० २५-२७
८८. गा० २।७१
८६. गा० ७७-७१
६०. नियमसार, गा० २६
६१. प० का०, गा० ७७
६२. वही, गा० ८१
६३. प्रवचनसार, गा० २।७१
६४. द्रष्टव्य—नियमसार, गा० २७, प० काय, गा० ८१
६५. नियमसार, गा० २५ एव प० काय, गा० ७८
६६. प० का०, गा० ८०
६७. प्रवचनसार, गा० २।७२
६८. णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणमा समा वा विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरहीणा।
णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुहवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु वज्झदि पचगुणजुत्तो॥
वही, गा० २।७३-७४

(पृष्ठ २८ का शेषांश)

के प्रकाशन मे श्वे० समाज से कही आश्वासन मिल गया होगा और वे ऐसा कर गये पर सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य प्रकाशन हुआ दिगम्बर समिति द्वारा, **दिगंबरों ने ही दि० मान्यताओं पर कुठाराघात किया।**

इस प्रकार यदि यही स्थिति रही तो भविष्य में दिगम्बरत्व का क्या होगा? क्या कभी किसी ने इस प्रश्न पर गंभीरता से चिन्तन मनन एवं विचार विमर्श किया है मेरा आशय किसी वर्ग विशेष से राग द्वेष का नही है मैं तो इतिहास का विद्यार्थी हूं और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही मेरी यह कल्पना है कि आगामी हजार पांच सौ वर्षों में दिगम्बरत्व का सर्वथा लोप हो जावेगा और श्वेताम्बरत्व ही जैनधर्म रह जावेगा और दिगम्बरत्व का उतना विशाल वाङ्मय सर्वथा उपेक्षणीय हो जावेगा। आज भी विदेशों में जैन धर्म के नाम पर श्वेताम्बरत्व का ही प्रचार हो रहा है दिगम्बरी परम्पराओं, मान्यताओं, विवेचनाओं, गवेषणाओं एव सिद्धान्तों से लोग सर्वथा अपरिचत हैं, इसमें किसी का दोष नही है इम सबके लिए सम्पूर्ण दिगम्बर समाज उत्तरदायी है। समय रहते यदि इस ओर ध्यान न दिया गया तो दिगम्बरत्व सर्वथा लुप्त हो जावेगा। आज बा० जुगलकिशोर जी मुख्त्यार बा० छोटेलाल जी प्रभृति महानुभाव होते तो वे इस शिथिलाचार को किञ्चिन्मात्र भी सहन न करते और डके की चोट से इन सबकी बखिया उधेड़ देते। पर आज के जैन पत्रकार, जिनका कार्य शिथिलाचार को रोकने के लिए समाज को इस दिशा में प्रेरित करना होना चाहिए था, वे स्वयं किसी न किसी खेमेबाद का शिकार हैं और शिथिलाचार का पोषण कर रहे हैं।

अस्तु—

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।

जैनधर्म-दर्शन में आराधक की अवधारणा

□ डा० गुलाबचन्द जैन

आराधक का चरम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति होता है[१] इसके लिए वह जीवन पर्यन्त सतत साधना करता है। आचार्य वट्टकेर ने इसके स्वरूप को बतलाते हुए लिखा है—आराधक निर्मोह, अहकार रहित, क्रोधादिक कषायों से दूर पचेन्द्रियो का निग्रह करने वाला, परीषहादिक को सम्मान पूर्वक सहन करने वाला तथा सम्यग्दर्शन से युक्त होता है इन गुणों से युक्त होकर वह समाधि पूर्वक प्राणों का त्याग करता है।[२] आ० देवसेन के अनुसार—जो पुरुष कषायों से रहित हो, भव्य सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान का धारक, वाह्य व आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित हो, ससार के सुख से पराङमुख, विरागी, औपशमिक सम्यग्दर्शन का धारक हो, सभी तपों का तपनेवाला, आत्म स्वभाव में लीन, पर पदार्थों से जायमान सुख से रहित और रागद्वेष से विनिर्मुक्त हो वह मरणपर्यन्त अराधक कहा जाता है।[३] ओघनिर्युक्ति में लिखा है जो पांचो इन्द्रियों से गुप्त हैं अर्थात् उन्हे अपने आधोन रखता है, मन आदि तीनो करणो मे सावधान है, तथा तप, नियम व सयम में सलग्न है, वह आराधक कहलाता है।[४]

भेद :—दर्शन, ज्ञान, चारित्र ओर तप इन चार प्रकार की आराधनाओ के भेद से आराधक के भी चार भेद हो जाते है।[५] जो इस प्रकार है :—

(१) **दर्शनाराधक**—उपशम तथा वेदक सम्यग्दर्शन के पात्र निर्मल परिणाम वाले तथा उनके योग्य गुणो वाले जीव सम्यकत्व (दर्शन) के आराधक होते हैं।

(२) **ज्ञानाराधक**—मति आदि छद्मस्थ ज्ञान युक्त तथा उनके योग्य गुण वाले तथा सुविशुद्ध परिणाम वाले ज्ञानाराधक कहलाते हैं।

(३) **चारित्राराधक**—देश विरत आदि नष्ट कषाय वाले, बढ़ती हुई शुभ लेश्या वाले तथा शील गुण से विभाजित चारित्राराधक कहलाते है।

(४) **तपाराधक**—देश विरत आदि नष्ट कषाय वाले अपने अनुरूप उत्तम आचरण वाले, शुद्ध चित्त युक्त तपाराधक कहलाते हैं।

जो आराधक कषाय रहित, जितेन्द्रिय निर्भय व चारित्राचरण करने मे तत्पर है उनका प्रात्यख्यान सुख पूर्वक सम्पन्न होता है। इस प्रकार जो आराधक शरीर त्याग के काल में प्रत्याख्यान करता है उसकी आहारादिक चार संज्ञाओं में विल्कुल अभिलाषा नहीं रहती है। धैर्यवान ऐसे उस क्षपक को आराधना का उत्तम फल अर्थात मोक्ष प्राप्त होता है।[६]

लेश्या के आश्रय से आराधक के भेद—

लेश्या की दृष्टि से आराधक के उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन भेद होते है[७]—

उत्कृष्टाराधक—जो क्षपक शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अंश रूप से परिणत होकर मरण करता है वह नियम से उत्कृष्ट आराधक होता है। क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चरित्र और क्षायोपशमिक ज्ञान की आराधना करके क्षीण मोह होता है और वह बारहवां गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह होने के पश्चात् अर्हन्त होता है।

मध्यमाराधक—शुक्ल लेश्या के शेष मध्यम और जघन्य अंश तथा पद्मलेश्या के उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंश रूप से परिणित होकर मरण करने बाला क्षपक मध्यम आराधक होता है।

जघन्याराधक—तेजोलेश्या के अंश रूप से परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है।

जो क्षपक जिस लेश्यारूप से परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेश्यावाले स्वर्ग में उसी लेश्यावाला ही देव होता है। जो पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या को भी छोड़कर लेश्या रहित अयोग अवस्था को प्राप्त होता

है वह सम्पूर्ण केवल ज्ञान और केवल दर्शन से युक्त होकर आयु का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त करता है। वह समस्त कर्म लेर के चले जाने से विशुद्ध होता है तथा समस्त क्लेशों से छूट जाता हैं।[७]

समाधि का इच्छुक, निर्यापकाचार्य की खोज में जाता हुआ क्षपक निम्न चार कारणों से भी आराधक होता है[८]—

१. 'मन, वचन, काय के विकल्परूप रत्नत्रय में लगे अतिचारों को, आलोचना के दोषों को त्यागकर मैं सम्यग् रूप से गुरु से निवेदन करूंगा' ऐसा संकल्प करके जो गुरुके समीप जाने के लिए निकला है, यदि वह मार्ग मे ही अपनी बोलने की शक्ति खो बैठे तो वह आराधक होता है।
२. अपने दोषो की आलोचना करने का संकल्प करके जो गुरु के पास जाने को लिए निकला है वह यदि मार्ग में ही मरण को प्राप्त हो जाए, तो वह आराधक होता है।
३. अपने दोषो की आलोचना करने का संकल्प करके जो गुरु के पास जाने को निकला है, यदि आचार्य बोलने मे असमर्थ हों तो भी वह आराधक है।
४. जो गुरु के सन्मुख अपना अपराध निवेदन करने के लिए निकला है, यदि आचार्य मरण को प्राप्त हो जाए, तो भी वह आराधक है।

आराधक क्षपक को प्रसंशा—क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाला जीव चरित्र मोहनीय का अन्तरकरण कर लेने पर क्षपक कहलाता है।[९] धवला में लिखा है जो जीव कर्म क्षपण में व्यापार करते है उन्हें क्षपक कहते हैं।[१०] ऐसे क्षपक जिन्होंने संघ के मध्य में प्रतिज्ञा करके चार प्रकार आराधना रूप की पताका को ग्रहण किया है वे शूरवीर और पूज्य हैं। जिन्होंने भगवती आराधना का पूरी तरह से पालन किया वे पुण्यशाली और ज्ञानी हैं और उन्होंने जो प्राप्त करने योग्य था, उसे प्राप्त कर लिया। जिन्होंने सम्पूर्ण भगवती आराधना का आराधन किया उन महानुभावों ने लोक में क्या नहीं प्राप्त किया अर्थात् प्राप्त करने योग्य सब प्राप्त कर लिया।[११]

क्षपक की तीर्थ से उपमा—क्षपक एक तीर्थ हैं क्योंकि संसार से पार उतारने में निमित्त है। उसमें स्नान करने से पाप कर्म रूपी मल दूर होता है। अतः जो दर्शक समस्त आदर भक्ति के साथ उस महातीर्थ में स्नान करते हैं वे भी कृतकृत्य होते हैं। तथा वे सौभाग्य शाली हैं। यदि तपस्वियों के द्वारा सेवित पहाड़ नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप की राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यों नही है। यदि प्राचीन प्रतिमाओ की वन्दना करने वालों को पुण्य होता है तो क्षपक की वन्दना करने वालों को विपुल पुण्य क्यों नही प्राप्त होगा? जो तीव्र भक्ति पूर्वक क्षपक की सेवा करता है उसकी भी सम्पूर्ण आराधना सफल होती है।[१२]

अध्यापक, शा० उ० मा० विद्यालय
छोटे डोंगर, बस्तर (म० प्र०)
पिन ४९४-६६१

संदर्भ-सूची

१. मूलाचार २।६०३
२. आराधनासार १७।१६
३. ओघनिर्युक्ति ३८१, पृ० २५०
४. आराधना समुच्चय २२०-२२५
५. मूलाचार २।१०४-१०५
६. भगवती आराधना १९१२-१९१५ जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर संस्करण
७. वही १९१६-१९१७
८. भगवती आराधना ४०५-४०६
९. कसाय पाहुड़ ११, १८।पृ० ३४७
१०. धवला १।१, १, २७।पृ० २२४
११. भगवती आराधना १९९५-१९९७
१२. वही २०००-२००३

बीज में वृक्ष की संभावना

□ वक्ता, श्री बाबूलाल जैन

संसार मे जितनी आत्माएं हैं, चैतन्य है, वे सब परमात्मा बनने के बीज हैं। सब आत्माओं में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। यह सबसे बड़ी स्वतन्त्रता है यह सबसे बड़ी महान् स्वतन्त्रता की घोषणा है कि हरेक व्यक्ति ही नहीं, हरेक जीवात्मा मे परमात्मा बनने का उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। वह परमात्मा बन सकता है वह God-खुदा-परब्रह्म भगवान, परमात्मा बन सकता है उससे कुछ भी कम रहने की बात नही है। अगर कुछ भी कम रहने की बात रही तो आत्मा फिर एक जाति की नही दो जाति की हो जायेगी।

जैसे बीज मे वृक्ष बनने की शक्ति विद्यमान है उसको मौका मले तो वह वृक्ष बन जाता है। परन्तु आत्मा बीजरूप परमात्मा है उसे मौके मिलने की बात नही वह तो निज में इनीसीमेटीम लेने वाला है इसलिए उसे मौका मिलने की बात नहीं है। उसे ब्रह्म बनने की जिज्ञासा उत्पन्न करने की बात है उसको चुनाव करना है कि मुझे परमात्मा बनना है उसे कुछ भी कम नही रहना है यह उसका चुनाव है। जानवर बनना भी उसका चुनाव है मनुष्य बनना भी उसका चुनाव है और परमात्मा बनना भी उसका चुनाव है। परमात्मा बनना उसकी पूर्णता है उसका विकास है और पशुता उसका ह्रास है। चुनाव उसी का है।

व्यवहार मे यह कहा जाता है कि मनुष्य ही परमात्मा बन सकता है। इसका मतलब यह नहीं है कि पशु डाइरेक्ट परमात्मा नही बन सकता वह अपना विकास करने लगेगा तो मनुष्य बनेगा और वहां से परमात्मा बन जायेगा। इसका अर्थ यह भी है—"कि जिसमें पशुता है जिसमें मानवता ही नही वह परमात्मा कैसे बने इससे तो क्रम का उलंघन हो जायेगा।" बीज अभी अंकुर ही नहीं बना वृक्ष कैसे बन जायेगा।

मनुष्य चौराहे पर खड़ा है और उसके चारों तरफ रास्ते गये हैं। उसे चुनाव करना है कौनसा रास्ता, क्या बनने का रास्ता पकड़ना है। कहते हैं कि तू अपने को इतना ऊचा उठा सकना हैं कि ऊचाई की चरम सीमा तक उठ सकता है तू इतना गिर सकता है कि निचाई की चरम सीमा को छू जाये। अभी जहां खडा है वह भी तेरा ही चुनाव था। चुनाव करते ही वैसा हो जाये यह बात नही है चुनाव कर और उस रूप होने का पुरुषार्थ कर। अगर पूरा पुरुषार्थ हुआ तो तू वैसा हो सकता है। वैसा बनने की स्वयम् भावना तेरे मे है। अगर दूसरे बीज वृक्ष बन सकते है तो तू भी बन सकता है तू भी उसी जाति का है। जो बने है वह भी तेरी जाति के थे।

एक वृक्ष पर दो आम लगे है एक पक गया है एक कच्चा है। कच्चा कह रहा है पक्के से, कि तू भी पहले मेरे जैसा कच्चा आम था, केरी था। तू केरी से ही आम बना है मेरे मे भी आम बनने की शक्ति विद्यमान है मैं भी आम बन कर रहूगा। मैं भी उसी वृक्ष का फल हूं उसी जाति का हूं जिसका तू है। तेरे मेरे मे कोई फरक नही है फरक इतना ही है तेरा विकास पूर्ण हो गया है और मेरे मे पूर्ण विकास करने की शक्ति विद्यमान है। मैं तेरे जैसा हो जाऊगा। जब साधक साध्य के सामने जाकर, जब भक्त भगवान के सामने जाकर अपने को बीजरूप और साध्य को फलरूप देखता है तो फल बनने की प्यास जागृत होती है। जब यह समझता है कि मैं भी ऐसा बन सकता हूं तब वह श्रद्धा मे तो वैसा बन गया, मात्र प्रवृत्ति मे बनना रहा है। वह अपने आपको ऐसा देखता है जैसे ऐसा हो ही गया। जब तक अपने मे पड़ी हुई बीजरूप शक्ति को नही पहचानता था तब तक पामर था। जब शक्ति को पहचाना तो उस रूप हुआ सा ही अनुभव करने लगा। जिस रोज बीजरूप भगवान को जान लेता है वही

(शेष आवरण पृ० ३ पर)

दिगम्बरत्व का क्या होगा ?

□ कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

आज जनतंत्र का युग है, जिसका काम जोड़ना है तोड़ना नहीं। जैनधर्म के जहाँ तक प्राचीनतम प्रमाण मिलते हैं वह भी लिच्छवियों के गणराज्य का युग था। लोगो मे जहाँ विचारो की विभिन्नता होती थी वहाँ पारस्परिक सौहार्द भी रहता था। भ० महावीर के निर्वाण के कुछ ही वर्षों बाद जैनधर्म दो शाखाओं मे विभाजित हो गया।

यद्यपि भारतवर्ष के सास्कृतिक इतिहास मे श्रमण सस्कृति का महत्वपूर्ण योग दान रहा है जो वैदिक सस्कृति के विकल्प के रूप मे विकसित हुई थी और विगत ढाई हजार से अधिक वर्षो से भारतीय दर्शनों को प्रभावित करती रही। आज भी श्रमण सस्कृति की दोनो धाराए जैन और बौद्ध भारतीय इतिहास को विशिष्ट रूप से रेखांकित कर रही है।

प्रकृति का कुछ नियम सा है तथा इतिहास भी साक्षी है कि जब भी कोई धर्म समाज या सम्प्रदाय विकास की चरम परणति पर पहुंचते हैं तो उनमे विखडन या विभाजन प्रारम्भ हो जाता है, इसी नियम या परम्परा वश जैनधर्म भी दिगम्बर और श्वेताबर दो धाराओ मे विभक्त हुआ। आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में दिगम्बर दक्षिण मे तथा आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व मे श्वेताम्बरत्व उत्तर-पश्चिम में बड़े जोरो से विकसित एव प्रफुल्लित हुआ। दोनों ही सम्प्रदायों मे बडे-बड़े उच्चकोटि के दिग्गज बिद्वान हुए और उत्कृष्ट शास्त्रो की सर्जना हुई और धीरे-धीरे कुछ मौलिक सैद्धान्तिक मत भेदो की सर्जना होती गई। यह सब भ० महावीर ने नही सिखाया था अपितु परवर्ती आचार्यों मुनियो एवं विद्वानों की विचक्षण बुद्धि वैभव का कौशल था कि दोनो धारायें दृढ़ से दृढतर होती गई और वट वृक्ष की भाँति विशाल मजबूत होती रही। इन दोनो धाराओं की कुछ उपधारायें भी प्रवर्तित हुई। बीच के काल में कुछ वैमनस्य भी फैला। अस्तु

भ० महावीर की २५सौंवी निर्वाण शताब्दी के अवसर पर प्रयास भी हुए कि जैनियों की सभी धारायें उप-धारायें सम्मिलित होकर जैनधर्म की एक विशाल विस्तृत एव अगाध जैन गगाधारा बन जावे पर यह सब कुछ न हो सका। फिर भी कुछ सीमा तक परस्पर बिल्कुल क्षीण रूप से नजदीक तो हुए ही फिर भी कट्टरता तो बनी ही रही। अस्तु, यहां मुझे दिगम्बर सम्प्रदाय मे जो कुछ शिथिलाचार फैल रहा है उस पर कुछ टिप्पणी करनी है।

यद्यपि नैतिक दुर्बलता, चारित्रिक पतन, भ्रष्टता एवं शिथलाचार सभी समाजो, धर्मों में व्याप्त है यहाँ तक कि सम्पूर्ण देश और विश्व भी इन दुर्बलताओं से नहीं बच पा रहे है अतः किसी तरह का उपालभ कुछ तर्क संगत तो नही जचता पर जब ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर कुठाराघात की नौबत आ जाय तो फिर मन बिलबिलाता तो है ही।

यह सब बड़े खेद और लज्जा का विषय है तथा भ० महावीर की वाणी को कलंकित करना है। खाद्य पदार्थो मे मिलावट, घी मे चर्बी मिलाना, टैक्सों की चोरी करना, कालाधन जोड़ना, झूठे बिल बनवाना, रेलवे तथा जीवन-बीमा निगम आदि संस्थाओं से जाली Claim वसूलना आदि। जहां जैन श्रावक पक्ष को दुर्बलता एवं शिथिलता को उजागर करते हैं वही ये ही श्रावक मुनि वर्ग को भी शिथल होने में सहयोग देते है। उपर्युक्त भ्रष्टताओं में जैन लोग अग्रणी होते जा रहे है। अभी सुना है कि दिल्ली के तथा कथित कुछ जैन करोड पतियो ने रगून और हांगकांग से बादाम, पिश्ता, किसमिस आदि सूखे फलों के करोड़ों रूपये के झूठे बिल बनवाये और जहाजों में मेवों की जगह भूँसा भरवाकर उन जहाजो को डुबवा दिया तथा L. I C. से हरजाना वसूलना चाहा पर विदेशी गुप्तचरों की सतर्कता से उनकी जालसाजी का भडाफोड हो गया और अब वे कानून की गिरफ्त में है। चर्बी कांड मे तो जैन व्यापार

ने ही सारे जैनियों का मस्तक नीचा कर दिया और जैन-धर्म की छवि धूमिल कर दी।

ऐसे ही तथा कथित भ्रष्ट जैनियों के जाल में हमारा कुछ त्यागी वर्ग भी फंसा हुआ है। दिगम्बरों में त्यागी जन भी शिथिल होते जा रहे हैं। लगता है कि कालान्तर में त्यागी व साधु मार्ग ही समाप्त न हो जावे। वैसे आज दि० मुनियों की गिनती अंगुलियों पर गिनने लायक रह गई है मुश्किल से सौ सवा सौ ही हों तो कोई अत्युक्ति न होगी उनमें भी कषाय, एवं शिथलाचार व्याप्त हैं। जिससे लोगों का उनके प्रति आदरभाव भी कम होता जा रहा है यहां तक दूसरे लोग भी दिगम्बर साधु के दिगम्बरत्व का उपहास करते हैं। यदि यही स्थिति चालू रही तो कालान्तर में कोई भी दि० साधु न रहेंगे और जो कुछ क्षुल्लक या ऐलक बनेंगे वे सवस्त्र होगे तो निश्चय ही श्वे० विद्वानों को यह कहने में तनिक भी संकोच न रहेगा कि दिगम्बरत्व स्वयं में कुछ नहीं अपितु श्वेताम्बरत्व की ही शाखा है यह परिकल्पना मैं अब से भविष्यि मे दो चार शताब्दी बाद की कर रहा हूं। जब कि कोई दिगम्बर दिखेगा ही नहीं। जरा दूर दृष्टि से संवत ३००० की कल्पना कीजिए उस समय जब कोई दिगम्बर होगा ही नही तो फिर दिगम्बरत्व के अस्तित्व में क्या तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकेंगे, केवल प्राचीन साहित्य और इतिहास ही दिगम्बरत्व का प्रतीक रह जावेगा। अत: इस दिशा में विद्वानों एवं समाज सेवियों को कुछ सोचना एवं उपाय खोजना चाहिए। जैन साधु भी इस दिशा में आत्मालोचन करे और भविष्य में दिगम्बरत्व लुप्त न हो जावे इस सबंध में कुछ गवेषणात्मक विवेचना करें।

अभी प्रसिद्ध कथा शिल्पी श्री वीरेन्द्र कुमार जैन जो स्वयं दिगम्बरी है का 'अनुत्तर योगी' एक वृहत उपन्यास प्रकाशित हुआ है अभी हाल में सम्भवत: पाचवां भाग प्रकाशित होना है, इसे इन्दौर की दिगम्बर समाज द्वारा स्थापित "महावीर निर्वाण शताब्दी समिति" द्वारा लाखों रुपये खर्च करके प्रकाशित किया जा रहा है। यद्यपि यह एक कल्प ग्रंथ है कोई सैद्धान्तिक विवेचना एवं गवेषणा से परिपूर्ण कोई महत्वपूर्ण शास्त्र नहीं है पर इसमें दिगम्बर विरोधी कुछ सैद्धान्तिक विवेचना की है या उद्धरण दिए हैं जैसे भगवान महावीर के कानों में (जो कि वज्रवृषभ नाराच संहनन के धारी थे) शलाका ठोकना, स्त्री की मुक्ति सवस्त्र मुक्ति आदि दि० सैद्धान्तिक विरोध की बातें अंकित की गई है वे निश्चय ही समादरणीय नहीं है। और जब ग्रंथ मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज (जो दि० साधु हैं) को समर्पित हो।

'तीर्थंकर' मासिक पत्रिका के विद्वान सम्पादक डा० नेमीचन्द जी जैन द्वारा श्री वीरेन्द्रकुमार जी से लिए साक्षात्कार में जिन बातों का उल्लेख है निश्चय ही वे दिगम्बरत्व की सीमा के प्रतिकूल है। यह साक्षात्कार 'तीर्थंकर' के वर्ष १२ के अंक मे प्रकाशित है। ऐसा लगता है कि श्री वीरेन्द्र जी को भ० महावीर के जीवन सबन्धी छोटे-छोटे प्रकरणों को उजागर करने की लालसा सता रही होगी जिनके कि उल्लेख श्वे० साहित्य की चूर्णि, निशीथिका, आगम आदि ग्रथो मे ही उपलब्ध होते हैं। दि० मे नही। मैं समझता हूं कि उनकी इच्छा महात्मा बुद्ध के जीवन की बारीकियो के भाँति, जिनका कि उल्लेख जातक कथाओ, त्रिपिटकों सुत्त आदि ग्रथो मे उपलब्ध होता हैं, उसी तरह भ० महावीर के जीवन की बारीकियो को प्रकाश में लाने की होगी, पर ऐसे विवादास्पद उपन्यास को लिखने से पूर्व उन्हें दोनो सम्प्रदायों के साहित्य और सिद्धान्त का गहन अध्ययन जरूरी था जिससे किसी को अंगुली उठाने की जुर्रत न पड़ती। अभी विगत वर्ष प्रसिद्ध कथा शिल्पी, हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार, शरद बाबू के चितेरे श्री विष्णु प्रभाकर जी ने बाहुबली के ऊपर एक नाटक लिखा था जिसे भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किया है उस नाटक को श्री विष्णु जी ने इतनी कुशलता और चतुराई एवं दोनो सम्प्रदायो की विचारधाराओं का गहन अध्ययन कर लिखा कि दि० या श्वे० किसी को भी कही भी कुछ अंगुली उठाने या आलोचना करने की जगह नही छोड़ी, दोनों ही वर्ग उससे पूर्णतया सतुष्ट हैं। यद्यपि विष्णु जी जैनी नहीं हैं फिर भी उन्होने किसी भी वर्ग के किसी विवादग्रस्त मसले को छुआ ही नहीं जबकि श्री वीरेन्द्र जी जैनी हैं और दिगम्बरी हैं फिर भी विवादग्रस्त मसलों की वे उपेक्षा न कर सके और एकांगी पक्ष को प्रबल बना गये, ऐसा लगता है कि उन्हें अपनी कृति

(शेष पृ० २३ पर)

विचारणीय-प्रसंग

'अनुत्तरयोगी–तीर्थंकर महावीर' (उपन्यास)

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

रचना की पृष्ठभूमि : (लेखक की जबानी) :

पद्मभूषण पं० सुमतिबाई जी ने कहा—आप मुनि विद्यानन्द जी महाराज से मिलिए। वे एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो संप्रदाय निरपेक्ष रूप में लिखवाना चाहेंगे। महाराज श्री महावीर जी में विराज रहे हैं, मैं परिचय पत्र लिखे देती हूं। हम श्री महावीर जी पहुंचे। महाराज श्री को पत्र दिया उन्होने वह पत्र पढ़ लिया और एकान्त में मिलने के लिए कहा। जब मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने मेरा कन्धा पकड़कर कहा—आपके लिए परिचय पत्र की क्या जरूरत है मैं तो आपको खोज ही रहा हूं। आपकी कलम मुझे चाहिए उपन्यास लिखने के लिए। मैने कहा उपन्यास नहीं लिखूंगा, महाकाव्य लिखूगा। महाकाव्य के रूप मे वह गाथा ज्यादा सफल होगी, ज्यादा आकर्षित करेगी। महाराज श्री ने कहा लिखिए तो आप उपन्यास ही, मैं काव्य भी लिखवा लूगा। "अनुत्तर योगी" का जन्म श्री महावीर जी मे हुआ यों कहिए कि "अनुत्तर योगी का गर्भधारण हुआ, गर्भाधान हुआ वही यह निर्णय लिया गया। फिर इन्दौर से बाबूलाल जी पाटोदी आए उनके साथ फिर श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति के अन्तर्गत अनुबन्धित करने का प्रस्ताव हुआ।" डा० नेमीचन्द जी ने प्रूफ रीडिंग में काफी मदद की। केवल प्रूफ रीडिंग मे ही मदद नही की है। बल्कि "अनुत्तर योगी" का जो स्वरूप है, उसके कलेवर मे, मुद्रण मैं जो सारा परिष्कार किया, उसका जो (फार्मेट) मे चाहता था, पत्राचार के द्वारा मिलना बहुत कम होता था, आपने (डा० सा० ने) मुझे पूरा-पूरा ग्रहण कर लिया, भीतर से, प्रथम खण्ड से ही·········मेरी कल्पना को साकार किया है।"

—तीर्थंकर वर्ष १२ अक ७ के अंश : साभार।

लेखक के उक्त बिखरे उद्गारों से स्पष्ट है कि दिगम्बर क्षेत्र (श्री महावीर जी) में दिगम्बर मुनि श्री की भावनानुरूप (जन्मन) दिगम्बर लेखक द्वारा 'अनुत्तर योगी'—तीर्थंकर महावीर (उपन्यास) का निर्माण हुआ और इन्दौर की (दि० जैन) ग्रन्थ प्रकाशन समिति से प्रकाशित हुआ—सभी प्रसग दिगम्बरी हैं। अभी तक प्रकाशित हुए चार भागो की कुल पृष्ठ सख्या १५४७ और मूल्य ११०-०० रुपए है। पाचवां भाग लेखनाधीन है। इतने बृहद उपन्यास मे प्रभूत द्रव्य का व्यय (दिगम्बर-धर्मावलम्बियो द्वारा) हो जाना साधारण सी बात है।

ग्रंथ के कुछ प्रसंग (जो दि० परम्परा के सर्वथा विपरीत हैं) :

जब हमने अनेकान्त मे समालोचना करने की दृष्टि से उक्त ग्रंथ को पढ़ा तो बड़ा धक्का लगा। हमने ग्रंथ मे महावीर के मुख से कहलाए गये निम्न स्थल देखे—

१. "एक सुन्दर चांदी की चोकी वहा अतिथि के पडगाहन को प्रस्तुत थी। मैंने उस पर पग धारण किया।" (भाग २ पृ० ६)

२. "सर्वार्थसिद्धि जैसी आत्मोन्नति की ऊर्ध्वश्रेणियों पर आरूढ़ होकर भी कभी-कभी आत्माएं नारकी और तिर्यंच योनियो तक मे आ पड़ती हैं।" (भाग २ पृ० ५१)

३. "उस हवेली के द्वार पर कोई द्वारापेक्षण करता नही खडा है। आतिथ्य भाव से शून्य है वह भवन। ठीक उसी के सन्मुख खड़े होकर श्रमण ने पाणिपात्र पसार दिया। गवाक्ष पर बैठे नवीन श्रेष्ठि ने लक्ष्मी के मद से उद्दण्ड ग्रीवा उठाकर अपनी दासी को आदेश दिया :—

किंचना, इस भिक्षुक को भिक्षा देकर तुरन्त विदा कर

हैं। दासी भीतर जाकर काष्ठ के भाजन में कुलमाष धान्य ले आई और श्रमण (महावीर) के फैले कर-पात्र में उसे अवज्ञा के भाव से डाल दिया।"

(भाग २ पृष्ठ १५२)

४. "ना कुछ समय में ही ग्वाला कहीं से कास की एक सलाई तोड़ लाया। उसके दो टुकड़े किए। फिर निपट निर्दय भाव से उसने श्रमण के दोनों कानों में वे सलाइयां बेहिचक खोस दी। तदुपरान्त पत्थर उठाकर उन्हें दोनो ओर से ठोंकने लगा।"

(भाग २ पृ० २१२)

५. (सलाइयां ठुकी और वेदना की अवस्था मे) 'सिद्धार्थ वणिक के द्वार पर अंजुली पसार दी है"··· 'विपुल केशर, मेवा, द्राक्ष से मधुर और सुगंधित पयस उसने मेरे कर-पात्र में ढाल दिया है। उसके घूट कण्ठ से नीचे उतारने में जो कष्ट हो रहा है, वह पास ही खड़े श्रेष्ठि के परममित्र खरक वैद्य ने लक्ष्य कर लिया।" (भाग २ पृष्ठ २१४)

६. "सिद्धार्थ और खरक वैद्य आवश्यक औषधि उपचार के साधन लेकर उद्यान में दौड़े आए हैं। मेरे शरीर को पद्मासन में ही ज्यों का त्यों उठाकर एक तेल की कुण्डी में बिठा दिया गया है।······फिर दो व्यक्तियो ने······संडासियां लेकर, दोनों कानों के शूलो पर पकड़ बैठाकर एक साथ उन्हें पूरी शक्ति से खीचा। ······उस क्षण बरबस ही मेरे मुख से एक भयकर चीख निकल पड़ी। ऐसी वेदना की अनुभूति हुई, जैसे कोई वज्रवाण ब्रह्माण्ड के हृदय को भेदकर मेरे आर पार निकल गया हो।" (भाग २ पृ० २१५)

७. "कांटों और डालो के खुप जाने के कारण असह्य वेदना से शरीर टीसने लगता है।"

(भाग २ पृष्ठ १०)

८. "चम्पा पहुंच कर अपने पांचों शिष्यों (साल, महासाल, गागली, पिठर और स्त्री यशोमती) सहित श्री गौतम समवशरण मे यों आते दिखाई पड़े जैसे वे पांच सूर्यों के बीच खिले एक सहस्रार कमल की तरह चल रहे हैं। पांचों शिष्यों ने गुरू को प्रणाम कर, आदेश चाहा। गौतम उन्हें श्री मण्डप मे प्रभु के समक्ष लिवा ले गए फिर आदेश दिया कि—आयुष्यमान मुमुक्षुओं, श्री भगवान का वन्दन करो। वे पांचों गुरू आज्ञा पालन को उद्यत हुए कि हठात् शास्ता महावीर की वर्जना सुनाई पड़ी—केवली की आशातना न करो, गौतम! ये पांचों केवलज्ञानी अर्हन्त हो गए हैं। अर्हन्त, अर्हन्त का वन्दन नहीं करते।"

(भाग ४ पृ० २८४-२८५)

इसी प्रकार बहुत से प्रसंग दिगम्बरों के आगमों के विपरीत हैं, जिन्हें भावी पीढी प्रमाण रूप में प्रस्तुत करेगी और अनायास ही दिगम्बर के विपरीत मार्ग की पुष्टि होगी। हमने ऐसे ही कतिपय प्रसंगों के आधार पर प्रकाशन संस्था से विनती की, कि वे ग्रंथ में दिगम्बर सिद्धान्तों (कथानकों) के विपरीत आए प्रसगों का स्पष्टीकरण करें कराएं। तथाहि—

भाग २ पृष्ठ ६ पंक्ति ३-४	क्या दि० मुनि चाँदी की चौकी पर चरण रख सकता है?
भाग २ पृ० ५१ प. २०-२१	क्या सर्वार्थसिद्धि का जीव नरक, त्रियंचगति में जा सकता है?
भाग २ पृ. १५२ प. १२-१८	क्या द्वारापेक्षण बिना, दासी के द्वारा अवज्ञापूर्वक दिया आहार मुनि ले सकता है?
भाग २ पृ. २१२ पं. २५-३०	वज्रवृषभनाराच सहनन में कीले ठुक सकते हैं क्या?
भाग २ पृ. २१४ पं. २५-ठ६	क्या मुनि उपसर्ग दशा में आहार को जा सकते हैं?
भाग २ पृ. २१५ प. २८-३५	तेल की कुण्डी में बिठाकर मर्दन किया जाना और मुख से चीख निकलना महावीर में संभव है क्या?
भाग २ पृ. १० प. २३-25	असह्य वेदना से शरीर टीसना महावीर मे कैसे ठीक है?
भाग ४ पृ० १६० प० २३-२७	समवशरण (केवली अवस्था) में उपसर्ग (तेजोलेश्या का) दिगम्बरों में मान्य है?
भाग ४ पृ० १६० पं० २८	समवशरण में हाहाकार संभव है क्या?

भाग ४ पृ० २८४ प० २१- 1. यशोमती स्त्री का अर्हन्त होना क्या स्त्री और सवस्त्र मुक्ति की संपुष्टि नही ?
२. क्या दिगम्बर महावीर गणधर को वर्जना करेंगे ? या गणधर पांचों के अर्हन्त होने को न जान सके होगे ?

इसी प्रकार के बहुत से अन्य प्रश्नो का निराकरण करना पडेगा। हमारा भाव था कि—

विज्ञ पुरुष भली भांति जानते है कि अकलक प्रभृति दि० पूर्वाचार्यो ने आगमो को कैसी-कैसी विपरीत परिस्थितियो मे सरक्षित और प्रचारित किया है इस युग मे भी हमारे विद्वानों को "सजद" जैसे शब्द के सबध मे पुनरीक्षण करना पड़ा था और आज भी "सत" आदि शब्दों के प्रासगिक अर्थ विचारणीय बने हुए है। आज कही आगम के मूल शब्दरूप बदले जा रहे हैं और कहीं शब्दार्थ। यदि शोध के नाम पर आगम के मूल शब्द रूपों, अर्थों या भावों में परिवर्तन लाने का प्रयास इसी भाति होता रहा या आगमो के मन्तव्यों के विपरीत अन्य नवीन ग्रन्थो का प्रकाशन और प्रचार होता रहा तो दिगम्बरों के आगमो के मूल मंतव्य और महापुरुषों के दिगम्बर मान्य जीवन और तथ्य लोगों की दृष्टि से ओझल हो जाएँगे तथा लोग दिगम्बर आचार-विचार से भी हीन हो जाएँगे।

'अनुत्तर योगी तीर्थकर महावीर' सप्रदाय-निरपेक्ष के नाम पर तैयार ऐसी हो रचना है, जिसमे जाने-अनजाने मात्र सौष्ठव के मिस, दिगम्बर सिद्धान्तो के विपरीत ऐसा बहुत कुछ बन पड़ा है जो भविष्य मे दिगम्बरों के विरुद्ध प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जा सकेगा। यत:—इस ग्रन्थ के निर्माण मे सभी दि० स्तम्भो का प्रमुख हाथ है।

सप्रदायातीत दृष्टि का अर्थ किसी के सिद्धान्तो की काट नही, अपितु बहिरग अन्तरग दोनो मार्गों मे समन्वय है। लोग बहिरंग साम्प्रदायिक चिह्नो से तो चिपके रहे और अन्तरग सिद्धान्तो की काट करे ये कैसी सप्रदायातीत दृष्टि है ? क्या संप्रदायातीत दृष्टि पेश करने के लिए दिगम्बर मुनि वस्त्र पहिनना और वस्त्र वाले दिगम्बर वेश धारण करना स्वीकार करेंगे ? या वे मिलकर एक चर्या आदि को स्वीकार करेंगे ?

समाज के नेता और लेखक प्रभृति जरा सोचें, कि वे यश और अर्थ अर्जन को प्रमुखता देने के लिए लोगों को भरमाना पसन्द करेंगे या दिगम्बर आगमो और उनके मन्तव्यों की सुरक्षा का मार्ग पसन्द करेंगे ?

उक्त ग्रन्थ 'मन्त्रदृष्टा पूज्य श्री विद्यानन्द स्वामी' को समर्पित होने से ही हम ऐसा नही समझते कि ऐसे विरुद्ध स्थलों को स्वामी जी की स्वीकृति होगी। वे दिगम्बरों के श्रद्धास्पद गुरु है, दिगम्बर सिद्धान्त, चर्या आदि पर वे कभी आँच न आने देंगे। वे तो दिगम्बर धर्म सस्था के सरक्षणार्थ अनशनादि तक के पक्ष-धर हैं। हमारी धारणा है कि यदि मुनि श्री विद्यानन्द जी को विरुद्ध-स्थलों को पढ़ाया या दिखाया होता तो ये विसगत प्रसग न होते।

लेखक को हम क्या कहे ? वे तो सिद्ध-हस्त प्रसिद्ध लेखक है। उन्होंने भाषा-सौष्ठव और लम्बी कथा के लक्ष्य मे सैद्धान्तिक विसगतियो के उभार को किनारे रख दिया। फिर वे यह कह भी चुके है कि "दि० और श्वे० आगम तथा इतिहास मे उपलब्ध तथ्यों का चुनाव मैंने नितान्त अपनी सृजनात्मक आवश्यकता के अनुसार किया है।" **उक्त अनुबन्ध प्रकाशकों को स्वीकार हुआ प्रतीत होता है जो भावी पीढ़ी को विचलित करने में कारण बनेगा।**

क्या अनुत्तर-योगी धर्म-ग्रंथ नहीं है ?

कहा जा रहा है 'अनुत्तर-योगी' धर्मग्रंथ नही है—यह काव्यमय उपन्यास है और उपन्यास मे कल्पना की छूट है, आदि। पर, इससे क्या हम ऐसा मान लें कि चारों पुरुषार्थों मे यह रचना 'अर्थ पुरुषार्थ' मात्र का फल है। यत: इसे धर्म-पुरुषार्थ तो माना नही जा रहा और काम और मोक्ष पुरुषार्थ से इसे सर्वथा वर्जित रखा गया है यत: इनकी पुष्टि भी ग्रन्थ से नही होती।

हम यह मानते हैं कि कवि और लेखक को अपनी रचना मे कल्पना की स्वतन्त्रता है पर, किसी प्रसग में भी कल्पना वस्तु स्थिति की पुष्टि से विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। अपितु वस्तु-स्थिति को स्पष्ट करने में सहायी

होनी चाहिए। फिर, जब महावीर जीवन के कुछ प्रसंगों और आगम के कुछ सिद्धान्तों में पंथ-भेद हो और ग्रन्थ का निर्माण दिगम्बर संस्था द्वारा सप्रदाय-निरपेक्ष दृष्टि से कराया गया हो तब तो विरोध-परिहार और भी आवश्यक है जो ग्रथ मे नही हुआ, अपितु दि० सिद्धान्तो के विरुद्ध काफी कुछ लिखा गया हैं।

लेखक का बारम्बार निर्देश होने पर भी और यह विदित होने पर भी कि लेखक इसमे अधिक उपयोग श्वेताम्बर-मान्यताओ का कर रहा है। दिगम्बर प्रकाशन समिति और सम्बन्धित व्यक्तियो का यह कर्तव्य था कि वे सप्रदाय-निरपेक्ष ग्रथ मे से ऐसे प्रसगों को हटाने का सकेत देते जिनसे दिगम्बरो के सिद्धान्तो का खडन होता हो।

स्मरण रहे—सभी पाठक अन्तिम निर्देशिका, परिशिष्ट, परिप्रेक्षिका आदि पढ़ने के अभ्यासी नही होते। कई तो पूरा ग्रथ भी नही पढ़ते। ऐसे मे ग्रथ के मुखपृष्ठो पर भी मोटे टाइप मे लिखा देना चाहिए था कि—कथानक मे श्वेताम्बर-मान्यताओ का बाहुल्य है और सैद्धान्तिक स्थलो मे दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद भी है उस पर ध्यान न दिया जाय आदि। फिर, ऐसे प्रकाशन की आवश्यकता ही क्या आ पड़ी थी। इसके प्रकाशन के विना ही दि० प्रकाशन-समिति उद्देश्य-पूर्ति कर रही थी। ये उल्टा दुष्प्रचार ही हुआ है। हमने समणसुत्त भी पढ़ा है उसमे विरोध को नही छुआ गया—'अनुत्तर योगी' का स्तर भी वैसा ही अविरोधी होना चाहिए था।

ये सब हम इसलिए लिख रहे हैं कि आज जनता की रुचि आगम के पठन-पाठन मे दिन पर दिन कम होती जा रही है। विशेषकर नई-पीढ़ी के बाल-युवा सभी का ध्यान प्रकाशित नवीन पुस्तकों और पत्रिकाओं पर ही रहता है—वे उन्ही के आधार पर अपनी श्रद्धा और ज्ञान को पुष्ट करते हैं, उनकी दृष्टि यह भी नही होती कि ये किस श्रेणी का साहित्य है। ऐसे में विपरीत श्रद्धान के अवसर अधिक हो सकते है—जिनका निराकरण होना चाहिए था।

पाठक विचारें कि यदि कही किसी सरकारी स्कूली पाठ्यक्रम मे कोई विरोधी बात लिख दी जाती है तब हम ही उसका विरोध करते हैं कि यह बात हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध क्यों लिखी गई? यह प्रकाशन तो दिगम्बरो के द्वारा दिगम्बर सिद्धान्तो का स्वंय ही घात है। उक्त सभी प्रसंग पाठकों के समक्ष सम्मत्यर्थ प्रस्तुत हैं। कृपया पाठक अपनी सम्मति भेजकर अनुग्रहीत करें। हम उसी के आधार पर "ग्रथ समीक्षा" करेंगे। यत ग्रन्थ हमें समीक्षार्थ प्राप्त है। और वीरसेवा मन्दिर कार्यकारिणी ने भी हमे यह कार्य सौंपा है। हाँ,

अन्त मे हम उन सभी दि० संस्थाओ से, और विद्वानों से कर-बद्ध निवेदन करते है कि वे जहा बाहरी रूपों और टीप-टाप पर विशेष दृष्टि रखते हों-वहां आगम के मूल तथ्यो को सुरक्षित रखने पर भी विशेष बल दें। व्यवहार बदलने वाला है—पर आगम मे वर्णित मूल तत्व सदा एक रूप और अपरिवर्तन शील है—उनकी रक्षा से ही दिगम्बरत्व की रक्षा होगी बाहरी आडम्बर या जय-जयकार से नही। वीर नि० ग्र० प्रकाशन समिति से भी हमारी कर-बद्ध प्रार्थना है कि वह दिगम्बर सिद्धान्तो के सरक्षण और प्रचार मे सरसेठ हुकुम चन्द जी साहब की मर्यादाओं को कायम रख इन्दौर के नाम और सेठ साहब के संकल्प को अक्षुण्ण रखे। यतः—वर्तमान काल मे इस क्षेत्र में वीतराग देव का सर्वथा अभाव है और परम दिगम्बर गुरुओ का समागम भी यदा-कदा होता है। ऐसे में श्रावको और जिज्ञासुओं को आगम-मात्र का सहारा है; उसके हार्द को सुरक्षित रखने और तदनुकूल साहित्य को प्रकाशित करने कराने से ही दिगम्बर धर्म की रक्षा है। समिति सतत जागरूक रहे ऐसी हमारी भावना है।

वीर सेवा मन्दिर
नई-दिल्ली

साहित्य-समीक्षा

भारतीय धर्म एवं अहिंसा :

लेखक : सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी
प्रकाशक : श्री राजकृष्ण जैन चैरी० ट्रस्ट, दरियागज दिल्ली
साइज : २३ × ३६ × १६ पेज २१६, मूल्य : २५ रु० ।

विद्वद्वर सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री की यह पुस्तक 'भारतीय धर्म और अहिंसा' अनेक अर्थों मे एक विशिष्ट और विलक्षण कृति है, अहिंसा, भारतीय विचार पद्धति, और विशेषकर जैन दर्शन तथा जैन जीवन चर्या का मूलभूत सिद्धान्त है। इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी गई है। जैनधर्म से सम्बन्धित कोई भी सम्मेलन हो, कोई भी आयोजन या सगोष्ठी हो जिसमे किसी भी वक्ता को धर्म या दर्शन पर कुछ बोलना हो, अहिंसा की धुरी पर ही उसके विचारो का चक्र घूमेगा। इसी बीज पर विषय का पादप पनपेगा, पल्लवित और पुष्पित होगा। महान आचार्यों ने अहिंसा पर जो चिन्तन किया है, मन वचनकाय की भूमिका पर इसे प्रस्थापित करके आश्रव, बन्ध और निर्जरा का जो व्यापक ससार रचा है, वह विश्व के समग्र दर्शन शास्त्र, मनोविज्ञान और समाज शास्त्रीय अध्ययन मे अपूर्व और अद्भुत है कि भारतीय प्रज्ञा इससे गोरवान्वित हुई है। बड़ी बात यह कि अहिंसा-चिन्तन के इतने बड़े प्रसार के जीवन के साथ जोड़ने की कला भी जैन तीर्थंकरो और आचार्यों की देन है। अहिंसा के विचार और व्यवहार की गहरी छाप अन्य धर्म-प्रवर्तको के चिन्तन और जीवन निर्देश मे प्रतिबिम्बित है। ऋग्वेद के ऋषियो की ऋचाओ से लेकर गाधी अरविन्द और बिनोबा के वचनो प्रवचनो तक यह परपरा चली है। अहिंसा-दर्शन राजनीति में सत्याग्रह के रूप मे अवतरित हुआ और उसने इतिहास मे चमत्कार उत्पन्न किया। अहिंसा के चिंतन और प्रतिपादन में हिंसा स्वभाव आता है, किन्तु अब तक हिसा के विद्रूप की लोमहर्षक, प्राणो को हिला देने वाली छवि आखो से ओझल रखी गई है। कारण यह कि इससे अनेक धार्मिक सम्प्रदायो के ऋषियों और महापुरुषों की छवि धूमिल होती है। 'धूमिल' शब्द तो बहुत शिष्ट है—वास्तव मे उनके द्वारा प्रतिपादित हिंसक विधान मुख पर कालिख पोत देता है।

सिद्धान्ताचार्य पडित कैलाशचन्द्र जी ने अहिंसा के कल्याणकारी स्वरूप को तो दर्शाया ही है, उनका मुख्य विषय और ध्येय भी यही है, किन्तु उन्होंने साहस के साथ उन वीभत्स सदर्भों को और क्रियाकाड तथा विधि-विधान की उन कुत्सित छवियो को उकेरा है जहा मनुष्य पशु से भी नीचे उतरकर इसी दुनिया मे, इसी मानव समाज में नर्क को सशरीर उतार लाता है।

पडितजी ने जब यह व्याख्यान श्री राजकृष्ण जैन चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय के अन्तर्गत स्थापित श्री राजकृष्ण जैन स्मृति व्याख्यान माला मे विश्वविद्यालय के मच से विद्वानो और बौद्धिक वर्ग के सामने प्रस्तुत किया तो श्रोताओ मे बैठे-बैठे मैं इतना बेचैन हो गया कि मैंने चाहा कि कहू—पडित जी, इस प्रसग को बन्द कर दें। मुझे डर था कि विवाद उठ खड़ा होगा और उस कर्मकाण्ड तथा विधिविधान को अपनी धार्मिक परम्परा का अग मानने वाले विरोध करेंगे और कहेगे कि जो प्रतीको और अलकारो में कही गई है, उसे पडित जी स्थूल शाब्दिक अर्थों मे प्रस्तुत करके धार्मिक परम्परा की निंदा कर रहे हैं। किन्तु किसी एक भी विद्वान, एक भी श्रोता ने चू नही की। कोई करता भी कैसे क्योकि एक-दो सदर्भ हों तो प्रतीक खोजने का मानसिक श्रम किया जावे, यहा तो हिंसा के कुत्सित व्यापार की एक पूरी परम्परा और कड़ी से कडी जोड़ने वाले सदर्भों की एक पूरी शृखला ही सामने आ गई। क्या किया जाये। पडित जी ने विषय के प्रति न्याय करने के लिए कितना अध्ययन किया है, प्रमाण जुटाने मे कितना श्रम किया है—देख सुनकर आश्चर्य होता है! रोगटे खड़े कर देने वाले चित्रों

का चितेरा किस प्रकार वाणी का कलाकार बनकर प्रणम्य हो जाता है, यह पं० जी ने अपने व्याख्यान की उन दो संध्याओं में प्रमाणित कर दिया।

मैं समझता हूं जब पंडित जी ने व्याख्यान का विषय निश्चित किया—'भारतीय धर्म और अहिंसा' तब उनके मन मे विषय की सीमा इतनी ही रही होगी कि यह प्रतिपादित किया जाये कि आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ के युग में अहिंसा का जो स्वरूप निर्धारित हुआ उसका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य क्या था और फिर अहिंसा का स्वरूप वैदिक धर्म मे पौराणिक युग की श्रमण संस्कृति मे तथा बौद्ध धर्म में वह क्या रहा। किन्तु जब वह अपना भाषण लिखने बैठे तो अहिंसा के संदर्भ को आधुनिक युग के चिन्तन, समस्याओ, प्रश्नो को जीवन-पद्धति और सामाजिक परिप्रेक्ष्य से जोड़कर व्याख्यायित करने की आवश्यकता को वह दृष्टि से ओझल नही कर सके। यही कारण है कि अहिंसा पर लिखी जाने वाली पुस्तकों मे यह अद्यतन और अद्वितीय है। मांसाहार और शाकाहार,' औषधि-उपचार और अहिंसा', 'गांधी जी और अहिंसा,' 'विश्वशान्ति और अहिंसा,' 'अहिंसा और वीरता मे भेद,' अहिंसा और शासकीय दण्ड विधान,' आदि अनेक विषयो को मौलिक ढंग से उठाया हैं और अहिंसा के दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है। तात्पर्य यह है कि विद्वानो में पंडित कैलाशचन्द्र जी ऐसे हैं जिनका शास्त्रीय ज्ञान गहराई मे तो विशिष्ट है ही, पंडित जी आधुनिक जीवन की समस्याओ से भी साक्षात्कार करते है और इसीलिए उनकी जैन दर्शन की व्याख्या आधुनिक युग के जिज्ञासुओ और श्रोताओ को आकर्षित करती है।

जैनधर्म मे अहिंसा का स्वरूप क्या है—महाव्रत और अणुव्रत की भूमिका तथा स्वरूप क्या है, हिंसा के १०८ प्रकार क्या है आदि अनेक विषयों को सुबोध ढंग से समझाया गया है। विस्तार के साथ-साथ सारसंक्षेप भी देते गये हैं ताकि विवेचन हृदयगम हो जाये। जैनी अहिंसा के मूल सिद्धान्त (पृष्ठ १४१), गांधी जी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के सिद्धान्त (पृष्ठ १५४), जैनधर्म और बौद्ध धर्म की अहिंसा मे तात्विक दृष्टिकोण का भेद (पृष्ठ ८६) आदि प्रसंग सार्थक हैं।

पुस्तक की शैली के विषय में दो शब्द कहना आवश्यक है। पंडित जी मे यह कला है कि वह दुरूह से दुरूह विषय को सुलझा कर सामने रख देते हैं। पुस्तक मे स्थान-स्थान पर रोचक कथा-प्रसंग पाठक को प्रमुदित करते हैं। पंडित जी का अध्ययन इतना व्यापक है कि वेद, पुराण, उपनिषद, महाभारत के संदर्भ सहजता से जुड़ते चले जाते है। उत्तररामचरित का वह प्रसंग यथा स्थान जुड़ गया है जहां वाल्मीकि के आश्रम में महर्षि वशिष्ट के पधारने पर उनके सत्कार मे बछिया का वध किया गया है। वहां और दो शिष्यो का वार्तालाप चलता है :

'हां।'

"अच्छा, वशिष्ठ ऋषि आये है?"

"हां?"

"मैंने तो समझा कि कोई व्याघ्र या भेड़िया आया है।"

"अरे क्या बकते हो।"

"उसने आते ही बेचारी कल्याणिका गौ को खा डाला।"

नाटक का यह अंश पंडित जी की शैली के कारण जीवित और सटीक हो गया है।

विद्वत्ता का गुण बौद्धिकता माना जाता रहा है। पं० कैलाशचन्द्र जी ने 'इसमे रोचकता' का आयाम जोड़कर भी बौद्धिकता को अक्षुण्ण रखा है।

यह पुस्तक ऐसी है कि इसका अनुवाद यदि भारतीय भाषाओ मे और विदेशी भाषाओ मे किया जाये तो सांस्कृतिक जगत को पंडित जी की यह देन व्यापक रूप से प्रबुद्ध, प्रेरित और उपकृत करेगी।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन
निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली

जरा-सोचिए

१. नेता के विचार और हम ?

१. मैं सत्य कहता हूं, बिल्कुल शुद्ध हृदय से कि **मुझे लेकर कोई** (अमृत) **महोत्सव मने**—इस पक्ष मे मैं नही हूं। मैं नही चाहता, इसे लोग इस या उस तरह मनावे। मैंने तो अपने दिल्ली-बम्बई के मित्रो और सहयोगियो से निवेदन किया है कि वे मुझे अपनी शुभ कामनाये दे, यही मेरा पाथेय है।

२. हमे कुछ आदर्श स्थापित करने होगे। पौत्र चि० बकुल की शादी हुई जितना भी देना चाहा सब इन्कार कर दिया। इसी प्रकार दूसरे बच्चो की शादी जब होगी, मेरा मन है, उन सब मे भी हम कुछ नही लेंगे।

३. केवल प्रचार-प्रसार से काम नही चलेगा, वस्तुत हमे स्वय कुछ जिम्मेदारी उठानी चाहिए कम से कम उस क्षेत्र मे जिसमे कि हमारा विश्वास है।

४. आज हमारे यहा तनाव, पागलपन, कलह, राग-द्वेष बहुत बढ़ गये है।

५. मेरे हिसाब से, जो अप्रमत्त (शिथिलाचारी नही) शास्त्रोक्त मुनियो के प्रति भक्ति-भाव रखता है, वह मुनि-भक्त है।

६. मुनि वह बने जिसे शास्त्र का सम्यक्ज्ञान हो और तदनुसार असदिग्ध आचरण की तैयारी हो।

७. आज मुनियो को आहार देने की प्रक्रिया काफी जटिल और व्ययसाध्य बन गयी है। मामूली आदमी आहार देने की हिम्मत नही कर पा रहा है।

८ हमारे दादा जी कहा करते थे, पण्डित जी आये हैं बेटा ! इनके पैर पड़ो ! इनके लिए खाना खुद परोस-कर लाओ। आज यह बात नही है। अब कोई किसी के पैर नही पडता। नौकर, या ब्राह्मण खाना परोसता है। जो सम्मान-सत्कार की भावना थी, वह लुप्त हो गई है।

—श्री साहू श्रेयांसप्रसाद जैन के उद्गार
('तीर्थंकर' से साभार)

२. चोर जगा रहे हैं ?

चोरी क्यों होती है और किसकी होती है ? ये सोचने की बात है। जिन-भगवान वीतराग हैं, मन्दिर और मंदिर के उपकरण सभी उनके नही। ये तो शुभ-रागियो द्वारा शुभ-रागभाव मे निर्मित रागियो के भवन हैं और उनके बहुमूल्य भौतिक उपकरण भी रागियों के ही। जिन-शासन मे वीतराग-भाव की महिमा है और वीतरागभाव के साधन जुटाने के उपदेश।

अब परम्परा कुछ ऐसी बनती जा रही है कि लोग मन्दिरों और मूर्तियो मे भौतिक सम्पदा देखने-दिखाने के अभ्यासी बन रहे है—वे सासारिक विभूति का मोह छोड़ने के स्थान पर, वीतराग-भाव की प्राप्ति में साधनभूत-मन्दिरो, मूर्तियो मे सासारिक विभूति देखने लगे हैं। कोई चादी, सोने और हीरे की मूर्तियां बनवाते हैं तो कोई बहु-मूल्य छत्र-चमर सिंहासन आदि। और यह सब होता है नाम, ख्याति, यश और प्रतिष्ठा के लिए—लोग चाहते हैं नाम लिखाना आदि। यह मार्ग सर्वथा त्याज्य है।

जब लोगो ने राग-त्याग के वीतरागी उपदेश की अवहेलना की तब चोरो ने थप्पड मारकर उन्हें सचेत किया और वे मार्ग पर आने को मजबूर होने लगे हैं। अब वे कह रहे हैं—

सादा मन्दिर मे सादा मूर्ति, वह भी विशाल पाषाण-निर्मित होनी चाहिए—जिससे वीतरागता झलके।

लोगो की इस प्रक्रिया से क्या हम ऐसा मान लें कि जिन्होने वीतरागता की अवहेलना की उन्हें चोरो ने थप्पड़ मारकर सीधे मार्ग पर लाने का उपाय ढूंढा है। असली बात क्या है ? जरा सोचिए ? और यह भी सोचिए कि लोगो को सादगी और वीतरागता की ओर ढालने के अन्य उपाय क्या है ?

३. प्रचार बातों से या आचरण से ?

दिगम्बरत्व वस्तु का स्व-रूप—धर्म है और इसका भाव नग्नत्व से है। जब कोई वस्तु आवरण अर्थात् विकार

रहित निर्मल स्वरूप में प्रकट होती है तब उसका वह रूप दिगम्बरी होता है और दिगम्बरी रूप को प्रकट करने के मार्ग अथवा सिद्धान्तों का अवलम्बन लेने वाला दिगम्बर मार्गी कहलाता है। जैन तीर्थंकरों ने इसी मार्ग का अवलम्बन ले स्वयं दिगम्बरत्व की प्राप्ति की और इसी मार्ग को दूसरों के लिए उजागर किया। जो लोग दिगम्बर-रूप अथवा दिगम्बर मार्ग को सम्प्रदाय की सज्ञा देते हैं, वे भ्रम में हैं। यतः—सम्प्रदाय पूर्वाग्रहो से—पर-विकल्पो से प्रेरित—मलिनमार्ग है और दिगम्बरत्व वस्तु के निर्मल-स्वाभाविक स्व-रूप की प्राप्ति का मार्ग। फलतः ऐसा समझना चाहिए कि जब कही सम्प्रदायातीत दृष्टि का नाम लिया जाय तब वहां वस्तु का स्वरूप अथवा दिगंबरत्व ही लक्ष्य है और इसी लक्ष्य प्राप्ति का आदर्श मार्ग तीर्थंकरो का मार्ग है, इसे ही धारण करना चाहिए।

लोग वर्षों से शोध-खोज की बातें करते हैं, इतिहासों में तत्तत्कालीन वेष-भूषा रीति-रिवाज आदि का अध्ययन करते हैं, मिट्टी पाषाणों कलाकृतियो में तीर्थंकरत्व धर्म और दिगम्बरत्व की प्राचीनता खोजते हैं। और तो और ऐसे लोग भी, जिन्हें पेय- अपेय,-खाद्य-अखाद्य और सामिष निरामिष का तनिक विचार नही, जो स्वयं जैनानुकूल देवदर्शन, पूजन, स्वाध्याय आदि से सर्वथा अछूते हैं, जिन्हें सांसारिक विषय वासना, कीर्ति के साधन जुटाने से फुरसत नहीं, वे दिगम्बरत्व के अनुरूप जैन की शोध खोज और प्रचार-प्रसार की बातें करते है।

ध्यान रहना चाहिए कि किसी सभा सोसायटी की सदस्यता या अधिकारीपने से, ऊपरी ग्रन्थ-ज्ञान होने से अथवा मीटिंगों में खुले बाहरी मचो पर भाषण झाड़ने से कुछ भी हाथ आने का नही, उल्टा दुष्प्रचार ही होगा। यदि वास्तविक दर्द है तो दिगम्बरत्व के अनुरूप क्रिया के आचरण को, अपने जीवन मे उतारना होगा। जब हम क्रिया-रूप में स्वन परिणत होंगे—तब बिना प्रयत्न के ही प्रचार होने लगेगा। पूज्यवर्णी गणेश प्रसाद जी के शब्दो में—'यदि हम अपने सिद्धान्त पर आरूढ़ हो जावें—उसी के अनुसार प्रवृत्ति करने लगे तो अन्य लोग हमारे सिद्धान्त को अच्छी तरह हृदयगम कर लेंगे। परन्तु हम लोग अपने सिद्धान्तों को अपने आचरण या प्रवृत्ति से तो दिखाते नही, केवल शब्दों द्वारा बतलाने का प्रयत्न करते हैं—उसका प्रभाव लोगों पर नहीं पड़ता।—जरा सोचिए असलियत क्या है?

४. भूल जो आज भी दुहराई जा रही है!

समाचारों से स्पष्ट है कि १५० वर्ष पूर्व एक भूल किन्ही दि० जैन भट्टारक महाराज ने कुम्भोज पहाड़ी का एक मन्दिर, मन्दिरमार्गी श्वेताम्बरों को देकर की; बाद मे पहाड़ी पर उन्हें धर्मशाला बनाने दी। जिसका दुष्परिणाम आज उभर कर सामने आया और फल-स्वरूप बाहुबली की मूर्ति पर पत्थर फेंके गए और त्याग के मूर्त रूप, तपस्वी ज्ञान प्रसारक ९२ वर्षीय वृद्ध दिगम्बर मुनि समन्तभद्र महाराज का अपमान हुआ। जिसके निराकरणार्थ मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज को अनशन व अन्न-त्याग करना पड़ा है और सारी दि० समाज संतप्त और चिन्तित है। अन्य तीर्थों पर तो वर्षों से विवाद चलते ही रहे है। आज भी दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी को उन्ही में उलझे रहना पड़ रहा है। ऐसे में सावधानी की आवश्यकता है।

हमारा मन्तव्य है कि हम देश और प्रान्त की अखंडता, सामाजिक सद्व्यवहार और सदाचार के प्रचार प्रसार के मामले में सभी पंथ-सम्प्रदायो से कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चलें—एक दूसरे का सहयोग करें। पर धर्म संबंधी सैद्धान्तिक और आचार-विचार मूलक सद्-परम्पराओं को आँच न आंने दें, एक मे दूसरे के समावेश को प्रश्रय न दें। यदि हम इसमें सावधानी न बरतेंगे तो कालान्तर मे किसी की भूल का प्रायश्चित्त किसी दूसरे को इसी भाति करते रहना पड़ेगा जिस प्रकार भट्टारक महाराज की भूल का परिमार्जन आज हम दिगबरो के गुरु कर्मठमुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज को करना पड़ रहा है और दि० समाज चिन्तित है। दि० मन्दिरो मे श्वेताम्बरी मूर्ति रखाना, दि० प्रकाशनों में श्वेताम्बरीय बातों—कथानकों का समावेश कराना, तीर्थक्षेत्रो मे साझेदारी बरतना आदि जैसी भूलें भी इसी जाति की है, जिन्हें दुहराया जाना आज भी बन्द नही है और जो परम्परा को तो लोप करेगी ही कालान्तर मे वे किसी कोर्ट मे भी हमे दुखदाई हो सकेंगी।

जरा सोचिए! इस आपदा को टालने के प्रयत्न कैसे किये जायें?

—सम्पादक

वीर सेवा मन्दिर के वर्तमान पदाधिकारी
तथा
कार्यकारिणी समिति के सदस्य

१.	साहू श्री अशोककुमार जैन	अध्यक्ष	६, सरदार पटेल मार्ग, नई दिल्ली
२.	न्यायमूर्ति श्री मांगीलाल जैन	उपाध्यक्ष	३०, तुगलक क्रीसेण्ट, नई दिल्ली
३.	श्री गोकुल प्रसाद जैन	उपाध्यक्ष	३, रामनगर पहाड़गंज, नई दिल्ली
४.	श्री सुभाष जैन	महासचिव	१६, दरियागंज, नई दिल्ली
५.	श्री चक्रेशकुमार जैन	सचिव	३, दरियागंज, नई दिल्ली
६.	श्री बाबूलाल जैन	"	२/१०, दरियागंज, नई दिल्ली
७.	श्री नन्हेंमल जैन	कोषाध्यक्ष	७/३५, दरियागंज, नई दिल्ली
८.	श्री इन्दर सैन जैन	सदस्य	४, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
९.	श्री ओमप्रकाश जैन एडवोकेट	"	४७४१/२३, दरियागंज, नई दिल्ली
१०.	श्री अजित प्रसाद जैन ठेकेदार	"	५-ए/२८, दरियागंज, नई दिल्ली
११.	श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन	"	बी-४५/४७, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली
१२.	श्री भारतभूषण जैन एडवोकेट	"	१, दरियागंज, नई दिल्ली
१३.	श्री विमलप्रसाद जैन (डेसू)	"	२१-ए, दरियागज, नई दिल्ली
१४.	श्री अजितप्रसाद जैन	"	२१-ए, दरियागंज, नई दिल्ली
१५.	श्री अनिलकुमार जैन	"	२७७०, कुतुब रोड, दिल्ली
१६.	श्री रत्नत्रयधारी जैन	"	५, अल्का जनपथ लेन, नई दिल्ली
१७.	श्री दिग्दर्शन चरण जैन	"	४६६२/२१, दरियागंज, नई दिल्ली
१८.	श्री मल्लिनाथ जैन	"	१, दरियागंज, नई दिल्ली
१९.	श्री मदनलाल जैन	"	सी-६-५८, डेवलपमेण्ट एरिया, सफदरजंग, नई दिल्ली
२०.	श्री दरयावसिंह जैन	"	७/२३, दरियागंज, नई दिल्ली-२
२१.	श्री नरेन्द्रकुमार जैन	"	४८४१-ए/२४, दरियागंज, नई दिल्ली

(पृष्ठ २६ का शेषांश)

से परमात्मा बनने का पुरुषार्थ जागृत हो जाता है। सबसे बड़ी जरूरत इसके भीतर परमात्मा बनने की प्यास पैदा करना है। परमात्मा के दर्शन करना, शास्त्र का अध्ययन करना इन सबका प्रयोजन उसमें परमात्मा बनने की प्यास पैदा करना है।

हमारे एक तरफ पशुता है एक तरफ परमात्मपना, बीच में हम खड़े हैं अगर इधर बढ़ते हैं तो परमात्मता दूर होती जाती है अगर उधर बढ़ते हैं तो पशुता दूर होती जाती है परमात्मपना नजदीक होने लगता है।

जब यह अपने में बीज देखने लगेगा तो सभी जीवात्मा उसे बीजरूप दिखाई देने लगेंगे। यह फरक हो सकता है कोई कम विकसित है और कोई कुछ ज्यादा। परन्तु बीजपना तो विद्यमान है और जब सभी बीजरूप दिखाई देने लगेंगे तो प्रेम जागृत होगा हिंसा वृति बह जायेगी। वह प्रेम मानव तक ही सीमित नहीं होगा परन्तु जीवमात्र तक फैल जायेगा अथवा कहना चाहिए वह प्रेममय हो जायेगा।

□□

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४ ५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५ ००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयो पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८ ००

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो।

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन, वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३७ : कि० १ जनवरी-मार्च १९८४

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्मरणाञ्जलि

प्रस्तुत 'किरण, के साथ 'अनेकान्त' अपने ३७वें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। इसकी सफलता में हमारे विद्वान लेखकों एवं प्रबुद्ध पाठकों का जो सराहनीय योगदान रहा है उसके लिए हम हृदय से आभारी हैं। इस अवसर पर हम अनेकान्त के प्रवर्तक, निर्माता एवं सम्पादक, जैन पत्रकारिता के मुकुटमणि स्व० आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' का कृतज्ञतापूर्वक सादर स्मरण करते हैं। गत २२ दिसम्बर १९८३ को उनकी १५वीं पुण्य तिथि थी, और उसके कई दिन पूर्व, मार्गशीर्ष शु० ११ वि. सं. २०४० (१५ दिस०, १९८३ ई०) को उनकी १०६ वीं जन्मतिथि थी। उस निःस्वार्थ एवं समर्पित संस्कृति-सेवी के सजीव स्मारक हैं—'अनेकान्त' जैसी त्रैमासिक शोधपत्रिका, दिल्ली का वीर-सेवा मन्दिर संस्थान एवं भवन, एटा से संचालित उनकी शेष निजी सम्पत्ति का बा० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ट्रस्ट, जिससे उसके सुयोग्य मन्त्री डा० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य उपयोगी साहित्य का प्रकाशन करते रहते हैं। और सरसावा में मुख्तार सा. का विशाल वीर सेवा मन्दिर भवन जो समाज के ही उपयोग में आता है। जिसमें विद्यालय आदि चलते हैं। अनेकान्त एवं वीर सेवा मंदिर परिवार की ओर से हम उस महामना की स्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

डा० ज्योति प्रसाद जैन

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक—वीर सेवा मंदिर के निमित्त श्री रत्नत्रयधारी जैन, ८ जनपथ लेन, नई दिल्ली
राष्ट्रीयता—भारतीय
प्रकाशन अवधि— त्रैमासिक
संपादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
मैं रत्नत्रयधारी जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

रत्नत्रयधारी जैन
प्रकाशक

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३७ किरण १	वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५१०, वि० सं० २०४०	जनवरी-मार्च १९८४

मुनिवर-स्तुति

कबधौं मिलै मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो ।
भोग उदास जोग जिन लीनो, छांड़ि परिग्रह भारा हो ।
इन्द्रिय-दमन नमन मद कीनो, विषय कषाय निवारा हो ।।
कंचन-कांच बराबर जिनके, निन्दक बंदक सारा हो ।
दुर्धर-तप तपि सम्यक् निज घर, मन-वच-तन कर धारा हो ।।
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरें, पावस तरुतल ठारा हो ।
करुणा भीन, चीन त्रस-थावर, ईर्या पंथ समारा हो ।।
मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महाबल टारा हो ।
मास छमास उपास, बास बन, प्रासुक करत अहारा हो ।।
आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो ।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो ।।
आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो ।
'दौलत' ऐसे जैन जतिन को, नितप्रति धोक हमारा हो ।।

महाकवि स्वयंभू विषयक शोध-खोज

□ विद्यावारिधि डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

अपभ्रंश भापा के सुप्रसिद्ध महाकवि स्वयंभू के विषय में गत साधिक साठ वर्षों में पर्याप्त लिखा गया है। उक्त ऊहापोह एवं शोध खोज से तद्विषयक अध्ययन की प्रगति का परिचय प्राप्त होता है और प्रतीत होता है कि अभी भी स्वयभू विषयक अध्ययन अपूर्ण ही है।

कविवर का सर्व प्रसिद्ध महाकाव्य 'पउमचरिउ' अपरनाम 'रामायण' है जिसके बल पर उनकी गणना मात्र अपभ्रंश भाषा के ही नही, समस्त भारतीय साहित्य के सर्वोपरि महाकवियो मे की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास से सैकड़ो वर्ष पहले से, तथा स्वय उनके समय मे भी उत्तर भारत में स्वयंभू रामायण का प्रभूत प्रचार था। इस ग्रन्थ की अनेक प्रतिया १५-१६वी शती ई० की ग्वालियर आदि के शास्त्र भंडारो मे प्राप्त हुई है। कवि का दूसरा महाकाव्य 'रिट्ठणेमिचरिउ' अपरनाम 'हरिवश पुराण' है, तीसरी कृति उनकी पद्धडियाबद्ध 'पंचमीचरिउ' (नागकुमार चरित) हैं जो अद्यावधि अनुपलब्ध है। स्वयभू छन्द नाम से उन्होने अपभ्रंश भाषा का एक छन्द शास्त्र भी रचा था और एक अपभ्रंश व्याकरण (स्वयभू व्याकरण) भी रचा बताया जाता है। कई अन्य छोटी-छोटी रचनाओं के उल्लेख भी मिलते है यथा 'शुद्धय चरित' या 'सुव्वय चरित', एक स्तोत्र, आदि।

आधुनिक युग मे १८२० ई० के लगभग डा० पी० डी० गुणें ने कवि स्वयभू की खोज सर्व प्रथम की थी। उनके उक्त लघु परिचय के आधार से मुनिजिनविजय जी ने इन कविवर की ओर विद्वतगण का ध्यान आकृष्ट किया और पं० नाथूराम प्रेमी ने भी जुलाई १९२३ के 'जैन साहित्य समालोचक' में प्रकाशित अपने लेख 'महाकवि पुष्पदंत और उनका महापुराण' में स्वयंभू के पउमचरिउ की चर्चा की।

तदनन्तर प्रो० हीरालाल जैन ने नागपुर यूनीवर्सिटी जनरल, भा० १ सन १९३५ मे प्रकाशित अपने लेख स्वयंभू एण्ड हिज टू पोइम्स इन अपभ्रंश' मे कविवर और उनके दोनों महाकाव्यो का परिचय दिया, तथा डा० एच० डी० वेलकर ने कवि के छंद ग्रन्थ का अन्वेषण करके उसका उपलभ्य भाग रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा के जर्नल (नई सीरीज), भा-२, सन १९३५-३६, में प्रकाशित कराया। प्रो० मधुसूदन मोदी का गुजराती लेख 'अपभ्रश कवियो चतुर्मुख स्वयभू अने त्रिभुवन स्वयभू' १९४० मे भारतीय-विद्या' नामक पत्रिका के वर्ष १ अक २-३ मे प्रकाशित हुआ। उन्होने चतुर्मुख और स्वयंभू को अभिन्न समझने की भूल की। पं. नाथूराम जी प्रेमी ने भारतीय विद्या (व. २ अ-१) में प्रकाशित अपने लेख तथा १९४२ मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'जैन साहित्य और इतिहास' के प्रथम सस्करण के महाकवि स्वयभू और त्रिभुवनस्वयंभू' शीर्षक निबध (पृ. ३७०-४९५) मे मोदी जी की उक्त भूल का निरसन किया तथा पिता-पुत्र कविद्वय के संबन्ध मे विस्तृत ऊहापोह की और दोनो महाकाव्यो के आद्य एव अन्त्य पाठ भी उद्घृत किए। महापडित राहुल सास्कृत्यायन ने १९४५ मे प्रकाशित अपने ग्रथ 'हिन्दी काव्यधारा' में स्वयंभू रामायण के कई काव्यात्मक अवतरण उदघृत करते हुए प्रथम श्रेणी के महाकवि के रूप में उनका समुचित मूल्याकन किया और यह भी इंगित किया कि गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस पर स्वयभू रामायण का प्रभूत एव प्रत्यक्ष प्रभाव रहा। प० परशुराम चतुर्वेदी और डा० त्रिलोक नारायण ने भी अपने लेखो आदि में स्वयभू तथा उनके महाकाव्य की चर्चा की। किन्तु राहुल जी तथा उक्त दोनों विद्वानों की कई भ्रान्त धारणाएं भी रहीं।

१९५२-१९६२ में डा० एच० सी० भायाणी ने तीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार से स्वयंभू के पउमचरिउ के

मूलपाठ का अत्युत्तम संपादन करके उसे तीन भागों में सिंघी जैन सीरीज (न. ३४-३६) के अन्तर्गत प्रकाशित कराया। भा. १ व ३ की विद्वत्तापूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाओं में उन्होने उक्त महाकाव्य का सर्वांग समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया—उसके स्तोत्रों, भाषा, शैली, व्याकरण, छद प्रयोग, विषय वस्तु आदि पर प्रकाश डाला और स्वयं महाकवि के व्यक्तित्व, कृतित्व, उपलब्धियो, तिथि युग, आदि का भी विवेचन किया। डा० ज्योति प्रसाद जैन ने १६५५-५६ में अपने शोध प्रबध 'जैना सोर्सेज आफ दी हिस्टरी आफ एन्सेंट इण्डिया' मे भी महाकवि स्वयभू का परिचय दिया—इस ग्रथ का पुस्तकाकार प्रकाशन १६८४ मे मै० मुन्शीराम मनोहर लाल नई दिल्ली द्वारा हुआ। १६५६ मे ही प० नाथूराम प्रेमी के जैन साहित्य और इतिहास के द्वितीय सस्करण के (पृ० १६६-२१६ पर) 'स्वयभू और त्रिभुवन स्वयभू' लेख मे उनके पूर्वोक्त लेख का सशोधित रूप प्रकट हुआ और उसी वर्ष प्रकाशित अपने शोध प्रबध 'अपभ्र श साहित्य' पृ. ५१ आदि मे डा० एच कोछड़ ने स्वयभू तथा उनके काव्यों की संक्षिप्त विवेचना की।

१६५७ मे भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा स्वयभू के पउमचरिउ का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। इसमे डा० भायाणी द्वारा सुसंपादित मूल पाठ अपनाया गया और प्रो० देवेन्द्र कुमार जैन साहित्याचार्य द्वारा उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इस भाग के प्रारम्भ मे प्रधान सम्पादक के रूप में डा० हीरालाल जैन एवं डा० ए. एन. उपाध्ये के सक्षिप्त प्राथमिक वक्तव्य के अनन्तर विद्वान हिन्दी अनुवादक ने 'दो शब्द' तथा महाकवि स्वयभू' शीर्षकों मे महाकवि के व्यक्तित्व एव कृतित्व पर प्रकाश डाला है। वीर सेवा मन्दिर दिल्ली से १६६३ मे प्रकाशित जैन ग्रंथ प्रशस्ति सग्रह भा० २ की भूमिका मे प० परमानन्द शास्त्री ने भी कवि और उसकी कृतियो का परिचय तथा अपनी तद्विषयक धाराणाएं दी हैं—पउमचरिउ की जिस प्रति का उन्होने उपयोग किया वह १६५७ ई० की अर्थात वैसाख शुक्ल १५ सामवार वि. स० १५१४ की थी। इस बीच भारतीय ज्ञानपीठ से डा० देवेन्द्रकुमार जैन द्वारा अनुवित भाग क्रमशः निकलते रहे। पांचवा (अंतिम) भाग १६७० में प्रकाशित हुआ, जिसके प्रारम्भ में ग्रथमाला के प्रधान सम्पादक द्वय डा० हीरालाल जैन एव डा० ए. एन. उपाध्ये के अंग्रेजी एवं हिन्दी प्रधान सम्पादकीय मे पुन: इस महाकाव्य तथा उसके रचयिता के विषय मे विचार किया गया है।

उपरोक्त विवेचनो के अतिरिक्त पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान वाराणसी से प्रकाशित "जैन साहित्य का वृहद इतिहास" (खड ६), डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री कृत 'अपभ्र श भाषा और साहित्य', डा० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य कृत 'भगवान महावीर की आचार्य परम्परा' (भाग ४), प० परमानन्द शास्त्री एव पं० बलभद्र जैन कृत 'जैन धर्म का प्राचीन इतिहास' (भाग २) तथा अन्य अन्य विद्वानो के फुटकर लेखो आदि मे भी महाकवि स्वयंभू की चर्चा या उल्लेख हुए है। इस प्रकार गत ६०-६५ वर्षो मे अपभ्र श भाषा एव साहित्य के महाकवि एवं आचार्य स्वयभूदेव के सम्बन्ध मे बहुत कुछ अध्ययन-विवेचन एव चर्चा हुई है, तथापि अभी और बहुत कुछ किया जाना शेष है—उपरोक्त अध्ययन अभी भी पूर्ण, सर्वांग तथा सर्वथा सन्तोषजनक नही है।

महाकवि की अद्यावधि ज्ञात सात कृतियों मे से तीन ही—पउमचरिउ, अरिट्ठणेमिचरिउ और स्वयभूछद ही उपलब्ध है। इनमे से भी अभी तक डा० वेलणकार द्वारा स्वयभू छद का और डा० भायाणी द्वारा पउमचरिउ (रामायण) का ही भाषाशास्त्रीय एव काव्यशास्त्रीय समीक्षात्मक अध्ययन हुआ है— उनसे आगे बढकर और विशेष अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है। पउमचरिउ की भाति अरिठ्ठणेमिचरिउ (हरिवश पुराण) का भी विशेषाध्ययनयुक्त सुसपादित सस्करण प्रकाशित होना शेष है। पचमी चरिउ (नागकुमार चरित), सुव्वयचरिउ (?), स्वयभू व्याकरण आदि अन्य ज्ञात रचनाओ की शास्त्र भण्डारो मे खोज की जाने तथा उद्धार किये जाने का कार्य शेष है। खोज करने से सम्भव है कि उनकी कोई अन्य रचना या रचनाये भी प्राप्त हो जायें। स्वयभू की प्रतिमा के जिन आयामो-काव्यकौशल, भाषा ने पुण्य, वैदुष्य, धर्मज्ञता, शास्त्रज्ञता, छदशास्त्रज्ञता व्याकरण पांडित्य आदि का इंगित मिलता है उन सबकी सम्यक्

गवेषणा करके कवि के व्यक्तित्व को उजागर करना, भारतीय साहित्य में उनके योगदान का मूल्यांकन और भारतीय ही नहीं, विश्व के सार्वकालीन महाकवियों में उनका स्थान निर्धारण करना, ऐसी दिशाएं हैं जिनमें अभी बहुत कुछ किया जा सकता है। उनके सम्पूर्ण साहित्य का तलस्पर्शी सर्वांग सांस्कृतिक अध्ययन अपेक्षित है। उनकी कृतियों के स्तोत्रों तथा पूर्वापर प्रभावो पर भी प्रकाश पड़ना है।

अन्य अनेक पुरातन आचार्यों, मनीषियों, महाकवियो आदि की भांति महाकवि स्वयभू के विषय मे जो कुछ वैयक्तिक तथ्य उपलब्ध हैं, वे अत्यल्प हैं। परन्तु जैसा कि आंग्ल महाकवि शेक्सपियर के एक प्रौढ अध्येता अल्फ्रेड आस्टिन का कहना है कि 'बहुधा यह कहा जाता है कि व्यक्ति विशेष के रूप में हम शेक्सपियर के विषय मे कुछ भी नहीं जानते, किन्तु मुझे तो यह प्रतीत होता है जितना अधिक हम उस व्यक्ति के विषय मे जानते हैं, किसी अन्य व्यक्ति के विषय में नही जानते हैं—यही बात महाकवि स्वयंभू पर लागू होती है, किन्तु उसके पांडित्य का उतना विविध एवं विस्तृत अध्ययन तो हो ले जितना कि गत लगभग ४०० वर्ष में शेक्सपियर का हो सका है। ऐसा हो जाने पर स्वयभू के भी व्यक्तित्व, स्वभाव, चारित्र एव गुण-दोषों को बहुत कुछ उजागर किया जा सकता है।

कवि की प्राप्त कृतियों में उनका नाम स्वयभू या स्वयंभूदेव प्राप्त होता है। यह उनका मूल नाम था या साहित्यिक, कहा नही जा सकता। कविराय, कविराज-चक्रवर्ती, कविराजधवल, छंदचूडामणि, जयपरिवेश तथा विजयप्रेषित उनके विरुद ये उपाधियां रही प्रतीत होती हैं। स्वय के कथनानुसार वह शरीर के दुबले-पतले, ऊंचे कद के थे, उनकी नाक चपटी थी और दांत विरल थे। ऐसा लगता है कि काव्यों की रचना के समय वह प्रौढ़ अनुभववृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध थे। उनकी जाति, कुल, बंश, गोत्र आदि का कुछ पता नही है, सम्भवतया वह ब्राह्मण थे। धर्मत: वह दिगम्बर मतावलम्बी थे। पुष्पदतीय महा-पुराण के 'स्वयंभू' शब्द के टिप्पण में उन्हें 'आपुलीसघीय' कहा गया है जिससे अनुमान लगाया गया ? कि उनका सम्बन्ध यापनीय संघ से था यह संघ दिगम्बर परम्परा की ही एक शाखा थी और अन्तत: उसी में अंतर्भूत हो गया।

कवि के पिता का नाम मारुतदेव था, जो शायद स्वयं भी अपभ्रंश भाषा के एक सुकवि थे। कवि की जननी का नाम पद्मिनी था। कवि की तीन पत्नियां थी—आइच्चंबा (आदित्याम्बा), साभिअब्बा या अभिअब्बा (अमृताम्बा) और सुअब्बा (श्रुताम्बा)—ये तीनों ही विदुषी थी और कवि के लेखनकार्य मे योग देती थीं। स्वयंभू की महासत्वधरिणी धर्मपत्नी सामिअब्बा तो ध्रुव-राज की पुत्रियों की शिक्षिका भी थी। कवि की संभवतया एकाधिक संतानें थीं, किन्तु उनके केवल एक सुपुत्र त्रिभुवन स्वयभू के विषय में ही कुछ जानकारी है। उसने पिता की कृतियो के कच्चे आलेखों को सुसंपादित करके तथा उनमें पूरक अश, अन्त्य प्रशस्तिया आदि जोड़कर उनका सरक्षण एवं प्रकाशन किया। उसने अपने बदइय, गोविन्द, श्रीपाल, मदन आदि कई प्रश्रयदाताओं एवं प्रेरको के नाम भी दिए हैं। स्वयं कवि स्वयंभू ने अपने आश्रय-दाता के रूप मे रयडा धनञ्जय और धवलइय या ध्रुव-राज धवलइय के नाम प्रकट किए हैं।

कवि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक कवियो एव साहित्यकारो का नामोल्लेख किया है। पउमचरिउ की सूची में अतिम नाम अनुत्तरवादी कीर्तिधर और रविषेण के हैं—इन दोनो के पद्मपुराणों को ही स्वयभू ने अपनी रामायण का मूलाधार बनाया प्रतीत होता है। संस्कृत पद्मपुराण के कर्ता रविषेण (६७६ ई०) ने भी अनुत्तरवादी कीर्तिधर के पुराण को अपना आधार सूचित किया है। अरिट्ठणेमि चरिउ में स्वयभू ने महाकवि चतुर्मुख और उनके पद्धा-डियाबद्ध हरिवशपुराण को अपना पूर्ववर्ती सूचित किया है। स्वय स्वयभू का सर्वप्रथम स्पष्ट नामोल्लेख पुष्पदत के अपभ्रंश महापुराण (६५६ ई०) में प्राप्त होता है।

इस प्रकार कवि के समय की पूर्वावधि ६७६ ई० और उत्तरावधि ६५६ ई० स्थिर होती है। इसी आधार पर स्व० प्रेमी जी ने स्वयंभू का समय ६७६ ई० और ७८३ ई० के बीच अनुमान किया था, डा० देवेन्द्र कुमार ने भी इसे मान्य किया किन्तु यह हेतु कि स्वयंभू ने जिन-

(शेष पृ० ८ पर)

ब्राह्मी स्तोत्र : एक समस्या पूर्ति

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

मेरे हस्तलिखित ग्रन्थ सग्रह मे एक छोटी-सी पुस्तिका हस्तलिखित है जिसमें केवल ग्यारह पत्र हैं प्रत्येक पत्र की लं० चौ० १४॥ सें० मी० × ७॥ से० मी० है। प्रत्येक पत्र में पांच-पांच पक्तिया हैं तथा प्रत्येक पक्ति मे तीस-२ अक्षर हैं। प्रति अत्यधिक सुवाच्य सुन्दर शब्दो मे अकित है इसमे केवल ४४ वसन्ततिलका संस्कृत छन्द हैं। इसके रचयिता श्री गुरु खेमकर्ण के शिष्य श्री धर्मसिंह हैं। जिन-रत्नकोष पृष्ठ २८६ पर इसका उल्लेख है, पर रचयिता का विशिष्ट परिचय उपलब्ध नही होता है।

इस ब्राह्मी स्तोत्र की एक खास विशेषता है इसीलिए यह लेख लिखा जा रहा है। यह भगवती सरस्वती या जिनवाणी का वर्णन करने वाला स्तोत्र है और केवल स्तुतिपरक ही नही है अपितु जहा जिनवाणी की स्तुति है वहां भगवान आदिनाथ की स्तुति से सबधित मुनि मान-तुंगाचार्यकृत भक्तामरस्तोत्र के प्रत्येक छद की अतिम पक्ति समाविष्ट कर तीन पंक्तियां सरस्वती की स्तुति की मिलाकर पूरा जिनवाणी का स्तवन किया गया है। इस तरह वाग्देवी की स्तुति के ४४ छद प्रस्तुत कर रहा हू।

एक समय था जब समस्यापूर्ति का प्रचलन हिन्दी, उर्दू, संस्कृत आदि सभी भाषाओ में हुआ करता था और यह कवि विचक्षण प्रतिभा के धनी कविगण ही कर पाते थे। धारानरेश महाराज भोज तो अपने कवियो को स्वय समस्यात्मक पक्तियां देकर उनकी पूर्ति कराते थे तथा उत्तम समस्यापूर्ति रूपक रचना पर लाख-लाख मुद्राए दान में समर्पित कर दिया करते थे। यद्यपि 'लक्षददौ' की उक्ति में अतिशयोक्ति भले ही हों फिर भी समस्यापूर्ति का संचलन विभिन्न भाषाओ मे विपुलता से रहा है। इसी तरह का एक महाकाव्य "पार्श्वाभ्युदय" जिसे श्री जिनसेनाचार्य महाराज ने महाकवि कालिदास के मेघदूत की एक पंक्ति लेकर शेष तीन पंक्तियां अपनी रचकर पार्श्वप्रभु का चरित्र वर्णन किया है, कितनी महान प्रतिभा थी उनमे। इसी तरह प० लालारामजी शास्त्री ने भक्तामर स्तोत्र' के चरणों को लेकर २०४ श्लोकों की रचना "शतद्वयी" के नाम से की थी। इसी तरह "प्राण-प्रिय" नामक काव्य भी राजुल और नेमिप्रभु का वर्णन करने वाली समस्यापूर्ति रूपक रचना उपलब्ध होती है।

जैन साहित्य में उमास्वामी और मानतुंगाचार्य दो ही ऐसे निर्विवाद आचार्य हुए है जिन्हे दि० और श्वे० दोनों ही सम्प्रदाय बडी श्रद्धा और आदर के साथ पूजते हैं दोनो की कृतिया तत्वार्थ सूत्र और भक्तामर स्तोत्र बड़े भक्ति भाव से पढे और बाचे जाते हैं। तथा उनकी आरा-धना और स्वाध्याय होता है। यह बात अलग है कि आगे चलकर कुछ विद्वानो ने दुराग्रह वश इनमे हेराफेरी कर कुछ कमी बढ कर दिया जिसका उल्लेख करना यहां अप्रा-सगिक होगा इस विवाद के लिए अनेकान्त वर्ष २ किरण १, पृ० ६६ पर तथा स्व० डा० नेमीचन्द्र जी ज्योतिषा-चार्य कृत 'तीर्थंकर महावीर और उनकी परम्परा' को विस्तार से देखे।

यहां तो मेरा मूल उद्देश्य केवल इस "ब्राह्मी स्तोत्र" शीर्षक श्रेष्ठ साहित्यिक कला कृति का रसास्वादन ही पाठको को कराना मात्र है। यदि भविष्य मे आवश्यकता हुई तो 'भक्तामर स्तोत्र और तत्त्वार्थसूत्र' पर विस्तार से विशद विवेचन अगले अकों मे करूंगा। यह साहित्यिक कलाकृति अब तक सर्वथा अप्राप्य, अज्ञात और अप्रकाश्य है, सुधी पाठकगण इन छदों की गरिमा और लालित्य को परखें तथा भावों और विचारों को कवि ने किस खूब-सूरती से सजोया एवं पिरोया है वह सर्वथा पठनीय और मननीय है जिसे अविरल रूप से नीचे दे रहा हूं। वाग्देवी की स्तुति कितनी सुन्दर और चमत्कृत है यह पाठक स्वयं ही निर्णय करें ऐसी रचनायें प्राय: बहुत ही कम उपलब्ध होती हैं :—

॥ श्री लक्ष्म्यै नमः ॥

श्री गुरु खेमकरण के शिष्य धर्मसिंह द्वारा रचित

भक्तामर भ्रमर विभ्रमवैभवेन,
लीलायते क्रम सरोज युगो यदीयः ।
निघ्नन्नरिष्ट भयभित्तिमभीष्ट भूमा-
वालंबनं भवजलेपततां जनानां ॥१॥
मत्वैवयं जनयितारमरंस्त हस्ते या
सश्रिता विशद वर्णाबलिभिः प्रसूना ।
ब्राह्मीमजिह्म गुणगौरव गौरवर्णा
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रं ॥२॥
मातर्मति सतसहस्रमुखीं प्रसीदनालं
मनीरिवनिमयीस्वरभक्तिवृत्तौ ।
वक्तुं स्तवं सकल शास्त्रजयं भवत्या-
मन्यः कः इच्छति जनः सहसागृहीतुं ॥३
त्वां स्तोत्रमंत्रसतिचारु चरित्रपात्र
कर्तुं स्वयं गुणदरी जलउर्विगाह्यं ।
येतत्रयं विडुपगूहयितुं सुराद्रि
को वा तरीतुमलमंबुनिधिं भुजाभ्यां ॥४
त्वद्वर्णनावचनमौक्तिक पूर्णमीक्ष
मातर्नभक्तिमूढ़ा तव मानस मे ।
प्रीतिर्ज्जगत्त्रय जनध्वनि सत्यताया
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥५
वीणास्वनं स्वसहज यदवापमूर्छा
श्रोतुर्न किंसुवसुवाक्ययः जल्पितायां ।
जातं न कौकिलरवं प्रतिकूलभावं
तच्चारुचाम्र कलिकानिकरैकहेतुः ॥६
त्वन्नाम मंत्रमिह भारत संभवानां
भक्त्यैतिभारतविशां जपतामघौघं ।
सद्यक्षयंस्थगितभूवलयांतरोक्ष
सूर्यांशुभिन्नमिवशार्वरमंधकारं ॥७
श्रीहर्षमाघवरभारविकालिदास वाल्मीकि
पाणिनिममट्टमहाकवीनां ।
साम्यं त्वदीय चरणाब्ज समाश्रितो य
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूर्दबिंदू ॥८
विद्याविसाररसिकमानसलालसाना
चेतांसि यांति सुदृशां धुतमिष्टमूर्तेः ।
त्वय्यर्यमत्वषि तथैव नवोदयिन्या
पद्माकरेषु जलजानि विकासभांजि ॥९
त्वं किं करोषि न शिवेन समान मानान्
त्वत्संस्तवें हृदः·· षोविदुषोगुरुहः ।
किं सेवयन्नुपकृते सुकृतैकहेतु
भूत्याश्रितं य इहनात्म समं करोति ॥१०
य त्वत्कथामृतरसं सरसं निपीय
मेधाविनोनवसुधामपिनाद्रियते ।
क्षीरार्णवार्णवुचितं मनसाप्यवाप्य
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं कः इच्छेत् ॥११
जैनाः वदति वरदे सति साधुरूपा
त्वामामनति नितरामितरे भवानी ।
सारस्वत मतविभिन्नमनेकमेकं
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥१२
मन्येप्रभूत किरणै श्रुतदेविदेव्यौ
त्वत्कुंडलौकिल विडंबयतास्तमायां ।
मूर्तंदृशामविषय भविभोश्चपूर्णः
यद्वासरेभवति पांडुपलासकल्पं ॥१३
ये व्योमवात जलवह्नि मृदा चयेन
काय प्रहर्ष विमुखा स्त्वदृते श्रयति ।
जातानबाम्वजडताद्यगुणानणूत्मा
कस्तान्निवारयति संचरतोयथेष्टम् ॥१४
अस्मादृशां वरमवाप्तमिद भवत्या
सत्यावृतोरु विकृते सरणिनयातं ।
किं चाद्यमेन्द्रमनघेसति सारदेत्र
किं मंदराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥१५
निर्माय्यशास्त्रसदनं यतिभिर्जयैकं
प्रादुष्कृतः प्रकृतितीव्रतपोमयेन ।
उच्छेदिताहउलय सतिगीयसेचेद्-
दीपो परस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥१६
यस्या अतीन्द्रगिरिरांगिरि सप्रसस्यः
त्वां सास्वतीं स्वमतसिद्धमही मदीयः ।
ज्योतिष्मती चवचसां ततुतेज आस्ते
सूर्यातिशायिमहिमासिमुनीन्द्रलोके ॥१७
स्पष्टार्यमत्वषितथैव नवोदयिन्याक्षरं सुरभि-
सुत्रसमद्धिशोभं जेगीयमानरसिक प्रियपंचमेष्टं ।

देदीप्यते सुमुखिते वदनारविंदं
विद्योतयज्जगत्पूर्वशशांक बिंबम् ॥१८
प्राप्नोत्यमुत्र सकलावयवप्रसंगी
निस्यति मिंदुवदनेशशिरात्मकत्व ।
शक्ति जगत्वदधरामृत वर्षणेन
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥१६
मातस्त्वयी मम मनोरमतेमनीषी
मुग्धांगने नहि तथा नियमाद्भुवत्या ।
त्वस्मिन्नमेय पणरोचिषि रत्नयातो
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेपि ॥२०
चेतस्त्वयी श्रमणपातयते मनस्वी
स्याद्वादनिम्ननयत. प्रयते यतोऽह ।
योग समेत्य नियमव्ययपूर्वकेन
कश्चिन्मनोहरति नाथ भवांतरेऽपि ॥२१
ज्ञान तु सम्यगुदयस्य निशत्वमेव
व्यत्यास सशय धियोमुख मनेके ।
गौरांगि सति बहुभा क्व कुमोर्कमन्या
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालं ॥२२
यो रोधसीमृतजनी गमयत्युपास्य
जाने स एव सुननु: पृथित पृथिव्या ।
पूर्वं त्वयादिपुरुष सदयोस्ति साध्वी
नान्यः शिवश्शिवपदस्यमुनीन्द्रपंथा ॥२३
दिव्यद्द्या निलयमुन्मुखि दक्षिपद्यं
पुण्य प्रपूर्ण हृदय वरदे वरेण्य ।
त्वद्भूधन सधन रश्मि महाप्रभाव
ज्ञानं स्वरूपममलंप्रवदंति संतः ॥२४
कैवल्यमात्मतपसाखिलविश्वदर्शी
चक्रे ययादिपुरुषः प्रणया प्रमाया ।
जानाभि विश्वजननीति च देवते सा
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोसि ॥२५
सिद्धान्त एधि फलदो बहुराज्यलाभ:
न्यस्तो यया जगत विश्वजनीनपंथ. ।
विच्छित्तये भवति तेरिवदेविमन्या
स्तुभ्यं नमो जिनभवोदधिशोषणाय ॥२६
मध्यान्ह काल विसृतः सवितुः प्रभायां
सर्वैदिरे गुणवति त्वमतो भवत्या ।
दोषांस दृष्ट वरणैरपरैरभिज्ञैः
स्वप्नान्तरेपि न कदाचिदपीक्षतोसि ॥२७

हारांतरस्थर्माय कौस्तुभमत्रगात्र
शोभां सहस्रगुणयत्युदयास्तगीर्य्यो ।
विद्यास्यतस्तव सतीमुपचारिरत्न
बिंब रवेरिवपयोधरपार्श्ववर्ती ॥२८
अज्ञानमात्रतिमिर तव वाग्विलासा
विद्याबिनोदि विदुषा महता मुखाग्रे ।
निघ्नति तिग्म किरणा निहिताभनिरीहे
तुंगोदयाद्रि शिरसीव सहस्ररश्मे ॥२६
पृथ्वीतल द्वयमपायि पवित्रयत्वा
शुद्ध यशोधवलयत्यधुनोर्द्धलोक ।
प्राग्लघयासुमुखतेथ विद महिम्ना
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिवशातकौंभं ॥३०
रोमोर्मिर्माभर्भुवन मातरिवम्त्रवेणी
सन पवित्रयनिलोकमदोगयर्ती ।
विभ्राजतेभवगती त्रिवलीपथ ते
प्रख्यापयस्त्रिजगतः परमेश्वरत्वं ॥३१
भाष्योवित युक्ति गहनानि च निर्निमीशे
यत्र त्वमेव सति शास्त्र सरोवराणि ।
जानीमहे खलु सुवर्णमयानि वाक्य
पद्मानितत्र विबुधाः परिकल्पयंति ॥३२
प्राग्वंभव विजयतेनयथेनरम्या
ब्राह्मी प्रकाम रचना रुचिर तथाते ।
ताडकयोस्तवगभस्ति रतीन्दुभान्वो-
स्तादृक्कुतो ग्रहगणस्य बिकासिनोपि ॥३३
कल्याणि सोपनिषद्प्रसभ प्रगृह्य-
वेदानतोन्द्रजदरो जलधौजुगोप ।
भीष्म विधेरसुरमुग्ररुषापियस्त
दृष्ट्वाभयं भवति नोभवदाश्रितानां ॥३४
गर्जद्धनाघन समान-तवुर्गजेन्द्र
विष्कभकुभपरिरभजयाधिरूढ ।
द्वेष्योपि भूप्रसरदश्वपदाति सैन्य-
नाक्रामतिक्रमयुगाचल संश्रितं ते ॥३५
माशाशृगस्थिरस शुक्र सलज्जमज्जा
स्नायूदिते वपुषिपित्त मरुत्कफाद्यैः ।
रोभानलं चपलतावयव विकारं
स्त्वन्नामकीर्तन जलंशमयत्येषम् ॥३६
मिथ्याप्रवादि निरत विधिकृत्य सूयं
एकांतपक्ष कृतकक्ष विलक्षतास्यं ।

चेतो स्तभि: सपरिमर्द्दंयते द्विजिह्व
त्वन्नाम नागदमनी हृदि यस्यपु सः ॥३७
प्राचीनकर्म जनता चरणं जगत्मू
मौढ्य मदाढयदृढ मुद्रित मान्द्रनन्द्र ।
दीपाशुगष्टि । यि सद्य सुदेवि पुसा
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशुभिदामुपैति ॥३८
साहित्य शाब्दिक रसामृत पूरिताया
सत्तर्क कर्कस महोर्मि मनोरमाया ।
पारंनिरमशेष कलिदिकाया
त्-त्पादपंकजवनाश्रयिणो लभते ॥३९
सस्थैरुपर्युपरिलोकमिन्नोक सोज्ञा
व्योम्नोगुरुज्ञ कविनि.सह सख्यमुच्चै ।
अन्योन्यमान्यमिति ते यदवैमि मात:
त्रासं विहायभवतस्स्मरणादव्रजंति ॥४०
देवाइय त्यजनिमव तव प्रशादात
प्राप्नोत्यहो प्रकृति म न्मिन मानवीया ।
व्यक्त त्वचिंत्यमहिमा प्रतिभाति तीर्यग्
मर्त्याः भवंति मकरध्वजतुल्यरुपाः ॥४१
ये चानवद्य पदवी प्रतिपद्य पद्मे
त्वच्छिष्यता वपुषिवासं रति लभते ।
नोतुग्रहातव शिवास्पदमाप्यते यत्
सद्यः स्वयं विगतबंधमया भवंति ॥४२
इदो कलेव विमलापि कलक मुक्ता
गगेव पावन करी न जलाशयापि ।
स्यात्तस्य भारति सहश्रमुखीमनीषा
यस्तावकस्तवमिमं मतिमानधीते ॥४३
योहज्जयो कृत जयो गुरु खेमकर्ण
पादप्रसाद मुदितो मुदितो गुरुधर्मसिहः ।
वाग्देवि भूम्निभवतीभिरभिज्ञ सघे
तं मानतुंगभवशा समुपैति लक्ष्मी ॥४४

इति भक्तामरस्यानिमपदांकित ब्राह्मी स्तोत्र समाप्त।
लेखितमिद पुस्तक ऋषि प्रेमचदेन स्वार्थमिति ।

श्रुत कुटीर, ६८ कुन्ती मार्ग,
विश्वास नगर, शाहदरा दिल्ली-३२

(पृ० ४ का शेषांश)

सेन पुन्नाट के हरिवशपुराण (७८३ ई०) का कोई उल्लेख नही किया और न जिनसेन-गुणभद्र के महापुराण (लगभग ८५० ई०) का ही, अत वह ७८३ के पूर्व ही हुए होने चाहिए, कुछ लचर प्रतीत होता है। इन तीनो आचार्यों ने भी तो स्वयभू या उसके ग्रथों का कोई उल्लेख नही किया है। हमे तो ऐसा लगता है कि स्वयभू और हरिवशकार जिनसेन प्राय ममसामयिक थे। स्वयभू द्वारा उल्लेखित उसका आश्रयदाता ध्रुवराय धवल एव राष्ट्रकूट नरेश ध्रुवराज धारावर्ष निरुपम (७७९-७९३ उ०) से अभिन्न प्रतीत होता है। धवल या धवलइय उसका भी एक विरुद रहा प्रतीत होता है। ध्रुव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी गोविन्द तृ० —जगतुग-त्रिभुवन-धवल (७९३-८१४ ई०) त्रिभुवनस्वयभू का बढइयगोबिन्द नामक आश्रयदाता रहा हो सकता है। अतएव स्वयंभू का साहित्य-सृजन लगभग ७७० ई० से ७९५ ई० रहा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि अपने उत्तर भारतीय अभियान मे राष्ट्रकूट ध्रुवराज कन्नोज से राज्यश्रेष्ठि रयडा धनञ्जय और उसके आश्रित कवि स्वयंभू को सपरिवार अपनी राजधानी एलउर मे लिवा लाया था—पउमचरिउ का प्रारम्भ कन्नौज मे हुआ, समाप्ति एलडर मे हुई। शेष ग्रथ भी राष्ट्रकूटो के आश्रय में ही रखे गये। कवि के मूल निवास के विषय मे मतभेद है—कुछ उमे कन्नोज, कुछ वाराणसी, साकेत विदर्भ (वरार), महाराष्ट्र या कर्णाटक अनुमान करते है। राष्ट्रकूटो के मान्यखेटपूर्व राजधानी एलाउर (एलोरा) महाराष्ट्र एव विदर्भ के सन्धिस्थल के निकट ही है। स्वयभू के जीवन के अतिम वर्षों का भी कोई ज्ञान नही है—ऐसा लगता है कि वह एकाएक गृहास्थाश्रम से उदासीन होकर संभवतया वाटग्राम के स्वामि वीरसेन के सस्थान मे रहकर आत्मकल्याणरत हो गया था। एक अनुमान यह भी है कि स्वामि जिनसेन के जयधवलाटीका विषयक 'श्रीपाल सपालित:' पद से अभिप्राय स्वयभू से ही हो जिन्होने गृहत्याग करके श्रीपाल नाम धारण कर लिया था। उनके अधूरे अपभ्रंश महाकाव्यो का संरक्षण सपादन एवं पूर्ति उनके सुयोग्य कविपुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने की।

अस्तु, कविराज स्वयंभूदेव विषयक अभी भी अनेक तथ्य अन्वेषणीय एवं गवेषणीय हैं। अनेक सूत्र अभी भी ढीले विवादास्पद, अनिश्चित या अस्पष्ट हैं। सम्यक् विशेषाध्ययन से ही वे खुलेंगे और सुस्पष्ट होंगे।

—ज्योति निकुज, चारबाग, लखनऊ-१९

गुना में संरक्षित 'खो' की जैन प्रतिमाएं

नरेशकुमार पाठक

मध्य प्रदेश के गुना जिले में कुसुम खो नामक ग्राम किसी समय वैभव सम्पन्न स्थान था परन्तु समय के साथ ही सारा वैभव उजड़ गया केवल कलाकारों की धरोहर खण्डहरों के रूप मे बिखरी पडी हुई है। यहां पर वर्तमान मे खन्डहर के रूप मे जैन मदिरों के अवशेष पड़े हुए हैं। यही से प्राप्त दस जैन प्रतिमायें जैन समाज द्वारा लाकर वर्तमान मे जैन धर्मशाला स्टेशन रोड गुना में संग्रहित किया है। सरक्षित प्रतिमाओं का विवरण निम्नलिखित है :—

आदिनाथ :—

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में निर्मित है। उनके केश स्कन्ध तक फैले हुए हैं। लम्बे कर्ण चाप एव सिर पर कुन्तलित केशराशि, पीछे प्रभावली का अकन है। वितान में त्रिक्षत्र है। त्रिक्षत्र के दोनो ओर विद्याधर युगल एव अभिषेक करते हुए हाथियो का शिल्पांकन है। तीर्थंकर के दोनो ओर भरत और बाहुबली को आराधक के रूप में अकित किया गया है। पाद पीठ पर यक्ष कुबेर एव यक्षणी चक्रेश्वरी का आलेखन है।

शान्तिनाथ :—

कायोत्सर्ग मुद्रा मे शिल्पांकित सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ के हाथ व सिर भग्न है। सिर के पीछे अलकृत प्रभावली एवं वक्ष स्थल पर श्री वत्स प्रतीक का अकन है। वितान में त्रिक्षत्र एवं अभिषेक करते हुए गज अंकित है। परिकर में जिन प्रतिमा एवं गज व्यालो का आलेखन है। तीर्थंकर के दोनों तरफ परिचारक इन्द्र आदि आँशिक रूप से खडित अवस्था में खड़े हैं। पादपीठ पर भगवान शान्तिनाथ का ध्वज लाछन हिरण तथा यक्ष गरुण यक्षणी महा मानसी का आलेखन हैं। पास मे ही दोनों ओर अंजली हस्त मुद्रा मे भक्तगण बैठे हुए है।

नेमिनाथ :—

बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे शिल्पांकित मूर्ति के हाथ व सिर, दांया पैर भग्न है। प्रतिमा मध्य से टूटने के कारण दो खन्डो मे है। भगवान नेमिनाथ के दोनों ओर पद्मासन एव कायोत्सर्ग मे जिन प्रतिमाओं का अंकन है। पादपीठ दोनो पार्श्व मे चामर धारी परिचारक खड़े हैं। चौकी पर नेमिनाथ का ध्वज लांछन शख तथा यक्ष गोमेद यक्षी अंबिका का आलेखन है।

पार्श्वनाथ :— तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की चार प्रतिमाएं संग्रहित है। जिनमे से दो पद्मासन मे एव दो कायोत्सर्ग मुद्रा मे हैं! प्रथम पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में निर्मित तीर्थंकर के सिर पर कुन्तलित केशराशि, सिर के ऊपर सप्तफण नागमौलि है। वितान में त्रिक्षत्र, अभिषेक करते हुए गज, विद्याधर एवं जिन प्रतिमाओं का अंकन है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ में नागफण मौलि से युक्त परिचारिका बनी है। पादपीठ पर यक्षणी पद्मावती का आलेखन है।

दूसरी प्रतिमा सिंह युक्त गोलाकार अलकृत पादपीठ पर पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे शिल्पाकित पार्श्वनाथ के दोनो पैर तथा दाहिना हाथ भग्न है। सिर पर सप्तफण नाग मौलि, वितान मे त्रिछत्रावली, दुन्दभिक, अभिषेक करते हुए गज, विद्याधरो का अंकन है। तीर्थंकर के दायें ओर खण्डित अवस्था मे परिचारको का अंकन है। परिकर मे गज व्याल तथा जिन प्रतिमा बनी हुई है। पादपीठ पर यक्ष धरणेन्द्र और यक्षी पद्मावती का आलेखन है।

तीसरी मूर्ति मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सिर के ऊपर सप्तफण नाग मौलि वितान मे त्रिछत्र, अभिषेक करते हुए गज, विद्याधर, परिकर में गज व्याल आदि का आलेखन है। नीचे दायी ओर चवरधारी एव बायी ओर सेबिका का शिल्पाकन है।

चौथी कायोत्सर्ग मे उपरोक्त प्रतिमा के समान, कुन्तलित केश, कर्णचाप, सप्तफण नाग मौलि, त्रिछत्र अभिषेक करते हुए गज, विद्याधर, व्याल आकृति, चावरधारी सेबिका आदि का अंकन है। केबल यक्ष धरणेन्द्र व यक्षणी पद्मावती का आलेखन ही विशेष उल्लेखनीय है।

लांछन विहीन तीर्थंकर :—

सग्रह मे दो लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाये सुरक्षित है। प्रथम पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे अकित तीर्थंकर के दोनो हाथ टूटे हुये हैं। सिर पर कुन्तलित केशराशि कर्णचाप एव सिर के पीछे प्रभावली का आलेखन है। तीर्थंकर के पार्श्व मे चावरधारी परिचारक वितान में त्रिछत्र, लघु मन्दिर अलकरण, मालाधारी विद्याधर, व्याली एव जिन प्रतिमाओ का अंकन है।

दूसरी कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित तीर्थंकर के दोनो हाथ कमर से टूट जाने के कारण दो भागों मे है। सिर पर कुन्तलितकेश, वक्षस्थल पर श्रीवृक्ष प्रतीक अकित है। परिकर मे मयक, गज, व्याल, पादपीठ पर अजलीहस्त मे सेविकाओ का अंकन है।

जिन प्रतिमा वितान :—

यह जिन प्रतिमा वितान से सम्बन्धित कलाकृति पर चित्रित दुन्दभिक, अभिषेक करते हुए गज एव विद्याधर युगलोंका आलेखन है। केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय गुजरी महल, ग्वालियर (म० प्र०)

बिजोलिया अभिलेख [वि. सं. १२२६] में जैनदर्शनविषयक सिद्धांतोंके उल्लेख

□ श्री कृष्णगोपाल शर्मा[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से बिजोलिया अभिलेख[2] (वि. सं. १२२६) मुख्यतः इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह सांभर एवं अजमेर के चौहानों की वंशावली पर प्रकाश डालता है। अभिलेख का उद्देश्य दिगम्बर जैन लोलाक द्वारा पार्श्वनाथ मंदिर की स्थापना को लेखांकित करना है। अभिलेख में यत्रतत्र जैनदर्शनविषयक सिद्धांतों के प्रच्छन्न उल्लेख भी हैं। उन्ही पर हम विचार करना चाहते हैं।

अभिलेख के श्लोक ४१ का पाठ है—

'षट(ट्खं)डागमबद्ध सौहृदभराः षड्जीवरक्षेश्वराः षट्भे(ड्भे)देंद्रियवस्यता परिकराः षट्म्मंकृ(कृ)त्पादराः [१]षट्षं(ट्खं)डावनिकीर्ति पालनपराः ष(षा)ट्गु(ड्गु)ण्य चिंताकराः षट्(ड्)दृष्टयंबु(बु)जभास्करा[:]समभवः षटदे(उदे)शलस्यांगजाः ॥

'षट्खंडागम' से सम्भवतः अभिप्राय सृष्टि के छः खन्डों से सम्बद्ध आगम साहित्य से है। ये छः खन्ड छः द्रव्योंके आधार पर विभाजित है—जीव, पुद्गल, आकाश, काल, धर्म और अधर्म।

'षड्जीव' हैं—पृथ्वी, अप, तेजस, वायु, वनस्पति एवं त्रस। प्रथम पांच स्थावर हैं एवं ऐकेन्द्रिय हैं, त्रस उस जीव को कहा जाता है जिसके पास एक से अधिक इन्द्रियां हैं।

इंद्रियाँ पाँच हैं—,स्पर्शरसनघ्राणचक्षुश्रोत्राणि किन्तु उपर्युक्त श्लोक में उल्लिखित 'षड्-इन्द्रिय' में 'मनस 'जिसे ईषदिन्द्रिय माना जाता है, शांमिल प्रतीत होता है।

एक श्रावक के 'षट्कर्म' का विवरण उमास्वामी श्रावकाचार के इस श्लोक से मिलता है—

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने ॥

'षड्गुण' का क्या अभिप्राय है, कह पाना मुश्किल है। श्री अक्षयकीर्ति व्यास के अनुसार इसे छः मान्य राजनीतिक इष्टकरों (political expedients) में समीकृत किया जा सकता है—संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वेधीभाव एवं आश्रय।[3]

दिगम्बर जैन सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी के छः खण्ड हैं (षट्खण्ड)। उनमें से एक आर्य खण्ड है जो गंगा एवं सिंधु नदी के मध्य स्थित है। इस खण्ड से बाहर स्थित सभी प्रदेश म्लेच्छ खंड के अन्तर्गत आते हैं।

'षड्दृष्टि' का प्रयोग षड्दर्शन के लिए किया गया प्रतीत होता है जो इस प्रकार हैं—लोकायतिक, सौगत, सांख्य, योग, प्रभाकर एवं जैमिनीय।

अभिलेख के श्लोक ४८ का पाठ है—

'पंचाचारपरायणात्ममतयः। पंचांगमंत्रोज्व(ज्ज्व)लाः। पंचज्ञानविचारणासुचतुराः। पंचेंद्रियार्थोज्जयाः। श्रीमत्पंचगुरुप्रणाममनसः पंचाणुशुद्धव्रता पंचैते तनया गृह[ीतवि]नयाः श्रीसीयकश्रेष्ठिनः ॥

'पंचाचार' हैं—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, चरित्राचार एवं तपाचार जैसा कि नेमिचन्द्रकृत द्रव्यसंग्रह के अध्याय तीन की गाथा ५२ से स्पष्ट है :—

दंसणणाणपहाणे वीरियचरित्तवरतवायारे।
अप्प परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥

'पंचांग मंत्र' से सम्भवतः अभिप्राय उपासना की प्रक्रिया से सम्बद्ध पांच मन्त्र युक्त चरणों से है—आह्वान, स्थापन, संनिधिकरण, पूजन एवं विसर्जन।

पंचज्ञान की जानकारी इस सूत्र से मिलती है—मतिश्रुतावधिमन. पर्ययकेवलानि ज्ञानम्।"[4]

'पंचइंद्रियार्थ' हैं—स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः।[5]

पचगुरु है—अर्हंत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय एवं सर्व साधु जैसाकि बहुश्रुत जैनमंत्र से ज्ञात होता है—

णमो अरहंताणां णमोसिद्धाणं णमो आइरीयाणां।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं ॥

'पंचव्रत' हैं—हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।[6]

—५०६, गोविन्दराजियों का रास्ता
चांदपोल बाजार, जयपुर

---

१. यू० जी० सी० रिसर्च फैलो, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर।

२. यहाँ प्रस्तुत पाठ एवं उसकी व्याख्या पं० अक्षयकीर्ति व्यास के पत्र "बिजोली राक इन्सक्रिप्सन आव चाहमान सोमेश्वर : वि. स. १२२६" पर आधारित है। देखें इपिग्राफिया इंडिका, vol, xxvi, पृ०-८४-१०२.

३. वही, पृ० १०७, पादटिप्पणी १.

४. उमास्वामी, तत्त्वार्थसंग्रह, अध्याय १ सूत्र ६.

५. वही, अ. २, सू० २०

६. वही, अ. ७, सू. १

शान्तिनाथ पुराण का काव्यात्मक वैभव

□ कु० मृदुलकुमारी शर्मा

भाषा—अगोचर घटनाओं अथवा भावों को यथा-सम्भव गोचर तथा मूर्त रूप में प्रकट करना एक श्रेष्ठ कवि का लक्ष्य होता है। तभी हृदय में उद्बुद्ध हुए भाव रसावस्था तक पहुंचते हैं। भाषा, भावो को वहन करने का साधन है। जिस कवि की भाषा जितनी अधिक सबल और प्रसङ्गोचित होगी, भावो की उतनी अधिक तीव्र अनुभूति वह अपनी कविता के द्वारा करा सकेगा। अत· एव भाषा का सरल एव व्याकरण सम्मत होना अनिवार्य है।

"शान्तिनाथ पुराण" सस्कृत ग्रंथों मे श्रेष्ठ प्रतीक है। इसमे 'असग' ने रसानुकूल भाषा का प्रवाह प्रवाहित किया है। कवि के हृदय सागर में अनन्त शब्दो का भडार है जिससे उसे किसी अर्थ के वर्णन में शब्दो की कमी अनुभव नही होती। भाषा किसी शिथिलता के बिना अजस्र गति से आगे बढ़ती है। इसका उदाहरण दर्शनीय है—

"प्रभो क्षान्तिः स्त्रियो लज्जा शौर्यं शस्त्रोपजीविनः।
विभूषणमिति प्राहुर्वैराग्यं च तपस्विनः॥ शा. पु. ४।३६

अर्थात् प्रभु का आभूषण क्षमा है, स्त्री का आभूषण लज्जा है, सैनिक का आभूषण शूरता तथा तपस्वी का आभूषण वैराग्य कहा गया है।

महाकवि असग का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उन्होने जिस स्थल पर जिस प्रकार के भावो का चित्रण किया हैं। उसके अनुरूप ही भाषा का प्रयोग परिलक्षित होता है। चतुर्थ सर्ग मे युद्ध वर्णन प्रसङ्ग में शब्द योजना, कठोर ध्वनि युक्त युद्ध के वातावरण को उत्पन्न करने मे सहयोग देती है—

"स सांनहनिकं शंखं पूरयित्वा त्वरान्वितः।
चतुरङ्गां ततः सेनां सभ्रान्तां समनीनहत्॥
आस्थानाल्लीलया गत्वा स्वावासान्खेचरेश्वराः।
अकाण्डं रणसंक्षोभादपि स्वैरमदेक्षयन्॥ शा. पु. ४।८६-८७

अर्थात् शीघ्रता से युक्त सेनापति ने युद्ध सम्बन्धी शंख फूककर हड़बड़ाई हुई चतुरङ्ग सेना को तैयार किया। विद्याधर राजाओं ने सभा से लीला पूर्वक अपने घर जाकर असमय में युद्ध की हलचल होने पर भी स्वेच्छा से धीरे-धीरे कवच धारण किये।

महाकवि असग में शब्द चयन की अपूर्व शक्ति है। भाषा उनकी इच्छा की अनुगामिनी है। वह अपने आप ही भावानुरूप ढल जाती है। समास प्रधान भाषा और संयुक्त वर्णयोजना ने काव्य को अत्यन्त ओजस्वी बना दिया है। नवम सर्ग में राजा वज्रायुध के गुणों की प्रशंसा में इसी प्रकार की भाषा द्रष्टव्य है—

"अमदः प्रमदोपेतः सुनयो विनयान्वितः।
सूक्ष्मदृष्टिर्विशालाक्षो यो विभातिस्म सास्मितः॥९।३१

अर्थात् मन्द मुस्कान युक्त जो पुत्र गर्व रहित होकर भी बहुत भारी गर्व सहित था (पक्ष मे—हर्षयुक्त था), अच्छे नय से युक्त होकर भी नय के अभाव सहित था (पक्ष मे—विनय गुण से युक्त था), और सूक्ष्मनेत्रों से सहित होकर भी बड़े-बड़े नेत्रो से सहित था (पक्ष मे—गहराई से पदार्थ को देखने वाला होकर भी बड़े-बड़े नेत्रों से सहित था।

असग ने भाषा मे श्रृंगारात्मक हाव भाव विलासों का भी कलात्मक हृदयग्राही चित्र उपस्थित किया है—

खेचरीः परितो वाति धुन्वन्नलकवल्लरीः।
एष तद्वदनामोदमादित्सुरिव मारुतः॥ शा. पु. ३।२४

अर्थात् विद्याधरियो के चारो ओर उनकी केशरूपी लताओं को कम्पित करती हुई वायु ऐसी बह रही है, मानों उनके मुखों की सुगन्ध को ग्रहण करना चाहती हो।

राजा को मुनि के रूप मे प्रदर्शित करते हुए शान्तिनाथ पुराण की भाषा दुरूह हो गई है। राजा मेघरथ का वर्णन इसी प्रकार का है—

ध्यानाच्छिथिलगात्रेभ्यः पतद्भिर्मणिभूषणैः ।
रागभावैरिवान्तःस्थैर्मुच्यमानं समन्ततः ॥
अतरङ्गमिवाम्भोधिमकाननमिवाचलम् ।
क्ष्माप ददृशतुर्देव्यौ तं विमुक्तपरिच्छदम् ॥१२'८०-८१

अर्थात् ध्यान से शिथिल गिरते हुए मणिमय आभूषणों से जो ऐसे जान पड़ते थे, मानो भीतर स्थित रागभाव ही उन्हें सब ओर से छोड़ रहा हो, जो लहरो से रहित समुद्र के समान वन से रहित पर्वत के समान थे, जिन्होंने सब वस्त्रादि छोड़ दिये थे, ऐसे राजा मेघरथ को देवाङ्गनाओं ने देखा ।

शैली—शैली के स्वरूप का उल्लेख करते हुए बाण ने कहा है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुरो रस. ।
विकटाक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥
हर्षचरित-प्रस्तावना ८

अर्थात् नूतन एवं चमत्कार पूर्ण अर्थ, सुरुचिपूर्ण स्वभावोक्ति सरल, श्लेष, स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाला रस तथा अक्षरों की दृढ़बन्धतायें सभी शैली की विशेषतायें है, जो किसी काव्य में एक साथ प्राप्त होनी कठिन है ।

शातिनाथ पुराण की शैली सरल, प्रभावशाली एव शान्त है । इनकी शैली को साधारण काव्य की उत्तम शैली कहा जा सकता है । अपने स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त 'असग' की भाषा, वर्णों का शिथिलता रहित प्रयोग एव लालित्य, कठोर वर्णो का अभाव तथा अर्थाभिव्यक्ति मे पूर्णतः शब्दों की योजना—यह सब उनको महाकवि सिद्ध करती हैं ।

शान्तिनाथ पुराण मे यथास्थान धार्मिक उपदेशो का भी समावेश किया गया है । अपराजित की पुत्री दीक्षाग्रहण करने की इच्छुक होकर अपनी सखियों से कहती है—

वृ रैव विषयासङ्गात् क्लिशित्वा केवल गृहे ।
प्राणिति प्राकृतो लोकस्तत्कि व्रूत सतां मतम् ॥
धर्म बुभुत्सवः सार्वमेतयामस्तपोवनम् ।
यतध्वं व्रतशीलादौ कृषीध्वं स्वहितं तपः ॥
शा. पु. ६।१०६-१०७

अर्थात् साधारण प्राणी विषयासक्ति के कारण घर मे क्लेश उठाकर व्यर्थ ही जीता है, वह क्या सत्पुरुषों को इष्ट हो सकता है ? कहो ! आओ, सर्वहितकारी धर्म को जानने की इच्छा रखती हुई हम तपोवन को चलें, व्रतशील आदि मे प्रयत्न करें तथा आत्महितकारी तप करे ।

इनके काव्य मे नैतिकता और धार्मिकता के प्रति झुकाव है । इस ग्रथ मे अनेक कथाओं को जोड़कर रोचक बनाया गया है, जिनमे स्थान-स्थान पर सुन्दर विचारो का समन्वय किया गया है । स्वार्थपरक इच्छाओं का त्याग, सार्वभौमिक क्रियाशील परोपकार की भावना, व्याख्यान, नैतिकता तथा उपदेश इसका प्रधान उद्देश्य है । कहीं-कही सशक्तता के साथ ओज तथा प्रसाद गुण युक्त शैली के भी दर्शन होते हैं यथा—

प्रज्ञोत्साहबलोद्योग धैर्यं शौर्यक्षमान्वितः ।
जयत्येकोऽप्यरीन्कृत्स्नान्कि पुनर्द्वौ सुसंगतौ ॥ ८।५६

अर्थात् प्रज्ञा, उत्साह, बल, उद्योग, धैर्य, शौर्य, क्षमा सहित एक ही पुरुष बहुत से शत्रुओं को जीत लेता है फिर हम दो भाई मिलकर क्या नहीं जीत सकेंगे ।

इनके उद्देश्य अभिव्यक्ति की यथार्थता तथा अर्थ की स्पष्टता को प्रकट करते है ।

रस योजना—रस काव्य की आत्मा है उसके बिना काव्य की वही दशा होती है जो आत्मा के बिना देह की होती है । 'असग' रससिद्ध कवि है । उनकी कृतियो मे प्रायः सभी रस उपलब्ध हैं किन्तु जैनधर्मी होने के कारण उन्होने विषयासक्त जनों को मोक्ष मार्ग दिखाने के लिए 'शान्त रस' से पूर्ण काव्य रचा है शांतरस अङ्गी है शेष सभी रस अङ्ग है । शांतिनाथ पुराण के नायक अन्त मे विरक्त होकर शांति की दशा प्राप्त करते हैं । षष्ठ सर्ग मे कनकश्री की मन स्थिति 'शांत रस' की उत्पन्न करती है—

तस्मात्प्रव्रजन श्रेयो न श्रेयो मे गृहस्थता ।
कलङ्कक्षालनोपायो नान्योऽस्ति तपसोविना ॥ शा. पु. ६।११५

अर्थात् दीक्षा लेना ही मेरे लिए कल्याणकारी है, गृहस्थपन कल्याणकारो नही है क्योकि तप के बिना कलङ्क धोने का दूसरा उपाय नही है ।

काव्य मे शांतरस के अनेक प्रसङ्ग आये हैं जिन्हें कवि ने पूर्ण मनोयोग से पल्लवित किया है यथा रूप ह्रास की बात सुनकर रानी प्रियमित्रा वैराग्य चिन्तन करती है

तब मेघरथ उपदेश देते हैं—

अनेक रागसकीर्ण धन लग्नमपि क्षणात् ।
मानुष्य यौवन वित्त नश्यतीन्दुधनुर्यथा ।।
वपुर्निसर्गबीभत्स पूतिगन्धि विनश्वरम् ।
मलस्यन्दिनवद्वार कि रम्य कृमि सकुलम् ।।
शा. पु. १२।९०-१००

अर्थात् जो स्वभाव से ग्लानि युक्त, दुर्गन्धमय, विनश्वर है, जिसके नवद्वार मल को झराते रहते हैं तथा जो कीडो से भरा हुआ है ऐसा यह शरीर क्या रमणीय है ? अर्थात् नही ।

शान्तिनाथ पुराण मे "वीर रस" का भी उत्कृष्ट वर्णन हुआ है । पचम सर्ग युद्ध की गर्वोक्तियो से सयुक्त है—

स वामकर शाखाभि रेजे खड्ग परामृशन् ।
तत्रैव निश्चलां कुर्वन्प्रचलन्ती जयश्रियम् ।। ५।७९

अर्थात् राजा अपराजित बायें हाथ की अगुलियो से तलवार का स्पर्श करता हुआ ऐसा सुशोभित हुआ, मानो चञ्चल विजय लक्ष्मी को उसी पर निश्चल कर रहा हो ।

वीर रस की धारा कही-कही रौद्र रूप मे परिणत हो जाती है तब 'रौद्र रस' के दर्शन होते हैं—

ततः कश्चित्कषायाक्षः क्रुद्धो दष्टाधरस्तदा ।
आहतोच्चैः स्वमेवास वाम दक्षिण पाणिना ।। शा पु. ४।१८

अर्थात् जिसके नेत्र लाल हो रहे थे, अत्यन्त कुपित था और ओठ को डस रहा था, ऐसा कोई वीर दाहिने हाथ से बांयें कन्धे को जोर-जोर से ताड़ित कर रहा था ।

युद्ध भूमि के वर्णन मे यत्र तत्र 'बीभत्स रस' भी उत्पन्न होता है । यथा —

उच्चैः रेसुः शिवा मत्ताः प्रपीय रुधिरासवम् ।
शीर्णसंनहनच्छेद नीलाम्भोरुह वासितम् ।। शा. पु. ५।३६

अर्थात् जीर्ण शीर्ण हड्डी के खण्ड रूपी नील कमलो से युक्त रुधिर रूपी मदिरा को पीकर पागल हुए शृगाल उच्च स्वर से शब्द कर रहे थे ।

'राजा श्री विजय तथा अशनिघोष के मध्य युद्ध वर्णन में भयानक रस' साकार हो जाता है—

अवध्यमानमन्येषां विद्यास्त्र वीक्ष्य विव्यथे ।
आसुरेयो जितान्योऽपि स शूरः शूरभीकरः ।। शा. पु. ७।९४

अर्थात् राजा श्री विजय के द्वारा छोड़े गये अवध्य विद्यास्त्र को देखकर अशनिघोष यद्यपि दूसरों को जीतने वाला था, तब भी भयभीत हो गया ।

शान्तिनाथ पुराण मे विभिन्न प्रसङ्गों मे आश्चर्य उत्पन्न करने वाली घटनाए उपस्थित हुई हैं जिससे "अद्भुत रस" भी यथास्थान प्रयुक्त हुआ है—

वीक्षमाणा परा भूति तस्य प्रविशत पुरम् ।
इतिसौधस्थिता प्राहु विस्मयात्पुरयोषित. ।।
निरुच्छ्वासमिद व्याप्त नगर सर्वतः सुरैः ।
अन्तर्बहिश्च कस्येय लक्ष्मीर्लोकातिशायिनी ।।
शा. पु. १३।१८२-१८३

अर्थात् नगर मे प्रवेश करते हुए उनकी उत्कृष्ट विभूति को देखकर महलो पर चढी नगर की स्त्रियाँ आश्चर्य से ऐसा कह रही थी । देखो, यह नगर भीतर और बाहर, सब ओर देवो से ऐसा व्याप्त हो गया है कि सांस लेने के लिए भी स्थान नही है, यह लोकोत्तर लक्ष्मी किसकी है ?

"शृङ्गार रस" के प्रसङ्ग अत्यन्त सीमित है । तथापि विजयार्द्ध पर्वत पर विद्याधरियो की शोभा शृङ्गार रस को प्रकट करती है—

उत्तरीयैकदेशेन पिधाय स्तनमण्डलम् ।
द्योतमाना स्फुरतकान्तिशोणदन्तच्छदत्विषा ।।
निर्गच्छन्ती लतागेहाच्चकास्ति स्रस्तमूर्धजा ।
इय काचिद्रतान्तेऽस्मात् स्वेदबिन्दुचिताानना ।।
शा. पु. ३।२५-२६

अर्थात् जो उत्तरीय वस्त्र के अञ्चल से स्तन मण्डल को आच्छादित कर रही है, ओठो की लाल-लाल कान्ति से शोभायमान है, जिसके केश बिखरे हुए है तथा जिसका मुख पसीने की बूदो से व्याप्त है । ऐसी यह कोई स्त्री संभोग के बाद लतागृह से बाहर निकलती हुई सुशोभित हो रही है ।

अलङ्कार योजना—अलङ्कार रस के उपकारक होते है ।अलकारो के अस्वाभाविक तथा अस्थान प्रयोग से कविता कामिनी की दशा भारी एव बेडोल कुण्डलो के समान हो जाती है । काव्य को प्रभावशाली बनाने मे अलंकार महत्वपूर्ण हैं ।

शान्तिनाथ पुराण के बाह्य एव आन्तरिक दोनों पक्षों को सौन्दर्ययुक्त करने हुतु 'असग' ने शब्दालंकार तथा अर्थालकार की योजना की है ।

उनके अनुप्रास तथा यमक अलंकार नाद सौन्दर्य मे वृद्धि करते हैं और प्रस्तुत भावों के उत्कर्ष में सहायक है। 'यमक का उदाहरण प्रस्तुत है—

अस्ति लक्ष्मीवतां धाम पुरी यत्र प्रभाकरी।
प्रभाकरी प्रभा यस्यां पताकाभिर्निरुध्यने॥ १।२१

अर्थात् जिस वत्सकावती देश में धनाढ्य पुरुषो के स्थान स्वरूप 'प्रभाकरी नाम की वह नगरी' विद्यमान है जिसमें 'सूर्य की प्रभा' पताकाओं से रुकती रहती है।

शान्तिनाथ पुराण उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विभावना, अर्थान्तरन्यास अलंकारों का मानों भण्डार है। राजा दमितारि के वर्णन मे 'उत्प्रेक्षा' का आलम्बन लिया गया है—

कर्णाभरणमुक्ताशुच्छुरिताननशोभया।
क्षयवृद्धियुत चन्द्रं हसन्तमिव सन्ततम्॥ ३।७८

अर्थात् जो (दमितारि) कर्णाभरण सम्बन्धी मोतियों की किरणों से व्याप्त मुख की शोभा से ऐसा जान पड़ता था मानो क्षय और वृद्धिसे युक्त चन्द्रमा की हँसी कर रहा हो।

सप्तम सर्ग मे 'उपमा अलकार' की छटा दर्शनीय है—

तस्यामजीजनत्सूनुमर्ककीर्ति परतपम्।
प्रभात इव स प्राच्यामर्क पद्मकवल्लभम्॥ ७।१७

अर्थात् ज्वलनजटी ने वायुवेगा नाम की स्त्री से शत्रुओं को सतप्त करने बाला अर्ककीर्ति नाम का पुत्र उसी तरह उत्पन्न किया, जिस तरह प्रातःकाल पूर्व दिशा में कमलो को अत्यन्त प्रिय सूर्य को उत्पन्न करती है।

राजा अनन्तवीर्य तथा दमितारि के युद्ध वर्णन मे 'असग' न सुन्दर रूपक" प्रस्तुत किया है—

स्वस्वामिनिधनात्क्रुद्धैरुद्धतैरात्मविक्रमात्।
तत्रैव चक्रधाराग्नौ सुभटैः शलभायितम्॥ ५।११५

अर्थात् अपने स्वामी की मृत्यु से क्रुद्ध उद्दण्ड सुभटो ने यद्यपि अपना पराक्रम दिखाया, परन्तु वे उस चक्ररत्न की धारा रूपी अग्नि मे पतगे के समान जल मरे।

शान्तिनाथ पुराण के एकादश सर्ग मे राजा मेघरथ का 'श्लेषमय' वर्णन किया गया है—

पद्मानिवासपद्मोऽपि न जातु जलसगतः।
योऽभूतकुलप्रदीपोऽपि प्रवृद्धसुदशान्वितः॥ ११।१०

अर्थात् जो लक्ष्मी का निवासभूत कमल होकर भी कभी जल की संगत नही था अर्थात् मूर्खों का संगत नही था तथा कुल का श्रेष्ठ दीपक होकर भी प्रवृद्ध उत्तम बत्ती से युक्त था अर्थात् श्रेष्ठ वृद्धजनों की उत्तम अवस्था सहित था।

श्लेष के अतिरिक्त 'दृष्टान्त अलंकार' भी यथास्थान सन्निविष्ट किया गया है। चतुर्थ सर्ग में चक्रवर्ती दमितारि का दूत कहता है—

द्विषतोऽपि पर साधुर्हितायैव प्रवर्तते।
किं राहुममृतैश्चन्द्रो ग्रसमानं न तर्पयेत्॥ ४।६६

अर्थात् सज्जन शत्रु को भी हित के लिए अत्यधिक प्रवृत्त करता है सो ठीक ही है क्योंकि क्या चन्द्रमा, ग्रसने वाले राहु को अमृत से संतप्त नहीं करता।

श्लेषगर्भित आर्थी परिसंख्या के भी स्थान-स्थान पर दर्शन होते है—

यत्रासीत्कोकिलेष्वेव सहकार परिभ्रमः।
अत्यन्तकमलासः प्रत्यहं भ्रमरेषु च॥ १३।१६

अर्थात् जहां (हस्तिनापुर में) सुगन्धित आमों पर परिभ्रमण करना कोयलों मे ही था, वहां के मनुष्यों में सहायक विषयक सन्देह नही था। कमलपुष्पों की प्राप्ति के लिए खेद भ्रमणो में ही प्रतिदिन देखा जाता था, वहां के मनुष्यो में लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए अत्यधिक खेद नहीं देखा जाता था।

चतुर्थ सर्ग मे दमितारि की सेना अपराजित के पराक्रम को सुनकर भ्राति मे पड़ जाती है। जिससे "भ्रांतिमान अलकार" दृष्टिगोचर होता है—

किं नामासौ रिपुः को वा कियत्तस्य बल महत्।
चक्रवर्त्यपि स भ्रान्तः किं सत्यमपराजितः॥ ४।६१

अर्थात् शत्रु किस नाम वाला है अथवा उसका महान बल कितना है? इस विषय मे चक्रवर्ती दमितारि भी भ्रान्त है, क्या सचमुच ही वह अपराजित (अजेय) है?

शांतिनाथ पुराण में 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' के द्वारा सुभाषित वचन प्रस्तुत किये गये हैं। यथा—

दूतिकां कान्तमानेतु विसर्ज्यापि समुत्सुका।
प्रतस्थे स्वयमप्येका दुःसहोः हि मनोभवः॥ १४।१४४

अर्थात् (चन्द्रोदय के समय कोई एक उत्कंठिता स्त्री पति को लाने के लिये दूती को भेजकर स्वयं भी चल पड़ी, सो ठीक ही है क्योंकि काम दुख से सहन करने योग्य होता है।

छन्द योजना—महाकाव्य की परम्परा के अनुरूप काव्य में 'छन्द' का बहुत महत्त्व है। शान्तिनाथ पुराण में इसी परम्परा का निर्वाह हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ 'अनुष्टुप्' छन्द में निबद्ध है तथा प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन है और वहां 'शार्दूल विक्रीडित' छन्द प्रयोग किया गया है। यथा—

अनुष्टुप् छन्द—

तत्प्रतापयशोराशी मूर्ताविवमनोरमौ।
धर्मचक्रं पुरोधाय पुष्पदन्तावगच्छताम्॥ शा. पु. १६।२३२

शार्दूल विक्रीडितम्—

गीर्वाणैर्वेरिवस्यया गिरिवर: प्राये स शक्रादिभि।
मूर्तौ तत्क्षणरम्यतां क्षणरुचे: संप्राप्तवत्यां विभो॥
अग्नीन्द्रा मुकुटप्रभानलशिखाज्वाला रुणाम्भोरुहै—
रानर्च्चुर्विरचय्यतत्प्रतिनिधिं सत्सम्पदा सिद्धये॥ १६।२४०

शान्तिनाथ पुराण में अन्य प्रयुक्त छंद निम्नलिखित है—

उत्पलमालभारिणी—

स्तवकमयमुन्मयूखमुक्तास्तबकित मध्यमनेकभक्तियुक्तम्।
सुरधृतमणिदण्डिक तदन्तर्निरुपममाविरभूत्परं वितानम्॥
शा. पु. १६।२२७

प्रहर्षिणी—

तस्यान्तस्त्रिभुवनभूतये जिनेन्द्रो याति स्म
प्रतिपदमेत्य नम्यमान:।
संभ्रान्तै: करधृतमगलाभिरामैर्देवेन्द्रैर्दिविभु-
विभूमिपैश्च भक्त्या॥ शा. पु. १६।२२८

इन्द्रवंशा—

तपोधना: शिथिलितकर्मबन्धना महोदया सुरनतधीमहोदया:।
तमन्वयुर्विधुमिव शान्तविग्रहा ग्रहा: शुभा:
शुभरुचयस्तमोपहम्॥ शा पु. १६।२२९

वियोगिनी—

ननृते जयकेतुभि: पुर: परितर्ज्यव विवादिन: परान्।
यशस: प्रकरैरिवेशितु: शरदिन्दुद्युतिकान्तकान्तिभि:॥
शा. पु. १६।२३०

वसन्ततिलका—

उत्थापिता सुरवरै: पथि वैजयन्ती
मुक्ताफलप्रकरभिन्नदुकूलक्लृप्ता।
रेजे घनानृतरलीकृतचारुतारा दिग्नागनाथपदवी स्वयमागतेव॥
शा. पु. १६।२३१

उपजाति:—

पुर:सरा धूपघटन्वहन्तो वैश्वानरा विश्वसृजो विरेजु:।
फणामणिस्फारमरीचिदीपैरदीपि मार्ग: फणिनां गणेन॥
शा. पु. १६।२३३

शान्तिनाथ पुराण का सूक्तिवैभव—

हमारा जीवन क्षेत्र विस्तीर्ण है। यहां विभिन्न विषयों के मधुर तथ' कटु अनुभव प्राप्त होते रहते हैं। सूक्तियाँ वाणी का रत्न है, जो गम्भीर अनुभवों को व्यक्त करती है, इसके द्वारा धर्म सिद्धान्तों तथा नैतिक मूल्यों का महत्त्व प्रकट होता है। लोक में काव्य की प्रकृष्टता उसकी तीखी और मार्मिक सूक्तियो के द्वारा सिद्ध होती है।

सूक्ति का सामान्य अर्थ है—सु-उक्ति-सुन्दर या सौष्ठव पूर्ण कथन। सामान्य लोकवाणी से विचित्र प्रभावकारी विशेष कथन को ही आरम्भ में सूक्ति कहा गया होगा, लेकिन इस 'सूक्ति' शब्द का बोध आगे चलकर कवि वाणी के पर्याय मे होने लगा।

महाकवि राजशेखर ने सरस्वती को 'सूक्ति धेनु' कहा है—"कि कवियो की सरस्वती सूक्तिधेनु है, कवि जन सरस्वती रूपी गाय से सूक्ति दुहा करते हैं। सूक्ति अर्थात् काव्य।[1]

यह 'सूक्ति' शब्द मात्र ही काव्य की पहली परिभाषा है। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त (३२०—३७८ ई०) काव्य एवं सगीत विद्या में रुचि रखने वाला था। प्रयाग के अभिलेख मे प्रशसा पूर्वक उसे सूक्तमार्ग (सूक्ति काव्य की रचना करने वाला) कवि कहा गया है—

"सूक्त मार्ग की जिसकी सुभाषित रचनाए पठनीय हैं और जिसका काव्य भी अपनी अच्छी सूक्तियों के कारण अन्य कवियों के कल्पना विभव को उखाड़ देने वाला है। कौन सा गुण है, जो उसमें नही है। एक मात्र वही विद्वानों का आदर स्थान है।[2]

अन्यत्र स्थान पर सूक्ति को "कान से पिया जाने वाला अमृत" बताया गया है।[3]

काव्य में सूक्तियों का कर्णामृत रस काव्यरस से भिन्न

एक अलग ही आकर्षण है, प्रतिभावान् कवि अपनी भंगि-भणिति और सूक्ति रस के निबन्ध में एकाग्र होकर काव्य रस के औचित्य-अनौचित्य की चिन्ता नहीं करते हैं। ऐसे कवियों पर खीझ कर "आनन्दवर्धन' ने लिखा है—

"अलंकार कहां रसाभिव्यक्ति का कारण बनता है, उसका एक नियम है, उसे भङ्ग कर अलकार की जो योजना की जाती है वह नियमत: रसभंग का कारण बनती है, इस प्रकार के उदाहरण महाकवियों के प्रबन्धों में बहुत दिखाई पड़ते हैं, लेकिन रसभंग के ऐसे निदर्शन मैंने अलग अलग करके नहीं दिखाये, वह इसलिए कि अपनी हजार सूक्तियों से चमकने वाले उन महान् कवियो का दोष निकालना अपना ही दूषण हो जाता है।"[४]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि और रस की भांति कभी सूक्ति भी काव्य की कसौटी थी।

आचार्य 'कुन्टक' भी सूक्ति के चमत्कार के से प्रभावित रहे हैं। "उन्होंने सरस्वती को कवि के मुख चन्द्ररूपी रंगमन्दिर मे सूक्ति विलासो का अभिनय करने वाली नर्तकी कहा है।"[५]

कवि और काव्य की प्रशंसा में अनेक कवियो ने सूक्ति प्रशंसा का अभिधान किया है, ऐसे अनेक उदाहरण सुभाषित संग्रहों से परिपूर्ण है।[६]

"शान्तिनाथ पुराण" में महाकवि असग ने गम्भीर विषयों को व्यक्त करने वाली सूक्तियो को प्रस्तुत किया है। सूक्तियो को सरल, सुकोमल पदों में गुम्फित करके उन्हें सजीव और प्रभावशाली बना दिया है। नीतिविषयक वचन कवि के विशिष्ट ज्ञान तथा पांडित्य के परिचायक हैं।

विभिन्न प्रसंगों में यथास्थान महाकवि ने सज्जनों की स्तुति, दुर्जनों की निन्दा, धर्म, नीति, स्त्री विषयक सूक्तियों से शान्तिनाथ पुराण को अलंकृत किया है।

शान्तिनाथ पुराण में सुभाषित संचय इस प्रकार है—

"श्रेयसे हि सदा योग: कस्य न स्यात्महात्मनाम्"—

शा. पु. १।८८

अर्थात् महात्माओं का सदा योग प्राप्त होना किसके लिए कल्याणकारी नही होता? अर्थात् सभी के लिए कल्याण युक्त होता है।

"धीरा हि नयमार्गवित्"—२।४२

अर्थात् धीर वीर मनुष्य नीति के मार्ग का ज्ञाता होता है।

"संसर्गेण हि जायन्ते गुणा दोषाश्च देहिनाम्"—४।५४

अर्थात् प्राणियो मे गुण और दोष संसर्ग से ही होते हैं।

"कन्यका हि दुराचारा पित्रो: खेदाय जायते"—४।५६

अर्थात् कन्या का दुराचारी होना माता-पिता के लिए खेद का विषय होता है।

"स्त्रीजनोऽपि कुलोद्भूत: सहते न पराभवम्"—७।८९

अर्थात् कुलीन स्त्रियां भी पराभव को सहन नही करती हैं।

"आचारो हि समाचष्टे सदसच्च नृणां कुलम्"—८।४२

अर्थात् आचार ही मनुष्य के अच्छे और बुरे कुल को कह देता हैं।

"भवितव्यता हि बलीयसी"—१०।८७

अर्थात् होनहार बलवती होती है।

"सर्वं दुख पराधीनमात्माधीन परं सुखम्।"—१२।१०६

अर्थात् पराधीन सभी कार्य दुख है और स्वाधीन सभी कार्य परम सुख है।

मौ० कुंवरलाल गोबिन्द, बिजनौर

सन्दर्भ-सूची

१. या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि न: सन्निधत्तां सा सूक्ति धेनु: सरस्वती॥
—काव्यमीमांसा अध्याय ३

२. सूक्तमार्ग्ग: कवि-मति-विभवोप्सारणं चापि काव्यम्।
को नु स्माद्योऽस्य न स्यद्गुणमति
विदुषां ध्यानपात्र य एक:॥८
—हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्सिक्रप्सन पृ० ७३

३. 'कर्णामृतं सूक्तिरसम्'—विक्रमांकदेव चरित १।२६

४. ध्वन्यालोक—२।१६

५. वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दु लास्यमन्दिरनर्तकीम्।
देवी सूक्ति परिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्वलाम्॥
—वक्रोक्ति जीवित १।१

६. निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुर सान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥
—'बाणभट्ट'

हमारा व्यवहारिक आचार

☐ श्री बाबूलाल जैन 'वक्ता', कलकत्ता

अज्ञानी बाहरी वस्तु का त्याग करता है परन्तु क्या समझ करके त्याग कर रहा है। वह कहता है यह वस्तु तो मेरी है मैं इसका मालिक हूं परन्तु मुझे इसको छोड देना चाहिए अगर नहीं छोडता हू तो नरक जाना पडेगा अगर छोड़ देता हू तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी। इससे ज्यादा चीज बड़ा पर मिल जायेगी—समाज मे प्रतिष्ठा हो जायेगी, लोग मुझे त्यागी कहेगे, मेरा नाम हो जायेगा ऐसा मानकर वह त्याग करता है परन्तु अभी भी वस्तु मे अपनापना नही गया। एक वह व्यक्ति है जो वस्तुओ मे बैठा है और उसमे मेरापना नही है जैसे कोई नुमाइश देख रहा हो। एक वह है जहा वस्तु नही परन्तु मेरापना है। अब विचार करता है सच्चा रास्ता क्या है? ज्ञानी कहता है भाई ये परवस्तु मेरी नही, मैं गलती से इन्हें अपनाया यह मेरी गलती है अब मुझे मेरी गलती समझ मे आ गयी जितना पर का ग्रहण है वह मेरी गलती है और जितना पर छूट गया वह मेरी गलती छूटी है मैंने कुछ किया नही। अज्ञानी समझ रहा है मैने कुछ किया है धन को छोड कर परिग्रह को त्याग करके कोई बड़ी बात की है इसलिए उसे अहकार हुए बिना रहता नही।

अगर यह व्यक्ति यह मानता है कि परवस्तु मे, धन मे, स्त्री मे, पुत्र मे, मकान-महल मे, गाड़ी-मोटरो मे सुख ता है अगर उनमे सुख मान रहा है तो उनको छोड़ते हुए भी समस्त परिग्रह का त्याग करने पर भी अभी पर छूटा नही है वह पर को पकड़े हुए है बाहर मे छोड़ दिया परतु अतर मे पकड़े हुए है। जैसे कोई अमरूद खाने मे आनन्द तो माने परन्तु डाक्टर के मना करने से नही खाता अथवा वायु बढ़ जाने के डर से नही खाता परन्तु उसमें आनन्द मानता है तो वस्तु छोड़ते हुए भी परिग्रह नहीं छूटा। अमरूद की Importance नही मिटी। वह परिग्रह इसलिए छोड़ रहा है कि भोगने से नरक जाना पड़ेगा। नही भोगूगा तो स्वर्ग मिल जायेगा। शास्त्र में मना किया है इसलिए नहीं भोगता है त्याग कर देता है परन्तु वस्तु की महिमा अभी बनी हुई है। क्या यह हमारी दशा नहीं है क्या हमारे जीवन से वस्तु की महिमा चली गई है क्या वस्तु की Importance नही रही क्या वस्तु Meaningless हो गई अगर नहीं तो अभी हम वही पर हैं कोई फरक नही पडा।

पहले वह तो ज्ञानरूप रहना चाहता है, इसलिए पहले उन चीजों को छोड़ता है जो ज्ञान को मतवाला बनाने वाली है अपने को भुलाने वाली है वास्तव में शराब नाम ही शराब नही परन्तु वे सभी वस्तु शराब है जिसको पीकर जिसको पाकर यह अपने को भूल जाता है मानवता को भूल जाता है इसलिए मानव बनने को उस आचरण से उन चीजो के सेवन से परहेज करेगा जो मानवता को अपने को भुला देती है ऐसी चीज है मास और मदिरा। दूसरे जीव का मास खाकर अपना पेट भरे वहां मानवता कहां है वह तो पशुता को ही प्राप्त नही हुआ परन्तु पशु हो गया यह कहना चाहिए। शराब तो नाम है किसी भी प्रकार का नशा उसके साथ मे शामिल है वह अपने आपको—मानवता को भुला देता है वह व्यक्ति को अपने आप से दूर करता है इसलिए ऐसी चीजो से बचता है। ससार के समस्त प्राणी मात्र को अपने जैसे निज आत्मवत् दिखता है तब यह कैसे चाहेगा मेरे द्वारा किसी जीव को कष्ट हो किसी की विराधना हो उससे बचने के लिए रात्रि भोजन का त्याग, पानी छानकर पीना, अन्य खाने के सामान को देख शोध कर काम में लेना। चलने में, बैठने मे किसी की विराधना न हो इसलिए समस्त क्रियाओं मे स्वच्छ वृत्ति को छोड़ता है। ऐसे व्यापारो से बचता है जहां जीवों की विराधना होने का डर होता है। उस हिंसा वृति को भी चार भागों मे बाटा है—

(१) संकल्पी हिंसा—किसी जीव का सकल्प करके एक चीटी को भी नही मारता है यद्यपि उसके चलने में, उठने में, व्यापार में, घर के काम-काज में जीवों की विराधना होती है पर यह चीटी है इसको मार दूं ऐसा संकल्प करके एक जीव की भी विराधना नही करता।

(२) उद्योगी हिंसा—उसे कहते हैं जो व्यापार में होती है। यद्यपि ऐसा व्यापार नही करता जो जीव-हिंसा

का व्यापार है परन्तु व्यापार मे हिंसा होती है वह भी जैसे-जैसे राग हटता है उससे बचता जाता है। धन की तृष्णा नहीं रही, जो है उसमें सतोष है इसलिए व्यापार की जरूरत ही नही रहती।

(३) आरम्भी हिंसा—घर-गृहस्थी के कार्य मे जीवो की विराधना होती है अब देख शोध कर सब काम कर रहा है झाड़ू भी निकाली जाती है तो विवेक से निकाली जाती है। गेहूं को ज्यादा इकट्ठी नही करता जो कुछ मगाता है उसको धूप मे देता है जिससे उनमे जीवो की उत्पत्ति ही न हो। बिनने पर जो जीव निकलते है उसे अलग जगह पर रख देता है पैरों मे कूड़े घर मे नही फैंकता। मच्छर को मारने का उपाय नही करता परन्तु यह कैसा प्रयत्न है कि मच्छर उत्पन्न ही न हो। हर तरह से कम से कम आरम्भ करता है और जिन सूक्ष्म जीवो को नही बचा सकता वहा अपने प्रमाद का राग का दोष मानता है और उस प्रमाद्र को दूर करने का उपाय करता है।

(४) बिरोधी हिंसा—अभी तक दूसरे को चलाकर उसको छूरा मारना नही चाहता परन्तु अपने देश पर, अपने घर पर कोई आक्रमण करे तो तलवार लेकर बाहर निकलता—देश की रक्षा करता है—घर की रक्षा करता है। अपने सामने अपनी स्त्री का शील कोई लूटे और वह कहे कि मेरे को कषाय नही करना उसको तो कायर कहा गया है वह तो तीव्र कषायी है। कमजोर की रक्षा करना अन्याय का प्रतिकार करना यह तीव्र राग नही परन्तु अन्याय के आगे झुक जाना यह तीव्र कषाय है। अभी गृहस्थ मे है इसलिए अभी साधु जैसी कषाय नही चली गयी। इस प्रकार विरोधी हिंसा मे प्रवृति होते हुए भी यही समझे अभी मेरे मे कितना राग है यह मेरा स्वरूप नही, यह उपादेय नही। लड़ाई मे जीत कर भी यही समझे कि देखो राग के कारण इस प्रकार की प्रवृति करनी पड़ी। यह राग न होता तो किसका देश किसका घर? मेरा अपना तो अपना शरीर भी नही है मैं अपने स्वरूप स्वभाव में ठहर सकता तो इनसे क्या प्रयोजन था।

इसी प्रकार सत्यरूप प्रवृति करे—दूसरे को ठगने का तो सवाल ही नही परन्तु ऐसे कामों मे भी प्रवृति नही करता जैसे—(१) किसी को झूठी बात कह कर गलत रास्ते लगा दे—झूठा उपदेश दे दे। दूसरे की गुप्त बात को प्रगट करके उसे नीचा दिखा दे, उसको नुकसान पहुचा दे। (२) खोटे खाता-पत्तर बनाये, झूठा स्टाम्प बना लेवे आदि। (३) किसी ने भूल से अपना देना कम बता दिया उसकी गलती उसको समझावे। यह नही कहता उसने कम बताये। तो कहा—आपके दो सौ ले जाओ। (४) किसी की बात चेहरे वगैरह से जानकर प्रगट न करे। हित-मित प्रिय वचन बोले। किसी को चुभती बात न कहे जिससे उसके परिणाम बिगड़ जावें। सत्य भी ऐसा सत्य कहे जो अहिंसा से गर्भित हो। काने को काना कहना सत्य नही है क्योंकि इसमे हिंसा गर्भित है। झूठी गवाही देना आदि कार्य न करे। व्यापार मे भी किसी को खोटे रास्ते नही लगावें, उसके नुकसान होने का मार्ग जानकर न बतावे। असत्य की प्रवृति क्रोध मे, लोभ मे आयेगी—भय से और हसी मे होती है इससे इनसे बचाव करते हैं लोभ कषाय इतनी घट गयी है कि अन्य के धन की चाह ही नही अन्याय से कमाने का तो सवाल ही नही—न्याय मार्ग से कमाने मे भी कमी करने की चेष्टा करता रहता है अन्याय की परिभाषा हरेक व्यापारी वर्ग मे अलग-अलग है—डाक्टर, वकील, प्रोफेसर, इजीनियर, नौकरी करने वाला, व्यापारी सभी व्यक्ति अपना व्यापार करते हुए भी ऐसा आचरण नही करे जो एक मानव की मानवता को तिरस्कार करने वाले हो—जहा मानवता रो पड़े ऐसा आचरण तो सज्जन पुरुष के लायक नही है जहा पैसा तो आ सकता है परन्तु मानवता चली जाती है। कोई तरह का व्यवहार किसी भी क्षेत्र मे करते हुए चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, चाहे राजनैतिक, चाहे धार्मिक हो, चाहे पारिवारिक देखना यह अगर ऐसा व्यवहार कोई मेरे साथ करता तो क्या मेरे को सुहावना लगता, क्या मेरी आत्मा को चोट नही पहुंचती। यह विचार, यह देखते ही हमे रास्ता दिखा देता है कि हमे दूसरे के साथ कैसे बोलना चाहिए—कैसा व्यवहार करना चाहिए और जहा कषाय कम होती है वहा वैसा अकारण होता ही है अन्यथा प्रकार नही होता।

अब निज में तो चोरी करता ही नही परन्तु दूसरे

को चोरी करने का उपाय भी नही बताता। उनको इस प्रकार की सलाह भी नही देता कि तुम इस प्रकार कर लो। चोरी के माल को कम दाम में बिकता हो, कोई कम दाम में देने को आया हम जानते हैं कि इसका दाम यह कम बता रहा है फिर भी उसको नही खरीदता। (३) राज के कानून के खिलाफ कोई काम नही करता—जैसे सेलटैक्स की चोरी, इनकमटैक्स की चोरी, ब्लैक मारकेट वगैरह। देने-लेने के बाद कम कंश रखना। (५) मिलावट करना।

ब्रह्मचर्य—पर स्त्री के ग्रहण का तो सवाल ही नही अपनी स्त्री में भी राग परणति को कम करता जा रहा है जितना स्वस्त्री के प्रति झुकाव है उसे अपनी गलती समझता है ऐसा व्यक्ति—स्त्री के रागपूर्ण कथाओ को नही सुनता ऐसे बाइसकोप वगैरह देखने से बचता है जिसमे स्त्री की नग्नता का प्रदर्शन किया जाता है। (२) अन्य स्त्री जो बनाव सिंगार ज्यादा करती है उनकी संगति मे न जावे। (३) पहले जो भोग भोगे हो उनको याद न करे। (४) अपने आपका भी सिंगार करने से यह भावना पैदा होती है कि कोई मेरे का देखे। इसलिए अपने आपका भी सिंगार न करें। स्वच्छ रखना अलग बात है शृंगार करना अलग बात है। (५) और ज्यादा गरम भोजन करने से भूख से ज्यादा खाने से भी बचे क्योकि ऐसी बाते काम वासना को उत्तेजित करती है।

यहां तक कि अपने बच्चो के शादी विवाह के अलावा अन्य के बच्चो का शादी विवाह कराने मे अगुआ नही होता। जो दूषित आचरण की स्त्रिया है चाहे विवाहित हो अथवा वेश्यादिक हो उनसे सम्पर्क भी नही रखना। काम विकार के अगो को छोडकर अन्य रास्तो से काम मे प्रवृति नही करता। और अपनी स्त्री मे भी मर्यादा करता है कि महीने मे चार दफे, दो दफे—एक बार इत्यादिरूप से अपनी स्वेच्छा वृति को कम करता है।

ऐसी प्रवृति को प्राप्त है कि ससार शरीर भोगो मे विरक्त हो रहा है। जितना ग्रहण है उसे अपनी कमजोरी कमी समझता है उसे ग्रहण की महिमा नहीं है परन्तु पश्चाताप है भोगादिक से विरक्त हो रहा है। पहले स्वेच्छा वृति थी अन्यायपूर्ण थी वहां से न्यायपूर्ण में आता है फिर उसमें भी कमी करता जाता है।

(४) परिग्रह परिमाण—पहले धन वैभव की मर्यादा नही थी। अभी समस्त परिग्रह को नहीं छोड सकता परंतु अमर्यादा में अब मर्यादा करता है कि चार लाख ही रखूगा। देखने में यह मालूम देता है कि इतने कितना रखा है परन्तु तृष्णा पर दृष्टि डाली जाये तो मालूम होगा कोई भी व्यक्ति ऐसा नही जिसको तीन लोक की विभूति से कम की इच्छा हो अभिव्यक्त नही है परन्तु जैसे जैसे प्राप्ति होती जाती है तृष्णा उससे आगे बढती जाती है इतनी तृष्णा को घटाकर अगर किसी ने चार लाख की मर्यादा की तो उसे रखा बहुत कम है थोड़ा-बहुत ज्यादा है। अब पेटी भरने की अभिलाषा नही रही मात्र पेट भरने तक ही सीमित हे। दूसरे की जरूरत को अपने मे ज्यादा समझता है इसलिए अनावश्यक संग्रह नहीं करता। देश को एक परिवार समझता है और समझता है कि परिवार मे जैसे दस सदस्य है तो सबको बांटकर खाना चाहिए। अपने हिस्से मे जितना आवे उतने से ही काम चलावे। यहां देश को परिवार समझ कर अपने हिस्से मे ज्यादा की चेष्टा नही करना। जितना परिग्रह का परिमाण किया है उसमे भी कमी करता जाता है और कम से कम मे आने की चेष्टा करता है। जितना पराधीपन—पर की अपेक्षा घट जाती है उतना समझता है कि मैं स्वाधीनता की तरफ जा रहा हूं जितनी पर की परिग्रह की अपेक्षा रह जाती है उसे पराधीनता मानता है और पूर्ण पराधीनता दूर करने की चेष्टा करता है। धनादि को बाधक नही मानता परन्तु पर की अपेक्षा को पराधीन और पर की अपेक्षा के अभाव को स्वाधीनता मानता है। जितना-जितना आत्मनिष्ट होता जाता है पर की फिक्र दूर होती जाती है।

आगे बढता है रोज तीन टाइम बिना नागा के दो घड़ी हर बार आत्मचिंतन करता है। आत्मा को स्पर्श करने की चेष्टा करता है, इसी को अपनी कमाई मानता है। कहने मे चार बार उपवास करके अपनी शक्ति को तोलता है कि पर मे निष्ठा अभी कितनी है। उपवास के रोज का टाइम आत्मचिंतन में बिताता है। हफ्ते मे कारबार की एक रोज छुट्टी होती है तब व्यक्ति उस रोज सब अपना कार्य करते हैं। यहां पर वह एक रोज शरीर से परिवार मे छुट्टी लेकर अपने चेतन आत्मा के कार्य में

लगता है इससे अपने परिणामों की आसक्ति का पता लगाता है। अब स्त्री का त्याग करके पूर्ण ब्रह्मचर्य को धारण करता है। फिर घर के आराम का भी त्याग कर देता है। सवारी पर चढ़ने की भी अपेक्षा नही रही। कोई भी भोजन के लिए कहता है वही हिंसा से वर्जित भोजन ग्रहण करता है यह भी नहीं कहता मेरे खाने को यह चीज चाहिए। कषाय घटती जाती है दो टाइम की जगह एक टाइम भोजन करने लगता है। व्यापार का त्याग कर देता है अभी व्यापार में अनुमति देता था अब अनुमति देना भी छोड़ देता है। परिग्रह का जो परिमाण किया था उसमें कमी करता जाता है। अभी घर पर रहता था अब मन्दिरादि धर्म के स्थानों में रहता है। अब घर नहीं रहा, घर की चहारदिवारी हट गई वह जो घर की सीमा बनाती थी वह दीवार गिर गयी, अब कोई घर पराया नहीं रहा और न कोई घर अपना रहा। जब किसी घर में अपनापना मानते हैं तब अन्य घर में परायापना आता है परन्तु जब अपना मिट जाता है तो पराया भी मिट जाता है।

एक लंगोटी मात्र परिग्रह रह गया है अब भोजन के लिए बुलाने की भी अपेक्षा न रही कि जो बुलावे वहीं जाय परन्तु भिक्षा के लिए निकलता है अनुकूल स्थिति देखकर भोजन ग्रहण करता है, दिन भर आत्मचिंतन करता है—अर्ध रात्रि में २-४ घण्टे के लिए सोता है। गर्मी सर्दी के लिए कोई [illegible] की जरूरत नहीं रही। परम शान्त अवस्था को प्राप्त होता जाता है। जीवों की रक्षा के लिए मयूरपिच्छि रखता है चार हाथ जमीन देख कर चलता है न जोर से चलता है न धीमें चलता है। टट्टी पिशाब भी जमीन को देख कर करता है किसी जीव की विराधना न हो जाये। अब विरोधी हिंसा का भी अभाव हो गया है चाहे कोई मारो चाहे गाली देवे वहां कोई फर्क नहीं है।

परन्तु अभी तक भी एक लंगोटी मात्र का अब बल है उसकी पराधीनता बाकी है परिणामों मे निर्मलता बढ़ती है। आत्म अनुभव के बल पर राग टूटता है लंगोटी की जरूरत नहीं रहती। किसी को नंगा देखने की जरूरत नहीं रही तो अपनी नग्नता ढकने का सवाल भी नहीं रहा। माता के गर्भ से उत्पन्न हुए निर्विकार बच्चे की तरह जो निर्विकार को प्राप्त हो गया है, उसके पास अब ढंकने को कुछ नहीं रहा। यह परम उत्कृष्ट मुनि अवस्था को प्राप्त होता है।

अब भोजन को भी प्रकृति पर छोड़ दिया। इस शरीर की कोई अपेक्षा रही नही, अगर इसको रहना है तो अपने आप भोजन मिलेगा इसलिए अनेक प्रकार के नियम लेकर भोजन को जाता है। अगर संयोग से वैसी व्यवस्था बनती है तो भोजन लेता है। परिग्रह से कोई सम्पर्क नही रहा। परात्मापन छूट गया, बाहरी परात्मापना तो रहा नहीं। कामवासना रही नही—वह आत्म ऊर्जा जो स्त्री भोग मे लगती थी वह आत्मभोग में लगने लगी—जो बाहर की तरफ पर पदार्थों की तरफ बहती थी वह अन्दर की तरफ बहने लगी। अहिंसामयी क्षमामयी पने को प्राप्त वह आत्मा अब वास्तविक स्वभाविक साधुपने को प्राप्त होता है। यह साधु पर ओढ़ा हुआ नहीं है बाहर से आया हुआ नही—यह बना हुआ साधु नहीं है इसने अपने शरीर को साधु नहीं बनाया। परन्तु यह आत्मा साधुता को प्राप्त हुई है, यह आत्मक्रान्ती है।

बाहर मे धन नही, कपड़ा नही, खाने का नही, गर्मी सर्दी से बचने का नही परन्तु अंतर के वैभव से महान शांति का अनुभव कर रहे है। जहा दुख रहा नही किसका दुख हो किसी चीज मे अपनापना नही अपना समय ध्यान अध्ययन में लगा रहे हैं। बार-बार आत्मस्वरूप की अनुभूति कर रहे हैं। ४८ मिनट के भीतर एक बार जरूरी अपनी आत्मीक वैभव की अनुभूति करते हैं। ध्यान से हटते हैं तो २८ मूलगुणों रूपी लक्ष्मण रेखा के भीतर प्रवृति होती है इसके बाहर जाने पर तो साधु की स्थिति ही नही रहती। बच्चा जैसे हिंडोले में झूलता है कभी ऊपर जाता है कभी नीचे आता है। वैसे यह आत्मिक झूले में हिंड रहा है ध्यान में स्थित होता है तो ऊपर में जाता है ध्यान से हटकर २८ मूल में आता है। अपना मुनिपना अपने मे मानता है २८ मूल गुणों को तो राग मानता है जो वहां पर भी अभी उतना पड़ा हुआ है।

काय वचन मे कोई फर्क नही, धनिक-गरीब का कोई भेद नहीं, शत्रु-मित्र का भेद नही, निंदा और प्रशंसा मे भेद नही, जंगल और शहर में फर्क नहीं। सुख-दुख में, जीवन-मरण में कोई भेद नही रहा। न मरण दुख है न जीवन की अभिलाषा है। इस प्रकार आत्मा को आत्मा भाता हुआ शांत अवस्था को प्राप्त होता है। □□

लोक-प्रतिष्ठा और आत्म-प्रशंसा

संस्कृत में एक सुभाषित है—'बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ।'—भूखा कौन-सा पाप नहीं करता ? अर्थात् उसे किसी भी पाप से परहेज नहीं होता । वह किसी भी कीमत पर अपनी भूख मिटाने की खरीद-फरोख्त करता है । पेट की भूख मिटाना कदाचित् सरल है अपेक्षाकृत प्रतिष्ठा और प्रशंसा की भूख से । आज यह रोग महामारी की भांति फैल रहा है और इससे पीड़ित व्यक्ति चाहे वह गुणों से दूर ही क्यों न हो, हर छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे की अपेक्षा किए बिना, चाहे जो भी कीमत चुकाकर, चाहे जिस किसी अधिकारी या अनधिकारी से प्रतिष्ठा की भूख मिटाने में सन्नद्ध हैं । आज जो पदवियों, मानपत्रों और ऐसे ही ग्रन्थों के आदान-प्रदान की परिपाटी चल पड़ी है उसमें अधिकांश इसी रोग के चिह्न हैं । ये ऐसे लेन-देन के प्रसंग आत्म-अहित के साथ 'तीर्थंकरों की वाणी और धर्म' के प्रति बगावत को ही इंगित करते हैं—वास्तविकता के माप को नहीं । ध्यान रहे—लोकप्रतिष्ठा और आत्म-प्रशंसा दोनों ही आत्म-हित में नहीं । पाठकों से अपेक्षा है कि वे उक्त सन्दर्भ में स्व० पूज्य बड़े वर्णी जी के सुभाषितों से लाभ लेंगे ।

—सम्पादक

लोक-प्रतिष्ठा

१. संसार मे प्रतिष्ठा कोई वस्तु नही, इसकी इच्छा ही मिथ्या है । जो मनुष्य संसार बन्धन को छेदना चाहते हैं वे लोकप्रतिष्ठा को कोई वस्तु ही नही समझते ।

२. केवल लोकप्रतिष्ठा के लिए जो कार्य किया जाता है वह अपयश का कारण और परिणाम मे भयङ्कर होता है।

३. संसार मे जो मनुष्य प्रतिष्ठा का लिप्सु होता है वह कदापि आत्मकार्य मे सफल नही होता, क्योंकि जो आत्मा पर-पदार्थों से सम्बन्ध रखता है वह नियम मे आत्मीय उद्देश्य से च्युत हो जाता है ।

४. लोक-प्रतिष्ठा की लिप्सा ने इस आत्मा को इतना मलिन कर रखा है कि वह आत्मगौरव पाने की चेष्टा ही नहीं कर पाता ।

५. लोक-प्रतिष्ठा का लोभी आत्मप्रतिष्ठा का अधिकारी नही । लोक में प्रतिष्ठा उसी की होनी है जिसने अपनेपन को भुला दिया ।

६. लोक-प्रतिष्ठा की इच्छा करना अवनति के पथ पर जाने की चेष्टा है ।

७. संसार में वही मनुष्य बडे बन सके जिन्होंने लोक-प्रतिष्ठा की इच्छा न कर जन हित के बडे-से-बडे कार्यों को अपना कर्तव्य समझ कर किया ।

आत्म-प्रशंसा

१. जबतक हमारी यह भावना है कि लोग हमें उत्तम कहे और हमें अपनी प्रशसा सुहावे तबतक हमसे मोक्षमार्ग अति दूर है ।

२. जो आत्म-प्रशंसा को सुनकर सुखी और निन्दा को सुनकर दुखी होता है उसको ससार सागर बहुत दुस्तर है । जो आत्म-प्रशसा को सुनकर सुखी और निन्दा को सुन कर दुखी नही होता वह आत्मगुण के सन्मुख है । जो आत्म-प्रशसा सुनकर प्रतिवाद कर देता है वह आत्मगुण का पात्र है ।

३. जो अपनी प्रशस्ति चाहता है वह मोक्षमार्ग में कण्टक बिछाता है ।

४. आत्म-प्रशंसा आत्मा को मान कषाय की उत्पत्ति-भूमि बनाती है ।

५. आत्मश्लाघा में प्रसन्न होना ससारी जीवो की चेष्टा है । जो मुमुक्षु हैं वे इन विजातीय भावो से अपनी आत्मा की रक्षा करते हैं ।

६. आत्म-प्रशसा सुनकर जो प्रसन्नता होती है, मत समझो कि तुम उससे उन्नत हो सकोगे । उन्नत होने के लिए आत्म-प्रशसा की आवश्यकता नही, आवश्यकता सद्‌गुणो के विकास की है ।

—'वर्णी वाणी से साभार'

ताकि सनद रहे और काम आए

अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर (उपन्यास) की विसगतियो को लक्ष्य कर 'अनेकान्त' के गतांक में 'विचारणीय-प्रसंग' दिया गया था। प्रबुद्ध पाठकों ने उसका सदुपयोग कर जो अमूल्य-विचार भेजे हैं उनमे से कुछ के कुछ अंश **'सनद'** रूप मे अंकित किये जा रहे है। यद्यपि देश और समाज के वर्तमान वातावरण को देखते हुए आभास होता है कि प्रायः आज युक्ति, आगम और तर्क की अपेक्षा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की बलवत्ता है—फिर भी हम आशावादी हैं। डा० नेमीचन्द्र जी इन्दौर के शब्दों में—'अपनी तरह लिखते रहिए। स्वाधीनवृत्ति के शेर को भला पिंजरे में आज तक कोई डाल पाया है।'

—सम्पादक

१. श्री भँवरलाल न्यायतीर्थ (सम्पादक वीरवाणी)

—लेख सुन्दर व समयानुरूप है। वीरवाणी मे छापना क्रमशः शुरु कर दिया है। अन्त मे साथ मे सम्पादकीय भी लिखूगा। ५-१-८४

२. प्रो० डा० रमेश चन्द्र डी. लिट्—बिजनौर

—आपने जिस निर्भीकता से अनुत्तरयोगी मे लिखित दिगम्बर सिद्धान्तों से विपरीत मान्यताओ की ओर ध्यान आकर्षित किया है वह स्तुत्य है।"

आपकी पैनी-दृष्टि के प्रति समाज को अवश्य ही आभारी होना चाहिए। ११-१-८४

३. श्री प्रो० गोराबाला खुशालचन्द्र, वाराणसी—

—मैंने अनुत्तर योगी के दर्शन भी नही किए हैं। आप मेरे लिए विश्वास भाजन हैं। फलतः और लोगों से सुनी स्फुट विसंगतियों की पुष्टि हुई। और आपके विचारणीय प्रसग के विचारो को उपयुक्त मानता हू। तथा उनका समर्थन करता हू। पुण्यश्लोक मुख्तार सा० तो अनेकान्त के संस्थापक थे।—१३-१-८४

४. श्री पं० मूलचन्द्र जी शास्त्री, श्री महावीर जी

—यह पत्र आपको अनेकानेक धन्यवाद देने के लिए लिख रहा हूं। मैंने भी कुछ स्थल इसमें बहुत पहले देखे थे—मुझे देखकर दुख हुआ था। मुझमे इतनी क्षमता नहीं थी जो इन पर कुछ लिखता। आपने जो विचारणीय प्रसग लिखकर एक बहुत बड़े साहस का कार्य किया है और दिगम्बर मान्यता का रक्षण किया है—इस विषय में आपका धन्यवाद किये बिना नही रह सकता। १६-१-८४

५. श्री पं० रतनलाल कटारिया, केकड़ी—

'अनुत्तर योगी' पुस्तक के विरोध में जो आपने आवाज उठाई है वह सही कदम है। आजकल सत्य कहने का भी लोगो में साहस नही रहा है। अपने पैरो आप कुल्हाडी मारने का उद्यम तो हमने न जाने किन अविवेक के क्षणो मे कर लिया है। आपने फिर भी समय पर ठीक कदम उठाकर चेताया है तदर्थ धन्यवाद। इसमें सफलता मिले तभी मजा है। २४-१-८४

६. डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

—विचारणीय प्रसग के अन्तर्गत अनुत्तर योगी की आपकी समीक्षा ध्यान से पढी। आपका 'जरा सोचिए' शीर्षक सामयिक स्तभ भी अच्छा और आवश्यक लगा। अनेकान्त के लिए जो श्रम आप करते है और जिस योग्यता से पत्रिका निकाल रहे हैं, श्लाघनीय है। २१-१-८४

७. सेठ राजेन्द्र कुमार जैन, विदिशा

विचारणीय प्रसंग पर आपका अनुत्तरयोगी संबंधी सर्क्युलर प्राप्त हुआ। मैंने अनेक वयोवृद्ध अन्य विद्वानों और त्यागियो से इस विषय पर विचार सुने किन्तु आपने कलम चलाकर साहस और गौरव का कार्य किया है। आपके विचारों में सहमति की नहीं, सिद्धान्त के रक्षण की बात है इसमें सहमति नही, इस पर कुर्बानी आवश्यक है। २४-१-८४

८. डा० बी. डी. जैन, नई दिल्ली

—अनुत्तरयोगी तीर्थंकर महावीर उपन्यास को आपने बहुत ही पैनी दृष्टि से पढ़ा है। उठाए गए प्रसंग वास्तव मे बहुत ही विचारणीय है। निःसदेह आप समाज को नई दिशा प्रदान कर रहे हैं और सिद्धांतो की रक्षा कर रहे हैं। २८-१-८४

९. हेमचन्द नेमचन्द काला, इन्दौर

—आपकी लेखनी की स्पष्टवादिता को साधुवाद।

देते हुए यही लिखना चाहता हूं कि अनुत्तरयोगी के प्रकाशन मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जिन-जिनका भी हाथ रहा हो उन सबको सार्वजनिक रूप से ऐसे कृत्यों के लिए क्षमा मागनी चाहिए। अनुत्तर योगी के बारे मे जो कुछ लिखा गया है उसे पढ़कर ऐसा लगता है कि भ्रम फैलाने वाले तथ्य किस उद्देश्य स दिए जा रहे है और दि० समाज को किस दिशा मे ले जाया जा रहा है? क्या एक दिन ऐसा आयगा कि दि० समाज का लोप हो जायेगा। ३१-१-८४

१०. सम्पादक, सन्मति संदेश

—अनेकान्त मे आपका लेख विचारणीय प्रसग पढ़कर यह अनुभव हुआ कि सिद्धान्त की सुरक्षा के लिए आप जैसे निर्भीक स्पष्टवक्ता विद्वान ही सक्षम हो सकते है। अनुत्तर योगी के सिद्धान्त विरुद्ध प्रकरणो को जैन समाज के समक्ष रखकर भविष्य मे होने वाली अपार क्षति से आपने समाज को सचेत कर महान् उपकार किया है। २-२-८४

११. डा० श्री राजमल जैन, नई दिल्ली

परम्परागत तथ्यो के सरक्षण को किसी भी कवि या चरित्र लेखक ने दृष्टि से ओझल नही किया है यही आशा वीरेन्द्रकुमार जी तथा दि० जैन समिति से स्वाभाविक रूप से करना कोई अनुचित बात नही है। आशा है वे परम्परा विरुद्ध अंशों का परिष्कार अगले सस्करण मे अवश्य कर देगे। १५-२-८४

१२. डा० प्रेमचन्द्र जैन, जयपुर

अनुत्तरयोगी महावीर की समीक्षा पढ़ी। मै आपके विचारो से पूर्णता सहमत हू। इस विषय पर दि० जैनियो द्वारा इस प्रकार लिखा जाना एक दम असहनीय है। आपका लिखना प्रमाणपुष्ट निर्भीकता और स्पष्टता लिए हुए है। यह दि० विद्वानो के लिए सर्वथा विचारणीय है।

१३. डा० नन्दलाल जैन, रीवां

'अनुत्तर योगी तीर्थंकर महावीर' नामक उपन्यास के अन्तःपठन के आधार पर 'अनेकान्त' मे जो बिन्दु उठाए हैं उन पर सारी दि० जैन समाज एव विद्वानो को ध्यान देना चाहिए। यह कितना अच्छा होता कि प्रकाशन समिति ग्रन्थ को आद्योपान्त पढने के बाद प्रकाशित करती। इससे उत्तरवर्ती समय मे इस उपन्यास के कारण दि० जैन धर्म, महावीर और उनकी मान्यताओ के प्रति भ्रामक धारणाएँ सभवत. स्थिर न हो पाती। आप जैन सिद्धान्तो के प्रति जितनी जागरूकता का परिचय दे रहे है वह श्लाघनीय है वस्तुत **'अनेकान्त' और वीर सेवा मन्दिर** इस हेतु ही स्थापित है। २७-२-८४

समाधान-हेतु : शंका

क्या द्रव्य स्त्री के तीर्थंकर प्रकृति का बंध और क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है, वैसे तो शास्त्रों मे स्पष्ट निषेध है किन्तु दो स्थल-विशेष मे शका है जो इस प्रकार है :—

१. हरिषेणकथा कोश कथा नं० १०८ श्लोक १२४-१२६,

अथ सा रुक्मिणी नत्वा सर्वसत्वहित गुरु,
सयमश्री समीपे च प्रवव्राज मनस्विनी ॥
बद्ध्वा तीर्थंकर गोत्र तप शुद्ध विधाय च।
रुक्मिणी स्त्रीत्वमादाय जातो दिवि सुरो महान्
देवश्च्युत्वा भुव प्राप्य तप कृत्वायमुत्तर।
निहत्याशेष कर्माणि मोक्षं यास्यति नीरजा. ॥'

२. गोम्मटसार जीवकांड गाथा—७०४ की सस्कृत व कर्णाटकी टीका तथा टोडरमल जी कृत उसकी वचनिका मे प० कैलाशचन्द्र जी के हिन्दी अनुवाद भाग २ पृ. ६३१-६३२ (भा० ज्ञानपीठ) मे इस प्रकार लिखा है—

'क्षायिक सम्यक्त्व तु असयतादि चतुर्गुणस्थानमनुष्याणा असंयतदेश संयतोपचारमहाव्रत मानुषीणा च कर्मभूमि-वेदकसम्यग्दृष्टिनामेव केवलिश्रुतकेवलिद्वय श्रीपादोपान्ते सप्त प्रकृतिनिरवशेषक्षय भवति'—इसी को जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग ४ के पृष्ठ ३७४ पर उद्धृत किया है। इसमे जो उपचार 'महाव्रत मानुषी' का विशेषण दिया है सो इससे ये द्रव्य स्त्री विदित होती है। द्रव्य से पुरुष हो और भाव स स्त्री हो उसके तो क्षायिक सम्यक्त्व शास्त्रों मे बताया है वह तो सगत है किन्तु ऐसी भाव स्त्री के उपचार महाव्रत कैसे होगा? उपचार महाव्रत तो द्रव्य स्त्री के ही सभव है। द्रव्य पुरूष के तो वास्तविक महाव्रत ही होगा। भाव स्त्री के जब १४ गुणस्थान हो सकते है तो उसके उपचार महाव्रत तक ही बताना भी असगत प्रतीत होता है। अत. 'असयतदेश सयतोपचार महाव्रत मानुषीणां' पद का क्या समाधान है? मानुषी (भावस्त्री) के छठा सातवाँ गुणस्थान क्यो नही? सर्वार्थसिद्धि अ० १ सूत्र की टीका तथा राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र ७ की टीका मे भी इस विषय का विवेचन है किन्तु 'असयत देश संयतोपचार महाव्रत मानुषीणा पद' वहा भी नही है।

उक्त विषय मे विद्वान् प्रकाश डालने की कृपा करें।

—श्री पं० रतनलाल कटारिया, केकड़ी

विचारणीय-प्रसंग :

मूल-जैन-संस्कृति : अपरिग्रह

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

'आज लोगों में चिंता व्याप्त है कि—यदि हम 'अपरिग्रहवाद' को मूल-जैन-संस्कृति मान बैठे तो हम कहां के रहेंगे ? आज तो हम अहिंसा को मूल संस्कृति बता कर दया, जीव रक्षा और परोपकार के नाम पर थोड़ा बहुत दान देकर दानी धर्मात्मा और अहिंसक जैनी बने हुए हैं और संग्रह के आयामों में भी हमें किसी प्रकार की अड़चनें नहीं आतीं —चाहे जैसे और जितना कमाते और सुख भोग करते हैं और हमें समाज में प्रतिष्ठा भी मिली रहती है, आदि।' यह सारी चिंता परिग्रह की कृशता में संतोष धारण से सहज ही दूर हो जायगी और जैनत्व को बल मिलेगा।' पाठक विचार करें।

—सम्पादक

'संस्कृति' शब्द बड़े गहरे भाव में है और इसका सम्बन्ध वस्तु की स्व-आत्मा से है। संस्कार किया हुआ रूप 'संस्कृत' कहलाता है और संस्कृत हुए शुद्धरूप की धारा संस्कृति होती है। विकसित स्व-गुणों की धारा होने से 'संस्कृति' स्थायी होती है। कोष में संस्कार का अर्थ 'शुद्ध किया जाना' लिखा है और संस्कृति संस्कार किए गए—संस्कृत रूप से प्राप्त है अतः 'संस्कृति' का स्थायित्व स्वयंसिद्ध है। इसके विपरीत—'असंस्कृति'—पर अर्थात् अन्यों से प्रभावित बहुरूपियापन से लदी—अस्थायीरूप होती है। क्योंकि बहुरूपियापन उधार लिया हुआ नाशवान रूप होता है—वह स्थायी नहीं होता। उदाहरणार्थ—स्वर्ण का रूप निखरना उसका संस्कृत होना होता है और निखरे हुए इस संस्कृत रूप से पनपने वाली संस्कृति स्वर्ण संस्कृति होती है और खोट मिले सोने की संस्कृति (?) असंस्कृति होती है। ऐसे ही अन्यत्र समझना चाहिए। लोगों ने संस्कृति शब्द को व्यवहार परक रीति-रिवाज, वेश-भूषा आदि अन्य अनेक अर्थों में भी लिया है—सो वह व्यवहार ही है—वास्तविक नहीं।

'जिन' शब्द पारिभाषिक और व्यवहार-परक है और यह (कर्मों को) जीतने वाले शुद्ध आत्माओं को इंगित करता है। 'जिन' का धर्म जैन कहलाता है। इस धारा का ऐसा प्रवाह जो स्वयं शुद्ध हो या शुद्धि में निमित्त हो सके 'जैन संस्कृति' है।

यह कोई नहीं जानता कि जैन संस्कृति कब से चली आ रही है? तीर्थंकर ऋषभदेव की यह देन है यह कथन भी व्यवहार है। वास्तव में तो तीर्थंकर ऋषभदेव भी तीर्थंकरों की अनादि परम्परा में इस युग की प्रथम कड़ी थे; जिन्होंने इस संस्कृति को पुनः उजागर किया। कोई-कोई लोग तो जैन-संस्कृति को भगवान महावीर की देन मानने के भ्रम में है। पर, स्मरण रखना चाहिए कि 'जैन-संस्कृति' वह है जो मूल अनुसरणी है—भूल के विपरीत नहीं है। ये संस्कृति जिनसे प्रकाश में आई वे 'जिन' अपरिग्रही—शुद्ध आत्मा का अनादि मूल रूप ही है। हाँ, जैन-संस्कृति की भांति संस्कृति शब्द का व्यवहार मानव आदि अनादिवर्ती अस्तित्वों के साथ भी हो सकता है। जैसे मानव-संस्कृति आदि।

यदि हम जैन-संस्कृति, मानव-संस्कृति, आत्म-संस्कृति आदि कहें तो ठीक बैठ जाता है, क्योंकि ये सदा से है और सदाकाल रहेंगे और इनके अपने रूपों से अपनों में भेद न होगा, जब कि हिन्दू का हिन्दू से, मुसलमान का मुसलमान से भेद हो जायगा। ध्यान रहे पंथ-सम्प्रदाय के आधार से पनपने वाली कथित संस्कृति (?) उसके अनुयायियों से अनेकों भेदों में बँट जायगी। जैसे दि० जैन, श्वेताम्बर जैन, तेरहपंथी जैन, बीसपंथी जैन तथा शिया-मुसलमान—सुन्नी-मुसलमान आदि। पर, आत्मा, मानव या 'जिन' में ऐसा नहीं होता—सभी अपने लक्षणों, गुणों से अपने में एक जैसे अखण्ड हैं इनके लक्षणों-गुणों में कभी अन्तर न आयगा। यदि कभी कहीं किसी प्रकार का

अन्तर दिखेगा तो वह मूल की अपेक्षा न होकर पर-प्रभावित—विकारी आधारों से प्रभावित असंस्कृत अवस्था का ही रूप होगा।

'संस्कृति' शब्द से मूलस्वभाव की धारा अभिप्रेत है और 'जैन-संस्कृति' जिन अर्थात् आत्मा के शुद्ध एकाकी शुद्ध मूलरूप को इंगित करती है। फलत. 'जैन-संस्कृति' मे आत्मा के मूल विकास मे कारणभूत—पर से निवृत्ति यानी परिग्रह के त्याग को प्रमुखता दी गई है। अतरंग परिग्रह राग-द्वेष, मोहादिक और बाह्य परिग्रह सासारिक सभी पदार्थों से निवृत्ति, आत्मा के स्व-मूलरूप के प्राप्त करने मे साधन है। अहिंसा आदि सभी आचार-धर्म भी परिग्रह-निवृत्ति मूलक है। अतः मूल जैन-संस्कृति 'अपरिग्रह' है और किंचित भी परिग्रह न रहना आत्मा की शुद्ध 'जिन' दशा है—जिससे यह 'संस्कृति' पनपी और प्रकाश मे आई और जैन-संस्कृति कहलाई।

लोक मे 'अहिंसा परमो धर्मः' 'जियो और जीने दो' आदि जैसे नारे, जो आचार परक है और जिन्हे मूल जैन-संस्कृति से जोडा जा रहा है वे सभी नारे भी अपरिग्रह मूलक ही है अर्थात् वे 'जिन' की स्वभाव परक अपरिग्रह-रूप संस्कृति के फलीभूत कार्य है। ऐसे नारो का सद्भाव जैनो को सिवाय जैनेतरो मे भी है—जैनेतर भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील जैसे पापो की भर्त्सना करते है, भले ही वे जैनियो की भाति इनके सूक्ष्म रूपो पर न पहुचे हो। हाँ, वे अन्त तक अपरिग्रह के पोषक नही। उनके ईश्वर भी परिग्रह के पुजारी और परिग्रह से आवृत रहे हैं जब कि 'जिन'—अर्हन्तो में 'अपरिग्रह' की पूर्णता है।

ऐसा मालूम होता है कि 'अहिंसा परमो धर्मः' आदि नारे 'मारो या मरने दो' जैसे नारो के प्रतिद्वन्द्वी हैं। संभवतः इनका अधिकांशतः प्रचलन, नारद-पर्वत संवाद जैसे अन्य बहुत से प्रसंगो का फलीभूत कार्य हो, जब 'अज' का अर्थ बकरा किया जाने लगा हो। या तीर्थंकर महावीर के सम-कालीन हो जब कि धर्म के नाम पर हिंसा का बोलबाला हो चुका हो। अन्यथा भगवान नेमिनाथ से पहिले हिंसा के ऐसे प्रसंग बिरले ही रहे होगे। युग के प्रारम्भ मे भ० ऋषभदेव के समय में ऐसा प्रसंग नही था। तब तो राज-दण्ड मे भी हा, मा, और धिक् जैसे दयापरक शब्द दण्ड थे। भरत-बाहुबली का स्वयं व्यक्तिगत युद्ध करना स्वाभाविक ही प्राणियो पर दया का परिचायक है। उस समय का वातावरण (जीवन मे और आयु के अन्त तक मे भी) परिग्रह-निवृत्ति और संयम धारण के लक्ष्य का था। 'पच समिदो तिगुत्तो पंचेदियसंवुडो जिद कसाओ। दसण-णाण समग्गो समणो सो संजदो भणिदो।

प्र. सा. ३।४०

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जैनों में सदा से वीतरागता प्राप्ति और परिग्रह निवृत्ति को ही प्रमुखता दी जाती रही है। इसीलिए सभी तीर्थंकरों के साथ वीत-रागी जैसे विशेषण को जोडने का प्रचलन रहा है जैसे—वीतराग ऋषभ, वीतराग महावीर आदि। कभी, कहीं किसी तीर्थंकर को (अहिंसक होते हुए भी) अहिंसक जैसे विशेषण से संबोधित करने का प्रचलन नही रहा। जैसे—अहिंसक ऋषभ या अहिंसक महावीर आदि। यतः ये सब धर्म परिग्रह-निवृति पर ही आधारित हैं।

जब हम हिंसादिक के लक्षणो पर दृष्टिपात करते हैं तब वहां भी हमे परिग्रह की ही कारणता दिखती है—'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा।' इसमें प्रमत्त (प्रमाद) को परिग्रह ही जानना चाहिए। इसका अर्थ है—प्रमाद के योग से प्राणो का घात हिंसा है। आगे भी प्रमाद की मुख्यता दिखाई देती है। जैसे—

१. यत्खलु कषाय योगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥
व्युत्थानावस्थाया रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥
तस्मात् प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपण नित्यम् ॥४८॥
यस्मात् सकषायः सन् हन्त्यात्माप्रथममात्मानम् ॥४७॥

पुरुषार्थ० ४३-४८

—'निश्चय ही कषाय (प्रमाद) रूप परिणमित हुए मन-वचन-काय से जो द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का घात करना है वह हिंसा है। योग्य आचरण वाले सन्तपुरुष के रागादिक भावों के अनुप्रवेश के बिना

केवल प्राणपीड़न से हिंसा कदाचित् भी नही होती । रागादिक भावों के वश में प्रवृत्ति रूप—अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था में जीव मरो अथवा न मरो, हिंसा अवश्य है। प्रमाद के योग में निरन्तर प्राण घात का सद्भाव है, आत्मा कषायभावो सहित होने से पहिले अपने ही द्वारा आपकों घातता है।' आदि ।

जैसे हिंसा में प्रमाद मूल कारण है वैसे अन्य सभी पापों में भी प्रमाद ही मूल है—

'प्रमत्तयोगादिति हेतु निर्देश:।'— त. रा. वा. ७।१३।५

'तन्मूलासर्वदोषानुषङ्गा·········ममेदमिति, हि सति संकल्पे रक्षणादय संजायन्ते । तत्र च हिंसाऽवश्य भाविनी तदर्थमनृतं जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुन च कर्मणि प्रतिपतते ।'—वही ७।१७।६

सर्व दोष परिग्रहमूलक है। यह मेरा है, ऐसे सकल्प में रक्षण आदि होते हैं उनमे हिंसा अवश्य होती है, उसी के लिए प्राणी झूठ बोलता है, चोरी करता है और मैथुनकर्म में प्रवृत्त होता है। फलतः—

यदि ममत्व आदि रूप अंतरग व धन-धान्यादि बहिरंग दोनों परिग्रह न हों तो हिंसा आदि का प्रश्न ही नही उठता। क्योकि कारण के बिना कार्य नही होता—'जेण विणा जं ण होदि चेव त तस्स कारणम।'

—धव. १४।५,६,६३।६०।२

परिग्रह को सर्वपापों की जन्मभूमि भी कहा है—
"क्रोधादिकषायाणामार्तरौद्रयोर्हिंसादिपचपापाना भयस्य च जन्मभूमिः परिग्रहः।'—चा. सा. पृ. १६

'मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहकारसभव.।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जायते ।।
ताभ्यां पुन: कषाया: स्युर्नोकषायाश्च तन्मया: ।
तेभ्यो योग: प्रवर्तन्ते ततः प्राणिबधादय: ।।'

—तत्त्वानु० १६, १७

'मिथ्याज्ञानयुक्त मीह से ममकार और अहंकार होते हैं और ममकार व अहंकार से जीव के राग-द्वेष होते है उनसे कषाय-नोकषाय होते हैं' उनसे योग प्रवर्तित होते हैं, उनसे प्राणि-वध आदि होते हैं।'

व्यवहार में भी अहिंसा धर्म को दया, करुणा, अनुकम्पादि द्वारा प्रेरित और मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना तथा क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौचादि पूर्ण धर्मों से संपुष्ट होना अवश्यम्भावी है। वर्तमान में जिसे अहिंसा मानने का प्रचलन चल पडा है उसमें यद्यपि दया-करुणा आदि रूपों की प्रेरणा तो परिलक्षित होती है पर अन्य धर्मों की संपुष्टि मे खामियां रह जाती हैं, फिर चाहे वह श्रावक सम्बन्धी अहिंसा हो या मुनि सम्बन्धी हो। इसमे मुख्य कारण परिग्रह (प्रमाद) का सद्भाव ही है। कहा भी है—

अहिंसा भूतानां जगति विदित ब्रह्म परम.
न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परम-करुणो ग्रन्थमुभय,
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधि-रतः ।।'

स्वयंभूस्तोत्र २१।४

प्राणियो की अहिंसा जगत मे परमब्रह्म—अत्युच्चकोटि की आत्मचर्या जानी गई है और वह अहिंसा उस आश्रम विधि मे नही बनती जिस आश्रम विधि में अणुमात्र—थोड़ा सा भी आरम्भ होता है। अत: उस अहिंसा-परमब्रह्म की सिद्धि के लिए परम करुणाभाव से सपन्न आपने ही बाह्याभ्यन्तररूप से उभय प्रकार के **परिग्रह को छोड़ा है**—बाह्य मे वस्त्रालकारादिक उपाधियों का और अतरंग में रागादि भावो का त्याग किया है·········।।

सूक्ष्म हिंसा भी पर-वस्तु के कारण से (ही) होती है, अत: हिंसा में कारण परिग्रह का त्याग करना चाहिए। कहा भी है—

'सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबंधना भवति पुंस: ।
हिंसाऽऽयतननिवृत्ति. परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ।।'

पुरु० अमृतचन्द्राचार्य ४६

कहा जा सकता है कि यदि जैन-संस्कृति में 'अहिंसा परमोधर्म:' की प्रधानता नही तो आचार्य ने 'हिंसाऽनृत-स्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्' इस सूत्र में हिंसा के वर्जन का प्रथम रूप में उपदेश क्यो दिया? परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जैसे नीची सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर पहुंचा जा सकता है वैसे ही अणुव्रतों का अभ्यास कर, पूर्ण अपरिग्रही दशा को प्राप्त करने के लिए अहिंसा आदि आचारों (महाव्रतों) की श्रेणियों से गुजरना होता है। महाव्रत आदि की श्रेणियों में अपरिग्रह की श्रेणी अन्तिम

और उत्कृष्ट है अहिंसादि पहिली श्रेणियां अन्तिम सीढ़ी आने पर छूट जाती है। जो जीव अहिंसादि आचारों के पूर्ण अभ्यासी होते हैं उन्हें पूर्व के चार महाव्रतों की पूर्णता के बाद भी परिग्रह से मुक्ति के लिए लम्बा और कठिन संघर्ष करना पड़ता है, तब कही बारहवे गुण स्थान मे उन्हें वीतरागता की प्राप्ति होती है जब कि अहिंसा आदि महाव्रतों की पूर्णता इस गुणस्थान से पहिले सातवें (अप्रमत्त) गुणस्थान में अथवा 'अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्याहिंसेति' के पक्ष में दशवें गुणस्थान में ही हो लेती है। इससे मालूम होता है कि परिग्रह की जडें बड़ी मज-बूत हैं और जो महाव्रतो की पूर्णता मे भी नही कटती बाद को भी बहुत कुछ करना पड़ता हैं। यही कारण है कि—'अपरिग्रहत्व' को बाद में गिनाया, जिसकी पूर्णता का सकल्प दीक्षा के समय किया गया था।

ऐसा मालूम होता है कि गत समय मे भ० महावीर के पश्चात् जैनियों ने शिथिलाचार प्रवृत्तिवश कष्टसाध्य संयम से वचने के लिए 'अपरिग्रह' जैसी कठोर—मूल-सस्कृति को भुलाकर अहिंसा आदि आचारो को मूल सस्कृति से बद्ध कर दिया। यही कारण है कि जहा प्रथमा-नुयोग के शास्त्रो मे पूर्वकाल मे परिग्रह-त्यागी लाख-लाख और करोड दि० मुनियो के विहार और मोक्ष होने के उल्लेख मिलते है, वहां भगवान महावीर के बाद उस संख्या मे ह्रास होता चला गया। आज स्थिति है कि परि ग्रह त्यागी दि० मुनियों की सख्या अगुलियो पर गिनने लायक ही शेष रह गई है। कारण कि आज लोग मूल जैन सस्कृति—अपरिग्रहवाद की उपेक्षा कर परिग्रह जन्य अहिंसादि जैसे आचार को जैन-संस्कृति, मान, दया-करुणा दान आदि द्वारा उन्हें पोषण देने के अभ्यासी बनने की चेष्टा करने लगे है। इसका फल आज यहा तक पहुच गया है कि वे न्याय-अन्याय-जिस किसी भी भांति हो, परिग्रह की बढ़वारी मे जुट पडे है और उनका ध्यान लाखो कमाकर हजारो मात्र दान देने की ओर केन्द्रित होता जा रहा है। इससे उनका विषयाभिलाषा पूरक परिग्रह भी बढ़ता है और उन्हे इन्द्रिय-दमन के कष्ट-सहन से मुक्ति भी मिली रहती है साथ ही वे यश और प्रतिष्ठा भी पाते रहते हैं जो उन्हें इष्ट है। यदि ऐसा न कर वे अपरिग्रह को प्रमुखता दिए रहकर उसकी पुष्टि में प्रयत्न शील रहते तो निःसन्देह जैन का इतना ह्रास न होता।

कई मनीषी ऐसा विचार करते हैं कि आत्म-परिणामों के हिंसक होने से असत्य, चौर्य, मैथुन आदि सभी हिंसा रूप ही है और परिग्रह भी हिंसा में कारण होने से हिंसा ही है अथवा प्रमाद भी हिंसा में कारण होने से हिंसा ही है। ऐसे मनीषियों से हमारा निवेदन है कि - 'सूक्ष्म जिनोदित तत्वं'—जिनेन्द्र का बतलाया तत्व बडा सूक्ष्म है—और उसे सूक्ष्मता से ही देखना चाहिए। मूलरूप में कारण और कार्य का व्यवहार जैसे पृथक् है वैसे ही सत्ता की दृष्टि से उनका अस्तित्व भी पृथक है और इसी कारण उन्हें कार्य और कारण जैसी दो श्रेणियों में रखा गया है। प्रस्तुत प्रसंग में जो प्रमाद को हिंसा कहा गया है, वह कारण मे कार्य का उपचार मात्र है। ऐसा प्रयोजन यह इंगित करने के लिए ही किया गया है कि हिंसादि में प्रमाद की सर्वथा मुख्यतः है। यह व्यवहार 'अन्न वै प्राणः' की श्रेणी का ही है, जहाँ जीवन मे अन्न की प्रमुखता दर्शाई गई है 'कारणे कार्योप चारोऽन्न-प्राणवत्'—त.रा. ६।१२०।१६। अन्यथा यदि प्रमाद और हिंसा मे भेद न होता तो आचार्य प्रमाद की गणना हिंसा से पृथक—परिग्रह में न कराते। मिथ्यात्व, कषाय, नोकषाय विकथा, इन्द्रिय, निद्रा आदि सभी परिग्रह के अन्तर्गत है जिनसे आत्म-अहित रूप हिंसादि पापो की उत्पत्ति होती है। परिग्रह नाम मूर्छा' का है और बाह्य तथा आभ्यन्तर उपाधियों के सरक्षण, अर्जन संस्कार आदि व्यापार को मूर्च्छा कहा है—'·····उपाधीनां संस्कारा-दिलक्षणव्यापृतिमूर्च्छा इति।'—त. रा. वा. ७।१७।१ फलतः सभी पाप मूर्च्छाजन्य होते हैं।

अतः जैन संस्कृति मे प्रथमतः मूर्च्छा—परिग्रह के त्याग को प्रमुखता दी गई है।

मूलतः तो परिग्रह की शृंखला बड़ी विस्तृत है और प्रकारान्तर से हिंसादि सभी पाप परिग्रह के अन्तर्भूत ही हैं फलतः परिग्रह से छुटकारा पाने में ही श्रेय है। सभी तीर्थंकरों और महापुरुषों ने परिग्रह से निवृत्ति पाने का मार्ग अपनाया—उन्होंने प्रथमतः परिग्रह-परिवार—मिथ्यात्व, कषाय, नोकषाय तथा विकथा, इन्द्रियविषय,

निद्रा आदि सभी अन्तरंग परिग्रहों और बाह्य परिग्रह धन धान्यादि से निवृत्ति पाने का यत्न किया और इसीलिए वे अन्य पापों से बच सके।

परिग्रह-परिवार—

१. **मिथ्यात्व**—तत्वार्थों के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं।[१] जब तक तत्वरूप से निर्णीत पदार्थों पर श्रद्धान न होगा तब तक परिग्रह लगा ही रहेगा। और जब पदार्थों के स्वरूप का ठीक २ श्रद्धान होगा तब उन्हें जानकर स्व-प्रवृति और पर से निवृत्ति का भाव होगा और तभी परिग्रह से छुटकारे का प्रयत्न कर सकेगा। स्थूलरीति से मिथ्यात्व पाँच प्रकार के हैं—विपरीत मिथ्यात्व, एकान्त मिथ्यात्व, वैनयिक मिथ्यात्व, सांशयिक मिथ्यात्व, और अज्ञान मिथ्यात्व।

(अ) **विपरीत**—ऐसा श्रद्धान करना कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, राग, द्वेष, मोह अज्ञानादिक से ही मुक्ति होती है।[२]

(आ) **एकान्त**—ऐसा श्रद्धान करना कि पदार्थ एक रूप ही है। जैसे किसी पदार्थ को ऐसा मानना कि यह सर्वथा है ही अथवा ऐसा मानना कि सर्वथा नहीं ही है। पदार्थ एक रूप ही है अथवा ऐसा मानना कि अनेक रूप ही है। इसी प्रकार उसको सावयव-निरवयव, नित्य-अनित्य इत्यादिक रूपों में से किसी एक रूप मे सर्वथा मान लेना विपरीत मिथ्यात्व है।[४] जब कि जैनदर्शन के अनुसार पदार्थ को अनेकान्तरूप (एक ही समय में—सदाकाल अनेक धर्मों वाला) सिद्ध किया गया है।

(क) **वैनयिक**—सच्चे-झूठे सभी प्रकार के देवो, सभी प्रकार के शास्त्रों और सभी प्रकार के साधुओ मे, उनके खरे-खोटे की पहचान न करके उनकी समानरूप में विनय-सेवा आदि करना वैनयिक मिथ्यात्व है।[५]

(ख) **सांशयिक**—सर्वज्ञ-वीतरागदेव ने तत्त्वो का जिस रूप में वर्णन किया है या जो तथ्य बतलाए हैं वे सही हैं या नहीं? ऐसा विकल्प बनाए रहना और उनके कथन की सत्यता पर निर्भर न रहकर ढुलमुल श्रद्धान रखना।[६]

(ग) **अज्ञान**—विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जीवाजीवादि पदार्थ नहीं हैं, वे नित्याऽनित्य नहीं हैं, संसार व मोक्ष नहीं हैं ऐसी धारणा रखना, पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का श्रद्धान न करना, अज्ञान मिथ्यात्व हैं।[७]

२. **कषाय**[८]—जो भाव आत्मा को कर्म-बन्धन मे कसें वे कषाय कहलाते हैं। जीव अपने भावों के अनुरूप ही अपने को तीव्र-मन्द कर्म-बन्धन मे बाँधता है। ये कषाय मूलत: सोलह श्रेणियों मे विभक्त है और विस्तार से इनके २५ व संख्यात-असंख्यात तक भेद है।

(अ) **अनंतानुबंधी**—अनन्त संसार की स्थिति को बधाने वाले क्रोध[९], मान[१०], माया[११], लोभ[१२]। शास्त्रो मे इनको क्रमशः पत्थर की रेखा के समान, पत्थर के समान, बांस की जड़ के समान और कृमि राग के समान (उदाहरणपूर्वक) बतलाया है।

(आ) **अप्रत्याख्यानावरण**—जिनके उदय मे व्रत का अभाव हो। ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ। शास्त्रो मे इनको क्रमश. पृथ्वी की रेखा, हड्डी, मेढा के सीग और चक्र-मल (ओंगन) समान बतलाया है।

(क) **प्रत्याख्यानावरण**—जिनके उदय मे सकलचारित्र न हो सके ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ। शास्त्रों में इनको क्रमश धूलिरेखा, काठ की लकीर, गोमूत्र और शरीरमल के समान कहा है।

(ख) **संज्वलन**—परीषहादि उपस्थित होने पर भी जो चारित्र को नष्ट नही करते ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ। शास्त्रो मे इनको क्रमश: जलरेखा, बेंत, खुरपा और हल्दी के रग के समान बतलाया है। इनके सिवाय हास्य, रति (विषयादिक मे उत्सुकता) अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (धर्म और धर्मात्माओ के प्रति ग्लानि) स्त्रीवेद, पुवेद और नपुंसकवेद भी पापो की जड है। विकथायें (संयम के विरुद्ध वाक्य) जो स्थूलरीति से स्त्रीकथा, भोजनकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा रूप में वर्णित हैं वे सब परिग्रह मे गर्भित हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण के विषयों मे उत्सुकता रखना अथवा प्रतिकूल विषयो मे द्वेष करना भी परिग्रह है। और धन-धान्यादि बाह्य सामग्री का संग्रह बाह्य परिग्रह है।

इस प्रकार ऊपर गिनाये परिग्रह रूप कारणों में से किसी के भी उपस्थित होने पर प्राणी पापो में प्रवृत्त होता है। अत. जैन-सस्कृति मे अपरिग्रह की प्रमुखता है। अन्य व्रतों का आधार यही है—ऐसा समझना चाहिए।

एक बात महत्त्व की ओर है। वह यह कि हिंसा, झूठ चोरी और कुशील ये चारो पाप ऐसे हैं जिन्हें करते हुए भी जीवों को गर्व के साथ अहिंसक, सत्यवादी, अचौर और ब्रह्मचारी घोषित करने की छूट है, पर परिग्रह पाप में किंचित् रहते हुए भी वह अपने को अपरिग्रही घोषित नही कर सकता। वहाँ परिमाण शब्द ही जोडना पडता है। तथाहि—

१. आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा करते हुए भी श्रावक 'अहिंसाणुव्रती' कहलाता है।
२. किसी पात्र को घोर-दण्ड से बचाने हेतु अतथ्यभाषी श्रावक भी सत्याणुव्रती कहलाता है।
३. एक देश चोरी का त्याग करने वाला अचौर्याणुव्रती कहलाता है।
४. स्त्रीकृत पत्नी मे अब्रह्म-पाप करते हुए को ब्रह्मचर्याणुव्रती (ब्रह्मचारी) कहा जाता है। परन्तु—
५. प्रचुर परिग्रह को छोड़ते हुए भी तिल-तुष मात्र भी रखने वाला श्रावक अपरिग्रहाणुव्रती नही कहला पाता, वह परिग्रह (पाप) परिमाणाणुव्रती ही कहलाता है। ऐसा क्यों ?

वस्तुतः विचारा जाय तो ऐसी सब व्यवस्थायें तत्त्व-दृष्टि (सच्चाई) पर आधारित न होकर समाज की अपनी व्यवस्था-पूर्तियो को ध्यान में रखकर ही बनाई गई हैं। उदाहरणतः—

जैसे 'मैथुनमब्रह्म'—मिथुन (स्त्री पुरुष) के भाव व कर्म को मैथुन कहा गया है; फिर वह चाहे स्वीकृत मे हो या अस्वीकृत मे; सभी जगह मैथुन (अब्रह्म) है। एक पुरुष जिस कन्या को किसी निश्चित पुरुष को देकर उसे शील-वती संबोधन से युक्त करता है क्या वह वस्तुत. 'मैथुनमब्रह्म' की परिधि से बाहर होती है ? कदापि नही। वह तो किसी अपनी व्यावहारिक व्यवस्थाओं के लिए वैसी मान ली जाती है। लोग जानबूझ कर मैथुन के साधन जुटाते हैं और उसे गा-बजाकर 'ब्रह्म' का नाम देते हैं—यह सामाजिक व्यवस्था मात्र है—वास्तविक लाक्षणिक धर्म नही है। पर, जैसे यह सब हो जाता है वैसे परिग्रह के साथ ऐसा घटित नहीं होता। लोग तिल-तुष मात्र परिग्रही (मुनि) को गा-बजा कर या और कैसे भी 'अपरिग्रही' घोषित करने की हिम्मत नही कर पाते। इसमे मूलकारण परिग्रह की बलवत्ता ही है—जिसे क्षीण करने के लिए अरहन्तों ने इसके निवारण का मार्ग प्रशस्त किया और जो मूल-रूप मे 'जैन-सस्कृति' कहलाया। सिद्ध है कि अहिंसादिक धर्म हैं और उनके मूल मे 'अपरिग्रह' रूपी मूल सस्कृति है—जैसे मूल के अभाव मे शाखाओं की सम्भावना नही वैसे ही परिग्रह के अभाव में हिंसादिक शाखाओं की भी सम्भावना नही। फलतः हमे अपरिग्रह को मूल-सस्कृति मानकर चलना चाहिए।

हिंसा के लक्षण मे आचार्यों ने दो अनिवार्यताओं का उल्लेख किया है और वे अनिवार्यतायें हैं—प्रमत्तयोग और प्राण-व्यपरोपण। इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि जहां प्रमाद का योग है और प्राणो का व्यपरोपण है वहाँ हिंसा है। आचार्यों ने एक बात यह भी खुलासा की है कि यदि प्रमाद का योग है और दूसरे के प्राणों का वियोग नही भी है तो वहा भी हिंसा है क्योंकि उनके मत मे प्राणों में द्रव्य और भाव दोनो प्रकार के प्राणो के साथ स्व और पर दोनो के प्राणो का ग्रहण भी निहित है। फलतः जहाँ पर के प्राणो का घात नही होता वहा भी प्रमाद स्व-प्राणों का घात तो करता ही है। उक्त प्रसग पर यदि गहराई से मनन करें तो ऐसा मानने मे कोई हानि नही होनी चाहिए कि—परस्पर में विरोध रूप हिंसा और अहिंसा दोनों का अस्तित्व प्रमाद व प्राणो के अस्तित्व तक, उनके हनन और रक्षण के विकल्पों तक सीमित है—निर्विकल्प अवस्था में नही जबकि वीतरागता—अपरिग्रहत्व आत्मा में सदाकाल रहने वाला उसका स्वभाव है।

प्रवचन सार मे उपयोग के भेदो का वर्णन है और कहा गया है—'अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धो निरुपरागः अशुद्धः सोपरागः। स तु विशुद्धि सक्लेश रूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च।'[१] 'समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्ते शुभ उपयोगः।'—प्र० व० टी० ६३, ६५।

यदि लोग अपरिग्रही बनने का प्रयत्न करते रहे तो उनमे अहिंसा आदि धर्म स्वय फलित होते रहे औ जैनत्व भी सुरक्षित होता रहे।

जरा सोचिए? मूल जैन-सस्कृति अपरिग्रह है या जैसे-तैसे धनादि सग्रह कर उसमे से किंचित् दान-पुण्य कर अपने को 'अहिंसक' घोषित करना? जैसा कि आज हो रहा है?

२. श्रावक की भूमिका?

'श्रावक' शब्द मे श्रद्धा विवेक और क्रिया की ध्वनि अन्तर्हित है। फलत.—जब किसी को 'श्रावक' नाम से पुकारा जाता है तो बरबस उसके प्रति श्रद्धा से मन-मस्तक नत हो जाते है कि अवश्य ही यह देव-शास्त्र-गुरु और तत्त्वो का श्रद्धालु सम्यग्दृष्टि, गौतम गणधर के प्रवचन के अनुरूप ज्ञानी और नैष्ठिक या पाक्षिक श्रावक की क्रियाओं के पालन मे सावधान होगा। इसमे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र के चिह्न परिलक्षित होते हैं।

सरावगी, सरावग और 'क ग च ज त द प यवा प्रायोलुक्' की परिधि मे 'सराक सराग' आदि शब्द श्रावक शब्द के बिगड़े रूप मालुम होते है, जो मध्यकाल मे सामने आए। लोग कालदोष मे और सद्गुरुओं के समागम न मिलने से आचार-विचार मे शिथिल होते चले गए और आज स्थिति इतनी बद से बदतर हो गई कि सच्चे श्रावक या जैनी शायद ही अगुलियो पर गिनने योग्य मिल सके।

आगमानुसार श्रावक को मधु, मांस, मद्य और पच उदुम्बरो का त्यागी व निरतिचार पच अणुव्रतो का धारी होना आवश्यक है। उक्त प्रसंग मे यह अनछने जल का सर्वथा त्याग करता है और रात्रि-भोजन या होटल आदि के खान-पान को भी मांस-तुल्य जानकर मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक त्यागता है। यदि इन नियमो के साथ वह प्रतिमा धारी व निर्मोही-वृत्ति हो तो स्वामी समन्तभद्र के शब्दो में उसे 'गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो' की श्रेणी मे ही लिया जायगा। ऐसे श्रावक को हम नतमस्तक हैं।

शास्त्रों में श्रावकों के कुछ और भी दैनिक कर्तव्य बताए है जैसे—वीतरागदेव की भक्ति, उपासना, दर्शन व पूजा करना, आगम ग्रन्थो का स्वाध्याय करना, इन्द्रिय-विषयों पर अकुश लगाना, छह काय के जीवो की रक्षा करना, तपो और सामयिक का अभ्यास करना और सुपात्रों को उनकी आवश्यकता के अनुसार चारो प्रकार का दान देना आदि। श्रावक को सप्तव्यसनो का त्यागी तो होना ही चाहिए। साथ ही उसे व्यसनसवियो की सगति व उनके मान-सम्मान करने का त्यागी भी अवश्य होना चाहिए। उक्त सभी प्रसग ऐसे है जिनसे हम अपने श्रावक होने की जाच भी कर सकते है। हम प्रति दिन देखे कि हमने आज अपने कर्तव्यों का किन अशो मे पालन किया है और हमे किस रूप मे आगे बढना है?

बड़ा दुःख होता है जब हम कही पढते या सुनते है कि अमुक धर्मात्मा ने कहा--कि क्या करू? बच्चे आदि नही माने, वे जिद पर अड गए इसलिए शादी और खान-पान की व्यवस्था अमुक होटल मे करनी पडी या जब कोई मुखिया स्वय रात्रि-भोजी होकर बयान देता है कि रात्रि मे भोजन उनकी कमजोरी है। अमुक धर्मात्मा ने अमुक सज्जन के सम्मान मे अमुक प्रसिद्ध होटल मे पार्टी दी, आदि जैसे समाचार भी दुखदायी होते है। ये सब बातें श्रावक की गरिमा के सर्वथा प्रतिकूल है। शर्म तो तब अधिक आती है जब अपने को जैन घोषित करने वाले लोग शादियो अथवा अन्य अवसरो पर सामूहिक रात्रि-भोजन या होटल भोजन तक करते कराते और ऐसे अवसरो मे सम्मिलित होते है।

विचारने की बात है कि--हम कहा जा रहे है और हमारी भावी पीढी हमारी इन विपरीत प्रवृत्तियों का अनुकरण कर धर्म-मार्ग से क्यों न हटेगी? वह तो स्पष्ट कहेगी कि हमारे बुजुर्गों ने जो चलन अपनाया उस चलन से हमे क्यों रोका जाता है? इतना ही क्यो साधारण लोग तो आज भी ताना मार रहे है—'समरथ को नहिं दोष गुसाई'।'

जरा सोचिए! स्थिति क्या है और उसमे हम कैसे सुधार ला सकते हैं?

—सम्पादक

साहित्य-समीक्षा

१. हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन :

लेखक : डा० पी० सी० जैन

प्रकाशक : देवनगर प्रकाशन, जयपुर।

साइज : १८×२२×१६ पृष्ठ १६+२०६ = २२२।

मूल्य : ६० रुपये।

जैन पुराण, पुण्य पुरुषो के एसे चरित्र हैं जो मोक्ष का मार्ग सरलता से बताते हैं : पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन करना उन सभी स्रोतों का उजागर करना है, जिनसे महापुरुष मोक्ष तक पहुंचते हैं। हरिवंश पुराण में तीर्थंकर नेमिनाथ और तत्कालीन पुरुषो और परिस्थितियों का सर्वांगीण सामूहिक वर्णन है। लेखक ने ने बड़े श्रम से इसे बिलोकर मक्खन और तक्र की भांति इसके विभिन्न जातीय मिश्रित तथ्यों को पृथक्-पृथक् पुंजों में रख दिया है। जिस से पाठक सहज ही अथाह समुद्र मे गोता लगाते ही विभिन्न जातीय विभिन्न रत्नों को एक स्थल पर प्राप्त कर सकें। विद्वान् लेखक ने समस्त पुराण को मूलतत्त्व धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक स्थिति और चरित्र-चित्रण आदि जैसे ग्यारह अध्यायों में संजोकर कर रखा है। परिशिष्ट में २२ चित्र व्रतों सम्बन्धी भी दिए हैं। इससे लेखक की आन्तरिक भावना पाठकों को सयम-मार्ग पर दृढ़ करने की स्पष्ट झलक देती है। आशा है इससे पाठक पुराण सन्दर्भों को जीवन में उतारने में सहज ही सफल हो सकेंगे और लेखक का श्रम सार्थक होगा। विद्वान् लेखक उत्तम कृति के लिए प्रशंसार्ह हैं। ग्रंथ साज-सज्जा उत्तम और आकर्षक है।

□

२. जैन कला में प्रतीक :

लेखक : श्री पवनकुमार जैन

प्रकाशक : जैनेन्द्र साहित्य सदन, ललितपुर।

साइज : १८×२२×१६ : पृष्ठ ५१ मूल्य : १५ रुपये

प्रतीक का क्षेत्र अति व्यापक है और इसका प्रयोग लोक के सभी पदार्थों के स्वरूप-परिज्ञान के चिह्नों के लिए किया जा सकता है। फलतः—प्रतीक सम्बन्धी लम्बी खोज में हाथ डालना बड़े साहस का कार्य है। किसी उस चिह्न को, जो किसी आकार-प्रकार, भाव आदि का संकेत देता हो 'प्रतीक' नाम दिया जा सकता है। कुछ प्रतीक स्वाभाविक—बिना इच्छा और प्रयत्न के बन जाते हैं और कुछ मानव-बुद्धि द्वारा निर्मित होते हैं। जैसे मानव के चलते समय अज्ञान अवस्था में उसके पंजो से बना निशान पंजों का स्वाभाविक प्रतीक और स्वस्तिक आदि बुद्धिजन्य प्रतीक हैं।

'जैन-कला-प्रतीक' विषयक प्रस्तुत-कृति 'गागर में सागर' तुल्य है। इसमें लेखक ने मूर्तिकला, स्थापत्य-कला, लोक रचना, समवसरण, मानस्तम्भ, अष्टापद, नन्दीश्वरद्वीप, अष्टमगलद्रव्य और विचार, शब्द, स्वप्न जैसे भावात्मक, तदाकार-अतदाकार प्रतीकों को उद्घाटित किया है। निःसन्देह प्रतीक-शोध में लेखक ने जैन-आगमों में गहरी डुबकी लगाई है। वे तक कहीं प्रतीक रत्नों के रहस्य पाठकों को भेंट कर पाए हैं। जैन-कला के प्रति उनकी आस्था, और उनके प्रतीकों के खोजने की लगनसर्वथा स्पृहणीय है। हमारा विश्वास है कि इस कृति से पाठक लाभान्वित होंगे और शोधकर्त्ताओं को नवीन प्रेरणा मिलेगी। —सम्पादक

'तृष्णा लोभ बढ़े न हमारा, तोष-सुधा नित पिया करें।
श्री जिनधर्म हमारा प्यारा, उसकी सेवा किया करें॥'

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० । १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो । पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते ।

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन, वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३७ : कि० २ | अप्रैल-जून १९८४

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

गुरु-गण के अभिमत

पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज :

सेठ श्री उम्मेदमल पाण्डया व ब्र० पं० धर्मचन्द्र जी शास्त्री किशनगढ़ पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव पर महाराज श्री के साथ कुछ दिन तक रहे। 'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' जो इन्दौर से प्रकाशित हुआ है, के बारे में पू० आचार्य श्री धर्म सागर जी महाराज व आचार्य कल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज से पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित लेख पर चर्चा हुई। आचार्य महाराज ने इस सम्बन्ध में कहा कि—"तीर्थंकरों का जीवन चरित्र एक यथार्थ है और जो यथार्थ है उस पर कभी उपन्यास नहीं लिखा जा सकता, उपन्यास में कोरी कल्पना ही होती है। श्री पद्मचन्द्र जी शास्त्री ने इस विषय को उठा कर दिगम्बर जैन सिद्धान्त की रक्षा की है। और मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि यह उपन्यास की किताबें हमारी ही दिगम्बर जैन संस्था ने छपवाई हैं। इस तरह की किताबों से हमारी परम्पराएं विकृत होती हैं। इस तरह की किताबें छापना उचित नहीं है।"

पूज्य १०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज :

"अनुत्तर-योगी में जो विसंगतियां दिगम्बर धर्म के प्रतिकूल हैं उन्हें छांटकर प्रकाशन करने वाली संस्थाओं को भेजकर उनसे अनुरोध किया जाय कि आप इन विसंगतियों का समाधान करें तथा अनुत्तर योगी के प्रारम्भ में अतिरिक्त पत्रक लगवा कर स्पष्ट करें कि ये मान्यताएँ श्वेताम्बर साहित्य से ली गई हैं। दिगम्बर साहित्य में कोई उल्लेख नहीं है।"

अध्यक्ष, अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् :

'आपके द्वारा प्रेषित पत्र और 'अनुत्तर-योगी' के दिगम्बराम्नाय के विरुद्ध प्रसंगों का निरूपण प्राप्त हुआ। वस्तुतः यह प्रकाशन समिति की भावुकता का ही परिणाम है। दिगम्बर समिति के द्वारा दिगम्बर-विरुद्ध पुस्तकों का प्रकाशन हानिकारक होगा। भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् इस प्रकाशन को हानिकारक मानती है। अच्छा हो पुस्तक के प्रारम्भ में अलग स्पष्टीकरण करने वाला पत्रक लगा दिया जाय कि अमुक-अमुक प्रसंग श्वेताम्बर साहित्य से लिए गये हैं—दिगम्बर साहित्य में इन प्रसंगों का उल्लेख नहीं है। आपका पत्र यहां कैलाशचन्द्र जी तथा फूलचन्द्र जी आदि को पढ़वा दिया है।'

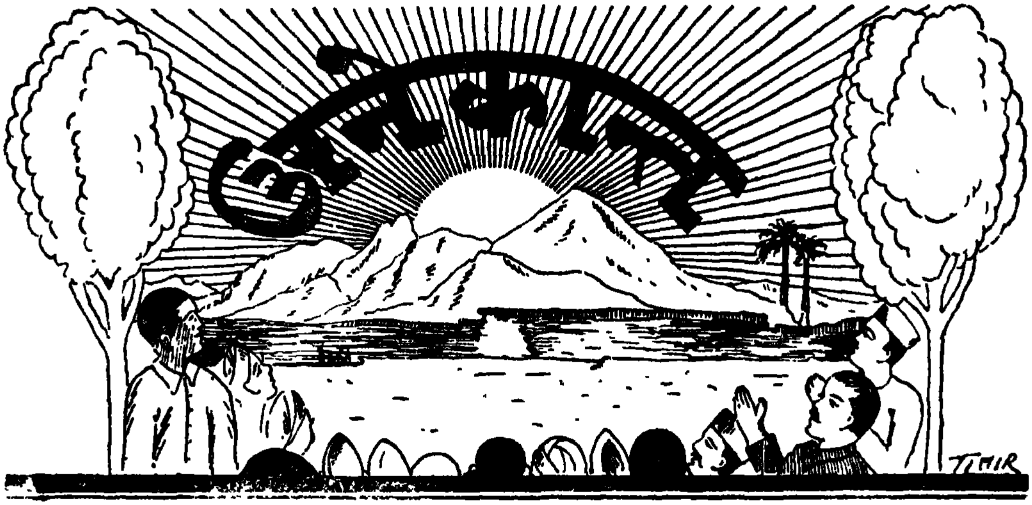
संरक्षक—भारतवर्षीय दि० जैन शास्त्रि-परिषद् :

आपके पत्र पर विचार किया गया। 'अनुत्तर-योगी' ग्रन्थ दिगम्बर जैन समाज में नया विकार ही पैदा नहीं करेगा, दिगम्बरत्व का ही लोप कर देगा। शास्त्रि-परिषद् का प्रत्येक विद्वान् 'अनुत्तर-योगी' ग्रन्थ को दिगम्बर मान्यता के विरोध में मानता हुआ उसके पठन-पाठन का विरोध करता है और आपके इस संघर्ष में शास्त्रि-परिषद् का पूरा-पूरा सहयोग रहेगा।"

एक पत्र के अंश :

'अनेकान्त' बराबर देख रहा हूं। सन्तुष्ट हूं। आप अपनी जगह बिल्कुल ठीक हैं। कशा न हो तो घोड़ा ठीक-से कैसे चल पावेगा? आप जैसे दो-चार स्वतंत्र चिन्तक हों तो ही समाज की गाड़ी ठीक-ठीक चल सकती है। मुझे आपमें जो चीज बिजली/चुम्बक की तरह आकर पकड़ती है, वह है आपका स्वाभिमान। मैं इसी का कायल हूं।"

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३७ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | अप्रैल-जून १९८४
वीर-निर्वाण संवत् २५१०, वि० स० २०४०

अध्यात्म-पद

चित चिन्तके चिदेश कब, अशेष पर वमूं ।
दुखदा अपार विधि-दुचार-की चमूं दमूं ॥ चित० ॥
तजि पुण्य-पाप थाप आप, आप में रमूं ।
कब राग-आग शर्म-बाग-दाघनी शमूं ॥ चित० ॥
दृग-ज्ञान-भान तैं मिथ्या अज्ञानतम दमूं ।
कब सर्व जीव प्राणिभूत, सत्त्व सौं छमूं ॥ चित० ॥
जल-मल्ललिप्त-कल सुकल, सुबल्ल परिनमूं ।
दलकें त्रिशल्लमल्ल कब, अटल्लपद पमूं ॥ चित० ॥
कब ध्याय अज-अमर को फिर न भव विपिन भमूं ।
जिन पूर कौल 'दौल' को यह हेतु हौं नमूं ॥ चित० ॥

—कविवर दौलतराम कृत

भावार्थ—हे जिन वह कौन-सा क्षण होगा जब मैं सम्पूर्ण विभावों का वमन करूंगा और दुखदायी अष्टकर्मों की सेना का दमन करूंगा। पुन्य-पाप को छोड़कर आत्म में लीन होऊगा और कब सुखरूपी बाग को जलाने वाली राग-रूपी अग्नि का शमन करूंगा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूपी सूर्य से मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी अंधेरे का दमन करूंगा और समस्त जीवों से क्षमा-भाव धारण करूंगा। मलीनता से युक्त जड़ शरीर को शुक्ल ध्यान के बल से कब छोड़ूगा और कब मिथ्या-माया-निदान शल्यों को छोड़ मोक्ष पद पाऊंगा। मैं मोक्ष को पाकर कब भव-वन में नहीं घूमूंगा? हे जिन, मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी हो इसलिए मैं नमन करता हूं। □□

धन्यकुमारचरित में तीर्थवन्दना

☐ विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन

वर्तमान मे जिन तीर्थक्षेत्रो से समाज परिचित है, जिनकी समाज मे मान्यता है, और जिनकी वन्दनार्थ देश के विभिन्न भागों से तीर्थयात्री जब-तब आते-जाते रहते हैं, उनमें से अधिकतर ऐसे हैं कि जिनका विकास प्रायः गत दो सौ वर्षों के भीतर ही हुआ है। कई अतिशय क्षेत्र तो इसी अवधि में उदय मे आये और पुराने क्षेत्रो के विद्यमान निर्माणो, मन्दिरो, धर्मायतनो, स्मारको, धर्मशालाओ आदि मे से अधिकाश इसी बीच बने हैं। कई ऐसे भी स्थल हैं जहां प्राचीन मन्दिरो, मूर्तियों, अन्य धार्मिक कलाकृतियो के जीर्ण-शीर्ण भग्नावशेष प्रचुरमात्रा मे प्राप्त हुए हैं, उनमे से जिनकी ओर समाज की दृष्टि आ सकी, अनेको का जो विकास हुआ या हो रहा है वह वर्तमान शताब्दी की ही बात है।

तीर्थविशेषो में प्राप्त एव सरक्षित पुरातात्विक सामग्री से, विशेषकर उक्त पुरावशेषों मे उपलब्ध प्रतिमा लेखों, यन्त्रलेखों, शिलालेखो आदि से उक्त स्थलो के महत्व तथा तीर्थक्षेत्र के रूप में उनकी मान्यता की प्राचीनता का बहुत कुछ अनुमान हो जाता है। जहां ऐसी सामग्री का अभाव है, अथवा वह अति विरल है वहा बडी कठिनाई होती है। ऐसी सूरत में किसी स्थान की तीर्थरूप में मान्यता की ऐतिहासिक प्राचीनता कितनी है, यह जानने के लिए साहित्यगत उल्लेख हमारे सहायक होते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र प्रभृति कतिपय आगमो मे विशेषकर कालान्तर मे रचित आगमसूत्रों की टीकाओं आदि में तथा कथा एवं प्रबन्धग्रन्थों में तीर्थों के अनेक फुटकर उल्लेख मिलते हैं। जिनप्रभसूरि का कल्पदीप अपरनाम विविध-तीर्थ-कल्प (१८३३-३४ ई०) ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें ततः मान्यता प्राप्त अधिकाँश तीर्थों के विस्तृत वर्णन हैं, जो विद्वान- लेखक ने जैसा देखा या सुना उसके आधार पर लिखे गए प्रतीत हैं। परवर्ती शताब्दियो मे अनेक श्वेताम्बर साधुओं ने स्वय तीर्थयात्रा करके अपनी-अपनी तीर्थयात्राएं लिखीं। त्रिविध-तीर्थ-कल्प और उक्त तीर्थ मालाओं के कई सकलन प्रकाशित हो गए हैं। यह प्रश्न उठा था कि क्या दिगम्बर परम्परा में भी इस प्रकार का तीर्थ विषयक साहित्य है? अस्तु। १८६५ ई० मे जैन सस्कृति-सरक्षक-सघ सोलापुर जीवराज-ग्रन्थमाला के ग्रन्थांक १७ के रूप मे डा० विद्याधर जोहरापुरकर द्वारा सुसम्पादित 'तीर्थ-वन्दन-सग्रह' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसने उक्त आक्षेप का सफलतापूर्वक निरसन कर दिया। इस पुस्तक मे ४० दिगम्बर लेखको की काल-क्रमानुसार सूची तथा उनके साहित्य मे प्राप्त तीर्थविषयक उल्लेखो के उद्धरण और उनकी व्याख्या दी है। इस सूची मे १०वी शती के अन्त पर्यन्त के केवल ८ साहित्यकार सम्मिलित किए गए हैं, शेष ३२ लेखक १२वी शती से १९वी शती पर्यन्त के हैं। डा० जोहरापुरकर जी ने पर्याप्त परिश्रम एव शोध-खोज पूर्वक यह सकलन तैयार किया है, तथापि इसमे कतिपय त्रुटियाँ रह गई प्रतीत होती हैं, यथा स्वामि समन्तभद्र और आचार्य यतिवृषभ को पांचवी शती ई० मे हुआ सूचित करना, जब कि वे दोनो आचार्य दूसरी शती ई० मे हुए हैं। इसके अतिरिक्त, यह सूची तथा उद्धरण भी सर्वथा पूर्ण नही प्रतीत होते—१०वीं शती तक के ८ उल्लेखित साहित्यकारो के अलावा विमलार्य का प्राकृत पउमचरिउ, स्वयंभू की अपभ्रश रामायण एव अरिट्ठनेमिचरिउ, विद्यानद का श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र, उग्रादित्य का कल्याणकारक, असग के महावीरचरित एव शान्तिनाथचरित, आदिपप की कन्नड रामायण, पुष्पदन्त का अपभ्रश महापुराण, चामुण्डराय का कन्नड महापुराण, सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू, नेमिचन्द्र सि० च० के गोम्मटसारादि प्रभृति कितने ही ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें विभिन्न कल्याणक-क्षेत्रों, तपोभूमियों व अतिशय क्षेत्रों

आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। दसवीं शती ई० के उपरान्त की भी खोज करने पर ऐसी अन्य अनेक रचनाओं के प्राप्त होने की पर्याप्त सम्भावना है, जिनमे तीर्थों के विषय में सामग्री प्राप्त हो सकती है।

ऐसी एक रचना गुणभद्रकृत धन्यकुमारचरित है। संस्कृत पद्य में रचित इस ग्रन्थ के लेखक माथुर सघी माणिक्यसेन के प्रशिष्य और नेमिसेन के शिष्य भदन्त गुणभद्र थे, जिन्होंने उसे चन्देल नरेश परमार्द्दिन (चन्देल परमाल] के शासनकाल (११६५-१२०३ ई०) मे विलासपुर (उ० प्र० के झांसी जिले मे झांसी नगर से २५ कि० मी० उत्तर-पूर्व में स्थित पचार या पछार ग्राम के) जिनालय मे लम्बकचुक (लमेचू) वशी साहू शुभचन्द्र के पुत्र वल्हण की प्रेरणा से लिखा था। ग्रन्थ का रचनाकाल ११६५-११६६ ई० के बीच अनुमानित है। यह चरित्र धन्ना-शालिभद्र के सुप्रसिद्ध कथानक का सर्वप्राचीन उपलब्ध दिगम्बर संस्करण है।

इस चरित्र के ३ रे परिच्छेद के श्लो० ५६ में भगवान पुष्पदन्त की जन्मनगरी काकदी का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

नित्योद्योगेन गच्छन् स गङ्गाकूल निवासिनीम्।
काकंदी नगरी प्राप ककन्देन विनिर्मिताम्॥

—चतुर्थ चरण का पाठान्तर है 'धनयक्षेण निर्मितां पुष्पदन्तजन्मकारो।'

—इस प्रकार (घर छोड कर भाग जाने के बाद) निरन्तर चलता हुआ वह (धन्यकुमार) गङ्गा तट पर बसी तथा ककन्दन राजा द्वारा बसाई गई काकन्दी नगरी मे पहुंचा। आगे कथन है कि थके हुए धनकुमार ने काकन्दी नगरी के उपवन में एक वृक्ष के नीचे विश्राम किया, सरोवर में स्नान किया, जल पिया और फल खाये तदनन्तर मार्ग की थकावट को दूर कर जब वह पुन. वन में विहार करने लगा तो उसने तीन ज्ञानरूपी नेत्रो से युक्त एक मुनिराज को देखा उसने उन्हें सन्मुख खड़े होकर हाथ जोडकर नम्रीभूत सिर से प्रणाम करके भक्ति पूर्वक अपने भाइयों के द्वेष का कारण पूछा॥६२॥

षष्ठ परिच्छेद के श्लो० ८५-८८ में धन्यकुमार का पिता वृद्ध पिता पुत्र से पुन: मिलाप होने पर उसे बताता है कि किसप्रकार वह उसको खोज में भटका है और मार्ग में उसने किन तीर्थों के दर्शन किए हैं—

तववार्ता न जानामि किंजीवसि मृतोऽथवा।
निर्जगम् गृहात्तेन समुद्विग्नो वियोगत॥
वन्दितुगतवान्नाथ शान्ति-कुन्थुमरं तथा।
हस्तिनाख्यपुर सार चक्रिचक्रपराजितम्॥
ततोयोध्या-पुरी प्रापनन्तु सत्तीर्थ पंचकम्।
वाराणस्या समायातो नमस्कर्तु जिनद्वयम्॥
पुनतथान्तरान्नत्वा सप्राप्याह कुशस्थलम्।
मुनिसंघनत देव प्रणन्तु मुनिसुव्रत॥
शीलभद्रस्य या माता तामुद्दिश्य समागमम्॥

(धनकुमार का पिता कहता है कि मैंने तुझे रात दिन देखा पर तू कही मिला नही)— जब मुझे तेरा हाल मालूम नही हुआ कि तू जीवित है या मर गया तो मैं तेरे वियोग से दुखी होकर घर से निकल पडा। मैं शान्ति, कुंथु एव अरनाथ की वन्दना करने के लिए उस अतिशय श्रेष्ठ हस्तिनापुर गया जो किसी समय चक्रवर्ती—तीर्थंकरत्रय के चक्ररत्न से सुशोभित रहा था। तदनन्तर आप उचित, अभिनदन, सुमति और अनन्तनाथ इन पांच तीर्थंकरों की वन्दना करने के लिए अयोध्यापुरी पहुचा, और फिर सुपार्श्व, एवं पार्श्व, इन दो तीर्थंकरो को नमस्कार करने वाराणसी आया। फिर बीच के अन्य तीर्थों की (किन-किन की?) वन्दना करता हुआ मुनियो के समूह से नमस्कृत भगवान मुनिसुव्रतनाथ की वन्दना करने के लिए कुशलस्था (राजगृह) आया हूं। इसके सिवाय यहा मेरी बहिन, जो तेरी बुआ और शालिभद्र की मा है, रहती है—उससे मिलने के उद्देश्य से भी यहा आया हूं।

सप्तम् परिच्छेद के श्लो०३२-३५ में वर्णन है कि मुनिदीक्षा लेने के उपरान्त—

इति ध्यायन्नसौ साधु धर्म्यध्यान चतुर्विधम्।
अन्येषा दर्शयन् धर्म्यध्यानमार्ग गणाग्रणी:॥
विजहार धरा धीरो ग्रामखेटपुराकराम्।
वन्दमानो हि तीर्थानि तीर्थंकर जिनेशिनाम्॥
विहरन्नवाप श्रावस्ती पुरी सुरै: प्रपूजिताम।
वन्दितु संभवनाथ सभवस्य विनाशनम्॥

(शेष पृष्ठ ६ पर)

'बारसअणुवेक्खा'—एक अध्ययन

□ श्री कुन्दनलाल जैन, प्रिंसिपल

"भावना भवनासिनी" शास्त्रों की यह उक्ति यथार्थ में विशुद्ध मन से भाई गई भावना इस भव और पर भव से मुक्त करा देती है तथा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करती है। संसार का हर प्राणी सांसारिक दुखों से छूट कर परम सुख की चाह में भटक रहा है—अर्थात् संसार मे मुक्ति प्राप्त कर अनन्त सुख के लिए लालायित है अतः प्रतिक्षण निरन्तर विशुद्ध परिणामो का होना नितान्त अनिवार्य है। जहां यह बात अन्य धर्मों में भी कही गई है वहा जैन धर्म में सोलह कारण भावना तथा बारह भावना के रूप में प्रत्येक गृहस्थ और मुनि को इनका निरन्तर चिन्तवन अनिवार्य बताया गया है। इसीलिए ही तो सोलह कारण भावनाओं के निरन्तर विशुद्ध मन से चिन्तवन के कारण तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। और मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसी तरह बारह भावनाएं भी मोक्ष प्राप्ति का विशुद्ध साधन है। भावना को संस्कृत में अनुप्रेक्षा और प्राकृत में 'अणुवेक्ख' शब्दों का प्रयोग होता है।

उमास्वामी ने अनुप्रेक्षा की परिभाषा "तत्त्वानु चिन्तनमनुप्रेक्षा…"अर्थात् बारम्बार सम्यक् तत्व का निरन्तर चिन्तवन ही अनुप्रेक्षा है। ये अनुप्रेक्षाएं बारह होती हैं इनका आध्यात्मिक दृष्टि से जैन धर्म मे इतना अधिक महत्व है कि अनेकों आचार्यों एवं कवियों ने अनित्य अशरण, संसारादि बारह नामों से बारह भावनाओं की रचनाएं की हैं तथा उनका विस्तृत निरूपण भी किया है! समीक्षात्मक रूप से सबसे प्राचीन बारह भावना आचार्य कुन्दकुन्द की "बारस अणुवेक्ख" के नाम से प्राकृत भाषा में उपलब्ध होती है।

प्रस्तुत लेखक का लक्ष्य इसी "बारस अणुवेक्ख" नामक ग्रन्थ की समीक्षात्मक प्रस्तुति मात्र ही है। यह ग्रन्थ मैसूर विश्वविद्यालय (मानस गगोत्री) के जैनॉलजिकल एवं प्राकृत विभाग के रीडर एवं विभागाध्यक्ष श्री एम० डी० वसन्त राजन ने प्राचीन कन्नड भाषा की ताडपत्रीय पांडुलिपि के आधार पर सम्पादित कर आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं की शृंखला में एक कड़ी और जोड़ दी है। जिसकी विस्तृत समीक्षा निम्न प्रकार है। कुन्दकुन्द के पचास-साठ वर्ष बाद ही उमास्वामी ने भी सूत्र रूप में "अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्याश्रवसंवरनिर्जरा लोक-बोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा" इत्य दि लिख कर द्वितीय बारह भावना प्रस्तुत की थी। उमास्वामी के बाद तो बारह भावनाओं की बाढ़ सी आ गई है, संस्कृत में, अपभ्रंश मे और हिन्दी में अनेकों कवियों ने बारह भावनाओं की रचनाएं की है।

संस्कृत मे शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव मे हेमचन्द्राचार्य ने त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित में वादीभसिंह सूरि ने क्षत्रचूड़ामणि मे, पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि (गद्य) में, अपभ्रंश में वीर कवि ने 'जंबूस्वामिचरिऊ' में हिन्दी में भूधरदास जी ने दौलतराम जी ने छहढाला में, मंगतराय की बारह भावना जगमोहन ने 'धर्मरत्नोद्योत' मे, तथा सकलकीर्ति आदि अनेकों विचारको, कवियो एवं विद्वानों ने बारह अनुप्रेक्षाओ की रचनाए मौलिक रूप से छायानुवाद में प्रायः पद्यो में ही रची हैं। इनके अतिरिक्त और भी अन्य ग्रंथो मे प्रसगानुसार बारह भावनाओं का वर्णन मिलता है। भक्तगण इन बारह भावनाओं का प्रतिदिन भक्तिभाव से चिन्तवन मनन एव पाठ करते हैं। पं० पन्नालाल जी सा० चा० ने भी लिखी है जो अभी अप्रकाशित है।

साहित्यिक दृष्टि से श्री वसन्तराजन ने जो 'बारस अणुवेक्ख' का सम्पादन किया है वह सम्पूर्ण जैन वांङ्मय के साथ-साथ प्राकृत और कन्नड भाषा को एक अनूठी निधि प्रदान की है जिसके लिए वे विशेष बधाई के पात्र हैं।

उपयुक्त ग्रन्थ में मूल गाथा प्राकृत देवनागरी में है

तथा टीका प्राचीन कन्नड भाषा एवं उसी लिपि में मुद्रित है। चूंकि मैं कन्नड भाषा नहीं जानता अत: टीका के विषय में कुछ भी लिखना अनधिकार चेष्टा होगी। वैसे टीका भी सम्पादक महोदय ने नहीं की है उन्होने तो पूरी ताडपत्रीय प्रति का सम्पादन संशोधन मात्र ही किया है क्योंकि वे कन्नड के ज्ञाता हैं।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में ३२ पृष्ठ तो प्रस्तावना के और ४२ पृष्ठ मूल प्राकृत गाथा और प्राचीन कन्नड टीका के हैं तथा अनुक्रमणिका के २ पृष्ठ हैं इस तरह सम्पूर्ण ग्रन्थ ७६ पृष्ठों का है। इस ग्रन्थ मे कुल प्राकृत गाथाएं ६० तथा दो गाथाए अशुचि और निर्जरा भावना में अतिरिक्त दी है अत: कुल ६२ गाथाए हो जाती है सम्पादक महोदय ने ग्रंथ का सम्पादन करते हुए भूमिका प्रस्तावना एव कृतज्ञता ज्ञापन आदि मूल रूप से कन्नड मे लिखा है पर उसका हिन्दी अनुवाद भी दे दिया है जिससे कन्नड न जानने वालों को बडा लाभ हो जाता है। इसी हिन्दी अनुवाद के आधार पर ही मैं यह समीक्षा लिखने की धृष्टता कर रहा हू विज्ञ पाठक जन अशुद्धियो को क्षमा करेंगे।

सम्पादक महोदय को मूल पाडुलिपि श्री इन्द्रकुमार जी से प्राप्त हुई थी। जो श्री संक्करे मंडिब्रह्मप्पा के सुपुत्र हैं। प्रस्तुत कृति ताडपत्र पर अंकित है। जिसके प्रत्येक पत्र की लम्बाई चौड़ाई ३½" × २" इंच है प्रत्येक पत्र पर ८-८ पंक्तिया हैं और प्रत्येक पक्ति में १४-१५ अक्षर हैं। चूकि प्रति खडित है अत: खडित स्थानों की पूर्ति जीवराज ग्रंथमाला से प्रकाशित "कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह" नामक ग्रंथ से की गई है। प्रस्तुत कृति की गाथाएं यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द की है पर इनकी कन्नड टीका किसने की यह सर्वथा अज्ञान है। और इसका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है। इस प्रति के बीच के पत्र भी गायब हैं पर अन्तिम पत्र सख्या ५३ है शायद एक दो पत्र और होंगे इस तरह मूल कन्नड पांडुलिपि ५५ पृष्ठों की ही मानना चाहिए। सारी प्रति प्राचीन कन्नड भाषा में अंकित है जिसे श्री शुभचन्द्र जी ने आधुनिक कन्नड में परिवर्तित कर शुद्ध परिष्कृत रूप प्रदान किया और वर्तमान रूप में प्रकाशित है।

आचार्य कुन्दकुन्द की गाथाओं पर तथा प्राचीन कन्नड टीका पर कुछ टीका-टिप्पणी करना सूरज को दीपक दिखाना जैसा लज्जास्पद होगा पर एक बात इस ग्रंथ में मुझे जो विशेष रूप से खटकी वह भावनाओं के क्रम विपर्यय के बारे में है। यद्यपि बारह भावनाओं का क्रम जो आजकल प्रचलित है वही उमास्वामी के भी समय में प्रचलित था पर उनसे ५०-६० वर्ष पहले इतना क्रम-विपर्यय कैसे हो गया इसमें या तो लिपिकार की भूल हो सकती है या फिर आचार्य कुन्दकुन्द को ही यही क्रम अभीष्ट रहा होगा। पर आश्चर्य की बात यह है कि कुन्दकुन्द के ५०-६० वर्ष बाद ही उमास्वामी का क्रम कैसे बदल गया यह एक बडी गम्भीर समस्या है जिस पर विद्वज्जन गम्भीरतापूर्वक मनन-चिन्तन करें और समस्या का समाधान ढूढें।

प्राचीन क्रम		प्रचलित क्रम
१ अध्रुव	७	१ अनित्य
२ अशरण	६	२ अशरण
३ एकत्व	८	३ संसार
४ अन्यत्व	३	४ एकत्व
५ संसार	१४	५ अन्यत्व
६ लोक	५	६ अशुचि
७ असुचि	५+१=६	७ आश्रव
८ आश्रव	१४	८ संवर
९ संवर	५	९ निर्जरा
१० निर्जरा	१+१=२	१० लोक
११ धर्म	१५	११ बोधि दुर्लभ
१२ बोधिदुर्लभ	४	१२ धर्म

उपसंहार इससे अलग है जो सभी ने प्राय: लिखा है।

इस तरह विज्ञ पाठक कुन्दकुन्द और उमास्वामी की बारह भावनाओं का क्रम विपर्यय और उनका आगे-पीछे होने की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर प्रकाश डालें साथ ही सम्पादक महोदय भी अपना स्पष्टीकरण प्रकाशित करावे।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री मांगीलाल जी भंडारी का पूर्ण आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है जिसे उन्होंने अपने

प्रिय श्री लालचंद जी भंडारी की पुण्य स्मृति में प्रदान किया है। श्री लालचन्द जी मूल निवासी राजस्थान के थे पर आजीविका हेतु बेंगलूर में आ बसे थे १४-४-७४ को उनका आकस्मिक निधन हो गया था। अत: उन्हीं की पुण्य स्मृति में यह बहुमूल्य उपयोगी ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इसके लिए श्री मांगीलाल जी धन्यवाद के पात्र हैं। ग्रंथ में श्री लालचंद्र जी का चित्र भी संलग्न है। प्रति की छपाई शुद्ध, साफ और सुन्दर है। कागज भी उत्तम लगाया है। यदि यह ग्रन्थ सजिल्द होता तो अच्छा रहता और टिकाऊ भी हो जाता। इसकी कीमत १२/-रु० रखी है जो कुछ अधिक लगती है।

इन शब्दों के साथ श्री वसन्त राजन् जी का आभारी हूं जो उन्होंने मुझे अपने ग्रंथ के बारे मे लिखने का शुभ अवसर प्रदान किया। धन्यवाद !

श्रुत कुटीर, ६५ कुन्ती मार्ग, विश्वासनगर,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

(पृष्ठ ३ का शेषांश)

दृष्ट्वाजिनालयं दिव्यं भक्त्या तुष्टाव संयमी।
मनोभवान्तकं देवं सभव भवनाशनम्।

—इस प्रकार चतुर्विध धर्म्यध्यान का चिन्तवन करते हुए तथा दूसरों को धर्म्यध्यान का मार्ग दिखाते हुए, ग्राम, खेट, पुर, आकर आदि में वह मुनिसंघ के प्रधान धीर-वीर मुनिराज तीर्थंकर जिनेन्द्रों के तीर्थों की वन्दना करते हुए विहार कर रहे थे विहार करते-करते वे भवविनाशक भगवान संभवनाथ की वंदना हेतु देवो द्वारा पूजित श्रावस्ती नगरी पहुंचें। वहां उन्होंने दिव्य जिनालय में कामविजेता एवं भवविनाशक संभवनाथ भगवान की भावभीनी स्तुति की।' आगे के पद्धतिका छंद के पद्यों मे वह भक्तिपूर्ण संभवाष्टक दिया है। कुछ ही समय उपरान्त इसी श्रावस्ती के वन मे समाधिपूर्वक देहत्याग करके मुनिराज धन्यकुमार सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए।

सन्दर्भ के लिए देखें—प० पन्नालाल साहित्याचार्य सम्पादित—अनुदित तथा १९७२ ई० में श्री शान्तिवीर नगर, श्री महावीर जी, से प्रकाशित धन्यकुमारचरित, प्रस्तावना, तथाशोधांक—८ एब शोधांक १७ में और जैनाएरिक्वेरी, भा० अ० मे प्रकाशित हमारे लेख।

तीर्थों का उपरोक्त वर्णन कथानक के पात्रों द्वारा उनकी यात्रा एव वन्दना करने के मिस कराया गया है। ग्रंथकार गुणभद्र माथुरसंघी भट्टारक थे और उत्तर भारत में ही विचरते थे ? अतएव सभावना यही है कि उन्होंने स्वय अकेले अथवा श्रावकों सहित उक्त छः तीर्थों की यात्रा एवं वन्दना की थी। यह भी स्पष्ट है कि १२वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में ये तीर्थ क्षेत्र अच्छी अवस्था में थे, वहां भव्य जिनालय भी विद्यमान थे, और मुनि, त्यागी एव गृहस्थ श्रावक उनकी वन्दनार्थ यात्रा करते थे।

ज्योतिनिकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-१९

(पृष्ठ ७ का शेषांश)

अपने कारण से दुखी है अगर परकारण से दुखी होता, कर्म के कारण से दुखी होता तब तो उनके सुखी करने पर ही सुखी हो सकता था परन्तु तू अपने कारण से दुखी है और तू अपने पुरुषार्थ से सुखी हो सकता है।

तेरा पुरुषार्थ कर्म के फल मे नहीं है वह तो भ्रम से माना हुआ है तेरा पुरुषार्थ तो अपने को पहचान कर अपने को अपने रूप देखना है अपने को अपने रूप जानना और अपने में ही रमण करना है। ज्ञानमात्र इतना ही तेरा पुरुषार्थ है। यही तू कर सकता है इसके विपरीत पर को अपने रूप देखना, पर को अपने रूप जानना और पर में रमण करना यह तेरा कुपुरुषार्थ है जो तू कर रहा है। संसार में कोई चीज बन्ध का कारण नही है, कोई चीज दुःख का कारण नहीं है मात्र तेरी अज्ञानता—वह जो अपने को अपने रूप न जान कर पर रूप जानना है यही कर्म बन्ध का कारण है यही—दुख का कारण है यही संसार का बीज है यह तेरे छोड़ने से ही मिटेगी यह अपने को नहीं जानने से हुई है और यह अन्य किसी उपाय से, किसी को पूजने से, किसी का जाप करने से नहीं मिट सकती यह तो अपने को जानने से ही मिटेगी।

सन्मति विहार, नई दिल्ली

दुख का बीज

☐ श्री बाबूलाल वक्ता—कलकत्ता वाले

कर्म अपना कार्य करता है ज्ञान अपना कार्य करता है। कर्म के फलरूप शरीर की प्राप्ति होती है चाहे स्वरूप हो चाहे अस्वरूप चाहे सुन्दर हो चाहे कुरूप। उसी कर्म के फलस्वरूप बाहरी वातावरण प्राप्त होता है कोई मान करता है कोई अपमान करता है बाहर गरीबी-अमीरी मिलती है शरीर के अलावा अन्य चीजों का सयोग होता है। उसी कर्म के फलस्वरूप किसी वस्तु को हितकारी मान कर राग करता है। किसी से द्वेष करता है किसी से क्रोध करता है कही मान करता है आदि। कर्म के उदय से यह सब कार्य होते हैं। रागद्वेष जीव करता है उससे कर्म का बन्ध होता है और कर्म उदय मे आता है उससे रागद्वेष होता है। सवाल होता है कि इससे छुटकारा कैसे हो।

यह सब कर्म के फलरूप होता है परन्तु इनमे अपनापना कौन मानता है इसका कारण भी वह जीव है जो अपने आपको—अपने स्वरूप को न जान कर इनमे अपनापना मानता है यह कर्म के फल मे अपनापना मानना ही वास्तव मे रागद्वेप का कारण है यही चोर की मा है।

शरीर भी नये कर्म निर्माण का कारण नही परन्तु शरीर मे अपनापना मानना ही कर्म निर्माण या नये शरीर को प्राप्त करने का कारण होता है। शरीर चाहे अच्छा हो चाहे बुरा वह तो यह कहता नही कि तू मरे को अपना मान। यह अज्ञानी आप ही अपने को न जान कर इसमे अपनापना मानता है और ससार का बीज उत्पन्न करता है। पुण्य-पाप का उदय तो यह कहता नही तू मुझे अपना मान यह अज्ञानी आप ही अपने को न जान कर इनके फल में अपनापना मान कर दुखी-सुखी होता है और नये कर्म का निर्माण करता है। ये रागद्वेष, क्रोधादि जो कर्म के फल-स्वरूप हो रहे हैं ये तो कहते नहीं कि तू हमारे में अपनापन मान परन्तु यह अज्ञानी अपने को न पहचान कर अपने को इन रूप देखता है और नये संस्कार पैदा करता है। यह सब कार्य कर्म के फलरूप हो रहे हैं परन्तु अगर यह इन रूपो में अपनपना न माने तो दुखी भी न हो और नये कर्म का निर्माण भी न हो। और यह तभी सम्भव है जब यह अपने आपमे अपनापना माने अपने को अपने रूप मे देखे। तब जितना कर्म इकट्ठा है वह तो अपना फल देकर चला जाता है और इनमे अपनापना न मानने से नये कर्म का बन्ध होता नही अत एक रोज यह आत्मा कर्मरहित हो जाता है जब कर्म नही रहता तो उसके फलस्वरूप शरीरादि का भी अभाव हो जाता है मात्र यह ज्ञात आत्मा पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है।

इसलिए न तो शरीर बध का कारण है न मन वचन काय की क्रिया बध का कारण है न स्त्री पुत्रादि धन परिगृह बध का कारण है बध का कारण तो अपने आपको भूल कर इनमे, पर मे अपनापना मानना ही बध का कारण है अपने को पर रूप देखना कर्म के फल रूप देखना ही बन्ध का कारण है। यही दुख का कारण है।

पर को अपने रूप देखना या अपने को अपने रूप देखना इनमे एक तेरी गलती है और एक तेरी ज्ञानता है। कोई दु.खी करने वाला नही— न भगवान कुछ कर सकता है न कर्म कुछ कर सकता है तू अपनी अज्ञानता से इनको अपने रूप देख कर आप हो अपने ससार का अपने दुख का निर्माण करने वाला है तू ही अपने को जान कर अपने को अपने रूप देखे पर को पर रूप देखे तो अपने आपको सुखी बनाने वाला है।

तू अपने को जानना चाहे तो जान सकता है इतनी योग्यता तेरे में है पर को जानने के लिए इन्द्रियों की प्रकाशादि भी दरकार है परन्तु अपने आपको जानने के लिए तो मात्र अपनी ही दरकार है। यह मौका मिला है तू चाहे तो अपने आपको जान कर परम पद को प्राप्त हो सकता है तू पर में अपनापना मान कर ८४ लाख योनी में भ्रमण कर सकता है कोई बचाने वाला नहीं है अगर पर में अपनापना मानेगा तो उसमें आसक्ति भी होगी अहमभाव भी होगा कर्म का निर्माण भी होगा। यदि तेरे हाथ में है। समूचा कार्य तो कर्म के हाथ में हैं परन्तु उस कार्य में अपनापना नही मानना यह तेरे हाथ में है। तू

(शेष पृष्ठ ९ पर)

अद्वैतदृष्टि और अनेकान्त

□ अशोककुमार जैन एम. ए.

पूर्वपक्ष—वेदान्त आत्मा को एक और अद्वैत ही मानता है, अद्वैत का अर्थ है संसार मे दूसरी कुछ वस्तु नही। भारतीय दर्शनों में वेदान्त का प्रमुख स्थान है और जैनदर्शन के अतिरिक्त यही एक दर्शन ऐसा है जिसने एकमात्र आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध मे खोज की है। अन्य दर्शनो ने केवल भौतिक जगत की छानबीन की है और आत्मा को अन्य द्रव्यों की तरह एक चेतन द्रव्य मानकर छोड़ दिया है उसके सम्बन्ध मे आगे उन्होंने कुछ नही कहा। जहाँ तक परमात्मा का सम्बन्ध है उसका सम्पूर्ण विश्लेषण उसके जगन्निर्माण को आधार बनाकर ही किया है। वह स्वय अपने आप मे क्या है और उसका क्या रूप है इस विषय मे अन्य दर्शन मौन है।[1] वेदान्ती जगत मे केवज एक ब्रह्म को ही सत् मानते है।[2] वह कूटस्थ नित्य और अपरिवर्तनशील है। वह सत् रूप है। यह अस्तित्व ही उस महासत्ता का सबसे प्रबल साधक प्रमाण है। चेतन और अचेतन जितने भी भेद हैं, वे सब इस ब्रह्म के प्रतिभासमान हैं। उनकी सत्ता प्रातिभासिक या व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। जैसे एक अगाध समुद्र वायु के वेग से अनेक प्रकार की बीची, तरग, फेन, बुद्बुद् आदि रूपो में प्रतिभासित होता है। यह तो दृष्टि सृष्टि है। अविद्या के कारण अपनी पृथक सत्ता अनुभव करने वाला प्राणी अविद्या में ही बैठकर अपने सस्कार और वासनाओ के अनुसार जगत् को अनेक प्रकार के भेद और प्रपंच के रूप मे देखता है। एक ही पदार्थ अनेक प्राणियों को अपनी-अपनी दूषित वासना के अनुसार विभिन्न रूपो मे दिखाई देता है। अविद्या के हट जाने पर सत्, चित्त और आनंद रूप ब्रह्म में लय हो जाने पर समस्त प्रपचों से रहित निर्विकल्प ब्रह्म स्थिति प्राप्त होती है। जिस[3]प्रकार विशुद्ध आकाश को तिमिर-रोगी अनेक प्रकार की चित्र-विचित्र रेखाओ से खचित और चित्रित देखता है उसी तरह अविद्या या माया के कारण एक ही ब्रह्म अनेक प्रकार के देश, काल और आकार के भेदो से भिन्न की तरह चित्र-विचित्र प्रतिभासित होता है। जो भी जगत में था और होगा वह सब ब्रह्म ही है।

यही ब्रह्म समस्त विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में उसी तरह कारण होता है जिस[4] प्रकार मकड़ी अपने जाल के लिए, चन्द्रकान्तमणि जल के लिए और वट वृक्ष अपने प्ररोहों के लिए कारण होता है। जितना भी भेद है वही सब अतात्विक और झूंठा है।

यद्यपि आत्मश्रवण मनन, और ध्यानादि भी भेद रूप होने के कारण अविद्यात्मक है फिर भी उनसे विद्या की प्राप्ति संभव हैं जैसे धूलि से गदले पानी में कतकफल या फिटकरी या चूर्ण जो कि स्वय भी धूलिरूप हो है, डालने पर एक धूलि दूसरी धूलि को शान्त कर देती है और स्वय भी शान्त होकर जल को स्वच्छ अवस्था मे पहुंचा देती है। अथवा जैसे एक विष दूसरे विष को नाशकर निरोग अवस्था को प्राप्त करा देता है उसी तरह आत्मश्रवण मनन आदि रूप अविद्या भी रागद्वेष मोह आदि मूलअविद्या को नष्टकर स्वगत भेद के शान्त होने पर निर्विकल्प स्वरूपावस्था प्राप्त हो जाती है। अतात्विक अनादिकालीन अविद्या के उच्छेद के लिए ही मुमुक्षुओं का प्रयत्न होता है। यही अविद्या तत्वज्ञान का प्रागभाव है अत: अनादि होने पर भी उसकी निवृत्ति उसी तरह हो जाती है जिस प्रकार कि घटादि कार्यों की उत्पत्ति होने पर उनके प्रागभावो की।

इस ब्रह्म का ग्राहक सन्मात्रग्राही निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। वह मूक बच्चो के ज्ञान की तरह शुद्ध वस्तुजन्य और शब्द सम्पर्क से शून्य निर्विकल्प होता है।

'अविद्या ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न' इत्यादि विचार भी अप्रस्तुत है क्यों कि ये विचार वस्तुस्पर्शी होते हैं और अविद्या है अवस्तु। किसी भी विचार को सहन नही करना ही[5] अविद्यात्व है।

उत्तरपक्ष :—कर्मद्वैत, फलद्वैत तथा विद्याद्वय का अद्वैत दृष्टि में न होना—अद्वैत एकान्त मे शुभ और अशुभ कर्म, पुण्य और पाप इहलोक और परलोक, ज्ञान और अज्ञान, बन्ध और मोक्ष इनमे से एक भी द्वैत सिद्ध नही होता है।[6]

लोक में दो प्रकार के कर्म देखे जाते हैं—शुभ कर्म और अशुभकर्म। हिंसा करना, झूंठ बोलना, चोरी करना आदि

अशुभ कर्म हैं। हिंसा नहीं करना, सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, परोपकार करना, दान देना आदि शुभ कर्म हैं। दो प्रकार के कर्मों का फल भी दो प्रकार का मिलता है—अच्छा और बुरा। जो शुभ कर्म करता है उसे अच्छा फल मिलता है—इसे पुण्य कहते हैं और जो अशुभ कर्म करता है उसको बुरा फल मिलता है—इसे पाप कहते हैं। अद्वैत-मात्र तत्व के सद्भाव में दो कर्मों का अस्तित्व कैसे हो सकता है। जब कर्म ही नहीं हैं तो उसका फल भी नहीं हो सकता है। अतः दो कर्मों के अभाव में दो प्रकार के फल का अभाव स्वतः हो जाता है। दो प्रकार के लोक को भी प्रायः सब मानते है इह लोक तो सबको प्रत्यक्ष ही है इस लोक के अतिरिक्त एक परलोक भी है, जहाँ से यह जीव इस लोक में आता है और मृत्यु के बाद पुनः वहाँ चला जाता है। परलोक का अर्थ है जन्म के पहले ओर मृत्यु के बाद का लोक। ऐसा भी माना गया है कि इस जन्म मे किये गये कर्मों का फल अगले जन्म मे मिलता है किन्तु अद्वैतवाद में न कर्म है, न कर्मफल है और न परलोक है।

यह कहना ठीक नही है कि कर्मद्वैत, फलद्वैत-लोकद्वैत आदि की कल्पना अविद्या के निमित्त से होती है क्योकि विद्या और अविद्या का सद्भाव भी अद्वैतवाद में नही हो सकता है। यहाँ तक कि बन्ध और मोक्ष की भी व्यवस्था अद्वैत में नही बन सकती है। यदि कोई व्यक्ति प्रमाण-विरुद्ध किसी तत्व की कल्पना करता है तो किसी न किसी फल की अपेक्षा से ही करता है। बिना प्रयोजन के मूर्ख भी किसी कार्य मे प्रवृत्त नही होता है अतः कोई बुद्धिमान व्यक्ति सुख-दुख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि से रहित अद्वैतवाद का आश्रय कैसे ले सकता है अतः ब्रह्म-द्वैत की सत्ता स्वबुद्धिकल्पित है।[७] हरिभद्रसूरि कहते हैं कि अविद्या उस सत्ताशील पदार्थ से भिन्न नही जब कि वह सत्ताशील पदार्थ एकमात्र स्वयं ही है और ऐसी दशा में जगत में विभिन्न रूपों का प्रतीतिगोचर होना एक अकारण बात सिद्ध होती है। यहाँ आशय यह है कि जब सभी वस्तुयें केवल सत्रूप हैं तब अविद्या भी केवल सत्-रूप ही हुई है और ऐसी दशा में यह कहना कि एक सत् अविद्यावश अनेक सा लगने लगता है। ऐसा कहा जा स कता है कि अविद्या एकमात्र सत्ताशील पदार्थ से अभिन्न होते हुए भी जगत में विभिन्न रूपों के प्रतीतिगोचर होने का कारण बनती है लेकिन इस पर हरिभद्र कहते हैं कि यह बात प्रमाण द्वारा सिद्ध किये हुए बिना समझ में आने वाली नही। और यदि प्रमेय से अतिरिक्त प्रमाण की सत्ता नही तो यह सिद्धान्त स्थिर नहीं रहा कि जगत में कोई एक ही पदार्थ सत्ताशील है। दूसरी ओर यदि प्रमेय से अतिरिक्त प्रमाण की सत्ता नही तो उक्त सिद्धान्त प्रमाण हीन ठहरता है। सत्ता अद्वैतका सिद्धान्त इस आधार पर भी बाधित सिद्ध होता है कि प्रस्तुत वादी के शास्त्र ग्रंथ स्वयं ही विद्या, अविद्या आदि के बीच भेद की बात करते हैं तथा वे स्वयं ही अपने प्रतिपादित सिद्धान्त के सम्बन्ध में संशय आदि की संभावना स्वीकार करते हैं (जब कि संशय आदि ये परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर भी बाधित सिद्ध होता है। इस पूरी वस्तु स्थिति पर विचार किया जाना चाहिए। कुछ दूसरे वादियो की व्याख्या है कि शास्त्रों मे सत्ता अद्वैत के सिद्धान्त का उपदेश इसलिए दिया गया है कि श्रोताओ के मन मे सब प्राणियो के प्रति समता की भावना उत्पन्न न हो कि इसलिए कि सचमुच ही जगत मे कोई एकमात्र पदार्थ ही सत्ताशील है। उक्तवादियों का ऐसा कहना भी युक्ति विरुद्ध नहीं क्योकि उनका कथन स्वीकार करने पर उत्तम शास्त्र ग्रंथो की प्रामाणिकता सिद्ध बनी रहती है। हरिभद्र का आशय यह है कि अद्वैत-वाद का सिद्धान्त तात्विक रूप से (अर्थात् शाब्दिक रूप से) स्वीकार करने पर प्रस्तुत तीनों बातें असम्भव बनी रहती हैं अन्यथा तो संसार और मोक्ष वस्तुतः एक ठहरेंगे और इस दशा में हम न चाहते हुए भी यह मानने के लिए बाध्य होंगे कि मोक्ष प्राप्ति के लिए किया गया सब क्रिया-कलाप एक व्यर्थ का क्रियाकलाप है।[८]

अद्वैतवादी ने जो कहा था कि "अविद्या ब्रह्म से भिन्न कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है इसलिए वह नष्ट होती है इत्यादि" सो यह कथन भी असार है क्योंकि अविद्या यदि अवस्तुरूप असत् है तो उसे प्रयत्नपूर्वक क्यों हटानी पड़ती है? अवस्तुरूप खरगोश, शृंग आदि क्या प्रयत्नपूर्वक हटाये जाते देखे जाते हैं?

शंका—अविद्या वास्तविक होगी तो उसे कैसे समाप्त किया जा सकेगा?

समाधान—यह कथन ऐसी शका ठीक नही है—घटादि सत् होकर भी समाप्त किए जाते हैं कि नहीं ? वैसे ही अविद्या सत होवे तो भी हठायी जा सकती है, आप ऐसा भी नहीं कहना। घट, ग्राम, बगीचादि अविद्या से निर्मित हैं। अतः असत् हैं और इसी कारण से उन्हे भी हटा सकते है तो ऐसे तो अन्यो-न्याश्रय दोष आता है अतः घटादिकों में अविद्या से निर्मितपना सिद्ध हो तो उनमे असत्व सिद्ध हो और असत्व शिद्ध हो तो उनमे अविद्या से निर्मितपना सिद्ध हो। "अभेद विद्या निर्मित है अतः वह वास्तविक है" इस पक्ष मे भी वही अन्योन्याश्रय दोष आता है अर्थात् पहले विद्या परमार्थभूत है यह बात सिद्ध हो तब अभेद विद्या के द्वारा पैदा यह कथन सिद्ध हो और अभेद विद्यानिर्मित है यह कथन सिद्ध होने पर विद्या में परमार्थतः सिद्ध हो इस तरह अभेद विद्यानिर्मित है यह बात सिद्ध नही होती है। अनादि अविद्या क नाश होने मे जो अद्वैतवादियों ने प्रागभाव का दृष्टान्त दिया है सो गलत है क्योंकि वस्तु से भिन्न सर्वथा अनादि तुच्छभाव रूप इस प्रागभाव की असिद्धि है तथा वादियो ने जो ऐसा कहा है कि "तत्वज्ञान का प्रागभाव ही अविद्या है सो केवल कथन मात्र है यदि अविद्या को प्रागभावरूप मानें तो उससे भेद ज्ञान लक्षण कार्य की उत्पत्ति नही होगी क्योकि प्रागभाव मे कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नही है। प्रागभाव से नाश हुये बिना जैसे घटरूप कार्य नही होता वैसे ही अविद्यारूप प्रागभाव का नाश हुये बिना तत्वज्ञान रूप कार्य उत्पन्न ही नही होता है।'

यदि एक ही ब्रह्म का जगत मे मूलभूत अस्तित्व हो और अनन्त जीवात्मा कल्पित भेद के कारण ही प्रतिभासित होते हैं तो परस्पर विरुद्ध सदाचार, दुराचार आदि क्रियाओं से होने वाला पुण्य-पाप का बन्ध और उनके फल सुख-दुःख आदि नही बन सकेंगे। जिस प्रकार एक शरीर में सिर से पैर तक सुख और दुःख की अनुभूति अ.वश्यक होती है भले ही फोड़ा पैर में ही हुआ हो, या पेड़ा मुख में ही खाया गया हो उसी तरह समस्त प्राणियों में यदि मूल-एक ब्रह्म का ही सद्भाव है तो अखण्डभाव से सबको एक जैसी सुख-दुःख की अनुभूति होनी चाहिए थी। एक अनिर्वचनीय अविद्या या माया का सहारा लेकर इन जलते हुए प्रश्नों को नहीं सुलझाया जा सकता।'

क्या हेतु के बिना अद्वैत की सिद्धि हो सकती है ?

हेतु के द्वारा अद्वैत की सिद्धि करने पर हेतु और साध्य के सद्भाव मे द्वैत की सिद्धि का प्रसंग आता है और यदि हेतु के बिना अद्वैत की सिद्धि की जाती है तो वचन-मात्र से द्वैत की सिद्धि भी क्यो नहीं होगी।"

अद्वैतवादियो का कहना है कि हेतु के द्वारा ब्रह्म की सिद्धि करने पर भी द्वैत की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि हेतु और साध्य में तादात्म्य सम्बन्ध है वे पृथक्-पृथक् नहीं हैं।

ब्रह्माद्वैतवादियो का उक्त कथन ठीक नही है। हेतु और साध्य में कथंचिद् तादात्म्य मानना तो ठीक है किन्तु सर्वथा तादात्म्य मानना ठीक नही है। सर्वथा तादात्म्य मानने पर उनमे साध्य-साधन भाव हो ही नही सकता है। इसी प्रकार आगम से भी ब्रह्म की सिद्धि करने पर आगम को ब्रह्म से अभिन्न नही माना जा सकता है। यदि ब्रह्म साधक आगम ब्रह्म से अभिन्न है तो अभिन्न आगम से ब्रह्म की सिद्धि कैसे हो सकती है। अतः हेतु और ब्रह्म का द्वैत तथा आगम और ब्रह्म का द्वैत होने से अद्वैत की सिद्धि सम्भव नही है।

स्वयसवेदन से भी पुरुषाद्वैत की सिद्धि सम्भव नही है स्वसवेदन से पुरुषाद्वैत की सिद्धि करने पर पूर्वोक्त दूषण से मुक्ति नही मिल सकती है। ब्रह्म साध्य है और स्वसवेदन साधक है। यहाँ साध्य-साधक के भेद से द्वैत की सिद्धि का प्रसग बना ही रहता है और साधन के बिना अद्वैत की सिद्धि करने पर द्वैत की सिद्धि भी उसी प्रकार क्यो नही होगी। कहने मात्र से अभीष्ट तत्व की सिद्धि भी हो जायगी। वृहदारण्यक वार्तिक में ब्रह्म के विषय मे कहा गया है कि यद्यपि एक सद्रूप ब्रह्म ही सत्य है किन्तु मोह के कारण आत्मा या ब्रह्म भी दो रूपों से प्रतीति होती है आगम द्वैत का बाधक एवं अद्वैत का साधक है।

उक्त कथन भी तर्कसंगत नहीं है। यदि मोह के कारण द्वैत की प्रतीति होती है तो मोह का सद्भाव वास्तविक है या अवास्तविक। यदि मोह अवास्तविक है तो वह द्वैत की प्रतीति का कारण कैसे हो सकता है और मोह के वास्तविक होने पर द्वैत की सिद्धि अनिवार्य है।

इस प्रकार ब्रह्म की सिद्धि में उभयतः दूषण आता है। हेतु और आगम से ब्रह्म की सिद्धि करने पर द्वैत की सिद्धि होती है। और वचनमात्र से अद्वैत की सिद्धि मानने पर द्वैत की सिद्धि भी वचनमात्र होने से कौन-सी बाधा है।"

अद्वैत द्वैत का अविनाभावी है—द्वैत के बिना अद्वैत नहीं हो सकता है, जैसे कि हेतु के बिना अहेतु नहीं होता है कहीं भी प्रतिषेध्य के बिना संज्ञी का निषेध नहीं देखा गया है।[१४]

जो लोग केवल अद्वैत का सद्भाव मानते हैं उनको द्वैत का सद्भाव मानना भी आवश्यक है। क्योंकि अद्वैत द्वैत का अविनाभावी है। अद्वैत शब्द भी द्वैत शब्दपूर्वक बना है। 'न द्वैतं इति अद्वैतं' जो द्वैत नही है वह अद्वैत है। जब तक यह ज्ञात न हो कि द्वैत क्या है तब तक अद्वैत का ज्ञान होना असम्भव है अत: अद्वैत को जानने के पहले द्वैत का ज्ञान होना आवश्यक है। द्वैत के बिना अद्वैत हो ही नही सकता है जैसे अहेतु के बिना हेतु नही होता है। साध्य का जो साधक होता है वह हेतु कहलाता है किसी साध्य मे एक पदार्थ हेतु होता है और दूसरा अहेतु। वह्नि के सिद्ध करने में धूम हेतु होता है और जल को सिद्ध करने में धूम अहेतु होता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि अहेतु का सद्भाव हेतु का अविनाभावी है। बिना हेतु के अहेतु नही हो सकता। अत: अद्वैत द्वैत का उसी प्रकार अविनाभावी है जिस प्रकार की अहेतु हेतु का अविनाभावी है।

जो लोग द्वैत का निषेध करते हैं उन्हे यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी सज्ञी (नाम वाले) का निषेध निषेध्य वस्तु के अभाव मे सम्भव नही है। गगन कुसुम या खरविषाण का जो निषेध किया जाता है वह भी कुसुम और विषाण का सद्भाव न होता तो गगन कुसुम और खरविषाण का निषेध नही किया जा सकता था। इसलिए जो लोग द्वैत का निषेध करते हैं उन्हें द्वैत का सद्भाव मानना ही पड़ेगा।

पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि परप्रसिद्ध द्वैत का प्रतिषेध करके अद्वैत की सिद्धि करने मे कोई दूषण नही है। स्व और पर के विभाग से भी द्वैत की सिद्धि का प्रसग नही आ सकता है क्योंकि स्व और पर की कल्पना अविद्याकृत है। अविद्या भी कोई वास्तविक पदार्थ नही है किन्तु अवस्तुभूत है उसमें किसी प्रमाण का व्यापार नहीं होता वह प्रमाणगोचर है। अविद्यावान मनुष्य भी अविद्या का निरूपण नही कर सकता है जैसे कि जन्म से तैमिरिक मनुष्य चन्द्रद्वय की भ्रान्ति को नही बतला सकता है। इस अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा स्व पर आदि के भेद की प्रतीति होती है। यथार्थ में तो अद्वैत तत्त्व ब्रह्म का ही सद्भाव पाया जाता है।

वेदान्तवादियों के उक्त कथन मे कुछ भी सार नहीं है। सर्वथा अनिर्वचनीय तथा प्रमाणगोचर अविद्या को मान कर उसके द्वारा द्वैत की कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता है। ऐसी बात नही है कि प्रमाण अविद्या को विषय न कर सकता हो। विद्या की तरह अविद्या भी वस्तु है तथा प्रमाण का विषय है। अविद्या प्रमाणगोचर और अनिर्वचनीय नही हो सकती है। अत: अविद्या के द्वारा द्वैत की कल्पना मानना ठीक नही है उनके द्वारा तो द्वैत की सिद्धि ही होती है।

इस प्रकार अद्वैतैकान्त पक्ष की सिद्धि किसी प्रमाण से नही होती है प्रत्युत युक्ति से यही सिद्ध होता है कि अद्वैत द्वैत का अविनाभावी है और बिना द्वैत का सद्भाव किसी भी प्रकार नही हो सकता है।[१५]

कार्य की भ्रान्ति से कारण की भ्रान्ति का प्रसंग—आचार्य समन्तभद्र[१६] ने लिखा है कि कार्य के भ्रान्त होने से कारण भी भ्रान्त होंगे। क्योकि कार्य के द्वारा कारण का ज्ञान किया जाता है तथा कार्य और कारण दोनो के अभाव में उनमें रहने वाले गुण जाति आदि का भी अभाव हो जायेगा।

ऐसा सम्भव नहीं है कि कार्य मिथ्या हो और कारण सत्य हो। यदि कार्य मिथ्या है तो कारण भी मिथ्या अवश्य होगा। जो लोग ऐसा मानते हैं तो उनके मत में पृथ्वी आदि मूलों के कारण परमाणु भी मिथ्या ही होंगे। परमाणु प्रत्यक्ष सिद्ध तो है नही। किन्तु कार्य के द्वारा कारण का अनुमान करके परमाणुओं की सिद्धि की जाती है। 'परमाणु रहित घटाद्यन्यथानुपपत्तेः।' परमाणु है अन्यथा घटादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस अनुमान से परमाणुओं की सिद्धि की जाती है। प्रत्यक्ष के द्वारा तो स्थूलाकार स्कन्ध की ही प्रतीति होती है और परमाणुओं की प्रतीति कभी भी नही होती है। परमाणुओं का ज्ञान दो प्रकार से ही सम्भव है—प्रत्यक्ष द्वारा या अनुमान द्वारा। प्रत्यक्ष में तो उनका ज्ञान होता नही है कार्य के भ्रान्त होने से कार्य के द्वारा उनका अनुमान भी नहीं

किया जा सकता। ऐसी स्थिति में परमाणुओं के जानने का कोई उपाय ही शेष नही रह जाता है। प्रत्युत कार्य के भ्रान्त होने से परमाणुओं में भ्रान्तता ही सिद्ध होती है। कार्य और कारण दोनों के भ्रान्त होने से दोनों का अभाव स्वत, प्राप्त है और दोनों का अभाव होने से उनमें रहने वाले गुण, सामान्य, क्रिया आदि का भी अभाव हो जायेगा। गुण आदि या तो कार्य में रहेंगे या कारण में। किन्तु दोनों के अभाव में आधार के बिना गुण आदि कैसे रह सकते हैं। गगनकुसुम के अभाव में उसमें सुगन्धित नही रह सकती है। अतः यदि गुण, जाति आदि का सद्भाव अभीष्ट है तो कार्यत्व को अभ्रान्त मानना भी आवश्यक है और स्कन्धरूप कार्य द्रव्य अभ्रान्त तभी हो सकता है जब परमाणु अपने पूर्व रूप को छोड़कर स्कन्धरूप पर्याय को धारण करें इस प्रकार परमाणुओं में अनन्तैकान्त मानना ठीक नहीं है।[७]

द्वैतवादी जैन आदि परम्पराओं के और अद्वैतवादी परम्परा के बीच अन्तर केवल इतना ही है कि पहली परम्परायें प्रत्येक जीवात्मा का वास्तविक भेद मान कर भी उन सबमें तात्विक रूप से समानता स्वीकार करके हिंसा का उद्बोधन करती हैं, जबकि अद्वैत परम्परा जीवात्माओं के पारस्परिक भेद को ही मिथ्या मान कर उनमें तात्त्विकरूप से पूर्ण अभेद मान कर उसके आधार पर अहिंसा का उद्बोधन करती है। अद्वैत परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न योनि और भिन्न-भिन्न गति वाले जीवों में दिखाई देने वाले भेद का मूल अधिष्ठान एक शुद्ध अखण्ड ब्रह्म है जबकि जैन जैसी द्वैतवादी परम्पराओं के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा तत्वरूप से स्वतन्त्र और शुद्ध ब्रह्म है। एक परम्परा के अनुसार अखण्ड एक ब्रह्म मे से नाना जीव की सृष्टि हुई है जबकि दूसरी परम्पराओं के अनुसान जुदे-जुदे स्वतन्त्र और समान अनेक शुद्ध ब्रह्म ही अनेक जीव हैं। द्वैतमूलक समानता मे से ही अद्वैतमूलक ऐक्य का सिद्धान्त क्रमशः विकसित हुआ जान पड़ता है। परन्तु अहिंसा का आचार और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद अद्वैतवाद में भी द्वैतवाद के विचार के अनुसार ही घटाया गया है वाद कोई भी हो पर अहिंसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता या अभेद का वास्तविक संवेदन होना ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।[८]

संदर्भ-सूची

१. डॉ० लालबहादुर शास्त्री : 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार' पृ० १८५।
२. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—छान्दो० ३।१४।१
३. 'यथा विशुद्धयाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः,
संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते।
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया,
मनुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति॥
बृहदा० भा० वा० ३।५।४३-४४
४. 'यथा पयो पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति: यथा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति यथा कतक-रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि भिन्यते स्वयमपि विद्यमान मनाविलं पाथः कमोति, एवं कर्म अविद्यात्मकमपि अविद्यान्तराणि अपगमयत् स्वयमप्यप-गच्छतीति'
—ब्रह्म सू० शां भा० भा० पृ० ३२
५. अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम्।
मानाघातमसहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते॥
—सम्बन्ध वा० का० १८१॥
६. कर्म द्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्यातां बन्धमोक्षद्वयं तथा॥
समन्तभद्र: आप्तमीमांसा का० ०५
७. प्रो० उदयचन्द जैन : आप्तमीमांसा तत्वदीपिका पृ० १७८।
८. अत्राप्येवं वदन्त्यन्ये अविद्यां न सतः पृथक्।
तच्च तन्मात्रमेवेति भेदाभासोऽनिबन्धनः॥
सैवाथाभेदरूपाऽपि भेदाभासनिबन्धनम्।
प्रमाणमन्तरेणैतदवगन्तुं न शक्यते॥
भावेऽपि च प्रमाणस्य प्रमेय व्यतिरेकतः।
ननुनाद्वैत मेवेति तदभावेऽप्रमाणकम्॥
विद्याऽविद्यादिभेदाच्च स्वतन्त्रेणैव बाध्यते।
तत्संशयादियोगाच्च प्रतीत्या च विचिन्त्यताम्॥
अन्ये व्याख्या नमन्त्येव समभावप्रसिद्धये।
अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्वतः॥
न चैतत् बाध्यते युक्तया सच्छास्त्रादि व्यवस्थितेः।
ससारमोक्षभावाच्च तदर्थं यत्नसिद्धितः॥
अन्यथा तत्वतोऽद्वैते हन्तः संसार मोक्षयोः।
सर्वानुष्णनवैयर्थ्यमनिष्टं सम्प्रसज्यते॥
—शास्त्रवार्ता समुच्चय ५४६-५५२

(शेष पृष्ठ १३ पर)

जैन कला तथा स्थापत्य में भगवान शान्तिनाथ

□ कु० मृदुलकुमारी शोधछात्रा

भगवान शान्ति जैन धर्म के सोलहवें तीर्थङ्कर हैं। जैन कला तथा स्थापत्य में भगवान् शान्तिनाथ का विशेष स्थान है। प्राचीन मन्दिरों, शिलालेखों ग्रन्थों तथा मूर्तियों के द्वारा इनकी महत्ता प्रकट होती है विभिन्न जैन तीर्थ स्थल तथा उनसे प्राप्त सामग्री इसकी साक्षी है। भगवान् शान्तिनाथ का जन्म हस्तिनापुर में हुआ। आदिपुराण के अनुसार हस्तिनापुर की रचना देवों के द्वारा की गई।[1] यहीं पर सत्रहवें तीर्थंकर कुंथुनाथ और अठारहवें अरहनाथ का भी जन्म हुआ। तीनों ने हस्तिनापुर के सहस्राम्रवन में दीक्षा तथा केवलज्ञान प्राप्त किया और पञ्चकल्याणक मनाये।

हस्तिनापुर में दिल्ली धर्मपुरा के नये जिन मन्दिर से वि० सं० १५४८ में भट्टारक जिनेन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित

(पृष्ठ १२ का शेषांश)

९. प्रमेयकमलमार्तण्ड—अनुवादिका श्री १०५ आर्यिका।
— जिनमती जी पृ० १९९-२००

१०. डॉ० महेन्द्रकुमार जैन : जैनदर्शन पृ० ३०९।

११. हेतुना चेद्विना सिद्धिश्चेद द्वैतं स्याद्धेतु साध्ययो.।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैत वाङ्मामतो न किम्॥
—समन्तभद्र आप्तमीमांसा का० २६

१२. आत्मापि सदिदं ब्रह्ममोहात्पारोक्ष्यदूषितम्।
ब्रह्मापि स तथेवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते॥
आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात्।
पुमर्थे निश्चित शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम्॥
—बृहदारण्यक वार्तिक

१३. प्रो० उदयन्द्र जैन : आप्तमीमांसा तत्वदीपिका। पृ० १७९-१८०।

१४. अद्वैतं न बिना द्वैताय हेतुरिव हेतुना।
सज्ञिन: प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्॥
—समन्तभद्र अप्तमीमासा २७

१५. प्रो० उदयचन्द जैन · आप्तमीमासा तत्वदीपिका।

१६. कार्यभ्रान्तिरेणु भ्रान्ति: कार्यलिङ्ग हि कारणम्।
उदयाभाववस्तुस्थं गुण जातीत रच्व न॥
—आप्तमीमांसा ६८

१७. प्रो० उदयचन्द जैन : आप्तमीमांस तत्वदीपिका पृ० २४२।

१८. दर्शन और चिन्तन : पं० सुखलाल जी पृ० १२५।

भगवान् शान्तिनाथ की मूर्ति लाकर मूल नायक के रूप में विराजमान की गई। इसके कारण यह शान्तिनाथ का मन्दिर कहा जाता है।[2]

हस्तिनापुर में दिगम्बर जैन मन्दिर के द्वार के समक्ष ३१ फुट ऊँचा मान स्तम्भ बना है चारो ओर खुले बरामदे हैं और बीच में मन्दिर है जिसका एक खण्ड है इसे गर्भ गृह कहते हैं। इस मन्दिर मे तीन दर की एक विशाल वेदी है। उस पर भगवान शान्तिनाथ की श्वेत पाषाण की एक हाथ ऊँची पद्मासन प्रतिमा है। इसके दोनों ओर कुंथुनाथ तथा अरहनाथ की प्रतिमा है।[3]

इस मन्दिर के पीछे एक-दूसरा मन्दिर है जिसके बायीं ओर वेदी में भगवान् शान्तिनाथ की ५ फुट ११ इंच की अवगाहना वाली खड्गासन प्रतिमा है। इसके मूर्तिलेख से ज्ञात होता है कि इसकी प्रतिष्ठा संवत् १२३१ बैसाख सुदी १२ सोमवार को देवपाल सोनी अजमेर निवासी द्वारा हस्तिनापुर मे हुई थी। यह प्रतिमा ४० वर्ष पहले उस टीले की खुदाई में निकली थी, जिस पर श्वेताम्बरो ने अपनी नशिया बनवाई थी। यह प्रतिमा हल्के सलेटी रंग की है। इसके चरणों के दोनों ओर चँवरधारी खड़े हैं। सिर पर पाषाण की छत्र छाया तथा इन्द्र ऊपर से पुष्प वृष्टि कर रहे है। चमरवाहक स्त्री युगल खड़े हैं। पाद-पीठ पर हरिण का लांछन है।[4]

मन्दिर की उत्तर दिशा में तीन मील की दूरी पर जैन नशियां बनी है। सबसे पहले भगवान् शान्तिनाथ की नशियां मिलती हैं। टोक में स्वास्तिक बना है।[5]

'बाइसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की जन्मभूमि शौरीपुर के समीप वटेश्वर नामक स्थान पर १८वीं शती के भट्टारक जिनेन्द्र भूषण द्वारा बनवाया गया तीन मंजिल का मन्दिर है। इस मन्दिर में शांतिनाथ भगवान् की मूर्ति है जो मूर्तिलेख के अनुसार संवत् ११५० बैसाख बदी २ को प्रतिष्ठित हुई। इस मूर्ति के परिकर मे बायी ओर एक खड्गासन और दायी ओर एक पद्मासन तीर्थङ्कर प्रतिमा है। चरणों में भक्त श्रावक बैठे हैं उनके बीच दो स्त्रियां मुकुलित कर पल्लव मुद्रा मे आसीन है। दो चमरवाहक इन्द्र इधर-उधर खड़े हैं ऊपर पाषाण की छत्रत्रयी है। ऊपर वीणावादिनी और मृदङ्गवादक बैठे हैं। पीठासन पर हरिण अंकित है।[6]

'उत्तर प्रदेश के आगरा जिले में फिरोजाबाद से २२ मील दूर मरसलगंज स्थान पर एक मन्दिर है। मुख्य वेदी पर भगवान् ऋषभदेव की श्वेत पाषाण पद्मासन प्रतिमा है तथा बायीं वेदी मे मूलनायक शांतिनाथ की प्रतिमा के साथ-साथ आठ पाषाण खड्गासन प्रतिमाएं एव दोनों ओर पाँच फुट अवगाहना वाली दो खड्गासन आधुनिक प्रतिमाएं हैं।[८]

उत्तरप्रदेश के ललितपुर जिले के बानपुर गांव मे मन्दिर नम्बर चार में भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा विराजमाम है जो १५ फुट ऊंची खड्गासन है।

ललितपुर जिले के मदनपुर कस्बे मे जमीन तल से ३ फीट ऊंचे आसन पर एक विशालकाय भगवान् शान्तिनाथ का मन्दिर है। यह २८ फीट ऊचा, १८ फीट लम्बा तथा १३ फीट चौड़ा है। मन्दिर के शिखर पर एक सुन्दर कोठरी है, मन्दिर से लगा द्वार के सामने १३ फुट का एक चबूतरा है जिस पर पत्थरो के पायों पर बरामदानुमा बना है। मन्दिर का मुख पश्चिम मे पचमढी की ओर है। मन्दिर मे प्रवेश करने के लिए ८ फुट ऊचा, ४ फुट चौड़ा द्वार है। इस द्वार के ऊपरी भाग पर पद्मासन मूर्ति है। द्वार से प्रवेश कर ४ फुट गहरा मन्दिर का गर्भालय बना है। उसमे ३ मूर्तियां खड्गासन ध्यानस्थ मुद्रा में अष्ट प्रतिहार्ययुक्त खड़ी है मध्य में १० फुट उत्तुंग भगवान् शान्तिनाथ की खण्डित प्रतिमा है जो संवत् १२०० की है। मध्यमूर्ति के बांयें-दांयें महावीर और अरहनाथ की प्रतिमा है। गर्भालय का फर्श छिन्न-भिन्न हो गया है। दो विशालकाय मूर्तियों के धड पड़े हैं। एक दो वर्गफुट की चौमुखी मेरु गर्भालय में रखी है। मन्दिर के उत्तर की ओर बाहर पत्थर पड़ा है जिस पर १-१ फुट की १५ मूर्तियां बनी हैं। इस मन्दिर से ३०० मीटर चम्पोगढ़ है।[८]

'चम्पोगढ़ के दक्षिण में एक अर्ध भग्नावशेष दूसरा मढ है जिसमें शांति, कुंथ और अरहनाथ की मनोज्ञ प्रतिमाएं खड़ी हैं तीनों पर प्रशस्ति लिखी है। मध्य की मूर्ति ८ फुट ऊंची शेष दो ६ फुट ऊंची और टूटे हाथ वाली है।''

''चम्पोगढ़ से कोई दो फर्लांग दूर मोदीमढ़ मे एक मन्दिर है। इसका शिखर जीर्ण-शीर्ण है। गर्भगृह का फर्श उखड़ा हुआ है। मढ़ की दीवार ५ फुट चौड़ी, ऊंचाई २५ फुट तथा इसके अन्दर तीन मूर्तियां हैं। मध्य में भगवान् शांतिनाथ कीं ६ फुट ऊंची तथा दायें-बायें अरहनाथ और कुन्थुनाथ की प्रतिमाएं हैं। जिस पर फाल्गुन शुक्ल ४ संवत् १६८८ अंकित है। इसका मुख्य द्वार ६ फुट ऊंचा और ४ फुट चौड़ा है।''[१०]

''चौबीसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी (काशी) के भेलूपुरा मुहल्ले में दिगम्बर जैन मन्दिर है। इस मन्दिर मे तीन वेदियां हैं। दायी ओर की वेदी में बायीं ओर मे कृष्ण पाषाण के फलक पर भगवान् शांतिनाथ की उत्सर्ग मुद्रा मे ३ फुट ऊंची प्रतिमा है। इसके परिकर मे ६ भक्त हैं। दायी ओर भगवान् का गरुड यक्ष और महामानसी यक्षिणी है। दोनों ही द्विभुजीय हैं। यक्ष के हाथ मे फल तथा वज्र है। यक्ष के ऊपर गोद में बालक लिये यक्षी खड़ी है। ऊपर इन्द्र पारिजात पुष्प लिए खड़ा है। उसके बगल मे तथा ऊपर अर्हन्त खड्गासन प्रतिमा है। उनके ऊपर गज है, जिस पर कलश लिए हुए इन्द्र बैठा है। फिर आकाशचारी देव देवियां कमल पुष्प लिए दीख पडती है। छत्रछयी के ऊपर वाद्ययन्त्र बजाता एक पुरुष है, उसके कधे पर स्त्री बैठी है।''[११]

'प्रयाग म्यूजियम में पपोसा से प्राप्त १२वीं शती की भूरे बलुए पाषाण की पद्मासन में स्थित और अवगाहना दो फुट तीन इंच की भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा है। इसके दोनो ओर खड्गासन प्रतिमा है। उनके ऊपर कोष्ठक में पद्मासन प्रतिमाएं उत्कीर्ण है। भामण्डल का अंकन कला पूर्ण है। अधोभाग में यक्ष यक्षिणी तथा शीर्ष भाग मे पुष्प लिए आकाशचारी देव है।

उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त उड़ीसा में प्राचीन काल से एक प्रधान धर्म के रूप मे जैन धर्म का प्रचलन रहा है। कटक तथा भुवनेश्वर में भगवान् शान्तिनाथ की मनोहर मूर्तियां मिली हैं। 'कटक मे जैन मन्दिर में भगवान् शान्तिनाथ की पाषाण मूर्ति मिलती है।'[१२] भवनेश्वर म्यूजियम में भगवान् शान्तिनाथ की दिगम्बर प्रतिमा उपलब्ध है।

'खजुराहो के अनेक प्राचीन जैन मन्दिर की सामग्री से पता चलता है कि लगभग १०० वर्ष पूर्व यहां भगवान् शान्तिनाथ के विशाल मन्दिर का निर्माण हुआ था। इस मन्दिर में मूल नायक १६वें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ की १२ फुट ऊंची कायोत्सर्ग मुद्रा की अतिशय मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। इस मूति पर चमकदार पालिश है तथा

उसकी पीठिका पर संवत् १०८५ का एक पंक्ति का मूर्ति लेख और हरिण चिह्न है। इस मन्दिर में वर्तमान १२ वेदियों में से तीन प्राचीन मन्दिर ही थे उनकी जघा, गर्भ-गृह, मण्डप आदि अभी भी ज्यो के त्यो हैं। ऊपर कुछ नवीन निर्माण करके उन्हें इस बड़े मन्दिर का अग बना लिया गया है। शेष वेदियो और द्वारों आदि पर भी प्राचीन मन्दिरों की सामग्री प्रचुर मात्रा मे लगी हुई है।[13]

शान्तिनाथ मन्दिर के आंगन मे पहुचते ही बायी ओर दीवार में २३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के सेवक धरणेन्द्र और पद्मावती की सुन्दर मूर्ति लगी है। इसमे यक्ष दम्पति एक सुन्दर और सुडौल आसन पर ललितासन मे मोदमग्न बैठे हैं। इनके हाथ मे श्रीफल है।[14]

शान्तिनाथ मन्दिर के मुख्य गर्भाशय की दायी ओर दीवार पर भगवान् महावीर की शासन देवी सिद्धायिका की सुन्दर मूर्ति है अम्बिका की मनोज्ञ प्रतिमा नम्बर २७ मे है। इसी मन्दिर में संवत् १२१५ की श्याम पाषाण की सलेख प्रतिमा तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ की है, जिसके मूर्तिलेख से ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा उन्ही पाटिल सेठ के वशधरों द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई जिन्होंने दो सौ वर्ष पूर्व खजुराहो मे विशाल कलात्मक पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माण कराया था।[15]

"राष्ट्रीय सग्रहालय मे भगवान् शान्तिनाथ की कांस्य प्रतिमा विद्यमान है। इस प्रतिमा मे तीर्थंकर को सिंहासन पर ध्यानमुद्रा मे बैठे हुए दर्शाया गया है। उनकी आखें श्रीवत्स चिह्न आदि चादी और ताबे की पच्चीकारी से बने हैं। उनके पार्श्व मे दोनो ओर बने आयताकार देवकोष्ठको मे तीर्थंकरो को बैठे हुए दिखाया गया है। इनके नीचे भी कायोत्सर्ग तीर्थंकर अंकित है। सिंहासन के पार्श्व में तीर्थंकर के यक्ष एवं यक्षी अंकित है और पादपीठ के सम्मुख भाग पर नवग्रह, चक्र और उसके दोनो ओर हिरण आदि अंकित हैं। सिंहासन के आगे सिंहो के मध्य में तीर्थंकर का लाछन अंकित है। प्रतिमा के पीछे संवत् १५२४ का अभिलेख उत्कीर्ण है।[16]

कुम्भरिया स्थित शान्तिनाथ मन्दिर (१०८२ ई०) एक सम्पूर्ण चतुर्विंशति जिनालय है, जिसमें पूर्व और पश्चिम दोनो दिशाओं में आठ देवकुलिकायें हैं तथा रग-मण्डप के प्रवेश स्थल के दोनों ओर चार देवलियाँ हैं। इस मन्दिर के त्रिक में छह चतुस्कियां हैं और इसके खत्तकों का बहुत सुन्दर अलंकरण किया गया है। जगती के दक्षिण पश्चिमी कोने में एक छोटा पूजास्थल है जिसमें चतुर्मुख नन्दीश्वर द्वीप की रचना है। गूढ़ मण्डम में सादी संवरणा है।[17]

राजस्थान के जैसलमेर में सन् १४८० के निर्मित शान्तिनाथ मन्दिर की छतें और संवरण (घण्टे के आकार की छत) अपनी जटिलता के कारण विशेष उल्लेखनीय है। शान्तिनाथ मन्दिर के गुम्बदो और कंगूरों की उपस्थिति तथा तदनुरूप बाह्य सरचना की सरलता और सादगी सल्तनत स्थापत्य के प्रभाव को प्रदर्शित करती है।[18]

चित्तौड़गढ मे तीर्थंकर शान्तिनाथ को समर्पित शृंगार चौरी (चित्र २२०) स्थापत्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। सन् १४४८ का निर्मित यह मन्दिर पचरथ प्रकार का है। जिसमे एक गर्भगृह तथा उत्तर और पश्चिम दिशा से सलग्न चतुस्किया है। गर्भगृह भीतर से अष्टकोणीय है जिस पर एक सादा गुबद है। मन्दिर की बाह्य सरचना अनेकानेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त मूर्ति शिल्पो से अलकृत है और जंघाभाग पर उद्भृत रूप से उत्कीर्ण दिक्पालो अप्सराओं, शार्दूलों आदि की प्रतिमाये हैं। मानवो या देवी-देवताओ की आकर्षक आकृतियो के शिल्पांकन भी यहा पर उपलब्ध है। मुख्य प्रवेश द्वार की चौखट के ललाट बिम्ब मे तीर्थंकर के अतिरिक्त गगा और यमुना, विद्या देवियाँ तथा द्वारपालो की प्रतिमाए अंकित हैं। गर्भ गृह के मध्य मे मुख्य तीर्थङ्करप्रतिमा के लिए एक उत्तम आकार की पीठ है तथा कोनो पर चार स्तम्भ हैं जो वृत्ताकार छत को आधार प्रदान किए हुये है छत लहरदार अलकरणयुक्त अभिकल्पनाओ से सुसज्जित है जिसमे पद्म-शिला का भी अकन है। इसके चारो ओर गजतालु अन्तरावकाशो से युक्त अलकरण है। इस मन्दिर क मूर्तिशिल्प का एक उल्लेखनीय पक्ष यह है कि मन्दिर के बाहरी भाग के भीतर अष्टभुजी विष्णु और शिवलिंग जैसी हिन्दू देवताओ की उद्भूत प्रतिमाएं भी हैं। चारित्रिक विशेषताओं की दृष्टि से यह शिलांकित आकृतियां विशुद्ध रूप से परम्परागत हैं।[19]

मूडबिद्री से २० किलोमीटर दूर वेणूर मे कुछ जैन मन्दिर हैं जिनमे से शान्तीश्वर बसदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमे १४८९-९० ई० का जो उल्लेख है वह यहां सबसे प्राचीन है। आमूल चूल पाषाण से निर्मित

इस मन्दिर के द्वितीय तल पर भी एक गर्भालय हैं, जिसमें एक तीर्थङ्कर मूर्ति है और जिसकी छत कुछ स्तूपाकार है। निर्माण की यह प्राचीन पद्धति विशेषतः कर्नाटक क्षेत्र में प्रचलित रही है। इसका आरम्भिक उदाहरण ऐहोल का लाट खां का मन्दिर है। शान्तीश्वर बसदि के सामने एक सुन्दर शिल्पांकन युक्त मानस्तम्भ है।[२०]

इसके अतिरिक्त विभिन्न शिलालेखों तथा ग्रंथों के द्वारा भगवान् शान्तिनाथ के मन्दिरों एवं मूर्तियों का विवरण प्राप्त होता है—

"९-१०वीं शताब्दी में आर्यसेन के शिष्य महासेन तथा उनके शिष्य चांदिराज ने त्रिभुवन तिलक नाम का चैत्यालय बनवाया उसमें तीन वेदियों में त्रिभुवन, के स्वामी शान्तिनाथ पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ की तीन मूर्तियां बनवा कर प्रतिष्ठित की और उसके लिए जमीन तथा मकान सन् १०५४ मे बैसाख मास की अमावस्या सोमवार को दान दी।"[२१]

११वी शती के आचार्य शान्तिनाथ भुवनैकमल्ल (१०६८-१०७६ तक) पराजित लक्ष्य नृपति के मंत्री थे। इनके उपदेश से लक्ष्य नृपति के बालिग्राम मे शान्तिनाथ भगवान् का मन्दिर बनवाया। यह शक संवत् ९९० के गिरिपुर के १३६वें शिलालेख से ज्ञात होता है।

"११वी शताब्दी के आचार्य प्रभाचन्द ने चालुक्य विक्रम राज्य सवत् ४८ (११२४ ई०) में अग्रहार ग्राम सेडिम्ब के निवासी नारायण के भक्त चौसठ कलाओ के जानकार, ज्वालामालिनी देवी के भक्त तथा अपने अभिचार होम के बल से कांचीपुर के फाटकों को तोड़ने वाले तीन सौ महाजनों ने सेडिम मे मन्दिर बनवा कर भगवान् शान्तिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी और मन्दिर पर स्वर्ण कलशारोहण किया था। मन्दिर की मरम्मत और नैमित्तिक पूजा के लिए २४ मत्तर प्रमाण भूमि, एक बगीचा और एक कोल्हू का दान दिया था।"[२२]

"१३-१४वी शती में त्रिकूट रत्नत्रय शान्तिनाथ जिनालय के लिए होयसल नरेश नरसिंह ने माघनन्दि आचार्य को कल्लनगेरे नाम का गाँव दान मे दे दिया था। दौर समुद्र के जैन नागरिकों ने भी शांतिनाथ की भेंट के लिए भूमि और द्रव्य प्रदान किया था।"[२३]

"सन् १२०७ में बान्धव नगर मे कदम्ब वंश के किंग ब्राह्मण के राज्य में शान्तिनाथ वसदि की स्थापना हुई।"[२४]

शक संवत् ११११ में महादेव दण्डनायक ने 'एरग' जिनालय बनवा कर उसमे भगवान् शांतिनाथ की प्रतिष्ठा कर १३वी शती के सकलचन्द भट्टारक के पाद प्रक्षालन पूर्वक हिडगण तालाब के नीचे दण्ड से नाप कर ३ मत्तल-चावल की भूमि, दो कोल्हूं और एक दुकान दान की।"[२५]

अतः जैन कला के अन्तर्गत शिलालेख, ताम्रपत्र, लेखक, प्रशस्तियों मूर्तिलेखो आदि उपलब्ध साधन सामग्री से भगवान् शांतिनाथ की महत्ता स्पष्ट होती है। स्थापत्य की दृष्टि से भगवान् शांतिनाथ के मन्दिर प्राप्त मूर्तियां तथा भग्नावशेष का जैन कला में एक विशिष्ट स्थान है।

सन्दर्भ-सूची

१. आदिपुराण—१६।१५२।
२. आर्यिका ज्ञानमती : ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर पृ० १०-१२।
३. भारत के दिगम्बर जैनतीर्थ, भाग १, पृ० ७४।
४. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग १ (चित्र फलक पृ० ६) तथा ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर, पृ० १४।
५. बलभद्र जैन : भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग १, पृ० २९।
६. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ पृ० ७४।
७. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ पृ० ८४।
८. बिमलकुमार जैन सोरया : कला तीर्थमदनपुर पृ० १४
९. कला तीर्थमदनपुर पृ० १६।
१०. कला तीर्थमदनपुर पृ० १७।
११. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ पृ० १२८ ९
१२. डा० लक्ष्मीनारायण साहू : उड़ीसा में जैन धर्म, चित्रफलक १।
१३. श्री नीरज जैन : खजुरहो के जैन मन्दिर, पृ० ३८-४०।
१४. खजुराहो के जैन मन्दिर चित्र २।
१५. खजुराहो का जैन मन्दिर, पृ० ४३-४४।
१६. जैन कला एव स्थापत्य खण्ड २, पृ० ५७९।
१७. वही पृ० ३०४।
१८. जैन कला एवं स्थापत्य खण्ड २ पृ० ३४५-३४६।
१९. जैन कला एवं स्थापत्य भाग २ पृ० ३४४।
२०. वही पृ० ३७७।
२१. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृ० २२७-२२८।
२२. परमानन्द शास्त्री : जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग २, पृ० ३७६।
२३. जैन लेख संग्रह भाग ४ पृ० २५८।
२४. मिडियावल जैनिज्म पृ० २०९।
२५. जैन लेख संग्रह, भाग ३, पृ० २४६।

विष-मिश्रित लड्डू[1]

(अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर-कृति)

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

—"अनुत्तर-योगी में भूलें रहीं हैं उन्हें उसी समय ठीक किया जा सकता था, जब दो सांस्कृतिक विद्वानों के साथ बैठकर पूरे ग्रन्थ का एक बार वाचन किया होता। वस्तुतः यह उसके प्रकाशन की कमी है। अब भी परिमार्जन (शुद्धि-पत्र) लगा देना उचित होगा। मैंने अपना मत कई वर्ष पूर्व लिखा था—आपाततः। इतनी गहराई से नहीं देखा था।" (एक सम्मति)

जिन धर्म उन पवित्र उच्च आत्माओं की परम्परा से प्रवाहित धर्म है, जिन्हें तीर्थंकर नाम से जाना जाता है। जैसे सभी तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में हुए वैसे ही उनके द्वारा प्रवाहित धर्म भी क्षत्रिय गुणधारकों द्वारा ही पालन किए जाने योग्य रहा। जो क्षत्रिय अर्थात् धर्म पर दृढ़ रहने वाला हो वही इस धर्म के धारण का अधिकारी हो सकता है—चाहे वह किसी भी वर्ण का क्यो न हो? समय या परिस्थितियों से समझौता करने वाला कोई भी व्यक्ति इस धर्म का अधिकारी नही हो सकता। क्योकि समझौते मे कुछ लिया, कुछ दिया जाता है, कुछ झुकना और कुछ झुकाना होता है और इससे मूल मे बदलाव आता है। जबकि धर्म, सिद्धान्त और वस्तु के स्वभाव में कभी भी बदलाव नही आता। धर्म धारण मे किसी अन्य विभाव की अपेक्षा भी नही की जाती। वहां तो "जो घर फूंकं आपनो, चलं हमारे साथ" वाली नीति होती है। इसी नीति पर चलने के कारण आज तक धर्म का पुरातन—अनादि दिगम्बर स्वरूप स्थिर रह सका है। आज वे ही व्रत हैं, वे ही दशधर्म और वे ही गुप्ति, समितियां आदि हैं। श्रावक के बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाएँ भी वे ही हैं, जो पहिले रहे। दिगम्बर-मुद्रा, चर्या और मोक्ष के उपाय भी वे ही हैं, यदि कभी इनके स्वरूपों का दूसरे स्वरूपों से समझौता हुआ होता तो दिगम्बर, श्वेताम्बर जैसे दो भेद भी न हुए होते अपितु धर्म का समझौते से फलित कोई नवीन (एक) अन्य रूप ही होता।

इतिहास इसका साक्षी है कि अपनी कमजोरियों के कारण जब कभी भी किसी ने धर्म के रूप को समय के प्रवाह के अनुरूप बदलना चाहा और बदला तभी एक नए पंथ का जन्म हो गया। दिगम्बर मान्यतानुसार—जो सबसे पहिले एक—दिगम्बर थे १२ वर्ष के दुष्काल के प्रभाव से (कुछ के समयानुकूल बदल जाने के कारण) वे दो बन गए और धीरे धीरे अनेको भेदों में भी फूट पड़े। जैसे—दिगम्बरों में तेरहपथ, बीसपथ तारनपंथ जैसे पंथ और श्वेताम्बरो मे मूर्तिपूजक, स्थानकवासी तेरह और बीस पंथ आदि।

इन प्रसगों से हमें यही सीखना चाहिए कि समय के अनुसार धर्म मे परिवर्तन कर लेना ऐसी प्रक्रिया है जो भेदों में बांट देती है और धर्म के अनुसार समय मे परिवर्तन लाने की प्रक्रिया अभेद को बल देती है। पर, आज लोगों का एक नारा बन गया है कि 'धर्म को समय के अनुसार बदल लेना चाहिए।' यह नारा धर्म के स्वरूप का घातक ही है। उदाहरणार्थ—अण्डा आमिष है और आज के समय मे इसे वेजीटेरियन में शुमार करने का प्रचलन-सा चल पड़ा है। यदि समय के अनुसार इसे वेजीटेरियन मान लिया जाय तो प्रसग मे मास त्याग नामक व्रत में अण्डा ग्राह्य हो जाएगा और खान-पान के जैन नियमों मे अव्यवस्था हो जायगी। फलतः श्रावक की

१. पूज्य १०५ आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माता जी।

क्रियाओं को बदलाव देना पड़ेगा। इसी प्रकार वर्तमान लोक में दिगम्बर वेष को अव्यवहार्य के परिप्रेक्ष्य मे देखा जाने लगा है। यदि समय के अनुसार दिगम्बरत्व को भी तिरस्कृत कर दिया जाय तो **साम्बरत्व** शेष रहने से दिगम्बरत्व का अस्तित्व ही नि शेष हो जायगा।

आश्चर्य है कि अब दिगम्बर जैनो मे भी ऐसे लोग पैदा हो रहे हैं जो त्याग, इन्द्रिय-सयम आदि की उपेक्षा कर समय की माग और एकता के नाम पर विपरीत प्रचार करने पर तुले हैं। जब हमारे साथी ने एक से पूछा कि आपने किसी श्रावक को रात्रि-भोजी प्रचारित कर अपमानित किया है। तब बोले—आज समय की माग है और ऐसा चलन चल पड़ा है—प्राय: सभी रात्रि-भाजन करने के अभ्यासी बन रहे हैं। ऐसे ही एक सज्जन का कहना है कि यह अर्थ युग है, इसमें सफद को स्याह और स्याह को सफेद किए बिना काम नही चलता। फलत: अकिंचन को चक्रवर्ती और चक्रवर्ती को अकिंचन बना कर —जैसे भी हो कार्य साधना चाहिए—**'आपत्काले मर्यादा नास्ति।'** उक्त प्रसग सुनकर हमने सिर धुना—**'अर्थी दोषं न पश्यति।'**

'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर पुस्तक' ऐसे ही लोगो की घुसपैठ का परिणाम है। इसमें समय की माग के बहाने दो सप्रदायो मे एकता कराने के नाम पर कल्पनाओ की ललित उड़ानो में दिगम्बर सिद्धान्तों को दूषित किया गया है। उक्त पुस्तक की विसगतियो को हमने पाठको के समक्ष भली भाँति रखा था और प्रबुद्ध वर्ग ने हमे समर्थन भी दिया। फिर भी कई पत्रकार विज्ञापन चार्ज के लोभ मे इस हलाहल के प्रचार में सहयोगी हो रहे है और इसका प्रचार ऐसे किया जा रहा है—'उपन्यास में शास्त्र और शास्त्र मे उपन्यास।' यह भी कहा जा रहा है कि इसे दिगम्बर मुनियो ने देखा है इसे उनका समर्थन प्राप्त है। जब कि आज तक ऐसे कोई एक दिगम्बर मुनि भी दिगम्बर वेष और चर्या को साम्बरत्व रूप मे परिवर्तित करने का साहस न जुटा सके है—सभी जहाँ के तहाँ हैं। क्या प्रशंसक चाहते हैं कि इस पुस्तक के अनुसार महावीर के परिप्रेक्ष्य में दि० मुनि नवधाभक्ति को तिरस्कृत कर घर-घर याचना करते फिरें? आदि।

पुस्तक में सिद्धान्त की जो बातें हैं वे दिगम्बरत्व का लोप करने वाली है और उन्हे अभी से **'शास्त्र'** के नाम से प्रचारित कर कहा जा रहा है—"अनुत्तर-योगी" का प्रकाशन सुचिन्तित है, दूरदर्शितापूर्ण है, इसमे ऐसा कुछ नहीं है जो आपत्तिजनक हो।' एक कहते हैं—'यह धर्म-ग्रन्थ नही है' तो दूसरे इसे शास्त्र की गहनता से शास्त्र की आसन्दी पर पढ़ा गया बतला कर मुनियो द्वारा देखा हुआ भी बतलाते हैं अर्थात्—जिस अनर्थ के कालान्तर मे उत्पन्न होने की आशका हमने प्रकट की थी वह अनर्थ आज ही अकुरित होने लगा है। विज्ञापन मे इसे धुरधर जैन विद्वानो द्वारा प्रशसित भी बतलाया जा रहा है—चाहे वे विद्वान सिद्धान्त के विषय मे इसके पोषण से साफ मुकर रहे हो।

विज्ञापन में जिन विद्वानो के अभिमत दिए जा रहे है उनमें से एक का स्पष्टीकरण हमे दिनांक ८-५-८४ में मिला है वे लिखते हैं—"अनुत्तर-योगी में भूलें रहीं हैं उन्हें उसी समय ठीक किया जा सकता था, जब दो सास्कृतिक विद्वानों के साथ बैठकर पूरे ग्रन्थ का एक बार वाचन किया होता। वस्तुतः यह उसके प्रकाशन की कमी है। अब भी परिमार्जन (शुद्धि-पत्र) लगा देना उचित होगा। मैंने अपना मत कई वर्ष पूर्व लिखा था—आपाततः। इतनी गहराई से नहीं देखा था।"

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग अज्ञानता वश धर्म मे अप-टू-डेट नवीनता लाने के बहाने या किन्ही अन्य (नमालूम) कारणो से दिगम्बर-मुनि-प्रतिष्ठा और पूर्वाचार्यों की धरोहर जिनवाणी के क्षीण करने मे कारण बन रहे है। और श्री पाटौदी जी की सरलता का भी दुरुपयोग कर रहे हैं।

गत दिनो हमने एक लेख ऐसा भी पढ़ा जिसमें बाहुबली-कुम्भोज मे धर्म-रक्षार्थ किए गए मुनि श्री के अनशन को राजनीति-प्रेरित आदि कुरूपो मे प्रचारित किया गया। जैसे—"राजनैतिक भूख हड़ताल? समाज के वरिष्ठ लोगों को बीच मे डालकर प्रधानमत्री से अनशन पूर्ति करवाने का दिखावा। अपने आप को विज्ञापित करने का सस्ता तरीका? राजनैतिक लोगो की खुशामद!' आदि। इसी में 'एलाचार्य' पद का उपहास भी किया गया था और इस

सब में निमित्त बना (?) ऐसे ही लोगों मे से एक के द्वारा किया गया 'अयाचित अनधिकृत बुद्धिदान का प्रयत्न' (देखें—तेरापंथ भारती १५ अप्रैल १९८४)।

हम उन लोगों को क्या कहें जिनकी बुद्धि में प्राचीन शास्त्रो को पढने वाले हम, हमारे गुरु, विद्वज्जन सभी आगमान्ध, माथापच्ची करने वाले और शऊर-हीन हों ? हां, इस बात से हम असहमत नही हैं कि 'इन्दौर की समाज सूझ-बूझ से खाली नहीं', उसमे आज भी सरसठ हुकुमचन्द जी की भांति धर्म-रक्षक विद्यमान हैं। फलतः वहां से उक्त उपन्यास को आगम-वाह्य बतलाने के साहस-पूर्ण सदेश भी हमे आए हैं।

'उक्त पुस्तक को पूज्य एलाचार्य जी ने देखा है' ऐसा कहना भी भ्रमपूर्ण है। यत: श्री एलाचार्य जी हमारे श्रद्धास्पद परम दिगम्बर गुरु हैं वे दिगम्बरत्व के अनुरूप 'सत्वेषु मैत्री' के भाव मे सम-सामाजिक व्यवस्था, एकत्व, मैत्री आदि को तो चाहेंगे पर दिगम्बर देव-शास्त्र-गुरुओ और सिद्धान्तो की बलि देकर नही। यह हो सकता है कि उन्होने धर्म-प्रचारार्थ लिखाने की इच्छा प्रकट की हो और वे कभी लेखनी से भी प्रभावित रहे हो।

हमने अभी पूज्य एलाचार्य जी की वह भेंट-वार्ता भी पढ़ी है जो श्री दशरथ पोरेकर तथा उत्तम कांवले के साथ हुई है और मराठी दैनिक समाचार 'सकाल' के २५ मार्च ८४ के रविवारीय अंक मे 'प्रश्न अजून सपलेला नाही' शीर्षक में छपी है। इसमे विपरीत मनोवृत्ति वालो को लक्ष्य कर मुनि श्री ने कहा है—**"कुछ काम न करके दूसरों का बल पूर्वक हड़पने की उनकी वृत्ति है। चीटियो के द्वारा बनाई गई बाँबी में जैसे साँप घुस जाता है, वैसे ही धन्धे वे लोग सर्वत्र करते रहते हैं।"** ······**'श्वेताम्बरों को किसी मन्दिर में मूर्ति की स्थापना के लिए स्थान देना धोखे में पड़ना है।'** ······ **स्वयं कृष्ण भी आ जावें तो वे श्वेताम्बरों को नहीं समझा सकते।' आदि।**

क्या, उनकी उक्त धारणा स्पष्ट नही करती कि सिद्धातो के घोल-मोल मे पूज्य श्री की अनुमति नही ? प्रशसक पूज्य मुनि श्री के अतस्तल की पहिचानें—मुनि अपवाद से विराम लें। उक्त पुस्तक के आगम-बाह्य होने के सबध मे अन्य दिगम्बर मुनियों, त्यागियों, विद्वानों और प्रबुद्ध पाठकों के नवीन आए अभिमत भी इस अक में 'ताकि सनद रहे और काम आए' शीर्षक मे देखें।

उक्त प्रसंग पर हमने कई भारतवर्षीय दिगम्बर जैन सस्थाओं का ध्यान भी खीचा है और उनसे प्रार्थना की है कि वे इस विषय को पर-मुखापेक्षीपना छोड़कर भावी-पीढ़ी पर कुप्रभाव पडने के प्रसग मे विचारें और करणीय करें। अन्यथा—आयोजको ने इसे शास्त्र घोषित कर दिया है और भावी-पीढ़ी इसे पढकर महावीर के चरित्र व सिद्धान्तो मे श्वेताम्बरी-आस्था करेगी और दिगम्बरत्व का घात अपने द्वारा ही होगा तथा "समय के अनुसार धर्म के रूप को बदलने जैसे ना समझी के परिणाम आगामी पीढियो के पछतावे-रूप मे फलीभूत होंगे।

ग्रन्थ में :—

यद्यपि हममे भाषा चातुर्य नही है फिर भी अपनी भाषा मे एक बात और स्पष्ट कर दें—कि हमे सूचना मिली है किसी एक पक्ष ने इच्छा प्रकट की है कि—'श्री-विद्यानन्द जी महाराज का दिया गया निर्णय प्रकाशको को मान्य होगा एव तदनुसार वे सशोधन की सोच सकते हैं तथा बाध्य किए जा सकते हैं'—गोया **वह पक्ष गलती का एहसास कर रहा है** [हर्ष]। पर ऐसे पक्ष को अब भी स्पष्ट सोचना चाहिए कि ग्रन्थ के अशो मे :—

१. क्या मुनिश्री ने भ० महावीर के कानो मे सलाइयां ठुकवाने का समर्थन किया।
२. महावीर मुनि को नवधा भक्ति के बिना आहार ग्रहण को क्या उन्होने सराहा ?
३. क्या उन्होंने केवली अवस्था मे महावीर पर तेजोलेश्या जैसे उपसर्ग का समर्थन किया था।
४. उन्होंने किसी स्त्री को अरहंत बनने को स्वीकारा ?

यदि ये सब नही, तो क्यों उनके आदेश की प्रतीक्षा है ? ये तो सिद्धान्त की बाते हैं। इनका निराकरण स्वतः ही कर देना चाहिए। जो सिद्धान्त के साधारण जानकार के वश की भी बात है जब कि प्रबुद्ध भी इसके विरोध में सम्मति दे रहे हैं।

उक्त भूलें ऐसे लोगों से हुई प्रतीत होती हैं जो भावावेश वश सुधार में अपना दृष्टिकोण लादने या अन्य (न मालूम) किन्हीं सिद्धियों में मुनिश्री की आड़ लेकर, न चाहते हुए भी उन्हें बदनाम करने के साधन जुटा रहे हैं। श्री ऐलाचार्यजी या अन्य कोई दि० मुनि ऐसा सिद्धांत घातक आदेश न दे सकेंगे। और न ही अनुत्तरयोगी को शास्त्र बतलायेंगे जैसा कि दु:साहस किया जा रहा है। हम समझते हैं कि मुनि श्री ने न तो पूरी मूल पाण्डुलिपि पढ़ी है, न प्रूफ पढ़ा है और ना ही उन्होंने प्रेस को छापने का फायनल आदेश दिया होगा।

दिगम्बरत्व के प्रति समर्पित रहने के मुनिश्री के पर्याप्त प्रसंग है। पाठकों ने इस लेख में भी कुछ प्रसग पढ़े। हम बता दें कि मुनि श्री विश्व धर्म के प्रेरणा स्रोत हैं, उनके द्वारा धर्म का प्रचार हो रहा है। वे सद्भावनावश अनेक रचनाओं के प्रेरक रहे हैं : उनका उपन्यास लिखाने में प्रयोजन यही रहा होगा कि भ० महावीर एव दिगम्बर सिद्धान्तों से लोग परिचित हो। पर, उनकी सदभावनाओं का दुरुपयोग किया गया और अब उनकी दुहाई भी देने का दु:साहस किया जाने लगा है कि वे कहें तो संशोधन कर सकते हैं—आदि। यह हमें इष्ट नहीं है। हम चाहते हैं—पू० मुनिश्री को इस प्रसंग में लाने की कोशिश न की जाय। ग्रंथ के सम्बन्ध में मुनि श्री की मोहर होने का भ्रम ही आज तक प्रतिष्ठित व नेतागण को मौन के लिए प्रेरित कर रहा है। कोई तो वायदा करके भी इस पुस्तक रूपी विष के विरोध मे मोटी सूचनाएँ तक छापने से भी भयभीत है। कुछ का तो प्रस्ताव है कि पुस्तक के विरोध करने में हम पर्याप्त धन देने को तैयार हैं पर हमारा नाम न लिया जाय; आदि। ये सब भय भावी पतन के ही आसार हैं जो हमे मजूर नही। अत: स्पष्टीकरण होना चाहिए।

हम विश्वास दिला दें कि हम पुस्तक संयोजकों के अपने हैं। 'वीर सेवा मन्दिर' और 'अनेकान्त' दि० सिद्धान्तों और दि० गुरुओ की मर्यादा की सुरक्षा हर कीमत पर चाहते हैं—इसे अन्यथा न लें। और बाहुबली कुम्भोज प्रसग से शिक्षा लें। □□

अनुत्तर-योगी में कुछ विसंगतियां

१. "सर्वार्थसिद्धि जैसी आत्मोन्नति की ऊर्ध्व श्रेणियों पर आरूढ़ होकर भी कभी-कभी आत्माएं नारकी और तिर्यंच योनियों तक में आ पड़ती है।"
(भाग २ पृ० ५१)

२. "उस हवेली के द्वार पर कोई द्वारापेक्षण करता नहीं खड़ा है। आतिथ्य भाव से शून्य है वह भवन। ठीक उसी के सन्मुख खड़े होकर श्रमण ने पाणिपात्र पसार दिया। गवाक्ष पर बैठे नवीन श्रेष्ठि ने लक्ष्मी के मद से उद्दण्ड ग्रीवा उठाकर अपनी दासी को आदेश दिया :—
किंचना, इस भिक्षुक को भिक्षा देकर तुरन्त विदा कर दें। दासी भीतर जाकर काष्ठ के भाजन मे कुलमाष धान्य ले आई और श्रमण (महावीर) के फैले करपात्र में उसे अवज्ञा के भाव से डाल दिया।"
(भाग २ पृष्ठ १५२)

३. "ना कुछ समय में ही ग्वाला कही से काँस की एक सलाई तोड़ लाया। उसके दो टुकड़े किये। फिर निपट निर्दय भाव से उसने श्रमण के दोनों कानों मे वे सलाइयां बेहिचक खोंस दीं। तदुपरान्त पत्थर उठाकर उन्हें दोनों ओर से ठोंकने लगा।"
(भाग २ पृ० २१८)

४. "चम्पा पहुंच कर अपने पांचों शिष्यों (साल, महासाल, गागली, पिठर और स्त्री यशोमती) सहित श्री गौतम समवशरण मे यों आते दिखाई पड़े जैसे वे पांच सूर्यों के बीच खिले एक सहस्रार कमल की तरह चल रहे हैं। पांचो शिष्यो ने गुरु को प्रणाम कर, आदेश चाहा। गौतम उन्हें श्री मण्डप में प्रभु के समक्ष लिवा ले गये फिर आदेश दिया कि—आयुष्यमान मुमुक्षुओ, श्री भगवान का वन्दन करो। वे पांचों गुरु आज्ञा पालन को उद्यत हुए कि हठात् शास्ता महावीर की वर्जना सुनाई पड़ी—केवली की आशातना न करो, गौतम! ये पाचों केवलज्ञानी अर्हन्त हो गए हैं। अर्हन्त, अर्हन्त का वन्दन नहीं करते।"
(भाग ४ पृ० २८४-२८५)

'ताकि सनद रहे और काम आए'

इन्दौर से प्रकाशित ग्रन्थ 'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' दिगम्बर आगम के विरुद्ध है। इस पर बहुत कुछ लिखा जा रहा है और प्रबुद्ध वर्ग इस ग्रन्थ को दिगम्बर आम्नाय विरुद्ध ठहरा रहा है। गतांक में कुछ सम्मतियां प्रकाशित की गई थीं। सम्मतियों की दूसरी किश्त प्रस्तुत है—कई प्रबुद्धों की सम्मतियां हमारे अनुकूल होने पर भी उनके न छपाने के आग्रहवश हम नहीं दे पा रहे हैं।

—सम्पादक

पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज :

सेठ श्री उम्मेदमल पाण्डया व ब्र० पं० धर्मचन्द्र जी शास्त्री किशनगढ़ पंच कल्याण प्रतिष्ठा महोत्सव पर महाराज श्री के साथ दस दिन तक रहे। 'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' जो इन्दौर से प्रकाशित हुआ है, के बारे में पू० आचार्य श्री धर्म सागर जी महाराज व आचार्य कल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज से पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित लेख पर चर्चा हुई। आचार्य महाराज ने इस सम्बन्ध में कहा कि—"तीर्थंकरों का जीवन चरित्र एक यथार्थ है और जो यथार्थ है उस पर कभी उपन्यास नही लिखा जा सकता उपन्यास में कोरी कल्पना ही होती है। श्री पद्मचन्द्र जी शास्त्री ने इस विषय को उठा कर दिगम्बर जैन सिद्धान्त की रक्षा की है। और मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि यह उपन्यास की किताबें हमारी ही दिगम्बर जैन संस्था ने छपवाई हैं। इस तरह की किताबों से हमारी परम्पराएँ विकृत होती हैं। इस तरह की किताबें छापना उचित नहीं है।"

श्री १०८ पूज्य आचार्य शान्तिसागर जी महाराज

हमने अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' इन्दौर से प्रकाशित ग्रन्थ देखा, उसमें बहुत सी बातें दिगम्बर जैन सिद्धान्तों के विपरीत पाई जो आगामी पीढ़ी को विपरीत-मार्ग दिखाएंगी और दिगम्बर मान्यताओं का लोप करेंगी। अतः—इस ग्रन्थ को दिगम्बर आम्नाय-अनुसार नहीं मानना चाहिए और इसका प्रतिवाद होना चाहिए। ऐसा न हो कि कालान्तर मे विपरीत-मत की पुष्टि हो और यह ग्रन्थ प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जाय। इसकी भाषा उपन्यास के अनुरूप ठीक है परन्तु सिद्धान्तों को बिल्कुल विपरीत कर दिया गया है—जब कि सिद्धान्तों की पुष्टि होनी चाहिए थी।

हमारा आशीर्वाद है कि यह संकट शीघ्र दूर होगा और दिगम्बर मार्ग की रक्षा होगी।

आचार्यकल्प श्री १०८ मुनिश्री ज्ञानभूषणजी महाराज

'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर-उपन्यास दिगम्बर आम्नाय पर प्रत्यक्षरूप से कुठाराघात करने वाला है। इसके अन्तर्गत महावीर के जीवन और उनके द्वारा प्रतिपादित जिन सिद्धान्तों को लिखा है वह दिगम्बर आम्नाय पर आवरण डालकर मिथ्यामार्ग को पुष्ट करने वाले कलंक हैं। इस प्रकार के साहित्य के प्रचार व प्रसार पर रोक लगनी चाहिए।

आचार्यकल्प श्री १०८ मुनिश्री दर्शनसागर जी महाराज :

अनुत्तर-योगी जो इन्दौर से प्रकाशित हुआ है व आप का अनेकान्त में लेख व विद्वज्जनों की टिप्पणियां पढ़ीं। आपने इसकी विसंगतियों की तरफ समाज का ध्यान आकर्षित कर बहुत उपयोगी कार्य किया। इस पुस्तक के कुछ प्रसग दिगम्बर आम्नाय के विरुद्ध हैं। कोई शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर नहीं है।

आर्यिकारत्न १०५ श्री ज्ञानमती माता जी :

'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' उपन्यास की प्रशंसा मैंने बहुत बार सुनी थी किन्तु अपने लेखन कार्य की व्यस्तता अथवा मेरे सामने उस ग्रन्थ का न आना ही कारण रहा कि जिससे मैंने उसे आज तक पढ़ा ही नहीं।

आज मैंने आपके मुख से सुना और अनेकान्त पत्रिका में आपका लेख पढ़ा कि इसमें ऐसे अनेक अंश हैं जो दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के विरुद्ध स्त्री-मुक्ति आदि को कह रहे हैं। अंतरंग में दुःख हुआ। आप बहुश्रुत विद्वान हैं साथ ही एक अच्छे निर्भीक वक्ता और साहसी लेखक हैं। दिगम्बर-आम्नाय के सरक्षण की भावना आपके अन्दर भरी हुई है। आप जैसे विद्वान् आज विरले ही हैं। प्रत्युत जैन-साहित्य मे अन्य सिद्धान्तों का मिश्रण कर उसे **विषमिश्रित-लड्डू** बना रहे हैं। ऐसे समय में आप जैसे विद्वान् चिरायु होकर चिरकाल तक जैन-शासन के मूल सिद्धान्त की रक्षा करने में सभी धर्म प्रेमियों को जागरूक करते रहे आपके लिए यही मेरा शुभाशीर्वाद है।

श्री पं० शिखरचन्द्र जैन प्रतिष्ठाचार्य, भिण्ड :

'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' नाम की पुस्तक मे दिगम्बर जैन आगम के विपरीत जो लिखा गया है वह आने वाली दिगम्बर पीढ़ी के लिए महान् सकट पैदा करने वाले विषय हैं। इन्हीं विषयो का आपने बहुत बड़े साहस के साथ खंडन कर दिगम्बर परम्पराओ का सरक्षण किया है। दिगम्बरत्व मे आस्था रखने वाले सभी दिगम्बर विद्वान् एवं त्यागीवर्ग को इन आर्षमार्ग से विपरीत लेखो का बहिष्कार करके दिगम्बरत्व का सरक्षण करना चाहिए। मैं पं० श्री पद्मचन्द्र शास्त्री जी के लेखो की हृदय से सराहना करता हू और पंडित जी जैसे निर्भीक विद्वान का साधुवाद करता हू।

श्री मल्लिनाथ जैन शास्त्री (संपादक जैन गजट) मद्रास

अनुत्तर-योगी के विषय में आपके विचार बिल्कुल सही हैं। आपने दिगम्बर जैन धर्म की रक्षा के लिए जो कदम उठाया है, वह हर तरह से प्रशंसनीय है। यह अफसोस की बात है कि दिगम्बरी लोग ही दिगम्बर जैन धर्म को सर्वनाश की ओर ले जा रहे हैं। जो रक्षणीय हैं वे ही भक्षणीय हो जाँय तो धर्म कैसे टिक सकता है?

श्री ईश्वरचन्द्र (रिटायर्ड I.A.S.), इन्दौर

अनुत्तर-योगी पर आपके विचारों में सहमति की नही, सिद्धान्त रक्षण की बात है। विचारणीय बात है कि इस प्रकार भ्रम फैलाने वाले तथ्य किस उद्देश्य से दिए जा रहे हैं? दिगम्बर जैन समिति तथा प्रकाशकों के साथ-साथ विद्वानों एवं समाज के कर्णधारो से इन मान्यताओं के बारे मे विरुद्ध-अंशों को परिष्कार करवा कर छपवाना चाहिए। आप जैन-सिद्धान्तो के प्रति जितनी जागरूकता का परिचय दे रहे है वह प्रशसनीय है।

डॉ० भागचन्द भागेन्दु, दमोह :

अनुत्तर-योगी के सम्बन्ध में आपने गहन-गम्भीर अध्ययन अनुशीलन परक तथ्य उजागर किए हैं।

श्री ताराचन्द्र प्रेमी (महामंत्री भा० दि० जैन संघ) :

अनुत्तर-योगी का प्रकाशन दिगम्बर समाज के लिए कोई अच्छी बात नहीं है।

श्री पं० मुन्नालाल जैन 'प्रभाकर' :

'स्व० मुख्तार साहब' ने वीर सेवा मन्दिर की स्थापना कर जैन साहित्य का प्रचार व प्रसार किया उसी सस्था से आज जैन साहित्य की रक्षा का प्रयत्न किया जाना संस्था की सफलता का शुभचिह्न है। 'अनुत्तर-योगी' पुस्तक—'विषकुम्भ पयोमुखं वत्' है—हेय है। इसका प्रचार रोकने मे ही हित है।

डा० राजाराम जैन आरा :

'अनुत्तरयोगी' भले ही साहित्यिक शैली एव नवीन विधाओं की दृष्टि से प्रशंसनीय हो किन्तु जब उसे आर्ष परम्परा एवं दि० जैन सिद्धान्त की मूल परम्परा की कसौटी पर कसते हैं तो वह दिगम्बरत्व के भयानक भविष्य की भूमिका ही प्रतीत होता है। शाब्दिक कलाबाजियों से मंत्रमुग्ध पाठकों को सही दिशा दान और दिगम्बरत्व की सुरक्षा नितान्त आवश्यक है। दि० जैन समाज के द्रव्य से दिगम्बर जैन सिद्धान्त पर ही कुठाराघात हो इससे बढ़कर दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। दि० समाज को इससे सचेत होना चाहिए।

□□

दिगम्बर-परम्परा में

स्त्री-मुक्ति-निषेध :—

(क) "मोक्षहेतुर्ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति।" स्त्रीणां मायाबाहुल्यमस्ति सचेलसंयमत्वाच्च न स्त्रीणा संयमः मोक्षहेतुः। बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहवत्वाच्च न स्त्रियो मोक्षहेतुसंयमवत्यः। नास्ति स्त्रीणा मोक्ष. उत्कृष्टध्यानविकलत्वात् ॥"

—प्रमेयकमल मार्तण्ड २/३२८-३३४

(ख) 'कर्मभूद्रव्यनारीणा नाद्य सहननत्रयम्।
वस्त्रादानाच्चरित्रं च तासा मुक्तिकथावृथा ॥"

—चा० सार २।८६

—कर्मभूमिगत द्रव्य स्त्रियो के प्रथम तीन सहनन नही होते। और वे सवस्त्र भी होती है? अत. स्त्रियों को मुक्ति प्राप्ति की बात नही बनती।

(ग) जदि दसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि सजुत्ता।
घोर चरदि य चरिय इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिया ॥

—प्र० सा०। प्रक्षे०।

(घ) 'बहुरि स्त्री को मोक्ष कहै सो जाकरि सप्तम नरक गमन योग्य पाप न होय सकै, ताकरि मोक्ष का कारण शुद्धभाव कैसे होय? जातै जाके भाव दृढ़ होय, सो ही उत्कृष्ट पाप वा धर्म उपजाय सकै है। बहुरि स्त्री के निशंक एकान्तविषैं ध्यान धरना और सर्व परिग्रहादि का त्याग करना संभवै नाही।'

—मो० मा० प्रकाश पृ० २१४

नवधा भक्ति का विधान :—

(क) 'जो नवकोटि अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध हो, ब्यालीस दोषों से रहित हो, विधि से अर्थात् नवधाभक्ति, दाता के सात गुण सहित क्रिया से दिया गया हो, ऐसा भोजन साधु गृहण करे।'

मूलाचार गा० ४८२-४८३

(ख) 'बहुरि काहू का आहार देने का परिणाम न था, यातै वाका घर मे जाय याचना करी। तहा वाकै सकुचता भया वा न दिए लोकनिंद्य होने का भय भया तातै वाको आहार दिया। सो वा का अतरग प्राण-पीडातै हिंसा का सद्भाव आया।'

'बहुरि अपने कार्य के अर्थि याचनारूप वचन है सो पापरूप है। सो यहाँ असत्य वचन भी भया। बहुरि वाकै देने की इच्छा न थी, यातै याच्या, तब वानै अपनी इच्छा तै दिया नाही—सकुचिकरि दिया। तातै अदत्त ग्रहण भी भया।'

—मो० मा० प्र० पृ० २२८

केवली उपसर्ग निषेध :

(क) जोयण सदमज्जाद सुभिक्खदा चउदिसासु णियराणा।
णहगमणाणमहिंसा भोयण उवसग्गपरिहीणा ॥'

—ति० प० ४।८६६

—केवली के दश अतिशयों मे अदया, भोजन और उपसर्ग इन तीनो का न होना भी सम्मिलित है—केवली को उपसर्ग नही होता।

(ख) "अर कहै, काहू नै तेजोलेश्या छोरी ताकरि वर्धमान स्वामी कै पेचिस का रोग भया, सो केवली अतिशय न भया तो इन्द्रादि कर पूज्यपना कैसे शोभै?"

मो० मा० प्र० पृ० २२१

□□

कारवां लुटता रहा, हम देखते खड़े रहे ?

पाठकों ने देखा—'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' कृति का विज्ञापन। 'उपन्यास में शास्त्र और शास्त्र में उपन्यास।' यह साधा गया एक ऐसा जहरीला तीर है, जिससे एक साथ जिनवाणी को दूषित करने और गुरु की प्रतिष्ठा लूटने जैसे दो निशाने साधे गए हैं। जहाँ इससे वीतरागी सिद्धान्तों को सरागी जामा पहिनाया गया है वहीं उपन्यास में शास्त्र जैसी प्रामाणिकता लाने के लिए दिगम्बर मुनि द्वारा समर्थित बताया गया है। और ये सब किया गया है—नवीनता लाने, नाम पाने और न जाने किन-किन योजनाओं की आड़ मे। इसे कहते हैं—'एक तीर से दो शिकार करना' और ये सब किया जा रहा है हमारे खड़े-खड़े देखते हुए और हम हैं कि कुछ कर नही पा रहे—'कारवाँ लुटता रहा, हम देखते खड़े रहे।'

ऐसा क्यों? इसलिए, कि लूट के समय सब अपना-अपना देखते हैं; आपा धापी मे दूसरों का ख्याल कोई नही करता। सो आज लूट हो रही है—उपाधियों की, नाम की और धन की। जिसे जिधर से जो मिलता है वह उसी के संग्रह में मग्न रहता है उसी को लूट लेता है बिना किसी की परवाह किए, मौन।

गत दिनों एक संस्था ने उपाधियों का वितरण किया। हमने संस्था को पत्र लिखा। हमें खुशी हुई कि देश में एक ऐसी संस्था का जन्म हुआ, जिसने खोई प्रतिष्ठा को जीवित करके धर्म-धुरन्धर और ज्ञान-गरिमा को सार्थक करने वाली कुछ उपाधियाँ देने का श्रीगणेश किया है। हमने जानना चाहा कि उन पदवियों के लिए कौन सी योग्यता और किस कोर्स की पूर्ति आवश्यक है?—कृपया लिखें। पर, काफी दिनों के बीतने पर भी उत्तर न मिला। बाद को मालूम हुआ कि वह लूट थी—यश के लिए, नाम के लिए और अर्थ के लिए सो, सबने अपना-अपना स्वार्थ साधा और कार्य आगे बढ़ गया।

ऐसे ही विपर्यास मेटने के लिए हमने भारतवर्षीय कई दिगम्बर संस्थाओं को पत्र लिखे—कि कुछ करेंगे। पर होना वा पत्र का उत्तर दर-किनार, यहां तक कि पत्र की पहुंच भी हमें नही मिली। हमने सिर धुना कुछ आल इण्डिया सभाओं की कार्य-व्यवस्था पर: जहां मालिक कई पर कार्यकर्ता कोई नहीं—सब मौन, एक-दूसरे का मुह देखने वाले हैं। ऐसे मे फिर वही दुहराना पड़ा—'कारवाँ लुटता रहा, हम देखते खड़े रहे।'

—संपादक 'अनेकान्त'

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,
नई दिल्ली-२

'बहुगुणविज्जाणिलओ असुत्त भासी तहवि मुत्तव्वो।
जह वरमणिजुत्तो वि हु विग्घयरो विसहरो लोए॥'

बहु-गुण और विद्या का स्थान (विद्वान्) यदि आगम के विरुद्ध कथन करने वाला हो तो उसे भी छोड़ देना चाहिए। जैसे उत्तम मणि के धारक सर्प को लोक में विघ्न-कारण जानकर छोड़ दिया जाता है।

संस्मरणों के आधार पर

अभी दो दिन पूर्व हिमालय—बद्रीधाम-यात्रा की चौदहवीं जयन्ती के अवसर पर प्रतिवर्ष की भांति जब हम 'हिमालय में दिगम्बर मुनि' पढ़ रहे थे—दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि के प्रति हमारी अन्तस्श्रद्धा वचनद्वार फूट पड़ी—धन्य हैं दिगम्बर साधु और उनकी चर्या।

अपनी ऐतिहासिक हिमालय-यात्रा के मध्य दि० मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज ने दिगंबरचर्या को निभाया और बद्रीनाथ की ज्ञान-संवर्धिनी-सभा में प्रवचन करते हुए कहा—

"लोग हमसे पूछते हैं—आप नग्न क्यों रहते हैं? संकटों को निमंत्रण क्यों देते हैं? आदि। हम उन्हें क्या उत्तर दें? हम तो वही कह देते हैं, जो हमारे पूर्वाचार्यों ने कहा है—

'अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःख सन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥'

उन्होंने कहा—दुख-सुख की महिमा क्या कहें? ये तो कर्म-जनित व्याधियां हैं, कोई उन्हें उत्पन्न या नष्ट नहीं कर सकता। इन्हें तो जीव अपने सम्यग्ज्ञान से स्वयं ही दूर कर सकता है।' उन्होने दृष्टान्त भी दिया—

'पुरागर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव,
स्वयं स्रष्टासृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुनरप्याट् जगती—
महो! केनाप्यास्मिन् विलसितमलंघ्य हतविधेः॥'
—आत्मानुशासन॥'

—अहो, जिन्हें पूर्वसमय मे गर्भकाल से ही इन्द्र भृत्यवत् अजलिबद्ध होकर सेवा करता था, स्वय जो कर्म-भूमि के स्रष्टा थे, जिनका पुत्र भरत चक्रवर्ती षट्खंडाधिपति था—वह पुरु (आदि) देव तीर्थंकर वृषभदेव षण्मासावधि क्षुधित होकर पृथ्वी पर विहार करते रहे। इस दुष्ट कर्मगति का उल्लंघन कर पाना किसी के लिए भी दुष्कर है।"— पृष्ठ ५४-५५

उक्त श्लोक मुनिश्री को अत्यन्त प्रिय है और वे प्रायः पढ़ा करते हैं। उक्त श्लोक से स्पष्ट है कि दिगम्बर मुनि (तीर्थंकर ऋषभदेव की भांति) विधि-विधान, नवधा भक्ति आदि के योग मिले बिना आहार नहीं लेते। मुनिश्री ने स्वयं हिमालय जैसे बीहड़ पर्वत की यात्रा प्रसंग में भी इस विधि का पूर्ण निर्वाह किया और आज भी सब दिगम्बर मुनि इसी विधि को अपनाए हुए हैं। इतना ही क्यों? साधारण संहननधारी मुनि श्री विद्यानन्द जी ने बर्फ के बीच रहते हुए शीत परीषह पर विजय पाई और हिमालय से नीचे उतरते समय जब रुद्रप्रयाग में उन्हें उष्ण की बाधा हुई—उनकी पेशाब में खून आने लगा तब भी उन्होंने पूर्ण धैर्य का परिचय दिया—न मुख से चीख निकाली और न ही किसी वैद्य से उपचार की कल्पना की। पर, आज कैसी विडम्बना है कि लोग उत्तम संहनन धारी दि० महावीर में उक्त बातों की कल्पना कर रहे हैं, नवधाभक्ति बिना उनके आहार लेने और कष्ट मे उनकी चीख निकलने तथा खरक वैद्य से उनके इलाज की पुष्टि कर रहे हैं और इस सब मे दि० मुनिश्री के समर्थन का नाम ले रहे हैं।

दिगम्बर वेष, दि०चर्या और दिगम्बरत्व के भाव में मुनि श्री के द्वारा, बद्रीनाथ मन्दिर के पीठासन से, और अन्य सभाओ के माध्यम से दिगम्बरत्व की जैसी प्रभावना हुई उसका प्रमाण वहाँ के जैनेतर सप्रदाय के शब्दों में भी जाना जा सकता है। जैसे—

'भारत पर जैन तीर्थंकरों व श्रमण दिगम्बर मुनियों की सदा कृपा रही है—वे सदा ही सन्मार्ग का उपदेश देते रहे हैं, आदि।' —श्री सत्यनारायण शास्त्री, बाबुलकर

हम निवेदन करें कि हमने वर्षों मुनिश्री के पादमूल में सीखा है।' दिगम्बरत्व और उक्त चर्या आदि के प्रति उनके समर्पण भाव को हमने उन पुरुषो से कही अधिक जाना है, जो यदा-कदा उनके पास आते-जाते हो और उनकी मनोभावना को जानने का दावा करते हों या यद्वा-तद्वा लिख उनको मोहर लगाते हो। ऐसे पुरुषो को सावधान होना चाहिए कि कहीं उनके कु-प्रयासो से जिनवाणी और दिगम्बर मुनि का अपवाद न हो जाय। स्मरण रहे—**दिगम्बर-सिद्धांत-प्रभावक साधु बड़े भाग्य से हाथ आते हैं, फलतः—दिगम्बरत्व की पुष्टि में ही दिगम्बर का उपयोग होना चाहिए।**

४-६-८४ —पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

वर्धमान भक्तामर

रचयिता—श्री मूलचन्द्र जैन शास्त्री,

जो भक्त सुर वर मुकुट मणिगणमय सरोवर में खिले,
उन मणिगणों की ज्योतिरूपी सलिल से हैं जो रले।
जो भव्यजन चितमधुपकर्षी कंज जैसे हैं बनें,
श्री वर्धमान जिनेश के वे चरण चित में नित सनें ॥१॥

आनन्द के नन्दन निराले सुख जनक तेरे विभो!
ये शिव विधायक चरणयुग सद्भाव कारक हैं विभो!
हैं पोत सम भवसिन्धु में गुणपुंज युत यो ऋषि कहें,
हे नाथ! तेरे ये चरण मुझ को शरण नित ही रहें ॥२॥
(मुझ पतित को पावन करें)

जो सिद्ध औषध सम सकल ही सिद्धियों के धाम हैं,
औ पूर्ण विकसित आत्मगुण से जो महा अभिराम हैं।
जो ज्ञानमय शिवमय सतत संपन्न उत्तम धाम हैं,
वे वीर हैं, हैं ध्येय वे ही क्योंकि वे निष्काम हैं ॥३॥

बालक विवेक विहीन भी निज लड़कपन से चाहता,
मैं नाप लूं आकाश को ऐसा मनोरथ बांधता।
मैं भी दयासागर! तुम्हारे निकट वैसा हूं खरा,
ज्ञानादि संख्यातीत गुण गण गान में आग्रह भरा ॥४॥

जड़लोह यदि पारस परसकर कनक बनता पलक में,
है कौन सी अचरज भरी यह बात स्वामिन्! खलक में।
आश्चर्य है तो एक यह जो दूर से भी ध्यान से,
ध्याता तुम्हें वह नाथ! बन जाता तुम्हीं सा ज्ञान से ॥५॥

कुन्देन्दुहार समान अति रमणीय गुणगण की कथा,
हे नाथ! कौन समर्थ जग में कह सके जो सर्वथा।
है कौन ऐसा जन जगत की जीवराशि गिन सके,
छद्मस्थ की तो क्या कथा भगवान भी नहीं कह सके ॥६॥

मुनिनाथ! हूं असमर्थ फिर भी तव गुणों के गान में,
जैसे बनेगा मैं करूंगा यत्न अपनी जान में।
लज्जा नहीं इसमें मुझे यह बात जग विख्यात है,
खगराजगत क्या मार्ग से नहिं जात पक्षी जात है ॥७॥

तेरे वचनपीयूष रस की सुरुचि ही बस ! प्रेरती,
बल से मुझे तव गुण कथा के कथन में है घेरती।
जो तरल लहरों से क्षुभित बन उदधि बढ़ता पर्व में,
है हेतु चन्द्रोदय नियम से नाथ ! उसके गर्भ में ॥८॥

अज्ञान-मोह समूह भगवन् ! हृदय में मेरे घुसा,
उसको हटाने के लिए है शक्त तव प्रवचन उषा।
जो कन्दरा में तिमिर चिरतर सुथिर बनकर रह रहा,
उसको हटा सकती वहाँ से एक उज्ज्वल ही प्रभा ॥९॥

हे बोधि दायक ! नाथ ! मेरी यदपि वाणी हीन है,
जो नय प्रमाण सुरीति-गुणभूषण विहीन मलीन है।
तो भी भुवन में तव कथा से रम्य वह होगी तथा,
जल बिन्दु शुक्ति प्रसंग से बन मोति मन हरती यथा ॥१०॥

हे नाथ ! चित से भी अगम्य भले—रहे त गुण कथा,
इक नाम भी तेरा जगाता भक्ति तुम में सर्वथा।
हो दूरतर जंबीर पर यह बात जग अनुभवित है,
जो नाम भी उसका बनाता सरस रसना द्रवित है ॥११॥

ज्यों विविध मणि गण प्रचुर कांचन रजत रत्नों से भरे,
भंडार को देता जनक सुत को विनय गुण से भरे।
जिनदेव ! त्यों तव ध्यान भी देता अचल पद को खरा,
ध्यानकर्त्ता के लिए अक्षीण सुख से जो भरा ॥१२॥

ज्ञानादि गुण गौरव भरे तुम नाथ ! अनुपम सिन्धु हो,
अशरण जनों के नाथ ! तुम ही बिना कारण बन्धु हो।
ऐसे तुम्हें तज और की जो शरण लेना चित धरे,
वह तीन जग का राज्य तज जड़ भृत्यता स्वीकृत करे ॥१३॥

हे नाथ ! वे परमाणु भी जिनसे बना तव गात है,
थे लोक में उतने, न थे वे अधिक यह जग ख्यात है।
तेरे चरण की शरण पा यदि मनुज बनता सिद्ध है,
है कौन सा अचरज, निमित्ताधीन कार्य प्रसिद्ध है ॥१४॥

मुखचन्द्र नाथ ! अपूर्व तेरा सकल मंगल मोद का,
है कंद, वाणी-सुधाधारा का सुझरना लोक का।
संतापहारी, स्वर्गमोक्ष प्रदानकारी, बोध का,
दाता उदित नित लख मुदित मन होत भविक चकोर का ॥१५॥

जो भूल से भी उच्चरित तव भद्रकारी नाम भी,
होता सुकृत का जनक स्वामिन् ! सिद्धि का सद्धाम भी।

अज्ञान से भी मुखपतित सितखंड का भी खंड है,
विख्यात जग में बात यह माधुर्य देत अखण्ड है ॥१६॥
जो पाद पङ्कज में तिहारे नम्र करता माथ है,
वह ऋद्धि-सिद्धि समूह से सर्वत्र होत सनाथ है।
फिर तीर्थंकर बनकर जगत् का तिलक होता है वही,
पश्चात् अव्याबाध सुखमय धाम में जाता सही ॥१७॥
ज्यों काल का दिनरात आदि विभाग रविविधु निमित है,
दो पंख से ही गगन में खेचर गमन जग विदित है।
त्यों आपने भी जगत जन को यह जताया नाथ ! है,
ज्ञान क्रिया के ऐक्य से ही मुक्ति देती हाथ है ॥१८॥
हे नाथ ! जीवन में अनोखे सार का कारण महा,
पीया गया पीयूष पर वह देह का रक्षक कहा।
स्याद्वाद से भूषित तिहारी देव ! निर्मल भारती,
निज सेवकों को मुक्ति देती हरण कर सब आरती ॥१९॥
षट् खंड-मंडित भुवन मंडल को विभो ! चक्री यथा,
करके विजित निज चक्र से शासित उसे करता, तथा।
मुनिनाथ ! तुमने भी जगत में जैन शासनरत किया,
भविवृन्द को मिथ्यात्व हर नयचक्र से वश कर लिया ॥२०॥
मिथ्यात्व रूपी दोष यह चिरकाल से पीछे पड़ा,
यह है विषमतर भव भ्रमण का हेतु जहरीला बड़ा।
यह नाथ ! हरभव में निरन्तर ताप देता उग रहा,
आमूल इसका नाश करता तेज जो तुम में भरा ॥२१॥
जो जन प्रमादी विषम मोह अधीन कृत्य विहीन हैं,
विषयाभिलाषी दुर्जनों के संग में नित लीन हैं।
हैं जो विवेक विहीन विषया संग से मतिलीन हैं,
लाता सुपथ पर उन्हें तेरा तेज जो गमगीन है ॥२२॥
ज्ञानादि गुण तेरे अनंते कल्पवृक्ष समान हैं,
हैं रत्न चिन्तामणि सदृश देते किमिच्छिक दान हैं।
हैं चन्द्रसम उज्ज्वल करें वे जगत जन मन को विभो !
है कौन ऐसा भव्यजन जो याद कर पुलकित न हो ॥२३॥
हे नाथ ! चिन्तामणि सुरद्रुम और नवनिधियां महा,
उनसे मिले जो सौख्य जनको वह क्षणिक नश्वर कहा।
जो आपके सेवक मनुज ध्रुव नित्य सुख भुगते यहां,
इन सब सुखों से भी अनंता सौख्य भुगतो तुम वहां ॥२४॥

रवि किरण मण्डल के निकट ज्यों तिमिर डट सकता नहीं,
चिन्तामणि के सामने ज्यों दुःख टिक सकता नहीं।
त्यों नाथ ! तेरे निकट हिंसादिक फटक सकते नहीं।
ये दोष हैं निर्दोष तुम हो यह विदित हैं सब कहीं ॥२५॥

जो इन्दु मंडल सा सलिल सा सुधाफेन सुपुञ्ज सा,
विकसित मनोरथ पुष्प का जो एक विस्तृत कुंज सा।
है, नाथ ! ऐसे धर्म का तुमने निरूपण है किया।
होता भविकजन कमल का विकसित प्रभो ! सुन कर हिया ॥२६॥

अति दूर से भी चन्द्र ज्यों निज किरण के उत्कर्ष से,
करता सदा कैरव बनी को युक्त अतिशय हर्ष से।
जिननाथ ! वैसे हो तुम्हारा कर रहा गुणवृन्द है,
सब भक्त जनता के हृदय सदा अति आनंद है ॥२७॥

जिनवर ! सुधाकर किरण का संयोग पाकर, सर्वथा,
होता द्रवित जग में विदित यह चंद्रकान्त मणि यथा।
वैसे तिहारी परम महिमोपेत करुणारस भरी,
पावन कथा का श्रवण कर होते द्रवित हैं क्रूर भी ॥२७॥

शिवमार्ग से वंचित, दुखों की खान यह कलिकाल है,
है हीयमान सदा विषय के जाल से विकराल है।
इसमें तिहारी शिव विधायक देशना के पान से,
पाते भविक जन शुद्ध आत्मिक शान्ति बच दुर्ध्यान से ॥२८॥

गुणगणसदन ! मुनिवर रमण ! जिनवर ! जगतरक्षक ! विभो !
देवाधिदेव ! विमुक्तिस्वामिन ! भविकनाथ ! सुनो प्रभो !
करके कृपा हमको जगाओ ज्ञान के उत्कर्ष से,
क्या दूर से भी विधु न करता कुमुद को युत हर्ष से ॥२९॥

पा जब सहारा आपका प्रभु ! शोक बिन तरु भी हुआ,
जग में इसी से ख्यात नाम "अशोक" यों उसका हुआ।
तब क्या तुम्हारे चरण के अवलम्ब से भविजन नहीं,
निःशोक हो सकते खपा विधि भले वे होवें कहीं ॥३०॥

मणिमय सिंहासन पर चमकते नाथ ! तुमको देखकर,
देवश्वर हो चकित चित यों चितते हैं विश्वर।
यह इन्दु है क्या ? नहिं, अरे ! वह मृग कलंकित गात है,
तो सूर्य है क्या ? नहिं भला वह तो प्रचण्ड प्रताप है ॥ ३१॥

है कान्ति का यह पुंज प्यारा प्रथम तो आना यही,
फिर व्यक्त आकृति मात्र से सामान्य जन माना सही।

जाना पुनः कोई प्रशम रस सहित सुन्दर मनुज है,
फिर बाद में जाना तुम्हें सिद्धार्थ का यह तनुज है ॥३२॥
सुरवृन्द ने जब नाथ बरसा अचित पुष्पों की करी,
चारों दिशाएं बनी सुरभित खिज उठी पूरी मही।
स्याद्वाद सुन्दर वचन रचना की झरी इकदम लगी,
जनता मुदित मन हो तुरत जय घोष कर नचने लगी ॥३२॥
हे नाथ ! तेरी वह अलौकिक देशना जगहित खिरी,
पीयूष सी परिणत हुई सब जीव भाषा में ढरी।
सब ऋद्धि सिद्धि तथा गुणों की बृद्धिकर्ता वह बनी,
हे वीर ! सगरी पीर हर निज भक्त शिवदाता बनी ॥३३॥
गोदुग्ध-जल-शशि-कुन्द-हिम-मणिहार-सम उज्ज्वल सही,
चामर गगन तल लसित मानों प्रकट करते हैं यही।
है ध्यान इस ही प्रभु का सित कोई न ऐसा देव है,
सर्वज्ञ है यह, यही नाशक कर्म का स्वयमेव है ॥३४॥
आकर अवनि पर अमरपति ने तथा मुनिपति ने प्रभो !
संस्तुति करी निजशक्ति भर तव प्रभा मंडल की विभो !
उस मोह तिमिर विनाशकारक दीप्तिमंडल के निकट,
बस ध्वान्तनाशक सूर्य की समता न घटतीं, रंचभर ॥३५॥
यह जिन विकट विधि वृन्द भट का है विजेता एक ही।
अतिशय बली तीनों भुवन का नाथ है यह एक ही।
बस इसलिए हे भव्य ! तुम आओ इसी के मार्ग में,
बजता सुनाता घोषणा यह दुन्दुभी नभ मार्ग में ॥३६॥
जो है सकल मंगल विधाता मोद का जो स्थान है,
जिसकी विमल आभा निरख शारद शशी भी म्लान है।
ऐसा तिहारा नाथ ! छत्रत्रय जताता है यही,
कल्याण कारक रत्नत्रय प्रभुपद प्रदाता है सही ॥३७॥
हे नाथ ! ऐसा ही अनोखा आपमें अतिशय भरा,
जो पाद पंकज की तरे की विषम सम बनती धरा।
फूलें फलें सब साथ ऋतुएं सुखी भी सब जन बनें,
इससे तिहारे पाद रज को कल्पतरु ही हम गिनें ॥३८॥
है दिव्यवाणी नाथ ! तेरी सद्गुणावलि दिव्य है,
है दिव्ययश, है दिव्य समता और प्रभुता दिव्य है।
समता त्रिजग में इन गुणों की कहीं भी मिलती नहीं,
रवि सी चमक होती नहीं तारागणों में सच कहीं ॥३९॥
तव दिव्य-महिमा निरखकर सुर असुर किन्नर नर सभी,
हे नाथ ! तेरी भारती पीयूष सी पीते जभी।

आनंद-सागर में नहावे गुण कथा के कथन में,
असमर्थ हो बस ! भक्तिवश नमते तिहारे चरण में ॥४०॥
तुम हो सकल मंगल विधायक इसलिए तुमको नमूं,
तुम हो सकल शान्ति प्रदायक इसलिए तुमको नमूं।
तुम हो सकल कर्मारि नाशक इसलिए तुमको नमूं।
तुम हो सकल तत्त्वोपदेशक इसलिए तुमको नमू ॥४१॥
तुम हो सकल जग जीव रक्षक इसलिए तुमको नमू,
तुम हो सकल शासन प्रभावक इसलिए तुमको नमू।
तुम हो सकल जग हित विधायक इसलिए तुमको नमूं,
तुम हो सकल निर्मल गुणाकर इसलिए तुमको नमू ॥४२॥
जो निर्दयी राक्षस पिशाचों से प्रभो ! हा ! विहित हैं,
उपसर्ग-अथवा दुराचारी खलों से जो प्रकृत हैं।
आक्रमण दु:ख दरिद्र शत के जाल से जो सृष्ट है,
वे कष्ट सब तव तेज से प्रभु ! शीघ्र होते नष्ट हैं ॥४३॥
सब रिद्धि सिद्धि वर प्रदायक विमल यह स्तवराज हैं,
श्री वीर जिनवर देव का जो पढ़े जन निर्व्याज है।
सुरवृक्ष चिन्तामणि नि॰ट सर्वार्थ सिद्धि सभी सदा,
सेवा तथा अनुकूल करने के लिए आते मुद ॥४४॥
जो चोर रिपु शार्दूल पन्नग गज दवानल से डटी,
जो हिंस्र गमनागमन से खल बधनों से है पटी।
बस इसी से प्रभुवर ! जहां की भूमि दुर्गम है बनी,
तव ध्यान से ऐमो बनी बनती वना सो सुखमना ॥४५॥
शार्दूल पन्नग प्रखर शूकर हिंस्र जीवो से घिरी,
चोरो नुकीले कण्टका से हा ! बनी जो है भरी।
हे नाथ ! तेरे स्मरण से वह बने नन्दनवन जिसी,
आनंद को लहरें बहें यों भक्तजन कहते ऋषी ॥४६॥
जो अति भयानक महादुर्गम सुभट से अति विकट है,
अति कष्टप्रद बलभ्रष्ट जिसमें मृत्यु भी अति निकट है।
जो विविध दुखशत से भरा बहती जहां खगधार है,
उस युद्ध में तव नाम देता नाथ ! शांति अपार है ॥४७॥
नाथ ! आपके गुण पुष्पों की, यह सुरम्य संस्तुति-माला।
मैंने रची गूंथकर रुचि से, पहिनेगा जो कोई लाला।
चमकेगा वह उजियाला बन जगमें, जग उसका होगा।
होगा उसका ठाठ निराला, "मूल" चंद्र जैसा होगा ॥४८॥

—: ० :— (मालथोन नि०) श्री महावीर प्रवासी

साहित्य-समीक्षा

[जैन-सिद्धांत :

लेखक : सिद्धांताचार्य पं० श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री :
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
साइज · १८×२२×१६, पृष्ठ २२०, मूल्य : २० रुपये।

श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री जैन-सिद्धांत के अथाह मधुर सागर हैं। प्रस्तुत कृति जैन सिद्धान्तगत विषयो का सार-पूर्ण विवेचन है। प्रकाशक के सही शब्दो मे जिसे पडित जी ने चार अनुयोग, द्रव्य गुण-पर्याय, स्याद्वाद-नयवाद, कार्यकारण विचार, जीव-आत्मा, गुणस्थान, मार्गणाए, पुण्य-पाप, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र तथा उनका पारस्पारिक सम्बन्ध, सिद्धांत एव अध्यात्म का विषयभेद आदि द्वारो से अपनी शैली में सजोया है।

नि:सन्देह, जैन-सिद्धात एव अध्यात्म जितना कठिन है उतना ही वह सरल भी है। पारगत, अनुभवी और ग्राहक की नाड़ी की परख-वाला प्रयोक्ता कठिन से कठिन विषय को सरल बना देता है। पंडित जी ने अनेकानेक रूपों में अनेकानेक विषय धार्मिक क्षेत्र में प्रस्तुत किए हैं और सभी सफल रहे हैं। प्रस्तुत कृति भी जिज्ञासुओं की पिपासा को सहज ही शान्त करने में समर्थ होगी—ऐसा हम मानते हैं। ग्रन्थ की छपाई आदि ज्ञानपीठ के सर्वथा अनुरूप है : बधाई।

जैन तत्त्व ज्ञान मीमांसा :

लेखक : डा० दरबारी लाल कोठिया
प्रकाशक : वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, प्रकाशन, वाराणसी
साइज : २०×३०×८ पृष्ठ : ३७४, मूल्य : ५० रु०

प्रस्तुत सग्रह, जैन-न्याय-दर्शन के ख्यात विद्वान डा० कोठिया जी के उन लेखों का सग्रह है जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं मे समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। इसमे धर्म, दर्शन, न्याय, इतिहास, साहित्य एवं तीर्थों, पर्वों, विविध सन्तों, विद्वानो के परिचय, श्रुत पंचमी, जम्बू जिनाष्टक आदि जैसे विषय गर्भित हैं। निबन्धों की संख्या ७० है। पुण्य-पाप का शास्त्रीय दृष्टिकोण, जीवन में संयम एव चारित्र का महत्व, महावीर धर्म में क्षमा आदि प्रसंग साधारण पाठको को सरलता से समझ मे आ सकते हैं। पूर्वाचार्यों—समन्तभद्र, कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ आदि के संबंध में गहरी जानकारी दी गई है, जो उपयोगी हैं। बिखरे लेखों के एकत्र-सग्रह ने पाठकों की सुविधा बढ़ा दी है अब उन्हे कोठिया जी के विचारों को जानने के लिए पत्र-पत्रिकाओ की पुरानी फाइले बिना खोजे ही सभी सामग्री सुलभ होगी। ग्रन्थ संग्रहणीय है। प्रकाशन आदि उत्तम है। लेखक-प्रकाशक सभी सम्मानार्ह हैं।

एकार्थक कोश व निरुक्त कोश : (दो कोश)

वाचना प्रमुख : आचार्य श्री तुलसी
प्रधान सपादक : युवाचार्य महाप्रज्ञ
सम्पादक : विभिन्न साध्वियाँ—
समणी कुसुम प्रज्ञा, साध्वी-सिद्धप्रज्ञा,
साध्वी निर्वाणश्री
प्रकाशक . जैन विश्व भारती, लाडनूं
साईज : २३×३६×१६ पृष्ठ क्रमश : ३६६ : ३७०। मूल्य : ५० व ४० रुपए।

सन् १९७६ की बात होगी—पचकूला मे डा० नथमल टाटिया का सकल्प उन्ही से सुना था कि वे जैन-शब्दकोश के निर्माण के प्रति समर्पित रहना चाहते हैं और ऐसा कार्य करना चाहते हैं कि श्वेताम्बर जगत के आगम-ज्ञान की प्यास से कोई प्यासा न रहे और जैन श्वेताम्बर आगमों को सभी सरलता से समझ सकें। हमें खुशी है कि आज उस संकल्प का प्रारम्भिक कार्य लाडनूं से साधु-साध्वियों के द्वारा प्रकाश में आया और डा० टांटिया के पुरोवचन-प्राक्कथन के साथ उसका श्रीगणेश हुआ।

श्वेताम्बर आगम-साहित्य के प्रकाशन में जैन विश्व भारती का पूर्ण प्रयास है। वहां के साधु-साध्वीगण इस

(शेष पृ० आ० ३ पर)

(ताकि सनद रहे……) :

श्री धर्मचन्द्र शास्त्री, आ० धर्मसागर महाराज, संघस्थ

१०००-५०० वर्ष बाद जब अनुत्तर-योगी के विसंगत प्रसंग उभर कर सामने आएंगे तब उनका प्रतिवाद न हो सकेगा और अभियोग में निश्चय ही दिगम्बरत्व की पराजय होगी और उस पराजय में कारण होगा—दिगम्बर क्षेत्र में दिगम्बर-प्रेरित दिगम्बर-लिखित दिगम्बर समिति द्वारा प्रकाशित "अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर" उपन्यास। जो सभी कोर्टों में पेश होकर श्वेताम्बर मान्यताओं को पुष्ट कर रहा होगा और तब दि० जैन धर्म संरक्षिणी सभाएं और दि० तीर्थ-रक्षक कमेटियां जैसी संस्थाएं और उनके पद-धर, कर्णधार सिर धुन रहे होंगे और श्री कुन्दनलाल जैन की अन्तर्वेदनाएं सही सिद्ध हो रही होंगी। × × ×

MESSAGE OF
JAINA YOGI SWASTI SRI BHATTARAKA
CHARUKIRTI PANDITACHARYA SWAMIJI
MOODBIDRI.

"WE FIND YOUR ARTICLE IS A GOOD PIECE OF REBUTTAL. YOU DESERVE CONGRATULATIONS OF ONE AND ALL OF JAIN SAMAJ FOR YOUR FREE FRANK AND FEARLESS REMARKS IN YOUR ARTICLE. PEOPLE OF YOUR CALIBRE SHOULD COME FORWARD WHEREVER THERE IS A THREAT TO REALITY–SADDHARMA. YOUR ACTION IS WELL-TIMED AND TESTED.

"BHADRAM BHUYAT, VARDHTAM JIN SHASNAM

WITH BEST OF BLESSINGS."

13-6-84

(पृ० ३२ का शेषांश)

ओर दत्त-चित्त हैं, कई प्रकाशन हो चुके हैं। प्रस्तुत कोश ग्रन्थ से आगम-ज्ञान के मार्ग प्रशस्त होंगे और जिज्ञासु अनेकों शब्दों के अनेकों अर्थों को अनेकों भांति हृदयगम कर सकेंगे। जैसे—मंगिज्जएऽधिगम्मइ जेण हिअं तेण मंगलं होइ। अहवा मंगो धम्मो तं लाइ तयं समादत्ते। मंगालयइ भवाओ मंगलमिहेवमाइ नेरुत्ता। मङ्ग्यते अनेन मण्यते वाऽनेनेति मंगलं। मागलो भूदिति मंगलं। मावभ्रिति हृष्यन्ति अनेनेति मंगलं। इत्यादि।

हम लेखकों, संयोजकों और प्रकाशकों का अभिनन्दन करते हैं जो उन्होंने उत्तम कृति को उत्तम रूप में संजोकर, छपाकर सजिल्द हमें प्राप्त कराया। धन्यवाद।

—सम्पादक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५ ००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन, वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३७ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९८४

इस अंक में—

नोट—अनिवार्य कारणों से इस अक में विलंब हुआ : पाठक क्षमा करें। —सपादक

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

'अनेकान्त' का

अन्तर्व्यथा-मिश्रित मौन-नाद

'शहीदों की चिताओं पर, लगेंगे हर बरस मेले।
वतन पर मिटने वालों का, यही बाकी निशाँ होगा ।।'

यह एक बडा हादसा था जो दि० ३१-१०-८४ को भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के साथ घटित हुआ। हत्यारों ने क्षण भर में उनका खून कर दिया और पूरा राष्ट्र दिलो मे उनकी यादें बसाए हुए आँसू बहाता रह गया तथा समस्त विश्व विचार मे पड़ गया। इसे विधि की बिडम्बना ही कहा जायगा कि जिसने कभी प्रथमगाधी राष्ट्रपिता बापू को और अब द्वितीय गांधी प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा जी को एक ही रीति से कराल-काल के सुपुर्द कराया। हम यह भी कहेगे कि विधि ने इस बार क्रूरता में काफी बढवारी वरती—बापू पर तीन गोलियाँ, तो इन्दिरा जी पर सोलह और शायद इससे भी अधिक गोलियाँ चलवाईं। तब ४० करोड़ जनता ने ही आंसू बहाए और अब सत्तर करोड जनता के आंसू पोछने वाला कोई नही दिखा।

श्रीमती इन्दिरा गांधी ने देश-हित में क्या किया यह बताने की जरूरत नही अब तो यह ढूढ निकालना भी कठिन है कि देश का ऐसा कौन-सा हित था जो उन्होंने नही किया? वे सभी क्षेत्रो मे सभी दृष्टिकोणों से भारत की उन्नति मे सदा अग्रसर रहकर मार्ग-दर्शक रही और विश्व को भी शान्ति की स्थापना के लिए प्रेरित करती रही। वे पिछड़ों को बढाने वालीं और उठे हुओ को स्थायित्व प्रदान करने वाली प्रथम भारत-रत्न महिला थीं। जैन-उत्सव, चाहे वह २५०० वर्षीय निर्वाणोत्सव हो, चाहे महामस्तकाभिषेक या ज्ञानज्योति प्रसार, सभी मे श्रीमती इन्दिरा जी का योग रहा— वे धर्ममात्र मे आस्थावान् थी। उनके स्थान की पूर्ति सर्वथा असम्भव है। उनके उपकारो के प्रति भारत और विश्व के अनेको देश सदा कृतज्ञ रहेंगे।

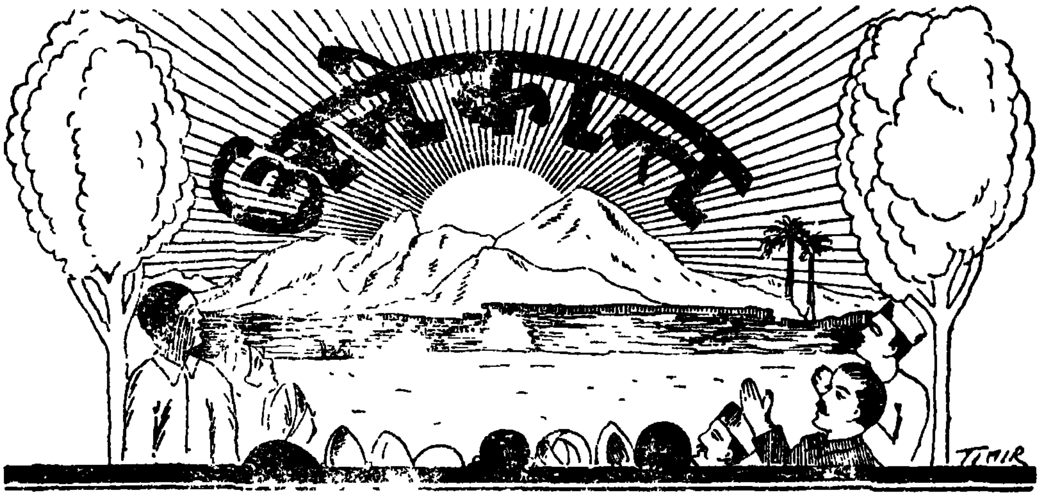
जो लोग भारत को खण्ड-खण्ड रूप में और पिछड़ा देखने के स्वप्न सजोने मे लगे है, उन्हे हम बता दें कि—भारत-भूमि मे बड़ी क्षमता है। गांधीद्वय ने भारतवासियो की पवित्र-भूमि को अपने रक्त का कतरा-कतरा समर्पित किया है, जिससे सभी भारतीयों को बल मिला है अत: वे इससे भी कई गुनी क्षतियो और अपार कष्टों को सहकर भी अपनी आजादी और अखण्डता को वरकरार रखेंगे और इस देश की प्रभु-सत्ता को सुरक्षित रखने वाले ऐसे गाधी सदा ही विद्यमान रहते रहेगे, जो गलत स्वप्नो को कभी भी पूरा न होने देगे।

उक्त परिप्रेक्ष्य में हमें देखना चाहिए कि क्या हम थोथे उपक्रमों से वैसी अमरता पा सकेंगे जैसी बेजोड़ और अमूल्य अमरता श्रीमती इन्दिरा जी ने कर्तव्य-निष्ठ रहकर पाई? लोगों की दृष्टि मे...

'जब तक सूरज चाँद रहेगा।
इन्दिरा तेरा नाम रहेगा ।।'

दि० ११-११-८४

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३७ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१०, वि० सं० २०४० | जुलाई-सितम्बर १९८४

सुप्रभात-स्तोत्रम्

(नेमिचन्द्र यति-विरचितम्)

चन्द्रार्क-शक्र-हरि-विष्णु-चतुर्मुखाद्यास्तीक्ष्णैः स्ववाण निवहैर्विनिहत्य लोकम् :
व्याजृम्भतेऽहमिति नात्र परोऽस्ति कश्चित्तं मन्मथं जितवतस्तव सुप्रभातम् ।।१।।
गन्धर्व-किन्नर-महोरग-दैत्य-यक्ष-विद्याधरामर-नरेन्द्र-समर्चिताङ्घ्रिः ।
संगीयते प्रथित-तुम्बुर-नारदैश्च कीर्तिः सदैव भुवने तव सुप्रभातम् ।।२।।
अज्ञान-मोह-तिमिरौघ-विनाशकस्य सज्ज्ञान-चारु-बलि-भूषित-भूषितस्य ।
भव्याम्बुजानि नियतं प्रतिबोधकस्य श्रीमज्जिनेन्द्र दिनकृत्तव सुप्रभातम् ।।३।।
श्वेतातपत्र-हरिविष्टर-चामरौघ-भामण्डलेन सह दुन्दुभि-दिव्यभाषाऽ- ।
शोकाग्र-देवकर-मुक्त-सुपुष्पवृष्टी देवेन्द्र-पूजितवतस्तव सुप्रभातम् ।। ४ ।।
तृष्णा-क्षुधा-जनन-विस्मय-राग-मोह-चिन्ता-विषाद-मद-खेद जरा-रुजौघाः ।
प्रस्वेद-मृत्यु-रति-रोष-भयानि निद्रा देहे न सन्ति हि यतस्तव सुप्रभातम् ।। ५ ।।
भूतं भविष्यदपि सम्प्रति वर्तमानं ध्रौव्यं व्ययं प्रभवमुत्तमनप्यशेषम् ।
त्रैलोक्य-वस्तु-विषयं सविशेषमित्थं जानासि नाथ ! युगपत्तव सुप्रभातम् ।। ६ ।।
स्वर्गापवर्ग-सुखमुत्तममव्ययं यत् तद्देहिनां सुभजतां विदधासि नाथ !
हिंसाऽनृतान्यवनिता-परवित्त-सेवा-संत्यागकेन हि यतस्तव सुप्रभातम् ।। ७ ।।
संसार-घोर-तर-वारिधि-यानपात्र ! दुष्टाष्टकर्म-निकरेन्धन-दीप्त-वन्हे !
अज्ञान-मूढ-मनसां विमलैकचक्षुः श्रीनेमिचन्द्र-यतिनायक ! सुप्रभातम् ।। ८ ।।
प्रध्वस्तं परतारकमेकान्त-ग्रह-विवर्जितं विमलम् ।
विश्वतमः-प्रसर-हरं श्रुतप्रभातं जयति विमलम् ।। ९ ।।

देवदास नामक दो कवियों के दो भिन्न-भिन्न हनुमान चरित

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन 'विद्यावारिधि'

जनवरी १९८१ में विदिशा के श्री राजमल मडवैया ने 'पवन पुत्र हनुमान चरित्र' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसको 'श्री कविवर ब्रह्मदेवदास रचित' सूचित किया है। रचना को सवत् १८३४ (सन् १७७७ ई०) मे प्रतिलिपि कराकर किन्ही डालचन्द्र के पुत्र गनपतराय द्वारा माकवाड़ी के जैन मन्दिर मे दान की गई हस्तलिखित प्रति पर से प्रकाशित किया गया है। इस रचना मे सब मिला कर ८४७ दोहा-चौपाई आदि है। ग्रथान्त के ८४०-८४३ चार पद्यो मे ग्रन्थकार ने अपना परिचय दिया है कि मूल ग्रन्थ के शारदागच्छ मे मुनि रत्नकीर्ति हुए, जिनके शिष्य मुनि अनन्तकीर्ति थे। इन अनन्तकीर्ति के शिष्य ब्रह्म देवदास थे जिन्होने सवत १६१६ की वैसाख कृष्ण नवमी के दिन प्रस्तुत 'हनूकथा' रचकर पूर्ण की थी।

इस संक्षिप्त परिचय के अतिरिक्त कवि ने अपने विषय मे और कोई सूचना नही दी है—अपने जन्म स्थान निवास स्थान, ग्रन्थ के रचना स्थल, किनकी प्रेरणा से यह रचना की है, इत्यादि कोई उल्लेख नही किया। ग्रन्थ के अंत में दो दोहो मे किसी प्रतिलिपिकार ने माघ शुक्ल दोयज चन्द्रवार को उक्त प्रति के लिखने की सूचना दी है—संवत् तथा अपना अन्य कोई परिचय नही दिया है। अन्त में छपा है 'इति श्री हनुमान चरित्र सम्पूर्ण'। कहा नही जा सकता कि वह मूल रचनाकार की पुष्पिका है, या प्रतिलिपिकार की अथवा वर्तमान प्रकाशक मडवैया जी की। इस प्रकार भ० अनन्तकीर्ति के शिष्य ब्रह्मदेवदास नामक कवि की इस 'हनू कथा' (८४७ छंद परिमाण) का रचना काल सन् १५५९ ई० है।

शोधांक ६ फरवरी १९६०) के पृष्ठ २१८-२२० पर प्रकाशित अपने 'हिंदी भाषा की अप्रकाशित नवीन रचनाएं' के अन्तर्गत स्व० पं० परमानन्द जैन शास्त्री ने एक 'हनुमान चरित' का परिचय दिया था। उनके कथनानुसार इस रचना को हनुमानरासा भी कहते हैं, वह २००० के लगभग दोहा चौपाई आदि छंदों में निबद्ध है, ग्रन्थ का कथा भाग बडा ही रोचक है, इसके कर्ता ब्रह्मचारी कवि देवदास है जो मालदेश की भट्टारकीय गद्दी के अधिकारी भ० ललितकीर्ति के शिष्य थे, और गुरु के स्वर्गवास हो जाने पर उक्त आर्यब्रह्म देवदास ने सवत १६८१ की वैसाख सुदी ८ गुरुवार के दिन राइसेनगढ के चन्द्रप्रभु चैत्यालय मे इस ग्रन्थ की रचना की थी। पडित जी द्वारा उद्धृत ग्रन्थ की अन्त्य प्रशस्ति की १८ चौपाइयो मे कवि ने मालवा देश में स्थित पर्वत पर निर्मित उक्त राय सैन गढ नामक दुर्ग का, उसके चन्द्रप्रभु चैत्यालय, अन्य मठ मदिर देवल आदि भवनो का, तालाब, बापिका, कूप, बाग बरेजो आदि का, वहा बसने वाले पौरापाट, गूजरवानी, पौसवार, गोलापूर्व, गोलालारे लमेचू आदि विभिन्न जातीय जैनीजनो का, अपने गुरु भट्टारक ललितकीर्ति का तथा ग्रन्थ रचना की उपरोक्त तिथि आदि का उल्लेख किया है। ग्रन्थकर्ता ने स्वय अपना नाम 'आर्य ब्रह्म कवि देउदास' दिया है। पडित जी ने ग्रंथ के कुछ प्रकरण भी उद्धृत किए हैं, यथा रावण द्वारा सती सीता को फुसलाने के लिए निपुणमति नामक दूती का, तदनन्तर अपनी पटरानी मन्दोदरी का भेजा जाना, उन दोनो के साथ सीताजी के साथ रोचक सवाद तथा अन्ततः विफल मनोरथ होकर लौटना आदि। प० परमानद जी ने ग्रन्थ का उपरोक्त परिचय आदि शाहगढ (जिला सागर) के शास्त्रभंडार के एक जीर्ण गुटके में प्राप्त प्रति पर से दिया था। इस प्रकार आर्य ब्रह्म कवि देउदास कृत प्रस्तुत हनुमानचरित या हनुमानरासा (लगभग २००० छद परिमाण) का रचनाकाल सन् १६२४ ई० है।

पं० परमानन्द जी को संभवतया मडवैया जी द्वारा प्रकाशित रचना की कोई जानकारी नहीं थी और मडवैया जी ने दोनों ग्रंथों और उनके कर्ताओं के नामों में कथंचित साम्य देखकर अभिन्न समझ लेने की भूल की है। किन्तु दोनों कथाओं की विषय वस्तु प्रायः एक (हनूमान कथा या चरित) होते हुए भी और दोनो के कर्ताओं के नामो में अद्भुत साम्य सा रहते भी, इसमें सदेह नही है कि ये एक दूसरे से भिन्न दो स्वतन्त्र रचनाये है, और दो भिन्न कवियों द्वारा रचित हैं। न केवल दोनों के रचना काल मे ६५ वर्ष का अन्तराल है, उनके परिमाण, आकार-प्रकार, भाष और शैली मे भी पर्याप्त अन्तर है। सन् १५५६ ई० वाली हनूकथा अपेक्षाकृत सक्षिप्त है। उसमे सीता के साथ मन्दोदरी आदि के सवादों के प्रसग हैं ही नही। अन्य भी अनेक ऐसे प्रसंग जो सन् १६२४ ई० वाले हनुमानचरित में प्राप्त है, शायद उसमे न हों।

इसके अतिरिक्त १५५६ ई० वाली हनूकथा के कर्ता ब्रह्मदेवदास के गुरु मुनि अनन्तकीर्ति थे जो स्वयं मूलसघ शारदागच्छ के मुनि रत्नकीर्ति के शिष्य एवं पट्टधर थे। यह रत्नकीर्ति सूरतपट्ट के भ० अभयचन्द्र के प्रशिष्य और भ० अभयनन्दि के शिष्य प्रतीत होते हैं। मालवा भट्ट के इन अभिनव रत्नकीर्ति के एक शिष्य भा० कुमुदचन्द्र थे जिनके शिष्य ब्रह्म रायमल्ल (१५५८-१६१० ई) थे। स्वय कुमुदचन्द्र की एक ज्ञात तिथि १५१५ ई० है। अतएव रत्नकीर्ति के दूसरे शिष्य और कुमुदचन्द्र के गुरु भाई मुनि अनन्तकीर्ति का समय भी इसी के प्रायः लगभग है। उनके शिष्य ब्रह्मदेवदास द्वारा १५५६ ई० में हनूकथा का रचा जाना सुसगत है। ब्र० रायमल्ल भी अनन्तकीर्ति को गुरु मानते थे और अनन्तकीर्ति के उत्तराधिकारी, संभवतया भ० प्रतापकीर्ति (ज्ञाततिथि १६१६ ई०) थे। ऐसा लगता है कि सूरत पट्ट के अभयचन्द्र या अभयनन्दि द्वारा मालवा का शाखा पट्ट स्थापित किया गया था, और उक्त अभिनव रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, ब्रह्मरायमल, मुनि अनन्तकीर्ति, ब्रह्मदेवदास और भ० प्रतापकीर्ति उसी शाखा पट्ट से सम्बद्ध थे।

दूसरे हनुमानचरित (रासा) के कर्ता आर्य ब्रह्म कवि देउदास (देवदास) के गुरु भट्टारक ललितकीर्ति ग्वालियर-कंडज पुर (मोह) पट्ट के भ० यशकीर्ति के शिष्य भ० ललितकीर्ति प्रतीत होते है जो पद्मपुराण एवं हरिवंशपुराण के कर्ता भ० धर्मकीर्ति (१६१२-१४ ई०) के गुरु थे। इन ललितकीर्ति के शिष्य उक्त आर्य ब्रह्मदेव ने अपना ग्रथ १६२४ ई० मे रचा और उनकी सूचनानुसार उस समय उनके गुरु भ० ललितकीर्ति दिवगत हो चुके थे। इन तथ्यों मे कोई भी विसगति प्रतीत नही होती।

अस्तु यद्यपि उक्त दोनों रचनाओ और उनके कर्ताओं मे नाम साम्य है, दोनों एक ही परम्परा मूल संघ-सरस्वती-गच्छ से सम्बद्ध थे तथा सम्भवतया प्रायः एक ही क्षेत्र, मालवा-बुन्देलखंड, के निवासी भी थे, वे दोनों ग्रंथ और उनके कर्ता एक दूसरे से सर्वथा भिन्न एवं स्वतंत्र हैं। उक्त आर्य ब्रह्मदेवदास कृत हनुमानचरित या रासा (१६२४ ई०) का उद्धार करके उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता है। जैन साहित्य के इतिहास मे नाम-साम्य बहुधा भ्रांतियों का कारण हुआ है।

—ज्योति निकुंज
चार बाग, लखनऊ-१९

असुरसुरमणुयकिंणररविससिकिंपुरिसमहियवरचरणं।
दिसउ मम बोहिलाहं जिणवरवीरो तिहुवणिन्दो॥
खमदमणियमधराणं धुदरयसुहदुक्खविप्पजुत्ताणं।
णाणज्जोदिय सल्लेहणम्मि सुणमो जिणवराणं॥

प्रथम प्राणी विज्ञान (Zoology) विशेषज्ञ जैन-कवि हंसदेव

☐ ले० कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

भारतवर्ष अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा एवं ज्ञान के लिए विश्व विख्यात रहा है। भारत में विज्ञान की विभिन्न शाखायें जैसे गणित, ज्योतिष, शल्य, चिकित्सा, औषधि, स्थापत्य, आयुर्वेद, प्राणिविज्ञान, रसायनविज्ञान, खगोल विद्या, आदि आदि क्षेत्रों में सबसे अग्रणी माना जाता था। अपनी उत्कृष्टता के कारण विश्व के विभिन्न देशो मे इसे बड़ा गौरव एवं सम्मान प्राप्त था। विश्व के विभिन्न देशों ने भारत से उपर्युक्त क्षेत्रों में बहुत कुछ सीखा और समझा एवं भारत को आदर दिया।

यूनान-सम्राट विश्वविजेता सिकन्दर जब भारत से वापिस यूनान लौटा तो अपने साथ अनेकों भारतीय विद्वानो को एवं भारतीय ग्रंथरत्नों को सम्मान के साथ लेगया। था, उसने उन विद्वानों द्वारा उन श्रेष्ठग्रन्थों का अध्ययन मनन, चिन्तन एव अनूदित कराकर यूनानी सभ्यता एव साहित्य को विकसित एवं सुसंस्कृत कराया था। यूनान ने भारत मे बहुत कुछ सीखा था। पर हम अपने संकुचित दृष्टि कोणो के कारण कालान्तर में अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों को भुला बैठे तथा दूसरो की तुलना मे पिछड गये।

उधर यूरोप में ज्ञान की पिपासा तीव्रता से जाग्रत हो रही थी और वे लोग हमारे ग्रन्थो को लेकर उन पर शोध खोज कर आगे बढ़ने लगे और विज्ञान के क्षेत्र मे अपनी श्रेष्ठता का दावा जताने लगे और अपनी मौलिकता का ढिंढोरा पीटने लगे। यहां मै विज्ञान के अन्य क्षेत्रो की चर्चा न करते हुए केवल प्राणि विज्ञान (Zoology) के क्षेत्र मे ही संक्षिप्त सी चर्चा करना चाहता हू।

यूरोपीय विद्वानो का दावा है कि Zoology के क्षेत्र मे अठारहवी सदी से ही उन्ही ने शोध खोजकर विज्ञान की इस शाखा को समृद्ध एव विकसित किया है। और इन्ही विद्वानों को आधार मानकर भारत के आधुनिक प्राणिविज्ञान वेत्ता डा० सलीम अली ने इस क्षेत्र में बड़ा विशाल कार्य किया है और वे नेशनल प्रोफेसर की ख्याति से विख्यात हैं। पर यह बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि जो काम डा० सलीम अली ने अब किया है या यूरोपीय विद्वान बड़े गर्व के साथ जिस पर अपना दावा पेश करते हैं उसी विख्यात विशालकार्य को अब से लगभग साढे सात सौ वर्ष पूर्व लगभग सं० १३०० में भारत के विख्यात जैन कवि श्री हंसदेव जी ने "मृग पक्षी शास्त्र" नामक एक विशाल ग्रन्थ लिखकर आधुनिक वैज्ञानिकों का मार्ग प्रशस्त किया था।

"मृग पक्षी शास्त्र" संस्कृत पद्यों में रचा गया है यह दो भागो मे विभाजित है। प्रथम भाग में चतुष्पदों का तथा द्वितीय भाग मे पक्षियो का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें संस्कृत के १७१२ कुल छंद विद्यमान हैं। इसके रचयिता श्री पं० हंसदेवजी ने अपना विस्तृत परिचय नही दिया है। विभिन्न उद्धरणो से केवल इतना ही पता चलता है कि प० हंसदेव जी जिनपुर के शासक महाराज शौण्डदेव के राज्याश्रित कवि थे। तथा प्रकृति विज्ञान एवं प्राणी विज्ञान के प्रकाण्ड पंडित एवं ज्ञाता थे।

आश्चर्य तो इस बात का है कि आज से साढे सात सौ वर्ष पूर्व उस युग मे जब कि वैज्ञानिक साधनो का आज की तुलना मे सर्वथा ही अभाव था तथा जांच पड़ताल एव परखने और शोध खोज की सुविधाए सर्वथा सीमित थी, ऐसी अभाव की परिस्थितियो में एक जैन कवि, जिसे सभी जैन परम्पराओं का निर्वाह भी करना पड़ता होगा, कैसे इतना गम्भीर चिन्तन मनन एव शोध खोज पूर्ण अध्ययन कर "मृग पक्षी शास्त्र" जैसे विख्यात प्रामाणिक विशाल ग्रंथ की रचना कर सका। और भावी पीढ़ी के लिए एक अनूठी विरासत छोड सका। अपने आपमें यह एक अद्भुत आश्चर्य ज्ञात होता है।

यह ग्रन्थ सर्वथा अनुपलब्ध है, मैं बहुत प्रयास कर चुका हूं कि कही से उसकी पान्डुलिपि अथवा प्रकाशित् प्रति उपलब्ध हो जावे पर सर्वथा निराश रहा, कृपालु पाठकों से विनम्र विवेदन है किसी को यह ग्रन्थ मिल सके या इसके बारे में कोई जानकारी उपलब्ध हो सके तो कृपया मुझे सूचित करें, मैं तो बड़े-बड़े विश्वविद्यालयो के Zcology Depatts के प्रोफेसरों से भी सपर्क साध चुका हूं पर सर्वथा निराश रहा।

श्री डा० वेलंकर ने अपने "जिनरत्नकोश" में इसका उल्लेख करते हुए पेलेस लाइब्रेरी त्रिवेन्द्रम में इसकी पाण्डुलिपि होने की सम्भावना व्यक्त की है पर वहां से पत्र व्यवहार में भी मुझे सफलता नही मिली। डा० बेलकर ने लिखा है .—"मृग पक्षी शास्त्र" of Sh. Hansdeva a protege of kings shoundadava . It is in two parts containing total work of 1712 stanzas It is a rare work an zoology and a Mrs. of it is presented ıu the palace library of Trivendrum . The auther is said to have lived in the 13th centerry "

उपर्युक्त ग्रन्थ की सर्वप्रथम जानकारी मद्रास के *एपिग्राफिस्ट श्री विजय राघवाचार्य को प्राप्त हुई थी।* इसकी प्रतिलिपि अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान श्री के० सी० वुड अमेरिका लेगये थे। जब जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान श्री आटोमेडर को इस महत्वपूर्ण कृति का पता चला तो वे इसका अग्रेजी और जर्मनी मे अनुवाद करना चाहते थे, पर वे प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान सन् १९१४ में नजरबन्द कर लिए गये थे और दुर्भाग्यवश यह पुनीत कार्य तब रुक गया, सन् १९२५ मे ग्रन्थ सर्वप्रथम देवनागरी में प्रकाशित हुआ तथा सुन्दराचार्य ने इसका अग्रेजी अनुवाद किया जो सन् १९२७ मे प्रकाशित हुआ, पर कहां से ? प्रकाशित कराया वह जानकारी उपलब्ध नही होती है संभवत. "*इन साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका*" में कुछ जानकारी प्राप्त हो सके।

इस तरह के ग्रयों की श्रेणी में "गवायुर्वेद," गज-चिकित्सा अश्वचिकित्सा आदि प्रकरण आयुर्वेदिक ग्रंथो में उपलब्ध होते हैं पर सर्वांग पूर्ण रचना यह अपने आप में एक ही है। केवल हाथियों के बारे में विस्तृत विवेचन करने वाली दो विस्तृत कृतियां उपलब्ध होती हैं एक है श्री पालकाप्यकृत 'हस्ति आयुर्वेदिक' तथा दूसरी है श्री *नीलकण्ठकृत "मातङ्गलीलां।" ये दोनों ही कृतियां बड़ी* प्रामाणिक विस्तृत एवं विख्यात हैं इनमें सिर्फ हाथियों के बारे में ही विस्तार से चर्चा एवं विशद विवेचन किया गया है। घोड़ों की विशेषताओं का विशद विश्लेषण करने वाला एक विशाल ग्रंथ 'अश्व वैद्यकम्' श्री जयदेव ने रचा था। कुमाऊं के महाराजा श्री रुद्रदेव ने बाज पक्षीं की प्रामाणिक जानकारी अपने ग्रंथ "श्येनिक शास्त्र" में विस्तार से दी है ? इस तरह यूरोपीय विद्वानों का यह दावा है कि प्राणी विज्ञान का आविष्कार *अठारहवीं* शताब्दी में उनके द्वारा हुआ सर्वथा निराधार सिद्ध होता है। यूरोपीय विद्वानों से पूर्व ही भारतीय विद्वान इस क्षेत्र में पर्याप्त और प्रामाणिक एवं विशाल साहित्य की रचना कर चुके थे।

भारतवर्ष राजा महाराजाओं का देश था अतः हर राज घराने मे प्रत्येक राजा तथा राजकुमार आखेट क्रीडा में निपुण एवं निष्णात हुआ करते थे। आखेट उनका *व्यसन एव ज्ञान-वृद्धि का साधन हुआ करता था,* इसे एक उच्च स्तर का खेल एव मनोविनोद तथा मनोरंजन का साधन माना जाता था। अतः राजाओं एवं राजकुमारों तथा उनके सहयोगियो का प्रकृतिविज्ञान एव प्राणी विज्ञान के क्षेत्र दक्षता एव नैपुण्य और कोशल प्राप्त कर लेना कोई आश्चर्य या विस्मय की बात न थी। यह तो भारतीय दासता थी जो अभिशाप बनी और उसने हमारे ज्ञान, कौशल, हस्त शिल्प नैपुण्य, दक्षता, वैज्ञानिक प्रतिभा आदि सभी गुणो का ह्रास करा दिया और विदेशी लोग हमारी विशेषताओं को लेकर स्वय साधन सम्पन्न बनकर अपना प्रभुत्व एवं वर्चस्व दिखाने लगे। अस्तु…

"मृग पक्षी शास्त्र" जैसा महत्वपूर्ण ग्रंथ कैसे रचा गया। इसकी अपनी ऐतिहासिक गाथा है, वह इस प्रकार है कि जिनपुर के महाराज श्री शौण्डदेव एक बार आखेट क्रीड़ा के लिए वन में गये और ढोल नगाड़े बजवाकर

हांका लयवाया जिससे वन के सारे पशु एक स्थल पर एकत्रित हो गये। महाराज ने जब इस पशु समूह को देखा तो उनके मनोहारी सौन्दर्य से एकदम प्रभावित एवं आल्हादित हो उठे और मन ही मन सोचने लगे कि यदि आखेट द्वारा इस पशु सम्पदा को नष्ट कर दिया तो हमारे सारे वन निर्जीव और शून्य हो जावेगें तथा उनकी प्राकृतिक आभा एवं सौन्दर्य नष्ट हो जावेगा तथा इनका विज्ञान सदा सदा के लिए लुप्त हो जावेगा और हम उससे सदा के लिए वंचित हो जावेगें, अतः महाराज बिना आखेट के ही राजमहल लौट आये तथा अपना दरबार आयोजित किया और सभी पंडितों, विद्वानों एवं ज्ञानियों से आग्रह किया कि प्रकृति जगत एवं प्राणी विज्ञान की सुरक्षा के लिए वनवासी प्राणियों पर एक प्रामाणिक तथा विज्ञान सम्मत ग्रन्थ लिखा जावे जिससे प्राणीविज्ञान सदा सदा के लिए सुरक्षित रह सके और वन्य पशुओं के साथ साथ मानव जगत का भी कल्याण हो।

महाराज शौण्डदेव की अन्तर्व्यथा तथा प्राणी विज्ञान एवं प्रकृति जगत की जिज्ञासा से उनके मंत्री ताराचन्द जी विचलित हुए बिना न रह सके उन्होंने महाराज की अभिलाषा पूर्त्यर्थ विज्ञान की खोज की ओर महाराज से निवेदन किया कि अपनी नगरी मे जैन कवि पं. हंसदेवजी इस विज्ञान के महापंडित एवं कला पारायणी हैं। वे आपकी अभिलाषा पूर्ण कर सकते हैं; महाराज शौण्डदेव ने तत्काल ही पं. हंसदेव जी को ससम्मान राजसभा मे आमंत्रित कर अभिलाषा प्रकट की। प. हंसदेव जी महाराज श्री का आग्रह न टाल सके और महाराज की प्रसन्नता एवं अपने ज्ञान को अभिवृद्धि एव प्राणी विज्ञान को चिरस्थायित्व देने के लिए उन्होने "मृगपक्षी शास्त्र" नामक प्रामाणिक एवं श्रेष्ठ वैज्ञानिक ग्रंथ की रचना की, जो प्राणी विज्ञान के इतिहास में स्वर्णाक्षरों मे अंकनीय है। साढ़े सात सौ वर्ष पूर्व लिखा ऐसा अनूठा ग्रंथरत्न अन्यत्र दुर्लभ है।

इस ग्रथ मे प्रमुख पशु पक्षियो के ३६ वर्ग है जिनमे उनके रूप, रंग, प्रकार स्वभाव, किशोरावस्था, संभोगकाल, गर्भकाल, प्रसूतकाल, भोजन, आयु आदि-आदि नाना विशेषताओं का वर्णन किया है। कवि के अनुसार पशु-पक्षियों में रजो गुण और तमोगुण ही पाये जाते हैं। सत्वगुणों का इनमें सर्वथा अभाव रहता है वह तो केवल मानव जगत में ही उपलब्ध होता है, उपर्युक्त गुणों में से प्रत्येक गुण उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन-तीन भागों में विभाजित किया गया है। कवि के कथनानुसार सिंह, हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, सारस, हंस, कोयल, कबूतर, आदि प्राणियों मे उत्तम राजस गुण पाया जाता है। चीता, बकरा, मृग बाज आदि में मध्यम राजस तथा भालू, भैंसा, गैंडा आदि मे अधम राजस गुण पाया जाता है। इसी तरह ऊंट, भेडिया, कुत्ता, मुर्गा आदि में उत्तम तामस गीध, उल्लू, तीतर आदि में मध्यम तामस तथा गधा, सुअर, बन्दर, स्यार, बिल्ली, चूहे, कौए आदि में अधम तामस गुण पाया जाता है।

आयु के विषय मे कवि का कहना है कि हाथी १०० वर्ष, गैंडा २२, ऊंट ६०, घोडा २५, सिंह, भैंस, बैल, गाय आदि २० वर्ष, चीता १६ वर्ष, गधा १२ बंदर, कुत्ता, सुअर, आदि १०, बकरा ६, हंस ७, मोर ३; चूहा और खरगोश डेढ वर्ष, तक की आयु प्राप्त करते हैं। कवि ने शेरों के छः भेद गिनाये हैं : १ सिंह, २ मृगेन्द्र, ३ पञ्चास्य, ४ हर्यक्ष, ५ केसरी, ६ हरि। इनके रूप, रंग, आकार, प्रकार तथा कार्य आदि की भिन्नताएं भी बड़े विस्तार से वर्णित की गई हैं। जब सिंह ३ या ७ वर्ष का होता है। तो उसकी कामुकता बढ़ने लगती है। विशेषतया वर्षा ऋतु में वह बहुत कामुक हो जाता है। यह पहले तो मादा को चाटकर, फिर पूंछ हिलाकर, फिर कूद फांदकर, फिर जोर से गर्जना करके उसे अपनी ओर आकर्षित करने का भरपूर प्रयास करते हैं। इनका संभोग काल अर्धरात्रि होता है। गर्भावस्था मे मादा सिंह के साथ ही घूमती फिरती तथा शिकार खोजती रहती है। गर्भकाल मे मादा की भूख कम पड़ जाती है तथा शिथिलता और कमजोरी सताने लगती है, धीरे धीरे प्रसव के नजदीक आते-आते शिकार से विमुख होने लगती है, वह ६ से १२ माह के बीच ५ बच्चो तक को जन्म देती है। इनका प्रसवकाल प्रायः बसन्त का अन्त या ग्रीष्म का

आरम्भ काल होती है। यदि प्रसव शरद ऋतु में होता है तो बच्चे दुर्बल और शक्ति हीन होते हैं। बच्चे ६-४ माह तक ही माँ का दूध पीते है फिर गरज गरज कर शिकार की तलाश मे भागने दौड़ने लगते हैं, इन्हे चिकना और कोमल मांस अधिक रुचिकर होता है। इनका किशोर काल २-३ वर्ष की आयु से प्रारभ होने लगता है तथा तभी से इनके क्रोध की मात्रा भी बढ़ने लगती है। ये लोग भूख सहन नहीं कर पाते हैं और पूर्णतया निर्भीक होते हैं। इसीलिये ये पशुओं के राजा कहलाते हैं।

ग्रन्थ मे प्रत्येक प्रकार के शेर की विभिन्न विशेषताओ का विस्तार से वर्णन किया गया है जैसे सिंह की गर्दन के बाल बड़े घने होते है रूप सुनहरा होता है पीछे की ओर कुछ कुछ सफेद होता है और वे तीर की भाँति तेज दौड़ते है। परन्तु मृगेन्द्र की गति गभीर और मद होती हैं इसकी आखें सुनहली और मूछें बड़ी बड़ी लम्बी होती है इसके शरीर पर चकत्ते होते है। पचास्य उछल-उछल कर चलता है, इनकी जिह्वा बाहर लटकती रहती है, इन्हे नीद बहुत आती है हर समय ऊघते ही रहते है। हर्यक्ष को हर समय पसीना ही आता रहता है। केसरी का रंग लाल होता है जिसमे धारियो पड़ी रहती है। हरि का शरीर छोटा होता है। इसी तरह और भी अन्य पशु, पक्षी, हाथी, घोडे, गाय, बैल, बकरे, गधे, कुत्ते, बिल्ली, चूहे आदि के अनेको भेद वर्ग तथा विशेषताए दर्शायी गई है। कवि ने परि समापन करते हुए लिखा है कि इन पशु पक्षियों की रक्षा से मनुष्य को बड़ा लाभ तथा पुण्य प्राप्ति होती है और ये प्राणी मनुष्य को नाना तरीको से सहायता एवं मदद करते हैं।

ग्रथ का दूसरा भाग पक्षियो से सम्बन्धित है जो अण्डज कहलाते हैं। जो उन्हें अपने कर्मानुसार यह अण्डज योनी प्राप्त होती है। पक्षी बड़े चतुर होते हैं अपने अण्डे कब छोड़ना चाहिए इसका विस्मयकारी बोध इन्हें जन्म से ही प्राप्त होता है, ये पक्षी घर और वन दोनों की ही शोभा है।

इनसे प्यार करना भारतीय सस्कृति का मूल मंत्र है। तोता, मैना, हंस, तीतर, बटेर आदि पक्षी अभी भी पाले जाते हैं। पक्षियों में सबसे अधिक चतुर कोयल होती है जो अपने बच्चो का पालन कौओं से करवाती है इसी-लिए सस्कृत मे कोयल को परभृत' शब्द से पुकारा जाता है। ग्रन्थ के इस भाग में हंस, चन्द्रवाक, सारस, गरुड़, काक, बक, शुक, मयूर, कपोत आदि अनेकों पक्षियों के नाना प्रकार भेद व वर्गो का वर्णन किया गया है, इनके सौन्दर्य और सुकुमारता का बड़ा ही मनोहारी एवं रोचक वर्णन दिया गया है। इसमे कुल २२५ पशु पक्षियों का विवरण बडे विस्तार एव रोचकता से सटीक एव प्रामाणिक ढग से प्रस्तुत किया गया है जो विज्ञान की कसौटी पर सर्वथा खरा उतरता है। पर खेद हैं कि इतने बड़े वैज्ञानिक विद्वान कवि हंसदेव का विस्तृत जीवन परिचय हमे उपलब्ध नही हो पा रहा है। कृपालु पाठकों से निवेदन है कि जिन्हे इस सबध मे जो भी जानकारी उपलब्ध हो उसे पत्र पत्रिकाओ मे प्रकाशित करावें तथा मुझे भी निम्न पते पर सूचित कर कृतार्थ करे। इत्यलम्। इस लेख के लिए अक्तूबर १९८१की सरस्वती पत्रिका का उपयोग किया गया है एतदर्थ कृतज्ञता एव आभार प्रदर्शित करता हूं।

"श्रुत कुटीर"
६८, कुन्ती मार्ग विश्वास नगर
शाहदरा दिल्ली-११००३२
१५ जुलाई ८४

'कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥'—

—कुन्दकुन्दाचार्य

भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव

□ श्री आर्यिका ज्ञानमती माता जी

दिगम्बर जैन आम्नाय में श्री कुन्दकुन्दचार्य का नाम श्री गणधर देव के पश्चात् लिया जाता है। अर्थात् गणधर देव के समान ही इनका आदर किया जाता है और इन्हें अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। यथा—

मंगलं भगवान वीरो, मगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मगलम् ॥

यह मंगल श्लोक शास्त्र स्वाध्याय के प्रारम्भ मे तथा दीपावली के वही पूजन व विवाह आदि के मगल प्रसग पर भी लिखा जाता है। ऐसे आचार्य के विषय मे जैनेन्द्र-सिद्धांत कोश के लेखक लिखते हैं—

आप अत्यन्त वीतरागी तथा अध्यात्मवृत्ति के साधु थे। आप अध्यात्म विषय मे इतने गहरे उतर चुके थे कि आपके एक-एक शब्द की गहनता को स्पर्श करना आज के तुच्छ बुद्धि व्यक्तियों की शक्ति के बाहर है। आपके अनेको नाम प्रसिद्ध है। तथा आपके जीवन मे कुछ ऋद्धियों व चमत्कारिक घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है। अध्यात्मप्रधानी होने पर भी आप सर्व विषयो के पारगामी थे और इसीलिए आपने सर्व विषयो पर ग्रन्थ रचे हैं। आज के कुछ विद्वान इनके सम्बन्ध में कल्पना करते हैं कि इन्हें करणानुयोग व गणित आदि विषयों का ज्ञान न था, पर ऐसा मानना उनका भ्रम है क्योकि करणानुयोग के मूलभूत व सर्व प्रथम,ग्रन्थ षट्खंडागम पर आपने एक परिकर्म नाम की टीका लिखी थी, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह टीका आज उपलब्ध नहीं है।

इनके आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़कर अज्ञानी जन उनके अभिप्राय की गहनता को स्पर्श न करने के कारण अपने को एक दम शुद्ध बुद्ध व जीवन्मुक्त मानकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं, परन्तु वे स्वयं महान् चारित्र-वान् थे। भले ही अज्ञानी जगत् उन्हें न देख सके, पर उन्होंने अपने शास्त्रों में सर्वत्र व्यवहारनय व निश्चयनयो का साथ साथ कथन किया है। जहां वे व्यवहार को हेय बताते हैं वहां उसकी कथचित् उपादेयता बताये बिना नहीं रहते। क्या ही अच्छा हो कि अज्ञानी जन उनके शास्त्रों को पढकर संकुचित एकांतदृष्टि अपनाने के बजाय व्यापक अनेकांत दृष्टि अपनायें।"

यहाँ पर उनके नाम, उनका श्वेताम्बरों के साथ वाद, विदेहगमन, ऋद्धि प्राप्ति, उनकी रचनायें, उनके गुरु, उनका जन्म स्थान और उनका समय इन आठ विषयों का किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

१. नाम—मूलनदि संघ की पट्टावली मे पांच नामों का उल्लेख है—

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनदीति तन्नुतिः ॥

कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव एलाचार्य गृच्छपिच्छ और पद्मनंदि। मोक्ष पाहुड़ की टीका समाप्ति मे भी ये पाँच नाम दिये गये हैं तथा देवसेनाचार्य, जयसेनाचार्य आदि ने भी इन्हे पद्मनदी नाम से कहा है। इनके नामो की सार्थकता के विषय मे प० जिनदास फडकुले ने मूलाचार की प्रस्तावना मे कहा है—इनका कुन्दकुन्द यह नाम कौण्डकुण्ड नगर के निवासी होने से प्रसिद्ध है। इनका दीक्षा नाम पद्मनदी है। विदेह क्षेत्र में मनुष्यों की ऊंचाई ५०० धनुष और इनकी वहाँ पर साढ़े तीन हाथ होने से इन्हें सम शरण मे चक्रवर्ती ने अपनी हथेली मे रखकर पूछा प्रभो-नराकृति का यह प्राणी कौन है। भगवान ने कहा भरतक्षेत्र के यह चारण ऋद्धिधारक महातपस्वी पद्मनदी नामक मुनि हैं इत्यादि। इसलिए उन्होने उनका एलाचार्य नाम रख दिया। विदेह क्षेत्र से लौटते समय उनकी पिच्छी गिर जाने से गृद्धपिच्छ लेना पड़ा, अतः "गृद्धपिच्छ" कहाये। और अकाल मे स्वाध्याय करने से इनकी ग्रीवा टेढ़ी हो गई तब ये वक्रग्रीव कहलाये। पुन. सुकाल में स्वाध्याय से ग्रीवा

ठीक हो गई थी।" इत्यादि।

२. श्वेताम्बरों के साथ वाद गुर्वावली में स्पष्ट है—

पद्मनंदी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी:,

पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती।

उज्जयंतगिरौ तेन गच्छ: सारस्वतोऽभवत्।

अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नम: श्री पद्मनंदिने।"

बलात्कार गणाग्रणी श्री पद्मनंदी गुरू हुये जिन्होंने ऊर्जयंत गिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ, अत: उन पद्मनंदी मुनीन्द्र को नमस्कार हो। पांडवपुराण मे भी कहा है।

कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जतगिरिमस्तके,

सो अवदात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिका कलौ॥

जिन्होंने कलिकाल में ऊर्जयंत गिरि के मस्तक पर पाषाणनिर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा लिया। कवि वृन्दावन ने भी कहा है—

संघ सहित श्री कुन्दकुन्द,
गुरु बंदन हेतु गये गिरनार।
वाद परयो तह संशयमति सो,
साक्षी बदी अंबिकाकार।
"सत्यपंथनिर्ग्रंथ दिगम्बर",
कही सुरी तहं प्रकट पुकार।
सो गुरुदेव बसौ उर मेरे,
विघन हरण मंगल करतार।

अर्थात् श्वेताम्बर संघ ने वहां पर पहले वंदना करने का हठ किया तब निर्णय यह हुआ कि जो प्राचीन सत्यपथ के हों वे ही पहले वन्दना करें। तब श्री कुन्दकुन्द देव ने ब्राह्मी की मूर्ति से कहलवा दिया कि सत्यपंथनिर्ग्रंथ दिगम्बर" ऐसी प्रसिद्धि है।

३. विदेह गमन—देवसेनकृत दर्शन सार ग्रन्थ सभी को प्रमाणिक है। उसमें लिखा है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेन।

ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति। ४३।

यदि श्री पद्मनंदिनाथ सीमंधर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान से बोध न देते तो श्रमण सच्चे मार्ग को कैसे जानते। पंचास्तिकाय टीका के प्रारम्भ में श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है······प्रसिद्ध कथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा-वीतरागसर्वज्ञसीमंधर स्वामितीर्थंकर परमदेवं दृष्ट्वा च तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवर्ण ···· पुनरप्यागतै: श्री कुन्द कुन्दाचार्यदेवै:।" श्री श्रुतसागरसूरि ने भी षटप्राभृत की प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में "पूर्वविदेह पुंडरीकिणी नगरवंदित सीमंधरापर-नामक स्वयंप्रभजिनेन तज्ज्ञानसंबो-धित भारतवर्ष भव्यजनेन।" इत्यादि रूप से विदेहगमन की बात स्पष्ट कही है।

४. ऋद्धिप्राप्ति—श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा नामक पुस्तक ४ भाग के अन्त में बहुत सी प्रशस्तियां दी हैं। उनमे देखिये।

श्री पद्मनंदीत्यनवद्यनामा।

ह्याचार्य शब्दोत्तरकौण्ड कुन्द:।"

द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्र संजातसुचारणर्द्धि: [१]।

"वंद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्द:,

कुन्दप्रभा-प्रणयिकीर्तिविभूषिताशः।

भश्चारुचारणकराम्बुजचंचरीकश्चक्रे—

श्रुतस्य भरते प्रयत: प्रतिष्ठाम् [२]।

"श्रीकोण्ड कुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्वं य—

मादुद्गतचारणर्द्धि: [३]।

······चारित्र संजातसुचारणर्द्धि: [४]।

"तद्वंशाकाशदिनमणिसीमंधरवचनामृतपान—

संतुष्टचित्त श्री कुन्दकुन्दाचार्येणाम् [५]।

इन पांचों प्रशस्तियों में श्री कुन्दकुन्द के चारण सिद्धि का कथन है। तथा जैनेंद्रसिद्धांत कोश में—२ शिलालेख नं० ६२. ६४, ६६, ६७, २५४, २६१, पृ० २६३-२६६ कुन्दकुन्दाचार्य वायु द्वारा गमन कर सकते थे। उपरोक्त सभी लेखों से यही घोषित होता है।

४—जैन शिलालेख संग्रह। पृ० १६७-१६८ "रजो भिरस्पष्टतमत्वमन्तर्बाह्यापि संव्यंजयितुं यतीश:। रज पदं भूमितलं विहाय, चचार मन्ये चतुरंगुलं स:।

यतीश्वर श्री कुन्दकुन्ददेव रज: स्थान को और भूमि-तल को छोड़कर चार अंगुल ऊंचे आकाश में चलते थे।

उसके द्वारा मैं यों समझता हूं कि वह अन्दर में और बाहर में रज से अत्यन्त अस्पष्टपने को व्यक्त करता हुआ।

"हल्ली नं० २१ ग्राम हेग्गरे में एक मन्दिर के पाषाण पर लेख-स्वस्ति श्री वर्द्धमानस्य शासने। श्री कुन्दकुन्दनामाभूत् चतुरंगुलचारणे।" श्री वर्द्धमान स्वामी के शासन में प्रसिद्ध श्री कुन्दकुन्दाचार्य भूमि से चार अंगुल ऊपर चलते थे।

ष० प्रा०। मो० प्रशस्ति। पृ० ३७६ "नामपंचक-विराजितेन चतुरंगुलाकाशगमर्नाद्धता नाम पंचक विराजित। श्री कुन्दकुन्दाचार्य। ने चतुरंगुल आकाश गमन ऋद्धि द्वारा विदेह क्षेत्र की पुंडरीकिणी नगर में स्थित श्री सीमंधर प्रभु की वंदना की थी।"

भद्रबाहु चरित में राजा चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नो का फल कहते हुए आचार्य ने कहा है कि "पंचमकाल मे चारणर्द्धि आदि शक्तियां प्राप्त नही होती अत. यहा शका होना स्वाभाविक है किन्तु वह ऋद्धि निषेध कथन सामान्य समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यही है कि पंचम काल में ऋद्धि प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, तथा पचम काल के आरम्भ मे नही है आगे अभाव है ऐसा भी अर्थ समझा जा सकता है। यही बात पं० जिनराज फडकुले ने मूलाचार की प्र० मे कही है।

ये तो हुई इनके मुनि जीवन की विशेषताये, अब आप इनके ग्रथों को देखिये—

५. ग्रथ रचनायें—कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार आदि ८४ पाहुड़ रचे, जिनमे १२ पाहुड़ ही उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में सर्व विद्वान एकमत है। परन्तु इन्होंने षट्खंडागम ग्रंथ के प्रथम तीन खंडों पर भी १२००० श्लोक प्रमाण "परिकर्म" नाम की टीका लिखी था, ऐसा श्रुतावतार में इन्द्रनंदि आचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है इस ग्रंथ का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके आधार पर ही आगे उनके काल सम्बन्धी निर्णय करने में सहायता मिलती है।

एवं द्विविधो द्रव्य—
भावपुस्तकगतः समागच्छत्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः
सिद्धांतः कोण्ड कुन्डपुरे॥
श्री पद्मनंदिमुनिना सोऽपि
द्वादशसहस्रपरिमाण।
ग्रंथपरिकर्मकर्ता
षट्खडाद्यत्रिखडस्य॥

इस प्रकार द्रव्य व भाव दोनों प्रकार के श्रुतज्ञान को प्राप्त करके गुरू परिपाटी से आये हुए सिद्धांत को जानकर श्री पद्मनंदि मुनि ने कोण्डकुण्डपुर ग्राम में १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्मनाम षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडो की व्याख्या की। इनकी प्रधान रचनायें निम्न है।

षट्खंडागम के प्रथम तीन खडों पर परिकर्म नाम की टीका-समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, पंचास्तिकाय, रयणसार, इत्यादि ८४ पाहुड़, मूलाचार, देशभक्ति, कुरलकाव्य[८]।

इन ग्रथों मे रयणसार श्रावक व मुनिधर्म दोनों का का प्रतिपादान करता है। मूलाचार मुनि धर्म का वर्णन करता है। अष्टपाहुड के चारित्रपाहुड़ में संक्षेप से श्रावक धर्म वर्णित है। कुरलकाव्य नीति का अनूठा ग्रन्थ है। और परिकर्म टीका में सिद्धांत कथन होगा। दश भक्तियों, में सिद्ध, श्रुत, आचार्य आदि की उत्कृष्ट भक्ति का ज्वलंत उदाहरण है। शेष सभी ग्रन्थ मुनियों के सरागचरित्र और निर्विकल्पक समाधिरूप वीतरागचारित्र के प्रतिपादक हैं।

६. गुरू—गुरू के विषय मे कुछ मतभेद हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली इनके परम्परा गुरू थे। कुमारनंदि आचार्य शिक्षागुरू हो सकते हैं। किन्तु प्रशस्तियों से यह स्पष्ट है कि इनके दीक्षा गुरू "श्री जिनचन्द्र" आचार्य थे।

७. जन्म स्थान—इसमे भी मदभेद है—जेनेन्द्र सि० कोश में कहा है—

"कुरलकाव्य। प्र० २१ पं० गोविन्दराय शास्त्री" "दक्षिणोदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्म सीत। एलाचार्यो नाम्नो द्रविड़ गणाधीश्वरो धीमान्।" यह श्लोक हस्त-

लिखित ग्रंथ ग्रन्थ में से लेकर लिखा गया है जिससे ज्ञात होता है कि महात्मा एलाचार्य दक्षिण देश के मलय प्रान्त में हेमग्राम के निवासी थे। और द्रविड़संघ के अधिपति थे। मद्रास प्रेसीडेन्सी के मलया प्रदेश में "पोन्नूर्गांव" को ही प्राचीनकाल में हेमग्राम कहते थे, और संभवतः वहीं कुन्दकुन्दपुर है। इसी के पास नीलगिरी पहाड़ पर श्री एलाचार्य की चरणपादुका बनी हुई है।[९] पं० नेमिचन्द्र जी भी लिखते हैं—"कुन्दकुन्द के जीवन परिचय के संबंध में विद्वानों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है······कि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम कर्मण्डु और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म "कौण्डकुन्दपुर" नामक ग्राम मे हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम "कुरमरई" भी कहा गया है यह स्थान पेदथ-नाडु" नामक जिले में है।[१०]"

६. समय—आचार्य कुन्दकुन्द के समय में भी मतभेद है। फिर भी डा० ए० एन० उपाध्याय ने इनको ई० सन प्रथम शताब्दी का माना है। कुछ भी हो ये आचार्य श्री भद्रबाहु आचार्य के अनंतर ही हुये हैं यह निश्चित है क्योंकि इन्होंने प्रवचनसार और अष्टपाहुड़ में सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का अच्छा खंडन किया है।

नंदिसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुन्दकुन्द वि० सं० ४९ मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुये। ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने १५ दिन की थी।[११]

आपने आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव का संक्षिप्त जीवन परिचय देखा है। इन्होंने अपने साधु जीवन में जितने ग्रंथ लिखे है, उससे सहज ही यह अनुमान हो जाता है कि इनके साधु जीवन का बहुभाग लेखन कार्य में ही बीता है, और लेखन कार्य जंगल में विचरण करते हुये मुनि कर नहीं सकते। बरसात, आंधी, पानी, हवा आदि में लिखे गये पेजों की या ताड़पत्रों की सुरक्षा असंभव है। इससे यही निर्णय होता है कि ये आचार्य मन्दिर, मठ, धर्मशाला, बसतिका आदि स्थानों पर ही रहते होंगे।

कुछ लोग कह देते हैं कि कुन्दकुन्ददेव अकेले ही आचार्य थे। यह बात भी निराधार है, पहले तो वे संघ नायक महान आचार्य गिरनार पर्वत पर संघ सहित ही पहुंचे थे। दूसरी बात गुर्वावली[१२] में श्री गुप्तिगुप्त, भद्रबाहु आदि से लेकर १०२ आचार्यों की पट्टावली दी है। उसमें इन्हें पांचवे पट्ट पर लिया है। यथा—१. श्री गुप्तिगुप्त, २. भद्रबाहु, ३. माघनंदी, ४. जिनचन्द्र, ५. कुन्दकुन्द, ६. उमास्वामि आदि। इससे स्पष्ट है कि जिनचन्द्र आचार्य ने इन्हें अपना पट्ट दिया, पश्चात् इन्होंने उमास्वामि को अपने पट्ट का आचार्य बनाया। यही बात नंदिसंघ की पट्टावली के आचार्यों की नामावली में है। यथा—"४". जिनचन्द्र, ५. कुन्दकुन्दाचार्य, ६. उमा स्वामि।[१३]" इन उदाहरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि ये महान संघ के आचार्य थे। दूसरी बात यह भी है कि इन्होंने स्वयं अपने "मूलाचार" में "माभूद मेसत्तु-एगागी" मेरा शत्रु भी एकाकी न रहे" ऐसा कहकर पंचम काल में एकाकी रहने का मुनियों के लिए निषेध किया है। इनके आदर्श जीवन, उपदेश व आदेश से आज के आत्म हितैषियों को अपना श्रद्धान व जीवन उज्ज्वल बनाना चाहिए ऐसे महान जिनधर्म प्रभावक परम्पराचार्य भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव के चरणों में मेरा शत-शत नमोऽस्तु।

□

सन्दर्भ-सूची

१. जैनेन्द्रसिद्धांत कोश भाग २, पृ० १२६
२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृ० ३६८।
३. पुस्तक वही पृ० ३७४।
४. पु० वही पृ० ३८३।
५. पु० वही ३८७।
६. पु० वही पृ० ४०४।
७. जैनेन्द्र सि० को० भा० २ पृ० १२७।
८. जैनेन्द्र सि० को० पृ० १२८।
९. जै० सि० क० पृ०
१०. तीर्थंकर महावीर पृ० १०१।
११. जैनधर्म का प्राची इतिहास···भाग २ पृ० ८५।
१२. "तीर्थंकर महावीर···" पृ० ३९३।
१६. "तीर्थंकर···पृ० ४४१।

संस्कृत त्रिसंधान (देवशास्त्र गुरु) पूजा

□ पं० श्री रतनलाल कटारिया

प्रसिद्ध कटारिया ट्रान्सपोर्ट कम्पनी के संस्थापक हमारे चचेरे भाई बाबू सोभागमलजी कटारिया केकड़ी निवासी (अहमदाबाद प्रवासी) का विवाह १६.२.५१ को हुआ था। बारात बसवा ग्राम गई थी वहां का दि० जैन शास्त्र भंडार पुराना है। वहां से हमारे पूज्य पिता जी और पं० दीपचन्द जी पाण्ड्या ३ प्राचीन हस्त लिखित गुटके लाये थे उनमें से एक गुटका वि० स० १५६३ का है उसमें ६० पत्र हैं। जिनमें संस्कृत-प्राकृत की अनेक रचनायें हैं जो प्राय. शुद्ध हैं। इनमें संस्कृत "त्रिसंधान-पूजा" भी है, यह वही पूजा है जो आजकल देवशास्त्र गुरु पूजा (संस्कृत) के नाम से प्रसिद्ध है। इस 'त्रिसंधान-पूजा' में सात-द्रव्य चढ़ाने पर्यन्त, प्रचलित पद्धति से मात्र इतना अन्तर है कि प्रचलित पद्धति में जहाँ देव-शास्त्र गुरु की स्थापना का पृथक्-पृथक् निर्देश है वहां इसमें पृथक-पृथक पुष्पांजलि क्षेपण कर क्रमश: देव शास्त्र और गुरु की पूजा-प्रतिज्ञा की गई है। इसमे अर्घ का छन्द नही दिया गया है और ना ही अर्घ का विधान है। इससे आगे 'ऋषभोऽजित नामा च···शांति कुर्वन्तु शाश्वती' पर्यन्त पाठ है और उसके बाद—

अथ सिद्धभक्ति—कायोत्सर्गं करोम्यहं ॥

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण ॥ तावकायं पावकम्म दुच्चरिय मिच्छात्त वोस्सरामि। जय नमोऽस्तु ते अर्हन् ॥ अत्र जाप्य उच्छ्वास २७ दत्वा वोस्सामिस्त्यादि सिद्धासिद्धिमम दिसतु ॥

जयमगलभूयाण, विमलाण णाणदंसणमयाण।
तइ लोयसेहराणं, णमो मया सव्वसिद्धाण ॥१॥
तत्र सिद्धेणयसिद्धे, सजमसिद्धे चरित्रसिद्धेय।
णाणम्मिय, सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥२।
सम्मत्तणाण दसण, वीरिय सुहुम तहेव अवगहण।
अगुरुलहु मव्वबाहं, अट्ठ गुणा होंति सिद्धाणं ॥३॥
अथ श्रुतज्ञानभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं ॥

अर्हद् वक्त्रप्रसूतं, गणधररचितं द्वादशांगं विशालं।
चित्रं बह्वर्थ युक्तं, मुनिगणवृषभैर्धारितं बुद्धिमद्भिः ॥
मोक्षाग्रद्वारभूतं, व्रतचरणफलं ज्ञेयभावप्रदीपं।
भक्त्या नित्यं प्रवंदे, श्रुतमहमाखिलं सर्वलोकैकसारं ॥१॥
जिनेन्द्र वक्त्र प्रतिनिर्गतंवचो, यतीन्द्रभूतिप्रमुखैर्गणाधिपैः।
श्रुतं धृतंतैश्चपुनःप्रकाशितं द्वि षटप्रकारं प्रणमाम्यहश्रुतं २
कोटीशतद्वादशचैव कोटयो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानिचैव।
पचाशदष्टौ च सहस्रसंख्यमेतत् श्रुत पंचपदं नमामि ॥३।
अरहंत भासियत्थ, गणहर देवेहिं गथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तों सुयणाणमहोवहिं सिरसा ॥४॥
अथ आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ॥
ये नित्यं व्रतमंत्र होमनिरता, ध्यानाग्नि होत्राकुलाः।
षट्कर्माभिरता स्तपोधनधनाः, साधुक्रिया साधनः ॥
शील प्रावरणाः गुणप्रहरणश्चन्द्रार्कतेजोऽधिकाः।
मोक्षद्वारकपाटपाटनभटाः, प्रीणन्तु मां साधवः ॥१॥

गुरवः पान्तु वो नित्यं, ज्ञानदर्शननायकाः।
चारित्रार्णवगंभीराः, मोक्षमार्गोपदेशकाः ॥२॥
छत्तीसगुण समग्गे, पंचविहाचारकरण संदरिसे।
सिस्साणुग्गह कुसले, धम्माइरिए सदावंदे ॥३॥
गुरुभत्ति संजमेण य तरंति ससार सायरं घोर।
छिण्णंति अट्ठकम्मं, जम्ममरण न पावंति ॥४॥
वउतव सजमु णियमतुणु, सीलु समुज्जलु जासु।
सो वुच्चइ परमायरिउ, वदण किज्जइ तासु ॥५॥
णवकोडितिहिऊणियह, एत्तिउ मुणिहि पवाणु।
तिरयणसुद्धा जेणवहिं, ते प.वहिंणिव्वाणु ॥६॥
मूलगुणहिं जे सजुदा, उत्तरगुणहिं विसाल।
ते हउ चंदाउं आयरिय, तिहुवण तिण्णि वि काल ॥७॥
अट्ठ दी सत्तता छन्नव मज्झम्मि संजदा सव्वे।
अंजलि मउलिय हत्थो, तिरयण सुद्धि नमंसामि ॥८॥
गिम्हे गिरि सिहरत्था, वरिसाले रुक्खमूल रयणीरा।
सिसिरे बाहिर सयणा, ते साहू वंदिमो णिच्चं ॥९॥

गिरिकंदर दुर्गेषु ये वसंति दिगंबुराः ।
पाणिपात्र पुराहारा स्तः याति परमा गतिम् ॥१०॥
ॐ राकाकारं ज्ञानरस प्राग्भार सुनिर्भर विश्वं विश्वाकारो ल्लास लब्धवैचैत्र्य मगाधगभीरं अर्हद्देवं दैवतदेवानामधिदैवय मेकं सम्यग्भक्तया सम्यग्संप्रति सर्वारंभभरेण यजेऽहं ।

स्वास्ति भगवते, सहज ज्योतिषे स्वस्ति, स्वास्ति सहजानंदाय, अर्हद्देवाय स्वास्ति ॥
मरगय पवाल जडियं, हीरामणि विविह रयण बन्नढं ।
अवहरउ सयल दुरियं, जिणस्स आरत्तियं जयउ ॥१॥
नित्यं श्री शांतिनाथस्य सौधर्मेन्द्रो जिनालये ।
कृत्वा मणिमये पात्रे, कुर्वन्ते मंगला तिकम् ॥२॥
दिप्पन्ति कणयपत्ती, मणहर दिप्पंति रमणपज्जलियं ।
आरत्तियं पयासइ, अमरिन्दो जिणवरिन्दस्स ॥३॥
आरत्तिउ पिक्खउ भवियणउ, सुरवइ करपज्जलउ,
रिसह जिणिदउ उत्तरइ, भुवणुज्जोउ करंतु ॥४॥
भुवणज्जोउ करतु अमरमाणिणि णच्चन्तहं ।
फणवइ इन्द नरिद चंद खयरिन्द णमन्तहं ॥५॥
सुरवईकर पज्जलउ मिलिउ जहि मुणिगण भत्तउ ।
कुमइतिमिर णिद्दलणु, भविय पिरवहु आरजिउ ॥६॥
दीवावलि पज्जलिय लुढिय सुरवइकय हत्थिहु ।
मणिमइ भायानिधरिय फुरिय दीहर सुपमत्थिहं ॥७॥
सहसणयगु विहसन्त वयणु जिणवरि उत्तारइ ।
निय भव भवकय रयतमोहु दूरं उत्सारइ ॥८॥
इह आरत्तिउ तिहुवणगुरहु सव्वदिट्ठि समभायणु ।
परिभमइ भरमइ सिद्धु कम्मइ णमेरुहितारायणु ॥९॥
भवणालइ चालीसा विन्तर देवाण होंति बत्तीसा ।
कप्पामर चउवीसा चंदो सूरो णरो तिरियउ ॥१०॥
॥इति त्रिसंधान पूजा समाप्ता ॥

इस पूजा में मुझे क्या क्या विशेषताएं देखने में आई हैं वे नीचे व्यक्त की जाती है :

१—इस पूजा का नाम रचनाकार ने 'देव शास्त्रगुरु पूजा' न देकर 'त्रिसंधान पूजा' ही दिया है। वैसे त्रिसंधान का आशय यहां देवशास्त्र गुरु से ही है। प्रारम्भ में पूजन प्रतिज्ञा के श्लोकों में भी देवशास्त्र गुरु का ही उल्लेख है, अष्ट द्रव्य के श्लोको मे भी चौथा चरण "जिनेन्द्र सिद्धांत यतीन् यजेऽहं" इसी को व्यक्त करता है। इन्हीं के आधार पर सुगमता की दृष्टि से लोगों ने इस पूजा का नाम "देव शास्त्र गुरु पूजा" रख लिया है किन्तु कवि कृत नाम तो 'त्रिसंधान पूजा' ही है। प्रमाण के लिए इस पूजा का नवमां श्लोक देखिए उसमें स्पष्ट लिखा है—"त्रिसंधान विचित्र काव्य रचना मुच्चार यंतो नराः"। किसी को यहाँ त्रिसंधान का अर्थ समझ में न आने से इसकी जगह 'त्रैसंध्यं, पाठ कर दिया है किन्तु इस छंद के प्रत्येक चरण में १९ अक्षर होते हैं जबकि ऐसा करने से १८ ही रह गये तो विचित्र की जगह सुविचित्र कर दिया लेकिन सु पद यहां बेकार और स्वयं में विचित्र है। इसके सिवा संस्कृत व्याकरण से त्रैसंध्यं रूप कभी नहीं बनता। तिसृणां संध्यानां समाहारः—त्रिसंध्यं ही बनता है। उदाहरण के लिए रत्न करंड श्रावकाचार का श्लोक नं० १३४ देखिये—त्रियोग शुद्ध स्त्रिसंध्यमभिवंदी ॥

अन्त में भी इति त्रिसंधान-पूजा नाम दिया है। त्रिसंधान का अर्थ होता है तीन का मेल। इस पूजा में जो आठ द्रव्यों के ८ श्लोक दिये हैं वे प्रत्येक, देव शास्त्र गुरु तीनों पर सार्थक होते हैं यहां एक तीर से तीन निशाने साधे गए हैं। ऐसी शैली धनंजयकृत द्विसंधान महाकाव्य में देखी जा सकती है जहाँ प्रत्येक श्लोक में रामायण और महाभारत दोनों एक साथ चलते हैं। इसी प्रकार की रचनाएं 'सप्तसंधान' महाकाव्य और 'चतुर्विंशति-संधान' आदि हैं।

२—इस पूजा के अष्ट द्रव्य श्लोकों को हिन्दी अर्थ रूप मे पं० द्यानत राय जी ने देव शास्त्र गुरु पूजा और बीस बिहरमान पूजा में इसी संधान शैली से अपनाया है उदाहरण के तौर पर देखिये—'जलद्रव्य'

देवेन्द्र नागेन्द्रनरेन्द्र वंदयान् शुंभत्पदान शोभित सारवर्णान्।
दुग्धाब्धि संस्पर्द्धि गुणैर्जलोघै जिनेन्द्र सिद्धांत यतीन्यजेऽहं
॥१॥ त्रिसंधान पूजा

सुरपति उरग नर नाथ तिनकर वंदनीक सुपदप्रभा,
अति शोभनीक सुवर्ण उज्जवल देख छवि मोहित सभा।
वरनीर क्षीर समुद्र घटभरि, अग्रतसु बहुविधि नचूं।
अरिहंतश्रुत सिद्धांत गुरु निर्ग्रन्थ नित पूजा रचूं ॥१॥ देव शास्त्र गुरु पूजा (हिन्दी)

इन्द्र फणीन्द्र नरेन्द्र वंद्य पद निर्मलधारी, शोभनीक संसार
सार गुण हैं अविकारी।
क्षीरोदधि समनीर सों पूजों तृषा निवार, (सीमंधर जिन
आदि दे बीस विदेह मंझार ।।१।। बीस विहरमान पूजा

इसी प्रकार से आठों द्रव्यों के श्लोक हैं जिन्हें यहां संस्कृत अर्थ न आता हो वे इन हिन्दी पूजाओं से सरलता के साथ उसे लगा सकते हैं।

३—इस संस्कृत पूजा में आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण ये ३ उपचार मंत्र नहीं दिये हैं जबकि वे आजकल बढ़ा लिए गए हैं लेकिन ये कविकृत नहीं हैं। इन उपचारों का प्रयोग प्राचीन अनेक पूजाओं में नहीं पाया जाता। ये उपचार पहिले मांत्रिक लोग सिद्धि में देव-देवियों के लिए प्रयुक्त करते थे। अरहंतादि की पूजा में इनका प्रयोग नहीं था इसी से यशस्तिलक चम्पू और पद्मनंदि पंचविंशतिका के पूजा पाठों में भी इनका प्रयोग नहीं है। इस विषय में नरेन्द्रसेन कृत प्रतिष्ठा दीपक में लिखा है—

साकारादि निराकारा स्थापना द्विविधा मता।
अक्षतादि निराकारा, साकारा प्रतिमादिषु ।।
श्रद्धाघन प्रतिष्ठानं, सन्निधिकरणं तथा।
पूजा बिसर्जनं चेति, निराकारे भवेदिति ।।६१।।
साकारे जिनबिम्बे स्यादेक एवोपचारकः।
स चाष्ट विध एवोक्तं जलगंधाक्षतादिभिः ।।६२।।

साकार, निराकार दो प्रकार की स्थापना है, प्रतिमा मे साकार होती है अक्षतादि में निराकार। श्रद्धान, स्थापन सन्निधिकरण, पूजन, विसर्जन ये पांचोंपचार निराकार मे होते हैं साकार में एक अष्टद्रव्य पूजन उपचार ही होता है।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में तिलकदान मुख्य विधि है इस विधि में आह्वाननादिमन्त्रों (उपचारों) का प्रयोग कर भगवान की मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा की जाती है। सूरिमंत्र (सूर्य-गायत्रीमंत्र) बाद के हैं। आजकल की हमारी समस्त पूजा विधि पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का ही संक्षिप्त रूप है शायद इसी के बाद में इसमें ये उपचार भी सम्मिलित हो गए हों। शास्त्रों में इस हुंडावसर्पिणीकाल में असद्भाव (निराकार) स्थापना का निषेध भी पाया जाता है।

४—इसमें 'जिनाग्रे परिपुष्पांजलि क्षिपेत-इति जिन पूजन प्रतिज्ञा "ऐसा जो लिखा है इसका तात्पर्य तिज्ञा क्रिया को अभिव्यक्त करने के लिए पुष्पक्षेपण बताया है। अनेक जगह पूजापाठ आदि में जो पुष्पक्षेपण का उल्लेख आता है वह इसलिए कि वह इसी तरह किसी क्रिया की अभिव्यक्ति के लिए हैं पुष्पक्षेपण व्यर्थ में नहीं समझना चाहिये।

५—इस संस्कृत पूजा में—जल द्रव्य की बजाय "जल-धारा" शब्द का प्रयोग किया है। अनेक पूजाओं में भी ऐसे पाठ पाये जाते हैं। नन्दीश्वर पूजा में ही देखो "तिहुं धार दई निरबार जामन मरन जरा" इसमें जन्म जरा, मरण के निवारण रूप में तीन जलधारा देना बताया है (यह जल द्रव्य का पक्ष है) इससे एक प्राचीन विधि का समीकरण होता है जैसा कि तिलोय पण्णत्ती गाथा १०४ अधिकार ५ तथा जंबू दीप पण्णत्ती गाथा ११३ उद्देश ५ में जलद्रव्य को स्पष्ट अभिषेक रूप में ही बताया है, अलग जलाभिषेक नही बताया है।

६—इसमें अक्षत द्रव्य को पुष्प के पहिले न देकर पुष्प द्रव्य के बाद में दिया है। इस गुटके में नन्दीश्वर पूजा श्रुत पूजा, सिद्ध पूजा भी दी हैं जिनमें भी इसी क्रम को अपनाया है ऐसा क्यों किया है? विद्वान विचार करें। कवि लोग लीक पर नहीं चलते युक्तिबल से अनेक नई ईजाद करते रहते हैं जैसे यशस्तिलक चंपू में सोमदेव सूरि ने पंच पापों मे झूठ को चोरी के बाद दिया है कथा भी इसी क्रम से दी है।

७—इस पूजा में आठ द्रव्यों को चढ़ाने का कोई मंत्र या फल निरुपित नही किया है जैसा कि आजकल प्रचलित है :"ओं ह्रीं देवशास्त्र गुरुभ्यः क्षुधा रोग विनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा" आदि

८—इस पूजा में आजकल जो कही कही कुछ अशुद्ध पाठ प्रचलित हैं और जिनसे संगत अर्थ नहीं बैठता उनकी जगह शुद्ध पाठ दिए हैं। यथा—

श्लोक नं०	प्रचलित अशुद्ध पाठ	इस पूजा का पाठ
१	करालीढकण्ठे	करालीढ कण्ठः
२	श्री सत्कांति	श्री सत्कांत

२	प्रभातकृते	प्रभाकर ते
४	प्रतिष्ठस्य	प्रतिष्ठस्या
पुष्प ३	वर्यान् सुचर्या- कथनैक धुर्यान्	वर्यार्यचर्या कथने सुधुर्यान्
फल ८	मनसाप्य-गम्यान्	मनसामगम्यान्
" "	फलाभिसारैं	फलायसारैं
६	त्रैसंध्यं सुविचित्र	त्रिसधान विचित्र

६—इस पूजा में आजकल प्रचलित अर्धका श्लोक— "सद्वारिगधाक्षत पुष्पदामैः" नहीं दिया गया है। "ये पूजां जिननाथ शास्त्र यमिनां" इस श्लोक को पुष्पांजलि रूप में दिया है, जबकि आजकल इस श्लोक को आशीर्वाद रूप में दिया है। आशीर्वाद की प्रणाली आधुनिक है इस पूजा में वह नहीं अपनाई है। आजकल अर्ध का अर्थ ८ द्रव्यों का समूह लेते हैं किन्तु पहले अर्ध का अर्थ पुष्पांजलि ही लेते थे जैसा कि सागर धर्मामृत अ० २ श्लोक ३० की सोपज्ञ टीका मे बताया है। पद्मनंदिपच विंशतिका में भी जिन पूजाष्टक में फल के बाद पुष्पांजलि ही दी है। इस गुटके की अन्य पूजाओं में भी यही शैली दी है।

१०—ऋषभोऽजित नामा च" जयमाला के ये ६ श्लोक नंदीश्वर द्वीप पूजा मे भी पाये जाते हैं उसमें ये वर्तमान कालीव २४ तीर्थंकरों के नामो के रूप में दिये है जो वहाँ आवश्यक और सगत हैं क्योंकि वहां भूत भविष्यत कालीन २४-२४ नाम भी दिये हैं अतः वर्तमान कालीन नाम भी आवश्यक हैं जबकि यहा असंगत से हैं।

११—इस पूजा मे आजकल देव शास्त्र गुरु की अलग अलग अपभ्रंश भाषा मे ३ जयमाला दी हुई है वे इस त्रिसंधान पूजा मे कतई नही हैं। "वत्ताणुट्ठाणे···" यह देव जयमाल पुष्पदंत कृत 'जसहर चरिउ' के प्रारम्भ मे पाई जाती हैं वही से उठाकर यहाँ रखी गई है। शास्त्र-गुरु की अपभ्रंश जयमालायें भी इसी तरह अन्यकृत हैं।

१२—इस त्रिसंधान पूजा के कर्ता कौन हैं यह आदि अन्त में कहीं नही दिया है। रचना के मध्य, पुष्पांजलि के श्लोक—"पुष्याढया मुनिराजकीर्ति सहिता भूत्वा तपोभूषण में राजकीर्ति और तपोभूषण इन दो साथी मुनियों का उल्लेख किया है किन्तु रचनाकार का वहाँ भी नाम नही दिया है। चर्चासागर में पांडे चम्पा लाल जी ने इस पूजा के कर्ता श्री नरेन्द्र सेनाचार्य बताये है। एक पं० नरेन्द्रसेन आचार्य 'सिद्धांतसार सग्रह' के कर्ता भी हैं शायद ये नहीं हों तो इनका समय १३ वीं शताब्दी होना चाहिये।

१३—इस पूजा में सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्य भक्ति के प्रसिद्ध लघु पाठ दिए हैं फिर आरती का पाठ दिया है। आरती का पाठ इस गुटके में नन्दीश्वर द्वीप पूजा मे भी दिया है वहाँ विमल नाथ की आरती दी है पाठ भी दूसरा है और यहाँ शांतिनाथ एवं ऋषभदेव की आरती दी है और पाठ भी भिन्न दिया है। ये सब भक्ति और आरती के पाठ आजकल की देवशास्त्र गुरु पूजा में नहीं है। प्रत्येक भक्ति के पहले कृत्य विज्ञापना रूप में कायोत्सर्ग बताया है और फिर भक्ति पाठ बताया है प्राचीन अनेक शास्त्रों (क्रियाकलापादि) में यही पद्धति दी है किन्तु आजकल लोग पहले भक्ति पाठ बोलते हैं फिर उसका कायोत्सर्ग करते हैं पाठ भी ऐसे ही छपे हैं।

आशा है विद्वान पाठक इन पर तुलनात्मक अध्ययन के साथ गम्भीर विचार करेंगे और समाज को नई बातों से अवगत करायेंगे।

पुस्तक-प्रकाशकों से भी निवेदन है कि वे इस त्रिसंधान पूजा को अविकल रूप से पूजापाठ सग्रहों में अवश्य स्थान देने का उपक्रम करेंगे।

विक्रम स० १५६३ के इस गुटके मे १५ वीं शताब्दी के चन्द्र भूषण के शिष्य पं० अभ्रदेव की ८० श्लोक की श्रवण द्वादशी कथा" भी संकलित है। यह सुन्दर संस्कृत भाषा में रचित है और प्रायः शुद्ध रूप में दी हुई है। अगर विज्ञपाठकों ने रुचि प्रदर्शित की तो उसे भी प्रकट किया जावेगा।

दिनांक १८.६.८४ रतनलाल कटारिया

केकड़ी (अजमेर-राजस्थान)

३०५४०४

टिप्पण—'जैन हितैषी भाग ५ (सन् १६०८) अंक २ पृ० १०-११ पर श्री नाथूराम प्रेमी ने लिखा है—'काष्ठासघी श्रावकों में अक्षत से पहिले पुष्प पूजा का रिवाज है। अग्रवाल नरसिंह मेवाड़ा आदि थोड़ी सी जातियां इस संघ की अनुगामिनी हैं। मूल संघ और काष्ठ संघ के श्रावक एक-दूसरे के मंदिरों में आते-जाते हैं और प्रायः एक ही आचार-विचार में रहते हैं।"

आत्म अनुभव कैसे हो ?

□ श्री बाबूलाल जी वक्ता,

पहले आत्मा के बारे में जानकारी करे उसे शास्त्रों के द्वारा, जिसमें उसका वर्णन है वहाँ से जाने। परन्तु यह समझकर चलना होगा कि अभी आत्मा के बारे में जाना है अभी आत्मा को नहीं जाना है। आत्मा को जानना और आत्मा के बारे में जानना इसमें बहुत बडा अन्तर है। जिन्होंने आत्मा के बारे में जानने को ही आत्म-ज्ञान समझा है वे आत्मा को नहीं जान सकते और आत्मा के बारे में जो जानकारी करी है उसका अहंकार भी पैदा हुए बिना नहीं रहेगा। वह पण्डित विद्वान हो सकता है आत्म ज्ञानी नहीं। आत्म ज्ञानी होने के लिए आत्मा को जानना जरूरी है। आत्मा के बारे में जानना थ्योरीकल ज्ञान है। आत्मा को जानना प्रेक्टिकल ज्ञान है।

आत्मा के बारे में जानकर अन्तरंग मे उसके लक्षण को पकड़कर पहचानने की चेष्टा करे। शरीर मे मिलान करें। जाननापना लक्षण शरीर में नहीं है। आत्मा का लक्षण चैतन्यपना है याने ज्ञाता-दृष्टापना है। वह लक्षण किसी अन्य में नहीं है। फिर मन सम्बन्धी विकारी परि-णामों का अथवा विकल्पों का समझना है। तीन कार्य एक साथ हो रहे हैं एक शरीर का एक विकारी भावों का और एक जानने का। उस जानने वाले को पकड़ने का उपाय यह है कि हम ऐसा सोचे कि दस मिनट तक शरीर में जो भी क्रिया होगी उसे हमें देखते रहना है। वह हमारी जानकारी मे होनी चाहिए जैसे कि हमें किसी को बताना है कि दस मिनट शरीर की क्या क्या क्रिया हुई और ऐसी क्रिया होनी चाहिए अथवा अन्य प्रकार की होनी चाहिए इसका सवाल नही है। यह भी सवाल नही है कि यह ठीक हुई कि ठीक नहीं हुई। सवाल है हमारी जानकारी में हो और दस मिनट तक बराबर देखने का कार्य चालू रखे तो कुछ रोज में आप पायेंगे कि देखने वाला और शरीर की क्रिया यह दो कार्य हैं और देखने वाले से शरीर की क्रिया भिन्न है। यह प्रेक्टिकल पकड़ में आना चाहिए, जब ऐसा पकड़ में आयेगा तब जानने वाला अलग हो जायेगा।

इसी प्रकार मन में जो भी विकल्प उठते हैं अथवा क्रोधादि भाव होते हैं वहाँ पर भी दस मिनट के लिए हमें उन विकल्पो को देखना है जैसे हमे किसी को बताना है अथवा कागज पर नोट करना है, ऐसा सोचकर चले। यहाँ पर भी मन को शांत कर देना चाहिए। अच्छा विकल्प हुआ अथवा बुरा हुआ इसका सवाल नही है। सवाल है जो भी विकल्प उठे वह हमारी जानकारी में हो और उसको देखने पर जोर रखे। अगर यह अभ्यास किया जाए तो विकल्प अलग हो जाएगा और जानने वाला अलग हो जायेगा। फिर विकल्प और शरीर की क्रिया में अपना अस्तित्व नही मालूम देगा। अपना सर्वस्व तो जानने वाले मे स्थापित करना है। इस प्रकार दोनों से अलग हटकर जानने वाले मे अपना सर्वस्व स्थापित करने पर वह तो ज्ञान का मालिक हो जाता है और वे दोनों कर्म का कार्य रह जाते हैं।

इसी के बारे में कहा है कि ज्ञप्ति क्रिया और करोती क्रिया दो हैं। भिन्न २ है यद्यपि एक ही समय मे है फिर भी दोनो के कारण अलग अलग हैं जो ज्ञाता है वह करता नहीं और जो करता है वह ज्ञाता नहीं अर्थात् जो जानने वाला है वह विकल्पों का करता नही और विकल्पों के करने में लगा है वह ज्ञाता नहीं है।

जानने का कर्म ज्ञान का है मन के विकल्प और भाव और शरीर की क्रिया कर्म के खाते में है। ज्ञान का कार्य भी है कर्म का कार्य भी है। तू ज्ञान का मालिक है, कर्म का मालिक नही है। ज्ञान को जानने वाले को ही कहा जा रहा है कि अपने को भुला कर तू कर्म के कार्य का, कर्म का मालिक बना है। उसमें एकत्व मान है उसमे अहम्

बुद्धि की है। उस अज्ञानता का फल यह संसार है। इसी अज्ञानता से तूने कर्म का निर्माण किया है। अगर आनन्द को प्राप्त करना है तो कर्म का मालिक न बनकर ज्ञान का मालिक बन जा जो तू वास्तव मे है। तब तेरा अज्ञान दूर हो जायेगा और जिस अज्ञानता से कर्म का निर्माण होता था वह नही रहने से कर्म का निर्माण नही होगा। पुराना कर्म अपना रस देता जा रहा है और खत्म होता जाता है तू अपने ज्ञान के रस का पानकरता रह और कर्म कर्म के रस का स्वाद मत ले। धीरे धीरे जो इकट्ठा कर्म है वह खत्म हो जाता है तब कर्म का कार्य शरीरादिक और विकल्पादि का अभाव होकर मात्र जो तू है, वह रह जाता है यही परमात्मापना है। तू अगर ज्ञान का मालिक नही है तो तूने विकल्पों और शरीर के साथ एकत्व स्थापित किया है इसलिये उन विकल्पो का कर्ता तू ही है और अगर ज्ञान का मालिक है तो विकल्पो का कर्ता कर्म तू नही है। जो मालिक है वही कर्ता है। ज्ञान भी है कर्म भी है तू चाहे ज्ञान मे एकत्व कर सकता है। जिससे तेरा एकत्व है। चाहे कर्म से जोड़ ले परन्तु कर्म के साथ तेरा एकत्व नही है. तू वह नही है।

इस प्रकार अनुभव करने के लिए पहले ज्ञान को जो बाहरी इन्द्रियों में फैला हुआ है और बाहर की तरफ जा रहा है उसको बाहर से हटाकर, इन्द्रियो से हटाकर, अपने स्वरूप के सन्मुख करें। फिर उस ज्ञान को मन सम्बन्धी विकल्पो से हटाकर स्वरूप सन्मुख करें। और अपने में अपने को ही ज्ञेय बनाये तब फल ज्ञानरूप अनुभव में आता है। मन को विकल्पो से शून्य करना है जहाँ विकल्पों से शून्य हुआ वहां आत्मसंवेदन हो जायेगा। जैसे जब बाहर में गाय को चाटने को नहीं रहता तो वह अपने को ही चाटने लग जाती है।

इस जीव ने दोनों तरफ ही गलती की है। बाहर मे भी और भीतर में भी। बाहर में कहा गया कि जिसकी मूर्ति है उसको देख जिसमें मूर्ति है उसको मत देख। वहाँ पर तू जिसमें मूर्ति थी उस पाषाण अथवा सोने चांदी को देखने लगा। और इसलिए जिसकी मूर्ति थी उसको नहीं देख सका। भीतर में कहा कि जिसमें मूर्ति है उसको देख जिसकी मूर्ति है उसको मत देख। जिसका ज्ञान में आकार है ज्ञेय का आकार हो रहा है। उस ज्ञेयाकार को मत देख, ज्ञानाकार को देख जो तू है। वहाँ पर ज्ञेयाकारों को देखकर क्षुब्ध हो गया। जहाँ ज्ञेयाकार हैं वही ज्ञानाकार भी है।

पहले मन को शांत करे बाहर फैलते हुए को संकुचित करें जब उपयोग शान्त होगा उस समय स्वांस चलता हुआ प्रगट दिखाई देने लगेगा, अनुभव में आयेगा उस समय देखने वाले पर जोर देने पर यह शरीर पृथक् दीखने लगेगा। सवाल पृथक् कहने का विचारने का नही परन्तु पृथक् देखने का है। जहाँ ज्ञाता पर दृष्टि जाती है विकल्प आधे-अधूरे ही रुक जाते हैं। यह तो निषेधात्मक रूप है परन्तु ज्ञानानुभूति होने पर शरीर भी दिखना रह जाता है। इसका काल कम है परन्तु शरीर का प्रकट पृथक् दीखना इसका काल बहुत है।

देखना है कि शरीर रहते हुए इसमे अपनापना आ रहा है कि परपना आ रहा है अगर अपनापना आ रहा है तो अज्ञानता पड़ी है अगर परपना आ रहा है तो अज्ञानता नही रह सकती। अगर यह अपने रूप दीख रहा है तो ससार गाढा हो जायेगा। राग गाढा हो जायेगा अगर पर रूप दीख रहा है तो ससार क्षीण होने लगेगा। राग छूटने लगेगा।

क्रोधादि-रागादि के दूर करने का उपाय भी यही है जहा क्रोध को जानने की चेष्टा की जानने वाले की मुख्यता हुई कि क्रोध विलय होने लगा। अगर घोड़े पर चढ़े हुए हैं और घोड़े को अपने आधीन कर रखा है तब भी पर मे लगे हैं परन्तु अगर उससे नीचे उतर गये तो अपने मे है। क्रोधादि को दबाने से वे नही मिटते।

एक व्यक्ति दूसरे की छाती पर बैठा है तब भी पर में लगा है। पर के आधीन है। और दूसरा अगर उसकी छाती पर बैठा है तब भी पराधीन है स्वाधीनता तो तभी हो सकती है जब वह अलग खड़ा है। व्यक्तियों से कुश्ती नहीं लड़नी है परन्तु उसके साथ एकत्व छोड़कर अलग हटकर उनको देखना है। यह देखना ही उससे अलग कर देता है। भीड़ में खड़े हैं, भीड़ मे से दृष्टि हटाकर अपने को देखिये अलग हो जायेंगे।

यह देखना यह सम्यक् देखना ही—देखने वाला बना रहना ही धर्म का मूल है यही से धर्म की शुरूआत होती है।

'शाहनामा-ए-हिन्द' में जैनधर्म

□ शायर-फरोग नक्काश

'शाहनामा-ए-हिन्द' के रचयिता ६१ वर्षीय फरोग नक्काश नागपुर की मोमिनपुरा नामक बस्ती में रहते हैं। आपने 'शहनामा-ए-हिन्द शीर्षक से हिंदोस्तान के इतिहास को अशआहों (शेरों) में ढाला है। दुनिया में यह अपने किस्म का पहला काम है। यह सम्पूण इतिहास ईसा पूर्व ६ठी शती से लेकर आज तक का है। शाहनामा-ए-हिन्द में कुल ३० हजार शेर होंगे, जिनमें से कुछ लिखना अभी बाकी हैं। फरोग नक्काश को इस कार्य के स्वरूप अनेक संस्थाओं ने, "फिरदौसी-ए-हिंद", "कौमी एकता" आदि उपाधियों से नवाजा है।

पेश है 'शाहनामा-ए-हिन्द' (जो उर्दू में लिखा है) से जैन धर्म से संबंधित शेर, जो उनकी अनुमति से हिंदी में डा० प्रदीप शालिग्राम मेश्राम पेश कर रहे हैं :—

एक अर्सा बाद ही इस खाक[1] पर वो दौर भी आया।
कई अद्यान[2] का परचम[3] बडो तेजी से लहराया ॥१॥
बहोत से तायफो[4] में वट गए थे मजहबी[5] फिरके।
अवामुन नास[6] मे होते थे इन अद्यान के चर्चे ॥२॥
इन्हीं फिरकों में, दो फिरके हैं ऐसे वाकई बरतर[7]।
हवादिस[8] का कसौटी पर जो उतरे है खरे बनकर ॥३॥
है जिनमें सबसे अव्वल[9] जैन मजहब बौद्ध है सानी[10]।
हुई दाखिल नए एक दौर में तारीखे[11] इंसानी ॥४॥
बहुत से तेगजन फिरके[12] पुरानी रस्म बिदअत से[13]।
हुए ताइब[14], चले नेकी की जानिब शौके रगबत से[15] ॥५॥
ये क्षत्री कोम, ज्यूं-ज्यू इस तरफ होती गई रागिब।
हुई मगलूब[16] फिक्रे विरहमन जैनी हुए गालिब[17] ॥६॥
सबब इन मजहबों के फूलने-फलने का यह भी था।
के इनके अबब[18] मे मजबूत था एक हुक्मरा तबका[19] ॥७॥
यही थो वजह जिससे दोनों मजहब खूबतर फैले।
सनातन-धर्म को इनकास[20] जिनकी वजह से पहुंचे ॥८॥

जैन धर्म का सहर तीन (तीन रत्न)

मुशावेह[21] हैं बहोत काफी ये दोनों धर्म आपस में।
बहोत कम फर्क है तरकीबे अद्याने मुकद्दस[22] मे ॥१॥
ये साबित हो चुका है जैन मजहब ही पुराना है।
श्री गौतम से पार्श्वनाथ का पहले जमाना है ॥२॥
दिगर इसके अकीदा[23] जैन वाले ये भी रखते हैं।
के तेईस तीर्थंकर, वर्धमां[24] से पहले गुजरे हैं ॥३॥
हैं पहले पार्श्वनाथ जी इस धर्म के तेइसव शंकर[25]।
दुखी जीवन को सुख पहुंचाने वाले मोहसिनो[26] रहबर[27] ॥४॥

लिया था जन्म इस ईसा ने एक क्षत्री घराने में ।
ना ऐसी पारसा हस्ती कोई भी थी उस जमाने में ॥५॥
दिया उपदेश लोगों को इन्होंने तीन बातों का ।
मिटाया फर्क पहले अपने नीच-ऊंच जातों का ॥६॥
कहा लोगों से, इजा[29] जानदारों को न पहुंचाओ ।
करो मुतलक[30], न चोरी लग्वियत[31] से बाज आजाओ ॥७॥
ये तीनों रास्ते, जैनी जिसे, से रत्न[32] कहते हैं ।
इन्हीं अच्छे उसूलों के वो सब पाबंद रहते हैं ॥८॥

महावीर स्वामी वर्धमान

ये सच है 'वर्धमां' है अस्ल में इस धर्म के बानी ।
न इसके बाद फिर पैदा हुआ उनका कोई सानी ॥१॥
ये छह सौ साल पहले इब्ने मरियम[33] के हुए पैदा ।
वैशाली में हुआ था जन्म, पटना के करीब उनका ॥२॥
ये क्षत्री कौम के एक मुक्तदर[34] राजा के थे दिलबंद[35] ।
श्री गौतम के जैसे उनके भी हालात थे हरचंद ॥३॥
उन्होंने तीस साला उम्र में घर बार को छोड़ा ।
निशात-आमेज[36] दौरे जिंदगी से अपना रुख मोड़ा ॥४॥
हुए शामिल वो पार्श्वनाथ के चेलों के मण्डल में ।
गिरोही[37] शक्ल में फिरते रहे सूनसान जंगल में ॥५॥
मगर मुतलक न पाई, रुह और दिलने तमानिनत[38] ।
के ठुकराया था, जिसकी जुस्तजू में ऐश और राहत ॥६॥
लिहाजा हट गए दामन बचाकर खार जारों से ।
निकाली आत्मा की नाव तूफांखेज धारों से ॥७॥
फिर उसके बाद बारह साल तक इतनी रियाजत[39] की ।
के मिलती ही नहीं ऐसी मिसाल अब इस्तिकामत[40] की ॥८॥
उन्हें फिर ज्ञान, तेरहवें बरस आखिर हुआ हासिल ।
मिला निर्वाण, याने मिल गई लाहुत[41] की मंजिल ॥९॥
फिर उनके गिर्द मजमा लग गया, हल्का बगोशों[42] का ।
शरावे-मारफत[43] के पीने वाले बादा नोशों का ॥१०॥
कि अपने धर्म की तबलिग[44] चारों सिम्त फिर-फिरकर ।
अहिंसा और नेकी का सबक, देते रहे घर-घर ॥११॥ (क्रमशः)

संदर्भ-सूचि

१ धरती २. धर्म ३ झंडा ४. गुटो ५. धर्म के . आम जनता ७. बहुत अच्छे ८. काल चक्र ९. पहला १० दूसरा ११. इतिहास १२. तलवार चलाने वाला १३. धर्म में नई बात १४. तौबा करके १५. अभिरुचि १६. आकर्षित १७. पराजित १८. विजेता १९. पीछे २०. गुट २१. नुकसान २२. मिलते-जुलते २३. बहुत पवित्र २४. धर्म २५. वर्धमान २६. तीर्थंकर २७. एहसान करने वाला २८. रहनुमा २९. दुख-तकलीफ ३०. झूठपन ३१. बुरी बात ३२. तीन रत्न ३३. ईसा पूर्व ३४. बहुत बड़े ३५. बेटा ३६. ऐशो आरामी जिंदगी ३७. गिरोह, गुट ३८. चैन ३९. तपस्या ४०. दृढ़ता ४१. ब्रह्म लीनता की अवस्था ४२. चाहने वालों का ४३. ईश्वर के चाहत की शराब ४४. प्रचार।

राजस्थान के मध्यकालीन जैन गद्य लेखक

□ श्री रीता जैन

हिन्दी साहित्य में गद्य का आविर्भाव संवत् १६०० से माना जाता है लेकिन राजस्थान के जैन साहित्यकारो द्वारा संवत् १७०० में हिन्दी गद्य में रचनायें होने लग गई थी। उनकी रचनायें हस्तलिखित होने से अज्ञात रही है, इसीलिए अब तक विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं गया अन्यथा हिन्दी गद्य का आविर्भाव २०० वर्ष पूर्व से ही माना जा सकता है। यहां उन गद्य लेखकों का व उनकी कृतियों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है, जिन्होंने हिंदी गद्य में रचनायें प्रस्तुत की है—

१. **हेमराज**—हेमराज का जन्म सत्रहवीं शताब्दी में सांगानेर (जयपुर) में हुआ था। ये पांडे स्वरूपचन्द के शिष्य थे। अपने अन्तिम दिनों में ये कामां चले गये दे। इन्होंने पद्य व गद्य दोनों में रचनायें की। इनकी निम्न-लिखित गद्य रचनायें हैं—

१. प्रवचनसार भाषा (माघ शुक्ला ई · सं० १७०६)
२. गोम्मटसार भाषा (सं० १७८१)
३. परमात्मप्रकाश भाषा (सं० १७१६)
४. पंचास्तिकाय भाषा (सं० १७२१)
५. नयचक्र भाषा (स० १७२६) ६ समयसार भाषा

२. **दौलतराम**—दौलतराम बसवा के रहने वाले थे, परन्तु बाद में जयपुर में रहने लग गये। उनके पिता का नाम आनंदराम था। वह जाति से कासलीवाल गोत्री खण्डेलवाल थे ऋषभदास जी के उपदेशों से दौलतराम जी को जैनधर्म पर विश्वास हुआ और कालान्तर में यह विश्वास अगाध श्रद्धा के रूप मे परिणित हो गया।

दौलतराम ने गद्य व पद्य दोनो मे ही रचनाये की हैं। कवि के रूप मे भी ये श्रेष्ठ है और गद्यकार के रूप मे भी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन्हें रामप्रसाद निरजनी के पश्चात् खड़ी बोली का दूसरा श्रेष्ठ गद्यकार माना है। इनकी निम्नांकित गद्य रचनायें हैं—

१. क्रिया कोषभाषा (माघ शुक्ला १२ सं० १७६५)
२. पद्मपुराण भाषा (माघ शुक्ला ९ सं० १८२३)
३ हरिवंशपुराण वचनिका (चैत्र शुक्ला १५ सं० १८२९)
४. आदि पुराण भाषा ५. श्रीपाल चरित्र भाषा
६. परमात्म प्रकाश भाषा ७ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की टीका
८. पुण्याश्रव वचनिका ९. उपासना ध्यान की टब्बा टीका

३. **श्रीटोडरमल**—इनका जन्म जयपुर की प्रसिद्ध जैन खण्डेलवाल जाति में गोदी का गोत्रीय वैश्य परिवार में सं० १७९७ में हुआ। इनके पिता का नाम जोगीदास एवं माता का नाम रंभावाई था। ये दैवी प्रतिभा के धनी थे। अल्पायु मे ही ये बड़े-बड़े सैद्धान्तिक ग्रंथों का गूढ़ रहस्य समझने लगे। शीघ्र ही व्याकरण, न्याय, गणित आदि विषयों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया तथा संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी भाषा के अधिकृत विद्वान बन गये। उनकी इस विद्वता का प्रभाव राजसभा में भी अच्छा हुआ। उन्हें सम्मानित पद मिला। इससे तत्कालीन ईर्ष्यालु लोगों को इनसे ईर्ष्या हुई। कहा जाता है कि इस ईर्ष्या-द्वेष का इतना भयंकर परिणाम हुआ कि ज्ञान के उदीयमान सूर्य को अल्पकाल में ही काल-कवलित होना पड़ा।

टोडरमल द्वारा रचित गद्य-कृतियां निम्नांकित हैं:—

१ सम्यक् ज्ञान चन्द्रिका २ त्रिलोकसार वचनिका ३ आत्मानुशासन वचनिका ४ मोक्षमार्ग प्रकाशक (मौलिक ५ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय टीका ६ रहस्यपूर्ण चिट्ठियां।

इनके गद्य का नमूना दृष्टव्य है:—

'आपको सुखदायक उपकारी होय ताको इष्ट कहिए। सो लोक मे आपका दुःखदायक अनुपकारी होय ताको अनिष्ट कहिए। सो लोकमें सर्व-पदार्थ अपने-२ स्वभाव ही कर्ता हैं।'

४ **दीपचन्द**—दीपचन्द सागानेर के रहने वाले थे। कालान्तर में ये आमेर आकर रहने लगे। इनकी सभी रचनाएं १८ वीं शताब्दी के अन्त की हैं। ये आध्यात्मिक

(शेष पृ० २१ पर)

जैन कला और स्थापत्य में भगवान पार्श्वनाथ

☐ नरेन्द्र कुमार जैन सोंरया एम० ए० शास्त्री

भगवान पार्श्वनाथ जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर हैं। जैनकला और स्थापत्य में भगवान पार्श्वनाथ का विशेष स्थान है। प्राचीन शिलालेखों, ग्रंथों, मन्दिरों तथा मूर्तियों के द्वारा इनकी महत्ता स्पष्ट प्रकट होती है। भगवान पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। इनका जन्म ८७७ ई० पू० हुआ था।[1] प्राचीनकाल में काशी मध्यवर्ती जनपद था। काशी देश में वाराणसी नामक नगरी थी। राजा अश्वसेन वहां के राजा थे[2] पिता अश्वसेन और माता वम्मिला (वामा) से पौषकृष्ण एकादशी के दिन विशाखा नामक नक्षत्र में आपका जन्म हुआ था।[3]

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म जहाँ हुआ था, वह स्थान वर्तमान में भेलूपुर नामक मौहल्ला के रूप में वाराणसी में जाना जाता है। यहां दो मन्दिर बने हैं[4] मुख्य-वेदी पर तीन प्रतिमायें विराजान हैं उनमें तीसरी प्रतिमा भगवान पार्श्वनाथ की है। सिर पर फण तथा पीठिका पर सर्प का लाछन है तथा लेख अंकित है। लेख के अनुसार इसकी प्रतिष्ठा संवत १५६८ में हुई थी[5] पीछे बाम आले में दो दिगम्बर प्रतिमायें हैं[6] मूर्ति लेख के अनुसार इनका प्रतिष्ठाकाल वि० सं० ११५३ है। इसी के साथ दूसरी मूर्ति कृष्ण पाषाण की पद्मासन मुद्रा में भगवान पार्श्वनाथ की है जो कि अत्यन्त मनोज्ञ है।[7]

ग्वालियर नगर तेरहवीं शताब्दी में गोपाचल पर्वत के नाम से प्रसिद्ध था[8] यह क्षेत्र जैन कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से पाँचवी शताब्दी का प्रसिद्ध है। यहां पर भगवान पार्श्वनाथ की ४२ फीट ऊंची ३० फुट चौड़ी शातिशय मनोज्ञ प्रतिमा हैं। संसार की यह दुर्लभ मनोज्ञ कलाकृति है।[9]

औरंगाबाद (महाराष्ट्र) से ३० कि०मी० दूर एलोरा नामक ग्राम है। यहां से स्थित गुफाओं के कारण यह स्थान विख्यात है। यहाँ पर कुल ३० गुफायें हैं। इन्हीं गुफाओं मे गुफा नं० ३० से आधा किमी० दूर की ऊंचाई पर पार्श्वनाथ मन्दिर है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है। पुरातत्व विभाग के अनुसार ये गुफायें ९वी शताब्दी की हैं।[10]

बुन्देलखण्ड के जैन तीर्थों में श्री दि० जैन अ० क्षेत्र बड़ा गाँव प्रसिद्ध है। वैसाख बदी ८ सं० १९७८ को यहां स्थित टीले की खुदाई कराई गई जिसमें १० दि० जैन प्रतिमायें निकली, जिनमें ७ पाषाण की तथा तीन धातु की हैं[11] पाषाण की प्रतिमाओं पर (दो को छोड़कर) मूर्ति लेख है उनसे ज्ञात होता है कि इन प्रतिमाओं में कुछ बारहवी शताब्दी की थी। कुछ सोलहवीं की। यहां शिखर

(पृ० २० का शेषांश)

ग्रन्थों के मर्मज्ञ थे एवं सांसारिक लोगो से उदास रहते थे। यद्यपि इनकी भाषा ढूंढारी है तथापि टोडरमल जयचन्द आदि विद्वानों की भाषा की अपेक्षा सरस और सरल है। इनकी निम्ननांकित रचनाए उपलब्ध है:—

१. आत्मावलोचन २. चिद्‌विलास ३. अनुभव प्रकाश वचनिका ४. गुणस्थान भेंट ५. आध्यात्म पच्चीसी ६. द्वादशानुप्रेक्षा ७. परमात्मपुराण ८. उपदेश रत्नमाला ९. स्वरूपानन्द वृहद् तथा लघु १०. भारती।

५. **अजयराज**:—ये दिगम्बर जैन श्रीमाल थे। अन्तः-साक्ष्य के आधार पर इनके निवास स्थान तथा अन्य पारिवारिक जानकारी नही मिलती है। इनकी भाषा शैली के आधार पर एव जयपुर के जैन विद्वानो से सम्पर्क करने पर केवल इतना ही ज्ञात हो सका कि ये जयपुर के थे एवं इनका समय सवत् १७०० के आसपास था। इनकी निम्नलिखित गद्य कृतियां उपलब्ध है:—

१. विषापहार स्रोत की वचनिका २. चतुर्दश गुण स्थान चर्चा वचनिका ३. कल्याण मंदिर भाषा टीका ४. एकीभाव स्रोत की भाषा।

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
दयानन्द महिला महाविद्यालय,
अलवर (राज०)

बन्द मन्दिर है जिसमें वेदी में भ० पार्श्वनाथ की श्वेत-पाषाण की पद्मासन प्रतिमा है। प्रतिमा सौम्य तथा चित्ताकर्षक है।[१२] मन्दिर के चारों ओर चार वेदियाँ हैं। दक्षिण वेदी पर मूलनायक भ० विमलनाथ की भूरे पाषाण की प्रतिमा मुख्य है।[१३] इसी वेदी पर भगवान पार्श्वनाथ की एक श्वेत पाषाण की मूर्ति है यह पद्मासन है, हाथ खण्डित है इस पर कोई लेख नहीं है। पलिस कहीं कही उतर गया है यह मूर्ति भगवान विमलनाथ के समकालीन लगती है। ( )[१४] पश्चिम की वेदी पर भी भगवान पर्श्वनाथ की श्वेत पाषाण की हाथ अवगाहना वाली पद्मासन प्रतिमा है।[१५]

स्थानीय संग्रहालय पिछोर (जिला—ग्वालियर) की स्थापना, सन् १०७६-७७ ईस्वी में म० प्र० शासन द्वारा की गई थी। इसमें ग्वालियर एव चम्बल सम्भाग के विभिन्न स्थानों से मूर्तियां एकत्रित की गई। जिनमें शैव, शाक्त, बैष्णव एवं जैनधर्म से सम्बन्धित प्रतिमायें हैं[१७] इसी संग्रहालय में मालीपुर से प्राप्त दो प्रतिमायें तीर्थंकर भग० पार्श्वनाथ की है। प्रथम प्रतिमा योगासन मुद्रा में पाद-पीठ पर स्थित है। सिर पर कुन्तलित केशराशि ऊपर सप्तफर्ण नागमौलि की छाया है। पादपीठ पर दाये, बाये, यक्ष, धरणेन्द्र एवं यक्षणी पद्मावती के चिन्ह अंकित हैं।[१७] दूसरी पार्श्व नाथ की प्रतिमा में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी है। छठी शताब्दी ई० पू० में इन मूर्तियों की स्थापना करन्दक नरेश ने स्थापित कराई थी।[१८]

मथुरा में उत्खन से भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा का शीर्ष भाग मिला है। इस प्रतिमा के शिरोभाग के ऊपर सप्त फणावली हैं घुंघराले कुन्तलो का विन्यास अत्यन्त कला पूर्ण है। प्रतिमा कुषाण युग की होगी[१९] ऐसी मान्यता है। एक दि० जैन मन्दिर स्थित है। मुख्यवेदी मे भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। यह श्वेत पाषाण की पद्मासन है अवगाहना १५ इच है। मूर्ति लेख के अनुसार वि० सं० १६६४ की है।[२०] इसी वेदी में कृष्ण पाषाण की १८ इन्च ऊंची पद्मासन प्रतिमा है, इस मूर्ति पर लेख नही है लेकिन इनके साथ जो सत्तरह मूर्तियां हैं उन पर वि० सं० १५५५ अंकित है।[२१] इस वेदी के पीछे वाली वेदी में भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है[२२] यह प्रतिमा मथुरा वृन्दावन के बीच घिरौरा गांव के समीप-वर्ती अक्रूरधार के पास दि० १६-८-१९६६ को भूगर्भ से प्राप्त हुई थी। इसके पीठासन पर संवत १८९ अंकित है। यह प्रतिमा कुषाण काल की है। इसी प्रतिमा की दायी ओर की वेदी में भगवान पार्श्वनाथ की श्वेतपाषाण की की प्रतिमा विराजमान है।[२३]

दिल्ली कलकत्ता राजमार्ग पर स्थित उत्तर रलवे स्टेशन पर प्रयाग नामक तीर्थस्थल है। यही चाहचन्द मौहल्ला सराव गियान में एक उन्नत शिखर से सुशोभित पार्श्वनाथ पंचायती मन्दिर है। इस मन्दिर का निर्माण नौवीं शताब्दी में हुआ। इस मन्दिर की वेदी के मध्य में मूलनायक भ० पार्श्वनाथ की प्रतिमा है जिसका सलेटी वर्ण है।

उत्तर प्रदेश के बरेली जिले एवं आंवला तहसील के पास अहिच्छत्र नामक स्थान है। यहां स्थित प्राचीन क्षेत्र परवायी ओर एक छोटे गर्भ गृह में वदी है जिसमें तिर-खान वाले बाबा (भगवान पार्श्वनाथ) की प्रतिमा विराज मान है। प्रतिमा सौम्य एव चित्ताकर्षक है। प्रतिमा का निर्माण काल १०-११वी शताब्दी अनुमान किया जाता है।[२४]

बुन्देलखण्ड में जैन तीर्थ के रूप मे खजुराहो एक रम-णीक एवं मनोहर प्रसिद्ध स्थान है। खजुराहो के जैन-मन्दिरों का निर्माण चन्देल नरेश ने नवी और बारहवी शताब्दी मे कराया।[२५] ९-१० वी शताब्दी मे आर्यसेन के शिष्य महासेन तथा उनके शिष्य चादिराज ने त्रिभुवन तिलक नाम का चैत्यालय बनवाया, उसमे तीन वेदियो मे त्रिभुवन के स्वामी भगवान शान्ति नाथ, पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ की तीन मूर्तियां बनवाकर प्रतिष्ठापित की और उसके लिए जमीन तथा मकान स०१०५४ के बैशाख मास की अमावस्या को दान दी।[२६]

श्रीनगर गढ़वाल में एक प्राचीन दि० जैन मन्दिर अनक नन्दा के तट पर है इस मन्दिर मे केवल एक वेदी है जिस पर तीन प्रतिमायें विराजमान हैं। मूलनायक भग-वान वान ऋषभदेव और दो प्रतिमायें भगवान पार्श्वनाथ

(शेष पृ० ३२ पर)

विचारणीय प्रसंग :—

दो पर्यायवाची जैसे शब्द
[परिग्रह और कर्म]

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

जैन-सस्कृति के मून मे निवृत्ति का विधान और प्रवृति का निषेध है। निषेध इसलिये कि प्रवृत्तिमें समन्ततः शुभ या अशुभ कर्मों का ग्रहण होता है और कर्मों का ग्रहण संसार है। जबकि निवृत्ति मोक्ष साधिका है। यदि गहराई से विचारा जाएतो प्रवृत्ति स्वय भी परिग्रह है और परिग्रह में कारणभूत भी है। इसीलिए तत्वार्थ सूत्र के षष्ठम अध्याय के प्रथम सूत्र मे 'कायवाङ् मन: कर्म योग:' जैसी प्रवृत्ति (क्रिया) को अगले सूत्र 'स. आस्रव:' से आस्रव बतला दिया; जो कि संसार का कारण है। यदि प्रवृत्ति शुद्धता मे कारण होती तो प्रवृत्ति-परक प्रथम सूत्र को आस्रव में गर्भित न कर, अगले सवर या निर्जरापरक प्रसंगो में दर्शाया गया होता। इस प्रसंग में हमे परिग्रह की परिभाषा पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए—

शास्त्रो में परिग्रह शब्द की दो व्युत्पत्तियां देखने में आती हैं।

(१) 'परिगृह्यते इति परिग्रह: बाह्यार्थ: क्षेत्रादि।'

(२) 'परिग्रह्यते अनेनेति च परिग्रह: बाह्यार्थग्रहण-हेतुरात्मपरिणाम:।"

—धवला १२/४/२ ८ ६ पृ० २८२

अर्थात् जो ग्रहण किया जाय वह परिग्रह है जैसे बाह्य-पदार्थ क्षेत्रादि। और जिसके द्वारा ग्रहण किया जाय वह परिग्रह है, जैसे रागादिरूप आत्मा के वैभाविक परिणाम।

उक्त दोनो व्युत्पत्तियों में द्वितीय व्युत्पत्ति से फलित अर्थ आचार्यों को अधिक ग्राह्य रहा है, अपेक्षाकृत प्रथम व्युत्पत्ति-फलित अर्थ के। इसीलिए उन्होंने परिग्रह के लक्षण में मूर्छा (ममेदं-रागद्वेषादि रूप परिणामों) को प्रधानता दी है। क्योंकि रागादि-प्रवृत्ति ही बाह्य आदान-प्रदान में कारण है और यही प्रवृत्ति कर्मास्रव और वन्ध में भी प्रमुख कारण है। आचार्य का भाव ऐसा भी रहा है कि भव्यजीव प्रवृत्ति को छोड़ें और निवृत्ति की ओर बढ़ें। इसी प्रसग में तनिक हम व्रतों की परिभाषाएं भी देख लें कि वहाँ आचार्यों ने निवृत्ति का उपदेश दिया है या प्रवृत्ति का? हमारी समझ से तो निवृत्ति का ही उपदेश है। तथाहि—

'हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरति र्व्रतम्' यह तत्त्वार्थ सूत्र के सप्तम अध्याय का प्रथम सूत्र है। इसमें हिंसा आदि से विरक्त होने का निर्देश है। कदाचित किसी भांति भी कही भी प्रवृत्त होने का निर्देश नहीं है। वे कहते हैं—हिंसा से विरक्त होना, असत्य से विरक्त होना, स्तेय से विरत होना अब्रह्म से और परिग्रह से विरत होना 'व्रत' है। वे यह तो कहते नहीं कि अहिंसा में रत होना सत्य मे रत होना आदि व्रत है। फलितार्थ यह है कि जब हिंसादि परिग्रह छूट जायेगे तब अहिंसादि स्वयं फलित होंगे। यदि जीव उन फलीभूत अहिंसादि में प्रवृति करता है—रति करता है तब भी उसको परिग्रह से छुटकारा नहीं मिलता। अन्तर मात्र इतना होता है कि जहाँ वह अशुभ मे था वहाँ शुभ में हो गया। यदि जीव शुद्ध होना चाहता है तो अशुभ से विरत हो जाय और शुभ में भी प्रवृत्त न हो। आपसे आपमे ही ठहर जाय।

जहा प्रवृत्ति होती है वहां परिग्रह होता है—आस्रव होता है। व्रत नही होता। और जहां निवृत्ति होती है वहां परिग्रह का बोझ हल्का होता है और पूर्ण निवृत्ति में वह भी छूट जाता है। जो जीव जितने अंशों में रक्त होगा उतना ही परिग्रही होगा और जितने अंशों में विरक्त होगा उतने अंशों में अपरिग्रही होगा। कहा भी है—

'रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपत्तो।'

—समयसार १५०

फलत: जब कोई भव्यात्मा संसार से उदास होकर आत्म-कल्याण की ओर बढ़ना चाहे और गुरु के पादमूल

में दीक्षा लेने आय तो गुरु का कर्तव्य है कि वे उसे 'निवृत्ति' रूप व्रत का उपदेश दें—आस्रव व बंधकारक क्रियाओं से 'विरत' करें। उसे कुछ ग्रहण करने को न कहें। पर परिपाटी ऐसी बन गई है कि 'आप व्रत ग्रहण कर लें, कहकर उसे व्रत दिए जाते हैं। जबकि आगमानुसार व्रत का लक्षण 'विरत' होना है, अपरिग्रही होना है। रत होना नहीं। ये जो कहा जा रहा है कि—'अमुक ने महाव्रत या अणुव्रत ग्रहण किए' सो यह सब व्यवहार भाषा है, इसका तात्पर्य है कि वह उन उन पापों से विरक्त हुआ—उसकी उन पापों से रति छूटी। न वह कि पुण्य में रत हुआ।

ये बात हम नहीं कह रहे। आखिर, आचार्य देव ने निवृत्ति को स्वयं ही व्रत का लक्षण बताया है। तथाहि :

'हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।'

—तत्त्वार्थ ७।१

'सर्वनिवृतिपरिणामः।' पर. प्र. टी. २.५२।१७३।५

'समस्त शुभाशुभ रागादिविकल्प निवृत्तिर्व्रतम्।'

—द्र. सं० टी. ३५।१००।१३

'देशसर्वतोऽणुमहती।'

देशश्च सर्वश्च ताभ्यां देशसर्वतः। विरतिरित्यनुवर्तते।

हिंसादेर्देशतो विरतिरणुव्रत, सर्वयोविरति महाव्रतम्।

न हिनस्मि नानृतं वदामि नादत्तमाददे नागनां स्पृशामि न परिग्रहमुपाद दे' इति।' —त. रा. वा. ७/२/२

ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमणं व्रतम्।'—भ. आ.

—वि. ४२१/६१४/११/पृष्ठ-६३३ कोष

निरतःकार्तस्न्यनिवृतौभवतियतिः समयसारभूतोऽयं।

या त्वेक देशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति॥'

—पुरुषार्थ ४१

'अप्रादुर्भावः खलुरागाद्दीनां भवत्यहिंसा।'

—पुरु. ४४

'पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं।

अपरिमिदिच्छादोविय अणुव्वयाइं विरमणाई॥'

भ. आ. मूला. २०८०/१८६६ पेज ६३५

'हिंसाविरदी सच्चं अदत्त परिवज्जणं च बंभं च।

संग विमुत्ती य तहा महव्वया पंचपण्णत्ता॥

—मू. आ. ४

—हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरति सर्वनिवृत्ति-परिणाम, समस्त शुभ-अशुभ रागादि विकल्पों से निवृत्ति, देश-विरति सर्व-विरति, पापों से विरमण, कृत्स्न (पूर्ण) निवृत्ति एकदेशविरति, रागादि का अप्रादुर्भाव, प्राणवधादि से विराम, हिंसादि परिवर्जन अथवा उनसे विमुक्ति, आदि। उक्त सभी स्थलों मे विरति की प्रधानता है। कहीं भी अहिंसादि में प्रवृत्ति का विधान नहीं है जैसा कि कहा जाता है—'मैंने या उसने अहिंसादि व्रतों को ग्रहण किया है या कर रहे हैं। ये सब जीवों के अनादि रक्त—रागी-परिणामों का ही प्रभाव है जो हम छोड़ने की जगह गृहण करने के अभ्यासी बन रहे हैं—जब कि जिन या 'जैन' का धर्म विरक्ति (शुद्धता की ओर बढ़ने) का धर्म है। 'जिन' स्वय भी सब छोड़े हुए है। देखें 'नियमसार'—

कुल जोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणऊणजीवाण।

तस्सारंभणियत्त—परिणामो हांई पठम वद। ५६॥

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।

जा पजहदि साहु सया विदिवयं होई तस्सेव॥५७॥

गामे वा णयरे वा रण्णे वा पछिऊण परमत्थ।

जो मुचादिग्गहण भाव तिदियवदं होदि तस्सेव॥५८॥

ददूण इच्छिरुव' वांछाभाव णिवत्तदे तासु।

मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरीयवदं॥५९॥

सव्वेसिं गथाणं चागो णिरवेक्खभावणा पुव्व।

पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभर वहतस्स॥६०॥

—नियमसार

—कुल, योनि, जीव समास, मार्गणा आदि जीवों के ठिकानों को जानकर उनमें आरम्भ करने से हटना अहिंसाव्रत है।

जो सज्जन पुरुष राग द्वेष व मोह से झूठ के परिणामों को जब छोड़ता है तब उसके सत्यव्रत होता है।

दूसरे के द्वारा छोड़ी या दूसरे की वस्तु को (चाहे वह ग्राम नगर, वन आदि मे कहीं भी पड़ी हो) उठाने के परिणाम को जो छोड़ता है उसके अचौर्य व्रत होता है।

जो स्त्री के रूप को देखकर ही उसके भीतर अपनी इच्छा होने रूप परिणामों को हटाता है। उसके ब्रह्मचर्य व्रत होता है।

जो वाछा रहित भावना के साथ सर्व ही परिग्रहों को त्यागता है उसके अपरिग्रह व्रत होता है।

—उक्त गाथाओं मे आचार्य ने सभी जगह पाप छोडने को व्रत कहा है। जब कि वर्तमान में ग्रहण करने में व्रत शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है जैसे 'अमुक व्रत ग्रहण कर लीजिए, आदि।

'ग्रथ' शब्द को भी परिग्रह के भाव में लिया जाता है: जिसमे ग्रंथ नहीं होता उसे 'निर्ग्रंथ' कहा जाता है। ग्रंथ शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे लिखा है—'ग्रथन्ति रचियन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रंथाः। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानं, असंयम; कषायाः योगत्रय चेत्यमी परिणामाः।'

भ. आ. वि./४७/४१/२०

—जो ससार को गूथते है, अर्थात जो ससार की रचना करते हैं, जो संसार को दीर्घकाल तक रहने वाला करते हैं, उनको ग्रथ कहना चाहिए। तथा मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान, असयम, कषाय, मन-वचन-काययोग इन परिणामों को आचार्य ग्रथ कहते है। इन ग्रथो का त्यागी निर्ग्रन्थ कहलाता है और वह अपरिग्रही नाम से भी पहिचाना जाता है। दोनों के ही परिग्रह-त्याग-रूप व्रत होता है—कुछ ग्रहण रूप नही। क्योकि व्रत का लक्षण 'विरत' है न कि 'रत' होना।

यदि कोई जीव शुभ मे भी रत होता है तो वह परिग्रह का वैसा पूर्ण त्यागी नही होता जैसे कि 'जिन' अर्हन्त भगवान।

—तात्पर्य ऐसा कि जो पूर्ण-व्रती (विरत) होगा—वही अपरिग्रही या निर्ग्रन्थ होगा। उसके पूर्व यदि किसी को निर्ग्रन्थ कहा जायगा तो वह उपचार ही होगा। मुनियों के भेदों में 'पुलाकबकुशकुशील निर्ग्रन्थस्नातका-निर्ग्रन्थाः' में भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'मुहूर्तादुद्भिद्यमान केवल ज्ञान दर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः।' के अभिप्राय में है। अर्थात जो अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त होते हैं। यानी जिनकी आत्म-घाती कर्म प्रकृतियाँ क्षय प्राप्त करने के सन्मुख होती हैं वे निर्ग्रन्थ या अपरिग्रही होते हैं।

—उक्त भाव में, जहां कर्मों से राहित्य अर्थ है वहां हमें परिग्रह और अपरिग्रह शब्दों की व्युत्पत्ति पर भी विशदता से विचार करना चाहिए जिससे हम परिग्रह के सही भाव को फलित कर सकें और जिसकी विरति मे व्रत का भाव फलित हो सके।

यदि आचार्य चाहते तो 'परिग्रह' शब्द को केवल 'ग्रह' शब्द से भी व्यक्त कर देते। क्योकि इस शब्द की जो व्युत्पत्ति ऊपर पैरा २ मे दी गई है और उससे जो अर्थ फलित किया गया है वह अर्थ केवल 'ग्रह' शब्द से भी फलित हो सकता था। जैसे —'गृह्यते इति ग्रहः— बाह्य पदार्थ'।' अथवा 'गृह्यते येन स ग्रह —रागादिः।' पर आचार्य ने 'परि' उपसर्ग लगाकर अध्यात्म मे कुछ और ही दर्शाना चाहा है—ऐसा मालूम पड़ता है। शायद वे चाहते हैं कि हम बाहरी पदार्थों की उठापटक की चर्चा के विकल्पों में न पड़ें और आत्मा और उसमे लगी कर्म-कालिमा को देखें—उसका और अपना भेद-विज्ञान करें तथा कर्मों से विरति लें, उनमे विरत हों, अपरिग्रही बनें।

कर्म ग्रहण परिग्रह हैं और इसकी सिद्धि परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति से फलित होती है?

'तत्वार्थसूत्र' के आठवें अध्याय के २४ में सूत्र में प्रदेश बन्ध को बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं कि 'सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्म प्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः'—इसकी व्याख्या में राजवार्तिककार लिखते हैं—'सर्वात्मप्रदेशेष्विति-वचनमेक प्रदेशाद्यपोहार्थम्'—एक द्वित्रिचतुरादि प्रदेशेष्वात्मनः कर्मप्रदेशा न प्रवर्तन्ते, क्वतर्हि? ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति प्रदर्शनार्थम् सर्वात्म प्रदेशेष्वित्युच्यते।'

इसका भाव है कि कर्म आत्मा के सर्व प्रदेशो में स्थित होते हैं और वे पूरी आत्मा के द्वारा सर्व ओर से आकर्षित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ – जैसे अग्नि में तपा लोहे का सुर्ख गोला यदि पानी में डाला जाए तो वह पानी को सभी ओर से सम-रूप में आत्म-सात करता है, वैसे ही कषाय और योग की अग्नि से तप्त-आत्मा कर्मरूप परिणत-कार्माण वर्गणाओं को सभी ओर से सम रूप मे आत्मसात करता है। कर्म के सिवाय ऐसी अन्य कोई वस्तु नही है जिसे आत्मा चारों ओर से अपने मे आत्मसात करे और जिससे चारों ओर से आत्मसात किया जाय—ग्रहण किया जाय।

(शेष पृ० २६ पर)

जरा-सोचिए !

१. मूल का संरक्षण कैसे हो ?

—आपने पढ़ा होगा नाम-कर्म की ६३ प्रकृतियों को। उनमें एक प्रकृति है 'स्वघात-नामकर्म।' इस प्रकृतिके उदय में शरीर की ऐसी रचना होती है, जिसमे स्व-शरीर के अंग ही स्व-प्राणघात मे निमित्त हो जाते है। जैसे बारहसिंगे के सीग। यदि कदाचित बारहसिंगा जब कभी शिकारी के घात से भाग जाने के लिए वन मेदौडता है, तब उसके सीग घनी कंटीली टेढ़ी-मेढी झाडियो मे फस जाते हैं और वे सीग ही बारहसिंगा के स्वय के प्रयत्न से उसके स्वयं के पकड़े जाने या वध मे निमित्त हो जाते है। यह एक दृष्टान्त है जो शायद हमारे स्वयं से प्रचारित किए प्रयत्नो पर लागू होता है।

सब जानते हैं कि जैनियो ने बहुत समय से आगमो की प्राचीन भाषा प्राकृत-सस्कृत को उपेक्षित कर केवल आधुनिक सुललित अन्य विभिन्न भाषाओ के रचनामाध्यमों से धर्म के लेन-देन की प्रथा चालू कर रखी है। ये प्रसंग मात्र जैनेतरों और विदेशियो हेतु उपस्थित हुए होते तो कदाचित इतनी चिन्ता न होती, पर आज तो जैन कुलोत्पन्नों को भी आगमो की मूल भाषाओ से लगाव नहीं रह गया है और न इसका कोई प्रयत्न ही किया जा रहा है कि हमारी वर्तमान और आगामी पीढ़ी प्राकृत-संस्कृत भाषाओं की ओर आकृष्ट हो। अब तो लोगों को उनकी सहूलियतों के अनुसार धर्म के लेन-देन के प्रयत्न रह गये हैं। जो इन भाषाओं को नहीं जानते वे जन्मनः जैन हों या अजैन सभी को भाषान्तर (चाहे वे गलत ही क्यों न हों) दिये जा रहे हैं। अर्थात—

"जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ।'—

पाठक जानते है समयसार की १५ वी गाथा के उस अर्थ-प्रसग को जिसके 'अपदेस' और 'सन्त' शब्द आज भी सु-संगत अर्थ को तरस रहे हैं। कही 'संत' के स्थान पर 'मुत्त' मानकर द्रव्य-श्रुत और भावश्रुत अर्थ स्पष्ट है तो कही 'अपदेस' और 'सत' के अर्थ क्रमश 'प्रदेश-रहित' और 'शान्त (रस) किए जा रहे हैं और कही 'संत' के अर्थ को 'सत्' शब्द से घोषित कर उसे आचार्य-समत व प्रामाणिक बतलाया गया है। इसी तरह 'अनादिरक्तस्य तवायमासीत य एव सकीर्णरसः स्वभाव। मार्गावतारे हठमार्जित श्री स्त्वयाकृत. शान्तरस. स एव॥'—कारिका मे 'शान्तरस' का अर्थ कही 'शान्त (नामा) रस' और कही 'रसों से शान्त—रहित' अर्थ किया जा रहा है, आदि। ढूंढने पर ऐसे ही अन्य बहुत से प्रसंग और भी मिल जाएंगे जिनकी व्याख्याओ में विवाद हो।

ऐसे विवादास्पद स्थलों का कालान्तर में भी निर्णय कब और कैसे हो सकेगा ? जबकि आगम की मूल प्राकृत और संस्कृत भाषाओ को ही भुला दिया जायगा या हमारे सामने उनके मनमाने ढंग के परिवर्तित मूलरूप रख दिए जायेंगे ? हमारी दृष्टि से विषय-स्पष्टता और उसकी प्रमाणिकता के लिए आगमकी मूल-भाषा प्राकृत-संस्कृत व यथा सम्भव-पूर्वाचार्योक्त उपलब्ध उनकी व्याख्याओं का और मूल भाषा के जानकारों का कालान्तर में सदाकाल रहना परमावश्यक है। जबकि आज के चेताओं (?) की दृष्टि

(पृ० २५ का शेषांश)

ऐसा यदि है तो वह कर्म ही परिग्रह है। तथाहि—

परि (समन्तात्) गृह्यते यः सः परिग्रहः-द्रव्य-कर्म।

परि (समन्तात्) गृह्यते येन सः परिग्रहः—भाव-कर्म।

उक्त भाव में अपरिग्रह और व्रत के अर्थ भी विचारिए और निर्ग्रन्थ पर भी ध्यान दीजिए।

—वीर सेवा मन्दिर

२१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

□□

दोनों ही दिशाओं में उदासीन है—वे मात्र भाषान्तरों (जिनसे कहीं २ भाव-स्खलित भी होता है) के प्रचार में लगे हैं और भविष्य के लिए जैन-सिद्धांत-मर्मज्ञ विद्वानों के उत्पादन-प्रयत्नो में भी शून्य हैं।

इस बात को दृढ़ता के साथ कहने मे हमे तनिक भी संकोच नहीं कि—आयु के किनारो पर बैठे सिद्धान्त के धुरन्धर गिने-चुने वर्तमान विद्वानों के बाद इस क्षेत्र में अंधेरा ही अंधेरा होगा। और हम नही समझ पा रहे कि तब सिद्धांत के किन्ही रहस्यो को समझने-समझाने के लिए हम किसका मुँह देखेंगे ?

यद्यपि प्रचलित प्रयत्नों से ऐसा आभास तो होता है कि भविष्य मे हमें लच्छेदार-मोहक भाषा-भाषी अच्छे व्याख्याताओं की कमी तो न रहेगी—वे सभा को मोहित भी कर सकेंगे तथापि आगम की मूल भाषा और जैन-दर्शन-न्याय के रहस्यों से अपरिचित होने और आद्यन्त मूल ग्रंथों के पठन'पाठन से शून्य होने के कारण उनमें सिद्धांत के रहस्यों को उद्‌घाटित करने की क्षमता दुर्लभ होगी। फलत:—आवश्यकता है—

प्रचार करने की अपेक्षा आज मूल के संरक्षण और उसके तल-स्पर्शी ज्ञाताओं को तैयार करने की। आप इस दिशा मे क्या कर रहे हैं ? जरा सोचिए ?

२. क्या दिव्य-ध्वनि स्याद्वाद-रूप है ?

"सिय अत्थि णत्थि उहयं अवत्तव्वं पुणो य तत्तिदय।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण सभवदि॥"—
तात्पर्यवृत्ति'—आदेसवसेण प्रश्नोत्तरवशेन।
बालबोधनी—विवक्षा के वश से॥"

—पचास्तिकाय, १४

"कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा॥'
वृत्ति:—नयस्यवक्तुरभिप्रायस्य योगो युक्ति—
नंयप्रयोगस्तस्मान्नययोगादभिप्रायवशादित्यर्थ:।"

आप्तमीमांसा १४

तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि स्याद्वादरूप—विविधनय—रूपी कल्लोलों से विमल है, ऐसा पढ़ने में आता है, जैसे—'यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोलविमला।' और यह भी पढ़ने में आता है कि जिनवाणी गणधर देवों द्वारा गूंथी गई। जैसे—

'तीर्थंकर की धुनि गणधर ने सुनि अंगरचे चुनिज्ञान मई।
सो जिनवर वाणी शिवसुखदानी त्रिभुवनमानी पूज्य भई॥'—आदि।

ये तो सब जानते हैं कि सर्वज्ञ का ज्ञान पूर्ण और युगपत है। वह निर्विकल्पक और विचार रहित भी है। उसमें समस्त द्रव्यों की भूत-भविष्यत् और वर्तमान-कालीन समस्त-पर्यायें अस्तिरूप में स्वाभाविक, युगपत् झलकती हैं—उसमें अपेक्षावाद के अवसर और कारण दोनों ही नहीं हैं। क्योंकि अपेक्षावाद श्रुतज्ञान पर आधारित हैं और वह नयाधीन भी है—वह सकलप्रत्यक्ष केवल ज्ञान की उपज नही है। इस बात को ऊपर दिए गए उद्धरणों से भी स्पष्ट जाना जा सकता है। उनमे 'आदेशवसेण' और 'नय-योगात् न सर्वथा' पद इसी बात को स्पष्ट करते हैं। फलत: सर्वज्ञ की दिव्य ध्वनि मे उनके ज्ञान के अनुरूप द्रव्यो का त्रैकालिक प्रत्यक्ष-अस्तित्व ही झलकता है—उसमें नास्तित्व के झलकने का प्रश्न ही नही उठता। अर्थात वे, जो है, उसे जानते हैं, नही, नामक कोई पदार्थ ही नहीं जिसे वे जान सके या जानते हों। स्याद्वाद का नहीं भी अपेक्षा कृत ही है और वह समय के व्यवहार की दशा में है जबकि केवल ज्ञान में तीनों कालों की विवक्षा ही नहीं है—सभी युगपत है। एतावता ऐसा मानने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि जिसे हम जिनवाणी कहते हैं और जो 'स्याद्वाद-रूप कही जा रही है वह पूर्ण-श्रुत ज्ञानी गण-धरों द्वारा विविध नयों के सहारे द्वादशांगों में गूंथे जाने पर 'स्याद्वाद रूप में फलित होती है। यानी गणधर देव वस्तु के समस्त अंशो को युगपत न जान पाने के तथा न कह पाने के कारण अपेक्षा के द्वार क्रमश: उसका दोहन करते है—और उस दोहन-प्रकार को 'स्याद्वाद' कहा जाता है। भाव ऐसा समझना चाहिए कि—जिनवर की दिव्य-ध्वनि में जिन भगवान के द्वारा कोई अपेक्षा कल्पित नहीं की जाती—उनकी ध्वनि अपेक्षावाद स्याद्वाद रहित ही होती है। और श्रुतज्ञानी गणधरों द्वारा, अक्षरो द्वारा प्रकट

किए जाने पर 'स्याद्वाद रूप' कहलाती है। कहा भी है :—

'ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुब्वं ण होई केवलिणों।' केवलिन: परमवीतरागसर्वज्ञस्य ईहापूर्वकं" न किमपि वर्तनम् अत: स भगवान न च चेहते मन: प्रवृत्तेरभावात् अमनस्का केवलिन:' इति वचनाद्वा।

—नियमसार

'ठाणनिसेज्जविहारा धम्मुभवदेसं णियदओतेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारव्व इत्थीणं॥

—प्रवचनसार

वीतराग सर्वज्ञ केवली भगवान के कोई भी वर्तन इच्छा पूर्वक नही होता है। इसलिए वे भगवान मन की प्रवृत्ति के अभाव होने पर 'अमनस्का: केवलिन:' इस सिद्धांत के अनुसार कुछ क्रिया स्वयं नहीं करते। आगम में जो योग की प्रवृत्ति के निमित्त से प्रकृति व प्रदेशबंध कहा है सो उपचारमात्र है। खड़ा होना, बैठना, विहार करना व धर्मोपदेश होना यह अरहंत अवस्था के काल में स्वत: नियम से ही होता है, जैसे स्त्रियों के नियम से मायाचार होता है। आदि। फलत:—

ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि —तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि भव्यजीवों के भाग्योदय से उनकी स्वय की जिज्ञासा के अनुरूप उस-उस भाव में परिणत हो जाती है। और प्रमाण (पूर्णज्ञान) रूप दिव्य-ध्वनि (नय-आंशिकज्ञान) गर्भित होने से श्रुतज्ञानी गण धरो द्वारा मन के साहचर्य से स्याद्वादरूप मे फलित की जाती है। इस विषय को सोचिए और निर्णय पर पहुंचने के लिए विचार दीजिए।

३. मूल जो सदा कचोटती रहेगी!

वे रूढियां जो सदियों से चली आ रही हैं और जिन्होने धर्म के मूल-रूप को आत्मसात कर लिया है—ढक लिया है, इतनी गाढी हो गई है कि उनका रग सहज छटने का नहीं। ऐसी रूढ़ियों में एक रूढ़ि है अपरिग्रह को उपेक्षित कर 'अहिंसा को मूल जैन-संस्कृति' प्रचारित करने की।

यूं तो संसार के सभी मत-मतान्तर हिंसा को पाप और अहिंसा को धर्म बतलाते हैं। पर, जैनी इसमें सबसे आगे हैं। जब कभी कहीं अहिंसा का प्रसंग उठता है, जैनी बांसों उछलते हैं और गर्व के वेग में कहते हैं कि—जैनियों द्वारा मान्य अहिंसा सर्वोपरि है जहां दूसरों में अहिंसा के व्यवहारिक रूपों को सर्वोच्च मान्यता प्राप्त है वहां जैन इसके मूल तक पहुंचे हैं उन्होंने संकल्पित, कृत कारित, अनुमोदित, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति-रूपों में भी हिंसा के त्याग को अहिंसा कहा है और 'सम्यग्योग निग्रहोगुप्ति का उपदेश दिया है, आदि। नि:संदेह जैनियों की अहिंसा पर सबको गर्व है। पर, इस गर्व में कहीं सब इतने तो नहीं फूल गए हैं कि उनके द्वारा जाने-अनजाने में जैन संस्कृति के मूल अपरिग्रह पर ही चोट हो रही हो?

जैनियों में पाँच पाप माने गए हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। यद्यपि इन पांचों में परस्पर में कारण-कार्य भाव घटित हो सकता है और एक का दूसरे में समावेश भी हो सकता है। परन्तु यदि सूक्ष्म-दृष्टि से विचारे तो सब पापो के मूल में परिग्रह ही अभिन्न कारण बैठा दिखाई देता है। पूर्ण-अपरिग्रही (शुद्ध आत्मा) मे कोई भी पाप नहीं बनता। आचार्यों ने भी जीव-राशि को जिन दो भागों में बांटा है वे संसारी और मुक्त जैसे दोनों भाग भी हिंसा-अहिंसा आदि पर आधारित न होकर परिग्रह-भाव और परिग्रह-अभाव की अपेक्षाओं से ही हैं जो जीव परिग्रह मे हैं वे ससारी और जो अपरिग्रही हैं वे मुक्त। फलत:—हमें मूल पर दृष्टि रखनी चाहिए।

सब जानते हैं कि शास्त्रों मे कारण और कार्य दोनों को सर्व-मान्य तथ्य कहा है और जैन-दृष्टि से दोनो ही अनादि है। कारण भी किसी का कार्य है और कार्य भी किसी कारण के बिना नहीं होता। उक्त परिप्रेक्ष्य में जब हम तत्त्वार्थसूत्र-गत 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यरोपणं हिंसा' इस हिंसा के लक्षण को देखते हैं तब स्पष्ट होता है कि प्राणो के व्यपरोपण रूप कार्य हिंसा है और प्रमाद उस हिंसारूप कार्य का कारण है, यानी—बिना प्रमाद के हिंसा नही बन सकती। इसी प्रकार झूठ आदि पापों में भी

प्रमाद की कारणता है। और प्रमाद को परिग्रह कहा गया है। फलतः परिग्रह की मुक्ति से ही सर्व पापों और संसार से मुक्ति मिल सकती है और इसलिए हमें सर्वप्रथम मूल कारण परिग्रह को कृश करना चाहिए। लोक में भी कहावत है कि 'चोर को मत मारो चोर की जननी को मारो।' जननी मर जायगी तो चोरों की संतान परम्परा स्वयं समाप्त हो जायेगी।

जब तीर्थंकर महान थे उन्होंने परिग्रह से मुक्त होने के लिए, परिग्रह की पहचान के हेतु स्व-पर भेद-विज्ञान करने को सर्वोपरि रखा। उन्हें स्व-से आत्मा और 'पर' से परिग्रह अर्थ लेना इष्ट था। क्योंकि संसार या कर्म-रूप परिग्रह से छुटकारा पाए बिना मुक्ति नही मिल सकती थी और स्व पर भेद-विज्ञान के बिना परिग्रह को भी नही जाना जा सकता था। यही कारण था कि स्व-पर भेद-विज्ञान की सीढ़ी पर पग रखते दीक्षा के समय ही उन्होंने सर्व सावद्य उन पाप जनक क्रियाओं से किनारा किया, जिनके मूल में प्रमाद (परिग्रह) बैठा हो। शास्त्रो मेंअवद्य का अर्थ गर्ह्य या निन्द्य कहा है (गर्ह्यमवद्यम्'—राजवा-७।६।२ और निन्द्य सहित जो भाव अथवा क्रिया है वह सर्व ही 'सावद्य' है। उक्त प्रकाश में केवल हिंसा ही नहीं अपितु सभी पाप 'अवद्य' हैं और कारणरूप प्रमाद (परिग्रह) सभी के साथ है—ऐसा सिद्ध होता है।

शास्त्रों में जहां भी सावद्यको हिंसा जनक क्रियाओं के भावमात्र में गृहण किया गया है वहां स्थूल दृष्टि से 'आत्म-घात' के 'घात' शब्द को लक्ष्य करके ही किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। क्यो कि घात और हिंसा एकार्थक जैसे हैं। कोषकारों ने अवद्यऔर सावद्य के जो अर्थ दिए हैं वे सभी पांचों (पापों) के लक्ष्य में दिए हैं। अतः इन शब्दों को मात्र हिंसा से ही जोड़ना और अन्य पापो पर लक्ष्य न देना किसी भी भांति ठीक नहीं है। देखें—

अवज्ज (अवद्य)

(क) मिथ्याकषाय लक्षणे (आ. म. प्र.) गर्ह्य, कम्मवज्जं जं गर-हियं ति कोहाइणो व चतारि—यत गर्हित निन्द्य कर्मानुष्ठानं अथवा क्रोधादयश्चत्वारों अवद्य, तेषां सर्वावद्य हेतुतया कारणे कार्योप्रचारात्। अभि. रा. कोष.

(ख) अवज्ज-अवद्य, पाप, निन्दनीय।
—पाइय सद्द० मह०

सावज्ज (सावद्य)

(क) अवद्यं पापं सहावद्येन वर्तत इति सावद्यः,
सहावद्येन गर्हितकर्मणा हिंसादिना वर्तत इति;
हिंसादिदोषयुक्ते;
गरहियमवज्जमुत्तं, पावं सहतेण सावज्जं ।३४९६।
अहवेहुज्जणिज्जं, वज्जं पावं ति सहसकारस्स।
दिग्घता देसाओं सहवज्जेणं ति सावज्जं ।। ३४९७।।
—हिंसाचौर्यादिगर्हितकर्मालम्बने; गर्हितकर्मयुक्ते; मिथ्यात्व लक्षण कषायलक्षणं सह सावद्यो नाम कर्म बन्धो अवज्जं सह जो सो सावज्जो। जोगोत्ति वा वावारोत्ति वा एगट्ठा; सावज्जयणुचिट्ठं ति वा पावकम्ममासेवितं ति वा वितहमाइन्नं ति वा एगट्ठा सावज्जमणाययणं असोहिट्ठाणं कुसीलसंसग्गा एगट्ठा। —अभि० रा० को०

(ख) सावजन-सावद्य, पापयुक्त, पापवाला।
—पाइअसद्दमहण्णव।

ऐसे ही जहां कही प्रमाद को हिंसा के नाम से संबोधित किया गया है वहाँ भी ऐसा समझना चाहिए कि वहां 'अन्नं वै प्राणः' की भांति कारण में कार्य का उपचार मात्र है। अन्यथा यदि प्रमाद स्वयं सर्वात्मना हिंसा होता तो आचार्य इस ममत्व-रूप प्रमाद को 'मूर्छा परिग्रहः' से इंगित न कर 'मूर्छा हिंसा' इस रूप में सूत्र कहते। यदि और गहरी दृष्टि से देखा जाय तो यह फलितार्थ भी निकाला जा सकता है कि जब प्रमाद (पन्द्रह या अनेक भेद) सर्वात्मना हिंसा में गर्भित हो जाते हैं तब परिग्रह के लिए तो (अध्यात्म में) कुछ शेष रह ही नहीं जाता, पाप चार ही रह जाते हैं। फर्क मात्र इतना रह जाता है कि कभी पार्श्व के—चार पापों के परिहार रूप माने गए चार यामों मे (जो वस्तुतः न्याय संगत नहीं ठहरते) ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह में गर्भित किया गया था। और यहां प्रमाद (मूर्छा) रूप परिग्रह को हिंसा मे गर्भित कर म० महावीर और चौबीसों तीर्थंकरों के पंच महाव्रतों की मर्यादा को भंगकर चार पाप मानने का प्रच्छन्न प्रयत्न

बन रहा है। इस प्रकार सभी तीर्थंकरों की अवहेलना हो रही है। अस्तु:

अपने विषय में हम यह भी जानते हैं कि परिग्रह पहले ही हमसे बहुत कुछ रुष्ट हैं—हम अकिंचन जैसे हैं; अब हमारी परिग्रहकृषता—त्याग जैसी बात से कतिपय परिग्रही दीर्घ संसारी बहु परिग्रही भी कुछ रुष्ट हो सकते हों—(जिसकी हमें आशा नही) फिर भी हमें इसकी चिंता से कहीं अधिक चिंता आगम मार्ग रक्षा और समाज में 'मूल-जैन संस्कृति अपरिग्रह' को अक्षुण्ण रखने की है; जिसकी उपेक्षा कर आज कुछ लोग अधिकाधिक संग्रही बनने की होड़ में अहिंसा के नाम पर मौज उड़ाने के अभ्यासी हो रहे हैं—भोगोपभोग में मग्न रहकर भी धर्म-ध्यानी बनना चाहते हैं। मोक्ष चाहते हैं। ऐसी सभी क्रियाएं उन्हें पर-भव में मंहगी पड़ सकती है; इस भव में तो धर्म का ह्रास देखा ही जा रहा है।

काश हमने अपरिग्रह को अपनी मूल-संस्कृति मानते रहने का अभ्यास किया होता और परिग्रह (तृष्णा) के क्षीण करने को प्राथमिकता दी होती तो परिग्रह संचय करने से हमारे मन और दोनों हाथों को ब्रेक भी लगा होता और अहिंसादि (त्याग रूप) व्रतो का निर्वाह भी हुआ होता, हम जैनी पहले की भांति लोक-प्रतिष्ठित भी रहते और हमारा कल्याण भी निकट होता—व्यवहार में शायद हम निकट-भव्यों की श्रेणी में भी होते। जरा सोचिए! तथ्य क्या है?

४. क्या हम श्रावक निर्दोष हैं?

मुनि-पद की अपनी विशेष गरिमा है और इसी गरिमा के कारण इस पद को पंच परमेष्ठियों में स्थान मिल सका है—'णमो लोए सव्वसाहूण।'—जब कोई व्यक्ति किसी मुनिराज की ओर अंगुली उठाता है तो हमें आश्चर्य और दुख दोनों होते हैं। हम सोचते हैं कि यदि हमें अधिकार मिला होता तो हम ऐसे निन्दक व्यक्ति को अवश्य ही 'तनखैया' घोषित कर देते जो हमारे पूज्य और इष्ट की निन्दा करता हो। आखिर, हमें सिखाया भी तो गया है कि—"मुनिराज का पद ही गरिमापूर्ण है।" क्या हम यह भी भूल जायें कि—"मुक्तिमात्र प्रदानेन का परीक्षा तपस्विनां" वाक्य हमारे लिए ही है और सम्यग्दृष्टि श्रावक सदा उपगूहन अंग का पालन करते हैं, आदि।

उस दिन हमने एक हितचिंतक की बातें सुनी, जो बड़े दुखी और चिन्तित हृदय की पुकार जैसी लगी। इनमें मुनि-संस्था के निर्मल और अक्षुण्ण रखने जैसी भावना स्पष्ट थी।

बातें समय-संगत थीं और विचार कर सुधार करने में सभी की भलाई है। हमारी दृष्टि में तो पहिले हम श्रावक ही अपने मे सुधार करें। संभवत: हम श्रावक ही मुनिमार्ग को दूषित कराने मे प्रधान सहयोगी हैं। हम श्रावक जहाँ इक्के-दुक्के मुनिराज को अपनी दृष्टि से—कही किन्हीं अंशों मे कुछ प्रभावक पाते हैं, उनकी अन्य शिथिलताओं को नजरन्दाज कर जाते हैं और साधु को इतना बढ़ावा देने लग जाते हैं कि साधु को स्वयं में एक संस्था बनने को मजबूर हो जाना पड़ता है। साधु के यश के अम्बार लगे रहें और वह भीड से घिरा चारों ओर अपने जय-घोष सुनता रहे, तो इस युग मे तो यश-लिप्सा से बचे रहना उसे बड़ा दुष्कर कार्य है। फलत: साधु स्वयं संस्था और आचार्य बन जाता है और भक्तगण उसके आज्ञाकारी शिष्य। नतीजा यह होता है कि साधु की अपनी दृष्टि वैराग्य से हटकर प्रतिष्ठा और यश पर केन्द्रित होने लगती है। उसकी दृष्टि में परम्परागत आचार्य भी फीके पड़ने लगते है। बस, साधु की यही प्रवृत्ति उच्छृङ्खल और उद्दण्ड होने की शुरुआत होती है।

जनता दूसरो का माप अपने से करती है। हमे बोलने की कला नही और अमुक साधु बहुत बढ़िया—जन-मन-मोहक प्रवचन करते हैं या हम अपना भ्रमण-प्रोग्राम घोषित कर चलते हैं तो अमुक साधु बिना कुछ कहे ही एकाकी, मौन विहार कर देते है तो हम आकर्षित होकर उन्हे हर समय घेरने लगते हैं—उनकी जय-जयकार के अम्बार लगा देते हैं। पत्रकार प्रकाशन-सामग्री

मिलने से उस प्रसंग को विशेष रूपों में छपाने लगते हैं। बस, कदाचित् साधु को लगने लगता है कि मुझसे उत्तम और कौन ? उसका मोह (चाहे वह प्रभावना के प्रति ही क्यों न हो) बढ़ने लगता है और वह भी ऐसे कार्यों को प्राथमिकता देने लग जाता है जिसे जनता चाहती हो, उसके भक्त चाहते हों और जिससे उसका विशेष गुणगान होता हो। वह देखता है—लोगों की रुचि मन्दिरों के निर्माण में है तो वह उसी में सक्रिय हो जाता है, साहित्य मे जन-रुचि है तो वह साहित्य लिख-लिखाकर उसके प्रकाशन मे लग जाता है या बाहरी शोध-खोज की बातें करने लगता है अपनी खोज और कर्तव्य को भूल जाता है। आज अविचल रहने वाले साधु भी हैं और वे धन्य हैं।

मुनियों की जयन्तियाँ मनाने उन्हे अभिनन्दन ग्रथ या अभिनंदन-पत्रादि भेंट करने कराने जैसे सभी कार्य भी श्रावकों से ही सम्पन्न किये जाते है। कैसी विडम्बना है कि—'मारे और रोने न दे' ? हम ही बढ़ावा दे और हम ही उन्हे उस मार्ग मे जाने से रोकने को कहें ? ये तो ऐसा ही हुआ जैसे साधु कमरे मे बैठ जाय और गृहस्थ आपस में ऊपर एक पखा फिट कराने की बाते करें ? साधु मना करें तो कहे—महाराज यह तो हम श्रावको के लिए ही लगवा रहे हैं, आदि। जब पखा लग जाय तब वे ही श्रावक बाहर आकर कहे कि ये कैसे महाराज है—'पखे का उपयोग करते हैं ?'

हमने देखा पू० आ० श्री धर्मसागर जी का 'अभिनंदन-ग्रन्थ।' लोगों का कहना है आचार्य श्री इसमें सहमत न थे और अन्त तक (और आज भी) इससे दूर रहे उन्होंने नही स्वीकारा जब कि कई मुनि श्रावकों की भक्ति के वशीभूत हो अपने स्वयं के पद को भुला बैठते हैं। किसी मुनि के जन्म की रजत, स्वर्ण या हीरक-जयंती मनाई जाती है तो काल गणना माता के गर्भ निःसरण काल से की जाती है—जैसे कि आम संसारी जनों में होता है। जब कि, मुनि का वास्तविक जन्म दीक्षा काल से होता है—वीतराग अवस्था के धारण से होता है और आगम में भी मुनि अवस्था को ही पूज्य बताया गया है। क्या मुनि कोई तीर्थंकर हैं; जो उनको कल्याणकों से तौला जाय ? पर, क्या कहें श्रावक तौलते हैं और मुनि तुलते हैं। आखिर जरूरत क्या है—घिसे-पिटे दिनों को गिनने की ? क्या इससे मुनि-पद ज्यादा चमक जाता है ? धन्य है वे परम वीतरागी मुनि, जो इस सबसे दूर रहते हैं।—"हम उनके हैं दास, जिन्होंने मन मार लिया।"

हमे यह सब सोचना होगा और मुनियों के प्रति चिंता व्यक्त न कर, पहिले अपने को सुधारना होगा। काश, हम श्रावक उन्हें चन्दा न दें तो मुनि रसीद पर हस्ताक्षर न करें, आदि। यदि हम ठीक रहें और श्रावक-सघ को कर्तव्य के प्रति सजग रखने का प्रयत्न करें तो सब स्वयं ही सही हो - पदेन सभी मुनि उत्तम हैं।

कैसी विडम्बना है कि हम अपने नेताओं को और अपने श्रावक-पद को तो सही न करें और पूज्य मुनियों की तथा परायों की चिंता में दुबले होते रहें। जरा सोचिए !

—संपादक

धर्म-ध्यान युत परम विचित्र। अन्तर बाहर सहज पवित्र ॥
लोक लाज विगलित भय हीन। विषय वासना रहित प्रवीन ॥
नग्न दिगम्बर-मुद्रा धार। सो मुनिराज जगत हितकार ॥
एक बार लघु भोजन करें। सो मुनि मुक्ति पंथ को धरें ॥

दुखद-निधन

वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी के सदस्य श्री रत्नत्रयधारी जैन एडवोकेट का आकस्मिक निधन हो गया है। वे अन्य अनेकों संस्थाओं से संबद्ध, समाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे। उनके निधन से अपार क्षति हुई है। वीर सेवा मन्दिर परिवार दिवंगत आत्मा की सुख-शान्ति की प्रार्थना और उनके परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना प्रकट करता है।

महासचिव
वीर सेवा मन्दिर

(पृष्ठ २२ का शेषांश)

की। ये प्रतिमायें लगभग पन्द्रह सौ वर्ष प्राचीन होगी।[१९]

अत: जैन मूर्तियों पर आलेखित लेखों ताम्रपत्र, तथा शिलालेखों आदि में उपलब्ध सामग्री से भगवान पार्श्वनाथ की महत्ता जैनकला और स्थापत्य में स्पष्ट प्रकट होती है। स्थापत्य की दृष्टि से भगवान पार्श्वनाथ के मन्दिरों में प्राप्त मूर्तियां एवं भग्नावशेष जैन-कला में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।

—जैन मन्दिर के पास, बिजनौर
पिन कोड—२४६७०१ (उ०प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. लेखक—श्री रतनलाल जैन : जैन धर्म पेज १२४
२. लेखक—वादिराजसूरि कृत पासणाहचरिउ ७३/७५
हयसेण वम्मिलाहि जादो वाराणसीए पासजिणो।
पूसस्स बहुल एक्कारसिए रिक्खेविसाहाए ॥
३. सम्पादक—बलभद्र जैन : भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ प्रथम भाग पेज १२२
४. वही—पेज १२७
५. वही— " "
६. वही— " "
७. वही— " "
८. लेखक—अजित कुमार जैन : जैनकला तीर्थ गोपाचल, स्याद्वद ज्ञानगंगा पत्रिका जुलाई ८४। पेज २७।
९. वही, पेज २६
१०. संकलन सुरेश ढोले : लेख ऐलोरा की गुफायें : आचार्य विमल सागर म० ६८ वी जन्म जयन्ती समारोह स्मारिका।
११. सम्पादक—बलभद्र जैन : भारत के दि० जैन तीर्थ पेज ३४ पर।
१२. वही पेज ३४ पर
१३. वही " "
१४. " " "
१५. " "
१६. लेखक—नरेश कुमार पाठक : अनेकान्त जनवरी मार्च पेज ६
१७. वही पेज ६ पर
१८. " " "
१९. सम्पादक बलभद्र जैन : भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ प्रथम भाग पेज १२८
२०. वही पेज ५६ भारत में दि० जैन तीर्थ
२१. " " " " " "
२२. " " "—
२३. " " "—
२६. भारत के दि० जैन तीर्थ भाग १ पेज १०४
२७. लेखक—कु० वन्दना जैन : खजुराहो दर्शन : मंगल ज्योति स्मारिका।
२८. जैन शिला लेख संग्रह भाग २ पृ०२२७।२२८
२९. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ भाग १ पेज ६१ सम्पादक बलभद्र जैन।

दिल्ली से श्री महावीरजी की पद-यात्रा सम्पन्न

"श्री वीर जय जय महावीर जय-जय" के मधुर गीत गाते हुए जब पद यात्री किसी नगर या मन्दिर में प्रवेश करते तब वहां की समाज उनका अभूतपूर्व स्वागत करती। इन पद-यात्रियो ने आचार्य श्री दर्शनसागर जी महाराज का आशीर्वाद प्राप्त कर दिनांक ७ अक्तूबर ८४ को प्रात: ६ बजे चांदनीचौक स्थित श्री दि० जैन लाल मन्दिर से श्री महावीरजी के लिए प्रस्थान किया। दिल्ली के जैन समाज ने इन पदयात्रियों को पुष्पहार पहना कर भावभीनी विदाई दी।

ये पद यात्री-भोगल, बदरपुर, फरीदाबाद, बल्लभगढ़, गदपुरी, पलवल, औरंगाबाद, बनचारी, होडल, कोसी, छाता, छटीकरा, चौरासी, आजमपटटी, भरतपुर, उच्चैन, बयाना, सुरौठ, ढिंढोरा, हिण्डौन, शान्तिवीर नगर होते हुए दिनांक १६ अक्तूबर की प्रात: ५ बजे श्री महावीरजी के मन्दिर मे पहुचे। भगवान महावीर के जयजयकार से मन्दिर का वातावरण मुखरित हो उठा। यात्रा संघ के सभी सदस्यों ने भगवान महावीर के चरणों में नमन किया, प्रक्षाल पूजा और पाठ कर मन्दिर की परिक्रमा की।

इस यात्रा संघ में लगभग २५ व्यक्ति थे जिनमें से १६ यात्रियों ने पैदल यात्रा की। यात्रा की विशेषता यह थी कि सभी यात्री हर समय भजन-कीर्तन करते हुए आगे बढ़ते। जहां कही रुकते स्वाध्याय मे लीन रहते। देव दर्शन करना, पूजा अर्चना करना, रात्रि भोजन नहीं करना, पानी छान कर उपयोग करना, शुद्ध भोजन लेना, चमड़े की वस्तुओं का परित्याग आदि सभी पदयात्रियो के जीवन का अंग बन गया था। इतना ही नही सभी पदयात्री अनर्गल बातो और क्रोध आदि कषायो से दूर रहे। यात्रियों को श्री पदमचन्द जी शास्त्री के प्रवचनो का लाभ प्रतिदिन सुबह शाम प्राप्त हुआ जो यात्रा संघ के साथ गए हुए थे। रास्ते में अजैन बन्धु भी पदयात्रियों के स्वर में स्वर मिलाकर जय महावीर के नारे लगाते। संघ ने रास्ते में आये सभी जिनालयों के दर्शन भी किये। श्री पदमचन्द जी शास्त्री के प्रवचनों से यात्रियों के अतिरिक्त स्थानीय समाज के अन्य लोग भी लाभान्वित हुए। अपने प्रवचन में शास्त्री जी ने स्पष्ट किया कि इस प्रकार की यात्रा साधना का ही एक अंग है क्योंकि सभी यात्री संयम का पालन करते रहे। इस प्रकार की सभी क्रियाएं आत्मज्ञान की प्राप्ति में सहायक होती हैं। ऐसी यात्राओं से धर्म की महती प्रभावना होती है।

दिनांक १६ अक्तूबर को रात्रि में श्री महावीरजी में पदयात्रा संघ-यात्रियों के सम्मान में एक सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता क्षेत्र के व्यवस्थापक श्री जे० पी०एस० जैन ने की। ब्र० कमलाबाई के सानिध्य में सम्पन्न इस सभा में श्री सुभाष जैन व श्री उम्मेदमल पाण्डया को यात्रा की सफलता के लिए आशीर्वाद स्वरूप रजत पत्र भेंट किये गये। सभा मे दि० जैन आदर्श महिला विद्यालय की बालिकाओं द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक कार्यक्रम व श्री प्रदीप जैन के भजनों की सभी ने मुक्त कंठ से सराहना की।

इस पद यात्रा का श्रेय जहां शकुन प्रकाशन के संचालक श्री सुभाष जैन के सकल्प को है वहां मार्ग में आवास व भोजनादि की व्यवस्था का दायित्व श्री उम्मेदमल पांडया ने स्वीकार कर यात्रा को निष्कटक बना दिया। इस सदर्भ मे दि० जैन आदर्श महिला विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री ब्रजमोहन जी की सराहना किए बिना नहीं रहा जा सकता जिन्होंने व्यवस्था मे समय-समय पर योगदान दिया।

श्री पदमचन्द जी शास्त्री को इस यात्रा मे क्या अनुभव हुआ इस पर एक पुस्तिका निकट भविष्य मे शीघ्र प्रकाशित की जाने की आशा है।

—अनिलकुमार जैन

२५, अक्तूबर ८४ — २७७०, कुतुब रोड, दिल्ली

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ... ५-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह । ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० । १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-०

Jaina Bibliography . Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

सम्पादक परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—महासचिव, वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३७ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९८४

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

साक्षात्कार-प्रसंग में—

बात-बात में बात निकलती है। उस दिन डा० नन्दलाल जैन आ गये। मैंने पूछा—कैसे पधारना हुआ। बोले—एक उत्सव में आया था। आपका 'अनेकान्त' मुझे इधर खींच लाया। सोचा, आपके भी दर्शन करता चलूं। 'अनेकान्त' मिलता रहता है, उसमें खोज पूर्ण सामग्री रहती है। आप जो बहुत से नए आयाम दे रहे हैं; और खासकर 'जरा सोचिए' में जो मुद्दे उठाए जाते हैं, उनसे नई दिशाएँ मिलती हैं। मैं तो यहां तक कहूंगा कि उससे सुप्त-अंतर-चेतना जागृत जैसी हो जाती है और ऐसा लगता है कि उसे पढ़ता ही रहूं।

मैंने कहा—आप की बड़ी कृपा है, इस कृपा के लिए धन्यवाद।

वे बोले—कोरे धन्यवाद से काम न चलेगा। मैं तो आप से कुछ हीरे प्राप्त करने आया हूं। आपके मुखारविन्द से एक-दो बात तो सुनूं। कृपा कीजिए।

मैंने कहा—न तो मैं हीरों का व्यापारी हूं और ना ही मेरा मुख अरविन्द है। आप तो किसी बड़े उत्सव में आए थे, आपने बड़े-बड़े वक्ताओं को सुना होगा। पहिले तो आप ही मुझे उन प्रसंगो से अवगत कराएं जो आपको उत्सव में उपलब्ध हुए। जब आप अनायास आ ही गए हैं तो क्यों न मैं उन प्रसंगो से लाभ उठाऊँ?

वे बोले—प्यासा क्या दूसरों की प्यास बुझाएगा? मुझे तो उत्सव में कुछ नही मिला। मैं जिस साध को लेकर आया था—अधूरी ही रही। बल्कि निराशा ही हाथ लगी। यहां भी वही देखा जो अन्य जगहो में देखता रहा हूं। लाखों का खर्च करके अनेकों विद्वान, उत्तम स्टेज-सजावट, उत्तम भोजन की उपलब्धि आदि के सभी व्यवस्थित उपक्रम किए गए, अनेकों प्रस्ताव पास हुए। पर, किसी ने जैन की मूल प्रक्रिया पर प्रकाश नहीं डाला। हां, अहिंसा के विषय में जरूर कुछ टूटा-फूटा सा उल्लेख आया। एक ने तो कहा कि जब अहिंसा को औरो ने भी माना है और जैन भी इसके पुजारी हैं तो हमें इसी पर जोर देना चाहिए। आज संसार त्रस्त है, उसका त्रास अहिंसा से ही मिट सकेगा, आदि। जब कि त्रास की मूल जड़ परिग्रह है, जिसे लोग बढ़ाए जा रहे हैं। इसका भाव तो ऐसा हुआ कि रोग बढ़ाते जाओ और इलाज कराए जाओ।

मैंने कहा—ठीक है जब सभी इसमे एक मत हैं तो यही उत्सव की बड़ी उपलब्धि है [illegible] मान लीजिए।

वे बोले—क्या कहने और प्रस्ताव पास करने मात्र से उपलब्धि हो जाती है या आचरण करने से उपलब्धि होती है। भाषण तो बहुत से सुनते हैं उन्हें आचरण में कितने लोग उतारते हैं।

मैंने कहा—आज के उत्सवों का प्रयोजन इतना ही रह गया है कि हमारी बात को अधिक लोग सुन-समझ सकें। दरअसल बात यह है कि हम दूसरो की चिन्ता करने के अभ्यासी बन चुके हैं। जैसे आंख दूसरों को देखती है अपने को नहीं। हमें पड़ौसी, देश और विदेश सबको सुधारने की चिन्ता है—सबमे कमी दिखती है। पर, हम अपनी कमी को नहीं देखते हैं। जैन-तीर्थंकरों ने ऐसा नही किया। उनका पहिला कार्य आत्महित रहा—वे पहिले केवल ज्ञानी बने बाद को समवसरण को संबोधित किया। यदि हम दर्पण लेकर देखें तब हमारी आंखें स्वयं को देख पाएंगी। यदि हम अपने अन्तर में झांकें तो बाहर के सुधार की सब बातें धरी रह जाएँगी—हम अपने दोषों को देख सकेंगे और सुधार में लग सकेंगे।

मैं तो ऐसा समझ पाया हूँ कि विचार, आचार, और प्रचार इन तीनों का अटूट सम्बन्ध है। यदि आप प्रचार करें तो वह आचार बिना अधूरा है और आचार भी विचार बिना अधूरा है। कुछ लोग विचार करते हैं आचरण नही करते। भला, जिनके स्वयं का आचरण नही उनके द्वारा प्रचार कैसा? वह तो ढोल में पोल ही होगा।

ये जो हमारी विद्वत्समाज है, जिसका सारा जीवन जिणवाणी की उपासना में बीता। जब वह ही शास्त्रों के अनुकूल आचरण नहीं कर सका—वीतरागी नही बन सका—उसे धन और धनवानों की ओर ताकने को मजबूर होना पड़ा, तब यह कैसे हो सकता है कि उसके वीतराग-वाणी रूप भाषण या प्रचार का असर चन्द-क्षणों में हो जाय? दिखता तो ऐसा है कि जैसे व्यापारी वर्ग भी घाटे में जा रहा हो। वह लाखों खर्च करके भी मात्र नश्वर-यश अर्जन में लगा हो—उसी के लिए सब कुछ कर रहा हो—आत्म-लाभ से उसे कोई प्रयोजन ही न हो, वह भी परायों में डूब गया हो।

[शेष आवरण तीन पर]

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३७ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | अक्टूबर-दिसम्बर १९८४
वीर-निर्वाण संवत् २५१०, वि० स० २०४०

अनेकान्त-महिमा

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः । अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥
जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ । तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥'
परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुरभिधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥'
भद्दंमिच्छादंसण समूह महियस्स अमयसारस्स । जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स ॥'
परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण । 'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत कल्याण ॥
'अनेकान्त' रवि किरण से, तम अज्ञान विनाश ।
मिटे मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश ॥

अनन्त धर्मा-तत्त्वों अथवा चैतन्य-परम-आत्मा को पृथक्-भिन्न-रूप दर्शाने वाली, अनेकान्तमयी मूर्ति—जिनवाणी, नित्य-त्रिकाल ही प्रकाश करती रहे हमारी अन्तर्ज्योति को जागृत करती रहे।

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नहीं बन सकता, उस भुवन के गुरु—असाधारणगुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार हो।

जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान रूप एकांत को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तु-स्वभावों के विरोधों का मन्थन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवनभूत, एक पक्ष रहित अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार करता हूं।

मिथ्यादर्शन समूह का विनाश करने वाले, अमृतसार रूप; सुखपूर्वक समझ में आने वाले; भगवान् जिन के (अनेकान्त गर्भित) वचन के भद्र (कल्याण) हों। □□

पट्ट महादेवी शान्तला

☐ डा० ज्योतिप्रसाद जैन 'इतिहास मनीषी'

"आपकी यह बिटिया 'जगती-मानिनी' बनकर विराजेगी अर्थात् वह सारे विश्व में गरिमायुक्त गौरव से पूजी जाने वाली मानवदेवता की स्थिति प्राप्त कर लेगी। अपने जीतेजी ही जन-जन के स्नेह, श्रद्धा एवं भक्ति की पात्री बनकर एक देवी की भांति पूजित होगी—और यह सब अपने सद्व्यवहार, सद्गुणों तथा अप्रतिम व्यक्तित्व के बल पर ही।"

'जगती-मानिनी' बनने का उपरोक्त उद्गार, भविष्य-वाणी, पूर्वाभास अथवा शुभाकांक्षारूप आशीर्वाद, अबसे लगभग नौ-सौ वर्ष पूर्व एक आठ-नौ वर्ष की नन्हीं बालिका के विषय में उसके शिक्षक ने उसके पिता के समक्ष व्यक्त किया था। स्थान था दक्षिण भारत के मुकुट-मणि कर्नाटक देश का बलिपुर (वर्तमान बेलगांव)। बालिका के पिता थे उस नगर एवं सम्बन्धित प्रदेश के हेग्गड़े या (पेग्गडि) पदधारी स्थानीय प्रशासक एवं ग्राम प्रमुख बलिपुर द्वार-समुद्र होयसल राज्य का एक 'महत्व-पूर्ण सीमात जनपद एव प्रशासकीय इकाई था। हेग्गड़े का नाम मारसिंगय्य था। जो कुशल प्रशासक, वीर योद्धा और स्वामीभक्त राज्य कर्मचारी थे—होयसल नरेश विनयादित्य द्वितीय (१०६०-११००) के और विशेषकर उनके सुपुत्र तथा राज्य के वास्तविक कार्यसंचालक पोयसलवंश-त्रिभुवनमल्ल युवराज एरेयग महाप्रभु के वह अत्यन्त विश्वासपात्र थे। हेग्गड़े की धर्मपत्नी मानिकब्बे दडनाथ नाग वर्मा की पौत्री, दण्डनायक बलनेव की पुत्री और पेग्गडे सिंगमय्य की भगिनी थी। वीर सेनानियों के प्रसिद्ध कुल मे उत्पन्न यह महिला अपने पितृकुल की प्रवृत्ति के अनुसार परम जिन भक्त थी, जबकि उसके पति हेग्गड़े मारसिंगय्य परम शैव थे। परन्तु धर्मवैभिन्य के कारण उन पति-पत्नी के बीच असमाधान की स्थिति कभी नहीं आई दोनों का दाम्पत्य जीवन सुख-शान्ति, प्रेम और सद्भाव-पूर्वक व्यतीत हो रहा था। और इस महाभाग दम्पति की एक मात्र सन्तान, उनकी लाड़ली बेटी (शान्तले) शान्तला देवी या शान्तल देवी थी, जिसे लक्ष्य करके उसके शिक्षक, विविध विषय-निष्णात श्रेष्ठ विद्वान कविवर पण्डित बोकिमय्य ने वह शुभकामना व्यक्त की थी। वह स्वयं श्रवण बेलगोल के तत्कालीन भट्टारक पण्डिताचार्य चारुकीति के गृहस्थ शिष्य थे। एक साधारण हेग्गडे की पुत्री यह अद्भुत लड़की प्रायः यौवनारम्भ में ही युवराज एरेयंग महाप्रभु एवं युवराज्ञी एचल देवी के द्वितीय पुत्र राजकुमार बिट्टिदेव की प्राणवल्लभा हुई और होयसलवंश के सर्वाधिक प्रतापी, शक्तिशाली एवं प्रख्यात नरेश बिट्टि-वर्द्धन अपरनाम विष्णुवर्द्धनदेव (११०६-११४८) के रूप में उसके राज्यकाल में उसकी प्रिय पट्ट महादेवी अपने शेष पूरे जीवनकाल में बनी रही। वह उस होयसल चक्रवर्ती की सफलताओं, तेज प्रताप का प्रधान प्रेरणास्रोत एवं सक्रिय सहयोगिनी रही—वह उसकी सरस्वती, लक्ष्मी और शक्ति तीनों ही थी। साथ ही, राज्य की ही समस्त प्रजा नहीं, आस-पास भी दूर-दूर तक जिसके बुद्धि-वैभव्य, विचक्षता एवं अप्रतिम निष्कलमष सद्व्यवहार से छोटे-बड़े सभी जन अभिभूत रहे।

प्रबुद्ध होने का दावा करने वाला आज का मानव तर्कशील एवं शंकालु होता है। इतिहासातीत व्यक्तियों एवं घटनाओं को तो वह प्रायः पौराणिक, मिथिक या कपोलकल्पित गप्प कहकर नकार देता है। वह यह भूल जाता है कि सारा इतिहास दूर अतीत का अंश बनकर पुराण हो जाता है, और प्राचीन ऐतिहासिक स्थल भी कालान्तर में तीर्थस्थानों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इतना ही नहीं, गत अढ़ाई-तीन हजार वर्षों से संबंधित शुद्ध इतिहासकालीन व्यक्ति एवं घटनाओं को भी, उनके इतिहास सिद्ध होते हुए भी, वह यथावत स्वीकार करने

में संकोच करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐतिहासिक गवेषणा एवं शोध-खोज ही न की जाय, और उसके आलोक में अद्यनाज्ञान ज्ञातव्य में कोई संशोधन एवं परिष्कार न किया जाय, किन्तु जितना जो ज्ञात है उसे तो स्वीकारना चाहिए।

जहां तक महारानी शान्तला देवी का प्रश्न है, उन्हें हुए पूरे नौ सौ वर्ष भी नहीं बीते हैं। तत्कालीन तथा निकटवर्ती अनेक स्मारकों, शिलालेखों तात्कालिक उल्लेखों एवं लोकप्रचलित अनुश्रुतियों आदि के अतिरिक्त ऐतिहासिक शोध-खोज पर आधारित आधुनिक युगीन इतिहास-ग्रंथों में महिलारत्न के विषय में प्रभूत ज्ञातव्य प्राप्त हैं। इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते प्रारम्भ से ही हमारा प्रयास सामान्य भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि में विभिन्न युगीन एवं विभिन्न क्षेत्रीय तथा विभिन्न वर्गीय जैन पुरुषों एव महिलाओ के व्यक्तित्व, कृतित्व एव योगदान का मूल्यांकन करता रहा है। कर्णाटक के श्रवणबेलगोल आदि स्थानों से प्राप्त शिलालेखों तथा रामास्वामी अयंगार, शेषागिरराव, राईस, नरसिंहाचार्य, भंडारकर, पाठक, अल्तेकर, सालतोर, नीलकण्ठ शास्त्री प्रभृति विद्वानों की कृतियों के अध्ययन से इस प्रवृत्ति को प्रेरणा एवं बल मिला था। फरवरी १९४७ के 'अनेकान्त' में हमारा लेख ''दक्षिण भारत के राज्यवंशों में जैन धर्म का प्रभाव'' प्रकाशित हुआ था। १९६१ में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित अपने ग्रंथ 'भारतीय इतिहास : एक दृष्टि' मे हमने विभिन्न युगों एवं विभिन्न क्षेत्रों में जैनों के ऐतिहासिक योगदान की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया था—मध्यकालीन दक्षिण भारतीय इतिहास के प्रसंग में द्वारसमुद्र के होयसल वंश का तथा उनके अन्तर्गत महाराज विष्णुवर्द्धन एवं उनकी पट्टमहादेवी शान्तला का भी उस ग्रंथ में परिचय दिया था। उसी प्रकार भारतीय ज्ञानपीठ से ही १९७५ में प्रकाशित अपने ग्रंथ 'प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं' में भी उक्त महादेवी अपेक्षाकृत कुछ विस्तृत विवरण दिया था। ज्ञात हुआ है कि पिछले कुछ वर्षों में कन्नड़ भाषा में महारानी शान्तला के विषय में तीन-चार उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु उनके हिन्दी अनुवाद न होने से उनका कोई परिचय प्राप्त नहीं हुआ। कन्नड़ भाषा एवं साहित्य के एक महारथी, श्री सी० के० नागराजराव ने साधिक आठ वर्ष के परिश्रम से, १९७६ में अपना जो लगभग २२५० पृष्ठों का बृहत्काय उपन्यास 'पट्टमहादेवी शान्तला' कन्नड़ भाषा में लिखकर पूर्ण किया किया था और प्रकाशित भी करा दिया, उसके हिन्दी अनुवाद का प्रथम भाग (पृष्ठ सख्या ४००), १९८३ में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ था। इस भाग मे चरित्रनायिका के बाल्यकाल एव किशोर वय के पन्द्रह वर्ष की आयु पर्यन्त, लगभग ६ पृष्ठो का ही घटनाक्रम आ-पाया है।

शेष तीन भाग भी एक-एक करके शीघ्र ही प्रकाशित होंगे, ऐसी आशा है हिन्दी रूपान्तर कार पण्डित पी० वेंकटाचल शर्मा लगभग ७५ वर्ष की आयु के अनुभवबद्ध उभयभाषाविज्ञ कन्नडी विद्वान हैं, अतएव अनुवाद की भाषा अति सरल, मुहावरेदार एवं प्रभावपूर्ण है। उसमें मूल कन्नड़ कृति के भाव एव शैली का उत्तमरीत्या निर्वाह हुआ—हां प्रूफ संशोधन की असावधानीवश छापे की अशुद्धियां यत्र-तत्र रह गई हैं। स्वय कथाकार श्री नागराजरावजी भी लगभग ७० वर्ष की आयु के ख्याति प्राप्त प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। वह मानवीय मूल्यों के प्रबल समर्थक, संवेदनशील एवं कुशल कथाशिल्पी मात्र ही नहीं हैं, इस ऐतिहासिक उपन्यास की रचना करने के लिए उन्होने वर्षों तक तत्सम्बन्धित ऐतिहासिक साधन—स्रोतों का भी गहन अध्ययन एव मन्थन किया है। गत शती के सुप्रसिद्ध फ्रान्सीसी उपन्यासकार एलेक्जेण्डर ड्यूमाकी एक उक्ति है कि 'इतिहास ऐसा लिखा जाना चाहिए कि पाठक समझे कि वह एक रोचक उपन्यास पढ़ रहा है, और उपन्यास ऐसे लिखा जाय कि पाठक को लगे कि वह जीवंत इतिहास पढ़ रहा है।' श्री नागराजरावजी के इस उपन्यास पर यह उक्ति भली प्रकार चरितार्थ है। उपन्यास की कल्पनाप्रवण रोचकता के साथ इतिहास की प्रमाणिकता का उसमें अद्भुत सामन्जस्य है। घटनाक्रम हृदयग्राही, कथनोपकथन सहज स्वाभाविक, और छोटे-बड़े

सभी नारी एवं पुरुष पात्र सजीव हो उठे हैं। हम यह नहीं कहते कि वह शुद्ध इतिहास है—वह एक उपन्यास ही है, किन्तु इतिहास की नींव पर कथाकार की रंगबिरंगी कल्पना से निर्मित ऐसा भव्य उपन्यास रूपी प्रासाद है, जिसमें चरित्रनायिका तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियों के व्यक्तित्व तो उपयुक्त रूप में उजार हुए ही हैं, तत्कालीन धर्म एवं संस्कृति, लोकजीवन एवं राजनीति, मान्यताएं एवं विश्वास भली प्रकार प्रतिबिम्बित हैं।

एक बात है कि उपन्यास के लेखक एव अनुवादक धार्मिक दृष्टि से दोनों ही सज्जन अजैन हैं, जबकि चरित्र-नायिका शान्तला देवी स्वयं तथा अन्य पात्रों में से अधिकतर जैन धर्मावलम्बी हैं। विद्वान लेखक ने तत्कालीन जैन आचार-विचार, मान्यताओं, विश्वासों, परम्पराओं और प्रथाओं को, उस युग, क्षेत्र और समाज के पूरे परिवेश को आत्मसात करने की श्लाघनीय चेष्टा की है। तथापि, उससे यह अपेक्षा करना कि उसे उक्त तथ्यो की एक सुविज्ञ एवं प्रबुद्धजैन जैसी सहज स्वाभाविक जानकारी हो, एक ज्यादती है। इसी कारण एक ऐसे जैन पाठक को यत्र-तत्र ऐसा लग सकता है कि अमुक तथ्य ऐसा नहीं या ऐसा नहीं हुआ हो सकता। किन्तु लेखक की तद्विषयक अनभिज्ञताएं या भ्रांतियां क्षम्य ही कही जायेंगी—कम से कम उपन्यास के प्रवाह एव सोद्देश्यता पर उनसे कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यों अनेक प्रसंग तो ऐसे जैनत्वपूर्ण बन पड़े हैं कि शायद कोई जन्मजात सुविज्ञ जैन धर्मावलम्बी भी शायद वैसा न लिख पाता। महत्व की बात यह है कि उस युग एवं प्रदेश में जिन धर्म एक प्राणवत, प्रभावक एवं पर्याप्त व्यापक धर्म था, और उसका प्रमुख कारण शायद यह भी था कि उसके अनुयायी समदर्शी, उदार, सहिष्णु, समन्वयवादी और सदाचारी थे, वे धर्म तत्व में निहित मानवीय मूल्यों पर अधिक बल देते थे और भावनात्मक एकसूत्रता के प्रबल पोषक थे। फलस्वरूप जैन, शैव, वैष्णव, वीरशैव, बौद्ध आदि विभिन्न धर्मों के यथासम्भव निर्विरोध सामंजस्य से एक समन्वित धर्म—संस्कृति (कम्पोजिट रिलीजसकल्चर) लक्षित हो रही थी। कम से कम श्री नागराजराव ने ऐसा ही आभास देने का सफल प्रयास किया है, और वह यथार्थ वस्तु स्थिति से कुछ दूर नहीं प्रतीत होता। आज के युग में भी वैसी भावना एवं स्थिति के पनपाये जाने की परम आवश्यकता है।

दूसरी बात यह है कि जिस देश, जाति, राष्ट्र या युग में नारी शक्ति प्रायः पूर्णतया दमित एवं शोषित रही, वह तत्तद पतनकाल या अन्धयुग ही रहा। यों भी कह सकते हैं कि जब जब उत्थान एवं अभ्युदय रहा, पुरुष के साथ नारी शक्ति प्रबुद्ध, सुशिक्षित, कर्मशीला और पुरुष की सक्रिय सहयोगगिनी, बहुधा मार्ग दर्शिका भी रही। इतिहास इसका साक्षी है। बहुत आगे-पीछे न जाकर, पांचवीं-छठी शती ई० से लेकर १५ वी-१६ वीं ई० पर्यन्त दक्षिण भारत मे, और विशेषकर कर्णाटक में, जैन धर्म का अभ्युदय प्रायः अविछिन्न रहा। और उसकी इस प्राणवत्ता एवं तेजस्विता का श्रेय यदि दिग्गज जैनाचार्यों, सन्तों एवं वीर पुरुषों को है, तो उन सैकड़ों इतिहाससिद्ध जैन महिलारत्नों को भी है, जिन्होंने उक्त काल, क्षेत्र और परम्परा को अलंकृत किया था। होयसल चक्रवर्ती विष्णुवर्धन की पट्टमहादेवी शान्तला (१०८३-११२८ ई०) उक्तकालीन जैन नारी-शक्ति के आदर्श का सफल प्रतिनिधित्व करती है।

लेख के प्रारम्भ में विलक्षण महिला के लिए हमने 'जगती-माकिनी' विशेषण प्रयुक्त किया है—वह हमारा आविष्कार नहीं है, कथाकार नागराजराव जी ने बालिका शान्तला के सुयोग्य अध्यापक कविवर कोकिमय्य जी के मुख से उसे कहलाया है। हम कह नहीं सकते कि इसके लिए कोई ऐतिहासिक आधार है, अथवा यह विद्वान लेखक की अपनी सूझ है—यदि उनकी अपनी सूझ तो विलक्षण है, और सर्वथा सार्थक भी। तत्कालीन अभिलेखों आदि में उस महादेवी के रूप-सौदर्य की प्रशंसा उसे —चन्द्रानने, लावण्यसिंधु, अगण्यलावण्यसम्पन्ना, कश्मनरति, मनोजराजविजयपताका, कन्देबलम्बालकालम्बित-चरणनख-किरणकलापा, मृदुमधुर-वचनप्रसन्ना, सदर्शतमयोचितवचनमधुरसस्यंदि—वदनारविंदा, आदि कहकर की है। उसके विद्या-बुद्धिवैभव का सूचन-प्रत्युत्पन्न—वाचस्पति, विवेकैकबृहस्पति, सकलकलागमानूने, सकल-

गुणगणननूना, विद्येयमूर्ति, सर्वकलान्विता, पंचलकार-पंचरत्नयुक्ता, (ललितकलापंचकयुक्ता), संगीतविधा-सरस्वती, गीतावधनृत्यसूत्रधारा, संगीतसंगतसरस्वती, विचित्र नर्तनप्रवर्तन-पात्रशिखामणि, भारतागमद-तिरुले-निसलुमय-क्रमनृत्यपरिणता, भरतागमभवननिहित-महानीयमतिप्रदीपा इत्यादि। विरदों द्वारा हुआ है। पतिव्रता-प्रभावसिद्धसीता, अभिनवरुक्मिणीदेवी, पतिहितसत्यभामा, अभिनवारुंधति, पतिहितव्रता, विष्णुनृपमनोनयनप्रिया, विष्णुवर्द्धनङ्गृदचित्तवल्लभलक्ष्मी,सौभाग्यसीमा, अनवरत-परमकल्याणाभ्युदयशतसहस्त्रफलभोगभागिनी-द्वितीयलक्ष्मी, विष्णुवर्द्धनपोयसलदेवर-पिरियरसि पट्टमहादेवी— उसके पातिव्रत्य, अनन्यपतिप्रेम और सौभाग्य के सूचक विशेषण हैं। साथ ही, वह निजकुलाभ्युदयदीपिका, परिव.रफलित-कल्पितशाखा थी तो सौसिगंधहस्ति या गुद्दतंसवतिगंधवारण भी थी। यह शुद्धचरित्रा, विशुद्धप्राचारविमला, व्रतगुण-शीला, व्रतगुणशीलचरित्रान्तःकरण, मुनिजनविनेयजन-विनीता, विनयविनमद्विलासिनी, दयारसामृतपूर्णा, अचिन्त्य-शील, अनूनदानाभिमानी, सकलवन्दिजन चिन्तामणि, सकलसमयरक्षामणि, भव्यजनहितवत्सला, सर्वजीवहिता, सर्वमगर्घितियुता, जिनधर्मनिर्मला, आहारमयभेषज-शास्त्र-दान-विनोदा, भुवनकदानचिंतामणि, जिनगंधादकपवित्री-कृतात्तमांगा, जिनधर्मकथा प्रमोदा, पुण्योपार्जनकरणकारणा जिनसमयसमुदितप्रकारा, चतुस्समयसमुद्धरण-करणकारणा, सम्यक्त्वचुड़ामणि आदि उपाधियों से विभूषित महिमामयी विष्णुपिदमेभूमिदेवते, रण व्यापार दोल बलमदेवते, जनक्केलपुज्यदेवते, विद्येयोलवाग्देवते, सकलकार्योदोगदोल-मन्त्रदेवते के रूप में लोकैकविख्यात हुई।

इतने अधिक एवं अर्थगांभीर्यपूर्ण विशेषण अन्य किसी नारीरत्न के लिए साहित्य या शिलालेखादि में प्रयुक्त नहीं हुए। हम 'श्री नागराजरावजीसे पूर्णतया सहमत हैं कि महादेवी शान्तला में निश्चित ही ये योग्यताएं रही होंगी। यदि एक ही शब्द में उस सर्वगुण सम्पन्ना सुलक्षणा तेजोमूर्ति का परिचय दिया जाय तो उसके लिए 'जगती-मानिनी' विशेषण की उपयुक्तता असंदिग्ध है। उपरोक्त में से अधिकांश प्रशस्तिवाक्य श्रवणबेलगोल में स्वयं उस महादेवी द्वारा निर्मापित अति भव्य जिनालय "सवतिगंधवारण-बसति" में प्राप्त शिलालेख में अंकित हैं और यह प्रशस्ति उक्त महादेवी के दिवंगत होने के उपरांत अंकित की गई थी—कविवर पं० बोकिमय्य उसके रचयिता थे और संगीत—नाट्य-शिल्पाचार्य गंगाचारि ने उसे उत्कीर्ण किया था। वे दोनों महानुभाव शान्तला के शैशवावस्था से ही शिक्षक एवं अध्यापक रहे थे। महादेवी के धर्मगुरु मूलसंघ-कौण्डकुन्दान्वय-देशीगण-पुस्तकमगच्छ के आचार्य मेघचन्द्र त्रैविद्य के सुशिष्य आचार्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव थे।

लगभग दो मास पूर्व हमे इस उपन्यास की प्रति प्राप्त हुई थी—तब से चार-पांच बार हम उसे पूरा पढ़ चुके हैं, फिर भी तृप्ति नहीं होती। बड़ा अच्छा लगा—पुनः-पुनः पढ़ने की इच्छा होती है। निस्सन्देह यह क्लासिकल कोटि की अति श्रेष्ठ कृति है। लेखक अनुवादक एवं सभी साधुवाद के पात्र हैं उपन्यास के द्वितीयादि भागों की उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा रहेगी।

—ज्योति निकुंज,
चार बाग, लखनऊ-१९

हमी अपनी शान्ति के बाधक हैं। जितने भी पदार्थ संसार में हैं उनमें से एक भी पदार्थ आत्मस्वभाव का बाधक नहीं। बर्तन में रक्खी हुई मदिरा अथवा डिब्बे में रक्खा हुआ पान पुरुषों में विकृति का कारण नहीं। पदार्थ हमें बलात् विकारी नहीं करता, हम स्वयं मिथ्या विकल्पों से उसमें इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दुखी होते हैं। कोई भी पदार्थ न तो सुख देता है और न दुःख देता है इसलिए जहां तक बने आभ्यन्तर परिणामों की विशुद्धि पर सदैव ध्यान रखना चाहिए।

—वर्णी-वाणी

पं० शिरोमणिदास की "धर्मसार सतसई"

□ ले० कुन्दनलाल जैन प्रिंसिपल

पं० शिरोमणिदास (सिरोमनदासगुटका में लिखित है) का जन्म लगभग सं० १७०० के लगभग होना चाहिए। क्योंकि उन्होंने अपनी प्रस्तुत कृति की रचना सं० १७३२* में सहरौनि नगर के शांतिनाथ मंदिर मे की थी। यहां महाराज देवीसिंह का राज्य था और भारतवर्ष पर बादशाह औरंगजेब राज्य कर रहा था। पं० शिरोमणिदास भ० सकल कीर्ति के शिष्यों मे से थे। अतः उन्होंने अपनी कृति की प्रत्येक सन्धि समाप्ति पर अपने गुरु सकल कीर्ति का बड़े आदर और भक्ति भाव से उल्लेख किया है। ग्रंथ के अन्त में लम्बी प्रशस्ति देते हुए पण्डित जी ने जो कुछ लिखा है वह निम्न प्रकार है—

जसकीरति भट्टारक संत, धर्म उपदेश दियो गुनवंत।
सूरज विन दीपक जैसे, गणधर विनु भुवि जानो तैसे ॥८०
ललितकीर्ति भविजन सुखदाई, जिनवर नामजपे चितु लाई।
धर्मकीर्ति भए धर्म निधानी, पद्मकीर्ति पुनि कहे बखानि ।८१
तिनके सकलकीर्ति मुनि राजे, जप तप संजम सील विराजे।
ललितकीर्ति मुनि पूरब कहे, तिन्हें के ब्रह्मसुमति पुनि भए ।
तप आचार धर्म सुभ रीति, जिनवर सौ राखी बहु प्रीति।
तिनके शिष्य भए परवीन मिथ्यामत तिन कीन्हों दीन ॥
पंडित कहे जु गंगादास, व्रत संजम शील निवास।
पर उपकार हेतु बहु कियो, ज्ञानदान पुनि बहु तिनि दियो ॥
तिनके शिष्य सिरोमनि जानि, धर्मसार तिन कहो बखानि ॥
कर्मक्षय कारन मति भई, तव यह धर्म भेद विधि ठई ॥
जो यह पढै सुनै चित लाइ, समकित प्रकटै ताको आइ।
व्रत आचार जानै सुभ रूप, पुनि जानै संसार स्वरूप ॥
जिन महिमा जानै सुखदाइ, पुनि सो होइ मुकतिपति राइ।
अक्षर मात हीन तुक होइ, फेरि सुधारै सज्जन लोइ ।८७।
जैसी विधि मैं ग्रंथनि जानि, तैसी पुनि मैं कही बखानि।
जे नर विषयी धर्म न जाने धर्म सार विधि ते नहीं माने ॥
जे नर धर्म सील मनु लावै धर्मसार सुनिकै सुख पावै।
सिहरौनि नगर उत्तम सुभथान शांतिनाथ जिन सोहै धाम ॥
प्रतिभा अनेक जिनवर की भासै दरसन देखत पाप नसावै।
श्रावक वसै धर्म की रीति अपने मारग चले पुनीत ॥
कुटुम सहित तिनि हेतु जु दियो, तहां ग्रंथ यह पूरन कियो।
छत्रपति सोहै सुलतान, औरंगजेब पाति साहि नाम ॥९१॥
देवीसिंह नृपति बलि चंड, बैरिन सों लीन्हों बहु दण्ड।
प्रजा पुत्र सम पालै धीर, राजनि में सोहै वर वीर ॥९२॥
तिनके राज यह ग्रंथ बनायो, कहै सिरोमन बहु सुख पायो।
संवतु सत्रह सै बत्तीस, बैसाख मास उज्ज्वल पुनि दीस ॥
तृतीया अक्षय सनो समेत, भवि जन को मगल सुख देत।
सात सै त्रेसठि सब जानि, दोहरा चौपाइ कहे बखानि ॥
जिन वर भक्ति जु हेतु अति, सकलकीर्ति मुनि थान।
पंडित सिरोमनिदास को, भव भव होहु निदान ॥

इतिश्री धर्मसार ग्रन्थे भट्टारक सकलकीर्ति उपदेशात् पं० सिरोमनि विरचिते श्री तीर्थङ्करमोक्ष गमन श्रेणिक प्रश्न करण वर्णनो नाम सप्तमो संधि समाप्ता। इति धर्मसार ग्रंथ सम्पूर्ण।

लिपि प्रशस्ति—संवतु १८६९ वर्षे कार्तिक सुदी द्वितीयायां शुक्रवासरे शुभ भवतु मंगल। लिखितं करैहरा वारे सिंघई परम सुखजी को बेटा नौनितराइ पोथी आपने वास्ते उतारी।

---

* पता नहीं स्व० पं० नेमीचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य ने अपनी प्रमुख कृति "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" नामक ग्रंथ में भाग ४ पृष्ठ ३०३ पर कृति का रचना काल सं० १६६२ किस आधार पर लिखा है जबकि अन्य उपलब्ध सभी कृतियों में रचना काल सम्वत् १७३२ ही है। आचार्य जी की यह उद्भावना अन्वेषणीय है।

उपर्युक्त प्रशस्ति से हमें पं० शिरोमणिदास के बारे में अच्छी खासी जानकारी प्राप्त हो जाती है फिर भी जिन भट्टारकों का उल्लेख पण्डित जी ने किया है उनके विषय में भी संक्षिप्त-सी जानकारी आवश्यक है। क्योंकि सकलकीर्ति नाम के कई भट्टारक विद्वान् हुए है अतः प्रस्तुत भ० सकलकीर्ति जी बलात्कारगण की जेरहट शाखा के प्रमुख आचार्यों में से एक थे। आपने सं०१७११ में एक मूर्ति प्रतिष्ठित की थी जो परवारमंदिर (नागपुर) मे है। सं० १७१२ में प्रतिष्ठित भ० पार्श्वनाथ की मूर्ति बाजार-गांव (नागपुर) मे है। सं० १७१३ की प्रतिष्ठित मूर्ति भ० पार्श्वनाथ की नरानपुर में है। पपौरा जी स्थित एक मूर्ति सं० १७१८ की आपने ही प्रतिष्ठित की थी। अहार जी स्थित षोडकारण यंत्र सं० १७२० में आपने ही प्रतिष्ठित किया था। विस्तृत जानकारी के लिए भट्टारक सम्प्रदाय के पृष्ठ २०२ से २०८ तक देखें।

प्रस्तुत कृति की तीन-चार पाडुलिपियां प्राप्त होती हैं। एक तो मेरे पास है जो करेरा निवासी सेठ मक्खनलाल जी वस्त्र विक्रेता ने दी है। वे बड़े ही सरल परिणामी, उदार हृदय एवं धार्मिक जीव हैं, वे जितने धर्मानुरागी हैं उतने ही साहित्यानुरागी भी है मेरे साथ बैठकर घण्टों धार्मिक चर्चा करते हैं। यह प्रति १६॥c.m लम्बी और १५॥ c. m' चौड़ी है। इसमें ८६ पत्र हैं प्रत्येक पत्र पर ११-११ पंक्तियां तथा प्रत्येक पक्ति में २३-२४ अक्षर हैं प्रति स्पष्ट और सुवाच्य है तथा रचनाकाल के १६७ वर्ष बाद की है। प्रस्तुत पाडुलिपि गुट के की आकृति जैसी है अतः इसमे दिशाशूल के दिन, सम्यक्त्व के २५ दोष, पंचमंगल, जिनदर्शन पाठ आदि कई छोटी-छोटी रचनायें भी संग्रहीत हैं।

इसके अतिरिक्त एक प्रति आरा में होनी चाहिए जिसके आधार पर स्व० पं० नेमीचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य ने लिखा है इनके अतिरिक्त तीन प्रतियों का उल्लेख राजस्थान सूची भाग ४ में उपलब्ध होता है। इनमें से एक प्रति सं० १७९४ की लिखी हुई है जो रचनाकाल के केवल ६२ वर्ष बाद ही की हैं जो सम्भवतः अधिक प्रामाणिक और संपादन के लिए उपयुक्त होनी चाहिए।

प्रस्तुत कृति बड़ी ही रोचक और मार्मिक है तथा साहित्यिक एवं तात्विक दृष्टि से अति विवेचनीय है। इसमें दोहा, चौपाई, कवित्त, छप्पय आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है जो बड़े ही मनोहारी है। गिनने में केवल ७५५ छंद सात सन्धियों में प्राप्त हुए पर कवि के लिखे अनुसार कुल छन्द संख्या ७६३ है। अस्तु पांच-आठ छन्दों का अन्तर गिनने मे ही निकल आवेगा। संपूर्ण ग्रंथ सात सन्धियों में विभाजित है जो निम्न प्रकार है:—

१. राजा श्रेणिक प्रश्नकरण नाम वर्णन की प्रथम सधि छन्द सख्या	४३
२. सम्यक्त्व महिमा वर्णन द्वितीय सन्धि छंद संख्या	५६
३. ५३ क्रिया वर्णन नाम तृतीय सधि छंद संख्या	१६४
४. कर्म विपाक फल वर्णन नाम च० " "	१४८
५. तीर्थंकर (जोगीस्वर) धर्म महिमा वर्णन नाम पंचम सधि छद सख्या	७६
६. तीर्थंकर (जोगीश्वर) गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान वर्णन नाम षष्ठम सधि छन्द सख्या	१४३
७. तीर्थंकर (जोगीश्वर) मोक्षगमन वर्णन नाम सप्तम सन्धि छन्द संख्या	६५
	७५५

प्रस्तुत कृति को कई विशेषणयुक्त नामो से उल्लिखित किया गया है जैसे धर्मसारग्रंथ, धर्मसारचौपाई, धर्मसार छंद बद्ध आदि-आदि। जब मैंने प्रस्तुत कृति का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन-मनन किया, तो मुझे इसमे "बिहारी सतसई" के कुछ तत्वों के दर्शन प्राप्त हुए। सर्वप्रथम तो जैसे बिहारीदास की एक ही कृति प्राप्त है उसी तरह पं० शिरोमणिदास की एक ही कृति उपलब्ध है'। सम्भव है शोध-खोज करने पर कोई और कृति प्राप्त हो जावे। दूसरे यह सात संधियों में विभाजित है, तीसरे इसमें सात सौ त्रेसठ छंदों की रचना हैं। चौथे छन्दों के अर्थों की गम्भीरता, लालित्य एवं अलंकार युक्त छन्दोबद्धता ने मुझे बहुत प्रभावित किया और सहसा मेरा मन इस कृति को 'धर्मसार सतसई' लिखने के लिए उल्लसित हो उठा। पाठक ! मेरी इस धृष्टता को क्षमा करेंगे और यदि 'सतसई' नाम अनुपयुक्त

समझते हैं तो सुपुष्ट प्रामाणिक तर्कों द्वारा मेरा मार्ग-दर्शन करें, मैं अपनी भूल सुधार कर लूंगा।

यह निर्विवाद है कि "बिहारी सतसई" शृंगारिक कृति है और 'धर्मसार सतसई" विशुद्ध तात्विक एवं धार्मिक कृति है अतः वैसे तो कोई मेल नहीं खाता है पर कुछ बातों की समानता ने मुझे "सतसई" लिखने को बाध्य कर ही दिया है। वैसे भी जैन साहित्य में 'सतसई' रचनाओं की बहुत ही कमी पाई जाती है अतः पाठक रुष्ट न हों और इसे 'सतसई' रूप में स्वीकार कर अनुगृहीत करें।

पं० शिरोमणिदास जी बुन्देल खण्ड क्षेत्र से अत्यधिक प्रभावित दिखाई देते हैं। संभवतः सिहरोनि नगर बुन्देलखण्ड के किसी नगर विशेष का ही नाम रहा हो। पंडित जी ने प्रस्तुत कृति में घाम, लाडी, घूरी, पकौरा, करौदा, बिस्मरा, कलींदा, अपूत, अचार (फल) फनकुली, आदौ (अद्रक) अनखड, अथइं, दातौनि, गरदा आदि आदि-आदि बहुत से बुन्देली शब्दों का प्रयोग किया गया है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे बुन्देल खण्ड क्षेत्र के ही निवासी थे।

कवि ने प्रस्तुत कृति की तात्विक ज्ञान, आचारशास्त्र एवं धार्मिक दृष्टि से एक संकलन ग्रन्थ-सा तैयार किया है पर छन्दों की रचना बड़ी ही मार्मिक है। उपर्युक्त सात सन्धियों में उन्होंने जिन पूजा, चक्रवर्ती संपदा, नरक के दुख, तिर्यंच के दुख, सोलह स्वर्गों का वर्णन, बारहभावना, सोलह स्वप्न, समवशरण का सौन्दर्य वर्णन, जिनेन्द्र प्रभु की माता का वर्णन आदि-आदि विषयों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है? कहीं-कहीं शिष्ट शृंगार के भी दर्शन हो जाते हैं। इस तरह यह कृति हिन्दी जगत में जैन साहित्य के इतिहास की एक अनुपम कृति है।

बानगी के लिए कुछ छन्द प्रस्तुत कर रहा हूं जिससे कृति की श्रेष्ठता सिद्ध हो सके। कवि इन्द्र की इन्द्राणियों का वर्णन बड़े शृंगारिक ढंग से करता है। पर उसमें शिष्टता और मर्यादा का उल्लंघन नहीं होने दिया गया है जैसे देखिये:—

शची अष्ट सुन्दर शुभ गात, विकसित वदन कहे ते बात।
सदा काल नवयौवन रहै, कोमल देह सुगंध अति बहै॥
कठिन नीवि उर कुच कलस विराजै,
मुख की ज्योति कोटि ससि लाजै।
कटि सताईस देवी मन हरनी,
भोग विलास रूप सुख धरनी।१०३।
सिंगार बहुत आभूषण लिए, हाव-भाव विनत्र रस किए।
अति कटि छीन कमल नैंन, कला गीत बोलै शुभ बैन॥

भगवान का जब गर्भ में आगमन हुआ तो षट् मास पूर्व ही इन्द्र ने पृथ्वी पर जो प्राकृतिक छटा बिखेर दी उसका कैसा सुन्दर वर्णन कवि ने किया है:—

रत्न वृष्टि बरसै सुख रूप, मानहुं तारागण जु स्वरूप।
स्वर्ग लोक मानो लक्ष्मी आई, मात-पिता मनु लाई॥
पुष्प वृष्टि बरसावहिं देव, जय जय शक्र करै बहु सेव।
दुंदुभि देव बजावहिं तार, नचहिं अप्सरा रूप रसाल।८।
मंद सुगंध वायु शुभ चलै, रोग शोक दुख दारिद्र गलै।
प्रजा अचम्भौ दिन दिन करै, जिन उत्पत्ति जानि मन धरै।

भगवान के माता-पिता के घर जाने से पूर्व इन्द्र अपने पूर्व पुन्य एवं भाग्य की सराहना करता हुआ स्नानादि करता है उसका कितना स्वाभाविक वर्णन कवि ने किया है:—

एक घटी में अवधि प्रकासै, पूरब पुण्य सकल हित भासै।
मैं तप पूरब कीन्हौ घोर, व्रत क्रिया पाली अति घोर।
मैं जिनेन्द्र पूजे अति शुद्ध, पात्रहि दान दियौ हित बुद्धि।
सो वह पुण्य फलौ मोहि आज, सकल मनोरथ पूरे काज॥
यह विचारि उठि ठाढ़े भए, देविन सहित स्नान हित गए।
अमृत वापिका रत्ननि जड़ी, महा सुगंध कमल बहु भरी॥
तहां स्नान करें सुख हेत, बढ़ौ प्रेम रस बहु सुख देत।
करी विनोद क्रीड़ा सुख पाइ, आनंद उमग्यो अंतु न आइ।
उज्ज्वल कोमल वस्त्र सुगंध, पहिरे देव महा सुखबंध।
कंकन कुंडल मुकुट अनूप, भूषण अनूप को कहै स्वरूप।
गीत नृत्य वादित्र निर्घोष, देविन सहित चल्यो सुर घोष॥
जिन वर मंदिर देखे जाइ, बहु आनन्द करै सुर राइ॥

सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है तथा कैसे नष्ट होता है उसके विषय में सुन्दर छन्द देखिए:—

उत्पत्ति:—

कै तो सहज उपजै आइ, कै मुनिवर उपदेस बताइ।

चारों गति में समकित होइ, यहे उत्पत्ति जानौ तुम लोय।
विनाश :—ज्ञान गर्व मति मंदता, निठुर वचन उद्गार।
रौद्र भाव आलस दसा, नास पांच प्रकार॥

मिथ्यात्व के पांचों नामों पर कवि ने बड़ा ही सुन्दर कवित्त लिखा है :—

कवित्त इकतीसा :—

प्रथम एकांत नाम मिथ्यात, अभिग्राहिक दूजौ विपरी,त
आभिनिवेसिक गोत है।
विनय मिथ्यात, अनाविग्रह नाम जाको,
चौथो ससय जहा चित भौर कैसो पोत है।
पांचमों अज्ञान अनभोगी कगहल जाके,
उदै चैन अचेतन सो होत है,
एई पांचो मिथ्यात्व भ्रमावै जीव को जगत मे,
इनके विनाश समकित को न उदोत है॥

सम्यक्त्व की महिमा के कुछ छन्द देखिए :—

थावर विकलत्रयक है, निगोद असैनी जानि।
म्लेच्छ खंड जिन भनै कुभोग भूमि मन आनि॥
षट् अध जु भूमि नरक की खोटी मानूष जाति।
तीन वेद दोइ वेद पुनि ए जानौ दुख पांति॥
जब समकित उपजै सुन भूप, ए सब पदवी धरे न रूप।
यह सब महिमा समकित जानि,
होई जीव को सब सुख खानि॥
नर गति में नर ईस्वर होइ,
देवनि मे पति जान्यौ सोइ।
इह विधि भव जीव पूरन करै,
पुनि सो मुक्ति रमणि को वरे॥
नभ में जैसे भानु है ईस, रत्नत्रय मे चिन्तामणि दीस।
कल्पवृक्ष बृक्षनि मे हार (श्रेष्ठ),
देव जिनेन्द्र देवनि में सार॥
सकल नगनि में मेरु है जैसे,
सब धर्मनि में समकित तैमे।
यही जानि जिउ (हृदय) समकित धरौ,
भवसागर दुख जातें तरौ॥
व्रततप सयम धरइ अनेक, समकित बिनु नहीं लहै विवेक।
जैसे कृषि करि सेवा करै, मेघ बिना नहीं फल को धरै॥
जे नर मुक्ति गए जिन कही, आगे जैं पुनि जैहैं सही।
अबै जात हैं भव्य अनेक, ते समकित फल जानहु एक॥
गणधर कहै सुनौ हे राइ, समकित महिमा अन्त न आइ।
धर्म मूल में तुमसौं कही,
सुनि श्रेणिक दृढ़ कै सर्दही (श्रद्ध हौ)॥

पंच उदम्बर के अति चारों मे बुन्देली भाषा के शब्दों को किस चतुराई से संजोया है वह दर्शनीय है :—

बेर मकौरा जामु अचार, करौंदा बेर अतूत मुरार।
कुम्हड़ा, गढ़ैली, बिंवा भटा, कलींदे फनकुली चबेडा जड़ा।
सूरन सुरा अद्रक (आदऊ)गज्जरी, महारु कदमूल ले हरी।
हे पुनि अवर कहे जिन राई, इनमे जीव अनेक बसाई॥

मधु का वर्णन तथा अतिचार के छन्द देखिए :—

सकल निंद्य रस माछी हरै, करकै वमन इकट्ठी धरै।
अनेक अन्डा वर उपजै तहां बहुत जीव रस बूड़ै तहां॥
अनेक जीव मरिकै मह (मधु) होइ,
जउ किमि भक्षइ धर्महि गोइ।
यज्ञ पिंड लै मह सौ देइ, यह को भख पाप सिर लेइ॥

अतिचार :—

नैनू (मक्खन) का चौ दूध पिऊ सींऊं रे जे कहे।
अप्रासुक जो नीर थानै सधा नै जं लहै॥

मांस के अतिचार के उत्कृष्ट छन्द देखिए :—

हींगु सलिल घी तेल चर्म की सगति जे रहे।
उपजैं तहां जीव अनेक मांस दूषण यह जिन कहे॥
जाको नाउ (नाम) न जान्यो जाइ,
अरु सेघौ फलु कहो बताय।
हाट चुनु अनगालो नीर साक पात्र फल हरित जु धीर।
जा मे तारि (र) चलै बहु भांति, लगै फफूंडा छाड़ो जाति।
कोमल फल है पत्र जु फूल त्वचा गवारि बहु बीजहु कूल॥

पांच व्रतो का वर्णन करते हुए सत्य धर्म (व्रत) का कवित्त छन्द कितना लालित्यपूर्ण बन गया है। जरा ध्यान से पढ़िए :—

पावक तें जल होइ वारिधि तें थल होइ (श) सस्त्र
ते कमल होइ ग्राम होइ बनतें।
कूप तें विवर होइ पर्वत तें धरा होइ, वासव (इन्द्र)
से दास होइ, हितु दुर्जन तें ?।

सिंघ तैं कुरंग होई व्याल स्याल अंग होइ
विष तैं विहुष होइ माल अहि फन तैं।
विषम तें सम होइ संकट न व्यापै कोइ ऐसे
गुन होइं सत्यवादी के दरस तैं॥

ब्रह्मचर्य व्रत का बड़ा सुन्दर वर्णन इस छन्द में पढ़िए :—

परदारा जब त्यागें ग्रही चौथो अणु व्रत पावे तब ही।
माइ(य)बहिनी पुत्री सम चित्त परदारा तुम जानेहु मित्र॥
अथवा सांपनि सी मन धरैं दुख की खानि दूर परि हरैं।
पानी बिनु मोती है जैसो सील बिना नर लागे तैसो॥
जो अपजस की डंक बजावत लावत कुल कलंक परधान।
जो चारित्र को देत जलांजलि गुनवन को दावानल दान।
जो सिव पंथ को वारि बनावत,
आवत विपति मिलन के थान।
चिंतामणि समान जग जो नर,
सील खान निज करत मिलान॥
ज्ञान ध्यान व्रत संयम धरना,
यज्ञ विधान शुभ तीरथ करना।
पूजा दान बहु कोटिक करै सील बिना नहीं फल को धरै॥
रावन आदि जु क्षय भये पर नारि के काज।
सेठ सुदर्शन सील तें पायो सिव पुर राज॥
निज नारि पुन छोडो जानि आठैं पाचैं चौदसी मानि।
दिवसै पुनि छोड़ें निज हेत चौथो अणु व्रत धरहु सुचेत॥

दान के गुण दोष (भूषण दूषण) को कवि ने इन छन्दो में लिखा है :—

पांच दूषण :—

विलब विमुख अप्रिय वचन आदर चित्त न होइ।
दै करि पश्चाताप करै दूषण पांचहु सोइ॥

पांच भूषण :—

आनद आदरि प्रिय वचन जनम सफल निज मानि।
निर्मल भाव जु अति करै भूषण पंचहु जानि॥

दान के गुण :—

श्रद्धा ज्ञान अलोभता दया क्षमा निज शक्ति।
दाता गुण ये सत्य कहि करै भाव सों भक्ति॥

पानी छान कर पीने पर कवि ने जल गालन की क्रिया का सुन्दर वर्णन किया है :—

सात लाख जल जोइनि भए, अरु अनंत त्रसतामें भए।
त्रस की दया जान जल गालु यह आचार करहु व्रत पाल॥
दीरघ हस्त सवा के जान पनहा एक हस्त के मान।
नूतन वस्त्र दूनो पुरि कहै इहि विधि गालि धर्म व्यौपरै॥
दोइ दंड जलु गालौ रहै पुनि सो अनंत राशि अति लहै।
जब जब जलु लीजे निजु काम
तब तब जल छानौ निज धाम॥
जो जल छानि छानि घट धरौ
पुनि सो जलु जल में लै करौ॥
एक बूंद जो धरनी परै अनंत राशि जीव छिन में भरै।
ढीमर पारिधि जानि जुग, जुग पाप
जोर्जे जिन (जे) किए।
इह उह एक प्रमान अन गाल्यौ बूंदक पिए॥

इस तरह कवि शिरोमणि पं० शिरोमणिदास जी ने अपनी कृति "धर्मसार सतसई" में तत्वज्ञान, धर्म, आचार एवं दर्शन की दृष्टि से "गागर में सागर भर दिया है। पाठकों से आशा है कि ऐसी श्रेष्ठतम रचनाओं का अध्ययन कर अपने ज्ञान की वृद्धि करें और कर्म कलंक को मिटा डालने के पुण्य भागी बनें।

मेरी एक छोटी सी अपील पाठकों एवं श्रद्धालु सद्गृहस्थों से है कि वे दश लक्षण व्रत रत्नत्रय व्रत, षोडशकारण व्रत, अष्टान्हिका आदि व्रत किया करते हैं और फिर उसके उद्यापन में बहुत-सा दान सोने-चांदी के रूप में करते हैं, अच्छा होवे इस सोने-चांदी की जगह अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित कराने में उसी द्रव्य का उपयोग करें तो मैं समझता हूं कि व्रतोद्यापन का कई गुना फल प्राप्त होगा और सरस्वती की सेवा होगी और जैन साहित्य का भण्डार भरेगा। अतः प्रस्तुत कृति "धर्म सतसई" का प्रकाशन किसी व्रतोद्यापन के हेतु किया जा सकता है। जो श्रद्धालु श्रावक ऐसी अभिलाषा रखता हो निम्न पते पर मुझसे सम्पर्क साधें। मैं सेवा के लिए सदैव तत्पर रहूंगा। जिन वाणी का प्रकाशन देव शास्त्र गुरु की पूजा से कम नहीं होगा। आज के इस वैज्ञानिक तकनीकी युग में अप्रकाशित साहित्य को अधिक से अधिक प्रकाश में लाना ही सच्ची जिन पूजा और धर्म संरक्षण होगा।

श्रुत कुटीर, ६८ कुन्ती मार्ग,
विश्वास नगर - शाहदरा,
नई दिल्ली-११००३२

क्या राजा श्रेणिक ने आत्म-हत्या की थी ?

(लेखक—रतनलाल कटारिया, केकड़ी)

नीचे जैन ग्रन्थों के आधार से इस पर समीक्षात्मक विचार किया जाता है :—

(१) भगवद् गुणभद्रकृत उत्तरपुराण पर्व ७४ के उपान्त्य में लिखा है :—

श्रावकोत्तम श्रेणिक ने गौतम गणधर से पुराण श्रवण कर क्रमश: उपशम क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया। फिर गणधर देव ने बताया कि हे—श्रेणिक तू तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करेगा, नरकायु बद्ध होने से प्रथम नरक जावेगा फिर वहां से आकर महापद्म नामा तीर्थंकर होगा।'

(२) हरिषेणकृत कथाकोश कथा नं ६ और ५५ में लिखा है :—

राजाश्रेणिक चेलना से विवाह करने के पूर्व भागवत-वैष्णव धर्मी थे। उन्होने यमधर मुनिराज पर घोर उपसर्ग किया जिससे नरकायु का उन्हे बन्ध हुआ। फिर मुनि-भक्ति से सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। देवों ने भी उनके क्षायिक सम्यक्त्व की परीक्षा कर उन्हें मुक्ताहार भेंट किया। उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। वीर निर्वाण के बाद ३ वर्ष ८॥ मास व्यतीत होने पर मनोवांछित महान भोगो के भोगकर राजा श्रेणिक नरक गये।

मानसेष्टान्महाभोगान् भुक्त्वाकालं विहाय च।
पूर्वोक्त श्रेणिको राजा सीमन्त नरकं ययौ ॥३०८॥

(३) प्रभाचन्द्र कृत कथाकोश कथा नं० २१ तथा ६०-३१ में लिखा है :—

राजा श्रेणिक वैष्णवधर्मी थे उन्होंने यशोधर मुनिराज पर उपसर्ग कर नरकायु का बन्ध किया फिर उनसे तत्व सुनकर उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया। त्रिगुप्ति मुनियों से वेदक सम्यक्त्व और महावीर स्वामी के पादमूल मे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया।

(४) ब्र० नेमिदत्त कृत कथाकोश कथा नं० १६ और १०७ मे भी ठीक प्रभाचन्द्र कृत कथाकोश के अनुसार वर्णन है।

(५) रामचन्द्र मुमुक्षु कृत—पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ ३२ से ६१ मे लिखा है :—

निर्वासित श्रेणिक अपने साथी के साथ भागवतधर्मी जठराग्नि (भोजन भट्ट) के मठ मे पहुचे। जठराग्नि ने उन्हें भोजन कराया और वे उसके धर्म मे दीक्षित हो गए। वैष्णव धर्मी जठराग्नि की परीक्षा लेकर रानी चेलना ने उन्हें मिथ्या पाया। एक दफा राजा श्रेणिक ने यशोधर मुनि के गले में सर्प डाला जिससे उन्हे नरकायु का बन्ध हुआ। मुनि द्वारा आशीर्वाद देने पर श्रेणिक उनके भक्त हो गए उन्हें उपशम सम्यक्त्व और जाति स्मरण हो गया। त्रिगुप्ति मुनियों से वेदक सम्यक्त्व और महावीर स्वामी से क्षायिक सम्यक्त्व तथा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध प्राप्त किया। श्रेणिक के क्षायिक सम्यक्त्व की देवो ने परीक्षा ली और प्रसन्न हो श्रेणिक और चेलिनी की पूजा की उनका अभिषेक किया और उन्हे वस्त्राभूषण प्रदान किये।

श्रेणिक ने कुणिक को राजा बना दिया फिर भी उसने उन्हें लोहे के कटघरे मे बन्दी बना दिया। अपनी माता से अपने प्रति श्रेणिक के अपार स्नेह की बातें सुनकर कुणिक अपने पिता को बन्धन-मुक्त करने दौड़ा। श्रेणिक ने उसे मलिन-मुख आता देखकर विचार किया यह दुष्ट मुझे न जाने क्या और दुख देगा, तलवार की धार पर गिरकर प्राणान्त कर लिया। कुणिक ने शोक के साथ अग्नि संस्कार कर ब्राह्मणो को खूब दान दिया।

इस कथा का उद्गम बताते हुए अन्त मे ग्रन्थकार ने लिखा है कि—यह कथा भ्राजिष्णु की आराधना कर्णाटक टीका मे वर्णित क्रम के अनुसार उल्लेख मात्र से कही गई है। (भ्राजिष्णु का अर्थ हरि होता है अतः इससे कथाकार हरिषेण का संकेत हो।)

(६) श्रेणिक चरित्र (भट्टारक शुभ चन्द्र कृत) हिन्दी अनुवाद में लिखा है :—

पृष्ठ ३६—कुमार श्रेणिक गेरुआ वस्त्रधारी बौद्ध संन्यासियों के सघ मे गये उनके धर्म में आशक्त हो गये। यशोधर महामुनि पर उपसर्ग किया फिर भी मुनि ने उन्हें आशीर्वाद दिया तो वे जैन धर्म में श्रद्धालु हो गये। पृष्ठ २३६ गौतम गणधर से पवित्र पुराण सुन तीनों सम्यक्त्व धारण कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। पृष्ठ २५७ —गलती महसूस कर कुणिक ने श्रेणिक को काठ के पिंजरे में बन्द करा दिया। पृष्ठ २६१—फिर अपनी गलती महसूस कर कुणिक अपने पिता श्रेणिक को बन्धन मुक्त करने चला। उसे आता देख श्रेणिक ने विचारा—यह दुष्ट मुझे और क्या-क्या दुख देगा—प्राण देकर ही उससे छूट सकता हूं इस प्रकार दुखी होकर अपना शिर मारकर आत्महत्या कर ली। यह देख कुणिक चेलना हाहाकार करने लगे। कुणिक ने मरण संस्कार किया और ब्राह्मणों को खूब दान दिया।

(७) "भगवान् महावीर" (बाबू कामता प्रसाद जी कृत—वीर सं० २४५०) :—

हिन्दी ग्रन्थ में भी श्रेणिक चरित्र के अनुसार कथन किया है किन्तु २७ वर्ष बाद इसी ग्रन्थ को संशोधित रूप से प्रस्तुत किया तो श्री कामताप्रसाद जी "कुणिक का अपने पिता को बन्धन मुक्त करने जाना और श्रेणिक का आत्महत्या करना" आदि कथन कतई नहीं दिया है। श्री दिगम्बरदास जी मुख्तार ने भी "वर्धमान महावीर" पुस्तक में यह कथन नही दिया है।

(८) "जैनेन्द्र सिद्धांत कोश' भाग ४ पृष्ठ ७१ :—

श्रेणिक—मगध का राजा था, उज्जैनी राजधानी थी। यह पहिले बौद्ध था पीछे अपनी रानी चेलनी के समझाने से जैन हो गया था। वीर का प्रथम भक्त बना। इसने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। इसके जीवन का अन्तिम भाग बड़े दुख से बीता। इसके पुत्र ने इसे बन्दी बना लिया उसके भय से ही इसने आत्महत्या कर ली थी जिससे यह प्रथम नरक गया।

(९) भारतीय इतिहास एक दृष्टि (डा० ज्योति प्रसाद जी जैन):—

पृष्ठ ६३ : श्रेणिक के पिता का नाम हिन्दु पुराणों में शिशुनाग और बौद्ध साहित्य में भट्टि तथा जैन अनुश्रुति में उपश्रेणिक मिलना है। श्रेणिक को उसके पिता ने निर्वासित कर दिया वह जैनेतर साधुओं का भक्त बन गया और जैन धर्म से द्वेष करने लगा। कुछ जनश्रुतियों के अनुनार वह बौद्ध हो गया किन्तु यह बात असंभव सी प्रतीत होती है क्योकि महावीर के केवल ज्ञान प्राप्त (ईस्वी पूर्व ५५७) के पहले ही वह फिर से जैन धर्म का अनुयायी बन चुका था और उस समय किसी भी मतानुसार बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ नहीं किया था। ई० ५८७ के लगभग श्रेणिक मगध के सिंहासन पर बैठा था। ५२ वर्ष राज्य किया फिर ई० पू० ५३५ में श्रेणिक की मृत्यु हुई।

पृष्ठ ६५ : श्रेणिक ने कुणिक को राजपाट सौंप दिया कुणिक ने बौद्ध धर्मी देवदत्त के बहकाने से श्रेणिक को बंदीगृह में डाल दिया। चेलना से संबुद्ध हो वह श्रेणिक बन्धनमुक्त करने चला तो श्रेणिक ने समझा कि वह उसे मारने आ रहा है, दीवारो से सिर फोड़कर श्रेणिक ने आत्म हत्या कर ली।

(१०) 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' (श्वे० आ० हस्तिमल जी कृत मन् १९७१)—

पृष्ठ ५१५-१७ : वीर निर्वाण से १७ वर्ष कुणिक मे अपने १० भाइयों को मिला महाराज श्रेणिक को कारागृह मे डाल दिया।

चेलना के गर्भ में जब कुणिक था तब उसे दोहद हुआ कि मैं श्रेणिक के कलेजे का मांस खाऊं। चेलना ने गर्भस्थ शिशु को गिराने का प्रयत्न किया किन्तु गिरा नहीं। जन्म के पश्चात् उसे कचरे की ढेरी पर डलवा दिया मुर्गे ने उसकी अंगुली को काट खाया इससे वह पक गई। पुत्र मोह से श्रेणिक ने उसे ढूंढकर मंगवा लिया और खुद उसकी अंगुली चूस कर उसे ठीक किया।

यह प्रसंग चेलना ने कुणिक को सुनाया तो वह कुल्हाड़ी लेकर श्रेणिक के बन्धन काटने को दौड़ा। श्रेणिक ने आशंका से भीत हो पितृ हत्या से प्रिय पुत्र को बचाने के लिए अपनी अंगूठी का ताल पुट विष खाकर प्राण त्याग दिए। पूर्वोपार्जित निकाचित कर्म बन्ध के कारण वह प्रथम नरक में गया।

समीक्षा

ऊपर १ से लेकर ४ तक के प्रमाणों मे कही भी श्रेणिक की आत्महत्या का किंचित् भी उल्लेख नही है। प्रमाण नं, २ तो इष्ट भोगों को भोगकर श्रेणिक का मरना बताया है; कैदी होकर आत्महत्या करना नही बताया है। यह प्रमाण विशेष प्राचीन है। 'प्रमाण नं० ५ तलवार की धार पर गिर कर मरने की बात कही है वहां भी 'आत्महत्या' शब्द का प्रयोग नही किया है। दूसरी बात यह है कि—राजा श्रेणिक तो बन्दी था एकाएक उसके पास तलवार कहां से आ सकती है ? और फिर तलवार की धार पर गिरने की बात भी असगत है, वह तो तलवार से अङ्गच्छेद ही करता उस पर गिरता क्यों ?

प्रमाण नं० ६ लिखा है कि—"अपना शिर मारकर श्रेणिक ने आत्महत्या कर ली"। मूल संस्कृत में यहां कैसा कथन है यह ग्रंथाभाव से हम नही कह सकते। श्रेणिक लकडी के कटघरे में बद था। अतः उस पर शिर मारने से ही तत्काल मरने की बात कुछ संगत सी प्रतीत नहीं होती क्योंकि कुणिक तो बहुत शीघ्र भगा हुआ आ रहा था इतने कम समय में यह सम्भव नही था।

प्रमाण नं० ७-८-९ मौलिक नही है ये प्रमाण नं० ६ के आधार से ही निर्मित हैं। प्रमाण नं० ७ में तो बाबू कामता प्रसाद जी ने द्वि० संस्करण मे इस 'आत्महत्या' आदि के कथन को ही हटा दिया है। शायद यह उन्हें आचार्य सम्मत (प्रामाणिक) ज्ञात नही हुआ।

प्रमाण नं० १० में भी 'आत्महत्या' शब्द का प्रयोग नहीं है।

शास्त्रों में बताया है कि—राजा श्रेणिक ने समवशरण सभा में ६० हजार प्रश्न किए थे। वे भगवान् महावीर के प्रमुख श्रोता थे। इसी से उत्तर पुराणकार ने उन्हें 'श्रावकोत्तम' लिखा है। वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि और तीर्थंकर प्रकृतिबद्ध महापुरुष थे। उनकी मृत्यु को आत्महत्या बताना सम्यक् प्रतीत नहीं होता। जब वे बहुत वर्षों तक कारागृह या पिंजरे में बन्द थे तभी दु.खों से सन्तप्त होकर वे शिर फोड़कर, तलवार की धार पर गिर करके अथवा विष खाकर प्राणान्त कर लेते तो फिर भी उन पर आत्महत्या का आरोप संगत हो सकता था किन्तु तब तो उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया। उन्होंने यह कृत्य तब किया जब कुणिक को उन्होंने अपने को मारने के लिए आते हुए देखा। उन्होंने विचारा होगा कि यह दुष्ट न जाने कैसे दुख दे के मुझे मारे जिससे मेरे परिणाम अत्यन्त कलुषित हो जायें इससे तो अच्छा है कि खुद अपने हाथ से प्राणान्त कर लू ताकि न इसे पितृहत्या का पाप न लगे और न कोई अन्य झंझट हो। श्रेणिक का यह प्रयत्न प्रतिरोधात्मक था। अगर वे खुले होते तो अवश्य मुकाबला करते। जीवन से हारकर या थक कर उन्होंने प्राणांत नही किया था किन्तु विकट परिस्थिति से विवश होकर उन्होने मृत्यु का वरण किया था। जैसे क्षत्रियाणिया युद्ध मे अपने पतियों के हार जाने पर आक्रमणकारियो के द्वारा अपनी गति खराब नहीं की जावे इस खयाल से अग्नि कुण्ड मे कूदकर जौहर (वीरव्रत) अङ्गीकार कर अपने प्राण दे देती हैं। जिस तरह यह आत्महत्या नही है वैसे ही श्रेणिक की मृत्यु भी आत्महत्या कायरता नही है।[२] विद्वानों को गम्भीरता से इस पर मनन-चिन्तन कर अपना समुचित निष्कर्ष प्रकट करना चाहिए।

यहां प्रसगोपात्त कुछ अन्य बातों पर भी विचार दिया जाता है :—

(१) पुण्याश्रव कथाकोश (जीवराज ग्रन्थमाला) पृष्ठ ३२ में हिंदी अनुवाद ने जठराग्नि का अर्थ ब्रेकेट में बुद्धगुरु दिया है और श्रेणिक द्वारा उनका धर्म ग्रहण करना बताया है। जबकि मूल ग्रन्थ में जठराग्नि को भागवत धर्मी—वैष्णव धर्मी बताया है कहीं भी बुद्ध धर्मी नही। हरिषेण-प्रभाचन्द्र नेमिदत्त के कथाकोशों में भी इस प्रसंग में श्रेणिक को चेलना से विवाह करने के पूर्व, भागवत-वैष्णव धर्म ही बताया है बुद्ध धर्म नहीं। उस समय तक तो बुद्ध का धर्म ही प्रचलित नहीं हुआ था।

प्रमाण नं० ६-७-८ में जो इस प्रसंग में श्रेणिक को बौद्ध धर्मी लिखा हैं वह संगत नही है।

प्रमाण नं० ५-६ में श्रेणिक की मृत्यु पर कुणिक द्वारा ब्राह्मणों को दान देना भी उसके वंश से वैष्णव धर्म के स्थान को सूचित करता है बौद्ध धर्म को नहीं।

(२) इसी पुण्याश्रव कथा कोश पृ० ५८ मे लिखा है कि—"श्रेणिक के क्षायिक सम्यक्त्व की परीक्षा के लिए दो देव गए थे वे राजा श्रेणिक के शिकार खेलने के जाने के मार्ग में नदी किनारे बैठ गए।"

यहां सहज शंका होती है कि—क्षायिक सम्यक्त्व हो जाने पर भी राजा श्रेणिक शिकार खेलने जैसे दुर्व्यसन में कैसे लिप्त रह सकता है? हरिषेण कथा कोश कथा न०.६ में इस प्रसग में लिखा है कि राजा श्रेणिक तब सरोवर की शोभा देखनेके लिए गया था (शिकार खेलने के लिए नही) इससे पुण्याश्रव कथा कोश का कथन गलत सिद्ध होता है।

(३) पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ ५६ में लिखा है कि रानी चेलनी के गर्भ मे जब कुणिक था तब उसे दोहल हुआ श्रेणिक के वक्षस्थल को चीरकर उसका रक्तपान करूं। राजा ने चित्रमय स्वरूप मे उसकी इच्छा पूरी की। प्रमाण नं० १० मे भी ऐसा ही लिखा है तथा यह भी लिखा है कि चेलनी ने गर्भस्थ शिशु को गिराना चाहा पर वह गिरा नहीं। यहां भी शंका होती है कि—जैन धर्म की दृढ़ श्रद्धानी महारानी चेलना कैसे मांस भक्षण और भ्रूण हत्या का प्रयत्न कर सकती है? और क्षायिक सम्यक्त्वो श्रेणिक उसमें कैसे सहकारी हो सकते हैं। कदापि नही। यह भी कथाकारो की अविचारित रम्यतायें ही हैं निर्दोष चरित्र-चित्रण नहीं। प्राचीन कथाकारों ने यह कथांश दिया ही नहीं है।

(४) पुण्याश्रव कथा कोश पृ० ५६ में श्रेणिक के क्षायिक सम्यक्त्व की देवों द्वारा परीक्षा लेने की जो कथा दी है वह भी बड़ी विचित्र है, वह सिद्धांत-सम्मत प्रतीत नही होती' समय मिलने पर उस पर भी अलग से निबंध लिखने का विचार है। ऐसी बेतुकी कथा गुणभद्रादि प्राचीन मान्य आचार्यो ने कतई नही दी है।

(५) इसी तरह भरत चक्री का बाहुबली पर चक्र चलाना संकल्पी हिंसा नही है। तथा बाहुबली को जिस शल्य से केवल ज्ञान रुक गया था वह माया मिथ्या निदान नाम की शल्य नहीं थी किन्तु साधारण खटक थी। शास्त्रों के कथनों की संगति बिठाने से ही सिद्धांत अबाधित रहते हैं।

सन्दर्भ-सूची

१. 'दश वर्ष सहस्राणि प्रथमायां' सूत्रानुसार प्रथम नरक की जघन्यायु दश हजार वर्ष है। सम्यक्त्वीकेतो वही होनी चाहिए। तब अभी तो अवसर्पिणी के ही पंचम षष्ठ कालके २१+२१—वियालीस हजार वर्ष हैं फिर उत्सर्पिणी के प्रथम द्वितीयकाल के २१+२१—४२ हजार मिलाकर कुल ८४ हजार वर्ष व्यतीत होने पर—उत्सर्पिणी के तृतीयकाल में कर्मभूमि आने पर श्रेणिक महापद्म तीर्थंकर होंगे ऐसी हालत में क्या गणना में कोई गड़बड़ है। समाधान—गणना ठीक है किन्तु ऐसा सैद्धान्तिक नियम हैं कि—संज्ञी मनुष्य मरकर नरक जाता है तो उसकी वहां आयु ८४ हजार वर्ष से कम नहीं होती। असंज्ञियों की कम हो सकती है।

२. सम्यक्त्वी के सात भय (इहलोक भय, परलोक भय, वेदना भय, मरण भय, अरक्षा भय, अगुप्त भय, अकस्मात् भय) नहीं होते तब श्रेणिक तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे तब एकमात्र भय से उत्पन्न होने वाली आत्महत्या उनके कैसे बन सकती है? अर्थात् कदापि नही। जैसे समाधिमरण आत्महत्या नहीं है वैसे ही यह समझना चाहिए। आत्म धर्म मासिक पत्र नवंबर ८० और अप्रैल ८१ के अङ्कों में पू० स्वामी जी ने श्रेणिक की मृत्यु को आत्महत्या नहीं बताया है प्रत्युत लिखा है कि श्रेणिक क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। अन्तिम समय में हीरा चूसकर या कारागार में सिर फोड़कर मरे थे, तथापि उस काल में भी उनकी दृष्टि ध्रुवत्व पर ही थी। ध्रुव स्वभाव—आत्मस्वभाव से नहीं छूटी थी द्रव्य दृष्टि की महिमा अपार है। धर्मी की दृष्टि सदा चैतन्य तल पर ही रहती है।

३. राजवार्तिक, अमितगति श्रावकाचार आदि में क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग सम्यक्त्व बताया है।

४. उसमें भ्रष्टाचार-अत्याचार का समर्थन किया गया है।

पंच महाव्रत

☐ श्री बाबूलाल बक्ता

जो भी व्रत होता है वह पर से, बाहर से निवृत्तिरूप होता है और स्व में प्रवृत्ति रूप होता है। एक सिक्के की दो साइड है, एक परसे निवृत्ति है दूसरी स्व में प्रवृत्ति है। त्याग का अर्थ है स्व का ग्रहण और स्व का ग्रहण का अर्थ है पर का त्याग। जब सिक्के की दो साइड हैं तो दोनों साथ रहती हैं। कहने को हम किसी साइड को ऊपर कर लेते हैं किसी को नीचे। अहिंसा माने अपने रूप हो जाना—सबको चेतना रूप देखना। सत्य का अर्थ सत्य बोलने से नही परन्तु जैसा वस्तु का स्वरूप है उसको उस रूप मे देखना है जैसे शरीर आत्मा का संयोग है तब एक रूप देखना झूठ है। बाहरी पदार्थ तो दुखी नहीं कर सकता उसे दुख देने वाला देखना झूठ है। जो चीज जैसी है वह वैसी ही दिखाई देना सत्य है।

अचौर्य:—पर का ग्रहण यही चोरी है और स्व का ग्रहण वह अचौर्य है।

ब्रह्मचर्य:—याने ब्रह्म का आचरण ब्रह्म का आचरण माने ज्ञाता दृष्टा रूप रहना।

अपरिग्रह:—पर की निष्ठा परिग्रह है, स्व की निष्ठा अपरिग्रह है।

भीतर में जब स्व का ग्रहण होता है तब बाहर जो कूडा-करकट होता है वह छूट जाता है। बाहर में क्या छूटा इसकी महिमा नही है परन्तु भीतर में क्या मिला इसकी है। जब अमृत मिलता है तो बाहर से फालतू छूट जाता है। बाहर से देखने वाला बाहर मे छूटा उसको देखता है क्योंकि उसके जीवन में पर की महिमा है उसके लिए वह छूटना बहुत मुश्किल है जो दूसरे ने छोड़ा है। इसलिए वह समझता है कि इसने बड़ा काम किया है। परन्तु जब तक अंतरंग में वह अमूल्य वस्तु नहीं मिले तब तक बाहर का छोड़ना आत्मकल्याण में कीमत नहीं रखता। कीमत तो जो भीतर में उपलब्ध हुआ उसकी है। ज्ञानी को अन्तरंग में जो मिला उसकी महिमा आती है, अज्ञानी को बाहर मे जो छोड़ता है उसकी महिमा आती है।

पंच महाव्रत मे भी अन्तरंग की उपलब्धि पूर्वक बाहर मे हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह का त्याग है। सम्भावना यह है भीतर मे उपलब्धि क्या हुई।

जब तक समझता है कि यह मेरा है तब तक उसका प्रेम उसी तक सीमित रहता है। परन्तु जैसे उसको कोई अपना नही रहता तो सभी उसके हो जाते हैं तब वह दिवाल जो मेरा और तेरे का भेद कर रही है हट जाती है यह कहना चाहिए मेरा कोई नही रहा अथवा कहना चाहिए सभी मेरा हो जाता है। इसलिए उसका प्रेम असीम हो जाता है। जो एक घर को छोड़ता है सभी घर उसके हो जाते हैं। यह तभी सम्भव है जब पर से मेरा मन हटे तभी अहंकार का विसर्जन होगा।

अहं नगर में पर को नीचा देखना और नीचा दिखाने की भावना रहती है यही तो हिंसा का भाव है।

जीवों की रक्षा करना मात्र अहिंसा नही है जीवों की रक्षा तो वह व्यक्ति भी करता है जो कीड़ी को बचा रहा है जिसको उसके मरने पर अपना नरक और बचने में स्वर्ग दिखाई दे रहा है। उसको कीडी के प्रति प्रेम नही। उसका कीड़ी से कोई मतलब नही। उसका सम्बन्ध अपने स्वर्ग और नरक से है। जिसके हृदय में प्रेम नहीं वहां अहिंसा कैसी। आप कह सकते हैं कि प्रेम तो राग का नाम है। ऐसा नही है। एक प्रेम जो किसी खास व्यक्ति के प्रति है; जैसे अपना कुटुम्ब, परिवार अथवा जिसको अपना मान रखा है उसके प्रति चाहे वह कोई जाति हो सम्प्रदाय हो, साधु-सन्यासी हो परन्तु पहले उसमें अपना माना है फिर राग बना है वह प्रेम तो राग का ही भेद है परन्तु एक प्रेम वह है जहां कोई अपना नहीं रहा जहां अपने मन की दीवाल नही रही। जहां समूचा संसार ही

अपना हो गया वहां वह प्रेम राग का अंश नहीं परन्तु अहिंसा का वाचक हो गया क्योंकि वहां वह प्रेममयी हो गया। वह प्रेम को सीधे लिए नहीं है परन्तु वह ब्रह्म-रूप है इसलिए स्व के लिए हो गया।

अहिंसा शब्द राग का नेगेटिव है। राग का निषेधक है परन्तु उसका पोजिटिव प्रेम है। जब अन्तरंग प्रेममयी हुआ तब हिंसा विसर्जित हो गई। हिंसा को छोड़ दो।

इसी प्रकार जब वस्तु स्वरूप, सत्य स्वरूप से जीव बचाने मात्र से हिंसा नहीं जायेगी। जीव को बचाया तो सही परन्तु क्या उसके प्रति आपके हृदय में जैसा अपने बच्चे के प्रति प्रेम हो जाता है वैसा प्रेम भरा हुआ है, अगर नहीं तो अहिंसा कैसे होगी। सवाल बाहर की तरफ का नहीं है कि जीव मरा कि बचा, सवाल है आपके हमारे हृदय में प्रेम का अथाह समुद्र बह रहा है कि नहीं। अगर प्रेम का समुद्र बह रहा है तो जीव के मरने पर भी अहिंसा है परन्तु वह प्रेम का समुद्र नहीं बह रहा है तो जीव के बचने पर भी हिंसा है। जहां ऐसा प्रेम बह रहा हो वहां बाहर मे हिंसा विसर्जित हो जाती है। वह जीव पर पैर नही रखता है यह सवाल नहीं है परन्तु वह अपने पर पैर रखकर नही चल सकता क्योंकि अब कोई पराया रहा ही नही।

इसी प्रकार जब भीतर में सत्य पकड़ में आता है या सत्य स्वभाव पकड़ में आता है तो बाहर का असत्य विसर्जित हो जाता है। यहां सत्य बोलने से सत्यव्रत का पालन होता है ऐसा नहीं है। यहां सवाल है कि भीतर में असत्य रहा ही नहीं। व्रत का मतलब है कि असत्य का व्यक्तित्व अब नहीं रहा जो रहा वह सत्य है और उस सत्य व्यक्तित्व से असत्य कैसे निकल सकता है। जो वस्तु जैसी की तैसी दिख रही है तो असत्य को जगह कहां रही वह तो तभी तक था जब विपरीत दिखाई दे रहा था।

निज स्वभाव पकड़ में आगया, अपनी चीज अपने को मिल गई तो पर का ग्रहण रहा ही नहीं। परका ग्रहण तभी तक था, जब तक अपने घर की खबर नही थी। अब अपना घर मिल गया और अपने घर में रहने लगा, तब पर घर का ग्रहण विसर्जित हो गया। पर में अगर प्रयोजन दिखाई दे रहा है, पर की महिमा आ रही है तब पर का ग्रहण है। सवाल पर को ग्रहण नहीं करने का नहीं है परन्तु पर में प्रयोजन दिखाई न देने का है। बाहर में अगर कोई चीज नहीं ली यही व्रत है तो उस व्रत की भी उतनी ही कीमत है जितनी उस वस्तु की। परन्तु धर्म की कोई कीमत नहीं होती इसलिए उसका आधार बाहर में, पर में नहीं है। उसका सम भाव पर से नहीं स्व से है।

भीतर में स्व में कमी होने लगी तो बाहर में स्त्री में कमी नहीं रही। रमण करने को जब भीतर नहीं था तो बाहर में रमण करने को स्त्री को खोजता था परन्तु जब रमण करने को अपना मित्र स्व भाव उपलब्ध हो गया तो बाहर किसमें रमण करें। आत्मा की सुन्दरता में जो लुब्ध हो गया उसको बाहर में स्त्री में सुन्दरता कैसे दिखाई दे। अगर अभी भी वह सुन्दर दिखाई दे रही है तो अंतरंग की सुन्दरता पकड में नही आई है।

जब आत्मा में मित्रता हुई तो पर की मित्रता नहीं रही, सवाल परिग्रह छोड़ने का नहीं है, सवाल तो मित्रता छोड़ने का है वह मित्रता स्व की मित्रता आये बिना नही जा सकती। परिग्रह में आनन्द दिखाई दे रहा है। परिग्रह में रस आ रहा है तो समझना चाहिए अभी अपने में रस नहीं आया अपने में आनन्द नहीं आया है। इसलिए पर में आनन्द खोज रहा है अपने में मिल जाता तो पर में क्यों खोजता। जब पर में आनन्द नहीं है तो न तो उसके ग्रहण से मिल सकता है न उसके त्याग से, परन्तु वह तो स्व के ग्रहण से मिलता है। और जहां स्व का ग्रहण है वहां पर का त्याग तो है ही।

कुछ लोग कहते हैं ऐसा अर्थ करने से लोग बाहरी त्याग नहीं करेंगे। स्वच्छन्दता तो हो जायेगी। यहां पर बात यह है कि जो स्व और पर के सूक्ष्म भेद को करने की बात कह रहा है वहां मोटा भेद, स्वधन परधन का भेद तो मोटा भेद है बहुत मोटा भेद है जो इतना मोटा भेद ही नहीं कर सकता वह स्व और पर के अत्यन्त सूक्ष्म भेद को कैसे देख सकेगा। उसके लिए तो और भी सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है। जहां स्वधन स्वस्त्री को भी पर रूप देखना है। वहां पर स्त्री और पर धन अपना कैसे हो सकता है। इसलिए जहां एक चेतना को छोड़कर सभी पर है स्वस्त्री-धन भी पर है वहां परधन-परस्त्री को अपने रूप देखने का सवाल ही नहीं रहता।

वाचनिक अहिंसा : स्याद्वाद

☐ अशोककुमार जैन एम. ए.

सम्पूर्ण विश्व, जीव आत्मा, परमात्मा, अदृष्ट, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बंध-मोक्ष आदि सभी दार्शनिक चिन्तन के विषय हैं। विभिन्न मनीषियों ने अपने २ दृष्टिकोणों से इनकी व्याख्या की है। दृष्टिकोणो की यह विभिन्नता ही वस्तु के वास्तविक स्वरूप को सूचित करती है। इस चिन्तन के फलस्वरूप आरम्भ मे वस्तु तत्व के सम्बन्ध में प्रायः सभी मनीषियों के मन्तव्य अनन्त गुणधर्मात्मक दिखाई पडते हैं। वस्तु अनन्त धर्म वाली होने से उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे विभिन्न दृष्टिकोण होना भी स्वाभाविक है। जब ये विभिन्न दृष्टिकोण वाले व्यक्ति अपने अभिप्राय के अतिरिक्त अन्य दृष्टिकोणो की उपेक्षा कर आग्रह से अपनी दृष्टि या मत को ही ठीक समझने लगते हैं और दूसरे दृष्टिकोणों का खण्डन भी करते हैं तब विभिन्न मतवाद खड़े हो जाते है। खण्डन-मण्डन की परम्परा का सम्भवतः यह दूसरा युग था, जो लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी में उभर कर सामने आया। इस अवधि में ही जैन परम्परा मे अनेकान्तवाद और स्याद्वाद रूप दार्शनिक स्वरूप का विकास हुआ।

स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है जो वस्तु तत्व का सम्यक् प्रतिपादन करती है। प्रमाण[1] संग्रह के मंगलाचरण में अकलक देव ने लिखा है "परम गरम गम्भीर स्याद्वाद यह जिसका अमोघ लक्षण है ऐसा जिन भगवान का अनेकान्त शासन सदैव जयवन्त हो"। स्यात्माम में लगा हुआ शब्द प्रत्येक वाक्य के साक्षेप होने की सूचना देता है। स्यात् शब्द लिङ् लकार का क्रिया रूप पद भी होना है और उसका अर्थ होता है—होना चाहिए लेकिन यहां इस रूप मे यह प्रयुक्त नही है। स्यात् विधि लिङ में बना हुआ तिष्ठन्त प्रतिरूपक निपात है। विधि लिङ में इससे संशय, प्रशंसा, अस्तित्व, प्रश्न, विचार, अनेकान्त आदि कई अर्थ होते हैं जिसमें से यहां मात्र अनेकान्त ही ग्रहण किया जा सकता है। निपात शब्द के दो अर्थ होते हैं एक द्योतक और दूसरा वाचक। जैन क्षेत्र मे स्यात् निपात के दोनो अर्थ गृहीत हैं क्योंकि स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक भी होता है और वाच्य भी। स्वामी समन्त भद्र कहते है कि स्यात् शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने के कारण वाक्यो में अनेकान्त का द्योतक होता है और गम्य अर्थ का विश्लेषण होता है। स्यात् शब्द निपात है और वह केवलियों को अभिमत है।

प्रो० बल्देव उपाध्याय[1] "स्यात्" शब्द का अनुवाद शायद या सम्भवत. करते है परन्तु न तो यह शायद, न सम्भावना और न कदाचित् का प्रतिपादक है किन्तु सुनिनिश्चित दृष्टिकोण का है। शब्द का स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है इसलिए अन्य के प्रतिषेध करने में वह निरकुश रहता है। इस अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य (स्यात्) करता है। वह कहता है कि रूपवान घट) वाक्य घड़े के रूप का प्रतिपादन भले ही करे पर वह "रूपवान ही है" यह अवधारण करके घड़े में रहने वाले रस, गन्ध आदि का प्रतिषेध नही कर सकता। वह अपने स्वार्थ को मुख्यरूप से कहे यहां तक कोई हानि नही। पर यदि वह उससे आगे बढ़कर "अपने ही स्वार्थ" को सब कुछ मानकर शेष का निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तु स्थिति का विपर्यास करना है। (स्यात्) शब्द इसी अन्याय को रोकता है और न्याय वचन पद्धति की सूचना देता है वह प्रत्येक वाक्य के साथ अन्तर्गर्भ रहता है और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्य को मुख्य गौण भाव से अनेकान्त अर्थ का प्रतिपादक बनाता है। इसमें विभिन्न दृष्टिकोण से व्यर्थ की सत्यता का व्याख्यान किया जाता है। वस्तुतः जड़ और चेतन सभी मे अनेक धर्म विद्यमान है। उन सबका एक साथ कथन नहीं किया जा सकता। विवक्षा के अनु-

सार एक समय में किसी एक को मुख्यतया लेकर कथन किया जाता है उसको दार्शनिक शब्दावली में "कथंचित् अपेक्षा" से कहा जाता है जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है। अपेक्षावाद का यह सिद्धांत दार्शनिक मतवादों के आग्रह को शिथिल करता है और जीवन का यथार्थ दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न रूपो में हमारे सामने प्रस्तुत रहता है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपने आप्तमीमांसा नामक प्रकरण में स्याद्वाद शब्द का प्रयोग किया है। सिद्धसेन विरचित न्यायावतार में तो स्पष्ट रूप से स्याद्वाद श्रुत का निर्देश करते हुए उसको सम्पूर्ण अर्थ का निश्चय करने वाला कहा है। भट्टाकलकदेव ने श्रुत के दो उपयोग बतलाए हैं उनमें से एक का नाम स्याद्वाद है और दूसरे का नाम है नय। सम्पूर्ण वस्तु के कथन को स्याद्वाद कहते हैं और वस्तु के एकदेश के कथन को नय कहते हैं। स्वामी समन्त भद्र ने स्याद्वाद का लक्षण लिखते हुए कहा है सर्वथा एकान्त को त्याग कर अर्थात् अनेकान्त को स्वीकार करके सात भगो और नयो की अपेक्षा से, स्वभाव की अपेक्षा सत् और परभाव की अपेक्षा असत् इत्यादि रूप मे कथन करता है उसे स्याद्वाद कहते '-नि" शब्द मे चित्, पट इत्यादि प्रत्ययों को जोडने से जो रूप बनते हैं जैसे किंचित्, कथचित्, कथ पद ये सब स्याद्वाद के पर्याय शब्द हैं। "स्याद्वाद के बिना हेय और उपादेय की व्यवस्था नही बनती।" अकलकदेव ने "अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन को स्याद्वाद कहा है।"

अनेकान्त के द्योतन के लिए सभी वाक्यो के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है उसके बिना अनेकान्त का प्रकाश सम्भव नही है। शायद कहा जाए कि लौकिक जन तो सब वाक्यों के साथ स्यात् पद का प्रयोग करते देखे नही जाते इसका उत्तर देते हुए अकलकदेव ने कहा है कि यदि शब्दो का प्रयोग करने वाला पुरुष कुशल हो तो स्यात्कार और एवकार का प्रयोग न किए जाने पर भी विधिपरक, निषेधपरक तथा अन्य प्रकार के वाक्यों में स्याद्वाद और एवम् की प्रतीति स्वय हो जाती है। जो वादी वाक्य के साथ "स्यात्" पद का प्रयोग करना पसन्द नही करते उन्हें सर्वथा एकान्तवाद को मानना पड़ेगा और उसके मानने में प्रमाण से विरोध आता है। अतः इस विरोध को दूर करने के लिए समस्त वाक्यों में "स्यात्" पद का प्रयोग करना चाहिए। इसी तरह वाक्य में एवकार 'ही' का प्रयोग न करने पर भी सर्वथा एकान्त को मानना पडेगा, क्योंकि उस स्थिति में अनेकान्त का निराकरण अवश्यम्भावी है जैसे उपयोग लक्षण जीव का ही है इस वाक्य में एवकार (ही) होने से यह सिद्ध होता है कि उपयोग लक्षण अन्य किसी का न होकर जीव का ही है अतः इसमें से ही को निकाल दिया जाए तो उपयोग अजीव का भी लक्षण हो सकता है और ऐसा होने से वाह्य अर्थ की व्यवस्था का लोप हो जाएगा।

जैन दर्शन का स्याद्वाद सभी दार्शनिक सिद्धांतों को अपने में समेटे हुए है, इसी कारण यह स्याद्वाद का सिद्धांत सभी दार्शनिकों को मान्य भी है। लेकिन जैन दर्शन का स्याद्वाद जो समन्वयवाद था, जो समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखता है वह शंकर के अद्वैत वेदान्त के समन्वयात्मक दृष्टिकोण से भिन्न है। जैन दर्शन का स्याद्वाद भौतिक समन्वयात्मक है, जबकि शंकर का अद्वैतवाद आध्यात्मिक समन्वयात्मक है। जैन दर्शन स्याद्वाद की बात तो करता है, लेकिन पूर्व ज्ञान को कौन निर्धारित करेगा इसके उत्तर में वह सबको समान दर्जे पर रखता है जबकि शंकराचार्य उस समन्वय से उठकर ब्रह्म को स्थापित करते हैं, तो यह धर्मनिष्ठा है। यही पर दर्शन के विचार की उदारता में विश्व में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। सच्चे एवं गहन दार्शनिक की परीक्षा अनुयायियों की सख्या के बल पर तथा उदारता पर निर्भर है। इस संसार में कोई भी बात झूठी नही है। सबको समझने की सच्ची दृष्टि होनी चाहिए, वह झूठी न हो। अगर दृष्टि ही झूठी हो तो सृष्टि कोई चीज सच्ची नही है।

कुछ पाश्चात्य तार्किकों के विचारों के साथ स्याद्वाद की बड़ी समानता है। ये पाश्चात्य तार्किक भी कहते हैं कि प्रत्येक विचार का अपना-अपना प्रसंग या प्रकरण होता है उसे हम विचार प्रसग कह सकते हैं। विचारों की सार्थकता उनके विचार प्रसंगों पर ही निर्भर होती है। विचार प्रसंग में स्थान, काल, दशा, गुण आदि अनेक बातें सम्मिलित रहती हैं। विचार परामर्श के लिए इन बातों को स्पष्ट करने की उतनी आवश्यकता नहीं रहती है।

साथ-साथ उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि प्रत्येक का स्पष्टीकरण संभव भी नही है। जैन स्याद्वाद को तुलना कभी-कभी पाश्चात्य सापेक्षवाद (Theory of Relativity) से भी की जाती है। सापेक्षवाद दो प्रकार होता है—विज्ञानवादी और वस्तुवादी। जैन मत को यदि सापेक्षवाद माना जाय तो वह वस्तुवादी सापेक्षवाद होगा क्योंकि जैन दार्शनिक मानते है कि यद्यपि ज्ञान सापेक्ष है फिर भी यह केवल मन पर निर्भर नही, बल्कि वस्तुओ के धर्मों पर भी निर्भर है। स्याद्वाद सिद्धात से यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि बड़ी उदार है। जैन अन्यान्य दार्शनिक विचारो को नगण्य नही समझते, वल्कि अन्य दृष्टियों से उन्हे भी सत्य मानते हैं। भिन्न-भिन्न दर्शनो मे ससार के भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं। इसका कारण है कि उनमे एक दृष्टि नही है। दृष्टिभेद के कारण ही उनमें मतभेद पाया जाता है।

स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोण से वस्तु का प्रतिपादन करके पूरी वस्तु पर एक ही धर्म के पूर्ण अधिकार का निषेध करता है। वह कहता है कि वस्तु पर सब धर्मों का समान रूप से अधिकार है। विशेषता केवल यही है कि जिस समय जिस धर्म के प्रतिपादन की विवक्षा होती है उस समय उस धर्म की मुख्य रूप से ग्रहण करके अन्य अविवक्षित धर्मों को गौण कर दिया जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा स्याद्वाद की प्रतिपादन शैली को बताया है कि जिस प्रकार दधि मन्थन करने वाली गोपी मथानी की रस्सी के एक छोर को खीचती है और दूसरे छोर को ढीला कर देती है तथा रस्सी के आकर्षण और शिथिलीकरण के द्वारा दधि का मन्थन करके इष्ट तत्व घृत को प्राप्त करती है उसी प्रकार स्याद्वाद नीति भी एक धर्म के आकर्षण और शेष धर्मों के शिथिलीकरण द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ भी सिद्ध करती है।

स्याद्वाद का सिद्धान्त सुव्यवस्थित और व्यावहारिक है। वह अनन्तधर्मात्मक वस्तु की विभिन्न दृष्टिकोणों से व्यवस्था करता है तथा उस व्यवस्था में किसी प्रमाण से बाधा नहीं आती अतः वह सुव्यवस्थित है। इसके साथ ही स्याद्वाद व्यावहारिक भी है। वह सदाकाल मे उपयोगी है इसके बिना किसी भी प्रकार का लोक व्यवहार नही चल सकता। लोक में जितना भी व्यवहार होता है वह सब आपेक्षिक व्यवहार का नाम ही स्याद्वाद है। पिता, पुत्र, माता, पत्नी आदि व्यवहार भी किसी निश्चित अपेक्षा से ही है। अतः अनेक विरोधी विचारों का समन्वय किये बिना लौकिक जीवन यात्रा भी नही बन सकती है। विरोधी विचार मे समन्वय के अभाव में सदा विवाद और सघर्ष होते रहेंगे तथा विवाद या संघर्ष का अन्त तभी होगा जब स्याद्वाद के अनुसार सब अपने २ दृष्टिकोणो के साथ दूसरे के दृष्टिकोणों का भी आदर करेंगे। अनेकान्त दर्शन से मानस समता और विचार शुद्धि होती है तथा स्याद्वाद से वाणी मे समन्वय-वृत्ति और निर्दोषता आती है। इसलिए आचार्य समन्तभद्र 'स्यात्कार सत्य लाञ्छनः'' कहकर स्याद्वाद को सत्य का चिन्ह या प्रतीक बतलाया है।

विरोधी धर्म मे सापेक्ष होने के कारण ही आपने शब्द विरुद्ध धर्मो युक्त वस्तु का स्पर्श करते हैं क्योंकि स्याद्वाद की मुद्रा से रहित शब्द वस्तु के एकदेश में ही शक्ति के बिखर जाने से स्खलित हो जाते हैं ऐसा आचार्य अमृतचन्द्र भगवन् की स्तुति करते हुए कहते हैं।[१०] स्याद्वाद पदार्थों के जानने की एक दृष्टिमात्र है। स्याद्वाद स्वयं अन्तिम सत्य नही है। यह हमें अन्तिम सत्य तक पहुंचाने के लिए केवल मार्ग दर्शन का काम करता है। स्याद्वाद से केवल व्यवहार सत्य के जानने मे उपस्थित होने वाले विरोधों का ही समन्वय किया जा सकता है इसलिए जैन दर्शनक रो ने स्याद्वाद को व्यवहार सत्य माना है। व्यवहार सत्य के आगे भी जैन सिद्धान्त में निरपेक्ष सत्य माना गया है जिसे जैन पारिभाषिक शब्दों में केवल ज्ञान के नाम से कहा जाता है।

इस प्रकार जैन दर्शन में जहां आचार में अहिंसा को प्रधानता दी गई है उसी प्रकार वैचारिक अहिंसा पर भी बल दिया गया है जो स्याद्वाद के सिद्धान्त के रूप में अवतरित होकर मानव मात्र को समीचीन पथ पर अग्रसित करके तथा एकान्त पथ से विमुख करके वस्तु के वास्तविक स्वरूप का प्रतिबोध कराता है।

निकट जैन मन्दिर, बिजनौर (उ० प्र०)

एक महत्वपूर्ण अप्रकाशित अपभ्रंश रचना : अमरसेन चरिउ

डा० कस्तूरचन्द्र "सुमन"

राजस्थान प्राचीन काल में धार्मिक एव साहित्यिक गतिविधियों के लिए प्रसिद्ध रहा है। इस प्रान्त मे हस्तलिखित ग्रन्थो के अनेक भण्डार है, जिनमे अनेक महत्वपूर्ण कृतियां प्रकाशन की वाट जोह रही है। आमेर-शास्त्र भण्डार उनमे एक है।

इस शास्त्र भण्डार मे लगभग ३७०० हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श भाषा मे लिखे गये हैं। समाजोपयोगी है। उनसे समाज परिचित हो इस सन्दर्भ मे यह इस प्रकार का प्रथम प्रयास है।

अपभ्रंश भाषा मे लिखा गया अमरसेनचरिउ इस शास्त्र भण्डार का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। कवि माणिक्कराज इस काव्य के रचयिता थे। सोलहवी शताब्दी की इस रचना मे जैन सिद्धान्तो को कथाओं के माध्यम से समझाया गया है। रोचक है। साथ ही कल्याण का हेतु भी भी।

इस कृति का प्रथम परिचय देने का श्रेय जैन विद्या-सस्थान, श्री महावीर जी के अधीनस्थ आमेरशास्त्र भंडार को प्राप्त है। अब तक किसी अन्य भण्डार से यह उपलब्ध नही हुआ है, यदि किसी भण्डार को इस कृति के होने का गौरव प्राप्त हो तो कृपया लेखक को सूचित कर अनुग्रहीत करें।

इस पाण्डुलिपि के ६६ पत्र हैं। सम्पूर्ण पत्र ११ सेंटीमीटर लम्बा और ४ सेंटीमीटर चौड़ा है। पत्र के चारो ओर हाँसिया छोड़ा गया है। बायी ओर का हासिया एक सेंटीमीटर है और दायी ओर का एक सेंटीमीटर से कम। ऊपर नीचे भी लगभग आधा-आधा सेंटीमीटर रिक्त स्थान है। लम्बाई की दोनों ओर पत्र हाँसिये रूप में रेखांकित है। रेखांकित अशो के मध्य प्रत्येक पत्र पर ६ पंक्तियां है, और प्रत्येक पक्ति मे लगभग ३०-३५ अक्षर। पत्र दोनो ओर लिखे गये है। रचना अपूर्ण हैं। प्रथम पत्र नही है। अपूर्ण होते हुए भी कथा मे कोई व्यवधान नही आता है।

यह ग्रन्थ सात सन्धियो मे समाप्त हुआ है। अन्त में प्रशस्ति के रूप मे लिपिकार का परिचय भी है। ग्रन्थ की प्रथम संधि में बावीस कडवक और तीन सौ छयत्तर यमक है। इसी प्रकार दूसरी सन्धि मे तेरह कड़वक और दो सौ ग्यारह यमक तीसरी मे तेरह कडवक और एक सौ सतत्तर यमक, चौथी सन्धि मे तेरह कडवक और दो सौ पचास यमक, पांचवी सन्धि मे चौबीस कड़वक और तीन सौ सतासी यमक, छठी सन्धि मे चौदह कडवक और एक सौ सेंतालिस यमक, तथा सातवी सन्धि में पन्द्रह कडवक और एक सौ पचान्नवे यमक है। इस प्रकार ग्रन्थ में कुल सात सधियाँ और सधियो मे एक सौ १४ कडवक तथा कड़वकों मे एक हजार सात सौ तेतालीस यमक हैं। सन्धियों के आरम्भ ध्रुवक छन्द से और अन्त घत्ता से हुए हैं। कड़वक के अन्त में घत्ता छन्द व्यवहृत हुआ है।

कवि स्वयम्भू के अनुसार यमक दो पदों से निर्मित छन्द है। और कडवक आठ यमको का समूह। उन्होंने यह भी कहा है कि यदि पदो मे सोलह मात्राएँ हों तो वह पद्धड़िया छन्द हैं। घत्ता छन्द मे प्रथम और तृतीय पाद मे नौ मात्राएँ तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद मे चौदह मात्राएँ होती है। इस छन्द मे बारह-बारह मात्राएँ तथा कभी-कभी सोलह-सोलह मात्राएँ और प्रथम एवं द्वितीय पाद के आदि मे गुरु वर्ण भी मिलता है।[1]

प्रस्तुत कृति में यमक सोलह मात्राओं से निर्मित दिखाई देते हैं। अतः उक्त पद्धड़िया छन्द की परिभाषा के परिप्रेक्ष्य मे कहा जा सकता है कि इस रचना मे पद्धड़िया छन्द का व्यवहार हुआ है। कड़वकों में निर्धारित यमक सख्या का उल्लंघन किया गया है। आठ से चौबीस यमक तक एक कड़वक में मिलते हैं। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि कड़वक की निर्धारित न्यून सख्या का किसी भी

कड़वक में उल्लंघन नहीं किया गया है। सर्वत्र आठ से न्यून यमक किसी भी कड़वक में नहीं हैं।

घत्ता छन्द के इसमें विभिन्न रूप मिलते हैं। प्राय: १०, ८, १३, मात्राओं पर विराम देकर इस छन्द मे रचना की गई है। ११ और १३ मात्राओं पर (१.६) तथा इसके विपरीत १३, ११ मात्राओं पर विराम देकर भी (दे० १.१६) इस छन्द की रचना की गयी है। हिन्दी भाषा मे सोलह मात्राओ से चौपाई तथा ११, १३ मात्राओ से सोरठा और १३, ११ मात्राओ से दोहा छन्द का निर्माण होता है। अपभ्रंश भाषा मे चौपाई के समान पद्धड़ियां छन्द है तथा दोहा और सोरठा के रूप में घत्ता छन्द। रामचरितमानस मे व्यवहृत चौपाई, दोहा, सोरठा छन्दो से ऐसा प्रतीत होता है, मानो कवि तुलसी ने अपभ्रंश के पद्धड़ियां छन्द को चौपाई के रूप मे और घत्ता छन्द को दोहा तथा सोरठा छन्दो के रूप में अपनाया हो।

कवि ने जैसा विस्तृत परिचय इस ग्रन्थ के लिखाने वाले देवराज चधरी का दिया है, वैसा आत्म परिचय नही दिया है। उन्होने गुरु परम्परा का उल्लेख अवश्य किया है। गुरु परम्परा मे उन्होने क्रमश. क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति, कुमारसेन, हेमचन्द्र और और पद्मनन्दि आचार्यों के नामोल्लेख किये हैं। पद्मनन्दि कवि के गुरु थे। वे गुरु-पदावली में प्रवीण, निर्ग्रन्थ, शील की खानि, दयालु, मिष्ठभाषी, और तप से क्षीण (तपस्वी) थे।[2]

ग्रंथ के अन्त में कवि ने दादा गुरु आचार्य हेमचन्द्र का स्मरण करते हुए उन्हें मोह-मत्सर के त्यागी, शुभ ध्यानियों में प्रधान आचार्य कहा है तथा अपने गुरु पद्मनन्दि को तप रूपी तेज से युक्त प्रकट करते हुए अपने को उनका शिष्य बताया है। कवि के अतिरिक्त पद्मनन्दि के शिष्यों में एक देवनन्दि का नाम भी मिलता है। देवदन्दि को ग्यारह प्रतिमाधारी, राग-द्वेष, मद-मोह के विनाशक, शुभध्यानी और उपशमभावी कहा गया है।[3]

इस उल्लेख के आलोक मे देवनन्दि कवि के गुरु-भाई ज्ञात होते हैं। वे क्षुल्लक या ऐलक हो गये थे। कवि का जिस पार्श्वनाथ मन्दिर में निवास था वहां दो विद्वान् और भी रहते थे—शान्तिदास और जसमलु। दोनो मे जसमलु गुणवान् और ज्येष्ठ था, शान्तिदास उसका छोटा भाई था।[4] इन पंडितों के रहते हुए भी इस ग्रन्थ की रचना के लिए कवि माणिक्कराज से ही निवेदन किया जाना कवि के विशेष प्रतिभाशाली होने का प्रतीक है।

कवि सुरीली वाणी से नगरवासियो को सुखदायक सिद्धान्त के अर्थ-चिन्तक थे। वे सरस्वती के निवास, जिन देव और जिन गुरु के भक्त', बहुश्रुत और गोष्ठियों के मार्ग दर्शक थे। पंडित सूरा आपके पिता थे, तथा आपका नाम माणिक्कराज था। कवि ने स्वयं को पडित कहकर सम्बोधित किया है।[5] कवि के पिता का नाम 'बुधसूरा' था, श्री प० परमानन्द शास्त्री का यह कथन[6] तर्कसंगत प्रतीत नही होता है। कवि को पंडित कहा जाना तथा पिता के नाम में 'बुध' शब्द का होना इम तथ्य का प्रतीक है कि कवि के पिता भी पडित थे।[7] अतएव कवि के पिता का नाम सूरा था और पंडित उनकी उपाधि थी। यह भी प्रतिभाषित होता है कि कवि को पडिताई पैतृक परम्परा से प्राप्त हुई थी। अखडित शील से युक्त कहे जाने से कवि बालब्रह्मचारी रहे ज्ञात होते हैं। इस ग्रन्थ के निर्माण हेतु आपसे ही आग्रह किये जाने मे यहा दो हेतु प्रतीत होते हैं—प्रथम तो वश परम्परागत पडित्य और दूसरे कवि का प्रतिभासम्पन्न होने के साथ बालब्रह्मचारी होना। कवि की अपरकृति अपभ्रंश भाषा में लिखित 'नागसेनचरिउ' से भी उनके पिता का नाम बुधसूरा—पडित सूरा ही ज्ञात होता है। यह भी विदित होता है कि उनकी मां का नाम दीवा था तथा वे जयसवाल कुल मे उत्पन्न हुए थे।[8]

मूलत: कवि कहां के निवासी थे यह नहीं कहा जा सकता है, परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता हैं 'अमरसेनचरिउ' की रचना करते समय रहियासु (रोहतक) में रहते थे।[8] इसकी सूचना के प्रेरणा स्रोत देवराज चौधरी भी इसी नगर के निवासी थे।[9] उनके निवास स्थान के सम्बन्ध में उपलब्ध इन साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में ज्ञात होता है कि कवि मूलत: रोहियासपुर संभवत: वर्तमान रोहतक के निवासी नहीं थे। इस सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी विचारणीय है कि कवि ने अपनी इस कृति मे[10] कवि रइधू कृत 'पासणाहचरिउ' कृति के कुछ अश का[11] नगर वर्णन प्रसग में उपयोग किया है। अत: निर्विवाद रूप से यह तो कहा जा सकता है कि कवि माणिक्कराज पासणाहचरिउ

ग्रन्थ से परिचित थे। परिचय में आने के इनके दो ही अवसर ज्ञात होते हैं। प्रथम तो यह कि कवि रइधू के समान ग्वालियर या उसके किसी निकटवर्ती क्षेत्र निवासी हों और वे रइधू की साहित्यक गतिविधियों से भी परिचय रहे हैं, जो कालान्तर में रोहतक आ बसे होंगे क्योंकि प्रस्तुत कृति में उपलब्ध बुन्देली शब्द उपलब्ध होते हैं। दूसरी यह सम्भावना भी उदित होती है कि रइधू की कृति पासणाहचरिउ हो सकता है किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रोहतक ले जायी गयी हो। यदि इस संभावना को ठीक मानते हैं तो इससे भी कवि का ग्वालियर या उसके निकटवर्ती क्षेत्र का होना ज्ञान होता है, क्योंकि अन्य किसी रचना की पंक्तियों का स्वरचित पंक्तियो के रूप में कवि तभी उपयोग करेगा जब उसे यह विश्वास प्राप्त हो कि उक्त पंक्तियों के लेखक को इससे कोई अप्रसन्नता न होगी। चूंकि यह तभी संभव है जब परस्पर में अति आत्मीयता हो। और ऐसी आत्मीयता विना सहवास या निकट वास के संभव दिखाई नहीं देती। अतः इस सभावना से भी कवि का ग्वालियर या किसी उसके निकटवर्ती क्षेत्र का निवासी होना ज्ञात होता है।

रचना के अन्त में कवि ने लिखा है कि "परम्परा से जिस ज्ञात जिनचन्द्र सूरि ने सिद्ध किया था, उसे सूत्र रूप में मैंने सुन्दर एवं सुगम-सुखद भाषा में इस कृति को निबद्ध किया है।" इस उल्लेख से कवि माणिक्कराज जिनचन्द्र सूरि के विशेष कृतज्ञ रहे ज्ञात होते हैं। हो सकता है जिनचन्द्र कवि के विद्या गुरु और पद्मनन्दि दीक्षागुरु रहे हों।

रचना में कवि देव, शास्त्र और गुरु तीनों के श्रद्धालु ज्ञात होते हैं। इस ग्रन्थ के आदि में कवि ने देव के रूप में तीर्थंकरों का नामस्मरण किया ही है। गुरुपरम्परा का उल्लेख कर गुरुओं के प्रति जहां कवि ने कृतज्ञता प्रकट की है वहां वीर जिनेन्द्र के मुख से निकसित सारभूत भटारिका सरस्वती से प्रमाद वश किये गए आगम विरुद्ध कथन के प्रति या कोई अक्षर रह गया हो तो उसके प्रति क्षमा याचना भी की है।" अपने ही इतर ग्रन्थ में उन्होंने सरस्वती को सुयदेवी (श्रुतदेवी) भी कहा है।" गुरुश्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है कि यह गुरु-कृपा ही है जो कि मैं यह ग्रन्थ लिखकर प्रस्तुत कर सका।"

कवि विनय गुण के धनी थे, मानी नहीं, निरभिमानी थे। ऐसे सुन्दर काव्य की रचना करके भी वे स्वयं को जड़मति कहते हैं। काव्य मे हुयी अर्थ और मात्रा की हीनाधिकता के लिए वे न केवल श्रुतदेवी से क्षमा याचना कराते हैं अपितु विवुधजनों से भी।" आचार्य अमितगति ने भी इसी प्रकार की क्षमा याचना की है।" अतः प्रतीत होता है कि इस प्रसंग में कवि ने पूर्व रीति का भली भांति निर्वाह किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने एक ओर जहां आत्मपरिचय प्रत्यक्ष रूप से न के बराबर दिया है, दूसरी ओर ग्रन्थ के प्रेरक का उल्लेख सविस्तार किया है। उन्होंने लिखा है कि जिनकी प्रेरणा एव निवेदन पर यह ग्रन्थ रचा गया था, वे चौधरी देवराज वैश्यों मे प्रधान, अग्रवाल कुलोत्पन्न, सिघल (संगल) गोत्री, रोहतक निवासी थे। चौधरी चीमा जिनकी गाल्हाही नाम की भार्या थी, देवराज चौधरी के प्रपितामह थे। चीमा को बूल्हा नाम से भी सम्बोधित किया गया है। करमचन्द जिनकी भार्या का नाम दिवचन्दही था, देवराज के पितामह थे। करमचन्द के तीन पुत्र हुए थे— महणा गैरवण और ताल्हू। इनमें महणा के चार पुत्र हुए थे—देवराज, झाझू बुगना और छुट्टा या छुटमल्लु। इन चारो की मां का नाम खेमाही था। देवराज और उनकी भार्या णोणाही से दो पुत्र हुए थे - हरिवश और रतनपाल। हरिवंश की भार्या का नाम मेल्हाही और रतनपाल की भार्या का नाम भूराही था। देवराज के छोटे भाई झाझू की चोखाही नाम की भार्या थी। इन दोनों के तीन पुत्र हुए थे— नागराज, गेल्हु और चाओ। नागराज की भार्या का नाम सूवटही था। देवराज के दूसरे छोटे भाई बुगना और उसकी भार्या डूगरही के चार पुत्र हुए थे—खेतसिंह, श्रीपाल, राजमल्ल और कुंभरपाल। देवराज के सबसे छोटे भाई जिन्हें संभवतः सबसे छोटा होने कारण छुट्टा छुटमल्लु कहा गया कहा गया होगा, उनकी भार्या का नाम फेराही था। इन दोनों के एक ही पुत्र हुआ था, जिसका नाम था दरगहमल्ल।

रोखण देवराज चौधरी के पिता महणा का अनुज

था इसकी भार्या का नाम था रामाही। इन दोनों के चार पुत्र हुए थे—मल्लु, चंदु वीणकंठ और लाउड़। इन चारों में मल्लु की कुलचंदही नाम की भार्या थी और इन दोनों के कीर्तिसिन्धु नाम का पुत्र हुआ था। चंदु की भार्या थी लूणाही। इन दोनों के मदनसिंह नाम का पुत्र हुआ था। वीणकंठ की पीमाही नाम की भार्या थी और नरसिंघु इनका पुत्र था। लाडण की भार्या का नाम था वीवो। इन दोनों के दो यत्र हुए थे—जोगा और लक्ष्मण। जोगा की भार्या का नाम था दीदाही और लक्ष्मण की भार्या का नाम था मल्लाही। लक्ष्मण और मल्लाही के होरू नाम का एक पुत्र हुआ था।

ताल्हू इस बश मे देवराज चौधरी का चाचा था। ताल्हू की भार्या का नाम बालाही था। इन दोनों के दो पुत्र हुए थे—पद्मकांत और देवदास। पद्मकांत की इच्छावती नाम की भार्या थी। इन दोनों के महदास नाम का पुत्र युआ था। देवदास की भार्या का नाम रुधारणही था। धणमलु देवदास का पुत्र था। धणमलु की गजमल्लाही नाम की भार्या थी। इन दोनों के बायमल्लु नाम का पुत्र हुआ था।

इस प्रकार इस वंश परम्परा मे देवराज चौधरी के पूर्व उनके प्रपितामह तक का नामोल्लेख मिलता है और बाद की पीढ़ी में तीसरी पीढि तक।[8] नामों में स्त्रियों के नाम 'ही' से अन्त हुए हैं। इस वश के सभी लोग चौधरी कहे गए हैं जिससे प्रतीत होता है कि सम्भवतः यह इस वंश के विरुद्ध रहा।

इस वंश परम्परा मे चचेव भाई के नाती का भी उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि यह रचना उनकी वृद्धावस्था में लिखी गई होगी। कवि रइधू कृत पंक्तियों का[9] अपनी रचना अमरसेन-चरिउ में उपयोग करने से[10] भी यही तथ्य प्राप्त होता है।

रचना काल :—इस ग्रन्थ के पूर्ण होने का समय वि० सं० १५७६ चैत्र सुदी पंचमी शनिवार, कृत्तिका नक्षत्र बताया गया है।[11] प्रस्तुत प्रति ग्रंथ की रचना की रचना पूर्ण होने के एक वर्ष बाद की प्रतिलिपि है। इसे विक्रम सवत् १५७७ की कार्तिक वदि रविवार के दिन कुरुजांगल देश के सुवर्णपथ (सोनीपत) नाम नाम के नगर में काष्ठासंघ के माथुरान्वय-पुष्करगण के भट्टारक गुणभद्र की आम्नाय में उक्त नगर के (सोनीपत) निवासी अग्रवाल वंशी, गोयल गोत्री, पौरदरी जिन पूजा (इन्द्रध्वज विधान) के कर्ता साहू छल्हू के पुत्र साहू बाटू ने इस अमरसेन चरित्र शास्त्र शास्त्र की प्रतिलिपि की थी।[12]

इस ग्रंथ की रचना रोहतक नगर में तथा प्रतिलिपि सोनीपत नगर में होने से यह प्रमाणित होता है कि सोनीपत के शास्त्रभण्डार में इस ग्रन्थ की प्रति अवश्य होगी। सोसीपत के धार्मिक पदाधिकारियों से निवेदन है कि लेखक को उक्त प्रति की उपलब्धि से अवगत कराने की कृपा करें।

विक्रम सं० १५७९ में रचित कवि की अपर कृति-नागसेन चरिउ से विदित होता है कि कवि के काल में शास्त्रों और शास्त्र-निर्माताओं का समादर था। शास्त्र पूर्ण लिखकर शास्त्र लिखाने वालों को जब हाथों में देते तब वे शास्त्रों को सिर पर चढ़ाते थे। उत्सव मनाते थे। और शास्त्र-निर्माताओं को वस्त्र, ककण, कुण्डल, मुद्रिकादि देकर बहु प्रकार से सम्मानित करते थे। कवि माणिक्कराज को भी ऐसा सन्मान प्राप्त हुआ था।[13] उस समय के लोगों की यह गुणग्राहिता सराहनीय है।

जैनविद्यासंस्थान, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

संदर्भ-सूची

१. देखिये जैन विद्या-स्वयभू विशेषांक (जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी द्वारा प्रकाशित) अप्रैल १९८४ में प्रकाशित लेखक का लेख—"स्वयम्भू-छन्द एक समीक्षात्मक अध्ययन।"

२. हुउ बहु सद्दत्थह सुइ णिहाणु।
खिइं दुद्धरु णिज्जिउ पंचवाणु॥
विपणाण कलालय पारुपत्त।
उद्धरिय भब्ब जे सम वि सत्त॥
संतइतयताहं मुणि - गच्छणाहु।
गयरायदोस संजइव साहु॥
जें ईरिय ग्रंत्थह कह पवीणु।
णियझाणें परमप्पयह लीणु।
तवतेयणियत्तणु कियउ खीणु।
सिरि खेमकित्त पद्धिहि प्रवीणु॥

सिरि हेमकित्ति जि हयउ णाणु ।
तहु पट्टवि कुमरविसेणु णामु ।।
णिग्गंथु दयालउ जइ वरिट्ठु ।
जि कहिउ जिणागम भउ सुट्ठु ।।
तहु पहिणि विहउ बुह पहाणु ।
सिरि हेमचन्दु मय तिमिरभाणु ।।
त यह धुरधरु वय पणीणु ।
वर पोमणंदि जो तवह खीणु ।।
तं पणविवि णियगुरु सीलखाणि ।
णिग्गंथु दयालउ अमियवाणि ।।
सन्धि १, कड़वक २, यमक ४।१३;

३. जि मच्छरु मोहु वि वि परिहरियउ ।
सुहयझाणि जे णियमणु धरियउ ।।
हेमचन्दु आयरिउ वरिट्ठउ ।
तहु सीसु नि तवतेय गरिट्ठउ ।।
पोमणांधर णादउ मुणिवरु ।
देवणांदि तछु सीसु महीवरु ।।
एयारह पडिमउ धारंतउ ।
रायरोसमयमोह हणंतउ ।।
सुहझाणें उवसमु भावतउ ।
णदउ वभलोलु समवतउ ।।
सन्धि ७, कड़वक ११, यमक ६-१०;

४. तह पासजिणेंदह गिहरवयण ।
वे पंडिय णिवसहि कणयवएण ।
गरुवउ जसमलु गुदागणनिहाणु ।
वीयउ लहुबंधउ तच्चजाणु ।।
सिरि संतिदासु गन्थत्थ जाणु ।
वच्चइ सिरि पारसु विमयमाणु ।।
वही, यमक ११-१३;

५. सिद्धत अत्थ भावियमणेण ।
पुरयण सुहयारउ सुरधघुणेण ।।
तंह दिट्ठउ पुणु सूरसइणिवासु ।
माणिक्कराजु जिणगुरहं दासु ।।
तेणवि सभासणु कियउ तासु ।
जो गोठि पचासइ बहुसुयासु ।।
तं जिण अचण पसरिय भुवेण ।
अविखउ वुह सूरा सांदणोण ।।
भो माणिक पडिय, सील अखडिय,
... .
सन्धि १, कड़वक ६, यमक ४-७, और घत्ता ६;

६. अनेकान्त : वर्ष १०, किरण ४-५ पृष्ठ १६० ।

७. तहिं णिवसइ पंडिउ सत्थखणि ।
सिरि जयसवाल कुलकमलतरणि ।।
इक्खाकुवस महियलि वरिट्ठु ।
वुहसूरा सांदणु सुयगरिट्ठु ।।
उप्पएणउ दीवा उरि खण्णु ।
वुह माणिकु णामे वुहहि मएणु ।।
आमेरशास्त्र भडार सम्प्रति जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी, वे० स० ५२१,

८. रुहियासु वि णामे भणिउ इहु ।
अरियण जणाह हिय सल्लु कहु ।।
अमरसेन चरिउ, सन्धि १, कड़वक ३, यमक ३;

९. रोहियासिपुरवासि सयललोउ सहणादउ ।
वही; सन्धि ७, घत्ता ११;

१०. वही : सन्धि १, कड़वक ३, यमक ४-१६ और घत्ता ३;

११. रइधू ग्रन्थावलि . पासणाहचरिउ : सन्धि १, कड़वक ३;

१२. आयरिय परम्परा जैत दुद्ध जिणचन्द वि सूरें सिद्ध लहु सुन्तु पिक्खि ललियक्खरेण मणि माणिक्कि किउ सुहगिरेण अमरसेनचरिउ : सन्धि ७, कड़वक १०, यमक ८-९,

१३. सुपमाए विरुद्धउ भासिउ ।
तं सरसइ महु खमहु भंडारी वीर जिणहो मुहणिग्गय सारी ।।
वही : कड़वक १५ यमक ७-८;

१४. णायकुमारचरिउ : वही, पत्र १२३-१२४; प्रशस्ति भाग ।

१५. हेमपोम आयरिय विसंसि वंभज्जु ण गुणगणिण णिहीसि मइ कस वहिय वण्ण धरेप्पिणु कव्वेसु वपणहु लोहवि देप्पणु ।।
अमरसेनचरिउ : सन्धि ७, कड़वक १५, यमक ९-१०;

१६. विरयउ एहु चरित्तु सुवुहढिए ।
जइयहु अत्थमन्थ हीणउ हुउ ।।
तामहु दोसु भव्वु म गछउ कोइं ।
विणवइ माणिकु कइ इम ।।
मझु खमंतु विवुह सव्वि तिम ।
अण्णु वि अमुणंते हीणाहिउ ।
मइ जलेण जं कायमि साहिउ ।
त जि खमउ सुयदेवि भंडारी ।
सिरि णायकुमार चरिउ : वही पत्र १२३-१२४ ।

"पांच अश्व"

□ डा० (कुमारी) सविता जैन

मैं समझी थी जब शान्त हुआ मन,—
तभी क्रोध की ज्वाला भभकी।
तन-मन झुलसा दावानल में,
और शिराएं तड़कीं-चटकीं ॥
लो, गिरा उगलने लगी विष-वचन,
वर्षों का संयम टूट उठा।
आँधी, पानी, तूफान को समता—
से सहने का भाव बह चला ॥
मैं समझी थी इन्द्रिय के घोड़े,
सभी कर चुकी हूं मैं बस में।
बड़ी शान से चढ़ बैठी थी,
पाँच अश्व वाले उस रथ में ॥
सहसा लगाम छूटी व्याकुल हो—
गिरी धरा पर अकुलाई।
विवेक बुद्धि लड़खड़ा उठी थी,
गिर कर उठने भी न पाई ॥
जिनको अब तक पुचकारा था,
आज मुझी पर हावी थे वे।
जिनको अब तक बाँध रखा था,
आज मुझे वे बाँध रहे थे ॥
तब समझी इन्द्रियों की ज्वाला,
बुझा न सकते सात समुन्दर।
हर छींटा पावक में घृत-सा,
और उन्हें नित उकसाता है।
तेज हवाओं के झोकों से,
और उन्हें नित भड़काता है ॥

7/35, दरियागंज, नई दिल्ली

(पेज २४ का मेषांश)

१७. यदर्थमात्रापदवाक्यहीनम, गयाप्रसादाद्यदि किंचनोक्तम् तन्मे क्षमित्वा विधातुदेवी सरस्वती केवल बोधलब्धिम् भावना द्वात्रिंशतिका : पद्य १०.

१८. अमरसेन चरिउ सन्धि १ कड्वक ४-५ मे देवराज की पूर्ववर्ती तीन पीढ़ियों का तथा सन्धि ७, कडवक १२, १३, १४, १५ में सम्पूर्ण वशावलि का सतिस्तार वर्णन किया गया है।

१९. रइधू ग्रंथावलि : पासणाहचरिउ; सन्धि १, कड्वक ३

२०. अमरसेनचरिउ : १. कड़वक ३ यमक ४-१६ और धत्ता ३।

२१. विक्कमरायहु ववगइ कालइं लेसु मुणीस वि सर अंकालइं धरणि सहु चइत वि माणें सणिवारें सुय-पंचमि दिवसे २१ कित्तिय णक्खत्तें सुप जोयं हुउ पुहुणउ सुत्तु विसुह जोय वदी : सधि ७ कड़वक १५ यमक १३-१५;

२२. अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्री नृप विक्रमादित्य गताब्द: संवत् (१५७७) वर्षे कार्तिक वदि ४ रवि दिने कुरु-जांगलदेशे श्री सुवर्णपथ शुभस्थाने श्री कालसंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्री यसाकीर्तिदेवा तत्पदे भट्टारक श्री मलयकीर्तिदेवा तत्पदे भट्टारक श्रीणभद्रसूरिदेण: तदाम्नायं अग्रवालान्वये गोइलगोत्रे सुवर्णपथि वाक्तव्यं। जिणपूजा-पौरन्दरी कृपवान् साधु छल्हू तस्य भार्या सीलतोयतरंगिणी साध्वी करमचंदही······चउ प्रकारादि दान दिसतु साधुवाद तेन इदं अमरसेण सास्त्र लिखायितं। ज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थं ॥ वही : अन्तिम पृष्ठ (प्रशस्ति)

२३. माणिक्कराज वज्जिय गएण तं पुण्णु करेप्पिणु एहु गथु टोडरमलहत्थें दियणु सुत्थु णियसिरहु चडाविउ तेण गथु पुण तुहइ ठोडर हियद् गंथि दाणें सेयं सह करपणु त पि पंडिउ वर यहहि कविउ तेण पुनपु सम्माणिउ बहु उच्छवेण वर वत्यइं कंकण कुण्डलेहिं अंगुलियहि मुहियणिय करेहिं पुज्जिउ आहारणहि पुणु तुरंतु छरिरोवि वि साज्जिउ वि णयणिरुत्तु मउ णिय घरि पंडिउ गंथु तेण जिणगेहि णियउ बहु उच्छवेण सिरिणायकुमार चरिउ : वही प्रशस्ति, यम १२३-१२४।

णमोकार मंत्र का फल

—पुण्यास्रव कथाकोश से

भरतक्षेत्र के यक्षपुर नाम के नगर में श्रीकान्त नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम मनोहरी था। इसी नगर में सागरदत्त वणिक् और रत्नप्रभा नाम की उसकी स्त्री थी। रत्नप्रभा की गुणवती नाम की एक कन्या थी। सागरदत्त उसका विवाह उसी नगर के रहने वाले नयदत्त के पुत्र धनदत्त के साथ करना चाहता था। परन्तु राजा ने आज्ञा दी कि तुम्हें उसका विवाह मेरे साथ करना पड़ेगा। अतएव विवाह नहीं हो सका।

नयदत्त की स्त्री का नाम नन्दना था। उसके गर्भ से दो पुत्र उत्पन हुए। जिसमें से एक उक्त धनदत्त था और दूसरे का नाम वसुदत्त था। वसुदत्त को राजा ने जंगल मे क्रीडा करते समय मार डाला। तब वसुदत्त के सेवकों ने गुस्से में आकर राजा को भी मार डाला। ये दोनों मर कर हरिण हुए। उधर धनदत्त विदेश को चला गया। अतएव वह गुणवती पुत्री आर्तध्यान से मरकर जहां वे हरिण उत्पन्न हुए थे, वहीं हरिणी हुई। आखिर उसी पर मोहित होकर वे दोनों हरिण आपस में लडकर मर गये, और जंगली शुअर हुए। हरिणी मरकर सूकरी हुई। सो वहां भी वे दोनों सूकरी के पीछे लड कर मरे और हाथी हुए। सूकरी मर कर हथिनी हुई। और इस पर्याय में भी पूर्व प्रकार से मर कर भैंसा, बन्दर, कुरबक, मेंडा आदि अनेक पर्यायों में उन दोनो ने भ्रमण किया। और वह गुणवती भी क्रम से उसी जाति की स्त्री होती गई, तथा उसी के निमित्त से वे दोनों लड़ कर मरते रहे।

एक बार गुणवती गंगा नदी के किनारे हथिनी हुई। सो एक दिन कीचड़ में फँसकर कठगतप्राणा हो रही थी कि इतने मे एक सुरग नाम का विद्याधर आया और उसने उसे **पंच नमस्कार मन्त्र** दिया। उसके फल से हथिनी शरीर छोडने पर मृणालपुर के राजा शम्बु के मन्त्री श्रीभूति की सरस्वती स्त्री के वेदवती नाम की कन्या हुई। एक दिन मृणालपुर में चर्या के लिए एक मुनिराज पधारे थे, सो वेदवती ने देखकर मूर्खतावश उनकी निन्दा की। इसके बाद उसके गले मे जब कोई रोग हुआ, तब लोगों ने कहा कि तूने मुनिराज की निन्दा की थी, यह उसी का फल है। वेदवती को इस बात पर विश्वास हो गया, अतएव मुनि-निन्दा के पाप से छूटने के लिए उसने श्राविका के व्रत धारण कर लिए। इसके पीछे वेदवती के यौवनवती होने पर राजा शम्बु ने उसके साथ विवाह करने की इच्छा की, और उसके पिता से याचना की। परन्तु राजा मिथ्यादृष्टि था, अतएव श्रीभूति ने अपनी श्राविका कन्या उसे देना अस्वीकार किया।

तब राजा ने कुपित होकर मन्त्री को मार डाला। वह मरकर स्वर्गलोक गया। और वेदवती कन्या "मेरे निरपराध पिता को राजा ने मारा है, अतएव जन्मान्तर में मैं उसके विनाश करने का निमित्त होऊंगी।" ऐसा निदान करके तपस्यापूर्वक शरीर त्याग किया और स्वर्ग में देवाङ्गना हुई। इसके बाद देवायु पूर्ण करके भरतक्षेत्र के दारुण ग्राम में सोमशर्म्मा ब्राह्मण की ज्वाला नाम की स्त्री के सरसा नाम की कन्या हुई। यह यौबनवती होने पर अतिविभूति नाम के एक ब्राह्मण पुत्र को व्याही गई, परन्तु पति के साथ थोड़े ही दिन रह कर किसी जार में आसक्त होकर उसे लेकर देशान्तर में निकल गई। मार्ग में एक मुनि के दर्शन हुए, सो पापिनी ने उनकी निन्दा की। इस महापाप के फल से मरकर उसने तिर्यंच गति पाई। बहुत काल भ्रमण करके वह एक बार चन्द्रपुर नगर के राजा चन्द्रध्वज और रानी मनस्विनी के चित्रोत्सवा नाम की पुत्री हुई। जवान होने पर मन्त्री के पुत्र कपिल पर आसक्त होकर उसके साथ परदेश को चली गई। परन्तु आखिर मत्रीपुत्र से भी नही बनी। उसे छोड़कर विदग्धपुर के राजा कुण्डलमडित की प्यारी स्त्री बनी। वहां पूर्व जन्म के सस्कार के कारण पाकर श्रावक के व्रत ग्रहण किये, और बहुत काल उनका शुद्धचित्त से पालन किया। आयु पूर्ण करके इस बड़े भारी पुण्य फल से वह दूसरे जन्म मे सीता सती हुई।

सीता के स्वयंवरादि का चरित्र पद्मचरित अर्थात् पद्मपुराण से (रामायण से) जानना चाहिए। यहां पर केवल इतना ही कहना है कि एक हथिनी ने भी नमस्कार मंत्र के प्रभाव से श्रीमती सीता सती सरीखी उत्तम पर्याय पाई। यदि अन्य सम्यग्दृष्टि मनुष्य महामंत्र का जप करें, तो क्या क्या वैभव न पावें? इसके प्रभाव से सब कुछ पा सकते हैं।

गतांक से आगे :

वर्धमान की तालीम

□ शायर फरोग नक्काश

नहीं है कुछ जियादा फर्क इन दोनों उसूलों में,
जरासा बोध[45] है कुछ इनके मानीयो-मतालिब[46] में।
इलावा इसके जैनी जोर देते हैं अहिंसा पर,
समझते हैं वो फाका[47] और उरियानी[48] को अफजलतर[49]।
जहां तक मोक्ष और निर्वाण का कुछ जिक्र आता है,
तो उसमें एख्तलाफ और बोध काफी पाया जाता है।
गरज ये मोक्ष ही तस्किने दिल का नाम है बेशक,
दिया पैगाम जिसका वर्धमां ने तीस सवत् तक।
इलावा इसके दोनों धर्म के यकसा मसाईल[50] है,
तनासुख[51], पारसाई[52] और नेकी से मुमासिल[53] है।
मुकद्दस वेद की तालीम से इंकार है इनको,
गिरोहे बरहमन की बर्तरी से आर है इनको।
वो इंसा के लिए नीच-ऊँच को कहते हैं एक लानत,
उन्हें भाती नहीं उनकी, खुदाराई[54] किसी सूरत।
छुआ-छुत और नस्ली बरतरी को जुल्म कहते हैं,
वो इस तर्जे तमदुन[55] से हमेशा दूर रहते हैं।
खुदा के मसअले पर भी ये दोनों चुप ही रहते हैं,
न कोई बात ही इस जिम्न[56] में वो मुह से कहते हैं।

जैन धर्म के दो फिरके

फिर उसके बाद जैनी धर्म में तब्दीलियाँ आयी,
घटाए इख्तलाफ और तफ्रिके[57] की खूब मंडराई।
करीबन सेहसदी पहले जनाबे इब्ने मरियम के,
बने दो तायफे[58] इनमें कफे नैरंगे[59] आलम से।
है एक फिरका दिगंबर दूसरा श्वेतांबर नामी,
बटे दो तायफे में इनके सब हमदर्द और हामी।
दिगंबर तायफे के मोतकिद[60] है जिस कदर जैनी,
परस्तीश करते हैं उरियां बुतों की और संतों की।
बिगर इसके जो है श्वतांबर फिरका वो है सानी,
नहीं है इसमें पहले तायफे की तरफ उरयानी।
मुकद्दस संत उनके सित्रे अबियज पहने होते हैं,[61]
हमा[62], लहजा, तजल्ली[63] अपने सीने में समोते हैं।
बुतों को अपने पहनाता है मलबूसात[64] ये फिर्का,
निहायत साफो-शुस्ता रखता है जज्बात ये फिर्का।
मईशत[65] कि बिना इस कौम की काफी है मुस्तहकम,[66]
बिनाए फारेगुल बाली[67] है वजहे तर्ज[68] हो, अहेकम[69]।
है इस मजहब के ८० लाख इंसा आज भारत में,
जो अपने आप को मसरुफ रखते है तिजारत में।
मगर ये तायफा भी रफ्ता-रफ्ता दौरे आखीर में,
पुरातन धर्म का एक जुज्वे है अब ये अस्रे हाजिर में।

प्रस्तुति—डा० शालिग्राम मेश्राम

---

४५. दूरी, ४६. मतलब, ४७. भूखा रहना, ४८. निर्वस्त्र, ४९. बहुत अच्छा, ५०. समस्याएँ, ५१. आवा गमन, ५२. नेकी, ५३. समान, एकरूप, ५४. अपने आपको अच्छा समझना, ५५. रहन-सहन, ५६. मिला हुआ, ५७. फूट, शत्रुता, ५८. गिरोह, ५९. समय की आंधी में ६०. धर्म पर विश्वास रखने वाले, ६१. सफेद कपड़े, ६२. हर वक्त, ६३. ईश्वर की रोशनी, ६४. कपड़े, ६५. कारोबार, ६६. बहुत मजबूत, ६७. खुशहाली, ६८. तिजारत ६९. मजबूत।

सम्पादकीय भेंट :

१. मूल-संस्कृति : अपरिग्रह :

'परस्परव्यतिकरे सति येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्–' परस्पर में मिले हुए अनेकों में, जो हेतु किसी एक की स्वतंत्ररूपता को लक्षित कराता है वह उस जुदे पदार्थ का लक्षण होता है। जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता। उष्णता अग्नि को पानी से जुदा बताने में हेतु है। ससार में जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, मुस्लिम, सिख आदि अनेको मत-मतान्तर प्रचलित हैं, उन सबकी पृथक्-पृथक् पहिचान कराने के उनके अपने-अपने लक्षण निश्चित हैं, जिनसे उनकी पृथक् पहिचान होती है। यह बात निर्विरोध है कि जैनों की पहिचान कराने मे 'अपरिग्रह' मुख्य हेतु है। यह हेतु जैनो का अन्यों से व्यवच्छेद कराता है। गत अको में हमने लिखा था 'जैन-सस्कृति अपरिग्रह मूलक' है और यही अपरिग्रह रूप संस्कृति जैनों का अन्यों से व्यवच्छेद कराती है—जैनों की पहिचान कराती है। साधारणतया अपरिग्रह के सिवाय अन्य शेष धर्मों—अहिंसादि में वह शक्ति नही जो वे जैनो का अन्य मत-मतान्तरो से सर्वथा व्यवच्छेद कराने में समर्थ हो सकें। यत: अपरिग्रह के सिवाय अन्य अहिंसादि शेष धर्म अन्य सभी साधारण मत-मतान्तरों में हीनाधिक रूपो में पाए जाते हैं। अत: जैनों में उनका अस्तित्व तात्त्विक पहिचान के रूप म विशेष महत्व नही रखता और ना ही उनमे से कोई धर्म औरो से जैनों की अलग पहिचान कराने में समर्थ ही है। तथा जैनों की हर क्रिया में पूर्ण अपरिग्रहत्व की भावना निहित है। यहां तक कि जैन का अस्तित्व भी अपरिग्रह पर आधारित है। यत:—

'जैन' शब्द के निष्पन्न होने में 'जिन' की मुख्यता है। जो 'जिन' का है वह 'जैन' है और जो जीत ले वह 'जिन' है। यहां जीतने से तात्पर्य मोह, राग-द्वेषादि पर-वैभाविक भाव अर्थात् कर्मों के जीतने से है। क्योंकि ये मोहादि पर-भाव स्वयं भी परिग्रह हैं और परिग्रह के मूल भी हैं। हमने श्रावक व मुनियों के दैनिक कृत्यों को पढ़ा है और उनके प्रारम्भिक कृत्यों को देखा है। नित्य नियम सामायिक आदि के लक्षणों में भी अपरिग्रह-भावना की कारणता विद्यमान है अर्थात् जब तक रागादि-परिग्रह के प्रति उदासीन भाव नही होगा तब तक सामायिक न हो सकेगी। जहां पर—परिग्रह से निवृत्ति और स्व यानी अपरिग्रहत्वरूप निर्विकार स्व-परिणाम में ठहराव है वही सामायिक है और वह ही आत्म-शुद्धि मे कारण है। जब तक जीव की पर-प्रवृत्ति बनी रहेगी, चाहे वह प्रवृत्ति अहिंसादि में ही क्यों न हो? वह बन्ध का ही कारण होगी क्योकि अहिंसादि धर्म भी पर-अपेक्ष कृत हैं, पर के आसरे से है। स्व-परिणाम 'अपरिग्रह' रूप होने से बन्ध का कारण नही। अहिंसादिक सामाजिक धर्म हैं और अपरिग्रह आत्मिक धर्म है जिसका 'जिन' और जैन से तादात्म्य संबन्ध है।

युग के आदि प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर भ० महावीर तक चौबीस तीर्थंकर और अरहन्त अवस्था व मुक्ति को प्राप्त असख्य सिद्ध अपरिग्रही होने से ही पूर्णता को पा सके। एक भी दृष्टान्त ऐसा नही है जिससे परिग्रही का मुक्त होना सिद्ध हो सके।

जैनों में जो दिगम्बर, श्वेताम्बर जैसे दो भेद पड़े हैं वे परिग्रह और अपरिग्रह के कारण ही पड़े हैं। ऐसा मालुम होता है कि जिन्होंने अपरिग्रह पर समन्तत: और सूक्ष्म दृष्टि रखी वे दिगम्बर और जिन्होने अपरिग्रह पर स्थूल, एकांगी बाह्य-दृष्टि रखी वे श्वेताम्बर हो गए। स्मरण रहे जहां दिगम्बर अन्तरंग-बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रह त्याग पर सूक्ष्म रूप में जोर देते हैं, वहां श्वेताम्बर बाह्य परिग्रह को गौण कर केवल अन्तरंग परिग्रह को मुख्यता देते हैं और इसीलिए उनमें स्त्री और सवस्त्र मुक्ति को मान्यता दी गई है। यदि इन भेदों के होने में अहिंसादि को लेकर मत-भेद की बात होती तो उसका

कहीं तो कैसे भी उल्लेख होता—जैसा कि नहीं है। दोनों में ही अहिंसादि चार धर्मों के लक्षणो और उनके रूपों की मान्यता में एकरूपता है। यदि भेद है तो परिग्रह और अपरिग्रह के लक्षणों को लेकर ही है।

दोनों संप्रदायों मे दो श्लोक बड़े प्रसिद्ध है। उनमें दिगम्बर-सम्प्रदाय मे शास्त्र वाचन के प्रारम्भ मे पढ़ा जाने वाला मंगलश्लोक पूर्ण-अपरिग्रही होने के रूप में नग्न दिगम्बराचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य को नमस्कार करता है जब कि श्वेताम्बरों में इस श्लोक का रूप सवस्त्र (दिगम्बरों की दृष्टि मे परिग्रही) आचार्य स्थूलभद्र को नमस्कार रूप में है। तथाहि—

दिगम्बरों मे :—

मगलं भगवान वीरो मगलं गौतमोगणी।
मगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मगलम्॥

श्वेताम्बर :—

मंगलं भगवान वीरो मगलं गौतमोप्रभु।
मंगल स्थूलभद्रार्यो जैन धर्मोऽस्तु मगलम्॥

उक्त श्लोको से यह भी ध्वनित होता है कि महावीर और गौतमगणधर के पर्याप्त समय बाद तक अभेद रहा और बाद में अपरिग्रह, परिग्रह के आधार पर नग्न और सवस्त्र साधु के भिन्न-भिन्न नामों से श्लोक प्रचलित किया गया, जो कुन्दकुन्द और स्थूलभद्र के रूप में हमारे सामने है। श्लोको में महावीर और गौतम के नाम यथावत एक रूप है। इसी के आधार पर दिगम्बर कभी सवस्त्र को निर्ग्रन्थ-गुरु के रूप में नमस्कार नहीं करते। और वैसा मगलाचरण भी नही करते अब जैसा कोई-कोई करने लगे हैं जो ठीक नही है।

अपरिग्रह धर्म अध्यात्मरूप भी है जो आत्मा के पर-भिन्न—नग्न—शुद्धस्वरूप को दर्शाता है। इसी अपरिग्रही रूप की प्राप्ति के लिए जिनशासन मे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और सामायिक के विधान हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ होता है—आत्मा के प्रति आना। प्रत्याख्यान का अर्थ होता है—पुनः 'पर' में न जाना और सामायिक का अर्थ होता है—अपने में स्थिर होना। यह जो कहा जा रहा है कि अशुभ से हटकर शुभ में आना आदि, सो सब व्यवहार है।

(१) **प्रतिक्रमण** :—परिग्रह से आवृत प्राणी पुनः-पुनः परिग्रह—राग-द्वेषादि रूप पर-भावों मे दौड़ता है अर्थात् वह स्व से बेखबर हो जाता हैं और पुण्य-पापरूप या ससारवर्द्धक पर पदार्थो में वृत्ति को ले जाता है। ऐसे जीव को उन परिग्रह—कर्मबंधकारक क्रियाओं से सर्वथा हटकर पुनः अपने शुद्ध अपरिग्रही आत्मा में आने के लिए प्रतिक्रमण का विधान किया गया है। इसमे पर-प्रवृत्ति का सर्वथा निषेध और स्व-प्रवृत्ति (जो शुद्ध यानी अपरिग्रह रूप है) में आने का विधान है।

(२) **प्रत्याख्यान**—जो जीव पर से स्व में आ गया, वह पुनः पर मे न जाने को कटिबद्ध हो, यानी पुनः परिग्रहरूप—कर्मबंधकारक क्रियाओं मे न जाने मे सावधान हो? इससे उसका आगामी ससार- परिग्रह यानी कर्म-बंधरूप संसार रुकेगा।

(३) **सामायिक**—प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान मे सन्नद्धजीव सम—समता भाव में स्थिर होने में समर्थ हो सकेगा। क्योकि समता का शुद्ध-आत्मा से अटूट सम्बन्ध है। समता का भाव है—किसी अन्य के प्रति शुभ या अशुभरूप—पर भावो का सर्वथा त्याग। क्योंकि शुभ और अशुभ भाव- चाहे वे विभिन्न जीवों में एक जैसे ही क्यों न हो बन्ध कारक होंगे, जब कि सच्ची सामायिक में आस्रव व बंध दोनों का सर्वथा अभाव यानी आत्मा के अपरिग्रही होने का पूर्ण उद्देश्य है। इसी सामायिक से ध्यान और कर्मक्षय को बल मिलता है। इस प्रकार जैन की सभी प्रवृत्तियां अपरिग्रहत्व की ओर मुड़ी हुई हैं जब कि अहिंसादि अन्य धर्मों मे पर का अवलम्ब अपेक्षित है। ध्यान के विषय में भी कुछ लिखना है जिसे हम फिर कभी लिखेंगे। ध्यान की प्रक्रिया आज जोरों से प्रचारित है और उसमें पर-प्रवृत्ति ही विशेष लक्ष्य बनी हुई है!

२. आगम-विपरीत प्रवृत्तियाँ :

क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीव मिथ्यात्वरूप भाव और मिथ्या आचरण से सर्वथा दूर रहता है। ज्ञात हुआ है कि

श्री कान जी स्वामी जब जीवित थे, तब श्री चम्पाबेन को क्षायिक सम्यग्दृष्टी के खिताब से प्रसिद्धि मिली थी और उन दिनों यह बात बहुत लम्बे समय तक बहुत से उन मनीषियों को भी पता थी जो आज श्री चंपाबेन के कार्य का विरोध कर रहे हैं। उन्हे तभी सोचना चाहिए था कि इस युग मे क्षायिक सम्यग्दृष्टी कहां और उस सम्यग्दृष्टी को पहिचान करने वाला कौन? पर तब न सोचा और सब मौन रहे। हमने समझा 'मौन सम्मति लक्षणम्'। जब ऐसा ही था तब वह क्षायिक सम्यग्दर्शन छूट कैसे गया जो श्री चपाबेन से सूर्यकीर्ति जैसे कल्पित तीर्थंकरे की मूर्ति का निर्माण करा रहा है। और पूरी समाज मे क्षोभ का वातावरण बन रहा है। अथवा क्या यह समझ लिया जाय कि श्री चम्पाबेन पर 'मिथ्यादर्शन बन्ध का कारण नही' इस मान्यता का प्रभाव पड़ गया है जो वे कल्पित भावी तीर्थंकर सूर्यकीर्ति की मूर्ति स्थापन जैसे मिथ्याकार्य में लग गई हैं—उन्हें कर्मबन्ध का भय नही रहा है। स्मरण रहे कभी यह चर्चा जोर पकड़ गई थी कि 'मिथ्यादर्शन बन्ध का कारण नही।'

कल्पित भावी तीर्थंकर सूर्यकीर्ति की मूर्ति के स्थापन का प्रसंग आगम के सर्वथा विरुद्ध है और अब हमारे बड़े-बड़े विद्वान भी ऐसा लिख रहे हैं। इस नाम के किसी भी तीर्थंकर का किसी भी शास्त्र मे उल्लेख भी नही है और श्री चम्पावेन आगे-पीछे के भवो को जानती है यह बात भी सर्वथा मिथ्या है। अतः सूर्यकीर्ति की मूर्ति और श्री चंपावेन दोनों का घोर विरोध होना चाहिए—समाज ने उचित कदम उठाया है। कल को साधारण लोग भी ऐसा कह सकते हैं कि हम भी स्वयं तीर्थंकर हैं, हमें स्वप्न आया है और आगे-पीछे के भव ज्ञात हुए हैं। क्योंकि अब उन्हें अपने को भूत-भावी का ज्ञाता सिद्ध करने के लिए, श्री चंपावेन की माफिक किन्हीं प्रमाणान्तरों की आवश्यकता नहीं रह गई—वे भी स्वयं ज्ञाता हैं—जैसे श्री चम्पाबेन। अतः विरोध और भी जरूरी है, जिससे भावी मार्ग दूषित न हो।

हम यह सोचने को भी मजबूर हैं कि उक्त मूर्ति के विरोध में समाज को कहां तक सफलता मिल सकेगी? हम चाहते हैं कि सफलता मिले। पर, पिछले कई रिकार्ड ऐसे हैं जिनमें समाज को मुंह की खानी पड़ी है और ऐसे प्रसंगों में समाज विभाजित होता रहा है। प्रमाणरूप में सर्व साधारण मुनियों की मूर्तियों का स्थापित होना हमारे समक्ष है, आज मुनियों की मूर्तियां जोरों से बनने लगी हैं, जो आगम के सर्वथा विरुद्ध है—कोई उसे रोक नहीं पा रहा है। ऐसे ही समाज में कितना ही दूषित साहित्य प्रकाशित हो रहा है और विद्वानो के प्रभूत विरोध के बाद भी उसमे कोई सुधार नही हो रहा? इसका अर्थ क्या हम ऐसा लें कि जो हमारा है वह ठीक है और जो दूसरे का है वह मिथ्या है?'

पिछले समय मे हम धर्म-चक्रप्रवर्तन, मंगल कलश-भ्रमण और ज्ञान-ज्योति के भारत-भ्रमण को देख चुके हैं। हम नही समझते कि इनसे जैन तत्त्वज्ञान और जैनाचार का मूर्तरूप कहीं उभर कर आया हो—सब जहां के तहां हैं या अधिक गिरावट की ओर जा रहे हैं। हां, इनसे अर्थ का दुरुपयोग और अर्थ सग्रह अवश्य उभर कर सामने आये हैं—शायद कुछ वर्ग अपने लिए सपत्ति भी जुटा सका हो। यही अवस्था बड़ी-बड़ी कान्फ्रेंसों, सेमिनारों आदि की है। लोगों को तो ये सब ऐसे हैं जैसे कोई तमाशा दिखाने वाला जादूगर आए, मजमा इकट्ठा करे और जादू के करिश्मे दिखा कर चला जाए और लोगो को जादू विद्या का कुछ ज्ञान पल्ले न पड़े वे मात्र मन बहलाव—थोड़ी-सी देर की मन-तुष्टि कर लें, कि बहुत अच्छा हुआ। अन्ततः खाली के खाली। विविध लोग आए और गए। सब पैसे का खेल है। साधारण को इनसे लाभ नहीं।

हम अभिनन्दनों और जयन्तियों के भी पक्ष में नहीं हैं। इन्हें भी लोग प्रसिद्धि और मान-बड़ाई के लिए करते या करवाते हैं। नतीजा जो होता है वह श्री चम्पावेन के मूर्ति-स्थापन कार्यक्रम के रूप में सामने है। यतः अभिनन्दित व्यक्ति प्रशंसा में फूल जाते हैं और अपने को भगवान जैसा मान कर मनमानी पर उतर आते हैं ऐसा भी देखा गया है। अतः अभिनन्दनों के अतिरेक बन्द होने चाहिए।

हमें हर्ष है कि अब इन्दौर ने श्रावकाचार वर्ष मनाने

का संकल्प किया है और वह भारत में श्रावक तैयार करने का बीड़ा उठा रहा है। पर, यह भी सोच लेना चाहिए कि हमारे प्रचारक नेताओं में ऐसे सच्चे श्रावक कितने होंगे जिनकी जनता पर श्रावकाचाररूप में छाप पड़ेगी ? कोरे साहित्य वितरण से प्रचार हो सकेगा—यह बात भी तब तक अधूरी जैसी है—जब तक प्रचारकों में कुछ स्वयं आचार के मूर्तरूप न बनें। इन्दौर वाले मूर्त-आचार देने में सफल हों, ऐसी हम कामना करते हैं उनके इस सत्प्रयास मे हम उनके साथ हैं। काश, कुछ हो सके ?

३. शोध-खोज और हमारा लक्ष्य :

शोध की दिशा बदलनी होगी। आज जो जैसी शोध हो रही है और जैसी परिपाटी चल रही है, उससे धर्म दूर-दूर जाता दिखाई दे रहा है। यह ठीक है कि जैनधर्म शोध का धर्म है पर उसमे शोध से तात्पर्य आत्म-शोध (शोधन) से है, न कि जड़ की गहरी शोध से। जड़ की गहरी शोध तो आज बहुत काल से हो रही है और इतनी हो चुकी है कि दुनियां विनाश के कगार तक जा पहुंची है—परमाणु-खतरा सामने है। प्रकारान्तर से हम जैनी भी आज जो खोजें कर रहे हैं, वे पाषाण और प्राचीन लेखन आदि की खोजें भी सीमाओं को पार कर गई हैं। उनसे हमारे भण्डार तो भरे, पर हम खाली के खाली, जहां के तहां और उससे भी गिरे बीते रह गए और आत्म-लक्ष्य न होने से किसी गर्त मे जा पहुंचे। यदि यही दशा रही तो एक दिन ऐसा आयगा कि कोई उस गर्त को मिट्टी से पूर देगा और हम मर मिटेंगे—जैनी नाम शेष न रहेगा—मात्र खोज की जड़ सामग्री रह जायगी। या फिर क्या पता कि वह भी रहे न रहे। पिछले कई भण्डार तो दीमक और मिट्टी के भोज्य बन ही चुके हैं।

प्राचीन पूर्वाचार्य बड़े साधक थे उन्होंने स्वय को शुद्ध किया और खोजकर हमें आत्म-शुद्धि के साधन दिए। आज भण्डारों से पूर्वाचार्यों कृत इतने ग्रंथ प्रकाश में आ चुके है कि अपना नया कुछ लिखने-खोजने की जरूरत ही नहीं रही। हम प्रकाश में आए हुए मूल ग्रंथों का तो जीवन मे उपयोग न करें और मनमानी नई पर-खोजो में जुटे रहें, वह भी दूसरों के लिए। यह कहां की बुद्धिमानी है ? हमें अपने जीवन में आचार पर बल देना ही हमारी सच्ची खोज होगी।

यह हम पहिले भी लिख चुके हैं और आज भी लिख रहे हैं कि यदि वास्तव में शोध-खोज का मार्ग प्रशस्त करना है तो हम शुद्ध पंडित परम्परा को जीवित रखने का प्रयत्न करें—जिससे हमें भविष्य में आत्म-शोध का मार्ग मिलता रहे। आचार्यों द्वारा कृत प्राचीन शोधों से हमें वे ही परिचित कराने में समर्थ हैं। इसमें अत्युक्ति नही कि भविष्य में पूर्वाचार्यों द्वारा शोधित ऐसे जटिल प्रसंग हमें सरल भाषा मे कौन उपस्थित करा सकेगा, जैसे प्रसंग आयु के उतार पर बैठे हमारे विद्वानों ने जुटाए हैं। षट्खंडागम—धवलादि, समयसार, षट्प्राभृत संग्रह, बंध-महाबंध तथा अन्य अनेक आगमिक ग्रंथों के प्रामाणिक हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत करने वाले इन विद्वानों को धन्य है और इनकी खोजें ही सार्थक है। हमारा कर्तव्य है कि उन ग्रन्थों का लाभ लें—उन्हें आत्म-परिणामों में उतारें और आगामी पीढ़ी को उनसे परिचित करायें। बस, आज इतनी ही शोध आवश्यक है और यही जैन और जैनत्व के लिए उपयोगी है—अन्य शोधें निरर्थक हैं। वरना, देख तो रहे हैं—जैनियों के ढेर को आप। शायद ही उसमें से किसी एक जैनी को पहिचान सकें आप।

एक सज्जन बोले—हमें याद है, जब हमने एम. ए. कर लिया तो हमारे सामने भी कई हितैषियों द्वारा शोध-प्रबंध लिखकर डिग्री प्राप्त कर लेने की बात आई थी और चाहते तो हम डिग्री ले भी सकते थे। पर, हमने सोचा—शोध तो आत्मा की होनी चाहिए। प्रयोजनभूत तत्त्वों और आगमिक कथनों को तो आचार्यों ने पहिले ही शोध कर रखा है। क्यो न हम उन्हीं से लाभ लें ? यदि हमने प्रचलित रीति से किसी नई शोध का प्रारम्भ किया तो निःसन्देह हमारा जीवन उसी मे निकल जायगा और अपनी शोध—आत्म-शोध कुछ भी न कर सकेंगे। बस, हमने उसमें हाथ न डाला। अब यह बात दूसरी है कि परिस्थितियों वश हम अपनी उतनी खोज न कर सके, जितनी चाहिए थी। फिर भी हमें सतोष है कि हम जो हैं, जैसे हैं, ठीक हैं। पूर्वाचार्यों की शोध में संतुष्ट, आस्थावान और विवादास्पद एकांगी शोधों से दूर।

क्या कहें ? शोध और संभाल की बातें ? एक दिन एक सज्जन आ गए। बातें चलती रहीं कि बीच में—बिखरे वैभव की रक्षा और शोध का प्रसंग छिड़ गया। वे बोले—पंडित जी, क्या बताएं ? मैं अमुक स्थान पर गया। कितना मनोरम पहाड़ी प्रदेश है वह, कि क्या कहूं ? मैंने देखा वहां हमारी प्राचीन सुन्दर खंडित-अखडित मूर्तियों का वैभव बिखरा पड़ा है, कोई उसकी शोध-संभाल करने वाला नही—बड़ा दुख होता है इस समाज की ऐसी दशा को देखकर। वे चेहरे की आकृति से, अपने को बड़ा दुखी जैसा प्रकट कर रहे थे, जैसे सारी समाज का दुख-दर्द उन्हीं ने समेट लिया हो।

बस, इतने में क्या हुआ कि सहसा उन्होंने पाकिट से सिगरेट निकाली, माचिस जलाने को तैयार हुए कि मुझसे न रहा गया—मन ने सोचा, वाह रे इनका प्राचीन वैभव। वचनों ने तुरन्त कहा—'कृपा करके बाहर जाकर पीजिए।' वे सहमे। जैसे शायद उस क्षण उन्हें अपनी शोध-संभाल का ध्यान आया हो—क्षण भर के लिए ही सही। वे विरमत हुए और बात समाप्त हो गई। मैंने सोचा—काश, ये अन्य शोध-संभालो के बजाय आत्म-शोध करते होते। आप इस प्रसंग में कैसा क्या सोचते हैं, जरा सोचिए।

जब देश मे हिंसा का वातावरण बन रहा है, लोग मछली-पालन और पोल्ट्रीज फार्म कायम करने जैसे धन्धों द्वारा जीवो के वध में लगे हैं तब कुछ लोग उस वध के निषेध में भी लगे हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो पशु-पक्षियों पर रिसर्च कर ग्रन्थों के निर्माण मे लगे हैं। गोया, अनजाने में वे मांस-भक्षियों को विविध जीवो की जानकारी दे रहे हों, क्योंकि परमाणु खोज की भांति उसमें भी जीवरक्षा की गारण्टी नही है—मांस भक्षी ऐसी जानकारी का दुरुपयोग भी कर सकते हैं। हमने बहुत से आफसैट पोस्टरो को देखा है, जो प्लेट पर अण्डे की जर्दी लगाकर छापे जाते हैं। अहिंसा के पुजारी बनने वाले कतिपय प्रचारक इसी विधि के पोस्टर बनाने-बनवाने में सन्नद्ध हैं, आदि।

एक सज्जन हैं जो हमें बारम्बार लिख रहे हैं कि अमुक विषय पुराना है, ये सन् ४१ मे छपने के बाद दुबारा छप गया है—इसका आप प्रतिवाद करे आदि। हम नही समझ पा रहे कि किसका समर्थन करें और किसका प्रतिवाद करें। हम तो उत्तम लेख देना चाहते है। हमें खुशी है कि हमारी कमेटी उपयोगी व शोधपूर्ण लेखों के लिए कुछ पुरस्कार देने पर भी विचार कर रही है। शायद इससे आत्मोपयोगी और चारित्र की दिशा में ले जाने वाले लेख मिल सकें

एक हितैषी ने लिखा है—आप ने अनेकान्त को पुनरुज्जीवित किया है, इसे स्व० मुख्तार साहब के स्तर तक पहुंचाना है—इसे आध्यात्मिकता दें। कुछ लोग चाहते हैं—इसे सरल और बालोपयोगी बनाया जाय—जैसे कुछ चित्र कथाए आदि आदि। हमें सभी को आदर देना है।

लोक भिन्न-भिन्न रुचि वाला है जो जैसा चाहता है, ठीक है—अपनी-अपनी दृष्टि है। पर, हमें यह मानकर चलना चाहिए कि सभी महावीर नही हो सकते और न सभी मुख्तार सा०। महावीर भगवान थे और मुख्तार सा० स्वाश्रित, स्वाधीन। उनके युग में जो जैसा हुआ, उचित हुआ। हमें भी युगानुरूप उचित करना चाहिए। हमारी दृष्टि तो आज चारित्र पर बल देने और सैद्धान्तिक विषयों के प्रतिपादन की है। ये जो हमारी अर्थ के प्रति दौड़ है उसे सीमित होना चाहिए। ऐसा न हो कि धर्म-मार्ग सर्वथा ही अर्थ-मार्ग बन जाय और धर्म शिथिल हो जाय—जैसा कि आज हो रहा है। कई लोग तो स्वय को अर्थ लाभ न होने पर सस्थाओ की बुराई करने तक पर उतर आते देखे गये हैं। खेद !

हम निवेदन कर दें कि यह अनेकान्त के ३७वें वर्ष की अंतिम किरण है। इस बीते वर्ष मे हम स्खलित भी हुए होगे जिसका दोष हमारे माथे है। हम यह भी जान रहे हैं कि जो मोती चुनकर हम देते रहे हैं उनके पारखी थोड़े ही होंगे। एक-एक मोती चुनने में कितनी शक्ति लगानी होती है इसे भी कम लोग ही जानते होंगे। धर्म और तत्त्वज्ञानशून्य वर्ग तो हमारे कार्य को निष्फल मानने का दुःसाहस भी करता होगा। पर, इसकी हमें चिंता नही। यतः सभी हंस नही होते। हाँ, एक बात और, अब तक हमारे संपादक मंडल, महासचिव, संस्था की कमेटी आदि ने हमे पूरा २ सहयोग दिया है। लेखकों के सहयोग से तो पत्रिका को जीवन ही मिलता रहा है। हम सभी के आभारी हैं।

वीर सेवा मन्दिर की वर्तमान कार्यकारिणी

१.	साहू श्री अशोक कुमार जैन	अध्यक्ष	६, सरदार पटेल मार्ग, नई दिल्ली
२.	न्यायमूर्ति श्री मांगीलाल जैन	उपाध्यक्ष	३०, तुगलक क्रीसेन्ट, तुगलक रोड, नई दिल्ली
३.	श्री गोकुल प्रसाद जैन	उपाध्यक्ष	३, रामनगर (पहाड़गंज) नई दिल्ली
४.	श्री सुभाष जैन	महासचिव	१६ दरियागंज, नई दिल्ली-२
५.	श्री चक्रेशकुमार जैन	सचिव	३, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
६.	श्री बाबूलाल जैन	,,	२/१०, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली
७.	श्री नन्हेंमल जैन	कोषाध्यक्ष	७/३५, दरियागंज, नई दिल्ली
८.	श्री इन्दरसेन जैन	सदस्य	४, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
९.	श्री ओमप्रकाश जैन	,,	२३, दरियागंज, नई दिल्ली
१०.	श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन	,,	बी-४५/४७, कनाट प्लेस, नई दिल्ली
११.	श्री भारतभूषण जैन	,,	१, अंसारी रोड, नई दिल्ली
१२.	श्री बिमल प्रसाद जैन	,,	अजित भवन, २१-ए, दरियागंज, नई दिल्ली
१३.	श्री अजित प्रसाद जैन	,,	,, ,, ,,
१४.	श्री अनिल कुमार जैन	,,	२७७० कुतुब रोड, सदर, दिल्ली
१५.	श्री रत्नत्रयधारी जैन	,,	५, अल्का जनपथ लेन, नई दिल्ली
१६.	श्री दिग्दर्शन चरण जैन	,,	ज्ञान प्रकाशन, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
१७.	श्री मल्लिनाथ जैन	,,	१, दरियागंज, नई दिल्ली
१८.	श्री मदनलाल जैन	,,	सी ६-५८, डवलपमेंट एरिया सफदरजंग, नई दिल्ली
१९.	श्री दरयाव सिंह जैन	,,	७/२३, दरियागंज, नई दिल्ली
२०.	श्री नरेन्द्र कुमार जैन	,,	४८४१-ए/२४ दरियागंज, नई दिल्ली
२१.	डा० दरबारी लाल कोठिया	,,	प्लाट नं० ४, भोगावीर कालोनी लंका, वाराणसी

नोट—क्रमांक १५ का दि० २२-१०-८४ को स्वर्गवास हो गया।

[आवरण दो का शेष]

यदि प्रचार की प्रक्रिया को सफल बनाना है तो धनिकवर्ग को भी यश-लिप्सा और पद-लोलुपता से विरक्त होना होगा और ऐसे विद्वानों को तैयार करने में धन लगाना होगा जो मन वचन-काय सभी भांति से धर्म की मूर्ति हों—जिनके आचार-विचार सभी में जिनवाणी मूर्त हो और जिन्हें अर्थ के लिए परमुखापेक्षी न होना पड़े। जब तक धन के ऊपर ज्ञानका प्रभुत्व था तब तक धर्म की बढ़वारी रही और जिस दिन से ज्ञान के ऊपर धन का प्रभुत्व हुआ; धर्म पंगु होता चला गया। अतः—बन्धुवर, आवश्यकता इस बात की है कि समाज मे सच्चे विद्वान, त्यागी और निःस्पृही तत्त्वों को बढ़ाया जाय, उन्हें प्रश्रय दिया जाय और उनसे मार्ग दर्शन लिया जाय। विद्वानों का भी कर्तव्य है कि वे अपने आचार में दृढ़ रह जिनवाणी की उपासना के श्रम को सार्थक करें और धर्म की बढ़वारी करें चाहे सर्वस्व अर्पण ही क्यों न करना पड़े। आशा है, हमारी और समाज की दिशा बदलेगी और सभी इसी भांति वह सब कुछ पा सकेंगे जिसकी उन्हें चाह है। इससे यश चाहने वालों को अटूट यश मिल सकेगा और स्व तथा पर सभी को सुख और शान्ति भी।

—सम्पादक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० । १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७ ००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो । पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते ।

सम्पादक परामर्श मण्डल-- डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक— श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक— बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३८ : कि० १ जनवरी-मार्च १९८५

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

विद्वानों के आशिष

श्री पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री :

'अनेकान्त' अच्छा निकल रहा है। सामग्री भी उसमें यथेष्ट रहती है। इसी प्रकार से जितने भी शोध-खोज पूर्ण लेख उसमें समाविष्ट हो सकें अच्छा है। मैं 'अनेकान्त' के उत्कर्ष को चाहता हूं।

डा० कस्तूरचन्द्र जैन काशलीवाल :

'अनेकान्त' को नियमित एवं शोधपूर्ण सामग्रीयुक्त देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। उसकी सामग्री, सम्पादन, प्रिंटिंग सभी में निखार आया है और अब उसे किसी भी विद्वान् के हाथों में दिया जा सकता है। जैन-साहित्य, संस्कृति एवं कला पर शोध-कार्य करने वाले विद्यार्थियों के लिए 'अनेकान्त' महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अगले अंक से मैं भी अपना निबन्ध भेजना चाहूंगा। भविष्य में 'अनेकान्त' पत्र देश-विदेश में और भी लोकप्रिय बने ऐसी मेरी हार्दिक कामना है।

डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर :

'अनेकान्त' दिगम्बर जैन समाज में अपने प्रकार का विशिष्ट पत्र है। इसके 'जरा सोचिए' 'विचारणीय प्रसंग' आदि स्तम्भ मन की गहराई को छू लेते हैं। अनेकान्त के निरन्तर उन्नयन हेतु मेरी शुभ कामनाएँ प्रेषित हैं।

स० सि० श्री धन्यकुमार जैन, कटनी :

'अनेकान्त' मिला। निर्भीकता, स्पष्टवादिता एवं स्वच्छ आगम-सम्मत रीति-नीति के लिए विशेष धन्यवाद स्वीकार करें।

प्रिंसिपल श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली :

'आगम विपरीत प्रवृत्तियां' पढ़ा, मंगलकलश, धर्मचक्र प्रवर्तन, ज्ञान-ज्योति, सेमीनारों, कान्फ्रेंसों, अभिनन्दनों आदि को अच्छा खींचा है सो खुशी हुई। पर, समाज के कानों पर जू रेंगती है क्या ? वही 'ढाक के तीन पात' वाली बात है ! समाज जड़ और मदान्ध हो रहा है।

डा० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य :

'आप निर्भय होकर लिखिए, अच्छा और स्पष्ट लिखते हैं। यह अवश्य है कि जिन विद्वानों की गलती से गलत परम्पराएं या प्रवृत्तियां चल पड़ती हैं और जिन्हें हम जानते हैं, उनके नाम लिखने मे भय खा जाते हैं। आज उन्ही के कारण (सूर्यकीर्ति-मूर्ति-स्थापन जैसी) यह दुःखद स्थिति बनी।

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए०, दिल्ली :

आपने 'मूल-संस्कृति-अपरिग्रह' पर अपने विचार बहुत ही स्पष्टता से प्रगट किये है जो मन पर प्रभाव छोड़ते है। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और सामायिक पर प्रसंगत: स्पष्ट ढंग से प्रकाश डाला है। आगम-विपरीत प्रवृत्तियां ऐसा विषय है जिस पर अनेकान्त में आपके विचार आने ही चाहिए थे। जो व्यक्ति इस प्रकार की मूर्ति के निर्माण की बात करते हैं उनकी दृष्टि घोर मिथ्यात्व की है ही, प्रवृत्ति भी गर्हित है। आपने शोध-खोज शीर्षक आध्यात्मिक आयाम दिया यह भी विचारने की बात है।

सूचना :— वीर सेवा मन्दिर, सोसायटी की साधारण सदस्यता का पिछला व आगामी वर्ष का सदस्यता-शुल्क जिन सदस्यों ने नही भेजा है उनसे आग्रह है कि वे सदस्यता-शुल्क अविलम्ब भेज दें। संस्था का आर्थिक वर्ष जून मे समाप्त होता है।

सुभाष जैन : महासचिव
वीर सेवा मन्दिर सोसायटी,
२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३८ किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | जनवरी-मार्च
वीर-निर्वाण संवत् २५११, वि० सं० २०४२ | १९८५

आदिनाथ-जिन-स्तवन

कायोत्सर्गायताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसुनुर्महात्मा
मध्याह्ने यस्य भास्वानुपरिपरिगतो राजतिस्मोग्रमूर्तिः ।
चक्रं कर्मेन्धनानामतिबहु दहतादूरमौदास्यवात—
स्फूर्जत् ध्यानवह्नेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिङ्गः ।।१।।

—पद्मनन्द्याचार्य

काउसग्ग मुद्रा धरि वनमें ठाड़े रिषभ रिद्धि तजि दीनी ।
निहिचल अंग मेरु है मानो दोऊ भुजा छोर जिनि दीनी ।
फँसे अनन्त जन्तु जग-चहले दुखी देख करुणा चित लीनी ।
काढ़न काज तिन्हें समरथ प्रभु, किधौं बांह ये दीरघ कीनी ।।

—भूधरदास

अर्थ—कायोत्सर्ग के निमित्त से जिनका शरीर लम्बायमान हो रहा है, ऐसे वे नाभिराय के पुत्र महात्मा आदिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त होवें, जिनके ऊपर प्राप्त हुआ मध्यान्ह (दोपहर) का तेजस्वी सूर्य ऐसा सुशोभित होता है मानो कर्मरूप ईन्धनों के समूह को अतिशय जलाने वाली एवं उदासीनतारूप वायु के निमित्त से प्रगट हुई समीचीन ध्यान रूपी अग्नि की देदीप्यमान चिनगारी ही उन्नत हुई हो ।

विशेषार्थ—भगवान आदिनाथ जिनेन्द्र की ध्यानावस्था में उनके ऊपर जो मध्यान्ह काल का तेजस्वी सूर्य आता था उसके विषय में स्तुतिकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह सूर्य क्या था मानों समताभाव से आठ कर्मरूपी ईन्धन को जलाने के इच्छुक होकर भगवान आदिनाथ जिनेन्द्र द्वारा किये जाने वाले ध्यानरूपी अग्नि का विस्फुलिंग ही उत्पन्न हुआ है । □□

यह कैसा अपरिग्रहवाद है ?

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन

नोट : डा० सा० इतिहास के ख्याति प्राप्त प्रकाण्ड मनीषी हैं। अनेकांत के हर अङ्क को उनका आशीर्वाद लेख के रूप में प्राप्त होता है। गत अङ्क में 'पट्ट महादेवी सान्तला' कृति पर आपका समीक्षात्मक लेख प्रकाशित हुआ था। समीक्षा इतनी प्रभावक रही कि कृतिकार श्री सी० के० नागराजन् बैंगलोर से जब लखनऊ डा० साहब के घर उन्हें बधाई देने पहुंचे। उन्होंने डा० साहब का आभार निम्न शब्दो मे प्रकट किया। 'उत्तर भारत मे कर्नाटक के इतिहास एवं सस्कृति साहित्य आदि के विषय मे कोई इतना जानता होगा इसका मुझे अनुमान नही था, आदि।'

—सम्पादक

सहयोगी बन्धु श्री पद्मचन्द्र शास्त्री अनेकान्त के विगत कई अको (३७/१ पृष्ठ-३१-३२, ३७/३ पृष्ठ-२३-२४, पृष्ठ-२६-२१) मे अपरिग्रहवाद पर विशेष बल देते आए हैं। उनकी धारणा है कि जैन परम्परा मे अहिंसा पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है और उसके पीछे, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण अपरिग्रह को, जो मूल जैन सस्कृति का प्रतीक है, प्रायः भुला दिया गया है। कम से कम अधुना जैन धर्मावलम्बियो के आचार-विचार एव व्यवहार मे ऐसा ही चरितार्थ हो रहा है। पण्डित जी का यह विचार यदि पूर्णतया नहीं तो, अनेक अशों मे सत्य प्रतीत होता है।

आत्मा की विभाव परिणति स्थूल रूप से हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह रूपी पांच पाप प्रवृत्तियो के रूप मे मुखरित होती है। सप्त-व्यसनादि का सेवन, नानाविध अनाचार, दुराचार, व्यभिचार, शोषण, ईर्ष्या, द्वेष, असूया, घृणा, मात्सर्य, बैर, विरोध, उच्छृङ्खलता आदि उसी के प्रतिफल हैं। इन समस्त कुप्रवृत्तियों के मूल में प्राणी की वह पर्याय-सम्बन्धी दैहिक एवं भौतिक **आसक्ति** है जो उसे आत्मस्वरूप या आत्मधर्म से विमुख करके बहिर्मुखी, बहिरातम, परावलम्बी एवं पराधीन बना देती है। इसके विपरीत, निर्ग्रन्थ श्रमण या जिन धर्मसाधना का प्रधान एवं परम लक्ष्य **वीतरागता**, समत्व तथा शुद्धात्मोपलब्धि है, जो सच्चे, स्वाधीन, शाश्वत, निराकुल सुख, ब्रह्मानन्द या परमात्मानन्द का प्रतीक है। और इसका अनिवार्य उपाय उपरोक्त पाप प्रवृत्तियो का सम्यक् निरोध है।

ये सभी कुप्रवृत्तियां एक दूसरी की पूरक एव पोषक हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के भेद से किसी मे किसी एक का, किसी में किसी दूसरी का प्राबल्य या आधिक्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु अल्पाधिक रूप में प्रायः सभी परस्पर सहयोगिनी हैं और साथ-साथ ही रहती हैं। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति में सच्चे अर्थों मे धर्माभिरुचि जागृत हो जाती है, तो वह इन पाप प्रवृत्तियों को हेय एव त्याज्य समझने लगता है, और परिणामस्वरूप उनके निरोध या उच्छेद के लिए प्रयत्नशील भी हो जाता है। यदि वह इन पांचों में से किसी एक से भी मनसा-वाचा-कर्मणा निवृत्त होने का प्रयास करने लगता है तो शनैः शनैः शेष चारों से भी निवृत्त होने लगता है। पूर्णतया अहिंसक आत्मा में सत्य, अस्तेय, शील या ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की प्रतिष्ठा स्वत हो जाएगी। इसी प्रकार पूर्णतया अपरिग्रही आत्मा में भी शेष चारो गुण स्वतः प्रकट हो जाएंगे।

परन्तु आज तथाकथित जैनों में, चाहे वे दिगम्बर तेरहपंथी, बीसपंथी, तारणपंथी, कान्हजीपंथी, या श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी, तेरापथी अथवा कोई अन्य भी हों प्रायः सभी मे दिनोदिन वृद्धिगत ऐहिक आसक्तियों का **मोह-मायाजाल** चतुर्दिक दृष्टिगोचर है। कितना ही अध्यात्मवाद झोंकें, कितना ही तत्वज्ञान बघारें, कितने ही शास्त्रज्ञ, क्रियाकांडी या भक्त बनें, आबालवृद्ध गृहस्थ स्त्री-पुरुष हों, अथवा साधु-साध्वी आदि किसी भी

श्रेणी के त्यागी वर्ग हों, अधिकांश में ऐहिक स्वार्थ, मान, लोभ एवं अहंमन्यता का पोषण, आत्मब्रह्मदर्शन, आत्म-विज्ञापन, पाखण्ड और आडम्बर का अतिरेक बहुधा दिखाई पड़ता है। और इस सबका मूल कारण है—धर्मतत्व की या वस्तुस्वरूप की अनभिज्ञता अथवा सही पकड़ न होना। साथ ही, ऐहिकस्वार्थ, मोह-मूर्च्छा, विषयासक्ति, अहंभाव, और क्रोध-माया-मान-लोभादि कषायों के पोषण की ललक। सामूहिक रूप से यही मिथ्यात्व है, अधार्मिकता है, नास्तिकता है।

ऐसी मिथ्या मनोवृत्ति का ही प्रताप है कि जीवन में अपने व्याख्यानो एव प्रवचनो मे अध्यात्मवाद को सर्वोपरि ही नही, एकमात्र महत्त्व देने वाले तथा 'सद्गुरुदेव' उपाधि से विभूषित महानुभाव के निधन के तुरन्त उपरान्त उनकी गद्दी की उत्तराधिकारिणी उनकी प्रिया शिष्या एवं कतिपय अन्य भक्तो ने उन्हें तीर्थङ्कर ही घोषित कर दिया, भले ही भावी हो और सर्वथा कल्पित 'सूर्यकीर्ति' नाम से उनकी प्रतिमाएँ भी बनबा डाली तथा उक्त प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा कराकर जिन मन्दिरो मे विराजमान करना भी प्रारम्भ कर दिया।

यह घोर मिथ्यात्व कैसे पनप सका, इसका कारण हमे तो ऐसा लगता है कि उक्त तथाकथित 'सद्गुरुदेव' जैन अध्यात्म के अपने आविष्कार से इतने अभिभूत होगए कि वह यह भूल गए कि उस अध्यात्म विद्या को सम्यक् रूप से आत्मसात् करने के लिए सर्वप्रथम चारों अनुयोगो के मूल शास्त्रीय ज्ञान का अवगाहन अत्यावश्यक है। उसकी उपेक्षा की और द्रव्यानुयोग के भी दार्शनिक एवं नैयायिक अगों को छोड़कर केवल उसके चरमांश अध्यात्म को ही पकड़ कर बैठ गए। कर्मसिद्धान्त की सुदृढ़ नीव पर निर्मित जैन सिद्धान्त एवं तत्वज्ञान की सम्यक् पकड़ के बिना निरा अध्यात्मवाद बहुधा प्रमादियो का शब्द विलास बनकर रह जाता है। मूल सिद्धान्त की वह पकड़ उन्हें होती तो उन्हे स्वय को तथा उनके अनन्य भक्तो को इस प्रकार की सिद्धान्त-विरुद्ध, आगम-विरुद्ध, आम्नाय-विरुद्ध, पर्यायबुद्धिजन्य, अविवेकपूर्ण कल्पनाओं के लिए अवकाश ही नही होता। सुना तो यह भी गया है कि गुरुदेव की सम्पत्ति एव ट्रस्ट के एक प्रमुख स्तम्भ का यह कहना है कि "हमने दिगम्बरों से उनकी आम्नाय थोड़े ही ली है—हमने तो केवल उनका तत्वज्ञान लिया है।" घोर गुरुडमवादी, पंथवादी तथा परिग्रहवादी मनोवृत्ति के प्रतीक इस कथन पर कोई भी टीका-टिप्पणी अनावश्यक हो जाती है।

एक बार एक जैनेतर मनीषी से, जो अच्छे भगवद्भक्त भी थे, एक मित्र ने पूछा "भक्ति के अमृतसागर को त्याग कर आप वेदान्त के झाड़-झखाड़ मे क्यो घुस पड़े ?" तो उन्होंने उत्तर दिया—'वेदान्त इसीलिए पढ़ रहा हूं जिससे भक्ति शास्त्र मे दृढ़ विश्वास हो जाए।" यह तो एक दृष्टान्त है जो एकागी अध्ययन-मनन एव मान्यता पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। वास्तव मे, जैसा कि हम पहिले भी कई बार सकेत कर चुके हैं, चारों अनुयोग एक दूसरे के पूरक हैं। चारों का ही शुद्धाम्नायानुसारी यथावश्यक सम्यक् अध्ययन-मनन करने से ही दृष्टि समीचीन बन सकती है। निश्चय सम्यक्त्व की बात फिलहाल छोड़ भी दें, तो व्यवहार सम्यग्दर्शन, धार्मिक क्षेत्र मे समीचीन दृष्टि, और सद्-असद् या हेयोपादेय विवेक प्राप्त या जागृत करने के लिये वैसा करना एक धार्मिक जन के लिए धर्मपार्ग में अग्रसर होने का प्रथम सोपान है। तभी जो कुछ और जितना बन सके सयम या चारित्र का अभ्यास स्वत. होता जायेगा, और वह भी समीचीन ही होगा।

वस्तुत: जब और जहां ऐसा होता है, वही अपरिग्रह महाव्रत के धारी मुनि-आर्यिका आदि नानाविध अन्तरग एव बहिरग परिग्रहों से घिरे दिखाई नही पड़ते, वे अपनी मूर्तिया निर्माण कराके जिन प्रतिमाओ के साथ प्रतिष्ठित नही करवाते, अपनी जयन्तियो के मनवाने, उपाधिया बटोरने, अभिनन्दन ग्रथो या पत्रो को लेने देने तथा किसी प्रकार के भी चन्दे-चिट्ठे कराने के चक्कर मे नही पड़ते। परिग्रह-परिमाण के रूप मे व्रत का एकदेश अभ्यास करने वाले गृहस्थ स्त्री-पुरुष भी सच्चे अर्थो मे स्वय को तथा दूसरो को दु.खकर अपनी ऐहिक-दैहिक आसक्तियों को उत्तरोत्तर कम करने कराने मे प्रयत्नशील होते हैं। ऐसे धार्मिक जनो से ही वीतराग जिनेन्द्र की भक्ति एव उपासना भी निष्काम, अर्थात् फल की वाछा से सर्वथा

(शेष पृ० ४ पर)

पंडित शिरोमणि दास जी की द्वादशानुप्रेक्षा

□ कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

अनेकान्त के गतांक अक्तूबर-दिसम्बर ८४, वर्ष ३७ किरण ४ मे पं०शिरोमणि दास और उनकी धर्मसार सतसई पर मेरा निबन्ध प्रकाशित हुआ था जिसमे मैंने ग्रंथकार और ग्रंथ के विषय में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया था। उसी ग्रंथ में कवि ने बारह भावनाओ का सुन्दर वर्णन किया है जिन्हें अविरल प्रस्तुत कर रहा हूं।

यद्यपि बारह भावनाओ का जैन शासन मे बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है इसी लिए आचार्य कुन्द कुन्द ने प्राकृत मे, आचार्य शुभ चन्द्र ने संस्कृत मे, वीर कवि ने अपभ्रंश में तथा हिन्दी में तो अनेको कवियों ने बारह भावनाओ की रचना की है।

प्रस्तुत बारह भावनाएं सर्वथा अप्रकाशित और अनुपलब्ध हैं। इनमे बुन्देलीभाषा का प्रभाव होने से इनकी मधुरता और अधिक बढ़ गई है तथा हिन्दी की बारह भावनाओ मे एक कड़ी और जुड़ गई है जो तत्वज्ञान से भरपूर है।

(पृ० ३ का शेषांष)

अछूती-भक्ति के लिए ही भक्ति बन पाती है। तब कतिपय तीर्थ क्षेत्रों पर मनौतियों द्वारा सच्चे-देव का अवर्णवाद करने वाले झूठे भक्तों, कुदेव-कुदेवियो की पूजा-उपासना करने वाले अन्ध-श्रद्धालुओं और गण्डे-तावीज, मन्त्र-यन्त्र के लालच मे तथाकथित चमत्कारी महाराजों और माताओं की भाव-विभोर भक्ति प्रदर्शित करने वाले अन्ध-विश्वासी स्वार्थियों की भीड़ भी नही जुटती।

खेद है कि इस तथ्य में किसी की आस्था है, ऐसा लगता नही। यह घोर परिग्रहवाद का ही परिणाम है। कहने में हम अपरिग्रह के उपासक और साधक हैं, किन्तु अपनी मनोवृत्ति तथा जीवन व्यवहार में परिग्रहवाद से ओत-प्रोत हैं। तो मूल जैन संस्कृति से तो हमने स्वयं को बहिष्कृत ही किया हुआ है।

—चारबाग, लखनऊ

आशा है सुधी पाठक गण इनका रसास्वादन कर अध्यात्म मार्ग पर पग धरने का सतत् प्रयास करेंगे, इसी में अपने श्रम को सार्थक समझूंगा।

दोहा—तहां ध्यान मुनि दृढ धरैं, कर्म क्षय निज हेत।
द्वादश अनुप्रेक्षा चितवैं, सुवर्णन करौं सुचेत॥

अथ अध्रुवानुप्रेक्षा/चौपाई

धन यौवन नारी सुख नेह, पुत्र कलत्र मित्र तनु एह।
रथ गज घोड़े देश भण्डार, इन्हें जात नही लागत बार॥
जैसे मेघ पटल क्षण क्षीण, तैसे जानो कुटुम्ब सगुदीन।
जल सयोग आम (कच्चा) घट जैसो, सकल भोग विधि जानहु तैसो॥
दोहा—जो उपजै सो विनसई, यह देखो जगरीति।
अध्रुव सकल विचारिकै, करहु धर्म सौं प्रीति॥
इति अध्रुवानुप्रेक्षा॥१॥

अथ अशरणानुप्रेक्षा/चौपाई

जैसे हिरण सिह वश पर्यो, तैसे जीवन काल ने धर्यो।
कोऊ समर्थ नही ताहि बचावै, कोटि यत्न करि जो दिखरावै॥
मन्त्र तन्त्र जे औषधादि घनी, बल विद्या ज्योतिष अति गुनी।
ए सब निष्फल होहि विशाला, जब जीव आनि परै वश काल॥
दोहा—इन्द्र चक्री हरि हर सबै, विद्याधर बलवन्त।
काल पाश तें ऊपरो सुको किहु रक्षहि अन्त॥
इति अशरणानुप्रेक्षा॥२॥

अथ संसारानुप्रेक्षा/चौपाई

द्रव्य क्षेत्र पुनि काल जु आनि भव अरु भाव जु तही बखानि।
यह संसार पंच विधि कहीजै, जीवन मरण जीव दुख लीजै॥

समय अनंतानंत जु लए, अनंत काल तंह पूरण भए।
समय एक कहु बचऊ न तीव, जामन मरण लही नही जीव ॥

दोहा—जिन तें बहु सुख पाइए, ते भए दुख को रूप।
परावर्तन बहु पूरियो, यह संसार स्वरूप ॥

इति संसारानुप्रेक्षा ॥३॥

अथ एकत्वानुप्रेक्षा/चौपाई

एकाकी होइ चहुंगति फिरै, काहु को कोऊ संग न धरै।
मरहि अकेलो ऊपजै प्राणी, सुख दुख भुगतै एकहु जानी ॥
जो जैसी करनी उपजावै, सो तैसो फल एकऊ पावै।
अपने अपने स्वारथ मिले, दूसरों साथ न कोऊ चले ॥

सोरठा—एकाकी जीव जानि, दूजो कोऊ न जानि जै।
धर्म दया मन आनि, सो अपनो करि भानि जै ॥

इति एकत्वानुप्रेक्षा ॥४॥

अथ अन्यत्वानुप्रेक्षा/चौपाई

मातापिता पृथक् विधि लए,बाधव पुत्र अन्य हित किए।
कुटुम्बस्वभाव अन्य हित होई, नारी अन्य मिली पुनि सोई ॥
चहु गति आय इकट्ठे भए, अपनी अपनी गति पुनि गए।
जैसे हाट लगै विधि जोग, स्वारथ भए रहै नही लोग ॥

दोहा—इन्द्रिय देह जु जीव इह, एक स्वभाव न जानि ॥
अवर कहों ते एकता, यह अन्यत्व बखानि।

इति अन्यत्वानुप्रेक्षा ॥५॥

अथ अशुचि अनुप्रेक्षा/चौपाई

शुक्र रुधिर तें उपजै देह, मांस हाड़ मल मूत्र जु गेह।
कृमि अनेक उपजै दुर्गंधि, चर्म नसा दीसै पट बन्ध ॥
उपमा अनेक जे चिखई ठानै, करि तह मोह महा सुख ठानै।
जैसे विष वल्ली दुख देह, तैसे जानि शरीर सुख नेह ॥

दोहा—चन्दन केशर अगर शुभ, पुष्प वस्त्र घनसार।
तन सगत के होत ही, छिन में होत असार ॥

इति अशुचि अनुप्रेक्षा ॥६॥

अथ आश्रव अनुप्रेक्षा/चौपाई

करनी जब शुभ अशुभ जु साधै, पुण्य पाप तब आश्रव बाँधै।
जीव परिणाम कर्म संयोग, भावाश्रव यह जानहु लोग ॥
मिथ्यात्व पच पन्द्रह प्रमाद, द्वादश अव्रत गणहु विषाद।
कषाय पच्चीस मिलै संयोग, यह द्रव्याश्रव जानहु लोग ॥

दोहा—सच्छिद्र नाव जल में रहे, जल आवै चहुं ओर।
तैसें आश्रवद्वार तें, कर्म बंध को ओर ॥

इति आश्रवानुप्रेक्षा ॥७॥

अथ संवरानुप्रेक्षा/चौपाई

जीव परिणाम वहै शुभ चेत, भावाश्रव रोधन के हेत।
यह जु भावसंवर है अभइ (य), द्रव्यसंवर पुनि सुनिजै राय ॥
पंच पंच व्रत समिति कहीजै, गुप्ति तीन दश धर्म लहीजै।
बाईस परीषह कहिजै भारी, अनुप्रेक्षा द्वादश हितकारी ॥

दोहा—छिद्र नाव जल देखि कै, डाट्टे रचै जो कोई।
तैसे आश्रव द्वार को, रोधै संवर सोई ॥

इति संवरानुप्रेक्षा ॥८॥

अथ निर्जरानुप्रेक्षा/चौपाई

सकल कर्म क्षय कारण हेत, भाव निर्जरा कहो सुचेत।
सकल कर्म क्षय कीन्हें, जबही, द्रव्य निर्जरा जानहु तबहीं ॥
कर्म उदय जब पूरण होय, सो सविपाक निर्जरा सोय।
उदय बिना जो कर्म नशावै, अविपाक निर्जरा सोई कहावै ॥
सविपाक सब जीवन होई, अविपाक मुनि साधै सोई।
संवर सहित जो निर्जरा करै, सो परमातम पद को धरै ॥

दोहा—संवर सहित जो निर्जरा, तप करि साधै संत।
संवर विना जुत तप करै, सो अज्ञानी अत ॥

इति निर्जरानुप्रेक्षा ॥९॥

अथ लोकानुप्रेक्षा/चौपाई

अनंतानंत जु लोकाकाश, तामे लोक अनंत है बास।
अनादि निधन यह लोक बखानि, न कोऊ कर्ता हर्ता जानि ॥
अधो लोक सरवा आकार, मध्य लोक झालरि सम द्वार।
मृदंग समान जु ऊरध लोक, अवतर अनेक भेद बहु थोक ॥

दोहा—तेतालीस अरु तीन सौ, राजू गिरदा (चौकोर) जानि।
चौदह राजु उचित्त (उतंग) है, इह विधि कहौं बखानि ॥

इति लोकानुप्रेक्षा ॥१०॥

अथ धर्मानुप्रेक्षा/चौपाई

दुर्गतितै काढ़े धरि बांह (हाथ) सो यह धर्म कल्पतरु छांह।
मुक्ति नगर को पावै राज, सो दश भेद कहे जिन राज ॥
समकित सहित करनी मन लावै, सो यह निर्मल धर्म कहावै।

(शेष पृ० १० पर)

पं. अभ्रदेव कृत 'श्रवण द्वादशी कथा'

□ श्री मिलापचंद रतनलाल कटारिया, केकड़ी

प्रणम्य परमं ब्रह्म केवलज्ञान गोचरं ।
वक्ष्ये भव्य प्रबोधाय, श्रवण द्वादशी कथां ।१।
जम्बूद्वीपो महारम्यो, भरत क्षेत्रमुत्तमं ।
अवंती विषयस्तत्र, सजातोज्जयिनी पुरी ।२।
राजा तत्र नर ब्रह्मा, राज्ञी विजयवल्लभा ।
तस्या: शीलमती पुत्री, काण खुंजा च कुब्जको ।३।
पुत्री शीलमती नक्ता वकाषी द्रोदनं मुहु: ।
भणित्वेति तप: कार्यं जातं कर्म ममेदृश ।४।
सुतां शरीरमालोक्य जननी दु:खतां गता ।
अपश्यती स्वकीयस्यापरापस्य भवस्थिति: ।५।
मालाकारिकया प्रोक्त, तत्पुरस्तात्समासत: ।
वने स्वामिनि ! दिव्यागः स्वागतो मुनिपुंगव: ।६।
राज्ञ्यापि मालिनी योग्य सन्मान दानपूर्वकम् ।
प्रदत्तं जैन धर्मस्य वासना वेंदधानया ।७।
तया विज्ञेयिका चक्रे महिष्या भूपति प्रति ।
यद्देवात्र समायातो नंदने श्रवणो मुनि: ।८।
राजा तद्वचनं श्रुत्वा काननं सपरिच्छदो ।
जगाम भावनायुक्तो यति दर्शन तत्पर: ।६।
तेन तस्य पदद्वंद्वं नमश्चक्रे स्वभावत: ।
अशीर्वादं ददौ तस्मै नरेशाय मुनीश्वर: ।१०।
अथ श्रवणत: श्रुत्वा धर्माधर्मं नराधिप: ।
पप्रच्छ पापहन्तारं तनूजा देह दूषणम् ।११।
परमावधि सम्पन्नो मुनीन्द्रो वचनामृतम् ।
उवाच शृणु धात्रीश ! कर्म पुत्र्या पुराकृतम् ।१२।
अवन्ती विषयस्यान्तर्नगरे पाटली पुरे ।
राजा संग्राममल्लोऽभूत्पट्ट राज्ञी वसुंधरा ।१३।
तस्य भूपस्य सजात: शिवशर्मा पुरोहित: ।
भार्या कालासुरा पुत्री कपिला यौवनोन्नता: ।१४।
एकदा सा सखी युक्ता, गतोद्याने द्रुमाकुले ।
ध्यानारूढं तपस्यान्तमद्राक्षीत्पिहिताश्रवं ।१५।
काम संग मदारंभ प्रमाद कलहादिभि: ।
कषाय रति मिथ्यात्व स्नेह दोषैर्विवर्जितम् ।१६।
षडावश्यक सयोगैस्तपश्चारित्र बंधुरै: ।
सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण विचारै: प्रति सयुत: ।।१७
मासोपवासिनं ध्येय धारणा गुण भावितम् ।
मुक्ति स्त्री परमानद वासना वासितं सदा ।।१८
आम्र वृक्षतले स्थित्वा शिलापट्टे समाश्रितम् ।
पद्मासन समासन्नं काय योग निरोधकम् ।।१६
रागद्वेष भयैर्मुक्त, मोह सतति भेदकम् ।
कालज्ञं भव पर्याय द्रव्य पर्याय सूचकम् ।।२०
प्राशुक निरवद्यं च निर्दोष जन्तुवर्जितम् ।
स्थानमासादितं नाना पादप श्रेणि शोभितम् ।।२१
तत: सा कपिला दृष्ट्वा मुनि प्रत्यक्ष वेदिनां ।
भाषमाणा वचो दुष्ट, प्रचुर कोपातिनिर्दया ।।२२
भो नग्नाट ! मम स्थान त्व निर्लज्ज ! परित्यज ।
त्वं केन विधिना नीतो मम सौख्य निरोधक: ।।२३
पाखंडेन कृतं मौन, पाखडेन धृत तप: ।
पाखण्डेन ममाग्रे त्वं, दम्भ दर्शयसि स्वयं ।।२४।।
एता सां मे वयस्यानां पश्यन्तीनां तवाकृति ।
लज्जापि ते न सजाता, लिंगं गोपय गोपय ।।२५
यदि राजा समाकर्ण्य, तवागमन लक्षणम् ।
विज्ञास्यति तदा दु:ख तव देव भविष्यते ।।२६।।
गच्छ गच्छ दुराचार, यावद्राजा शृणोति नो ।
पुरोहित तनूजाहं निजं दर्शय मा मुखं ।।२७
सदा मदान्धया ब्रूतं दुष्ट वाक्यमृषीश्वरे ।
कर्म प्रकृति सश्लेष सजातश्लथ बन्धने ।।२८
तया हल्लीसको स्थान धूल्यास्पृष्टो महामुनि: ।
तांबूलेनाहतो ध्यानी मौनी नि:शकितो व्रती ।।२६
पश्चात्कपिलया पाप, तदेव समुपार्जितम् ।
मृत्वा येन हि सा दुष्टा, प्रथमे नरके गता ।।३०

तत्र पंच प्रकारेण दु:ख विसहतेस्म सा।
नारकेभ्यो वधच्छेद बंध ताड़न मारणम् ॥३१
शूलिका रोपणं तीव्रां वेदनामग्नि पातनम्।
रासभारोहणं गात्र खण्डनं यंत्र पीलनम् ॥३२
भोजनं विहितं तस्या: स्वकीय रुधिरै: पलै:।
शयनं कंटकाग्रेषु, कीलकेषूपवेशनम् ॥३३
आयुरुत्कृष्टतो भुक्त्वा तया नि:सरितं तत:।
पापिष्टया महात्यन्त दु:ख राजी समाकुलम् ॥३४
रासभी शूकरी व्याली, मार्जारी सर्पिणी तथा।
चण्डालिनी तथा तस्य जाता दु:ख परम्परा ॥३५
अनादिकाल संसृत्या जीवेनार्जितमात्मना।
मनुष्य भव मासाद्य यत्पुण्य कस्यचिद् गृहे ॥३६
तस्य पुण्यस्य महात्म्य, सयोगेन महीपते।
तव गृहे पुन: जाता शुभनामा शुभस्थिति: ॥३७
उपसर्गं त्रयेणासीन्मुनीन्द्रस्य महात्मन:।
शीलमत्यां त्वदीयायां पुत्र्यां दोषत्रयावली।३८।
केवल ज्ञान सम्प्राप्ति पिहिताश्रव संयते।
बभूव तद् मोक्षं गामिन: पूजित: सुरै:।३९।
तत: पाद द्वयं नत्वा श्रवणस्य महामुने:।
उवाच वचनं शुद्धं नर ब्रह्मा नरेश्वर:।४०।
कथं महामुने ! पुत्री मदीया निस्तरिष्यति।
कल्मषं गात्र सकोचं समर्थं कर्त्तुमुद्यतम्।४१।
अथावाद्य विनिर्मुक्त मब्रवीद् वचनं मुनि:।
तद् व्रतं श्रूयता राजन् येनेयं स्वर्गजाभवेत्।४२।
मासे भाद्रपदे शुक्ले, पक्षे च द्वादशी दिने।
करोत्येव नरो नारी श्रवण द्वादशी व्रतम्।४३।
प्रोषधस्योपवासेन ब्रह्मचर्यस्थ कर्मणा।
जिनवास निवासेन तद्दिने क्रियते व्रतम्।४४।
प्रभात समये स्थाने प्रासुके जिन मूर्त्तय:।
चतुर्दिक् कुर्वेश्चापि स्थापनीया जिनालये।४५।
पूजा चाष्ट विधा कार्या स्नपनेन जिनेशिना।
सार्धं महाभिषेकस्य संसारास्थिति भेदिनी।४६।
जल गन्धाक्षतै पुष्पैश्चरु दीपोर्ध्वगै: फलै।।
मध्यान्हे चाष्टकं देयं सामयिक पुरस्सरम्।४७।
अपराजित मंत्रेण करणीयस्त्रिशुद्धिप:।
साय जाप्य विधि जाती शतपत्र सरोरुहै:।४८।

जलगालन वस्त्रेण छादिनस्तोय पूरित:।
जिनाग्रे करको देय बीजपूर समन्वित:।४९।
दातव्योऽर्घो जिनेन्द्राणां कुष्माड फल शोभित।
जिनाग्रे दीयते सार्घं भ्रामरी जय मालया।५०।
जय तर्क विसर्जित कुमतवाद,
जय सकल सुरासुर विनुतपाद।
जय परम योग निर्मल विचार,
जय चरणाहत ससार भार।५१।
जय निर्जित मिथ्यावचन बोध,
जय सुविहित विपदिन्द्रिय निरोध।
जय केवल लक्षित जीव बध,
जय सुधागम कृत सत्य संध:।५२।
जय खण्डित कर्मा राति देह,
जय परिहरिताखिल दिव्य गेह।
जय लोक समुद्धरणैक धीर,
जय पाप निराकरणैक वीर।५३।
जय मोह वृक्ष भेदन कुठार,
जय मुक्ति पुरध्री हृदयहार।
जय छिन्न भिन्न कन्दर्प सार,
जय रागद्वेष मद बल प्रहार।५४।
जय रत्नत्रय भूषित शरीर,
जय मार विशोषित विषय नीर।
जय विगलित मद निचयप्रमाद,
जय करुणा भस्मित रति विषाद।५५।
जय लोक त्रय भवदीय रेष,
जय निर्दित पर सग्रंथ वेष।
जय कांचन मेरु पवित्र करण,
जय बोधि समाधि विशुद्धि करण।५६।
जय शत्रु मित्र सम हेम लोह,
जय दूरी त्रासित पाप रोह।
जय सकल विमल केवल विलास,
जय सहज बुद्धि हंसी मराल।५७।
जय सप्त पंच षण्णव चरित्र,
जय सव्यंजन लक्षण चरित्र।५८।
इत्यादि जयमालाया: स्तोत्रेणार्घो जिनेशिनाम्।
दत्वा प्रदक्षिणास्तिस्र: समुत्तार्यो नराधिप:।५९।

अनेन विधिना चैतद्व्रतं द्वादश वार्षिकम् ।
क्रियते भूप धर्मस्य मंडनं पाप खण्डनम् ।६०।
पश्चाद् उद्यापनं कार्यं, द्वादश द्वादश स्थिति ।
जिनोपकरणादीनां नैवेद्यान्त जिनालये ।६१।
कारयित्वा प्रतिष्ठाप्यं जिन बिम्बचतुष्टयम् ।
पित्तलोपल काश्मीर भेदज पाप हानये ।६२।
येषमेनानि वस्तूनि सपद्यते न देहिनाम् ।
प्रकुर्वन्तु यथा शक्त्या ते व्रत भाव पूर्वकम् ।६३।
विना भावेन नो दान, बिना भावेन पूजनम् ।
बिना भावेन कार्याणि, बिना भावेन मिद्धय: ।६४।
आत्मायत्तो भवे भाव: कर्मायत्त धनं नृणाम् ।
काले अर्थस्य सम्प्राप्तिस्तस्माद् भाव: प्रकाश्यते ।६५।
प्रजापालक ! कर्त्तव्य तद्दिनं न निरर्थकम् ।
अव्रते तद्दिने जाते, व्यर्थं जन्मापि भूपते ।६६।
अनेकानि व्रतानीश भाषितानि जिनेशिना ।
तानि सर्वाणि त्रैलोक नयन्ति परम पदम् ।६७।
व्रते कृते शीलमती त्वदीया,
पुत्री गृहे ते भविता तनूजा ।
पट्टास्त्रियो गर्भमवाप्य सद्यो,
मृत्वा दधाना हृदये जिनेशमम् ।६८।
तस्यार्क केतु: भवितेति नामा,
परसुपुत्रस्य च चन्द्रकेतु: ।
भूपत्वमासीज्जयनाय भावी,
पूर्वाय दत्वा युवराज पट्टम् ।६९।
त्वदीय धौरेय सुत ब्रुवाणो,
वैराग्यतां यास्यति वाक्यमेतत् ।
माताजिका भूत कलहस राजा,
रणे पिता मृत्यु वश जगाम ।७०।
कृत्वा कनिष्ठाय जनस्य भारं,
राज्यं पितुश्चात्मपदं धरित्री ।
वने गमिष्यत्यर्कनेकेतु:
स्वर्गापवर्गा स्थिति कारणाय ।७१।
ज्येष्ठ: प्रभासेन मुनिस्समीपे,
दीक्षां समादाय तपो विधाता ।
मासोपवासेन गुहा निवासी,
सद् ब्रह्मचर्येण हत प्रमाद: ।७२।
देव: सहस्रारसुरालये सोऽवनीश,
भूत्वा सुर सौख्य माला ।
भोक्ता समं चारु सुरांगनाभि:
गतापि कालान्तरतोऽपि मोक्ष ।७३।
साक्षांति प्रथमे सुरालय पदे देवस्थिति: लप्स्यसे ।
रागद्वेष कषाय मोह विषय व्यापारता नोगता ।।
प्रान्ते निज राज्य लग्नमनसा त्व चन्द्रकेतो: सुत. ।
तत्कालेन भविष्यति जैनेऽपि मार्गे स्थिति: ।७४।
नृप प्रभृतिभि सर्वै: श्रुत्वा काल त्रयात्मिका ।
धर्माधर्ममयी वार्ता बभूवे हर्ष तत्परै. ।७५।
उज्जयिन्यां नर ब्रह्मा, विपूर्वा जयवल्लभा ।
गता शीलमती नत्वा श्रवण युग पद् गुरुम् ।७६।
तथा व्रत कृत पुत्र्या भाषितं मुनिना यथा ।
यादृशं श्रवणेनोक्तं सर्वेषां तादृशं स्थितम् ।७७।
मुनीश्वरा: प्रभाषंते, सावधि ज्ञान लोचन: ।
असत्य वचनं नैव यत: कारणतो भुवि ।७८।
परिलिखति पठति कथयति,
करोति भावयति यो व्रत श्रृणुते ।
स च लभते फलमतुलम्,
नि: पाप जिन मतोद्दिष्टम् ।७९।
चन्द्रभूषण शिष्येण, कथेयं, पापहारिणी ।
सस्कृता पण्डिताभ्रेण, कृता प्राकृत सूत्रत: ।८०।
।। इति श्रावण द्वादशी कथा समाप्त ।।

संवत् १५६३ वर्षे भाद्रपद मासे शुक्लपक्षे शनि दिने लिखितं ब्रह्मजमरु कर्मक्षय निमित्तं शुभ भवतु लेखक पाठकयो: ।।

नोट—यह कथा कांजी बारस व्रत की है यह व्रत भादव सुदी १२ को किया जाता है,इस रोज कुमारी कन्यायें कांजिकाहार (२।। चमची चावल-भात या छाछ में बाजरादि द्वारा एकाशन) करती हैं और नरनारी उपवास करते हैं यह व्रत १२ वर्ष तक किया जाता है और अन्त में उद्यापन भी करते हैं। भादवा सुदी १२ को ज्योतिष नियमानुसार श्रवण नक्षत्र आता है इसलिए इसका नाम "श्रवणद्वादशी" भी है। कथाकार ने श्रवण शब्द से श्रवण नामा दि० मुनि लिया है उन्हीं के श्रीमुख से यह कथा कहलाई

गई है। अन्तिम श्लोक से जाना जाता है कि—चन्द्रभूषण के शिष्य पंडित अभ्र देव ने यह कथा प्राकृत से संस्कृत में रची है। भादवा सुदी में ही सं० १५६३ मे ब्रह्म अमरु ने वसवा गटके में इसकी प्रति लिपि की है। अभ्रदेव के विषय में बृहज्जैन-शब्दार्णव भाग २ में ब्र० शीतल प्रसाद जी ने लिखा है :—"ये एक गृहस्थ थे जिन्होने व्रतोद्योतन श्रावकाचार रचा है"। यह श्रावकाचार जीवराज ग्रथमाला, शोलापुर से श्रावकाचार संग्रह भाग ३ में छप चुका है। इसका मगलाचरण भी इस कथा के मगलाचरण की ही तरह है देखो—

प्रणम्य परम ब्रह्मातीन्द्रिय ज्ञान गोचरम्।
वक्ष्येऽह सर्व सामान्य व्रतोद्योतनमुत्तमम्।।१।

दोनों कृतियो की रचना शैली भी एक सी है। एक उदाहरण लीजिए, सस्कार अर्थ मे वासना शब्द का प्रयोग दोनों में एक सा पाया जाता है देखो—श्रावकाचार का श्लोक न० ४०८ तथा कथा का श्लोक न० ७ और १८। इससे दोनो के कर्त्ता एक ही सिद्ध हैं।

राजस्थान ग्रंथ सूची भाग २ पृष्ठ २४० तथा भाग ३ पृष्ठ ३४ मैं पं० अभ्रदेव को लब्धिविधान कथा और व्रतोद्योतन श्रावकाचार का कर्त्ता बताया है इस तरह इनकी तीन रचनाओ का पता लगता है।

राजस्थान ग्रंथ सूची भाग ४ पृष्ठ २४५ में अभ्रदेव कृत—"श्रवण द्वादशी कथा" की एक प्रति का लिपिकाल संवत् १५१६ लिखा है।

आमेर शास्त्र भण्डार ग्रथ सूची पृष्ठ २०५ मे व्रतोद्योतन श्रावकाचार की एक प्रति का लिपिकाल सवत् १५४१ लिखा है।

इस श्रावकाचार के अन्तिम श्लोक मे कवि ने मुनि प्रवरसेन की प्रेरणा से इस ग्रथ के बनाने का उल्लेख किया है :—

कारापित प्रवरसेन मुनीश्वरेण, ग्रंथचकार जिनभक्त बुधाभ्रदेव: ।५४२।

इस ग्रंथ के श्लोक २६३ मे ऋद्धियों के विस्तृत कथन के विषय में श्रुतसागर का समय १५०२ से १५५६ तक का रहा हैं। ये श्रुतसागर ज्यादातर वर्णी रूप से ही उल्लिखित रहे हैं मुनिरूप से नहीं, इसके सिवा श्रवण-द्वादशीकथा की एक प्रति का लिपिकाल ऊपर संवत् १५१६ दिया है तब उसका रचना काल तो उससे कुछ पूर्व ही होना चाहिए ऐसी हालत में ये श्रुतसागर पं० अभ्रदेव द्वारा सम्मत नही हो सकते। मेरे खयाल से इस विषय में श्रुत मुनिकृत त्रिभंगीसार की सोमदेव कृत सुबोधा टीका की प्रशस्ति से सारी समस्या हल हो सकती है। प्रशस्ति में लिखा है :—

यथामरेन्द्रस्यपुलोमजा प्रिया, नारायणस्याब्धिसुता बभूव।
तथाभ्रदेवस्य विजैणीनाम्ना प्रिया सुधर्मासुगुणासुशीला ।।३।।
तयो: सुत: सद्गुणवान् सुवृत्त: सोमोऽभिध: कौमुद वृद्धि कारी।
व्याघ्रेरवालांबु-निधि: सुरत्नं जीयाच्चिरं सर्वजनीनवृत्त: ।।४।।
श्रीपद्मांध्रियुगे जिनस्य नितरांलीन: शिवाशाधर: ।
सोम: सद्गुणभाजन: सविनय: सत्पात्रदानेरत: ।।
सद्रत्नत्रययुक् सदा बुधमनोह्लादी चिर भूतले।
नंद्याद्येन विवेकिना विरचिता टीका सुबोधाभिधा ।।
या पूर्वं श्रुतमुनिना टीका कर्णाटभाषया विहिता।
लाटीयभाषयासा विरच्यते सोमदेवेन ।।४।।

(इन्द्र की पुलोमजा और नारायण की लक्ष्मी की तरह आम (अभ्र) देव की विजंणी (विजयिनी) प्रिया थी उनसे सोम देव पुत्र हुआ जो बघेरवाल वश का रत्न था उस शिवाशाधर—मोक्ष की आशा के धारी—मुमुक्षु—और विवेकी सोम देव ने त्रिभंगीसार की विद्वज्जनमनरंजनी सुबोधा टीका रची वह चिरकाल तक संसार में नंदित (प्रकाशित) हो। यह टीका पहिले श्रुतमुनिने कर्णाटक भाषा में रची थी उसी को सोमदेव ने लाटी भाषा मे रचा है।)

इसमें पं० सोमदेव ने--अपने को अभ्रदेव का पुत्र बताया है दोनों नाम देवान्त हैं। अभ्र—अकाश में ही सोम—चन्द्र होता है, दि० आम्नाय में उर्ध्व दिशा—आकाश का दिग्पाल सोम ही माना है इसलिए दोनों नाम पिता पुत्र रूप से सार्थक हैं। दोनों व्यक्ति गृहस्थ पंडित हैं प्रशस्ति में सोमदेव ने विवेकी शब्द से और अभ्रदेव ने

पंडित और बुध शब्द से ऐसा अपने को व्यक्त किया है।

वैदिक और श्वे० आम्नाय में आकाश—उर्ध्व दिशा का दिग्पाल (देव) ब्रह्म माना गया है और ब्रह्म—सिद्ध उर्ध्व दिशा में ही होते हैं। अतः अभ्रदेव—आकाश के देव —ब्रह्म होने से श्रमण द्वादशी कथा और व्रतोदयोतन श्रावकाचार के मंगलाचरण में नाम के श्लेष रूप से ब्रह्म नमस्कार किया गया है। और कथा में उज्जयनी के राजा का नाम भी नर ब्रह्म दिया है और अपनी पत्नी के नाम पर रानी का नाम भी विजयबल्लभा दिया है। यह सब परस्पर एकरूपता को द्योतित करते हैं।

प्रशस्ति में पं० सोमदेव ने जिन स्वोपज्ञ टीकाकार श्रुतमुनि का उल्लेख किया है। उनकी एक कृति परमागमसार शक संवत् १२६३ (वि० स० १३६८) में रचित है। इन्हीं श्रुत मुनि का प० अभ्रदेव ने श्रावकाचार मे उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है।

इस सब से पं० अभ्रदेव का समय १५वी शती (विक्रम की) द्योतित होता है।

पं० सोमदेव ने प्रशस्ति में 'शिवाशाधर का प्रयोग किया है। सागार धर्मामृत (श्रावक धर्म दीपक) के अन्त मे पं० आशाधर ने भी ऐसा ही शब्द प्रयोग किया है। पं० सोमदेव ने प्रशस्ति में 'चिरं नन्द्यात्' शब्दों का प्रयोग किया है वह आशाधर के द्वारा अपने ग्रंथों की टीका-प्रशस्ति में प्रयुक्त 'नन्द्यात्' या नन्दताच्चिरं' का ही अनुकरण है। पं० आशाधर नालछा (मध्य प्रदेश) के निवासी थे। उनके बंशज होने से पं० अभ्रदेव भी वहीं के निवासी होने चाहिए। इसी से कथा में उन्होने मध्य-प्रदेश की राजधानी उज्जयिनी का उल्लेख किया है।

पं० अभ्रदेव ने श्रवण द्वादशी कथा के श्लोक नं० ४७ में लिखा है।

जल गन्धाक्षतै पुष्पैश्चरु दीपोध्वर्गैः फलैः।
मध्यान्हें चाष्टकं देयं सामायिकपुरस्सरम्॥

अर्थात्—सामायिक करने के बाद मध्यान्ह में अष्ट-द्रव्य पूजा करना चाहिए। इस कथन से अष्टद्रव्य पूजा तपः कल्याणक (आहारदान) की प्रतीक है इस नई बात का ज्ञान होता है। शास्त्रों में मुनिका आहार काल भी मध्याह्न की सामायिक के बाद ही बताया है। पं०आशाधर ने भी अष्टद्रव्य पूजा इसी तरह मध्याह्न मे ही करना बताया है, देखो—सागर धर्मामृत अध्याय ६ श्लोक २१-२२।

हमारी सारी जिन पूजा विधि पचकल्याणक का ही प्रतिरूप है। इस विषय मे स्वतन्त्र रूप से अलग लेख द्वारा प्रकाश डालने का विचार है।

□□

(शेष पृ० ५ का शेषांश)

मन वचकाय धरै दृढ चित, यह अपनो पद जानहु मित्त॥
दोहा—दया ज्ञान सतोष अति, निर्वेद भाव निःसंग।
निर्निदान शुभ ध्यान अति, ए पुनि धर्म जु अंग॥
इति धर्मानुप्रेक्षा॥११॥

अथ दुर्लभानुप्रेक्षा/चौपाई

अनंतकाल इक इन्द्रिय रह्यो, त्रस पद पाय जु दुर्लभ भयो।
कष्ट-कष्ट करि नरतन पाय,कर प्रमाद विषयन मन लाय॥
उत्तम देव धर्म गुरु लीक, इन्द्रिय मन पुनि रह्यो न ठीक।
यनत्त्वर तह दुर्लभ जोग, करण लब्धि दुर्लभ सयोग॥
दोहा—जुवा सैल सयोग तुल्ल, भए पुनि मानिजैं।
जैनधर्म अतिसार, सो अति दुर्लभ जानिजैं॥
इति दुर्लभानुप्रेक्षा॥१२॥

चौपाई

एद्वादश अनुप्रेक्षा सुख दैनी, स्वर्ग मोक्ष पद जानि न सैनी॥
जो मुनिराज चितवइ हेत, धर्म शुक्ल साधै शुभ चेत॥
इति द्वादशानुप्रेक्षा समाप्ताः

श्रुतकुटीर
६८, कुन्ती मार्ग, विश्वास नगर
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

मेघदूत और पार्श्वाभ्युदय के कथानकों का तुलनात्मक अध्ययन

□ श्री कपूर चन्द जैन

कवि कुलगुरु महाकवि कालिदास की अमर कृति मेघदूत न केवल संस्कृत साहित्य अपितु विश्वसाहित्य की अप्रतिम कृति है। परवर्ती काल मे अनेक जैन कवियों ने एक नवीन उद्देश्य को ग्रहण कर मेघदूत के चरणों / चतुर्थ चरण को लेकर समस्यापूर्ति के रूप मे अनेक पादपूर्ति-काव्यों की रचना की ऐसे काव्यों में पार्श्वाभ्युदय, नेमिदूत, शीलदूत, चैतोदूत आदि अति प्रसिद्ध हैं।

आठवी-नौवी[1] शती के महान् जैन कवि आचार्य जिनसैन अपने आदि पुराण के कारण संस्कृत पुराणकारों में तो महत्वपूर्ण स्थान रखते ही हैं पार्श्वाभ्युदय के कारण संस्कृत गीतिकाव्यकारो की विदग्ध मडली मे भी वे जा बैठ हैं। मेघदूत के प्रत्येक श्लोक के एक या दो चरणो को समस्यापूर्ति के रूप मे लेकर लिखा गया यह काव्य संस्कृत जैन गीतिकाव्यो में सर्वाधिक महत् कलेवर वाला काव्य है। जिनसेन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होने श्रृंगार के वातावरण को अपनी प्रतिभा से शान्त रस मे परिणत कर दिया है।

३६४ श्लोक प्रमाण प्रस्तुत काव्य की कथा वस्तु चार सर्गों में बँटी है जिनमें क्रमशः ११८, ११८, ५७, ७१ श्लोक हैं। समस्यापूर्ति का आवेष्टन ८ प्रकारो मे किया गया है—

(१) वे श्लोक जिनमें प्रथम चरण मेघदूत का कोई चरण है बाकी तीन कवि रचित। ऐसे कुल २ श्लोक हैं।[2]

(२) वे श्लोक जिनमें द्वितीय चरण मेघदूत का कोई चरण है बाकी तीन कवि रचित। ऐसे भी कुल २ श्लोक हैं।[3]

(३) वे श्लोक जिसमें चतुर्थ चरण मेघदूत का कोई चरण है बाकी के तीन कवि रचित। ऐसे कुल २३५ श्लोक हैं।[4]

(४) वे श्लोक जिनमें प्रथम और तृतीय चरण मेघदूत के कोई चरण हैं बाकी दो कवि रचित। ऐसे कुल ६ श्लोक हैं।[5]

(५) वे श्लोक जिनमें प्र० और च० चरण मेघदूत के कोई चरण है बाकी दो कवि रचित। ऐसे तीन श्लोक हैं।[6]

(६) वे श्लोक जिनमें द्वितीय तृतीय चरण मेघदूत के कोई चरण हैं बाकी दो कविरचित। ऐसा केवल १ श्लोक है।[7]

(७) वे श्लोक जिनमे द्वितीय और चतुर्थ चरण मेघदूत के कोई चरण ह बाकी दो कवि रचित। ऐसे कुल १२ श्लोक हैं।[8]

(८) वे श्लोक जिनमें तृतीय चतुर्थ चरण मेघदूत के कोई चरण हैं बाकी दो कवि रचित। ऐसे कुल ६७ श्लोक है।[9]

इसके अतिरिक्त ६ श्लोक ऐसे भी हैं जिसमें मेघदूत का कोई चरण नही है। ये अन्तिम मगलस्वरूप हैं और काव्य के अन्त मे हैं।[10]

पार्श्वाभ्युदय के उक्त विवरणी को एक विवरणी द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

क्र०	सर्ग	मे० का प्रथम चरण	मे० का द्वितीय चरण	मे० का चतुर्थ चरण	मे० का १+३ चरण	मे० का १+४ चरण	मे० का २+३ चरण	मे० का २+४ चरण	मे० का ३+४ चरण	योग
१	प्रथम			१००			१		१७	११८
२	द्वितीय			७८	४	१		४	३१	११८
३	तृतीय			८	५	२		८	३४	५७
४	चतुर्थ	२	२	४६					१५	६५
योग		२	२	२३२	९	३	१	१२	९७	३५८
मेघदूत		१/२	१/२	५८	४॥	१॥	१/२	६	४८॥	१२०

३५८+६=३६४ (छः श्लोकों में पादपूर्ति नही)।

पार्श्वाभ्युदय मेघदूत पर समस्या पूर्ति के रूप में लिखा गया है। अतः मेघदूत के पाठ निर्धारण में महत्त्वपूर्ण आधार का काम करता है। जिनसेन मेघदूत के कुल १२० श्लोकों से परिचित थे यह उक्त बिवरणी में स्पष्ट कर दिया गया है। मेघदूत के समान ही इस काव्य में मन्दाक्रान्ता छन्द व्यवहृत हुआ है। छः श्लोकों में छन्द परिवर्तित है।

मेघदूत के उपजीव्य के सन्दर्भ में विद्वान् एक मत नही हैं। कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद मे आये सरमापणि सवाद को मेघदूत के रूप मे स्वीकार किया है।[11] मेघदूत के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ का कथन है कि भगवान राम ने सीता के लिए हनुमान के द्वारा जो सन्देश भेजा उसी को ध्यान में रख कर कालिदास ने मेघदूत की रचना की है।[12] डा० भीखनलाल आत्रेय प्रभृति विद्वानो की दृष्टि मे योगवाशिष्ठ रामायण मे मेघदूत का मूल है किंतु रामायण के उक्त अश में प्रक्षिप्तता तथा योगवाशिष्ठ का काल निश्चित न होने के कारण स्वय डा० आत्रेय दोनों के पूर्वापर का निर्धारण नही कर सके है।[13] कुछ विवेचकों की दृष्टि में कुवेर ने यक्ष को जो शाप दिया उसका आधार ब्रह्मवैवर्तपुराण में योगिनी नामा आषाढ़ कृष्ण पक्ष एकादशी के महात्म्य में एक कथा आती है।[14] और कुछ विद्वानों की दृष्टि में स्वयं महाकवि कालिदास के जीवन में कोई ऐसी घटना घटी जिसे उन्हें अपनी परम प्रिया का वियोग सहन करना पड़ा, तभी उनकी हृदयतंत्री से अचानक मेघदूत फूट पड़ा। इसके विपरीत पार्श्वाभ्युदय का कथानक पुराण प्रसिद्ध है। जैन पुराणों मे २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र विशदता से वर्णित है और कमठ द्वारा उपसर्ग की घटना और भी विशिष्टता से वर्णित है। जिनसेन ने इसी घटना से अपना ग्रन्थ प्रारम्भ किया है। पुराण की कथा को काव्योचित रीति से परिवर्तित परिवर्धित किया गया है। स्वय जिनसेन कथा गुणभद्र रचित आदि पुराण को पार्श्वाभ्युदय का मूल कहा जा सकता है। पार्श्वाभ्युदय की कथा संक्षेप मे इस प्रकार है—

पोदनपुर नरेश अरविन्द के द्वारा बहिष्कृत किया हुआ कमठ सिंधु नदी के तट पर तपस्या करता है। मरुभूति कमठ के समीप आता है, जिसे देखकर कमठ की क्रोधाग्नि भड़क उठती है और वह ऊपर पाषाणशिला गिरा देता है, जिससे मरुभूति मर जाता है। अनन्तरं दोनों अनेक जन्मों में एक दूसरे को कष्ट देते रहते हैं। मरुभूति का जीव वाराणसी मे पार्श्वनाथ होता है। दीक्षा धारण के पश्चात् तपश्चरण करते समय कमठ का जीव, जो इस जन्म मे शम्बर नाम का देव है, उसे देखता है और उसका पूर्वकालीन बैर जाग्रत हो जाता है वह सिंह के समान गर्जना करता है और युद्ध के लिए ललकारता है। युद्ध में मृत्यु पाने के बाद स्वर्गस्थित अलकापुरी जाने का परामर्श देता है, जहा शम्बर की प्रेयसी वसुन्धरा विद्यमान है। पार्श्वनाथ के मौन रहने पर शम्बर उसे पूर्व भवों की याद दिलाता है और युद्ध मे पार्श्वनाथ के मारे जाने की सम्भावना को लेकर स्वयं मेघ रूप धारण करने के कारण पार्श्वनाथ को भी मेघ का रूप देकर उत्तर दिशा मे स्थित अलकापुरी आने का परामर्श देता है।

इतने पर भी पार्श्वनाथ शान्त रहते हैं। शम्बर पुनः युद्ध के लिए प्रेरित करता है तथा माया शक्ति से स्त्रियो का गाना प्रारम्भ करा देता है जब पार्श्वनाथ विचलित नही होते तो वह पाषाण की वर्षा प्रारम्भ करता है तभी धरणेन्द्र और पद्मावती नागदेव वहां आते हैं। और उपसर्ग दूर करते हैं। पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हो जाता है तथा शम्बर क्षमा याचना करता हुआ धर्म ग्रहण करता है। आकाश से फूलो की वर्षा होती है।

मेघदूत का कथानक जहा एकदम स्पष्ट है और संदेश तथा संदेश के वचन भी एकदम स्पष्ट हैं वहां पार्श्वाभ्युदय का कथानक कुछ उलझा हुआ है। डा० नेमिचन्द शास्त्री का यह कथन कि—"काव्य शैली की जटिलता के कारण पार्श्वाभ्युदय की कथावस्तु सहसा पाठक के समक्ष नहीं आ पाती।" ठीक ही है।[15] कवि ने मेघदूत के ही कथानक को पल्लवित करने का सफल प्रयास किया है। किन्तु मेघदूत की ही तरह वर्णनों के लोभ के कारण जिनसेन काव्य में उतना चमत्कार नही ला सके हैं। यदि किसी दूसरे कथानक को जिनसेन उठाते तो निश्चय ही वह इस कथानक से अधिक हृदयावर्धक होता।

इसी प्रकार पार्श्वाभ्युदय के संदेश-वचन भी स्पष्ट नहीं है। डा० गुलाब चन्द्र चौधरी का यह कहना ठीक ही है कि—"वैसे पार्श्वाभ्युदय, मेघदूत की समस्यापूर्ति में

रचा गया है इससे इसे सन्देश काव्यों की श्रेणी में रख सकते हैं पर इसमें दूत या सन्देश शैली के कोई लक्षण नहीं है। इसे हम एक अच्छा पादपूर्ति काव्य कह सकते हैं।"

मेघदूत की तरह पार्श्वाभ्युदय मे रामगिरि से अलका तक के मार्ग का वर्णन किया गया है। रामगिरि मे आम्रकूट पर्वत, नर्मदा नदी, विन्ध्यवन, दशार्ण देश और उसकी राजधानी विदिशा, वेत्रवती नदी उसके पश्चात नीचैः पर्वत, निर्विन्ध्या नदी तथा सिन्धु नदी का उल्लेख है। तदनन्तर उज्जयिनी में जिनेन्द्र के मन्दिर में जिन स्तुति करने तथा महाकाल नामक वन में जिनालयों के दर्शन करने की सलाह पार्श्वनाथ (मेघ) को शम्बर ने दी है। मेघदूत की तरह ही उज्जयिनी का वर्णन है। आगे गम्भीरा नदी, देव गिरि पर्वत, चर्मण्यवती नदी, दशपुर नगर, ब्रह्मावर्त देश, कुरुक्षेत्र, कनखल, हिमालय, क्रौंचरन्ध्र का वर्णन किया है। ये सभी स्थान मेघदूत में आये हैं इस दृष्टि से इसे परापरमगत वर्णन कहा जा सकता है। अलकापुरी का भव्यचित्र जिनसेन ने खीचा है। अलका में पूर्व जन्म की पत्नी वसुन्धरा से मिलन का वर्णन किया है। इस प्रकार कुल मिलाकर जिनसेन ने मेघदूत के कथानक को ही पल्लवित किया है। किन्तु अपनी प्रतिभा से उसमें विलक्षणता ला दी है, किसी श्लोक के चरण को लेकर पूरे श्लोक और कथानक मे सयोजन करना कितना दुष्कर कार्य है। यह पाठकों से छिपा नहीं है। पार्श्वाभ्युदय में कमठ यक्ष के रूप में उसकी प्रेयसी भ्रातृपत्नी वसुन्धरा यक्षपत्नी रूप मे अरविन्द कुबेर रूप में तथा पार्श्वनाथ मेघराजरूप में कल्पित हैं। वसुन्धरा की विरहावस्था का वर्णन मेघदूत की यक्षप्रेयसी की विरहावस्था के समान सरस तथा भावुकतापूर्ण है। पर सन्देश मेघदूत से भिन्न है। शम्बर पार्श्वनाथ के धैर्य, सौजन्य सहिष्णुता और अपारशक्ति से प्रभावित होकर स्वयं वैर भाव का त्याग कर उनकी शरण मे पहुचता है और पश्चाताप करता हुआ अपने अपराध की क्षमा याचना करता है। इस प्रकार काव्य की समाप्ति शृंगार में न होकर शान्त रस मे होती है।

कुन्द कुन्द जैन डिग्री कालेज, खतौली (उ० प्र०)

सन्दर्भ

१. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री : आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, गणेश प्रसाद वर्णी ग्रंथमाला वाराणसी, पृष्ठ ३१।
२. पार्श्वाभ्युदय : सम्पा० मो० गौ० कोठारी, प्रकाशक गुलाब चन्द हीराचन्द बम्बई, ४।३६ तथा ३९।
३. वही ४।३७ तथा ४०।
४. वही सर्ग प्रथम १ से १००।
सर्ग द्वितीय—१ से २०, ३७ से ४६, ४८, ४९, ५१, ५२, ५४, ५५, ५७, ५८, ६० ६१, ८१ से ११८।
सर्ग तृतीय—१८ से १५।
सर्ग चतुर्थ—१ से २४, ३० से ३५, ४६, ४७, ५१, ५२, ५४ से ६५।
५. वही २।६५, ६९, ७३, ७५। ३। ३८, ४०, ४८, ५०, ५२।
६. वही २।६६, ३।३६ तथा ३८।
७. वही २।११३।
८. वही २।६७, ७०, ७१, ७२।३।८, ४१ से ४६, ५४।
९. १।१०१ से ११२, ११४, ११५ से ११८। २।२१ से ३६, ४७, ५०, ५३, ५६, ५९, ६२, ६३, ६४, ६८, ७४, ७६, ७७।
१०. वही ४।६६ से ७१।
११. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री : संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, भारतीय ज्ञानपीठ काशी पृष्ठ, ४७१।
१२. 'सीता प्रति रामस्य हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देशं कवि कृतवानित्याहुः'—मेघदूत के प्रथम श्लोक पर मल्लिनाथ कृत टीका।
१३. डा० भीखन लाल आत्रेय, (योगवाशिष्ठ में मेघदूत शीर्षक लेख) कालिदास ग्रन्थावली, अलीगढ़।
१४. आचार्य शेषराज शर्मा कृत मेघदूत की व्याख्या, चौ० विद्या भवन वाराणसी देखें।
१५. डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत गीतिकाव्यानुचिन्तनम् सुशीला प्रकाशन धौलपुर १९७०, पृष्ठ ९६।
१६. डा० गुलाब चन्द्र चौधरी : जैन साहित्य का बृहद इतिहास भाग ६, पाठ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी पृष्ठ ५४७।

"केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में संरक्षित"

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं

□ नरेश कुमार पाठक

भगवान पार्श्वनाथ इस अवसर्पिणी के तेईसवें जिन हैं। पार्श्वनाथ को जैन धर्म का सर्वज्ञ तीर्थंकर माना गया है। वाराणसी के महाराज अश्वसेन उसके पिता और बामा या (वर्मिला) उनकी माता थीं।[1] जन्म के समय बालक सर्प के चिन्ह से चिन्हित था। आवश्यक चूर्णि एवं त्रिषाष्टिका पुरुष चरित्र में उल्लेख है, कि माता ने गर्भकाल में एक रात अपने पार्श्व में सेर्प को देखा था; इसी कारण बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा गया। उत्तर पुराण के अनुसार जन्माभिषेक के बाद इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा। पार्श्वनाथ का विवाह कुशस्थल के शासक प्रसेनजित की पुत्री प्रभावती से हुआ, दिगम्बर ग्रंथो मे पार्श्वनाथ के विवाह प्रसंग का उल्लेख नही है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार नेमि के भित्ति चित्रो को देखकर और दिगम्बरों के अनुसार ऋषभ के वांगमय जीवन की बातों को सुनकर, तीस वर्ष की अवस्था में पार्श्वनाथ के मन मे वैराग्य उत्पन्न हुआ। पार्श्वनाथ ने आश्रमपद उद्यान मे अशोक वृक्ष के नीचे पचमुष्टि से केशों को लुञ्चन कर दीक्षा ली।

पार्श्व वाराणसी से शिवपुरी नगर गए और वहीं कोशाम्ब वन मे कायोत्सर्ग में खड़े होकर तपस्या प्रारम्भ की। धरणेन्द्र ने फण से पार्श्व की रक्षा के लिए उनके मस्तके पर छाया की थी। अपने एक भ्रमण में पार्श्व तापसाश्रम पहुंचे और सन्ध्या हो जाने के कारण वही एक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग में खड़े होकर तपस्या प्रारंभ की। उसी समय आकाश मार्ग से मेघमाली (याशाम्बर) नाम का असुर (कमठ का जीव) आ रहा था। जब उसने तपस्यारत पार्श्व को देखा तो उसे पार्श्व से अपने पूर्वजन्मों के बैर का स्मरण हो आया। मेघमाली ने पार्श्व की तपस्या भंग करने के लिए तरह-तरह के उपसर्ग उपस्थित किए। पर पार्श्व पूरी तरह अप्रभावित और अविचलित रहे। मेघमाली ने सिंह, गज, वृश्चिक, सर्प और भयंकर वैताल आदि के स्वरूप धारण कर पार्श्व को अनेक प्रकार की यातनाएं दीं। उपसर्गों के बाद भी पार्श्व विचलित नही हुए तो मेघमाली ने माया से भयंकर वृष्टि प्रारम्भ की जिससे सारा वन प्रदेश जलमग्न हो गया। पार्श्व के चारों ओर वर्षा का जल बढ़ने लगा जो धीरे-धीरे उनके घुटनों, कमर, गर्दन और नासाग्र तक पहुंच गया। पर पार्श्वनाथ का ध्यान भंग नही हुआ। उसी समय पार्श्व की रक्षा के लिए नागराज धरणेन्द्र पद्मावती एवं वैरोट्या जैसी नागदेवियो के साथ पार्श्व के समीप उपस्थित हुए। धरणेन्द्र ने पार्श्व के चरणों के नीचे दीर्घनालयुक्त पद्म की रचना कर उन्हें ऊपर उठा दिया, उनके सम्पूर्ण तन को अपने शरीर से ढक लिया साथ ही शीर्ष भाग के ऊपर सप्तसर्प, फणों का छत्र भी प्रसारित किया।[1] उत्तर पुराण (७३-१३९-४०) के अनुसार धरणेन्द्र ने पार्श्वनाथ को चारों ओर से घेर घर कर अपने फणो पर उठा लिया था और उनकी पत्नी पद्मावती ने शीर्ष भाग में बज्रमय छत्र की छाया की थी। मेघमाली ने अपनी पराजय स्वीकार कर पार्श्व से क्षमा याचना की। इसके बाद धरणेन्द्र भी देवलोक चले गए। उपर्युक्त परम्परा के कारण ही मूर्तियों पार्श्व के मस्तक पर सात सर्पफणो के छत्र प्रदर्शन की म परम्परा प्रारम्भ हुई। मूर्तियों में पार्श्व के घुटनों या चरणों तक सर्प की कुण्डलियों का प्रदर्शन भी इसी परंपरा से निर्देशित हैं। पार्श्व को छत्र से युक्त दिखाया गया है।

पार्श्वनाथ को वाराणसी के निकट आश्रम पद उद्यान में धात की वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में केवल ज्ञान और १०० वर्ष की अवस्था में सम्मेद शिखर पर निर्वाण पद प्राप्त हुआ।[1]

केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ६ दुर्लभ प्रतिमाएं संग्रहित हैं। जिन्हें मुद्राओं के आधार पर दो भागों में बांटा गया है। (अ) कायोत्सर्ग (ब) पद्मासन।

(अ) कायोत्सर्ग—कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित अहमदपुर (जिला विदिशा) से प्राप्त (सं० क्र० ११६) तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सिर पर कुन्तलित केश ऊपर पांच फणों का छत्र शैय्या बनी हुई है। वक्ष पर श्रीवत्स अंकित है। तीर्थंकर के दायें सौधर्मेन्द्र और बाए ओर ईशानेन्द्र चंवरी लिए खड़े हैं। परिकर में दो कायोत्सर्ग में जिन प्रतिमाए एव दो पद्मासन मे पार्श्वनाथ की नागफण मौलि युक्त लघु प्रतिमा अकित है। पादपीठ पर दो सिंहों के बीच धर्मचक्र स्थित है। सिंहों के पास क्रमश: यक्ष धरणेन्द्र और बाए यक्षी पद्मावती का आलेखन है। एस० आर० ठाकुर ने इस प्रतिमा को जैन तीर्थंकर लिखा है।[१] ११ वी शती ई० की यह प्रतिमा कलात्म अभिव्यक्ति की दृष्टि से परमार कालीन शिल्पकला के अनुरूप है।

(ब) पद्मासन—पद्मासन में निर्मित तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पांच प्रतिमायें संग्रहालय में संरक्षित है। पढ़ावली (जिला मुरैना) से प्राप्त मूर्ति में (सं०क्र० १२४) पद्मासन मे बैठे हुए तीर्थंकर पार्श्वनाथ के दोनों पैर भग्न हैं। ऊपर सप्त फण नागमौलि का अङ्कन है। प्रभावली, सिर पर कुन्तलित केशराशि बक्ष पर श्री वत्स का प्रतीक है। सप्तफण के छत्र के ऊपर दुन्दभिक है। दोनों ओर एक एक हाथी अभिषेक करते हुए प्रदर्शित हैं। तीर्थङ्कर के दाए ओर सौधर्मेन्द्र और बाए ओर ईसानेन्द्र चवरी लिए हाथियों पर खडे है। परिकर मे दोनो ओर दो-दो जिन प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़ी है। प्रतिमा की चौकी पर दो सिंहो के बीच धर्मचक्र स्थित है। सिंह के बायी ओर यक्षी पद्मावती बैठी है। बाए ओर स्थित यक्ष धरणेन्द्र की प्रतिमा टूट चुकी है। बाहरी अलकरण मे मकर आदि व्याल आकृतियो का आलेखन है। एस० आर० ठाकुर ने इन प्रतिमाओं को भी जैन तीर्थङ्कर लिखा है।[१] ग्यारहवीं शती ईस्वी की यह प्रथम प्रतिमा शारीरकि अवयवों को देखते हुए कच्छपघात का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त (सं० क्र० १३०) पद्मासन में निर्मित तीर्थंकर पार्श्वनाथ के मुख, हाथ व पैर खण्डित है। सिर पर सप्तफण नागमौलि, वक्ष पर श्री वृक्ष अंकित है। सिर के ऊपर त्रिछत्र दोनों ओर विद्याधर पुष्पहार लिये प्रदर्शित है। परिकर एवं वितान में पांच पद्मासन में एवं छ: कायोत्सर्ग में जिन प्रदर्शित है। परिकर एवं वितान में पांच पद्मासन मे एवं छ: कायोत्सर्ग में जिन प्रतिमाओं का अंकन हैं। तीर्थंकर के दायें सौधर्मेन्द्र और बायें ईशानेन्द्र चवरी लिये खड़े है। पादपीठ के नीचे दोनों सिंह आकृतियां एवं सिंहों के पार्श्व में यक्ष धरणेन्द्र और बायें यक्षी पद्मावती का अंकन है। निकट ही दो भक्तों का आलेखन है।[१] १४वीं शती ईस्वी की यह प्रतिमा तोमर कालीन कला की उत्कृष्ट कृति है।

इसी काल खण्ड की (सं० क्र० ४७५) प्रतिमा भी ग्वालियर से ही प्राप्त है। पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का अकन है। तीर्थंकर के दायें सौधर्मेन्द्र और बायें ईसानेन्द्र चवरी लिए खड़े हैं पादपीठ पर मध्य में चक्र दोनो पार्श्व मे विपरीत दिशा में मुख किये सिंह आकृतियो का आलेख है। परिकर में दोनों और सिंह व्यालो का शिल्पांकन है।

ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त (सं० क्र० १२०) तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा का केवल पादपीठ ही प्राप्त हुआ है। जिस पर दोनो ओर सामने मुख किये सिंह बैठे हैं, जिनके मध्य में धर्मचक्र और दोनों ओर भक्तगण अंजली हस्त मुद्रा में बैठे हुए हैं। दोनों पार्श्व यक्ष धरणेन्द्र एवं यक्षी पद्मावती का अंकन हैं। पादपीठ पर विक्रम संवत १५९६ (ईस्वी सन् १५३९) का स्थापना लेख उत्कीर्ण है।[१]

ग्वालियर दुर्ग से ही प्राप्त (सं० क्र० ३०६) तीर्थंकर पार्श्वनाथ का केवल सिर ही प्राप्त है। जिस पर सप्तफणों मे युक्त आकर्षक नागमौलि का अच्छादन है। सिर पर कुन्तलित केश सज्जा का अंकन है। चेहरा अण्डाकार, आंखें आधी बन्द है। हालाकि नाकथोड़ी टूटी हुई है। परन्तु चेहरो की भाव दृष्टि से प्रतिमा १०वी शती ईस्वी की है।

सन्दर्भ सूची

१. महापुराण (पुष्पदंत कृत) सं० पी० एल० वैद्य मानिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला पर बम्बई १९४१ में पार्श्व के माता-पिता का नाम ब्राही और विश्वसेन बताया गया है। (शेष पृ० १६ पर)

उत्तम ब्रह्मचर्य : एक अनुशीलन

लेखक : डा० कस्तूरचंद 'सुमन'

जैन धर्म में दस धर्म बताये गए हैं, उनमे यह शांति धर्म है।[1] आचार्य समन्तभद्र ने धर्म की संज्ञा उसे दी है जो जीवो को समार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुखों में पहुंचाता है, कर्मों का नाशक होता है, और उभय लोक में उपकार करता है।[2] ब्रह्मचर्य एक ऐसा ही धर्म है। इसका धर्मों के अन्त मे कहा जाना इस तथ्य का प्रतीक है कि इसके पूर्व कथित धर्मों की साधना के उपरान्त ही इस धर्म की साधना सम्भव है। इस धर्म के सम्बन्ध में मुनि विद्यानन्द जी के विचार उल्लेखनीय है "जिस प्रकार मन्दिर बनाने के बाद स्वर्ण कलश चढ़ाते हैं उसी प्रकार यह धर्म पर चढ़ा हुआ स्वर्ण कलश है।[3] अतः कहा जा सकता है कि मानव जीवन में इसका उतना ही महत्व है जितना महत्व है मन्दिर के स्वर्ण कलश का मन्दिर के निर्माण में।"

संसारी प्राणी दुःखों से भयभीत हैं वे सुख चाहते है।[4] किन्तु वे सुख साधन उपलब्ध होने पर भी उन्हें तब तक ग्रहण नही करते जब तक कि वे उनसे परिचित नही हो जाते। अतः ब्रह्मचर्य के विविध रूपों को आइए हम समझें।

आचार्य उमा स्वामी ने "मैथुनमब्रह्म" कह कर मैथुन क्रिया को अब्रह्म कहा है।[5] तथा अमृतचन्द्राचार्य ने वेद और राग के योग को मैथुन संज्ञा दी है और उसे ही अब्रह्म कहा है।[6] भगवती-आराधना में ब्रह्म का अर्थ जीव बताया है तथा पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में आत्मा।[7]

अतः इन उल्लेखों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि आत्मा का उपयोग आत्मा में ही लीन होने लगना, ब्रह्मचर्य है। जैसे कछुआ दुःखों का संकेत पाकर अपने अंगों का संकोच कर लेता है इसी प्रकार सुखाभिलाषी जीव को भी विषयों से मुख मोड़ना होगा।

अब्रह्म अर्थात् मैथुन के त्याग में आचार्यों की अन्तर्निहित भावना यही है कि प्राणी सुखी हो। सुख का कारण धर्म, जीव-दया पर आश्रित है तथा मैथुन है हिंसा जनित दोषों से पूर्ण।[8] राग-जनित होने से भाव-प्राणों का भी घातक है : रज और वीर्य जनित कीटाणुओं का घात होने से द्रव्य प्राणो की हिंसा होती ही है।[9]

जीव दया का तात्पर्य शरीर दया नही है क्योंकि जीव नहीं है। जीव तो शरीर से भिन्न है। चैतन्य स्वभावी है। यथार्थ में उसकी रक्षा करता है—उसे विकृति में नहीं जाने देना। अब्रह्म से हटकर ब्रह्म में रमण करने से ऐसी ही जीव दया का संरक्षण होता है। और इसीलिए आवश्यक है कि हम ब्रह्म मे रमण करें। हिंसा जनित अब्रह्म से बचें।

निश्चय नय से तो ब्रह्मचर्य का यही स्वरूप है। मुनि ऐसे ही ब्रह्मचर्य को धारते हैं, किन्तु व्यवहार से स्वकीय-परकीय दोनों प्रकार की स्त्रियों का त्याग हो जाना ब्रह्म-

---

(पृ० १५ का शेषांश)

२. त्रिषष्टिशालाका पुरुष चरित्र खण्ड ५ (हेमचन्द्रकृत) अनु० हेलेन एम० जानसन, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज १३९ बड़ोदा १९६२ पृष्ठ ३९४-९६।

३. तिवारी मारुति नन्दन प्रसाद जैन प्रतिमा विज्ञान वाराणसी १९८१ पृष्ठ १२४-२५।

४. ठाकुर एस० आर० कैटलाग आफ स्कल्पचर्स आर्केलाजीकल म्यूजियम मध्य भारत पृष्ठ २१ क्रमांक ७।

५. वही पृष्ठ २२ क्रमांक १२।

६. वही पृष्ठ २३ क्रमांक १८।

७. दीक्षित एस० के० ए गाईड टू दी सेन्ट्रल आर्केलोजीकल म्यूजियम ग्वालियर १९६२ पृष्ठ ४२, एव ठाकुर एस० आर० पूर्वोक्त पृष्ठ २१ क्रमांक ८।

केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय,
गूजरीमहल, ग्वालियर

· चर्य है। जो नारी के मर जाने से ब्रह्मचारी बन जाते हैं तथा ब्रह्मचारी बन जाने पर भी जिनकी नारियों के प्रति आसक्ति नही घट पाती वे ब्रह्मचर्य को दूषित करने वाले दोषों से नहीं बच पाते। वे तो "नारि मुयी हुए सन्यासी" कहावत को चरितार्थ करते है।

सांसारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करने या वंश परम्परा चलाने हेतु जो लोग उत्सुक है, ऐसे लोगो के लिए आचार्यों ने स्वदार-सन्तोष व्रत धारण करने के लिए कहा है। ऐसा मानव पाप के डर से मन, वचन, काय से पर स्त्री का सेवन नही करता तथा दूसरो को भी मन, वचन, काय से सेवन नही कराता। वेश्याओ को भी नही सेवता, न सेवन हेतु दूसरो को कहता है।[10]

प्रश्न होता है कि ऐसा क्यो कहा गया ? क्या इसमे हिंसा नही होती ? हिंसा तो अवश्य होती है, परन्तु गृहस्थ की मर्यादा बनी रहे, सामाजिक नैतिकता और व्यवस्था भंग न हो इस दृष्टि से ऐसा करना न्यायोचित प्रतीत होता है। इस व्रत के कथन मे आचार्यों की दूरदर्शिता ही परिलक्षित होती है। ऐसा व्रती स्वदार सेवक तो अवश्य है, किन्तु अनासक्ति पूर्वक।

इस उल्लेख का तात्पर्य यह नही है कि स्वदार सतोष व्रत को केवल पुरुष ही माने। स्त्रियो का भी कर्तव्य है कि वे स्व-पुरुष मे हो सन्तुष्ट रहें। परपुरुष का मन में भी चिन्तवन न कर अपने आभूषण शील की रक्षा करें।

ब्रह्मचर्य पालन में सहायकअग ब्रह्मचर्य पालन हेतु एक ओर जहा बाह्य परिस्थितियो का आचार्यों ने उल्लेख किया है। दूसरी ओर आन्तरिक परिस्थितियो को भी दर्शाया है। बाह्य कारणो को उन्होने अतिचार और अन्तर से सम्बन्धित कारणो को भावना नाम से सम्बोधित किया है। स्त्रियो मे राग-वर्द्धक कथाओ का श्रवण, उनके मनोहर अङ्गो का दर्शन, भोगे हुए विषयो का स्मरण, काम-वर्द्धक गरिष्ठ भोजन और शारीरिक संस्कार ये पाच भावनाएँ है।[11] जिनका चित्त पर प्रभाव पड़े बिना नही रहता, ब्रह्मचर्य की साधना मे इनस बाधा उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार जो दूसरो के पुत्र-पुत्रियो का विवाह करते कराते हैं, पति सहित या रहित स्त्रियो के पास आते-हैं' लेन-देन रखते हैं, राग-भाव पूर्वक बातचीत करते हैं। वेश्याओं से सम्बन्ध रखते। काम सेवन के लिए निश्चित अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से काम-सेवन करते हैं और काम-सेवन की तीव्र अभिलाषा रखते हैं।[12] ऐसे लोग ब्रह्मचर्य की साधना नहीं कर पाते। अतः इन्हें ब्रह्मचर्य का घातक जान परित्याग करें। इनके रहते संते इस व्रत की साधना सम्भव नही है।

सम्प्रति कुसंगति भी एक प्रधान बाधा है। जो इस कुचक्र मे पड़ जाते हैं : वे बुरी आदतों से अपने को बचा नही पाते। क्योकि कहा भी है कि "काजल की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय, एक दाग काजर की लागि है पै लागि है।" अतः आवश्यक है कि सगति की जावे अवश्य किन्तु सुसगति ही जो कि व्रत साधना में सहायक सिद्ध हो। बाधक नही।

काम की प्रबलता—पचेन्द्रिय विषयों मे स्पर्श जनित काम वेदना के आगे ज्ञानियो का ज्ञान भी बेकार हो जाता है।[13] इस तथ्य से एक साधु सहमत न था। लेखक ने परीक्षार्थ एक युवती के रूप में उसके निकट जाकर परीक्षा चाही। सूर्यास्त हो रहा था युवती के रूप मे उसने साधु से कहा कि मुझे एक रात कुटिया में रहने दीजिए, किन्तु साधु ने स्वीकृति न दी। रात में मनोहर गीत गाये। गीत सुन साधु से रहा न गया, वे अपने आप को भूल गए। काम वेदना से पीड़ित हो उन्होने कपाट खोलने चाहे किंतु युवती ने बाहर की साकल बन्द कर दी थी। साधु ने सांकल बन्द करने का कारण पूछा—तो युवती ने कहा—आप ही अपने मन से पूछिए कि मेरे ऐसा विकल्प क्यो हो रहा है ? आपके हृदय मे कलङ्कमय भाव उत्पन्न हुए बिना मेरे ऐसे भाव नही हो सकते। आप पुरुष हैं किन्तु विकृत हो जाएं तो इस निजन वन मे मेरी कौन रक्षा करेगा। साधु ने बार बार आग्रह किया किन्तु जब युवती ने कपाट नही खोले तब साधु कुटी का छप्पर काट कर काम-वेदना शान्त करने के लिए बाहर आए और उन्होंने देखा कि वह युवती वहा पर नहीं है, युवती के स्थान पर वही पुरुष है जिसने कहा था कि काम-वेदना के आगे ज्ञानियों का ज्ञान बेकार हो जाता है। साधु लज्जित हुआ और उसने इस कथन को स्वर्णाक्षरों मे लिखने को कहा।

आचार्य रविसेन का इस सम्बन्ध में कथन है कि "सूर्य तो दिन में निकलता है पर काम रात-दिन। सूर्य का तो आवरण है पर काम है आवरणहीन।"[१४] इसी प्रकार भर्तृहरि का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि काम को खण्डित करने वाले विरले ही मनुष्य हैं।[१५] अतः काम प्रबल है, बलवान भी इसके आगे नत मस्तक हैं। ज्ञानी भी पराजित है, फिर भी अजेय है ऐसा नही कहा जा सकता। भेद विज्ञानियों ने इसे पराजित किया है। यथार्थ मे जितने लोग काम के वशीभूत हुए हैं उनके वशीभूत होने का कारण रहा है भेद-विज्ञान का अभाव।

प्रथमानुयोग में देशभूषण और कुलभूषण दो राजकुमारों का वृत्तान्त मिलता है। वे पढ़कर गुरु-गृह से अपने घर आते हैं। उनके स्वागत मे मां के साथ एक कन्या भी उनकी आरती उतारने खड़ी है। दूर से उस कन्या को देख कामासक्त दोनों राजकुमार उसे पाने के लिए झगड़ने लगते हैं। दोनों को झगड़ते देख माँ ने झगड़े का कारण पूछा। कारण ज्ञात कर उसने कहा—तुम दोनों व्यर्थ ही झगड़ रहे हो, यह तुम्हारी बहिन है। दोनों का चित्त ग्लानि से भर गया। जाग गया उनमे भेद-विज्ञान। वे द्वार से ही आंगन की ओर लौट गए और मुनि दीक्षा से कुन्थलगिरी से तप कर उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। देखिए ऐसा परिवर्तन कैसे हुआ? इसमें एक मात्र कारण है भेद-विज्ञान। अमृतचन्द्राचार्य ने ठीक ही कहा है—

> भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
> अस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा. ये किल केचन॥

कवि द्यानतराय का चिन्तन—कवि ने दशलक्षण-पूजा में "ब्रह्मभाव अन्तर लखो" कह कर सकेत किया है कि ब्रह्म भाव अन्तर मे ही देखना चाहिए।[१६] तात्पर्य यह है कि जब तक आन्तरिक प्रवृत्तिया ठीक नहीं होगी, अन्तर से ब्रह्म की साधना नही होगी, केवल बाह्य साधना फलीभूत नही होगी। जितने ऋषि-महा-ऋषि, ज्ञानी-ध्यानी, ब्रह्मचर्य से च्युत हुए हैं, उनमें निश्चित ही ब्रह्म साधना अन्तर मे न थी भले ही वे ब्रह्म का ऊपरी आवरण ओढ़े हुए रहे हैं। ऐसे लोग इन्द्रिय विषयों को रोकते हैं, उनका दमन करते हैं। स्वयमेव विषय जनित प्रवृत्ति शान्त नही होती। यही कारण है कि समय पाकर दबी हुई विषयज प्रवृत्तियाँ पुनः उत्पन्न हो जाती है। विषयों को छोड़ना तथा विषयों का छूट जाना इसमें महान् अन्तर है। छोड़ने में उनके प्रति रहने वाला राग-भाव नहीं छूट पाता जबकि छूट जाने में किंचित भी राग-भाव शेष नहीं रहता।

भगवान महावीर के सम्बन्ध में जो यह कहते हैं कि "वे राज-पाट छोड़कर चले गए थे" झूठ कहते हैं। उन्होंने राज-पाट छोड़ा नही था छूट गया था। वस्तुओं के प्रति राग-भाव उनका समाप्त हो गया था और यही कारण था कि माता-पिता के अनेक प्रकार के आग्रह करने पर भी वे पुनः नही लौटे। कभी विषयों ने उन्हें नहीं लुभाया।

ब्रह्मभाव निश्चित है। जब अन्तर मे उत्पन्न होगा तो बाह्य प्रवृत्तियाँ स्वयमेव वैसे ही प्रवर्तित होगी। विषयों की फिर दाल नहीं गलेगी। ब्रह्मचर्य की साधना पूर्ण होगी और नर भव सफल होगा इसमें दो मत नहीं है।[१७]

नारी और ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे चर्चा चलने पर प्रायः नारी को चर्चा का विषय बनाया जाता है। उसे बुरा कहा जाता है। आचार्य रविसेन ने स्त्री को संसार मे समस्त दोषों की महान् खान कहा है। उनका कथन है कि ऐसा कौन-सा निन्दित कार्य है जो उनके लिए न किया जाता हो।[१८] कवि द्यानतराय ने भी "ससार मे विष बेल नारी तज गये योगीश्वरा" कह कर नारी को विष बेल की उपमा दी है।[१९]

जैन दर्शन के तत्वज्ञदर्शी विद्वान स्व० कानजी स्वामी ने इस सम्बन्ध में कहा था कि ऐसा कथन निमित्त की अपेक्षा से हैं। वास्तव में स्त्री ससार का कारण नही है। उन्होंने दलील दी है कि यदि नारी बुरी है तो पूर्व भवों मे भी अनन्त बार द्रव्यलिंगी साधु हुआ, उसने स्त्री का संग छोड़ा, ब्रह्मचर्य पालन किया, फिर भी उसका कल्याण क्यो नही हुआ?[२०] किसी हिन्दी कवि का कथन भी यहां उल्लेखनीय है। नारी पुरुष से कहती है—

> अन्धकार की मैं प्रतिमा हूं जब तक हृदय तुम्हारा।
> तिमिरावृत है तब तक ही मैं, उस पर राज्य करूंगी॥
> और जलाओगे जिस दिन तुम, मुझे हुये दीपक को।
> मुझे त्याग दोगे वसन्त मे, रजनी की माता सी॥

इन उल्लेखों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि नारियां बुरी नहीं हैं। उन्हें जो बुरा बताया जा रहा है,

उनकी जो निन्दा की जा रही है, वह केवल निमित्त अपेक्षा से है। जब तक अज्ञान है तभी तक नारीगत सुखों में जीव मग्न रहता है। ज्ञान किरण के उदय होतेही नारियों का संग छोड़ना नहीं पड़ता स्वयमेव छूट जाता है। चक्रवर्ती भरत चूंकि भेद-विज्ञानी हैं, क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, यही कारण था कि ९६ हजार रानियां होते हुए भी स्वप्न में भी उनके अन्तर मे किंचित भी स्त्री राग उत्पन्न नहीं हुआ। गुरु गोपालदास जी बरैया और पण्डित दयाचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री, सागर के नाम भी इस सम्बन्ध में स्मरणीय हैं। जिन्होंने स्त्रियों के साथ रहते हुए भी निज कल्याण किया है।[11] अतः यह स्पष्ट है कि नारियां निन्दित नही हैं और न उनकी निन्दा ही की जानी चाहिए। जहाँ कही भी ऐसा कथन मिलता है उसमें विषयो के प्रति विरक्ति उत्पन्न करना ही लेखक का लक्ष्य रहा ज्ञात होता है।

नारियां आज भी साधक सिद्ध हो रही हैं। पूज्य वर्णी जी ने अपनी जीवन गाथा में लिखा हे कि "मैं पण्डित ठाकुरदास जी के पास पढ़ता था। वे बहुत विद्वान थे। उनकी दूसरे विवाह की पत्नी थी पण्डित जी की जब दो संतान हो चुकीं तब एक दिन पण्डितजी की नवोढा पत्नी ने कहा पण्डित जी अपने दो सन्तान—एक पुत्र व एक पुत्री हो चुके हैं अब पाप का कार्य बन्द कर देना चाहिए। पण्डित जी उसकी बात सुनकर कुछ हीला-हवाला करने लगे तो वह स्वयं उठ कर पंडित जी की गोद में जा बैठी और बोली कि अब तो आप मेरे पिता तुल्य हैं और मैं आपकी बेटी। पंडित जी गद् गद् स्वर मे बोले—बेटी! तू ने तो आज वह काम कर दिया जिसे मैं जीवन भर अनेक शास्त्र पढ़ कर भी न कर सका। उस समय से दोनो ब्रह्मचर्य से रहने लगे।[12]

इस दृष्टान्त से भी यही अर्थ प्रतिफलित होता है कि नारी संग बुरा नही है, बुरा अज्ञान भाव है जो स्त्री राग बनाए रहता है। यथार्थ में कारणों के अभाव में व्रत की साधना तो सम्भाव्य है किन्तु कारणों के रहते हुए व्रत की साधना बिना भेद-विज्ञान हुए सम्भव नही है। कारणों के सद्भाव में व्रत की साधना का अपूर्व फल होता है। देखिए असिधारा व्रत का प्रभाव।

प्रथमानुयोग में अनेक प्रेरक दृष्टान्त मिलते हैं। असिधारा-व्रत के सम्बन्ध मे कहा गया है कि इस व्रत के धारी पत्नी-पति दोनो साथ-साथ रहते हुए भी दोनों मे से पति एक पक्ष में ब्रह्मचर्य से रहने का नियमधारी होता है और पत्नी द्वितीय पक्ष में। इस प्रकार व्रत के धारी जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत की साधना करते है। इस व्रत के प्रभाव से ऐसे व्रती जहां आहार करते हैं वहा बांधा गया चन्दोवा भी अपनी मलिनता त्याग सफेद हो जाता है। ऐसे मुनियों को अहार देने से कहा गया है कि जीवानी नीचे गिर जाने से उत्पन्न दोष का निवारण हो जाता है।

अतः इस दृष्टान्त के परिप्रेक्ष्य मे भी नारियां निन्दनीय प्रतीत नही होती। व्रत साधना मे आवश्यक है कि चित्त मे नारी जनित विकृति उत्पन्न न होने देना। उनके सद्भाव मे भी पारणामिक निर्मलता बनाए रखने रखना। निर्मलता भी ऐसी जैसी लक्ष्मण के चित्त मे थी।

जब राम अपने भाई लक्ष्मण को सीता के केयूर कुंडल आदि आभूषण दिखाते हैं तो लक्ष्मण ने कहा था कि—मैं भाभी के कुण्डल, केयूर आदि नही जानता, मैं तो केवल भाभी के पैर मे पहने हुए सुहाग-चिन्ह स्वरूप बिछुओ को ही जानता हूं, क्योंकि प्रति दिन चरण-स्पर्श करते समय मेरी दृष्टि उन पर पड़ती थी।[13]

लेखक की दृष्टि में ब्रह्मचर्य धर्म—बहु चर्चित "धर्म के दशलक्षण" पुस्तक के लेखक ने स्पर्शन इन्द्रिय के विषय सेवन के त्याग रूप व्यवहार ब्रह्चर्य को ही ब्रह्मचर्य माना है। वहां पर अपने कथन की विशद् व्याख्या की है। यथार्थ मे इस स्पर्शन इन्द्रिय के विषय सेवन से त्याग के लिए आचार्यों ने यद्यपि बार बार कहा है, दृष्टान्त भी दिये हैं अवश्य, परन्तु इसका तात्पर्य आचार्यों का यह कदापि नही है कि वे अन्य शेष इन्द्रियों के विषय का त्याग न करें। यदि हम उनके कथन के अन्तर मे झांकने का प्रयास करें तो ज्ञात होगा कि उनका कथन वैसा नहीं था जैसा कि विद्वान लेखक ने समझा है क्योंकि ब्रह्मचर्य की साधना तभी सम्भव है जब साधक अन्य शेष इन्द्रियों के विषय का भी त्याग करें। कामोत्तेजक गरिष्ठ भोजन का उसे साधना हेतु त्याग करना ही पडता है, इसी प्रकार सुगन्धित पदार्थो का सूंघना, कामोत्तेजक कथाओंका श्रवण

स्त्री आदि का दर्शन-स्मरण भी छोड़ना होता है क्योंकि इन सद्भाव में ब्रह्मचर्य की साधना सम्भव नहीं है। आचार्यों ने अलग इन्द्रिय विषय सेवन के त्याग की चर्चा न कर उन्हें स्पर्शन इन्द्रिय के विषय-सेवन त्याग में उसी प्रकार सम्मिलित कर दिया है जैसे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ने अपने चातुर्याम में (परिग्रह में) ब्रह्मचर्य को सम्मिलित कर दिया था।

अतः केवल मैथुन के अभाव को ही ब्रह्मचर्य मानना या कहना युक्ति संगत नहीं है। आचार्यों की भी ऐसी भावना नहीं थी। इस धारणा से तो ऐकेन्द्रिय जीवों को भी ब्रह्मचारी मानना पड़ेगा। आचार्यों के कथन में उक्त भावना अन्तर्निहित रही ज्ञात होती है कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए सभी इन्द्रिय विषयों का त्याग अपेक्षित है। आचार्य उमा स्वामी ब्रह्मचर्य सम्बन्धी अनाचार और भावनाओं का उल्लेख क्यों करते यदि उनकी या परम्परागत अन्य आचार्यों की दृष्टि में स्पर्शन इन्द्रिय विषय के सेवन का त्याग ही ब्रह्मचर्य होता हो।

सारांश यह है कि व्रत की साधना ज्ञान के बिना नहीं। अतः हम स्वाध्याय करें। ब्रह्मचर्य से ही जीव संसार से पार होता है। उसके बिना व्रत तप सब असार है। ब्रह्मचर्य के बिना जितने काय-क्लेश किये जाते हैं वे सब निष्फल है।[१४] अतः आचार्यों के निर्देशानुसार ब्रह्मचर्य का पालन करे। विषयों की रुचि छोड़ स्त्रियों को माता, बहिन, पुत्री के समान माने। क्योंकि जैसे कुम्हार के चाक का आधार कीली है, चाक पर रखे हुए मिट्टी के पिंड से जैसे विविध रूप बनते हैं। इसी प्रकार संसार रूपी चाक का आधार स्त्री है, जीव उससे सम्बन्धित अनेक प्रकार के विकार करके चारों गतियों में भ्रमता है।[१५] इसी धर्म की रक्षार्थ केवली जम्बू स्वामी नव-विवाहिता पत्नियों को त्याग दीक्षित हुए थे।

इस धर्म के सम्बन्ध में मुख्यतया पुरुष को संकेत कर कहा गया है, परन्तु पुराणों में ऐसे कथानक भी उपलब्ध हैं जहां नारियों ने पुरुषों को शील से च्युत करने का प्रयास किया है। सेठ सुदर्शन के ऊपर झूठा आरोप रानी ने लगाया ही था, उस फांसी भी लगवा दी थी किन्तु सेठ के ब्रह्मचर्य का महात्म्य था कि शूली भी फूल की सेज बन गई थी। इसी प्रकार सीता के लिए अग्नि कुण्ड, नीर हो गया था। अतः आवश्यक है कि जीवन सफल बनाने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करें, यही है इस धर्म के उपदेश का सार।

सन्दर्भ-सूची

१. उत्तम क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयम तपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः तत्वार्थ सूत्र: अध्याय ६, सूत्र ६।

२. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निबर्हणम्
संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥
रत्नकरण्ड श्रावकाचार: श्लोक २

३. गुरुवाणी : ई० १९७९, पृष्ठ ८

४. पं० दौलतराम छहढाला: ढाला १ पद्य २

५. तत्वार्थसूत्र: अध्याय ७, सूत्र १६

६. यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय: श्लोक १०७;

७. डा० हुकुमचन्द्र भारिल्ल, धर्म के दश लक्षण : उत्तम ब्रह्मचर्य टिप्पण—१-२

८. हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहते तिलायद्वत्
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्।
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय: श्लोक १०८

९. रक्तजाः कृमयः सूक्ष्माः मृदु मध्यादि शक्तयः
जन्मवर्त्मसु कण्डूति जनयन्ति तथा विधाम्।
प० बलभद्र जैन, अहिंसाध्वनि: पृ० २३२ टिप्पण-२

१०. सोऽस्ति स्वदार सन्तोषी योऽन्यस्त्री प्रकटस्त्रियौ
न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा।
पं० आशाधर जी, सागार धर्मामृत; ४/५२

११. स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्ग निरीक्षण पूर्व रतानुस्मरण वृष्येष्ट रसस्वशरीरं संस्कार त्यागाः पंच।
तत्वार्थ सूत्र: अध्याय ७, सूत्र; ७;

१२. परविवाह करणेत्वरिका परिगृहीतापरिगृहीता गमनानङ्ग क्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः।
वही, अध्याय ७, सूत्र २८; और सागारधर्मामृत: ४/५८;

१३. बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपकर्षति
उपदेश दृष्टान्त मालिका : भाग २' पृ० ६०

१४. दिवा तपति तिग्मांशुर्मदनस्तु दिवानिशम्
समस्ति वारणं भानोर्मदनस्य न विद्यते।
पद्मपुराण : पर्व १०६, श्लोक ५०१

(शेष पृ० २२ पर)

आधुनिक युग में जैन-सिद्धान्तों का महत्त्व

□ डा० (कुमारी) सविता जैन,

बीसवीं शताब्दी मे भी जैन-धर्म के मूलभूत सिद्धान्त उतने ही महत्वपूर्ण एवं सार्थक हैं जितने कि आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के समय मे थे, बल्कि आज के इस अति भौतिकवादी एव यान्त्रिक युग में जबकि आणविक विनाश के काले बादल हर क्षण हर व्यक्ति के सिर पर मंडराते रहते हैं इनकी चहुंमुखी उपयोगिता इन्हें और भी अधिक अर्थवान एवं महत्वपूर्ण बना देती है।

जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्त न केवल व्यक्तिगत अपितु राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी आधुनिक युग को समस्याओं को सुलझाने मे फ्रायड, मार्क्स अथवा लेनिन जैसे विचारकों के सिद्धांतों से कही अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि इन अथवा इन जैसे अधिकांश विद्वानों की दृष्टि एकांगी थी जबकि जैन-दर्शन अपनी अनेकान्तवादी दृष्टि के कारण किसी भी समस्या को हर सम्भव दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है।

सर्वोदय को आज लोग गांधी जी की देन मानते है लेकिन आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जबकि समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था का बोलबाला था और शूद्रों को न केवल मानव के सामान्य अधिकारो से वंचित कर रखा था अपितु उन्हें पतित मानकर अन्याय, दमन और शोषण के कुचक्र में पीसा जा रहा था, महावीर ने मानव-मात्र की समानता का सन्देश देते हुए सबके उदय का जयघोष किया था।

इसी प्रकार यदि गहराई से जैन-दर्शन एवं सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाय तो फ्रायड का मनोविश्लेषण, मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, आईंस्टाइन का सापेक्षता का सिद्धान्त, जिन्हें हम आज के युग की महत्वपूर्ण देन मानते हैं, सभी वहाँ किसी-न-किसी रूप में उपस्थित मिलेंगे। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता फ्रायड के मतानुसार हमारे अन्तर्गत का ३/४ हिस्सा अचेतन में छिपा हुआ है, जिसमे सामान्यतः व्यक्ति अपरिचित होता है: और वही समस्त मानसिक विकारो के मूल मे किसी न किसी रूप मे निहित होता है। जैन-दर्शन मे दृष्टि को अन्तर्मुखी कर, भेद-विज्ञान द्वारा उसे 'पर' से विमुख कर 'स्व' को जानने और पहचानने पर विशेष बल दिया गया है। फ्रायड, एडलर और युंग जैसे मनोविज्ञान वेत्ताओ का मनःविश्लेषण (Psycho-analysis) इससे भिन्न नहीं हे अपितु 'स्व' के इस विश्लेषण की पहली सीढ़ी मात्र है।

कार्ल मार्क्स ने जिस सम वितरण की चर्चा की है वह जैन-धर्म के मूलभूत सिद्धान्त अपरिग्रह का ही एक छोटा-सा अंश मात्र है। किसी भी भौतिक वस्तु का आवश्यकता से अधिक सचय न केवल व्यक्ति के नैतिक पतन के लिए उत्तरदायी होता है अपितु समाज में वर्ग-भेद को भी जन्म देता है। ऐश्वर्य अथवा सत्ता की लालसा न केवल भाई-भाई के बीच दीवार खड़ी कर देती है अपितु दो राष्ट्रों को भी युद्ध के भयानक कगार पर ला खड़ा करती हैं। आइंस्टाइन के सापेक्षता के सिद्धान्त और अनेकान्तवाद मे भी मूलतः एक ही विषय को वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोणो के अन्तर से भिन्न शब्दावली मे, भिन्न रूपों मे प्रस्तुत किया गया है।

सह-अस्तित्व की भावना तथा अनेकता मे एकता की स्थापना आज राष्ट्रीय एकता की अखंडता के लिए अत्यधिक आवश्यक है। जैन धर्म का प्राण तत्व है अहिंसा जो न केवल व्यक्तिगत स्तर पर जीवन की विभिन्न समस्याओं को सुलझाकर मानव को एक उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित कर सकता है अपितु 'वसुधैव कुटुम्बकं' की भावना को जागृत कर विश्वशान्ति की सम्भावनाओं को साकार रूप देने में सहायक हो सकता है। यहाँ 'अहिंसा' शब्द का मात्र अभिधापरक अर्थ न लेकर उसे इतने अधिक विस्तृत रूप में ग्रहण किया गया है कि उसमें 'स्व' और 'पर' की सीमा

रेखा का लोप हो जाता है क्योंकि जब तक व्यक्ति सभी प्राणियों को आत्मतुल्य नहीं समझेगा तब तक वह पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता। जैसी भावना हम अपने प्रति रखते हैं यदि वैसी ही दूसरों के प्रति भी रखें तो समाज से शोषण एवं उत्पीडन स्वयमेव समाप्त हो जाएगा। सच्चा अहिंसक न केवल मानव-मात्र की समानता मे विश्वास करता है अपितु संसार के लघुतम जीव के लिए भी उसके 'उर से करुणा स्रोत' बहता है। ऐसे में जाति-भेद एवं वर्गभेद की दीवारों का खोखला होकर ढह जाना स्वाभाविक है।

अहिंसा का अर्थ पलायन अथवा कायरता कदापि नहीं है। अहिंसक तो निर्भय होकर जीवन-संग्राम से जूझता है और सुख दुःख को समभाव से ग्रहण करता है, जिसके लिए अपराजेय मनोबल, धैर्य और संयम की आवश्यकता है, जबकि इसके ठीक विपरीत कायर हिंसा को झेलने में असमर्थ होकर प्रतिहिंसा से भर उठता है अथवा पलायन-वादी बन जाता है। हिंसा का हिंसा द्वारा प्रतिकार उसकी सत्ता को स्वीकारना है जबकि अहिंसक के लिए उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इसीलिए गांधी जी ने हिंसा की पूर्ण उपेक्षा ही उसका सही प्रतिकार माना था। अहिंसा और करुणा का मधुर संगीत प्राणिमात्र को आह्लादित कर निर्भय बनाता है।

सह-अस्तित्व की भावना तथा अनेकता में एकता की स्थापना (अनेकान्तवाद) आज राष्ट्रीय एकता की अखंडता के लिए अत्यधिक आवश्यक है। जैन धर्म के पंच महाव्रतों द्वारा उन समस्त मानवीय वृत्तियों पर नियन्त्रण रखा जा सकता है जो व्यष्टि एवं समष्टि सभी के लिए अहितकर हैं, जो व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य राग-द्वेष; हिंसा-घृणा एवं ऊँच-नीच की दीवारें खड़ी कर देती हैं और सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र वे जगमगाते हुए अमूल्य रत्न हैं जिन्हें पाकर और कुछ पाना शेष नही रह जाता, जो व्यक्ति की क्षुधा को सदा के लिए शान्त कर उसे अमरत्व की राह दिखाते हैं।

आणविक युद्ध की विभीषिकाओं से आतंकित, अमानुषिक हत्याओं, चोरी-डकैती से संत्रस्त तथा दिनों-दिन बढ़ते भ्रष्टाचार के पाशविक पंजों में जकड़े, मुक्ति के लिए छटपटाते आज के मानव के लिए जैन सिद्धान्त इसी प्रकार महत्वपूर्ण एवं शान्तिदायक सिद्ध हो सकते हैं जैसे रेत से तपती, जलती हुई मरुभूमि के मध्य निर्मल एवं शीतल जल का सुखद 'ओएसिस'।

७/३५, दरियागंज नई दिल्ली

(पृ० २० का शेषांश)

१५. मत्तेभ कुम्भने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्ड मृगराज वधेऽपि दक्षाः
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्प दर्प दलने विरला मनुष्याः।

१६. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि; दशलक्षण धर्म पूजा पृ० ३१२

१७. शीलबाढ़ नौराख ब्रह्मभाव अन्तर लखो
करि दोनों अभिलाख करहु सफल नरभव सदा।
वही :पृ० ३१२

१८. जीवलोकेऽबला नाम सर्वदोष महाखनिः
किं नाम न कृते तस्याः क्रियते कर्म कुत्सितम्।
पद्मपुराण : पर्व १०६ श्लोक २१७

१९. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि : दशलक्षण पूजा

२०. ब्र० हरिलाल जैन, दश लक्षण धर्म पृ० ७९

२१. लेखक की गृहिणी मतक अप्रकाशित रचना

२२. दश लक्षण धर्म : शास्त्रि परिषद् प्रकाशन

२३. नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले
नूपुरे त्वभि जानामि नित्यं पादाभिनन्दनात्।

२४. नेणा सहुजि लब्भऊ भवपारउ, बभय विणु तउजि असारउ बंभन्वय विणु काकितोशो विहल लसय श्रासियऊ जिणेसो। एलाचार्य मुनि विद्यानन्द गुरुवाणी पृ० ९६

२५. यत्संगाधारमेतच्चलति लघु च यत्तीक्ष्ण दुःखौघधारम्
मृत्पिण्डीभूतभूतं कृतबहुविकृति भ्रान्ति संसारचक्रम्।
ता नित्यं यन्मुमुक्षुर्यतिरमलकमतिः शान्तमोहः प्रपश्ये-
ज्जामीः पुत्रीः सवित्रीरिव हरिणदृशस्तत्परं ब्रह्मचर्यम्
पद्मनन्दि पंचविंशतिका : श्लोक १०४

—जैनि विद्या०
श्री महावीर जी

श्रुत-स्वाध्याय का फल

उष्ट्र देश के धर्मनगर का राजा यम सम्पूर्ण शास्त्रों का जानने वाला बड़ा भारी विद्वान था। उसकी मुख्य रानी का नाम धनमती था। उसके दो सन्तान थीं। एक पुत्र जिसका नाम गर्दभ था, और एक पुत्री जिसका नाम कोणिका था। राजा की और भी बहुत सी रानियां थीं, जिनसे पांच सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे। राज्य मंत्री का नाम दीर्घ था।

एक बार एक निमित्तज्ञानी ने आकर कहा कि जो कोई पुरुष कोणिका को ब्याहेगा वह सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी होगा। तब राजा यम ने इस डर से कि कभी वह मेरा भी राज्य न छीन ले, कोणिका को एक भोंहरे (भूमि-गृह) में छुपा दिया। केवल एक दो सेवक इसकी खाने-पीने आदि की सार सँभाल के लिए रख दिए गए, वे ही इस विषय को जानते भी थे। उन्हें इस बात की कठिन आज्ञा थी कि इस विषय को किसी से न कहें।

एक बार धर्मनगर में पांच सौ यतियों के संघ सहित श्री सुधर्माचार्य का आगमन हुआ। उनकी वन्दना के लिए सम्पूर्ण नगर निवासी बड़े उत्साह के साथ चले जा रहे थे। उन्हें देख कर राजा यम अपनी विद्या के घमण्ड में आकर मुनियों की निन्दा करने लगा; और शास्त्रार्थ में हरा देने के विचार से उनके पास गया। परन्तु जिस मतलब से वह वहां से चला था, उसे भूल गया। वहां पहुंचते-पहुंचते मुनिराज के प्रभाव से उसका घमण्ड जाता रहा, इसलिए उसने सुधर्म गुरु को नमस्कार किया और धर्म श्रवण कर अपने गर्दभ पुत्र को राज्य दे अन्य पांच सौ पुत्रों सहित वह मुनि हो गया। कुछ काल में वे सब मुनि (पुत्र) तो सम्पूर्ण आगमों के पाठी हो गए, परन्तु यम मुनि को पंच-नमस्कार का उच्चारण मन्त्र भी ठीक से नहीं आया। यह दशा देख गुरु ने बहुत निन्दा की। तब उससे लज्जित हो, यम मुनि अपने इस कर्म की निर्जरा के लिए उपाय पूछ तीर्थक्षेत्रों की वन्दना को अकेले ही निकल पड़े।

मार्ग में एक यव (जौ) के खेत के पास से एक पुरुष गधे के रथ पर चढा हुआ जा रहा था। सो वह कभी तो गधे को यव चराने के लिए उस रथ को खेत में ले जाता और कभी बाहर ले आता था। यह देख कर यम मुनि ने निम्नलिखित खण्ड श्लोक बना कर पढ़ा;—

"कड्ढं पुणणिक्खेवसि रे गद्दहा जवं पच्छेसि खादिउं"

अर्थात् "रे मूर्ख, तू जवो को खिलाने के लिए गर्दभ को क्यो बार बार निकालता और पैठाता है?"

पश्चात् आगे चलकर दूसरे दिन मार्ग में कुछ बालक खेल रहे थे, उनके खेलने की एक काठ की कोणिका किसी गड्ढे में जा पड़ी। बालक उसको ढूढ़ने के लिए इधर-उधर फिरने लगे। सो उन्हें देखकर यम मुनि ने एक दूसरा खण्ड श्लोक पढ़ा :—

"अण्णत्थ किं पलोवसि तुम्हे एत्थम्मि
णिब्बुड्डिया छिद्दे अच्छइ कोणिया"

अर्थात् "रे मूर्ख बालको, तुम यहां वहां क्यों ढूंढते फिरते हो, कोणिका बिल में पड़ी है।"

पश्चात् वहां से चलकर एक दिन उन्होंने एक मेंढक को अपने डर से कमल पत्र में छिपते हुए देखा। परन्तु जिस ओर को वह जा रहा था, उस ओर से एक सांप आ रहा था। तब आपने तीसरा खंड श्लोक बनाकर पढ़ा:—

"अम्हादो णत्थि भयं दीहादो भयं दीसते तुम्ह।"

अर्थात् "रे मेंढक, तुझे मुझसे भय नहीं करना चाहिये, परन्तु दीहादि अर्थात् सांपादि से तुझे भय की संभावना है।" इस प्रकार तीन खंड श्लोक बनाकर यम मुनि ने आगे गमन किया। और अन्य कोई पाठादि न आने

से इन्हीं का स्वाध्यायादि करना प्रारम्भ कर दिया। अर्थात् जिस समय स्वाध्याय का समय होता, वे इन्ही तीन खंड श्लोकों का पाठ किया करते थे। निदान बिहार करते हुये वे धर्म नगर के बाग में जा, कायोत्सर्ग ध्यान-पूर्वक ठहरे। यह वही नगर था, जहा कि ये पूर्व में राजा थे। इनके आने की खबर सुन गर्दभ राजा और दीर्घमन्त्री ये दोनों यह समझ कर कि कहीं ये हमारा राज्य लेने को न आए हों, मारने को आये और यम मुनि के पीछे आ खड़े हो गए। दीर्घमत्री बार बार मारने के लिए तलवार उठाता परन्तु यह सोच कर कि व्रती का वध करने में बड़ा भारी पाप होता है, फिर रह जाता। और यही हाल गर्दभ का था, अर्थात् वह भी इसी प्रकार तलवार उठा शंकित चित्त हो रह जाता था। इसी समय मुनि के स्वाध्याय का समय हुआ, अतएव उन्होंने अपने पूर्व रचित खण्ड श्लोकों का पढ़ना प्रारम्भ किया और पहले प्रथम खण्ड श्लोक को पढ़ा। उसे सुन गर्दभ ने दीर्घ से कहा— मन्त्री जी, मुनि ने हमको जान लिया। देखो, वे कहते हैं कि "कड्ढं पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जव पच्छेसि खादिउ" अर्थात् "रे गधे, बार बार क्यो तलवार निकालता है, और फिर क्यों भीतर कर लेता है।" पश्चात् मुनि ने दूसरे खण्ड श्लोक का पाठ किया। तब गर्दभ ने अनुमान करके कहा—मन्त्री जी, मुनि हमारा राज्य लेने को नही आये, परन्तु हमको मालूम नहीं है, इसलिए कोणिका को (पुत्री को) बतलाने के लिये आए हैं। देखो, वे कहते हैं कि "अण्णथ किं पलोवसि तुम्हें एथम्मि णिबुड्डिया छिद्दे अच्छइ कोणिया" अर्थात् यहां वहां खोज क्या करते हो, कोणिका बिल में अर्थात् तहखाने मे पड़ी है।" पश्चात् जब मुनि ने तीसरा खण्डश्लोक पढ़ा, तब गर्दभ ने विचार किया कि मुनि यह कहते हैं कि "अम्हादो णत्थि भयं दीहादो भयं दीसते तुम्भ" अर्थात् मेरा भय कुछ नहीं है, तुझे दीहादि अर्थात् दीर्घादि से भय करना चाहिये" इससे जान पड़ता है कि दीर्घ मेरे साथ कुछ दुष्टता करेगा। बेचारे मुनि तो दयावान हैं। मोह के वश मुझे सचेत करने को आये हैं। इस प्रकार श्रद्धान करके वे दोनो मुनि के पैरों पर गिर पड़े और धर्मश्रवण करके श्रावक होगये।

यह देख मुनि भी उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त हुये और उत्तम चरित्र के प्रभाव से अणिमादि सात ऋद्धिधारी हुए। पश्चात् कुछ दिनों मे घोर तपस्या कर अष्ट कर्मों को खपा कर मोक्ष को चले गये।

सारांश यह है कि इस प्रकार ऐसे श्रुत-स्वाध्याय से भी यम मुनि मोक्ष को प्राप्त हुए, यदि दूसरे लोग भी श्रेष्ठ शास्त्रों का अभ्यास करें, तो क्यों न अभीष्ट पद को पावें ? अवश्य ही पावें।

—'पुण्यास्रव कथा कोश से'

(आवरण पृष्ठ ३ का शेषांश)

१२. किसी के अवगुण को कषाय से मत देखो, हितकी दृष्टिसे देखना कोई हानिकर नहीं। आत्मश्लाघाके लिए अच्छा कार्य करने का संकल्प मत करो। ऐसे कार्य करो जो लोगोंकी दृष्टिमें मान पोषक न समझे जावें। आवेगमें आकर व्रत ग्रहण मत करो। व्रत ग्रहणका फल निवृत्तिमार्गकी प्राप्तिमें पर्यवसान हो। जो कार्य करो उसका फल उस कार्यकी सामग्री फिर न हो यही लक्ष्य रखना चाहिए। (३०।५।४८)

१३. क्यों परकी ओर देखते हो ? कोई कुछ करे तुम उस ओर लक्ष्य ही मत दो। यदि कोई तुम से कहे—'बड़े अज्ञानी हो' सुन कर शान्त रहो। शब्द वर्गणाएँ पुद्गलका परिणमन हैं, उनका तादात्म्य पुद्गलसे है, वाच्यार्थसे नहीं। वाच्यार्थ काल्पनिक है जिससे लौकिक व्यवहार चल रहा है। (३ । ६ । ४८)

तीर्थंकर महावीर और अपरिग्रह

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

हर साल महावीर जयन्ती मनाते हैं और गत दिनों भी महावीर जयन्ती मनाई गई। यह सिलसिला काफी वरसों से चला आ रहा है। हमारी दृष्टि में यह सब दिखावा लोक-रंजन के लिए ही हो रहा है। आज प्रचलित रीति के लोगो ने महावीर को न जाना है और ना ही जानने की कोशिश की है। लोगो को तो जयन्ती ऐसा उत्सव बन कर रह गया है, जिसके माध्यम से उनका मन तुष्ट हो जाता हो। वरना, इनसे कोई पूछे कि महावीर का क्या रूप था; उनके क्या उपदेश थे? तो ये उन्ही बातों को दुहराएँगे जो चिरकाल से इनके दिमागो मे घर किए हुए हैं और जिनके मूल में साम्प्रदायिक पक्षपात का भाव है। कोई कहेगा—वे श्वेताम्बर थे तो कोई कहेगा वे दिगम्बर थे। कोई कहेगा कि—महावीर हमारे थे और कोई कहेगा हमारे थे। सभी की मान्यता है कि महावीर ने अहिंसा का झण्डा गाड़ा—'अहिंसा परमो धर्मः' उनका मूल नारा था, आदि।

जब हम उक्त बातों पर विचार करते हैं तो यह बात तो निर्विवाद सिद्ध होती है कि केवली अवस्था मे तीर्थंकर महावीर सर्वथा दिगम्बर थे। उनमे भौतिक अम्बर या अम्बरान्तरों की कल्पना सर्वथा ही मिथ्या है। यतः जैन-धर्मानुसार प्रत्येक वस्तु अपने में पूर्ण होती है, अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है, उसमें 'स्व' के सिवाय पर का प्रवेश सर्वथा ही नहीं होता। एतावता न कोई वस्तु स्वाभाविक रूप में मलिन है और न न्यूनाधिक है। भला सोचो, जब हम महावीर को पूर्ण और भगवान मानने चले हैं तब क्या हम इसे पसन्द करेंगे कि वे मलिन, न्यून या अधिक जैसे कुछ हों। यदि वे मलिन थे तो भगवान कैसे? न्यून थे तो केवलज्ञानी कैसे? और अधिक थे तो पर-संयुक्तरूप में स्व-स्वभावी कैसे?

उक्त सभी बातों के निर्णय के लिए जैन धर्म ने एक कसौटी दी है। जैसे स्वर्ण को कसौटी पर कसकर उसके गुण-दोषों की परीक्षा की जाती है वैसे ही भगवान-रूप की पहिचान के लिए जैन-दर्शन में 'अपरिग्रह' रूप कसौटी का निर्धारण किया गया है। जो अपरिग्रही हो वह शुद्ध और जो परिग्रही हो वह अशुद्ध होता है। अब यह आपको देखना है कि भगवान महावीर शुद्ध थे या अशुद्ध?

जहां तक वाह्य अम्बरादि परिग्रह का प्रश्न है, सभी मानते हैं कि तीर्थंकर महावीर केवलज्ञान अवस्था (जिसके कारण वे सर्वज्ञ भगवान कहलाए) में पूर्ण अपरिग्रही—नग्न ही थे। दिगम्बरों के अनुसार दीक्षा काल से ही और श्वेताम्बरों के अनुसार केवलज्ञान प्राप्ति के १०-११ वर्ष पूर्व से। कहा भी है—**'समणं भगवं महावीरे संवच्छर साहियं मासं ताव चीवर धारी हुत्था। तेणं परं अचेले पाणिपडिगाहिए।'**—कल्पसूत्र। अन्तरंग परिग्रह त्याग के विषय में जैन के सभी पन्थों में परस्पर सामंजस्य है—सभी मानते हैं कि वे वीतरागी थे।

पर, जब हम वीतराग 'जिन' और उनके धर्म 'जैन' की बात करते हैं तब हम पहिचान करने में जिन-मार्ग से स्खलित हो जाते हैं। तत्कालीन स्थिति के प्रभाव में हम कभी कहते हैं—'महावीर ने अहिंसा का उपदेश दिया। कभी सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का उपदेश दिया ऐसा कहते हैं। गरज मतलब यह कि, हम जैसा अवसर देखते हैं तदनुरूप कल्पनाओं में महावीर का उपदेश फलित करने लगते हैं और वैसा प्रचार करने लगते हैं और यह भूल जाते हैं कि वीतरागी महावीर वीतरागता के कारण ही अहिंसक बने, उनमे सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्यादि धर्म भी वीतरागी—अपरिग्रही होने से ही फलित हुए। काश, वे परिग्रहधारी रहे होते तो न उनमें अहिंसा होती न सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य ही होते। फिर, 'जिन' और 'जैन' में अन्यों से कुछ

ऐसी विशेषता तो होनी ही चाहिए जो औरों में न हो। सो यह विशेषता है—उनका अपरिग्रही होना। जब संसारी मत-मतान्तर अहिंसा, सत्य अचौर्य और ब्रह्मचर्य पर जोर देते हैं तब जैनधर्म इन सबके मूल अपरिग्रह को प्रमुखता देता है, यही 'अपरिग्रह' महावीर का मार्ग है शेष अहिंसादि सभी इसी पर आधारित हैं।

स्थिति ऐसी है कि आज हम मोक्षमार्ग को बिसराकर सांसारिक वासनाओं के कीड़े बन चुके हैं और सांसारिक प्राणियों की हाँ में हां मिलाए बिना हमारा गुजारा नहीं चल सकता। फलत.—हम नीति से काम लेने के अभ्यासी जैसे बन गए हैं। जब कि नीति-राजनीति और धर्म आपस में बहुत दूर; यहां तक कि परस्पर विपरीत दिशाओं के मार्ग हैं। उदाहरणतः—लोक मे नीति है कि पानी मे रह कर मगर से बैर नही किया जाता—'मगर' जैसे हिंसक प्राणी की असलियत जानते हुए भी उसे भइया, बद्दा आदि जैसे संबोधन देने पड़ते हैं। पर इससे मगर का मगरपन तो छूट नहीं जाता। हां, उसकी झूठी प्रशंसा से भौतिक प्राण-रक्षा अवश्य हो जाती है। उसी प्रकार स्वार्थ-वासना प्रेरित मनुष्य जब दूसरों में बैठता है तब वह अपनी हृदयगत कमजोरी छुपाने या यश-प्रशंसा आदि के लालच में दूसरों की हां मे हां मिलाता है और अपरिग्रह को गोण कर उससे फलित जैन के अहिंसादि को प्रमुखता देने लगता है। ऐसा करने से यद्यपि वह क्षणिक या दीर्घ-सांसारिक लाभ तो प्राप्त कर लेता है पर अपना मूल-धर्म गँवा बैठता है। हाँ मे हाँ मिलाना, तो मुँह-देखी कहना हुआ, परावलम्बन हुआ, और हुआ राजनीति प्रेरित लौकिक-रक्षण। जबकि धर्म स्वावलम्बी और पारलौकिक सुख प्राप्ति का साधन है। यदि हम हां मे हाँ मिलाने की बजाय हिम्मत के साथ अपनी मूल बात कहें तो हमारे लौकिक-पारलौकिक दोनों ही मार्ग सध सकते है। क्योंकि हमारी मूल बात है—अपरिग्रह और इस अपरिग्रह से वे सब बातें स्वयं फलित हो जाती हैं जिन्हें सर्वसाधारण अहिंसा आदि के रूप में कहते हैं। यदि प्राणी अपरिग्रही होगा तो उसमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि स्वयं ही होगे। इसीलिए वीतराग भगवान ने जीवो के समक्ष अपने साक्षात् दिगम्बर-रूप द्वारा और उपदेश द्वारा भी अपरिग्रह का पाठ रक्खा जिसे हमने भुला दिया और उसके फलीभूत अहिंसादि धर्मों में अटक गए।

अपरिग्रह को गौण करके अहिंसा, दया आदि को प्रधान बताने मे मानव की एक और कमजोरी कारण बनी मालुम होती है और वह कमजोरी है—मनुष्य का विषय-वासना का कीड़ा बनना, इन्द्रियों का दास बनना। वासना-सक्त प्राणी जब अपने को विषयों का दास बना बैठता है तब वह भौतिक परिग्रह आदि सामग्री को त्यागने से कत-राता है - उसे नही छोड़ पाता और छोड़ना नही चाहता। फलतः वह धार्मिक बने रहने का कोई अन्य मार्ग ढूंढ़ता है। प्रतीत होता हैं कि बाद के जैन-नामधारियों ने ऐसा ही मार्ग अपनाया। उन्होंने सोचा कि हमे कुछ छोड़ना भी न पड़े और हम सस्ते मे धर्मात्मा, दयालु और दानी बन समाज मे प्रतिष्ठित होते रहें। बस, उन्होने मूल नारे को अहिंसा जैसे गौण नारो मे विलीन कर दिया। इसके लिए वे अहिंसादि का सूक्ष्मरूपता में विवेचन कर दूसरों से अपनों को ऊंचा मानने का प्रयत्न भी करने लगे। इससे वे लाख के दो लाख बनाते रहे और बढी धनराशि का सूक्ष्मांश दया, अहिंसा आदि के नाम पर दान करके धर्मात्मा बनने के अभ्यासी बनने लगे। आज स्थिति ऐसी है कि वे परिग्रह के पुंज बनकर रह गये और महावीर 'जिन' का धर्म—अपरिग्रह उनसे दूर जा पड़ा। दूसरे शब्दो में ऐसे समझिए कि परिग्रही धर्मभीरु लोग महावीर के अपरिग्रही वीर-धर्म के ठेकेदार बन गए। इससे सबसे बड़ी हानि यह भी हुई कि अपरिग्रह जैसा मूल धर्म लुप्त जैसा हो गया। काश, लोगो ने ऐसा न कर अपरिग्रह को प्रमुखता दी होती तो लोगो मे संयम भी होता और वे संचय के विविध आयामो—टैक्स चोरी, ब्लैक मार्केटिंग आदि से भी बचे रहते। जैन धर्म का प्रभाव भी होता और देश मे अधिक सुख-शान्ति भी होती। लोगो मे संचय-भावना न होती और सब सुखी होते।

अपरिग्रह-धर्म को भुलाने से आज स्थिति ऐसी बन गई है कि धर्म की वह बागडोर जो कभी साधु-सन्तों और विद्वानों के हाथो मे थी, वह धन के हाथो जा पड़ी है और जिसका फल धर्म-ह्रास के रूप मे सामने है। यदि हमें

महावीर के सच्चे अनुयायी और सच्चे जैनी बनना है तो हमे 'अपरिग्रहवाद' पर बल देना पड़ेगा और अपरिग्रही साधु-सन्तों के चरणों मे जाना पड़ेगा—अपने को उनके भांति ढालना होगा—उन्हें अपने हाथों का खिलौना बनाने से भी बाज आना होगा। जो लोग आज सच्चे साधु की पहिचान करने पर जोर दे रहे हैं–उन्हें भी पहिले स्वय को पहिचानना होगा कि—सच्चा श्रावक कौन ? परिग्रह बढ़वारी का धनी या परिमाण मे रहने वाला ?

'अपरिग्रह-वाद' को गौण करने की हानिरूप में हम पिछले दिनों, सोनगढ़ी कान जी भाई, जो परिग्रही थे, उनको तीर्थंकर प्रचारित करने की लीला देख ही चुके हैं। और आगे शायद चम्पाबेन को भी किसी रूप मे देखें। हमारा तो निवेदन हैं कि यदि 'जैन' को जीवित रखना है तो सोनगढ़ ही क्यो ? कान जी जैसी स्थापित सभी अन्य शाखाओ से भी हम सतर्क रहें। और कान जी पन्थ के सभी अनुवादों, आयामो व विचारो को अपनी कसोटी पर कसें। महावीर के अपरिग्रहवादी धर्म को सुरक्षित बनाने में यह उपाय भी परम सहायक सिद्ध हो सकेगा, ऐसा हमारा अनुमान है।

आगम मे सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है और श्रावक से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो श्रावकाचार मे अभ्यस्त होगा वह सहज रीति मे इस मार्ग पर बढ़ने मे भी समर्थ हो सकेगा और मुनि भी सहज बन सकेगा। श्रावक शब्द के श्रा, व, क, तीनो वर्ण हमे इंगित करते हैं कि हम श्र—श्रद्धावान्, व—विवेकवान् और क—क्रियावान् अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से पूर्ण हों। अब जरा सोचिए, जो सम्यग्दर्शन सम्पन्न—तत्त्वों का श्रद्धालु होगा, जिसे भली भाति तत्त्व स्वरूप का ज्ञान होगा, जो सम्यक् प्रकार सच्चारित्र पालन के प्रति जागृत होगा वह परिग्रह की वढ़वारी करेगा या उसका परिमाण करेगा ? हमारी समझ से तो परिग्रह-सचय करना मूढ़ता ही है। जो लोग ऐसा सोचते हो कि संग्रह से त्याग का मार्ग सरल होता है—जितना अधिक होगा उतना ही अधिक दान-कर्म किया जा सकता है। ऐसे लोगो से भी हमारी प्रार्थना है कि—कीचड़ में सानकर पैर धोने से तो यह ही उत्तम है कि कीचड़ में पैर साने ही न जायें। हमारी दृष्टि से तो जिन पर पराया कुछ नहीं होता वे वीतराग सर्वज्ञ देव ही सबसे बड़े दानी हैं। भला, ज्ञान दान से बड़ा दान क्या होगा और ज्ञान-संचय से बड़ा सचय क्या होगा ? इन सब प्रसंगों से यही सिद्ध होता है कि श्रावक परिग्रह का परिमाण करे और साधु पूर्णत्याग करे। यह तो हम पहिले ही लिख चुके हैं कि अपरिग्रह से अहिंसादि सभी धर्म स्वय फलित हो जाते हैं। तीर्थंकर भी दीक्षा के समय पहिले सब परिग्रह छोड़ते हैं। तब बाद में अन्य व्रत धारण और पचमुष्टि लोच आदि करते हैं। पहिले वे पर-निवृत्ति के भाव से ओत-प्रोत होते है तब उनका पर से लगाव छूटता है और तभी बाद मे उनमें अहिंसादि महाव्रतों का सचार होता है।

आग्रही लोगों का मत हो, कि जैन दर्शन अनेकान्तात्मक है। फलत: आचार्यों ने जब जिसको आवश्यक समझा मुख्य कर लिया और अन्य को गौण कर लिया। अहिंसादि पाँचों व्रतों को भी उसी पद्धति से प्रधानता और गौणता देनी चाहिए। स्व प. श्री जुगलकिशोरजी 'मुख्तार' ने जैनहितैषी (अगस्त १६१६) मे एक लेख लिखा था 'जैन तीर्थंकरों का शासन भेद' और इसके बाद वि० स० १६८५ मे एक पुस्तक प्रकाशित की थी—"जैनाचार्यों का शासन भेद।" इनमे उन्होने अनेक प्रसंगों द्वारा प्रसिद्ध किया था कि धर्मोपदेश के माध्यमो और क्रमो मे समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। जैसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय मे छेदोपस्थापना और बीच के २२ तीर्थंकरो के समय मे सामायिक चारित्र का प्राधान्य रहा। ऐसे ही अष्टमूल गुण आदि की नामावलि मे भी भिन्नता रही आदि। उक्त आधार को लेकर कुछ लोग अहिंसादि व्रतो में भी प्रधानत्व और गौणत्व मे बदलाव की कल्पना करते हो और कहते हों कि समयानुसार कभी अहिंसा को, कभी सत्य या अपरिग्रह आदि को प्रधानता मिलती रही है, यत: उनकी दृष्टि मे सभी परस्पर सापेक्ष है, इनमे कोई निश्चित एक ही प्रधान नही है आदि। ऐसे विचारकों को मूल कारण प्रमाद तथा जैन और जैनत्व के अर्थ और भावों की गहराई को छूना चाहिए और यह भी देखना चाहिए

(शेष पृ० ३२ पर)

विचारणीय-प्रसंग

अपरिग्रह और उत्कृष्ट ध्यान

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

अपरिग्रहत्व से तात्पर्य है—मात्र "स्व" और ऐसे 'स्व' से जिसमें पर—परिग्रह का विकल्प ही न हो। अरहंत—तीर्थङ्कर अपरिग्रही—पूर्ण दिगम्बर हैं 'स्व' में विराजमान और 'स्व' रूप मे स्थित भी। ज्ञान रूप आत्मा के सिवाय उनका स्व तत्व अन्य कुछ नहीं—वे ज्ञाता दृष्टा कहलाते हैं सो भी परकीय दृष्टि से ही। क्योंकि उनमें पर की कल्पना को अवकाश ही नहीं होता। जो पदार्थ उनके ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं वे भी अपनी, पदार्थ की सत्ता मात्र से ही प्रतिबिम्बित होते हैं—केवली के ज्ञान से उन पदार्थो की सत्ता का तादात्म्य नही—मात्र ज्ञेय-ज्ञायक भाव है और वह भी व्यवहारी है। क्योंकि स्व-वस्तु किसी विकल्प या कथन की चीज नहीं, मात्र अनुभव की चीज है—सर्वथा अनुभव की। आश्चर्य है कि उक्त वस्तु-स्थिति में भी हम स्वत्व—दिगम्बरत्व-अपरिग्रहत्व के अर्थ से अजान हैं और दिगम्बरत्व या अपरिग्रहत्व को मात्र बाह्य-शरीरादि के आधार पर पहिचानने में लगे हुए हैं—मात्र निर्वस्त्र को दिगम्बर मान रहे हैं और उसे अपरिग्रही कह रहे हैं। खैर, कोई हर्ज नहीं; हम निर्वस्त्र को अपरिग्रही या दिगम्बर मानते रहें पर, वस्त्र का भाव अवश्य हृदयंगम करें: वस्त्र (वेष्टन) आवरण का द्योतक है जो असलियत को आच्छादित करता है—उसे प्रकट नहीं होने देता। उक्त भाव में स्व-रूप से भिन्न सभी दशाएं वस्त्र से आच्छादित जैसी हैं—सवस्त्र रूप ही है। इसी आच्छादन करने वाले सत्त्व को जैन-दर्शन में परिग्रह नाम से सम्बोधित किया गया है और इससे मुक्त रहने का पाठ दिया गया है। इस दर्शन में अपरिग्रही को पूज्य माना है क्योंकि वह ही निर्दोष है और वह ही स्व-स्वभावी सर्वज्ञ दशा में स्थित होने में समर्थ है। कहा भी है—'यस्तु न निर्दोष: स न सर्वज्ञ:। आवरण रागादयोदोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वम्।'—जो निर्दोष नहीं है वह सर्वज्ञ नहीं है और रागादि अन्तरंग व अनादि बहिरंग आवरणों—परिग्रहों से रहित होना ही निर्दोषता है। और जैनागम में शुद्धात्मा को ही निर्दोष कहा है—'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधि वाक्।' इसी निर्दोषता को लक्ष्य कर १८ दोषों को भी स्थूल रूप मे दर्शाया गया है—

'छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
स्वेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो॥
—नियमसार ६।

जम्बूदीवपण्णत्ति और द्रव्य संग्रह टीका आदि मे भी इन दोषों का खुलासा है और ये सभी दोष स्व-स्वभाव न होने से पर—परिग्रह हैं—जिनसे आत्मा की अनन्त शक्ति आच्छादित होती है।

हम यहां जैन मान्य उस अपरिग्रह की बात कर रहे हैं जिसमें जैनत्व व्याप्त होकर निवास करता है और जिससे जैनत्व जीवित रहता है। परिग्रह की बढ़वारी कर जैनी बने रहने का प्रयत्न करना मुर्दे मे हवा देकर उसे जीवित मानने जैसा है। मृत-शरीर वायु से फूल सकता है, हिल भी सकता है। पर वह हिलना उसका जीवित होना नहीं होता—मात्र पौद्गलिक क्रिया होती है! ऐसे ही परिग्रह की बढ़वारी के प्रति जागृत जीव की बाह्य—पर क्रियाएँ भी जैनत्व की साधिका नहीं। क्योंकि सारा का सारा जैनत्व परिग्रह की हीनता में समाहित है, फिर चाहे वह परिग्रहहीनता अहिंसा में आती हो, सत्य या अचौर्य आदि में आती हो। यदि अहिंसादि के मूल में अपरिग्रहत्व की भावना नहीं तो सब व्यर्थ है। और यहाँ अपरिग्रहत्व से तात्पर्य राग-द्वेषादि कषायों के कृश

करने से और वाह्य-संग्रह की मर्यादा और त्याग आदि से है। स्मरण रखना चाहिए कि सब व्रत-क्रियाएँ आदि भी तभी सार्थक हैं जब वे अपरिग्रह की भावना और अपरिग्रही-क्रियाओं से अपरिग्रह की पुष्टि के लिए हों।

हमारी भूल रही है कि हम अन्य व्रत आदि की क्रियाओं को (वह भी दिखावा रूप में) जैनत्व का रूप देने मे आसक्त रहे है और अपरिग्रह की आसक्ति से नाता तोड़े हुए हैं। आज देश का जन-जन दुखी है वह भी परिग्रह की ज्यादती या लौकिक अनिवार्य पूर्तियो के अभाव मे दुखी हैं। हिंसादि सभी प्रवृत्तिया भी परिग्रह से तथा परिग्रह की बढ़वारी के लिए ही की जा रही हैं। आश्चर्य है कि सरकार ने भी परिग्रह की बढ़वारी को किन्ही अपराधो की परिधियों में नही बांधा। भारतीय दंडसहिता मे हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील के लिए जैसे दड निर्धारित है, वैसे परिग्रह की बढ़वारी की रोक के लिए शायद ही कोई धारा हो। यदि सरकार ने जैन मूल-सस्कृति अपरिग्रहत्व से नाता जोड़ा होता—ऐसी कोई धारा निर्धारित की होती जो परिग्रह-परिमाण पर बल देती होती—अति-परिग्रहियो के लिए दण्ड विधान करती होती तो देश को त्रास से काफी हद तक छुटकारा मिला होता। तब न हर कोई हर किसी के भाग पर कब्जा करता होता और न ही टैक्सो की चोरी आदि जैसी बाढ़ें ही आई होतीं। व्यक्ति की सचय सीमा निश्चित होती और परिवार भी तदनुसार निर्धारित-परिमाण मे सग्रह कर पाते। इससे एक घर सम्पदा से अनाप-शनाप भरा और दूसरा सम्पदा से सर्वथा खाली न होता। जैसा कि वर्तमान मे चल रहा है और जो जनसाधारण को परेशानी का कारण बन रहा है। अस्तु।

यहाँ हम यह कहना भी उचित समझते हैं कि जिस ध्यान को तत्त्वार्थ सूत्र के नवम अध्याय के २७वें सूत्र द्वारा दर्शाया गया है वह ध्यान भी अपरिग्रह मूलक और संवर-निर्जरा का साधक ही है। दूसरे रूप में यह भी कह सकते हैं कि—अपरिग्रहत्व और वह ध्यान समकाल भावी और एक है। वैसा ध्यान तभी होगा जब अपरिग्रहत्व होगा—बिना अपरिग्रहत्व के ध्यान कैसा? प्रसंग गत ध्यान के लक्षण में 'अपने मे रह जाना' ध्यान है और वही पूर्ण अपरिग्रहत्व है—जैसा कि ध्यान में होता है या होना चाहिये। क्योंकि ध्यान और अपरिग्रहत्व दोनो में अन्यत्वपने का अभाव होने से संवर-निर्जरा है। जबकि अन्य चिंताओं से हटकर मन का एक ओर लक्ष्य होने में भी चिंतन रूप क्रिया विद्यमान होने से आस्रव है—'कायवाग्मन: कर्मयोग:' 'स आस्रव:।' भले ही मन एकाग्र हो जाय—वह चिन्तन क्रिया तो करेगा ही। और जहां चिंतन रूप क्रिया होगी वहां आस्रव होगा ही। मन की क्रिया (चिन्तन) का नाम ही तो चिंता है। यदि चिंता—चिंतन क्रिया है तो योग है और योग को आस्रव कहा है, जो निर्जरा-प्रसग-गत ध्यान के लक्षण से मेल नही खाता। प्रसग मे तो उसी ध्यान से तात्पर्य है जो सवर-निर्जरा में हेतु हो। हम पुनः स्मरण करा दें कि मन का कार्य चिंतन है और चिंतन कर्म होने से आस्रव है। इस विषय मे किसी समझौते को खोज कर अन्य निर्णय सर्वथा अशक्य है।

सभी जानते हैं कि पूज्य उमास्वामी जी ने तत्वार्थ-सूत्र के छठवें अध्याय से आठवें अध्याय तक आस्रव-बंध का और नवम अध्याय मे संवर-निर्जरा का वर्णन किया है। इनमे पहिले उन्होंने मन-वचन-काय की क्रिया को आस्रव और फिर उसके निरोध को संवर कहा है। और इसी प्रसंग में नवम अध्याय मे ही तप को संवर और निर्जरा दोनो का कारण कहा है। और ध्यान की गणना तपों में कराई है। इसका भाव यही है कि प्रसंग में ध्यान वही (निरोध) है जो सवर-निर्जरा में कारण हो। ऐसे में ध्यान के शुभ-अशुभ या आर्त-रौद्र जैसे भेदों को इसमें स्थान ही कहां है जो उन्हें इस ध्यान में शामिल किया जा सके या प्रसंगगत ध्यान (चितानिरोध) को शुभ-अशुभ के आस्रव में कारण माना जा सके। वे दोनों और निचली दशा के मनोगत भाव—आर्त-रौद्र तो आस्रव ही हैं।

इसके सिवाय ध्यान के फल का जो वर्णन है और जो स्वामी का वर्णन है उससे भी स्पष्ट पता चलता है कि प्रसंग मे ध्यान संवर-निर्जरा का ही कारण है और वह मिथ्यादृष्टि के नहीं होता। इसीलिए धवला में ध्यान के दो ही भेद कहे हैं—धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान। मोह की सर्वोपशमना करने से धर्म ध्यान को और शेष घाति-अघाति का क्षय करने से शुक्ल ध्यान को ध्यान की श्रेणी में

रखा गया। यहां इतना विशेष समझना चाहिए कि—दोनों ही ध्यानों मे 'आप में रह जाना' ही सर्वथा इष्ट है--कायवांग्मन की क्रिया करने से तात्पर्य नहीं। 'अट्ठावीसभेयभिण्णमोहणीयस्ससव्वुवसमा-वट्ठाणफलं पुधत्त-विदक्क वीचार सुक्कज्झाणं।' मोहसव्वुवसमो पुण धम्म-ज्झाणफलं। 'तिण्णंघादिकम्माणं णिम्मूल विणासफलमेय-त्तविदक्क अवाचीरज्झाणं'–धव. १३,५,४,२६ पृ. ८०-८१।

'अघाइ कम्म च उक्कविणासं (चउत्थ सुक्कज्झाणफलं) वही पृ० ८८। ण च णवपयत्थविसयरुइ-पच्चय सद्धाहि विणा-ज्झाण सभवदि।' वही पृ० ६५।

अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय की सर्वोपशमना होने पर उसमें स्थित रखना पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान का फल है।

मोह की उपशमना करना धर्म ध्यान का फल है। तीन घातिया कर्मों का विनाश करना एकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान का फल है।

चार अघातिया कर्मों का विनाश चतुर्थ शुक्ल ध्यान का फल है। नव-पदार्थों की रुचि (श्रद्धा) के बिना ध्यान नही हो सकता अर्थात् सम्यग्दृष्टि ही ध्यान का अधिकारी है।

सूत्र मे ध्यान के स्वामी के निर्देश से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रसंग में आचार्य को ध्यान का वही लक्षण इष्ट था जिसके द्वारा संवर-निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त होता हो : यदि आचार्य को उक्त प्रसंग में आस्रवरूप मन की क्रिया (एकाग्रत्व रूप ही सही) अर्थ अभीष्ट होता तो वे सूत्र में 'उत्तम संहननस्य' पद को भी स्थान न देते। क्योंकि चितवन रूपी ध्यान तो साधारण सभी संहनन वालों और मिथ्यादृष्टियो तक को भी सदा काल रहता है।

जब हम ध्यान के लक्षण-सूत्र पर विचार करते हैं तो सूत्र में 'एकाग्र चिंता निरोध' ऐसा पद भी मिलता है। इसमें 'एकाग्र चिंता' से विदित होता है कि एकाग्र—एक को मुख्य लक्ष्य कर उसका चितवन करना ध्यान है। जरा सोचिए, जब एक वस्तु मुख्य कर ली तब वहां अन्य वस्तु के प्रवेश को अवकाश ही कहां रहा ? यदि अन्य को अव-काश (स्थान) है तो एकाग्रपना कैसे ? एकाग्र होने का अर्थ ही यह है कि जिसमें अन्य का विकल्प हट गया हो। और जब अन्य स्वाभाविक हट गया तब 'निरोध' शब्द ही व्यर्थ पड़ जाता है। ऐसे में यदि आचार्य ऐसा कहते कि 'एकाग्र चिंता ध्यानम्' तब भी काम चल सकता था। इससे मन की क्रिया (एकाग्र प्रवृति) को बल भी मिल सकता था। और चारों धर्म ध्यान भी ध्यान की परिभाषा में आ जाते। फिर यदि आचार्य को कहना ही था तो वे 'निरोध' के स्थान पर 'रोध शब्द से भी काम चला सकते थे। क्योंकि सूत्र ग्रंथ में वैयाकरण लोग आधी मात्रा के कम होने पर भी पुत्रोत्पत्ति जैसी खुशी मनाते हैं—'अर्ध मात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'। ऐसा मालुम होता है कि यहां संवर-निर्जरा सम्बन्धी ध्यान के प्रसंग मे आचार्य श्री को 'एक का चितवन और अन्य चितवन का रोध' ऐसा अर्थ इष्ट नही था, इसीलिए उन्होने रोधके स्थान पर 'निरोध' शब्द का प्रयोग किया और निरोध का अर्थ है— निःशेषेण-पूर्णरूपेण रोध। सभी प्रकार से सभी रीति की क्रियाओं का रोध।

'निरोध' को तुच्छाभाव मान उसके निराकरणार्थ किसी चिंतन को पुष्ट करने मे लगे लोगों को राजवार्तिक-कार ने स्पष्ट रूप में संकेत दिया है कि निरोध तुच्छाभाव नहीं अपितु भावान्तर रूप है। 'अभावो निरोध इति चेत्; न;····· विवक्षार्थविषयावगमस्वभावसामर्थ्यापेक्षया सदेवे-ति।'—उत्कृष्ट ध्यान की अवस्था मे आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता (मन की क्रिया) का निरोध किया जाता है और वहां आत्मा का लक्ष्य आत्मा ही होता है—अन्य नहीं। यह भी ध्यान रहे कि इस उत्कृष्ट ध्यान के प्रसग मे 'अग्र' शब्द भी आत्मावाची है। आचार्य यह भी कहते हैं कि ध्यान स्व-वृत्ति (आत्म-वृत्ति) होता है—इसमें बाह्य-चिंताओं से निवृत्ति होती है—अङ्गतीत्यग्रमात्मेत्यर्थः। द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्। ततः स्व-वृत्तित्वात् बाह्यध्येय प्राधान्यापेक्षा निर्वर्तिता भवति।' —इससे यह भी फलित होता है कि जहां अग्रशब्द अर्थ-वाची है अर्थात् जहां द्रव्य-परमाणु या भाव-परमाणु या अन्य किसी अर्थ में चित्तवृत्ति को केन्द्रित करने को 'ध्यान' नाम से कहा गया है; वहां 'ध्यान' शब्द का लक्ष्य शुक्ल ध्यान के दो पायों तक सीमित है।

एक बात और —ध्यान एक तप है और तप शब्द से

आत्म-लक्ष्य के सिवाय अन्य का परिहार इष्ट है—इसी भाव में इच्छा निरोध को तप नाम दिया गया है—

'तिण्णं रयणाणभाविब्भावट्ठमिच्छा निरोहो ।'—

ध० १३, ५, ४, २६' ५४

'समस्तभावेच्छात्यागेन स्व-स्वरूपे प्रतपनं, विजयनं तप ।'

प्रव० सा० ता० वृ० ७६।१००।१२

उक्त इच्छानिरोध में स्व और पर के भेद का संकेत भी नहीं है जिससे कि स्व की इच्छा को भी ग्राह्य माना जा सके। यहां तो ऐसा ही मानना पड़ेगा कि ध्यान में सभी प्रकार की इच्छाओं (मन की क्रियाओं) का अभाव ही आचार्य को इष्ट है और वे आत्मा मे आत्मा के होने को ही उत्कृष्ट ध्यान मानते हैं जो अपरिग्रहरूप है।

किन्हीं मनीषियों ने हमे 'एक पदार्थ को मुख्य बनाकर उसके चितन में (मन का) रोध करना—मन को ठहरा लेना ध्यान है' ऐसा अर्थ भी बतलाया है यानी उनके मत में निरोध का अर्थ मन का स्थापित करना है। ऐसे मनीषियों को धवला मे आये 'निरोध' शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए। और यह भी सोचना चाहिए कि मन को लगाने की क्रिया से आस्रव होगा या संवर-निर्जरा ? एक स्थान पर धवला मे निरोध के अर्थ को इस भांति स्पष्ट किया गया है—'को जोग णिरोहो ? जोग विणासो।' उवयारेण जोगो चिंता, तिस्से एयग्गेण णिरोहो विणासो जम्मि तं ज्झाणमिदि।' —वही पृ० ८५-८६

योग का निरोध क्या है ? योग का विनाश। उपचार से चिंता का नाम योग है। उस चिंता का एकाग्ररूप से जिसमे विनाश हो जाता है वह ध्यान है। किसी (एक की भी) चिंता में लगे रहना, प्रसंग गत ध्यान नही और ना ही उस चिंता में लगे रहने में, उससे संवर और निर्जरा ही है। यदि संवर निर्जरा है भी तो वह अन्य प्रवृत्ति से निवृत्ति मात्र के कारण और उसी अनुपात में है—ध्यान (क्रिया) से नहीं; वहां ध्यान नाम तो मात्र उपचार है। ऊपर के पूरे विवेचन से स्पष्ट होता है कि धवला निर्दिष्ट दो ध्यानों के प्रकाश में ध्यान वही है जो संवर-निर्जरा का हेतु हो ? सि० च० नेमीचंद्राचार्य जी ने जो 'दुविहं पि मोक्खहेउं' रूप में दो ध्यानों को प्ररूपित किया है उनमें 'पणतीस सोलछप्पणचदुदुगमेगं' तथा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ जैसे परावलम्बी ध्यानों को मोक्षमार्ग में परम्परित कारण होने से व्यवहार-ध्यानरूप और 'बहिरब्भंतर-किरियारोहो' और रूपातीत जैसे स्वावलम्बी ध्यान को निश्चय ध्यान रूप कहा है। यदि हम विचारें तो धवलाकार के शब्दों से यह बात सर्वथा मेल खाती जैसी दिखती है—

अंतोमुहुत्तमेत्तं चिंतावत्थाणमेगवत्थुम्हि।
छदुमत्थाणं झाणं, 'जोगणिरोहो' जिणाणं तु ॥' (उद्धृत)

एक वस्तु मे अतर्मुहूर्त काल तक चिंना का अवस्थान-रूप ध्यान छद्मस्थों का ध्यान है और योग निरोध रूप निश्चय ध्यान अर्हन्त भगवान का ध्यान है आदि।

ऊपर के प्रसग से यह भी स्पष्ट है कि जिन्हें आर्त और रौद्र ध्यान के नामों से संबोधित किया जा रहा है वे सम्यग्दृष्टी के लिए न तो व्यवहार ध्यान है और ना ही वे निश्चय की परिभाषामे आते हैं। अपितु यह कहा जाय कि वे सर्वथा अव्यवहार्य और जीव की दशा की अनिश्चिति में कारण हैं, तो अधिक उपयुक्त होगा यतः वे मिथ्याभाव हैं।

साधारणतः 'ध्यान' शब्द ऐसा है जो जन साधारण में चिंता या चिंतन के अर्थ में प्रसिद्ध है—'ध्यै चिंतायाम्'। इसलिए लोग इस शब्द को विचार करने जैसे अर्थ में लगा बैठते हैं। लोगों को समझना चाहिए कि यदि सर्वथा विचार—चिन्तन ही ध्यान होता तो आचार्य शुक्ल ध्यान की ऊपरी श्रेणियों में विचार का वहिष्कार न करते जैसा कि उन्होंने किया है। वे कहते हैं—'अवीचारं द्वितीयं।' दूसरा एकत्ववितर्क नामा शुक्ल ध्यान वीचार रहित है (तीसरा और चौथा शुक्ल ध्यान भी वीचार रहित है)। विज्ञपुरुष इस बात को भली भांति जानते हैं कि—'वीचारोऽर्थ व्यंजनयो संक्रान्तिः।' अर्थ और व्यंजन में विचारों की पलटती दशा संक्रान्ति कहलाती है और वीचार व विचार दोनों शब्द एकार्थक है यानी जब यह जीव अर्थ का विचार करते-करते कभी पर्याय पर चला जाता है और कभी अर्थ पर चला जाता है तब उस पलटने की दशा को सक्रान्ति कहा जाता है। और वह ऊपरी अवस्थाओं में नही है। अब सोचिए ! कि जब मन का अर्थ चिन्तन है और चिंतन मे पलटना अवश्यंभावी है।

यदि पलटना नहीं तो चिंतन कैसा ? वह तो कूटस्थपना ही है और मन कूटस्थ है तो वह मन कैसा ? फिर यदि मन संक्रान्ति नही करता तो वहां कौन सी क्रिया करता है ? और जो क्रिया करता है वह क्रिया 'आस्रव' क्यों नही ? जब कि आचार्य ने मन, वचन या काय की क्रिया को आस्रव कहा है ?

उक्त सभी परिस्थितियों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि— उक्त ध्यान में मन लगाना नही पड़ता, अपितु मन को हटाना पड़ता है और इस मन को हटाना ही—पर से निवृत्ति करना ही अपरिग्रह है और जैन-दर्शन को यही निवृत्ति इष्ट है। फलतः—इस मायने में उत्कृष्ट ध्यान और अपरिग्रह दोनों एक ही श्रेणी में ठहरते हैं और ऐसा किए बिना 'तपसा निर्जरा च' सूत्र की सार्थकता भी नहीं बनती और जिन-दशा तथा मुक्ति भी नही बनती। विचार दीजिए। इसमें हमें कोई आग्रह नहीं। □□

(पृ० २५ का शेषांश)

कि जैन के विधाता और गुरुओं की क्या विशेषता रही है ? प्रथमतः वे प्रमाद-परिहार मे ही सन्नद्ध रहे हैं। जहां तक देव का प्रसंग है वे सदा ही वीतरागी कहलाए हैं और जैन के गुरू भी निर्ग्रंथ रूप में प्रसिद्ध रहे हैं और उनका चरम-लक्ष्य भी वीतरागता की प्राप्ति ही रहा हैं। वे कभी भी किसी आचार्य के द्वारा- समय के प्रभाव में भी कभी अहिंसक या सत्यवादी (हरिश्चन्द्र) जैसे विशेषणो से प्रसिद्ध नही किए गए और ना ही उनके निश्चित लक्षणों में कभी कोई अन्तर ही आया। तथाहि—देव का लक्षण—'अष्टादशमहादोषविमुक्तं मुक्तिवल्लभ।

ज्ञानात्मपरमज्योतिर्देव वन्दे जिनेश्वरम् ॥'

गुरु का लक्षण—बाह्याभ्यंतरभेदेन निर्ग्रन्थं ग्रन्थ सयुतं।

कर्मणालघुमप्युच्चैर्गुरु हि गुरुवो विदुः॥'

जो अठारह प्रकार के दोषों—(जो परिग्रह की ही श्रेणी में आते हैं) से रहित, एकाकार शुद्ध ज्ञान-ज्योति से युक्त हों वे देव और जो बाह्याभ्यंतर सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित-निर्ग्रन्थ हो वे गुरु होते हैं। ये देव और गुरु सर्व-शुद्धि अर्थात् पर से मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं।

शास्त्रों में भी पढ़ा जाता है कि मुनिगण निकट आए हुए श्रावकों को धर्मोपदेश देते समय प्रथम अपरिग्रह रूप मुनिमार्ग और तदनन्तर श्रावकाचार का उपदेश देते हैं। इसमें उनका भाव ऐसा ही रहता है कि श्रोता पहिले वास्तविकता को समझें कि सर्वपापों की जड परिग्रह है। यदि श्रोता के भाव हुए तो वह इसी जड़ पर प्रथम प्रहार करेगा और परिग्रह त्याग के साथ उसके शेष सभी पापों के धुल जाने का मार्ग खुल सकेगा। बिना परिग्रह मे संकोच किए, कोई भी व्रत फलित नही होगा। जरा सोचिए !

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २, अन्सारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

जरा सोचिए !

१. प्रामाणिकता कहां है ?

वे बोले—मुझे वे दिन याद आते हैं जब मैं एक बड़े दफ्तर में कार्यरत था। अच्छा पैसा मिलता था। रहने को बंगला, कार, नौकर-चाकर सम्बन्धी सभी सुविधाएं प्राप्त थीं। सैकड़ों लोग सुबह से शाम और रात तक भी मेरे मुख की ओर देखते थे कि कब मेरे मुंह से क्या निकले और वे तदनुरूप कार्य करें। कोई ऐसा पल न जाता था जब कोई न कोई मेरी ताबेदारी में खड़ा न रहता हो। पर, क्या कहूं ? आज स्थिति ऐसी है कि बेकार बैठा हूं। रहने का ठिकाना नहीं। नौकर-चाकर की क्या कहूं ? मैं खुद ही मेरा नौकर हूं। मैं कहीं नौकरी करना चाहता हूं —कोई नौकरी नही देता। कई टायम तो भूखों रह केवल पानी के दो घूंट पीकर खाली पेट ही सोता हूं।

मैंने पूछा—यह सब कैसे हो गया ? दफ्तर के कार्य का क्या हुआ ?

बोले—क्या कहूं ? बचपन से मेरा खेल-कूद में मन रहा। घर वालों के बारम्बार कहने पर भी मैं पढ़ने से जी चुराता रहा और जब बड़ा हुआ तब देखा कि मेरे साथी यूनिवर्सिटियों की डिग्री लेकर अच्छे-अच्छे पदों पर लगे चैन की बन्सी बजा रहे हैं। मुझे अपने पर बड़ा तरस आया। मैंने सोचा, यदि मेरे पास डिग्री होती तो मैं भी कहीं न कहीं कोई आफीसर बन गया होता। बस, इसी सोच मे काफी दिनों रहा कि एक दिन मेरे किसी जानकार ने मुझे कहा कि तू डिग्री ले ले। मैंने कहा—कहां से कैसे ले लू ? अब तो उम्र भी बड़ी हो गई है। उसने मुझे बताया कि पड़ोस के मुहल्ले मे एक संस्था गुप्त रूप में डिग्रियां देती है। तेरे कुछ पैसे जरूर लगेंगे, पर तेरा काम हो जायगा। बस, क्या था ? मरता क्या न करता—मैं उस संस्था में पहुंचा और जैसे-तैसे दो हजार रुपयों में सौदा बन गया। मैंने सोचा इतने रुपये तो दो मास की तनख्वाह है, बस वसूल हो जाएंगे। मैंने रुपयों का जुगाड़ करके एम० ए० की डिग्री ले ली और मुझे आफिस में काम मिल गया।

होनहार की बात है कि एक दिन मेरा आफिस के एक साथी से झगड़ा हो गया और उसने किसी तरह मेरी जाली डिग्री की बात कहीं न कहीं से जान ली और मेरी शिकायत कर दी। मैं जांच के लिए निलंबित कर दिया गया। मुकद्दमा चला और आठ वर्ष के कार्यकाल में जो कुछ जोड़ा था वह सब खर्च हो गया। पर, मैं निर्दोष न छूट सका। नौकरी भी गई और जुर्माना भी भरना पड़ा।

मैंने कहा—आपने जाली सार्टीफिकेट क्यों बनवाया ? क्या आप नहीं जानते कि वही सार्टीफिकेट काम देता है, जो किसी स्वीकृत और प्रामाणिक बोर्ड या विश्वविद्यालय से मिला हो—किसी ऐसे व्यक्ति, संस्था या समाज से मिला प्रमाण-पत्र जाली होता है जिसे उतनी योग्यता न हो और जो प्रमाण-पत्र देने के लिए अधिकृत न हो। [illegible]क, दिया सार्टीफिकेट तो बोगस और झूठा ही होगा।

वे बोले—वक्त की बात है, होनी ही ऐसी थी। वरना कई लोग तो आज भी अयोग्य और अनधिकृत लोगों से उपाधियां, अभिनन्दनादि ले रहे हैं—वे सम्मानित भी हो रहे हैं और उनकी तूती भी बोल रही है।

मैंने कहा—आपकी दृष्टि से आपका कहना तो ठीक है पर, इसकी क्या गारण्टी है कि उनकी प्रामाणिकता भी आपकी तरह किसी न किसी दिन समाप्त न होगी ? फिर, ऐसे उपक्रमों की प्रामाणिकता है ही कहां ? सभी लोग तो ऐसे उपक्रमों के वैसे समर्थक नहीं होते जैसे वे विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदत्त उपाधियों के पोषक होते हैं। आप निश्चय समझिए कि प्रामाणिक उपाधि सभी स्थानों पर, सभी की दृष्टि में प्रामाणिक ही रहेगी—एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो किसी विश्वविद्यालय द्वारा दी गई उपाधि को जाली बताने की हिम्मत कर सके। जबकि

भीड़ के द्वारा दी गई उपाधियों के विषय में सभी एकमत नहीं होते—कुछ न कुछ लोग उसे नकारने वाले अवश्य ही होते हैं।

उक्त कथन से हमारा तात्पर्य ऐसा नहीं कि हम अभिनन्दनों या उपाधियों का जनाजा निकाल रहे हों। अपितु ऐसा मानना चाहिए कि हम गुण-दोषों के आधार पर सही रूप में किसी सम्मान के पक्षपाती हैं—सम्मान होना ही चाहिए। पर, हम ऐसे सम्मान के पक्षपाती हैं जो किसी ऐसे अधिकृत, तद्गुणधारक, पारखी और अभिनन्दित के द्वारा किया गया हो—जिनकी कोई अवहेलना न कर सके। उदाहरण के लिए जैसे मैं 'विद्यावाचस्पति' नहीं—शास्त्रों में मूढ़ हूं और किसी को 'सकल शास्त्र पारंगत' जैसी उपाधि से विभूषित करने का दुःसाहस करूँ (यद्यपि ऐसा करूंगा नहीं) तो आप जैसे समझदार लोग मुझे मूर्ख न कह 'महामूर्ख' ही कहेंगे और उस उपाधि को भी बोगस, जाली, झूठी और न जाने किन-किन सम्बोधनों से सम्बोधित करेंगे? और यह सब इसलिए कि मैं उस विषय मे अकिंचन हूं, मुझमें तदर्थ योग्यता, परख नही है। फलतः—

हमारी दृष्टि में वे ही उपाधियां और अभिनन्दन युक्तियुक्त और प्रामाणिक हैं जो तद्गुण धारक किसी अधिकृत, अभिनन्दित और पारखी व्यक्ति या समुदाय की ओर से दिए गए हों और जिनका दाता (व्यक्ति या समाज) किसी पूर्वाभिनन्दित व्यक्ति या समाज द्वारा कभी अभिनंदित हो चुका हो। उक्त परिप्रेक्ष्य में वर्तमान में बंटने वाली उपाधियो या अभिनन्दनों का स्थान या महत्त्व कब, कैसा और कितना है? है भी या नही? जरा सोचिए! कही वर्तमान के पदवी आदान-प्रदान जैसे कोई उपक्रम, गुटबाजी, अहं-वासना या पैसे से प्रेरित तो नहीं है? यदि हाँ, तो 'अह' के पोषक ऐसे उपक्रमों पर ब्रेक लगाना चाहिए। फिर, आप जैसा सोचें सोचिए। हां, यह भी सोचिए कि पूर्वाचार्यों की उपाधियों और अभिनन्दनों की प्राप्ति में भी क्या हम चालू जैसी 'तुच्छ' परम्परा की कल्पना कर उनके स्तर की अवहेलना के पाप का बोझ अपने सिर लें?

२. प्रमाद : परिग्रह

'मूल जैन-संस्कृति अपरिग्रह है और हिंसादि सभी पाप परिग्रह-फलित हैं' यह एक ऐसा तथ्य है जिसे किसी प्रमाण या तर्क से झुठलाया नहीं जा सकता। हमें आश्चर्य है कि जब जैनाचार्य पापों की जड़ में प्रमत्त भाव (परिग्रह) की अनिवार्यता स्वीकार कर रहे हैं, तब कुछ लोग शास्त्र-सम्मत हमारी इस बात को आक्षेप की सज्ञा दे रहे है। ऐसे लोगों से हमारी प्रार्थना है कि वे जिनधर्म के तथ्य को हृदयंगम करें—जिनवाणी का आदर करें। हमे कोई विरोध नहीं, हम धर्म सम्बन्धी 'अहिंसा परमोधर्मः' जैसे सभी नारों को सम्मान देते हैं। पर, हम देखते हैं कि इन नारों का वर्तमान में दुरुपयोग और दिखावा किया जाने लगा है, तब क्यो न इन नारों के मूल को खोजा जाय? जिससे दुरुपयोग की बढ़वारी रुके। हमारी समझ से यदि हमने उक्त नारो के मूल 'अपरिग्रह परमोधर्मः' को लक्ष्य मे रखा होता तो छलावे का प्रसग उपस्थित न हुआ होता। अस्तु :

वास्तव मे अपरिग्रह ही 'जिन' बनने का उपाय है और 'जिन' का धर्म भी अपरिग्रह है तथा अहिंसादि सभी धर्मों के मूल में अपरिग्रह की ही प्रधानता है। जहां परिग्रह है वहाँ पाप है और पापो को छोड़ने के लिए परिग्रह का छोडना अनिवार्य है। फिर चाहे वह परिग्रह अतरंग-परिग्रह हो या बहिरंग परिग्रह हो।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि आचार्यों ने पापों को पाप तभी माना है जब उनमें प्रमत्त (परिग्रह) भाव हो। जब वे कहते हैं—'प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपण हिंसा' तब वे 'असद्मिधानमनृत', 'अदत्तादानमस्तेय' आदि सभी पापों में भी 'प्रमत्तयोगात्' लगा लेने का आदेश देते हैं। उनके मत में कोई भी प्रवृत्ति तब तक पाप नही है जब तक उसमें प्रमत्त भाव न हो।—'मरदु व जियदु व जीवो' आदि। यदि हम प्रमत्त की परिभाषा हृदयंगम करें तो हमें स्पष्ट हो जायगा कि सभी पापो की जड़ में परिग्रह बैठा है। तथाहि—

"जो प्रमादयुक्त है, कषायसयुक्त परिणाम वाला है उसे प्रमत्त कहते हैं। इन्द्रियों की क्रियाओं में सावधानता

न रखता हुआ स्वछंदता से प्रवृत्ति करने वाला जो मनुष्य है उसे प्रमत्त कहते हैं। अथवा जिसके मन में कषाय बढ़ गए हैं, जो प्राणघात आदि के कारणों में तत्पर हुआ है, परन्तु अहिंसा आदि में शठता प्रवृत्ति दिखाता है, कपट से अहिंसादि में यत्न करता है, परमार्थ रूप से अहिंसादि में प्रयत्न जिसका नहीं है उसे प्रमत्त कहते हैं। अथवा चार विकथा, चार क्रोधादि कषाय, पाँच स्पर्शनादि इन्द्रिया और निद्रा तथा स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद हैं। इनसे जो युक्त है उसे प्रमत्त कहते हैं। ऐसे प्रमत्त पुरुष की जो मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति उसे प्रमत्तयोग कहते है। इस प्रकार के प्रमत्त योग से जो प्राणियों के इन्द्रियादि दश प्राणों का घात करना—वियोग करना उसे हिंसा कहते हैं। (इसी प्रकार असत्य आदि पापों में समझना चाहिए)।"

"(हिंसादि के एक सौ आठ, एक सौ आठ भेद)— संरंभ, समारंभ और आरम्भ इनसे मन, वचन, काय को गुणा करने पर नौ भेद होते हैं। फिर इन नौ भेदो से कृत-कारित और अनुमोदन को गुणा करने से सत्ताईस भेद होते हैं। तथा इन सत्ताईस भेदों से चार कषायों को गुणा करने से एक सौ आठ भेद (एक के) होते हैं।"

"**स्पष्टीकरण**—प्रमादयुक्त पुरुष का प्राणि हिंसा आदि में जो प्रयत्न करना उसे संरंभ कहते हैं। हिंसादि के साधनों को प्राप्त करने को समारम्भ कहते हैं और हिंसादि कार्य करने में प्रवृत्त होंने को आरम्भ कहते हैं। कृत—स्वयं हिंसादि करना, कारित—दूसरों से हिंसादि कराना, अनुमत—हिंसादि करने वालों को अनुमोदन देना। क्रोध, मान, माया, लोभों को कषाय कहते हैं। क्रोधकृतकाय-हिंसादि—सरभ, मानकृतकार्यहिंसादि सरभ, मायाकृतकाय-हिंसादि संरभ, लोभकृतकार्यहिंसादि सरभ। क्रोधकारित-कार्यहिंसादि समरम्भ, मानकारितकार्यहिंसादि संरभ, मायाकारितकार्यहिंसादि संरंभ, लोभकारितहिंसादि संरंभ। क्रोधानुमोदितकार्यहिंसादि संरंभ, मानानुमोदितकार्यहिंसादि संरंभ, मायानुमोदितकार्यहिंसादि सरंभ, लोभानुमोदितकाय हिंसादि संरंभ। ऐसे कार्यहिंसादि संरंभ के बारह-बारह भेद। ऐसे ही वचन द्वारा हिंसादिसंरंभ के बारह-बारह भेद। तथा मनो हिंसादि संरंभ के बारह-बारह भेद होने से एक-एक के छत्तीस-छत्तीस भेद संरंभ के भेद हुए। इसी प्रकार एक-एक के छत्तीस-छत्तीस भेद समारम्भ के हुए और एक-एक के ३६-३६ भेद आरम्भ के हुए। इस प्रकार सब मिलाकर १०८ भेद हिंसा के, १०८ भेद झूठ के, १०८ भेद चोरी के, १०८ भेद कुशील के और १०८ भेद परिग्रह के होते हैं।"—(उधृत)

—उक्त सभी भेद प्रमाद की मुख्यता में बनते हैं और सभी पाप भी प्रमाद (परिग्रह) के अस्तित्व में ही बनते हैं, यह वस्तुस्थिति है। आचार्य तो यहाँ तक कहते हैं कि—

'साधौ व्रतानि तिष्ठन्ति राग-द्वेष विवर्जनात्।'— अब पाठक विचारें कि पापों के जनक राग-द्वेषादि भाव परिग्रह में परिगणित हैं या अन्य किसी में ? जरा अंतरंग चौदह परिग्रहों की गणना कीजिए और देखिए—'तीन वेद—स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुसक वेद, हास्य, रति (राग) अरति (द्वेष) शोक, भय और जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया ओर लोभ ये चार कषाय तथा मिथ्यात्व। क्या उक्त परिग्रहों के बिना कोई पाप संभव है या सभी पापों के मूल में उक्त परिग्रहों में से किसी की कारणता विद्यमान है ? जरा सोचिए !

३. और एक यह भी—

चर्चा है श्रावकाचार वर्ष मनाने की। हम तो इसे काल लब्धि ही कहेंगे कि जो पुण्य कार्य सर्वथा विस्मृत हो चुका था वह सहसा स्मृति में आया। इसके माध्यम से जैनत्व को बल मिलेगा और भव्य जीवों का कल्याण भी होगा। धन्य है उन विचारकों, संचालकों और प्रचारकों को जिन्होने इस उपयोगी कार्य का बीड़ा उठाया। सफलता मिले इसी में सबका गौरव है। हमारी प्रार्थना है कि सभी जन इस धर्म-यज्ञ मे प्राण-पण से लग जायें। हम से जो हो सकेगा, बिना शक्ति छुपाए भर सक करेंगे।

हमें यह सोच लेना चाहिए कि यह एक ऐसा कठिन कार्य है जिसे पूरा करना लोहे के चने चबाने जैसा है। आज जब आचार-विचार का सर्वथा ही लोप है, तब हमें उसकी बुनियाद शुरू से ही रखनी होगी। और उसके लिए हमें आचारवान त्यागियों से मार्ग दर्शन लेना होगा—

उनकी सेवा करनी होगी। हमारे देखते २ हमें याद है कि किन्हीं दिनों सप्तम प्रतिमाधारी का जो सन्मान था, वह कदाचित् आज साधारणतः मुनि को भी दुर्लभता से प्राप्त है। पहिले लोग जहां किसी ब्रह्मचारी त्यागी के आगमन की खबर सुनते थे वे बासों उछल पड़ते थे, भक्तिभाव से उनकी अगवानी करते थे, श्रद्धावनत हो भक्तिभाव से उनके प्रवचन सुनते थे और उनकी वैयावृत्त करते थे और इसमें उनकी पूरी दृष्टि स्व-सुधार में केन्द्रित रहती थी। अब आज सारा का सारा वातावरण बदला हुआ है। लोग जो कुछ भी करते हैं उसमें पर-सुधार का लक्ष्य और प्रचार का दिखावा ही मुख्य होता है। गोया, धर्म आज केवल प्रचार और पर-सुधार का माध्यम बन गया। उसमें विचार और स्व-आचार नाम की कोई चीज ही नहीं रही। जबकि वास्तव में धर्म, प्रचार की चीज न हो, आचार की ही चीज है।

आज लोगों के लिए **'लोग क्या कहेंगे'** यह प्रश्न भी मुख्य आड़े आ गया है। वे सोचते हैं—यदि हम ऐसा करेंगे या न करेंगे तो लोग क्या कहेंगे? बस, वे लोगों को तुष्ट करने के ख्याल से, प्रचार को माध्यम बना मैदान में कूद पड़ते हैं और लोग समझ लेते हैं कि अमुक बहुत अच्छा काम कर रहा है। आखिर क्यों न समझें? आज तो प्रचार का जमाना है, सो हो ही रहा है। पर याद रहे—**'लोग क्या कहेंगे ?'** यह प्रश्न लोगों के सामने पहिले भी था और वे इसे हल भी करते थे। अन्तर मात्र इतना है कि तब वे इसे हल करने में प्रचार को माध्यम न बना, स्व-आचार-विचार को माध्यम बनाते थे—अपने में सुधार लाते थे। जबकि आज प्रचार को माध्यम बनाया जा रहा है। स्मरण रहे कि प्रचार और आचार में बड़ा भेद है। प्रचार तो आज सरकार भी करती है—**'शराब जहर है मत पियो ?'** पर, सरकार का वैसा आचार न होने से इस प्रचार का लोगों पर कुछ असर नहीं होता। सभी को मालुम है कि शराब की बिक्री सरकार के दिये हुए ठेकों की मार्फत सरकार द्वारा ही होती है और शराब बन्दी का प्रचार भी सरकार ही करती है। इससे मिलती-जुलती बात ही बीड़ी-सिगरेट आदि के निर्माता भी करते हैं। आदि।

यदि हमें श्रावकाचार वर्ष मनाने की वास्तविक ललक है तो हमें स्वयं को श्रावकाचार रूप में ढालना होगा। हमें अपने, अपने परिवार के, गली-मुहल्ले और नगर के बन्धुओं को पहले श्रावक बनाना होगा—उन्हें धर्म के आचार पालन के लिए तैयार करना होगा। हम बात करते हैं सम्प्रदाय, सारे देश और विश्व को सुधारने की, जबकि अपने सुधार की हमें सुध ही नहीं। हमने उन बहुत सी भीड़ों को भी कई बार देखा है जिनमें भाषणों से प्रभावित होकर समुदाय के समुदाय हाथ ऊंचे उठाकर शराब और मांस जैसे अन्य बहुत से हेय पदार्थों के सेवन न करने का दृढ़ संकेत देते रहे हैं और बाद में ललक उठने पर नियम-च्युत हो गए हैं। हमने ऐसे जैनों को भी देखा है जो किन्हीं महाराज को आहार देने के लिए आजन्म शूद्र जल त्याग का नियम लेकर बाजार में हलवाई की दुकान पर कचौड़ी आदि खाकर कहते रहे हैं कि—हमने तो शूद्र जल मात्र का त्याग किया है—अन्य चीजों का नहीं, आदि। गरज मतलब यह कि कुछ लोग दीर्घकालीन व्यसनी होने से और कुछ कानूनी दांव-पेंचों का सहारा लेकर भ्रष्ट होते रहे हैं। अतः नियम देने-लेने और उन पर दृढ़ रहने व रखने के लिए पहिले उनकी चित्त-भूमि को बारम्बार उसी भांति तैयार करते रहना पड़ेगा जैसे चतुर किसान बीज बोने से पहिले खेत को भलीभांति तैयार करता है। बाद में फसल की देख-भाल की भांति लोगों को पुनः पुनः सम्बोधन भी देना होगा। उनकी देखभाल भी करनी होगी। अब जरा सोचिए! हममें वैसे चतुर किसान कितने हैं और वैसी भूमि कब, किसने तैयार कर रखी है। कहीं ऐसा तो नहीं हो कि मेघ ऊसर जमीन में बरस रहा हो और हम किसान भी अनाड़ी हों - मात्र लोगों में **'कृषक'** नाम कायम रखने के लिए ही हल चला रहे हों यानी—**'खुद मियां फजीहत दीगरां नसीहत।'**

—सम्पादक

वर्णी-वाणी के रत्न

१. किसी कार्य के करने का जो निश्चय करो उसे सहस्रों बाधाएँ आने पर भी न छोड़ो। यदि उस निश्चयसे आत्मघात होता हो और आत्मा साक्षीभूत होता है तब उसे छोड़ दो। परकी बात वहीं तक मानो जहाँ तक स्वार्थ में बाधा न आवे। यथार्थसे तात्पर्य निरीहवृत्ति से है। आत्माका स्वार्थ यही है कि परसे भिन्न है; एक परमाणुमात्र भी आत्मीय नहीं यही भावना दृढ होना। जब एक परमाणु भी अपना नहीं तब स्पर्शादि सुखोंके लिए परमेश्वर की उपासना करना विफल है। (३।५।४७)

२. मेरा निजी अनुभव है जो मनुष्य धीर नही वह मनुष्य किसी भी कार्यमे सफलीभूत नहीं हो सकता। मैं जन्मसे अधीर हूं अत: मेरा कोई भी कार्य आज तक सफल नहीं हुआ। पर्याय बीत गई पर पर्यायबुद्धि नहीं गई। पर्याय नश्वर है यह प्रति दिन पाठ पढ़ते हैं परन्तु इसमें कोई तत्व नही निकलता। तत्व तो जहां है वही ही है। (२।७।४८)

३. परको प्रसन्न करनेकी चेष्टा मत करो। जब यह अभ्रांत सिद्धान्त है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्यका उत्पादक नहीं तब तुम्हारे प्रयत्नसे तो अन्य प्रसन्न न होगा। अपनी ही परिणति से प्रसन्न होगा। तुम व्यर्थ खिन्न मत होओ कि हमने परिणमाया। अन्य द्रव्यका चतुष्टय अन्य से भिन्न है। (३१।७।४७)

४. कोई भी काम करो निर्भीकता से करो। (२०।८।४७)

५. संसारमें कर्तव्यनिष्ठ बनो, दूसरों की भलाई की चेष्टाके पहिले अपनी शक्तिका विकास करो। केवल गल्पवादसे भलाई नही हो सकती। कुछ कर्तव्यपथ पर आओ, यही ससार बन्धनसे छूटने का मार्ग है। जो मनुष्य कर्तव्यको जानते हैं वही शीघ्र ही अभीष्ट पद के पात्र होते हैं। (२०।८।४७)

६. बहुत जल्पवाद दम्भमे परिणत हो जाता है। जितना जल्पवाद करोगे उतना ही कार्य करने में त्रुटि करोगे। १०० बात कहनेकी अपेक्षा एक काम करना श्रेयस्कर है। उपदेश उतना दो जितना अमल में आ सके। पुण्य कार्यों का तिरस्कार मत करो। शुद्धोपयोग उत्तम वस्तु है परन्तु शुद्धोपयोगकी कथासे शुद्धोपयोग नही होता। (११।६।४७)

७. कोई भी काम करो उतावली मत करो। (१२।६।४७)

८. जो काम करो शान्तिसे करो। प्रथम तो कार्य करनेके पहिले अच्छे प्रकारसे निर्णय कर लो कि हम यह कार्य करने की शक्ति रखते हैं अथवा नही? यदि योग्यता न हो तो उस कार्यके करनेका साहस न करो तथा जब उस कार्यके करनेके सन्मुख होओ तब अन्य कार्यकी व्यग्रता मत रक्खो। उतावली मत करो, चित्तको प्रसन्न विशुद्धता ही प्रत्येक कार्यमें सहायक होती है। (१५।६।४७)

९. शान्तिसे काम करो, आकुलता दूर करने के लिए अशान्त होना पागलपनकी चेष्टा है। (१५।२।४८)

१०. स्वाध्यायमें उपयोग लगाना, किसीसे नही बोलना, यदि कोई गल्प करे तो उसे निषेध कर देना। केवल आगम की कथा करना, किसीका सकोच नहीं करना, कलिमल दोषको दूर करनेके लिए अपने अन्तःकरणसे विचारपूर्वक कार्य करो। परकी गुरुता लघुतासे हमको न लाभ है, न हानि है। (१७।५।४८)

११. सरल व्यवहार करो, आभ्यन्तर कषाय मत करो, किसीके परिणामको देख हर्ष विषाद मत करो। (२२।५।४८)

(शेष पृष्ठ २४ पर)

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० । १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन । प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं । यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो । पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्राय: नहीं लिए जाते ।

सम्पादक परामर्श मण्डल —डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३८ : कि० २ — अप्रैल-जून १९८५

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वर्णी-वाणी से

संसार में परिग्रह ही पांच पापों के उत्पन्न होने में निमित्त होता है। जहां परिग्रह है वहां राग है, जहां राग है वहीं आत्मा में आकुलता रूप दुःख है और वहीं सुख गुण का घात है, और सुख गुण के घात का नाम ही हिंसा है। संसार में जितने पाप हैं उनकी जड़ परिग्रह है। आज जो भारत में बहुसंख्यक मनुष्यों का घात हो गया है तथा हो रहा है उसका मूल कारण परिग्रह ही है। यदि हम इससे ममत्व घटा देवें तो अगणित जीवों का घात स्वयमेव न होगा। इस अपरिग्रह के पालने से हम हिंसा पाप से मुक्त हो जाते हैं और अहिंसक बन सकते हैं। परिग्रह के त्यागे बिना अहिंसा-तत्त्व का पालन करना असम्भव है। भारतवर्ष में जो यागादिक से हिंसा का प्रचार हो गया था उसका कारण यही प्रलोभन तो है कि इस याग से हमको स्वर्ग मिल जावेगा, पानी बरस जावेगा, अन्नादिक उत्पन्न होंगे, देवता प्रसन्न होंगे। यह सर्व क्या था? परिग्रह ही तो था। यदि परिग्रह की चाह न होती तो निरपराध जन्तुओं को कौन मारता?

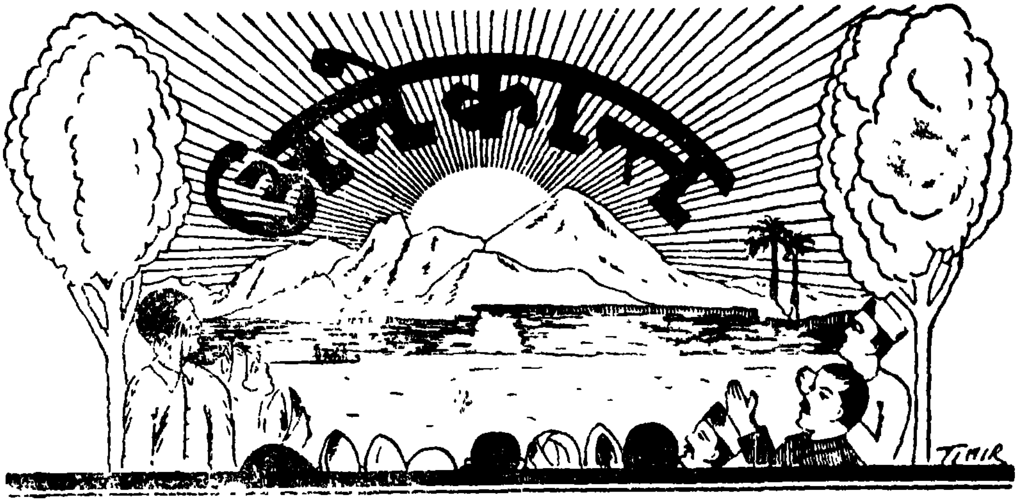
आज यदि इस परिग्रह में मनुष्य आसक्त न होते तब यह 'समाजवाद' या 'कम्युनिष्टवाद' क्यों होते? आज यदि परिग्रह के धनी न होते तब ये हड़तालें क्यों होतीं? यदि परिग्रह पिशाच न होता तब जमींदारी प्रथा, राजसत्ता का विध्वंस करने का अवसर न आता? यदि यह परिग्रह-पिशाच न होता तब कांग्रेस जैसी स्वराज्य दिलाने वाली संस्था विरोधियों द्वारा निन्दित न होती और वे स्वयं इनके स्थान में अधिकारी बनने की चेष्टा न करते? आज यह परिग्रह पिशाच न होता तो हम उच्च हैं, ये नीच हैं, यह भेद न होता। यह पिशाच तो यहाँ तक अपना प्रभाव प्राणियों पर जमाये हुए है जिससे सम्प्रदायवादियों ने धर्म तक को निजी धन मान लिया है। और धर्म की सीमा बांध दी है। तत्त्वदृष्टि से धर्म तो 'आत्मा की परिणति विशेष का नाम है'। उसे हमारा धर्म है यह कहना क्या न्याय है? जो धर्म चतुर्गति के प्राणियों में विकसित होता है उसे इने-गिने मनुष्यों में मानना क्या न्याय है? परिग्रह पिशाच की ही यह महिमा है जो इस कुएं का जल तीन वर्णों के लिए है, इसमे यदि शूद्रों के घड़े पड़ गए तब अपेय हो गया! जबकि टट्टी में से होकर नल आ जाने से भी जल पेय बना रहता है! अस्तु, इस परिग्रह पाप से ही संसार के सब पाप होते हैं। श्री वीर प्रभु ने तिल-तुष मात्र परिग्रह न रखके पूर्ण अहिंसा व्रत की रक्षा कर प्राणियों को बता दिया कि कल्याण करने की अभिलाषा है तब दैगम्बर पद को अंगीकार करो। यही उपाय संसार बन्धन से छूटने का है। परिग्रह अनर्थों का प्रधान उत्पादक है यह किसी से छिपा नहीं, स्वयं अनुभूत है। उदाहरण की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता उससे विरक्त होने की है। आवश्यकतायें तो इतनी हैं कि संसार के सब पदार्थ भी मिल जावें तो भी उनकी पूर्ति नहीं हो सकती। अतः किसी की आवश्यकता न हो यही आवश्यकता है। संसार का प्रत्येक प्राणी परिग्रह के पंजे में है। केवल सन्तोष कर लेने से कुछ हाथ नहीं आता। पानी विलोड़ने से घी की आशा तो असम्भव ही है छाँछ भी नहीं मिल सकता। जल व्यर्थ जाता है और पीने के योग्य भी नहीं रह जाता है। परिग्रह की लिप्सा में आज संसार की जो दशा हो रही है वह किसी से अज्ञात नहीं। बड़े-बड़े प्रभावशाली तो उसके चक्कर में ऐसे फँसे हैं कि वे गरीब दीन-हीन प्रजा का नाश कराकर भी अपनी टेक रखना चाहते हैं। जो कहता है "हमने परिग्रह छोड़ा" वह अभी सुमार्ग पर नहीं आया। रागभाव छोड़ने से पर पदार्थ स्वयमेव छूट जाते हैं। अर्थात् लोभ-कषाय के छूटते ही धनादिक स्वयमेव छूट जाते हैं। परिग्रह पर वही व्यक्ति विजय पा सकता है जो अपने को, अपनेमें, अपनेसे, अपने लिए, अपने द्वारा आप ही प्राप्त करने की चेष्टा करता है। चेष्टा और कुछ नहीं, केवल अन्तरंग में पर पदार्थ में न तो राग करता है और न द्वेष करता है। (वर्णी वाणी से साभार)

सूचना:—वीर सेवा मन्दिर सोसायटी की साधारण सदस्यता का पिछला व आगामी वर्ष का सदस्यता-शुल्क जिन सदस्यों ने नहीं भेजा है, उनसे आग्रह है कि सदस्यता-शुल्क अविलम्ब भेज दें। संस्था का आर्थिक वर्ष जून में समाप्त होता है।

सुभाष जैन : महासचिव

वीर सेवा मन्दिर, सोसायटी २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ३८ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५११, वि० स० २०४२ | अप्रैल-जून १९८५

जिनवाणी-स्तुति

परम जननी धरम कथनी, भवार्णवपारकों तरनी ।।परम०।।
अनक्षरिघोष आपतकी, अक्षरजुत गनधरों वरनी ।।परम०।।
निरखे दृग-नयन जोगन तें, भविन को तत्त्व अनुसरनी ।
विथरनी शुद्धदरसन की, मिथ्यातममोह को हरनी ।।परम०।।
मुकति मंदिर के चढ़ने को सुगमसी सरल नीसरनी ।
अंधेरे कूप में परतां, जगत उद्धार की करनी ।।परम०।।
तृषा के ताप मेटन कों, करत अमिरत वचन झरनी ।
कथंचितवाद आचरनी, अवर एकान्त परिहरनी ।।परम०।।
तेरा अनुभव करत मोकों, बहुत आनंदउर भरनी ।
फिर्यो संसार दुखिया हूं, गहो अब आन तुम सरनी ।।परम०।।
अरज 'बुध' जन की सुन जननी, हरोमेरी जनम-मरनी ।
नमूं कर जोर मन-वच तैं, लगाके सीस को धरनी ।।परम०।।

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो

□ डा० ज्योति प्रसाद जैन

अपरिग्रह का अर्थ है परिग्रह का अभाव और 'परिग्रह' उसे कहते हैं जो आत्मा को सर्व ओर से घेरे व बांधे रखता है—"परितो गृह्णाति आत्मानमिति —परिग्रह:" । चेतन-अचेतन, घर-जायदाद, धन-दौलत आदि अनगिनत बाह्य भौतिक पदार्थ मनुष्य को बांधे रखते हैं । वह अहर्निश उनके अर्जन, संग्रह, सुरक्षा की चिन्ता में तथा उनके नष्ट हो जाने या छिन जाने के भय से व्याकुल रहता है । वह उन्हें ही अपना जीवन-प्राण समझता है । अतएव वे सब पदार्थ सामान्यतया परिग्रह कहलाते हैं । किन्तु, वास्तव में स्वयं वे पदार्थ परिग्रह नहीं है, वरन् उनमें जो व्यक्ति की मूर्च्छा है, ममत्वभाव है, आसक्ति है, वही परिग्रह है, और इस परिग्रह का मूल कारण उसकी कामनाएँ, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, लोभ, तृष्णा या आशा हैं । जिसका चित्त इन आशा-तृष्णादि विकारों से ग्रस्त हो रहता है, उसके पास अटूट धन वैभव हो तो भी उसे सुख व शान्ति प्राप्त नहीं होती । इसीलिए एक शायर ने कहा है कि—

जमीयते दिल कहां हरीपो को नसीब ।
निन्नानवे ही रहे कभी सो न हुए ।।

तृष्णा ग्रस्त जीवों को कभी भी चित्त की शान्ति प्राप्त नही होती । वे सदा निन्यानवे के चक्कर में पड़े रहते हैं, क्योकि पुरानी इच्छाओं की पूर्ति के साथ ही साथ तृष्णा की सीमा आगे-आगे बढ़ती जाती है । अत: वह धनी होते हुए भी निर्धन हैं, वैभव सम्पन्न होते हुए भी रक हैं—'स हि दरिद्री यस्य तृष्णा विशाला' । वह यह भूल जाता है कि—

दिल की तस्कीं भी है जिन्दगी की खुशी की दलील ।
जिन्दगी सिर्फ जरोसीम का पैमाना नहीं ।।

जीवन के सुख का प्रयास चित्त का सन्तोष व शांति है, मात्र धन-दौलत उसका माप-दण्ड नही हैं—वह बाह्य वैभव से नहीं मापा जा सकता ।

पुरातन जैनाचार्य कह गए हैं कि जो निर्ग्रन्थ होता है, भीतर-बाहर दोनों से सर्वथा निष्परिग्रह होता है, वही सच्चा चक्रवर्ती होता है—लौकिक चक्रवर्ती सम्राट का अपार वैभव भी उस महात्मा की दिव्य विभूति के समक्ष सर्वथा नगण्य है, हेय है । प्रसिद्ध दार्शनिक हेनरो डेविड थोरो की उक्ति है कि "सबसे बड़ा अमीर वह है जिसके सुख सबसे सस्ते हैं—आत्मा की आवश्यकताएँ जुटाने के लिए पैसों की आवश्यकता नही होती ।" गोल्ड स्मिथ कहता है कि "हमारी प्रमुख सुविधाएँ व आरामतलबियां ही बहुधा हमारी सर्वाधिक चिन्ता का कारण होती हैं और जैसे-जैसे हमारे परिग्रह मे—हमारी धन-सम्पत्ति मे बढोत्तरी होती जाती है । हमारी चिन्ताएँ भी बढती जाती हैं, नित्य नवीन चिन्ताएँ उत्पन्न होती जाती हैं, शायद इसीलिए किसी ने कहा कि जिसने धन की सर्वप्रथम खोज की, उसी ने मनुष्य के सारे दु:ख भी साथ ही साथ खोज लिए ।"

अपने धर्म की, स्वरूप की, आत्मा और चित्त की शान्ति को प्राप्त करने का आधार धन-सम्पत्ति या परिग्रह नही है, वरन् उसके त्याग मे, उसकी आशा व तृष्णा के घटाने में ही निहित है ।

अहमक पूछता हैं वहां जाने की राह क्या है ?
जेब गर हल्की करे हर जानिब से रास्ता है ।

जिन महानुभावों ने 'परिग्रह पोट उतारकर लीनो चारित पंथ' उन्ही ने आत्मधर्म प्राप्त किया है । जरा यह सोचना तो शुरू कीजिए कि धनवान होने की वह कौन सी सीमा है कि जिस पर पहुंचकर आपके और अधिक धनवान बनने की इच्छा समाप्त हो जाय ? स्वय समझ में आ जाएगा कि इस मृगतृष्णा से पार नही पाया जा सकता ।

(शेष पृष्ठ ३ पर)

"श्री महावीराय नमः"

पं० शिरोमणिदास कृत धर्मसार सतराई

सम्पादक—कुन्दन लाल जैन प्रिंसिपल

चौपाई

वीर जिनेश्वर पनहु देव,
इन्द्र नरेन्द्र करत सत सेव।
अरु बन्दौं हो गये जिनराय,
सुमिरत जिनके पाप नसाय ॥१॥

(पृ० २ का शेषांश)

आशैव मदिराक्षाणाम आशैव विषमंजरी।
आशाभूतानि दु.खानि प्रभवन्ती देहिनाम् ॥
येषामाशा कुतस्तेषा मन. शुद्धि शरीरिणाम्।
अतोनैराश्यमवलम्ब्य शिवीभूता मनीषिण: ॥
तस्य मत्य-श्रुत वृत्त-विवेकस्तत्त्वनिश्चय:।
निर्ममत्वच यस्याशा पिशाची निर्धनगता ॥

बड़ी भयकर है यह धनलिप्सा ! यह तृष्णा ही समस्त दु खो की जड़ है। इस आशा पिशाचिनी के नष्ट होने पर ही सत्य, श्रुतज्ञान, चारित्र, विवेक, तत्वनिश्चय और निर्ममत्व या अपरिग्रह जैसे गुण आत्मा में प्रगट होतें हैं—उसके रहते वे व्यर्थ हैं।

अस्तु, परिग्रह मे निरासक्त रहने का अभ्यास करने, उसका परिमाण करने का तथा उक्त परिमाण की सीमा को निरन्तर घटाते जाने का अभ्यास करने से ही व्यक्ति शनैः शनेः अपरिग्रही हो जाता है, और सच्चे सुख एवं शान्ति का उपभोग करता है।

इस सन्दर्भ मे ज्ञातव्य है कि कृपालु ज्ञातृपुत्र भगवान महावीर ने पदार्थो को परिग्रह नही कहा, वरन् उन पदार्थों मे होने वाली मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह कहा है—

न सो परिग्रहो वुत्तो नाय पुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इह वुत्तं महेसिणा ॥

□□

वर्तमान जे जिनवर ईस,
कर जोरों निज नाऊं (नमूं) सीस।
जे जिनेन्द्र भावी मुनि कहे,
पूजहूं ते मैं सुर मुनि महे ॥२॥
जिन वाणी पनहुं (प्रणमू) धरि भाव,
भव जल राशि उतारन नाव।
पुनि बन्दो गौतम गणराय,
धर्म भेद जिन दिये बताय ॥३॥
आचार्य कुन्द कुन्द मुनि भये,
सुमिरत जिनके सब दुख गये।
अरु जे जिनवर भये अपार,
पनहु तिनहिं ते भव दधि तार ॥४॥
सेवू सकल कीर्ति के पाय,
सकल पुरान कहे समुझाय।
जिन सद् गुरु कहि मगल लहौं,
धर्मसार शुभ ग्रन्थहि कहौं ॥५॥
ज्ञानवन्त जे मति अति जानि,
ते पुनि ग्रन्थ न सकइ बखानि।
मैं निलरज्ज मूरख अति सही,
कहूं न सकौं जैसे गुरु कहि ॥६॥
अरु वा सुन जो बहुमद जनै,
तौ कह सूरज किरणें गनै।
जिनवर से ए मन बच काय,
धर्मसार कै हो सुख दाय ॥७॥
भव्य जीव सुनि कै मन धरै,
मूरख सुनि बहु निन्दा करै।
सुगति कुगति की यहु स्वभाय,
गहै जीव नहीं मैसो आय ॥८॥

सुनहु भव्य तुम थिरु चितु लाय,
मुकति पन्थ मारग यह आय।
श्रावक जतिवर भेद आचार,
वर्णन करैं सकल हितकार ॥६॥
दीप असंख्य कहे जिन राय,
जम्बू द्वीप तामे सुखदाय।
मेरु सुदर्शन तामे कहै,
दक्षिण दिशा भरत वर्णनयै ॥१०॥
आर्य खण्ड पुनि सोहै जहा,
मुनिवर विहरैं आरज तहा।
तामैं मगध देश सुख खानि,
स्वर्ग खण्ड मनु उतर्यो आनि ॥११॥
राजगृह तहां नगर वसाइ,
भोग भूमि मनु सोहै आइ।
दीसै जिनवर भुवन प्रकासु,
सुर नर बन्दन आवत तासु ॥१२॥
पूजा जाय बहु सज्जन करै,
मिथ्या दोष पाप परि हरैं।
नर नारी मनु देवी देव,
छांड़ि कुधर्म करैं जिन सेव ॥१३॥
राज करै तहं श्रेणिक भूप,
कामदेव जीतो निज रूप।
दाता शीलवन्त परवीन,
तजि कुधर्म जिन धर्महिं लीन ॥१४॥
सती शीलवन्त रम्भा समवाम,
तिन्हकें रानी चेलना नाम।
राजा रानी सहित बिराजै,
कामदेव मानो सति छाजै ॥१५॥
वारिषेण सुत अभय कुमार,
इन्द्र उपेन्द्र सोहै दोइ सार।
अवर अनेक सोहै शुभ राज,
मन बाछित सब पूरै काज ॥१६॥
बैठि सिंहासन श्रेणिक भूप,
मनो इन्द्र धरि आयो रूप।
सभा सहित देखैं नर ईस,
वनपा (मा) ली निज नायो सीस ॥१७॥

षट्ऋतु फूल फल आगे धरैं,
देखत दृष्टि सबके मन हरैं।
राजा देखत हर्षितगात,
वन माली बोले शुभ बात ॥१८॥
महाराज राजनि के राज,
पुण्य तुम्हारे सब सरैं काज।
समोशरण विपुलाचल रचौ,
रत्न पदारथ मोतिन खचौ ॥१६॥
प्रभु श्री वीर जिनेश्वर देव,
आये, इन्द्र करत सब सेव।
सुनिकर राजा हर्पित भयौ,
सात पैंडि चलि बन्दन गयौ ॥२०॥
दिशा देख तिन सीस न वाइ,
पुनि सिंहासन पर बैठे जाइ।
मन बांच्छित वन पालहि दियो,
आनन्द भेरी नगर मे कियो ॥२१॥
गोठि सहित चालेऊ नरेन्द्र,
अन — मर्याद भयऊ आनन्द।
मान स्तम्भ जब देखे राय,
गलित मान सब ही को जाय ॥२२॥
रथ तैं उतरि पायदे भये,
जय जय करत सभामे गये।
श्री जिनेन्द्र जब बन्दे जाय,
जनम जनम के पाप नसाय ॥२३॥
दोऊ कर जोड़ि प्रदक्षिणा दई,
निर्मल मति राजा की भई।
सीस नवाइ जिनेन्द्रहिं पेखियो,
जनम सफल राजा देखियो ॥२४॥
अष्ट भेद विधि पूज कराय,
जातैं आवा गमन नसाय।
तुम जिनेन्द्र त्रिभुवन आधार,
मुक्ति कामिनी तुम उर हार ॥२५॥
निष्कलंक परमातमा ईस,
वीतराग पावन जगदीश।
ज्योति रूप निरजन शुद्ध,
चिदानन्द भगवान सुबुद्ध ॥२६॥

अजर अमर तुम दीन दयाल,
पुरुषोत्तम पावन जगपाल।
तुम्हरो ध्यान धरै नर कोइ,
त्यागि देह परमातम होइ ॥२७॥
अष्ट भेद विधि पूज कराय,
जातै आवागमन नशाय।
तुम जिनेन्द्र त्रिभुवन आधार,
मुक्ति कामिनी तुम उर हार ॥२५॥
जो नर पूज तुम्हारी करै,
भव सागर सो लीलै तरै।
जो जस करै तुहारो आय,
ताकी कीरति रही जग छाय ॥२८॥
जो नर शरण तुम्हारो लेइ,
सो भव दुख जलाजलि देइ।
जो तुम्हरी पनु राखे देव,
सुरपति आय करै तसु सेव ॥२६॥
गणधर देव जो मनि अति सार,
तबहु न तुम गुण पार्वाहि पार।
हमसे नर जउ दोषनि बनै,
तुम गुण जाइ न हमसों गनै ॥३०॥
नमो नमो तुम दया निवास,
नमो अरहन्त नमो गुण वास।
तुम्हरी सेवा यह फल पाऊ,
जातें भव सागर तरि जाऊं ॥३१॥
इह विधि राजा सुकृत कमाए,
क्षायक समकित फल तिन पाए।
पुनि श्रेणिक तव गये तहा,
गौतम गणधर बैठे जहाँ ॥३२॥
दोऊ कर जोडि जु बन्दे पाय,
पुनिनर कोठा बैठे जाय।
अशोक वृक्ष जब देखो भूप,
शोक रहित पेखो निज रुप ॥३३॥
पुष्प वृष्टि वरसें असरार,
महा सुगन्ध सकल हितकार।
चौसठि चवर ढोरें सुरराय,
चन्द्रकिरण दीसै अधिकाय ॥३४॥

सिंहासनत्रिक तापरि दीस,
अन्तरीक्ष कमलासन ईस।
तीन छत्र ऊपरि अति रहे,
तीन लोक की प्रभुता कहै ॥३५॥
भामण्डल द्युति अधिक प्रकासै,
कोटि सूर्य शशि छबितहि नासै।
दुंदुभि देव बजावहि तार,
साढे बारह कोटि अपार ॥३६॥
जिनवर वाणी जबहूं छलै,
सकल जीव के संशय गलै।
द्वादश अंग मुनि गणधर कहैं,
सकल जीव मुनिकै मन धरै ॥३७॥
श्रेणिक पूछै मन बच काय,
धर्म भेद कहिए समुझाय।
स्वर्ग मोक्ष फल कैसे होय,
सो कृपा करि वरणो सोइ ॥३०॥
श्रावक जतिवर भेद है जैसे,
सो समुझावो मुनिवर तैसे।
कसे जीव चहुगति मे परै,
कैसे जीव भव सागर तिरै ॥४०॥
पगु अन्ध निर्धन धनवन्त,
नउ पण्डित पद पावहिं सन्त।
पुत्र हीन बहु रोग अपार,
बहुत दुख भुगतै ससार ॥४१॥
ए पुनि अवर कहै हित जानि,
तुम उपकार करो सुख खानि।
दया दान दीजै उपदेश,
जातें तिरै ससार अशेष ॥४२॥
द्वादश कोठा के सब प्राणी,
श्रेणिक प्रश्न यहै मन मानी।
धन्य धन्य श्रेणिक तुम उपकारी,
गणधर पूछै सब हितकारी ॥४३॥

दोहा

हस्त कमल दोऊ जोड़िकर श्रेणिक प्रश्न जु कीन।
मनमैं अतिदृढ़ता भई, सुभये धर्म पर लीन ॥४४॥

श्री जिन चरण हृदय रहैं सकल कीर्ति उपदेश।
पण्डित सिरोमणि दास कों शिवपुर-देहु-प्रवेश ॥४५॥

इति श्री धर्मसार ग्रन्थें भट्टारक श्री सकल कीर्ति-उपदेशात् पण्डित शिरोमणि विरचिते राजा श्रेणिक प्रश्न करण वर्णनो नाम प्रथमो सन्धि ॥१॥

अथ द्वितीय सन्धि प्रारम्यते :

चौपाई

प्रभु मुख निर्मल ध्वनि जब ठई,
अर्ध मागधी वाणी ठई।
द्वादशांग मुनि गण धर करैं,
सकल भव्य के पातक हरैं ॥१॥
गणधर कहै सुनिर्मल वाणी,
सुन श्रेणिक तुम थिर चित आनी।
धर्म मूल सम्यक्त्व कहावैं,
जातें जीव महा सुख पावैं ॥२॥
जिनवर वाणी निश्चय करै,
गुरु निर्ग्रन्थ सत्य मन धरै।
दया धर्म कहिए संसार,
यह समकित तारै भव पार ॥३॥
सात प्रकृति जब उपशम करै,
उपशम समकित तब जीव धरै।
पुनि सातऊ की करै निरासा,
क्षायक समकित है गुण वासा ॥४॥
कछु उपशम कछु नासै लोइ,
वेदक समकित कहिए सोइ।
तीनों मिलि पुनि नवधा भए,
दसधाभेद अवर जिन कहै ॥५॥

अथ समकित उत्पत्ति, चिन्ह, नासन, भूषण, दूषण, अतिचार गुण, गति, फल वर्णन कथ्यते—

दोहा

अध, अपूर्व, अनवृत्ति त्रिक, करए करै जो कोइ।
मिथ्या ग्रन्थि विदारि कै गुण प्रकटे समकित होइ ॥६॥
सात बीस जे तत्त्व है, वर्तत तीनो काल।
तिनके भेद विचार में, समकित होय तत्काल ॥७॥
चार लब्धि इह जीव कैं, भई अनन्त जु वार।
करण लब्धि जब आव ही, उपजै समकित सार ॥८॥

चौपाई

सुनु श्रेणिक समकित को वास,
समकिति उत्पति चिन्ह विनास।
भूषण, दूषण, हैं अतिचार,
पुनि गुण वरनो अष्टो सार ॥९॥

अथ सम्यक्त्व यथा

सत्य प्रतीति अवस्था जाकी,
समता सब सों दिन दिन ताकी।
सत्य को लाभ क्षण क्षण होय,
समकित नाम कहावै सोय ॥१०॥

अथ उत्पत्ति

कै तो सहज ऊपजै आय,
कै मुनिवर उपदेश बताय।
चारो गति में समकित होई,
यह उत्पत्ति जो तुम लोई ॥११॥

अथ चिन्ह

आपा पर सों करै विशेष,
उपजै नही सन्देह अशेष।
सहज प्रपच रहित हितकारी,
समकित चिन्ह धरै सा चारी ॥१२॥

अथ नाश दोहा

ज्ञान गर्व मति मन्दता, निठुर वचन उद्गार।
रुद्र भाव आलस दशा, नाश पांच प्रकार ॥१३॥

अथ भूषण

चित्त प्रभावना मन में ठानै, हेय उपादेय लक्ष्य न जानै।
धीरज सहज हरषता होय, प्रवीनजु पंचहु भूषण सोय ॥१४॥

अथ दूषण

षट् अनायतन मूढ़ त्रिक, मद अष्टौजिय जानि।
शंकादिक अष्टो कहै, ए पच्चीस वखानि ॥१५॥

अथ षट् अनायतन

कुगुरु कुदेव कुधर्म धर कुगुरु कुदेव कुधर्म्म।
इनकी करै सराहना, यह षट् अनायतन कर्म्म ॥१६॥

अथ मूढ़ त्रय

देव कुदेव जु एकहु जानै, सुगुरु कुगुरु जो समकरि मानै।
शास्त्र कुशास्त्र जु एकहु लहै, मूढ़ तीन ए सद्गुरु कहै ॥१७॥

अथ अष्ट मद

जाति लाभ कुल रूप वय, विद्या तप अधिकत जानि।
एक अष्टौ मद है दुखदाई, इनकी संगति दुर्गति जाई ॥१८॥

अथ शंकादिक दोष

आशका अस्थिरता वाछा,
ममता दृष्टि सदा दुर गछा।
वत्सल रहित दोष पर भाषै,
चित्त प्रभावना माहि न राखै ॥१९॥

अथ अतिचार

लोग हास भय भोग रुचि धरै,
अग्र सोच थिति निश्चय करै।
मिथ्या आगम भक्ति प्रकासै,
मृषा अदर्शनो सेवा भासै ॥२०॥

अथ अष्ट गुण

देह भोग ससार विनासी,
इनते जबनर होय उदासी।
इनकी सगति दुर्गति लहिए,
सवेग भावना तासौं कहिए ॥२२॥
न कोऊ काहू को हितकारी,
न हम काहू के अतिभारी।
आप आपुको आपहि बाधै,
यह निर्वेद भावना साधै ॥२३॥
पर निन्दा कीन्हे सन्ताप,
पर को दुःख दिये बहु पाप।
अपनी निन्दा आपुहि करै,
सो समकित को गुण ले तिरै ॥२४॥
व्रती साधु देखे साचारी, ताकी महिमा कीजै भारी।
जो विषयी की महिमा करै, सोनर निश्चय दुर्गति भरै ॥२५॥
दया दान सब ही को दीजै,
क्षमा भाव सब ही सो कीजै।
दुख सुख निदान न कबहुं करै,
सो समकित पचम गुण धरै ॥२६॥
नवधा भक्ति कही गुरु जैसी,
कीजै आप जिनिवर की तैसी।
आपनु करहि और सो कहई,
अष्टम गुण समकित को लहई ॥२७॥
ज्ञानी व्रती असहायी देखै,
यती साधु जो रोगी पेखै।
ताको सहाय करै निज हेत,
यह वत्सल गुण जानो चेत ॥२८॥
त्रस थावर जे कोई जानै,
सूक्ष्म, वादर जिय में आनै।
दया जीव की पालहु वीर,
अनुकम्पा गुण जानहु धीर ॥२९॥
ए आठहु गुण आवहि जबही,
जियको ऊपजै समकित तबही।
पुनि पाचहु मिथ्यात्व नसावै,
समकित निर्मल तब जीव पावै ॥३०॥

अथ पंचमिथ्यात्व के नाम कवित्त इकतीसा

प्रथम एकात नाम मिथ्यात्व, अभिग्राहिक दूजो विपरीत,
आभिनिवेशिक गोत है।
तीजो विनय मिथ्यात्व, अनाविग्रह नाम जाको, चौथो संशय
जहां चित भंवर कैसों पोत है।
पांचमों अज्ञान अनभोगी, कगहल रूप जाके उदय चैन
अचेतन सो होत है।
यही पाचों मिथ्यात्व भ्रमावै जीव को, जगत में उनके
विनास समकित को उदोत हैं ॥३१॥

अथ एकान्त

जो एकांत पक्ष मन आनै,
नय अनेक जो भेद न जानै।
मृषावन्त हठ दक्ष कहावै,
सो एकांत मिथ्यात्व कहावे ॥३२॥

अथ विपरीत

आदि अन्त जे भेद बताए,
सुनि सब गुन धरके मन भाये।
ताको उथपि जु नौतन धरै,
सोविपरीत मिथ्यातें खपै ॥३३॥

अथ विनय दोहा

देव कुदेव सुगुरु कुगुरु गनै समान जो कोई।
नमै भक्ति सो सबनिको, विनय मिथ्यान्वी सोई ॥३४॥

अथ सशय

जो नाना विकलप गहे, रहे हिये हैरान।
थिर के तत्व न श्रद्ध है, सो जिय सशय मान ॥३५॥

अथ अज्ञान : चौपाई

निजको सुख दुख जानै है चेत,
परपीडा जो करइ सुचेत।
अपने स्वारथ परहिं सतावै,
सो अज्ञान मिथ्यात कहावै ॥३६॥

अथ सादिमिथ्यात्व

मिथ्यात्व सकल जो उपशम करै,
ग्रथ भेद बुध पार्पाहि हरै।
फेर उदय मिथ्यात्वहि आवै,
साहु सादि मिथ्यात्व कहावै ॥३७॥

अथ अनादि मिथ्यात्व

उपशम भाव न कबहुं भयो,
अन्तकाल जीव भ्रमतनि गयो।
ममता मगन विकलप ह्वै रहो,
अनादि मिथ्यात्व यह सद्गुरु कहो ॥३८॥

अथ मिथ्यात्व करनी

अरु मिथ्यात्व करनी दुखदाई,
तजिए समकित हेतु जु भाई।
हाथी घोड़ो बैल जु गाय,
पूजा इनकी है दुखदाय ॥३९॥
पूरब पाप करै जीव घोर;
तब जीव मर कै होय जु ढोर।
जो नर पूजा इनकी करै,
सो नर निश्चय दुर्गति परै ॥४०॥
बड़, पीपल, ऊमर आवरी,
तुलसी दूब निगोदह भरी।
इनकी सेवा जो नर करै,
सो नर निश्चय दुर्गति परै ॥४१॥
व्यतर भूत सती शीतला,
सूरज दिया (दीपक) चन्द्र की कला।
यक्ष नाग ग्रह देवी जानै,
नदी होय जे आयुध मानै ॥४२॥
गोबर थापि जु पूजा थानै,
गाय मूत्र ले मुख मे आनै।
बवें (बोना) भुजरिया खोटें मूठ,
करे श्राद्ध जानि जन रूठ ॥४३॥
॥ पुनि अवर सुनो तुम राजा,
तजिए समकित हेतु के राजा।
मिथ्या मारग छोडै रहो,
सो समकित जीव निश्चै लहौ ॥४४॥

अथ सम्यक्त्व महिमा

थावर विकल त्रय कहे, निगोद असैनी जानि।
म्लेच्छखंड जे जिन भणै, कुभोगभूमि मन आनि ॥४५॥
षट् अध भूमि जु नरक की, खोटी मानुष जाति।
तीन वेद होइ वेद पुनि, ए जानो दुख पाति ॥४६॥

चौपाई

जब समकित उपजै सुनि भूप,
ए सब पदवी धरै न रूप।
यह सब महिमा समकित जानि,
होई जीव को सब सुख खानि ॥४७॥
नर गति में नर ईश्वर होय,
देवनि मे पति जानो सोय।
इह विधि भव जीव पूरण करै,
पुनि सो मुक्ति रमणी को बरै ॥४८॥
नभ में जैसे भानु है ईस,
रत्ननि मे चिंतामणि दीस।
कल्प वृक्ष वृक्षनि में हार,
देव जिनेन्द्र देबनि में सार ॥४९॥
सकल नगनि (पर्वत) में मेरु है जैसे,
सब धर्मनि में समकित तैसे।
यही जानि जीव समकित धरो,
भव सागर दुख जातें तरो ॥५०॥

(शेष पृ० १६ पर)

भ. महावीर जन्मस्थान विषयक विवाद

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन

कैसी विचित्र बात है कि प्राचीन भारत के सर्वमहान परम पुरुषों मे परिगणित निर्ग्रन्थ-श्रमण जैन परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर निर्ग्रन्थ-ज्ञातृपुत्र भगवान वर्धमान महावीर (५६६-५२७ ईसापूर्व) जैसे असदिग्ध रूप से ऐतिहासिक व्यक्तित्व के पावन जीवन से सम्बद्ध प्रमुख स्थानों की पहचान अभी तक सुनिश्चित नही हो पाई— उनकी जन्मभूमि, दीक्षावन, कैवल्य प्राप्ति स्थान और निर्वाण भूमि की सही-सही चिन्ह आज भी विवाद का विषय बनी हुई है। उनका जीवन, व्यक्तित्व एव कृतित्व आधुनिक इतिहास वेत्ताओ की दृष्टि से भी प्रमाण सिद्ध शुद्ध इतिहासकाल की परिधि के भीतर आते हैं। उनके निर्वाणोपरान्त के गत अढाई सहस्र वर्षों मे उनकी शिष्य परम्परा के आचार्यो की तथा उनके द्वारा पुर्नगठित मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध सघ की परम्परा प्राय· सम्पूर्ण भारत महादेश व्यापी होकर अविच्छिन्न रहती आई है। प्राप्त शिलालेखो मे उनके उल्लेख ई० पूर्व पाचवी शती से उनकी प्रतिमाएँ अथवा कला मे उनके मूर्तांकन तीसरी शती ई० पूर्व से और लिखित साहित्य में भी ईस्वी सन् के प्रारम्भ के पूर्व से ही उनके उल्लेख तथा जीवन की घटनाओ के सन्दर्भ मिलने लगते हैं— जैन साहित्य में ही नही, ब्राह्मण एव बौद्ध परम्परा के प्राचीन साहित्य मे भी उनके उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनके पचकल्याणक स्थान भी पवित्र तीर्थ क्षेत्रो के रूप मे वन्दनीय रहते आये हैं। देश के अनगिनत जिन मन्दिरो मे परम उपास्य के रूप मे उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। विभिन्न प्राचीन एव अर्वाचीन भाषाओ तथा विविध शैलियों में रचित उनसे सम्बन्धित साहित्य भी विपुल हैं। किन्तु जबकि उनके पूर्ववर्ती ऋषभादि-पार्श्वनाथ पर्यन्त २३ तीर्थंकरों के जन्म-दीक्षा-ज्ञान-निर्वाण स्थल, एकाध अपवाद को छोड़कर, प्राय: असदिग्ध रूप से सुनिश्चित रहते आये हैं, स्वय भगवान महावीर की जन्मभूमि दीक्षावन, कैवल्य प्राप्ति स्थल और निर्वाण क्षेत्र की स्थिति के विषय में कई-कई मत भेद हैं—निर्वाणभूमि पावा या पावापुरी के कम से कम चार विकल्प सामने आये हैं, केवलज्ञानस्थल, ऋजुपालिकानदी तटवर्ती जृंभिकग्राम के बहिर्उद्यान की स्थिति मात्र अनुमानाधारित है, और ज्ञातृखण्डवन नामक उनकी दीक्षाभूमि को क्योंकि जन्मभूमि कुण्डपुर का निकटस्थ वन सूचित किया गया है, जन्मभूमि की मान्यता के सान्यता के साथ ही उसके भी तीन विकल्प हो जाते हैं। छद्मस्थकाल तथा तदुपरान्त भी उन्होंने किन-किन स्थानों में विहार किया, या कहां-कहां उनका समवसरण गया, तद्विषयक पर्याप्त ऊहापोह के पश्चात भी उनमे से अनेक स्थानों की पहिचान सुनिश्चित नहीं है—केवल राजगृह (वर्तमान पटना जिले का राजगिर) अपरनाम पचशीलपुर, जो महावीर युग में मगधदेश एव साम्राज्य की राजधानी थी, और जिसके विपुलाचल, वैभारगिरि आदि पर भगवान का समवसरण अनेक बार जुड़ा और उनका लोक कल्याणकारी दिव्य उपदेश हुआ, की पहिचान एवं स्थिति ही सुनिश्चित है।

उपरोक्त भ्रान्तियो का एक कारण तो शायद यह रहा कि भगवान महावीर की परम्परा के प्रारम्भिक आचार्य, कमसे कम लगभग छ:-सात शताब्दियो पर्यन्त, सर्वथा निरारम्भी निष्परिग्रही ज्ञान-ध्यान-तपोरत निर्ग्रन्थ वनवासी सन्त रहे, जिनका लोकसंग्रह तथा स्थूल इतिहास जैसे लौकिक ज्ञान के प्रति उपेक्षा भाव रहा। अतएव, यद्यपि उस काल मे भगवान महावीर से सम्बद्ध स्थान जैन धर्म के प्रमुखगढ़ या केन्द्र रहते रहे, तत्सम्बन्धित भौगोलिक एवं ऐतिहासिक सूचनाएँ भावी सन्ततियों के लिए सुरक्षित नही रह पाईं। दूसरे, उक्त काल के उपरान्त, जब जैनाचार्यो की ऐतिहासिक जिज्ञासा जागृत भी हुई तो वे स्थान काल दोष से—प्राकृतिक, आर्थिक आदि अनेक कारणों से—जैनजनशून्य हो गये, उनमे जो सुन्दर एवं विशाल महानगर थे वे भी अधिकांशत: ध्वस्त एवं निर्जर होकर शनै:-शनै: विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये—

परम्परा अनुश्रुतियों में उनके नाम मात्र बच रहे। लगभग एक-डेढ़ सहस्त्र वर्ष के इस अन्धान्तराल का परिणाम यह हुआ कि लोग उनकी ठीक स्थिति की पहिचान भी भूल गये। उत्तर मध्य काल, अर्थात गत चार-पांच शताब्दियों मे जब व्यापार व्यवसाय या अन्य ऐसे ही कारणों से अन्य प्रदेशों के जैन बिहार-बगाल के प्रमुख नगरो में जाकर बसने लगे तो उन्होने अपने भगवान महावीर सम्बन्धी तीर्थस्थानों की खोज की। जहां कुछ ठोस आधार मिले तथा राजगिर विषयक, अथवा अपेक्षाकृत कुछ पुरातन मान्यता प्राप्त हुई यथा पावापुर विषयक, उन्हे तो मान्य कर ही लिया गया, और जहां यह सुविधा नही वहां अनुमान, कल्पना, अथवा किसी भट्टारक या यति की प्रेरणा से तीर्थ स्थापना कर ली गई। भगवान की जन्मभूमि के विषय मे कुछ ऐसा ही हुआ लगता है। दिगम्बरो ने राजगिर के निकटस्थ नालन्दा के खण्डहरो के उस पार स्थिति बडागाव के बाहर मन्दिर निर्माण करके जन्मभूमि कुण्डलपुर की स्थापना कर ली और श्वेताम्बरो ने मुगेर जिले मे जमुई के निकट सिकन्दरा प्रखण्ड के एक गांव को जिसे लछुआड या लिछुआड़ भी कहते हैं, जन्म-स्थान की मान्यता दे दी। ये दोनों मान्यताएँ डेढ़-दो सौ वर्ष पुरानी प्राय: आधुनिक ही हैं। किन्तु जब एक मान्यता चल पड़ती है तो अनुयायी समुदाय उसे पकडकर बैठ जाता है, उसमे परिवर्तन करने से उसकी भावनाओ को ठेस लगती है।

लगभग डेढ सौ वर्ष पूर्व भारत सरकार के तत्वावधान में देश के विभिन्न प्रांतो के पुरातात्विक सर्वेक्षण का कार्य जोर शोर के साथ प्रारम्भ हुआ। जनरल कनिंघम आदि ये सर्वेक्षण प्राय. तब ही विदेशी थे, और उस समय तक बौद्ध धर्म एवं बौद्ध अनुश्रुतियों से भलीभांति परिचित हो चुके थे। अतः तत्सम्बन्धित प्राचीन स्थानों की खोज और पहिचान उनका प्राथमिक लक्ष्य रहा। फाहयान (चौथी शती ई०), युवान च्वांग (सातवी शती ई०) प्रभृति कई चीनी बौद्ध यात्रियो के यात्रा-विवरण भी उन्हें उपलब्ध थे। अतः उक्त बौद्ध स्थलों की पहिचान मे इन वृत्तांतों को प्रायः मूलाधार बनाया गया। फलस्वरूप राजगृह, पाटलिपुत्र, बोधिगया, नालंदा, श्रावस्ती, साकेत, प्रयाग, कौशाम्बी, कम्पिल, सारनाथ आदि बौद्ध अनुश्रुतियों के महत्वपूर्ण स्थानों की खोज एवं पहिचान की गई। किन्तु स्वय भगवान बुद्ध के पिता की राजधानी कपिलवस्तु की निश्चित पहिचान अभी नही हो पाई है। उनकी जन्मस्थली लुम्बिनि की स्थिति भी सर्वथा सुनिश्चित नहीं है और उनके जीवन से सम्बन्धित मल्लों की पावा की पहिचान भी, जहां चुन्द लुहार ने उन्हें "शूकर मद्दव" का आहार दिया बताया जाता है, जिसे खाकर कुछ ही समय पश्चात् कुशीनगर मे उनका परिनिर्माण हुआ। अभी विवादस्थ है—देवरिया जिले के पडरौना, पपउर और सठियावडीह—फाजिलनगर, तीन विकल्प प्रस्तुत किये जाते हैं। अन्तिम स्थान को पावानगर नाम देकर अनेक जैन उसे ही महावीर की निर्वाण भूमि भी मानने लगे हैं।

प्राचीन बौद्ध स्थानों की खोज के सिलसिले मे वज्जिगण सघ की केन्द्र विदेह देशस्थ महानगरी वैशाली का अनुसन्धान भी चालू था। अन्ततः गगानदी के उत्तर मे, उत्तरी बिहार के मुजफ्फरपुर जिले मे स्थित बसाढ़ या बनियाबसाढ नामक गाँव व आस-पास के क्षेत्र को प्राचीन वैशाली के रूप मे चीन्हा गया। इस विषय मे देशी-विदेशी जैन व अजैन विद्वानो मे प्राय: मतभेद नही है।

सयोग से, महावीर—बुद्धकाल मे जिस वज्जिगणसघ की महानगरी वैशाली थी, उसके गणाध्यक्ष लिच्छविकुलोत्पन्न महाराज चेटक थे। उनकी सुपुत्री त्रिशला देवी, अपरनाथ प्रियकारिणी एवं विदेहदत्ता, कुण्डलपुर, (कुण्डपुर, कुण्ड ग्राम, क्षत्रियकुण्ड, क्षत्रियकुण्ड ग्राम या वसुकुण्ड) के नरेश सिद्धार्थ के साथ विवाही थी, और इस महाभाग दम्पति के सुपुत्र ही तीर्थंकर महावीर थे।

पूज्यादीय निर्वाणभक्ति (पाचवी शती ई०) जिनसेनीय हरिवंश पुराण (७८३ ई०), गुणभद्रीय उत्तरपुराण (लगभग ८५० ई०) प्रभृति पुरातन दिगम्बर साहित्य मे "विदेह देशस्थ कुण्डपुर" को भगवान महावीर की जन्मभूमि सूचित किया है। श्वेताम्बर परम्परा के आचारांग, कल्पसूत्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि पुराण ग्रंथों में उसका वर्णन "उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सनिवेश", क्षत्रियग्राम नगर, क्षत्रियकुण्डग्राम नामरूपो में हुआ है।

अस्तु, विद्वत्समुदाय की अधिकांशतः यह धारणा आई है विदेहदेश (उत्तरी बिहार) की महानगरी वैशाली का ही एक सन्निवेश उपनगर अथवा नातिदूर स्थित नगर अथवा नातिदूर स्थित नगर ही भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डपुर (कुण्डग्राम वा क्षत्रियकुण्डग्राम) था। प्राचीन जैन साहित्य मे भगवान का एक विशेषण "वैशालिक" भी प्राप्त होता है—इससे भी उपरोक्त निष्कर्ष की पुष्टि है। हेमचन्द्राचार्य ने एक स्थान पर उक्त नगर को "सिद्धार्थपुर भी कहा है। यतिवृषभ ने "कुण्डल" और षट्खडागम के वेदनाखण्ड मे 'कुण्डलपुर' नाम रूप मिलते हैं।

वर्तमान शती के द्वितीय दशक तक वर्तमान बसाढ़ के के साथ प्राचीन वैशाली का समीकरण प्रायः सुनिश्चित हो चुका था। सुनने मे तो यह भी आया है कि उत्तरी बिहार के छपरा आदि जिलो के जैन उक्त स्थान को जन्मभूमि मानकर वहा पहिले भी जाते-आते रहे है। किन्तु तीसरे दशक से उसका प्रभूत प्रचार भी हुआ। जिसमे पटना के इन्जीनियरिंग कालेज के प्रो० अनन्तप्रसाद जैन लोकपाल छपरा के श्री कन्हैयालाल सरावगी प्रभृति कई सज्जनो ने विशेष योग दिया। शनैः शनैः वैशाली बिहार नाम से बसाढ़ मे एक जैन धर्मशाला तथा महावीर जिनालय का निर्माण हुआ। स्व० साहू शान्तिप्रसादजी की प्रेरणा एव दानशीलता के फलस्वरूप वहा वैशाली जैन अहिसा एव प्राकृत शोध सस्थान की स्थापना हुई। प्रति वर्ष भगवान महावीर जयन्ती उत्सव भी वहा नियमित रूप मे मनाया जाने लगा। बसाढ से लगभग पांच कि० मी० की दूरी पर उत्तर दिशा मे स्थित एक स्थल के साथ वसुकुण्डपुर का समीकरण करके वहा भगवान के जन्मस्थान के अतिभव्य स्मारक का शिलान्यास भी समारोह पूर्वक हो चुका है।

अनेक पाश्चात्य एव भारतीय जैनेतर विद्वानो के अतिरिक्त ब्र० शीतल प्रसाद जी ने १९२२ ई० मे प्रकाशित अपनी पुस्तक "बिहार, बगाल, उड़ीसा के प्राचीन जैन स्मारक" (पृ० २८) मे स्पष्ट लिखा था कि "इसी वैशाली मे जो कुण्डग्राम है वही श्री महावीर स्वामी का जन्म स्थान है। वहां पर तीर्थंकरो की मूर्तियों के निकलने से यह बात प्रगट है।" तदनन्तर श्वेताम्बर मुनि कल्याण विजयजी ने अपनी पुस्तक "श्रमण भगवान महावीर" (पृ० २५) मे इसी मत की पुष्टि की और "आजकल" या "आधुनिक" क्षत्रियकुण्ड (अर्थात लछआड) विषयक नवीन मान्यता का खण्डन किया। श्वेताम्बराचार्य विजयेन्द्रसूरि ने १९४६ ई० मे प्रकाशित अपनी पुस्तक "वैशाली" में पर्याप्त ऊहापोह करके अन्त मे (पृ० ४०-४१) लिखा है—"यह स्पष्ट है कि भ्रान्तिवशलिच्छुआड के निकट पर्वत के ऊपर के स्थान को क्षत्रियकुण्ड मान लिया गया है। यहां भगवान का कोई भी कल्याणक-च्यवन, जन्म और दीक्षा-नही हुआ। शास्त्रो के अनुसार हमारी यह सम्मति है कि जो स्थान आजकल बसाढ नाम से प्रसिद्ध है वही प्राचीन वैशाली है। इसी के निकट क्षत्रियकुण्डग्राम था जहां भगवान के तीन कल्याणक हुए थे। डा० जगदीशचन्द्र जैन ने भी अपनी पुस्तक "भारत के प्राचीन जैन तीर्थ" (बनारस, १९५२, पृ० २८-२९) में लिखा है कि "मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ ग्राम को प्राचीन वैशाली माना जाता है। वैशाली के पास कुण्डपुर नाम का एक नगर था। यहा महावीर का जन्म हुआ था। कुण्डपुर क्षत्रिय कुण्डग्राम और ब्राह्मण कुण्डग्राम नामक दो मोहल्लो मे बटा था। कुण्डपुर मे ज्ञातृखण्ड नाम का सुन्दर उद्यान था। महावीर ने दीक्षा ग्रहण की थी। आधुनिक वसुकुण्ड को कुण्डपुर माना जाता है।" स्थानकवासी आचार्य हस्तीमल्लजी के ग्रथ "जैन धर्म का मौलिक इतिहास—प्रथम भाग (जयपुर, १९७१ पृ० ३५०-३५२) मे तथा प० बलभद्र जैन की "भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ—द्वितीय भाग" (बम्बई, १९७५ पृ० ३९-४२) मे भी नालन्दा वाले कुण्डलपुर और लिछआड वाले क्षत्रियकुण्ड, दोनो को ही आधुनिक एवं भ्रान्ति मान्यताएं सिद्ध किया है, तथा बसाढ़ (वैशाली) के कुण्डपुर को ही जन्मस्थान सूचित किया है। अन्य अनेक विद्वानो का भी यही अभिमत है।

गत नवम्बर ८४ मे मधुबन (शिखर जी) मे आयोजित तथाकथित सेमीनार मे यह विवाद पुनः उठाया गया और लछआड़ का पूरा समर्थन किया गया। किन्तु उसकी रिपोर्टो एव प्रतिक्रियाओं को देखने से तो नही लगता कि इस विवाद का निवेड़ा हो गया है। □□

पूर्व मध्यकालीन भारत में नैतिक धर्म का पतन

[१००० ई० से १२००]

□ प्रदीप श्रीवास्तव

व्याख्याता : अग्रवाल कालेज, जयपुर

सोमेश्वर के "मानसोल्लास" से इस काल के राजाओं के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दक्षिण-पश्चिमो-भारत के चालुक्य राजा ऐसे प्रासादो में रहते थे जिनमे ऋतुओ के अनुरूप कक्ष थे। वे ऋतुओ के अनुरूप ही खाद्य और पेय का सेवन करते थे। उनकी अनेक रानियां होती थी। वे अपना अधिकतर समय अस्त्र-शस्त्रों की प्रतियोगिताओ, हाथियों के प्रदर्शनों, घोडो के पोलो जैसे एक खेल, पहलवानों की कुश्तियों, मुर्गों, बटेरो, मेढ़ो, भैंसों कबूतरो के युद्धों को देखने मछली मारने, शिकार करने, सगीत और कहानी सुनने में बिताते थे। राजसभा में अनेक प्रदेशों की सुन्दरियां राजा का मनोविनोद करती थी। इसी प्रकार का भोगविलास का जीवन तत्कालीन अन्य राजा बिताते थे। उनमें उस कर्तव्य-परायणता का पूर्ण अभाव था जिस का उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है कि प्रजा के सुख मे ही राजा का सुख है।

नैतिकता की दृष्टि से इन राजाओं का जीवन बहुत गिरा हुआ था। वे अनेक प्रदेश की सुन्दरी स्त्रियों के साथ रंग-रलियां करने में अपना अधिकतर समय व्यतीत करते थे उन्हें प्रजा के सुख की लेशमात्र भी चिंता न थी।[१] कुंतल नरेश परमर्दी नंगी स्त्रियों का नृत्य देखकर अपना मनोविनोद करता था।[२] बंगाल का राजा लक्ष्मणसेन एक चांडाल स्त्री के साथ सहवास करता था।[३] वाराणसी के राजा जयचन्द्र ने एक नागरिक की पत्नी सुहवा का अपहरण करके उसे अपनी पटरानी बनाया।[४] कल्हण ने भी कश्मीर के कई राजाओं के व्यभिचार-पूर्ण जीवन का विशद वर्णन दिया है। कलश और हर्ष अपना पूरा समय विषयासक्ति में बिताते थे। हर्ष ने अपनी बहनों तक के सतीत्व को नष्ट किया।[५] कथासरित्सागर में राजाओं के नैतिक पतन की अनेक कथाएं हैं।[६] हम्मीर महाकाव्य से हमे ज्ञात होता है कि चाहमान राजा हरिराय ने अपने राज्य की पूरी आय स्त्रियो और नर्तकियो के चक्कर में उड़ा दी थी।[७]

मद्यपान :

मानसोल्लास के अनुसार राजा को मद्यपान नही करना चाहिए किन्तु विवाह के अवसर पर सब लोग मदिरा सेवन करते थे। गोष्ठियों मे राज-परिवार के लोग, गुड, चावल के आटे, अंगूरो और नारियल, कटहल और आम के रस से बनी मदिराओं का सेवन करके मनोविनोद करते थे।[८] इन अवसरो पर स्त्रियां भी मदिरापान करती थी।[९] ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे पानोत्सवों का राजकीय परिवारों में सामान्यत: आयोजन किया जाता था।[१०] हेमचन्द्र के अनुसार जब सिद्धराज गर्भ में था रानी मयणल्ल देवी को मदिरापान छोड़ना पड़ा था।[११] लक्ष्मीधर[१२] और चंडेश्वर[१३] के अनुसार ब्राह्मणों को गुड़, शहद और चावल से बनी शराब नहीं पीनी चाहिए किन्तु क्षत्रिय और वैश्य उत्सवों के अनुसार ऐसा कर सकते हैं। नैषधचरित से हमें ज्ञात होता है कि विवाह में व्यवस्था मे सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों को मदिरा दी जाती थी।[१४] कथा-सरित्सागर से ज्ञात होता है कि अनेक व्यापारी मदिरापान करते थे।[१५] कल्हण के वर्णन से भी इस बात की पुष्टि होती है।[१६] क्षेमेन्द्र ने "तक्षक यात्रा" नामक उत्सव का वर्णन किया है जिसमें लोग खूब शराब पीते थे।[१७] बिल्हण से ज्ञात होता है कि स्त्रियां भी काम-क्रीड़ा से पुर्व मद्यपान करती थीं।[१८] कुमार-पाल ने गुजरात में शराब बनाने व पीने पर प्रतिबन्ध लगाना चाहा था किन्तु वह ऐसा करने में असमर्थ

रहा।[19] इसका यही अर्थ है कि गुजरात मे अधिकतर व्यक्ति मद्यपान करते थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है। कि भारत में इस समय धनी परिवारो मे मद्यपान को बुरा नही समझा जाता था।

आत्म हत्या :

लक्ष्मीधर ने मत्स्यपुराण को उद्धृत करते हुए लिखा है कि वाराणसी में अपने को अग्नि मे जलाकर, प्रयाग मे संगम पर डूब कर और अमर कटक पर्वत से कूदकर नर्मदा नदी मे डूबकर आत्महत्या करने से मनुष्य पुण्य का भागी होता है।[20] चौलुक्य राजा मूलराज ने ९९६ ई० मे सिद्धपुर मे अग्नि में प्रवेश करके प्राणत्याग किया था।[21] १००२ ई० मे चदेल राजा धग ने प्रयाग में आत्महत्या की थी।[22] इसी समय शाहीय राजा जयपाल ने महमूद गजनबी से पराजित होकर अग्नि मे प्रवेश किया था।[23] कलचूरि राजा गागेय देव ने १०४० ई० मे अपनी सौ रानियो के साथ प्रयाग मे आत्म-हत्या की थी।[24] १०६८ ई० मे चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम ने तुगभद्रा मे डूब कर[25] पाल राजा रामपाल ने ११२० ई०[26] मे और जयचन्द्र ने ११९४ ई० मे आत्महत्या की।[27] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल के राजा कई बन्धन से मुक्त होने का बहाना करके आत्म हत्या करने मे ही पुण्य समझते थे। इन आत्म हत्याओ से समाज का क्या कल्याण हो सकता था। उपनिषदो के अनुसार तो आत्म-हत्या करना भीरुता है और कर्तव्य विमुख होना है इस-लिए हमे इसे नैतिक-पतन का द्योतक मानने मे लेशमात्र भी सन्देह नही है।

भ्रष्टाचार :

भागवत पुराण के अनुसार राजा को अमात्यों और चोरों से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।[28] क्षेमेन्द्र के अनु-सार भी राजा को ऐसे मन्त्रियों को तुरन्त पद से हटा देना चाहिए जो रिश्वत लें।[29] लक्ष्मीधर ने लिखा है कि राजा को मन्त्रियों की गतिविधि की पूरी जानकारी रखनी चाहिए।[30] कल्हण ने ऐसे अनेक मन्त्रियों के उदाहरण दिए हैं जिन्होंने अवैध ढंग से अपार-धन सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी।[31] धनपाल ने भी दुष्ट अमात्यो का उल्लेख किया है।[33] लक्ष्मीधर ने लिखा है कि राजा को कायस्थों के अत्याचार से बचना चाहिए।[34] मानसोल्लास से[35] और राजनीति-रत्नाकर में[36] भी कायस्थो के विषय में ऐसे ही विचार व्यक्त किए गए हैं। कल्हण ने कायस्थों की तुलना दीमक से की है।[37] क्षेमेन्द्र नेनर्ममाला में कायस्थों की बेईमानी, झूठे व्यवहार और उनकी रिश्वत लेने की आदत का स्पष्ट उल्लेख किया है।[38] उनके अत्याचारो के कारण जनता को निश्चय ही बहुत कष्ट सहन करने पड़े होंगे।

व्यापारी व साहूकार :

भारत के व्यापारी अपनी ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध थे कि दूर-दूर से व्यापारी यहा व्यापार करने के लिए आते थे।[39] किन्तु कल्हण के वर्णन से ज्ञात होता है कि कश्मीर मे अनेक साहूकार ऐसे थे कि ऊपर से तो अपनी धार्मिकता का दिखावा करते थे किन्तु वैसे धरोहर का माल उठाकर जाते थे। व्यापारियो को भी कल्हण ने धोखेबाज कहा है।[40] हेमचन्द्र के वर्णन से ज्ञात होता है कि गुजरात मे भी अनेक बेईमान व्यापारी थे।[41] कथा-सरित्सागर मे भी बेईमान व्यापारियो की अनेक कथाएँ है।[42] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ग्यारहवी तथा बारहवी शताब्दी के भारतीय व्यापारी अपने उच्च नैतिक स्तर से बहुत गिर गए थे।

वेश्या :

पूर्व मध्यकालीन भारत मे प्राय: सभी नगरो में वेश्याएँ रहती थी। सन्ध्याकर नन्दी ने रामावती की वेश्याओ का विशद वर्णन किया है।[43] धोयी के अनुसार लक्ष्मणसेन की राजधानी विजयपुर मे भी अनेक वेश्याएँ रहती थी।[44] क्षेमेन्द्र ने भी मथुरा और श्रावस्ती की वेश्याओ का उल्लेख किया है। क्षेमेन्द्र के वर्णन से ज्ञात होता है कि धनी व्यक्तियो के इकलौते पुत्र ऐसे नवयुवक जिनके पिताओ की मृत्यु हो गई थी, राजाओ के अमात्य, व्यापारियों के पुत्र, वैद्य, कामुक तपस्वी और राजकुमार, सगीतज्ञ विद्वान और शराबी सभी वेश्याओं के पास जाते थे।[45] ये गणिकाएँ अनेक कलाओं में प्रवीण होती थी।[46] कुमारपाल ने व्यभिचार, जुए और पशुहिंसा को रोकने के लिए अनेक प्रयत्न किए किंतु वेश्यावृत्ति को समाप्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया।[47] मानसो-ल्लास से स्पष्ट है कि राजा लोग जब कवियों और

विद्वानों की गोष्ठियों का आयोजन करते थे उस समय गणिकाओं को भी आमन्त्रित किया जाता था।[४७] इन्द्र-ध्वज के उत्सव के समय भी गणिका-निगम को निमन्त्रण भेजा जाता था।[४८] इससे स्पष्ट है कि समाज मे गणिकाओं का पर्याप्त आदर था और सन्त और जैन श्रावक भी उनके साथ सहवास करने में अपनी प्रतिष्ठा की हानि नही समझते थे।[४९]

देवदासियां :

कुछ व्यक्ति अपनी कन्याओ को मन्दिरों को अर्पित करते थे। ये कन्याएं वेश्यावृत्ति से जो धन कमाती थी मन्दिरों के पुजारियो को देती थी। इनमें से कुछ देव-दासियां मन्दिरों में नृत्य करती थी। हम गुप्तोत्तर काल के विवेचन मे कह चुके हैं कि कुछ सच्चरित्र व्यक्तियो ने इस प्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न किया किंतु राजाओ के विरोध के कारण वे अपने इस कार्य मे सफल नहीं हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में देवदासियों की सख्या बहुत बढ़ गई थी।

गुजरात के मन्दिरों मे ही २० हजार से अधिक देव-दासिया थी।[५०] बंगाल के द्युम्नेश्वर[५१] और ब्रह्मेश्वर[५२] मन्दिरों मे भी अनेक देवदासियां रहती थी। कटक के निकट शोभनेश्वर शिव मन्दिरो मे भी अनेक देवदासिया रहती थी।[५३] एक साधु द्वारा स्थापित बदायूं (उत्तर-प्रदेश) के एक शिव-मंदिर मे भी देवदासियां रहती थी।[५४] कश्मीर[५५] और सामनाथपुर[५६] के मदिरो में भी अनेक देवदासियां रहती थी। जोजल्लदेव चाहमान के दो अभि-लेखों (१०९० ई०) से स्पष्ट है कि उसने स्वय इस प्रथा को प्रोत्साहन दिया और अपनी सन्तान को इस प्रथा को इस प्रथा को बन्द करने का आदेश दिया।[५७] इसका यह परिणाम हुआ कि धार्मिक उत्सवों के धार्मिक स्वरूप का इस काल में कोई महत्व न रहा। वे आमोद-प्रमोद और व्यभिचार के अवसर बन गए। लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु के नियतकालकांड में उदक-सेवा, महोत्सव का जो वर्णन दिया है उससे स्पष्ट है कि इस उत्सव के समय मनुष्य, स्त्री और बालक सभी निर्लज्ज होकर शराब पीकर अश्लील गाने गाते और सम्भवतः चाहे जिसके साथ सह-वास करना भी बुरा नहीं समझते थे।[५८] कौमुदी महोत्सव के समय भी नवयुवक और नवयुवतियाँ, गाते नाचते और अनेक प्रकार से मनोविनोद करते।[५९] मदनोत्सव के समय भी पुरुष और स्त्रियां काम-क्रीड़ाएं करते थे।[६०]

समाज में इतना नैतिक पतन होने का प्रमुख कारण संभवतः तंत्रयान की लोकप्रियता थी। तंत्रयान में सभोग ने धार्मिक कृत्य का स्वरूप ले लिया। बौद्ध तान्त्रिकों का विश्वास था कि विना स्त्री-सभोग किए मोक्ष नही मिल सकता।[६१] वे माता, बहन वा अन्य सम्बन्धिनी स्त्री से भी सभोग करना अनुचित नही समझते थे। इस प्रकार की अनैतिक विचाराधारा के फैलने से जनसाधारण की शक्ति निश्चय ही बहुत कम हो गई होगी। ऐसे निःशक्त जनता विदेशियों के आक्रमणों का कैसे डटकर मुकाबला कर सकती थी।

कवियों का स्तर :

इस काल के कवि जैसे बिल्हण और जयदेव सहवास का विस्तृत विवरण देने मे लेशमात्र भी संकोच नही करते। बिल्हण का और चौरपंचशिका का वर्णन निश्चय ही व्यभिचार का वर्णन प्रतीत होता है।[६२] जयदेव के गीत गोविन्द मे भी मैथुनिक प्रेम का स्पष्ट विवरण मिलता है। लक्ष्मणसेन ने अपनी रतिक्रीडाओं का वर्णन अपने एक अभिलेख में किया है।[६३] इससे समाज के नैतिक पतन का अनुमान लगाया जा सकता है। कश्मीर के लेखकोंमें क्षेमेंद्र और दामोदर गुप्त का उल्लेख तो हम पहले ही कर चुके हैं।

मूर्ति-कला :

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला में भिक्षुओं के चित्रण का उद्देश्य धार्मिक तथा दार्शनिक था। यह सृष्टि और पवित्र प्रेम का प्रतीक समझा जाता था। मनुष्य और स्त्री दोनो जीवन के लक्ष्य के पूरक समझे जाते थे। किंतु खजुराहो और पुरी के जगन्नाथ मदिर मे जो मैथुनक्रियाओं के दृश्य दिखलाए गए हैं वे निश्चय ही कामोत्तेजक हैं।[६४] भोज ने ग्रंथ समरांगण सुधार मे लिखा है कि स्त्रियों को प्रेमी के साथ सहवास करते हुए चित्रित करना चाहिए।[६५] मंदिरों में पूजा करने के लिए हजारों आदमी प्रतिदिन जाते थे।

उपर्युक्त वर्णन से हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि समाज में सच्चरित्र, परोपकारी और दानशील व्यक्ति

बिल्कुल नही थे। परन्तु ऐसे प्रतीत होता है कि ये व्यक्ति केवल अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे। उन्होने समाज के नैतिक स्तर को ऊचा करने के लिए कोई सक्रिय उपाय नही किए। इस काल मे ऐसा कोई कोई सन्त या महापुरुष नही हुआ जिसने जन-साधारण को संमार्ग पर चलने की प्रेरणा दी हो।

प्राचीन काल के भारतीयो का विश्वास था कि इस ससार मे प्रत्येक मनुष्य धर्म, अर्थ और काम तीन पुरुषार्थों को करके अपने जीवन के लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। वे तीनो पुरुषार्थों को महत्व देते थे। किंतु उनका विश्वास था कि जीवन के सुखों का उपभोग और धन कमाना दोनो पुरुषार्थ धर्म की सीमा के अन्दर करके ही मनुष्य वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता है। धर्म का विवेचन तीन रूपों मे किया गया है। साधारण धर्म, वर्णाश्रम धर्म और राज धर्म। प्राचीन भारत मे नैतिकता का विवेचन धर्म के अन्तर्गत ही किया गया है। नैतिकता का अर्थ था कि प्रत्येक व्यक्ति साधारण —धर्म के नियमो का अनुसरण करके वर्णाश्रम धर्म का पालन करके आध्यात्मिक उन्नति करे और समाज के प्रति अपने की पूर्ति करे। भारतीय दर्शन के अनुसार कर्तव्य-पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मों का फल इस जन्म मे या आगामी जन्म में अवश्य भोगना पड़ेगा। राजा का चरित्र आदर्श होना चाहिए। क्योकि प्रजा अधिकतर उसी का अनुसरण करती है। राजा भी धैर्य, क्षमा, सयम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियो पर नियन्त्रण, सत्य पालन, विद्याभ्यास, क्रोध न करना आदि साधारण धर्म का पालन करता था। प्रजा पालन और दुष्ट-निग्रह को राजा अपना विशेष धर्म समझते थे। समाज मे जो व्यक्ति साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म का पालन नही करते थे राजा उन्हें दण्ड देता था। गुप्तकालीन सम्राटो के यही आदर्श थे और वैदिक काल से गुप्तकाल तक समाज का नैतिक स्तर बहुत उच्च रहा किंतु गुप्तोत्तरकाल मे अधिकतर राजा भोग-विलासी होकर कर्तव्य विमुख हो गए और तांत्रिकों ने इन्द्रिय सुख को ही परम सुख मानकर मांस, मदिरा और स्त्री सभोग को परम लक्ष्य मान लिया। ऐसी दशा मे जन साधारण के नैतिक स्तर का पतन होना स्वाभाविक थी।

सन्दर्भ-सूची

१. कलचुरि नरेश युवराज का बिलहारी अभिलेख। उद्धृत डायनास्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, जिल्द २ पृ० ७६०।
२. मेरूतुंग प्रबन्ध चिंतामणि अनु० टानी पृ० १८६।
३. वही पृ० १८३-१८५।
४. वही पृ० १५४ (सिंघी जैन ग्रंथमाला) पृ० ६६।
५. राजतरंगिणी ७; ३०४-३०, ५८४-८८६, ११४७-४८
६. कथासरित्सागर अनुवाद टानी १ : २८६ : २ : ४६०
७. हम्मीर महाकाव्य (इण्डियन एंटिक्वरी) ८ : ८७६ पृ० ६२।
८. मानसोल्लास ४ : १० : ४२६-४४६।
९. वही ५, १०, ४८१ : तिलकमंजरी १८, ६-६१, १२
१०. तिलकमंजरी ६, ३ : ४१,, ४ : १६६, ५ : २११-२., २४५, १६, ३२४, २१।
११. द्रव्याश्रम काव्य १, १३।
१२. कृत्यकल्पतरू नियतकालकांठ पृ० ३३१।
१३. गृहस्थ रत्नाकर पृ० ६६४।
१४. नैषधचरित सर्ग, १६,६६।
१५. कथासरित्सागर कथा ५४, १७० आदि।
१६. राजतरंगिणी ८, १८६६-६७।
१७. समयमातृका २, ८८।
१८. चौरपञ्चाशिका श्लोक, ६।
१९. ए० के० मजूमदार, चोलुक्यराज आफ गुजरात पृ० ३४४-३५५।
२०. कृत्यकल्पतरू, तीर्थ विवेचन पृ० २१, ११८-१३६, १४२-४६, २००।
२१. हेमचन्द्र, द्वयाश्रय काव्य ६ : १००-२०७, इण्डियन एंटिक्वरी ४, १११।
२२. एपिग्राफिका इंडिका १, १४।
२३. डायनास्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, जिल्द १, पृ० ८७।
२४. एपिग्राफिया इण्डिका २; ४, १२, २११, २१, ६४

२५. भक्तप्रसाद मजूमदार, सोश्यो इक्नोमिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया कलकत्ता १६६: पृ० ३६२।
२६. वही।
२७. प्रबंध चितामणि अनु० टानी पृ० १५८-१८६।
२८. भागवत पुराण ४, १४, १७।
२९. दशावतारचरि सर्ग १०।
३०. भक्तप्रसाद मजुमदार सोश्योइक्नोमिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, कलकत्ता १८६० पृ० ३६२।
३१. राजतरंगिणी ७, ५४७, ५५५, ६६३-६६५।
३२. तिलकमंजरी पृ० ८५।
३३. कृत्यकल्पतरू राजधर्मकाड पृ० ८३।
३४. मानसोल्लास विंशति २, १४५-१५६।
३५. राजनीति रत्नाकर पृ० ण४।
३६. राजतरंगिणी ४; ४३, ११२।
३७. कलाविलास श्लोक ७, राजतरंगिणी ७; ४३, ११२।
३८. इलियट और डाडसन जिल्त १, पृ० ८८।
३९. राजतरंगिणी ८, १२८, १३१, १३३; ७०६-७१०।
४०. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित उद्धृत ए० के० मजुमदार पृ० ३३६।
४१. कथासरित्सागर जिल्द २, पृ० ३।
४२. रामचरित ३, ३७।
४३. भक्तभक्तप्रसाद मजुमदार सोश्योइक्नोमिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्यिा पृ० ३७०।
४४. समय मालिका ५, ६३, ६७।
४५. दामोदर गुप्त, कुट्टनीमतम् श्लोक १२३: १२५, ३४६, ३५५।
४६. भक्तप्रसाद मजुमदार वही पृ० ३७१।
४७. मानसोल्लास २, पृ० १५५।
४८. लक्ष्मीधर कृत्यकल्पतरू, राजधर्म कां४ उद्धृत भक्तप्रसाद मजुमदार। वही पृ० ३७।
४९. जिनेश्वर सूरि, कथाकोशप्रकरण भूमिका वटस्थानक प्रकरण पृ० १५२-५३।
५०. रमेशचन्द्र मजुमदार, दि स्ट्रगल फार एम्पायर पृ० ५२-५३।
५१. एपिग्रा इंडिया जिल्द १ पृ० ३१० श्लोक ३०।
५२. जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, जिल्द १३ (६४७) पृ० ७१।
५३. जर्नल भडारकर ओरियंटल रिसर्च सोसायटी १६३१
५४. एपिग्राफिया इंडिका जिल्द १ पृ० ६१-६६ श्लोक१७
५५. राजतरंगिणी ७; ८५८।
५६. प्रबंध चितामणि (सिंघी जैन ग्रंथमाला) पृ० १०८।
५७. एपिग्राफिया इंडिया ११ पृ० २६।
५८. कृत्यकल्पतरू, नियत काल कांड पृ० ३११-४१६।
५९. कृत्यकल्पतरू, राज धर्म कांड उद्धृत भक्तप्रसाद मजुदार, वही पृ० ३७५।
६०. कुट्टनीमतम् पृ० १६४।
६१. प्रोसिडिंग्स आफ थर्ड ओनियंटल कान्फ्रेंस मद्रास १६२५ पृ० १३०-४०।
६२. चौरपंचाशिका श्लोक ७ तथा ४६।
६३. जर्नल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल (न्यू सीरिज) ५; पृ० ४७३।
६४. रमेशचन्द्र मजुमदार : (सम्पादक) दि स्ट्रगल फार एम्पायर १ पृ० ६५३।
६५. समरागण सुधार—३४; ३३-३४।

(पृ० ८ का शेषांश)

व्रत तप सयम धरै अनेक,
समकित बिनु नही लहै विवेक।
जैसे कृषि करि सेवा करै,
मेघ बिना नहिं फल को धरै ॥५१॥
जे नर मुक्ति गए जिन कही,
आगे जै पुनि जैहैं सही।
अबै जात हैं भव्य अनेक,
ते समकित फल जानहु एक ॥५२॥
गणधर कहैं सुनो हे राय,
समकित महिमा अन्त न आय।
धर्म मूल मैं तुम सों कहो,
सुनि श्रेणिक दृढ़ कै श्रद्ध हो ॥५३॥

दोहा

रोम रोम मुनि हर्षियो; राजा श्रेणिक राय।
जनम सफल निज लेखियो, सुख दे गणधर पाय ॥५४॥
समकित महिमा जानि कै, सकल कीर्ति मुनि राय।
पंडित शिरोमणि दास जिन, भव भव होउ सहाय ॥५५॥

इति श्री धर्मसार ग्रंथे भट्टारक श्री सकलकीर्ति उपदेशात् पंडित शिरोमणिदास विरचिते सम्यक्त्व महिमा वर्णनो नाम द्वितीय सन्धिः समाप्त।

ग्राम पगारा की जैन प्रतिमाएं

□ नरेश कुमार पाठक

पगारा मध्यप्रदेश के धार जिले में तहसील मनावर के अन्तर्गत एक छोटा सा ग्राम है। यह इन्दौर से लगभग १०० कि० मी० की दूरी पर अवस्थित है। इन्दौर से बस द्वारा धामनोद, धरमपुरी से होते हुए, पगारा पहुंचा जा सकता है। धरमपुरी से यह लगभग ८ कि० मी० उत्तर-पश्चिम में अवस्थित है। इस गांव मे स्थित टीले का उत्खनन मध्य प्रदेश पुरातत्व एव सग्रहालय विभाग द्वारा १९८१-८२ में कराया गया जिसमें शुंगकाल से लेकर मुगल काल तक के अवशेष प्राप्त हुये। पगारा ग्राम एवं टीले के आसपास कई जैन प्रतिमाएं रखी हुई हैं। जिनका विवरण निम्नलिखित है :—

जैन शासन देवी पद्मावती :—

हनुमान मन्दिर से प्राप्त चतुर्भुजी देवी पद्मावती सव्य ललितासन में बैठी हुई निर्मित है। देवी की भुजाओं में दक्षिणाध: क्रम से *अक्षमाला सनालपद्म, सनालपद्म एव बायी नीचे की भुजा भग्न है।* नीचे देवी के वाहन हस का अंकन है। दोनों पार्श्व मे परिवारिका प्रतिमा बनी हुई है। वितान में पद्मासन में जैन तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है। देवी करण्ड मुकुट, चक्र कुंडल, उरोजों को स्पर्श करता हुआ हार, केयूर, बलय, मेखला, नूपर से अलंकृत है।

लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाएं :—

हनुमान मन्दिर के सामने से प्राप्त प्रथम प्रतिमा में पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में तीर्थंकर अंकित है। वक्ष पर श्रीवत्स का आलेख है। पार्श्व में सिर विहीन परिचारिका का त्रिभंग मुद्रा में अंकन है। मूर्ति का सिर व पादपीठ भग्न है।

दूसरी प्रतिमा में भी तीर्थंकर पद्मासन में अंकित है।

बावड़ी से प्राप्त तीर्थंकर का ऊर्ध्व भाग ही शेष है। प्रतिमा कुन्तलित केशराशि से युक्त सिर के पीछे प्रभामण्डल है, वितान में त्रिछत्र एवं चार पद्मासन में बैठी हुई जिन प्रतिमाओं का अंकन है।

जैन प्रतिमा पाद पीठ :

जैन प्रतिमा पादपीठ से सम्बन्धित शिल्पखण्ड तीन हनुमान मन्दिर से और एक-एक बावड़ी एवं गणपति मन्दिर से प्राप्त हुए हैं। इन पादपीठों के मध्य धर्मचक्र दोनों पार्श्व में हाथी एवं सिंह की आकृतियों का आलेखन है।

जैन प्रतिमा वितान :

जैन प्रतिमा वितान से सम्बन्धित शिल्प कृतियों में ६ बावड़ी से तीन हनुमान मन्दिर एक-एक टीले एवं गणपति मन्दिर से प्राप्त हुए हैं। इन पर त्रिछत्र, दुन्दुभिक अभिषेक करते हुए हाथी, विद्याधर युगल, कायोत्सर्ग तथा पद्मासन में जिन प्रतिमा एवं मकर व्यालों का आलेखन है।

जैन शिल्प खण्ड :

जैन प्रतिमा शिल्प खण्ड से सम्बन्धित तीन कलाकृतियां बावड़ी से प्राप्त हुई हैं। प्रथम जैन प्रतिमा का दायां भाग है, जिसमें एक कायोत्सर्ग एवं एक पद्मासन में तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है। दाएं पार्श्व में चामरधारी एवं मकर व्याल का अंकन है।

द्वितीय में दो जिन प्रतिमा एवं बायीं ओर एक चॉवरधारी का शिल्पांकन है।

तृतीय पर पद्मासन की ध्यानमुद्रा में जिन प्रतिमाओं का आलेखन है।

—केन्द्रीय संग्रहालय,
गूजरी महल, ग्वालियर।

शान्तिनाथ पुराण में प्रतिबिंबित कथानक रूढ़ियां

□ कुमारी मृदुला
शोध छात्रा, बिजनौर

रूढ़ि या अभिप्राय वह छोटा और पहचान में आने वाला तत्व है जो यह बतलाता है कि किसी विशेष प्रकार की कथा के कौन-कौन से उपकरण दूसरे प्रकार की कथा में प्रयुक्त हुए हैं।[1]

कथा के क्षेत्र में अलौकिक और अमानवीय शक्तियों से सम्बन्धित लोक विश्वासों ने बहुत प्रभावित किया है। पुराण कथाओं या निजन्धरी आख्यानों की सृष्टि भी इन्ही विश्वासों के आधार पर हुई है।[2]

शान्तिनाथ पुराण में इस श्रेणी की निम्नलिखित कथानक रूढ़ियां पाई जाती हैं—

(क) विद्या द्वारा नायक को धोखा देना—शान्तिनाथ पुराण के सप्त सर्ग में इस कथानक रूढ़ि का प्रयोग मिलता है—"दीप्रशिख नामक विद्याधर आकाश से आकर स्वयंप्रभा से कहता है कि जब मैं अपने नगर जा रहा था तो मैंने एक स्त्री के रोने का शब्द सुना। उस स्त्री ने मुझे बताया कि ज्योतिर्वन मे विद्या से मेरे पति को छल कर यह अशनि घोष मुझे बलपूर्वक अपनी नगरी ले जा रहा है। अत: मेरे पति की रक्षा करो। मैं वहां से लौटा। बात यह हुई कि सुतारा का रूप धारण करने वाली विद्या कुक्कुट सर्प के विष के बहाने झूठ मूठ मर गई और उसे मृत जानकर राजा श्री विजय बहुत व्याकुल हुआ और उसे लेकर चितारूढ़ हो गया। इसी बीच अशनिघोष सुतारा को हर कर ले गया।[3]

विद्याधरों का संसर्ग—ग्रंथकार नायक को कठिनाइयों में डालकर किसी विद्याधर या अमानवीय शक्ति के साथ उसे सम्बद्ध दिखलाता है।[4]

शान्तिनाथ पुराण के सप्तम सर्ग में राजा श्री विजय को विद्याधर नरेश ने हेतिनिवारणी तथा विमोचिनी विद्या दीं, जिससे उसने अशनिघोष की बहुरूपिणी तथा भ्रामरी विद्या छेद दी।[5]

(ग) कथानकके प्रण की परीक्षा : सौधर्म इन्द्र की सभा में किसी व्यक्ति विशेष के व्रतों की प्रशंसा की जाती है। कोई ईर्ष्यालु देव उन प्रशंसात्मक बातों पर विश्वास नहीं करता और उसकी परीक्षा के लिए चल देता है।[6]

इस कथानक रूढ़ि का प्रयोग 'असग' ने लघु कथा में लिया है। दशम सर्ग में कनकशान्ति जब एक वर्ष का प्रतिमायोग लेकर खड़े रहे, तबउनको देखकर तीव्र क्रोध से अतिवीर्य और महाबल असुर मुनिराज का घात करने के लिए प्रवृत्त हुए किन्तु रम्भा तथा तिलोत्तमा अप्सराओं द्वारा मुनि की पूजा करते देख कर शीघ्र ही भाग गए।[7]

(घ) तीर्थंकरों की महत्ता प्रकट करना—प्राकृत संस्कृत दोनों ही भाषाओ के जैन कथाकार कथाओं को चमत्कृत बनाने एवं तीर्थंकरों की महत्ता बतलाने के लिए देवों का कल्याणकों के समय आना दिखलाते हैं। जन्म के समय देव सुमेरु पर्वत पर तीर्थंकरों की महत्ता बतलाने के लिए जन्माभिषेक सम्पन्न करते हैं। वैराग्य होने पर लौकान्तिक देव आते हैं और तीर्थंकर वैराग्य की पुष्टि करते हैं। केवल ज्ञान होने पर समवशरण रचना देवों द्वारा होती है। निर्वाण प्राप्त होने पर अग्नि कुमार जाति के देव अग्नि संस्कार तथा वैमानिक देव निर्वाणोत्सव सम्पन्न करते हैं।[8]

शान्तिनाथ पुराण में तीर्थंकर शान्तिनाथ के जन्म के समय इन्द्रादिदेव सुमेरु पर्वत पर जन्माभिषेक सम्पन्न करते हैं।[9] वैराग्य होने पर लौकान्तिक देव तीर्थंकर की वैराग्य पुष्टि करते हैं।[10] कैवल्य ज्ञान होने पर देवों द्वारा समवसरण निर्माण होता है।[11] निर्वाण प्राप्त होने पर

अग्नि कुमार देव तथा वैमानिक देव निर्वाणोत्सव सम्पन्न करते हैं।[12]

(च) तन्त्र, मन्त्र, जादू चमत्कार तथा औषधियों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ—तन्त्र, मन्त्र के प्रति लोक मानस की पूरी आस्था है। योगी, सिद्ध, तान्त्रिक, मांत्रिक तथा चमत्कारी व्यक्तियों के प्रति मनुष्य सदा नतमस्तक रहता है। शान्तिनाथ पुराण में निम्न चमत्कार स्वरूप रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है—

(अ) औषधियों का चमत्कार—लोक मानस का विश्वास है कि औषधियों के प्रयोग से मृत प्राय व्यक्ति जीवित हो जाता है और स्वस्थ व्यक्ति तत्काल मृत्यु को प्राप्त कर सकता है। शान्तिनाथ पुराण मे इस कथानक रूढ़ि का प्रयोग कथा की दिशा मोड़ने में बड़ी कुशलता से किया गया है। षष्ठ सर्ग में पूर्व जन्म की बहिन के मुख से अपना पूर्वभव सुनकर सुमति मूर्च्छित हो जाती है और चन्दन, पखा आदि से उसकी मूर्च्छा दूर की जाती है।[13]

शान्ति पुराण के अष्टम सर्ग मे विषलिप्त पुष्प को सूघ कर श्रीषेण, सत्यभामा तथा राजा की दोनो पत्नियो मर जाने का उल्लेख है।[14]

(ब) मन्त्र शक्तियों का चमत्कार—लोक मानस अनादि काल से आश्चर्ययुक्त शक्तियों पर विश्वास करता चला आ रहा है। मन्त्र प्रधानतः चार प्रकार के होते हैं वेदमत्र, गुरुमंत्र, प्रार्थनामंत्र चमत्कारमन्त्र। चमत्कार मन्त्रो के मरण, मोहन और उच्चाटन ये तीन मुख्य भेद हैं।[15] शान्तिनाथ पुराण के एकादश सर्ग में राजा अभय घोष की रानी कनकलता ने अपने प्रति राजा की विरक्ति तथा नव विवाहिता रानी के प्रति आसक्ति देखकर, नव विवाहिता को राजा से अलग करने के लिए मन्त्र-तन्त्र कराया और अपनी सखियों द्वारा राजा के लिए मन्त्र और धूप से संस्कार की गई कृत्रिम माला आमन्त्रित की, जिससे राजा के लिए उसी क्षण से अपनी नव विवाहिता के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न हो गया है।[16]

(छ) रूप परिवर्तन—रूप परिवर्तन द्वारा लोगों को चमत्कृत करना और अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि करना एक प्रसिद्ध कथानक रूढ़ि है। शान्तिनाथ पुराण में अपराजित तथा अनन्तवीर्य का नर्तकी रूप बनाना, महाबल विद्या के द्वारा राजा अपराजित का सैकड़ों रूपों में आकाश में चले जाना और अशनि घोष का करोड़ों रूप बनाना।[17] इसी प्रकार की रूढ़ि का परिचायक है।

(ज) लौकिक कथानक रूढ़ियाँ—प्रेम व्यापार को सम्पन्न करने के लिए लौकिक कथानक रूढ़ि का प्रयोग किया जाता है। यथा—किसी निर्जन स्थान में अचानक रूपवती रमणी का साक्षात्कार और प्रेमाभिव्यक्ति के कारण वियोग की स्थिति में आत्महत्या की विफल चेष्टा। शान्तिनाथ पुराण के षष्ठ सर्ग में सुमति की बहन उसके पूर्वभव कहती है 'एक बार अशोक वाटिका में क्रीड़ा करती हुई हम दीनो को देखकर त्रिपुरा के स्वामी वज्रांग विद्याधर ने हरण कर लिया।[18]

दशम सर्ग मे 'विध्यसेन का पुत्र नलिन केतु सदा कामातुर रहता था, उसके पुत्र दत्त का विवाह प्रियंकरा नाम की स्त्री से हुआ। एक बार सखियों के साथ उसे उद्यान मे विहार करते देखकर नलिनकेतु की कामावस्था ने आश्रय दिया'।[19]

(झ) परिस्थितियों को द्योतक रूढ़ियाँ—समस्त कथानक रूढ़ियां सामाजिक और सांस्कृति परिस्थितियों से उत्पन्न होती हैं। शान्तिनाथ पुराण में इस प्रकार की कथानक रूढ़ियां उपलब्ध हैं—

(अ) शरणागत की रक्षा—शान्तिनाथ पुराण के अष्टम सर्ग में राजा श्रीषेण के दरबार में सात्यकि की पुत्री सत्यभामा 'रक्षा करो' कहती हुई पहुंची तथा राजा ने उसे अपने अपने अन्तःपुर में शरण दी।[20]

द्वादश सर्ग में मेघरथ के दरबार में बाज से कबूतर की रक्षा के लिए राजा द्वारा कबूतर को गोद में शरण देने का उल्लेख है।[21]

(ञ) आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक रूढ़ियाँ—भारतीय संस्कृति का मूलाधार आत्मा का अस्तित्व है तथा जन्मान्तर और कर्मफल की अनिवार्यता में विश्वास करना भी आवश्यक है। शान्तिनाथ पुराण में इस वर्ग की कर्मा-

नक रूढ़ियां निम्नांकित हैं—

(१) संसार की कठिनाइयों से संतप्त नायक को केवली या गुरु की प्राप्ति—शान्तिनाथ पुराण के प्रत्येक सर्ग में।

(२) आचार्य या गुरु से निर्वेद का कारण पूछना—शा० पु० ८।८०, १२।१३।

(३) पूर्व भवावली का कथन—शा० पु० ७।११, ८।१२७, ११।२२।

(४) निदान का कथन—८।१२१, ११।१५४।

(५) कथाक्रम में धर्म का स्वरूप और ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा—शा० पु० १२।१३, १२।६४।

(६) जाति स्मरण—पूर्वभव का स्मरण होने पर पात्र की जीवन धारा ही बदल जाती है। द्वादश सर्ग में कबूतर बाज का जाति स्मरण इसी सन्दर्भ में है। शा०पु० १२।४६

(७) जन्म जन्मान्तरों की शृंखला तथा एक जन्म के शत्रु का दूसरे जन्म मे भी शत्रु के रूप में रहना—जैसे घनरथ के दरबार में मुर्गों की कथा।

(८) सम्यक्त्व प्राप्ति का कारण जानना—अष्टम सर्ग में अमित तेज द्वारा विजय केवली से सम्यक्त्व प्राप्ति का कारण पूछना तथा उत्तर में भवावली का कथन शा० पु० ८।५-११२।

(९) असंभव बात का कारण जानना—एकादश सर्ग में रानी प्रियमित्रा द्वारा मेघरथ विद्याधर के पूर्वभव पूछना, ११।१२३।

(१०) वैराग्य प्राप्ति के निमित्तों की योजना—द्वादश सर्ग में सरीर की निःसारता का उपदेश सुनकर प्रियमित्रा की विरक्ति, १२।१२७।

(११) कैवल्य ज्ञान की उत्पत्ति के समय विचित्र आश्चर्यों के दर्शन—भगवान शान्तिनाथ के कैवल्य ज्ञान उत्पत्ति के समय पद्मयान का प्रकट होना, रत्न वृष्टि होना आदि आश्चर्य, १६।२१८-१९।

(१२) तपस्या के समय उपसर्ग तथा उनका जीतना—इसका व्यवहार शान्तिनाथ पुराण में सर्वत्र हुआ है।

□□

सन्दर्भ-सूची

१. डा० नेमीचन्द्र शास्त्री : हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० २६१।
२. वही पृ० २६६।
३. असग : शान्तिनाथ पुराण ७।७१-७९
४. डा० नेमीचन्द्र शास्त्री : हरिभद्र के प्रा० क० सा० आलोचनात्मक परिशीलन पृ० २६८।
५. शा० पु० ७।८८,९३।
६. हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० २६०।
७. शा० पु० १०।१२४, १२९-१३१।
८. हरिभद्र के प्रा० क० सा० आलोचनात्मक परिशीलन पृ० २७२।
९. शा० पु० १३।१५२-१५५।
१०. वही १५।६, १५।
११. वही १५।३८-४१।
१२. वही १६।२१८-२२०।
१३. शा० पु० ६।९६-९७।
१४. वही ८।१००।
१५. हरिभद्र के प्रा० क० सा० आलोचनात्मक परिशीलन पृष्ठ २७६।
१६. शा० पु० ११।४९-५१।
१७. शा० पु० २।४६, ५।६६, ६।९२।
१८. वही ६।८६।
१९. वही १०।४३।
२०. शा० पु० ११।२३।
२१. शा० पु० ४।५४।
२२. शा० पु० १२।४।

धर्मध्यान का स्वरूप एवं भेद

☐ नरेन्द्र कुमार जैन सोरया एम० ए० शास्त्री

जैनधर्म मे ध्यान को तप का साधन माना गया है। ध्यान सर्वोत्कृष्ट तप है, ध्यान की अवस्था मे ही सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।[1] उत्तम सहनन वाले का एक विषय मे चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।[2] आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद माने गये हैं।[3] इन चार ध्यानों में अन्त के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं[4] लेकिन इनमें भी धर्म्य ध्यान का विशेष महत्व है।

धर्म्यध्यान का स्वरूप—वस्तु का यथार्थ स्वरूप (स्वभाव) धर्म है।[5] वस्तु सत्तास्वरूप है। सत्ता पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व्ययरूप है तथा वस्तु तथा गुण की अपेक्षा सदा ध्रुव है। इस प्रकार अपने धर्म से च्युत न होकर स्वभाव में आरूढ़ रहना धर्मध्यान कहलाता है।[6] तात्पर्य यह कि आत्मा चैतन्य स्वभावी है। अतः अपने स्वभाव में निश्चल रहना, जड़ स्वभाव के प्रति रागद्वेष न करना यह धर्म्यध्यान का लक्षण है।

धर्म्यध्यान के भेद—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय ये धर्म्यध्यान के चार भेद तत्वार्थसूत्र मे कहे गये हैं[7]।

आज्ञाविचय—उपदेश दाता के अभाव से, अपनी मन्दबुद्धि के उदय से तथा कर्म के वश जिसे स्वयं न जान सके ऐसे सूक्ष्म पदार्थों के विषय में जैसा सर्वज्ञ ने कहा वैसा ही है, क्योंकि जिनदेव वीतरागी हैं, वे अन्यथा कथन नहीं करते हैं, उस प्रकार पदार्थ का श्रद्धान कर अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय है। चित्त मे ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिए कि जो सूत्र में कहा है, वह प्रत्यक्ष तो दिखाई देता नही है, अनुमान से भी नही जाना जाता है। अतः न जाने कैसा है, इस प्रकार का सन्देह कभी भी नहीं करना चाहिए। श्रुति, सूनृत, आज्ञा, आप्तवचन, वेदाङ्ग और आम्नाय इन पर्यायवाचक शब्दों से बुद्धिमान पुरुष उस आगम को जानते हैं। जिनशासन की तत्वज्ञानियों को आराधना करना चाहिए। जिनशासन आदि अन्त से रहित, अनादिनिधन, अति सूक्ष्म चर्चा वाला, मोक्षमार्ग का उपदेश देने के कारण जीवन का हितकारी, अत्यन्त अथाह तथा अतिगम्भीर है। इस प्रकार तत्वज्ञानी जिनशासन की आज्ञा प्रमाण श्रद्धान, चिन्तन करता है, यही आज्ञाविचय है[8]।

अपाय विचय—जन्म, जरा मरण, रागद्वेष, मोह, रोग, विद्युत्पातादिरूप, आधिदैविक, देव मनुष्य तथा त्रियचों द्वारा उत्पन्न बाधारूप अधिभौतिक तथा मन की चिन्ता, सकल्प-विकल्प रूप आध्यात्मिक इन तीन तापत्रय से भरे हुए ससाररूपी समुद्र मे जो अनेक प्राणी कष्ट में पड़े हुए हैं उनके कष्ट दूर करने तथा रागादिक शत्रु के नाश के उपाय का चिन्तन करना चाहिए। इस अपायविचय नामक धर्मध्यान में अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से यह प्राणी कैसे रहित हो ऐसा चिन्तन करना चाहिए। अपाय अभाव को कहते हैं, मिथ्यादृष्टियों के मार्ग के अभाव का चिन्तन करना अपायविचय है।[9]

विपाक विचय—शुभ और अशुभ भेदों मे विभक्त हुए कर्मों के उदय से संसार रूपी आवर्त की विचित्रता चिन्तवन् करने वाले मुनि के जो ध्यान होता है उसे आगम के जानने वाले गणधरादिदेव विपाकविचय नाम का धर्म्यध्यान मानते हैं। जैन शास्त्रों में कर्मों का उदय दो प्रकार का माना गया है। जिस प्रकार किसी एक वृक्ष के फल एक तो समय पाकर अपने आप पक जाते हैं और दूसरे किन्हीं कृत्रिम उपायों से पकाये जाते हैं, उसी प्रकार कर्म भी अपने शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं। मूल और उत्तर प्रकृतियों के बन्ध तथा सत्ता आदि का आश्रय लेकर द्रव्य,

क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्मों का उदय अनेक प्रकार का होता है।[10] तात्पर्य यह है कि शुभकर्म के उदय से शुभद्रव्य, स्वर्गादिक शुभक्षेत्र, शीत-उष्ण की बाधारहित शुभकाल तथा संक्लेशरहित प्रसन्नभाव होते हैं। अशुभकर्म कर्म के उदय से इनके उल्टे अशुभ द्रव्य नरकादि क्षेत्र, शीत, आतपयुक्त काल तथा क्लेश रूप मलिन भाव होते हैं। दोनों कर्मों के विवेक का वेत्ता विवेकी जीव इनके प्रति हर्ष विषाद नही करता है। वह कर्म के उदय के अभाव हेतु उद्यम करता है। मोक्षाभिलाषी मुनियों के मोक्ष के उपायभूत इन विपाकविचय नाम के धर्म्यध्यान का अवश्य चिन्तन करना चाहिए।[11]

संस्थान विचय—लोक के आकार का बार बार चिन्तवन करना तथा लोक के अन्तर्गत रहने वाले जीव, अजीव आदि तत्वों का विचार करना संस्थान विचय नाम का धर्म्यध्यान है। संस्थान विचय धर्म्यध्यान को प्राप्त हुआ मुनि तीनों लोकों की रचना के साथ-साथ द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, सरोवर, विमानवासी, भवनवासी तथा व्यंतर-देवों के रहने के स्थान और नरकों की भूमियों आदि पदार्थों का भी शास्त्रानुसार चिन्तन करे। इसके सिवाय उस लोक मे रहने वाले संसारी और मुक्त इस प्रकार जीव के दो भेद, जीव का कर्तापन, भोक्तापन तथा दर्शनादि गुणों का भी ध्यान करे। अनेक दुःखरूप यह संसाररूपी समुद्र सम्यग्ज्ञानरूपी नाव से तैरने योग्य है। अथवा इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है? नयों के सैकड़ों भङ्गो से भरा हुआ जो कुछ आगम का विस्तार है वह सब अन्तरात्मा की शुद्धि के लिए ध्यान करने योग्य है।[12] यह धर्म्यध्यान अप्रम। अवस्था का आलम्बन कर अन्तर्मुहूर्त तक तक स्थित रहता है औ' प्रमादरहित (सप्तम गुण-स्थानवर्ती) जीवों में ही अतिशय उत्कृष्टता को प्राप्त होता है। इसके सिवाय अतिशय शुद्धि को धारण करने वाला और पीत पद्म और शुक्ल ऐसी तीन शुभलेश्याओं के बल से वृद्धि को प्राप्त हुआ यह धर्म्यध्यान शास्त्रानुसार सम्यग्दर्शन से सहित चौथे गुणस्थान में तथा शेष के पांचवें और छठे गुणस्थान में भी होता है। यह धर्म्यध्यान क्षायोपशमिक भावों को स्वाधीन कर बढ़ता है। इसका फल भी बहुत उत्तम होता है तथा अतिशय बुद्धिमान लोग भी इसे धारण करते हैं। वस्तुओं के धर्म का अनुयायी होने के कारण जिसे धर्म्यध्यान ऐसा नाम प्राप्त हुआ है और जिसमें ध्यान करने योग्य पदार्थ का ऊपर विस्तार से वर्णन किया गया है ऐसे इस धर्म्यध्यान का बार-बार चिन्तवन करना चाहिए।[13] अंगों की स्थिरता, मुख की प्रसन्नता होना, दृष्टि का सौम्य होना आदि धर्म्यध्यान के बाह्यचिह्न तथा अनुप्रेक्षायें तथा पहले कही हुई अनेक प्रकार की शुभ भावनायें उसके आन्तरिक चिन्ह हैं।[14]

आज्ञा आदि के निमित्त से सतत चिन्तन करने को धर्म्यध्यान कहा गया है।[15] अशुभ कर्मों की अधिक निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ स्वर्ग आदि का सुख प्राप्त होना यह सब इस उत्तम धर्म्यध्यान का फल है। अथवा स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होना इस धर्म्यध्यान का फल कहा जाता है। इस धर्म्यध्यान से स्वर्ग की प्राप्ति तो साक्षात् होती है परन्तु परमपद मोक्ष की प्राप्ति परम्परा से होती है।[16] जो कर्म ईंधन को जलाने के लिए अग्नि का काम करती है समस्त तपों का सार ध्यान तप है।[17] और यही आत्मिक सुख देने वाला है। इस प्रकार जैनदर्शन में धर्म्यध्यान का महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय स्थान है।

लखनऊ

सन्दर्भ-सूची

१. डा० हुकमचन्द भारिल्ल, धर्म के दशलक्षण।
२. उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यान मान्त मुहूर्तात्, तत्वार्थसूत्र नवम् अध्याय सूत्र २७।
३. आर्तरौद्रधर्म्य शुक्लानि तत्वार्थ सूत्र नवम् अध्याय सूत्र नं० २८।
४. सर्वार्थसिद्धि पृ० ३४४।
५. वत्थु सहावो धम्मो—आचार्य कुन्दकुन्द।
६. तत्मानपेतं यद्धर्मात्तद्ध्यानं धर्म्यमिष्यते। धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमुत्पादादि त्रयात्मकम्। आदिपु. २१।१३३
७. आज्ञापायविपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम्। त. सू. ९।३६ तदाज्ञापाय संस्थान विपाकविचयात्मकम्। चतुर्विकल्प माम्नातं ध्यानमाम्नाय वेदिभिः। आदिपु० २१।१३४
८. आदिपुराण २१।१३४-१४०
९. आज्ञाविचय एष स्यादपायविचयः पुनः। तापत्रयादि जन्माब्धिगतापाय विचिन्तनम्। तदुपायप्रतीकारचित्रोपायानुचिन्तनम्। अत्रैवान्तर्गतंध्येयमनुप्रेक्षाविलक्षणम्॥ जिनसेन : आदिपुराण २१।१४१-१४२
१०. वही २१।१४३-४६
११. वहीं २।१४७
१२. जिनसेन : आदिपुराण २१।१४८-५४
१३. वही २१।१५५-५८
१४. वही २१।१५९-६१
१५. सर्वार्थसिद्धि नवमोध्याय : पृ० ३४७
१६. आदिपुराण २१।१६२-६३
१७. धर्म के दशलक्षण : हुकमचन्द भारिल्ल पृ० ११४

कुबेर प्रिय सेठ की कथा

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश और उसमें पुंडरीकिणी नाम की एक नगरी है। वहां का राजा गुणपाल और उसकी एक रानी कुबेरश्री से वसुपाल और श्रीपाल नाम के दो पुत्र थे। रानी कुबेरश्री का भाई कुबेरप्रिय था, जो रूप में कामदेव के समान और चरम-शरीरी था। उक्त राजा के एक दूसरी रानी सत्यवती भी थी, जिसका भाई चपलगति राजा का मंत्री था। एक दिन राजा ने एक अपूर्व नाटक देखा और बहुत ही प्रसन्न हुआ। पश्चात् अपने यहां रहने वाली उत्पलनेत्रा नाम की वेश्या से उसने कहा कि ऐसा अच्छा नाटक तो मेरे ही राज्य में ही हुआ है। तब उस वेश्या ने कहा—महाराज, यह कुछ भारी कौतुक नहीं है, अपूर्व कौतुक तो मैंने देखा है, जो आप से निवेदन करती हूं। एक दिन आपकी सभा में बैठे हुए कुबेर प्रिय सेठ को देखकर मैं कामदेव की पीड़ा से अत्यन्त व्याकुल हुई। उसी समय एक अच्छी दूती उक्त सेठ के पास भेजी। उस दूती ने जाकर मेरा यह सब हाल सेठ से कहा। परन्तु सेठ ने उत्तर दिया मेरे स्वदार-सन्तोष (परस्त्री त्याग) व्रत है। यह सुनकर मैं लाचार हो गई। एक बार चतुर्दशी के दिन श्मशानभूमि मे वह सेठ योग धारण करके बैठा था। मैं उसको वैसी ही अवस्था में अपने घर ले आई और सोने के महल में ले जाकर उसे अनेक चेष्टाएं दिखायीं, परन्तु उस सेठ का चित्त चलायमान न कर सकी। आखिर उसको उसी श्मशान भूमि में पहुंचवा दिया। और मैंने उसी समय से ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया। अतः हे राजन्, मैं वेश्या होकर भी उस सेठ का चित्त चलायमान न कर सकी, यह बड़ा कौतुक और आश्चर्य है। तब राजा ने कहा—उस सेठ की सब ही सन्तान ऐसी ही शील पालने वाली हैं, कुशील नहीं हैं।

उत्पलनेत्रा ने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया है, यह किसी को ज्ञात नहीं था, इसलिए एक दिन नगर के कोतवाल का पुत्र उसके घर गया और बोला—शृंगार विलेपनादि करो। परन्तु इतने में ही मन्त्री का पुत्र आ पहुंचा। तब वेश्या ने उसके भय से कोतवाल के पुत्र को किसी सन्दूक मे बन्द कर दिया और मन्त्री पुत्र के साथ बातचीत करने लगी। इतने में ही चपलगति मन्त्री आया। उसको आते हुए देख कर उसके डर से उस मन्त्री-पुत्र को भी वेश्या ने उसी सन्दूक मे बन्द कर दिया। चपलगति ने आकर कहा—हे उत्पलनेत्रे, तू शृंगारादि कर लेना, मैं शाम को बहुत-सा द्रव्य लेकर आऊँगा। उत्पलनेत्रा ने कहा—चपलगति, आप जब अपनी बहिन सत्यवती के विवाह मे मेरा हार ले गए थे, तब आपने कहा था कि सत्यवती के विवाह के बाद तेरा हार दे देवेंगे। सो अब वह हार दे दीजिए। चपलगति ने कहा—अच्छा, तेरा हार दे देंगे। तब उस वेश्या ने कहा—हे सन्दूक में बैठे हुए देवो! इस विषय में तुम मेरे साक्षी हो।

दूसरे दिन राजा की सभा मे जाकर उत्पलनेत्रा ने चपलगति से हार मांगा। चपलगति ने कहा—कहां का हार? मैं नहीं जानता, तू ने हार किसको दिया था? वेश्या ने कहा—यदि खबर ही नहीं है तो कल दिन क्यों कहा था कि तेरा हार दे दूंगा? मन्त्री ने कहा—नहीं, मैंने ऐसा कभी नहीं कहा। तब राजा ने कहा—उत्पलनेत्रे, तेरा इस विषय में कोई साक्षी भी है? उसने कहा—हां महाराज, है। राजा ने कहा—तो उसको बुलाओ, तभी निर्णय होगा। राजा के कहने से सन्दूक मंगाया गया। तब वेश्या ने कहा—हे सन्दूक में बैठे हुए देवो, सत्य कहो कि कल चपलगति ने मुझे हार देने को कहा था या नहीं? तब सन्दूक में बैठे उन दोनों ने कह दिया—हां! अवश्य ही कहा था। इस कौतुक को देखकर राजा ने सन्दूक खुलवाकर देखा तो उसमें मन्त्री-पुत्र और कोतवाल-पुत्र निकले। उन्हें निकलते हुए देख सब सभा के लोगों ने बड़ी हंसी की, जिससे दोनों लज्जित हुए। राजा को इस

कुतूहल से वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने सत्यवती के पास सेवक भेजा और कि तेरे विवाह में चपलगति उत्पलनेत्रा का हार लाया था वह दे दे। सत्यवती ने वह हार सेवक को दे दिया। सेवक ने राजा को और उसने उस वेश्या को दे दिया। पश्चात् राजा ने क्रोध के वशीभूत होकर चपलगति की जिव्हा (जीभ) काटने की आज्ञा दी, परन्तु कुवेरप्रिय ने राजा से निवेदन करके चपलगति की जीभ नहीं काटने दी। राजा ने कुवेरप्रिय को मन्त्री पद दिया। कुवेरप्रिय मन्त्री होने से चपलगति को ईर्षा और क्रोध उत्पन्न हुआ तथा सत्यवती ने हार दे दिया, इससे उस पर भी वह क्रोध करने लगा और रात दिन इन दोनों का बुरा विचारने लगा।

एक दिन यह चपलगति विमलजला नदी पर क्रीड़ा करने के लिए गया। बैलों के झुंड में वहां उसने एक सुंदर मुद्रिका (अंगूठी) देखी और उठा ली। इतने मे ही व्याकुल चित्त चितागति नाम का विद्याधर वहां आकर इधर-उधर कुछ ढूंढने लगा। तब चपलगति ने उससे पूछा—भाई, इधर-उधर क्या देखते हो? विद्याधर ने कहा—मेरी मुद्रिका खो गई है, उसको ढूंढ रहा हूं। यह सुनकर चपलगति ने उसे मुद्रिका दे दी। विद्याधर को सन्तोष हुआ। उसने चपलगति से पूछा—आप कौन हैं। चपलगति ने कहा – मैं कुवेरप्रिय का देवपूजक (सेवक) हूं। विद्याधर ने कहा–तुम कुवेरप्रिय के सेवक हो तो कुवेरप्रिय मेरा मित्र है, उसको यह मुद्रिका दे देना। यह काममुद्रिका है, इसके प्रताप से मनचाहा रूप बन जाता है। मैं उससे फिर कभी यह मुद्रिका वापिस ले लूंगा। ऐसा कहकर वह मुद्रिका दे विद्याधर तो चला गया और चपलगति उसे लेकर वहाँ से लौटा। घर आकर उसने अपने भाई पृथु को सिखाया कि चतुर्दशी के सायकाल के समय तू इस मुद्रिका को पहन कर सत्यवती के घर जाना और जब वह तुझे आसन पर बिठा दे, तब अपने मन में ऐसा विचार करके कि "मेरा रूप कुवेरप्रिय का सा हो जाय" इस अंगूठी को अपने चारों तरफ फिराना, तब तेरा रूप कुवेरप्रिय का सा हो जायगा। फिर सत्यवती के पास ही कामचेष्टा भ्रूविक्षेपादिक करना। उस समय मैं राजा के पास रहूंगा, इसलिए अपना काम बन जाएगा। चतुर्दशी के दिन पृथु ने ऐसा ही किया और चपलगति ने उसी समय राजा से कहा—महाराज, इस समय कुवेरप्रिय सत्यवती के साथ काम-क्रीड़ा करता है। मैंने पहले यह बात कई बार सुनी थी, परन्तु वह आज प्रत्यक्ष हो गई।

राजा ने कहा—नहीं, कुवेरप्रिय ने आज उपवास किया है, उसकी यह बात सम्भव नहीं हो सकती। चपलगति ने यह कहकर कि महाराज, प्रत्यक्ष में क्या सन्देह है? चलिए, स्वयं देख लीजिए। राजा को ले जाकर अपने भाई को कुवेरप्रिय के रूप में दिखला दिया और कहा—महाराज, इन दोनों को दण्ड मिलना चाहिए। राजा ने कहा–अच्छा तुम्हीं इसका दण्ड दो। चपलगति ने "बहुत अच्छा।" कहकर कुवेरप्रिय का सिर काटने का हुक्म दिया और सत्यवती की नाक काटने का। महा न्यायवान् कुवेरप्रिय को कल सबेरे मारूंगा, और सत्यवती की नाक काटूंगा, ऐसा विचार कर अपने भाई को लेकर वह अपने घर गया और भाई को घर छोड़कर श्मशान भूमि से कुवेरप्रिय को उठा लाया। नगरवासियों को यह सुनकर बड़ा क्षोभ हुआ। सेठ कुवेरप्रिय ने प्रतिज्ञा की कि जो मैं इस उपसर्ग से बचूंगा, तो पाणिपात्र में भोजन करूंगा। तथा ऐसी ही प्रतिज्ञा सत्यवती ने की कि बचूंगी तो आर्यिका हो जाऊंगी। और जो इष्टदेव की पूजा करने का घर था, वह उसमें कायोत्सर्ग धारण कर बैठ गई। राजा दुःख से व्याकुल होकर अपनी शय्या पर पड़ रहा। सबेरे ही चपलगति कुवेरप्रिय को केश पकड़ कर श्मशान भूमि में लाया और वहां उसके मारने के लिए चाण्डाल को बुलाया। पश्चात् चाण्डाल को तलवार देकर आज्ञा दी—इसका काम तमाम कर दो। जिस समय उसके मारने की आज्ञा हुई, उसी समय उसके परम शील के प्रभाव से देवों के तथा असुरों के आसन कम्पायमान हुए और कुवधिज्ञान से कुवेरप्रिय पर उपसर्ग जानकर वे शीघ्र ही वहां आए। इधर कुवेरप्रिय का यह हाल देखकर समस्त नगर के लोग हाहाकार करने लगे और "कुवेरप्रिय! हाय, यह तुम्हारा यह क्या हाल हुआ?" ऐसा चिल्लाते हुए दुःखी होकर उसकी ओर देखने लगे। चांडाल ने यह कह कर कि 'अब कुवेरप्रिय, अपने इष्ट-

(शेष पृ० आवरण ३ पर)

जैन होने में बाधक : मूर्च्छा-भाव-परिग्रह :

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली।

सामाजिक प्राणी और मानव बनने के लिए हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील का स्थूल त्याग किया जाता है और जैन या जिन बनने के लिए परिग्रह का त्याग करना होता है।

कहते हैं सत्य बड़ा कड़वा अमृत है। जो इसे हिम्मत करके एक बार पी लेता है वह अमर हो जाता है और जो इसे गिरा देता है वह सदा पछताता है। हम एक ऐसा सत्य कहने जा रहे हैं जिसे जन-मानस जानता है—मानता नहीं और यदि मानता है तो उस सत्य का अनुगमन नहीं करता। उस दिन एक सज्जन मेरे हस्ताक्षर लेने आ गए। दूर से आए थे, कह रहे थे—आपके सुलझे और निर्भीक विचारों को 'अनेकान्त' में पढ़ता रहता हूं। कारणवश दिल्ली आना हुआ। सोचा आपके दर्शन करता चलूं। उनके आग्रहवश मैंने हस्ताक्षर दे दिए। वे पढ़कर बोले—आप तो जैन हैं, आपने अपने को जैन नहीं लिखा—केवल पद्मचन्द्र शास्त्री लिखा है। मैंने कहा—हां, मैं ऐसा ही लिखता हूं। इससे आप ऐसा न समझें कि मैं इस समुदाय का नहीं। मैं तो इसी में पैदा हुआ हूं, बड़ा भी इसी में हुआ हूं और चाहता हूं मरूँ भी यहीं। काश ! लोग मुझे जैन होकर मरने दें ! यानी—**'ये तन जावे तो जावे, मुझे जैन-धर्म मिल जावे'**। मैंने कहा—पर अभी मुझे जैन या जिन बनने के लिए क्या कुछ, और कितना करना पड़ेगा ? यह मैं नहीं जानता। हां, इतना अवश्य है कि यदि मैं मूर्च्छा—परिग्रह को कृश कर सकूं तो वह दिन दूर नहीं रहेगा जब मैं अपने को जैन लिख सकूं।

'जिन' और 'जैन' ये दोनों शब्द आपस में घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। जिन्होंने कर्मों पर विजय पाई हो, वे 'जिन' होते हैं और 'जिन' का धर्म 'जैन' होता है। मुख्यता धर्म के लक्षण-प्रसंग में **'वत्थु सहावो धम्मो'** और **'यः सत्वान् संसार दुःखतः उद्धृत्य उत्तमे (मोक्षे) सुखे धरति सः धर्मः'** ये दो लक्षण देखने में आते हैं। जहां तक प्रथम लक्षण का सम्बन्ध है, वहां हमें कुछ नहीं कहना। क्योंकि वहां तो 'जिन' का अपना स्वभाव ही 'जैन' कहलाएगा। जैसे अग्नि का अपना अस्तित्व है वह उसकेअपने धर्म उष्णत्व से है। न तो अग्नि उष्णत्व को छोड़ेगी और न ही उष्णत्व अग्नि को छोड़ेगा। ऐसे ही जिनका यह धर्म 'जैन' है, वे 'जिन' भी इसे न छोड़ेंगे और ना जैन ही 'जिन को छोड़ेगा। मोह रागादि परिग्रह को छोड़ने से "जिन' हैं और उनका धर्म 'जैन' उन्हीं में रहेगा। और जो 'जैन' बनता जाएगा उसका धर्म जैन होता जाएगा। यह बात बड़ी ऊँची और अध्यात्म की है अतः हम इसे यहीं छोड़ते हैं। प्रसग में तो जैन से हमारा आशय 'जिन' द्वारा प्रसारित उस धर्म से है जो जीवों को ससार के दु.खो से छुड़ाकर 'जिन' बना सके—मोक्ष सुख दिला सके। क्योंकि इस धर्म का माहात्म्य ही ऐसा है कि जो इसे धारण करता है उसी को 'जैन' या 'जिन' बना देता है कहा भी है—**'जो अधीन को आप समान, करै न सो निन्दित धनवान।'**

वर्तमान में अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य की जैसी धुंधली-परिपाटी प्रचलित है, यदि उसमें सुधार आ जाय तो लौकिक-मानव बना जा सकता है। प्राचीन समय की सुथरी परिपाटी ही आज तक समाज और देश को एक सूत्र में बांधे रख सकी है। निःसन्देह उक्त नियमों के बिना न तो समाज सुरक्षित रह पाता और ना ही देश का उद्धार हुआ होता। लौकिक सुख-शान्ति भी इन्हीं नियमों पर आधारित हैं। इसीलिए भारत के विभिन्न मत-मतान्तरों ने इन पर ही विशेष बल दिया। ताकि मानव, मानव बन सके और लौकिक, सुख-शान्ति से ओत-प्रोत रह सके। पर जैन तीर्थंकरों की दृष्टि पार-

लौकिक सुख तक भी पहुंची। उन्होंने जीवों को शाश्वत-परलोक—मोक्ष का मार्ग भी दर्शाया। उनका बताया मार्ग ऐसा है जिससे दोनों लोक सध सकते हैं। वह मार्ग है—मानव से 'जैन और 'जिन बनने का पूर्ण परिग्रह के छोड़ने का अर्थात् जब स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील का त्याग किया जाता है तब मानव बना जाता है और जब परिग्रह की सीमा बांधी या परिग्रह का त्याग किया जाता है तब 'जैन' बना जाता है। जैनियों में जो दश-धर्मों का वर्णन है उनमें भी पूर्ण-अपरिग्रह धर्म ही साध्य है, शेष धर्म उस अपरिग्रह के पूरक ही हैं। कहा भी है –

'क्षमा मार्दव आर्जव भाव हैं, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग 'उपाय' हैं।
आकिंचन ब्रह्मचर्य धर्म दश सार हैं ..।'

जब सत्य, शौच, संयम तप और त्यागरूपी उपायों से मन को क्षमा, मार्दव, आर्जव, रूप भावों में ढाला जाता है तब आकिंचन्य (पूर्ण अपरिग्रह) धर्म प्राप्त होता है और तभी आत्मा—ब्रह्म (आत्मा) में लीन (तन्मय) होता है। यह आत्मा में लीनता (तद्रूपता) का होना ही जिन या जैन का रूप है। और इसे प्राप्त करने के लिए आस्रव से निर्वृत्ति पाकर संवर-निर्जरा के उपाय करने पड़ते हैं और वे सभी उपाय प्रवृत्ति रूप न होकर निवृत्ति रूप (जैसा कि ध्यान में होता है) ही होते हैं। किन्हीं अंशों मे हम आंशिक निवृत्ति करने वालों को भी 'जिन' या जैन कह सकते है। कहा भी है—

'जिणा दुविहा सयलदेजिणभेएण। खविय घाइ-कम्मा सयलजिणा। के ते? अरहंत सिद्धा अवरे आइरिय उवज्झाय साहू देस-जिणा तिव्व कषायेंदिय-मोहविजयादो।'
—धवला ९, ४, १, १, १०।

जिन दो प्रकार के हैं—सकलजिन और देशजिन। घातियाकर्मों का क्षय करने वाले अरहंतों और सर्वकर्म-रहित सिद्धो को सकलजिन कहा जाता है तथा कषाय मोह और इन्द्रियों की तीव्रता पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु को देश-जिन कहा जाता है। उक्त गुणों की तर-तमता मे कथंचित देश-त्यागी—परिग्रह को कृश करने वाले श्रावकों को भी जैन मान सकते हैं, क्यो कि—मोक्षरूप उत्तम सुख मिलना परिग्रह कृश करने पर ही निर्भर है, फिर चाहे वह—परिग्रह अन्तरंग हो या बहिरंग या हिंसादि पापों रूप हो—सभी तो परिग्रह हैं।

ये तो जिन की देन है, जो उन्होंने वस्तुतत्व को बिना किसी भेद-भाव के उजागर किया और अपरिग्रह को सिरमौर रखा और अहिंसा आदि सभी में इस अपरि-ग्रह को हेतु बताया है। पिछले दिनों हमें श्री खुशालचन्द्र गोरावाला का पत्र मिला है। पत्र का सारांश यह है कि चारों कषायों और पांचों पापों मे कार्य कारण की व्यवस्था उल्टी है। कार्य-निर्देश पहिले और कारण-निर्देश अन्त में है। यानी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों में अन्त की लोभ कषाय पूर्व की कषायों में कारण है। लोभ (चाहे वह किसी लक्ष्य में हो) के होने पर ही क्रोध, मान या मायाचार की प्रवृत्ति होगी। इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापो मे भी अन्त का परिग्रह पाप पूर्व के पापो मे मूल कारण है। परिग्रह (चाहे वह किसी प्रकार का हो) के होने पर ही हिंसा, झूठ, चोरी या कुशील की प्रवृत्ति होगी। ये तो हम पहिले भी लिख चुके हैं कि—'तन्मूलासर्वदोषानुषङ्गः··· ममेदमिति, हि सति संकल्पे रक्षणादय सजायन्ते। तत्र च हिंसाऽवश्य भाविनी तदर्थमनृत जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुनं च कर्मणि प्रतिपत्तते।'—त० रा० वा० ७।१७।५ सर्व दोष परिग्रह मूलक हैं। यह मेरा है, ऐसे सकल्प में रक्षण आदि होते हैं उनमें हिंसा अवश्य होती है, उसी के लिए प्राणी झूठ बोलता है, चोरी करता है और मैथुनकर्म में प्रवृत्त होता है, आदि :

आचार्यों ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है। और यहाँ मूर्च्छा से तात्पर्य १४ प्रकार के परिग्रह से है। मूर्च्छा ममत्व भाव को कहते हैं। और ममत्व सब परिग्रहों में मूल है। अरति, शोक, भयादि भी इसी से होते हैं। इसी-लिए ममत्व का परिहार करना चाहिए। राग की मुख्यता के कारण ही जिन भगवान को भी वीत द्वेष न कह कर वीतरागी कहा गया है। यदि प्राणी का राग बीत जाय—मूर्च्छा भाव बीत जाय तो वह 'जिन' हो जाय। जिन-मार्ग में परिग्रह को सर्व पापों का मूल बताया गया है और परिग्रह त्यागी को ही 'जिन और जैन' का दर्जा दिया गया है।

कुछ लोग रागादि को हिंसा और रागादि के अभाव को अहिंसा माने बैठे हैं। और हिंसा व परिग्रह मे भेद नहीं कर रहे। ऐसे लोगों का कहना है कि अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि—

'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

ऐसे लोगों को सूक्ष्म दृष्टि से कार्य-कारण की व्यवस्था को देखना चाहिए। आचार्य ने यहां कारणरूप रागादिक में कार्य-रूप हिंसा का उपचार किया है। रागादिक स्वय हिंसा नही हैं अपितु हिंसा में कारण हैं। इसीलिए आगे चलकर इन्हीं आचार्य ने कहा है—

'सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निबंधना भवति पुंसः।'
'आरम्भकर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन।'
'यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।'
'यत्खलुकषाययोगात् प्राणानां द्रव्य भावरूपाणाम्।'
—पु०षा०

हिंसा पर-वस्तु (रागादि) के कारणो से होती है हिंसा कषाय भावो के अनुसार होती है। कषाय के योग से द्रव्य-भावरूप प्राणो का घात होता है। और सकषाय-जीव हिंसक (हिंसा से करने वाला) होता है।

पिछले दिनों हमने जैन बनने मे हेतु-भूत—ध्यान के प्रसंग से अपरिग्रह—पूर्णनिवृत्ति को दिखाया था। जो लोग किसी बिन्दु पर मन को लगाने की बात करते हैं उसमें भी आस्रव भाव होता है फिर जो दीर्घ संसारी हैं, ऐसे लोगों ने तो ध्यान-प्रचार के बहाने आज देश-विदेशों में भी काफी हलचल मचा रखी है, जगह-जगह ध्यान-केन्द्रों की स्थापना की है। वहां शान्ति के इच्छुक जन-साधारण मनः-शान्ति हेतु जाते हैं। पर वहां वे, वह कुछ नहीं पा सकते जो उन्हें जिन. जैनी या अपरिग्रही होने पर—सब ओर से मन हटाने पर मिल सकता है। यहां आत्मा को आत्म-दर्शन मिलेगा और वहां उन्हें परिग्रहरूपी पर-विकारी भाव मिलेंगे। फिर चाहे वे विकारी भाव व्यवहारी दृष्टि से—कर्मशृंखलारूप में 'शुभ' नाम से ही प्रसिद्ध क्यों न हों। वास्तव में तो वे बंधरूप होने से अशुभ ही हैं; कहा भी है—

'कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्म चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होइ सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥'
—समयसार ४।१।१४५

अशुभ कर्म कुशील—बुरा है और शुभ कर्म सुशील—अच्छा है, ऐसा तुम जानते हो; किन्तु जो कर्म जीव को संसार मे प्रवेश कराता है, वह किस प्रकार सुशील—अच्छा हो सकता है? अर्थात् अच्छा नहीं हो सकता।

उक्त प्रसंग से तात्पर्य ऐसा ही है कि यदि जीव परिग्रह—आस्रव जनक क्रिया को त्याग कर संवर निर्जरा में प्रयत्नशील हो—सभी प्रकार विकल्पों को छोड़कर स्व मे आवे, तो इसे जिन या जैन बनने मे देर न लगे। आचार्यों ने स्व मे आने के मार्ग रूप संवर निर्जरा के जिन कारणों का निर्देश किया है। वे सभी कारण परिग्रह निवृत्त रूप हैं, किसी मे भी हिंसा, झूठ, चोरी जैसे किसी परिग्रह का संचय नही। तथाहि—'स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा-परीषह चारित्रैः।' 'तपसा निर्जरा च।'—गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से संवर होता है और तप से संवर और निर्जरा दोनो होते हैं। उक्त क्रियाओ मे प्रवृत्ति भी निवृत्ति का स्थान रखती है—सभी मे पर—परिग्रह का त्याग और स्व मे आना है। तथाहि—

गुप्ति—'यतः संसारकारणादात्मनो गोपन सा गुप्तिः।'
रा० वा० ९, २, १।
—जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन (रक्षण) होना है वह गुप्ति है।

मनोगुप्ति—'जो रागादि णियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।'

वचोगुप्ति—'अलियादिणियत्ती वा मौणं वा होइ वदिगुत्ती॥' नि० सा० ६९।

कायगुप्ति—'काय किरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगेगुत्ती।' नि० सा० ७०।

समिति—'निज परम तत्त्व निरत सहज परम-बोधादि परम धर्माणां संहति समिति। नि.सा.ता. वृ. ६१
'स्व स्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितिः।'
प्र० सा० ता० वृ० २४०।

'अनंत ज्ञानादि स्वभावे निजात्मनि सम सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिंतन

रूप तो न रहा, पर जैन के रहस्य को किनारे रख किन्हीं लोगों ने किन्हीं राजनैतिक लाभों को प्राप्त करने की दृष्टि से (भी) संख्या बढ़ाने-बढ़वाने के प्रयत्न चालू कर दिये। (हालांकि संख्या बढ़ाने-बढ़वाने से अभी तक शायद ही कोई लाभ प्राप्त हो सका हो), वे ऐसे पुद्गल-कलेवरों की वृद्धि करने को जैन की वृद्धि मान बैठे। इसका जो फल हुआ वह हमारे सामने है। जैन जैसा रत्न, जो आत्मा का धर्म है, वह नश्वर शरीर-रूप जैसी मिट्टी का धर्म बनकर रह गया। ऐसे लोग किसी कुल में जन्म लेने वाली मिट्टी की काया को 'जैनी' मानने लगे और असली जैन, जैनत्व भाव लुप्त होता गया। यानी जैन के सर्वथा विपरीत हीन आचरण वाले भी जैन कहलाने लगे। पं० टोडरमल जी कहते हैं—"जो उच्चकुलविषैं उपजि हीन आचरन करै, तो वाकों उच्च कैसे मानिए? जो कुल विषै उपजने ही तैं उच्चपना रहे तो मांस भक्षणादि किए भी वाकौं उच्च ही मानो सो बनैं नाही।' भारत विषै भी अनेक प्रकार ब्राह्मण कहे हैं। तहा जो ब्राह्मण होय चांडाल का कार्य करै ताकौं चाण्डाल-ब्राह्मण कहिए ऐसा कहा है। सो कुल ही तैं उच्चपना होय तो ऐसी हीन संज्ञा काहेकौं दई?"—मो० मा० २५८

संसार में सबसे बड़े दुःख जन्म मरण कहे हैं—अन्य सभी दुःख इन्हीं के होने पर होते हैं और इन्हीं दोनों के अभाव हो जाने का नाम मुक्ति है। विचारने की बात ये है कि इन दोनों दुखों में कारण कौन हैं? जहां तक मरण की बात है हम उसमें आयु कर्म के क्षय को कारण कह सकते हैं, सो कर्म का क्षय होना कोई बुरी बात नहीं। कर्म से क्षय को जैन दर्शनकारों ने इष्ट ही माना है और इसके लिए ही सारे उपाय बतलाये हैं। हाँ, रही जन्म की बात, सो उसमें अन्तरंग निमित्त आयु कर्म का उदय और बहिरंग निमित्त मैथुनक्रिया है और ये दोनों ही जैन-दर्शन में अनिष्ट कहे गए हैं। जहां तक कर्म का उदय है उसको हम छोड़ भी दें तो भी मैथुन तो अब्रह्म है ही और अब्रह्म को पाप कहा गया है—'मैथुनमब्रह्म।' सभी जानते हैं कि जीवों के जन्म लेने (शरीर धारण करने) में मैथुनरूप-पाप निमित्त बनता है और पाप के निमित्त से हुआ जन्म पुण्य कहलाए, यह बात समझ से बाहर है। अब हम यह कहते हैं कि जैन कुल में जन्म लेना पुण्य पर आधारित है तो पहिले तो जन्म ही पाप (बुरा—दुःखरूप) है; दूसरे जिसे हम जैन कुल कहते हैं वह जैन है कहाँ? जैन तो 'जिन' में बैठा है—चारित्र शील व्यक्ति में बैठा है, पुद्गल काया में 'जैन' कहाँ? एतावता जन-संख्या बढ़ाने से जैन बढ़ जाते हैं यह बात सर्वथा अटपटी-सी है। उक्त स्थिति में भी लोग न जाने क्यों शरीर-पिण्डों की संख्या बढ़ाने को जैन की संख्या वृद्धि मान रहे हैं? यह आश्चर्य ही है।

जैनाचार्यों ने जहां पदार्थों का वर्णन किया है वहां उन्होंने उनके गुण-धर्मों का भी वर्णन किया है। जब उन्होंने आत्मगुणों के विकास की चरमावस्था को प्राप्त आत्मा को 'जिन और उनके धर्म को जैन कहा तब लोग इसे कुल में प्राप्त शरीर में कल्पित करने लगे। यानी आत्मा का धर्म—'जैन', पुद्गल-रूप हो गया अर्थात् जो इस समुदाय में पैदा हो गया वह काया जैन हो गया।

यदि हम आत्मा के गुणों के आधार पर जैनत्व का निश्चय न भी करें और अधिक स्थूल व्यवहार में जाकर ही देखें तब भी आज जैनों की संख्या नगण्य ही रहेगी। जैसे—देवदर्शन करना, रात्रि भोजन का त्यागी होना, छने जल का पीना, अष्ट-मूलगुणो का धारण करना आदि। ये सब ऐसे मोटे चिन्ह हैं, जिससे साधारण जैन की पहिचान की जा सकती है। पर, आज आलीशान सामिष होटलों में रात्रि में प्रीति-भोज आयोजन जैसे समाचार प्रमुख जैन-पत्रों में छपते रहे हैं।

आचार-विचार की दशा ये है कि रात्रि-भोजन त्याग आदि जैसे साधारण नियमों का पालन तो दर-किनार, गाहे-बगाहे अब तो जैनियों के कुछ अंगों को बड़े-बड़े सामिष होटलों तक में भी देखा जा सकता है। लोग अपनी आंखों से कई मान्यों को भी होटलों की सैर करते कराते, उनमें विवाह शादी रचते-रचाते देख रहे हैं। ऐसे मान्यों में स्टेजों पर धर्म पर मर-मिटने की सौगन्ध खाने-खिलाने वाले कई मान्य भी शामिल हैं। जो लोग सामूहिक रात्रि-भोजन निषेध का प्रचार करते हैं, 'दिन में फेरे, दिन में बारात' आदि जैसे नारे बुलन्द करते हैं, उनमें कई को रात्रि-भोजन करते और होटल की शादियो में सम्मिलित होते आराम से देखा जा सकता है।

हमें लिखने में संकोच नहीं, अपितु सन्तोष है कि किन्हीं प्रबुद्धों के प्रयासों से आज हम जैन-नामधारियों ने यह तो महसूस किया है कि जैनों का ह्रास हो गया है—उनमें आचार-विचार नाम की चीज नहीं जैसी रह गई है, वे जैनी नहीं रह गए हैं। इसका जीता-जागता सबूत है—शाकाहार और श्रावकाचार वर्ष का मनाया जाना। यह आयोजन हमारे गाल पर ऐसा तमाचा है जो हमें शर्मिन्दा करने के लिए काफी है, ऐसा इसलिए कि—जैनी नियम से शाकाहारी और श्रावक होता है। उसके लिए शाकाहार और श्रावकाचार वर्ष मनाने की सार्थकता ही क्या ? यदि ऐसा नहीं और वह मांसाहारी बन चुका है तो वह जैन कैसे है ?

हम तो तब भी शर्मिन्दा होते हैं, जब कोई विद्वान् वर्तमान जैन-सभा में आकर वर्तमान जैनियों को शिक्षा देता है कि सप्त व्यसनों का त्याग करो, पाँच पापो का त्याग करो आदि ! हम सोचते हैं कि वह जैनो को उपदेश दे रहा है या पापियों को तारने का प्रयत्न कर रहा है ? क्योंकि जैनी पापी नही होता और निष्पाप को ऐसा उपदेश नहीं होता।

यदि हम ऐसा मानकर चलें कि शाकाहार वर्ष तो हम इतर समाज व देश के लिए मना रहे हैं। तो संवर के बिना निर्जरा कैसी ? जब तक मछली उत्पादन : मुर्गी पालन आदि जैसे मांसोत्पादक केन्द्रो का निरोध न हो तब तक देश के लिए शाकाहार वर्ष की सार्थकता कैसे ? पहिले तो उन स्रोतों को बन्द कराना चाहिए जो मांसोत्पादन कर शाकाहार मे गिरावट ला रहे हैं। चाहे इसमें सरकार से भी लोहा क्यो न लेना पड़े ? पर, बिल्ली के गले में घण्टी बांधे कौन ? फिर, आज जैनी भी तो पूर्णतया शाकाहारी नही रह गए हैं ? मीठा-मीठा गप, कड़वा-कड़वा थू ! उक्त स्थितियों में क्या हम जैनी हैं ? जरा सोचिए !

२. ताला कब तक लगाया जायगा ?

हमने उन बछड़ों, बैलों और ऊंटों को देखा है, जिनके मालिक मुंह पर छीकें (खोंच) बाध देते हैं। ऐसा करने से जो बछड़े गाय का दूध पी जाते हों वे रुक जाते हैं। जो बैल और ऊंट अनाज खा जाते हो वे भी रुक जाते हैं। हालां कि ऐसा करना भी धर्म सम्मत नहीं। सभी जानते हैं कि तीर्थंकर ऋषभदेव जैसे महान् को भी पूर्वभव में ऐसे उपदेश देने के कारण ही तीर्थंकरभव में छह माह निराहार घूमना पड़ा। कदाचित् कोई व्यक्ति लौकिक उपयोगिता को समझ, किसी प्रथा का पोषण करे तो किसी अंश में कदाचित् मौन धारण किया जा सकता है, पर, जो व्यक्ति समाज के आचार और धार्मिक प्रवृत्तियो के ह्रास को देखते हुए भी आचार और धर्म के संरक्षण की प्रवृत्तियों में रत्त-किसी व्यक्ति को मुंह न खोलने दे और उसकी जुबान पर ताला लगाने-लगवाने के प्रच्छन्न या उजागर उपक्रम करे तो हम पीड़ा से कराह उठते हैं। हम नही समझते कि ऐसे लोग सही सुनना क्यों नहीं चाहते। सन्देह होता है कि कही वे दोषी तो नही।

आज समाज और धर्माचार का जैसा विकृत रूप उभर कर सामने आया है उसमे खरीबात सुनने से भयभीत होते रहने और खरों के मुह पर ताला लगाते रहने जैसे उपक्रम ही मूल कारण बने हैं जो धीरे-धीरे परिपक्व होकर सड़े फोड़े की भाति रिसने लगे हैं। पिछली कई घटनायें हैं कि जब किसी ने कुप्रथाओं और आगम-विरुद्ध-वर्तनो के विरुद्ध कोई आवाज उठाई, तभी कुछ तथाकथित लोगों ने उन्हें रोकने की चेष्टाएं कीं। फलस्वरूप कुछ कुचले गए, कुछ मैदान छोड़ गए, कुछ समाज से छिटक गए और इस तरह न्यायमार्ग का ह्रास होता रहा। यदि लोगों में तनिक भी सहनशीलता और विचार शक्ति रही होती तो वे किसी भी विरोधी की बातें सुनते सोचते और पूर्वाचार्यों के 'परीक्षा-प्रधानी' बनने जैसे अमूल्य वाक्यों पर अमल करते, तो समाज और धर्माचार की ऐसी दीन दशा न होती जैसी आज देखने में आ रही है।

आज आम लोगों के मुख पर मुरझाहट है। जो धर्म की राह में हैं वे अक्सर सहमे-सहमे से हैं। ध्यानी ध्यान करते, पुजारी पूजा करते और दुनियावी मनुष्य दुनियादारी में घूमते हुए शंकित और भयभीत हैं कि कहीं उसके

मार्ग में कोई रुकावट खड़ी न हो जाय। तेरापंथी के लिए कोई बीसपंथी और बीसपंथी के लिए कोई तेरापंथी रुकावट खड़ी न कर दे। या कहीं कोई श्वेताम्बर किसी दिगम्बर के या दिगम्बरी किसी श्वेताम्बर के हक को हड़प न ले, हालांकि उनके दिलों में परस्पर में स्व-सम्प्रदायियों के लिए भी कोई सम्मानित स्थान नहीं जैसा है—वे परस्पर में भी एक दूसरे की काट पर तुले हैं। ऐसा क्यों?

एक बार जब सोनगढ़ वालों की ओर से भावी तीर्थंकर के नाम से सूर्यकीर्ति जैसे कल्पित तीर्थंकर की मूर्ति स्थापित हुई, तब हमने भी उसके अनौचित्य पर दो शब्द लिख दिए थे। जब काफी लोग सोनगढ़-साहित्य का खुले आम बहिष्कार कर रहे हैं और पूज्य आचार्य धर्म सागर जी महाराज जैसे सन्त भी इसमें सहमत हैं, तब हमने उस विषय मे उसके बहिष्कार को पुष्ट न कर इतना संशोधन ही दिया था हम उसे 'कसौटी पर कसें'—यह बात आगम के सर्वथा अनुकूल है और आचार्योक्त मूल-आगमांगों की रक्षा में भी समर्थ है। यत. हम नहीं चाहते कि किन्हीं प्रसंगों से हमारे पूर्वाचार्यों की अवमानना हो। फिर भी हमें आश्चर्य है कि कुछ लोगों को परख की बात खटकी! जब कि हमारे पूर्वाचार्यों का निर्देश, उनके स्वयं के कथनों को भी परख कर ग्रहण करने का रहा है—परीक्षा प्रधानी होने का उनका आदेश है। कुछ लोगों ने हमें कहा कि आपको संपादक अनेकान्त के नाम से किसी खास नाम को इंगित नहीं करना चाहिए आदि। सो हम तो ऐसा समझे हैं कि आगम और अनेकान्त जन साधारण की आंखें खोलने के लिए हैं, किसी का आँख मींचकर तिरस्कार या सम्मान करने के लिए नहीं हैं और ना ही मौन रहने के लिए। हमने तो ऐसा खास कुछ नहीं लिखा है—परीक्षण की ही बात की है। जब कि न्यायप्रसंग में अनेकान्त और उसके संस्थापक मुख्तार सा० की नीति इससे भी कड़ी रही है और वे विपरीत प्रतिभासित होने वाली प्रवृत्तियों के खिलाफ सदा आवाज उठाते रहे हैं। मुख्तार सा० ने अनेकान्त में ही (स्व० कान जी स्वामी की जीवित अवस्था में) 'समयसार की १५ वीं गाथा और कान जी स्वामी' शीर्षक में उनको लक्ष्य कर—विचारार्थ जो लिखा था, उसकी झलकी देखिए—

१ "कानजी स्वामी का 'वीतरागता ही जैनधर्म है'। इत्यादि कथन केवल निश्चयावलम्बी एकान्त है, व्यवहार नय के वक्तव्य का विरोधी है, वचननय के दोष से दूषित है और जिन शासन के साथ उसकी संगति ठीक नहीं बैठती।" अनेकान्त वर्ष १२ कि० ८ पृ० २७७.

२ (कानजी स्वामी का) "सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्त की ओर ढला हुआ है, प्रायः एकान्त मिथ्यात्व को पुष्ट करता है और जिन शासन के स्वरूप विषय में लोगों को गुमराह करने वाला है। इसके सिवाय जिन शासन के कुछ महान स्तंभों को भी इसमें 'लौकिक जन' तथा अन्यमतो जैसे शब्दो से याद किया है और प्रकारान्तर से यहां तक कह डाला कि उन्होंने जिनशासन को ठीक समझा नहीं।" वही कि ६ पृ. १८०

उक्त प्रसंगों को देखते हुए हमने नीति और आगम सम्मत ही किया है। किसी पक्ष का नाम तो हमें प्रसंगवश लेना पड़ा है—भक्तगण इसका बुरा न मानें। हमें खुशी है कि कुछ प्रबुद्धों ने हमारे निष्पक्ष और साहसिक विचारो को सराहा भी है।—हम आभारी हैं।

इसी प्रसंग मे एक बात और। सभी जानते हैं कि गणधर ने तीर्थंकर की वाणी को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग जैसे चार विभागों में बांटा और उक्त वाणी का सगह आगम कहलाया। जैन मंदिरों मे इसी आगम को गद्दी पर और साधारणरीति से भी प्रवचन और स्वाध्याय के लिए स्थापित किया जाता रहा। पर, आज स्थिति ऐसी हो रही है कि आचार्यों कृत मूल शास्त्रों की भाषा—प्राकृत, सस्कृत आदि से लोगो का नाता टूट सा चुका है। वे प्रादेशिकी और हिन्दी आदि भाषाओ की ओर दौड़ पड़े हैं। यहां तक कि उन्हें प० प्रवर टोडरमल जी और पं० सदासुख जी जैसे मनीषियों की भाषा भी नहीं रुचती। वे आधुनिक हिन्दी गद्य और काव्यमयी कृतियों को ही शास्त्र-जिनवाणी बना रहे हैं, मंदिरों में उनकी वाचना कर रहे हैं। फलतः—मंदिरों में भी इन कृतियों की भरमार हो रही है और मूल गायब हो रहा है।

हमारे लिखने से, संबंधित लोग रुष्ट भी हो सकते हैं पर लिखना तो हमें है ही। सो—इधर इस युग में, बहुत से अभिनन्दन ग्रंथ भी प्रकाशित हुए और हो रहे हैं। उनमें कई तो जिन मंदिरों में भी पहुंच चुके हैं। यद्यपि ऐसे ग्रंथ किसी अनुयोग में नहीं आते फिर भी कुछ लोग इन्हें मंदिरों में चौकियों पर रख इनका वाचन करने लगे हैं। हमने जब एक प्रबुद्ध सज्जन को तथ्य बतलाया तो वे विस्मित तो हो गए; लेकिन बोले—इसमें आगम विरुद्ध तो कुछ भी नहीं है; आदि।

आशंका है कि कभी ऐसे ग्रंथ जिनवाणी का स्थान ही न ले लें। क्योंकि साधारण जन की दृष्टि में ये भी जिनवाणी की भांति पूर्वापरविरोध रहित होते है। इन ग्रंथो में शलाका पुरुषों के चरित्रों की भांति ग्रन्थ-नायक के (वह भी) प्रशंसित-चरित्र मात्र का ही वर्णन होता है। उनमें कुछ धार्मिक, ऐतिहासिक और तात्त्विक कई लेख भी शामिल होते है। ये प्राकृत-संस्कृत जैसी क्लिष्ट मूल-भाषा मे भी नही होते। पाठक इन्हें रुचि से और आसानी से पढ़ लेते हैं। उन्हें जैन से कोई विरोध भी प्रतीत नही होता। यानी उनकी दृष्टि में इनमे चारो अनुयोग एक साथ ही उपलब्ध हो रहे होते हैं अतः उन्हें ये सच्ची जिनवाणी ही हैं।

पर, इसे भलीभांति समझ लिया जाय कि जब कल्पित तीर्थंकर 'सूर्यकीर्ति की मूर्ति हमारे देखते-देखते—विरोध करते भी गाजे बाजे के साथ जोर-शोर से स्थापित हुई और हम उसे रोक न सके। विरोध में सत्याग्रह का ऐलान करने वाले भी गायब रहे। कुछ लोग असफल होकर भी क्षेप मिटाने के लिए "ये हो गया, वो हो गया अब हम आगे यह करेंगे, वो करेंगे" आदि नारों से समाज को भ्रमित या आश्वस्त करते रहे। तब अभिनन्दनग्रंथ आदि प्रच्छन्न रूप मे हमारी जिनवाणी के स्थान पर विराजमान होकर भविष्य में अभिनन्दन नायकों को शलाका पुरुषों में शामिल कराएँ तो आश्चर्य नहीं। भले ही शलाका पुरुषों में अभिनन्दित व्यक्ति के नाम का अभाव ही क्यों न हो? सूर्यकीर्ति का नाम भी तो तीर्थंकरों की सूची में नहीं ही था। अतः हमे कहने में तनिक भी संकोच नही कि सभी असत साहित्य की भांति अभिनंदन ग्रंथ आदि को भी मंदिरों—शास्त्र भंडारों से बाहर निकाला जाना चाहिए। लोग बुरा न मानें और सोचें कि वे खरी बात कहने वालों का विरोध कब तक करते रहेंगे—उनके मुंह पर ताला कब तक लगाते रहेंगे? क्या वे चाहते हैं कि सच्चाई का गला घोट दिया जाय! या उन्हें भय है कि सचाई का गला ना घोटने पर उनका व्यापार ठप्प हो जायगा? जरा-सोचिए!

—सम्पादक

(पृ० २४ का शेषांश)

देवता का स्मरण कर ज्यों उसके गले पर तलवार का प्रहार किया। परन्तु वह तलवार कुबेरप्रिय के कण्ठ का स्पर्श करते ही उसके कण्ठ में सुन्दर हार रूप में परिणत हो गई। तब चांडाल "जय जय" शब्द करता हुआ अलग जा खड़ा हुआ। यह देख चपलगति को और भी ईर्ष्या हुई, इसलिए उसने सेवको सहित और भी अनेक शस्त्रों का वार किया। परन्तु वे समस्त शस्त्र कोई फल रूप और कोई पुष्परूप हो गए। देवों ने पंचाश्चर्य किये। यह खबर राजा को भी हुई। इसलिए उसने आकर चपलगति का काला मुंह कर गधे पर चढ़ाकर देश से निकलवा दिया और कुबेरप्रिय से क्षमा मांगी।

कुबेरप्रिय ने क्षमा करके कहा—मैं तो दिगम्बरीय दीक्षा धारण करूंगा। राजा ने कहा—मैं भी धारण करूंगा। तब वसुपाल को राज्य श्रीपाल को यौवराज्य पद और कुबेरप्रिय के पुत्र कुबेरकान्त को श्रेष्ठी पद देकर उन्होंने अनेक जनों के साथ जिनदीक्षा ग्रहण की। सत्यवती आदिक अनेक रानियों ने भी आर्यिका के व्रत धारण किए। उस चांडाल ने प्रतिज्ञा की कि मैं भी पर्व के दिनों में अहिंसाव्रत और उपवास करूंगा। यह वही चांडाल है, जिसने लाक्षागृह मे (लाख के घर में) विद्युद्वेग के लिए धर्मोपदेश दिया था। कुबेरप्रिय और गुणपाल मुनि ने घोर तप करके कैलाश पर केवलज्ञान प्राप्त किया और कुछ काल बाद वहीं से मोक्ष को गए। इस तरह कुबेरप्रिय बहुत परिग्रही होने पर भी देवों के द्वारा पूजित हुआ। शील के प्रभाव से क्या नहीं हो सकता? अर्थात् सब कुछ हो सकता है। □□

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

सम्पादक परामर्श मण्डल — डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक — श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक — बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३८ : कि० ३-४ (युग्मांक) जुलाई-दिसम्बर १९८५

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

सम्पादक परामर्श मण्डल --डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक · बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३ से मुद्रित ।

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ३८ : कि० ३-४ (युग्मांक) जुलाई-दिसम्बर १९८५

इस अंक में—

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

पूज्य आचार्य सूर्य सागर महाराज के उद्गार

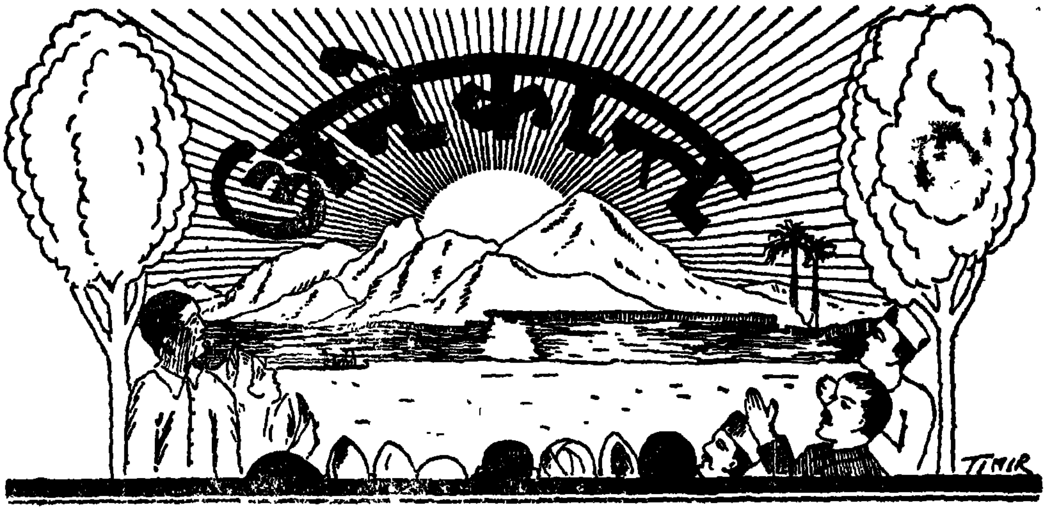
[माघ शु० ११ वि० सं० २००७]

आज त्यागी छोटी-मोटी प्रतिज्ञा लेकर घर छोड़ देते हैं और अपने आपको एकदम पराश्रित कर देते हैं। इस क्रिया से त्यागियों की प्रतिष्ठा समाज में कम होती जा रही है। समन्तभद्र स्वामी ने परिग्रहत्याग का जो क्रम रक्खा है उसी क्रम से यदि परिग्रह का त्याग हो तो त्यागी पुरुष को कभी व्यग्रता का अनुभव न करना पड़े। सातवीं प्रतिमा तक न्याय पूर्ण व्यापार करने की आगम में छूट है फिर क्यों पहली दूसरी प्रतिमाधारी त्यागी व्यापारादि छोड़ भोजन वस्त्रादि के लिए परमुखापेक्षी बन जाते है। यद्यपि आशाधर जी ने गृहविरत श्रावक का भी वर्णन किया है पर वह अपने पास इतना परिग्रह रखता है जितने में उसका निर्वाह हो सकता है। यथार्थ में पर-गृह भोजन १०वी ग्यारहवी प्रतिमा से शुरू होता है। उसके पहले जो व्रती पर-गृह भोजन सापेक्ष होते हैं उन्हें संक्लेश का अनुभव करना पड़ता है। पास का पैसा छोड़ दिया और यातायात की इच्छा घटी नही ऐसी स्थिति में कितने ही त्यागी लोग तीर्थ यात्रादि के बहाने गृहस्थों से पैसे की याचना करते हैं। यह मार्ग अच्छा नही है। यदि याचना ही करनी थी तो त्याग का आडम्बर ही क्यों किया ? त्याग का आडम्बर करने के बाद भी यदि अन्तःकरण में नही आया तो यह आत्मवञ्चना कहलायेगी।

त्यागी को किसी संस्थान-वाद में नहीं पड़ना चाहिए। यह कार्य गृहस्थों का है। त्यागी को इस दल-दल से दूर रहना चाहिए। घर छोड़ा, व्यापार छोड़ा, बाल-बच्चे छोड़े, इस भावना से कि हमारा कर्तृत्व का अहंभाव दूर हो और समता भाव से आत्मकल्याण करें, पर त्यागी होने पर भी वहब ना रहा तो क्या किया ? इस संस्थावाद के दल-दल में फंसाने वाला तत्त्व लोकैषणा की चाह है। जिसके हृदय में यह विद्यमान रहती है वह संस्थाओं के कार्य दिखा कर लोक में अपनी ख्याति बढ़ाना चाहता है पर इस थोथी लोकैषणा से क्या होने जाने वाला है ? जब तक लोगो का स्वार्थ किसी से सिद्ध होता है तब तक वे उसके गीत गाते है और जब स्वार्थ मे कमी पड़ जाती है तो फिर टके को भी नहीं पूछते। इसलिए आत्मपरिणामों पर दृष्टि रखते हुए जितना उपदेश बन सके उतना त्यागी दे, अधिक की व्यग्रता न करे। त्यागी को ज्ञान का अभ्यास अच्छा करना चाहिए। आज कितने ही त्यागी ऐसे हैं जो सम्यग्दर्शन का लक्षण नही जानते, आठ मूल गुणो के नाम नही गिना पाते। ऐसे त्यागी अपने जीवन का समय किस प्रकार यापन करते हैं वे जानें। मेरी तो प्रेरणा है कि त्यागी को क्रम पूर्वक अध्ययन करने का अभ्यास करना चाहिए। समाज मे त्यागियों की कमी नही परन्तु जिन्हें आगम का अभ्यास है ऐसे त्यागी कितने है ? आगमज्ञान के बिना लोक मे प्रतिष्ठा नही और प्रतिष्ठा की चाह घटी नही इसलिए उट-पटांग क्रियाएं बनाकर भोली-भाली जनता में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखना चाहते हैं पर इसे धर्म का रूप कैसे कहा जा सकता है ? ज्ञान का अभ्यास जिसे है वह सदा अपने परिणामों को तौल कर ही व्रत धारण करता है। परिणामों की गति को समझे बिना ज्ञानी मानव कभी प्रवृत्ति नहीं करता अतः मुनि हो चाहे श्रावक, सबको अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास की दृष्टि से यदि दस बीस त्यागी एकत्र रह कर किसी विद्वान से अध्ययन करना चाहते है तो गृहस्थ लोग उसकी व्यवस्था कर दे सकते हैं।

आज का व्रती वर्ग चाहे मुनि हो, चाहे श्रावक, स्वच्छन्द होकर विचरना चाहता है यह उचित नहीं है। मुनियो में तो उस मुनि के लिए एकल विहारी होने की आज्ञा है जो गुरु के सान्निध्य में रहकर अपने आचार-विचार में पूर्ण दक्ष हो तथा धर्म-प्रचार की भावना से गुरु जिसे एकाकी विहार करने की आज्ञा दे दें। आज यह देखा जाता है कि जिस गुरु से दीक्षा लेते हैं उसी गुरु की आज्ञा पालन मे अपने को असमर्थ देख नवदीक्षित मुनि स्वयं एकाकी विहार करने लगते हैं। गुरु के साथ अथवा अन्य साथियो के साथ विहार करने में इस बात की लज्जा या भय का अस्तित्व रहता था कि यदि हमारी प्रवृत्ति आगम के विरुद्ध होगी तो लोग हमें बुरा कहेंगे, गुरु प्रायश्चित्त देंगे। पर एकल विहारी

ओम् अर्हम्



परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३८ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५११, वि० सं० २०४२ | जुलाई-सितम्बर १९८५

भव-दुख वेगि हरो

प्रभु जी तुम आतम ध्येय करो ॥
सब जग जाल तने विकलप तजि, निज सुख सहज वरो ॥ प्रभुजी···

हम तुम एक द्रव्य दृष्टि से, पर यह भेद परो ॥
भेद ज्ञान बल तुम निज साधो, हम विवेक विसरो ॥ प्रभुजी...

तुम निज राच लगे चेतन में, पर से नेह टरो ।
हम सम्बन्ध कियो तन धन से, भव वन विपति भरो ॥ प्रभुजी...

तुम री आतम सिद्ध भई प्रभु, हम भव बन्ध धरो ।
या ते भई अधोगति हमरी, भव दुख अगनि जरो ॥ प्रभुजी...

देखि तिहारी शांति छवि को, हम यह जान परो ।
हम हूं तुम सम होय सकत हैं, अब यह जान परो ॥ प्रभुजी...

तुम निमित्त मम शक्ति प्रगट हो, निज अनुभवन सरो ।
मेरे तो बस देव तुम्हो हो, तुम सम और न कोई ॥ प्रभुजी...

दर्शन मोह हरी हमरी मति, तुम लख सहज टरो ।
"चम्पा" शरण लई अब तुमरी, भव दुख वेगि हरो ॥ प्रभुजी...

जाति और धर्म

☐ डा० ज्योति प्रसाद जैन

अखिल भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में जिनधर्म अपनी उदाराशयता एवं बिना किसी भेदभाव के प्राणीमात्र के हित-सुख की व्यापक दृष्टि के कारण महत्वपूर्ण विलक्षण स्थान रखता आया है। 'धर्म' शब्द की एक व्याख्या के अनुसार वह ऐसा कर्तव्य है जो मनुष्यमात्र के ही नहीं, प्राणीमात्र के ऐहिलौकिक तथा पारलौकिक, उभयजीवन को नियंत्रित एवं अनुशासित करके सबको सुपथ पर ले चलने में सहायक होता है। और, जैनधर्म या जिनधर्म तो वस्तुतः आत्मधर्म है, एक ऐसा व्यक्तिवादी धर्म है जो बिना किसी भेदभाव के समस्त प्राणियों के ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नयन और सुख-सुविधा का विचार करता हैं। इसके विपरीत, सामाजिक या लौकिक धर्म केवल मनुष्यों के ही इहलौकिक हितसाधन तक सीमित होता है, और बहुधा विविध अनगिनत अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों पर अवलम्बित रहता है। आत्मधर्म से भिन्न यह लौकिक धर्म मूलतः प्रवृत्ति प्रधान ब्राह्म-वैदिक परम्परा की देन है, जिसमें शनैः शनैः वर्णाश्रमधर्म का रूप ले लिया। उस परम्परा में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र आदि वर्णभेद मूलतः गुण कर्मानुसारी ही थे, किन्तु समय के साथ उनके जन्मतः होने की मान्यता रूढ़ होती गई। जैन गृहस्थो के सामाजिक या लौकिक धर्म पर कालान्तर में उक्त ब्राह्मणीय वर्णव्यवस्था तथा उससे उद्भूत जातिव्यवस्था का प्रभाव पड़ा, और धीरे-धीरे उन्होंने भी उसे अपना लिया। किन्तु मूल जिनधर्म की प्रकृति एव स्वरूप के साथ उसकी कोई सगति नही है। कुन्दकुन्द, गुणधर, धरसेन, भूतबलि, वट्टकेरि, शिवार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, जटासिंहनंदि, रविषेण, हरिवंशकार जिनसेन, अकलंक, गुणभद्र अमितगति, प्रभाचन्द, शुभचन्द्र, प्रभृति अनेक प्राचीन प्रामाणिक आचार्यपुंगवों ने जन्मतः जातिप्रथा का निषेध ही किया है और गुणभद की ही स्थापना की है। इस विषय में दिगम्बर-श्वेताम्बर समग्र जैन संस्कृति का सुस्पष्ट उद्घोष रहा है कि—

> कम्मणा होइ बम्हणा, खत्तियो हवइ कम्मणा।
> कम्मणा होइ वैस्सो, सुद्दोवि हवइ कम्मणा॥

वास्तव में, प्रचलित जातिप्रथा कभी और कैसी भी रही हो, तथा किन्हीं परिस्थितियों या परिवेश में उपादेय अथवा शायद क्वचित आवश्यक भी रही हो, किंतु कालदोष एव निहित स्वार्थों के कारण उसमें जो कुशील या कुरीतियां, विकृतियां, विसंगतियां एवं अन्धविश्वास घर कर गये है, और परिणाम स्वरूप देश मे, राष्ट्र मे, समाज में एक ही धर्म सम्प्रदाय के अनुयायियो मे जो टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं, पारस्परिक फूट, वैमनस्य एव भेदभाव खुलकर सामने आ रहे हैं, वे व्यक्ति या समूह, सम्प्रदाय या समाज, देश या राष्ट्र किसी के लिए भी हितकर नही है, और प्रगति के सबसे बड़े अवरोधक हैं। धर्म की आड़ लेकर या कतिपय धर्मशास्त्रों, साधुसेवा, पंडितों आदि की साक्षी देकर जो उक्त विघटनकारी धारणाओं का पोषण किया जाता है, और उनके विरोध मे आवाज उठाने वाले का मुह बन्द करने की चेष्टा की जाती है, उससे यह आवश्यक हो जाता है कि धर्म के धर्म को धर्म की मूलाम्नाय के प्रामाणिक मौलिक शास्त्रो से जाना और समझा जाय।

धर्म-तत्त्व मानव इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि रही है। सभी देशों और कालो मे जन-जन के मानस को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला यही धर्म-तत्व रहा है। साथ ही, प्रायः सभी धर्म-प्रवर्तको ने, उन्होंने भी जिन्होने मनुष्येतर अन्य प्राणियो की उपेक्षा की, मनुष्यों को ऊच-नीच आदि के पारस्परिक भेदभावों से ऊपर उठने का भी उपदेश दिया। यहूदी, ईसाई, मुसलमान यहां तक कि बौद्ध, कबीरपंथी, सिख आदि कई भारतीय धर्म भी,

मनुष्यमात्र की समानता का (इगेलिटेरियनिज्म) दावा करते हैं। श्रमण परंपरा के निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों द्वारा आचरित एवं उपदेशित जिनधर्म का तो मूलाधार ही समत्व-भाव है। यदि कोई अपवाद है तो वह ब्राह्मण-वैदिक परम्परा से उद्भूत, वर्णाश्रम धर्म पर आधारित और जन्मत: जातिवाद को स्वीकार करने वाला तथाकथित हिन्दू धर्म है। यों तो, मूलत: समानतावादी एवं जातिवाद-विरोधी परम्पराओं में भी ऊंच-नीच का वर्गभेदपरक जातिवाद किसी न किसी प्रकार या रूप में घर कर ही गया, किन्तु उनमें उसकी जकड़ और पकड़ इतनी सख्त नहीं है जितनी कि हिन्दू धर्म में है। आज का प्रगतिशील विश्वमानस ऐसे भेदभावों को मानव के कल्याण एवं उन्नयन में बाधक समझता है और उनका विरोध करता है।

जैन समाज में तद्विषयक भ्रान्ति के रूढ़ हो जाने में कतिपय ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा विपरीत मान्यता वाले बहुसख्यक समुदाय के निकट सम्पर्क के अतिरिक्त, दो कारण प्रमुख प्रतीत होते हैं—एक तो यह कि वर्ण-जाति, कुल, गोत्र मे से प्रत्येक शब्द के कई-कई अर्थ हैं। जिनागम में कर्म-सिद्धान्त के अनुसार उनमे से प्रत्येक का जो अर्थ है, वह लोक व्यवहार में प्रचलित अर्थ से भिन्न और विलक्षण है। दोनो को अभिन्न मान लेने से भ्रान्त धारणाएं बन जाती हैं। दूसरे, जो लौकिक, सामाजिक या व्यवहार धर्म है, वह परिस्थितिजन्य हैं, और देशकालानुसार परिवर्तनीय अथवा संशोधनीय है। इस स्थूल तथ्य को भूलकर उसे जिनधर्म, आत्माधर्म, निश्चयधर्म या मोक्ष-मार्ग से, जो कि शास्वत एवं अपरिवर्तनीय है, अभिन्न समझ लिया जाता है। पक्षव्यामोह एवं कदाग्रह से मुक्त होकर भ्रान्ति के जनक इन दोनों कारणों को जिनधर्म की प्रकृति, उसके सिद्धान्त, तत्वज्ञान एवं मौलिक परम्परा के प्रतिपादक प्राचीन प्रामाणिक शास्त्रों के आलोक में भली-भांति समझकर प्रकृत विषय के सम्बन्ध मे निर्णय करने चाहिएं। इसका यह अर्थ नहीं है कि लौकिक, सामाजिक या व्यवहार धर्म को सर्वथा नकार दिया जाय। वैसा करना न सम्भव ही है और न हितकर ही। परन्तु उसमें युगानुसारी तथा क्षेत्रानुसारी आवश्यक एवं समुचित परिवर्तन, संशोधनादि करने में भी संकोच नहीं करना चाहिए। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतएव व्यावहारिक, सामाजिक या लौकिक धर्म की व्यवस्थाएं, संस्थाएं और प्रथाएं रहेंगी ही, उनका रहना अपेक्षित भी है, किन्तु वे ऐसी हों जो सम्यक्त्व को दूषित करने वाली न हों, वरन् उसकी पोषक हों—मोक्षमार्ग मे साधक हों, बाधक न हों।

१८५७ ई. के स्वातन्त्र्य-समर के उपरान्त जब इस महादेश पर विदेशी अंग्रेजी शासन सुव्यवस्थित हो गया तो प्राय: सम्पूर्ण देश में नवजागृति एवं अभ्युत्थान की एक अभूतपूर्व लहर शनै: शनै: व्याप्त होने लगी, जिससे जैन समाज भी अप्रभावित न रह सका। फलस्वरूप लगभग १८७५ से १९२५ ई० के पचास वर्षों में धर्मप्रचार एव शिक्षाप्रचार के साथ-साथ समाजसुधार के भी अनेक आन्दोलन और अभियान चले। धर्मशास्त्रों का मुद्रण-प्रकाशन, धार्मिक व लौकिक शिक्षालयों तथा परीक्षा बोर्डों की स्थापना, स्त्री जाति का उद्धार, कुरीतियों के निवारण का उद्घोष, कई अखिल भारतीय सुधारवादी सगठनो का उदय, धार्मिक-सामाजिक, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आदि उन्हीं आन्दोलनों के परिणाम थे। जाति-प्रथा की कुरीतियो एवं हानियों पर तथाकथित बाबू पार्टी अर्थात् आधुनिक शिक्षा प्राप्त सुधारक वर्ग ने ही नही, तथाकथित पडितदल के गुरू गोपालदास बरैया जैसे महारथियों ने भी आवाज उठाई। बा० सूरजभान वकील, पं० नाथूराम प्रेमी, ब्र० शीतल प्रसाद, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार प्रभृति अनेक शास्त्रज्ञ सुधारकों ने उस अभियान में प्रभूत योग दिया। अनेक पुस्तकें एव लेखादि लिखे गये। मुख्तार सा० की पुस्तकें जिनपूजाधिकार-मीमांसा, शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण, जैनधर्म सर्वोदय तीर्थ हैं, ग्रन्थ-परीक्षाएं आदि, पं० दरबारी लाल सत्यभक्त की विजातीय-विवाह-मीमांसा, बा० जयभगवान की वीर-शासन की उदारता, पं० परमेष्ठीदास की जैनधर्म की उदारता, प० फूलचन्द्र शास्त्री की जाति-वर्ण और धर्म-मीमांसा जैसी अनेक पुस्तकें तथा विभिन्न लेखकों के सैकड़ों लेख प्रकाशित हुए और सुधारवादी नेताओं के जोशीले मंचीय भाषणों ने समाज को भरपूर झकझोरा। फलस्वरूप समाज में विचार परिवर्तन भी होने लगा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति (१९४७ ई०) के उपरान्त आधुनिक युग की नई परिस्थितियों मे उसमे और अधिक वेग आया। प्रतिक्रियावादियों के भरपूर प्रयत्नों के बावजूद आज का जनमानस सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक शिथिलाचार के प्रति सजग हो गया है, और व्यवहार में जाति-पाँति के पुराने बंधन बहुत ढीले पड़ते जाते हैं। वस्तुत. आज तो विश्वमानस अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, प्रादेशिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक प्राय सभी स्तरों पर जातिवाद के भेदपरक एवं पृथकतावादी दूषणों का विरोधी हो उठा है। यह समय की मांग है।

वस्तुतः, धर्म तो मनुष्यो के जोड़ने के लिए है, तोड़ने के लिए नही, जबकि प्रचलित जाति-उपजातिवाद एक ही धर्म के अनुयायियों में और एक ही राष्ट्र के नागरिको मे परस्पर फूट डालकर विघटन का पोषण करता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार तो सभी मनुष्यो की एक ही जाति अर्थात् जाति नाम-कर्म के उदय से होने वाली मनुष्य-जाति है। प्रचलित जाति-उपजातियां परिस्थितिजन्य हैं, मनुष्यकृत हैं; कृत्रिम और काल्पनिक हैं—वे प्राकृतिक या शाश्वत नही हैं। अनेक प्राचीन जातियां समय के गर्भ में विलीन हो गयी या अन्य जातियों में अन्तर्युक्त हो गईं, और अनेक नवीन जातियां-उपजातियाँ उत्पन्न होती रही है। अतएव धार्मिक दृष्टि से, धार्मिक समाज के संगठन की दृष्टि से, व्यक्ति और समष्टि के हित में, कम से कम समस्त साधर्मी जन तो उक्त भेदभावों से ऊपर उठकर अपने संगठन को अखण्ड एव सौहार्द्रपूर्ण बनाये रक्खें, यह आवश्यक है। तीर्थंकर नामा सर्वातिशय पुण्यप्रकृति के आस्रव एव बन्ध की कारण सोलह-भावनाओं में परिगणित साधर्मी-वात्सल्य भावना का महत्त्व इसी दृष्टि से आंकना उचित होगा।

ज्योति निकुंज, चार बाग, लखनऊ

एक दिन तुमसे मिलूंगी

□ डा० सविता जैन

सम्यक्त्व की राहों पर चलकर,
एक दिन तुमसे मिलूंगी ॥
यद्यपि तुमको जानती हूं,
पर नहीं पहचानती हूं।
चीन्ह ही लूंगी तुम्हें मैं
वीतरागी लौ जला कर।
सम्यक्त्व की राहों पर चलकर,
एक दिन तुमसे मिलूंगी ॥

रास्ता यद्यपि कठिन है,
लोभ की आँधी प्रबल है।
छा रहे घन मोह-तम के,
क्रोध की बिजली चमकती।
मोह की गहरी है दलदल,
काम के निशिचर हैं प्रहरी।
निर्जरा का पुल बना कर,
पार इन सब को करूंगी ॥ सम्यक्त्व…

इन्द्रियां भटका रही हैं, अहं का मद पिला रही हैं।
पर नहीं होने मैं दूंगी, इनका यह षड्यन्त्र हावी।
पंच मदों को जलाकर, भस्म मैं उनकी पीयूंगी ॥
सम्यक्त्व…

७/३५ दरियागंज, नई दिल्ली-२

१६३ बनाम १३६

□ लेखक—बाबूलाल जैन, कलकत्ता वाले

वस्तु तत्व को समझने मे वस्तु का सामान्य स्वरूप समझना जरूरी है। वस्तु का विशेष स्वरूप सबके पकड़ में आ रहा है और अपने को उसी रूप समझ कर सामान्य स्वरूप के ज्ञान बिना अज्ञानी हो रहे हैं। पर्यायमात्र रूप ही अपने को मान रहे है, द्रव्य सामान्य का ज्ञान नही है। जो पर्याय में एकत्वपने को प्राप्त है ऐमे लोगों को द्रव्य सामान्य का ज्ञान करने की प्रेरणा की गई है, जिससे पर्याय को पर्याय तो माने परन्तु पर्याय में एकत्वपना मिट जावे। पर्याय मे एकत्वपना मानकर अपने को मनुष्य, देव नारकी, तिर्यंच, सुखी-दुखी, रागी-द्वेषी, धनिक गरीब मानता है। अगर द्रव्य स्वभाव का ज्ञान हो जाता है तो उसे पर्याय सम्बन्धि सुख दुःख नहीं हों। जैसे कोई आदमी नाटक मे पार्ट (स्वांग) करता है वह अपनी असलियत को भूल जाता है तो पार्ट (स्वांग) में असलियत आ जाती है एवं स्वाग मे अपनापन आता है जिससे स्वांग सम्बन्धि सुख दुःख का भोक्ता हो जाता है। यही अवस्था यहां पर अज्ञानी की है वह अपने असली स्वभाव को भूल कर स्वांग मे ही अपनापना, असलियत मान रखा है ऐसे व्यक्ति को स्वभाव का ज्ञान कैसे हो और स्वभाव का ज्ञान हुए बिना उस पर्याय (स्वांग) सम्बन्धि दु.ख-सुख नही मिट सकता। एक स्वांग से दूसरा स्वांग बदली तो हो जाता है परन्तु स्वांग मे असलियत नहीं मिटती है और असलियत मिटे बिना उस सम्बन्धी सुख-दुःख नही मिटता। बिना स्वभाव का ज्ञान हुए पर्याय में असलियत मिट नही सकती। यह तो युक्तियुक्त ही है कि अगर कोई व्यक्ति अपने को भूलकर स्वांग को ही अपना होना मान लेता है तो वह स्वांग सम्बन्धि सुखी दुखी हो जाता है। अगर फिर उसको अपने स्वभाव का ज्ञान हो जाता है तो स्वांग सम्बन्धित सुख दुख नही रहता। यह हाल इस व्यक्ति का है। कर्म जनित स्वांग में अपनापना मानकर सुखी दुखी हो रहा है, उसको स्वभाव का ज्ञान कराना जरूरी है, इसके बिना उसका सुखी दुखी होना नही मिट सकता। इसने दुःखरूप पर्याय (स्वांग) को बदली करके सुखरूप पर्याय (स्वांग) को पाने की चेष्टा तो करी परन्तु अपने को पहचानने की चेष्टा नहीं करी। अपने को पहचान लेता तो फिर कैसी भी पर्याय मिले कोई दिक्कत नहीं रहती। अपने को पहचान लेना ही असली सही उपाय है।

अब सवाल यह पैदा होता है कि अपने को कैसे पहचाने। इस बारे में इस प्रकार विचार किया जा सकता है कि हरेक वस्तु में दो धर्म हैं एक सामान्य रूप और एक विशेषरूप। दोनों एक साथ एक समय में हैं। हम विशेष को गौण करके सामान्य को भी देख सकते हैं और सामान्य को गौण करके विशेष को भी देख सकते हैं परन्तु किसी एक का निषेध करने पर एकांत हो जाता हैं। जैसे कोई लड़का लड़की का पार्ट कर रहा है। वह अपने को लड़की रूप भी देख सकता है और लड़के रूप में भी देख सकता है क्योकि वह दोनों पनो को जानता है। वहां भी लडका रूप अनुभव करना आसान है, लड़की रूप अनुभव करना मुश्किल है। लड़की रूप तो अनुभव तभी कर सकता है जब वह भूल जाता है कि मैं लड़का हूं। इसी प्रकार सोने का जेवर है उसको जेवर रूप भी देख सकते है और सोने रूप में भी देख सकते हैं। सोने रूप देखने में जेवरपना उसी में गर्भित हो जाता है। कपड़ा खरीदने जाते हैं तब उसको पोत रूप भी देख सकते हैं। उसको धोती, ब्लाउज और डिजाइन रूप भी देख सकते हैं। कई व्यक्ति बैठे है, उसमें कुछ स्त्रियां हैं, कुछ पुरुष हैं, कुछ बच्चे हैं परन्तु एक दृष्टि डाले कि व्यक्ति कितने हैं वहां स्त्री, पुरुष, बच्चे के भेद मिट जाते हैं मात्र व्यक्ति कितने हैं उतने ही दिखाई देते हैं परन्तु जब भेद करे कि

स्त्रियां कितनी हैं, पुरुष कितने हैं और बच्चे कितने हैं तो सब अलग अलग दिखाई देते हैं। पहली सामान्य दृष्टि है जिसमे सारे विशेष गर्भित हैं दूसरी विशेष दृष्टि है। इसी प्रकार निगोद से लेकर सिद्ध पर्यन्त एक दृष्टि डाले तो सभी चैतन्य दिखाई देते हैं वहाँ संसारी मुक्त का भी अंतर नही है। त्रस स्थावर का भी भेद नहीं है। मात्र सभी चैतन्यरूप दिखाई देते है यह सामान्य दृष्टि है, इस दृष्टि मे सारे भेद गौण हो गए और दूसरी दृष्टि से देखे तो सब अलग-अलग हैं। सिद्ध और संसारी मे बड़ा अन्तर है त्रस स्थावर मे बडा अन्तर है, मनुष्य पशु में बडा अन्तर है। पहली दृष्टि मे सभी समान हैं वहा राग-द्वेष करने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। कोई छोटा बड़ा नही, किसी की किसी के साथ कोई तुलना नही है। इसी प्रकार इस ढग से सोचा जा सकता है कि जब यह मनुष्य, नारकी, देव, तिर्यंचपने को प्राप्त होता है वैसा शरीर मिलता है तब यह चैतन्य है कि नही, जब पशु है तब भी चैतन्य है जब गरीब है तब भी चैतन्य है, जब धनिक है तब भी चैतन्य है, जब निरोगी है तब भी चैतन्य है, जब रोगी है तब भी चैतन्य है और जब रागी है तब भी चैतन्य है, और जब द्वेषी है तब भी चैतन्य है। कहना यह है कि अनेक अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए भी यह चैतन्यपने को नही छोड़ रहा है। तब उन अवस्थारूप तो हम अपने को देख सकते है, देखते है परन्तु अपने को चैतन्य रूप क्यों नही देख सकते। जिस रूप में हम हर हालत मे है, हर समय है, मरते हैं तब भी चैतन्य है जीते है तब भी चैतन्य है। अवस्था बदलती है, पर्याय बदलती है शरीर बदलता है परन्तु चैतन्य हमेशा हमेशा वैसा ही है वह अन्य रूप नही हो सकता। अगर एक बार अपने को जैसा पर्याय मे अपने को अपने रूप देखता है वैसा ही अपने को चैतन्यरूप देख लेता तो पर्याय तो रहती, शरीर तो रहता परन्तु उसमें असलियत खत्म हो जाती और उस पर्याय सम्बन्धी दुःख सुख नही रहता। जैसे नाटक में पार्ट करने वाला अपने को भूलकर अपने को पार्ट रूप मान लिया वह अगर अपने को जान ले तो पार्ट तो रहे पर पार्ट में अपनापना न रहे और फिर उस पार्ट को करते हुए उस पार्ट से सम्बन्धित सुख दुःख न हो। इसलिए आचार्य कहते हैं एक बार तू अपने को चैतन्य रूप अनुभव कर ले, तू वैसा त्रिकाल है, अपने स्वभाव को कभी छोड़ा नहीं है। मात्र भीतर झांकने भर की देरी है, तू ज्ञान का अखण्ड पिण्ड आनन्द की गोदाम है।

युक्ति कहती है कि जब यह अपने को शरीर रूप देख सकता है अनुभव कर सकता है तो अपने को चैतन्य रूप, ज्ञान रूप क्यो नही देख सकता जैसा वह त्रिकाल है। जब तक अपने को इस रूप में नहीं देखेगा इसका पर मे अपनापना मानना, शरीर के साथ एकत्वपना नहीं मिट सकता तब तक इसके ससार मिटने का कोई उपाय नही है।

इसी बात को समझने के लिए इस प्रकार भी रखा जा सकता है। १६३ की संख्या लेते हैं १ का अंक आत्मा का चैतन्य स्वभाव है ज्ञान का अखण्ड पिण्ड है। ६ का अंक क्षयोपशम भाव है यानी ज्ञान की मति, श्रुत ज्ञानरूप पर्याय है अथवा हमारी जानने की वर्तमान शक्ति है ३ की संख्या औदायिक भाव है जो कर्म के उदय से हो रहें हैं। इस प्रकार यह क्षयोपसमभाव रूप मैं अपने चैतन्य स्वभाव रूप १ को भूलकर कर्म के उदय से होने वाले ३ सख्या के वाचक औदायिक भावों के सम्मुख हो रहा हूं। उन्हीं औदायिक भावों को ही अपना मान रहा हू उसी रूप मै अपने को अनुभव कर रहा हूं उनके साथ एक हो रहा हूं यही ससार अवस्था १६३ की संख्या से बताई जा रही है कि १ की संख्या जो चैतन्य स्वभाव है उसको पीठ देकर यह औदायिक भावों को अपने रूप देख रहा है। शास्त्र का अध्ययन भी करता है पूजा-पाठ भी करता है, व्रतादि भी धारण करता है परन्तु ६ का अंक पलट कर १ के सम्मुख नहीं होता। जब तक ६ का अंक पलट कर १ के सम्मुख नही होगा ३ के अंक से पिट्ठ नही देता है तब तक सब कुछ करते हुए भी सम्यक दर्शन नहीं होगा। द्रव्यलिंगी मुनि ने औदायिक भावों को तो बदली किया परन्तु उसमे अपनापन नहीं छोड़ा और १ के अंक में अपनापना नहीं आया। इसी प्रकार ग्यारह अंग पढ़ कर सब कुछ पढ़ लिया परन्तु ६ का अंक १ के सम्मुख नही हुआ इसलिए सम्यक दर्शन नहीं हुआ। बार

अपभ्रंश-साहित्य की एक अप्रकाशित कृति : पुण्णासवकहा

□ राजाराम जैन

अपभ्रंश-साहित्य का भाषा-शास्त्र एवं काव्यरूपों की दृष्टि से जितना महत्व है उससे कहीं अधिक उसका महत्व आख्यान साहित्य की दृष्टि से है। अपभ्रंश के प्रायः समस्त कवि, आचार्य एवं दार्शनिक तथ्यों तथा लोक जीवन की अभिव्यञ्जना कथाओं के परिवेश द्वारा ही करते रहे है। इस प्रकार के आख्यानों के माध्यम से अपभ्रंश-साहित्य में मानव-जीवन एवं जगत् की विविध मूक भावनाएँ एवं अनुभूतियां मुखरित हुई हैं। इसमें यदि एक ओर नैतिक एवं धार्मिक आदर्शों की गंगा-जमुनी प्रवाहित हुई हैं तो दूसरी ओर लोक-जीवन से प्रादुर्भूत ऐहिक रस के मदमाते रससिक्त निर्झर भी फूट पड़े है। एक ओर वह पुराण-पुरुषों के महामहिम चरित्रों से समृद्ध है तो दूसरी ओर वणिक्पुत्रों अथवा सामान्य वर्ग के सुखों-दुःखों अथवा रोमांसपूर्ण कथाओं से परिव्याप्त हैं। श्रद्धा समन्वित भावभीनी स्तुतियों, सरस एवं धार्मिक सूक्तियों तथा ऐश्वर्य-वैभव एवं भोग-विलास जन्य वातावरण, वन-विहार, सगीत-गोष्ठिया, आखेट एवं जल-क्रीडाएँ आदि सम्बन्धी विविध चित्र-विचित्र चित्रणों से अपभ्रंश साहित्य की विशाल चित्रशाला अलंकृत है। नारी-जीवन में क्रान्ति की सर्वप्रथम समर्थ चिनगारी अपभ्रंश-साहित्य में दिखलाई पड़ती है। महासती सीता, रानी रेवती, महासती अनन्तमति, महारानी प्रभृति नारी पात्रों ने इस दृष्टि से अपभ्रंश के आख्यान साहित्य में एक नवीन जीवन ही प्राप्त किया है। महाकवि रइधू की 'पुण्णासव कहा' नामक रचना भी अपभ्रंश के आख्यान-साहित्य की दृष्टि से उपादेय है।

अपभ्रंश कथाओं का वर्गीकरण एवं उनमें 'पुण्णासव कहा' का स्थान—

जैन वाङ्मय में प्रायः पाँच प्रकार की कथाएँ निबद्ध है। **प्रथम** कथाओं का वह प्रकार है, जिनके नायक त्रिषष्टि शलाका पुरुषों में से कोई एक पुण्यशलाका पुरुष होता है। इस श्रेणी की कथाओ को पौराणिक कथाएँ कहा जाता है। इसका प्रधान लक्ष्य संसार के सुख-दुख, पाप-पुण्य एवं जन्म-जन्मान्तर के फलो का निरूपण कर नायक को मोक्ष की ओर ले जाता है।

द्वितीय—प्रकार की कथाए हैं, जिनमें नायक एक नही, बल्कि अनेक रहते हैं। यद्यपि कथा एक नायक की ओर ही गतिशील होती है, पर फलोपलब्धि अनेक नायको को होती है। इस श्रेणी की कथाओं को भी पुराण या महापुराण की कोटि में स्थान दिया जा सकता है। अन्तर इतना ही है कि प्रथम प्रकार की कथाएं अधिक विस्तृत नही होती और उनमें सरस एवं काव्यात्मक वर्णनों की

(पृ० ६ का शेषांश)

बार समझाने पर अगर ६ का अंक १ के सम्मुख हो जावे तो औदायिक भाव रूप ३ का अंक भी मुह फेर ले तब १६३ से १३६ का अंक हो जाता है यह सम्यक दृष्टि की दशा है। वह स्वभाव के सम्मुख और औदायिक भावो की तरफ पीठ फेरे हुए है। अब कभी औदायिक भावो की तरफ जाना भी है तो उनको पर रूप ही देखता है उनमें अपनापना नही मानता। अब १३६ के अंक मे जितना जितना ३ का अंक एक में ठहरता जाता है उतना ही ६ के अंक रूप औदायिक भाव मिटते जाते है जैसे जैसे औदायिक भाव मिटते जाते है वैसे वैसे श्रावक और मुनि की अवस्था होती जाती है। इस प्रकार ६ का अंक घट कर ५, ४, ३, २, १, ० होकर शून्य हो जाता है। ३ का अंक एक में लीन हो जाता है और मात्र एक का अंक याने एक अकेला चैतन्य रह जाता है। इस प्रकार १६३ की संख्या ससार है और १३६ की सख्या में मोक्षमार्ग है जो एक का ज्ञान बिना नही होता।

□□

प्रचुरता भी रहती है, जबकि उक्त द्वितीय श्रेणी की कथाओं में कथा का बाहुल्य रहने के कारण कथारस ही प्रधान होता है, काव्य चमत्कार नहीं।

तृतीय—श्रेणी में वे लघु-कथाएँ हैं, जो लोक-जीवन से ग्रहण की गई हैं तथा जिन्हें धार्मिक साँचे में ढालकर धार्मिक कथा का रूप दे दिया गया है। इस श्रेणी की कथाओं का पूर्वार्द्ध लोक कथा के रूप में गठित रहता है तथा लोक कथा के समस्त तत्व भी साथ-साथ वर्णित होते जाते हैं।

चतुर्थ—श्रेणी में वे आख्यान हैं, जिनमे ऐतिहासिक तथ्यों के साथ-साथ कुछ कल्पनाओ का समावेश हो जाता है। ऐसे आख्यानो को अर्ध ऐतिहासिक आख्यानों की कोटि में गिना जाता है।

पञ्चम—कोटि की वे कथाएँ हैं, जिनका प्रमुख उद्देश्य पुण्य की उत्कृष्टता और पाप की निकृष्टता प्रतिपादित करना है। इन कथाओं में पुण्य-पाप के फल के साथ-साथ पुण्य-पाप से भिन्न धर्म एवं आत्मानुभूति का निरूपण किया जाता है।

प्रस्तुत 'पुण्णासव कहा' उक्त पञ्चम श्रेणी का कथा ग्रन्थ है। महाकवि रइधू ने उक्त पांचों प्रकार की कथाओं का सृजन अपने विपुल साहित्य में किया है। उसके प्रस्तुत 'पुण्णासव कहा' में न तों एक नायक है और न कथागत एक प्रभाव ही। कवि ने सम्यक्त्व, पूजा, अर्चन, व्रतोपवास, पञ्च नवकार आराधन आदि पुण्यकार्यों के फलों को अभिव्यक्त करने के हेतु अनेक पात्रों का चयन किया है। प्रत्येक प्रमुख कथा अपने में स्वतन्त्र है। द्वितीय कथा के साथ उसका कोई तादात्म्य या समवाय सम्बन्ध नहीं है। केवल संयोग सम्बन्ध है। इस ग्रन्थ में महाकवि रइधू की विशेषता यह है कि उसने ग्रंथ पुण्याश्रव कथा कोष में जिन तथ्यों की व्यञ्जना ५०-६० कथाओं के बीच की गई है, उनकी अपेक्षा रइधू ने उन समस्त तथ्यों का समावेश केवल २७ कथाओ में ही कर दिया है। फिर भी न तो उसके प्रवाह में कोई कमी आने पाई है और न आख्यान ही त्रुटित हैं। जिस कथा को कवि ने आरम्भ किया है उसका अन्त उद्देश्य के अनुसार पूर्ण फलोपलब्धि के पश्चात् ही हुआ। धार्मिक तथ्यों और पारिभाषिक शब्दावलियों ने कथा-प्रवाह में कोई कमी या त्रुटि नहीं आने दी है। कवि ने अपने इस ग्रन्थ के सृजन में पूर्ववर्ती प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश—तीनों भाषाओं के आख्यानात्मक साहित्य का अध्ययन कर तथ्यों को ग्रहण किया है। यही कारण है कि चाणक्य-चन्द्रगुप्त जैसे राजनैतिक आख्यान भी इस ग्रंथ मे समाविष्ट हैं।

प्रति परिचय—

उक्त 'पुण्णासव कहा' की एक ही प्रति अभी तक ज्ञात एवं उपलब्ध हो सकी है। इसमें कुल मिलाकर ११२ पत्र हैं। प्रति पृष्ठ की लम्बाई-चौड़ाई १६"×१७" है। प्रत्येक पृष्ट की पक्तियो की संख्या ११ से लेकर १२ तक हैं। मूल-प्रकरणो में गहरी काली स्याही एवं 'घत्ता' शब्द तथा सन्ध्यन्त सूचक-पुष्पिकाओं में लाल स्याही का प्रयोग किया गया है। अगल-बगल में २"×२" एवं ऊपर नीचे १"×१" के हाशिये छोड़े गए हैं। सभी पृष्ठों के बीचों-बीच छोटा-छोटा गोलाकार कुछ स्थान भी छूटा हुआ है। प्रति का प्रारम्भ ॐ ॐ णमो श्री वीतरागाय नम: १—पणविवि सिर वीरं णाणगहीरं। भवजल णिहि परतीरं पयं॥ से होता है एवं अन्त निम्न पद्य से होता है :—

पर्यालोच्य विभूति चंचल तडिद्दामिव दाने रुचि,
र्रच्चायां जगदीश्वरस्य विधिना येन कृताहर्न्निशां।
सूत्रार्थानुगतः प्रभाकर प्रभः सो नन्दतात्पावनः
श्री संघाधिप नेमिदास तनुज: पादार्घवर्णा···॥

उक्त प्रति मे प्रतिलिपि के लेखक का नाम, ग्रन्थ-लेखन के स्थान का नाम एवं प्रतिलिपि के लेखन के काल का उल्लेख नही है। अतः यह निश्चित नही कहा जा सकता कि यह प्रति कितनी प्राचीन है, किन्तु इसकी लिपि को देखने से यह अनुमान होता है कि वह लगभग ४०० वर्ष प्राचीन अवश्य रही है। यह प्रति जीर्ण-शीर्ण हो रही है। क्रम सं० ८२, ७०, ११० एवं १११वें पत्र कुछ अधिक गले हुए है तथा उनमें कुछ शब्द टूट भी गए हैं। ग्रन्थ के तीन पृष्ठ—९७, १०३ एव १०६ दो-दो टुकड़ो को जोड़कर बनाये गए हैं। उनके जोड़ स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। इस प्रति में मोटे एवं पतले दोनों ही प्रकार के कागजों का उपयोग किया गया है। पतले

कागज वाले पृष्ठों की संख्या पांच है। इन पहले पृष्ठों के रंग में भी कुछ अन्तर है। मोटे कागज वाले पत्र कुछ कृष्णरुखी सफेद हैं और पतले वाले पत्र अल्प पीतवर्ण मिश्रित सफेद। किन्तु लिखावट सर्वत्र एक सदृश है।

प्रथम पृष्ठ पर वर्णन विषय के बीचो बीच लाल स्याही से चौकोर सजावट वाला एक चित्र है, जिसके मध्य में लाल स्याही से एक गोलाकार बिन्दु बना है। और उसके चारों ओर खड़ी खड़ी पंक्तियां खींचकर उसे चौकोर खींची हुई सीमा रेखाओं से जोड़ दिया गया है। यह आकृति सूर्य एवं उसकी छिटकती हुई किरणों का आभास प्रदान करती है। इस चतुष्कोण के बाहर भी चारों ओर चार छोटे २ चतुष्कोण प्रमुख चतुष्कोण की सीमाओं से जुड़े हुए हैं। उन सभी के मध्य में एक दूसरों को केन्द्र में काटने वाली दो-दो रेखाएँ भी खिची हैं।

सन्धि, कडवक आदि सभी पर क्रम संख्या दी हुई है। हां, कडवकों के क्रम में कही २ गलत संख्याक्रम दिया हुआ है, किन्तु सन्ध्यन्त उसका हिसाब सही है।

लिपिक ने सभी पत्रों पर प्रारम्भ से अन्त तक लिखा है। कोई भी पत्र खाली नहीं है। पृष्ठों के बायीं एवं दायीं ओर ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं है।

सौन्दर्य की दृष्टि से गलती से लिखे गये वर्णों को लिपिकार ने काटा नहीं है किन्तु उनकी निरर्थकता को सूचित करने हेतु उनके ऊपर छोटी-छोटी दो रेखाएँ अंकित कर दी हैं।

लिपिकार ने कही २ किसी पारिभाषिक जटिल शब्द को भी क्रम संख्या देकर हाशिये में लिख दिया है।

प्रति की विशेषताएँ—

प्रस्तुत कृति की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसके मुख पृष्ठ पर लिपिकार ने संक्षिप्त ग्रन्थ-विषय सूची दे दी है और बताया है कि कौन सन्धि किस पृष्ठ पर समाप्त होगी। फिर ग्रन्थ की कुल पृष्ठ संख्या सूचित की। प्रथम चार पत्रों की विषय सामग्री समकालीन हिन्दी में निम्न प्रकार प्रस्तुत की है :—

"प्रथम ही पंच परमेष्टी स्तुति, पाछैं सरस्वती स्तुति, चन्दवारि पटनुं, सिरिराम राजा की प्रभुता वंनीं, देसनगर महिमा वंनीं। महाजन लोग सुखी, नैमिदास पुरवार वर्नंतु, कुटंब वर्णनुं, करि पाछै नेमिदास संगही नै रइधू सौं विनो भक्ति करि, कि मोकों धर्म, और पुंनुं वितांतु विस्तार सौं सुनावौ : तब रइधू नै यहु श्रावकचारु निर्मायौ, धर्मपुन्य के भेद सम्यक्त के भेद, यनि श्रावक धर्म सवु : रइधू कहत हैं नैमिदास संगही सुनत हैं, नैमिदास के नामकरि ग्रन्थु कीनो, पत्र तीनौं मौं ऐ बातैं, चौथे पत्र में श्रावकाचार चल्यौ। श्रेनिक राजा नैं प्रश्न करी : मनपर नैं कह्यौ, पहल ही सम्यक्त।"

लिपिकार के उक्त लेखन से कई विशेषताएँ दृष्टि-गोचर होती है। सर्वप्रथम यह कि आज से ४०० वर्ष पूर्व के एक लिपिकार के मन में अपभ्रंश-भाषा के एक ग्रंथ की सुव्यवस्थित ग्रंथ-सूची एवं ग्रंथ-संक्षेप जन भाषा में तैयार करने की भावना जागृत हुई थी। इस शैली की विषय सूची एवं अपभ्रंश ग्रंथ का पृष्ठानुगामी हिन्दी संक्षेप मेरी दृष्टि से अभी तक उपलब्ध समस्त अपभ्रंश ग्रंथों में से कहीं उपलब्ध नहीं है। लिपिकार ने इस शैली को अपनाकर एक नवीन अद्भुत आदर्श उपस्थित किया है।

दूसरी विशेषता यह है कि लिपिकार ने 'पुण्णासव कहा' को "श्रावकाचार" की संज्ञा दी है। यद्यपि "पुण्णासव कहा" में स्वयं ही उसका अपरनाम "श्रावकाचार" कही भी उपलब्ध नहीं है किन्तु लिपिकार ने उक्त प्रथम पृष्ठ पर ही इस कृति को "पुण्णासव कहा" न कहकर उसे "श्रावकाचार" कहा है। उसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि "पुण्णासव कहा" में प्रायः श्रावक-श्राविकाओं की ही चर्चा है तथा बारहवीं सन्धि मे श्रावकाचार का शुद्ध सैद्धान्तिक वर्णन है। इसी आधार पर सम्भवत: उसने इसका अपरनाम "श्रावकाचार" कहा है।

जैसा कि पूर्व में संकेत दिया जा चुका है कि इस प्रति की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमे पत्र संख्या ६४ से ८७ तक छोड़कर सर्वत्र मूल वर्ण्य-विषय का पृष्ठानुगामी हिन्दी संक्षेप सत्र शैली में पत्रों के चारों ओर हाशियों में दिया हुआ है। इससे ग्रन्थ के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ पत्र संख्या २३ (क एवं ख) पर अमूढ़ दृष्टि अंग की कथा के अन्तर्गत रेवती रानी का कथानक आया है। उसमें मेघकूट के राजा चन्द्रप्रभ के

परिवार का वर्णन है। वह स्वयं दीक्षित होकर क्षुल्लक पद धारण करता है। संयोगवश वही क्षुल्लक मथुरा की यात्रा की तैयारी करता है और अपने गुरु से मथुरा के लोगों को समाचार भेजने हेतु जब वह निवेदन करता है तब गुरु ने वहां के मुनिराज सुव्रत को वन्दना-नमस्कार कहकर रानी रेवती से कुशल क्षेम पूछते हुए वापस लौटने को कहा किन्तु वहां के एक प्रमुख भट्टारक भव्यसेन के विषय में गुरु ने कोई चर्चा तक न की जबकि वह क्षुल्लक मुनि भव्य सेन को एक महान साधक मानता रहा था। इसी प्रसंग को लिपिकार ने समकालीन हिन्दी में इस प्रकार अंकित किया है :—

"अमूढ़दत्त गुन कथा, मेघकूट नगु, ससिपहु, राजा, रानी सुमई, ससिसेहर बेटा को राजु दीनौं, आपु ब्रह्मचारी भऐ।

श्राविकाओं की ही चर्चा है तथा बारहवी सन्धि में श्रावक-

ब्रह्मचार सौ गुरु नैं कही कि सुव्रत नाम मुनि सौं वन्दना भक्ति कहनैं : रेवती रानी सौ समाचार पूछनैं अभव्यसेन भटारक कौं कछु कह्यौ नाही॥"

इसी प्रकार क्षुल्क जब मथुरा पहुचता है और वहां वह जो कुछ करता है उसे हिन्दी मे इस प्रकार अङ्कित किया गया है :—

"सुव्रत मुनि सौं वन्दना कही। भव्यसेनि कौ मिल्यौ, कह्यौ कि तुम पैं पढ़नैं आयो ही। मोकौ पढ़ावौ। वहि भूमिकौं चले। हरी भूमि उपजाई, परिक्षा लेतु है :

कमंडलु कौ पांनी विद्या करि दूरि कीनौ : एक (पृ० २३ क) पोषरि उपाई। जीवशास्ति, तामै सौच पवित्र भऐ, ब्राह्मन पुत्र नै अभव्यसेनि नामु धरौ (पृ० २३ ख)।"

पहल ब्रह्मरूपु कीनौ : दूजे नराइन रूपु कीनौ तीजै महादेव रूपु कीनौं, चौथें तीर्थंकर रूपु सांमिग्री सहित कीनौ (पृ० २४ क)

ब्रह्मचारी नै चारि सरूप कीनैं, भव्यसेनि आदि सब नग्र लोक देखन आऐ, रेवती न आई (पृ० २४ ख)।

ब्रह्मचारी आदिदेव हो गऐ। नौ नराइन. ग्यारह रुद्र हो गऐ, तीर्थंकर चौवीस हो गऐ, अब कोई पाषडी आयौ है : रेवती रानी आई नाही। पाछै ब्रह्मचारी वपु रोग ग्रसित होई रेवती रानी कै द्वारै आयौ॥ रानी नै परिगाह्यौ (पृ० २५ क)।

ब्रह्मचारी ने अहारु लै करि नवनु करि, दुर्गन्धी उपजाई, घर के सब भजि गऐ, रानीं पछताप कर जागी, मैं कुभोजनु दीनौ, मुनि नैं दुषु पायौ।

रानी की परीक्षा लैकरि : ब्रह्मचारी मैं अपनौं सरूपु कीनौं गुरु की धर्म विधि कही : (पृ० २५ ख)

रानी रेवनी कथा : इहां संपूरन भई, ब्रह्मचारी क्षुलक गुरु पास आयौ : राजा नै रेवती रानी नै दिष्या लीनी, अस्त्री लिंगु छेदि देव भयौ (पृ० २६ क)।

उक्त हिन्दी प्रकरण में लिपि एवं भाषा सम्बन्धी कुछ विशेषताएं इस प्रकार दृष्टिगोचर होती हैं :—

१—प्रतिलिपि में प्रयुक्त हिन्दी-गद्य ब्रज भाषा का पूर्वरूप है। कहीं-कही बुन्देली शब्दावली का भी प्रयोग मिलता है।

२—विषय प्रसंग की समाप्ति के समय पूर्ण विराम के स्थान पर के आकार के एक बिन्दु का प्रयोग किया गया है जो अंग्रेजी फुल स्टाप के समान है। इसी प्रकार किसी एक प्रकरण की समाप्ति पर समाप्ति सूचक चिन्ह दो बिन्दुओं का प्रयोग मिलता है जो अंग्रेजी के 'कोलन' से मिलता-जुलता है। यद्यपि आम दोनों नियमों में कहीं-कहीं अपवाद भी मिलते हैं।

३—न और व को स्पष्ट करने के लिए 'व' के नीचे एक नुक्ता अथवा छोटा बिन्दु दिया हुआ है। यथा—व (वनु (वमन) रेवती (रेवती)।

४—'ख' के लिए सर्वत्र 'ष' का प्रयोग मिलता है। जैसे दुषु (दुखु) पोषरि (पोखरि)।

५—रकार पर ह्रस्व या दीर्घ उकार उसको पार्श्व में न जोड़कर नीचे जोड़ा गया है। जैसे—रूपु (रूपु सरूप (सरूपु)।

६—यकार सर्वत्र पकार जैसा है।

७—एकार के स्थान पर सर्वत्र ऐकार प्रयुक्त है। यथा—भऐ, गऐ, हुऐ।

८—दीर्घ ईकार के स्वतन्त्र प्रयोग पर उसकी रेफ को नीचे तक खींचा गया है। यथा—आई सुमई।

(क्रमशः)

गतांक से आगे :

पं० शिरोमणिदास जैन कृत "धर्मसार सतसई"

□ श्री कुन्दनलाल जैन प्रिन्सिपल

अथ तृतीय संधि प्रारंभ्यते

चौपाई—कर जोड़ नृप शीस नवाय,
पुनि पूछे गणधर सों राय।
धर्म मूल सम्यक्त्व बतायो,
शाखा कौन कहो मम भायो ॥१॥
राजा सुनहु धर्म की शाखा,
श्रावक यति व्रत दोष हो भाखा।
दोय धर्म हैं जग में सार,
जातें भवदधि पावहिं पार ॥२॥
त्रेपन क्रिया धरै गुणधारी,
सो श्रावक उत्तम सोचारी।
उत्तम श्रावक व्रत लव लावै,
षोडस स्वर्ग इन्द्र पद पावै ॥३॥

अथ त्रेपन क्रिया भेद—अष्ट मूल गुण व्रत सु बारह।
द्वादश तप सामायिक सारह।
एकादश प्रतिमा सुनि हेत,
चार दान में कहो सुचेत ॥४॥
जल गालन इक अंथऊ (शाम भोजन) लीन,
तीन रतन तहं कहे प्रवीन।
ऐ त्रेपन क्रिया परमान,
वर्णन करूं सुनो दे कान ॥५॥

अथ अष्ट मूल गुण—पंच उदम्बर तीन मकार,
इनके तजै मूल गुण सार।
इनके दूषण जो नर तजै,
अष्ट मूल गुण सो नर भजै ॥६॥

अथ पंच उदम्बर—बड़, पीपर, ऊमर तुम जानि,
पिलुकरि पाकरि कहे बखानि।
ए पंचहु फल हैं दुखदाई,
इनमें जीवराशि अधिकाई ॥७॥

उदम्बर के अतिचार—बेर, मकोरा, जामू, अचार,
करौंदा बेल, अतूत, मुरार।
कुम्हड़ा, गडेलू, बिंवा, भटा,
कलींदे फतकुली, चचैड़ा जटा ॥८॥
सूरन, मुरा, आदौ (अद्रक) गज्जरी,
महारुकद मूल जे हरी।
ए पुनि अवर कहे जिनराय,
इनमें जीव अनेक बसाय ॥९॥

अथ तीन मकार मह (मधु) वर्णन—
सकल निन्द्य रस माछी हरै,
करके वमन इकट्ठी धरै॥
अनेक अंडावर ऊपजै जहां,
बहुत जीव रस बूड़ै तहां ॥१०॥
अनेक जीव मरिकै मधु होय,
जो किमि भक्षइ धर्महि गोय।
यज्ञ, पिण्ड लै मधु सो देइ,
मधु को भक्षि पाप सिर लेइ ॥११॥

मह (मधु) के अतिचार—नैनूं (मक्खन) काचो दूध पिय,
सीऊंरे जे कहे।
अप्रासुक जे नीर था, नैसखा ने जे लहे॥१२॥

मद्य दूषन—स्वाद चलित जो वस्तु जु होइ,
ता सौं मद्य कहे सब लोय।
अनेक वस्तु ले सारै जहां,
अनेक जीव मरि उपजै तहां ॥१३॥
जो यह मद्य पियेजऊ रुढ़,
माता स्त्री नहीं जानै मूढ़।

(गंदा स्थान) – घूरे परै निलज्ज मुख वाय,
कूकर मूतै तामें आय ॥१४॥
मद्य मूत्र नही जाने भेद,
बार बार मागे करि खेद।
विकल देखि नर नारी हंसै,
जनम थूकि कै मुख में गसै ॥१५॥
याही जनम ऐसो फल लहै,
और जनम को कहि सकै।
मद्य के दूषण छाड़हु वीरा,
अब मैं कहूं सुनो तुम धीरा ॥१६॥
मद्य अतिचार—देव धर्म गुरु अन्य जु होय,
अन्य जति तुम जानो लोय।
अन्य जाति को भाजन (वर्तन) लेय,
अपनो भाजन ताको देय ॥१७॥
दिना दोय अधिकारी मठा,
दुदल वस्तु सो कीन्हो गठा।
फूल साधि जो मुख मे देइ,
अजान के हाथ को नीर जो लेई ॥१८॥
ए सब मद्य दोष दुख दाई,
अवर दोष को कहै बढ़ाई।
इनमे जीवराशि बहु रहै,
इनके त्यागै सब सुख लहै ॥१६॥
मांस दोष—जीव घात बिनु मास न होइ,
महा पाप यह जानो लोइ।
जीव अनेक पुनि तामे परै,
निन्द्य अपावन दृष्टि न धरै ॥२०॥
जो लगि जीव देह मे बसै,
तो लगि देह यह निर्मल दिसै।
जीव गये देह मुर्दा होय,
नर नारी पुनि छिपु न कोय ॥२१॥
धिक् धिक् मांस मास जो खाइ,
दुर्गति दुःख मिलै तिहि आइ।
पर जीव मारि उदर मे भरै,
घोर नरक कूं उनमे परै ॥२२॥
मांस अतिचार—हीग सलिल घी तेल,
चर्म की संगति जे रहै।
उपजै जीव अनेक, मांस दूषण यह जिन कहै ॥२३
जाको नाम न जान्यौ जाय,
अरु ऐसो फल कह्यो बताइ।
हाट चून अनगाल्यौ नीर,
शाक पात फल हरित जु छीर ॥२४॥
जामे तार चलै बहु भांति,
लगै फफूंडा छाडो जाति।
कोमल फूल है पत्रज फूल,
त्वचा गवारि बहुबीजहु कूल ॥२५॥
ए सब दोष कहे तुम जानि,
अबर दोष को कहै बखानि।
जो नर मास त्याग व्रत धरे,
सकल दोष निश्चय परि हरै ॥२६॥
इन आठों मे पाप अपार,
दोष सहित त्यागै व्रत धार।
जब त्यागै तब श्रावक होय,
अष्ट मूल गुण पालहि सोय ॥२७॥
॥ इति अष्ट मूलगुण ॥

अथ बारह व्रत—
दोहा—पंच अणुव्रत पालिए, तीन गुण व्रत जानि।
चऊ शिक्षा व्रत जिन कहे, ए बारह व्रत जानि ॥२८
अथ पंचाणुव्रत—प्राणभूत जीव सत्त जु चारि,
कीजै दया सकल हितकारि।
जो जीवनि को रक्षा करै,
भव सागर सो लीजै तरे ॥२६॥
दया धर्म कहिए संसार,
जातें तुरत उतरिए पार।
दयाहीन जो नर तुम जानि,
सो पापी यह कहो बखानि ॥३०॥
व्रत तप संयम दान दै कोइ,
दया बिना निष्फल हो सोइ।
तीरथ यज्ञ बहु होम विधान,
दया बिना कोई होय न काम ॥३१॥
अथ अमानक छंद—जो पंछी मरवेउ तिरै पाखान जल।
जो उलटै भुव लोक होइ सीतल अनिल।
जो सुमेरु डगमगै सिंध कहूं लगै मल।

कबहूं नहिं सीकर तन उपज्यै पुण्य फल ॥३२

चौपाई—यातैं जानि दया हिय धरै,
हिंसां वणिज सदा परिहरै।
हिंसा कर्म करै बहु पाप,
परभव जाय लहै संताप ॥३३॥

हिंसा कर्म—

दोहा—लाख लीलि रंग आदि दै सनु सबनु मंह विद्य।
सोरा (ड़ा) सीसो लोह विष मैंनु वनिज ए निंद्य ॥३४
चांवल तिली जु संग्रहै, नाज लेय अधिकार।
गोधन बहुत जो राखिकैं, हिंसा बढ़ै अपार ॥३५
कंद जरै बहु खोदि कैं, करै तेल अरु क्वाथ।
धातु मारि गुटिका करै,(रचै) पाप लेहु निज हाथ ॥३६

चौपाई—कुआं बावड़ी ताल बंधाई,
खाई खोद अरु बाग लगाइ।
खेती करी अरु लादै बैल,
ए सब जानो दुर्गति गैल ॥३७॥
ए सब जीव दया के पोख,
तजि कुवंज (कुवणिज) मन धर संतोष।
जो भवि जीव दया मन राखै,
प्रथम अणुव्रत यह जिन साखै ॥३८॥

दोहा—अरविंद राय हिंसा करी, नरक सहे दुख जाइ।
मातग दया जो मन धरी, सुरपति बन्दौ आय ॥३९

अथ सत्याणुव्रत—कठिन वचन पर निन्दा होइ,
झूठी बात कहो मति कोइ ॥४०॥
हित मित सत्य रहो प्रमाण,
सुर नर मानैं जातैं आन।
जैसे भानु विराजे भोर,
सत्य सुजस प्रकटै चहुं ओर ॥४१॥

अथ कवित्त पावक तैं जल होय, वारिधि तैं थल होय,
सस्त्र से कमल होय, ग्राम होय वन तें।
कूप तें विवर होय, पर्वत तें घर होय।
वासव तें दान होय, हितु दुर्जन तें।
सिंह तें कुरंग होय, व्याल श्याल अंग होय।
विष तें विदुष होय, माला अहि फन तें।
विषम तें सम होय, संकट न व्यापै कोय।
एते गुण होय सत्यवादी के दरस तें ॥४२॥

दोहा—वसु राजा यह झूठ तैं, गिरत न लागी वार।
राय युधिष्ठिर सत्य तैं, पहुंचे मोक्ष द्वार ॥४३॥

अथास्तेयानुव्रत—अधिक वस्तु जो पर की लेइ,
पर कों घाटि आपु जो देइ।
परी वस्तु कै विसरी (भूली) होय,
थाती अनधरी है सोइ ॥४४॥
झूठी करौ करै नर कोइ,
यह सब चोरी जानो लोइ।
चोरी करै धर्म सब जाइ,
दुर्गति दुख मिलै तिहि आइ ॥४५॥
याही जन्म वध बन्धन लहै,
राजदण्ड पुनि निश्चय सहै।
देह खंड अपकीरत जानि,
अवर दुख को कहै बखानि ॥४६॥

अथ मरहठा छंद—

जो कीरति गोपै, धर्म विलोपै, करै महा अपराध।
जो शुभ गति तोरै दुर्गति लोरै, जोरै युद्ध उपाधि।
जो संकट आनै दुर्गति ठानै, वध बन्धन को गेह।
सब औगुण मंडित, गहै न पंडित, सो अल्ल (अलभ्य)-
धन एह ॥४७॥

चौपाई—चोरी आनी वस्तु न लेई,
चोरी को उपदेश न देई।
इह विधि चोरी त्यागै जबहिं,
तृतीय अणुव्रत पावै तबहिं ॥४८॥

दोहा—चोरी तें तापस गए वध बन्धन लही जु शोक।
अंजना चोर चोरी तजी, सुदेव भयो सुर लोक ॥४९

अथ ब्रह्मचर्याणुव्रत—विषय सत्ताइस इन्द्रियनि केरे,
अरु मन तें उपजै बहुतेरे।
विकार अनेक तजै जब और,
सो यह शील जगत सिरमौर ॥५०॥
परदारा जब त्यागै ग्रही,
चौथो अणुव्रत पावै सही।
मातु बहिन पुत्री सम चित्त,
परदारा तुम जानहु मित्र ॥५१॥
अथवा सांपनि सी मन धरो,
दुख की खानि दूर परिहरो।

पानी बिनु मोती है जैसो,
शील बिना नर लागै तैसो ॥५२॥

कवित्त—जो अपजस की डंक बजावत,
लावत कुल कलंक परधान।
जो चरित्र को देत जलांजलि,
गुनवन को दावानल दान॥
सो शिव पंथ को वारि बनावत,
आवति विपति मिलन के थान।
चिंता मणि समाज जग जो नर,
सील रतन निज करत मिलान ॥५३॥

चोपाई—ज्ञान ध्यान व्रत संयम धरना,
यज्ञ विधान शुभ तीरथ करना।
पूजा दान बहु कोटिक करै,
शील बिना नहिं फल को लहै ॥५४॥

दोहा—रावण आदि जु क्षय भए, पर नारि के काज।
सेठ सुदर्शन शील तें, पायो शिवपुर राज ॥५५॥

निज नारी पुनि छोड़ो जानि, आठें पांचें, चौदसि मान।
दिवसैं पुनि छोड़ें निज हेत, चौथो अणुव्रतधरहु सुचेत ॥५६

अथ परिग्रह प्रमाणुव्रत—

प्राणी तृष्णा लियो अति घनी, पूरी होय न क्योंकर तनी।
तीन लोक की लक्ष्मी पावै, तौ न तृष्णा पूरण आवै ॥५७
यही जान परिग्रह प्रमाण, अणुव्रत पचम कह्यो सुजान।
धरि संतोष तृष्णा वश करै, भवसागर सो लीजें तरै ॥५८
क्षेत्र गेह धन धान्य जु वीर, द्विपद, चतुष्पद, आसन वीर।
भंडार सयन आभूषण पान, भोजन भोग करो प्रमाण ॥५६
परिग्रह जानहु दुख की खानि,
पाप मूल पुनि कह्यो बखानि।
ज्यों ज्यों करहिं जु प्राणा आशा
दुर्गति आवै त्यों त्यों पासा ॥६०॥

अथ सवैया—कलह गयंद उपजायवे कों,
विन्ध्यागिरि क्रोध गीत के अघाइबे कों सु मसान है।
संकट भुजंग के निवास करिबे कों चील,
वैर भाव चोर को महा निशा समान है।
कोमल सुगुन घन खंडिवे कों महा पौन (पवन)
पुण्य वन दहिवे कों दावानल दान है।
नीति नय नीरजकों नसाइवें को हिम राशि,
ऐसो परिग्रह राग द्वेष का निधान है ॥६१॥

दोहा—सत्यघोष अति लोभतें दुःख सहे अधिकाइ।
शालिभद्र संतोष तैं, भए सिद्ध गुणधार ॥६२॥

इति पंचाणुव्रत समाप्यते। अथ तीन गुण व्रत कथ्यते।

दिशा अरु विदिशा जानहु वीर,
संख्या कीजै धरि व्रत धीर।
प्रथम अणुव्रत एहु सुजान,
पुनि तुम देस करहु प्रमाण ॥६३॥
व्रत आचार की यात्रा छीन,
तहीं देश नही जाय प्रवीन।
द्वितीय गुणव्रत जातें बढ़ै,
धरि संतोष धर्म अति बढ़ै ॥६४॥
पृथ्वी खोद करै बहु पाप,
जल अति डारि करै संताप।
वायु अग्नि प्रज्वालै घनी,
काटि वनस्पति हिंसा जनी ॥६५॥
झूठ वचन चोरी पर नारी,
बहु आरम्भ करै मन धारि।
क्रोध लोभ माया मद जान,
विकथा विकगान विषैं रति मानि ॥६६
ए सब अवर अनर्थ जु दंड,
कहि गुरु पास लेइ तहं दंड।
तृतीय गुण व्रत यातें लहै,
अनर्थ दंड यह जिनवर कहै ॥६७॥
समता सब सों संयम भाव,
धर्म ध्यान इक चित में लाव।
सहइ परीषह दृढ़ धरि चित्त,
जिन पद जपैं करैं सब नित्त ॥६८॥
तीन काल सामायिक धरै,
दोय घड़ी करि पातक हरै।
सामायिक भव्य जीव लौ लावै,
मध्यम ग्रैवेयक पद पावै ॥६६॥
भव्य जीव सामायिक साधि,
नियमा करि जिनवर आराधि।

जो फल लहै अनंत सुख राशि,
मुक्ति वधू तहं होइ उदासी ॥७०॥
एक नाम जिन जीवन जप्यो,
पाप राशि तिन छिण में खप्यौ ।
स्वर्ग लोक लहै सुख की खानि,
सामायिक फल को कहै बखानि ॥७१॥

दोहा—सामायिक इक चित्त दै, धरैं भव्य निज हेत ।
प्रथम शिक्षाव्रत सो लहै, जिनवर कहै सुचेत ॥७२

चौपाई—सातैं तेरस शुद्ध आहारी,
एका भक्ति करै साचारी ।
पुनि प्रोषध धावै जिन पास,
ग्रह आरम्भ तजै सब आस ॥७३॥
खाद्य स्वाद्य पिय लेप आहार,
चार प्रकार तजै व्रत धार ।
कंद मूल फल फूल जे पान,
इन्हें न लीजै हाथ सुजान ॥७४॥
स्नान तिलक आभूषण वस्त्र,
गमनागमन तजै सब अस्त्र ।
विकथा राग दोष परिहार;
संयम भाव धरै तजि नारि ॥७५॥
आठैं चौदश प्रोषध करै,
हिंसा कर्म सबै परिहरै ।
जिनकी भक्ति कर दृढ़ चित्त।
धर्म ध्यान सों कीजै मित्त ॥७६॥
रात दिवस निर्मल परिणाम,
इह विधि प्रोषध लेहु सुजान ।
पूर्नौं अमावस नौमी होइ,
एका भुक्ति करो पुनि सोइ ॥७७॥
सोलह पहर जु प्रोषध शुद्ध,
उत्तम प्रोषध कहो सुबुद्ध ।
चौदह पहर प्रोषध तुम जानि,
मध्यम प्रोषध कहो बखानि ॥७८॥
द्वादश प्रहर जु प्रोषध लीन ।
जघन्य जु प्रोषध कहो प्रवीन ।
यथा शक्ति जो प्रोषध करै,
पाप पुञ्ज जो छिन में हरै ॥७९॥

दोहा—नियम सहित प्रोषध करै, हिंसा कर्म निवारि ।
देव लोक पद जो लहै, सकल दोष दुख जारि ॥८०॥

अथ अतिथि संविभाग व्रत—

घड़ी छह दिनु चढ़इ जु जबही,
द्वारा पोषण करै भव्य तबहीं ।
मुनि को पाय देइ शुभ दान,
निर्मल भाव करै शुभ ध्यान ॥८१॥
पुनि पाछै निज भोजन करै,
इह विधि नियमा व्रत को धरै ।
जो मुनि दान बनै नहीं जोग,
ता दिन रस त्यागी सब भोग ॥८२॥

दोहा—यह विधि दिन दिन व्रत करै, धरै नियम दृढ़ जानि ।
तृतीय शिक्षा व्रत सो लहै जिनवर कही बखानि ॥८३॥

अथ देशावकाशिक कथ्यते—

भोग उपभोग की संख्या लेइ,
दया दान सबही कों देइ ।
पुनि जिन मन्दिर रचै अनूप;
तहाँ धर्म अति बढ़ै स्वरूप ॥८४॥

सोरठा—जातैं धर्म जु होइ सो विधि कीजै भाव सौं ।
देशावकासिक सोइ, सज्जन करहु सयान सौं ॥८५॥

अथ बारह तपः—

बारह तप सुन श्रेणिक धीर,
जातैं होइ कर्म तै कीर ।
तप तें जरैं काम प्रचण्ड,
इन्द्रियनि विषै लगे तहं दण्ड ॥८६॥
जैसे अग्नि में सोनो (स्वर्ण) शुद्ध,
त्यो तपते जीव होइ सुबुद्ध ।
स्वर्ग लोक होय तप तें नाथ,
मोक्ष कामिनी इच्छा साथ ॥८७॥
सेवा देव करैं कर जोडि,
तपतैं विघ्न गलै बहु कोडि ।
केवल लब्धि मिलै सुख आय,
कीर्ति रहै चहुं दिशि छाय ॥८८॥
सो तप छह बाहिज (बाह्य) हितकारी,
अनशन प्रथम धरै साचारी ।

भोजन त्याग जो प्रोषध करै,
सो तप अनशन जिनवर कहै ॥८६॥
अल्प अहार करै जु एक बार,
तप यह ऊनोदर (आमोदर्ज) सुसार।
नियम सौं गिन वस्तु जुलेई,
वस्तु सख्या त। सब सुख देई ॥६०॥
नीरस भोजन लेइ विचारि,
रस त्यागं व्रत यह दुख जारि।
आसन शयन जु न्यारे करै,
विविक्त शैयासन मन तप कौं धरै ॥६१॥
देह जान बहु दुख को गेह,
यही जानि पुनि तजो सनेह।
बहुत कष्ट करि देह जु क्षीण,
कायक्लेश तप कहै प्रवीण ॥६२॥
छह तप सुनि अभ्यन्तर राय,
बहुत भेद जिन कहै बताय।
व्रत तप मन वच काय जु कियौ,
निज गुरु धर्म साक्षि (साखि) लियौ ॥६३॥
जो कबहु व्रत भगहि लहै,
पुनि गुरु पास आनि सो कहै।
जे गुरु सीख देहि हितकारी,
पूजा जाप उपास विचारि ॥६४॥
इन कर मल सोधै निज हेत,
प्रायश्चित्त तप कहऊ सुचेत।
दर्शन ज्ञान चरित्र जु करै,
वीर्य सु तप करि पातक हरै ॥६५॥
ताकौ विनय करै मनु लाइ,
यह तप विनय महा सुख दाइ।
जे मुनि व्याधि जरा कै लीन,
तप करि देह भई तहं क्षीण ॥६६॥

ताकौ पथ्य जु औषधि दान,
सुश्रूषा करि राखौ मान।
इह विधि बार बार दृढ़ चित्त,
यह जानो तप वैयावृत्त ॥६७॥
जिनवर वाणी पढ़ै सुसार,
बार बार पूछौ हितकार।
अनुप्रेक्षा द्वादश जिन कही,
ते जु बिचारै दिन दिन सही ॥६८॥
आगम विचारि कही सो लेइ,
धर्म उपदेश सदा हित देइ।
यह स्वाध्याय पंचविधि भेद,
स्वाध्याय तप भव दुख छेद ॥६६॥
कायोत्सर्ग नियम मन लावै,
पद्मासन कर निज तनू पावै।
सहै क्लेश विकलता नाखि,
कायोत्सर्ग तप यह जिन साखि ॥१००॥
ध्यान पदस्थ पिंडस्थ वखानि,
अरु रूपस्थ कहो गुण वाणि।
रूपातीत ध्यान शुभ शुद्ध,
ध्यान महातप कहौ सुबुद्धि ॥१०१॥
जो द्वादश तप मन दै करै,
भव सागर सो लीजै तरै।
स्वर्ग लोक पद लहै सुजान,
सो पुनि जीव लहै निर्वाण ॥१०२॥
इति तप वर्णन।

अथ सामायिक क्रिया—
दोहा—सामायिक क्रिया कही, शिक्षाव्रत मे जानि।
फिर वर्णन नहीं कीजिए, यह जिन वचन प्रमाण ॥
(अपूर्ण) १०३॥

—शाहदरा दिल्ली-३२

धर्म का मूलाधार : आस्था या अंधास्था

□ डा० प्रद्युम्न कुमार

धर्म का मूलाधार आस्था है। आस्था के ही लगभग पर्यायवाची शब्द श्रद्धा और विश्वास भी है। इन शब्दों से मन की एक स्थिति विशेष का बोध होता है जो तर्क शब्द के अर्थबोध से भिन्न है। आस्था एक अनुभूति प्रधान मनः स्थिति है जिस से व्यक्ति का चारित्र एक निश्चित दिशा, आकार, प्रकार ग्रहण करता है। यह मन की व्यक्ति प्रधान दशा है, जिस में व्यक्ति के ज्ञान, भाव तथा चारित्र तीनों का समावेश है। ज्ञान रूप में आस्था अस्तित्व-बोध है (इदमस्ति), भाव रूप में आस्था अस्तित्व का अहसास है (अहमस्मि), तथा चारित्र रूप में आस्था अस्तित्व की कृतकार्यता है (अयंभृतः)। सम्पूर्ण रूप में आस्था 'मैं होता हुआ हूँ' का अहसास मात्र है। "मैं होता हुआ हूं" का विश्लेषण यूं करें : (मैं=व्यक्ति)+(होता हुआ=उत्पाद व्यय)+(हूं=ध्रौव्य) अहसास=आस्था। अर्थात् आस्था उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत् का अहसास है। यह व्यक्ति की धारणात्मक स्थिति है, अस्तित्व के आस्तिक्य-भाव का प्रतीक, जिसकी जड़ें और गहरे कालातीत समाधि शून्य द्रव्यत्व में फैली होती हैं। यह आत्म-बोध की दिशा में उन्मुख मनः स्थिति है। यह एक प्रकार से अपने द्वारा अपनी ही पहचान की द्योतक स्थिति है। फिर जब यह स्थिति किसी इतर तत्व से जुड़ती है तो यह श्रद्धा हो जाती है। यानी यदि आस्था को स्वगत कहें, तो श्रद्धा को वस्तुगत मनः स्थिति कह सकते हैं। आस्था का साधन और साध्य दोनों ही स्व है, तो श्रद्धा का साध्य स्वेतर है। आस्था अपने में अपने लिए होती हैं, तो श्रद्धा अपने में दूसरे के लिए होती है। श्रद्धा के लिए किसी श्रद्धास्पद की जरूरत है। आस्था के लिए किसी आस्पद की आवश्यकता नहीं। श्रद्धा में हम कहते हैं, कि हमें राम, कृष्ण, बुद्ध, तीर्थंकर पर श्रद्धा है। आस्था में हम इतना ही कहते हैं कि हमें धर्म में आस्था है, धर्म यानी स्वभाव में आस्था। अब दूसरा पर्यायवाची शब्द आया विश्वास। विश्वास शब्द का शब्दार्थ पिछले दोनों शब्दो के शब्दार्थ से कुछ अस्पष्ट है। मोटे रूप में विश्वास को आस्थाजन्य मनः स्थिति की बाह्योन्मुख व्यवहार दशा कह सकते हैं। विश्वास में व्यक्ति की अपनी पहचान दूसरे की आँखों से होती है। व्यक्ति अपने को देश-काल-परिस्थिति में रख कर पहचाने, तब वह आत्म विश्वासी होता है। दूसरे शब्दों में आस्था की व्यावहारिक दृष्टि विश्वास है। विश्वास में व्यवहार स्तर पर, आस्था और श्रद्धा दोनों का ही अस्पष्ट घोलमेल है। हम चाहते हैं, कि हमें अपने में विश्वास है, साथ ही यह भी, कि हमें राम पर, कृष्ण पर, या अमुक पर विश्वास है; ये तीनों पर्यायवाची शब्द धर्म-चर्चा में प्रयुक्त होते हैं, इस लिए इन के शब्दार्थ को समझना जरूरी था।

अब, आइए, अपनी धर्म-व्याख्या में आगे बढ़ने से पूर्व एक शब्द का अर्थ और स्पष्ट कर लें। वह है तर्क। तर्क मन के ज्ञान पद की विकल्पात्मक स्थिति है। किसी माने या पहचाने आधार से किसी इतर निष्कर्ष पर पहुंचना तर्क है। दूसरे शब्दों में किसी मान्य आधार का रहस्योद्घाटन करना तर्क अथवा ऊहा होती है। इस में मन एक नियोजित प्रक्रिया अपनाता है जिस में स्व पर द्रव्यों को उनके अंगों में तोड़ कर उन्हें समझा या पहचाना जाता है। तर्क का अधिष्ठान बुद्धि है, जो मन का ही एक रूप है। बुद्धि पहले अस्ति को नास्ति करती है, तब अस्ति; और नास्ति को जोड़ कर वस्तुसत्य को समझती है। फिर वह अस्ति नास्ति की सीमा को परख कर उस के सीमातीत द्रव्य पर निगाह डालती है तो वह अवक्तव्यं के क्षेत्र में आ जाती है। एवं अस्ति+अवक्तव्यं, नास्ति+अवक्तव्य अस्ति+नास्ति अवक्तव्य रूप के संभी-करणों की उत्कर्षना कर उस सत्य को पहचानने की कोशिश करती है जिसे

आस्था ने सहज ही आत्म-दर्शन रूप भी लिया था। इस प्रकार आस्था आस्तिक्य है, तो बुद्धि नास्तिक्य। धर्म मूलत: आस्तिक्य-भाव के वाहन पर चलता है, किन्तु बुद्धि के नास्तिक्य मूल्यांकन से समंजन करता हुआ।

आस्था और तर्क एक ही मन की दो भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। आस्था सत्त्व की पहचान है तो तर्क सत्-इदम् का मूल्यांकन। दोनों का परस्पर सम्बंध और असम्बंध है। जब आस्था का उदय तर्क के बिना ही होता है, तो वह तर्कहीन आस्था है। जब वह तर्कसह हो तो वह प्रबुद्ध आस्था है। जब आस्था तर्क की सीमा लांघने के बाद उदित हो, तो वह तर्कातीत अथवा अनिर्वचनीय आस्था हुई। पहले क्रम में आस्था दूसरे से पाई सूचना से उत्पन्न हो या खुद के बाह्य प्रत्यय से, जैसे किसी ने कहा, ईश्वर है और हम ने मान लिया, इंग्लैंड में टेम्स नदी है और हम ने मान लिया। यह तर्कहीन आस्था वास्तव में आस्था नहीं विश्वास है, जिस के उगने के न तो पहले तर्क हुआ न बाद में। ऐसा विश्वास अंध विश्वास भी कहला सकता है। अंध विश्वास को यदि आस्था कहें तो वह आस्थाभास है, सदास्था नही। अंध विश्वास में कोई अनुभूति नहीं होती। केवल बाह्य से सूचना मिलती है, जिसे हम बाहर से आया ज्ञान कहें और उसे हम बिना ननु नुच के मान लें। ऐसे विश्वास में हम आस्था शब्द का प्रयोग प्राय: नही करते। यदि करें भी तो वह शब्दो का फेर है। सम्प्रदायों और अन्य सामाजिक संस्थाओं की भीड़ अंध-विश्वास पर ही पलती है। सच पूंछो, तो अंधविश्वास भीड़ की ही धरोहर है। यहीं से शुरू होती है मदांधता, फैनेटिजिज्म: चाहे वह धर्म के किसी सिद्धान्त के नाम पर हो, या किसी श्रद्धेय व्यक्ति के नाम पर, या किसी अन्य के नाम पर। मदांधता मदांधता ही है। वह धर्म-सम्प्रदाय, राजनैतिक पार्टी, साहित्यिक संस्था, सामाजिक संघ, वैज्ञानिक मंच, कहीं पर भी किसी के नाम पर हो सकती है। यह एक प्रकार का नशा है जो किसी व्यक्ति या सिद्धान्त से सम्मोहन द्वारा व्यक्ति या व्यक्तियों की भीड़ के गले उतारा जाता है। वह व्यक्ति या समूह सम्मोहित हो कर कुछ भी करणीय अकरणीय करने को तैयार हो जाता है। धर्म में चूंकि इन्द्रियातीत सत्ताओं के प्रति विश्वास जगाया जाता है, अत: धर्म के क्षेत्र में अनुभूति शून्य अंध विश्वास अधिक खतरनाक बन जाता है। क्योंकि उस का प्रबुद्धी करण आसानी से नही हो पाता।

जब हम किसी सूचना या बाहर से आए ज्ञान की जांच कर लेते हैं और उसे तर्क की कसौटी पर कस लेते हैं और उसे ठीक पाकर या ठीक के समीप पा कर विश्वास करते हैं तो वह विश्वास प्रबुद्ध हो जाता है। आगे चल कर जब उस प्रबुद्ध विश्वास मे हमारी अनुभूति का तत्व जुड़ जाए तो वह प्रबुद्ध आस्था की कोटि में आ जाता है। प्रबुद्ध विश्वास विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में मिलता है। विज्ञान में हम पहले किसी आभासिक सत्य की प्राक्कल्पना कर तथ्य संकलन करते हैं। तथ्यो का विश्लेषण, संश्लेषण और सामान्यी करण की प्रक्रिया करते हुए हम अंतत: उक्त प्राक्कल्पना की पुष्टि या निरस्ती करण कर देते हैं। यह होता है किसी इन्द्रियजन्य ज्ञान से उत्पन्न आभास या विश्वास का प्रबुद्धी करण। ऐसा प्रबुद्ध विश्वास अंध विश्वास से कम खतरनाक होता है। फिर भी खतरा इस में भी है। खतरा इस लिए, कि वैज्ञानिक तर्क-प्रक्रिया की भी अपनी सीमाएं हैं। वे सीमाएं निगमन और आगमन दोनों तर्कों में निहित हैं। निगमन का सत्य माने हुए आश्रययवाक्य की सीमा है, तो आगमन मे इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा। वे गलत हो सकते हैं, अधूरे सत्य भी हो सकते हैं। किन्तु वैज्ञानिक प्रणाली से सत्यापित निष्कर्षों को विज्ञान का विद्यार्थी सर्वांग सत्य समझ बैठता है और उसे सार्वभौमिक तथा त्रैकालिक सत्य के सिंहासन पर बिठाल कर उसमें विश्वास स्थिर कर देता है। पहले जो विश्वास प्रबुद्ध था आगे चल कर वह अंध विश्वास का रूप धारण कर लेता है और उस में अंध विश्वास के सारे खतरे पैदा हो जाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि विज्ञान के निष्कर्ष सदैव सम्भाव्य सत्य के ही द्योतक हैं, पूर्ण और त्रैकालिक सत्य के नही। इसी लिए तो विज्ञान की प्रयोगशालाएं सदैव चालू रहती हैं और प्रत्येक स्थापित सत्य का बार-बार मूल्यांकन और सत्यापन होता रहता है। ऐसा करने से ही वैज्ञानिक निष्कर्षों असत्य का विश्वास प्रबुद्ध कोटि में रह सकता है। प्रबुद्ध चेता वैज्ञानिक इस खतरे से अवगत हैं और वे बड़ी ईमानदारी से अपनी प्रविधि की

सीमाएं कबूल करते हैं तथा उदारचित्त से उन निष्कर्षों के विपरीत निष्कर्षों को भी आदर देकर प्रविधि की कसौटी पर ले आते हैं। ऐसी अभिवृत्ति से ही हम विज्ञान के क्षेत्र में अंधविश्वास के दूषण से बचते हैं और बच सकते हैं।

अब हम आते हैं दर्शन के क्षेत्र में पाले गए विश्वास के बारे में। दर्शन एक प्रकार से हमारे सम्पूर्ण चिंतन के आधारों की जाच परख है, तौल खोज है। इस जाच परख की भी एक प्रणाली है जो वैज्ञानिक तर्क प्रणाली से कुछ अधिक विकसित है। दर्शन की तर्क प्रणाली विज्ञान की तर्क प्रणाली की भी खोज खबर लेती है तथा उस की क्षमता, अक्षमता तथा सीमाओं का निर्धारण करती है। दार्शनिक प्रणाली से ही तो प्रेरित होकर शुद्ध वैज्ञानिक यह कह पाता है कि उसके निष्कर्ष मात्र सम्भाव्य सत्य का उद्घाटन करते हैं। पूर्ण सत्य उनकी पकड़ में नहीं है। वह केवल आंशिक सत्य का ही उद्घाटक है। तो क्या दार्शनिक तर्क प्रणाली पूर्ण सत्य की उद्घाटक है। नही। सच पूंछा जाए, तो दर्शन सत्य का उद्घाटक है ही नही। वह तो विभिन्न प्रणालियों द्वारा उद्घाटित सत्य या सत्यों का आकलन करता है तथा उस सत्य को व्यक्त करने वाली भाषा की स्पष्टता और अस्पष्टता का विश्लेषण करता हुआ अधिक से अधिक भाषागत स्पष्टता पर जोर देता है। सत्य की खोज करना दर्शन का काम नहीं है। सत्य की खोज या तो सामान्य प्रत्यक्ष (कामनसेंस) करता है या विशिष्ट प्रत्यक्ष (विज्ञान) या धर्म या अध्यात्म। सामान्य तथा विशिष्ट प्रत्यक्ष गुणात्मक रूप से एक ही धरातल पर होते हैं। उन का आधार इन्द्रियजन्य ज्ञान है। उन से ऐंद्रिक सत्य ही मिलता है, जिस की अपनी सीमाएँ हैं और जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। धार्मिक अनुभूतियों का कैनवास अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है, 'जिस का उल्लेख आगे किया जाएगा। सम्प्रति इतना ही कहना है, कि विश्वास वही होता है जहां सत्य की अनुभूति का क्षेत्र है। अब यह दूसरी बात है कि अनुभूति उगे कैसे ! स्वतः उगे, दूसरे के प्रभाव से उगे या मात्र सूचना से उगने का आभास हो। बहरहाल, किसी न किसी मात्रा में अनुभूति का होना जरूरी है विश्वास और आस्था के लिए।

प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के पीछे अनुभूति विश्वास जरूर होता है। वस्तुज्ञान की परिभाषा में भी कहा जाता है कि हमारा वस्तुज्ञान तभी वैध ज्ञान है जब वह वस्तु के अनुरूप हो और जिस के अनुरूप होने का हमें विश्वास भी हो। यदि अनुरूपता से सम्बंधित विश्वास हमारे मन में नहीं है तो वह ज्ञान नहीं होगा। सच पूंछो, तो वस्तु के अनुरूप हमारी चेतना की अनुभूति स्वतः होती है, जिस अनुभूति के होने के बारे में हमें किसी से पूंछना नहीं पड़ता, अपितु हम उसके होने के बारे में स्वतः आश्वस्त होते हैं। यह आश्वस्त होना ही हमारा विश्वास है। जब हम इस विश्वास के बारे में अवगत हो जाते हैं तो वह विश्वास वस्तुज्ञान बन जाता है। इसलिए प्रत्येक वस्तुज्ञान में पहले से ही तत्सम्बंधी विश्वास निहित होता है। चूंकि यह अनुभूति इन्द्रियों की सीमित क्षमता से उत्पन्न होती है, इसलिए इस ज्ञान का सत्य अंशव्यापी तथा अंशकालिक होता है। सत्य का इस प्रकार से आकलन करना ही दर्शन का कार्य है।

अब हम धर्म के क्षेत्र में घुसें। धर्म सत्य के भी सत्य यानी परम सत्य का अन्वेषक एवं उद्धारक है। स्वाभाविक है कि सत्यान्वेषण अनुभूति की अपेक्षा रखें। अनुभूति भी किसकी ! अपने ही होने की, अपने अस्तित्व की। अपने अस्तित्व की अनुभूति ही सच्ची आस्था है। इसलिए आस्था ही धर्म का मेरुदण्ड है। आस्था होती है। यह न कोई देता है और न दे सकता है। हां, बाहरी कोई उपस्थिति उसके लिए निमित्त हो सकती है, किन्तु उपादान कारण स्वानुभूति ही होती है, जो कर्म-क्षय या भगवत उपासनाका फल हो सकती है। इस आस्थामें इन्द्रियों की भी अपेक्षा नहीं होती और न इंद्रियजन्य तर्कप्रणाली की। आस्था इन्द्रियातीत तथा तर्कातीत स्वानुभूति है। यह इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक व्यापक सत्य का उद्घाटन करती है जिसका आकलन इन्द्रियजन्य तर्कप्रणाली का दर्शन भी नहीं कर पाता। वह भी उसे "नेति-नेति" ही कह देता है, और उसे अनिर्वचनीय ख्याति की कोटि में रखकर एक ओर हट जाता है। इस प्रकार

धार्मिक आस्था स्वत: एक दर्शन है, सम्यग्दर्शन, जो सारे बौद्धिक दर्शनों का नियामक और दृष्टा होता है।

सम्यग्दर्शन से ही फूटती है सम्यग्श्रद्धा, जो विराट सत्य के प्रति व्यक्ति को समर्पित करने की प्रेरणा करती है। सम्यक् श्रद्धा से ही व्यक्ति और व्यक्ति-समूह विराट सत्य की सन्निधि के हेतु धार्मिक अनुष्ठानादि के लिए प्रेरित होता है। कहने का तात्पर्य यह, कि श्रद्धा आस्था की ललक है जो व्यक्ति के चारित्र को कारण देती है और उस चारित्र को विराट सत्य के प्रतीक किसी भी इष्ट-बिन्दु की ओर उन्मुख कर देती है। श्रद्धा के द्वारा व्यक्ति की आस्था श्रद्धास्पद इष्ट से जुड़ जाती है और उस में से परम भक्ति का दर्शन बोलने लगता है। भक्ति में आस्था और श्रद्धा का संगीत झकृत हो उठता है। आत्म श्रद्धास्पद इष्ट में भाव विभोर तन्मय हो कर नाचने लगता है। वह आत्म-विस्मृति के द्वारा समाधि अवस्था की ओर अग्रसर हो जाता है, जो कि धर्म का चरम साध्य है।

धर्म-दर्शन की प्रविधि वैज्ञानिक प्रविधि से भिन्न है। धर्म का अनुभूति-जगत इन्द्रियों की संवेदना से पैदा नही होता। बल्कि उल्टी इन्द्रिय-संवेदना धार्मिक अनुभूतियो के मार्ग में बाधा है। उसे शून्य करने के बाद ही धर्म के क्षेत्र मे आगे बढ़ा जाता है। उस क्षेत्र की अनुभूतिया स्वतः सत्यापित होती हैं। उस की प्रविधि अत: साक्षात्कार है जो इन्द्रिय साक्षात् से सर्वथा भिन्न है। वैज्ञानिक प्रविधि धार्मिक अनुभूति के विषय का सत्यापन नही कर सकती। धार्मिक अनुभूति-जगत मनोमय कोष से इतर विज्ञानमय कोष, फिर उससे भी आगे आनन्दमय कोष मे स्थित है, जब कि विज्ञान की आगमन और निगमन प्रविधि मोमय कोष से आगे यात्रा नहीं करती। वह मन की सतह पर खड़े होकर ही गहन सागर की गहराई का अंदाजा भर लगाता है, जो अल्प सत्य, अर्द्ध सत्य या कभी कभी असत्य तक ठहरता है। इसलिए धर्म विज्ञान का विषय नही हो सकता। विज्ञान की सतही दृष्टि में धर्म-चर्चा एक बड़ा धोखा है, फ्राड है, क्योंकि वह विज्ञान की तर्कप्रणाली से संगत नहीं हो पाता। किन्तु विज्ञान का इस प्रकार का फतवा देना आत्म प्रवंचना के अतिरिक्त और कुछ नही।

उधर धर्म विज्ञान को अपना शत्रु नहीं मानता, क्योंकि धर्म शास्ता विज्ञान की प्रविधि को भी जानता है और उसके सापेक्ष महत्व को स्वीकारता है। वैज्ञानिक तर्क की पूर्वमान्यताएं, स्वयंसिद्धियाँ खुद तर्क की उपज नहीं है। उनका सत्यापन विज्ञान की परिधि से बाहर है। फिर भी वे स्थापित सत्य हैं। आखिर उन की स्थापना का स्रोत क्या है! वह स्रोत निश्चित ही वैज्ञानिक तर्क से परे इन्द्रियातीत अनुभूति-जगत में निवास करता है। जहां से लेकर हम उन्हें इन्द्रिय-सत्यापन की चरखी पर चढ़ा कर बार बार परखते हैं। यह परोक्ष सत्यापन हम केवल अपने चकित मन के संशय को मिटाने के लिए करते हैं। मन चकित इसलिए है, कि हमें विश्वास ही नहीं हो पाता कि ये स्थापित सत्य स्वत: सत्य कैसे हो गए और हम उन्हें परतः सत्य स्थापित करने मे लगे रहते हैं। किन्तु धार्मिक अनुभूतियुक्त मन इन स्वतः स्थापित सत्यों की पुनस्थापना को निरर्थक व्यायाम मानता है, क्योकि उन का सत्यापन तो अंतःज्ञान की प्रविधि से पहले ही हो चुका था। मैं तो कहूंगा, कि जिन वैज्ञानिकों ने इन स्वयंसिद्धियों और पूर्वमान्यताओं को खोजा होगा वे उन क्षणों मे धर्म के शुद्ध धरातल पर उतर गए होंगे और उन्होने उन्हें उसी धरातल पर अंतःज्ञान की प्रविधि से सत्यापित भी कर लिया होगा अत: ये स्वयंसिद्धियाँ और पूर्वमान्यताएँ विज्ञान-जगत को धर्म की ही देन कही जा सकती हैं। धर्म ने विज्ञान को स्वस्थ आधार प्रदान किया है।

अनुभूतियों का सिलसिला भीतर से बाहर की ओर चलता है, बाहर से भीतर की ओर नही। अंतःसाक्षात्कार ही उसकी प्रविधि है। जीने की जिजीविषा भीतर से ही उद्वेलित होती है जो इन्द्रियों की सतह पर आकर मात्र भभूक पड़ती है। देखने की बात है, जब हम इन्द्रिय-साक्षात्कार करते हैं, तो हम उसका स्रोत बाह्य को मान लेते हैं। यदि उस समय हम इन्द्रियों के त्वक् मण्डल को, मस्तिष्कस्थित चेतना-केन्द्र से विच्छेदित कर दें, तो क्या वह साक्षात्करण संवेदना से आगे चल पाएगा। नहीं। फिर उस संवेदना को यदि मस्तिष्कीय चेतना-केन्द्र तक ले जाने दें, किन्तु अपनी ध्यान प्रक्रिया से चेतना को बाह्योन्मुखी न रहने दें, उसे अंतर्मुखी कर दें, तो क्या

वह इन्द्रिय-प्रत्यक्षीकरण ज्ञान का रूप धारण कर सकेगा ! नहीं। और यदि हम किसी भौतिक तकनीक से ध्यान किया पर भी नियंत्रण साधने में सफल हो जाएं और मस्तिष्कीय तंतुओं के प्राण-प्रवाह को वाह्योन्मुखी बना सके, लेकिन व्यक्ति इतना समर्थ है कि वह शरीर के आधार से सर्वथा मुक्त होकर समाधि की तुरीय अवस्था में दीक्षित हो जाए, तो क्या वह इन्द्रिय-स्रोत से आया हुआ स्नायविक प्रवाह ज्ञान का रूप धारण कर सकेगा ! इसका भी उत्तर नकार में ही होगा। तो इससे यह निष्कर्ष निकला कि समाधि-अवस्था का शुद्ध चैतन्य ही जब मास्तिष्क तंतुओं में संचरित होकर वाह्योन्मुख ध्यान से इन्द्रियों के आखिरी बिन्दु तक वैद्युतिक चुंबकीय अत-धारा के द्वारा प्रसरित हो जाता है, तभी और केवल तभी वाह्य उत्तेजन की संवेदना चल कर ज्ञान और धारणा के स्तर तक पहुंच पाती है। ज्ञान की भीतरी शर्त प्रमुख है। इस भीतरी शर्त पर वाह्य का कोई नियत्रण नही है, बल्कि अंतरंग की ही वाह्य पर कृपा है कि वह स्वाधीन चरित्र होते हुए भी अनादि से किसी अनजानी मजबूरी में फँसा हुआ शरीर रचना के जाल में बद्ध है। यही उस का कर्म बंधन है। इस बंधन को आत्म काट फेंकना है जब उसे भेद विज्ञान का सुअवसर प्राप्त हो जाता है और वह आत्मचेतन हो कर वाह्य से निवृत्त हो अपने शुद्ध स्व-रूप में दीक्षित हो जाता है। जब तक वह अवसर उदित नहीं होता, तब तक इन्द्रियो की प्रविधि जोते हुए उस पर सवार रहती है और उसके द्वारा निकाले हुए निष्कर्षों को अपना कहती रहती है। बहरहाल, बस्तु स्थिति जो है सो है। धर्म-क्षेत्र की आस्था विज्ञान की अमूल्य धरोहर है चाहे विज्ञान उस धरोहर के मूल्य को सराहे या न सराहे, क्योंकि वह यूं ही सहजत: उपलब्ध हो गई है न ! इसलिए घर की मुर्गी दाल बराबर।

विज्ञान का सत्य ऐकान्तिक सत्य है, क्योंकि वह दिक्काल-परिस्थिति के समीकरण पर आधारित है। उस की प्रविधि दिक्काल की अपेक्षा लेकर चलती है। इस लिए उसका निष्कर्ष दिग् काल के विशेष बिन्दु की सीमा से बँधा हुआ रहता है और उस का सत्यापन भी दिक्काल सापेक्ष स्थिति विशेष से ही होता है। धर्म का सत्य अनेकांतिक है, क्योंकि वह दिक्काल की सीमा से परे अंत: ज्ञान की व्यापक प्रविधि से प्राप्त है। उसकी दृष्टि निरपेक्ष है, दिक्काल की पहुंच से दूर। इसलिए विज्ञान के ऐकान्तिक सत्य की गरिमा इसी में सुरक्षित है कि वह धर्म के अनेकान्तिक सत्य से मंडित रहे। एक ओर अनन्त विस्तार, तो दूसरी ओर सान्त परिधि और उसका सीमित उपयोग। जैसे विगंत में बहती हुई मुक्त बयार वायु चक्की के पंख में फँस कर कुछ काल के लिए उपयोगी हो जाए और फिर अनन्त आकाश मे मुक्त हो जाए। उसी प्रकार आस्था के मुक्त आकाश में चैतन्य की अनन्त आयामी ऊर्जा राशि कुछ काल के लिए विज्ञान की किसी उपयोगी यंत्र-विधि मे फंस कर कुछ हो जाए या कर दे और फिर मुक्त हो कर स्वाधीन हो जाए। एव विज्ञान धर्म का मुखापेक्षी है। धर्म के बिना वैज्ञानिक तकनीक सजनशील नही रह सकता। धर्म ही वैज्ञानिक मेधा को सृजनशीलता प्रदान करता है। दृष्टव्य है, यहां धर्म से मतलब सम्प्रदाय-संगत क्रियाकाण्ड आडंबर नहीं है। वह व्यक्ति भी धार्मिक हो सकता है, और शायद वह अधिक होता भी है, जिस ने किसी मंदिर मस्जिद की शक्ल नही देखी है और जो सदैव पूर्ण निष्ठा से सत्य को समर्पित रहा है। धर्म का क्षेत्र सारी उपाधियों से मुक्त निरपेक्ष लोक है, जिस में केवल विराट ईश्वर का शासन है। वह ही वहा है। उस के अतिरिक्त कुछ नही, परिपूर्ण अद्वैत सत्।

सम्प्रदायो में, जैसा कि पहले कहा गया, अंधविश्वास अधिक पलता है। धार्मिक ग्रंथो का नित्य पारायण, मात्र सूचना है। शाब्दिक पूजा अर्चा क्रियाकाण्ड, कीर्तन सब वाह्य प्रेरित भावोद्वेग मात्र जगाना है और अपने को धर्म से जोड़ने का बहाना भरना है। किन्तु यह सब वास्तविक धर्म-अनुभूति के बिना कोरा आडम्बर है और धर्म-विरुद्ध भीड़वाद है। भीड़वाद धर्म का शत्रु होता है। वह धर्म नहीं, धर्माभास में पलता हुआ विश्वास जो संस्थागत धर्म-सम्प्रदाय के प्रतीकों, नारों गुरुओं, ग्रंथों आदि के प्रति श्रद्धा बन कर उमड़ पड़ता है वह केवल अंधविश्वास और अंधश्रद्धा होती है अंधविश्वास और श्रद्धा दोनों धर्म और मानवता के लिए नुकसानदेह हैं। इसी अंधविश्वास पर यथाकथित धर्म-युद्ध, जिहाद और

क्रुसेड छेड़े जाते है और गर्हित नरसंहार होते रहे है। यह सब धर्म-भावना के ही विरुद्ध है और उसी धर्म की जड़ खोदते हैं जिसकी ये जय बोलते हैं। मैं यह नहीं कहता कि पूजा, अर्चा, नमाज, रोजे, ग्रथपारायण, कीर्तन आदि बुरी बातें हैं, किन्तु ये अच्छी और उपादेय तभी हैं जब इन के पीछे वास्तविक धर्म-अनुभूति छिपी हो, सही रूप में ईश्वर या अल्लाह से जुड़ी आस्था बैठी हो और उसी से सहजत. फूटी हो। बिना आस्था और अनुभूति के ये सब बुरी तो नहीं, लेकिन निरर्थक जरूर है। आस्था अधी नही होती। उस मे ईश्वरीय प्रकाश उद्दीप्त होता है। इसलिए आस्थाजनित पूजा अर्चा अधी नही होती और वह व्यक्ति और समूह के लिए हितकर होती है। किन्तु विशेष बात यह है कि आस्था व्यक्तिगत स्तर पर ही हुआ करती है, समूहस्तर पर नहीं। समूह मे आस्थाभास होता है। इसलिए समूह के कधों पर चलने वाला धर्म अधा ही होता है। सच्चा धर्म व्यक्ति ही पालता है, वह भी समूह या भीड़-भावना से अलग हो कर। हां, अधिक से अधिक यह हो सकता है कि समूह स्तर पर पाली गई धार्मिक क्रिया-काण्ड का आधार अधविश्वास न हो, प्रबुद्ध विश्वास हो, लेकिन यह भी तभी हो पाता है जब धर्म का आस्था सस्थागत धर्म के नियमो को सावधानी पूर्वक लागू करवाए और दीक्षित व्यक्तियों की सही ढग से परख हो। जिहाद और धर्म-युद्ध तो प्राय: उन्माद ही पैदा करते रहे हैं। पैगम्बर मुहम्मद के बाद जितनी जिहादे हुई वे सब की सब शुद्ध-रूपेण युद्धोन्माद थे। सिक्ख गुरू गोविंद सिंह के बाद कोई भी धर्म-युद्ध युद्धोन्माद के अलावा और कुछ नहीं रहा। इसलिए धर्म-शास्ताओं को भी धर्म के नाम पर युद्ध छेड़ना वाजिब नही है। और यदि वें देश-काल की मजबूरी के कारण कभी सशस्त्र युद्ध छेड़ते भी हैं तो वह उन्हीं तक सीमित रहना चाहिए, उसे परम्परा में नहीं डालना चाहिए। वरना उनके अनुयाइयों की भीड़ उस का दुरूपयोग जरूर करती है। इतिहास में ऐसा होता भी रहा है। भीड़वादी उन्माद में पड़ कर कोई धर्म परम मागल्य का वाहन नही करता। भीड़ सदैव ही अध विश्वासों की वाहिका होती है।

यह नही, कि अंधविश्वास और मदांधता केवल धर्म के ही क्षेत्र में होती हो, वह धर्म के अतिरिक्त क्षेत्रों मे भी समान रूप से दृग्गोचर होती है। मदांधता अपने लिए अच्छे अच्छे नारों का बहाना ढूढती रही है, जब जो मिल जाए। गजनी के महमूद को अपनी मदाधताजन्य लूटमार और हिंसा के लिए इस्लाम का बहाना मिल गया, किन्तु उस के पूर्व हूणों शकों को ऐसा कोई धार्मिक बहाना नही मिला तो भी वे वैसे ही क्रूर रहे। ईरान के अयातुल्लाह खोमैनी को अपनी क्रूरता और हिंसा के लिए इस्लाम ने मुखौटा दिया तो उसी देश के शाह को आधुनिक पूजीवाद से वैसी ही प्रेरणा मिली। यहाँ तक कि बौद्ध धर्म का अनुयायी चगेज खाँ और हलाकू अहिंसा धर्म की जय बोलता हुआ इतिहास के क्रूरतम विजेताओं मे गिना गया। ईसा प्रेम और करूणा की मूर्ति हुए, किन्तु उनके अनुयाइयों को और कोई नही, उन्ही के उपदेशो मे न जाने कहां से और कैसे हिंसक क्रूसेड करने की प्रेरणा मिल गई, तो सच पूंछो।, मदांधता का कोई धर्म और ईमान नही होता। वह तो मनुष्य की लिप्साओ और क्रूर हताशाओ की अभिव्यक्ति होती है। धर्म का इस से कोई लेना देना नही। मदांधता ने सस्थागत धर्म अथवा सम्प्रदायो कों, सम्प्रदायों ने वास्तिविक धर्म को बदनाम किया है और शैतान ने ईश्वर का नाम ले कर अपना काम बनाया है। यही आज तक का इतिहास बोलता है। वास्तविक धर्म की उपयोगिता अपनी जगह है। वह रही है और वह रहेगी।

राजकीय इण्टर कालेज राम नगर (नैनीताल)

हिन्दी जैन-काव्य के अज्ञात कवि

□ डा० गंगाराम गर्ग

हिन्दी का मध्यकालीन जैन-काव्य अपनी 'रीति'-विरोधात्मक प्रकृति तथा समृद्धि दोनों ही कारणों से बडा महत्वपूर्ण है। किसी लोभ-लालच अथवा दबाव के कारण न लिखे जाने के कारण उसमे सहजता भी है। शोध-विद्वानो द्वारा अनेक काव्य-कृतियां प्रकाश मे ला देने के पश्चात् भी ऐसे कवि कम नही होंगे जिनकी काव्य-कृतियां आज भी प्रकाश नही देख पाई हैं। राजस्थान के प्राचीन जैन-स्थल कामां और दीवान जी मन्दिर भरतपुर में प्राप्त पूर्णतः अज्ञात कवियो एव रचनाओं का परिचय इस प्रकार है—

(१) **वर्द्धमान**—वर्द्धमान कृत 'बाहुबलि रास' एक सुन्दर खण्ड काव्य है। ग्रंथ का प्रारम्भ सरस्वती और गणधर की वन्दना से हुआ है। आदिनाथ के दोनों पुत्रों भरत और बाहुबलि का जन्म, दिग्विजय के प्रसंग में भरत का चक्र नगर मे प्रविष्ट न हो पाना अपयश और कुल-मर्यादा को ध्यान में रखते हुए बाहुबलि द्वारा भरत की आधीनता स्वीकार न करना आदि सभी प्रसग मनोरम हैं। बाहुबलि के मुष्टि-प्रहार में उनकी अद्भुत वीरता के दर्शन होते हैं—

निहचै जाणगी काल भरत जब आगे आये।
मुष्टिकाज ही उठाय, बहौत मन में दुःख पायो।
इन्द्र सुदामा आय कै; पकरी भूदज आय।
जीवदान बकसो बाहुबलि, देओ भरत को काय।
सुणौं अति भाव सौ. २०॥

पारस्परिक युद्ध से विरक्त भरत और बाहुबलि दोनों भाई तथा ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों बहिनें आदिनाथ के समवशरण में पहुंचते हैं। समवशरण की रचना देखकर दोनों भाई आदिनाथ के चरण-कमलों का ध्यान धरते हैं।

(२) **राम कृष्ण 'विरक्त'**—इनकी तीन रचनाएं मिलती हैं। परमार्थ जखड़ी, त्रिलोक पूजा एवं नौकार महात्म्य की ढाल। त्रिलोक पूजा की प्रशस्ति के अनुसार रामकृष्ण जयपुर निवासी दीपचन्द के पुत्र थे। ये उम्मेद सिंह के शासनकाल मे शाहपुर गए। वहां से रामकृष्ण मालव देश के भडलापुर नगर मे गए। भड़लापुर नगर में उन्होने उस समय जिन पूजा और उत्सवों की बहुतायत बतलाई है। ब्रह्मचारी होने के कारण ये इतना घूमे नौकार माहात्म्य की 'ढाल' मे लेखक ने ऋषभदेव के वैराग्य की कथा एवं उनके पूर्वभवों का वृत्तान्त कहा है। परमार्थ जखड़ी में जन्म-जन्मांतरो के कष्टों से दुःखी कवि मोक्ष का अभिलाषी है—

या विधि इन माही जानें, परिवर्त्तन पूरे कीने।
तिनकी बहु कष्ट कहानी, सो जानैं केवल ज्ञानी।
ज्ञानी बिन दुष कौन जानैं जगत बन मैं जो लह्यौ।
जर मरन जम्मन रूप तीखन, त्रिविध दावानल दह्यौ।
जिन मत सरोवर पालकी, बैठि ताप बुझायहौ।
जिय मोख पुर की बाट बूझौ, अब न बार लगाय हो।

राम-दर्णन के बीसियों दोहे जैन मन्दिर बयाना (भरतपुर) के गुटके मे सगृहीत हैं।

(३) **सूरति**—जैन कवि 'सूरति' रीतिकालीन कवि सूरति मिश्र से भिन्न हैं। सूरति की बारह खड़ी प्रसिद्ध हैं। जो विभिन्न मन्दिरो के गुटकों में देखने को मिलती है। बारह खड़ी के ४० दोहों और ३६ छन्दों में सप्त व्यसन, गुरु महिमा तथा सदाचार की चर्चा है। काव्य में उद्बोधन के तीव्र स्वर हैं:—

नाना नाता जगत मैं अब स्वारथ सब कोय।
आनि गाढ़ जा दिन परै, कोइ न संगाती होय।
कोइ न सगानी होइ न साथी, जिस दिन काल सतावै।
सब परिवार आपनै सुष कौ, तेरे काम न आवै।
अब तू समझि समझि इस विरियां फिरि पाछे पछितावै।
सूरति समझि होय मत बौरा, फिरि यह दाव न पावै।

(४) केशव पाण्डे—केसव पाण्डे की अद्यावधि प्राप्त रचना 'कलिजुग कथा' है। यह रचरा काष्ठा संघ के मुनि ज्ञानभूषण के उपदेश से लिखी गई है। रचना में ४४ छन्द हैं। कलिजुग में चरित्र पतन की स्थिति के बारे में कवि का कहना है—

कलि मैं लरि बड़न है नारी, कलि मैं पूत लरै महतारी।
कलि मैं सो हर बात है झूंटी, कलि मैं त्रिया पुरुष तैं रूठी,
कलि मैं भांग तामाखू आई, कलि मैं गऊ कृपण दिषाइ।
कलि मैं वृत्त विधान सब षोये, कलि मैं पिता पुत्रकू रोये।

(५) सुन्दर—दादू पन्थी कवि सुन्दरदास से भिन्न जैन कवि 'सुन्दर' का 'दया रासो' एक छोटी रचना होते हुए भी इसलिए महत्त्वपूर्ण कि उसमे बाह्याचार की निंदा की गई है—

जल मैं करि असनान, मसलि तन मैल उतारै।
छापे तिलक बनाय, और गल माला धारै।
तीरथ बड़तो फिरै, गिनै न रेन सवार।
करन सूं परच्यौ नहिं, क्यों पावै भव पार।३॥
कहा धरै सिर जटा, कहा नित मूंड मुंडावै।
कहा धरै बहु मौन, कहा निन भस्म लावै।
पंच अगिन साधै कहा, धूम रहित मब चार।
कृपा हेत जानैं न क्यो, शिव लहै गवार।४॥

(६) मनोहर—पण्डित मनोहर के सवैये तेरह पंथी मन्दिर पुरानी टोक के १०२ गुटके में प्राप्त हुए हैं। विभिन्न सवैयों में जैनाचार की शिक्षा के अतिरिक्त कवि ने लोक व्यवहार के चित्र भी प्रस्तुत किए हैं।

भूष बुरी संसार, भूष सब ही गुन षोवै।
भूष बुरी संसार, भूष सबको मुष जोवै।
भूष बुरी संसार, भूष आदर नहिं पावै।
भूष बुरी संमार, भूष कुल मान घटावै।
भूष गवोवै लाज पति, भूष न राखै कार मैं।
भन रहति 'मनोहर' इम कहै भूष बुरी संसार मैं।

मेक 'मनोहर' के नाम से ११ छद की 'सीष सुगुरु की' एवं १५ छंद की 'ग्यान पच्चीसी' दीवान जी मन्दिर, भरतपुर में उपलब्ध है। *'ज्ञान पच्चीसी'* दीवान जी मन्दिर भरतपुर में उपलब्ध है। 'ज्ञान पच्चीसी' मे कवि ने सांसारिक कष्टों की जानकारी देते हुए ज्ञानोन्मुख होने की प्रेरणा दी है—

संकट बहु उदर मैं रे औंधे मुष लटकाय।
नरक बसैं वैं दुष सहै रे, तब प्राणी पिछताय।
पिछताय प्राणी वीनवै, औतार द्यो जगदीश जी।
संसार सूं कारण नहीं—तुम तणी सेव करीस जी।
जगदीस जी तब सार कीनी पामियों औतार रे।
संसार मांही भमर भूल्यो, भाड़िया व्योपार रे।
व्योपार करि जाण्यौ नहिं, ये कारण प्राणी दुष सहै।
कहै 'मनोहर' उदर मैं औंधे मुष लटक्यो रहै।

ब्रह्म वेणीदास—दिगम्बर गच्छपति जसकीर्ति के शिष्य ब्रह्मचारी 'वेणु' बाकनीवाल गोत्रिय खंडेलवाल जैन थे। इन्होने 'आनन्दपुर' में पांच परवी की कथा' लिखी जिसमें पांच पर्व व्रत का माहात्म्य, तथा विधि-विधान बतलाया गया है। इसमें ८६ छंद है। कवि की दूसरी रचना 'पोपाबाई की कथा' है जो संवत् १७७८ में लिखी गई। इसमें ५२ छदों में किसी राजा द्वारा *न्याय अन्याय* की स्थिति पर सम्यक् विचार न किए जाने पर व्यंग्य किया गया है। भाषा का नमूना इस प्रकार है—

सोभ बधी सब सहरै की, सुष हूवै सब लोग।
दांन मान महैमा बंधी, हुवो धर्म को जोग॥४७॥
परजा सुष पायो घणू—बढयो धर्म हितकार।
दान पुन्य कीजे भला—जन्म सफल सुषकार॥४८॥

जिनदास:—गोधा गोत्रीय खडेलवाल जैन जिनदास की रचना 'सुगुरु शतक' की प्रशस्ति के अनुसार कवि जयपुर के रहने वाले थे। अपने पिता और पितामह से धार्मिक मतभेद होने के कारण जयपुर से मत्स्य में आए। जिनदास के नाम से एक ५१० छद का बडा ग्रंथ 'जम्बू स्वामीरास' कामां के जैन मन्दिर में उपलब्ध है। परमेष्ठी द शारदा को प्रणाम करते हुए यह रचना दोहा चौपाई छन्दों में सरल भाषा में लिखी गई है। कवि के दोनों ग्रन्थों की भाषा परिनिषित ब्रजभाषा होने के कारण यह कवि 'ब्रह्म जिनदास' से कतई मेल नही खाते—

मात तात सुत भ्रात को न तो जगत की राहु।
धर्म न तो एह सिव हैं, जित भावे तित जाव।
जाते मन वच काय ते, सुनो सयाने लोक
धर्म न ताके जनन कु, कबहूं न दीजै ढोक।

(शेष पृ० ३१ पर)

अनेकान्त

वर्ष ३८ किरण ४ | वी० नि० सं० २५१२ वि० सं० २०४२ | अक्तू०-दिसम्बर १९८५

अनुकूलता-प्रतिकूलता

☐ हरिकृष्ण दास 'हरि'

जीवन में कुछ अनुकूल होता है, कुछ प्रतिकूल।
मन चाहता है—सब अनुकूल ही अनुकूल हो।
क्या यह संभव है?
क्यों नहीं?
तनिक गहरे जाइये।

सब में सब है। प्रत्येक अनुकूल भी है, प्रतिकूल भी। अनुकूलता के पीछे से प्रतिकूलता झांक रही होती है और प्रतिकूलता के पीछे से अनुकूलता। सोलहों आने अनुकूलता है न प्रतिकूलता।
मन की दृष्टि दोषपूर्ण है; इसलिए मनचाहा नहीं होता।

शुद्ध दृष्टि सब देख सकती है और सब नहीं भी देख सकती है। जब जो जितना चाहिए, वह देखती है और जब जो जितना नहीं चाहिए, नहीं देखती है।

मन की दृष्टि शुद्ध होते ही मनचाहा हुआ धरा है।

प्रतिकूलता में अनुकूलता है ही। तब सहज उसके दर्शन कर सकेंगे और फलतः कूलना छूट जायेगा।

जरा और समझदारी से काम लेने पर अनुकलता में प्रतिकूलता के भी दर्शन कर सकेंगे; फलस्वरूप फूलने से बचे रहेंगे।

स्मरण रहे—कूलना कमजोरी लाता है और फूलने से गुब्बारे की तरह फट कर रह जाना पड़ता है।

इतना करने पर एक और बात भी होगी।

तब आपको सहज समता सुन्दरी के दर्शन होंगे और जो आपमें उसे प्रेम के दर्शन हुए, तो वह आपको वर भी लेगी। फिर तो सहज नित्य-निरन्तर पौबारह ही रहेंगे। क्यों, क्या नहीं?

और चाहिए भी क्या?

—कूचा पातीराम, दिल्ली-६

णायकुमारचरिउ की सूक्तियाँ और उनका अध्ययन

☐ डा० कस्तूरचन्द्र 'सुमन'

हिन्दी साहित्य में 'बिहारी सतसई' के सम्बन्ध में विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि सतसई के दोहे देखने में तो छोटे लगते हैं किन्तु नाविक के तीर के समान वे गंभीर घाव करते हैं।[1] प्रस्तुत सूक्तियाँ सतसई के दोहों की अपेक्षा कहीं अधिक छोटी और अधिक अर्थ-गाम्भीर्य लिए हुये हैं। यदि हम यह कहें कि उनमें अर्थ-गाम्भीर्य वैसा ही दिखाई देता है, जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र के सूत्रों में तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

सूक्तियों में लोक हितैषी भावनाएँ दिखाई देती हैं। विशिष्ट अनुभव, चिन्तन और मनन के उपरान्त ही ये किसी घटना विशेष या कथन के निष्कर्ष रूप में कही गयी प्रतीत होती है। उनमें शाश्वत् सत्य उद्घाटित किए गये हैं। संक्षेप में होना उनका विशिष्ट गुण है। सूक्तियों से नवचेतना जागृत होती है, अस्थिरता स्थिरता में परिणत हो जाती है।

सूक्ति शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ प्रतिफलित होता है। सूक्ति—सु+उक्ति से निर्मित है। सु का अर्थ है सुष्ठु अच्छा और उक्ति का अर्थ है कथन। इस प्रकार इस व्युत्पत्ति के अनुसार सूक्ति का अर्थ है अच्छा कथन, और अच्छा कथन वही कहा जा सकता है जिसका श्रोता पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहे। श्रोता उसी कथन से प्रभावित होता है जो हितकारी, मनोहारी और कर्णप्रिय हो। संक्षिप्त होना भी आवश्यक है। सूक्तियों में संक्षिप्तीकरण तो होता ही है। इसके अतिरिक्त वे हितैषी, मनोहारी और कर्णप्रिय भी होती हैं। अतः इस व्याख्या के आलोक में कहा जा सकता है कि वे "यथा नाम तथा गुण" कहावत को चरितार्थ करती हैं।

पुराणों में सूक्तियों को सुभाषित कहा गया है तथा रत्न भी[2]। सुभाषित शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति की जाये तो सुभाषित और सूक्ति दोनों के अर्थ समान ही ज्ञात होते हैं। अतः सुभाषित और सूक्ति दोनों अर्थ साम्य होने से सुभाषित-सूक्ति का पर्यायवाची कहा जा सकता है। 'रत्न' कहा जाना बहुमूल्यत्व का प्रतीक है। सूक्तियाँ हैं भी रत्न के समान बहुमूल्य, क्योंकि वे अनुभव के बाद कही जाती हैं, जो अनुभव बहुसमय एवं कष्ट साध्य होता है। पुराणों और चरित काव्यों में ऐसे रत्न भरे पड़े हैं[3] किन्तु प्राप्त उन्हें ही होते हैं जो ऐसे काव्य-सागर में गोता लगाने में सिद्धहस्त हैं।

सुभाषितों को मन्त्र ही नहीं महामन्त्र भी कहा गया है।[4] परन्तु वे ऐसे मन्त्र हैं जिनका प्रयोग कवि ही कर सकता है। ऐसे मन्त्रों से दुर्जन पुरुष भूतादि ग्रहों के समान प्रकोप को प्राप्त होते हैं। मन्त्रों और सुभाषितों के प्रयोगकर्ता यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं परन्तु अन्य तथ्यों में (जैसे मनोहारिता, कर्णप्रियता, हितैषीपना और संक्षिप्तीकरण)

---

१. सतसइया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर।।

२. यथा महार्घ्यं रत्नानां प्रसूतिर्मकराकरात्।
तथैव सूक्तरत्नानां प्रभवोऽस्मात्पुराणतः।।
सुदुर्लभं यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितम्।
सुलभं स्वैरसंग्राह्यं तदिहास्ति पदे-पदे।।
—आचार्य जिनसेन, महापुराण : २, ११६ और १२२

३. महापुराण पद्मपुराण और वीरवर्द्धमानचरित में क्रमशः ७६२, १००० और १११ सूक्तिरत्न अब तक प्राप्त हो चुके हैं।

४. सुभाषितमहामन्त्रान् प्रयुक्तान्कविमन्त्रिभिः।
श्रुत्वा प्रकोपमायान्ति दुर्ग्रहा इव दुर्जनाः।।
—महापुराण : वही; १, ८८

५. जुआ खेलना मांस मद वेश्या व्यसन शिकार।
चोरी पररमणी-रमन सातों व्यसन निवार।।

समानता होने से सुभाषित मन्त्र है या मंत्र के समान हैं। मन्त्र कहे जाने से यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि सुभाषित भी मन्त्रों के समान कष्टहारी हैं। इनके प्रयोग से अर्थात् चिन्तन-मनन से कष्ट वैसे ही दूर हो जाते हैं जैसे मंत्रों से सर्पदंशादि जनित कष्ट।

संस्कृत साहित्य जैसे सूक्तियों का वृहद् भण्डार है, वैसे ही अपभ्रंश साहित्य भी सूक्तियों का खजाना है। कवि पुष्पदन्त अपभ्रंश भाषा साहित्य के कवियों में श्रेष्ठ कवि स्वयम्भू के उत्तरवर्ती कवियों में श्रेष्ठ कवि हैं। आपकी चार रचनाएँ उपलब्ध हैं—महापुराण, जसहर-चरिउ, णायकुमारचरिउ, और वीरवर्द्धमान चरिउ। इनमें 'णायकुमारचरिउ' की सूक्तियों से ही यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सूक्ति साहित्य में उनका कितना योगदान रहा है।

णायकुमारचरिउ की सूक्तियाँ न केवल कर्णप्रिय हैं अपितु उनमे वैसा ही अर्थ गाम्भीर्य भरा है जैसा कि संस्कृत भाषा के कवि भारवि की रचनाओं मे अर्थ-गौरव। वे शाश्वत् सत्य प्रकट करती हैं। उनमें ऐसे तथ्यों का समावेश है जो इहलौकिक और पारलौकिक सुखों की ओर जीवों को प्रेरित करते हैं। सूक्तियों के अन्तर में कवि का गहन अध्ययन और चिन्तन है। किंकर्तव्य विमूढ़ावस्था में अन्धे की लाठी हैं।

कवि ने वृद्ध उसे नहीं माना जो जरा से जर्जरित, या दन्तविहीन हैं अथवा जिनके केश श्वेत हो गये हैं। उनकी दृष्टि में तो वृद्ध वे हैं जो सज्जन और सुलक्षण होते हुये शास्त्र और कर्म संबंधी विषयों में प्रवीण हैं। इसी प्रकार उन्होंने अधर्म और तीर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में, गृहस्थ धर्म कैसे धारण हो? क्षुद्र कौन? आदि विषयों के समाधानों में भी नवीन दृष्टि से चिन्तन किया है। संबंधित सूक्तियाँ क्रमशः १५, १७, ७५, ३४, ५४ उनके मनन और चिन्तन की परिचायक हैं।

अपने अनुभवों को भी कवि ने सूक्तियों में उड़ेल दिया है। दूरदर्शिता है। संकेत है विसंगतियों से बचने का एवं उनसे जूझने का पराजय प्राप्त होने पर धैर्य धारण करने का। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं सूक्तियाँ क्रमशः १, ३, १०, ११, १२, ४१ और ५७।

पुण्य और पाप का माहात्म्य (२, ६, १८), भाग्य की प्रबलता (४, ५३), जैन धर्म की महत्ता (५), कर्मानुसार सुख-दुख (११), काम की वैचित्र्यता (२८), निर्मल स्वभाव की महत्ता (७२) गुरु-शिष्य के आदर्श सम्बन्ध (२६), संसार की निस्सारता (४३), देह और स्नेह की सार्थकता (४५, ४५) गुणी के प्रति सद्भाव (३२) विनय की महत्ता (१६) और गुणग्रहण (६०) जैसे विषय के सम्बन्ध में कवि के व्यक्त विचार द्रष्टव्य हैं।

चित्त शुद्धि को कवि ने प्रधानता दी है। वे चित्त से शुद्ध वेश्या को भी कुलपुत्री कहते हैं (२५)। नारि स्वभाव के तो वे पारखी रहे ज्ञात होते हैं। उन्होंने एक ओर जहाँ उन्हें रत्न कहा है, दूसरी ओर यह भी कहा है कि नारियाँ अपना हित नहीं जानतीं, प्रिय के दोषों को भी गुण मानती हैं, स्वभाव से वे वक्र होती हैं (२४, २९, ५५)।

जीव हितैषी भावनाओं को भी सूक्तियों में पल्लवित-पुष्पित होने दिया है। सुख-दुख के कारणभूत संसार से छूटने हेतु क्षणभंगुरता और नश्वरता का भी भली-भाँति बोध कराया गया है। यौवन नाशवान् है, मरण सुनिश्चित है, अच्छी वस्तुओं का योग वियोगमयी है (८, ९ ४२, ४३, ४६, ५१) और मरण काल में कोई शरण नहीं है (४०, ४७, ४८) आदि विषयों का निरूपण कर स्वहित करने के लिए सूक्तियों के माध्यम से कवि ने प्रेरणा प्रदान की है। जैनदर्शन में जैसे सप्त व्यसन असेव्य बताये गये हैं,[१] किञ्चित परिवर्तन के साथ सूक्तियों में भी सप्त संख्यक असेव्य कार्यों को त्याज्य बताकर उनके सेवन के फल को भी दर्शाया है (२३, ३५) जिससे कि भयभीत होकर मनुष्य उनका सेवन न करे। उनके परिणाम आज भी बुरे ही देखे जाते हैं।

धन विकारोत्पादक है, धन हो तो निर्धनों का तो पालन-पोषण करे किन्तु पापियों का नहीं। पापियों को धन देना कोश को सुखाना है। धन के सम्बन्ध में कवि के विचारों में नवीनता है। यथार्थता को प्रकट करने में वे सफल हैं। दान संबंध में ये कथन उल्लेखनीय हैं (३०, ३१, ३८, ५९)।

संगति उन्नति के लिए आवश्यक है, कुसंगति नहीं (१४, २२), शोभा किसकी किससे? विषयों की बोधक

सूक्तियाँ भी इस चरित में उपलब्ध हैं (६१-६६)। इनमें जीवन सुधार सम्बन्धी संकेतो का समावेश है।

मनुष्य की धन-पिपासा कैसे शान्त हो? इस हेतु सूक्तियों मे कहा गया है कि अर्थसिद्धि का कारण धर्म है। धर्म से ही पापो का क्षय तथा नाना प्रकार की संपत्तियां प्राप्त होती है (१६, ५२, ५३)। वह धर्म कौन सा है? जिससे ऐसा होता है, इस प्रश्न के समाधान हेतु नीतियों मे अहिंसामयी धर्म को प्रधानता दी गयी है (४७)। इस प्रकार जीवन मे धर्म के महत्व का प्रतिपादन कर कवि ने नीतियो की उपादेयता सिद्ध की है।

धर्म के सबंध में यह भी वह सत्य है कि जाने बिना वास्तविक रूप से धारण नही किया जा सकता है। जानना तभी संभव है जबकि जानने की शक्ति मोहावृत न हो, क्योकि मोह ही वह है जो ज्ञानियों के ज्ञान को ढक देता है, और मिथ्यादर्शन की ओर ले जाता है (७०-७१)। अतः लगता है ऐसी सूक्तियों मे कवि की यही भावना अन्तर्निहित रही है कि लोग मोह से बचे।

नीतिपूर्ण सूक्तियों मे ऐसे तथ्यों को भी उद्घाटित किया गया है जिनसे कि लोग सामान्य व्यवहार का कुशलता पूर्वक निर्वाह कर सकते है और परस्पर मे प्रेम-भाव बनाये रख सकते है। मनुष्यो के क्या कर्तव्य है? (७), परिजनों को कैसे संतुष्ट किया जावे (२१), विघ्न के सम्बन्ध में योग्य परामर्श (२०) कुमत्री से क्यों बचें? (२७), लक्ष्मी लम्पटी और खल कैसे होते है? (३३, ३६), क्षुद्र का स्वभाव (३७), आदि ऐसे विषय हैं जिनसे जीवन सुखपूर्वक जीने के लिए निर्देश प्राप्त होता है। ऐसा भी कथन प्राप्त होता है कि तप यद्यपि कष्टसाध्य है परन्तु है वह उपादेय ही हेय नही (५८)।

अतः णयकुमारचरिउ की सूक्तियों के साक्ष्य मे कहा जा सकता है कि सूक्तियो के रूप मे जीवनोपयोग, कल्याण-कारी दिशाबोधक बहुमूल्य सामग्री देकर कवि ने न केवल सूक्तिसाहित्य को समृद्ध किया है अपितु भारतीय वाङ्मय की समृद्धि में भी चारचाँद लगाये है।

ऊपर कोष्ठको में दर्शायी गयी सूक्ति सख्याओ से सम्बन्धित सूक्तियाँ आगे क्रमशः दी जा रही हैं। आशा है पाठक लाभान्वित होगे।

—: णायकुमारचरिउ से संकलित सूक्तियाँ :—

१. सिद्धि उण्हउ सीयलु होइ मेहु — ६, ५, ५,
अग्नि उष्ण और मेघ शीतल होता है।

२. भणु किं ण पुण्यवतहो कियउ — २, १४,६
कहो! पुण्यवान के लिए क्या नहीं किया जाता?

३. णिद्दइवहो सुहि वकइ वयणु — २, १४, १०
निर्दयी मनुष्य से मित्र भी मुंह फेर लेता है।

४. दइवेण कालसप्पु वि सयणु — २, १४, १०
भाग्यवश काला नाग भी स्वजन बन जाता है।

५. जसु जिणधम्मु मणे तहो,
दिणिजि द्विणेसुर वि णमंति णिरुत्तउ — २, घत्ता १३
जिसके मन मे जैनधर्म है उसे नित्य निश्चय से देव भी नमते हैं।

६. जह पावपसत्तहो सुहसहणु,
दालिछिएण पावइ रयणु — २, ६, १७
पापसक्त को दारिद्रय के कारण सुखदायी रत्न प्राप्त नही होते।

७. जेण ण तव चरणू किउ दुहहरणू,
विसए ण मणु आउचिउ।
अरुहि ण पुज्जियऊ, मलवज्जियउ,
ते अप्पाणउ वंचिउ॥ — २, घत्ता ६
जिसने दुखहारी तपश्चरण नहीं किया, विषयों से मन को नही खीचा एव दोष रहित अर्हन्त को नहीं पूजा उसने अपने को ही ठगा है।

८. णव जोव्वणु णासइ एइ जरा — २, ४, ५
नव यौवन का नाश होता है और बुढ़ापा आता है।

९. उप्पण्णहो दीसइ पुणु मरणु — २, ४, ६,
जो उत्पन्न हुआ है उसका पुनः मरण देखा जाता है।

१०. अइसुंदररूवें रूउ तहसइ — २, ४, ८
एक सुन्दर रूप के आगे फीका पड़ जाता है।

११. वीरु वि संगामरंगि तसइ — २, ४; ८
वीर पुरुष भी संग्राम में त्रास पाता है।

१२. णियम णुसु अण्णु जि लोउ जिह।
णिण्णेहें दीसइ पुणु वि तिह॥ — २, ४, ६
अपना प्रिय मनुष्य भी स्नेह के फीके पड़ने पर अन्य लोगों के समान साधारण दिखाई देने लगता है।

१३. इह को सुत्थिउ को दुत्थियउ ।
सयलुवि कम्मेण गलात्थिउ ॥ २, ४, ११
इस संसार में कौन सुखी और कौन दुखी है? सभ
कर्मों की विडम्बना में पड़े हैं।

१४. छोइ समुज्जवेए सुसहाएं परिसिय छत्तहयगया।
अलसंतेग पिसुण जए संगे णासइ राय सपया ॥
३, २, दुवई
भली भांति उद्यम करने से एवं सन्मित्र के सहयोग से ही छत्र, अश्व और हाथियो से सहित राज-सम्पत्ति उत्पन्न होती है तथा आलस्य करने और नीच पुरुषों की संगति से वह नष्ट हो जाती है।

१५ ते वुरढा जे सुवण सुलक्खए सत्यकम्म विषएसु
वियक्खण । ३२, ३
वृद्ध वे ही हैं जो सज्जन और सुलक्षण होते हुए शास्त्र और कर्म सम्बन्धी विषयो में प्रवीण हो।

१६ विणए इंदियजउ संपज्जइ । ३२, ८
विनय से इन्द्रियो पर विजय प्राप्त होती हैं।

१७ दुट्ठदो परिपालणु जहिं किज्जइ-
सो अहम्मु जहिं साहु वहिज्जइ ॥३२, १६
अधर्म वह है जहां दुष्ट का परिपालन और साधु का वध किया जावे।

१८ ण मिलइ रायलच्छि अहगारछो । ३, २, ११
पापी को राजलक्ष्मी नही मिलती।

१६ धम्में विणु ण अत्थु साहिज्जइ । ३, २, १३
धर्म के बिना अर्थसिद्धि नहीं होती।

२० उवसग्गु वि हवंतु णासिज्जइ । ३, ३, १०
विघ्न उत्पन्न होते ही उसका विनाश करना उचित है।

२१ परियणु दाणें संतोसिज्जइ । ३, ३, १०
परिजनों को दान से संतुष्ट करे।

२२ मूयसु णिसीह कुपरिसहूँ संगमु-
होइ तेण भीषणु वसणागमु ॥३, ३, १३
कुपुरुषों की संगति छोड़ो, उससे भयंकर व्यसनों का आगमन होता है।

२३ मज्जु विलासिणिउ मिगमारण जूया रसणु ।
धणदूसणु मुयहि णिट्ठुर वयणु दंड फरसत्तणु ॥३,३ घत्ता
मद्य, विलासिनी स्त्रियाँ, आखेट, द्यूतानुराग, धन का अन्याय मे अर्जन, कठोर वचन, तथा दण्ड की कठोरता का त्याग करना चाहिए।

२४ अकुलीणु वि थीरयणु लइज्जइ । ३, ७, ८
अकुलीन को भी स्त्रीरत्न ले लेने में कोई दोष नहीं है।

२५ सुद्धचित्त वेस वि कुलउत्ती । ३, ७, १०
शुद्धचित्त वेश्या भी कुलपुत्री है।

२६ जुत्ताजुत्तउ गुरुयणु जाणइ ।
सिसु दिण्णउ पेसणु संमाणइ ॥ ३, ७, १४
योग्य अयोग्य गुरुजन जानते हैं, शिशु तो उनकी आज्ञा का सम्मान ही करते हैं।

२७ अवरु कुमतिमत हय सोत्तहो ।
मइ विवरीय होइ सायत्तहो ॥ ३, ६, ६
कुमत्री के मत्र से जिसके कान भर जाते हैं उस स्वच्छन्द व्यक्ति की मति विपरीत हो जाती है।

२८ कामाउरहिं किं ण किर दिज्जइ । ३, १०,६
कामातुर मनुष्य क्या नहीं दे सकते।

२६ महिलउ णउ मुणति सहियत्तणु,
महिलहँ गुण सहाउ वकत्तणु ॥ ३, ११, ३
महिलाएँ स्वयं अपने हित को नही जानतीं, टेढ़ापन महिलाओ का स्वाभाविक गुण है।

३० जासु अत्थु सो जाइ वियारहिं । ३, ११, ६
जिसके धन है वही विकार को प्राप्त होता है।

३१ महिलहँ जडयणहँ धणुहीणह दीणइ दुल्लहु ।३,१३ घत्ता
महिलाओ जड पुरुषो एवं हीन तथा दीन जनों को धन दुर्लभ है।

३२ गुणवतउ माणुसु भल्लउ । ३, १३ घत्ता
गुणवान् मनुष्य ही भला होता है।

३३ सिरि लंहडह णत्यि कारुण्णउ । ३, १५, ३
लक्ष्मी लम्पटो के करुण नहीं होतीं।

३४ घरधम्मु धरिज्जउ णिग्गहेण ।
लोहस्य पमाण परिग्गहेण ॥ ४, २, ८
लोभ-निग्रह और परिग्रहप्रमाण द्वारा ही गृहधर्म धारण किया जाता है।

३५ जो मइरा चक्खइ आमिसु भक्खइ, गुरु कुदेवहँ लग्गइ।
सो माणउ णट्ठउ, पह पब्भट्ठउ, पावइ भीसए दुक्खइ ॥
४, ३ घत्ता

जो मदिरा चखता है, मांस खाता है, कुगुरु-कुदेव पूजता है वह मनुष्य नष्ट और पथभ्रष्ट है, वह भीषण दुर्गति को प्राप्त होता है।

३६ खलु णायण्णइ पिय जंपियाइं। ४, ८, ३
खल पुरुष प्रिय वाणी नहीं सुनता।

३७ खुद्दें सहुं कि पिय जंपिएण,
सत्तच्चिहें कि घित्ते घिएण ॥ ४, ६, १०
क्षुद्र मनुष्य के साथ प्रिय वचन बोलना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे अग्नि में घृत डालना।

३८ कुत्थिय णर पोसणु कोससोसु,
इहभवि परभवि तं करइ दोसु। ४, ४, ४
पापियों का पोषण करना अपने धनकोश को सुखाना है, वह इस भव में तथा परभव में दोष उत्पन्न करता है।

३९ को तं तरइ जलहि जलु दुत्तरु। ५, ३, ३
दुस्तर समुद्र के जल को कौन पार कर सकता है।

४० को रक्खइ बलवंतहं सरणइं। ५, ३, ४
बलवान् के चंगुल में फँसे व्यक्ति की कौन रक्षा कर सकता है।

४१ जं जाणइ तं सो वि अणुट्ठइ। ५, ६, ७
जानकारी के अनुसार ही अनुष्ठान किया जाता है।

४२ हो कि सग्गें खय संसग्गें। ५, ११, ९
हाय ! उस स्वर्ग से क्या जिसका संसर्ग क्षयशाली है।

४३ किं सोहग्गें पुणरवि भग्गें। ५, ११, ९
उस सौभाग्य से क्या जो फिर भग्न हो जाता है।

४४ किं णेहें वड्ढिय सिविणेहें। ५, ११, १०
उस स्नेह से क्या जो स्वप्नेच्छाओं का बर्द्धक है।

४५ किं देहें जीविय संदेहें। ५, ११, १०
उस देह से क्या जिसमें सदैव जीवन का सन्देह बना रहता है।

४६ उज्झउं चत्तसारु संसारउ। ५, ११, ११
संसार सारहीन और तुच्छ है।

४७ णउ कहिंमि मरण दिणि उव्वरइ। ६, ४, ३
मरण के दिन कहीं भी रक्षा नहीं हो सकती।

४८ सुहु रायपट्टबंधे वसइ कि आउणि बंधणु णउतछसइ। ६, ४, ४
मनुष्य राजमुकुट बांधकर सुख से वास करता है तो क्या उसका आयुबन्ध क्षीण नहीं होता।

४९ रायत्तणु संझारउ जिह। ६, ४, ८
राज्यत्व संध्याराग के समान है।

५० णउ एंतु मिच्चु दुग्गें खलिउ। ६, ४, ९
आती हुयी मृत्यु को कोई दुर्ग नहीं रोक सकता।

५१ चिंधें खयचिंधु ण ढंकियउ। ६, ४, १०
ध्वजा-पताका से विनाश-चिह्न ढका नहीं जा सकता।

५२ भणु किं ण पाउ धम्में खविउ। ६, ५, ६
कहो ! धर्म से किस पाप का क्षय नहीं होता ?

५३ वर भवण जाण वाहण सयणासण पाण भोयणाणं च।
वर जुवइ वत्थभूसण संपत्ति होइ धम्मेण ॥६,१०,१-२
उत्तम भवन, यान, वाहन, शयनासन, पान, भोजन, सुन्दर युवती, तथा वस्त्र भूषणादि सम्पत्ति धर्म से होती है।

५४ अम्हारिस जे मणुय वराया।
किमि से जणणी सोणियय जाया ॥ ७, १५, ९
जो क्षुद्र हैं वे माता के रक्त से उत्पन्न कृमि मात्र हैं।

५५ महिलउ पियदोसु वि गुणु मुणति। ८, १, ११
महिलाएँ अपने प्रिय के दोषों को भी गुण मानती हैं।

५६ विणु सोहग्गें कि करइ वण्णु। ८, १, १२
बिना सौभाग्य के वर्ण क्या कर सकता है।

५७ णयणइं लग्गंति ण विप्पिएण। ८, ५, २
अप्रिय से नेत्र नहीं मिलते।

५८ दुक्खु वि चंगउ सुतवें कएण। ८, १३, ७
सुतप करने से दुख भी हो तो भी भला है।

५९ धणु खीणु वि विहुलिय पोसणेण,
मरणु वि चंगउ सण्णासणेण ॥ ८, १३, ८
निर्धनों के पालन-पोषण में धन-व्यय तथा सन्यास-पूर्वक मरण होना अच्छा है।

६० सयणत्तणू सज्जणगुणगहेण।
पोरिसु सरणाइय रक्खणेण ॥ ८, १३, १०
सज्जनों के गुणग्रहण से स्वजनत्व तथा शरणागतों के रक्षण से पौरुष सार्थक होता है।

६१ सोहइ णरवरु सच्चए वायए। ९, ३, १
मनुष्य सत्यवाणी से शोभता है।

६२ सोहइ कइयणु कहए सुबद्धए। ६, ३, २
कवि जन सुविरचित कथा से शोभते हैं।

६३ सोहइ मुणिवरिंदु मण सुद्धिए। ६, ३, ३
मुनिवर मन की शुद्धि से शोभते हैं।

६४ सोहइ विहउ सपरियण रिद्धिए। ६, ३,५
वैभव परिजनों की ऋद्धि से शोभता है।

६५ सोहइ माणुसु गुण संपत्तिए। ६, ३, ६
मनुष्य गुण रूपी संपत्ति से शोभता है।

६६ सोहइ कज्जारंभु समत्तिए। ६, ३, ६
कार्यारम्भ कार्य की समाप्ति से शोभता है।

६७ सोहइ सहडु सुपोरिस राहए। ६, ३, ७
सुभट पौरुष के तेज से शोभता है।

६८ सोहइ वरु वहुयए धवलच्छिए। ६, ६, ८
वर की शोभा उसकी धवलाक्षी वधू से है।

६९ सोहइ महिरुहु कुसुमिय साहए। ६, ३, ७
वृक्ष फूली हुई शाखाओं से शोभता है।

७० मोहें णाणु हुंतु ढंकिज्जइ। ६, ५, १
होते हुए भी ज्ञान मोह से ढक जाता है।

७१ मोहें पसरइ मिच्छादंसणु। ६, ५, २
मोह से मिथ्यादर्शन का प्रसार होता है।

७२ णिम्मलु किं परवइरे णडियउ। ६, ७, ५
जो निर्मल स्वभावी है वे दूसरों के प्रति बैरभाव के वशीभूत कैसे हो सकते हैं?

७२ गयणु अणाइ अणंतु अमाणु वि। ६, ११, ६
आकाश अनादि अनन्त और असीम है?

७४ धम्मु अहिंसा परमु जए। ६, १३ घत्ता
अहिंसा धर्म ही श्रेष्ठ है।

७५ तित्थइँ रिसि ठाणाइँ हवित्तइँ। ६, १३ घत्ता
तीर्थ वे हैं जहाँ मुनीन्द्र का वास रहा है।

—जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (राज०)

(पृ० २४ का शेषांश)

तिलक आदि लगायें कै, बहुत परिगह भेद !
सो कबहूं राखे नहीं, तीन काल निखेद !
अब इस दूखम काल मैं, सो गुरु दीसे नाहिं !
तिन बिन और गुरु नहीं, नमैं सु सम्यक्नांहि !

९ सर्व सुखराय :—बनारसी दास के पुत्र सर्व सुख राय जहानाबाद से शकूराबाद में आ बसे थे ! यहा इन्होने पदमावती पुरवाल गोत्रीय जैन 'लाल जी' के निवेदन पर समवसरण पूजा की रचना की ! ग्रन्थ रचना काल माघ ८ संवत १८३४ है ! भासा सरल व बोधगम्य है।

जय गन्ध कुटी सोभै सुतीन जय तापर कमल रचो नवीन जय तापर प्रतिमा एक जानि, श्री सिद्ध रुपतनी बखानि जय तीने छत्र सोभै महान जय चमर ढिले आनन्द खान : ४८

१० लाल चन्द :—यह लोहाचार्य भट्टरक जगत्कीर्ति के शिष्य थे। इन्होने आर्या चौपाई दोहा आदि छंदों में सम्मेद शिखर महात्म्य लिखा। सम्मेद शिखर के विभिन्न कूटों—अविचल, प्रभास, निर्जरा आदि का वर्णन २१ सर्गों में है। इसकी भाषा साधारण ब्रज है—

सज ऐरावत इन्द्र आइयो
ले सुमेर प्रभुकु थापियो
एक हजार वसु कलस ढलाय
जिनवर को अभिषेक कराये ॥९॥
शान्तिनाथ अभिधान कराय
मात पिताकु सौप्यो आय।
ताडव करि स्वर्ग कु गये
इन्द्रादिक मन हर्षित भये ॥१०॥

उक्त कवियो की विविध रचनाए मध्यकालीन हिन्दी काव्य की नई दिशा का स्पष्ट सकेत है जिसको महत्व मिलना अब अनिवार्य हो रहा है।

११० ए, रन्जीत नगर भरतपुर ३२१००२

जैन धर्म में ईश्वर की अवधारणा

☐ कु० मीनाक्षी शर्मा

दर्शन क्या है—व्याकरणके अनुसार दर्शन शब्द "दृश" धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना। वास्तव में दर्शन शब्द का अर्थ है रहस्य का उद्घाटन अथवा प्रत्यक्षीकरण। दर्शन का सम्बन्ध जीवन तथा अनुभव दोनों के साथ है। जीवन का रहस्य आचार शास्त्र के अन्तर्गत है और अनुभव का रहस्य तत्वज्ञान के अन्तर्गत। दर्शन मूर्त तथा अमूर्त दोनों ही प्रकार के पदार्थो का होना है। उपनिषदों में आत्मा को भी दर्शन का विषय बतलाया गया है। दर्शन द्वारा परम ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है। दर्शन के द्वारा आत्मा तथा ब्रह्म के रहस्य का उद्घाटन किया जाता है। भारत मे धर्म और दर्शन दोनो का एक ही उद्देश्य रहा है और वह है सांसारिक अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति।

दर्शन के भेद—दर्शन को दो भागोमे विभक्त किया गया है-१. आस्तिक दर्शन तथा २. नास्तिक दर्शन। जो दर्शन वेदों में विश्वास रखते है तथा ईश्वर की सत्ता को मानते है वे आस्तिक दर्शन कहलाते है और जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास रखते हैं तथा ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते वे नास्तिक दर्शन कहलाते है। आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत षड्दर्शन-वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, पूर्व मीमासा दर्शन तथा उत्तर मीमासा दर्शन- की गणना की जाती है और नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक दर्शन, जैन दर्शन एव बौद्ध दर्शन की गणणा की जाती है।

यद्यपि जैन दर्शन को नास्तिक दर्शनो के अन्तर्गत रखा जाता है किन्तु यह बात सत्य नही है। भारतीय परम्परा में नास्तिक शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है—पुनर्जन्म मे अविश्वास, वेद प्रामाण्य से अविश्वास तथा ईश्वर में अविश्वास। इनमे से प्रथम अर्थ में जैन धर्म नास्तिक नही क्योंकि यह धर्म पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धान्त में विश्वास रखता है। जहाँ तक दूसरे अर्थ का प्रश्न है इस मत के विषय में कोई दो विचार नहीं हैं कि जैन धर्म वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करता। इसका कारण यह है कि जैनो के अपने आचार्य मुनि और धार्मिक ग्रन्थ है जिनमें अकाट्य दार्शनिक सिद्धान्त विद्यमान हैं। जैनों की यह धारणा है कि उनके धर्म ग्रन्थों में वास्तविक ज्ञान निहित है। अत: वे वेदों को प्रमाण न मानकर अपने धर्म ग्रन्थों की प्रामाणिकता को मानते हैं, जो युक्तिसंगत ही है।

नास्तिक शब्द का तृतीय अर्थ ईश्वर को न मानना बतलाया गया है क्योंकि नास्तिक शब्द का प्रचलित अर्थ अनीश्वरवादी ही है। जैन धर्म को अनीश्वरवादी मानना अप्रामाणिक तथा अदार्शनिक बात होगी, क्योंकि जैनधर्म में केवल व्यक्ति ईश्वर को अस्वीकार किया गया है, ईश्वरत्व को नही यहां अनंतो सिद्धात्माएँ ईश्वररूप में स्वीकृत है।

सही दृष्टि से देखा जाये तो जैन अनीश्वरवाद वास्तव में दार्शनिक अनीश्वरवाद है, क्योंकि उसमें सृष्टिकर्ता ईश्वर की सत्ता का गहन विश्लेषण किया गया है और उन दार्शनिकों के तर्कों का व्यवस्थित रूप से खण्डन किया गया है, जिन्होने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयत्न किये हैं। जैन धर्म मे ईश्वर शब्द का प्रयोग जीव के उच्चस्तरीय अस्तित्व के अर्थ में किया गया है। जैन-दर्शन के अनुसार मुक्त आत्माये विश्व के सर्वोच्च स्थान पर पहुंच जाती हैं। ये परिपूर्ण आत्माये होती हैं, इसलिए इनका पतन नही होता इसी कारण तीर्थंकर का स्थान ईश्वर से ऊँचा माना गया है। तीर्थंकर का स्थान प्राप्त करना ही जीवन का परम लक्ष्य है औक तीर्थंकर मान्यता का सर्वोत्कृष्ट आधार है।

जैन दर्शन आस्तिक दर्शनों की भांति सृष्टि के निर्माता एवं नियता किसी सर्व शक्तिमान ईश्वर में विश-

वास नहीं करता। जैन मतानुसार इस सृष्टि का न तो कोई आदि है, न अंत है। प्रत्येक वस्तुका अनादि काल से अस्तित्व है। अतः उनकी उत्पत्ति को सिद्ध करने के लिए किसी सृष्टिकर्ता की आवश्यकता नहीं है। आचार्य जिनसेन पूछते हैं। "यदि ईश्वर ने इस सृष्टि का निर्माण किया तो पहले वह कहां था ? यदि वह दिक् में नहीं था तो फिर उसने सृष्टि का निर्माण कहां किया ? एक निराकार निर्द्रव्य ईश्वर द्रव्यमय विश्व का निर्माण कैसे कर सकता है ? यदि द्रव्य का पहले से अस्तित्व रहा है, तो फिर विश्व को अनादि मानने में क्या हर्ज है ? यदि सृष्टि निर्माता का निर्माण किसी ने नहीं किया है, तो फिर विश्व का स्वतः अस्तित्व मानने में क्या हर्ज है ?" आगे वह कहते है : "क्या ईश्वर स्वतः पूर्ण है ? यदि है, तो उसे इस विश्व का निर्माण करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यदि नहीं है, तो एक साधारण कुम्भकार की तरह वह इस कार्य के लिये अयोग्य होगा, क्योंकि स्वीकृत परिकल्पना के अनुसार एक परिपूर्ण सत्ता ही इस कार्य को कर सकती है।"[१]

"ऐश्वर्य" शब्द की रचना संस्कृत की मूल धातु "ईश" (एश्वर्य) से हुई और इस शब्द का प्रयोग सदा सांसारिक वैभव-रूपया पैसा, मकान, जानवर, नौकर-चाकर आदि उपयोग की सामग्री या आधिपत्य के लिये ही होता है।[२] अतः ईश्वर वही कहलाता है जो लौकिक ऐश्वर्य से मुक्त हो। कोष में भी जहां ईश्वर के नाम गिनवाये हैं, ईश्वर शब्द से लौकिक ऐश्वर्य सम्पन्नता का ही बोध होता है, परमेश्वर या परमात्मा का नहीं।

यथा—राजाऽधिपः पतिः स्वामी नाथः परिबृढः प्रभुः।
ईश्वरो विभुरीशानो भर्तेन्द्र इन ईशिता ॥ (धनजय)

इसके अतिरिक्त मुख्य बात यह भी है कि जिस प्रकार लोक में ईश्वर की व्याख्या का प्रचलन चल पड़ा है वैसी व्याख्या प्राचीनतम साहित्य वेदों तक मे भी कहीं उपलब्ध नहीं होती। और तो क्या कोई वेद ऐसा नहीं है जिसमे ईश्वर शब्द तक दृष्टिगोचर होता हो।

अन्य ग्रन्थों में जहां यदा कदा ईश या ईश्वर शब्द का प्रयोग मिलता है वह भी भौतिक शक्तियो के अधिष्ठाता रूपों का ही संकेत देता है, परमात्मा वाचक पद का नहीं।

यथा—ईश्वरः पर्जन्यो वष्टोः (ऐत० १/१६) १
तस्येश्वरः पूजा पापीयसी भवितोः (शतपथ ५/१/१/६)
(अग्नि) स हैनमीश्वरः सपुत्र सपशुं प्रदग्धोः (शतपथ १२/५/१/१५)

अष्टाध्यायी और महाभाष्य में आयें हुए ईश्वर शब्द भी ऐसे ही लौकिक अर्थो के द्योतक हैं।

ईश्वर शब्द केवल स्वामी, राजा या शासक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और उसका परमेश्वर के अर्थ से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।[१] पाणिनीय सूत्रो में भी ईश्वर शब्द का प्रयोग स्वामी के अर्थ में हुआ है।[४] भाष्यकार पतंजलि ने ईश्वर शब्द राजा के अर्थ में प्रयुक्त किया है।[५]

श्री गोपाल शास्त्री दर्शन केसरी, काशी विद्यापीठ का मत है कि ईश्वर शब्द का प्रयोग परमेश्वर के अर्थ में इधर आकर बहुत अर्वाचीन समय से संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त पाया जाता है।

उक्त वास्तविकता के अनुसार जैन धर्म को अनीश्वर-वादी कहना सर्वथा अज्ञानता ही है, क्योंकि जैन धर्म में इन सभी लौकिक शक्तियो की सत्ता (षड् द्रव्यो और उनकी विभाव परिणतियो के रूप में स्वीकार की गई है) जहां तक परमात्मा की सत्ता का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में भी जैन धर्म सबसे आगे है। जब अन्य दार्शनिकों में कई दार्शनिकों ने परमात्मा को मानने तक से इंकार कर दिया है, जैन धर्म मूक नहीं, अनेकों अनंत परमात्माओं को स्वीकार करता है।

राग द्वेष आदिक अनेकों वैभाविक परिणतियों से मलिन आत्मा जब अपने पुरूषार्थ द्वारा वैभाविक परिणतियों को अपने से पृथक कर देता है तब परम (उत्तम-श्रेष्ठ) रूप मे आ जाता है तब परमात्मा कहलाने लगता है। ऐसी अनन्त आत्माएँ है, जिन्होने इस रूप को प्राप्त कर लिया है इस प्रकार इस धर्म मे अनेकानेक परमात्माओं की सत्ता सिद्ध है। हा, चूकि रचना करना, कर्मों का फल देना, रक्षा करना आदि कार्य शरीरधारी के धर्म है और राग द्वेष, इच्छा प्रयत्न आदि के आधीन है। अतः जैन धर्म मे परमात्मा का इन सब कार्यो से दूर रखा गया है वस्तुतः वह परमात्मा कैसा, जिसमे ये सब व्याधिया हों। अर्थात-

न च क्रीडा विभोस्तस्य, बालिशेष्वेव दर्शनात्।
अतप्तश्च भवेत्तप्ति क्रीडया कर्तुयुद्यत:॥
स्वैराचार स्वभावों पि नेश्वरस्यैश्चथनित:।
अप्यस्मदादिभि द्वेष्य सर्वोत्कर्षवत: कुत:॥

—वादीभसिंह सूरि, क्षत्रचूडामणि-७/२३-२७१

कुछ लोगों का कथन है कि परमात्मा राग द्वेष इच्छा आदि से रहित होकर भी क्रीडा के रूप में सृष्टि का निर्माण करता है। पर यह बात सर्वथा अटपटी सी ही लगती है क्योंकि क्रीडा रूपी प्रवृत्ति तो बालकों और असंतुष्ट व्यक्तियों में ही देखी जाती है। वे संतोष के निमित्त क्रीडा का उपक्रम करते हैं। पूर्ण संतुष्ट और इच्छारहित परमात्मा मे सृष्टि कर्तव्य आदि कार्य सम्भव नही। यदि कहा जाय कि परमात्मा बिना ही इच्छा के स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है तब उसकी प्रभुता की हानि होती है। स्वेच्छाचारिता तो साधारण जनों में भी घृणास्पद समझी जाती है। वह सर्वोत्कृष्ट, शुद्ध, निर्विकार और निर्विकल्प परमात्मा मे कैसे सभव हो सकती है। इसलिये पर निर्माण आदि रूप स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाले परमात्मा मे नही हो सकता। ऐसी जैन धर्म की मान्यता है।

प्रसिद्ध विद्वान श्री गंगा प्रसाद के शब्दों मे, "ईश्वर में इच्छा बताना ईश्वर से इंकार करना है। अत. यह सिद्ध है कि न तो ईश्वर के स्वभाव से ही सृष्टि उत्पन्न हो सकती है और न यह सृष्टि उसकी दया का ही परिणाम है और न उसकी क्रीडा मात्र ही है।"

उक्त मान्यता ही जैन आगम की है। इस सम्बन्ध मे कुछ प्रसिद्ध विद्वानो के निर्णय भी इसी प्रकार के मिलते है।

"जैनियो का निरीश्वरवाद इतना उदार और व्यापक है कि हमारे जैसे अजैनी तथा ईश्वरवादी के लिए यह ईश्वरवाद ही है। कई दृष्टियों से उससे ऊपर उठ जाता है। वेदान्त यदि एक वाद है तो जैन धर्म अनेकान्तवाद है। उसके अनुसार प्रत्येक जीव भिन्न भिन्न है। अनत जीव हैं और ईश्वर की जो व्याख्या हम सर्वगुणसम्पन्न, सर्वज्ञानी, परमानन्द के रूप में कहते है, जैन मत से ऐसे अनेको ईश्वर हैं।"[१]

"यहां पर हम जन धर्म के स्याद्वाद या सप्तभंगीनय का विवेचन नही करेंगे। हमने बहुत ही सक्षेप मे उसके निरीश्वरवाद का वर्णन किया है। हमारे ऐसे ईश्वरवादी, साथ ही अद्वैतवादी के लिये इसमें अनेक दोष दिख पड़े, और इस निरीश्वरवाद में सब कुछ इतना सुन्दर है कि हमको कुछ शिकायत नहीं होनी चाहिये। जीव की ऐसी व्याख्या से हमारा परमात्मा राग-द्वेष भरी सृष्टि को बनाने की जिम्मेदारी से बच गया। निर्वाण से "शून्य" का आभास समाप्त हो गया और पश्चिमी नास्तिकों की तरह हम भौतिक सुख के बंधन में ही नहीं पड़े रहे। जैनी अनीश्वरवाद इतना तर्कपूर्ण है कि उसका सहसा खंडन करना कठिन है और ईश्वर-भक्त के लिये जैनी "वीतराग" मूर्तिमान मिलते हैं।"[७]

"ईश्वर अशरीर है, इसीलिये वेदना, क्षुधा, तृष्णा, इच्छा आदि ईश्वर में नही है। ईश्वर शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। ज्ञान ही ईश्वर की क्रिया है।"[८]

"ईश्वर को सभी वस्तुओ का स्वाभाविक ज्ञान है। आत्म-मनन के अतिरिक्त ईश्वर का और कोई कार्य नहीं है। यदि कोई कार्य माना जायेगा तो ईश्वर से भिन्न उसका लक्ष्य या उद्देश्य भी माना जायेगा। इससे ईश्वर में परिमितता दोष आ जायेगा। इस अंश में अरस्तु का ईश्वर जैनो के ईश्वर से मिलता है।"[९]

सारांश यह है कि जैन धर्म इन्ही अनेकानेक अवाध्य हेतुओं से परमात्मा को सृष्टि-निर्माता या कर्मफल दाता नही मानता। यदि विचारपूर्ण और निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाये तो इस धर्म मे आत्माको परमात्मा जैसे परम पद को प्राप्त कराने का मार्ग प्रशस्त है। अनेकानेक आत्माएं परम पद को प्राप्त हैं तथा भविष्य में भी अनेकों को परमात्मा होने का मार्ग प्रशस्त है। इस प्रकार यह धर्म एक ही नही अपितु अनेकों परमात्माओं को स्वीकार करता है, अत: इसे परमात्मवादी अथवा जन-साधारण की प्रचलित भाषा में ईश्वर-वादी नहीं, वरन् परम ईश्वरवादी ही समझना चाहिए।

इस सम्बन्ध में श्री सुमेरूचन्द्र दिवाकर के विचार उल्लेखनीय हैं—

"जैन दार्शनिकों ने परमात्मा पद प्रत्येक प्राणी के लिए आत्मजागरण द्वारा सरलतापूर्वक प्राप्तव्य बतलाया है। यहां ईश्वर का पद एक व्यक्ति विशेष के लिए सर्वदा

सुरक्षित नहीं रखा गया है। अनन्त आत्माओं ने पूर्णतया आत्मा को विकसित करके परमात्मपद को प्राप्त किया है तथा भविष्य में प्राप्त करती रहेगी। सच्ची साधनाओं वाली आत्माओं को कौन रोक सकता है? वास्तविक प्रयत्नशून्य, दुर्बल, अपवित्र आत्माओ को किसी विशिष्ट शक्ति की कृपा द्वारा मुक्ति में प्रविष्ट नही करवाया जा सकता। जैन दर्शन के ईश्वरवाद की महत्ता को हृदयंगम करते हुए एक उदारचेता विद्वान ने कहा था—"यदि एक ईश्वर मानने के कारण किसी दर्शन को आस्तिक संज्ञा दी जा सकती है, तो अनन्त आत्माओं के लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त करने वाले जैन दर्शन मे अनन्त गुणित आस्तिकता स्वीकार करना न्याय प्राप्त होगा।"[१०]

जैन धर्म ने संसार को परीक्षा दृष्टि दी है और प्रमाण-नय, स्याद्वाद आदि विभिन्न पहलूओं से वास्तविकता की परख के साधन उपलब्ध कराये हैं। इस धर्म में अंध श्रद्धा को स्थान नहीं।

श्रद्धा चाहे लौकिक जन से सम्बन्धित हो अथवा अलौकिक परमेश्वर से सम्बन्धित हो। दोनो के ही निर्णय में जैन धर्म के स्याद्वाद आदि सिद्धान्त "सर्वोच्च न्यायालय" जैसा निष्पक्ष न्याय देते हैं। प्रमाण और नय की कसौटी पर खरा उतरने वाला सिद्धान्त ही खरा है।

जैन धर्म की इस प्रकार की पक्षपात रहित नीति को यदि संक्षेप मे कहा जाये तो यह कहा जा सकता है—

"न ह्याप्तवादा नभसो निपतन्ति महासरा:।
युक्ति मद वचनं ग्राह्यं मयाऽन्यैश्च भवद्विधैः॥
—विष्णु पुराण ३/१८/६०

हे ज्ञान बन्धुओं! आप्तवचन आकाश से नही गिरा सकते। जो युक्तिपूर्ण वचन हो, उसे मुझे तथा आप सदृश दूसरों को भी ग्रहण करना चाहिए।

भारत के तत्ववेत्ता और प्रसिद्ध दार्शनिक अनन्त शयनम् आयंगर के शब्दों में—"जैन धर्म कोई पारस्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्ध श्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नही है, वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है, क्योंकि जैन धर्म का भौतिक विज्ञान और आत्मविद्या का क्रमिक अन्वेषण आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों से समानता रखता है। जैन धर्म ने विज्ञान के उन सभी प्रमुख सिद्धान्वों का विस्तृत वर्णन किया है। जैसे कि पदार्थ विद्या, प्राणीशास्त्र, मनोविज्ञान और काल' गति, स्थिति, आकाश एवं तत्वानुसंधान। श्री जगदीशचन्द्र वसु ने वनस्पति में जीवन के अस्तित्व सिद्ध कर जैनधर्म के पवित्र धर्मशास्त्र भगवती—सूत्र के वनस्पति कायिक जीवों के चेतन तत्व को प्रमाणित किया है।"

क्या जैन धर्म किन्हीं देवताओं में विश्वास करता है?

जैन धर्म के अनुसार वैदिक धर्म के याज्ञिक कर्म-काण्ड को व्यर्थ बतलाया गया है और देव-पूजा के लिए इसमें कोई स्थान नही है। गृहस्थों के लिए यह विधान था कि वे पंच-परमेष्ठी की पूजा तथा उन्हें नमस्कार करें। अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पंच परमेष्ठी के अन्तर्गत माने गये। अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास करने वाले जीवन मुक्त महात्मा अर्हत कहलाते हैं। तीर्थंकर इसी कोटि मे आते है। मुक्त पुरुष सिद्ध कहलाते हैं। यही पंच परमेष्ठी जैन धर्म के देवता कहे जा सकते हैं।

जैन धर्म मे पंच परमेष्ठी की पूजा का विधान है। अर्हताओ की मूर्तियां ध्यानस्थ मुद्रा मे पद्मासन या खड्गासन लगाये हुए मिलती है। इन मूर्तियों की प्रतिष्ठा मन्दिरों मे की गई है। मन्दिरों को परमेष्ठियों के अमर व्यक्तित्व से प्रभावित मानकर तीर्थंकरों की स्तुतियां की जाती हैं और नमस्कार पूर्वक मूर्ति की प्रदक्षिणा की जाती है। मूर्ति पूजा की प्रक्रिया का आरंभ अभिषेक से होता है। पूजा का उद्देश्य शारीरिक एव मानसिक शुद्धि तथा मोक्ष की प्राप्ति है।

सारांशः—"इस प्रकार जैन दृष्टि से अर्हन्तपद और सिद्धपद को प्राप्त हुए जीव ही ईश्वर कहे जाते हैं। प्रत्येक जीव मे इस प्रकार के ईश्वर होने की शक्ति है। परन्तु अनादि काल से कर्म बन्धन के कारण वह शक्ति ढकी हुई है। जो जीव इस कर्म-बन्धन को तोड़ डालता है उसमें ही ईश्वर होने की शक्तियां प्रकट हो जाती हैं और वह ईश्वर बन जाता है। इस तरह ईश्वर किसी एक पुरुष विशेष का नाम नही है परन्तु अनादि काल से जो अनन्त जीव अर्हन्त और सिद्धपद को प्राप्त हो गये हैं और आगे होंगे, उन्हीं का नाम ईश्वर है।

जैन धर्म के ये ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, न सृष्टिसंचालन मे इनका हाथ है तथा न ही किसी का वे भला-बुरा करते हैं। न वे किसी के स्तुति वाद से ऐसी सांसारिक वस्तु है, जिसे हम ऐश्वर्य या वैभव के नाम से पुकार सकें, न वे किसी को उसके अपराधों का दण्ड देते हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि स्वयसिद्ध है। जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वयं ही सुख:दुख पाते हैं। ऐसी अवस्था मुक्तात्माओं और अर्हन्तों को इन सब झंझटों में पड़ने की आवश्यकता ही नही है, क्योंकि वे कृतकृत्य हो चुके हैं, उन्हें अब कुछ करना बाकी नहीं रहा।"[11]

मेरठ विश्व विद्यालय, मेरठ

सन्दर्भ-सूची

१. आदि पुराण,प्रकरण तीन (सी०जे० शाह द्वारा उद्धृत, पूर्वो पृ०३५

२. डा० मगनदेव शास्त्री, (ईश्वर शब्द का महत्वपूर्ण इतिहास"

३. डा० मंगलदेव शास्त्री, ईश्वर शब्द का महत्वपूर्ण इतिहास।

४. अधिरीश्वरे १/४/६/७ स्वामीश्वराधिपतिः २/३/३६ यस्मादधिकं यस्यचेश्वर वचनं तत्र सप्तमी २/६/६, ईश्वररेतो सुनकसुनौ ३/४/२३, तस्येश्वरः ६/१/४२, उक्त सूत्रों के उदाहरण।

५. तथया लोक ईश्वर आज्ञापयति ग्रामादस्मान्मनुष्या अनीयन्तामिति।

६. श्री परिपूर्णानन्द वर्मा "चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ" पृष्ठ ३२८

७. श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, "चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ" पृष्ठ ३ २ ६.

८. क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः। न रागद्वेष-मोहाश्च यस्याप्त: स प्रकीर्त्यते ।। ६ ।।

— समन्तभद्र, रत्नरण्ड श्रावकाचार"

९. श्री गुलाबराय, "पाश्चात्य दर्शन का इतिहास', पृष्ठ ५३.

१०. सुमेरचन्द्र दिवाकर, "जैन शासन का धर्म", पृष्ठ १६-२०.

११. श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृष्ठ ११४-११५.

(आवरण पृ० २ का शेषांश)

होने पर किसका भय रहा ? जनता भोली है इसलिये कुछ कहती नहीं, यदि कहती है तो उसे धर्मनिन्दक आदि कहकर चुप कर दिया जाता है। इस तरह धीरे-धीरे शिथिलाचार फैलता जा रहा है। किसी मुनि को दक्षिण और उत्तर का विकल्प सता रहा है तो किसी को बीसपथ और तेरहपंथ का। किसी को दस्सा बहिष्कार की धुन है तो कोई शूद्र जल त्याग के पीछे पड़ा है। कोई स्त्री प्रक्षाल के पक्ष में मस्त है तो कोई जनेऊ पहिराने और कटि में धागा बधवाने में व्यग्र है। कोई ग्रंथमालाओं के सचालक बने हुए हैं तो कोई ग्रंथ छपवाने की चिन्ता में गृहस्थों के घर-घर से चन्दा मांगते फिरते हैं। किन्ही के साथ मोटरें चलती हैं तो किन्ही के साथ गृहस्थ जन दुर्लभ कीमती चटाइयां और आसन के पाटे तथा छोलदारियां चलती हैं। त्यागी ब्रह्मचारी लोग अपने लिये आश्रय या उनकी सेवा में लीन रहते हैं। 'बहती गंगा में हाथ धोने से क्यों चूके' इस भावना से कितने ही विद्वान् उनके अनुयायी बनकर आंख मींच चुप बैठ जाते हैं या हां में हां मिला गुरुभक्ति का प्रमाणपत्र प्राप्त करने में सलग्न रहते हैं। ये अपने परिणामों की गति को देखते नहीं हैं। चारित्र और कषाय का सम्बन्ध प्रकाश और अन्धकार के समान है। जहां प्रकाश है वहां अन्धकार नहीं और जहां अन्धकार है वहाँ प्रकाश नही। इसी प्रकार जहां चरित्र है वहां कषाय नहीं और जहां कषाय है वहां चारित्र नहीं। पर तुलना करने पर बाजे बाजे व्रतियो की कषाय तो गृहस्थो से अधिक निकलती है। व्रती के लिए शास्त्र में निःशल्य बताया है। शल्यों में एक माया भी शल्य होती है। उसका तात्पर्य यही है कि भीतर कुछ रूप रखना और बाहर कुछ रूप दिखाना। व्रती में ऐसी बात नही होना चाहिए। वह तो भीतर बाहर मनसा-वाचा-कर्मणा एक हो। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस उद्देश्य से चारित्र ग्रहण किया है उस ओर दृष्टिपात करो अपनी प्रवृत्ति को निर्मल बनाओ। स्खलन प्रवृत्ति से व्रत की शोभा नहीं। (मेरी जीवन गाथा से)

श्रमण संस्कृति एवं उसकी प्रमुख विशेषताएं

□ सुरेन्द्रपाल सिंह, प्रवक्ता इतिहास विभाग

श्रमण संस्कृति के विषय में कुछ लिखने से पूर्व यह जानना आवश्यक हो जाता है कि संस्कृति किसे कहते हैं। किसी समाज की रचना उसके आन्तरिक आचार संगठन पर निर्भर करती है। संस्कृति को उस समाज की आचार संहिता कह सकते हैं, क्योंकि संस्कृति के बिना समाज-रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। संस्कृति समाज की पथ-प्रदर्शिका होती है। संस्कृति समाज तथा व्यक्ति को समुन्नत बनाती है और उसको दोष मुक्त करती है। प्राकृतिक विधान के अनुरूप संस्कार की हुई पद्धति ही संस्कृति है। किसी भी देश की संस्कृति उस देश के धर्म, दर्शन, विचार, संगीत कला आदि पर आधारित होती है। इन्हीं विविध रूपों द्वारा संस्कृति अपने को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। भारत की प्राचीन संस्कृति इस देश के निवासियों की कृति में निहित है। भारतीय मनीषियों की अविरल साधना का प्रतिफल ही भारतीय संस्कृति है। दर्शन, काव्य, कला, भाषा, शिक्षा और शिल्प आदि संस्कृति के अंग हैं।

संस्कृति का अर्थ संस्कार सम्पन्न जीवन है। वह जीवन जीने की कला है, पद्धति है। वह आकाश में नहीं, धरती पर रहती है, वह कल्पना में नही जीवन का ठोस सत्य है। बुद्धि का कुतुहल नहीं किंतु एक आदर्श है। संस्कृति एक ऐसा विराट् तत्त्व है, जिसमे सभी कुछ समाविष्ट हो जाता है। मानव जीवन के ज्ञान, भाव और कार्य यह तीन पक्ष हैं जिसे दूसरे शब्दों में बुद्धि, हृदय और व्यवहार कहा जा सकता है। इन तीनों तथ्यों का जब पूर्ण समन्वय होता है तब संस्कृति का जन्म होता है। संस्कृति मानव-जीवन का सौन्दर्य है, सौरभ है, संस्कृति जीवन का मिठास है, गरिमा है। जितनी संस्कृति अपनाई जायेगी उतना ही जीवन महान् बनेगा। जिस समाज और राष्ट्र की संस्कृति प्राणवन्त है, उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। वह ध्रुवतारे की तरह सदैव चमकता रहेगा।

श्रमण संस्कृति :—

भारत वर्ष मे दो संस्कृतियों की प्रधानता रही है। जिनके सयुक्त रूप को भारतीय संस्कृति कह सकते हैं। इन संस्कृतियों के नाम हैं—१. श्रमण संस्कृति तथा २. वैदिक सस्कृति। वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति समानान्तर रूप से प्रवाहित होती रही है और इनको एक दूसरे की पूरक कहा जा सकता है। श्रमण संस्कृति के तपस्वियो को श्रमण मुनि तथा वैदिक संस्कृति के तपस्वियों को संन्यासी, ऋषि आदि नामों से सम्बोधित किया जाता रहा है।

श्रमण शब्द का अर्थ :—श्रमण शब्द का प्रयोग जैन मुनियों एवं बौद्ध भिक्षुओं दोनों के लिए ही किया जाता रहा है। जो श्रम करता है, कष्ट सहता है अर्थात् तप करता है वह तपस्वी श्रमण है।[1] जिसके मन में समता की सुरसरिता प्रवाहित होती है, वह न किसी से द्वेष करता है न किसी से राग करता है, अपितु अपनी मन: स्थिति को सम रखता है वह श्रमण कहलाता है।[2] श्रमण वह है जो पुरस्कार के पुष्पों को पाकर प्रसन्न नहीं होता और अपमान के हलाहल को देखकर खिन्न नहीं होता, अपितु सदैव मान और अपमान में सम रहता है।[3] उतराध्ययन में कहा है "सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नही होता किंतु समता का आचरण करने से ही श्रमण है।[4]

इस प्रकार जैन संस्कृति की साधना समता की साधना है। समता समभाव, समदृष्टि एवं साम्य भाव ये सभी जैन संस्कृति के मूल तत्त्व हैं। निघण्टु में श्रमण का अर्थ नग्न दिगम्बर ही किया गया है। यथा—

"श्रमणा दिगम्बरा: श्रमणा वातरशना (वसना)"
—भूषण टीकायाम इति निघण्टु।

इन श्रमणों का इस देश में रहने का कारण यही था कि दिगम्बर वेश भारतीय संस्कृति में सर्वश्रेष्ठ एवं परम वन्दनीय अवस्था मानी गई है। आचार्य सोमदेव सूरि लिखते हैं कि "लोक मे नग्नत्व सहज है, स्वाभाविक है। वस्त्रों से शरीर का आच्छादन विकार है।[५]

वैराग्यशतक में भी इस प्रकार की प्रार्थना की गई है कि "हे शम्भो! वह समय कब आयेगा जब मैं एकाकी, इच्छा रहित, शान्त, करपात्रधारी, दिगम्बर, होकर कर्म-निर्मूलन (निर्जरा) करने में समर्थ होऊंगा।[६] तैत्तिरीय आरण्यक मे भगवान ऋषभदेव के शिष्यों को वातरशन ऋषि और ऊर्ध्वमथी कहा गया है।[७] श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है, 'स्वयं भगवान विष्णु महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास मे महारानी मरुदेवी के गर्भ में आए। उन्होंने वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से यह अवतार ग्रहण किया।[८]

इस प्रकार श्रमण संस्कृति के प्रणेता प्राकृतिक (नग्न) वेष मे विचरण करते थे और हर प्रकार के व्यसन से मुक्त थे। उनको किसी भी पदार्थ की इच्छा नही थी तथा वे समत्व भाव को प्राप्त कर चुके थे। इन्ही उच्च आदर्शों एव उज्ज्वल चरित्र के कारण जन साधारण तथा राजा महाराजाओं मे वे पूजनीय समझे जाते थे। राजा जनक उन्हें बड़े सम्मान के साथ आहार कराते थे।[९] आत्म विद्या विशारद भी यही श्रमण थे।[१०]

श्रमण संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति :—श्रमण संस्कृति का वैदिक संस्कृति पर बहुत प्रभाव पड़ा। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है, 'श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला।[११] श्रमण मुनि तथा वैदिक संस्कृति के प्रतीक ऋषि शब्द की विशेषता तथा दोनों संस्कृतियों के मध्य अन्तर का उल्लेख करते हुए डा० गुलाबराय ने लिखा है कि "इस प्रकार मुनि शब्द के साथ ज्ञान, तप और वैराग्य जैसी घटनाओं का गहरा सम्बन्ध है।" मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। श्रमण संस्कृति में ही यह शब्द अधिकांशतः प्रयुक्त हुआ है। पुराणों में जो वैदिकता की धाराओं का समन्वय प्रस्तुत करते हैं, ऋषि और मुनि शब्द का प्रयोग बहुत कुछ मिले-जुले अर्थ में होने लगा था। दोनों संस्कृतियों में ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से भिन्नता है। ऋषि या वैदिक संस्कृति में कर्मकाण्ड की प्रधानता और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ी, तो श्रमण संस्कृति अथवा मुनि संस्कृति में अहिंसा, निरामिषता तथा विचार सहिष्णुता की प्रवृत्ति दिखलाई दी।[१२]

इस प्रकार श्रमण संस्कृति में सहिष्णुता, अहिंसा, निरामिषता की प्रमुखता थी, जबकि वैदिक संस्कृति में असहिष्णुता, कर्मकाण्ड की प्रधानता तथा वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' थी। अतः दोनों संस्कृतियो में पर्याप्त अंतर दृष्टिगोचर होता है। डा० गुलाबराय ने श्रमण एवं वैदिक संस्कृतियों के आदान-प्रदान का वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा है, "वैदिक और श्रमण संस्कृति में सामजस्य की भावना के आधार पर आदान-प्रदान हुआ और इन्होने भारतवर्ष की वैदिक एकता बनाये रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया। व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैन में किया।[१३]

श्रमण संस्कृति तथा वैदिक सस्कृति दोनो ने भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में अपना अपना योगदान दिया और उसको सम्पन्न बनाया। इनमें भी श्रमण संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को अमरत्व प्रदान किया। इसने सहिष्णुता, अहिंसा, त्याग, उदारता, सत्य, अपरिग्रह, विश्व-बन्धुत्व एवं सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र आदि अमूल्य रत्नों से विभूषित किया। इस विषय में श्री वाचस्पति गैरोला का कथन बहुत ही उपयुक्त है—"भारतीय विचारधारा हमें आदिकाल से ही दो रूपों में विभक्त हुई मिलती है।" पहली विचारधारा परम्परा मूलक ब्राह्मणवादी रही है, जिसका विकास वैदिक साहित्य के बृहत् रूप में प्रकट हुआ। दूसरी विचारधारा पुरुषार्थ मूलक, प्रगतिशील, श्रामण्य या श्रमण प्रधान रही है, जिसमें आचरण को प्रमुखता दी गई। ये दोनों विचारधाराएं एक दूसरे की प्रपूरक भी रहीं और विरोधी भी। इस राष्ट्र की बौद्धिक एकता को बनाए रखने में इन दोनों का समान एवं महत्वपूर्ण स्थान है। पहली ब्रह्मवादी विचारधारा का जन्म पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश

में हुआ और दूसरी श्रमण प्रधान विचारधारा का उद्भव आसाम, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के व्यापक अञ्चल में हुआ। श्रमण प्रधान विचारधारा के जनक थे जैन।"

श्रमणसंस्कृति की विशेषतायें :—

श्रमण संस्कृति विश्व की सस्कृतियों में अपना अपूर्व, प्राचीन और महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस संस्कृति में अपनी निज की अनेक विशेषतायें हैं, जिनके कारण इसने विश्व के सामने महान् आदर्श प्रस्तुत किया है। इस संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं।

१. श्रम और तप :—श्रम और तप श्रमण संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें हैं। जो श्रम करता है, संयमित जीवन बिताता है वह श्रमण है। श्रमण मुनियों का जीवन आदर्श एवं त्यागपूर्ण होता है। उनका प्रत्येक क्षण तपश्चर्या-आत्म साधना में व्यतीत होता है। दिगम्बर मुनि (श्रमण) चर्या सुगम नहीं यह महाव्रती का जीवन है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह उनके महाव्रत हैं।

चारित्र की महत्ता :—श्रमण संस्कृति में चारित्र निर्माण पर पूर्ण बल दिया गया है। चारित्र आत्म विकास का स्रोत है। चारित्र के स्वरूप का अवलोकन करने और उसके सौरभ का पान करने के लिये चक्रवर्ती सम्राट् और स्वर्ग के देव-इन्द्र भी तरसते हैं। एक मात्र मनुष्य जन्म ही ऐसा श्रेष्ट है, जिसमे चारित्र को धारण कर रत्नत्रय के आधार से मोक्ष तक प्राप्त किया जा सकता है। ससार की समस्त परम्परायें रहे या जायें, कुछ बनता बिगड़ता नही, परन्तु यदि चारित्र रत्न चला गया तो आत्मविकास चला गया। ऐसा समझना चाहिये। चारित्र ही धर्म है। कहा भी है कि चारित्र के समान अन्य कोई परम तप नहीं है। यह चरित्र दो प्रकार का है —१"सकल चारित्र (श्रम सम्बन्धी चारित्र) २" विकल चारित्र (ग्रहस्थ सम्बन्धी चारित्र)

विषय पराङ्मुखता :—भोग भूमि काल में जब मनुष्य संस्कृति विहीन अवस्था में था तब वह विषयों की ओर दौड़ने मे सुख मानता था। उसे आत्म-परमात्म का बोध न था। कर्म भूमि के आदि में तीर्थंकर ऋषभदेव ने श्रम संस्कृति की आधार भूत असि-मसि-कृषि-वाणिज्य विद्या और शिल्प का उपदेश देकर मानव को 'जल में भिन्न कमलवत रहने' की शिक्षा दी और मोक्ष का द्वार खोला। उन्होंने बतलाया कि हे प्राणी तू संसार में जब तक रहे, आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भी आवश्कता पूर्ति के साधनों से ममत्व मत कर, उन साधनों का अधिक संचय मत कर। तू विषय वासनाओं को नश्वर समझ। इसी मान्यता का प्रभाव संतोष और सुख की झलक के रूप में मिल रहा है।

जीओ और जीने दो :—इस सिद्धान्त का स्रोत श्रमण संस्कृति अथवा जैन परम्परा ही है। इस आत्म-सतोष के साथ पराये अधिकारों का परहित सरक्षण भी है। यदि मनुष्य चाहता है कि उसे कोई कष्ट न दे, उसके अधिकारों से वंचित न करे तो उसका मुख्य कर्तव्य है कि वह स्वयं जीये और दूसरों को भी जीने दे। इस भावना से चोरी जैसे पर दुखदायी और आत्म-पतन जैसे निन्द्य कर्म का त्याग भी होता है। परिग्रह के परिमाण और त्याग की भावना में उक्त सिद्धान्त अमोघ अस्त्र है।

सुख का मूल मन्त्र आत्मोपलब्धि :—सांसारिक नश्वर विषय वासनाओ से विरक्त हो अविनाशी परमपद मोक्ष प्राप्त करना जैन सस्कृति के श्रमणों का मूल उद्देश्य रहा है इसी का प्रतिफल है कि श्रमणों ने तार का भी परित्याग कर दिया है। जैन श्रावक (ग्रहस्थ) के आचार में इस आत्मोपलब्धि द्वार की झलक उसके अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षा व्रतो मे मिलती है। आत्मोपलब्धि श्रमण परम्परा में अनवरत रूप से पाई जाती है।

दिगम्बरत्व :—पदार्थो के शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से ससार का प्रत्येक पदार्थ दिगम्बर रूप है। जब तक इस रूप की प्राप्ति नही होती पदार्थ के स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ जब तक अग्नि राख से ढकी रहती है, उसका तेज अप्रकट ही रहता है। वस्त्र आदि व्याधि हैं, यहां तक कि यह शरीर जो अपने साथ दृष्टिगोचर हो रहा है आत्मा का आवरण है। जब तक ऐसे सांसारिक पर पदार्थों से मोह नहीं छोड़ा जायेगा, इनका परित्याग नहीं किया जायेगा तब तक आत्मोपलब्धि नहीं हो सकेगी।

सुख-दुख में समता भाव :—मनुष्य के मन है। जब तक मन की क्रिया होती रहती है उसमें अच्छे बुरे सभी प्रकार के विकल्प उठते रहते हैं। इन्हीं विकल्पों का नाम सुख-दुख है। ज्ञानी पुरूष इनमें राग-द्वेष नही करते। उनकी भावनाओं मे सुख मे मग्न न फूलें दुख में कभी न घबराये की ध्वनि ही गूंजती है। जैसे दिन के पश्चात रात्रि और रात्रि के पश्चात दिन होता है वैसे ही सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख का उदय होता है। ये वस्तु के अपने रूप नही, मानव की कल्पनाओ के रूप हैं और क्षणिक हैं। अत: श्रमण संस्कृति में क्षणिकत्व जैसे इन नश्वर विकल्पों पर हर्ष-विषाद के लिये कोई स्थान नही। जैन श्रमण मुनि और श्रावक दोनों ही सुख-दुख में समत्व भाव रखने के आदि बने। इसलिये पदार्थों के सत्य स्वरूप और अनित्य आचरण आदि भावनाओ का विषद और निर्दोष विवेचन श्रमण संस्कृति मे किया गया है।

नारी की प्रतिष्ठा :—नर और नारी ये दोनों रूप प्राकृतिक और अनादि नियम हैं। दोनों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। *अत: श्रमण संस्कृति मे नारी की पूर्ण प्रतिष्ठा* रही है। युग के अनादि तीर्थंकर ऋषभदेव की दो पुत्रियों-ब्राह्मी और सुन्दरी तथा कालान्तर में समय-समय पर होने वाली अनेकों नारियों ने सामाजिक और धार्मिक दोनों ही क्षेत्रों में आदर्श उपस्थित कर यश अर्जन किया है। वे योग्य से योग्य माता, आदर्श नारी और सौम्यता की मूर्ति श्रमणी-साध्वी तक हुई हैं। अतीत से वर्तमान तक की धारा में होने वाली आदर्श नारियों में धर्मपरायण, पति परायण, आत्म परायणा सभी वर्ग की नारियाँ सम्मिलित हैं।

माता मरूदेवी, महारानी त्रिशला, रानी चेलना, महारानी सीता, द्रोपदी, चन्दनबाला, मैना सुन्दरी आदि सहस्रों सती नारियां ऐसी हुई हैं, जिन्हें पूर्ण सम्मान मिला और जिनकी यशोगाथा आज भी आदर्श रूप है।

संक्षेप में यही श्रमण संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें हैं। अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही श्रमण संस्कृति का यशोगान विश्व में होता रहा है। भारतीय श्रमण संस्कृति के उदात्त तत्वों के प्रति आस्था ही वर्तमान विश्व को संकट से परित्राण दिला सकती है। मानव जगत में मात्स्य न्याय की प्रवृति का निवारण इसी से हो सकता है। यह देन उन विश्ववन्द्य वीतराग तीर्थंकरों की है, जिन्होंने मनुष्य मात्र के कल्याण का मार्ग दर्शन किया। जो क्षेत्रीय; प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय रागों से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र के कल्याण का चिंतन करते थे। जिनकी चरण-छाया में बैठने वाले आचार्यों ने 'क्षेमं सर्व प्रजानाम्' लिखा, न कि किसी एक जाति विशेष को लक्ष्य करके हितोपदेश दिया।

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता :—श्रमण संस्कृति विश्व की सबसे प्राचीन संस्कृति है। यह संस्कृति सिन्धु, मिस्र, यूनान, बेबीलोने तथा रोम की संस्कृतियों से कहीं अधिक पुरातन है। भागवत का आद्यमनु स्वायम्भुव के प्रपौत्र नाभि के पुत्र ऋषभ देव को दिगम्बर श्रमण और *ऊर्ध्वगामीमुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्ठाता माना है।* उन्होंने ही श्रमण धर्म को जन्म दिया था। उनके सौ पुत्रों मे से ६ पुत्र श्रमण बने।[१४] ऋषभदेव के सौ पुत्रो मे से ६ पुत्र बड़े भाग्यशाली थे। आत्मज्ञान में निपुण थे और परमार्थ के अभिलाषी थे। वे श्रमण दिगम्बर मुनि बन गये। *वे अनशन आदिक तप करते थे। जो स्वयं तपश्चरण* करते है वे श्रमण हैं।

ऋषभदेव के उपरान्त अनेक दिगम्बर जैन मुनियों ने इस श्रमण संस्कृति की धारा को प्रवाहित किया। सभी तीर्थंकर श्रमण थे और उन्होंने श्रमण धर्म का उपदेश दिया तथा इस संस्कृति में महान् योगदान दिया। ऋषभदेव से लेकर महाश्रमण वर्द्धमान महावीर तीर्थंकर तक श्रमण संस्कृति की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही। श्रमण धर्म ही आगे चलकर जैन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्रमण संस्कृति अथवा जैन धर्म की प्राचीनता सिन्धु घाटी में उत्खनन में प्राप्त ऋषभदेव की मूर्ति से स्पष्ट हो जाती है। सिन्धु सभ्यता के लोग ऋषभदेव की भी पूजा करते थे तभी तो वहां से उनकी मूर्ति प्राप्त हुई है।

डा० विशुद्धानन्द पाठक तथा डा० जयशंकर मिश्र का विचार है कि "विद्वानों का अभिमत है कि जैन धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिन्धु घाटी की सभ्यता से मिली *योगमूर्ति तथा* ऋषभदेव के कतिपय मंत्रो में ऋषभ तथा अरिष्टनेमी जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार हैं। भागवत और विष्णु पुराण में मिलने

वाली जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा जैन धर्म की प्राचीनता को व्यक्त करती है।" पद्मभूषण स्वर्गीय रामधारी सिंह दिनकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' में इस प्रकार लिखा है "बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म अधिक बहुत प्राचीन है, बल्कि वह उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक धर्म। जैन अनुश्रुति के अनुसार मनु चौदह हुए हैं। अन्तिम मनु नाभिराय थे। उन्हीं के पुत्र ऋषभदेव हुए जिन्होंने अहिंसा और अनेकान्तवाद आदि का प्रवर्तन किया। जैन पंडितों का विश्वास है कि ऋषभदेव ने ही लिपि का आविष्कार किया तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन जातियों की रचना की भरत ऋषभदेव के पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।"[17]

विश्वविख्यात दार्शनिक एवं महानतम् विद्वान् डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् भी जैन धर्म की प्राचीनता को स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं कि "जैन परम्परा ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक बताती है जो अनेकों सदी पूर्व हो चुके हैं। इस विषय के प्रमाण विद्यमान हैं कि ईसवी सन् से एक शताब्दी पूर्व व्यक्ति प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा करते थे। इसमें कोई संदेह नहीं है कि वर्द्धमान अथवा पार्श्वनाथ तथा अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। भागवत पुराण से ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे, इस विचार का समर्थन होता है।"[18]

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता इस बात से भी सिद्ध होती है कि यजुर्वेद[19], अथर्ववेद[20], गोपथ ब्राह्मण[21] तथा भागवत[22], आदि वैदिक साहित्यिक ग्रन्थों में भी श्रमण संस्कृति के आदि प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है। इन सब कारणों से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि श्रमण संस्कृति विश्व की समस्त संस्कृतियों से प्राचीन है और यह प्रागैतिहासिक कही जा सकती है।

इस प्रकार श्रमण संस्कृति ने भारत की सांस्कृतिक एकता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया और इस देश के निवासियों को उच्च आदर्शों का पाठ पढ़ाया। इस संस्कृति ने विश्व को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के महाव्रतों की शिक्षा दी और विश्व शान्ति की स्थापना में अनुपम योग दिया। इसी कारण विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में श्रमण संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

—के०डी० कालेज, मवाना (मेरठ)

सन्दर्भ-सूची

१. श्राम्यन्तीति श्रमणा: तपस्यन्त इत्यर्थः।
—हरिभद्र सूरि, दशवैकालिक सूत्र, १७३

२. नात्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेमु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो ऐसो अन्नो वि पज्जाओ ॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति गा., १५५

३. वही, १५६

४. उत्तराध्ययन, २५/२९-३०

५. नग्नत्व सहजे लोके विकारो वस्त्र वेष्टनम्।
—यशस्तिलक चम्पू, पृष्ठ ५

६ एकाकी निस्पृह शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्याणि कर्म निर्मूलन क्षमः ॥
—वैराग्य शतक, भर्तृहरि, ८९

७. तैत्तिरीय आरण्यक, २।७।१, पृष्ठ १३९

८. भागवत पुराण, ५।३।२०

९. तापसा भुंजते चा पि श्रमणाश्चैव भुंजते।
—बाल्मीकी रामायण १४, १-३

१०. श्रमणावातरशना आत्म विद्या विशारदाः।
—श्रीमद्भागवत, ११-२

११. श्री वाचस्पति गैरोला—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ८६

१२. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल—प्राक्कथन जैन साहित्य का इतिहास पृष्ठ १३

१३. डा० गुलाबराय—'भारतीय संस्कृति', पृष्ठ ७५

१४. वही, पृष्ठ ७६

१५. नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिना।
श्रमणवातरशना आत्मविद्या विशारदाः ॥
—भागवत ११/२/२०

१६. डा० विशुद्धानन्द पाठक एवं डा० जयशंकर मिश्र-पु० भारतीय इतिहास और संस्कृति, पृष्ठ १९९-२००

१७. पद्मभूषण श्री रामधारी सिंह दिनकर—'संस्कृति के चार अध्याय', पृष्ठ, १२९.

१८. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—इंडियन फिलोसोफी वोल्यूम I पृष्ठ,२८७.

१९. ऋग्वेद—१०/१६/१

२०. अथर्ववेद—११/५/२४-२क

२१. गोपथब्राह्मण, पूर्ण—२/८

२२. भागवत—५/२८

प्रभावती रानी की कथा

वत्सदेश में एक रौरकपुर नगर है। वहां एक उद्दायन नाम का राजा राज्य करता था। उसके शुद्ध जैनमत को धारण करने वाली एक प्रभावती नाम की रानी थी। एक समय राजा किसी शत्रु के ऊपर चढ़ाई करने को गये, तब रानी प्रभावती की धाय मंदोदरी सन्यास धारण कर वहां से चली गई। परन्तु थोड़े ही दिनों में वह अन्य बहुत-सी सन्यासिनियों के साथ आई और नगर के बाहर ठहरी तथा प्रभावती के निकट किसी स्त्री के द्वारा अपने आने के समाचार कहला भेजे। उस स्त्री ने जाकर कहा—मन्दोदरी आपको देखने के लिए आई है और नगर के बाहर ठहरी है। इसके उत्तर में रानी ने कहला भेजा—वह मेरे ही यहां आवे मैं नहीं आ सकती। यह सुनकर मन्दोदरी क्रोधित हो स्वयं उसके घर गई। परन्तु प्रभावती ने इसको न प्रणाम किया, न आसन से उठी; आसन पर बैठे ही बैठे उसके लिए आसन डलवा दिया। तब मन्दोदरी ने कहा—पुत्री, प्रथम तो मैं तेरी माता, दूसरे फिर तपस्विनी हो गई, फिर भी तू ने मुझे नमस्कार क्यों नही किया? प्रभावती ने कहा—मैं सन्मार्ग (जैन मार्ग) को धारण करने वाली हूं और तू मिथ्यामार्ग को धारण करने वाली है, इसलिए मैंने प्रणाम नहीं किया। सन्यासिनी ने कहा—शिवप्रणीत (शैवमत) धर्म सन्मार्ग क्यों नहीं हो सकता? रानी ने कहा—नही। इस तरह दोनो का बड़ा शास्त्रार्थ हुआ। और अन्त में रानी ने मन्दोदरी को निरुत्तर कर दिया। तब वह क्रोधित हो वहा से चली गई और रानी का एक मनोहर चित्र खींच कर उसने उज्जयिनी के राजा चन्द्रप्रद्योत को जा दिखाया। चन्द्रप्रद्योत देखते ही आसक्त हो गया। किसी तरह वह भी सुन लिया कि राजा उद्दायन किसी राजा पर चढ़ाई करने गया है; वहाँ नही है। तब वह अपनी समस्त सेना ले रौरकपुर जा पहुंचा। नगर के बाहर अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया और एक अति चतुर मनुष्य प्रभावती देवी के (रानी के) पास भेजा। उसने उसके आगे अपने स्वामी के रूप सौंदर्य के साथ साथ अनेक गुणों की खूब प्रशंसा की। रानी यह जवाब देकर कि भाई, उसके गुणों से मुझे क्या? मेरे तो उद्दायन को छोड़, और सब पुरुष पिता, पुत्र भाई के समान हैं, उस दूत को निकलवा दिया और उस राजा के सेवकों का आगे यहां आना सर्वथा बन्द कर दिया। बची हुई सेना नगर के दरवाजे बन्द कर, नगर की रक्षा करने के लिए किले पर जा बैठी। चन्द्रप्रद्योत ने नगर लेने का विचार कर, युद्ध प्रारम्भ किया। यह खबर सुन प्रभावती उपसर्ग मिटने तक का अनशन कर अपने इष्टदेव के मन्दिर में जा बैठी। इसी समय कोई देव आकाश से जाता था, उसने रानी का अवधिज्ञान के द्वारा कष्ट जान चण्डप्रद्योत की सारी सेना अपने माया बल से उज्जयनी पहुंचा दी और आप उसका रूप धारण कर रानी के शील की परीक्षा के लिए उद्यत हुआ। उसने अपनी विक्रिया ऋद्धि से सेना बना ली और माया से नगर की रक्षा करने वाली किले की सेना का नाश कर नगर मे प्रवेश किया। फिर नगर के मध्य भाग में उस जिन मन्दिर में गया जहा कि प्रतिज्ञा करके प्रभावती ध्यानस्थ बैठी थी। मन्दिर में जाकर प्रभावती के सन्मुख अनेक पुरुषविकार भ्रू विक्षेपादिक किए, परन्तु उसका चित्त चलायमान न हुआ। तब देव ने अपनी माया समेट प्रभावती की पूजा की और संसार मे घोषणापूर्वक प्रकट करके कि यह महाशीलवती है, अपने स्थान को गया।

राजा उद्दायन ने लौटकर ये सब समाचार सुने। उसे बड़ा हर्ष हुआ। कुछ काल राज्य कर सुकीर्ति नाम के अपने पुत्र को राज्य दे वर्द्धमान स्वामी के समवशरण मे अनेक राजाओं के साथ दीक्षित हो गया। प्रभावती आर्यिका हो गई। राजा उद्दायन तो घोर तप करके अष्ट कर्मों का नाश कर मोक्ष को गया और प्रभावती पांचवें ब्रह्मस्वर्ग में देव हुई। इस तरह प्रभावती स्त्री होकर भी शील के प्रभाव से दोनों लोकों में देवों से पूजित हुई, तो और भी भक्तजन जो इसको धारण करें, क्यों पूजित न होंगे? अवश्य होंगे।

जैनत्व का मूल आधार - अपरिग्रह

भँवरलाल न्यायतीर्थ, संपादक : 'वीरवाणी'

"हम इकट्ठा करने में रहे और सब कुछ खो दिया। —यह एक ऐसा सत्य है जिसे लाखों-लाख प्रयत्नों के बाद भी झुठलाया नहीं जा सकता। हम जैसे-जैसे जितना परिग्रह बढ़ाते रहे वैसे-वैसे उतना 'जैन' हमसे खिसकता गया और आज स्थिति यह है कि हम जैन होने के साधन-भूत श्रावकोचित आचार-विचार में भी शून्य जैसे हो गए।

लोगों ने जड़ों की खोजें की, उन्होंने सारा ध्यान उन पर शोध-प्रबन्धों के लिखने में केन्द्रित किया, उन्हें प्रकाशित कराया और उन पर वे विविध लौकिक पारितोषिक पाते रहे। आत्मा की कथा करने वाले बड़े-बड़े वाचक भी परिग्रह-सञ्चयन में लगे रहे और वे भी अहिंसा, दान आदि के विविध आयामों से विविध रूपों में परिग्रह-संचयन और मान-पोषण आदि में लीन रहे जिससे वीतरागता का प्रतीक 'अपरिग्रहत्व-जैनत्व' लुप्त होता रहा। हमारी दृष्टि में 'अपरिग्रहवाद' को अपनाने के सिवाय 'जैन धर्म' के संरक्षण का अन्य कोई उपाय नहीं।"

ये उद्गार हैं पं० पद्मचन्द जी शास्त्री दिल्ली के जिन्होने हाल ही में अपनी नवीनतम कृति "मूल जैन संस्कृति—अपरिग्रह" नामक पुस्तक मे प्रकट किये हैं। उन्होने आज के जैन जीवन का चित्रण एक सही तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया है। जो धर्म निवृत्ति प्रधान था—आज वह प्रवृत्ति प्रधान हो गया है। निवृत्ति की बातें केवल शास्त्रों में रह गई हैं। अधिकाधिक संग्रह की ओर हम बढ़ रहे हैं। जहां त्याग की महत्ता थी—वहाँ ग्रहण-संग्रह बढ़ता जा रहा है। अन्तर और बाह्य में, भावों में और क्रिया में, यश ख्याति लाभ अर्जन में और भौतिक साधन जुटाने में हमारी शक्ति लग रही है। जरूरत और बेजरूरत का संग्रह बढ़ता जा रहा है। क्या यह अपरिग्रह का मखौल नहीं? जो धर्म अपरिग्रह प्रधान था—जिसका सारा ढांचा अपरिग्रह की नींव पर खड़ा हुआ था, आज—वहां परिग्रह से बेतहाशा लिपटते जा रहे हैं—तो कब तक टिक सकेगा—यह धर्म केवल बातों में। अपरिग्रह के गीत गावें और आचरण उसके विपरीत, यह क्यों?

लेखक ने अनेक शास्त्रों के उद्धरण देते प्रकृत विषय की पुष्टि की है और स्पष्ट किया है कि जैन संस्कृति का मूल-अपरिग्रह है।

हिंसा, झूंठ, चोरी और कुशील इन चारों पापों की जड़ परिग्रह है। "क्रोधादिकषायाणामार्त-रौद्रयोर्हिंसादि—पंचपापानां भयस्य च जन्मभूमिः परिग्रहः"—आचार्यों का यह वाक्य स्पष्ट है। परिग्रह का परिवार इतना बड़ा है कि उसमें सारी बुराइयां / सारे पाप गर्भित हो जाते हैं। सब अनर्थों का मूल परिग्रह है।

आश्चर्य इस बात का है कि हम हिंसा करने वाले को अपराधी मानते हैं—शासन भी उसे दण्डित करता है। इसी तरह झूंठ, चोरी भी पाप है—उनको करने वाला अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता और दण्ड भी उसे मिलता है। व्यभिचारी को समाज में कोई आदर नहीं देता—वह बदनाम होता है, भले लोग उसकी सोहबत में नहीं बैठते। इसी तरह पांचवां पाप परिग्रह है उसके बारे में लोग कुछ नहीं कहते। जो ज्यादा परिग्रही है, राजसी ठाट से रहता है, उसका समाज में आदर होता है—वह अगली पंक्ति में बिठाया जाता है चाहे उसकी सम्पत्ति किसी भी मार्ग से आई हो। कैसी विषमता?

साधु संस्था में भी इस परिग्रह ने अपना काफी स्थान बना रखा है—कूलर, हीटर का उपयोग, मन्दिर, मूर्ति, संघ संचालन आदि के लिए अर्थव्यवस्था, संघ को बढ़ाने का आचार्य बनने का मोह—जयन्तियां मनाने का लोभ, ख्याति लाभ, यश की भावना आदि परिग्रह ही तो हैं। यह बात नहीं है कि सभी ऐसे हैं—इन बातों से दूर

भी अनेक साधु हैं—पर आचार में शिथिलता परिग्रह के कारण ही आई है।

आज के परिप्रेक्ष्य में हम सोचें तो स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि सब अनर्थों की जड़ परिग्रह है।

आततताई क्यों गुण्डागिरी करता है—कि उसे पैसा चाहिए, आतंकवादी क्यों प्राण लेता है कि उसे अभीष्ट सिद्धि हेतु दूसरों को डराना है। अर्थ के प्रति मोह यानी अर्थ संग्रह हेतु ही भ्रष्टाचार रिश्वतखोरी, गबन, बेईमानी, मिलावट, अपहरण, धोखाधड़ी आदि बुराइयां फैल रही हैं। दहेज प्रथा भी तो इसीलिए बढ़ रही है।

गर्ज यह है कि सब अनर्थों का मूल परिग्रह है। आज हमारी जरूरतें इतनी बढ़ा ली गई है कि उनकी पूर्ति हेतु साधन जुटाने में ही हमारी शक्ति लगती है और वह बिना पैसे के सम्भव नहीं। फिर वह पैसा कहीं से भी आवे—सीधे रास्ते से आवे या टेढ़े से, सही या गलत कोई भी मार्ग हो मनुष्य उसे अपनाता है। यह युग अर्थ प्रधान बन गया है। स्टैण्डर्ड शब्द ऐसा चल गया है—कि हर आदमी अपना स्टेण्डर्ड कायम रखने की फिराक मे है और उसके लिए परिग्रह संजोता है। सादगी सादा जीवन आज का स्टैण्डर्ड नहीं रहा। साधारण सात्विक भोजन करना, यानी मोटा खाना, मोटा पहनना यह स्टैण्डर्ड नहीं। स्टैंडर्ड मेनटेन करने हेतु सब कुछ करना पड़ता है—और उसमें मुख्य परिग्रह में बढ़ोतरी ही है। और उसी के लिए सारे धंध फंद करने पड़ते हैं।

यह स्पष्ट है कि यदि परिग्रह नहीं रहे तो कोई पाप नहीं रहता। अन्तरंग और बाह्य परिग्रह छूट जाय तो वह शुद्ध दशा प्राप्त हो जाती है। लेखक ने बताया है कि हिंसादि करते हुए भी हम व्रती कहलाते हैं किन्तु परिग्रह के लिए परिग्रह परिमाण ही कहा जायगा, उसके साथ व्रत शब्द नही जोड़ा जाता।

जैन सिद्धांत में कर्म फिलासफी को प्रमुख स्थान है—पर कर्म शुभ या अशुभ दोनों ही संसारवर्द्धक है। लेखक ने इन्हें भी परिग्रह ही बताया है। सचमुच हैं भी ये परिग्रह ही। अतः आवश्यकता है परिग्रह त्यागने की छोड़ने की—जितना हम छोडते जायेंगे—उतनी ही बुराइयां मिटती जायेंगी। लेखक ने इस छोटी-सी पुस्तक में इस तथ्य को खब खोला है। इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार प्रसार आवश्यक है।

विन्ध्यश्री कन्या की कथा

वाराणसी के राजा अकम्पन और रानी सुप्रभा की पुत्री सुलोचना जैनधर्म की परमभक्त और सम्पूर्ण कलाओं में कुशल थी। वह विद्याओं का अभ्यास करती हुई सुख से रहती थी कि इतने में अकम्पन के मित्र विन्ध्यपुर के राजा विंध्यकीर्ति, रानी पियगुश्री की पुत्री विंध्यश्री उसके पिता ने सुलोचना को लाके सौंपी और कहा कि इसको पढ़ा लिखा कर सकल कलाओं मे प्रवीण करो। पश्चात् विंध्यश्री पुत्री सुलोचना के पास सुख से रहने लगी।

एक दिन सुलोचना ने उसे महल के उद्यान मे फूल चुनने के लिए भेजा कि वहां एक काले सांप ने निकल कर उसे डस लिया। सो सुलोचना के दिये हुए पंचनमस्कार मन्त्र के प्रभाव से गंगाकूट निवासिनी गंगादेवी हुई। सो अपनी उपकार करने वाली का स्मरण करके उसने सुलोचना के पास आकर उसकी पूजा की, और फिर अपने स्थान में आकर सुख से काल बिताने लगी।

□□

ज़रा सोचिए !

१. "जैन" का प्रयोग कहां ?

आज कई लोग "श्रावक" और "जैन" दोनों दर्जों में अभेद कर रहे हैं, जबकि दोनों दर्जे पृथक पृथक हैं। "जैन धर्म" जिन भगवान के स्व-धर्म से संबधित है। पूर्ण जय को प्राप्त कर लेने से 'अरहंत'—'सिद्ध' 'जिन' हैं व जय के लिए मूर्तरूप में प्रयत्नशील अपरिग्रही आचार्य, उपाध्याय और साधु "देश-जिन" हैं। कहा भी है—"जिणा दुविहा सयल देसजिणभेएण। खवियघाइकम्मा सयल जिणा। के ते? अरहंत-सिद्धा। अवरे आइरिय उवज्झाय साहू देसजिणा तिव्व कसायेंदिय-मोह विजयादो?"

—धवला ९/४/१/१/१०

"जिन" दो प्रकार के हैं—"सकलजिन" और "देश-जिन" घाति कर्मोंका क्षय करने वाले अरहंतों और सर्वकर्म-रहित सिद्धों को "सकलजिन" कहा जाता है तथा कषाय मोह और इन्द्रियों की तीव्रता पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु को "देशजिन" कहा जाता है।

उक्त दोनों प्रकार के जिनों का धर्म "जैन" उन्हीं में है। यतः धर्मी से धर्म अलग नहीं होता और ना ही धर्म, धर्मी को छोड़ता है। इस प्रकार "जिन" ही "जैन" ठहरते हैं। उक्त परिप्रेक्ष्य में जो संसारी, परिग्रही अपने को "जैन" घोषित कर रहे हैं, वे शोचनीय हैं "जैन" की व्याख्या में कहा गया है—

"जधजाद रूवजादं उप्पाडित केसमंसुगं सुद्धं
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंग
मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भव कारणं जेण्हं॥"

—प्रवचनसार ३/५-६

जेण्हं—"जिनस्यसंबंधीदं जिनेन प्रोक्तं वा जैनम्।"

—वही, तात्पर्य वृ.

"सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाधिनाथस्य पादपद्मोपजीविनो जैनाः—गणधरदेवादयः इत्यर्थः।

—नियमसार ता. वृ. गा. १३९

कविवर वृन्दावनकृत छन्दोबद्ध प्रवचनसार भाषा में लिखा है :

"पर दर्वमांहि मोहममतादि भावनि को,
जहां न आरभ कहूं निरारंभ तैसो है।
शुद्ध उपयोगवृन्द चेतनासुभावजुत,
तीनों जोग तैसो तहाँ चाहियत जैसो है॥
परदर्व के अधीन बर्तत कदापि नाहिं
आत्मीक ज्ञान को विधानवान वैसो है।
मोक्ष सुखकारन भवोदधि उधारन को
अंतरंग भावरूप जैनलिंग ऐसो है।"

अर्थात् निर्ग्रन्थ, अपरिग्रही, लोच करने वाले, शुद्ध, हिंसादि से रहित, सज्जा आदि क्रियाओं से रहित, मुनीश्वर का लिंग वेश जैन की पहिचान का बाह्य चिह्न है और ममत्वभाव व आरंभ रहित, ज्ञानादि उपयोगों में शुद्धता, उपयोग वशीकरणता, पर से निरपेक्षता और मोक्ष का कारण भूतपना रूप "जैन" का आभ्यंतर चिह्न है। "जिन" से संबधित—जिन-प्ररूपित सिद्धान्त भी "जैन" है। "सकलजिन" अर्थात तीर्थंकरों के पाद-पद्मों में रहने वाले गणधर आदि "जैन" है।

"जेणाणं" पुणवयणं "यह पद गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८९५ में आया है। वहां "जैनों के वचन" जैसे कथन से अरहंत व निर्ग्रन्थ मुनियों के "जैन" होने की पुष्टि होती है, क्योंकि धर्म का विवेचन उन्हीं के द्वारा हुआ है। इसी प्रकार जैन-नय, जैन-दर्शन, जैन-वच सभी में "जैन" शब्द अपरिग्रही पंचपरमेष्ठियों को इंगित करता है, किन्हीं परिग्रहियों को नहीं। तथाहि—

"भेदं भूरि विकल्पजालकलितं जैनान्नयात् नैगमात्।"

—आचारसार १०/२८

"जैनंदर्शनमेकमेवशरणं" जन्माटवी संकटे।"

—आचारसार १/२

"दूरासन्नसमं विलम्बमं जैनं वचः पातु वः।"

—आचारसार १/[illegible]

श्री समयसार कलश २६३ में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने जैन-शासन को अलंघ्य कहा है। वहां भी जैन के शासन से जिनदेव के शासन का बोध होता है

"एवं तत्त्व व्यवस्थित्या स्व व्यवस्थापयन् स्वय।
अलंघ्य शासनं जैन मनेकान्तो व्यवस्थित: ।।"

इन्हीं अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ सिद्धयुपायके २२५वें श्लोक में "जैनीनीति" शब्द दिया है, उससे भी स्पष्ट होता है कि "जैन को सभी जगह अरहतो, परमेष्ठियों के लिए प्रयुक्त किया गया है, किन्ही परिग्रहियों के लिए नहीं, जैसा कि आज चल रहा है। यहाँ भी "जैनीनीति' से जिनेन्द्र की नीति का ही भाव है।

"एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्व मितरेण।
अन्तेन जयति जैनी-नीति मंन्थाननेत्रमिव गोपी।"

उक्त परिप्रेक्ष्य में प्रश्न यह उठता है कि यदि धवला में निर्दिष्ट और अन्य प्रमाणों के आधार पर परमेष्ठियों तक ही "जैन" शब्द सीमित है तो "जिन" को देवता मानने वाले हम क्या कहे जाएंगे और सागार-धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका आदि के वाक्य "जिनो देवता येषां ते जैना:" का क्या होगा?

उपर्युक्त प्रश्न के निराकरण में हमे प्राचीन परम्परा पर दृष्टिपात करना होगा और यह भी देखना होगा कि अपरिग्रही जय-शील "जिन" के प्रति प्रयुक्त होने वाला "जैन" शब्द संसारासक्त परिग्रहियों के लिए कैसे प्रयुक्त होने लगा।"

जहा तक प्राचीन परम्परा का प्रश्न है, सो पहिले जिन भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म की परम्परा में उसके उपासकों के लिए समण, सावग, अणगार, आगार शब्द प्रचलित थे। सावग के लिए समणोपासग शब्द भी प्रचलित था। पर, धीरे-धीरे ये शब्द बिगड़ते गए और सावग (श्रावक) का स्थान सरावग, सरावगी जैसे शब्दों ने ले लिया—"सराक" शब्द भी बिगड़े शब्द का रूप है। बाद में उक्त शब्दों का व्यवहार भी लुप्त हो गया और उक्त शब्द शास्त्रों की परिधि में ही सीमित रह गए। तब इधर लोगों ने अन्य मतों की देखा-देखी उपासकों के लिए "जैन" का प्रयोग चालू कर दिया, फिर चाहे वे उपासक भ्रष्ट ही क्यों न हों— सभी समुदाय रूप में "जैन" कहलाए जाने लगे।

स्मरण रहे कि मत-मतान्तरों में व्यक्ति की उपासना को प्रधानता है, शिव व्यक्ति को देवता मानने वाले को शैव, विष्णु व्यक्ति को देवता मानने वाले को वैष्णव, बुद्ध व्यक्ति को देवता मानने वाले को बौद्ध कहा जाता है—ऐसा प्रचलन है।[1] उसी प्रकार इधर भी "जिन" के उपासकों को "जैन" नाम दे दिया गया।[2] पर, विचार की दृष्टि से यह ठीक नहीं हुआ। जैसे शिव, विष्णु, बुद्ध आदि देवताओ के नाम "नाम;निक्षेप" पर आधारित है—उनमे गुण, कार्य की विवक्षा नहीं क्योंकि—"अतद्गुणिनि वस्तुनि संज्ञा करणं नाम" इस नाम निक्षेप मे तो व्यक्ति नाम से विपरीत गुणों वाला भी हो सकता है। लक्ष्मीनारायण नाम वाले को कभी सड़क पर भीख मांगते हुए भी देखा जा सकता है। फलत: वहां किसी व्यक्ति का उपासक कोई व्यक्ति, नाम-निक्षेप से, शैव, वैष्णव, बौद्ध हो सकता है, इसमें कोई अड़चन नहीं। पर, यह सब होकर भी उनका उपासक लाख-प्रयत्न के बावजूद भी स्वय शिव, विष्णु, बौद्ध नही बन सकता—तद्रूप गुणों को प्राप्त नही कर सकता। लेकिन जैन-दर्शन मे ऐसा नही है। यहां गुणों की मुख्यता होने से सच्चा उपासक "जिन" नाम और "जिन" जैसे गुण-धर्म दोनों प्राप्त कर सकता है। यत: "जिन" नाम तो गुणों पर आधारित है। जय करने से "जिन" होते हैं— इस नाम में गुणों की मुख्यता है और यहां गुणों की उपासना का विधान है। फलत:—"जिन" के उपासक जय-गुण की ओर अग्रसर होने पर ही "जिन" और तद्गुण धारी "जैन" हो सकते हैं। इन्हीं गुणों के कारण आचार्य, उपाध्याय, साधु को "देश-जिन" -कहा गया है—पूर्ण जिन और "जैन" तो अरहंत, सिद्ध ही है। यही कारण था कि यहां साधारण उपासकों को "जिन"

१. "शिवो देवता येषां ते शैवा: विष्णु देवता येषां ते वैष्णवः बुद्धो देवता येषां ते बौद्धा:।"
२. जिनो देवता येषां ते जना:।"

"जैन" नाम न देकर समण, सावग (श्रावक) संज्ञाएं पृथक से निर्धारित की गई।

दुर्भाग्य कहिए या मत-मतान्तरों वत् कल्पित "जिनो देवता: येषां ते जैनाः" इस परिभाषा के कारण समझिए, जो आज सर्व साधारण जयनशील क्रिया-गुण के बिना (अन्यों की भांति नाम निक्षेप में) अपने को "जैन" कहने लगे हैं। उनमें जो कुछ उपासक हैं उनमें भी अधिकांश "जिन" को व्यक्ति मान पूज रहे हैं—उनसे सांसारिक मनौतियां मांग कर भी जैन बने हुए हैं—उन्हें गुणों से कोई भी सरोकार नहीं। प्रकारान्तर से वे "जिन" को आज भी कर्ता माने हुए हैं। जरा सोचिए, ऐसा क्यों?

२. एक व्यापार : आत्मा को देखना दिखाना

एक नट अपने चेले को साथ लेकर किसी मैदान में पहुंचा और ढोल बजाकर भीड़ इकट्ठी कर ली। भीड़ के बीच खड़े होकर उसने चेले को संबोधन दिया—जमूड़े, देख, मैं जमीन में लम्बा बांस गाड़ता हूं, तुझे उस पर चढ़ना है। बोल तू चढ़ेगा? चेला बोला—हां उस्ताद, मैं तैयार हूं। नट खाली हाथों खड़ा हो गया। वह बिना बांस के ही जमीन में झूंठ-मूंठ का बांस गाड़ने का ऐक्शन करने लगा। थोड़ी देर बाद उसने चेले से कहा—चेले, तू देख रहा है ये बांस गड़ गया, अब तू इस पर चढ़ जा। चेला बोला—उस्ताद, यह बांस तो बहुत ऊंचा है, बिना रस्सी बांधे मैं कैसे चढ़ सकूंगा? नट ने कहा अच्छा, रस्सी भी लटकाए देता हूं। नट ने जैसे खाली हाथों बांस गाड़ने का एक्शन किया वैसे ही रस्सी बांधने का एक्शन कर दिया और चेले से रस्सी पकड़ कर चढ़ने को कहा। देखते-देखते चेला भी एक्शन मात्र करके बांस के ऊपर पहुंच लेने की बात करने लगा हालांकि वह अब भी नट के पास जमीन पर ही खड़ा था वह नट से बोला—उस्ताद, मैं बहुत ऊंचे आ गया, उतारो, मुझे डर लग रहा है। उस्ताद ने उसे एक्शन में जमीन पर उतार लिया। लोगों ने यह सब मिथ्या स्वांग देखा और बोले यहां न बांस है, न रस्सी है और न चेला ही चढा उतरा, तू लोगों को धोखा दे रहा है। नट बोला—यहां सब कुछ है और सब कुछ हो गया, तुम्हें नहीं दिखा तो मैं क्या करूं? चेला बोला—उस्ताद, ये सब तो आंख वाले ही देख सकते हैं, इनके तो आँखें ही नहीं है, चलो और कहीं आंखों वालों में दिखाएँगे। वे दोनों चले गए और भीड़ भी छंट गई।

तो यह तो एक दृष्टांत है। जैसे अरूपी आकाश दिखाई नहीं देता, पकड़ में नहीं आता और नट उसमें बांस गाड़ने, रस्सी बांधने और जमूड़े को चढ़ाने-उतारने जैसे मिथ्या करतब दिखाने के मिथ्या-स्वांग भरता है वैसे ही कुछ लोग वर्षों से और आज भी जनता को अरूपी आत्मा को देखने-दिखाने की मिथ्या बातों में भरमा रहे हैं। वे पूर्वाचार्यों की दुहाई देकर जोर-जोर से कहते हैं कि—ए भाई, तू आत्मा को देख, समझ आदि। जबकि आचार्य इससे सहमत नहीं। वे तो स्पष्ट कह रहे हैं कि आत्मा वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है, अरूपी पकड़ मे नही आता—वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठणिच्चया जीवेणो संति अमुत्ति तदा। 'आत्मा तो" स्वानुभूत्या चकासते – अपनी अनुभूति से स्वयं ही स्वयं में प्रकाशित है और होता रहा है। हां, जब तक पर—में लीनता है तब तक स्वानुभूति नहीं होती। भला, हो भी कैसे सकती है? जब तक संसारी जीव पर—परिग्रह रूपी विकारी भावों में है तब तक आत्मोपलब्धि कैसे? फिर आत्मोपलब्धि सुलभ भी तो नही है। अनादि संसारी जीव ने तो चिरकाल से काम, बन्ध, भोग की कथा की है और मलिन भावों में सुखाभास को सुख रूप अनुभव किया है—

"चिर परिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि काम-बंध-भोग कहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥"

सो यह जीव बारम्बार उन्हीं की ओर जाता है और असुलभ, एकत्व-विभक्त आत्मा में इसकी गति नहीं होती तथा संसार में उलझे हुए वह हो भी नहीं सकती।

फिर भी, कुछ लोग नट की भांति लोगों को मिथ्या-भ्रान्तियों में खींचने में लगे हैं और स्वयं भी नाटक कर रहे हैं। यदि लोग चाहते हैं कि उन्हें आत्मानुभूति हो तो पहिले उन्हें उन बाह्यपदार्थों की असलियत को पहिचानना होगा जो उन्होंने अनादि से देखे, जाने और अनुभव किए हैं, पर गलत रूप में। उनके गुण-स्वभाव

को सम्यक् दिशा में जानना होगा। जब बाह्य-पदार्थों की असारता, अशुचिता आदि का सही बोध होगा तब आत्मानुभूति स्वयं हो जायगी—इसे अपरिचित, अरूपी, आत्मा को देखने-दिखाने की कोशिश न करनी पड़ेगी और पर पद से विरत हुए बिना इसे कुछ नहीं मिलेगा हमारे आचार्यों, तीर्थंकरों, महापुरुषों ने "स्व" की ओर दौड़ नहीं लगाई, पहिले वे पर से परिचित हुए, उन्होंने बारह भावनाओं का चिंतवन कर "पर" की असारता को जानकर उन्हें छोड़ा, तब आत्मानुभूति में अग्रसर हुए। वे जानते थे कि देखना, दिखाना, पकड़ना, पकड़ाना जैसे व्यापार सदा दूसरों से संबंध के लिए होते हैं। स्वयं को देखा और पकड़ा नहीं जाता, उसमें आया जाता है। यह "स्व" में आना तब होता है जब पर से विरत हो।

जब हम चिर-परिचित परिग्रह की असलियत जानने और उसके छोड़ने की बात कहते है तो लोग मुंह-भी सिकोड़ते हैं। वे अहिंसा आदि जैसी लौकिक प्रवृत्तियों की ओर दौड़ते हैं। वे जानते हैं कि जिस दुनियां में वे हैं वह परिग्रह-मयी और स्वयं परिग्रह हैं। उससे दूर होकर वे कहां जाएंगे? इस दुनिया में कोई उनकी बात भी न पूछेगा। उन्हें चिर-परिचित सांसारिक भोग भी कहां मिलेंगे, वे खाली खाली जैसे हो जाएंगे, उनकी लौकिक और झूंठी प्रतिष्ठा भी मिट्टी में मिल जायगी। यदि श्रोताओं के हाथ से वक्ता और वक्ता के हाथों से श्रोता खिसक गए तो उन का अपना दिखावा-रूप व्यापार ही खत्म हो जायगा।

यद्यपि यह बात वक्ता और श्रोता दोनों ही जानते हैं कि लाख कोशिश करने पर भी अरूपी आत्मा उन्हें दिख न सकेगी, परिग्रह से विरत हुए बिना आत्मानुभूति न हो सकेगी। पर, फिर भी वे ससारासक्ति लिए, आत्मा को देखने-दिखाने के प्रचार जैसे व्यापारों मे लगे हैं और अधिक-परिग्रही अधिक रूप मे लगे हैं। ऐसा क्यों? क्या यह सच नही कि वे इस बहाने अपनी यश-प्रतिष्ठा के व्यापार को चमकाने और जो कुछ आवश्यकता से अधिक उन पर संचित है या होता है, उसे न छोड़ने के लिए कटिबद्ध हैं? पर ये सब विसंगतियां है, इनसे विराम लेना चाहिए।

यदि किसी को वास्तव मे कल्याण करना है तो पहिले उसे "जैन" बनने का प्रयत्न करना होगा और जैन बनने से पहिले श्रावक बनना होगा, आचार का पालन करना होगा, संसार-शरीर-भोगों की असारता को पहिचान कर उससे विरत होना होगा। ऐसा कदापि नही है कि संपदा बढ़ाता रहे, भोगों में डूबा रहे और आत्मा को देखने-दिखाने के गीत गाता रहे या "भरत जी घर ही में विरागी "जैसे स्वप्न देखता रहे—जैसा कि लोग आज कर रहे है। जरा सोचिए!

(आवरण पृ० ३ का शेषांश)

ने अपनी इस पुस्तक में इन दोनों संस्कृतियों के उद्भव तथा विकास की वैदिक मन्त्रों द्वारा सुचारू रूप से पुष्टि करके मौलिक उद्भावना प्रस्तुत की है जिससे भारतीय संस्कृति के अनुसंधान के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ गया है। वेदों में व्यापक रूप से सर्वत्र एक ही मंत्र में जहां इन्द्र तथा वरुण के गुणों एवं शौर्यपूर्ण कार्यों का विवरण मिलता है, वहां वे स्पष्टतया दो परस्पर समन्वयोन्मुख किन्तु सर्वथा भिन्न संस्कृतियों (अर्थात् ब्राह्मण एवं श्रमण संस्कृतियों) के उत्तम, अमर उद्गाता एवं संपोषक प्रतीत होते हैं। यह परम्परा ऋग्वेद काल से लेकर सभी वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रंथों आदि में सहस्रों वर्षों तक निरंतर चलती रही है। इस अन्तर्निहित तथ्य को प्रथम बार सविस्तार उद्घाटित कर प्राच्यविद्या मनीषी डा० दीक्षित ने सर्वत्र ठोस प्रमाण एवं उद्धरण देकर सिद्ध किया है। ब्राह्मण संस्कृति और जैन संस्कृति की वेद प्रतिपादित ऐसी मौलिक व्याख्या पहली बार प्रस्तुत हुई है। यह ग्रंथ शोधार्थियों एवं अनुसंधित्सुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं सर्वथा उपादेय है। इस विषय के गंभीर अध्येताओं के लिए यह सन्दर्भ ग्रंथ के रूप में भी पठनीय, मननीय एवं अनिवार्य है।

गोकुल प्रसाद जैन, उपाध्यक्ष,
वीर सेवा मन्दिर,

ग्रन्थ-समीक्षा

१. महोत्सव-दर्शन :
लेखन : श्री नीरज जैन, सतना।
प्रकाशक : श्रवण बेलगोल दि० जैन मुजरई इन्स्टीट्यूशंस मैनेजिंग कमेटी।
साइज २०×२६×८ पृष्ठ : ४२१ मूल्य : १५० रुपये।

वर्तमान में प्रकाशन-व्यवसाय ने बड़ी तरक्की की है : साज-सज्जा मनोहारिता आकर्षक हो और छपाई बाईंडिंग बढ़िया हो, आदि; जैसे सभी आयामों में उक्त प्रकाशन भी उत्तम बन पड़ा है। सिद्ध-हस्त और मनीषा-पटु लेखक की कलम ने तो इसे चार चाद ही लगा दिए हैं। पाठक जब जब इसे पढ़ेगा तब तब भ० बाहुबली सम्बन्धी आद्यंत सभी झाकियां उसको भाव-विभोर किये बिना न रहेंगी—वह झूम उठेगा और जितनी बार पढ़ेगा उतनी बार ही उसे महा मस्तकाभिषेक जैसे अनेक पुण्य-प्रसगों को प्रत्यक्ष देखने जैसा अनुभव होगा। ग्रंथ मे २७+२११ मनोहारी चित्र है। चित्रों को देखकर हमारी सभी में श्रद्धा जागी कि वे पुण्यात्मा और क्षेत्र-भूमिया आदि धन्य है; जिन्हें भ० बाहुबली-कथा प्रसग से ग्रंथ में सजने का सौभाग्य मिला। दो चित्रों को हमने बड़े गौर से देखा—(१) इन्द्र सभा की एक छवि (चित्र ५७) और (२) विरागी नेमिनाथ को **आहार कराते हुए** आचार्य विमलसागर जी और मुनि श्री आर्य नन्दी जी (चित्र ६३) दोनों ही प्रसगो ने हमें विचार के लिए प्रेरित किया है—विचार कर फिर कभी लिखेंगे। कुल मिलाकर प्रकाशन बड़ा उपयोगी और सग्रहणीय है। लेखन और प्रकाशन में योग देने वाले सभी महानुभाव धन्यवादार्ह हैं।

—सम्पादक

२. सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचंद्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ : सम्पादक मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन (लखनऊ), पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री (वाराणसी), पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री (कटनी), पं० नाथूलाल शास्त्री (इन्दौर), पं० माणिकचन्द्र चवरे (कारंजा); प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला (वाराणसी) एवं डा० देवेन्द्र कुमार जैन (नीमच); पृ० ३८०, मूल्य एक सौ रुपए; प्रकाशक—सिद्धान्ताचार्य पं० फूल चन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

सिद्धान्ताचार्य पं० फूल चन्द्र जी भारतीय मनीषियों में बहुश्रुत विद्वान् है। आप सरलता की प्रतिमूर्ति है। गत अर्धशती से सतत साहित्य साधना में निरत रहे हैं। आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी, जैन कर्म सिद्धात के प्रकाण्ड व्याख्याता, अध्यात्मविद्या के प्रमुख वेत्ता, आगम साहित्य के निष्काम सेवक एवं विचक्षण और अगाध प्रतिभा सम्पन्न हैं।

आपके समुचित सत्कारार्थ प्रणीत प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ में पंडित जी के अभिवादन और संस्मरणों के अतिरिक्त उनका जीवन परिचय, व्यक्तित्व और कृतित्व एवं उनकी साहित्य सर्जना का सविस्तार उल्लेख है। ५५ मौलिक एवं सुसम्पादित ग्रन्थो के अतिरिक्त आपके धर्म और दर्शन, इतिहास और पुरातत्व, अनुसंधान और शोध, समाज और संस्कृति तथा पत्रकारिता और अन्य विविध विषयो पर लेख आपके साक्षात कीर्ति स्तम्भ है। और आप की जीवन काया—साहित्यसाधना को आलोकित करते हैं।

यह ग्रन्थ सभी प्रबुद्ध पाठकों एवं अध्येताओं के लिए सर्वथा उपयोगी, मननीय एवं उपादेय है।

३. ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति का दार्शनिक विवेचन—डा० जगदीश दत्त दीक्षित, अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, मोतीलाल नेहरू कालेज, नई दिल्ली; पृष्ठ २२३; मूल्य ६० रुपए; प्रकाशक—भारतीय विद्या प्रकाशन, १ यू० बी० जवाहरनगर, बंग्लो रोड, दिल्ली-७.

भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने वैदिक वाङ्मय में व्याप्त दो प्रमुख धाराओं और संस्कृतियों (ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति) का संकेत तो किया है किन्तु इन दोनों धाराओ के उद्गम और विकास के विषय मे किसी भी विद्वान् ने विस्तार से लिखने का प्रयास नहीं किया। वैदिक साहित्य के उद्भट विद्वान् डा० जगदीश दत्त दीक्षित

(शेष पृ० ४८ पर)

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ...

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ...

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ... ...

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २१

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, बहुचर्चित सात विषयों पर शास्त्रीय प्रमाणयुक्त तर्कपूर्ण विवेचन। प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित २

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

सम्पादक परामर्श मण्डल **डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीर सेवा मन्दिर के लिए, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्युसीलमपुर दिल्ली-५३ से मुद्रित।